प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

९ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता

मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

९ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

(पंचमखंड समाप्त)

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

ॐ

गांधी—हरीभाई देवकरण जैनग्रंथमाला ।

८

श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवविरचित

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

छठा खंड ।

जिसको

भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था कलकत्ताने

पंडित मक्खनलालजी न्यायालंकार वादीभकेशरी द्वारा

अनुवादित कराकर

शोलापुरवासी गांधी—हरीभाई देवकरण एण्ड सन्सकी प्रदत्त द्रव्यसे

अपने पवित्र प्रेसमें छपाकर प्रकाशित किया ।

प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था.

१ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता.

मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ.

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र-प्रेस

१ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

अथ पंचमोऽध्यायः ।

सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीव अजीव आदि पदार्थोंको कह आए हैं । उनमें अध्यायोंमें विस्तारसे जीव पदार्थका तो वर्णन कर दिया गया अब क्रमप्राप्त अजीव पदार्थका विचार करना चाहिये। अजीव पदार्थका विचार उसके भेद नाम आदिके प्रतिपादनके साथ ही स्पष्टरूपसे हो सकता है इसलिए सबसे पहिले अजीवके भेद और नामोंका उल्लेख किया जाता है—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य अजीवकाय अर्थात् अचेतन और बहुप्रदेशी हैं ।

अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ॥ १ ॥

जैनेंद्र व्याकरणमें 'विशेषणं विशेष्येणेति' १।३।४८। यह सूत्र है । इसका अर्थ विशेषण विशेष्यके साथ समासको प्राप्त होता है जहांपर दोनोंका आश्रय एक हो अर्थात् सामानाधिकरण्य हो । इसी सूत्रसे 'अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः' अर्थात् अजीव और कायस्वरूप जो हों वे अजीवकाय हैं, यह समानाधिकरणस्वरूप समास है । शंका—

१—विशेषणं विशेष्येणेति १।३।४८। विशेषणवाचि सुबंतं विशेष्येण सह षसो भवत्येकाश्रये यश्च । नीलोत्पलं । लोहितशाटी । कृष्णसर्पः इत्यादि । शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ संख्या २३ ।

जहांपर व्यभिचार (विशेषणको छोडकर दूसरी जगह विशेष्य रह सके और विशेष्यको छोडकर दूसरी जगह विशेषण रह सके) होता है, वहींपर 'विशेषणं विशेष्येणेति' सूत्रसे समास होता है जिसप्रकार—नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलं। यहांपर नील विशेषण है और उत्पल विशेष्य है । उत्पलको छोडकर नील अन्य नीले पदार्थोंमें रहता है और नीलको छोडकर उत्पल लाल आदि कमलोंको भी कहा जाता है इसलिए जिसप्रकार यहांपर व्यभिचार मौजूद है उसीप्रकार अजीवको छोडकर काय और कायको छोडकर अजीव रह सके तब तो व्यभिचारका सद्भाव रहनेसे 'अजीवकायाः' यहांपर सामानाधिकरण्य स्वरूप समासका 'विशेषणं विशेष्येणेति' इस सूत्रसे विधान हो सकता है यदि ऐसा व्यभिचारका सद्भाव न होगा तब नहीं हो सकता ? उत्तर—यहांपर भी व्यभिचारका सद्भाव है क्योंकि काय, अजीवको छोड कर जीवमें रहता है और अजीव, कायको छोडकर कालमें भी रहता है क्योंकि कालद्रव्यको काय नहीं माना गया इसलिए 'अजीवकायाः' यहांपर 'विशेषणं विशेष्येणेति' सूत्रसे समास उचित ही है। शंका—सामानाधिकरण्यस्वरूप समास न मानकर भिन्नाधिकरण अर्थात 'विशेषण और विशेष्यका आश्रय भिन्न भिन्न' हो तो भी समास माननेमें क्या हानि है ? उत्तर—

भिन्नाधिकरणत्वे हि अर्थांतरभावप्रसंगः ॥ २ ॥

जहांपर भिन्नाधिकरण समास होता है वहांपर समानाधिकरण अर्थात विशेषण विशेष्यभाव नहीं रहता। जिसतरह 'राज्ञः पुरुषः, राजपुरुषः' राजाका पुरुष, यहांपर भिन्नाधिकरण समास है। राजा पदार्थका अधिकरण भिन्न है और पुरुष पदार्थका भिन्न है इसीलिए यहांपर विशेषण विशेष्यभाव भी नहीं यदि 'अजीवानां कायः, अजीवकायः' इसप्रकार यहांपर भी भिन्नाधिकरण समास माना जायगा तो दोनों

पदार्थ भिन्न भिन्न माने जांयगे, आपसमें उन दोनोंका विशेषण विशेष्यभाव न होगा इसलिए समाना-धिकरणस्वरूप अर्थात् विशेषण विशेष्यस्वरूप कर्मधारय समास ही मानना चाहिये। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

दृष्टत्वात्सुवर्णांगुलीयकवदिति चेन्न, तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥ ३ ॥

सोनेकी अंगूठी सोनेसे भिन्न पदार्थ नहीं है क्योंकि सोना ही अंगूठीस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिए जिसप्रकार 'सुवर्णस्यांगुलीयकं सुवर्णांगुलीयकं' यहांपर भिन्नाधिकरण समास रहनेपर भी दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न नहीं उसीप्रकार 'अजीवकायाः' यहांपर भी भिन्नाधिकरण समास माननेपर अजीव और काय दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न नहीं हो सकते। सो ठीक नहीं, अंगूठी चांदी आदि धातुकी भी होती है तथा उसके विषयमें ऐसा भी व्यवहार प्रसिद्ध है कि वह एक माशेकी वा दो आदि माशोंकी है। 'सुवर्णांगुलीयकं' यहांपर जो सुवर्ण विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि यह अंगूठी सोनेकी ही है चांदी आदि धातु वा माशे आदिकी नहीं है इसलिये चांदी धातु वा माशे आदि अन्य विशेषोंकी निवृत्तिके लिए 'सुवर्णांगुलीयकं' यहांपर सुवर्ण विशेषण है। परंतु 'अजीवस्य काया अजीवकायाः' यहांपर अजीव विशेषणसे किसी दूसरे पदार्थकी तो निवृत्ति मानी नहीं गई इसलिए यहांपर 'अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः' यही समानाधिकरणरूप समास ठीक है। अथवा—

अस्तु वाऽविरोधात् ॥ ४ ॥

'अजीवकायाः' यहांपर कोई विरोध न होनेसे भिन्नाधिकरण समासका मानना भी अनुचित नहीं क्योंकि पांचो अस्तिकायोंमें जीवका भी उल्लेख किया गया है उस जीवकी कायके ग्रहणकी निवृत्तिके

लिये 'अजीवकायाः' यहांपर अजीव शब्दका प्रयोग है उससे यहां अजीवकी ही कायका ग्रहण है जीवकी कायका ग्रहण नहीं इसरीतिसे 'अजीवस्य काया अजीवकायाः' यहांपर भिन्नाधिकरण समास भी बाधित नहीं एवं अजीव शब्दका प्रयोग जीवकी कायके निवृत्तिकेलिये किया गया है। तथा—

कथंचिद्भेदोपपत्तेः ॥ ५ ॥

अभिन्न पदार्थोंमें भी कथंचित् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदोंसे भेद माना गया है जिसतरह सोनेकी अंगूठी यहांपर 'सोना' सामान्य पदार्थ है और अंगूठी विशेष पदार्थ है । वास्तविक दृष्टिसे ये दोनों ही एक हैं तथापि सोनेका नाम जुदा है और अंगूठीका नाम जुदा है, सोनेका स्वरूप दूसरे प्रकारका है और अंगूठीका स्वरूप दूसरे प्रकारका है तथा सोनेसे दूसरा प्रयोजन सिद्ध होता है और अंगूठीसे दूसरा प्रयोजन सिद्ध होता है इसप्रकार सोना और अंगूठीमें संज्ञा आदिके भेदोंसे कथंचित् भिन्नता सिद्ध है यदि सोना और अंगूठी सर्वथा एक ही पदार्थ माने जांयगे तब अंगूठीके समान सामान्य सुवर्ण भी कुंडल आदि पर्यायरूप परिणत न हो सकेगा अथवा सामान्य सुवर्णके समान अंगूठी भी कुंडलादि रूप परिणत हो जायगी अर्थात् कुंडल आदि पर्यायोंमें जिसप्रकार सोना विद्यमान रहता है उसीप्रकार उन पर्यायोंमें अंगूठीका आकार भी विद्यमान रहेगा इसीलिये अर्थात् सोना और अंगूठीमें कथंचित् भेद है इसीकारणसे यह सोनेकी ही अंगूठी है चांदी आदि धातुकी नहीं इसप्रकार चांदी आदिकी निवृत्तिके लिये 'सुवर्णस्यांगुलीयकं सुवर्णांगुलीयकं' यहांपर सुवर्ण शब्दका प्रयोग उचित है । तथा यह भी बात है कि यदि सोना और अंगूठीको सर्वथा एक माना जायगा तो यह सोना है और यह अंगूठी है, ऐसी जो जुदी जुदी संज्ञा प्रसिद्ध हैं उनका भी अपलाप हो जायगा इसलिये प्रत्येक वस्तुको संज्ञा लक्षण आदिके भेदोंसे कथंचित् भिन्न मानना पडेगा। इसीप्रकार—

'अजीवानां काया अजीवकायाः' यहांपर काय शब्द प्रदेशोंका वाचक है। धर्म आदि द्रव्योंमें कौनके कितने प्रदेश हैं? यह बात आगे कही जायगी। ये प्रदेश धर्म आदि द्रव्योंसे संज्ञा लक्षण आदिके भेदोंसे कथंचित् भिन्न हैं। यदि इन प्रदेशोंको धर्म आदि द्रव्योंसे सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो जिसप्रकार धर्म आदि द्रव्य एक हैं उसीप्रकार प्रदेशोंको भी एक कहना पडेगा अथवा जिसप्रकार प्रदेश बहुत बहुत हैं उसीप्रकार धर्म आदि द्रव्योंको भी बहुत मानना होगा। इसीलिए अर्थात् सर्वथा अभेद पक्ष न मानकर कथंचित् भेद माना जाय इसीकारण 'अजीवकायाः' यहांपर जीवकी कायकी निवृत्तिके लिए अजीव शब्दका उल्लेख किया है और भी यह बात है कि अजीव और कायका सर्वथा अभेद ही माना जायगा तो यह अजीव है और यह काय है ऐसा भिन्नरूपसे व्यपदेश ही न सिद्ध होगा इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि कथंचित् भेदपक्ष भी युक्तियुक्त है तब 'अजीवकायाः' यहांपर भिन्नाधिकरण स्वरूप समासका मानना उपयुक्त ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जहांपर अभेद रहता है वहांपर भी भिन्न रूपसे व्यपदेश दीख पडता है जिसतरह शिलापुत्रक (लोढ़ा) का शरीर और राहुका शिर। यहांपर शिलापुत्रकसे भिन्न कोई शरीर नहीं है किंतु वह शिलापुत्रक (लोढा) ही शरीर है तथा राहुसे भिन्न कोई शरीर नहीं है क्योंकि शिरको ही राहु माना गया है तथापि 'शिलापुत्रकस्य शरीरं, राहोः शिरः' यह यहां अभेद रहते भी भेदरूपसे प्रतिपादन किया गया है इसरीतिसे जब अभेद रहते भी भिन्नरूपसे व्यपदेश दीख पडता है तब सर्वथा अभिन्न वस्तुमें भेदके व्यपदेशकी सिद्धिके लिये जो कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है वह अयुक्त है, सो ठीक नहीं। शक्तिकी अपेक्षा वहां भी भेद माना है और वह इसप्रकार है—

लोढा, कूटना पीसना दावना आदि अनेक क्रियाओंका निष्पादन करनेकी अनेक शक्तियोंका धारक है एवं जितनेप्रकारकी वह शक्ति है उतने ही प्रकारसे उस लोढाके भी भेद हैं। उस शिलापुत्रककी अनेक क्रियाओंमेंसे किसी एक क्रियाके विषय शरीरको शब्दकी कल्पना वा बुद्धिके भेदसे कथंचित् भिन्न समझ लेना चाहिये इसीतरह राहुके शिरकी भी भिन्न रूपसे कल्पना कर लेनी चाहिये इसतरह कथंचित् शब्दके रहते ही भेदव्यपदेश हो सकता है अभेद रहते भेदव्यपदेश नहीं हो सकता। यहांपर यह शंका न करना चाहिये कि शिलापुत्रका शरीर राहुका शिर यहांपर कथंचित् भेदके माननेमें क्या प्रमाण है? क्योंकि उसमें यही प्रमाण है कि शिलापुत्रकका ही यह शरीर है अन्य मनुष्य आदिका नहीं, राहुका ही यह शिर है अन्य किसीका नहीं इसप्रकार मनुष्य आदिके शरीर और शिरकी निवृत्तिके लिए ही शिलापुत्रक और राहु विशेषण दिये गये हैं और उन विशेषणोंका देना कथंचित् भेद पक्षमें ही सार्थक है यदि सर्वथा अभेद ही माना जायगा तो जिसतरह 'सुवर्णस्य सुवर्णं, घटस्य घटः' अर्थात् सोनेका सोना घडेका घडा, यहांपर सर्वथा अभेद रहनेसे सुवर्ण और घट विशेषणसे किसी अन्यकी व्यावृत्ति नहीं होती उसीप्रकार शिलापुत्रकका शरीर, राहुका शिर, यहांपर यदि सर्वथा अभेद माना जायगा तो यहांपर भी शिलापुत्रक और राहु विशेषणसे किसीकी भी निवृत्ति न होगी इसलिए सर्वथा अभेद पक्ष न स्वीकार कर कथंचित् भेद पक्ष भी स्वीकार करना पडेगा। एवं जब कथंचित् भेद युक्तिसिद्ध है तब कथंचित् भिन्नाधिकरण माननेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

अजीव इत्यभावमात्रप्रसंग इति चेन्न भावांतरप्रतिपत्तेरनश्ववत ॥ ६ ॥

अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि सूत्रमें अजीव शब्दका उल्लेख किया गया है। यदि उसकी व्युत्पत्ति 'न जीवः अजीवः' अर्थात् जो जीव न हो वह अजीव है, यह की जायगी तो जिस प्रकार भाव नहीं वह अभाव' कहा जाता है इसलिए भावसे भिन्न सबको अभाव माना जाता है उसीप्रकार जो जीव नहीं वह अजीव है अर्थात् जीवाभाव स्वरूप है इसप्रकार जीवसे भिन्न अजीव कोई भावस्वरूप पदार्थ सिद्ध न होकर केवल अभावस्वरूप ही पदार्थ सिद्ध होगा इसलिए अजीव पदार्थ जो धर्म अधर्म आदि सत्स्व रूप माने गए हैं वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। अभावको अधिकरणस्वरूप माना है इसलिए उससे तुच्छ अभावकी प्रतीति न होकर दूसरे भावात्मक पदार्थकी प्रतीति होती है जिसतरह 'अनश्व' यहांपर 'नायमश्वः, अनश्वः' यह अश्व नहीं है ऐसा कहनेपर तुच्छ अभावका ग्रहण नहीं होता किंतु "नञिव-युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थ इति" अर्थात् नञ् और इव अव्ययसंयुक्त पद अपनेसे भिन्न किंतु अपने ही सदृश पदार्थका बोध कराता है, व्याकरणके इस सर्वमान्य सिद्धांतके अनुसार अनश्व शब्दसे अश्वसे भिन्न किंतु उसीके समान पेट एकखुर आदि समान लक्षणोंके धारक गधाका ग्रहण होता है उसी प्रकार यहां भी 'यह जीव नहीं है' ऐसे निषेधके रहनेपर अजीव शब्दसे तुच्छ अभावका ग्रहण नहीं किंतु जीवसे भिन्न अनुपयोगरूप समान लक्षणके धारक धर्म अधर्म आदि भावात्मक पदार्थोंका ग्रहण है। यदि कदाचित् यह आपत्ति दी जाय कि—

धर्म अधर्म आदिमें कुछ सादृश्य तो दीख नहीं पडता फिर अजीव शब्दसे धर्म आदिका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। सत्त्व द्रव्यत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा सामानाधिकरण्य विद्यमान है। अर्थात् जैसे सत्व द्रव्यत्व आदि धर्म अधर्म द्रव्यमें विद्यमान हैं वैसे ही जीवद्रव्यमें भी विद्यमान हैं इसलिए सत्त्व

द्रव्यत्व आदिकी समानता रहनेसे सादृश्यका अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा यह जो कहा था कि 'न भावोऽभावः' अर्थात् जो भाव नहीं सो अभाव है ऐसा कहनेपर केवल तुच्छ अभावकी ही प्रतीति है? सो भी ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर भी तुच्छाभावकी सिद्धि नहीं किंतु पररूप आदिकी अपेक्षा ही वहांपर अभाव लिया गया है वह है भावात्मक ही। इसरीतिसे जो ऊपर यह कहा गया था कि अजीव कहनेसे अभावमात्र तत्त्वका ग्रहण होगा और उसमें 'न भावोऽभावः' यह दृष्टांत दिया गया था वह सब अयुक्त है।

अभ्यंतरीकृतेवार्थः कायशब्दः ॥ ७ ॥

'अजीवकायाः' यहांपर अंतरंगमें इव शब्दको प्रविष्टकर काय शब्दका प्रयोग किया गया है उससे 'कायके समान जो हों' वे काय हैं यह काय शब्दका अर्थ है और कायके समान जो हों वे काय हैं यह जो यहां उपमालंकारका ग्रहण है उसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे जो पुद्गलोंसे इकट्ठे किये जांय वे औदारिक आदि शरीर काय कहे जाते हैं उसीप्रकार धर्म आदि द्रव्योंका अनादिकालीन पारिणामिक प्रदेशोंका जो इकट्ठा होना है उसका नाम काय है। अर्थात् धर्म आदि द्रव्योंमें जो प्रदेशसमूह हैं उसीका नाम काय है जिसप्रकार मनुष्य आदिके शरीरोंमें अनेक पुद्गल परमाणुओंका समूह रहता है, विना परमाणुसमूहसे काय अथवा शरीर व्यवहार ही नहीं होता उसी-प्रकार जिन द्रव्योंमें अनेक प्रदेशोंका समूह रहता है वही द्रव्य काय कही जाती हैं। वार्तिककार काय शब्दके प्रयोगका फल बतलाते हैं—

तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं ॥ ८ ॥

प्रदेशरूपसे अवयवोंका बहुत्व ज्ञापन करनेके लिये सूत्रमें काय शब्दका उल्लेख किया है। यद्यपि

धर्म आदि द्रव्य अखंड हैं इसलिए उनमें प्रदेशोंकी कल्पना मुख्यरूपसे नहीं है तो भी श्रोताओंको सुखपे बोध करानेके लिये वे बुद्धिसे वा द्रव्यके परमाणुओंके अवगाहनमात्रसे कहे जाते हैं अर्थात् प्रदेशका अर्थ खंड है जो सर्वथा अखंड पदार्थ है उसमें खंड नहीं हो सकते, धर्म आदि द्रव्योंको अखंड पदार्थ माना है इसलिये धर्म आदि द्रव्योंमें मुख्यरूपसे प्रदेशोंकी विद्यमानता नहीं तो भी श्रोताओंको समझानेकेलिये उनकी बुद्धिसे कल्पना कर ली जाती है अथवा पुद्गलका अविभागी परमाणु जितने आकाशके स्थानको घेरे उसका नाम प्रदेश है इसलिए परमाणुओंके अवगाहनके आधीन भी प्रदेशोंकी कल्पना है इसप्रकार जो बुद्धि और परमाणुओंके अवगाहनके द्वारा कहे जांय उनका नाम प्रदेश है प्रदेशस्वरूप अवयव प्रदेशावयव कहे जाते हैं उनके बहुत्व जनानेके लिये सूत्रमें काय शब्दका उल्लेख किया गया है। यह 'प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं' इस वाक्यका स्पष्टार्थ है। शंका—

नासंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानामिति शास्त्रप्रवृत्तेः ॥ ९ ॥

प्रदेशस्वरूप अवयवोंके बहुत्व ज्ञापनके लिये काय शब्दका उल्लेख है, यह जो काय शब्दका प्रयोजन बतलाया गया है वह अयुक्त है क्योंकि '[2]असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां' अर्थात् धर्म अधर्म और एक जीवके असंख्याते प्रदेश हैं, इस आगे कहे जानेवाले सूत्रसे ही उनके प्रदेशोंका बहुत्वपना सिद्ध है। इस रीतिसे जब प्रदेशोंका बहुत्वपना अन्यरूपसे ही सिद्ध है तब उनके बहुत्व बतलानेकेलिये खास रूपसे प्रयुक्त काय शब्दका उल्लेख व्यर्थ है। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

प्रदेशसंख्यावधारणार्थमिति चेन्नातोऽप्यनिश्चयात ॥ १० ॥

१—……अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्दं। तं खु पदेसं जाणे सव्वट्ठाणुदाणरिहं॥ द्रव्यसंग्रह॥ २—अध्याय ५ सूत्र ८

'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां' इस सूत्रसे प्रदेशोंका बहुत्वपना नहीं सिद्ध होता किंतु यह निर्धारण होता है कि धर्म अधर्म और एक जीवके मिलकर असंख्याते प्रदेश हैं क्योंकि इस सूत्रसे ऐसी ही प्रतीति होती है। एक एकके भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेश हैं, यह अर्थ सिद्ध नहीं होता जो कि वास्तविक है इसलिए एक एकके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं इस अर्थकी सिद्धिके लिये सूत्रमें कायग्रहण सार्थक है? सो ठीक नहीं। काय शब्दके ग्रहण करनेपर भी धर्म आदि द्रव्य प्रदेशोंका समूह है इसी अर्थका निश्चय होगा, प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं इस अर्थका निश्चय नहीं हो सकता। प्रश्न—फिर धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्यमें प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं यह निश्चय होगा कैसे? उत्तर—

लोकाकाशेऽवगाह इत्यादिवचनात्तन्निश्चयः ॥ ११ ॥

'लोकाकाशेऽवगाहः'[1] समस्त धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह अर्थात् स्थिति है ऐसा कह कर 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने'[2] अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समस्त लोकाकाशमें है, इत्यादि आगे कहा गया है इसी वचनसे धर्म अधर्म आदिके प्रदेशोंके परिमाणका निश्चय होता है अर्थात् लोकाकाशको असंख्यातप्रदेशी कहा है, जब धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समस्त लोकाकाशमें है तब उनके असंख्यातप्रदेशीपनका निश्चय स्वयं सिद्ध है। एवं 'असंख्येयभागादिषु जीवानां'[3] अर्थात् लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है इस वचनसे जीवोंका जघन्य अवगाह लोकके एक प्रदेश तकमें माना गया है और उत्कृष्ट अवगाह लोकाकाशप्रमाण कहा गया है इस रूपसे एक जीवके भी

१—इसी ग्रन्थका अध्याय ५ सूत्रसंख्या १२। २—अध्याय ५ सूत्रसंख्या १३। ३—अध्याय ५ सूत्रसंख्या १५।

असंख्यातप्रदेशीपनेका निश्चय है । इस रीतिसे जब धर्म अधर्म और एक जीवमें प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेशोंका 'लोकाकाशेऽवगाहः' इत्यादि वचनोंकी ही सामर्थ्यसे निश्चय है तब इस बातके निश्चयार्थ भी काय ग्रहणकी कोई आवश्यकता नहीं, उसका ग्रहण व्यर्थ ही है । यदि यहांपर फिर यह उत्तर दिया जाय कि—

अप्रदेशैकद्रव्यत्वप्रसंग इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ १२ ॥

कायका अर्थ प्रदेशोंका समूह है । यदि कायका उल्लेख न किया जायगा तो प्रदेशरहित एक अखंड द्रव्यपनाका प्रसंग होगा जो कि अनिष्ट है इसलिए इस अनिष्टताकी निवृत्ति अर्थात् धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी माने जांय इस बातकी सिद्धिके लिए काय शब्दका ग्रहण आवश्यक है । सो ठीक नहीं, यह बात पहिले कह दी गई है कि 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां' इत्यादि वचनोंसे धर्म अधर्म आदिके प्रदेशोंका विधान कर दिया गया है इसलिये कायशब्दके उल्लेखके विना वे अप्रदेशी नहीं सिद्ध हो सकते । इसलिये कायशब्दका ग्रहण निरर्थक ही जान पडता है । यदि कदाचित् फिर यहां यह उत्तर दिया जाय कि—

आर्षानुवादार्थमिति चेन्न तदवस्थत्वात् ॥ १३ ॥

आर्ष–सिद्धांतग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि 'पंचास्तिकायाः' अर्थात् अस्तिकाय पांच हैं इसलिये उसीके अनुवादके लिये काय ग्रहण किया गया है । सो ठीक नहीं, क्योंकि उस आर्षका अनुवाद 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां' इत्यादि वचनोंसे ही सिद्ध हो जायगा, काय शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं । यदि और भी यह उत्तर दिया जाय कि—

स्वभावापरित्यागार्थमिति चेन्न नित्यावस्थितवचनात्सिद्धेः ॥ १४ ॥

धर्म आदि द्रव्य सदा काय—प्रदेशप्रचयस्वरूप ही रहते हैं, प्रदेशसमूह स्वरूप रहना उनका स्वभाव है, इस निश्चलस्वभावकी रक्षाके लिये काय शब्दका ग्रहण अत्यंत आवश्यक है इसलिये काय शब्दका ग्रहण जो ऊपर व्यर्थ बताया गया है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। आगे "नित्यावस्थितान्यरूपाणि"[1] अर्थात् जीव आदि समस्त द्रव्य नित्य अर्थात् कभी नष्ट नहीं होते, अवस्थित—संख्यामें घटते बढते नहीं और अरूप—रूपरहित हैं, यह कहा गया है उसीमें धर्म आदि द्रव्योंका प्रदेशप्रचयस्वभाव सिद्ध है, कभी भी उसका नाश नहीं हो सकता फिर कायग्रहणकी कोई आवश्यकता नहीं, वह व्यर्थ ही है। शंका—उपर्युक्त ऊहापोहसे जब यह बात निश्चित हो चुकी कि काय शब्दके ग्रहणकी कोई आवश्यकता नहीं तब काय शब्दका ग्रहण नहीं करना ही अच्छा। उत्तर—नहीं, उसका ग्रहण प्रयोजनीय है। पुनः प्रश्न—तो वह प्रयोजन क्या है? उत्तर—

तत्सिद्धावसंख्येयप्रदेशावधारणसिद्धेः ॥ १५ ॥

जीव धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशबहुत्वकी सिद्धि कर देना यह काय शब्दका ही कार्य है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब प्रदेशबहुत्वकी सिद्धि काय शब्दके उल्लेखसे ही हो जाती है तब 'असंख्येयाः प्रदेशा' इत्यादि उत्तर वचन निरर्थक हैं। तो उसका समाधान यह है कि वे वचन निर्धारणके लिये हैं और वह निर्धारण इसप्रकार है कि—धर्म आदिके असंख्याते ही प्रदेश हैं, संख्याते वा अनंते नहीं

१—इसी ग्रन्थका अध्याय ५ सूत्रसंख्या ४।

क्योंकि निर्धारणको विधिपूर्वक माना है। संख्यात और अनंत प्रदेशोंकी जब सत्ता होगी तभी असंख्याते ही प्रदेश हैं, संख्याते और अनंते नहीं, यह निर्धारण हो सकता है। और भी यह बात है कि—

अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं वा ॥ १६ ॥

'अद्धा' शब्द निपात अव्यय है। इसका अर्थ काल है। कालद्रव्यका वर्णन आगे किया जायगा उसके प्रदेश बहुत्वके निषेध करनेके लिये काय शब्दका ग्रहण किया गया है क्योंकि जिसप्रकार परमाणु एक प्रदेशस्वरूप है दो तीन आदि प्रदेश उसके नहीं हैं इसलिये वह अप्रदेश कहा जाता है उसीप्रकार कालाणु भी एक प्रदेशस्वरूप है, दो तीन आदि उसके भी प्रदेश नहीं इसलिये वह भी अप्रदेश है। यदि काय शब्दका ग्रहण नहीं किया जाता तो जिसप्रकार जीव धर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंका बहुत्वपना सिद्ध है उसीप्रकार कालद्रव्यको प्रदेशप्रचयस्वरूप माना जाता जो कि आगमविरुद्ध है क्योंकि आगममें कालाणुओंको रत्नोंकी राशिके समान और प्रत्येक आकाशके प्रदेशपर एक एक कालाणु विद्यमान है ऐसा माना है इसलिये कालद्रव्यको प्रदेशप्रचयस्वरूप न माना जाय इस बातके निषेधकेलिये काय शब्दका उल्लेख किया गया है।

विशेष—काय अर्थात् प्रदेशप्रचयस्वरूप, काल द्रव्यको छोडकर शेष पांच द्रव्योंको माना गया है परन्तु पुद्गल द्रव्यको प्रचयस्वरूप माननेमें दोष आता है क्योंकि परमाणुओंका पिंड स्वरूप पुद्गल द्रव्य तो काय कहा जा सकता है परन्तु परमाणु जो कि एक प्रदेशमात्र है, दो आदि प्रदेशोंका जिसके अंदर समावेश नहीं वह प्रदेशप्रचयस्वरूप नहीं कहा जा सकता इसलिये पुद्गल द्रव्यके एक प्रदेशमें कायस्वरूप लक्षण न घटनेसे वह अव्याप्ति दोषग्रस्त है। सो ठीक नहीं। प्रदेशप्रचयपना व्यक्ति और

शक्ति दोनोंकी अपेक्षा माना गया है। जहां पिंडस्वरूप पुद्गल है वहांपर तो व्यक्तिकी अपेक्षा प्रदेशप्रचय स्वरूप है क्योंकि वहांपर व्यक्त है। और परमाणुमें शक्तिकी अपेक्षा है क्योंकि उसमें पिंडस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति विद्यमान है। यदि यहांपर कहा जाय कि फिर कालद्रव्यको भी प्रदेशप्रचयस्वरूप मान लेना चाहिये क्योंकि शक्तिकी अपेक्षा कालाणुओंमें भी प्रदेशप्रचयपना रह सकता है? सो ठीक नहीं। शक्ति किसी न किसी समयमें जाकर नियमसे व्यक्त हो जाती है जिस तरह एक परमाणु यद्यपि प्रदेशप्रचयस्वरूप नहीं है परन्तु जब वह पिंडस्वरूप परिणत हो जाता है तब उसकी प्रदेशप्रचयस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति व्यक्त हो जाती है। कालाणुओंकेलिये कोई ऐसा समय नहीं आ सकता जब कि उनके प्रदेश आपसमें मिल सकें इसलिये कालाणुओंमें शक्तिकी अपेक्षा भी प्रदेशप्रचयपना नहीं। इसप्रकार काय शब्दार्थ और उसके प्रयोजनका विवेचन कर वार्तिककार अब धर्म आदि संज्ञा क्यों पड़ीं? इस वातपर विचार करते हैं—

धर्मादयः संज्ञाः सामायिक्यः ॥ १७ ॥

दर्शन ज्ञानरूप अतिशयोंके धारक भगवान अर्हंत आदि द्वारा जिसके सारभूत अर्थका समय पाकर प्रकाश हुआ है ऐसे अनादिनिधन भगवान अर्हंतके सिद्धांतमें धर्म अधर्म आकाश आदि संज्ञा रूढ मानी गई हैं, इसप्रकार धर्म आदि संज्ञाओंको सिद्धांतशास्त्रपाठित समझ लेना चाहिये। अथवा—

क्रियानिमित्ता वा ॥ १८ ॥

क्रियाके आधीन धर्म आदि संज्ञाओंको समझ लेना चाहिये और उनकी व्यवस्था इसप्रकार है—

स्वयंक्रियापरिणामिनां साचिव्यावधानाद्धर्मः ॥ १९ ॥

स्वयं गतिक्रियापरिणत जीव और पुद्गलोंको उनकी गतिक्रियामें जो सहायता पहुंचानेवाला हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं अर्थात् 'दधातीति धर्मः' जो सहायता धारण करे अर्थात् गमनमें सहायता पहुंचानेवाला हो वह धर्मद्रव्य है।

तद्विपरीतोऽधर्मः ॥ २० ॥

धर्म द्रव्यका जो कार्य बतलाया है उससे विपरीत कार्यमें सहायता पहुंचानेवाला अधर्म द्रव्य है अर्थात् स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायता पहुंचानेवाला अधर्म द्रव्य है।

आकाशंतेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं वाकाशत इत्याकाशं ॥ २१ ॥

जीव आदि समस्त द्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंके साथ जिसमें अभिन्नरूपसे प्रकाशमान रहें उसका नाम आकाश है अथवा अपनी पर्यायोंके साथ स्वयं ही अपनेमें प्रकाशमान रहे उसे आकाश कहते हैं। अथवा—

अवकाशदानाद्वा ॥ २२ ॥

जो जीव आदि पदार्थोंको अवकाशदान दे उसका नाम आकाश है। व्याकरणशास्त्रमें एक पृषोदरादि गण पाठ है जो शब्द प्रकृति प्रत्ययके द्वारा न सिद्ध हों उन्हें पृषोदरादि गणके अंदर मानकर

१—पृषोदरादयः । ४ । ३ । २८० । पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चरितानि तथैव साधूनि स्युः। पृषोदर आदि शब्दोंका शिष्ट पुरुषोंने जिस रूपसे उच्चारण किया है वे उस रूपसे शुद्ध ही हैं अर्थात् चाहे वे प्रकृति प्रत्ययके द्वारा न निष्पन्न हों तो भी उनकी शुद्धतामें बलवान प्रमाण शिष्टोंके मुखसे होनेवाला उच्चारण ही है। आकाश शब्द प्रकृति प्रत्ययसे सिद्ध नहीं परन्तु शिष्टोंने उसका उच्चारण किया है इसलिये वह प्रमाण ही है। जैनेंद्रव्याकरण।

शुद्ध समझ लिया जाता है। आकाश शब्द भी ऐसा ही है इसलिये पृषोदरादि गणमें इसे भी निपातित समझ लेना चाहिये। शंका—

अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तदभाव इति चेन्न तत्सामर्थ्याविरहात् ॥ २३ ॥

जीव आदि पदार्थोंके रहनेका स्थान लोकाकाश ही माना है, अलोकाकाशमें सिवाय आकाशके और किसी पदार्थका सद्भाव नहीं माना यदि अवकाश दान देनेसे आकाश नाम माना जायगा तो यह लक्षण लोकाकाशमें तो घटेगा क्योंकि वहांपर जीव आदि द्रव्योंका सद्भाव होनेसे अवकाश दान दिया जाता है, अलोकाकाशमें यह लक्षण नहीं घटेगा क्योंकि वहांपर जीव आदिका अभाव है। जीव आदिके अभावमें अवकाशदानकी योग्यता नहीं रह सकती इसलिए अवकाशदानके अभावसे अलोकाकाशकी आकाश संज्ञा नहीं मानी जा सकती? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार भविष्यत्काल अत्यंत दूर है और इस समय उसकी प्राप्तिका भी अभाव है तथापि वर्तमानकालमें उसकी प्राप्तिकी योग्यता है इसलिए उसका भविष्यत्काल नाम अबाधित है यदि उसमें वर्तमानकाल होनेकी योग्यता नहीं रहती तो शशाके सींगके समान उसका भविष्यत्काल नाम नहीं पड सकता था उसीप्रकार यद्यपि अलोकाकाशमें अवगाहन करने वाले जीव आदि पदार्थ नहीं हैं तथापि अलोकाकाशमें उनको अवगाहन दान देनेकी सामर्थ्य मौजूद है। यदि वहांपर जीव आदि पदार्थ हों तो वे निर्बाधरूपसे अवकाश दान प्राप्त कर सकते हैं इस रीतिसे जब अलोकाकाशमें भी अवकाशदान देनेकी शक्ति विद्यमान है तब उसकी आकाश संज्ञा अविरुद्ध है। अथवा—

जिसप्रकार 'गच्छतीति गौः' जो चले फिरे उसका नाम गौ है इस व्युत्पत्तिके आधीन, चलनेवाली

गो को ही गो कहना चाहिये परंतु गमन क्रियारूप किसी निमित्तकी अपेक्षा न कर रूढिबलसे सोती उठती बैठती चलती सभी अवस्थाओंमें गो कही जाती है उसीप्रकार आकाशमें भी अवकाशदान रूप निमित्तकी अपेक्षा न कर रूढिवाले आकाश नामकी प्रवृत्ति अबाधित है।*

पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात्पुद्गलाः ॥ २४ ॥

जिसप्रकार 'भासं करोतीति भास्करः' अर्थात् जो प्रभाको उत्पन्न करे उसका नाम भास्कर है इस-प्रकार भासनरूप अर्थको अंतःप्रविष्टकर भास्कर संज्ञा अन्वर्थ है उसीप्रकार भेदसे, संघातसे और भेद-संघातसे जो आपसमें मिल जांय और गलकर जुदा हो जांय वह पुद्गल द्रव्य है, इसप्रकार पुरजाना और गलजाना रूप क्रियाको अंतःप्रविष्टकर पुद्गल शब्द अन्वर्थ है। जिसप्रकार 'शवशयनं श्मशानं' अर्थात जहांपर मुर्दे जाकर लेटें वह श्मशान (मरघट) भूमि है यहांपर 'श्मशान' किसी भी प्रकृति प्रत्ययसे सिद्ध न होनेके कारण पृषोदरादि गणमें उसका पाठ मानकर उसे निपात शब्द माना है उसी प्रकार पुद्गल शब्द भी नियमानुसार किसी भी प्रकृति और प्रत्ययसे सिद्ध नहीं इसलिये इसका भी पृषोदरादि गणमें पाठ मानकर इसे निपात शब्द माना है। शंका—

परमाणुषु तदभावात्पुद्गलत्वाभाव इति चेन्न गुणापेक्षया तत्सिद्धेः ॥ २५ ॥

पुरजाना और गलजाना रूप क्रियाओंका सद्भाव अनेक अवयवस्वरूप पदार्थमें हो सकता है।

---

* अथवा जिसप्रकार कुम्हारका चाक एक चौथाई इञ्चकी बराबर कीली पर रक्खा हुआ सबका सब घूमता है क्योंकि वह एक है, उसीप्रकार लोकाकाशमें अवगाहन लक्षण घटित होनेसे वही लक्षण अलोकाकाशमें भी चला जाता है कारण आकाश तो वास्तवमें एक ही अखंड पदार्थ है, उसके दो भेद तो काल्पनिक हैं।

परमाणुओंको निरवयव पदार्थ माना है इसलिये जब पुरजाना और गलजानारूप क्रियाओंका परमाणुओंमें होना बाधित है तब परमाणुओंको पुद्गल नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि उनमें (परमाणुओंमें) गुणोंकी अपेक्षा पूरण गलनस्वभाव सिद्ध है और उसका खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

परमाणुओंको रूप रस गंध और स्पर्श स्वरूप माना है। वहांपर किसी एक रूप आदि गुणसे परिणत परमाणु दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंत गुणस्वरूप वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथा इसीप्रकार असंख्यात संख्यात चार तीन आदि स्वरूपसे उनकी हानि भी होती चली जाती है इसप्रकार गुणोंमें कमीवेशी होनेपर गुणोंकी अपेक्षा पुरजाना गलजाना रूप क्रियाओंकी उत्पत्ति है इसलिये परमाणुओंको पुद्गल माननेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं। अथवा—

गुणोंमें पुरजाना और गलजाना रूप क्रियाओंकी कल्पना उपचारसे है वास्तवमें तो पुरजाने और गलजानेकी शक्ति परमाणुओंमें ही विद्यमान है क्योंकि भूतकालमें जब वह परमाणु पिंडस्वरूप था उससमय पिंडमें पूरण गलन क्रियाओंके सद्भावसे उसके अवयवस्वरूप परमाणुओंमें भी पूरण गलन क्रियाका सद्भाव था तथा जिससमय भविष्यत् कालमें वह परमाणु पिंडस्वरूप परिणत होगा उससमय पिंडमें पूरण गलन रूप क्रियाएं रहते उसके अवयवस्वरूप परमाणुओंमें भी वह क्रिया मानी जायगी इस रीतिसे शक्तिकी अपेक्षा परमाणुओंको पुद्गलपना उपचारसे है। तथा और भी यह बात है कि—

पुंगिलनाद्वा ॥ २६ ॥

'पुं' कहिये जीव, गल कहिये आहार विहार आदि कार्योंके करने वा न करनेमें जिन्हें काममें लावें

वे पुद्गल हैं। आहार विहार आदि जितने भी कार्य हैं सब पुद्गलोंके आधीन हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि आहार विहार आदि कार्योंमें परमाणुओंको काममें नहीं लाया जा सकता इसलिये वे पुद्गल न कहे जायेंगे, सो ठीक नहीं क्योंकि इसका उत्तर पहिले दिया जा चुका है अर्थात् परमाणु साक्षात् रूपसे भले ही आहार विहार आदि कामोंमें न लाये जांय तथापि उनमें वह शक्ति विद्यमान है इसलिये शक्तिकी अपेक्षा उनमें पुद्गलपना अबाधित है।

बहुवचनं स्वातंत्र्यप्रातिपत्त्यर्थं ॥ २७ ॥

'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहांपर जो बहुवचनका उल्लेख किया गया है वह स्वातंत्र्यके ज्ञान करानेके लिये है तथा स्वातंत्र्य शब्दसे यहांपर गति आदि उपकारोंके करनेवाले धर्म आदि द्रव्य स्वयं गति आदि उपकारोंमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी गति आदि उपकारोंके करनेमें पराधीन प्रवृत्ति नहीं होती यह यहां अविवक्षित अर्थात् सूत्रमें नहीं कहा गया है तब भी समझ लेना चाहिये। शंका—

जितने भी संसारमें परिणामी पदार्थ हैं उनका जो कुछ परिणमन होता है वह द्रव्य आदि वाह्य कारणोंके द्वारा होता है स्वयं नहीं। यदि स्वातंत्र्यका उपर्युक्त अर्थ कर धर्म आदि परिणामी पदार्थोंका परिणमन स्वयं माना जायगा तो यह कथन विरुद्ध हो जायगा? सो ठीक नहीं। वाह्य द्रव्य आदि पदार्थ निमित्त मात्र हैं जब कार्य हुआ तो वे कारण हो गये, नहीं तो सदा अपने स्वरूपमें तदवस्थ रहते हैं, क्योंकि गति आदि परिणामस्वरूप जीव और पुद्गल, धर्म आदि द्रव्योंको गति आदि उपकारके लिये प्रेरणा नहीं करते। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' धर्मश्च अधर्मश्च आकाशं च पुद्गलश्च 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यह यहां

पर इतरेतरयोग द्वंद्व समास है। इतरेतरयोग द्वंद्व समासमें बहुवचन होना ही चाहिये फिर यहां बहु-वचनके प्रयोगको व्यर्थ मान उसका फल जो स्वातंत्र्य अर्थका द्योतन करना बताया है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जिसतरह इतरेतर द्वंद्व समास है उसीप्रकार समाहार नामक द्वंद्व समास भी है। और उस समाहार द्वंद्व समासमें बहुवचनकी जगह एकवचन होता है और वह एकवचन बहुवचनका ही बोधक है इसलिए 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहांपर समाहारसमास मानकर एकवचनका प्रयोग ही उप-युक्त था फिर जो बहुवचनका प्रयोग किया गया है उसका तात्पर्य उपर्युक्त स्वातंत्र्यरूप अर्थका प्रकट करना है। इसका उदाहरण जैनेंद्रव्याकरणका 'ह्तः ३।१।८२।' यह सूत्र है। यहांपर 'ह्त्' यह एकवचनांत उल्लेख ही पर्याप्त था परंतु वैसा न कर जो बहुवचनांत उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिन प्रत्ययोंका ह्त् (तद्धित) प्रकरणमें उल्लेख नहीं किया गया है उनका भी प्रयोगोंके आधीन उल्लेख समझ लेना चाहिये। जिसतरह जो 'अंतमें हो वह अंतिम' और 'जो यमने कहा हो वह याम्य' 'धर्मशास्त्र' कहा जाता है। यहांपर अंत शब्दसे डिम प्रत्यय करनेपर अंतिम शब्द बना है और यम शब्दसे ण्य प्रत्यय करनेपर याम्य शब्द बना है। यहांपर डिम और ण्य दोनों ही प्रत्ययोंका ह्त् (तद्धित) प्रकरणमें उल्लेख नहीं तथापि 'ह्तः' इस सूत्रमें जो बहुवचनांत ह्त् शब्दको रक्खा गया है उसकी सामर्थ्यसे नहीं कहे हुये भी डिम और ण्य प्रत्ययकी भी उत्पत्ति मान ली है। इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि 'ह्तः' यहांपर एकवचनांत प्रयोगके उपयुक्त रहते भी बहुवचनांत प्रयोगसे जिसप्रकार अनुक्त भी प्रत्ययोंका विधान मान लिया जाता है उसीप्रकार 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहांपर समाहार द्वंद्व मानकर एकवचनांत प्रयोग उपयुक्त था फिर जो बहुवचनांत प्रयोग किया है वह स्वातंत्र्य अर्थका द्योतक है।

प्रशस्ताभिधानाद्धर्मग्रहणमादौ ॥ २८ ॥

धर्म शब्दका प्रशस्त अर्थ लोकप्रसिद्ध है इसलिए प्रशस्त अर्थका वाचक होनेसे 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहांपर सबसे पाहिले धर्म शब्दका उल्लेख किया है।

तदनंतरमधर्मग्रहणं क्रियते कुतः लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् ॥ २९ ॥

अधर्म द्रव्य लोककी व्यवस्थाका कारण है इसलिए धर्मद्रव्यके उल्लेखके बाद अधर्मद्रव्यका उल्लेख किया गया है। 'लोकव्यवस्थाहेतुत्वात' शब्दका स्पष्ट अर्थ यह है—पांच अस्तिकाय अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म एवं आकाश तथा काल इनको लोक कहते हैं। लोकके अंदर रहनेवाले पदार्थ इस रूपसे व्यवस्थित हैं इसप्रकार उनकी भिन्न भिन्न रचना बतलाना अर्थात् वेत्रासन आदि लोकका आकार-व्यवस्था है। लोककी जो व्यवस्था वह लोकव्यवस्था कही जाती है और लोकव्यवस्थाका जो कारण है वह लोकव्यवस्थाहेतुत्व कहा जाता है। यदि अधर्मास्तिकाय मानी न जायगी तो गतिमान पदार्थोंकी गतिका तो कोई नियम रहेगा ही नहीं, अनंतप्रदेशी आकाशमें सर्वत्र पृथक् पृथक् रूपसे उनकी गति होती फिरेगी और तब लोकाकाश और अलोकाकाशकी जो विशेषरूपसे व्यवस्था है वह नष्ट हो जायगी इसलिए धर्मद्रव्यके बाद अधर्मद्रव्यका ग्रहण न्यायप्राप्त है। तथा और भी यह बात है कि—

तत्प्रतिपक्षत्वाच्च ॥ ३० ॥

धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहकारी कारण है और अधर्मास्तिकाय उनकी स्थितिमें सहकारी कारण है इसरीतिसे धर्मास्तिकायके कार्यसे विरुद्ध कार्यमें कारण होनेसे अधर्मास्तिकाय धर्मास्तिकायका विरोधी है इसलिए उसके बाद अधर्मास्तिकायका उलेख है।

तत्परिच्छेद्यत्वात्तदनंतरमाकाशग्रहणं ॥ ३१ ॥

जहांपर धर्म और अधर्म द्रव्य हों वह लोकाकाश और जहांपर उन दोनों द्रव्योंका अभाव हो वह अलोकाकाश है इसप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्यके द्वारा आकाशका परिमाण किया जाता है इसलिये अधर्म द्रव्यके बाद आकाश द्रव्यका ग्रहण किया गया है। तथा—

अमूर्तत्वसाधर्म्याच्च ॥ ३२ ॥

रूप रस आदि मूर्तिक गुणोंसे रहित होनेके कारण जिसप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्य अमूर्तिक हैं उसीप्रकार आकाशमें भी रूप रस आदिका अभाव है इसलिए वह भी अमूर्तिक पदार्थ है इसप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्यका सधर्मा होनेसे भी अधर्मके बाद आकाश द्रव्यका ग्रहण किया गया है।

तदवगाहित्वात्तत्समीपे पुद्गलवचनं ॥ ३३ ॥

आकाश द्रव्यका अवगाहन कर पुद्गलोंकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् आकाशमें ही पुद्गलोंकी गति होती रहती है इसलिए आकाश द्रव्यके बाद पुद्गलका ग्रहण किया गया है। शंका—

आकाशग्रहणमादौ धर्मादीनामाधारत्वादिति चेन्न लोकविनिवेशस्यानादित्वात् ॥ ३४ ॥

सामान्य रूपसे धर्म आदि पांचों द्रव्योंका आधार आकाश माना गया है इसलिए सबकी आदिमें उसका ही ग्रहण न्यायप्राप्त है? सो ठीक नहीं। लोककी रचना अनादिकालसे है। उस लोकरचनाके अंदर यह नियम ही नहीं हो सकता कि आकाश आधार है और अन्य समस्त द्रव्य आधेय—उसमें रहने वाली हैं क्योंकि जो आदिमान पदार्थ है उन्हींमें आधाराधेयकी कल्पना मानी है जिसतरह कुंड और बेर पदार्थ आदिमान हैं इसलिए वहां यह कहा जाता है कि कुंड आधार है और बेर आधेय है इसरीतिसे

लोकरचना अनादि होनेसे जब उसमें आधार आधेयकी कल्पना नहीं हो सकती तब आकाशको सब पदार्थोंका सामान्यरूपसे आधार मानकर जो यह शंका की गई थी कि उसका सबमें पहिले ग्रहण होना चाहिये वह अयुक्त है। यदि यहांपर कदाचित् यह शंका उठाई जाय कि—

आर्षविरोध इति चेन्नादेशवचनात् ॥ २५ ॥

आगममें आकाश स्वप्रतिष्ठ है अर्थात् अपना आधार स्वयं है। तनुवातवलयका आधार आकाश है। घनवातवलयका आधार तनुवातवलय है और घनोदधिवलयका आधार घनवातवलय है इत्यादि रूपसे आधाराधेयकी व्यवस्था मानी है। यदि लोककी अनादिकालीन रचना मानकर सर्वथा आधाराधेय भावका निषेध कर दिया जायगा तो यह आगमविरोध होगा? सो ठीक नहीं। यदि एकांतरूपसे सर्वथा आधाराधेयभावका निषेध माना जाय तब तो आगमविरोध हो सकता है परंतु यहां तो अपेक्षासे कथंचित् आधाराधेयभाव और कथंचित् आधाराधेयभावका अभाव माना गया है इसलिये कोई दोष नहीं उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

वस्तुकी व्यवस्था द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दो नयोंके आधीन मानी है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आकाश आदिका आधाराधेयभाव नहीं क्योंकि आधाराधेयभाव यह एक पर्याय विशेषका नाम है जहां पर पर्यायार्थिक नयको गौण माना जायगा और द्रव्यार्थिक नयको प्रधान माना जायगा उससमय प्रतिनियत और अनादि पारिणामिक द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्य अपने आधार आप हैं अर्थात् द्रव्यस्वरूपसे समस्त द्रव्य अनादिकालसे स्वयं अपने आधार माने गये हैं इसलिये उससमय छहो द्रव्योंकी आधाराधेयस्वरूप पर्याय नहीं मानी जा सकती परंतु जिससमय पर्यायार्थिक नय प्रधान और द्रव्यार्थिक

नय गौण माना जायगा उससमय प्रतिक्षण पर्यायोंका परिवर्तन रहनेके कारण समस्त पदार्थ आदिमान माने हैं इसलिये वहांपर आधाराधेय माना जा सकता है। इसी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आगममें आधाराधेयभाव माना गया है इसरीतिसे जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा आधराधेयभाव सुनिश्चित और अबाधित है तब ऊपर कहे गये आर्षविरोध की यहां संभावना नहीं हो सकती। अथवा—

लोक रचनाके अनादि कालीन रहनेपर भी आकाश आधार है और समस्त द्रव्य आधेय हैं ऐसा अनादिकालसे व्यवहार प्रचलित है इसलिए व्यवहार नयकी अपेक्षा आकाश और समस्त द्रव्योंका कथंचित् आधाराधेय भाव कहा जा सकता है किंतु जिससमय एवंभूतनयकी अपेक्षा माना जायगा उससमय आधाराधेयभाव नहीं बन सकता क्योंकि एवंभूतनयकी अपेक्षा जो पदार्थ जिस कालमें जिन रूपसे है उसी रूपसे कहा जाता है। एवंभूतनयकी अपेक्षा अनादि पारिणामिक लोकके अन्दर समस्त द्रव्य स्वयं अपनेमें प्रतिष्ठित हैं इसलिये प्रत्येक द्रव्य अपना आधार स्वयं आप है। शंका—

यदि व्यवहार नयकी अपेक्षा भी आधाराधेय भाव माना जायगा तो घनोदधिवलयका आधार घनवातवलय, घनवातवलयका आधार तनुवातवलय, तनुवातवलयका आधार आकाश, आकाशका आधार कोई अन्य पदार्थ और उसका भी आधार कोई अन्य पदार्थ इसप्रकार यहांपर अनवस्था दोषका प्रसंग होगा इसलिये आपसमें आधराधेय भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। सो ठीक नहीं। आकाशको सर्वगत और अनंत पदार्थ माना है यह नियम है कि जो पदार्थ सर्वगत अर्थात् सब जगह व्याप्त रहता है और अनंत जिसका अंत नहीं उसकी सब जगह समीपता रहती है—ऐसी कोई जगह नहीं जहांपर वह न मौजूद हो इसलिये उसके आधार बननेकी योग्यता रखनेवाला अन्य कोई पदार्थ

नहीं हो सकता और न फिर उस अन्य पदार्थका आधार कोई अन्य पदार्थ होना संभव है इसरीतिसे आकाशका कोई अन्य आधार है और उसका कोई अन्य आधार है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता और इसप्रकारके व्यवहारके न रहनेपर अनवस्था दोष नहीं हो सकता किंतु जो पदार्थ असर्वगत अर्थात् किसी खास प्रदेशमें रहनेवाला है, अंतवान् अर्थात् परिमित है, मूर्तिमान् है, अवयवविशिष्ट है और इंद्रियगोचर है उसीमें अनवस्था दोष हो सकता है। सर्वगत आदि पदार्थोंमें नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि सर्वगत होनेपर भी आकाशमें अनवस्था देखी गई है तब कहना चाहिये कि वह किस प्रकारसे है ? यदि नहीं कहा जा सकेगा तब आकाशस्वरूप सर्वगत पदार्थमें अनवस्था दोषकी कल्पना छोड ही देनी चाहिये इसरीतिसे यह बात निर्बाधरूपसे सिद्ध हो चुकी कि व्यवहारनयसे जो आधाराधेयकी कल्पना की गई है और जो ऊपर सूत्रमें शब्दोंके क्रम रखनेमें हेतु बतलाया गया है वह निर्दोष है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात् ॥ ३६ ॥

भाष्यमें बहुत बार यह कहा गया है कि द्रव्य छह हैं और उनके नाम जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये कहे गये हैं इसलिए जिसप्रकार धर्म आदि अजीव पदार्थ हैं उसप्रकार काल भी अजीव पदार्थ है अतः अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि सूत्रमें काल द्रव्यका भी उल्लेख करना चाहिये। तो इसका समाधान यह है कि उस कालद्रव्यका लक्षण आगे कहा जायगा ॥ १ ॥

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्यादि सूत्रोंमें द्रव्य शब्दका उल्लेख किया गया है परंतु वे द्रव्य कौन कौन हैं ? यह अभीतक नहीं बतलाया गया इसलिए सूत्रकार अब उन द्रव्योंको कहते हैं—

द्रव्याणि ॥ २ ॥

ऊपर जो धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल कहे गये हैं वे द्रव्य हैं।

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैर्द्रूयंते द्रवंति वा तानीति द्रव्याणि ॥ १ ॥

स्वप्रत्यय और परप्रत्यय अर्थात् अंतरंग और वाह्य कारणोंके द्वारा होनेवाले उत्पाद और विनाश रूप पर्यायोंके द्वारा जो प्राप्त किये जांय अथवा उन पर्यायोंको जो प्राप्त हों अर्थात् जो उत्पन्न और नष्ट हों उनका नाम द्रव्य है। स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ, उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः' अर्थात् जहांपर स्व (अंतरंग) कारण और पर (वाह्य) कारणोंके द्वारा उत्पत्ति और विनाश हो वे स्वपरप्रत्ययोत्पादविगम कहे जाते हैं, यह यहांपर स्वपरप्रत्ययोत्पादविगम शब्दका समास है। यहांपर परप्रत्ययका अर्थ बाह्यप्रत्यय है और वह द्रव्य क्षेत्र काल भावस्वरूप माना गया है। इस परप्रत्यय अर्थात् बाह्यकारणके विद्यमान रहने पर भी यदि द्रव्य परिणमनशील न हो तो वह दूसरी पर्यायको धारण नहीं कर सकता इसलिये जो परिणमनशक्तियुक्त द्रव्य है वह स्वनिमित्त है। ये दोनों ही जहांपर विद्यमान रहते हैं वहींपर उत्पत्ति और विनाश होते हैं। यदि इन दोनोंमें एकका भी अभाव रहेगा तो वहांपर कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इनका दृष्टांत कुठियामें रखे हुए उर्द और गरम पानीमें छोडे हुए टोरारूप उर्द हैं अर्थात् जो उर्द कुठियाके अंदर भरे हुए हैं उनमें सीझनेकी सामर्थ्य है परंतु जल वायु अग्नि आदि वाह्य कारण विद्यमान नहीं इसलिए उनका सीझना (पकना) नहीं होता। यहांपर अंतरंग कारणकी मोजूदगी रहनेपर भी वाह्य कारणकी विद्यमानता नहीं इसलिए कार्य नहीं होता। तथा जो टोरारूप उर्द वटलोईमें चूल्हेके ऊपर चढे हुए हैं वहांपर जल

वायु अग्नि आदि वाह्यकारण तो मोजूद हैं परंतु उनके अंदर सीझनेकी सामर्थ्य नहीं इसलिए नहीं सीझते यहांपर वाह्यकारण तो विद्यमान है परंतु अंतरंगकारणका अभाव है इसलिए कार्य नहीं होता। इसप्रकार वाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंसे होनेवाले उत्पाद और नाशरूप अपनी अपनी पर्यायोंके द्वारा जो प्राप्त किये जांय अथवा उन पर्यायोंको प्राप्त हों उनका नाम द्रव्य है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

द्रव्यको पर्यायस्वरूप माना गया है, पर्यायोंसे भिन्न नहीं माना गया फिर यहांपर उत्पाद और नाशरूप पर्यायोंका द्रव्यसे जुदा उल्लेख क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि यहांपर भेदनय– अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा है इसलिए उस पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कर्ता–द्रव्य और कर्म– उत्पाद विनाशरूप पर्यायोंका पृथक् रूपसे प्रतिपादन किया गया है क्योंकि पदार्थ अपनी जातिको न छोडकर अवस्थित और अन्वयस्वरूप पर्यायोंसे उपलब्धस्वरूप है अर्थात् नित्य है, उसका प्रतिसमय उत्पाद विनाश भी होता रहता है इसलिए जो पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप हैं उनका पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न रूपसे प्रतिपादन उपयुक्त है अर्थात् उन पदार्थोंका उत्पाद और व्ययरूपसे भेद है ही।

जिससमय 'द्रव्य' यहांपर कर्मकी विवक्षा मानी जायगी उससमय तो यहां कर्ममें 'य' प्रत्ययका विधान है और जब कर्ताकी विवक्षा मानी जायगी तब बहुलकी अपेक्षा कर्तामें 'य' प्रत्ययका विधान है। अथवा—

उत्पन्न होनेवाले और नष्ट होनेवाले अनेक पर्यायोंके उत्पाद और विनाशके विद्यमान रहते भी

जिनकी प्रतीति सदा द्रव्यार्थिकनयसे हो वे द्रव्य कहे जाते हैं । यहांपर 'द्रवणात् गमनात् संप्रत्ययात् इति द्रव्याणि' यह द्रव्य शब्दकी व्युत्पत्ति है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि 'द्रु गतौ' धातु तो गमनार्थक है उसका यहांपर प्रतीति अर्थ कैसे लिया गया ? क्योंकि 'ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्थाः' अर्थात् जिन जिन धातुओंका गमन अर्थ है उन उन समस्त धातुओंका ज्ञान भी अर्थ है इसलिए द्रु धातुका ज्ञान अर्थ यहां बाधित नहीं। और भी यह बात है कि—

भव्यार्थे वा निपातितो द्रव्यशब्दः ॥ २ ॥

'द्रव्यं भव्ये । ४ । १ । २११ ।' इस जैनेंद्रव्याकरणके सूत्रानुसार 'होने' अर्थमें द्रव्यशब्द निपातित किया गया है इसलिए यहांपर द्रव्य शब्दका अर्थ—'जो द्रु इव अर्थात् दारुके समान हो वह द्रव्य है' यह समझना चाहिये। उपमारूप अर्थका खुलासा इसप्रकार है—

द्रु दारु नामक काष्ठको कहते हैं जिसप्रकार गांठरहित एवं छिद्ररहित दारु काष्ठकी कल्पनाकर खाती (बढ़ई) उसीक्षणमें उसके द्वारा सिद्ध होनेवाले भिन्न भिन्न यथेच्छ आकारोंकी अर्थात् उससे हाथी घोडा आदि बनाऊंगा, ऐसी कल्पना कर लेता है उसीप्रकार अपने परिणामोंकी प्राप्तिमें समर्थ, द्रव्य भी पाषाणके अन्दर गढा करनेवाले जलके समान जहांपर कर्ता और करणका कोई विभाग नहीं ऐसा होकर वाह्य और अभ्यंतर दोनों कारणोंके द्वारा भिन्न भिन्न पर्यायरूप परिणत होता है अर्थात् जिस पाषाणमें जलके द्वारा गढा हुआ है वहांपर जल ही कर्ता है क्योंकि वही गड्ढा करनेवाला है और जल ही कारण है क्योंकि उसीके द्वारा जलमें गढा हुआ है इसलिये वहांपर जिसप्रकार कर्ता और कारण विभाग नहीं, दोनोंस्वरूप एक जल ही है उसीप्रकार द्रव्य भी स्वयं परिणमनकी सामर्थ्य रखता है

इसलिये कर्तास्वरूप एवं पर्यायोंके द्वारा परिणत होता है इसलिये कारणस्वरूप है इसरीतिसे द्रव्यमें भी कर्ता करणके विभागकी कल्पना नहीं दोनों स्वरूप एक द्रव्य ही है इस रीतिसे 'द्रु इव भवतीति' अर्थात् जो दारुके समान हो वह द्रव्य कहा जाता है यह द्रव्य शब्दकी सिद्धि अबाधित है। शंका—

द्रव्यत्वादिति चेन्न तदभावात् ॥ ३ ॥

दंड एक प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ है। उस दंडके सम्बन्धसे जिसप्रकार देवदत्तके अंदर दंडी यह नाम और प्रतीति दोनोंका सद्भाव है उसीप्रकार द्रव्यत्व भी एक सामान्यविशेष[1] नामका पदार्थ माना गया है। पृथ्वी जल आदिमें 'द्रव्य द्रव्य' प्रतीति और नामकी प्रवृत्ति दीख पडती है और गुण एवं कर्ममें उसका अभाव दीख पड़ता है इसलिये अनुमान द्वारा उसका अन्वय और व्यतिरेक निश्चित है अर्थात् 'द्रव्यमस्ति द्रव्यत्वात्' अर्थात् द्रव्य है क्योंकि उसमें द्रव्यत्वका संबंध है यह अनुमानका आकार है। यहांपर द्रव्यत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है क्योंकि जिसके होते जो हो वह अन्वय कहा जाता है

१—सामान्यका अर्थ जाति है इसलिये सामान्यविशेषका अर्थ यहां पर जातिविशेष समझ लेना चाहिये। नैयायिक मतानुसार सामान्य विशेषका अर्थ परापरसामान्य है यथा—

द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते। व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च ॥

पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद् द्रव्यत्वादेः परत्वं। सत्तापेक्षया व्याप्यत्वादल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वं ॥ अर्थात् द्रव्यत्व आदि परसामान्य और अपर सामान्य दोनों प्रकारका सामान्य कहा जाता है। पृथिवीत्व जलत्व आदिकी अपेक्षा द्रव्यत्व सामान्य अधिक देशमें रहता है इसलिये वह परसामान्य है और सत्ताकी अपेक्षा थोडे देशमें रहता है इसलिये वह अपर सामान्य है। अर्थात् जो अधिकदेशमें रहे वह परसामान्य कहा जाता है और अल्प देशमें रहनेवाला अपरसामान्य कहा जाता है। मुक्तावली पृष्ठ संख्या ६।

और जिसके न होते जो न हो वह व्यतिरेक कहा जाता है। पृथिवी आदिमें द्रव्यत्व भी है और वे द्रव्य भी हैं इसलिये वहांपर अन्वय है। गुण आदिमें द्रव्यत्व द्रव्य दोनोंका अभाव है इसलिये वहांपर व्यतिरेक है। इसप्रकारके द्रव्यत्व संबंधसे ही द्रव्य पदार्थ है किंतु पर्यायोंकी प्रतीतिसे द्रव्यपदार्थ नहीं इसलिये ऊपर जिसरूपसे द्रव्यपदार्थकी सिद्धि मानी है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। द्रव्यत्व और द्रव्यमें ऐसे संबंधकी संभावना नहीं हो सकती। उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

दंड संबंधसे पहिले ही देवदत्त, जाति कुल आदिसे प्रसिद्ध है। देवदत्तके संबंधसे पहिले दंड भी गोलाकार और लंबाकार आदिसे प्रसिद्ध है इसलिये जुदे जुदे रूपसे सिद्ध दंड और देवदत्तका आपसमें संबंध हो सकता है परंतु द्रव्यत्वके संबंधसे पहिले द्रव्य पदार्थकी तो उपलब्धि नहीं है यदि द्रव्यत्वके संबंधसे पहिले द्रव्य पदार्थकी उपलब्धि हो तब उन दोनोंके संबंधकी कल्पना व्यर्थ ही है। तथा द्रव्यसम्बन्धसे पहिले द्रव्यत्वकी उपलब्धि भी नहीं है, इसरीतिसे जब संबंधके पहिले दोनोंकी पृथक्रूपसे उपलब्धि नहीं। एवं जिनकी उपलब्धि नहीं वे असत् पदार्थ माने जाते हैं। असत् पदार्थोंका कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता यह नियम है। यहां सम्बन्धसे पहिले द्रव्यत्व और द्रव्यपदार्थ भी उपलब्ध नहीं होते इसलिये उपलब्धिके अभावसे असत् होनेके कारण उन दोनोंका आपसमें सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि सम्बन्धसे पहिले हम उनका अस्तित्व मानते हैं तब यह बात है कि जिन पदार्थोंकी भिन्न भिन्न रूपसे शक्ति उपलब्ध नहीं उन पदार्थोंका यदि आपसमें सम्बन्ध भी हो जाय तब भी उनकी शक्तिकी प्रकटता नहीं होती जिसप्रकार दो जन्मान्धोंके पृथक् पृथक् देखनेकी शक्ति नहीं है इसलिये आपसमें उनका संयोग हो जाने पर भी उनमें देखनेकी शक्ति नहीं होती, द्रव्य और द्रव्यत्वमें भी

संबंधसे पहिले द्रव्यकी प्रतीति और नामकी उत्पत्तिकी सामर्थ्य नहीं है, इसलिये उन दोनोंका आपसमें सम्बन्ध होनेपर भी वह सामर्थ्य नहीं हो सकती। खुलासा इसप्रकार है—

द्रव्यत्व समवायसे पहिले ही द्रव्य अपने स्वरूपसे अपनेमें द्रव्यकी प्रतीति और नामका उत्पादक नहीं है, यदि माना जायगा तब द्रव्यत्वका समवाय सम्बन्ध मानना व्यर्थ है क्योंकि द्रव्यकी प्रतीति और उसके नामकी सिद्धिके ही लिये द्रव्यत्व समवाय माना जाता है सो द्रव्यत्वके समवाय सम्बन्धसे पहिले ही सिद्ध है फिर द्रव्यत्वका समवाय सम्बन्ध कल्पना करना व्यर्थ है। तथा द्रव्यत्व भी द्रव्यसमवायसे पहिले अपने स्वरूपसे अपनेमें द्रव्यत्वकी प्रतीति और नामकी उत्पत्तिमें कारण नहीं है। यदि उसे कारण माना जायगा तो फिर द्रव्यका समवाय ही व्यर्थ है। वास्तवमें तो जिन पदार्थोंकी पृथक् पृथक् रूपसे सामर्थ्य उपलब्ध नहीं उनके आपसमें सम्बन्ध होनेपर भी उस सामर्थ्यकी प्रकटता नहीं हो सकती यह निश्चित है इसलिये जब समवाय सम्बन्धसे द्रव्यकी प्रतीति और संज्ञारूप सामर्थ्य प्रगट हो ही नहीं सकती तब फिर द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य है यह जो ऊपर कहा गया है वह ठीक नहीं है। शंका—

द्रव्यत्वके समवाय संबंधसे पहिले 'द्रव्य' ऐसी संज्ञा नहीं है किंतु द्रव्यत्व पदार्थ तो है ही इसलिये उस सत् स्वरूप द्रव्यत्वका द्रव्यके साथ समवायसंबंध युक्त ही है ? सो ठीक नहीं। वह द्रव्य पदार्थ ही सत्स्वरूप नहीं क्योंकि स्वतः तो सत्स्वरूप द्रव्य पदार्थको माना नहीं गया किंतु सत्ताके संबंधसे माना गया

१—नैयायिक आदि जाति पदार्थको नित्य मानते हैं। नित्यका कभी विनाश हो नहीं सकता। द्रव्यत्व भी जाति है वह भी सदा विद्यमान रहती है इसी आशयसे यह कहा गया है कि द्रव्यत्वके समवायके पहिले द्रव्यसंज्ञा न हो परन्तु द्रव्यत्व मोजूद है।

है वह सत्ताका संबंध सिद्ध हो नहीं सकता यह बात पहिले बडे विस्तारके साथ कह दी गई है । यदि कदाचित् यह माना जायगा कि असत् पदार्थोंका भी सम्बन्ध होता है । वह द्रव्य पदार्थ भले ही सत्-स्वरूप न हो तो भी द्रव्यत्वका उसके साथ सम्बन्ध होना बाधित नहीं तो उसका समाधान यह है कि यदि असत्पदार्थोंका संबंध माना जायगा तो गधेके सींग आदि भी असत् पदार्थ हैं इसलिये इनका भी संबंध स्वीकार करना पडेगा। इसलिये असत्पदार्थोंके साथ संबंधकी कल्पना बाधित है। तथा और भी यह बात है कि—

द्रव्यत्व पदार्थ नैयायिक आदिने सर्वगत अर्थात् सर्वदेशमें रहनेवाला व्यापक माना है और द्रव्य पदार्थको व्याप्य और व्यापक दोनों प्रकारका माना है अर्थात् पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन ये नौ द्रव्य उन्होंने मानी हैं इनमें आकाश काल दिशा और आत्मा ये चार द्रव्य तो उनके मतमें व्यापक मानी गई हैं एवं शेष द्रव्य व्याप्य मानी गई हैं। इसलिए द्रव्यत्वके समान व्यापक न होनेसे द्रव्य पदार्थ द्रव्यत्वका अतदात्मक (अतत्स्वरूप) है । यदि अतदात्मक पदार्थके साथ भी संबंध माना जायगा तो अतदात्मक पदार्थ तो गुण कर्म खरविषाण आदि भी हैं उनके साथ भी द्रव्यत्वका समवाय संबंध मानना होगा परंतु उनके साथ माना नहीं जाता इसलिए उन्हींके समान द्रव्यके साथ भी द्रव्यत्वका समवाय संबंध नहीं बन सकता। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

१—पृथिवी आदि नव द्रव्योंमें रहनेवाला द्रव्यत्व धर्म नैयायिक आदिने माना है। वह व्यापकताके सब जगह फैला रहता है अन्यथा सर्वत्र रहनेवाले आकाश आदि द्रव्योंमें उसकी सत्ता न बन सकेगी इसी आशयसे यहां पर द्रव्यत्व पदार्थको सर्वगत अर्थात् व्यापक माना गया है।

द्रव्यत्व द्रव्यका ही स्वरूप है इसलिए स्वस्वरूप द्रव्यके साथ द्रव्यत्वका संबंध अयुक्त नहीं तो उसका समाधान यह है कि—फिर द्रव्यत्वके संबंधके माननेकी क्या आवश्यकता है क्योंकि संबंधसे पहिले ही द्रव्य द्रव्यत्वस्वरूप है इसरीतिसे संबंधको विना स्वीकार किए ही द्रव्यकी स्वतः सिद्धि निर्बाध है द्रव्यत्वके समवाय संबंधके माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं। शंका—द्रव्यत्वका समवायिकारण द्रव्य ही है गुण कर्म वा खरविषाण आदि नहीं इसलिए द्रव्यके साथ ही द्रव्यत्वका संबंध है, गुण कर्म वा खर-विषाण आदिके साथ नहीं ? समाधान——

न स्वतोऽसिद्धत्वात् ॥ ४ ॥

यदि द्रव्यत्वसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ स्वतः सिद्ध हो तब तो वह द्रव्य समवायिकारण बन सक्ता है परंतु वह स्वतः सिद्ध माना नहीं जाता इसलिये वह समवायिकारण नहीं हो सकता है। यदि कहा जायगा कि वह स्वतः सिद्ध न हो तब भी समवायिकारण माना जाता है तो उसका उत्तर यह है कि खरविषाण आदि भी स्वतः असिद्ध हैं उन्हें भी समवायिकारण मान लेना चाहिये। यदि यहांपर भी उत्तर दिया जाय कि खर विषाण आदि असत्पदार्थ हैं इसलिये वे समवायिकारण नहीं हो सकते, द्रव्य सत् पदार्थ है इसलिये उसका समवायिकारण होना निराबाध है तो इसका यह समाधान है कि जब द्रव्यकी स्वतः सिद्धि बाधित है तब द्रव्य भी तो असत्पदार्थ है इसलिये खरविषाणके समान असत् पदार्थ होनेसे द्रव्य भी द्रव्यत्वका समवायिकारण नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

अतस्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

द्रव्यत्वका समवायि कारण द्रव्य ही है गुण और कर्म नहीं है इसलिये द्रव्यमें ही समवाय संबंधसे

द्रव्यत्व रहता है गुणकर्म आदिमें उसका सद्भाव नहीं हो सकता यह नैयायिक आदिको मानना इष्ट है परंतु ऐसा माननेसे वह द्रव्यत्व पदार्थ द्रव्यका अंतरंग अर्थ अनादिपारिणामिक एवं द्रव्यको किसी भी अवस्थामें न छोडनेवाला द्रव्यस्वरूप ही सिद्ध होता है किंतु द्रव्यसे बाहिर एवं भिन्न सामान्य विशेष स्वरूप पदार्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि समवायसंबंधके अंदर यह सामर्थ्य नहीं जिससे वह द्रव्यत्व द्रव्यमें ही रहे, गुण आदिमें न रह सके किंतु द्रव्यस्वरूप होनेसे ही वह द्रव्यमें रह सकता है इसलिये द्रव्यत्वको जो द्रव्यसे भिन्न स्वीकार कर उसे सामान्यविशेषस्वरूप पदार्थ माना है एवं समवाय संबंधसे उसकी द्रव्यमें सत्ता मानी गई है वह सब अयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

विशेषकी उपलब्धिसे द्रव्य ही द्रव्यत्वका समवायिकारण है अन्य कोई पदार्थ नहीं तथा वह विशेष समस्त पदार्थोंके आधारका होना है क्योंकि द्रव्यको इतर समस्तपदार्थोंका आधार माना है। तो इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

न द्रव्यमाश्रयः स्वतोऽसिद्धत्वात् ॥ ६ ॥

लोकमें यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो पदार्थ अपनेमें रहनेवाले आधेयपदार्थोंसे पृथक् और स्वतः सिद्ध होता है वही आधेयपदार्थोंका आश्रय माना जाता है जिसतरह जल आदिका आधार घट है क्योंकि यहांपर घट पदार्थ जल आदिसे भिन्न स्वतः सिद्ध है परंतु द्रव्यत्वसे भिन्न, द्रव्य नामका कोई स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं जिससे वह द्रव्यत्वका आधार माना जाय, इसलिये द्रव्यत्वका आधार द्रव्य-पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। तथा और भी यह बात है कि—

द्रव्याभिधानानुपपत्तिश्च ॥ ७ ॥

जो वादी द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्य पदार्थ मानता है उसके मतमें 'द्रव्य' यह अभिधान ही नहीं बन सक्ता। खुलासा इसप्रकार है—

द्रव्य यह जो व्यपदेश है वह द्रव्यत्वके साथ अभेद रूपसे है कि भेद रूपसे है ? यदि कहा जायगा कि अभेदरूपसे है तब जिसप्रकार 'यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरित्युच्यते' अर्थात् सदा लाठो बांधनेवाला पुरुष केवल लाठो कह दिया जाता है उसीप्रकार द्रव्यत्वसे सहचरितपदार्थ द्रव्यत्व ही कहा जायगा द्रव्य नहीं कहा जा सकेगा इसरीतिसे द्रव्यत्वके साथ द्रव्यका अभेदरूपसे व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—द्रव्यत्वके द्रव्यत्व और द्रव्य दोनों नाम हैं इसलिये द्रव्यत्वसे सहचरित द्रव्य भी कहा जा सकता है इसरीतिसे द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्यका होना बाधित नहीं ! सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यहां असिद्धसे असिद्धकी सिद्धि को जाती है अर्थात् यहांपर द्रव्यत्वपदार्थ ही असिद्ध है उस असिद्ध द्रव्यत्वपदार्थसे असिद्ध द्रव्यपदार्थकी सिद्धि की जाती है इसलिये द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्य पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। तथा यह भी बात है कि—

द्रव्यत्वके द्रव्यत्व और द्रव्य ये दो नाम बताए हैं उनमें 'द्रव्य' यह नाम किस कारणसे है ? अर्थात् स्वतः है कि किसी अन्य पदार्थके संबंधसे है ? यदि कहा जायगा कि स्वतः है तब द्रव्यको वैसा माननेमें क्या असंतोष है अर्थात् द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्यकी प्रतीति और नाम न मानकर स्वतः ही मान लेना चाहिये। यदि कहा जायगा कि द्रव्यसे भिन्नस्वरूप द्रव्यत्व नामके पदार्थके संबंधसे 'द्रव्य' यह अभिधान है तब यहां असिद्ध द्रव्यत्वसे असिद्ध द्रव्यकी सिद्धि हुई इसलिये यहां पूर्वोक्त ही दोष है। तथा द्रव्यत्वपदार्थ स्वस्वरूपसे भिन्न है और द्रव्य पदार्थ स्वस्वरूपसे भिन्न है। यदि द्रव्यत्वके ही द्रव्यत्व और

द्रव्य दोनों नाम माने जांयगे तो द्रव्यका द्रव्यत्व नाम भी माना जायगा तथा द्रव्यत्व शब्द जब द्रव्यत्व और द्रव्य दोनोंका वाचक माना जायगा तब द्रव्यमें द्रव्य ऐसा नाम क्यों व्यवहृत होता है, द्रव्यत्व नाम क्यों नहीं व्यवहृत होता अर्थात् जब द्रव्य और द्रव्यत्व एक हैं तब द्रव्यका द्रव्य ही नाम क्यों व्यवहारमें आता ? इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि द्रव्यत्वके द्रव्यत्व और द्रव्य ये दो नाम नहीं हो सकते इसरीतिसे अभेदरूपसे द्रव्यत्वके साथ द्रव्य यह व्यपदेश नहीं हो सकता। कदाचित् द्रव्य यह व्यपदेश द्रव्यत्वके साथ भेद रूपसे है यह कहा जायगा तो जिसप्रकार जिसके हाथमें यष्टि है उसे यष्टि-मान कहा जाता है उसीप्रकार जिसमें द्रव्यत्व है वह द्रव्यत्ववान् कहा जायगा इस रूपसे द्रव्यत्ववान् द्रव्य है ऐसा ही संसारमें व्यवहार होगा, द्रव्य ऐसा व्यवहार न होगा क्योंकि द्रव्यत्व पदार्थ द्रव्यसे भिन्न है परंतु 'द्रव्यत्ववान् द्रव्य है' ऐसा संसारमें व्यवहार होता नहीं इसलिये भेदरूपसे भी द्रव्यत्वके साथ द्रव्य यह व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

शुक्ल गुणके संबंधसे पट शुक्ल कहा जाता है और वहांपर 'शुक्लः पटः' अर्थात् पट सफेद है, यही व्यवहार होता है किंतु 'शुक्लवान् पटः' अर्थात् पट शुक्लवान् है यह व्यवहार नहीं होता इसलिये जिसप्रकार यहांपर मत्वर्थीय प्रत्ययका लोप हो गया है अर्थात् शुक्लवान् यह मतुप् प्रत्ययके विना प्रयोग किया जाता है उसीप्रकार यहांपर भी मतुप् प्रत्ययका अभाव मान लिया जायगा अर्थात् मतुप् प्रत्ययविशिष्ट द्रव्यत्ववान् द्रव्य ऐसा प्रयोग न किया जायगा किंतु 'द्रव्य' ऐसा ही प्रयोग किया जायगा इसलिये भेदरूपसे द्रव्यत्वके साथ 'द्रव्य' ऐसा व्यपदेश बाधित नहीं। सो ठीक नहीं। 'शुक्लः पटः' यह विषम उदाहरण है क्योंकि व्याकरण शास्त्रमें यह कहा गया है कि जो शब्द गुणवाचक हैं उनसे मत्वर्थीय प्रत्ययका लोप हो जाता है

अथवा व्याकरणका यह सिद्धांत न मानो तो शुक्ल आदिको गुण और गुणवान दोनोंका वाचक माना है अर्थात् शुक्ल आदि, शुक्ल आदि गुणोंको कहते हैं और शुक्ल आदि गुणविशिष्ट पदार्थोंको भी कहते हैं। व्याकरणका सिद्धांत स्वीकार करने पर द्रव्यत्व शब्दसे मतुप् प्रत्ययकी निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्यत्वशब्द गुणवाचक नहीं और व्याकरणमें गुणवाचक शब्दसे ही मत्वर्थीय प्रत्ययका अभाव माना गया है यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि 'द्रव्यत्व ही द्रव्य है' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए सो भी ठीक नहीं क्योंकि त्वप्रत्ययकी निवृत्ति भी व्याकरण शास्त्रमें नहीं कही गई है इसलिए द्रव्यत्ववान् वा द्रव्यत्वकी जगह द्रव्य (द्रव्यत्वविशिष्ट द्रव्यका बोधक) प्रयोग नहीं हो सकता। तथा—

त्वोत्पत्त्यभावश्चोभयथा दोषात् ॥ ८ ॥

'द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं' अर्थात् द्रव्यका जो भाव–स्वरूप है वह द्रव्यत्व कहा जाता है यहांपर जो भाव अर्थमें त्वप्रत्यय किया गया है वह भी नहीं हो सकता क्योंकि उस द्रव्यके भावको आत्मभूत और अनात्मभूत दोनों प्रकारसे माननेमें दोष है और उसका विचार इसप्रकार है—

'द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं' अर्थात् द्रव्यका जो भाव है वह द्रव्यत्व कहा जाता है यहांपर जो द्रव्यका भाव है वह द्रव्यका आत्मभूत अर्थात् स्वस्वरूप है अथवा अनात्मभूत अर्थात् परस्वरूप है? यदि कहा जायगा कि वह भाव द्रव्यका आत्मभूत है तब अनादि पारिणामिक अर्थात् अनादि कालसे परिणमनशील द्रव्य पदार्थके निजी स्वरूपके होनेमें त्व प्रत्ययका विधान किया गया है। अपना स्वरूप आप ही कहा जाता है यह नियम है इसलिए द्रव्यसे द्रव्यत्व नामका पदार्थ भिन्न नहीं माना जा सकता इस

१—गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणलिंगास्तु तद्वति। अमरकोष।

रीतिसे जो द्रव्य द्रव्यत्वका ऊपर समवायसंबंध परवादियोंने माना है वह मिथ्या है क्योंकि भिन्न भिन्न पदार्थोंका ही संबंध होता है जब द्रव्यत्व पदार्थ; द्रव्यका आत्मभूत है—दोनों एक हैं तब उन दोनोंका समवाय संबंध नहीं हो सकता इसप्रकार द्रव्यत्वको द्रव्यका आत्मभूत माननेपर संसर्ग (संबंध) वादकी हानि है। तथा यदि द्रव्यत्वको द्रव्य पदार्थसे भिन्न माना जायगा तो 'द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं' अर्थात् द्रव्यका जो भाव है वह द्रव्यत्व है ऐसा विग्रह न हो सकेगा क्योंकि द्रव्यत्व द्रव्यका अनात्मभूत है, द्रव्यका द्रव्यत्व स्वरूप नहीं। जहांपर आत्मभूतपना होगा वहींपर वह संबंध होगा। यदि भावपदार्थको अन्य माना जायगा तो घटके भाव (स्वरूप) का सद्भाव पटमें मानना होगा परंतु ऐसा होना बाधित है इसलिए द्रव्यका भाव द्रव्यका अनात्मभूत नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

द्रव्यके भावस्वरूप द्रव्यत्वको यदि द्रव्यपदार्थसे भिन्न माना जायगा तो वहांपर यह प्रश्न है कि जिसप्रकार द्रव्यका भावस्वरूप द्रव्यत्व, द्रव्यसे भिन्न पदार्थ है उसीप्रकार द्रव्यत्वका भी कोई अन्यभाव है या नहीं? यदि कहा जायगा द्रव्यत्वका भाव नहीं है तब यह नियम है जिसका स्वभाव निश्चित है उसी पदार्थका सद्भाव माना जाता है जब द्रव्यत्व पदार्थका कोई भाव ही निश्चित नहीं तब उसका अभाव ही हो जायगा। यदि कहा जायगा कि द्रव्यत्वका भी अन्य भाव है तब उसके विवक्षित रहनेपर द्रव्यत्व शब्दसे त्वप्रत्ययका विधान मानना पडेगा एवं द्रव्यत्वसे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करनेपर द्रव्यत्वत्व ऐसा प्राप्त होगा इस रूपसे यहांपर अनवस्था दोष अनिवार्य होगा अर्थात् द्रव्यत्वमें भी यह प्रश्न होगा उसका कोई अन्य भाव है या नहीं। यदि कहा जायगा, नहीं है तब स्वभावके अभावसे द्रव्यत्वत्व पदार्थका ही अभाव हो जायगा यदि कहा जायगा,—है तो उस भावके विवक्षित रहनेपर द्रव्यत्वत्व शब्दसे त्व प्रत्यय

करनेपर द्रव्यत्वत्वत्व होगा। इसीतरह फिर यहां भी यह शंका होगी कि इस द्रव्यत्वत्वत्वका कोई अन्य भाव है या नहीं ? इत्यादि रूपसे कहीं भी अप्रमाणीक पदार्थोंकी कल्पनाकी विश्रांति न होनेसे यहांपर अनवस्था दोष लागू होगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जहांपर आविक शब्द सिद्ध किया जाता है वहांपर 'अवेर्मांसं' यह तो विग्रह किया जाता है और अण् प्रत्यय अविक शब्दसे किया जाता है उसीप्रकार विग्रह तो 'द्रव्यत्वस्य भावः' ऐसा करेंगे और त्व प्रत्यय द्रव्य शब्दसे किया जायगा इस रूपसे ऊपर जो अनवस्था दोष कह आए हैं वह यहां लागू न हो सकेगा ? सो भी ठीक नहीं। 'आविकं' यहांपर 'अवेर्मांसं, आविकस्य मांसं' यह विग्रहका ही भेद है, अर्थका भेद नहीं अर्थात् 'अवेर्मांसं' इस विग्रहका अर्थ दूसरा हो और 'आविकस्य मांसं' इस विग्रहका अर्थ दूसरा हो यह बात नहीं इसलिए यहांपर तो आविके साथ विग्रह और अविक शब्दसे अण् प्रत्ययकी उत्पत्ति है परंतु द्रव्य और द्रव्यत्व भिन्न भिन्न पदार्थोंको विषय करनेवाले हैं इसलिए यहांपर विग्रहके भेद रहनेपर अर्थका भी भेद होगा इस रीतिसे द्रव्य और द्रव्यत्व दोनों भिन्न भिन्न पदार्थोंको विषय करनेके कारण 'एकके साथ विग्रह होनेपर दूसरेसे प्रत्ययकी उत्पत्ति हो जायगी' इस न्यायकी यहांपर कल्पना नहीं हो सकती। और भी यह बात है कि—

एकस्यानेकत्र वृत्त्यभावो वहुत्वप्रसंगो वा ॥ ६ ॥

नैयायिक आदि वादी द्रव्यत्व पदार्थको एक मानते हैं वहांपर यह कहना है कि जब द्रव्यत्व पदार्थ एक और निरवयव है तब वह एक पृथिवी आदि अनेक पदार्थोंमें कैसे रह सकता है यदि कहा जायगा कि वह पृथिवी आदि अनेक पदार्थोंमें रहता है तब जिसप्रकार रूप आदि गुण अनेक पदार्थोंमें रहते

हैं और अनेक हैं उसप्रकार द्रव्यत्वको भी अनेक पदार्थोंमें रहनेके कारण अनेक मानना पडेगा । यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

जिसतरह आकाश एक ही पदार्थ है परंतु वह अनेक पदार्थोंको अवगाहन करता है उसीप्रकार द्रव्यत्व भी एक पदार्थ है और वह अनेक पदार्थोंको अवगाहन कर सकता है इसलिए अनेक पदार्थोंको अवगाहन करनेपर द्रव्यत्व पदार्थ अनेक होना चाहिये यह जो कहा गया है वह अयुक्त है ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर जो आकाशका उदाहरण दिया गया है वह विषम उदाहरण है क्योंकि आकाशको महा परिमाणवाला कहा है इसलिए वह समस्त वा अनेक पदार्थोंको अवगाहन कर सकता है परंतु द्रव्यत्व गुण है। उसका विषय केवल द्रव्य पदार्थ है, द्रव्य पदार्थको महा परिमाणवाला नहीं माना गया इसलिए उसमें रहनेवाला द्रव्यत्व पदार्थ भी महापरिमाणवाला नहीं हो सकता इस रीतिसे महापरिमाणके अभावसे द्रव्यत्वगुण सबको व्याप्त नहीं कर सकता । इस रीतिसे महापरिमाणवाला न होनेपर जब द्रव्यत्व सबको व्याप्त नहीं कर सकता और अनेक पदार्थोंमें उसकी वृत्ति मानी ही गई है तब वह अनेक ही स्वीकार करना पडेगा। यदि यहांपर फिर यह तर्क उठाया जाय कि—

जिसतरह एकत्वसंख्या उपचारसे महा परिमाणवाली मानी जाती है अर्थात् एकत्व संख्या परमाणुमें भी रहती है और आकाशमें भी रहती है इसलिए सर्वथा वह महापरिमाणवाली नहीं तथापि उसे उपचारसे महा परिमाणवाली मान लिया जाता है उसीप्रकार द्रव्यत्व पदार्थ मुख्यरूपसे न भी महा परिमाणवाला हो तथापि उपचारसे उसे महा परिमाणवाला मान सकते हैं अर्थात् द्रव्यत्व धर्म परमाणुमें भी रहता है और आकाशमें भी रहता है इसलिए सर्वथा वह महा परिमाणवाला नहीं हो सकता तथापि

एकत्वसंख्याके समान उसे उपचारसे महापरिमाणवाला कह सकते हैं ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर असिद्ध पदार्थसे असिद्ध पदार्थकी सिद्धि की जाती है अर्थात् एकत्वसंख्यामें महापरिमाणपना असिद्ध है उस असिद्ध महापरिमाणसे द्रव्यत्वमें महापरिमाणकी सिद्धि की जाती है सो ठीक नहीं क्योंकि असिद्ध पदार्थसे असिद्ध पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती किंतु जो साध्य किसी न किसी प्रमाणसे सिद्ध रहता है उसकी व्यवस्थाके अधीन ही वचनकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए एकत्व संख्याके महापरिमाणके समान यहां द्रव्यत्वको महापरिमाणवाला नहीं माना जा सकता। तथा—एकत्वसंख्यामें जो महापरिमाणपना माना गया है वह उपचारसे माना गया है। यह नियम है कि जो पदार्थ उपचारसे माना जाता है वह मुख्यका साधक हो नहीं सकता किंतु मुख्य ही मुख्यका साधक होता है इसलिए एकत्वसंख्यामें रहनेवाले उपचरित महापरिमाणसे द्रव्यत्वमें मुख्य महापरिमाणकी सिद्धि नहीं हो सकती। तथा यह भी बात है कि द्रव्यत्वको एक सिद्ध करनेके लिये ऊपर आकाशका उदाहरण दिया है वह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि आकाश सर्वथा एक ही हो तब तो वह उदाहरण रह सकता है किंतु जहांपर द्रव्यकी विवक्षा मानी गई है वहांपर तो वह एक माना गया है और जहांपर प्रदेशोंके भेदकी विवक्षा मानी गई है वहांपर वह अनंत माना गया है क्योंकि आकाशके प्रदेश अनंत हैं इसलिए द्रव्यत्वको एक सिद्ध करनेके लिये आकाश उदाहरण नहीं बन सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

नीलद्रव्यवदिति चेन्नासिद्धत्वात् ॥ १० ॥

जिसप्रकार नील द्रव्य (नीला रंग) एक पदार्थ है परंतु उसका संबंध शाटिका वस्त्र कंबल आदि अनेक पदार्थोंमें दीख पडता है उसीप्रकार द्रव्यत्वपदार्थ भी एक है वह भी अनेक द्रव्योंमें रह सकता है

इसलिये अनेक पदार्थोंमें रहनेपर भी द्रव्यत्व एक ही पदार्थ माना जा सकता है अनेक नहीं। सो भी अयुक्त है। शाटिका वस्त्र कंबल आदिमें एक ही नील द्रव्य है यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किंतु जिसप्रकार शाटी आदि द्रव्य भिन्न भिन्न हैं उसीप्रकार उनको रंगनेवाला नील द्रव्य भी भिन्न २ है क्योंकि एक ही पटमें जब यह बात स्पष्टरूपसे दीख पडती है कि पटके मध्य भागमें जो नील द्रव्य है वह उसके दोनों प्रांतों (छोकों) में नहीं एवं पटके दोनों प्रांतोंमें जो नीलद्रव्य है वह उसके मध्य-भागमें नहीं तब भिन्न भिन्न द्रव्योंमें तो वह नीलद्रव्य एक हो ही नहीं सकता इसरीतिसे एक नील द्रव्यके असिद्ध रहनेपर द्रव्यत्व पदार्थको एक सिद्ध करनेके लिये जो नील द्रव्यका उदाहरण दिया था वह विषम उदाहरण है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—हम (नैयायिक आदि) नील द्रव्यको दृष्टांत न मानकर नीलत्वका दृष्टान्त मानेंगे। नीलत्व धर्म एक ही माना गया है इसलिये जिसप्रकार नीलत्व एक है उसीप्रकार द्रव्यत्व भी एक है, कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। क्योंकि नीलत्व भी साध्यसम है अर्थात् जिसप्रकार द्रव्यत्व धर्मको एक मानना विवादग्रस्त है उसीप्रकार नीलत्व धर्मको एक मानना भी विवादग्रस्त है। विवादग्रस्त पदार्थ से किसी वस्तुकी सिद्धि हो नहीं सकती इसलिये नीलत्व उदा-हरण माननेपर भी द्रव्यत्वपदार्थ एक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

दृष्टांताभावेऽप्येकत्वमस्य सिद्धमग्निवदिति चेन्न प्रतिज्ञाहानेः ॥ ११ ॥

अग्निकी उष्णताका अन्य दृष्टांत नहीं है तो भी अग्नि उष्ण मानी जाती है इसलिये जिसप्रकार विना दृष्टांतके भी अग्निका उष्णपना सिद्ध है। उसीप्रकार अनेकोंमें रहनेवाले एक पदार्थका दृष्टांत न भी हो तथापि अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला एक द्रव्यत्व पदार्थ निर्बाध रूपसे सिद्ध है इसलिये द्रव्यत्वको

एक मानना बाधित नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि इसमें प्रतिज्ञाकी हानि है, दृष्टांत नहीं है ऐसी प्रतिज्ञा भी करते जाते हो और अग्निका दृष्टांत भी देते जाते हो, इसलिये तुम्हारी प्रतिज्ञाका भंग हो जाता है। और भी यह बात है कि—

अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला एक द्रव्यत्व पदार्थ है इस बातको सिद्ध करनेमें कोई भी युक्ति नहीं। यदि युक्तिके न रहते भी इस बातको माना जायगा तो द्रव्य और द्रव्यत्व स्वतः सिद्ध पदार्थ है यह भी मान लेना चाहिये क्योंकि युक्तिका अभाव दोनों जगह बराबर है। यदि यह कहा जाय कि समवाय संबंधसे द्रव्यत्वकी द्रव्यमें वृत्ति है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि समवाय संबंधका ऊपर अच्छी तरह खंडनकर आये हैं। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

गुणसंद्रावो द्रव्यमिति चेन्न एकांते दोषोपपत्तेः ॥ १२ ॥

गुणसंद्राव अर्थात् जिसके द्वारा गुण प्राप्त किये जांय वा गुणोंको जो प्राप्त हो वह द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण निर्दोष है और सब लोग इस लक्षणको स्वीकार कर सकते हैं। सो ठीक नहीं क्योंकि एकांतरूपसे इस लक्षणके माने जानेपर दोषोंका परिहार नहीं हो सकता। इसका खुलासा इसप्रकार है—

द्रव्यका लक्षण जो गुणसंद्राव माना है वहांपर यह शंका होती है कि गुणोंसे द्रव्य भिन्न है कि अभिन्न है। यदि कहा जाय कि अभिन्न है तब द्रव्य और गुणमें कर्ता कर्मका भेद होगा नहीं इसलिये 'गुणः संद्रूयते' यह कर्ममें निर्देश और 'गुणान् संद्रवति' यह कर्तामें निर्देश न हो सकेगा तथा और भी यह बात है कि गुण और द्रव्यका सर्वथा अभेदसंबंध माना जायगा तो या तो गुण ही पदार्थ माना जायगा। या द्रव्य ही पदार्थ माना जायगा। यदि गुण ही पदार्थ माना जायगा तो यह नियम है कि विना

आधारके गुण नहीं रह सकते। द्रव्य उनका आधार है, जब द्रव्य ही पदार्थ न होगा तब उसके विना न होनेवाले गुणोंका आधार न होनेसे अभाव ही हो जायगा। यदि द्रव्य ही पदार्थ माना जायगा तब उसका कोई लक्षण न होनेसे गधेके सींगके समान द्रव्यकी कल्पना होगी क्योंकि द्रव्यका लक्षण गुण माना है सो अभेद संबंधमें द्रव्य पदार्थ ही मानने पर गुण पदार्थ है ही नहीं। यदि कदाचित् इस दोषकी निवृत्तिके लिये, गुणोंसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा भिन्न माना जायगा तब उसका स्वरूप सिद्ध न होनेके कारण वह शून्यपदार्थ सिद्ध होगा क्योंकि द्रव्यके स्वरूप गुण हैं और उनसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा जुदा माना गया है। इसरीतिसे द्रव्य पदार्थ गुणोंसे न तो एकांतरूपसे भिन्न ही सिद्ध होता है और न अभिन्न ही सिद्ध होता है। तथा ऊपर जो कर्म और कर्ताकी विवक्षाकी अपेक्षा जो दो प्रकारसे द्रव्यका लक्षण माना है, विचार करनेपर वह दोनों ही प्रकारका लक्षण नहीं सिद्ध होता उसका विचार इसप्रकार है—

जो 'गुणोंसे प्राप्त किया जाय वह द्रव्य है' इसप्रकार जो यह कर्मविवक्षाकी अपेक्षा द्रव्यका लक्षण माना है वह नहीं बन सकता क्योंकि गुणोंको निष्क्रिय माना है। जो पदार्थ निष्क्रिय होता है वह गमन आदि क्रिया नहीं कर सकता इसलिये क्रियारहित गुणोंकी द्रव्यके प्रति प्राप्तिरूप क्रिया नहीं हो सकती अर्थात् गुणोंसे द्रव्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहांपर यह न समझ लेना चाहिये कि गुण निष्क्रिय नहीं है क्योंकि—'दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। २१। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः। २२।' परमतमें दिशा काल आकाश और आत्मामें क्रियावान पदार्थोंकी अपेक्षा विषमता है इसलिये उन्हें निष्क्रिय माना है तथा वैशेषिक दर्शनके उक्त सूत्रमें जो निष्क्रिय पद दिया गया है उससे कर्म और गुणोंको निष्क्रिय माना है। इसलिये गुणोंको परमतमें निष्क्रियपना सिद्ध है तथा

१—वैशेषिक दर्शन। पृष्ठ संख्या २१८। २ 'निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः' कारिकावली।

गुणोंको जो प्राप्त हों वे द्रव्य हैं यह भी कर्ताकी अपेक्षा कहा हुआ द्रव्यका लक्षण नहीं बन सकता। दिशा आदि द्रव्य निष्क्रिय हैं वे गुणोंको प्राप्त नहीं हो सकतीं। यहांपर यह न समझ लेना चाहिये कि जो क्रियावान् द्रव्य हैं वे गुणोंको प्राप्त कर लेंगी, निष्क्रिय द्रव्य मत प्राप्त हो। क्योंकि समस्त द्रव्योंका गुणवानपना सामान्य लक्षण परमतमें माना गया है। यदि आकाश आदि निष्क्रिय द्रव्योंको गुणवाला न माना जायगा तो लक्षणके अभावमें उनका सद्भाव ही सिद्ध न होगा। और भी यह बात है कि—

स्वतोऽसिद्धत्वात् ॥ १३ ॥

जिसप्रकार पर्वतके किनारेके वा समुद्रके किनारेके मटंब आदि लक्षणोंके धारक ग्राम स्वतः सिद्ध हैं उन्हें स्वतः सिद्ध ही देवदत्त नामका पुरुष प्राप्त करता है, उसप्रकार गुण स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं जिससे उन्हें जाकर द्रव्य प्राप्त करे। इस रीतिसे जो ऊपर द्रव्यका लक्षण कहा गया है वह सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

पाकजदर्शनात्तत्सिद्धिः ॥ १४ ॥ ननु युतासिद्धत्वप्रसंगात् ॥ १५ ॥

पृथिवीके परमाणुओंमें जिससमय अग्निके संयोगसे पाक होता है उससमय उस अग्निकी उष्णतासे उनमें जो काला आदि रंग है उसका नाश हो जाता है और रक्त आदि गुणोंकी उत्पत्ति हो जाती है

१—एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ॥ १०५ ॥

एतेषां रूपरसगंधस्पर्शानां नान्यत्रेति। पृथिव्यां हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिः पाकसंयोगादुपलभ्यते। न हि शतधापि ध्मायमाने जलादौ रूपादिकं परावर्तते। अर्थात् रूप रस गन्ध और स्पर्शकी परावृत्ति पृथिवीके ही अन्दर अग्निके संयोगसे दीख पड़ती है। जल आदिको कितना भी क्यों न पकाया जाय वहां पर स्पष्ट रूपसे रूप आदि गुणोंका विपरिणमन नहीं दीख पड़ता। तथा—

इसलिए वहां रक्त आदि गुणोंसे द्रव्यकी प्राप्ति होनेसे 'जो गुणोंसे प्राप्त किया जाय वह द्रव्य है' यह द्रव्यका लक्षण अबाधित है? सो ठीक नहीं।

यदि यह माना जायगा कि द्रव्य तदवस्थ रहता है और अग्निके संबंधसे रूप आदि विनष्ट होते हैं और उत्पन्न होते हैं तब द्रव्य और रूप आदि युतसिद्ध अर्थात् जुदे जुदे पदार्थ सिद्ध होंगे जो कि उनका जुदा जुदा होना बाधित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—गुण समवाय संबंधसे द्रव्यमें रहते हैं इसलिए वे अयुतसिद्ध अर्थात् अभिन्न ही हैं? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

ननु द्रव्यवत्तन्नित्यत्वप्रसंगः ॥ १६ ॥

यदि समवाय संबंधसे द्रव्य और गुणोंकी अभिन्नता मानी जायगी तो यह बात होगी कि जिस समय रूपादि गुण होंगे उससमय द्रव्य होगा एवं जिससमय द्रव्य होगा उससमय गुण होंगे इस रीतिसे दोनों एक होनेसे जिसप्रकार द्रव्य नित्य है उसीप्रकार रूप आदि गुणोंको भी नित्य माना जागाय अथवा जिसप्रकार रूप आदि गुण अनित्य हैं उसप्रकार द्रव्यको भी अनित्य मानना पडेगा। एकांत पक्षमें यह बडा भारी दोष होगा। तथा यह भी बात है कि—

विरोधात् पंडितमूर्खवत् ॥ १७ ॥

जो पंडित है वह मूर्ख नहीं कहा जाता और जो मूर्ख है वह पंडित नहीं कहा जाता इसलिए जिस

तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नयः।

अर्थात् वैशेषिकोंके मतमें परमाणुओंमें ही अग्निके संयोगसे पाक होता है अर्थात् काला आदि रंगका नाश होकर लाल आदि रंग उत्पन्न होता है। मुक्तावली पृष्ठसंख्या ॥ १३५ ॥ इसकी विस्तृत प्रक्रिया मुक्तावलीसे जान लेनी चाहिये।

प्रकार पंडित और मूर्खमें आपसमें विरोध है उसीप्रकार यदि समवाय संबंधसे रूप आदि गुण द्रव्यसे अयुतसिद्ध अर्थात् अभिन्न माने जांयगे तो न वे नष्ट होंगे और न उत्पन्न होंगे किंतु जिसप्रकार द्रव्य पदार्थ नित्य और शाश्वत है उसीप्रकार अभिन्न होनेसे रूप आदि गुण भी नित्य और शाश्वत कहे जांयगे। यदि रूप आदि गुण नष्ट होंगे और उत्पन्न होंगे तब उनसे अभिन्न द्रव्य भी विनष्ट और उत्पन्न होता माना जायगा फिर वह अवस्थित नहीं रह सकता इसलिए एकांतपक्षमें यह समवाय संबंधसे अयुतसिद्धताका न्याय ठीक नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

'जो गुणोंसे प्राप्त किया जाय वह द्रव्य है' हम यहांपर द्रव्यका यह लक्षण नहीं मानते किंतु 'जो गुणोंसे जाना जाय वह द्रव्य है' ऐसा द्रव्यका लक्षण मानते हैं ऐसे लक्षणके माननेमें द्रव्य और गुणकी अयुतसिद्धि अबाधित है, कोई दोष नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं। ऐसा लक्षण माननेपर भी द्रव्य और गुणका भेद ही सिद्ध होगा अर्थात् 'गुणोंके द्वारा जो जाना जाय वह द्रव्य है' ऐसा कहनेसे गुण पदार्थ जुदा सिद्ध होता है एवं जो जाना जाता है वह द्रव्य पदार्थ जुदा सिद्ध होता है। यदि भिन्न पदार्थसे भी भिन्न पदार्थका ज्ञान माना जायगा तो घटसे पटका भी ज्ञान होना चाहिये परंतु घटसे पटका ज्ञान होता नहीं क्योंकि उनका आपसमें अन्वय नहीं। यदि कहा जायगा कि गुणोंसे द्रव्यका ज्ञान होगा ही तब द्रव्य और गुणके जो भिन्न भिन्न लक्षण माने गये हैं उनका विरोध होगा अर्थात् भिन्न पदार्थसे भिन्न पदार्थका ज्ञान नहीं होता यदि गुणोंके द्वारा द्रव्यका ज्ञान माना जायगा तो वे दोनों एक मानने पडेंगे फिर दोनोंके भिन्न भिन्न लक्षण मानना विरुद्ध है। यदि परवादी यहांपर यह कहे कि—

जहांपर भेद रहता है वहींपर उपलभ्य उपलंभकभाव अर्थात् लक्ष्य लक्षणभाव दीख पडता है जिस

तरह अग्नि और धूम आदिमें । यहांपर धूमसे अग्निका जानना होता है इसलिए अग्नि लक्ष्य और धूम लक्षण है एवं दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं । यदि द्रव्यको लक्ष्य और गुणको लक्षण माना जायगा तो उनका आपसमें भेद रहना ही ठीक है। यदि उनका अभेद माना जायगा तो गुणोंके द्वारा द्रव्यका ज्ञान न हो सकेगा क्योंकि अपनेमें ही किसी प्रकारका व्यापार नहीं हो सकता। जिसतरह अंगुलीका अग्रभाग (पोटुआ) स्वयं अपना स्पर्श नहीं करता किंतु दूसरे पदार्थसे उसका स्पर्श होता है उसीप्रकार द्रव्यका भी स्वतः बोध नहीं होता किंतु भिन्न स्वरूप गुणोंसे ही बोध होगा इसलिए अग्नि धूम आदिके समान गुण और द्रव्यमें लक्ष्य लक्षणभावरूप संबंध सिद्ध करनेके लिये दोनोंका आपसमें भेद ही मानना ठीक है ? इसका समाधान यह है कि अग्नि और धूम आदि पदार्थ भिन्न भिन्न रूपसे सिद्ध हैं इसलिए भिन्न भिन्न दीख पडनेके कारण उनका आपसमें लक्ष्य लक्षणभाव संबंध मानना ठीक है । परंतु द्रव्य और गुण दोनों पृथक् पृथक् रूपसे सिद्ध नहीं क्योंकि अग्नि और धूम आदिके समान उनकी भिन्न भिन्न रूपसे उपलब्धि नहीं होती इसलिए उनका आपसमें लक्ष्य लक्षणभाव संबंध नहीं माना जा सकता अर्थात् गुणोंको लक्षण और द्रव्यको लक्ष्य नहीं कहा जा सकता इसलिए ऊपर जो परवादीने लक्ष्य लक्षणभावकी सिद्धिके लिये द्रव्य और गुणमें भेद सिद्ध करनेकी चेष्टा की है वह अयुक्त है। तथा—

यह जो कहा था कि अपने ही में आपका व्यापार नहीं हो सकता, सो यह एकांतरूपसे कहना ठीक नहीं क्योंकि अपनेमें भी आपका व्यापार स्पष्ट सिद्ध है ।जिसप्रकार दीपक अपनेको स्वयं प्रकाशित करता है, अपने स्वरूपके प्रकाश करनेमें उसे दूसरे दीपककी अपेक्षा नहीं करनी पडती यदि वह अपने प्रकाशमें दूसरे दीपककी अपेक्षा रक्खेगा तो वह पट आदिके समान अप्रकाशक—दूसरे

पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला न ठहरेगा। इसरीतिसे जिसप्रकार यहां एक ही दीपकमें प्रकाश्य और प्रकाशकभाव अबाधित है उसीप्रकार द्रव्य और गुणमें अभेद मानने पर भी लक्ष्यलक्षणभाव अबाधित है। तथा अपनेमें भी अपना व्यापार होता है इसी बातको पुष्ट करनेवाली और भी यह बात है—

जो पुरुष इस तत्त्वका उपदेशक है वह अपनेको जानता है या नहीं। यदि कहा जायगा अपनेको नहीं जानता है तो "आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यक्षं" अर्थात् आत्मामें आत्मा और मनके विशिष्ट संयोगसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा जो उसका अपना (परवादीका) वचन है इसका विरोध होगा क्योंकि तत्त्वका उपदेश देनेवालेके आत्मा और मनका विशिष्ट संयोग विद्यमान है। तथा—

असर्वज्ञत्वप्रसंगश्च ॥ १८ ॥

तत्त्वका उपदेश देनेवाला वह पुरुष जब अपनी आत्माको ही नहीं जानता तब वह अन्य पदार्थोंको कैसे जान सकता है ? कभी नहीं जान सकता, इसरीतिसे आत्मा और अन्य पदार्थोंको न जाननेके कारण उसे असर्वज्ञ मानना पडेगा। यदि यह कहा जायगा कि वह अपनी आत्माको जानता है तब अपनेमें आपका कोई व्यापार नहीं हो सकता यह कहना विरुद्ध होगा और इस रीतिसे द्रव्यस्वरूप पर्याय ही द्रव्यको लक्षित करती हैं यह कहना बिलकुल ठीक ही है। जो वादी यह मानता है कि गुणोंका समुदाय ही केवल द्रव्य है उसके मतमें सर्वथा अभेद माननेके कारण कर्ता और कर्मके अभावसे गुणोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जहांपर भेद अर्थात् कर्ता जुदा और कर्म जुदा माना जाता है वहींपर कर्ता और कर्मकी व्यवस्था

मानी जाती है। जो केवल गुणोंके समुदायको द्रव्य मानता है उसके मतमें न तो गुण द्रव्यसे जुदे हैं और न समुदाय गुणोंसे जुदा है इसलिए वहांपर गुण और समुदायका आपसमें कर्ता और कर्मभाव नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि अभेद रहते भी कर्तृकर्मभाव दीख पडता है जिसतरह 'आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयति' अर्थात् दीपक अपनेको ही प्रकाशमान करता है । यहांपर दीपक स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म है इसीप्रकार गुण और समुदायमें भी कर्ताकर्मभाव हो सकता है ? सो ठीक नहीं। वहांपर भी कथंचित् भेद माना है क्योंकि वहांपर भासुर–प्रकाशका और उसके आधारस्वरूप द्रव्यका कथंचित् भेद दीख पडता है। यदि भासुररूपका और द्रव्यका सर्वथा अभेद माना जायगा तो समस्त द्रव्यको प्रकाशस्वरूप ही कहना होगा तथा जब सर्वदा द्रव्य भासुररूप ही रहेगी तो वह सर्वदा प्रकाशमान ही रहेगी परंतु दीपकके कज्जलपना दीख पडता है इसलिए भासुररूप और द्रव्यका कथंचित् भेद है इसरीतिसे जब कथंचित् भेद रहते ही कर्ता और कर्मभावकी व्यवस्था है तब केवल गुणोंके समुदायस्वरूप द्रव्य माननेपर गुण और समुदायका परस्पर अभेद रहनेपर उन दोनोंमें कर्ता और कर्मकी व्यवस्था नहीं हो सकती और तब 'गुणसंद्रावो द्रव्यं' यह जो द्रव्यका लक्षण कह आये हैं वह भी नहीं घट सकता। तथा यह भी बात है कि—

जिन पदार्थोंकी पृथक् पृथक् रूपसे उपलब्धि है उन्हीं पदार्थोंमें समुदायकी कल्पना हो सकती है किंतु जिनकी पृथक् पृथक् रूपसे उपलब्धि नहीं उनमें समुदायकी कल्पना नहीं होती जिसतरह माष (उर्द) नामक धान्य जुदे जुदे दीख पडते हैं इसलिए उनका समुदाय लोकमें प्रत्यक्ष सिद्ध है परंतु गुण पदार्थ पृथक् रूपसे सिद्ध नहीं क्योंकि गुण और द्रव्यका सर्वथा अभेद माना है इसलिए गुणोंके समुदायकी

कल्पना नहीं हो सकती इस रीतिसे केवल गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है यह कहना बाधित है। और भी यह बात है कि—

'गुण्यते विशिष्यते यैरर्थास्ते गुणाः, विशेषणानीत्यर्थः' अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थोंमें विशिष्टता जान पडे वे गुण कहे जाते हैं और उनका अर्थ विशेषण है। यह नियम है कि गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं विना किसी गुणी—विशेष्य द्रव्यके गुणोंका सद्भाव माना नहीं जा सकता। यदि गुण और द्रव्यका अभेद संबंध माना जायगा तो किसी गुणी द्रव्य पदार्थके सिद्ध न होने पर गुणोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। तथा—

गुणोंके समुदायको द्रव्य माननेसे यह भी शंका होती है कि वह समुदाय गुणोंसे भिन्न है कि अभिन्न है अथवा अवक्तव्य है? सर्वथा भिन्न वा अभिन्न दोनों ही प्रकारसे माननेमें जो दोष आता है उसका उल्लेख तो पहिले किया जा चुका है अर्थात् यदि गुण और समुदायस्वरूप द्रव्यको सर्वथा भिन्न माना जायगा तो दोनोंमें कर्ता और कर्मकी व्यवस्था न बन सकेगी और यदि सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो या तो द्रव्य ही पदार्थ सिद्ध होगा या गुण ही पदार्थ सिद्ध होगा—दोनों पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकते। यदि कहा जायगा कि न तो गुणोंसे समुदाय भिन्न है न अभिन्न है किंतु अवक्तव्य है? तो यह कहना भी ठीक नहीं बैठता। क्योंकि यदि समुदाय विद्यमान है तब तो वह अवक्तव्य नहीं कहा जा सकता और यदि अवक्तव्य है तब वह समुदाय नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो पदार्थ विद्यमान है उसीकी संज्ञा उपपन्न हो सकती है किंतु जो पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य अर्थात् जिसका स्वरूप तक नहीं कहा जा सकता अतएव जो अविद्यमान है उसकी संज्ञाकी उपपत्ति नहीं मानी जाती एवं समुदायको यदि अवक्तव्यस्वरूप माना

जायगा तो किसी भी वचनका विषय न होनेसे समुदाय निरात्मक सिद्ध होगा अर्थात् उसका कोई भी स्वरूप न सिद्ध हो सकेगा और निरात्मक होनेसे वह उन्मत्त पुरुषके वचनके समान माना जायगा। यदि गुणोंको वक्तव्यस्वरूप माना जायगा और समुदायको अवक्तव्यस्वरूप माना जायगा तो गुण और समुदाय आपसमें लक्षण भिन्न भिन्न होनेसे भिन्न भिन्न पदार्थ हो गये इसलिए गुणोंका समुदायस्वरूप द्रव्य पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकता। तथा—

यदि केवल रूप आदि परमाणुओंका समुदायस्वरूप ही द्रव्य पदार्थ माना जायगा तो द्रव्यमें गुरुत्व लघुत्व आदि अन्य भी अनेक धर्म हैं उनकी द्रव्यमें उत्पत्ति न मानी जा सकेगी क्योंकि समुदायके भिन्न माननेपर ही यह पिंड भारी है और यह हलका है ऐसा व्यवहार होता है। परमाणुओंमें गुरुत्व लघुत्व धर्म नहीं माना गया इसलिये उनसे सर्वथा अभिन्नस्वरूप समुदायमें भी गुरुत्व लघुत्व आदि नहीं माने जा सकते। तथा परमाणुओंसे समुदायको भिन्न पदार्थ माननेपर तो उस समुदायमें इंद्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता रहनेके कारण लोकके घट पट आदि पदार्थोंका दर्शन माना जाता है, यदि रूप आदि परमाणुस्वरूप ही समुदाय माना जायगा तो परमाणुओंका स्वभाव अतींद्रिय है उस स्वभावका विनाश नहीं हो सकता। परमाणुओंसे सर्वथा अभिन्न समुदाय पदार्थ माना है उसका स्वभाव भी अतींद्रिय होगा। उस स्वभावका भी नाश न हो सकेगा तब परमाणुओंके पिंडस्वरूप घट पट आदिका जो प्रत्यक्ष होता है वह भ्रांत समझा जायगा क्योंकि परमाणुस्वरूप ही समुदाय होनेके कारण जिसप्रकार परमाणुओंका प्रत्यक्ष नहीं होता उसीप्रकार समुदायका भी प्रत्यक्ष न होगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

पहिले किसी स्थानपर किसी पुरुषको देखा, कालांतरमें वह फिर सामने आया तो उसको देखकर 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामक प्रमाण ज्ञान माना जाता है इसलिये जिसप्रकार 'यह वही है' ऐसे प्रत्यभिज्ञानके विषयको मिथ्या नहीं माना जा सकता उसीप्रकार परमाणुओंके द्वारा होनेवाले समुदायमें 'यह वही है' अर्थात् "पहिले परमाणु अवस्थामें जो अनुभवमें आया था यह वही पदार्थ है" ऐसा प्रत्यभिज्ञानरूप प्रमाणज्ञान होनेसे लोकका घट पट आदि समस्त दृश्य मिथ्यास्वरूप नहीं कहा जा सकता। सो ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जायगा तो प्रत्यक्षके ही विषयको अनुमान विषय करता है इसलिये उन दोनोंको एकही मान लेना पडेगा। तथा प्रत्यक्षाभासके विषयको अनुमानाभास विषय करता है इसलिये उन दोनोंको भी एक मान लेना होगा। तथा—

'द्रव्यं भव्ये' इस व्याकरणशास्त्रके सूत्रानुसार 'होने' अर्थमें जो द्रव्य शब्दकी सिद्धि कह आये हैं वह भी एकांतवादियोंके मतमें सिद्ध नहीं होती क्योंकि एकांतपक्षमें जब द्रव्य पदार्थ स्वतः असिद्ध है तब उसका भव्य (होना) अर्थ हो ही नहीं सकता। तथा जो संसर्गवादी हैं अर्थात् समवाय संबंधसे द्रव्यत्वके योगसे द्रव्य माननेवाले हैं वे गुण कर्म सत्ता एवं द्रव्यत्व आदि सामान्य विशेषोंसे द्रव्यको सर्वथा भिन्न मानते हैं परंतु उस रूपसे द्रव्य पदार्थ सिद्ध होता नहीं इसलिये गधेके सींगके समान वह स्वयं असिद्ध होनेसे 'होना' रूप क्रियाका कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जायगा कि स्वतः सिद्धि न हो, परपदार्थसे द्रव्यकी सिद्धि मानेंगे? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार गधेका सींग स्वतः असिद्ध है इसलिये परपदार्थसे भी उसकी सिद्धि नहीं मानी जाती उसीप्रकार स्वतः असिद्ध द्रव्यपदार्थकी भी परतः सिद्धि नहीं हो सकती। तथा—

१—देखो इसी अध्यायका पृष्ठ २८वां।

यदि केवल गुणोंके समुदायको द्रव्य माना जायगा तो मुख्यरूपसे तो वहां समुदाय पदार्थ सिद्ध हो नहीं सकता किंतु उपचारसे उसकी कल्पना की जायगी इसलिये कल्पनामात्रका विषय होनेसे उसका अभाव ही माना जायगा एवं जिन गुणोंका समुदायस्वरूप द्रव्य माना गया है उन गुणोंमें एक भी गुणकी उपलब्धि होती नहीं इसलिये उनका अभाव ही है अथवा वे गुण समुदायस्वरूप होनेसे समुदायसे अभिन्न हैं। जब समुदायका अभाव है तब उससे अभिन्नस्वरूप गुणोंका भी अभाव है इसरीतिसे गुण और उनके समुदायके अभावमें द्रव्यस्वरूप पदार्थ सिद्ध न होनेके कारण वह 'होना' रूप क्रियाका कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। परंतु अनेकांतवादमें 'गुणसंद्रावो द्रव्यं' अथवा 'द्रव्यं भव्ये' ये जो दो प्रकार ऊपर बतलाये हैं उन दोनों प्रकारोंसे द्रव्यकी सिद्धि निर्बाध है क्योंकि अनेकांतवादमें पर्यायी द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद माना है अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य और गुण कथंचित् भिन्न हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा दोनों अभिन्न हैं इसलिए कोई दोष नहीं जैसा कि पहिले कह आये हैं।

धर्मादिसामानाधिकरण्याद्बहुवचनं ॥ १९ ॥

अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि सूत्रमें धर्म अधर्म आदि बहुत कहे गये हैं इसलिये उनकी अपेक्षा 'द्रव्याणि' इस सूत्रमें बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख किया गया है उससे धर्म आदि ही द्रव्य हैं अन्य नहीं, यह स्पष्ट अर्थ होता है। शंका—

पुल्लिंगप्रसंग इति चेन्नाविष्टलिंगत्वात् ॥ २० ॥

धर्म अधर्म आदि अजीवकाय हैं जिसप्रकार यहांपर अजीवकाय पदार्थका धर्म अधर्म आदिके

साथ सामानाधिकरण्य अर्थात् धर्म आदि और अजीवकायका एक अधिकरण होनेसे 'अजीवकायाः' यहां पुलिंगका निर्देश है उसीप्रकार यदि द्रव्यपदार्थका धर्म अधर्म आदिके साथ सामानाधिकरण्य माना जायगा तो जिसप्रकार धर्म अधर्म आदि बहुत रहनेके कारण 'द्रव्याणि' यहांपर बहुवचनका प्रयोग किया गया है उसीप्रकार धर्म अधर्म आदिके समान पुल्लिंगका भी प्रयोग होना चाहिये इस रीतिसे 'द्रव्याणि' इसके स्थानपर 'द्रव्याः' ऐसा प्रयोग करना उपयुक्त है? सो ठीक नहीं। जो शब्द आविष्टलिंग अर्थात् नित्यलिंगी हैं उनके लिंगका परिवर्तन नहीं होता। जिसतरह वचन आदि शब्द नित्य नपुंसकलिंगी आदि हैं इसलिए उनके लिंगोंका परिवर्तन नहीं होता। द्रव्य शब्द भी नित्य नपुंसकलिंगी है इसलिये धर्म आदिके साथ समानाधिकरण होनेपर भी 'द्रव्याणि' यहांपर लिंगका परिवर्तन नहीं हो सकता अर्थात् नपुंसक लिंगकी जगह पुल्लिंगका प्रयोग नहीं हो सकता ॥ २ ॥

'द्रव्याणि' इस सूत्रसे पहिले अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि सूत्रका उल्लेख किया गया है और उस सूत्रमें चार द्रव्योंका ही उल्लेख किया गया है इसलिये चार ही द्रव्योंको द्रव्यसंज्ञा प्राप्त होती है, अवशिष्टोंकी नहीं इसलिये इन चारके सिवाय और भी द्रव्य हैं यह बात प्रगट करनेके लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीव भी द्रव्य हैं अर्थात् जिसप्रकार धर्म आदि अपने गुण पर्यायोंसे सहित होनेके कारण द्रव्य कहे जाते हैं उसीप्रकार जीव भी अपने गुण पर्यायसहित हैं इसलिये इनकी भी द्रव्य संज्ञा है। जीव शब्दका अर्थ पहिले कह दिया गया है।

जीवत्वादिति चेन्न प्रतिषिद्धत्वात्॥ १ ॥

जीवत्व नामका सामान्यविशेष (विशेष जाति) है उसके संबंधसे जीव पदार्थकी सिद्धि है ? सो ठीक नहीं । द्रव्यके समान जीवत्व नामका भी कोई सामान्य विशेष नहीं अर्थात् जिसप्रकार द्रव्यत्व नामका कोई सामान्यविशेष[1] संबंध नहीं इसलिए द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्यकी सिद्धि नहीं हो सकती यह बात विस्तारसे पहिले कही जा चुकी है उसीप्रकार जीवत्व नामका भी कोई सामान्य विशेष नहीं इसलिए द्रव्यत्वके समान जीवत्वका भी प्रतिषेध रहनेसे जीवत्वके संबंधसे जीव पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकता। और भी यह बात है कि—

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसंगात ॥ २ ॥

जो कोई जीवत्वके संबंधसे जीवकी प्रतीति और संज्ञाकी कल्पना करता है उससे यह पूछना चाहिये कि जीवमें तो जीवत्वके संबंधसे 'जीव' ऐसी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव है परंतु जीवत्वमें जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव किसके संबंधसे होगा ? यदि कहा जायगा वहां भी अन्यसे अर्थात् जीवत्वत्वके संबंधसे जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव होगा तो फिर अनवस्था दोष अनिवार्य होगा। अर्थात् जीवत्वमें यदि जीवत्वत्वके संबंधसे जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव माना जायगा तब जीवत्वत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव किससे माना जायगा । यदि वहांपर भी जीवत्वत्वत्वके संबंधसे माना जायगा तब जीवत्वत्वत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव किससे माना जायगा इसप्रकार अप्रामाणिक अनेक पदार्थोंकी कल्पनाका विश्राम न होनेसे अनवस्था दोष होगा । यदि कदाचित् अनवस्था

१—इसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है । देखो इसी अध्यायके पृष्ठ २६की टिप्पणी ।

दोष मत हो इसलिए जीवत्वमें जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका स्वतः ही होना माना जायगा तब दूसरे पदार्थोंके संसर्गसे ही सर्वत्र वृत्ति होती है अर्थात् जातिके संबंधसे ही सर्वत्र पदार्थोंकी सिद्धि होती है यह प्रतिज्ञा भंग हो जायगी क्योंकि अनवस्था दोषके भयसे जीवत्वमें जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव यहां स्वतः ही मान लिया गया है । तथा जिसप्रकार जीवत्वमें जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव स्वतः माना है उसीप्रकार जीवमें भी जीवकी प्रतीति और संज्ञाका स्वतः सद्भाव मान लेना चाहिये । यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

जिसप्रकार दीपक स्वयं ही अपना प्रकाशक है, अपने प्रकाश करनेमें वह दूसरे दीपककी अपेक्षा नहीं रखता उसीप्रकार जीवत्वमें भी जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव स्वतः ही है । दूसरे पदार्थ अर्थात् जीवत्वके संबंधसे उसमें जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव नहीं तब इसका समाधान यह है कि फिर जीवमें ही ऐसा माननेमें क्या असंतोष है ? अर्थात् जिसप्रकार जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव स्वतः माना जाता है उसीप्रकार जीवकी भी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव स्वतः मान लेना चाहिये । यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जीव आदि पदार्थोंकी सिद्धि दूसरे पदार्थके संबंधसे ही होती है जीव और जीवत्व दोनों भिन्न भिन्न हैं इसलिए जिसप्रकार जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाके सद्भावकी सिद्धि दूसरे पदार्थके संबंधके विना स्वतः ही है उसप्रकार जीवकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव स्वतः नहीं हो सकता अर्थात् जीवत्व नामका पदार्थ लोकसिद्ध है इसलिए जीवत्वके संबंधसे जीव पदार्थकी प्रतीति और संज्ञा हो सकती है परंतु जीवत्वत्व नामका कोई भी पदार्थ नहीं इसलिए उसके संबंधसे जीवत्वकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव नहीं

माना जा सकता। यदि कहा जायगा कि जीवकी प्रतीति और संज्ञाका सद्भाव भी स्वतः मान लेना चाहिये तो वह ठीक नहीं क्योंकि जीव यह प्रतीति जीवत्वधर्मके संबंधसे ही हो सकती है और जीवत्व धर्म जीवसे भिन्न वस्तु है, यदि भिन्न होकर भी वह जीवमें स्वतःसिद्धरूपसे रह जाय तो भिन्न पदार्थका धर्म भिन्नमें रह जाय। यह नियम है कि अन्य पदार्थका धर्म अन्य पदार्थमें नहीं रह सकता क्योंकि ऐसा होनेमें अन्य पदार्थपना ही कारण है इसलिए जीवत्वके धर्म जीवकी प्रतीति और जीव संज्ञा जीवमें नहीं रह सकते क्योंकि जीवत्व पदार्थ जीवसे भिन्न है यदि अन्यका धर्म अन्यमें मान लिया जायगा तो पदार्थोंमें संकर[1] दोष आकर उपस्थित होगा। सब पदार्थोंकी एकरूपसे ही उपलब्धि होने लगेगी परंतु वह संकरदोष दीख नहीं पडता। सब पदार्थोंकी उपलब्धि भिन्न भिन्न रूपसे होती है इसलिए ऊपर जो अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष हैं वे यहां नहीं लग सकते इस रीतिसे यह बात सिद्ध हुई कि अन्य पदार्थका धर्म अन्य पदार्थमें नहीं रह सकता। जीवकी प्रतीति और जीव संज्ञा जीवसे भिन्न जीवत्वके धर्म हैं इसलिए वे जीवमें नहीं रह सकते इसप्रकार जीवकी सिद्धि तो जीवत्वके संबंधसे ही है परंतु जीवत्वकी सिद्धि स्वतः है जीवत्वत्व नामका कोई अन्य पदार्थ नहीं जिसके संबंधसे जीवत्वकी सिद्धि मानी जाय? इसका उत्तर वार्तिककार देते हैं—

न पदार्थांतरत्वासिद्धेः ॥ ३ ॥

जीव और जीवत्वमें यदि जीवसे अन्य जीवत्व पदार्थ हो तब तो धर्मोंके संकरदोषका सद्भाव सिद्ध हो परंतु वह तो अन्य पदार्थ है नहीं। यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि जीवादि द्रव्य स्वतः

१—'सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः' अर्थात् सबकी एक जगह उपलब्धि होना संकर है।

सिद्ध हैं। इसरीतिसे जब जीवत्व जीवसे कोई भिन्न पदार्थ नहीं तब जिसप्रकार जीवत्वकी प्रतीति और जीवसंज्ञा दूसरे पदार्थके संबंधसे न मानकर स्वतः मानी है उसीप्रकार जीवकी प्रतीति और जीवसंज्ञा भी जीवत्वके संबंधसे न मानकर स्वतः ही मानना चाहिये। और भी यह बात है कि—

'दूसरे पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थमें नहीं रहता' यह प्रतिज्ञा भी तुम्हारे यहां नहीं बनती क्योंकि द्रव्य गुण और कर्मोंमें 'सत् सत्' ऐसी प्रतीति और संज्ञाका कारण तुम्हारे यहां सत्त्व धर्म माना गया है वह धर्म सत्ताका है अब वह द्रव्य गुण और कर्ममें नहीं रह सकता इसलिये सत्त्व धर्मके न रहनेसे उनका अभाव ही हो जायगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि द्रव्य आदिके साथ सत्ताके संबंध रहने-पर भी द्रव्य आदिमें सत् सत् यह प्रतीति और सत् संज्ञामें कारण सत्ता ही है अर्थात् द्रव्य आदिका धर्म सत्त्व नहीं, वह सत्ताका ही धर्म है? सो भी ठीक नहीं। "न संति द्रव्यगुणकर्माणि सत्प्रत्ययाभि-धानहेतुत्वविरहात् खरविषाणवत्"। द्रव्य और कर्म नहीं हैं क्योंकि 'सत् सत्' ऐसी प्रतीति और संज्ञाका कारण सत्त्व धर्म उनमें नहीं है जिसतरह गधेका सींग अर्थात् जिसप्रकार गधेके सींगमें सत् सत् ऐसी प्रतीति और संज्ञाका कारण सत्त्व धर्म नहीं इसलिये उसका अभाव है उसीप्रकार द्रव्य आदिमें भी सत्त्वका अभाव है इसलिए उनका भी अभाव कहना पडेगा अतएव अन्य पदार्थका धर्म अन्य पदार्थमें नहीं रहता यह सर्वथा नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे यह बात सिद्ध हुई कि जीवनस्वरूप क्रियासे युक्त, विशेष द्रव्य स्वरूप एवं अनादि कालसे चली आई परिणमनशील जीवसंज्ञा है। शंका—

द्रव्यलक्षणयोगाद् द्रव्याणीति चेन्न नियमार्थत्वात् ॥ ४ ॥

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् जो पदार्थ उत्पत्ति विनाश और नित्यतासहित हो वह सत्

१—देखो इसी अध्यायका ३०वां सूत्र।

कहलाता है और सत् द्रव्य कहा जाता है, यह आगे द्रव्यका लक्षण कहा गया है। इसी लक्षणके द्वारा धर्म आदिको द्रव्यपना सिद्ध है फिर अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि सूत्रसे एवं 'जीवाश्च' सूत्रसे जो द्रव्यों की गणना की गई है वह व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव एवं काल ये छह ही द्रव्य हैं, न इनसे कम हैं और न इनसे अधिक हैं इस नियमके द्योतन करनेके लिये यहां द्रव्योंकी गणना की गई है। इसलिए यहांपर जो द्रव्योंकी गणना की गई है वह नियमार्थ है। इस नियमके करनेका यह तात्पर्य है कि अन्य वादियोंने जो दिशा आदिको द्रव्य मान रक्खा है उनका परिहार हो जाता है क्योंकि उन लोगोंने जितनी अधिक द्रव्य मानी हैं उनका इन्हीं छहद्रव्योंके अन्दर अंतर्भाव हो जाता है। उसकी व्यवस्था इसप्रकार है——

नैयायिक और वैशेषिकोंने पृथिवी जल तेज पवन काल आकाश दिशा आत्मा और मन ये नौ[1] द्रव्य मान रक्खे हैं। इनमें पृथिवी जल तेज वायु और मन इन पांच द्रव्योंका पुद्गलद्रव्यमें अंतर्भाव है। क्योंकि जिसमें रूप रस गंध और स्पर्श हो वह पुद्गल द्रव्य है। पृथिवी जल आदि पांच द्रव्य भी रूप रस आदि स्वरूप हैं इसलिये पुद्गल द्रव्यके ग्रहण करनेसे ही इनका ग्रहण हो जाता है, पृथक् पृथक् रूपसे उनके गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि——

पवन और मनमें रूप आदिका संबंध नहीं है इसलिए उनका पुद्गल द्रव्यमें अंतर्भाव नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। [2]वायुस्तावद्रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्' वायु स्पर्श गुणका धारक

१—क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः। द्रव्याणि नव। वैशेषिकदर्शन। २—न खलु रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्त्येव वायोरपि तद्वत्ता-संभवात्। तथा हि—रूपादिमान् वायुः पौद्गलिकत्वात्स्पर्शवत्त्वाद्वा पृथिव्यादिवत्। एवं जलानलयोरपि गन्धरसादिमत्ता प्रतिपत्तव्या। प्रमेयकमलमार्तण्ड पत्र संख्या १७७।

है। जो जो स्पर्शविशिष्ट होता है वह वह रूपादिविशिष्ट भी होता है जिसप्रकार घट, क्योंकि घटमें स्पर्श है और रूपादि भी है । वायुमें भी स्पर्श है इसलिए वह भी रूप आदिविशिष्ट है इस अनुमानसे जब वायुमें रूप आदि गुण सिद्ध हैं तब उसका पुद्गल द्रव्यमें अंतर्भाव अनिवार्य है ।

विशेष—"रूप रस गंध और स्पर्श इन चारोंमें यह नियम है कि जहांपर एक होगा वहांपर अन्य तीन गुण भी रहेंगे किंतु यह नहीं हो सकता कि जहांपर केवल रूप रहे वहांपर केवल रूप ही रहे और अन्य कोई गुण न रहे एवं जहांपर रस आदिमें कोई एक रहे वहांपर वही रहे अन्य कोई गुण न रहे। कारण? इन चारोंमें परस्पर तादात्म्य संबंध है । पवनमें नैयायिक और वैशेषिकोंने रूप रस और गंध न मानकर केवल स्पर्श माना है परंतु विना रूप आदिके केवल स्पर्श ठहर नहीं सकता इसलिए वहांपर रूप रस आदि चारों गुणोंका सद्भाव समझ लेना चाहिये। इसीतरह नैयायिक आदिने जलमें गंध गुण नहीं माना परंतु विना गंधके स्पर्श आदि जलमें रह नहीं सकते इसलिए स्पर्श आदिका अविनाभावी होनेके कारण वहांपर गंधका होना भी अनिवार्य है। 'आपो गंधवत्यः स्पर्शवत्त्वात्पृथिवीवत्' जल गंधवाला है क्योंकि वह स्पर्शका धारक है जिसप्रकार पृथिवी । अर्थात् पृथिवीमें जिसप्रकार स्पर्श है इसलिये वहांपर गंध भी है उसीप्रकार जलमें भी स्पर्श है इसलिये वहांपर भी गंध है। यह अनुमान जलमें गंध गुणका साधक है। इसीतरह नैयायिक लोग तेज द्रव्यमें रस और गंध नहीं मानते क्योंकि उनका कहना है कि जिह्वासे स्पर्श होनेपर रसका ज्ञान हो सकता है। तेजका जिह्वासे स्पर्श नहीं किया जा सकता यदि किया जायगा तो जिह्वा ही भस्म हो जायगी इसलिए तेजमें रस नहीं माना जा सकता तथा गंधकी भी उसमें प्रतीति नहीं होती इसलिए गंधका भी उसमें अभाव है । परंतु यह बात ठीक नहीं क्योंकि

ऊपर कह दिया गया है कि रूप आदि चारों आपसमें अविनाभावी गुण हैं जहांपर एक रहेगा नियमसे अन्य गुण भी उसके अंदर रहेंगे यदि तेजमें रूप और स्पर्श माने जांयगे तो गंध और रसका भी उसमें सद्भाव अवश्य मानना होगा, उनका अभाव तेज द्रव्यमें नहीं कहा जा सकता। "तेजोऽपि रसगंधवत् रूपवत्त्वात् पृथिवीवत्।" तेज भी रस और गंधवाला है क्योंकि वह रूपवान है जिसतरह पृथिवी। अर्थात् पृथिवीमें जिसप्रकार रूप है उसीप्रकार उसमें रस और गंधका भी सद्भाव माना है उसीप्रकार तेजमें भी रूप माना गया है उसीप्रकार उसमें रस और गंधका भी सद्भाव समझ लेना चाहिये।" शंका—

जिस पदार्थमें रूपका सद्भाव रहता है उसका नेत्र आदि इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है। यदि वायुमें रूप माना जायगा तो उसका नेत्र आदि इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होना चाहिये परंतु सिवाय स्पर्शन इंद्रियके नेत्र आदिसे वायुका प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए वायुमें रूप नहीं माना जा सकता? सो ठीक नहीं। यदि रूपके रहते नियमसे नेत्र आदि इंद्रियोंसे प्रत्यक्षका होना माना जायगा तो परमाणुओंका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये क्योंकि उनके अंदर भी रूपका सद्भाव है परंतु उनका प्रत्यक्ष होता नहीं इसलिए रूपके रहते नेत्र आदि इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होना ही चाहिये यह व्यभिचारित है। इस रीतिसे वायुका नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसमें रूप नहीं है यह नहीं कहा जा सकता।

विशेष—यदि यहांपर यह कहा जाय कि जहांपर उद्भूतरूप[1] होगा अर्थात् स्पष्ट रूपसे दीख पडेगा वहींपर नेत्रसे प्रत्यक्ष होगा किंतु जहांपर अनुद्भूतरूप होगा—स्पष्ट रूपसे नहीं दीख पडेगा वहां-पर नेत्रसे प्रत्यक्ष न होगा। परमाणुके अंदर उद्भूतरूप नहीं इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता उसके

१—उद्भूतरूप नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वंति इत्यादि। कारिकावली पृष्ठसंख्या ६२।

अंदर स्पर्श आदि भी उद्भूत नहीं इसलिये स्पर्शन आदि इंद्रियोंसे भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। वायुके अंदर यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि उसका स्पर्शन इंद्रिय द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष होता है यदि उसमें रूपका सद्भाव माना जायगा तो स्पर्शके समान उद्भूत रूपका ही उसमें सद्भाव मानना होगा और तब स्पर्शन इंद्रियसे जिसप्रकार वायुका प्रत्यक्ष होता है उसप्रकार चक्षु इंद्रियसे भी उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये परंतु चक्षु इंद्रियसे उसका प्रत्यक्ष होता नहीं इसलिए रूपका उसके अन्दर सद्भाव नहीं माना जा सकता, सो ठीक नहीं। यह कोई नियम नहीं कि जिस पदार्थमें एक गुणका स्पष्ट रूपसे भान हो उसी प्रकार दूसरे गुणका भी स्पष्टरूपसे भान होना ही चाहिये किंतु किसी किसी वस्तुके अन्दर रूप आदि चारों गुणोंमेंसे किसी गुणकी उत्कटता रहती है और किसी गुणकी मंदता रहती है जिस गुणकी उत्कटता रहती है उसका उस गुणको जतलानेवाली इंद्रियसे स्पष्ट रूपसे भान हो जाता है एवं जिस गुणकी मंदता रहती है उसका उस गुणका जतलानेवाली इंद्रियसे प्रकट रूपसे भान नहीं होता। वायुमें स्पर्शगुणकी उत्कटता है इसलिये स्पर्शन इंद्रियसे उसका स्पष्ट रूपसे भान होता है। रूप गुणकी मंदता है इसलिये नेत्र इंद्रियसे उसका ज्ञान नहीं होता अतएव यह कहना कभी ठीक नहीं माना जा सकता कि उसमें रूप नहीं है। इसरूपसे वायुमें रूपगुणका सद्भाव अबाधित है।

मन भी दोप्रकारका है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। इनमें भाव मनको ज्ञानस्वरूप माना है। ज्ञान आत्माका गुण है इसलिये भावमनका तो आत्मामें अंतर्भाव है और द्रव्य मन रूप आदिका पिंड स्वरूप माना है इसलिये वह पुद्गलका विकार है अर्थात् पुद्गलके अंदर उसका अंतर्भाव है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जो पदार्थ रूप आदि विशिष्ट होता है उसका नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष होता है । यदि मनके अंदर रूप गुणका सद्भाव माना जायगा तो उसका प्रत्यक्ष भी होना चाहिए ? सो ठीक नहीं । यदि यह नियमतः माना जायगा कि जिससें रूप आदि गुण होते हैं उसका प्रत्यक्ष ही होता है तब रूप आदि गुण तो परमाणुके अंदर भी विद्यमान हैं इसलिए उनका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। परंतु परमाणुओंका प्रत्यक्ष नहीं दीख पडता। इसलिये नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष न होनारूप हेतु संशयहेतु है अर्थात् रूप आदिके रहते नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष होही हो यह निश्चय नहीं है । तथा—'रूपादिमन्मनो ज्ञानोपयोगकारणत्वात् चक्षुरिंद्रियवत्' अर्थात् जिसप्रकार नेत्र इंद्रिय ज्ञानोपयोगका कारण है उसीप्रकार मन भी ज्ञानोपयोगका कारण है इसलिये नेत्र इंद्रियके समान मन भी रूप आदि विशिष्ट पदार्थ है। शंका—

'रूपादिवन्मनो ज्ञानोपयोगकरणत्वात्' इस अनुमानमें ज्ञानोपयोगकरणत्व हेतुसे मनको रूपादिमान् सिद्ध किया गया है अर्थात् जो जो पदार्थ ज्ञानका कारण होगा वह रूपादिमान होगा यह यहांपर व्याप्ति है। परंतु शब्द तो [1]अमूर्तिक पदार्थ है इसलिए वह रूपादिमान तो नहीं क्योंकि मूर्तिक पदार्थ ही रूपादिमान् हो सकता है परंतु उसे ज्ञानोपयोगका कारण माना है इसलिए अलक्ष्य—शब्दोंमें चले जानेके कारण ज्ञानोपयोग कारणत्व रूप हेतु व्यभिचारी है ? सो ठीक नहीं। शब्दको पौद्गलिक[2] माना है जो पौद्गलिक होगा वह नियमसे मूर्तिमान् होगा इसलिये शब्द मूर्तिमान् होनेसे ज्ञानोपयोगकारणत्व रूप हेतु व्यभिचारी नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

१—नैयायिक और वैशेषिक गुणोंको अमूर्तिक मानते हैं। शब्द भी उन्होंने आकाशका गुण मान रक्खा है इसलिये उसे भी उन्होंने अमूर्तिक माना है। विशेष व्याख्यान इसका आगे किया जायगा। २ शब्दबंधसौक्ष्म्येत्यादि सूत्रमें शब्दको पौद्गलिक अच्छीतरह सिद्ध किया गया है।

यद्यपि परमाणु अतींद्रिय हैं तथापि उनसे जायमान घट पट आदि रूपादिमान कार्य दीख पडते हैं इसलिये उनमें रूपादिमानपनेका अनुमान करलिया जा सकता है परंतु वायु और मनका तो कोई रूपादिमान कार्य दीख नहीं पडता जिससे उनमें रूपादिमानपनेका निश्चय किया जाय इसलिये वायु और मनका रूपादिमान मानना बाधित है ? सो ठीक नहीं। पृथिवी जल तेज और वायु चारोंके ही परमाणुओंमें सर्वप्रकारके रूपादिमान कार्योंको उत्पन्न करनेकी योग्यता स्वीकार की गई है। यह बात नहीं है कि—पृथिवी आदि खास जातिके ही परमाणु रूपादिमान् कार्योंके आरंभक हों क्योंकि रूपादिमान कार्योंके आरंभक अर्थात् उत्पन्न करनेवाले जातिसंकर अर्थात् सभी जातिके परमाणु देखे जाते हैं। इसरीतिसे जब सब जातिके ही परमाणु रूपादिमान् कार्योंके कारण युक्तिसिद्ध हैं तब वायु वा मनके परमाणु भी रूपादिमान कार्यके उत्पादक युक्तिसिद्ध हैं इसलिये वायु और मनमें रूपादिमानपना बाधित नहीं इसप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और मन इन पांच द्रव्योंका पुद्गलद्रव्यमें अंतर्भाव निर्बाधरूपसे सिद्ध होगया। तथा—

नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने दिशा नामका भी एक जुदा द्रव्य माना है परंतु उसका आकाशमें ही अंतर्भाव हो जाता है क्योंकि सूर्यके उदयकी अपेक्षासे आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणियोंमें यहांसे यहांतक पूर्वदिशा है। यहांसे यहांतक पश्चिम दिशा है अर्थात् जिससे सूर्य उदय हो वह पूर्वदिशा है। जिसमें अस्त हो वह पश्चिम दिशा है, आजू बाजूकी दक्षिण और उत्तर दिशा हैं इसप्रकार आकाशमें ही व्यवहारसे पूर्व आदि दिशाओंकी उपपत्ति है—दिशा नामक कोई अन्य द्रव्य नहीं है।

जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थं ॥ ५ ॥

'जीवाश्च' इस सूत्रमें 'जीवाः' यह बहुवचनांत जीवशब्दका प्रयोग किया गया है वह, जीव अनेक प्रकारके हैं यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये है क्योंकि संसारी और मुक्तोंके भेदसे जीव अनेक प्रकारके हैं। इनमें संसारी जीव गति इंद्रिय आदि चौदह मार्गणाओंके भेदसे, मिथ्यादृष्टि सासादन मिश्र आदि गुणस्थानोंके भेदसे एवं सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीवसमासोंके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। खुलासा इसप्रकार है—

जिन जिन विशेष कर्मोदयजनित अवस्थाओंसे जीवोंका मार्गण अर्थात् खोज की जाय उन अवस्थाविशेषोंका नाम मार्गणा है। य मार्गणा गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारके भेदसे चौदहप्रकारकी हैं। प्रत्येक संसारी जीवके चौदहों ही मार्गणा रहती हैं। परंतु किन्हींके कोई और किन्हींके कोई रहती हैं। इसलिए मार्गणाओंके अंतर्भेदोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके अनेक भेद हैं। मोह और योगके निमित्तसे उत्पन्न जीवोंके भावोंका नाम ही गुणस्थान है। उन गुणस्थानोंके मिथ्यात्व १ सासादन २ मिश्र ३ अविरतसम्यग्दृष्टि ४ देशविरत ५ प्रमत्तविरत ६ अप्रमत्तविरत ७ अपूर्वकरण ८ अनिवृत्तिकरण ९ सूक्ष्मसांपराय १० उपशांतमोह ११ क्षीणमोह १२ सयोगकेवली १३ अयोगकेवली १४ ये चौदह नाम हैं। इन गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येक गुणस्थानोंमें अगणित जीव रहते हैं इसलिये गुणस्थानोंके भेदसे जीव अनेक प्रकारके हैं जिन

१—गइइंदियेषु काये जोगे वेदे कसायणाणे य। संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णिआहारो ॥१४१॥ गो० जीव०।

२—मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य। विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ट सुहमो य ॥ ९ ॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य। चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥१०॥ गो०जीव०।

जातियोंके द्वारा जीव एकत्र किये जासकें उन जातियोंका नाम जीवसमास है अर्थात् जिनमें जीव संक्षिप्त रूपसे इकट्ठे किये जांय उनका नाम जीवसमास है। वादर सूक्ष्म द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय असंज्ञिपंचेंद्रिय और संज्ञिपंचेंद्रिय इन सात भेदोंको पर्याप्त और अपर्याप्तसे गुणनेपर चौदह भेद होते हैं। इन्हीं चौदह भेदोंका नाम जीवसमास है। इनमेंसे प्रत्येक जीवसमासमें अगणित जीव रहते हैं। इस-रीतिसे जीवसमासके भेदसे भी जीव अनेकप्रकारके हैं। इसप्रकार चौदह मार्गणा चौदह गुणस्थान और चौदह जीवस्थानोंके भेदसे संसारी जीव अनेकप्रकारके होते हैं। आचार्य श्रीनेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने भी द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

> मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
> विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥

अर्थात् चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थान तथा चौदह जीव समासके भेदसे अशुद्धनयसे संसारी जीव चौदह प्रकारके समझ लेने चाहिये और शुद्ध निश्चय नयसे वे ही शुद्ध समझ लेने चाहिये। तथा—

मुक्त[2] जीव भी एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंतसमयवर्ती सिद्ध पर्यायोंके भेदसे, मुक्तिके कारण शरीरके आकारके भेदसे तथा स्वक्षेत्र, परक्षेत्र और अवगाहन आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। इसप्रकार संसारी और मुक्त जीवोंको अनेक प्रकारका बतलानेके लिये बहुवचनांत जीव शब्दका प्रयोग सार्थक है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

१—वादरसुहमे इंदिय विति चउरिंदिय असण्णिसण्णी य। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोदसा होंति ॥७२॥ गो० जीव०। समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे। वादरसुहमे इंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ॥ द्रव्यसंग्रह।

२—मुक्त जीवोंकी अनेक प्रकारकी सिद्धि क्षेत्रकालगतिलिंगेत्यादि दशवें अध्यायके अंतिम सूत्रमें विस्तारसे की गई है।

एकयोग इति चेन्न जीवानामेव प्रसंगात् ॥ ६ ॥

द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ये दो सूत्र जुदे जुदे किये गये हैं वहांपर 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक ही सूत्र कर देना युक्त है। एक सूत्रके कहनेमें 'च' शब्द भी नहीं कहना पडेगा इसलिए लाघव भी है। सो ठीक नहीं। यदि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक सूत्र ही किया जायगा तो जीव ही द्रव्य हैं धर्म आदिक द्रव्य नहीं हैं यह अनिष्ट ही अर्थ होगा और जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं यह इष्ट अर्थ न होगा इसलिए केवल जीव ही द्रव्य न माना जाय किंतु जीव आदि छहो द्रव्य माने जांय यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये दोनों सूत्रोंका जुदा उल्लेख ही समुचित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

बहुवचनादिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ७ ॥

'द्रव्याणि' इस सूत्रमें बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख किया गया है उसकी सामर्थ्यसे धर्म आदिकी और जीवोंकी द्रव्य संज्ञा हो सकती है यदि जीवकी ही द्रव्यसंज्ञा इष्ट होती तो वहांपर एकवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख ही उपयुक्त था इसरीतिसे बहुवचनकी सामर्थ्यसे धर्म आदिकी द्रव्यसंज्ञा सिद्ध हो जानेसे 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक सूत्र ही कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि 'जीवाश्च' यहांपर 'जीव अनेक प्रकारके हैं' यह बात सूचित करनेके लिये बहुवचनांत जीव शब्दका प्रयोग किया गया है, उस जीव शब्दके साथ द्रव्यका सामानाधिकरण्य संबंध है इसलिए जब जीव बहुवचनांत है तब द्रव्य शब्दका बहुवचनांत होना भी न्यायप्राप्त है। यदि 'द्रव्याणि' यहां बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख न किया जायगा तो जीव और द्रव्य आपसमें भिन्न भिन्न वचनवाले होनेसे उनका

आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध नहीं हो सकेगा इसलिए द्रव्य शब्दका बहुवचनांत प्रयोग होनेपर भी केवल जीवके साथ ही उसका संबंध होगा वैसी अवस्थामें बाकीके सब द्रव्य, द्रव्य नहीं ठहरेंगे। इस रीतिसे जब बहुवचनांत द्रव्य शब्दके उल्लेखसे धर्म आदिकी द्रव्यसंज्ञा नहीं हो सकती तब उनकी द्रव्यसंज्ञा सिद्ध करनेके लिये 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ये दो सूत्र कहने ही उपयुक्त हैं। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि—

अधिकारादिति चेन्न जीवावबद्धत्वात् ॥ ८ ॥

'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इस सूत्रके बाद ही 'द्रव्याणि' सूत्र कहा गया है इसलिए 'द्रव्याणि' यहांपर अजीव अधिकार होनेसे 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक सूत्र बनानेपर भी जीव और अजीव दोनोंकी द्रव्यसंज्ञा सिद्ध हो सकती है इसलिए दोनोंका एक सूत्र कहना अयुक्त नहीं ? सो ठीक नहीं। यदि दोनोंका एक सूत्र ही कहा जायगा तो द्रव्य शब्दका मुख्य रूपसे जीव शब्दके साथ ही संबंध रहेगा क्योंकि वह जीव शब्दके साथ पढा गया है। अजीवका अधिकार है उसके साथ द्रव्यका साक्षात् संबंध नहीं इसलिए वह गौण है इस रीतिसे जीव ही द्रव्य कहे जायगे अजीव अर्थात् धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल द्रव्य नहीं कहे जा सकते। तथा और भी यह बात है कि—

सत्यप्यधिकारे यत्नाभावाच्च ॥ ६ ॥

जिन शब्दोंकी अनुवृत्ति आती है उनके अनुवर्तनमात्रसे ही कार्य नहीं होता किंतु जिसके साथ कार्य करनेका यत्न किया गया है उसीके साथ कार्य होता है। 'द्रव्याणि जीवाः' यहांपर जीवको द्रव्य कहानेका यत्न किया गया है इसलिए वही द्रव्य कहाया जा सकता है। अजीव केवल अनुवृत्तिसे सिद्ध

है उसको द्रव्य कहानेका कोई यत्न नहीं किया गया इसलिए वह द्रव्य नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक सूत्र करनेपर जीवोंको ही द्रव्य कहा जा सकता है धर्म अधर्म आदि अजीवोंको नहीं तब धर्म अधर्म आदि भी द्रव्य कहे जांय इसलिए 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' इन दोनों सूत्रोंका जुदा जुदा पाठ ही उपयुक्त है। इसप्रकार 'जीवाश्च' यहांपर च शब्दका उल्लेख भी सार्थक हो जाता है अन्यथा दोनोंका एक सूत्र कहनेपर च शब्दका कहना व्यर्थ ही था। च शब्दका फल ऊपर कहा जा चुका है ॥ ३ ॥

ऊपर जो धर्म अधर्म आदि द्रव्य कही गई हैं उन्हींमें विशेषता प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

इसी अध्यायके ३९वें सूत्रमें कहा हुआ काल द्रव्य और ये जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल द्रव्य नित्य हैं अर्थात् ये कभी नष्ट नहीं होते। अवस्थित हैं अर्थात् संख्यामें घटते बढते नहीं। सारार्थ—छह द्रव्यके न कभी पांच होते हैं और न कभी सात होते हैं तथा ये सब रूपरहित अरूपी हैं।

नित्यशब्दो ध्रौव्यवचनः ॥ १ ॥

नित्य शब्दका अर्थ ध्रौव्य है अर्थात् जो सदाकाल रहे जिसका कभी भी विनाश न हो, यह नित्य शब्दका अर्थ है। नि धातुसे ध्रुव अर्थमें त्य प्रत्यय करनेपर नित्य शब्दकी सिद्धि हुई है। वार्तिककार नित्यत्व शब्दका खुलासा करते हैं—

तद्भावाव्ययो नित्यत्वं ॥ २ ॥

जो द्रव्य जिस स्वरूपसे उपलक्षित हो उसके उस स्वरूपका नाश न होना नित्यत्व कहा जाता है। इसी पांचवें अध्यायमें 'तद्भावाव्ययं नित्यं । ३१ ।' इस सूत्रसे स्वयं सूत्रकारने नित्य शब्दके स्वरूपका उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा धर्म अधर्म आदि द्रव्य जीव पुद्गलकी गतिमें कारणपना स्थितिमें कारणपना आदि विशेष लक्षणोंसे एवं द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा ही अस्तित्व आदि सामान्य लक्षणोंसे कभी भी जुदे नहीं होते अर्थात् जिसका स्वभाव जीव और पुद्गलोंकी गति क्रियामें कारण होनेका है, उसका कभी भी वह स्वभाव नहीं छूटता। जिनका स्वभाव स्थिति क्रिया आदिमें कारण होनेका है उनका वह कभी भी नहीं छूटता तथा अस्तित्वादिक जो गुण हैं वे सदैव रहते हैं उनका नाश कभी नहीं होता, केवल उनका परिणमन होता है। इसलिए धर्म अधर्म आदि द्रव्य नित्य हैं।

इयत्त्वानतिवृत्तेरवस्थितानि ॥ ३ ॥

धर्म आदि छह द्रव्य कभी भी छह इस संख्याका उलंघन नहीं करतीं अर्थात न छहकी सात द्रव्य हो सकती हैं और न छहकी पांच हो सकती हैं इसलिये वे अवस्थित हैं। अथवा धर्म अधर्म लोकाकाश और एक जीवके समानरूपसे असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश और पुद्गलोंके अनंत प्रदेश हैं एवं कालका एकप्रदेश है। यहांपर जिसके जितने प्रदेश हैं वही उसकी इयत्ता है इस इयत्ताका उलंघन न होनेके कारण धर्म आदि द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात् जिसके असंख्यात प्रदेश हैं उसके कभी संख्यात वा अनंत नहीं हो सकते। जिसके अनंत कहे गये हैं उसके कभी असंख्यात वा संख्यात नहीं हो सकते वं जिसका एक प्रदेश कहा गया है उसके अनंत आदि प्रदेश नहीं हो सकते किंतु जिसके जितने हैं उसके उतने ही हैं इसलिए धर्म आदि द्रव्य अवस्थित हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

गतार्थत्वात्तदवक्तव्यमिति चेन्न परिणामानेकत्वात् ॥ ४ ॥

जो पदार्थ जिस रूपसे उपलक्षित है उसका उसी रूपसे होना नित्य शब्दका अर्थ कह आये हैं। छह द्रव्योंका पांच वा सात द्रव्य न होना यह अवस्थित शब्दका अर्थ भी नित्य शब्दके अर्थमें आ जाता है एवं जिसके असंख्यात प्रदेश हैं उसके अनंत आदि प्रदेश नहीं हो सकते, जिसके अनंते प्रदेश हैं उसके असंख्याते आदि नहीं हो सकते यह अवस्थित शब्दका अर्थ भी नित्य शब्दके अर्थमें आ जाता है इसरीतिसे नित्यपनासे भिन्न, अवस्थितपना न होनेके कारण नित्य शब्दके उल्लेखसे ही अवस्थित शब्दका अर्थ निकल आता है फिर सूत्रमें अवस्थित शब्दका उल्लेख व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप लक्षणके धारक धर्म अधर्म आदि द्रव्योंके गतिमें उपकार करना, स्थितिमें उपकार करना आदि पर्यायस्वरूप अनेक प्रकारके परिणाम माने हैं। धर्म आदि द्रव्योंके अनेक प्रकारके परिणामोंके होनेपर भी धर्म अधर्म आकाश काल नामक जो अमूर्तिक द्रव्य हैं उनका न तो मूर्तिमान परिणमन हो सकता है और न वे ज्ञान आदि उपयोगस्वरूप परिणत हो सकते हैं तथा जीवोंका अचेतनस्वरूप परिणमन नहीं हो सकता एवं पुद्गलोंका अमूर्तिकस्वरूप परिणमन नहीं हो सकता, बस यही अवस्थित शब्दका कार्य है। यदि सूत्रमें अवस्थित शब्दका उल्लेख नहीं किया जायगा तो नित्य शब्दके बलसे उनके स्वभावका नाश तो न होगा परंतु परिणमन परस्वभाव रूप भी हो जायगा अर्थात् अमूर्तिक धर्म अधर्म काल और आकाशका मूर्तिमान वा उपयोगस्वरूप भी परिणाम होगा इसलिये स्वस्वरूप ही परिणमन होवे, परस्वरूप न हो इस बातकी रक्षाके लिए सूत्रमें अवस्थित शब्दका उल्लेख सार्थक है।

विशेष—धर्म अधर्म आकाश और काल इन अमूर्तिक द्रव्योंका मूर्तिमान् वा उपयोगस्वरूप परिणमन नहीं हो तथा जीवोंका अचेतन स्वरूप और पुदुगलोंका अमूर्तिक स्वरूप परिणमन न हो इसलिये सूत्रमें अवस्थित शब्दका उल्लेख किया है ऐसा अवस्थित शब्दके उल्लेखका फल बताया गया है परंतु धर्म अधर्म आदि अमूर्तिक द्रव्योंका यदि मूर्तिमान् परिणमन होगा अथवा चेतनका अचेतन स्वरूप वा मूर्तिक पुदुगलका अमूर्तिकस्वरूप परिणमन होगा तब फिर असलीपदार्थका ही नाश हो जायगा क्योंकि धर्म आदि अमूर्तिक द्रव्योंका अमूर्तिक स्वभाव है यदि उस स्वभावका ही नाश हो जायगा तो धर्म आदि द्रव्य ही नष्ट हो जांयगे तथा चेतनका स्वभाव चेतन है यदि उस स्वभावका ही नाश हो जायगा तब चेतन पदार्थका ही नाश हो जायगा एवं पुदुगलका मूर्तिकस्वभाव है यदि उसका नाश होगा तो पुदुगलका ही नाश हो जायगा परंतु नित्य शब्दका सूत्रमें उल्लेख किया गया है इसलिये इस रूपसे उनका कभी नाश नहीं हो सकता क्योंकि स्वरूपका नाश न होना यही नित्य शब्दका अर्थ बतलाया गया है इसरीतिसे धर्म आदि द्रव्योंका परस्वरूप परिणमनका अभाव जब नित्य विशेषणसे ही सिद्ध है तब अवस्थित विशेषणकी सूत्रमें कुछ भी आवश्यकता नहीं ? इसका समाधान यह है कि संसारमें नित्य शब्द अपरिणामी अर्थमें प्रसिद्ध है यदि अवस्थित विशेषणका उल्लेख न कर नित्य विशेषणका ही उल्लेख किया जाता तो यही बात जान पडती कि धर्म आदि द्रव्य अपरिणामी हैं उनका कोई परिणमन नहीं होता परंतु अवस्थित शब्दके उल्लेखसे यह बात सिद्ध होती है कि धर्म आदिमें प्रत्येक द्रव्यके अनेक प्रकारके परिणमन होते हैं । अब उन अनेक प्रकारके परिणामोंमें अमूर्तिक एवं अचेतन धर्म आदि द्रव्योंका अमूर्तिक ही परिणमन होता है मूर्तिक नहीं, चेतन द्रव्यका चेतनस्वरूप ही

परिणमन होता है, अचेतनस्वरूप परिणमन नहीं एवं मूर्तिक पुद्गलका मूर्तिक स्वरूप ही परिणमन होता है अमूर्तिकस्वरूप नहीं। इस बातको बतलानेके लिये अवस्थित विशेषणका उल्लेख सार्थक है। यही भगवान वार्तिककारका तात्पर्य है। शंका—

विरोधादयुक्तमिति चेन्नोभयनयसद्भावात् ॥ ५ ॥

अवस्थित शब्दका अर्थ रूपांतर न होना है इसलिए किसी पदार्थके अनेक प्रकारके परिणाम भी हों और वह अवस्थित भी हो यह बात विरुद्ध जान पडती है क्योंकि जो पदार्थ परिणामी होगा वह अवस्थित नहीं रह सकता, परिणामी भी हो और अवस्थित भी हो यह बात हो नहीं सकती ? सो ठीक नहीं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंमेंसे जिससमय एककी गौण रूपसे और दूसरेकी प्रधान रूपसे विवक्षा की जायगी उससमय धर्म आदि समस्त द्रव्योंका ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय स्वरूप विरुद्ध नहीं माना जा सकता अर्थात् जिससमय पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय धर्म आदि समस्त द्रव्योंका उत्पाद और विनाशस्वरूप अयुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्षण क्षणमें पर्यायोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है तथा उन पर्यायोंको द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न माना है इसलिये पर्यायोंके उत्पाद विनाशसे द्रव्यका उत्पाद विनाश भी अबाधित है। तथा जिससमय द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा मानी जायगी उससमय समस्त द्रव्योंको ध्रौव्यस्वरूप माननेमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि द्रव्य रूपसे किसी भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं हो सकता। इसप्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षाकी अपेक्षा धर्म आदि समस्त द्रव्योंको उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप मानना निरापद है। अथवा—

अवस्थितविशेषणं वा नित्यग्रहणं ॥ ६ ॥

नित्य पद अवस्थित पदका विशेषण है इसलिए जाना आना आदि अनेक पर्यायोंके रहते भी अर्थात् अनेक क्रियाओंके करने पर भी, सदा हंसते रहनेके कारण जिसप्रकार देवदत्त नामक पुरुषको 'नित्यप्रहसित' अर्थात् सदा हसनेवाला कह दिया जाता है उसीप्रकार उत्पाद और विनाश दोनोंके कारणोंके रहते उत्पत्ति और विनाशके होनेपर भी धर्म अधर्म आदि द्रव्य अपने अमूर्तत्व आदि स्वभावोंको कभी भी नहीं छोडते इसलिये वे नित्य–अवस्थित अर्थात् सदा अपने स्वरूपमें रहनेवाले कहे जाते हैं। शंका—

क्रियावत्त्वनिवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति चेन्न निष्क्रियाणीत्याम्नातत्वात् ॥ ७ ॥

अवस्थित शब्दका अर्थ ठहरना है इसलिये धर्म अधर्म आदिमें हलन चलनरूप क्रियाकी निवृत्तिके लिए अवस्थितविशेषणका उल्लेख किया गया है ? सो ठीक नहीं। इसी अध्यायमें 'निष्क्रियाणि च ।७।' अर्थात् धर्म अधर्म आदि द्रव्य हलन चलन रूप क्रियारहित हैं । यह सूत्र कहा गया है इसलिये उस सूत्रकी सामर्थ्यसे ही हलन चलन रूप क्रियाका निषेध हो जाता है, उसकी निवृत्तिके लिये अवस्थित शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं इसप्रकार अवस्थित विशेषणके उल्लेखका जो ऊपर फल बतलाया गया है वही यथार्थ है ।

अरूपग्रहणं द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थं ॥ ८ ॥

द्रव्योंके स्वस्वरूपके ज्ञान करानेके लिये सूत्रमें अरूप शब्दका उल्लेख किया गया है। जिनके अंदर रूप विद्यमान न हो वे अरूप हैं, यह यहां अरूप शब्दका अर्थ है। रस गंध आदि रूपके अविनाभावी

गुण हैं इसलिए धर्म आदिमें रूप गुणके निषेध करनेपर रस गंध आदि गुणोंका भी निषेध समझ लेना चाहिये। अरूपका अर्थ अमूर्त है। अर्थात् रूप आदि गुणोंका नाम मूर्त है जिसके अंदर रूप आदि गुण न हों वे अमूर्त कहे जाते हैं इसलिए अमूर्त और अरूप दोनोंका समान अर्थ है।

वृत्तौ पंचत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्नाभिप्रायापरिज्ञानात् ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें धर्म अधर्म आदि पांचों द्रव्य अवस्थित हैं वे कभी भी अपने पंचपनेको नहीं छोडतीं अर्थात् न पांचकी छह होती हैं और न चार होती हैं, ऐसा लिखा है इसलिए यहांपर जो छह द्रव्योंका उल्लेख किया गया है वह बाधित होता है? सो ठीक नहीं। वृत्तिकारने जिस अभिप्रायसे वहां पांच द्रव्योंका उल्लेख किया है उस अभिप्रायको न जानकर ही यह दोष दिया गया है। वृत्तिकारका अभिप्राय यह है—इसी अध्यायमें आगे जाकर कालश्च। ३९। इस सूत्रसे काल द्रव्यका पृथक् लक्षण किया गया है वार्तिककारने उसकी अपेक्षा न कर पांच द्रव्य कहे हैं किंतु उनका यह अभिप्राय नहीं कि कुल द्रव्य पांच ही हैं इसलिए यहांपर जो छह द्रव्योंका उल्लेख किया गया है उससे और वृत्तिकारके वचनसे कुछ विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

जिसप्रकार समस्त द्रव्योंका नित्य और अवस्थित यह सामान्य लक्षण है उसप्रकार अरूपत्व लक्षण भी समस्त द्रव्योंका सामान्यरूपसे ही प्राप्त होगा इसलिए उस अरूपत्व लक्षणके अपवादके लिये अर्थात् सब ही द्रव्य अरूपी नहीं यह प्रगट करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

उक्त छह प्रकारके द्रव्योंमें केवल पुद्गल द्रव्य रूपी है अर्थात् रूप रस गंध स्पर्शवाला है।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वे मूर्तिपर्यायग्रहणं शास्त्रसामर्थ्यात् ॥ १ ॥

रूप शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जिसतरह गोरूपाणि—गोद्रव्याणि अर्थात् गौ द्रव्य हैं। यहांपर रूप शब्दका अर्थ द्रव्य है। 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं स्वभाव इत्यर्थः' अर्थात् चैतन्य पुरुषका स्वभाव है। यहांपर रूप शब्दका अर्थ स्वभाव है। दशरूपमध्ययनं कार्यं—दशवारानभ्यासः कार्यः अर्थात् दश वार अभ्यास करना चाहिये। यहांपर रूप शब्दका अर्थ अभ्यास है। 'स्वरूपं शब्दस्य स्वा श्रुतिरित्यर्थः' शब्दका स्वरूप अर्थात् शब्दका अपना श्रवण है। यहांपर रूप शब्दका अर्थ श्रवण है। 'रूपं—चत्वारि महाभूतानि उपादाय रूपं चेति' रूप अर्थात् चार महाभूतोंको ग्रहण कर, यहांपर रूप शब्दका अर्थ चार महाभूत है। 'चक्षुर्ग्रहणयोग्यो योऽर्थस्तद्रूपमिति' अर्थात् नेत्र इंद्रियके ग्रहण करने योग्य जो पदार्थ हो वह रूप है, यहांपर रूप शब्दका अर्थ गुणविशेष है। कहीं कहींपर रूप शब्दका मूर्ति भी अर्थ है जिस तरह 'रूपि द्रव्यं मूर्तिमद् द्रव्यं' अर्थात् यह द्रव्य मूर्तिमान है यहांपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है। परंतु उपर्युक्त अनेक अर्थोंके रहते भी शास्त्रकी सामर्थ्यसे यहांपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति ही लिया गया है। क्योंकि भगवान अर्हतके द्वारा प्रतिपादित और गणधरोंके द्वारा भलेप्रकार ग्रथित शास्त्रमें रूपिद्रव्यका मूर्तिमान द्रव्य यह अर्थ लिया गया है। इसलिये 'रूपिणः पुद्गलाः' का अर्थ पुद्गल मूर्तिमान हैं यह होता है। वार्तिककार मूर्ति शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः ॥ २ ॥

यहांपर रूपादि शब्दसे रूप रस गंध और स्पर्शका ग्रहण है तथा परिमंडल (गोल) तिकोना चौकोना लंबा चौकोना आदि आकारोंको संस्थान कहते हैं। इन रूप आदिके द्वारा और संस्थानोंके

द्वारा जो परिणमन होता है उसे मूर्ति कहते हैं। इस मूर्तिका धारक पुद्गल द्रव्य है अर्थात् रूप आदिका वा गोलाकार तिकोना आदि संस्थानोंका परिणमन धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमेंसे किसीमें भी नहीं, केवल पुद्गलमें ही होते हैं। अथवा—

गुणविशेषवचनगृहणं वा ॥ ३ ॥

'रूपिणः' यहांपर रूप शब्दसे नेत्रइंद्रियसे ग्रहण करने योग्य विशेष गुणका ग्रहण है। शंका—

रसाद्यगृहणमिति चेन्न तदविनाभावात् तदंतर्भावसिद्धेः ॥ ४ ॥

यदि रूप शब्दका गुणविशेष अर्थ किया जायगा तो रस आदि गुणोंका ग्रहण तो होगा नहीं फिर पुद्गल रूपवान ही कहा जायगा ? सो ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि रस आदि गुण रूपके अविनाभावी हैं। जहांपर रूप गुण रहेगा वहांपर नियमसे रस आदि गुण रहेंगे इसलिए रूप गुणके कहनेपर उनका भी ग्रहण स्वभावसिद्ध है इस रीतिसे रूपका अर्थ विशेषगुण माननेपर उसका अर्थ रूप रस गंध स्पर्श चारो ही समझ लेना चाहिये। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

इनोऽनुत्पत्तिरभेदादिति चेन्न कथंचिद् व्यतिरेकासिद्धेः ॥ ५ ॥

जहांपर भेद रहता है वहींपर इन् प्रत्ययकी उत्पत्ति होती है जिसप्रकार 'दंडोऽस्यास्तीति दंडी' जिसके दंड हो वह दंडी कहा जाता है यहांपर पुरुषसे दंड पदार्थ भिन्न है इसलिए यहांपर इन् प्रत्यय हुआ है। रूप पदार्थ द्रव्यसे भिन्न नहीं क्योंकि रूप आदि उस द्रव्यके ही परिणाम हैं अर्थात् द्रव्यसे रूप आदि अभिन्न हैं इसलिए 'रूपमेषामस्ति ते रूपिणः' अर्थात् जिनके रूप है वे रूपी हैं वहांपर रूप शब्दसे

इन् प्रत्यय नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। द्रव्यसे रूपका कथंचित् भेद माना है इसलिए 'रूपिणः' यहांपर इन् प्रत्यय बाधित नहीं। खुलासा इसप्रकार है—

जिससमय द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा की जायगी उससमय द्रव्यसे रूप पदार्थ अभिन्न है क्योंकि द्रव्यका ही परिणाम होनेसे भिन्नरूपसे उसकी उपलब्धि नहीं होती परंतु जिससमय पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा की जायगी उससमय रूप पर्यायका विनाश और पुद्गलरूपसे स्थिति मानी जाती है, उत्पत्ति और अनुत्पत्ति भी मानी जाती है। पर्यायकी अपेक्षा आदिपना और गुणकी अपेक्षा अनादिपना भी माना जाता है तथा अन्वय व्यतिरेकरूप जो वाग्विज्ञान उसकी प्रवृत्ति भी मानी जाती है अर्थात् गुण स्वरूपसे कभी भी नाश न होनेसे अनुगतरूपसे प्रतीति होती है और पर्यायरूपसे पर्यायोंके नाश हो जानेसे व्यतिरेकरूपसे प्रतीति होती है इत्यादि कारणोंसे रूप आदिका कथंचित् द्रव्यसे भेद सिद्ध है इसलिए 'रूपिणः' यहांपर रूप शब्दसे इन् प्रत्ययका प्रयोग बाधित नहीं। तथा—

तेनैव व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

अभेद रहनेपर भी जिस अर्थमें इन् प्रत्यय होता है उस अर्थमें मत्वर्थक प्रत्यय लोकमें दीख पडते हैं। जिसतरह आत्मवान् आत्मा, सारवान् वृक्षः अर्थात् आत्मावाला आत्मा है, सारवाला वृक्ष है। यहां पर आत्मासे जुदा आत्मा पदार्थ नहीं तथापि आत्मवान् यहांपर मतु प्रत्ययका प्रयोग लोकमें शुद्ध माना जाता है तथा वृक्षमें रहनेवाला जो उसका रस आदि तत्त्व है वह उसका सार कहा जाता है। वह सार वृक्षसे जुदी वस्तु नहीं है। तथापि सारवान् यहांपर मतु प्रत्ययका प्रयोग शुद्ध माना जाता है उसीप्रकार 'रूपिणः' यहांपर द्रव्यसे अभिन्न रहनेपर भी इन् प्रत्ययका प्रयोग बाधित नहीं।

पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थं ॥ ६ ॥

'रूपिणः पुद्गलाः' यहांपर जो बहुवचनांत पुद्गल शब्दका प्रयोग किया है वह पुद्गलोंके भेद बतलानेके लिये किया गया है क्योंकि परमाणु और स्कंधोंके भेदसे पुद्गलोंके अनेक भेद हैं। इन परमाणु और स्कंधोंके भेदोंका कथन 'अणवः स्कंधाश्च' इत्यादि सूत्रोंसे आगे किया गया है ॥ ५ ॥

शंका—पुद्गल द्रव्यके समान धर्म आदि द्रव्य भी क्या अनेक भेदवाले हैं? उत्तर—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाश पर्यंत एक द्रव्य है अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये एक एक हैं। जब ये तीनों एक एक हैं तो जीव पुद्गल और काल इन तीनों द्रव्योंमें विना कहे ही अनेकता सिद्ध हो जाती है सो आगमानुसार जीव द्रव्य अनंतानंत हैं। पुद्गलपरमाणु जीवोंसे अनंतगुणे हैं और काल द्रव्य अणुरूपसे असंख्यात हैं।

आभिविधावाङ्प्रयोगः ॥ १ ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि आङ् उपसर्गके अभिविधि और मर्यादा दो अर्थ हैं। आ आकाशेत्यादि सूत्रमें 'आङ्' का अर्थ अभिविधि है और अभिविधिका अर्थ अभिव्याप्ति है अर्थात् जहां पर्यंत किसी बातका विधान किया गया है उससहितका ग्रहण है, इसलिये यहांपर धर्म अधर्म जिसप्रकार एक एक द्रव्य हैं उसप्रकार आकाश भी एक द्रव्य है यह यहां अर्थ है अर्थात् आकाशको व्याप्त कर एक एक द्रव्यका विधान है। यदि यहांपर आङ्का अर्थ मर्यादा माना जाता तो आकाशका ग्रहण न होता

किंतु धर्म और अधर्मका ही ग्रहण होता क्योंकि मर्यादा अर्थके रहने पर जहां पर्यंत किसी कार्यका विधान किया गया है उस सहितका ग्रहण नहीं होता किंतु उससे पहिले पाहिलेका ग्रहण होता है। यहांपर आकाश पर्यंत एक एक द्रव्यकपनेका विधान किया गया है इसलिये मर्यादा अर्थ नहीं लेकर अभिविधि अर्थ लेना ही इष्ट है। 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इस सूत्रमें धर्म अधर्म और आकाश ऐसा क्रम रक्खा गया है इसलिए उसी आनुपूर्वी क्रमके अनुसार धर्म अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य है यह यहांपर अर्थ समझ लेना चाहिये।

एकशब्दः संख्यावचनः ॥ २ ॥

एक शब्दके अन्य असहाय आदि अनेक अर्थ होते हैं परंतु 'एकद्रव्याणि' यहांपर जो एक शब्द है उसका अर्थ एक संख्या है। यदि यहांपर यह शंका उठाई जाय कि—

तत्संबंधाद् द्रव्यस्यैकवचनप्रसंग इति चेन्न धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः ॥ ३ ॥

यदि यहांपर एक शब्दको संख्यावाचक माना जायगा तो एक पदार्थ और द्रव्यपदार्थका आपसमें समानाधिकरण संबंध होनेसे द्रव्य शब्दका भी एक वचनमें प्रयोग करना चाहिये, 'द्रव्याणि' यह बहुवचनांत प्रयोग न करना चाहिये क्योंकि जिनका अधिकरण एक है उनका लिंग और वचन भी एक ही होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। धर्म आदि द्रव्य बहुत हैं इसलिये उनकी अपेक्षा 'द्रव्याणि' यह बहुवचनांत द्रव्य शब्दका प्रयोग है। यहांपर यह न कहना चाहिये कि एकवचनांत द्रव्य शब्दके प्रयोगसे भी धर्म आदि अनेकोंका ग्रहण हो जायगा, बहुवचनांत द्रव्य शब्दके प्रयोगकी कोई भी आवश्यकता नहीं ? क्योंकि एक; अनेक पदार्थोंकी प्रतीति नहीं करा सकता—एक वचनांत द्रव्यसे धर्म अधर्म

आदि अनेकोंका ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए धर्म आदिकी अपेक्षा 'द्रव्याणि' यह बहुवचनांत प्रयोग सार्थक है। शंका—

एकैकमित्यस्तु लघुत्वात् ॥ ४ ॥ न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वात् ॥ ५ ॥

'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इस सूत्रकी जगहपर 'आ आकाशादेकैकं' ऐसा ही सूत्र बनाना उपयुक्त है। ऐसा करनेमें द्रव्यशब्द न कहना पडेगा इसलिये छोटा सूत्र होनेसे महान् लाघव होगा। यहां पर यह न समझ लेना चाहिये कि द्रव्य शब्दके न कहने पर 'आकाशपर्यंत एक एक द्रव्य है' यह अर्थ न होगा? क्योंकि 'द्रव्य छह हैं' यह बात प्रसिद्ध होनेसे यहां द्रव्यका संबंध हो सकता है इसरीतिसे जब 'आ आकाशादेकैकं' ऐसा सूत्र करनेपर भी आकाशपर्यंत एक एक द्रव्य है यह अर्थ हो जाता है तब द्रव्य शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। द्रव्यका उल्लेख न कर यदि 'एकैकं' इतना ही कहा जायगा तो वहां यह संदेह हो सकता है कि यहांपर द्रव्यकी अपेक्षा एकत्व लेना चाहिये वा क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा लेना चाहिए? इसलिये इस संदेहकी निवृत्ति हो और द्रव्यकी ही अपेक्षा एकत्व लिया जाय, यह अर्थ प्रकट करनेके लिए सूत्रमें द्रव्य पदका प्रतिपादन किया है। इसलिए यहां पर यह अर्थ समझ लेना चाहिये—

गति और स्थिति क्रियावाले अनेक प्रकारके जीव और पुद्गल द्रव्योंके अनेक प्रकारके परिणमनोंमें निमित्त कारण होनेसे यद्यपि भावकी अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य अनेक हैं तथा प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं इसलिए क्षेत्रकी अपेक्षा भी प्रदेशोंके भेदसे अनेक हैं तथापि द्रव्यकी अपेक्षा वे एक एक ही हैं तथा आकाशको अवगाहन करनेवाले अनेक द्रव्योंके अनंते अवगाहन होते

हैं इसलिये अनंते अवगाहनोंके कारण भावकी अपेक्षा यद्यपि आकाश द्रव्य अनंत है एवं आकाशके अनंते प्रदेश हैं इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षा भी आकाश अनंत है परंतु द्रव्यकी अपेक्षा वह एक ही है अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्यके समान धर्म अधर्म और आकाश बहुत नहीं हैं तथा जिसप्रकार धर्म, अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य हैं उसप्रकार जीव और पुद्गल एक एक द्रव्य नहीं हैं। यदि जीव और पुद्गलको एक एक माना जायगा तो संसारमें जो क्रिया कारक अर्थात् कर्म कर्ताका भेद दीख पडता है वह न दीख पडेगा क्योंकि एक ही जीव वा पुद्गल कर्ता और कर्म नहीं हो सकता तथा अभीष्ट जो संसार और मोक्षकी प्रक्रिया है उसका भी विरोध हो जायगा क्योंकि एक ही जीव वा पुद्गल पदार्थके माने जाने पर संसार और मोक्ष ये दोनों विरोधी वातें नहीं बन सकतीं। इसरीतिसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि द्रव्यकी अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक एक हैं, इस अर्थकी प्रतीतिके लिए 'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इस सूत्रमें द्रव्य पदका उल्लेख सार्थक है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि धर्म अधर्म आकाश जीव और पुद्गल इन पांचों द्रव्योंके एकत्व अनेकत्वका विवेचन तो किया गया है कि धर्म अधर्म और आकाश तीनों एक एक द्रव्य हैं एवं जीव और पुद्गल अनेक अनेक हैं परंतु कालद्रव्य एक है वा अनेक है? यह बात नहीं कही गई इसलिये वह भी कहना चाहिये। इसका समाधान यह है कि कालद्रव्यका वर्णन आगे किया गया है इसलिये वह एक है वा अनेक है यह निर्णय वहींपर जाकर होगा यहांपर उसका वर्णन अप्राकृतिक होगा।

जिन धर्म अधर्म और आकाश द्रव्योंको एक एक कहा गया है उन्हींकी और भी विशेषता बत-लानेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय अर्थात् हलन चलन क्रियासे रहित हैं।

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया ॥ १ ॥

उभयनिमित्तका अर्थ अभ्यंतर और वाह्यकारण हैं वहांपर क्रियारूप परिणमन शक्तिका धारक द्रव्य अंतरंग कारण है और नोदन अर्थात् प्रेरणाका होना एवं अभिघात आदि अर्थात् धक्का आदि वाह्य कारण हैं इन दोनों प्रकारके कारणोंके द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्यको एकदेशसे दूसरे देशमें ले जानेमें कारण है ऐसे विशेष पर्यायका नाम क्रिया है। यहांपर क्रिया पदार्थ विशेष्य है एवं उभयनिमित्तापेक्ष, पर्यायविशेष और द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतु ये तीन उसके विशेषण हैं। किसी बातकी व्यावृत्ति कर देना अथवा उसे व्यवहारमें ले आना यह विशेषण प्रयोगका प्रयोजन होता है। यहांपर जो उभयनिमित्तापेक्ष यह विशेषण दिया गया है वह क्रिया, द्रव्यका स्वभाव न समझा जाय इस बातकी निवृत्तिके लिये है। यदि क्रियाको द्रव्यका परिणाम मान लिया जायगा तो उस क्रियाका कभी अभाव तो होगा नहीं फिर सदा द्रव्य स्थिर न रहकर हलन चलनरूप ही रहेगा इसलिए क्रियाको द्रव्यके स्वभावकी निवृत्तिके लिये 'उभयनिमित्तापेक्ष' विशेषण कार्यकारी है। उभयनिमित्तापेक्ष विशेषणके कहनेपर क्रिया द्रव्यका स्वभाव नहीं बन सकती क्योंकि स्वभावके लिये वाह्य अभ्यंतर कारणोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। तथा पर्यायविशेष यह जो क्रियाका विशेषण दिया गया है वह क्रिया द्रव्यसे भिन्न पदार्थ नहीं समझा जाय इस बातकी निवृत्तिके लिये है। यदि पर्यायविशेषरूप विशेषणको अनावश्यक समझ द्रव्यसे क्रियाको सर्वथा भिन्न पदार्थ माना जायगा तो द्रव्य सर्वथा निश्चल हो जायगा फिर जीव और पुद्गलोंमें

जो गमन आगमनरूप क्रिया दीख पडती है वह न हो सकेगी किंतु पर्यायविशेषरूप विशेषणके उल्लेखसे यह बात सिद्ध है कि क्रिया द्रव्यकी ही विशेष पर्याय है उससे भिन्न पदार्थ नहीं। तथा देशांतरप्राप्तिहेतु जो विशेषण दिया गया है वह आत्माके ज्ञान आदि गुणोंकी और पुद्गलके रूप आदि गुणोंकी निवृत्तिके लिये है क्योंकि ज्ञान आदि वा रूप आदि भी अंतरंग और वहिरंग कारणोंसे परिणमन करते हैं परंतु वह परिणमन क्रियात्मक—देशसे देशांतररूप नहीं है, किंतु अक्रियारूप परिणाम है उसीको अर्थपर्याय कहते हैं। वह भी पर्यायस्वरूप है किंतु दूसरे देशमें ले जानेके कारण नहीं है इसलिए देशांतरप्राप्तिहेतुरूप विशेषणसे ज्ञान आदि वा रूप आदिकी निवृत्ति हो जाती है।

तस्याः प्रादिवृत्त्याऽन्यपदार्थगतिः ॥ २ ॥

उस क्रियाका प्र आदि उपसर्गोंके साथ समास होनेसे अन्य पदार्थका ज्ञान होता है। 'निष्क्रियाणि' यहांपर 'निष्क्रांतानि क्रियायाः निष्क्रियाणि' अर्थात् क्रियासे जो रहित हों वे निष्क्रिय हैं, यह 'निः' उपसर्गके साथ समास है इसलिए निष्क्रिय शब्दसे यहां क्रियाका बोध न होकर क्रियारहित अन्य पदार्थोंका बोध होता है। शंका—

निष्क्रियत्वादुत्पादाभाव इति चेन्नान्यथोपपत्तेः ॥ ३ ॥

घट आदि पदार्थोंकी जो उत्पत्ति होती है वह क्रियापूर्वक ही होती है ऐसा संसारमें दीख पडता है यदि धर्म अधर्म और आकाशको क्रियारहित—निष्क्रिय पदार्थ माना जायगा तो उनका उत्पाद न हो सकेगा तथा यह नियम है कि जिन पदार्थोंका उत्पाद होता है उन्हींका व्यय होता है विना उत्पादके माने व्यय पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों अविनाभावी धर्म हैं। यदि धर्म अधर्म और

आकाशका उत्पाद न माना जायगा तो उनका व्यय भी सिद्ध नहीं हो सकता इस रीतिसे समस्त पदार्थों-को जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीन स्वरूप कहा गया है वह बाधित होता है? सो ठीक नहीं। क्योंकि उत्पाद क्रियानिमित्तक भी होता है और अन्य प्रकारसे भी होता है। धर्म आदि पदार्थ निष्क्रिय हैं इसलिये उनमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं बन सकता किंतु अन्य प्रकारसे उनमें उत्पाद बन सकता है और उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

उत्पाद दो प्रकारका है—एक स्वनिमित्त, दूसरा परप्रत्यय। जो उत्पाद अपनी ही अपेक्षासे होता है वह स्वनिमित्त कहा जाता है और जो अपनी उत्पत्तिमें परपदार्थकी अपेक्षा करता है वह परप्रत्यय कहा जाता है। यहांपर अनंते तथा आगमप्रमाणसे माने गये एवं षट्गुणी[1] वृद्धि अर्थात् अनंतभागवृद्धि[2] १ असंख्यातभागवृद्धि २ संख्यातभागवृद्धि ३ संख्यातगुणवृद्धि ४ असंख्यातगुणवृद्धि ५ अनंतगुणवृद्धि ६ तथा षट्गुणी हानि अर्थात् अनंतभागहानि १ असंख्यातभागहानि २ संख्यातभागहानि ३ संख्यात-गुणहानि ४ असंख्यातगुणहानि ५ अनंतगुणहानि ६ इन वृद्धि और हानियोंसे वर्तमान ऐसे अगुरुलघु गुणोंके स्वभावसे इनका उत्पाद होता है और वह स्वनिमित्त उत्पाद कहा जाता है। तथा उत्पादका अवि-नाभावी विनाश है। इन्हीं अगुरुलघुगुणोंके स्वभावसे इनका विनाश होता है और वह स्वनिमित्त व्यय

१—उव्वंकं चउरंकं, इत्यादि गाथाकी संस्कृत और भाषाटीकामें वृद्धि और हानियोंका विस्तारसे वर्णन है। जोम्मटसार जीवकांड गाथा॥ ३२३॥

२—गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्। अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्ढानिरूपाः। अनंतभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः एवं षड्वृद्धिरूपास्तथा अनंतभागहानिः असंख्यातभागहानिः संख्यातभागहानिः संख्यातगुणहानिः असंख्यातगुणहानिः अनन्तगुणहानिः, एवं षड्ढानिरूपा ज्ञेयाः।

—आलापपद्धतिः।

कहा जाता है। तथा परप्रत्यय उत्पाद घोडे आदिकी गति स्थिति और अवगाहनका कारण होनेसे होता है गति स्थिति आदिका क्षण क्षणमें भेद है इसलिए उनके भेदसे उनके कारणोंका भी भेद है अर्थात् ज्यों ज्यों अश्वादिकी गति स्थिति आदि भिन्न भिन्नरूपसे होते हैं त्यों त्यों धर्म अधर्म आदि द्रव्य भी भिन्न भिन्न परिणमनवाले समझे जाते हैं। इस रीतिसे अश्व आदिकी गति आदिके आधीन होनेके कारण यह परप्रत्ययका उत्पाद है। तथा उत्पादका अविनाभावी विनाश है। जहांपर अश्व आदिकी गति आदिके आधीन विनाश हो वह परप्रत्यय विनाश है। यदि यहांपर यह भी कहा जाय कि—

निष्क्रियत्वात् गतिस्थित्यवगाहनाक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेन्न बलाधानमात्रत्वादिंद्रियवत् ॥ ४ ॥

यह नियम है कि जो पदार्थ क्रियावान होते हैं वे ही अन्य पदार्थोंकी गति स्थिति और अवगाहनमें कारण होसकते हैं जिसतरह जल आदि क्रियावान पदार्थ ही मच्छी आदिकी गति आदि क्रियाओंमें कारण माने गए हैं निष्क्रिय नहीं। यदि धर्मद्रव्यको जीव पुद्गलोंकी गतिमें कारण, अधर्मको स्थितिमें और आकाशको अवगाहनक्रियामें कारण माना जायगा तो धर्म आदिको भी क्रियावान ही मानना चाहिये परंतु उन्हें क्रियावान नहीं माना गया फिर वे गति स्थिति और अवगाहनक्रियामें कारण नहीं हो सकते ? सो ठीक नहीं, क्योंकि इंद्रियोंके समान धर्म आदि द्रव्योंको गति आदिमें सहायकमात्र माना है। यदि जीव और पुद्गल गमन आदि करते हैं तो उनके गमन आदिमें धर्म अधर्म आदि द्रव्य सहायता मात्र पहुंचा देते हैं बलपूर्वक चलने बैठनेके लिये उन्हें प्रेरणा नहीं करते अर्थात् जीव पुद्गलकी गति स्थितिमें और छहों द्रव्योंके अवगाहनमें क्रमसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य उदासीन हैं, प्रेरक कारण नहीं हैं, उदासीन कारणोंमें क्रिया नियमरूपसे नहीं होती है। खुलासा व्यवस्था इसप्रकार है—

जो मनुष्य पदार्थोंके रूपको देखनेका अभिलाषी है उसकी नेत्र इंद्रिय रूपके दिखानेमें सहायकमात्र मानी गई है किंतु रूपका देखना यह नेत्रइंद्रियकी सामर्थ्य नहीं क्योंकि जिससमय नेत्रइंद्रियको छोड़कर अन्य इंद्रियोंके साथ आत्माका संबंध होता है और उन इंद्रियोंके विषयोंको जाननेमें आत्मा लीन हो जाता है उससमय उसे रूपका दर्शन नहीं होता। यदि रूपका देखना नेत्र इंद्रियका स्वभाव माना जायगा तो जिससमय अन्य इंद्रियोंके साथ आत्माका संबंध है उस अवस्थामें भी रूपका दर्शन होना चाहिये परंतु होता नहीं इसलिए रूपका देखना नेत्र इंद्रियकी सामर्थ्य नहीं, वह केवल अवलम्बन-सहारामात्र है। और भी यह बात है कि—

आयुके समाप्त हो जानेपर जिससमय शरीरसे आत्मा निकल जाता है उससमय नेत्र इंद्रिय वहांपर विद्यमान रहती है परंतु उस अवस्थामें रूपका ज्ञान नहीं होता। यदि रूपकी उपलब्धि होना नेत्रइंद्रियकी सामर्थ्य मानी जायगी तो उस अवस्थामें भी रूपका ज्ञान होना चाहिए परन्तु होता नहीं इसलिए रूपका ज्ञान होना नेत्रइंद्रियकी सामर्थ्य नहीं मानी जा सकती। उसीप्रकार—अपने आप गति स्थिति अवगाह रूप परिणामोंके धारक जीव और पुद्गलोंकी गति आदि कार्योंमें धर्म अधर्म और आकाश द्रव्योंका अवलंबन—सहारामात्र माना है किंतु वे स्वयं जल आदिके समान क्रियावान नहीं। इसरीतिसे "जो क्रियावान होगा वही गति स्थिति आदिमें कारण बन सकता है निष्क्रिय पदार्थ नहीं" यह जो ऊपर कहा गया था वह बाधित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जो पदार्थ स्वयं क्रियावान न हों और गति आदि क्रियाओंमें कारण हों, ऐसा कोई दृष्टांत तो दीख नहीं पडता फिर निष्क्रिय धर्म आदिको गति आदि क्रियाओंमें कारण कैसे माना जा सकता है ?

तो इसका समाधान यह है कि यह धर्म आदि द्रव्योंकी सामर्थ्य ही है कि वे निष्क्रिय होकर भी जीव पुद्गलोंकी गति आदि क्रियाओंमें कारण हैं तथा सामर्थ्यके विषयमें यह प्रश्न उठ नहीं सकता कि ऐसी कैसे सामर्थ्य हो सकती है ? क्योंकि सामर्थ्य वा स्वभावके विषयमें तर्क नहीं उठाया जा सकता। इसका उदाहरण आकाश द्रव्य है क्योंकि यह नियम है कि जो पदार्थ पासमें जाकर भिडता है वही संबद्ध कहा जाता है परंतु आकाश कहीं भी नहीं जाता तथापि वह समस्त द्रव्योंसे संबद्ध कहा जाता है तथा यह भी बात नहीं कि जैसी यह आकाशकी सामर्थ्य है वैसी अन्य भी किसीकी सामर्थ्य हो जिससे उसे दृष्टांत बनाकर उसके बलसे आकाशमें यह सामर्थ्य सिद्ध की जाय। इसरीतिसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि धर्म अधर्म और आकाश तीनों पदार्थ निष्क्रिय हैं तथापि गति आदि क्रियाओंमें उसका अवलंबन असाधारण लक्षण है।

चशब्दोऽभिहितसंबंधार्थः ॥ ५ ॥

'निष्क्रियाणि च' यहांपर जो 'च' शब्द कहा गया है वह ऊपर कहे गये एक एक द्रव्य धर्म अधर्म और आकाशके साथ संबंध द्योतन करता है अर्थात् धर्म अधर्म और आकाश पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा एक एक हैं और क्रियारहित निष्क्रिय हैं इसरीतिसे धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यके निष्क्रियपनेका नियम होनेसे जीव और पुद्गलोंमें स्वतः और परनिमित्तसे क्रियावानपना निर्बाधरूपसे सिद्ध है। अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्योंमें जीव और पुद्गल द्रव्य क्रियावान हैं और धर्म अधर्म और आकाश क्रियारहित हैं। आत्माको व्यापक माननेवाले नैयायिक आदिकी ओरसे शंका—

आत्मा पदार्थ सर्वगत[1] व्यापक है। यह नियम है जो व्यापक होता है वह निष्क्रिय होता है जिस तरह आकाश, क्योंकि आकाशको व्यापक माना है और निष्क्रिय भी माना है। आत्माको भी व्यापक माना है इसलिए वह भी निष्क्रिय है, वह क्रियावान नहीं हो सकता किंतु उसमें समवायसंबंधसे क्रियाका कारण गुण है इसलिये उसके संबंधसे वह परपदार्थोंकी क्रियाका कारण है। इसरीतिसे जो ऊपर आत्माको क्रियावान माना है वह अयुक्त है ? इस शंकाका समाधान वार्तिककार देते हैं—

द्रव्यस्य क्रियापरिणामिनोऽर्थांतरे तत्परिणामसामर्थ्यं वायुवत् ॥ ६ ॥

अतत्परिणामस्य तदभावो व्योमवत् ॥ ७ ॥

जिसतरह पवन स्वयं क्रियापरिणामी अर्थात् क्रियावान है इसलिये वह वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें क्रियाका कारण है उसीप्रकार क्रियावान आत्मा भी वीर्यांतराय और ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम रहने-पर अंगोपांग नामक नाम कर्मके लाभ रहनेपर एवं विहायोगति नाम कर्मके उदय रहनेपर प्राप्त की हुई गमनरूप शक्ति की विशेषतासे गमन करनेमें प्रवृत्त होता है इसीलिए हाथ आदि प्रत्यंगोंमें क्रिया होती है यदि आत्माको निष्क्रिय पदार्थ माना जायगा तो हस्त आदि परपदार्थोंमें वह क्रियाका कारण नहीं हो सकता। इसरीतिसे जब आत्माका क्रियावानपना सयुक्तिक सिद्ध है तब 'आत्मसंयोग-[2]

१— विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्' विभुत्वं परममहत्परिमाणवत्त्वं। अर्थात् आत्मा व्यापक है और बुद्धि आदि गुणोंका आश्रय है। मुक्तावली पृष्ठ संख्या ५६।

२—आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

विवृत्ति—कर्मपरीक्षामारभमाण आह—आत्मेति आत्मनः संयोगेन प्रयत्नेन च शरीरे तदवयवे च चेष्टारूप कर्म भवतीत्यर्थः। हस्ते इत्युपलक्षणं। अत्र चेष्टारूपकर्माणि शरीरतदवयवादिकं समवायिकारणं। आत्मसंयोगोऽसमवायिकारणं प्रयत्नो निमित्तकारणं। तदुक्तं—

प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म' अर्थात् आत्माके संयोग और प्रयत्नसे हाथके अंदर प्रयत्न होता है, यह जो वैशेषिक दर्शनमें कहा गया है वह खंडित हो जाता है क्योंकि आकाशको भी निष्क्रिय पदार्थ माना है और घट आदिके साथ उसका संयोग रहनेपर भी उसे घट आदिमें क्रियाका कारण नहीं माना उसीप्रकार नैयायिक आदि सिद्धांतकार आत्माको भी निष्क्रिय मानते हैं इसलिए हस्त आदिके साथ आत्माका संयोग रहनेपर भी वह हस्त आदिमें क्रियाका कारण नहीं हो सकता इसप्रकार उपर्युक्त वैशेषिक दर्शनके सूत्रसे जो आत्माको निष्क्रिय मानकर हाथ आदि प्रत्यंगोंमें क्रियाका कारण माना है वह बाधित है। तथा यह भी बात है कि—

उभयोर्निष्क्रियत्वात् ॥ ८ ॥

जिसप्रकार दो जन्मसे अन्धे मनुष्योंका आपसमें संयोग होनेपर भी देखनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं होती उसीप्रकार आत्माका संयोग और प्रयत्न दोनों ही पदार्थ निष्क्रिय हैं इसलिये वे भी क्रियाके कारण नहीं हो सकते अतः जो ऊपर आत्माके संयोग और प्रयत्नको हस्त आदिमें क्रियाका कारण माना गया है, वह अयुक्त है। यहांपर यह न शंका करनी चाहिये कि आत्मा और प्रयत्न निष्क्रिय पदार्थ कैसे हैं? क्योंकि "दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि ।२१। एतेन कर्माणि गुणाश्च

आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः। कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत् ॥ वैशेषिकदर्शन अध्याय ५ पृष्ठसंख्या १९४ ॥

१। सूत्र—दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥ विवृतिः-कर्मशून्यताप्रकरणमारभते दिगिति, क्रियावद्वैधर्म्यं परममहत्परिमाणमपकृष्टपरिणामराहित्यं वा। चकार आत्मासमुच्चायकः। एतानि द्रव्याणि निष्क्रियाणीत्यर्थः। सूत्र—एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः। विवृतिः-निष्क्रियांतरमाह एतेनेति, एतेन क्रियावद्वैधर्म्येण—निष्क्रियत्वेन कथिताः। चकारात्सामान्यादिपरिग्रहः। वैशेषिकदर्शन पृष्ठ २१८ ॥

व्याख्याताः ॥ २२ ॥ अर्थात् दिशा काल आकाश और आत्मा इन चारों द्रव्योंमें क्रियावान पदार्थोंकी अपेक्षा विषमता है इसलिए ये निष्क्रिय पदार्थ हैं । तथा यहांपर जो क्रियावान पदार्थोंसे वैषम्य बतलाया गया है उससे गुण और कर्मोंमें भी निष्क्रियपना सिद्ध है क्योंकि उनके अंदर भी क्रियावान पदार्थोंकी विषमता है ।" यह वैशेषिक दर्शनमें कहा गया है । इसरीतिसे जब आत्मा और प्रयत्न (गुण) दोनों क्रियारहित हैं तथा जो क्रियारहित पदार्थ होता है वह दूसरे पदार्थोंमें क्रियाका कारण नहीं होता तब क्रियारहित आत्मा और प्रयत्न पदार्थ हस्त आदिमें क्रियाके कारण नहीं हो सकते । यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

संयोगप्रयत्नयोर्गुणत्वात् निष्क्रियत्वमग्निसंयोगवदिति चेन्नास्मदिष्टसिद्धेः ॥ ६ ॥

कच्चे घट आदिके साथ अग्निका संयोग होनेपर उसकी उष्णता घट आदि परपदार्थोंमें ही पाकसे जायमान रूप आदिको आरंभ करती है अर्थात् जब घट आदि पकता है उससमय काले आदि रूपकी जगह लाल आदि रूपका अग्निके द्वारा परिवर्तन होता है किंतु वह उष्णता अपने आधारस्वरूप अग्निमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं करती उसीप्रकार अदृष्टकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माका संयोग और प्रयत्न हस्त आदिकी क्रियाके ही कारण हो सकते हैं, स्वयं क्रियाके आधार नहीं बन सकते इस रीतिसे आत्माके संयोग और प्रयत्नका हस्त आदिमें क्रियाका कारणपना बाधित नहीं ? इसका समाधान यह है कि ऐसा माननेसे हम जैनियोंकी ही अभीष्टसिद्धि हो जाती है क्योंकि जिसप्रकार रूपादिमान् द्रव्यका गुणस्वरूप अग्निका संयोग, रूपादिक विशिष्ट घट आदि पदार्थोंमें रूप आदिका उत्पादक कारण माना जाता है किंतु रूप आदिरहित अग्निसंयोग घट पटादिकमें रूप आदिका उत्पादक कारण

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अर्थ—१ अनित्य, २–अशरण, ३–संसार, ४–एकत्व, ५–अन्यत्व, ६–अशुचि, ७–आस्रव, ८–संवर, ९–निर्जरा, १०–लोक, ११–बोधिदुर्लभ, १२–धर्म। इन समीचीन नामवाली भावनाओंका चिंतवन करना ही अनुप्रेक्षा कहलाती है अर्थात् ये ही बारह भावनाएं अनित्यादि बारह तत्वोंका ध्यान कराती हैं, इन्हींका प्रतिसमय चिंतवन करनेसे आत्मा क्रोधादि समस्त विकारोंसे सर्वथा दूर होजाता है। अब इन बारह भावनाओंके स्वरूप कहते हैं—

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वं ॥ १ ॥

राग द्वेष विकारमय परिणामोंको धारण करनेवाला आत्मा जिन पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण कर लेता है और आत्माके साथ बंधभाव होनेसे उनकी कर्म नोकर्म रूप पर्याय होजाती है वे पुद्गलद्रव्य तो उपात्त कहे जाते हैं तथा जो पुद्गलद्रव्य विकारी आत्मा द्वारा गृहीत नहीं हैं किंतु सुतरां आकर आत्मासे संबंधित होचुके हैं, उनकी कर्म नोकर्म रूप पर्याय नहीं हुई है किंतु यदि आत्मा उन्हें भी ग्रहण कर बंधरूप पर्यायको धारण कर ले तो उनकी भी कर्म नोकर्म रूप पर्याय होजाय ऐसे पुद्गल परमाणु अनुपात्त कहे जाते हैं, उन्हींका दूसरा नाम विस्रसोपचय है। वे सभी पुद्गल–कर्म नोकर्म रूप परिणत होनवाले पिंड द्रव्यसे तो नित्य हैं, क्योंकि पुद्गलपना वे कभी नहीं छोड सकते हैं. कर्म नोकर्मरूप पर्याय छूट जायगी परंतु पुद्गल परमाणु स्वरूपको वे कभी नहीं छोडते हैं इसलिये द्रव्यदृष्टिसे वे नित्य हैं और निरंतर उनका भेद होता रहता है संबंध भी होता रहता है इत्यादि परिणमन धारण करनेसे वे पर्याय स्वरूपसे अनित्य भी हैं। ये शरीर इंद्रिय और उनके विषय भूत भोग उपभोग द्रव्य सभी समुदाय रूप जो प्रतीत होते हैं वे जलके बबूलेके समान अनित्य स्वभाववाले हैं। गर्भ जन्म आदि अवस्थाओंमें

ष्टताको प्राप्त शरीरसे ही जुदा हूं तो फिर बाह्य धन धान्य स्त्री पुत्रादि परिग्रह की तो बात ही निराली है अर्थात् वे तो प्रत्यक्ष ही जुदे दीखते ही हैं इस प्रकारका चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा कही जाती है इसप्रकार इस अन्यत्व भावनाका जो चिंतवन करता है वह शरीरादिकोंसे सर्वथा निस्पृह वृत्तिवाला अर्थात् मोहरहित होजाता है फिर वह शरीरादिकी चाहना नहीं करता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति होनेसे वह मोक्षके लिये यत्नशील होजाता है। अब अशुचि भावनाका स्वरूप कहते हैं।

शरीरस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वं ॥ ६ ॥

अर्थ—शुचिता नाम पवित्रताका है, वह दोप्रकार है–एक लौकिकशुचिता दूसरी अलौकिक अथवा लोकोत्तर शुचिता। उनमें जिस आत्माने अपनेमें लगे हुये कर्ममल रूप कलंकोंको धो डाला है और अपने स्वरूपमें लीनता प्राप्त करली है वह लोकोत्तर शुचिता कहलाती है, उसप्रकारकी शुचिता अथवा शुद्धिके प्राप्त करनेकेलिये साधन सम्यग्दर्शनादिक आत्मीय गुण और उसके धारण करनेवाले साधु परमेष्ठी कहे जाते हैं तथा उन साधुओंसे विशिष्ट निर्वाण क्षेत्र भी उस परम विशुद्ध आत्माकी शुचिताके पैदा करनेवाले हैं इसलिये वह भी शुचि पवित्र कहलाते हैं। लौकिक पवित्रता आठप्रकार है–१ काल २अग्नि ३ भस्म ४ मृत्तिका ५ गोमय (गोबर) ६ जल ७ ज्ञान ८ निर्विचिकित्सा ये उसके आठ भेद हैं। कोई वस्तु तत्काल अपवित्र भी हो तो भी दीर्घकालमें अथवा कालविशेषसे वह पवित्रता धारण कर लेती है कोई अग्निसे पवित्र होती है कोई भस्म अर्थात् राख द्वारा माजनेसे पवित्र होजाती है कोई मिट्टीसे पवित्र होजाती है कोई गोबरसे पवित्र होजाती है कोई जलसे पवित्र होती है कोई ज्ञानसे पवित्र होती है कोई ग्लानि निकल जानेसे पवित्र होती है इनके दृष्टांत लोकमें प्रसिद्ध हैं और प्रतिदिन व्यवहारमें काम आते हैं इन समस्त पवित्रताओंके कारणोंसे यह शरीर पवित्र नहीं किया जासकता क्योंकि वह अत्यंत अपवित्र है अथवा अशुचि स्वरूप है। यह शरीर अपवित्र चीजोंसे तो बना हुआ है और अप-

वे शरीरादिक साथ रहते हैं इसलिये कुछ काल उनका संयोग रहता है पीछे उनका जीवसे वियोग होजाता है, परंतु मोहकी प्रबलतासे यह अज्ञानी जीव इन शरीर इंद्रिय विषय आदिमें नित्यता मान लेता है और उनमें आसक्त होजाता है वास्तवमें देखा जाय तो इस असार संसारमें समुदाय रूपसे कुछ भी नित्य नहीं है केवल आत्माके ज्ञान दर्शनोपयोग रूप जो स्वभाव हैं वे ही तो ध्रुव हैं, बाकी सब बाह्य पदार्थोंका संबध छूट जाता है। इसप्रकार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य भावना कही जाती है। इस अनित्य भावनाके चिंतवनसे फल यह होता है कि जिसप्रकार शरीर पर लगाया हुआ चंदन और माला आदि भोग्य वस्तुयें जब भोगकर छोड दीजाती हैं तब उनमें राग अथवा ममत्वभाव नहीं रहता है उसीप्रकार इस अनित्य भावनाके चिंतवनसे उन शरीरादि पदार्थोंमें फिर अनुराग नहीं रहता है और उनका वियोगकाल आनेपर भी जीवको खेद नहीं होता है। ऐसा ही निर्मोही अनित्य भावनाका चिंतवन करनेवाला भव्यजीव समाधिमरण करता है और परिणामोंकी निराकुलतासे उत्तम पर्याय धारण करता है। अब अशरणभावनाका स्वरूप कहते हैं—

क्षुधितव्याघ्राभिद्रुतमृगशावव्जन्तोर्जरामृत्युरुजांतके परित्राणाभावोऽशरणं ॥ २ ॥

अर्थ—शरण दोप्रकारसे ग्रहण कीजाती है, एक लौकिकशरण, दूसरी अलौकिक शरण, अर्थात् लोकमें जो मान्य और जिनकी शरण जानेसे लोक अपनी रक्षा समझ लेता है वे तो लौकिक शरण कहे जाते हैं तथा लोकसे जो भिन्न हैं वे लोकोत्तर शरणभूत कहे जाते हैं अर्थात् जिनकी शरण जाते यह संसारी जीव मरणभयसे छूट जाता है वे लोकोत्तर शरण हैं। लौकिक शरणके तीन भेद हैं—जीव, अजीव और मिश्र। तथा अलौकिक शरणके भी तीन भेद हैं—जीव, अजीव और मिश्र। लौकिकशरणके तीन भेद इसप्रकार हैं—राजा और देवता ये तो लौकिक जीवरूप शरण हैं, कारण राजा और देवताकी शरणमें लोक जाते हैं दोनों ही जीव पदार्थ हैं और किला परकोट खाई आदिसे भी लोग अपनी

वित्र चीजोंसे ही वृद्धि पाता है इसलिये इस शरीरकी आदि और उत्तर अशुभ कारणोंसे रचा हुआ होनेसे अपवित्र समझा जाता है। उसीका स्पष्ट कथन इसप्रकार है—इस शरीरका आदिकारण तो वीर्य और रुधिर है। दोनों ही महा अपवित्र हैं। माताका रुधिर (रज) और पिताका वीर्य दोनों ही अत्यंत अपवित्र पदार्थ हैं उन्हींसे यह शरीर बनता है। इस शरीरवृद्धिका उत्तर कारण आहार परिणाम आदिक हैं अर्थात् माता आहार ग्रहण करती है उस आहारका जो उत्तरपाक होता है वह महादुर्गंध और घिनावना है। विचार करनेकी बात है कि जिससमय गर्भस्थ बच्चेकी माता रोटी दाल आदिका ग्रास खाती है वह ग्रास उसी समय श्लेष्माशयको प्राप्त होजाता है अर्थात् कफके स्थानमें पहुंच जाता है और उस कफसे गीला और पतला कर दिया जाता है उससमय वह खाया हुआ ग्रास बहुत ही घिनावना और अपवित्र होजाता है फिर पित्ताशयको प्राप्त होकर पकने लगता है अर्थात् उस अन्नका पाक शुरू होजाता है। उस समय वह गीला और विक्लेदको प्राप्त होनेवाला ग्रास बहुत ही बुरा और घृणास्पद प्रतीत होता है पककर पीछे वाताशयमें चला जाता है वहां वायुसे छिन्न भिन्न कर दिया जाता है और उसके खलभाग और रस भाग ऐसे दो हिस्से होजाते हैं जो खलभाग बनता है वह तो मूत्र और मल (भिष्टा) आदि दुर्गंधित विकार भावको धारण करलेता है। जो रसभाग बनता है वह रुधिर मांस, मेदा, मज्जा, शुक्र, (वीर्य) रूप अवस्थाओंको धारण कर लेता है। इन समस्त महा मलिन अपवित्र वस्तुओंका भाजन घर यह शरीर है इसकी अशुद्धता दूर नहीं की जासकती है जिसप्रकार भिष्टाघर (पाखाने) की अपवित्रता दूर नहीं की जासकती है। इसशरीरमें किसीप्रकार भी शुचिता नहीं लायी जासकती है स्नान करनेसे अनेक प्रकार उबटन लेप आदि लगानेसे धूप चंदनकी सुगंधि पुष्पमाला आदि सुगंधित पदार्थोंसे भी यह शरीर शुद्ध नहीं किया जासकता है। इन सुगंधित वस्तुओंसे भी उसकी अशुचिता दूर नहीं कीजासकती है। जिसप्रकार अग्नि पर जो द्रव्य डाला जाता है वह तत्काल अग्नि रूप परिणत होजाता

रक्षा समझते हैं इससिये उनका आश्रय परचक्र चढ आने पर लेलेते हैं ये किलौ आदि अजीव हैं। तीसरे ग्राम नगरादिक मिश्र लौकिक शरण कहे जाते हैं । मिश्र नाम मिले हुयेका है, ग्राम नगरादिक जीव अजीव दोनोंके समूह हैं। ग्राम नगरादिकी रचना अजीव स्वरूप है और उनमें रहनेवाले मनुष्य पशु आदि जीव हैं। उन ग्रामादिकोंसे और उनमें रहनेवाले मनुष्य तथा पशुओंसे भी रक्षा समझकर लोक ग्राम नगरादिकोंमें प्रवेश कर जाते हैं। अलौकिकशरणके तीन भेद इसप्रकार हैं—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु ये पांच परमेष्ठी पंच गुरु कहे जाते हैं, ये पांचो ही जीव हैं इसलिये लोकोत्तर अथवा अलौकिक जीवरूप शरण तो ये पांच गुरु हैं, इनकी शरण जानेसे इम जीवको वस्तुका वास्तविक स्वरूप मालूम होता है, परिणामोंमें शांति और निराकुलता आती है, फिर उसे मरण आदिका कुछ भय नहीं होता। लोकोत्तर अजीव रूप शरण उन अर्हंत आदिके प्रतिबिंब मूर्तियां कहलाती हैं, अर्थात् स्थापना निक्षेप द्वारा जो धातु अथवा पाषाणकी मूर्तियोंमें अर्हंतादिको स्थापना करलीजाती है, उनकी पूजा आराधना भक्ति आदिसे उनकी शरण जाना अजीव लोकोत्तर शरण कहलाता है तथा धर्मके उपकरणोंसहित साधुवर्ग मिश्र लोकोत्तर शरण कहलाता है। इसमें धर्मोपकरण अजीव हैं और उस सहित साधु वर्ग जीव हैं जैसे जिनमंदिर । जिनमंदिरमें साधु पुरुष भी होते हैं श्रीजिनवाणी भी रहती है और जिनमंदिर भी नवदेवोंमें एक अजीवरूप देव है इसलिये जिनमंदिरकी शरण लोकोत्तरमिश्ररूप शरण है। अशरणभावनाका चिंतवन इसप्रकार करना चाहिये—जिसप्रकार हरिणका बच्चा किसी एकांत जंगलमें भूखे हुये मांसके चाहनेवाले बलवान व्याघ्रसे झपट लिया गया हो तो उस बाघके पंजेमें पडे हुये दीन बलहीन हरिणके बचेको कुछ भी शरण नहीं है अर्थात् उससमय उसे कोई भी बचानेको समर्थ नहीं है, उसीप्रकार जन्म बुढापा मृत्यु व्याधि प्रियवस्तुका वियोग अप्रियवस्तुका संयोग इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति दरिद्रता मानसी व्यथा इत्यादिसे उत्पन्न हुये दुःखोंके द्वारा सताये हुये जीवको कोई शरण नहीं होता है । खिलापिला

है उसीप्रकार इस शरीरके साथ जिस वस्तुका संबंध किया जाता है वह पवित्र और सुगंधित सुंदर वस्तु भी इस महामलिन दुर्गंधसे भरे हुये शरीरके संसर्गसे स्वयं अपवित्र और दुर्गंधमय होजाती है। ऐसी अवस्थामें जो जलादि पवित्र पदार्थ शुद्ध करनेके कारण समझे जाते हैं वे भी इस शरीरके साथ संबंध पाते ही अपवित्र होजाते हैं। यदि सम्यग्दर्शनादि आत्माके शुद्ध गुणोंकी भावना कीजाय अथवा वे गुण धारण किये जांय तो इस जीवकी अत्यन्त निर्मलताको प्रगट कर देते हैं। इसप्रकार वस्तुस्वरूपकी भावना करना अशुचित्वानुप्रेक्षा कहलाती है इस अशुचिभावनाको माननेवाले पुरुषको शरीरसे वैराग्य होजाता है और वैराग्य दशाको धारण करता हुआ वह पुरुष संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये मनको आत्माके गुणोंकी प्राप्तिमें लगाता है अथवा मोक्षप्राप्तिकेलिये यत्न करता है॥ अब आस्रवानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेन्न तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात ॥ ७ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम यहांपर यह शंका उपस्थित होती है कि आस्रव संवर निर्जरा इन तीनोंका वर्णन पहले कहा जा चुका है, फिर उन्हीं तीनोंका यहां दुवारा ग्रहण करना व्यर्थ है? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि आस्रवादिकोंके जो गुण दोष हैं उनका चिंतवन करनेकेलिये यहां सूत्रमें उनका उलेख किया गया है। आस्रवके दोषोंका चिंतवन संसारसे भय पैदा कराता है अथवा कर्मास्रवसे भय पैदा कराता है इसीलिये उसका चिंतवन करना उपयोगी है। पहले जो वर्णन किया गया है वह केवल स्वरूप कथन है यहां उनके गुण दोषोंके चिंतवनकी मुख्यता है इसलिये सूत्रमें ग्रहण करना उनका निरर्थक नहीं है किंतु परम सार्थक है। कर्मोंके जो आस्रव हैं वे इसलोक और परलोकमें जीवकी बहुत बडी हानि करनेवाले हैं दुर्गतिके कारण हैं और उनके कारण अथवा आस्रवस्वरूप जो इंद्रियादिक हैं वे महानदीके प्रवाहके समान तीक्ष्ण हैं उनकी वलवत्ता और तेजीके दृष्टांत इसप्रकार हैं कि–बहुत जौंके समूहके

कर भलेप्रकार पुष्ट किया हुआ शरीर भी भोजनके लिये तो सहायी होजाता है, परंतु दुःख संकटोंके प्राप्त होनेपर वह भी सहायी नहीं होता है। जो धन संपत्ति बडे प्रयत्न और कष्टोंसे इकट्ठे किये जाते हैं वे भी वहीं तक रह जाते हैं दूसरे भवमें वे साथ नहीं जाते हैं, जो मित्रगण दुःख सुखके साथी कहलाते हैं वे भी मरणकालमें रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते, और जो बंधु कुटुम्वी जन हैं वे भी सवके सव रोगसे घेरे हुये जीवको सुखी नहीं कर सकते, हां, यदि अच्छी तरह पालन किया हुआ धर्म साथ हो तो इस दुःख रूपी महासमुद्रमें वह पार होनेके लिये नौकाका काम करता है। जो जीव मृत्युको प्राप्त होरहा है उसे इंद्र आदि भी वचानेकेलिये समर्थ नहीं हैं इसलिए इस संसारके दुख संकटोंमें एक धर्म ही शरण है, यही धर्म जीवका सच्चा मित्र है, यही ऐसा धन है कि जो सदा अविनश्वर रूपसे जीवके साथ आता है। धर्मको छोडकर और कुछ भी इस जीवका शरण पदार्थ नहीं है इसप्रकार भावना भाना अशरणानुप्रेक्षा कहलाती है। इस भावनाके भानेसे चित्तमें सदैव यह भय लगा रहता है कि इस संसारमें मेरा कोई शरण नहीं है, इसप्रकारका भय रहनेसे सांसारिक भावोंसे इस जीवका ममत्वभाव छूट जाता है और भगवान अर्हंतदेव सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रके कहेहुये वचनोंमें ही उनकी दृढता होजाती है फिर उसे अर्हंतदेवके वचन ही शरणभूत विदित होजाते हैं। अव संसार भावनाका स्वरूप कहा जाता है—

द्रव्यादिनिमित्ता आत्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः ॥ ३ ॥

अर्थ—आत्माकी चार प्रकारकी अवस्था होती है, १ संसार २ असंसार ३ नोसंसार ४ और उन तीनों अवस्थाओंसे रहित अवस्था। उनमें अनेक योनियोंके भेदोंकोलिये हुये नरक, तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते रहना इसका नाम तो संसार है। चतुर्गति भ्रमण रूप संसारसे छूट जाना इसका नाम असंसार है। संसारके अभाव होजानेको असंसार कहते हैं, वह असंसार क्या है? मोक्षस्थानमें परम अनुपम स्वात्मीय अमृत रसास्वाद सुखमय जो आत्माकी परम विशुद्ध शरीररहित सिद्धावस्था है

संबंधसे अथवा अफीमके डौडाओंके संबंधसे उत्पन्न हुए मदयुक्त जलमें प्रमादपूर्वक बहुत कालतक स्नान करनेसे और उसी मदसहित जलका पान करनेसे मदोन्मत्त बडे बडे बलवान हाथी, पुरुषों द्वारा जंगलमें तयार किये गये वदमास हथनियोंके जालमें फंसकर स्पर्शनेंद्रियमें आसक्तचित्त होते हुए मनुष्यके अधीन हो जाते हैं मारे जाने, बांधे जाने, सवारी बिठाने, अंकुशसे पीटे जाने, पैरके नीचे एढीमें और कानोंके मूलभागमें, कंधोंमें अंकुशकी चोट खाना, इत्यादि वेदनाओंसे तीव्र दुःखको पाते हैं अर्थात् हथिनियोंके प्रेमबंधनमें फंसकर कामांध हस्ती स्पर्शनेंद्रियके वशीभूत होकर नाना दुखोंको भोगते हैं, और जो सदा अपने हाथियोंके झुंडके साथ स्वच्छंद विहार जंगलोंमें करते थे उस सुखका स्मरण कर करके महान् खेद और दुःखको प्राप्त होते हैं। इसीप्रकार स्पर्शनेंद्रियके वशीभूत कामी मनुष्य बलवान् हाथियोंके समान महान् दुःखोंको भोगते हैं। जो जीव जिह्वा इन्द्रियके विषयोंमें लोलुपी हो रहे हैं वे भी महानदीके तीव्र वेगमें वहते हुए मरे हुए हाथीके शरीर पर बैठे हुए जिह्वालोलुपी कौएके समान दुःखोंको पाते हैं अर्थात् जिसप्रकार मांसलोलुपी कौआ नदीमें वहते हुए मृत हाथीके शरीरपर बैठा हुआ बहने लगता है फिर वह किनारा नहीं पाकर मरणके दुःखको पाता है उसीप्रकार जिह्वालोलुपी जीव नाना दुःखोंको पाते हैं।

नासिका इंद्रियके वशीभूत जीव भी उसीप्रकार नाशको प्राप्त हो जाते हैं जिसप्रकार औषधकी गंधका लोभी सर्प मरणको पा जाता है अर्थात् सर्प औषधकी गंधकी इच्छासे ऐसे संकटापन्न स्थानमें पहुंच जाता है जहां उसका मरण हो जाता है। अथवा भौंरा कमलकी कलीमें बैठकर उसकी गंधकी लोलुपतासे वहांसे निकलता नहीं है और उसीमें अपने प्राणोंको गवां देता है उसीप्रकार गंधलोलुपी जीव प्राणसंकट आदि दुःखोंको पाते हैं। चक्षुइंद्रियके वशीभूत जो जीव हैं वे दीपक देखनेमें लोलुपी पतंगाके समान नाना संकटोंके भाजन बनते हैं। श्रोत्रेन्द्रियके विषय संगमें मगन रहनेवाले जीव गीतोंके

वही जीवका असंसार है। नोसंसार सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंतदेवकी अवस्था है। नोसंसार नाम ईषत् संसारका है, अर्थात् जिनके कुछ संसार वाकी रहा हो वे नोसंसारी कहलाते हैं। श्रीअर्हंतदेवके चारों गतियोंमें भ्रमण करनेका तो अभाव होचुका है इसलिये तो उनके संसार नहीं कहा जासकता, परंतु अभीतक मोक्षप्राप्ति नहीं होनेसे उनके असंसार भी नहीं कहा जासकता है इसलिये संसार भी नहीं है और असंसार भी नहीं है किंतु ईषत् संसार है इसीका नाम नोसंसार है तथा अयोगकेवली चतुर्दश गुणस्थानवर्ती भगवानके संसार असंसार नोसंसार इन तीनों अवस्थाओंका अभाव है, वे इन तीनोंसे रहित चौथी अवस्थावाले हैं उनके चतुर्गतिभ्रमण नहीं रहा है इसलिये तो वे संसारी नहीं हैं सयोगकेवली अर्हंत भगवानके समान उनके आत्मप्रदेशोंका हलन चलन भी नहीं रहा है इसलिये वे नोसंसारी भी नहीं हैं और अभीतक उन अयोगकेवलीभगवानके मोक्षप्राप्ति भी नहीं हो पाई है इसलिये वे असंसारी भी नहीं हैं इसलिये संसार नोसंसार और असंसार इन तीनों अवस्थाओंसे रहित चौथी अवस्थावाले अयोगकेवली होते हैं, संसारी जीवोंके शरीरमें हलन चलन नहीं होनेपर भी उनके प्रदेशोंका हलन चलन होता ही रहता है, इसलिये उनके सदा संसार बना ही रहता है परंतु शरीररहित सिद्ध परमेष्ठी तथा अयोगकेवली भगवानके प्रदेशोंका हलन चलन नहीं होता है, उन दोनोंको छोडकर वाकी समस्त जीवोंके प्रदेशोंका हलन चलन तीनप्रकारका होता रहता है, अर्थात् मानसिक वाचनिक कायिक। इन तीनों भेदोंमें किन्हींके क्रमसे तीनों ही योग होते रहते हैं किन्हींके दो और किन्हींके अवस्था विशेषमें केवल एक ही काययोग रहजाता है। वह संसार अभव्यजीव और भव्य सामान्यकी अपेक्षा तो अनादि निधन है अर्थात् अभव्यजीव और दूरांदूर भव्यजीव मोक्ष कभी नहीं जाते हैं उनके सदा संसार ही रहता है इसलिये उनकी दृष्टिसे संसार अनादि और अनंत है तथा भव्य विशेषकी अपेक्षासे कहीं संसार अनादि और नाशवान भी है अर्थात् सम्यग्दृष्टि भव्य जीवका

शब्दोंमें आसक्त होकर तृणभक्षणको भूल जानेवाले हरिणके समान नाना अनर्थोंके भाजन बन जाते हैं परलोकमें भी अनेक प्रकारके दुःखोंसे प्रज्वलित नाना दुर्गतियोंमें अथवा नाना जातियोंमें भ्रमण करते फिरते हैं। इत्यादि प्रकारसे आस्रवके दोषोंका विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा कहलाती है इस भावनाके चिंतवन करनेसे क्षमादिक धर्मोंमें ही कल्याण है ऐसी बुद्धि फिर सदा स्थिर रहती है ये समस्त आस्रवके दोष कछवेके समान सयमी आत्माके नहीं होते हैं, जिसप्रकार कछवा चारों ओरसे सकुडकर जब मुंह छिपा लेता है तब बाहरका उपद्रव उसपर कुछ असर नहीं करता है, उसीप्रकार संयमी पुरुषके आस्रव नहीं होता है। अब संवरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं जिसप्रकार गंभीर अथाह समुद्रमें कोई पुरुष नावमें बैठकर गमन करते हों और उस नावमें छिद्रके द्वारा पानी भीतर आता हो तो, छिद्र यदि बंद नहीं किया जाय तो क्रम क्रमसे आये हुए जलसे नाव भर जाय और उसमें बैठे हुए पुरुषोंका नियमसे पानीमें डूबकर मरण हो जाय परंतु यदि प्रयत्नपूर्वक झटपट उस नावका छिद्र बंदकर दिया जाय तो जहां जाना है उस अभीष्ट क्षेत्रमें विना किसी विघ्न वाधाके वे पहुंच जाते हैं। उसीप्रकार—

कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबंध इति संवरगुणानुचिंतनं संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

अर्थ—कर्मके आनेके दरवाजेकी रुकावट हो जानेसे फिर कल्याणमार्गका वाधक नहीं रहता है अर्थात् जिन इंद्रिय अविरति क्रिया प्रमाद कषाय योग आदि कारणोंसे कर्मास्रव होता है, उन कारणोंका संवर करनेपर आत्मामें फिर कर्मास्रव नहीं हो पाता है, इस प्रकार संवर गुणका चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा कहलाती है। इसप्रकार इस भावनाका चिंतवन करनेसे संवर धारण करनेमें सदा चित्त सावधान रहता है। अब निर्जरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तं ॥ ९ ॥

अर्थ—वेदनाका विपाक होना अर्थात् बांधे हुए कर्मोंका फल देकर अथवा विना फल दिये खिर

संसार अनादि तो है परंतु अनंत नहीं है कारण वह अर्ध पुद्‌गल परावर्त्तन कालमें उसका नाश कर मोक्षस्थानको नियमसे ग्रहण कर लेगा इसलिये भव्य विशेषकी अपेक्षा संसार अनादि और अंतवाला है। नोसंसार सादि और सनिधन है अर्थात् सयोगकेवली नोसंसारी कहलाते हैं वह उनकी अवस्था सादि भी है और मोक्षप्राप्ति होनेपर नाशवान भी है तथा असंसार अनिधन और सादि भी है अर्थात् मोक्षावस्थाका कभी अंत नहीं होता इसलिये तो वह अनिधन है और संसारपूर्वक है इसलिये सादि है और संसार नोसंसार तथा असंसारसे रहित चौथी अवस्थावाले अयोगकेवलीका समय अंतर्मुहूर्त मात्र है अर्थात् वह चौथी अवस्था सादि और शांत है। संसारके पांच भेद हैं-द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव, उनमें द्रव्य निमित्त संसारके चार भेद हैं-कर्म नोकर्म वस्तु विषय और आश्रयके भेदसे द्रव्य संसारके चार भेद होजाते हैं जैसे जैसे कर्म उदयमें आते हैं और जैसे जैसे नोकर्म उनके सहायी मिलजाते हैं तथा जैसे जैसे वस्तु विषय पडते हैं और जैसा जैसा आश्रयभूत निमित्त मिलता है उसीप्रकार संसारकी दशा होती है। क्षेत्र निमित्त संसारके दो भेद हैं-एक स्वक्षेत्र, दूसरा परक्षेत्र। आत्मा यद्यपि लोकालोकके समान असंख्यात प्रदेशवाला है तथापि कर्मोदयके वशसे वह संकोच विस्तार अवस्थाको भी शरीर परिमाणके अनुसार धारण करता रहता है ऐसी अवस्था धारण करनेवाले आत्माके हीनाधिक प्रदेशरूप परिणामका अवगाहन होना सो स्वक्षेत्र संसार है तथा संमूर्छन गर्भ उपपाद इन तीनप्रकारके जन्म और नौप्रकार योनियोंके भेदसे जो जीवोंका अवलम्बन होता है वह परक्षेत्रसंसार है अर्थात् कर्मोदयवश आत्मीय प्रदेशोंका परिणमन तो स्वक्षेत्र है और जन्म योनि रूप आधार परक्षेत्र है। काल भी दोप्रकार है-एक परमार्थ काल, दूसरा व्यवहारकाल। उन दोनोंप्रकारके कालोंका स्वरूप लक्षण पहले पांचवें अध्यायमें कहाजाचुका है-वहां परमार्थकालरूप सामान्य वर्तनाके द्वारा होनेवाली जो परिस्पंदरूप क्रिया और अपरिस्पंद रूप परिणाम यह तो जीवका परमार्थकाल संसार है और उस निश्चयकालपूर्वक जो

जाना इसीका नाम निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकार है एक अबुद्धिपूर्वक निर्जरा दूसरी बुद्धिपूर्वक निर्जरा, उनको अकुशलमूला और कुशलमूला इन नामोंसे भी क्रमसे कहते हैं। जहां विना बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किये ही अपने आप काल पाकर कर्म उदयमें आकर धीरे धीरे फल देकर खिरते जांय सो तो अबुद्धिपूर्वा अथवा अकुशलमूला निर्जरा है और जो कर्म बुद्धिपूर्वक तप आदि क्रियाविशेषसे असमयमें ही अर्थात् उनका विपाककाल नहीं प्राप्त होनेपर भी खिपा दिये जांय सो बुद्धिपूर्वा निर्जरा अथवा कुशलमूला निर्जरा कहलाती है। उनमें जो नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वा निर्जरा कही जाती है वह नवीन अशुभकर्म बंध करनेवाली है और जो परिषहोंके जीतनेपर तपस्वियोंके निर्जरा होती है वह कुशलमूला अथवा बुद्धिपूर्वक निर्जरा कहलाती है, वह निर्जरा एक तो शुभ कर्मोंका बंध करनेवाली है और दूसरी बंध नहीं करनेवाली है अर्थात् जहां शुभरागपूर्वक निर्जरा होती है वहां तो शुभकर्मोंका बंध होता है और जहां शुद्धोपयोगपूर्वक निर्जरा होती है वहां कोई कर्मबंध नहीं होता है इसप्रकार निर्जराके गुणदोषोंका चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है इसप्रकार इस निर्जरानुप्रेक्षाका चिंतवन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा करनेकेलिये परिणामोंकी प्रवृत्ति होजाती है॥ अब लोकानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः ॥ १० ॥

अर्थ—लोकके आकार लंबाई चौडाई आदिकी विधि तो पहले कही जाचुकी है चारों ओर व्यापक अनंत जो अलोकाकाश है उसके वहुत बडे मध्यदेशमें ठीक बीचमें लोक है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश काल जीव पुद्गल इन छह द्रव्योंसे भरा हुआ अथवा इन छह द्रव्योंका समूह रूप लोक है। उसके आकारादिकी विधि पहले पांचवें अध्यायमें कही जाचुकी है उसलोकके स्वभावका अथवा उसके स्वरूपका चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा कहलाती है इसप्रकार इस लोकभावनाके भानेसे पुरुषको तत्त्व-

उपचरितकाल व्यवहार होता है भूत भविष्यत वर्तमान व्यवहार भेद रूप वह जीवका व्यवहार काल कह-लाता है । भवनिमित्त संसारके बत्तीस भेद हैं, वे इसप्रकार हैं—पृथिवी, जल, तेज और वायुकायिक जीवोंमें सूक्ष्म वादर पर्याप्त और अपर्याप्तक भेदोंकी अपेक्षासे प्रत्येकके चार चार भेद हो जाते हैं, अर्थात् पृथिवीकायिक जीवोंमें कोई सूक्ष्म होते हैं कोई वादर होते हैं कोई पर्याप्तक होते हैं और कोई अपर्याप्तक होते हैं, इसीप्रकार जलकायिक जीव अग्निकायिक जीव और वातकायिक जीवोंके भी सूक्ष्मादि चार भेद हैं। सोलह भेद तो ये हुए। तथा वनस्पतिकायिक जीवोंके प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर ऐसे दो भेद हैं, उनमें भी जो प्रत्येक शरीर हैं वे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं और साधारण शरीरवाले जीवोंके चार भेद हैं—सूक्ष्म वादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इसप्रकार वनस्पतिकायिक जीवोंके छह भेद हो गये। तथा द्वींद्रिय जीव त्रींद्रिय जीव और चतुरिंद्रिय जीव इन विकलत्रय जीवोंमें प्रत्येकके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे दो भेद हैं। इसप्रकार विकलत्रय जीवोंके भी छह भेद हुए, तथा पंचेंद्रिय जीवोंके संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तककी अपेक्षासे चार भेद हैं, इन सब भेदोंके जोडनेसे वत्तीस भेद संसारी जीवोंके हो जाते हैं। उनमें एकेंद्रिय जीवोंके बावीस भेद हैं और दश भेद त्रस जीवोंके हैं। इन वत्तीस प्रकारके भवोंको यह संसारी जीव धारण करता रहता है इसलिये भवनिमित्त संसारके बत्तीस भेद कहे गये हैं। भावनिमित्त संसारके दो भेद हैं—एक स्वभाव, दूसरा परभाव। मिथ्यादर्शनादिक जो कर्मोदयजनित जीवके वैभाविक भाव हैं वे तो संसारी जीवके स्वभाव कहे जाते हैं और ज्ञानावरणादि फलको देनेवाले जो ज्ञानावरणादिक आठ कर्म हैं वे परभाव कहलाते हैं। इन जीवके वैभाविक रूप मिथ्यादर्शनादि निजभाव और ज्ञानावरणादि कर्मरूप परभावोंके द्वारा भी संसारी जीवका संसार बढता रहता है। इसप्रकार इस अनेकानेक खोटी योनियों और अनेक लाखों कुलकोटियोंमें भ्रमण करानेवाले संकटोंसे भरे हुए संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मरूपी यंत्रसे प्रेरित होता हुआ पिता और

ज्ञानकी विशुद्धि प्राप्त होती है अर्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझने और विचार करनेसे सम्यग्ज्ञानमें निर्मलता आती है। अब बोधिदुर्लभभावनाका स्वरूप कहते हैं—

रत्नत्रयस्वभावादिलाभस्य कृच्छ्रात्प्रतिपत्तिः बोधिदुर्लभत्वं ॥ ११ ॥

अर्थ—बोधि नाम सम्यग्ज्ञानका भी है। रत्नत्रय स्वभावका भी है। उस रत्नत्रय स्वभावकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है महान् शुभ तीव्र कर्मोदयसे उसकी प्राप्तिका सुयोग किन्हीं भव्य जीवोंको मिलता है उसीका स्पष्टीकरण थोडासा यहांपर किया जाता है। श्रीगोम्मटसारमें कहा है कि—

एकणिगोद शरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धे हि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

इस आगम प्रमाणसे एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीव द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं सो कहते हैं कि सर्वज्ञ श्रीअर्हंतदेवने अपने अतींद्रिय ज्ञानमें प्रत्यक्ष किये हैं कि जितने सिद्धसमूह सिद्धालयमें विराजमान हैं उनसे अनंतगुणे हैं, अथवा आजतक जितने उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंके समय बीतचुके हैं अनादिकालसे लेकर अबतक उन सब समयोंसे भी अनंतगुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें होते हैं ऐसी अनंत निगोदराशि संसारमें अनंतानंत शरीरोंमें विद्यमान है। इसप्रकार यह समस्त लोकाकाश स्थावर जीवोंसे सदा खचाखच भरा रहता है इस स्थावरोंसे भरे हुये लोकमें स्थावर पर्यायसे निकलकर त्रस पर्याय पाना इतना कठिन है कि जैसे एक बहुत बडे बालूके समुद्रमें गिरी हुई हीरेकी अतिसूक्ष्म कणीका मिलजाना अत्यंत दुर्लभ है। यदि भाग्यने जोर मारा तो स्थावरसे निकलकर त्रसपर्याय इस जीवने पा भी ली तो फिर त्रसोंसे द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय ये विकलत्रय बहुत हैं उन्हींमें यह पैदा हो जाता है और वहीं पर बहुतसा काल बीत जाता है। उन विकलत्रय पर्यायोंसे निकलकर पंचेन्द्रियपना पाना उतना ही कठिन है जितना कि गुणोंके विद्यमान रहने पर भी कृतज्ञताका पाना बहुत दुर्लभ है

पितमह अर्थात् पिताका पिता होकर फिर वही भाई, पुत्र और नाती होजाता है। माता होकर फिर वहन स्त्री और पुत्री होजाता है। अधिक क्या कहा जाय स्वयं अपनाही पुत्र हो जाता है, इसप्रकार संसारके स्वभावका चिंतवन करना संसारानुप्रेक्षा कहलाती है। इसप्रकार इस भावनाके चिंतवन करनेसे जीव संसारके दुःखोंसे भयभीत हो जाता है फिर उसे उससे वैराग्य हो जाता है और वैराग्य धारण करके वह संसारको नष्ट करनेकेलिये अर्थात् मोक्ष प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करने लग जाता है। अब एकत्व भावनाका स्वरूप कहते हैं—

जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षत्वमेकत्वं ॥ ४ ॥

अर्थ—एकपना और अनेकपना ये दोनों ही द्रव्यक्षेत्रकालभावके भेदसे चार चार प्रकार हैं अर्थात् एकत्व अनेकत्व दोनोंके ही द्रव्यक्षेत्रादि चारों विषय हैं। उनमें द्रव्यकी अपेक्षा अथवा द्रव्यको विषय करनेवाला एकपना क्या है? उसीको कहते हैं—जीवादिक छह द्रव्योंमें किसी एक द्रव्यको विषय करनेसे उसमें अभेद कल्पना करना इसीका नाम द्रव्यैकत्व है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सभी द्रव्योंमें एकपना है अथवा जिस अन्यतम द्रव्यको विषय किया गया है वह भी प्रदेशभेद होनेपर भी द्रव्यदृष्टिसे एक है, यही द्रव्यैकत्व अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे एकपना है। परमाणुके समान अवगाहनावाला प्रदेश होता है अर्थात् क्षेत्रविभाग प्रदेशोंकी अपेक्षा होता है, प्रत्येक द्रव्यका प्रदेशक्षेत्र परमाणुके बराबर अवगाहना वाला होता है यही क्षेत्रकी अपेक्षा एकपना है। सब द्रव्योंका एक ही समय है यही कालकी अपेक्षा एकपना है अर्थात् समस्त द्रव्योंका परिणमन एक समयमें होता है अथवा सब द्रव्योंका उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक परिणाम एक ही समयमें हो जाता है तीनों अवस्थाओंका एकही समय है यही कालकी अपेक्षा एकपना है। सभी जीवोंका एकही रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग है अर्थात् किसी भी जीवको मोक्षकी प्राप्ति होगी तो एक रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्गसे ही होगी, और दूसरा कोई मार्ग नहीं है यही भावकी अपेक्षा एकपना है

अर्थात् किये हुये उपकारको कभी भूलना नहीं इस गुणकी प्राप्ति हर एकमें नहीं होती। यदि पंचेन्द्रिय पर्याय भी दैवयोगसे इस जीवको मिलगई तो फिर पंचेन्द्रियोंमें पशु मृग पक्षी सर्प आदि नाना पर्यायोंमें जन्म मरण धारण करता रहता है उनमेंसे निकलकर मनुष्य पर्याय इतना कठिन है जितना कि चौपथ मार्गमें (जहां अनेक मनुष्य आते जाते हैं उस मार्गमें) रत्नोंकी प्राप्ति दुर्लभ है। यदि सुदैवसे किसीप्रकार मनुष्यपर्याय इस जीवको मिल भी जाय तो फिर उसके एक वार छूट जानेपर फिर उस मनुष्यपर्यायकी दुबारा प्राप्ति इतनी दुर्लभ है जितनी कि किसी जलाकर भस्म किये गये वृक्षके भस्म रूप परमाणुओंका कभी फिर वृक्षरूप परिणत होना महा कठिन है। यदि दुबारा भी किसीप्रकार मनुष्यपर्याय मिलगई तो फिर धर्मकर्मविहीन अनेक ऐसे खोटे देशोंमें उत्पन्न होजाता है जहांपर कि मनुष्योंमें हिताहितका कुछ विवेक नहीं है जिनका जीवन चाहे जैसा भक्ष्य अभक्ष्य खाने, चाहे जैसा नीचातिनीच दुर्व्यवहार करने आदिरूप धर्मकर्मरहित ब्यतीत होता है ऐसे अनेक देश हैं उन्हींमें उत्पन्न होकर यह जीव मनुष्य पर्याय पाकर भी उस पर्यायसे आत्मकल्याण नहीं कर सकता है। उन खोटे देशोंसे बचकर सुदेशमें जन्म पाना उतना ही कठिन है जितना कि अनेक पाषाणोंके बीचमें मणिका पाना अत्यंत दुर्लभ होता है। यदि सुदेशमें भी जन्म मिल जाय तो फिर अच्छे कुलमें जन्म पाना बडे ही भाग्यसे विरलोंका होता है क्योंकि लोक ऐसे अनेक मनुष्योंके कुलोंसे भरा हुआ है जो पापकर्मसे आजीविका करनेवाले हैं ऐसे खोटे कुलोंमें उत्पन्न होनेसे लाभके बदले उलटा बहुत बडा जीवका अहित होता है। उत्तम कुलमें भी उत्तम जाति और मिलजाय तो वह शील विनय आचार बिचार आदि श्रेष्ठ उत्तमाचरणरूपी संपत्तिके करने-वाली होती है यदि उत्तम वंश और उत्तम जातिरूप संपत्ति की प्राप्ति होभी जाय तो दीर्घ आयुका पाना इन्द्रियोंका ठीक ठीक पाना बलका पाना रूपका पाना निरोगताका पाना आदि सब बातें बडी कठिन-तासे मिल पाती हैं यदि यह सब सामग्री दीर्घ आयु इंद्रियादिक ठीक नहीं मिल सकीं तो फिर उत्तम

इसीप्रकार द्रव्यादिककी अपेक्षा अनेकपना घटित कर लेना चाहिये। उसका खुलासा इसप्रकार है–सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूपकी अपेक्षा जुदी जुदी हैं, यह द्रव्यकी अपेक्षा अनेकपना है। सभी द्रव्य प्रदेशोंके भेदसे भिन्न भिन्न हैं यह क्षेत्रकी अपेक्षा अनेकपना है। सभी द्रव्योंका परिणमन जुदा जुदा है यही कालकी अपेक्षा अनेकपना है. मोक्षमार्ग एक होनेपर भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र दशधर्म पंचमहाव्रत पंचसमिति त्रिगुप्ति पंचचारित्र इत्यादि भदोंकी अपेक्षा वह अनेक भी है यही भावकी अपेक्षा अनेकपना है। कोई भी वस्तु सर्वथा एक ही हो ऐसा भी नहीं है और सर्वथा अनेक ही हो ऐसा भी नहीं है, किन्तु विवक्षाभेदसे एकपना और अनेकपना प्रत्येक वस्तुमें घटित हो जाता है। सामान्यविवक्षासे वस्तुमें एकपना भी है और विशेषविवक्षासे उसमें अनेकपना भी है। ऐसी अवस्थामें जो जीव वाह्य और अभ्यंतर परिग्रह तृष्णाका त्याग कर चुका है और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे एकत्व निश्चयको प्राप्त कर लिया है उसका यथाख्यात चारित्रमें लीन होजाना यही मोक्षमार्ग है यही भावकी अपेक्षा एकपना है इस एकत्व निश्चयको जो धारण कर रहा है वह यह विचार करता है कि उस मोक्षमार्गको मैं अकेला ही प्राप्त कर सकता हूं दूसरे कोई भी बंधु उस मोक्षमार्गकी प्राप्ति मुझे नहीं करा सकते हैं। अथवा मेरा कोई भी अपना कुटुम्बीजन या दूसरा पुरुष व्याधि बुढापा मरण आदि दुःखोंसे बचा भी नहीं सकता है। वे सब दुःख भी मुझ अकेलेको ही भोगने पडते हैं। जितने भी सगे हैं जो परम हितैषी मित्र हैं वे सभी इस जीवके मरण कर जानेपर स्मशान तक ही जाते हैं इसके आगे वे कहीं नहीं जाते। परभव तक साथ देनेवाला धर्म ही मेरा सहायी मित्र है, वह सदा अविनश्वररूपसे साथ रहता है, साथ जाता है इसलिये उसीकी प्राप्तिमें तत्पर होना चाहिये इसप्रकार चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा कहलाती है। इसप्रकार इस एकत्वभावनाके भानेसे अपने कुटुंवियोंमें मोह नहीं उत्पन्न होता है और परजनोंमें द्वेष भी नहीं होता है। राग द्वेषके छूट जानेपर वह जीव परिग्रहको भी छोडनेमें समर्थ हो

बंश और उत्तम जातिमें जन्म लेकर भी कुछ विशेष लाभ नहीं होपाता उन सब सामग्रियोंके पाने पर भी यदि समीचीन श्रेष्ठधर्म दिगम्बर जैनधर्मका लाभ नहीं मिले तो भी जन्म व्यर्थ चला जाता है उससे कुछ हित नहीं होसकता। जिसप्रकार मुख विना नेत्रोंके व्यर्थ है उसीप्रकार बिना सद्धर्म प्राप्तिके उत्तम कुल जात्यादि सामग्री भी व्यर्थ है। यदि परम भाग्योदयसे कठिनतासे मिलनेवाला सद्धर्म भी पालिया तो फिर उसको पाकर भी विषयसुखोंमें रंजायमान होजाना अर्थात् भोग उपभोगोंके सेवनमें लग बैठना ऐसा बुरा है जैसा कि वर्तन मांजनेके लिये राख (भस्म) तयार करनेकेलिये चंदनको जला डालना बुरा है अर्थात् परम सुगंधित मलयागिरि चंदनका जैसे कोई मूर्ख उसे राखके लिये जलाकर दुरुपयोग कर डालता है उसीप्रकार वह मूर्ख है जो सद्धर्मको पाकर भी इंद्रियविषयोंमें फंस जाता है और सद्धर्मसे कुछ भी लाभ नहीं लेसकता है। जो पुरुष इंद्रिय विषयोंसे विरक्त भी हो तो फिर तपोभावना, धर्मप्रभावना सुख शांतिसे मरण होना आदि समाधिकी प्राप्ति होना उसकेलिये बहुत दुर्लभ है यदि सद्धर्मकी प्राप्ति भी हो विषयोंसे विरक्ति भी हो और तपकी भावना, धर्मप्रभावना समाधिमरण आदि समस्त योग मिल जांय तभी बोधिलाभ अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयकी प्राप्ति सफल होती है। इसप्रकार रत्नत्रय प्राप्तिकी कठिनता और उसकी सफलताका विचार करना वोधिदुर्लभवानुप्रेक्षा कहलाती है। इसप्रकार इस भावनाके भानसे बोधिकी प्राप्ति होती है और उसके प्राप्ति होनेके साथ उसमें कभी प्रमाद या असावधानी नहीं होती है। अब धर्मानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः ॥ १२ ॥

अर्थ—चौदह जीवस्थान और चौदह गुणस्थानोंका स्वरूप पहले कहा जाचुका है। विशेष इनका कथन गोम्मटसारसे जान लेना चाहिये। उन जीवस्थान गुणस्थानोंका गत्यादिक चौदह मार्गणाओंमें स्वस्वरूपतत्त्वका विचार करना ही धर्म है इसी धर्मका स्वरूप जिनेन्द्रदेवके शासनमें आगममें भले प्रकार

जाता है और निष्परिग्रहताको धारणकर मोक्षके लिये प्रयत्नशील हो जाता है। अब अन्यत्व भावनाका स्वरूप——

शरीराद्व्यतिरिक्तो लक्षणभेदादन्यत्वं ॥ ५ ॥

अर्थ—अन्यत्वके चार भेद हैं–नाम स्थापना द्रव्य भाव इनके भेदोंसे। उनमें आत्मा जीव ये दो नाम भेद हैं। काष्ठ पाषाण आदिकी प्रतिमामें स्थापनाभेद है। कोई काष्ठकी प्रतिमा है कोई पाषाणकी है कोई धातुकी है इत्यादि भेदसे स्थापनामें भेद है अथवा कोई तदाकारस्थापनारूप है कोई अतदाकार स्थापना रूप है इसप्रकार भी स्थापना भेद है। जीवद्रव्य अजीवद्रव्य इत्यादि भेदसे द्रव्यमें भेद है तथा एक ही द्रव्यमें यह बालक है यह युवा है यह मनुष्य है यह देव है ऐसा भावसे अन्यपना है। बंधकी अपेक्षा जीवद्रव्य और अजीवद्रव्यमें यद्यपि एकपना है तो भी लक्षणभेदसे उनमें भेद ही है इसलिये कुशल पुरुषके प्रयोगकी अपेक्षा आत्मा और शरीरमें अन्यपना प्रतीत ही होता है अर्थात् सम्यग्ज्ञानधारी पुरुषका चारित्ररूप परिणमन आत्माको शरीरसे जुदा सिद्ध कर देता है आत्माके अनंत अत्याज्य जो ज्ञानादि गुण हैं, उन आत्मीयगुणोंकी पूर्ण निर्मलता अथवा पूर्ण प्रगटता होजाना यही मुक्ति है उसीको मोक्षस्थान कहते हैं वह शरीरसे सर्वथा जुदी वस्तु है। शरीर वर्णादिमान् है आत्माकी अनंत गुणमय शुद्धावस्था अमूर्तस्वभाव है और शरीर छूट जाता है तभी आत्मा मोक्षावस्थाको प्राप्त करता है इसलिये शरीरसे वह सर्वथा अन्य है। उक्त परमशुद्ध आत्माकी मोक्षप्राप्तिकेलिये शरीरादिसे भिन्नताका चिंतवन इसप्रकार करना चाहिये कि शरीर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है परंतु मैं अतींद्रिय हूं इंद्रियोंका विषय मैं नहीं हूं। शरीर जड है, मैं ज्ञान दर्शनवाला चेतन हूं, शरीर अनित्य है मैं नित्य हूं, शरीरकी आदि अंत दोनों हैं मैं अनादि अनंत हूं। इससंसारमें परिभ्रमण करते हुये मैंने लाखों अनंतों शरीर धारणकर छोड दिये हैं परंतु मैं उन सबसे भिन्न नित्य चेतन जुदा ही रहा हूं। इसप्रकार जब मैं इस घनि-

कहा है। अब यहांपर गति आदि चौदह मार्गणाऐं क्या हैं ? उनका स्वरूप कहते हैं—१ गति, २ इंद्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञित्व, १४ आहार ये चौदह मार्गणाऐं हैं। गमन करनेका नाम गति है अथवा कर्मोदयवश जिस गतिमें जीव ले जाया जाय सो गति है तथा कर्मके अभावमें जो शुद्ध जीवका गमन होना सो भी गति है इसीलिये उस गतिके दो भेद हैं—एक कर्मोदयसे होनेवाली गति, दूसरी कर्मके क्षयसे होनवाली गति। कर्मोदयसे होनवाली गतिके चार भेद हैं, १ नरकगति २ तिर्यग्गति ३ मनुष्यगति ४ देवगति। कर्मोंके क्षयसे होनेवाली गति एकप्रकार है वह मोक्षगति कहलाती है। इंद्र नाम आत्माका है, इंद्रका लिंग साधनभूत सो इंद्रिय कहलाती है। अथवा इंद्र नाम कर्मका भी है नामकर्मसे जो रची जाय सो भी इंद्रिय कहलाती है। वह दो प्रकार है—एक द्रव्येन्द्रिय दूसरी भावेन्द्रिय। वह पांच प्रकार है—एकेन्द्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय। इनमें पाचों द्रव्येन्द्रिय तो कर्मकृत हैं और भावेन्द्रिय मतिज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे होती हैं। यह भावेन्द्रिय भी कर्मकृत कहलाती है क्योंकि कर्मोंकी अपेक्षा उसमें भी है। आत्माकी अतींद्रिय क्षायिक अवस्था है। वह ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयसे होती है आत्माकी प्रवृत्तिसे संगृहीत पुद्गल पिंडकाय कहलाता है अथवा आत्माकी प्रवृत्तिमें उपचरित कारणभूत जो पुद्गल पिंड है वह काय कहलाता है। उस कायसे सबंध रखनेवाला जीव छह प्रकार है—पृथिवीकायिक जलकायिक तेजस्कायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। जो जीव पृथिवीकायमें रहता हो वह पृथिवीकायिक कहलाता है, जो जल कायमें रहता है वह जलकायिक कहलाता है इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी अवस्थाको स्थावर कहते हैं और त्रस नामकर्म विशेषके उदयसे होनवाली जीवकी पर्यायको त्रस कहते हैं और जो नामादि कर्मोंका अत्यंत नाश करके आत्माकी शुद्धावस्था प्राप्त कर लेते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। वे कायरहित अकाय होते हैं।

नहीं हो सकता उसीप्रकार यदि आत्मसंयोग और प्रयत्नको हस्त आदिमें क्रियाका कारण माना जायगा तो उन्हें क्रियावान द्रव्यका गुण मानना होगा, क्रियारहित द्रव्यके गुण माने जानेपर वे कभी हस्त आदि परपदार्थोंमें क्रियाके कारण नहीं हो सकते इसरीतिसे अग्निसंयोग दृष्टांतसे आत्मा क्रियावान ही सिद्ध होता है निष्क्रिय नहीं, जैसा कि हमें इष्ट है। और भी यह बात है कि—

तत्सामर्थ्याभावाच्च ॥ १० ॥

आत्माका संयोग और प्रयत्नको निष्क्रिय सिद्ध करनेके लिये जो अग्निसंयोग दृष्टांत दिया गया है वह असिद्ध है क्योंकि संयोग पदार्थ अनुष्णाशीत अर्थात गुणमें गुण न रहनेके कारण उष्णस्पर्श और शीतस्पर्शसे रहित है, अप्रेरक—प्रेरणा करनेवाला भी नहीं है। अनुपघाती—किसीका नाश करनेवाला भी नहीं है और अप्राप्त अर्थात गुण निष्क्रिय माने जानेपर वह जाकर भी कहीं प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए रूप आदिके विनाश और उत्पादमें उसका कारणपना असंभव है इसरीतिसे जब अग्निसंयोगरूप दृष्टांत ही असिद्ध है तब दार्ष्टांतरूप आत्मसंयोग और प्रयत्नमें वह निष्क्रियपना सिद्ध नहीं कर सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

गुरुत्ववदिति चेन्न तुल्यत्वात ॥ ११ ॥

गुरुत्वका अर्थ भारीपना है। यह गुण पदार्थ है इसीलिये नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने उसे निष्क्रिय पदार्थ माना है। यहां उनका यह कहना है कि जिसप्रकार लोहके पिंडमें रहनेवाला क्रियारहित भी गुरुत्व तृण आदि पदार्थोंमें क्रियाका कारण माना जाता है उसीप्रकार आत्मसंयोग और प्रयत्न पदार्थ क्रियारहित होनेपर भी वे हाथ आदिमें क्रियाके कारण हो सकते हैं, कोई दोष नहीं ? यह कहना भी

अयुक्त है क्योंकि गुरुत्व दृष्टांत भी ऊपर कहे हुए अग्निसंयोगरूप दृष्टांतके ही समान है। खुलासा इसप्रकार है—

जिसप्रकार क्रियावान लोहेके पिंडमें रहनेवाला गुरुत्वगुण तृण आदि परपदार्थोंमें क्रियाका कारण माना जाता है उसीप्रकार यदि आत्माका संयोग और प्रयत्नको हस्त आदिमें क्रियाका कारण माना जायगा तो उन्हें भी क्रियावान द्रव्यके गुण मानने पडेंगे, निष्क्रिय द्रव्यके गुण होकर वे हस्त आदिकी क्रियामें कारण नहीं हो सकते। इस रीतिसे आत्माका क्रियावानपना युक्तिसिद्ध है तथा—गुरुत्व पदार्थ क्रियारहित, स्पर्शरहित, प्रेरणा न करनेवाला और अनुपघाती माना है इसलिए वह हस्त आदि अन्य पदार्थोंकी क्रियाका कारण नहीं हो सकता किंतु आत्मद्रव्य ही स्वयं क्रियारूप परिणत होकर हस्त आदिमें क्रियाका कारण है इस रीतिसे जब गुरुत्वरूप दृष्टांत असिद्ध है तब वह आत्माका संयोग और प्रयत्नमें निष्क्रियत्वका साधक नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

धर्मास्तिकायवदिति चेन्न वैषम्यात् ॥ १२ ॥

जिसतरह धर्मास्तिकाय निष्क्रिय होकर भी जीव और पुद्गलोंके गमनमें कारण माना है उसी-प्रकार निष्क्रिय आत्माका संयोग और प्रयत्न भी हस्त आदिमें क्रियाके कारण हो सकते हैं कोई दोष यहां नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं। धर्मास्तिकायको जीव पुद्गलोंके गमनके प्रति प्रेरणा करने-वाला न मानकर उदासीन कारण माना है क्योंकि क्रियारहित पदार्थ भी सहायक होता दीख पडता है यह संसार प्रसिद्ध वात है परंतु जो वादी हस्त आदिकी क्रियामें आत्मसंयोगको कारण मानते हैं वे उसे प्रेरणा करनेवाला कारण मानते हैं परंतु निष्क्रिय पदार्थका गुण प्रेरणा करनेवाला हो नहीं सकता इस

वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली जो वीर्य और ज्ञानरूप लब्धि उस लब्धिपूर्वक जो आत्माके मनोवर्गणा वचनवर्गणा और कायवर्गणाका अवलंबनविशिष्ट प्रदेशोंका परिस्पंदरूप उपयोग सो योग कहलाता है। अर्थात् मन वचन काय वर्गणाओंके अवलंबनसे आत्मप्रदेशोंके हलन चलन रूप जो कर्म ग्रहण करनेकी शक्ति सो योग कहलाता है। वह योग पंद्रह प्रकार है—चार मनोयोग चार वचनयोग और सातप्रकार काययोग। योग संबंधका अभाव हो जाना सो आत्माका क्षायिकभाव है। उस क्षायिकभाव होनेपर फिर आत्मामें कर्मग्रहण नहीं होता है। मनोयोगके चार भेद इसप्रकार है—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग। वचनयोगके भी इसीप्रकार चार भेद हैं—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग। काययोग सात प्रकार है, उसके भेद ये हैं—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग, इसप्रकार पंद्रह भेद योगके हैं। आत्माकी प्रवृत्तिमें जो मोह पैदा करनेवाला है उसे वेद कहते हैं, वह वेद नोकषायविशेषके उदयसे उत्पन्न होता है और उसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद। आत्मामें जो औपशमिक भाव और क्षायिकभाव प्रगट होता है वह वेदरहित है अर्थात् वेद आत्माकी औदयिक अवस्था है, वह स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद नोकषायके उदयसे होनवाली आत्माकी विकारमय अवस्था है। आत्माके चारित्र परिणामोंको कषनेवाला अर्थात् उन्हें क्षीण अथवा नष्ट करनेवाला कषाय कहलाता है। वह चार प्रकार क्रोध मान माया लोभ इन लक्षणोंसे कहा गया है। आत्माका औपशमिक और क्षायिकभाव अकषायभाव कहलाता है। तत्त्वाथाका भलेप्रकार सम्यक् बोध होना सो ज्ञान है, यह ज्ञान पांच प्रकार बताया गया है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मिथ्यादर्शनके उदयसे जो आत्माके परिणामोंमें मलिनता होना अर्थात् ज्ञानमें विपरीतपना होना सो अज्ञानभाव है वह तीन

चौइंद्रिय पर्यंत केवल नपुंसक लिंगी होते हैं और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानपर्यंत पुंवेद स्त्रीवेद नपुंसकवेद तीनों वेदवाले होते हैं। मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। मिथ्यात्वसे लेकर अनिवृत्तवादर सांपराय पर्यंत मनुष्य वेदसहित होते हैं उससे ऊपर वेदरहित होते हैं। देव चारो गुणस्थानोंमें स्त्रीवेदी और पुंवेदी होते हैं अर्थात् देवियोंमें स्त्रीवेद और देवोंमें पुंवेद होता है। कषाय मार्गणाकी अपेक्षा—क्रोध मान माया इन तीन कषायोंमें एकेन्द्रियसे आदि लेकर अनिवृत्ति वादर सांपराय तक गुणस्थान होते हैं। लोभ कषायमें पहलेसे लेकर दशवें सूक्ष्म सांपरायतक गुणस्थान होते हैं। उससे ऊपर चारो ही गुणस्थान कषायरहित हैं। ज्ञान मार्गणाकी अपेक्षा—कुमति कुश्रुत ज्ञानोंमें एकेन्द्रियसे लेकर सासादन सम्यग्दृष्टि पर्यंत पहला दूसरा ऐसे दो गुणस्थान होते हैं। विभंगावधिमें संज्ञी मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन सम्यग्दृष्टि पर्याप्तकही होते हैं, अपर्याप्तक नहीं होते हैं। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, कुमति कुश्रुत और विभंगावधि इन तीनों ज्ञानोंमें होते हैं, क्योंकि कारणके समान ही कार्य होता है। ये तीनों ज्ञान मिथ्यात्व अनंतानुबंधी और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके उदयमें होते हैं और पहले दूसरे तीसरे गुणस्थानवाले होते हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों सम्यग्ज्ञानोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानतक नौ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्यय ज्ञानमें प्रमत्त संयतसे आदि लेकर क्षीणकषाय पर्यंत सात गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञानमें तेरहवां और चौदहवां ऐसे दो गुणस्थान होते हैं। संयम मार्गणाकी अपेक्षा—सामायिक छेदोपस्थापना संयमोंमें प्रमत्त संयतसे आदि लेकर अनिवृत्ति वादर सांपराय तक चार गुणस्थान होते हैं। परिहारविशुद्धि संयममें प्रमत्त और अप्रमत्त ऐसे दो गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्मसांपराय संयममें एक सूक्ष्मसांपराय नामका ही गुणस्थान होता है। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयममें चार गुणस्थान—उपशांतकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक होते हैं। संयमासंयममें एकही गुण-

प्रकार है, कुमति कुश्रुति कुअवधि। व्रतोंका धारण करना, समितिका पालन करना, कषायोंका निग्रह करना, इंद्रियों पर विजय करना इसीका नाम संयम है। उसके पांच भेद—सामायिक छेदोपस्थापना आदि रूपसे आगे कहे जांयगे। संयमभाव और संयमासंयमभाव ये दोनों पहले कहे जाचुके हैं। यह सब प्रकारका चारित्रभाव चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमसे क्षयोपशमसे और क्षयसे होता है। इन तीनों परिणामोंसे रहित जो जो असंयम भाव है वह दर्शन मोहनीयके उदयमें तो पहले गुणस्थानमें होता है। अनंतानुबंधी कषायके उदयमें दूसरेमें होता है और सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयमें तीसरे गुणस्थानमें होता है और चौथे गुणस्थानमें वह असंयमभाव दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कषायके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होता है। यहांपर क्षयोपशमसे प्रयोजन सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली छह प्रकृतियोंके उपशम तथा केवल सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे है, अनंतानुबंधीका उदय अपेक्षित नहीं है।

दर्शनावरण कर्मके क्षय और क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाला जो देखनेरूप प्रवृत्ति सो दर्शन है। वह चार प्रकार है—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन। कषायोदयकी तीव्रता और मंदताको लिये हुये जो योगोंकी प्रवृत्ति उसीका नाम लेश्या है। वह छह प्रकार है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतीलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ये छह उसके भेद हैं। इन छहों लेश्याओंके दो भेद हैं, एक द्रव्यलेश्या दूसरी भावलेश्या। इनमें शरीरनाम कर्म और वर्ण नाम कर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण होता है वह तो द्रव्य लेश्या है और कषायोदय विशिष्ट आत्माके भावोंमें जो रागभाव है वह भाव लेश्या है और जो आत्माका लेश्यारहित परिणाम है वह क्षायिक भाव है। मोक्षके योग्य जो पात्र है वह तो भव्य भाव है और उससे उल्टा जो भाव है वह अभव्य है। ये भव्य अभव्य दोनों ही जीवके परिणामिक भाव हैं अर्थात् इन भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों भावोंमें कर्मके उदय उपशम क्षय क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है किंतु स्वभावरूपसे ही आत्माके भाव हैं। भव्यात्मामें भव्यभाव हैं और अभव्य

स्थान संयमासंयम अथवा देशसंयम नामक होता है। असंयममें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। दर्शन मार्गणाकी अपेक्षा—चक्षुदर्शनमें चक्षुरिन्द्रियको आदि लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ पर्यंत बारह गुणस्थान आदिसे होते हैं, अचक्षु दर्शनमें एकेन्द्रियसे आदि लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ पर्यंत गुणस्थान होते हैं, अवधि दर्शनमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे आदि लेकर वीतराग छद्मस्थ पर्यंत नौ गुणस्थान होते हैं। केवल दर्शनमें सयोग केवली अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान होते हैं। लेश्याकी अपेक्षा—आदिकी तीन लेश्याओंमें एकेन्द्रियसे आदि लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यंत चार गुणस्थान आदिके होते हैं। तेजोलेश्या और पद्मलेश्या इन दो लेश्याओंमें संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक पहलेसे सातवें तक गुणस्थान होते हैं। शुक्ललेश्यामें संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत आदिसे तेरह गुणस्थान होते हैं परंतु ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें लेश्या उपचारसे है अयोगकेवली लेश्यारहित हैं। भव्य मार्गणाकी अपेक्षा—भव्यमें चौदहो गुणस्थान होते हैं। अभव्यके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। सम्यक्त्व मार्गणाकी अपेक्षा—क्षायिक सम्यग्दर्शनमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली पर्यंत सभी गुणस्थान होते हैं, वेदक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्त पर्यंत चार गुणस्थान होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर उपशांत कषाय तक आठ गुणस्थान होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टिमें दूसरा सासादन सम्यग्दृष्टि गुण-स्थान होता है। सम्यङ्मिथ्यात्वमें सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्वमें पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। नारकियोंमें पहली पृथिवीमें क्षायिक सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं और सभी असंयत सम्यग्दृष्टि होते हैं। कारण नरकोंमें चौथे गुणस्थानसे ऊपर गुणस्थानही नहीं होते हैं। बाकी दूसरी आदि पृथ्वीवाले नारकियोंमें वेदक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं अर्थात् दूसरी आदि पृथियोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता, कारण क्षायिक

आत्मामें अभव्य भाव हैं तथा भव्यत्त्व और अभव्यत्त्व दोनों भावोंसे रहित मुक्तावस्था है अर्थात् सिद्ध-भाव दोनों भावोंसे रहित है इसका विशेष यह समझलेना चाहिये कि अभव्य भाव तो सिद्धोंके होता है ही नहीं कारण कि अभब्य जीवको कभी मुक्ति होती ही नहीं है किंतु जिन भव्य जीवोंको मुक्ति होती है उनके भव्यत्त्वभावका तो नाश होता नहीं है कारण वह तो आत्माका पारणामिक भाव है वह गुण है इसलिये सदैव जीवके साथ रहता है परंतु सिद्धपर्यायमें उसके अपक्क परिणमनका नाश होजाता है अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे जो भव्यभावकी अशुद्धावस्था थी उसका नाश होजाता है इस पर्यायनाशकी अपेक्षासे ही भव्यत्वभावका सिद्धावस्थामें नाश बताया है। जीवादिक तत्वोंका भलेप्रकार श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह बात पहले अध्यायमें कही जाचुकी है वह सम्यग्दर्शन मोहनीयकर्मके उपशमसे क्षयोपशमसे और क्षयसे होता है। सासादन सम्यत्त्व अनंतानुबंधी कषायोंके उदयसे होता है इसलिये वह औदयिक भाव है। सम्यङ् मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक है और मिथ्यात्व औदयिक भाव है। मन जिसके हो उसे संज्ञी कहते हैं जो शिक्षाको ग्रहण करसके जो क्रिया सिखाई जाय उसे अभ्यस्त कर सके, प्रश्नोंके उत्तर देसके, संकेतको समझ सके सो मनवाला संज्ञी कहलाता है। शिक्षादिकके ग्रहण करनेसे ही मनकी पहचान होजाती है। उससे जो विपरीत है अर्थात् शिक्षादिक ग्रहण करनेमें असमर्थ है वह मनरहित असंज्ञी जीव कहलाता है। उनमें जो संज्ञित्वपना है सो तो क्षायोपशमिक भाव है और असंज्ञित्व औदयिक भाव है। दोनोंसे रहित क्षायिक भाव है वह भाव तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती श्री अर्हंतदेवके प्रगट होजाता है फिर सिद्धावस्थामें भी वही रहता है। शरीरकी रचना और उसके उपभोग योग्य पुद्गलवर्गणाओंका ग्रहण करना सो आहार है। वह आहार शरीर नाम कर्मके उदयसे और विग्रहगति नामकर्मके अभावसे होता है तथा औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीर नाम कर्मोदयके अभावसे तथा विग्रहगति नामकर्मके उदयसे अनाहारकभाव होता है अर्थात्

सम्यक्त्व पुरुषके ही होता है और केवली या श्रुत केवलीके पादमूलमें ही प्रारंभ किया जाता है फिर उस क्षायिकसम्यक्त्वसहित नरकमें भी पूर्वबद्ध आयुकी अपेक्षा गमन हो तो पहली पृथिवीतक ही गमन होता है आगे सम्यक्त्व सहितका गमन नहीं है वहींपर सम्यक्त्व हो सकता है सो क्षायिक कारण सामग्रीके नहीं होनेसे नहीं होसकता। तिर्यंचोंके असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानमें तो क्षायिक वेदक औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं परंतु संयतासंयत पांचवें गुणस्थानमें उनके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है बाकीके दोनों—वेदक और औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं कारण क्षायिक सम्यक्त्वसहित यदि पूर्वबद्ध आयुकी अपेक्षा जीव तिर्यंच गतिमें जायगा तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होगा यह नियम है और वहां भी पुरुष वेदमें ही उत्पन्न होगा। भोगभूमिमें भी तिर्यंच स्त्रीयोनिमें क्षायिक सम्यक्त्व विशिष्ट जीव नहीं उत्पन्न होता है यह नियम है। तिर्यंचनियों (तिर्यंचिनी—स्त्रीवेदी) के चौथे और पांचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि क्षपणाका प्रारंभ अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारंभ मनुष्य पर्यायमें पुरुष लिंगसे ही होता है और क्षायिक सम्यक्त्वसहित मरण कर यदि तिर्यंच योनिमें उत्पन्न हो तो भोगभूमिके पुरुषलिंगी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है अतः तिर्यंचिनियोंके बाकीके दो सम्यग्दर्शन ही होते हैं। मनुष्योंमें असंयत सम्यग्दृष्टि संयमासंयम और संयम स्थानोंमें क्षायिक सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व तीनों ही होते हैं। भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमें और उन तीनों जातिके देवोंकी देवियोंमें तथा सौधर्म ईशान स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाली समस्त देवियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि स्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है, बाकीके दोनों होते हैं। सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत देवोंमें क्षायिक वेदक औपशमिक तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें वसनेवाले देवोंमें क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे दोही सम्यग्दर्शन होते हैं वहां औपशमिक सम्यक्त्व भी हो सकता है वह उसी अवस्थामें हो सकता है

विग्रहगतिमें आहार वर्गणाओंका ग्रहण नहीं होता है और योगरहित चादहव गुणस्थानमें तथा सिद्धोंमें भी उनका ग्रहण नहीं होता है। इसप्रकार ये चौदह मार्गणा स्थान हैं*। अब उन मार्गणाओंमें जीव स्थानोंकी सत्ताका विचार करते हैं—गति मार्गणाकी अपेक्षा तिर्यंच गतिमें चौदहों+ जीवसमास पाये जाते हैं। वाकीकी नरक मनुष्य देव इन तीनों गतियोंमें दो दो ही पर्याप्तक अपर्याप्तक भेदसे जीवस्थान हैं। इंद्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रियजीवोंमें चार जीवस्थान हैं विकलेन्द्रिय जीवोंमें दो दो ही जीव-स्थान हैं। पंचेन्द्रियजीवोंमें संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे चार जीवस्थान हैं। कायमार्गणाकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक इन चारोंमें प्रत्येकमें चार जीवस्थान हैं। वादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे। वनस्पतिकायिक जीवोंमें साधारण प्रत्येक वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त इन भेदोंसे छह जीवस्थान हैं। त्रसकायिक जीवोंमें दश जीवस्थान हैं द्वींद्रिय त्रींद्रिय और चतुरिंद्रियोंमें पर्याप्त अपर्याप्तक भेदसे छह भेद हैं और पंचेन्द्रियोमें संज्ञी असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्तके भेदसे चार भेद हैं ऐसे दश भेद हैं। योगमार्गणाकी अपेक्षा मनोयोगमें तो संज्ञीपर्याप्तक नामा एक ही जीवस्थान है वचन योगमें पांच जीवस्थान हैं द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पर्याप्तक और संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तकके भेदसे पांच भेद हैं कारण कि

---

* जाहिव जासुवि जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति। गोम्मटसार।

अर्थात् कर्मोदय जनित जीवकी अवस्थाको मार्गणा कहते है; संसारी जीवके चोदहों मार्गणाएं किसी न किसी रूपमें अवश्य रहती है, उन्हीं अवस्थाओंमें संसारी जीव पाया जाता है इसलिये इन्हें जीवके अन्वेपण स्थान अथवा मार्गणाके नामसे कहते है। ये मार्गणाएं अथवा शरीरादिका संवध है वहां तक रहती है सिद्धावस्थामें नहीं रहती। वहां कर्मोदय नहीं है उसका सर्वथा अभाव है।

+ वादर सुहमे इन्दिय वितिचउरिंदिय असण्णि सण्णीय। पज्जत्ता पज्जत्ता एवंते चोदससा होंति ॥ ७२ ॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥

अर्थात् वादर एकेंद्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिय चतुरिंद्रिय असंज्ञी पंचेंद्रिय, संज्ञी पंचेंद्रिय, ये सातों पर्याप्त भी होते है और सातों ही अपर्याप्त भी होते है। इस प्रकार जीव समास या जीवस्थानके चोदह भेद हो जाते है। इन चौदहोंमें समस्त संसारी जीवोंकी गणना होजाती है।

जब कि उपशम श्रेणीमें जो पुरुष मरकर औपशमिक सम्क्त्व सहित उन देवोंमें उत्पन्न हुये हों। संज्ञी मार्गणाकी अपेक्षा-संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय पर्यंत होते हैं। असंज्ञी जीव एके-न्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। संज्ञी असंज्ञी इन दोनों अव-स्थाओंसे रहित अवस्थामें अंतके सयोगकेवली अयोगकेवली ये दो गुणस्थान होते हैं। आहारमार्ग-णाकी अपेक्षा—आहारमें एकेन्द्रियसे आदि लेकर सयोग केवली पर्यंत पहलेसे तेरह गुणस्थान होते हैं अनाहार अवस्थामें पांच गुणस्थान होते हैं वे इस प्रकार हैं—विग्रहगतिमें तो मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं इन तीनों गुणस्थानोंमें विग्रहगतिमें जीव आहार नहीं करता है और केवलीसमुद्धातमें जहां प्रतर और लोकपूरण होते हैं वहां अनाहार अवस्था रहती है तथा अयोगकेवली अनाहारक होते हैं, सिद्ध परमेष्ठी समस्त गुणस्थानोंसे रहित हैं इस प्रकार अनेक प्रकार लक्षणोंसे धर्मका स्वरूप कहागया है। यह धर्म श्रीअर्हंत भगवानने मोक्ष प्राप्तिका कारण बताया है और भले प्रकार भेद प्रभेदोंकी अपेक्षासे उसका उन्होंने प्रतिपादन किया है। इस प्रकार धर्मके स्वरूपका चिंतवन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा कहलाती है। इसप्रकार इस भावनाका चिंतवन करनेवाला पुरुष धर्ममें विशेष रूपसे अनुराग करने लगता है और उसमें सदा प्रयत्नशील रहता है। इसरीतिसे अनित्यत्व आदि बारह भावनाओंका स्वरूप चिंतवन करनेसे उत्तम क्षमादि दश-धर्मोंके धारण करनेमें और उनकी दृढता पालनेमें यह संयमी पुरुष अधिक उपयुक्त होजाता है और उस अवस्थामें उसके महान् संवरभाव होता है। शंका—

स्वाख्यात इति युच्प्रसंग इति चेन्न प्रादिवृत्तेः ॥ १३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि स्वाख्यात इस पदमें सु का योग है और 'सु' के योगमें अर्थात् सु उपसर्गके संबंधमें अकृच्छ्र अर्थमें युच् प्रत्यय होना चाहिये। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण यहां

अपर्याप्तक अवस्थामें वचनयोग नहीं होता है और एकेंद्रियके भी वचनयोग नहीं होता है। काययोगमें चौदहों जीवस्थान होते हैं। वेदमार्गणाकी अपेक्षा स्त्रीवेद पुंवेद इनके प्रत्येकमें पर्याप्त अपर्याप्त संज्ञी असंज्ञी भेदसे चार जीवस्थान हैं। नपुंसकवेदमें चौदहों जीवसमास है। वेदरहित अवस्थामें केवल एक ही जीवस्थान संज्ञी पर्याप्तक नामा है। दशवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक ऐसी अवस्था समझनी चाहिये उससे ऊपर संज्ञित्व भी छूट जाता है, श्री अर्हंतपरमेष्ठीके तो निरावरणज्ञान प्रगट होजाता है वहां भावमन नहीं है। कषायमार्गणाकी अपेक्षा—अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन इन चारों ही कषायोंमें चौदहों जीवस्थान होते हैं। अकषाय अवस्थामें एक ही पर्याप्तसंज्ञी जीवस्थान होता है। ग्यारहवें और बारहवें इन दो गुणस्थानोंमें संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान है उससे ऊपर संज्ञीपना नहीं है। ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा—मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान (कुमति कुश्रुति) में चौदहों जीवसमास होते हैं। विभंगावधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें एक ही पर्याप्तक संज्ञीनामा जीवस्थान होता है। कारण विभंगाविधि भी संज्ञी जीवपर्याप्तकके ही होती है और मनःपर्ययज्ञान तो छठे गुणस्थानसे होता है इसलिये वह तो संज्ञिपर्याप्तकके ही होता है। सुमति सुश्रुति और सुअवधि इन तीनों सम्यग्ज्ञानोंमें दो जीवस्थान होते हैं—एक संज्ञीपर्याप्तक और दूसरा संज्ञी अपर्याप्तक। कारण तीनों ही सम्यग्ज्ञान संज्ञीके तो होते हैं यह तो नियम है परंतु जो सम्यग्दृष्टि मरकर सम्यग्दर्शनसहित परभवको जाता है उसके अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्ज्ञान रहते हैं। केवलज्ञानमें एक ही जीवस्थान रहता है संज्ञी पर्याप्तक। यहांपर केवलज्ञान होनेपर यद्यपि संज्ञीपना रहता नहीं है वहां तो संज्ञीपना भी भावमन नहीं होनेसे छूट जाता है, परंतु द्रव्यमन तो रहता है इसलिये उसकी अपेक्षा संज्ञीपना भी वहां कह दिया गया है। संयममार्गणाकी अपेक्षा—सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय यथाख्यात इन पांच संयमोंमें और संयमासंयममें एक ही संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होता है। असंयममें

प्रादि वृत्ति है अर्थात् प्रादि लक्षण समास है। स्वाख्यातका अर्थ यही है कि शोभन रूपसे—सुंदर रूपसे जो आख्यात हो वह स्वाख्यात कहलाता है इसलिये प्रादिलक्षण समास होनेसे यहां युच् प्रत्यय नहीं होता है। शंका—

अनुपेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः ॥ १४ ॥

अर्थ—यह अनुपेक्षा शब्द यदि भाव साधन अर्थमें नियत है तो फिर उसको बहुवचनपना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि भावसाधन अर्थमें एक वचन होता है। जैसे तत्त्वानुचिंतन शब्द भावसाधन होनेसे एक वचन है उसी प्रकार अनुप्रेक्षा शब्द भी एकवचन होना चाहिये परंतु यहांपर सूत्रमें अनुप्रेक्षा शब्द एक वचन तो नहीं है ?

कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभावः ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि अनुप्रेक्षा शब्द कर्मसाधन अर्थमें माना जाय तो बहुवचन भी बन जाता है परंतु उस कर्मसाधनके करने पर तत्त्वानुचिंतनके साथ समानाधिकरणपना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि तत्त्वानुचिंतन एक वचन है और अनुप्रेक्षा बहुवचन है दोनोंका भिन्न लिंग और भिन्न वचन है परंतु समानाधिकरणमें दोनोंका एक लिंग और एक ही वचन होना चाहिये यदि अनुचिंतन हीको अनुप्रेक्षा कहा जाय तो भी लिंग और वचनका भेद नहीं होना चाहिये ? उत्तर—

न वाकृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात ॥ १६ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंका ठीक नहीं है कारण कृदंत प्रक्रिया द्वारा सिद्ध होनेवाला भावद्रव्यके समान होजाता है जिसप्रकार पाक शब्द कृदंत प्रत्यय सिद्ध है वह भाव होने परभी द्रव्य अर्थका द्योतक भी हो जाता है। पाक कहनेसे पचनक्रियाविशिष्ट द्रव्यका बोध होता है "पाकः पाकौ पाकाः" यहां एक पाक दो पाक बहुत पाक इन शब्दोंका अर्थ पाकवाले पदार्थोंका होता है इसीप्रकार चिंतित पदार्थोंके

चौदहों जीवसमास होते हैं। दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा—अचक्षुदर्शनमें चौदहों जीवसमास होते हैं। चक्षुदर्शनमें तीन जीवस्थान होते हैं—चतुरिंद्रिय, संज्ञी. असंज्ञी पर्याप्तक और उन्हीं चक्षुदर्शनवाले जीवोंके अपर्याप्त स्थान लब्धिकी अपेक्षासे है निवृत्तिकी अपेक्षासे नहीं है। अवधिदर्शनमें संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त ऐसे दो जीवस्थान हैं। केवलदर्शनमें केवल एक ही संज्ञीपर्याप्तक जीवस्थान है। लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा—आदिकी कृष्ण नील कापोती इन तीन लेश्याओंमें चौदहों जीवस्थान होते हैं। और तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्याओंमें दो जीवस्थान हैं। एक संज्ञी पर्याप्तक दूसरा संज्ञी अपर्याप्तक। जहां लेश्या नहीं है अलेश्यभाव है वहां एक संज्ञी पर्याप्तक स्थान है। यद्यपि लेश्याका अभाव तो ग्यारहवें बारहवें तेरहवें गुणस्थानोंमें भी होजाता है वहांपर कषायोदयरंजित परिणाम नहीं है परंतु योगोंका सद्भाव होनेसे लेश्याका सद्भाव वहां भी माना गया है परंतु उपचार मात्र है। चौदहवां गुणस्थान योगरहित है इसलिये वहां संज्ञी पर्याप्तक एक जीवस्थान है परंतु वास्तवमें वहां भी संज्ञीपना नहीं हैं। भव्य मार्गणाकी अपेक्षा—भव्योंमें और अभव्योंमें चौदहों जीवस्थान होते हैं। सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें और सासादन सम्यक्त्वमें दो ही जीवस्थान-संज्ञी पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक होते हैं सम्यङ्मिथ्यात्वनामा तीसरे गुणस्थानमें एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होता है कारण इस तीसरे गुणस्थानमें जीवका मरण नहीं होता है इसलिये अपर्याप्त अवस्थामें वह गुणस्थान नहीं होता है। मिथ्यादर्शनमें चौदहों जीवसमास होते हैं। संज्ञीमार्गणाकी अपेक्षा संज्ञी जीवोंमें दो जीवस्थान होते हैं—एक पर्याप्तक दूसरा अपर्याप्तक। असंज्ञी जीवोंमें बाकीके बचे हुये बारह जीवस्थान होते हैं अर्थात् असंज्ञी जीवोंमें संज्ञी पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक ऐसे दो भेद नहीं होते हैं बाकीके सब भेद होते हैं। जहां संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही भेद नहीं है वहां एक ही जीवस्थान अपर्याप्तक होता है। आहारमार्गणाकी अपेक्षा आहार अवस्थामें चौदहों जीवसमास होते हैं और अनाहार

भेदसे भावका भेद विविक्षित होनेपर अनुप्रेक्षा शब्दको वहुवचन न्यायप्राप्त है अर्थात् अनुप्रेक्षाके विषय-भूत पदार्थोंके नानाभेद होनेसे उनके भावोंमें भी नाना विवक्षाऐं हो जाती हैं ऐसी अवस्थामें वहुवचनका होना न्यायसिद्ध है।

सामानाधिकरण्यसिद्धेश्चोभयोः कर्मसाधनत्वात् ॥ १७ ॥

अर्थ—समानाधिकरण भी दोनोंका बन जाता है क्योंकि दोनोंका कर्मसाधन अर्थ है जो अनुप्रेक्षण की जांय अर्थात् बार बार भावनामें लायी जांय वे अनुप्रेक्षा कही जाती हैं और जो चिंतवन किया जाय वह अनुचिंतवन कहलाता है इस प्रकार अनित्य अशरण आदि वस्तुस्वरूप चिंतवन किया जाता है वही अनुप्रेक्षाके नामसे कहा जाता है। अनुचिंतन और अनुप्रेक्षा दोनोंका एकही अर्थ होता है और दोनोंका समानाधिकरण भाव भी हो जाता है। किस आधारसे दोनोंका समानाधिकरण हो जाता है? उसकेलिये एक सूत्र है—'कर्मण्यनः युड्व्या बहुलं' इस जैनेन्द्रव्याकरणके सूत्रसे जिसप्रकार निरदन अवसेचन यहां समानाधिकरण होजाता है उसीप्रकार यहां भी होजाता है। अनुचिंतन और अनुप्रेक्षा दोनोंका समानाधिकरण भाव होने पर दोनोंका लिंग और संख्याका भेद नहीं होना चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जाता है कि जिनका जो लिंग जो संख्या नियत है वही रहती है तो भी परस्पर संबंध होजाता है जिसप्रकार 'गावो धनं, गौऐं धन हैं। यहांपर गौऐं बहुवचन और स्त्रीलिंग हैं परंतु धन शब्द एक वचन नपुंसकलिंग है, फिर भी दोनोंका समानाधिकरण अर्थात् परस्पर संबंध घटता है। प्रश्न—दश धर्मोंका जो व्याख्यान किया गया है उससे पहले इन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन क्यों नहीं किया गया? उत्तर—

मध्येऽनुप्रेक्षावचनं उभयनिमित्तत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षाका कथन मध्यमें किया जाता है, क्योंकि मध्यमें कहनेसे वे अनुप्रेक्षाऐं धर्म और परीषहजय दोनोंमें निमित्त पडती हैं। जो इन अनुप्रेक्षाओंको भाता है वह उत्तमक्षमादि धर्मोंका भी

अवस्थामें सात अपर्याप्तक स्थान होते हैं। केवलीके समुद्घात अवस्थामें पर्याप्त अपर्याप्त ऐसे दो स्थान होते हैं तथा अयोगकेवलीके कर्मोदयकी विवक्षासे एक पर्याप्तक स्थान है। सिद्धभगवान सदैव समस्त जीवस्थानोंसे रहित होते हैं। इसप्रकार चौदह मार्गणाओं चौदह जीवस्थानोंको घटाया जाचुका। अब उन चौदहों मार्गणाओंमें चौदहं गुणस्थानोंकी सत्ताका विचार करते हैं। गतिमार्गणाकी अपेक्षा—नरकगतिमें पर्याप्तक नारकी जीवोमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। सातों ही नरकोंमें इसीप्रकार पर्याप्त अवस्थामें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। पहली पृथ्वीमें अपर्याप्तक अवस्थामें दो गुणस्थान होते हैं—एक मिथ्यादृष्टि दूसरा असंयतसम्यग्दृष्टि* बाकीकी—दूसरीसे लेकर सातोंतक पृथिवियोंमें अपर्याप्त अवस्थामें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। तिर्यंचगतिमें तिर्यंचोंमें पर्याप्त अवस्थामें आदिके पांच गुणस्थान होते हैं। उन तिर्यंचोंकी अपर्याप्त अवस्थामें तीन गुणस्थान होते हैं। मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि अर्थात् पहला दूसरा और चौथा, क्योंकि तीसरेमें मरण होता नहीं है इसलिये वह गुणस्थान अपर्याप्तक अवस्थामें नहीं होता है। तिर्यंचिनियों (स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें) में पर्याप्त अवस्थामें आदिके पांच गुणस्थान होते हैं। उनकी अपर्याप्त अवस्थामें आदिके दो गुणस्थान होते हैं कारण कि सम्यग्दर्शन

१—मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देशविरदो य। विरदा पमत्तइदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहमो य ॥ १ ॥

उपसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगीय। चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ गोम्मटसार ॥ २ ॥

अर्थात् १—मिथ्यात्व २—सासादन ३—मिश्र (सम्यङ्मिथ्यात्व) ४—अविरत सम्यग्दृष्टि ५—देशविरत ६—प्रमत्त ७—अप्रमत्त ८—अपूर्वकरण ९—अनिवृत्ति करण १०—सूक्ष्म सांपराय ११—उपशांतकषाय १२—क्षीणकषाय १३—सयोग केवली १४—अयोग केवली ये चौदह गुणस्थान क्रमसे पहला दूसरा तीसरा आदि समझना चाहिये। इन चोदहों गुणस्थानोंसे जो रहित है वे सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

* नरकोंमें अपर्याप्त अवस्थामें पहलीही पृथ्वीमें सम्यग्दर्शन होता है कारण सम्यग्दर्शन सहित जीव नरकोंमें जायगा तो पहलीही पृथ्वीतक जाता है आगे नहीं जाता इसीलिये अपर्याप्त अवस्थामें वहीं सम्यग्दर्शन पाया जायगा आगेकी समस्त पृथिवियोंमें सम्यक्त्वसहित जाता नही है किंतु वहांपर पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होसकता है।

अच्छी तरह पालन करता है और परीषहोंके जीतनेका भी वह उत्साह रखता है। इन दोनों निमित्तोंकी सिद्धिकेलिये अनुप्रेक्षाओंका मध्यमें वचन कहागया है। इन अनुप्रेक्षाओंका व्याख्यान तो किया जाचुका। परीषहोंका जीतना भी संवरका कारण कहागया है इसलिये अब उन परीषहोंका व्याख्यान किया जाता है। यहां कोई पूछता है कि परीषहोंके आचार्य महाराज कहते हैं यह तो ठीक है परंतु पहले यह तो बता देना चाहिये कि ये परीषह क्यों सहन की जाती हैं अर्थात् परीषहोंको सहनसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है ? और क्या इन परीषहोंके नाम रूढिसे नियत हैं अथवा उनके गुणोंके अनुसार नाम रक्खे गये हैं पहले इस बातको स्पष्ट करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—संवर मार्गसे च्युत नहीं हो जाय और कर्मोंकी निर्जरा हो जाय इसकेलिये परीषहसहन करनी चाहिये अर्थात् संवर और निर्जराकी सिद्धिके लिये परीषहजय कहा गया है।

परीषहा महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा ॥ १ ॥

अर्थ—संज्ञा नामको कहते हैं परंतु यहांपर वह लघुरूपमें नहीं है और संज्ञा जो की जाती है वह लघु उच्चारणके लिये ही की जाती है। यहांपर परीषह यह बडी संज्ञा की गई है इसका प्रयोजन यह है कि वह गुणके अनुसार रक्खी गई है केवल नाममात्र नहीं है। परीषह कहनेसे ही उसके प्रयोजनकी सिद्धि प्रतीत हो जाती है उसीको कहते हैं—

प्रकरणात् संवरणमार्गप्रातिपत्तिः ॥ २ ॥

अर्थ—यहांपर संवरका प्रकरण है उसके संबंधसे मोक्षपदकी प्राप्ति करानेवाले संवर मार्गका बोध हो जाता है।

तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीषहजयः ॥ ३ ॥

सहित मरणकर स्त्रीपर्यायमें जीव नहीं जाता है इसलिये स्त्रियोंके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं होता है। मनुष्य गतिमें पर्याप्त मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होसकते हैं। मनुष्योंमें अपर्याप्त अवस्थामें तीन गुणस्थान होते हैं–मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि। मानुषियोंमें (स्त्रियोंमें) पर्याप्त अवस्थामें भावलिंगकी अपेक्षा चौदहो गुणस्थान हो सकते हैं परन्तु द्रव्यलिंगकी अपेक्षा उनमें आदिके पांचही गुणस्थान होसकते हैं। यद्यपि वेदोंका सद्भाव नौंवे गुणस्थान तक है फिर भी भावलिंग की अपेक्षा चौदह गुणस्थान वताये हैं सो जिस वेदका अभावकरि श्रेणी चढता है उसी वेदकी अपेक्षा चौदहों गुणस्थान घटित करलिये जाते हैं अथवा भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा भी यह कथन है। अपर्याप्तक अवस्थामे स्त्रियोंके दोही आदिके गुणस्थान होते हैं कारण कि सम्यग्दर्शनके साथ स्त्रीपर्यायमें उत्पत्ति नहीं होती है परन्तु चौथे गुणस्थानसे गिरते समयही दूसरा गुणस्थान होता है इसलिये यदि किसीको सम्यग्दर्शन होचुका हो और मरण कालमें अनंतानुबंधीके उदयसे सम्यक्त्वका घात होकर द्वितीय गुणस्थान होगया हो उसी स्त्रीकी अपेक्षा यह द्वितीय गुणस्थान है। तिर्यञ्च तथा मनुष्योंमें लब्ध पर्याप्तक अवस्थामें आदिका पहलाही गुणस्थान एक होता है। देव गतिमें भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमें पर्याप्त अवस्थामें ही आदिके चार गुणस्थान होते हैं अर्थात् इन तीन प्रकारके देवोंमें सम्यग्दर्शनसहित उत्पत्ति नहीं होती है। भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी समस्त देवियां और सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली समस्त कल्पवासियोंकी देवियां इन चारो प्रकारके देवोंकी समस्त देवियोंके भी यही भवनवासी आदि तीन प्रकारके देवोंकी समानता है अर्थात् पर्याप्त अवस्थामें ही सम्यग्दर्शन होता है अपर्याप्त अवस्थामें आदिके दो गुणस्थान होते हैं। सौधर्म ईशानसे लेकर सोलह स्वर्गोंके तथा नीचेसे लेकर ऊपर ग्रैवेयक पर्यंततक देवोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं पर्याप्त अवस्थामें ये चार होते हैं। परंतु उन्ही देवोंकी अपर्याप्त अवस्थामें पहला दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होते

अर्थ—कर्मोंके आनेके दरवाजोंको रोकते हुये अर्थात् उनका संवर करते हुये जिनेंद्रमार्गसे नहीं चिगजावें इसकेलिये पहले ही परीषहोंको जीतते हैं। परीषहोंको जीत लेनेपर फिर उनके द्वारा तिरस्कृत नहीं हो पाते हैं अर्थात् परीषहें उनका कुछ विगाड नहीं कर सकती हैं परीषहोंको जीत लेनेपर साधु परमेष्ठी प्रधान रूपसे संवर भावको धारण करके विना किसी बाधक कारणके क्षपकश्रेणीकें चढनेकी सामर्थ्यको पाकर शुद्ध चेतनाके अनुभव करनेमें पूण उत्साही हो जाते हैं। वही साधु परमेष्ठी उस अवस्थामें समस्त कषायोंको नाश करनेमें समर्थ हो जाते हैं और ज्ञान ध्यान रूपी फरसासे कर्मोंको जड मूलसे नष्टकर डालते हैं फिर जिस प्रकार पंखों पर लगीहुई धूलि—मिट्टीको दूरकर पक्षी तुरंत आकाशमें उड जाते हैं उसीप्रकार कर्मोंको नष्ट करनेवाले जीव भी शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होकर ऊपर सिद्धालयको चले जाते हैं। इसीकेलिये परीषहोंको सहन करना चाहिये अर्थात् नवीन कर्मोंका आगमन इन परीषहोंके जीतनेसे रुकता है और बैठे हुये कर्मोंका नाश भी इन परीषहोंके जीतनेसे होता है। इसीकेलिये उनका जीतना आवश्यक है "षोढः" इस व्याकरण सूत्रसे षत्वका निषेध नहीं हुआ है। अब परीषहोंका प्रयोजन सुनकर शिष्य श्रीआचार्य महाराजसे कहता है कि अच्छा! यदि परीषहोंका ऊपर कहाहुआ प्रयोजन है तो अब उन्हें कहिये कौन वे परीषह हैं और गिनतीमें कितनी हैं? इसके उत्तरमें वे सूत्र कहते हैं—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभ-रोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, डांस मच्छर, नग्नरहना, अरति, स्त्री, चलना, बैठना, शयन करना, क्रोध, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण, स्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन ये बावीस परीषह हैं इनका सहन करना परीषह जय कहलाता है। इन सबोंका स्वरूप ग्रंथकार स्वयं कहते हैं—

क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः ॥ १ ॥

हैं अर्थात् तीसरे गुणस्थानमें मरण नहीं होता है इसलिये अपर्याप्त अवस्थामें वह गुणस्थान नहीं होता है। अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें वसनेवाले समस्त देवोंके पर्याप्त अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें केवल एकही गुणस्थान असंयत सम्यग्दृष्टि अर्थात् चौथा होता है कारण वहां सम्यग्दर्शन सहितही जीव उत्पन्न होता है। अब इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा लेकर गुणस्थानोंका विचार करते हैं—एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमें एक ही गुणस्थान होता है पहला मिथ्यादृष्टि और पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवोंमें चौदहों गुणस्थान होते हैं। काय मार्गणाकी अपेक्षा—पृथिवी कायसे लेकर वनस्पतिपर्यन्त सभी स्थावर जीवोंमें एक मिथ्यादृष्टि नामका पहला ही गुणस्थान होता है। त्रसकायोंमें चौदहों गुणस्थान होसक्ते हैं। इसमें भी इतनी विशेषता है कि विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो पहला ही गुणस्थान होता है और संज्ञी पंचेन्द्रियमें तिर्यंचोंके आदिके पांच गुणस्थान होते हैं देव नारकोंके आदिके चार होते हैं तथा पुरुषोंके चौदहों गुणस्थान होते हैं। योगकी अपेक्षासे—सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोगवाले संज्ञी जीवोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे आदि लेकर सयोग केवली पर्यंत पहलेसे तेरहवें गुणस्थान तक होते हैं। असत्य मनोयोग और सत्यमृषारूप उभय मनोयोगमें संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थतक-पहलेसे बारहवेंतक गुणस्थान होते हैं। असत्यमृषा वचन योगमें अर्थात् अनुभय वचनयोगमें द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगकेवली तक अर्थात् पहले गुणस्थानसे तेरहवें तक होते हैं। सत्यवचन योगमें संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगी गुणस्थानतक होते हैं। असत्य

१—सातवेंसे बारहवे गुणस्थान तक अप्रमत्त भावोंमें असत्य और उभय मनोयोग तथा असत्य और उभय वचन योग जो कहागये है वह रागद्वेषपूर्वक उपयोग करनेकी दृष्टिसे नही कहा गया है किन्तु वहांतक सर्वज्ञता नही होनेसे छद्मस्थावस्था रहती है इसलिये पदार्थका सूक्ष्म स्वरूप वितराग अवस्थामें भी ज्ञानकी पूर्णता नहो होनेसे अन्यथा हो जाता है इस दृष्टिसे कहा गया है वास्तवमें वहां झूठकी प्रवृत्ति नही है।

अथ—वाह्य कारण और अभ्यंतर कारणोंके मिलने पर जो द्रव्यका परिणमन होता है उससे होने वाली तथा शरीर और मन संबंधी पीडाको उत्पन्न करनेवाली क्षुधादिक वाईस परीषह होती हैं उन परीषहोंके जीतनेमें मोक्षको चाहनेवाले विद्वान् संयमी पुरुषको प्रयत्न करना चाहिये । किस प्रकार करना चाहिये उसीका खुलासा इस प्रकार है—

प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यंभसोपशमः क्षुज्जयः ॥ २ ॥

अर्थ–जो संयमी मुनिराज शरीर संबंधी समस्त संस्कारोंको छोडचुके हैं अर्थात् शरीरको उत्तम बनाये रखनेकेलिये जितन भी तलमदन आदि साधन हैं उन सबोंका त्याग करचुके हैं, केवल धर्म साधनके लिये शरीर मात्र उपकरणकी रक्षामें संतुष्ट रहते हैं। जिन कारणोंसे तप संयमका लोप होता हो उनको दूर करते हैं, कृत कारित अनुमोदना किया हुआ, संकल्प कियाहुआ उद्दिष्ट, क्लिष्ट, क्रियागत प्रत्यात्त पूर्व-कर्म पश्चात्कर्म, इन दश प्रकारके दोषोंसे रहित एषणाशुद्धिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं।

जो मुनिराज देशकाल नगरकी व्यवस्थाका ध्यान रखकर ही आहारके लिये निकलते हैं उन मुनिराजोंके अनशन करनेसे मार्गकी थकावटसे किसी रोगके हो जानेसे तप स्वाध्यायका परिश्रम हो जानेसे भोजन वेलाका अधिककाल वीत जानेसे ऊनोदर करनेसे, अर्थात् अल्पाहार करनेसे और अभ्यंतरमें असाता वेदनीय कर्मोदय होनेसे आदि कारण कलापोंके मिलनेपर क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है। वह क्षुधा आहाररूपी ईंधनके नहीं मिलनेपर इतनी जोरसे उत्पन्न होती है कि जठराग्निको उद्दीप्त कर डालती है। जिस प्रकार वायुसे चंचल अग्निकी ज्वाला मकानआदि सामग्रीको जला डालती है उसी प्रकार यह तीव्र क्षुधा भी चारो ओरसे शरीर इंद्रिय, हृदयको अत्यंत क्षुब्ध कर डालती है उस तीव्र क्षुधाका भी वे मुनिराज कभी अकालमें प्रतीकार नहीं करते हैं अर्थात् जबतक आहार वेलाका नियत समय प्राप्त नहीं होता है तवतक वे उस क्षुधाके प्रतीकारकी वाञ्छा भी नहीं करते हैं अथवा संयमकी विराधना करने

वचनयोग और सत्यमृषा अर्थात् उभय वचनयोगमें संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ तक होते हैं। औदारिक काययोगमें पहलेसे लेकर तेरहवें तक तेरह[1] गुणस्थान होते हैं। औदारिक मिश्रकाय योगमें चार गुणस्थान होते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और सयोग[2] केवली ये चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिक काययोगमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिक मिश्रकाय योगमें सम्यङ्मिथ्यात्वको छोडकर वे ही तीन होते हैं अर्थात् पहला दूसरा और चौथा ये तीन होते हैं, तीसरा मिश्र अवस्थामें मरण नहीं होनेके कारण नहीं होता है। आहारक काय योग और आहारक मिश्रकाय योगमें एक ही छठवां प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। कार्माणकाय योगमें चार गुणस्थान होते हैं–मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि और सयोग[3] केवली ये चार होते हैं। अयोग अवस्थामें केवल एक ही चौदहवां गुणस्थान होता है। वेद मार्गणाकी अपेक्षा स्त्रीवेद[4] पुंवेद इन दो वेदोमें असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहले गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिवादरसांपराय पर्यंत गुणस्थान होते हैं। नपुंसकवेदमें[5] एकेन्द्रियसे आदि लेकर अनिवृत्ति वादर सांपराय पर्यंत गुणस्थान होते हैं। नारकी चारो गुणस्थानोंमें नपुंसक वेदी ही होते हैं। तिर्यंच—एकेन्द्रियसे आदि लेकर

१—चोदहवें गुणस्थानमें औदारिक शरीर तो रहता है परन्तु वहांपर योगका सद्भाव नहीं है इसलिये औदारिक काय योगका निषेध वहां किया गया है।

२—तीन गुणस्थान तो मरणकी अपेक्षा औदारिक मिश्रमें होते हैं परन्तु सयोग केवलीके तो मरण होता नहीं है वह औदारिक मिश्र समुद्घातकी अपेक्षा कहागया है। कपाट और प्रतर इन दो समुद्घातोंमें औदारिक मिश्र योग होजाता है।

३—कार्माण काय योगमें भी यही वात है वहां भी तीन गुणस्थान तो मरणकी अपेक्षासे होते हैं परन्तु सयोग केवलीके समुद्घात की अपेक्षा कार्माण काययोग कहा गया है। लोकपूर्ण समुद्घातमें कार्माणकाय योग होजाता है।

४—५—भाववेदकी दृष्टिसे यह कथन है। द्रव्य वेदकी दृष्टिसे छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपरतक पुंवेदही एक होता है।

यहांपर द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा है—प्रथमोपशम सम्यक्त्व तो अप्रमत्त संयम तक होता है, सामान्य कथनकी अपेक्षा औपशमिक शब्दसे कहा गया है।

वाले द्रव्योंसे भी उसका प्रतीकार वे नहीं करते हैं यदि कोई दूसरा पुरुष भी उनकी क्षुधाके प्रतीकारके लिये उपाय करे तो उसे वे स्वीकार नहीं करते और न मनसे ही उस उपायका वे समर्थन करते हैं और न मनसे वे इस प्रकारका विषाद ही कभी करते हैं कि यह क्षुधावेदना वडी कठिनतासे जीती जासकती है और काल बहुत लम्बा पडाहुआ है गरमीके लम्बे दिन हैं ऐसे समयमें क्षुधाकी वेदना दूर होना कठिन है इत्यादि विषाद वे कभी नहीं करते हैं उन मुनिराजका शरीर .क्षुधाके कारण अत्यंत क्षीण हो चुका है केवल हाड और नशा जालका पिंजर रहगया है फिर भी वे नित्य आवश्यक क्रियाओंके पालनेमें सावधान रहते हैं। जो मनुष्य क्षुधाके वशीभूत होकर नाना अनर्थोंको करनेवाले हैं वे वंधनको प्राप्त हुए देखे जाते हैं अथवा पींजरेमें प्राप्त तिर्यंच प्राणी क्षुधाकी वेदनासे व्याकुल होते हुए पराधीन देखे जाते हैं इसप्रकार क्षुधा वेदनासे पीडित प्राणियोंका विचार करते हुए वे सम्यग्ज्ञानी मुनिराज धर्मरूपी जलको संयमरूपी घडेमें भरकर क्षुधारूप अग्निको शांत करते हैं और क्षुधावेदनासे उत्पन्न हुई पीडाका तिरस्कार करते हुए क्षुधाको जीतते हैं इसीका नाम क्षुधापरीषहका जीतना है अथवा क्षुधापरीषहजय है। अब पिपासा परीषहजयका स्वरूप कहते हैं—

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनं ॥ २ ॥

अर्थ—स्नान करना, जलमें भीतर प्रवेश करना, जलका शरीरपर छिडकना, इत्यादि समस्त बातोंका उन मुनिराजके त्याग होता है। पक्षीके समान बैठना निवास करना आदि भी जिनका स्थिर नहीं है अर्थात् एक स्थानपर वे नियमसे रहते भी नहीं हैं। फिर अतिलवण सहित रूखा चिकना आदि विरुद्ध आहार करनेसे, तथा ग्रीष्मकालकी तीव्र गरमीसे तथा पित्तज्वरके प्रकोपसे तथा अनशन व्रत आदि करनेसे जो तीव्र पिपासा उन मुनिराजको उत्पन्न होती है वह शरीर और इन्द्रियोंको व्यथित करदेती है, अर्थात् प्यासकी तीव्रतासे इन्द्रिय शरीर सब व्याकुल हो जाते हैं फिर भी वे उस प्यास की थोडी भी

रीतिसे धर्मास्तिकायमें अप्रेरकपना रहनेसे और आत्मसंयोगमें प्रेरकपना रहनेसे दोनोंमें विषमता रहनेके कारण धर्मास्तिकायके समान आत्मा हस्त आदि क्रियामें कारण नहीं हो सकता। तथा—

धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य; जीव और पुद्गलोंके गमनका आधाररूपसे कारण हो सकता है परंतु आत्माका संयोग हस्त आदि क्रियाका आधाररूपसे कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार धर्मास्तिकाय पृथक् सिद्ध पदार्थ है उसप्रकार आत्माका संयोग आत्मासे भिन्न उपलभ्यमान नहीं इसलिए वह हस्त आदिकी क्रियाका कभी कारण नहीं हो सकता। यदि हस्त आदिमें क्रियाका कारण सिद्ध करनेके लिये आत्मसंयोगको भिन्न पदार्थ माना जायगा तो आत्मा और उसका संयोग दोनों ही पदार्थ न सिद्ध हो सकेंगे अतः धर्मास्तिकाय जीव पुद्गलोंके गमनमें आधाररूपसे कारण हो सकता है और आत्माका संयोग हस्त आदि क्रियाके प्रति आधाररूपसे कारण नहीं हो सकता इस रूपसे भी धर्मास्तिकाय और आत्माके संयोगमें विषमता है इसलिए धर्मास्तिकायके समान आत्माका संयोग कभी हस्त आदिकी क्रियामें कारण नहीं हो सकता। तथा यह भी बात है कि—

शरीरे क्रियाभावो जीवस्य निष्क्रियत्वादाकाशप्रदेशवत् ॥ १३ ॥

जिसप्रकार क्रियारहित आकाशका प्रदेश शरीरमें क्रियाके आरंभका कारण नहीं माना जाता उसीप्रकार आत्मा और उसका गुण (संयोग) भी क्रियारहित पदार्थ है इसलिए आत्माका संयोग भी हस्त आदिकी क्रियाका कारण नहीं हो सकता तथा जिसप्रकार आकाश सर्वथा अमूर्तिक और निष्क्रिय पदार्थ है इसलिए उसका शरीरके साथ संबंध नहीं उसीप्रकार नैयायिक आदि वादियोंने आत्माको भी सर्वथा निष्क्रिय और अमूर्त पदार्थ माना है इसलिए उसका भी शरीरके साथ संबंध नहीं हो सकता

अतः शरीर किसी प्रकारसे (परमतकी अपेक्षा) आत्माका उपकार नहीं कर सकता इसरीतिसे अमूर्त और निष्क्रिय आत्माका अमूर्त और निष्क्रिय संयोग गुण हस्त आदिकी क्रियाका कारण नहीं हो सकता। यदि यहांपर वादी यह कहे कि—

शरीरावियोगे निष्क्रियत्वप्रसंग इति चेन्नाभ्युपगमात् ॥ १४ ॥

जो महानुभाव अर्थात् जैन लोग कार्मणशरीरके संबंध रहनेपर उसके द्वारा आत्मामें क्रिया होती है ऐसा मानते हैं उनके मतमें आठोप्रकारके कर्मोंके क्षय होनेपर जिससमय आत्मा शरीरसे जुदा होकर अशरीर होगा उससमय वह निष्क्रिय माना जायगा क्योंकि उससमय क्रियाके कारण स्वरूप कार्मण शरीरका उसके साथ संबंध नहीं ? इसका समाधान यह है कि जहांपर कारण विद्यमान रहता है वहांपर कार्य होता है किंतु जहांपर कारणोंका अभाव है वहांपर कार्यका भी अभाव है। आत्मामें जो क्रिया होती है उसका कारण आत्माके साथ कर्म और नोकर्मका संबंध है। मुक्त अवस्थामें उसका अभाव हो जानेसे क्रिया नहीं ही हो सकती इसलिए मुक्त जीवोंको हम निष्क्रिय मानते ही हैं। इसरीतिसे कर्मोंके नाश हो जानेपर शरीरसे भिन्नता हो जानेके कारण जिससमय आत्मा अशरीर हो जाता है उससमय उसे निष्क्रिय माननेसे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा—

जिसप्रकार दीपकमें प्रकाशरूप क्रिया स्वभाव सिद्ध है, किसी अन्य कारणसे नहीं उत्पन्न हुई है उसीप्रकार मुक्त जीवके भी कर्मोंके नाश हो जानेसे परनिमित्तक क्रिया तो नहीं हो सकती किंतु स्वभाव सिद्ध ऊर्ध्वगमन रूप क्रिया मानी जाती है। यदि उसमें ऊर्ध्वगमन रूप क्रिया न मानी जायगी तो जिस स्थानपर उसने समस्त कर्मोंका नाश किया है उसी स्थानपर वह मुक्तात्मा रह जायगा; सिद्ध

परवा (चिंता) नहीं करते हैं और न उसे दूर करनेका कुछ विचार ही करते हैं। गरमीकी ऋतु है और तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंसे संताप हो रहा है जंगलमें पासमें अनेक सरोवर भी पानीसे भरे हुए हैं तो भी जलकायके जीवोंकी रक्षाके उद्देश्यसे जल ग्रहण वे नहीं करते हैं, जिसप्रकार जलके विना सींचनेसे कोमल लता मुरझा जाती है उसी प्रकार मारे प्यासके शरीर रूपी लकडी जिनकी मुरझागई है तो भी उसकी चिंता नहीं करते हैं किंतु तपके पालन करनेमें सदैव सावधान रहते हैं भिक्षाके समयमें भी संकेत इशारे आदिसे योग्य जलादि पेय वस्तुके लिये प्रेरणा नहीं करते हैं किंतु धैर्य घटमें भरेहुए शीतल और सुगंधित सम्यग्ज्ञान रूपी जलसे उस पिपासा रूप अग्निकी ज्वालाको बुझाते रहते हैं और संयम पालनेमें सदैव सावधान रहते हैं इसीका नाम पिपासासहन अथवा तृषापरीषहजय है ।

पृथगवचनमेकार्थ्यादिति चेन्न सामर्थ्यभेदात् ॥ ४ ॥

अर्थ--यहां यह शंका होती है कि क्षुधा और पिपासा इन दोनोंका भिन्न भिन्न ग्रहण सूत्रमें किया गया है वह व्यर्थ है क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है ? उत्तर--यह शंका ठीक नहीं है कारण दोनोंकी सामर्थ्य भिन्न भिन्न है, क्षुधाकी सामर्थ्य दूसरी है और पिपासाकी सामर्थ्य दूसरी है अर्थात् एकवार भूख की बाधा सहन की भी जासकती है परंतु प्यासकी वाधा नहीं सही जाती है उसका सहन करना क्षुधा की बाधासे भी बहुत कठिन है इसलिये दोनोंकी सामर्थ्य भिन्न भिन्न है इसीलिये दोनोंका सूत्रमें भिन्न भिन्न उल्लेख किया गया है। फिर शंका--

अभ्यवहारसामान्यादितिचेन्नाधिकरणभेदात् ॥ ५ ॥

अर्थ--यहां फिर शंका होती है कि भोजनका सामान्य विषय होनेसे दोनोंका एक ही अर्थ है अर्थात् आहार और पान दोनोंही भोजन सामान्यमें ग्रहण कर लिये जाते हैं इसदृष्टिसे दोनोंका एक ही अर्थ है ? उत्तर--यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि दोनोंका आधार भिन्न भिन्न है। क्षुधाके प्रतिकारका

निश्चल होकर बैठ रहते हैं ऊंचे नीचे कठोर तीक्ष्ण ठंडे और गरम आदि प्रदशोंमें बैठकर वहांका अनुभव करते हुये भी वे धीर वीर मुनिराज कभी उन गृहस्थावस्थामें भोगे हुये कोमल गद्दियोंके बिछाने आदिके स्पर्श जनित सुखोंका स्मरण भी नहीं करते हैं सदैव प्राणियोंकी पीडाके दूर करनेमें ही जो उद्यत रहते हैं, ज्ञानाभ्यास ध्यानाभ्यासके साधन करनेमें ही जिनकी बुद्धि लगी रहती है तथा वीरासन उत्कुटिकासन, वज्रासन, गोदूहासन, मृतकासन, खड्गासन, पद्मासन, धनुषासन, आदि कठिन कठिन आसनों द्वारा ध्यान करनेमें ही जिनको प्रेम हो रहा है ऐसे मुनिराज आसनसंबंधी दोषोंको जीतनेसे निषद्यापरीषहजयी कहलाते हैं। अब शय्यासन परीषहका स्वरूप कहते हैं।

आगमोदितशायनात् अप्रच्यवः शय्यासहनं ॥ १८ ॥

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे ध्यान करनेसे मार्गगमनका परिश्रम होनेसे जो मुनिराज खेदको भी प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् बहुत थक भी चुके हैं, जो तीक्ष्ण और ऊंची नीची बहुत बालू रेत कंकणी, ठीकरी खप्परोंके टुकडे आदिसे भरे हुए अत्यंत शीत और उष्ण भूमि प्रदेशोंमें जो एक मुहूर्त मात्र निद्रा लेते हैं, जो कभी एकही करवटसे लेटे रहते हैं, कभी डंडेके समान लम्बे सीधे कभी संकुचित अंग करके जैसेके तैसे एक आसनसे ही लेटे रहते हैं एक करवटसे लेटनेसे जो उनके शरीरमें बाधा होती है उसे सहन करते हैं, संयम पालनेकेलिये अथवा क्षुद्र प्राणियोंको कोई बाधा न हो इसके लिये वे मुनिराज थोडा भी हलन चलन नहीं करते हैं। मिथ्यादृष्टि व्यंतर देव, अन्य दुष्ट पुरुष आदि द्वारा सताये जाने पर भी जो कभी वहांसे उठकर चले जानेकी इच्छा भी नही करते हैं यदि मरणका भी भय उपस्थित हो जाय तो भी निःशंक रीतिसे वहींपर ठहरे रहते हैं, जिस प्रकार पडी हुई लकडी एक स्थानपर ही स्थिर रहती है उसी प्रकार जो एक स्थानपर ही विना करवट बदले स्थिर रहते हैं अथवा जिसप्रकार मृतजीव चल विचल नहीं होता है उसी प्रकार जो इधर उधर करवट बदलते नहीं हैं वे कभी ऐसा भी विचार नहीं

आधार दूसरा है और पिपासाके दूर करनेका आधार दूसरा है अर्थात् क्षुधाकी निवृत्तिका उपाय आहार है और पिपासाकी निवृत्तिका उपाय जल है इसलिये निवृत्तिके निमित्तोंके भेदसे दोनोंमें भेद है। अव शीतपरीषहको कहते हैं--

शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा ॥ ६ ॥

अर्थ--मुनिगण वस्त्रोंका सर्वथा परित्याग करदेते हैं वे नग्न दिगम्बर रहते हैं और पक्षीके समान जिनका स्थान भी कोई निश्चित नहीं है, एक शरीर मात्र ही आधार है तथा शीत ऋतु वसंतऋतु वर्षारितु आदि ऋतुओंमें वनमें वृक्षोंके नीचे रास्तोंमें गुफाओंमें ओला ओस पाला और वरफ पडनेसे तथा जल कणोंसे मिली हुई ठंडी ठंडी हवा लगनेसे जिनका शरीर ठंडीसे जकड गया है फिर भी वे मुनिराज उस ठंडीके दूर करनेमें समर्थ जो दूसरे द्रव्य अग्नि आदिक हैं उनका स्मरण भी कभी नहीं करते हैं किंतु नारकियोंको जो अति तीव्र शीतवेदना होती है उसका स्मरणकर अपनी शीत वाधाकी तनिक भी परवा नहीं करते हैं परमार्थ जो मोक्ष उसके साधनमें कहीं वाधा न आजाय इस भयसे उस शीतके प्रतीकारके लिये वे विद्या मंत्र औषधि पत्ते, छाल, चर्म, तृण, मृगछाला, आदि पदार्थोंके संवंधकी कभी इच्छा भी नहीं करते हैं किंतु शरीरको परवस्तु ही समझते हैं धैर्यविशेष ही जिनके आवरण है अर्थात् वे विशेषरूपसे धैर्य धारणरूपी वस्त्रोंको ही पहनते हैं, वे मुनिराज उन महलोंका भी स्मरण कभी नहीं करते हैं जिनके भीतर वे गृहस्थावस्थामें रहते थे, जिन घरोंमें जाडेके दिनोंमें धूपदानोंमें धूप दी जाती थी, चारोओर दीपक जलते रहते थे सुंदर सुंदर नव यौवनवती स्त्रियोंके गरम और कठोर स्तन कटिभाग भुजाओंके उष्ण स्पर्शसे शीत वाधाओंको गृहस्थावस्थामें दूर करते थे, जो घर कामसुखरसके स्थान थे उन घरोंमें पहले किये हुये निवासको वे न तो कभी स्मरण ही करते हैं और न उन सुखोंका अनुभव ही करते हैं किन्तु उन सव सुखोंको निःसार समझते हैं। शीतवाधासे वे कभी विषाद भी नहीं करते हैं संयमके पालनमें सदैव

करते हैं कि यह स्थान व्याघ्र, सिंह, अजगर सर्प आदि दुष्ट भयानक जंतुओंसे भराहुआ है इसलिये यहांसे अतिशीघ्र चला जाना ही हितकारी है, नहीं मालूम इतनी वडी रात्रि कब पूरी हो पावेगी इस प्रकारके विषादभावको भी वे मुनिराज कभी नहीं धारण करते हैं और यदि जिस स्थानमें भयंकर जानवरों की अथवा तीक्ष्ण भूमि आदिकी वाधा नहीं भी हो सुखकर स्थान भी उन्हें मिलजाय तो भी वे उससे संतोष और प्रसन्न नहीं होते हैं तथा पहले गृहस्थावस्थामें जो मक्खनके समान अतिकोमल शय्यापर शयन किया था उसके सुखानुभवका भी वे कभी स्मरण नहीं करते हैं, इस प्रकार आगममें विधान किये गये शयनके स्वरूपसे जो विचलित नहीं होना है और भले प्रकार उसी विधिके अनुसार शयन परीषहका सहन किया जाना है इसीका नाम शय्यापरीषहजय कहलाता है। अब आक्रोष परीषहका स्वरूप कहते हैं।

अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः ॥ १९ ॥

अर्थ—तीव्र मोहसे विशिष्ट मिथ्यादृष्टि जो आर्यजन अथवा म्लेच्छजन, दुष्टजन, पापाचारी मदोन्मत्त विक्षिप्त शंकितवृत्तिवाले मनुष्य हैं उनके द्वारा कहेगये मा[1] शब्द धिकार शब्द और भी कठोर तिरस्कार करनेवाले तथा निंद्य वचनोंको सुनकर भी शांतस्वभावी मुनिराज उन वचनोंसे क्षुब्ध नहीं होते हैं किन्तु दृढचित्त बने रहते हैं यद्यपि उन पापी दुष्ट पुरुषोंके वचन ऐसे बुरे निकलते हैं कि जिनकी कानमें आवाज पहुंचते ही अर्थात् जिन्हें सुनते ही सुननेवालेके हृदयमें शूल खडा हो जाय क्रोधाग्निकी ज्वाला एकदम बढजाय ऐसे द्वेषभरे अप्रिय शब्दोंको सुनकर भी मुनिराज मनमें चंचलता नहीं लाते हैं किन्तु धीरवीर शांत बने रहते हैं। यद्यपि वे मुनिराज इतनी सामर्थ्य भी रखते हैं कि यदि इच्छा करें तो उस कहनेवालेको उसी समय जलाकर भस्म कर डालें अर्थात् तपके प्रभावसे

१—ऐसा मत करो, इधर मत आवो, यहांमत बैंठो इत्यादि निषेधकारक वचनोंको मा कहते हैं।

सावधान रहते हैं यही शीतपरीषहका सहन करना अथवा शीत परीषहजय कहलाता है ॥ अब उष्ण परीषहका स्वरूप कहते हैं—

दाहप्रतिकारकांक्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनं ॥ ७ ॥

अर्थ—ग्रीष्मकालसंबंधी वहुत तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंसे जिनका शरीर संतप्त हो रहा है तथा प्यास लगनेसे उपवास करनेसे पित्तज्वर हो जानेसे पसीना परिश्रम आदिसे जिनके शरीरमें गरमी वढ गई है पसेव कंठका सूखना दाहका उत्पन्न होना आदिसे जिनका शरीर पीडित हो रहा है फिर भी वे मुनिराज गृहस्थ जीवनमें भोगे हुए शीतोपचारोंका स्मरण भी नहीं करते हैं जलाशयों (तलावों) में जाकर जलमें प्रवश करना शीतल द्रव्योंका शरीरपर लेपकरना जलका शरीरपर छिडकना ठंडे पृथ्वीतलमें बैठना नील कमल केलेके पत्ते आदि ठंडी और सुगंधित द्रव्योंका स्पर्श करनेवाली वायुका संचार जलके फव्वारे आदि यंत्र चंदन चंद्रमाकी किरणें, सुगंधि युक्त सफेद कमलआदि जितने भी शीतल द्रव्य पहले गृहस्थ जीवनमें भोगे थे उनकी रंचमात्र भी वे कभी चाहना नहीं करते हैं और यह विचारते हैं कि अत्यंत तीव्र उष्ण वेदना तो हमने परवश होकर अनेक वार पाई है परंतु यह तप हमारे कर्मोंके क्षयका कारण है यह योग्यता महान् पुण्योदयसे इस मनुष्य पर्यायमें बडी कठिनतासे प्राप्त हुई है ऐसा विचार-कर वे साधु उस तापकी विरोधनी क्रियाके प्रति कुछ भी आदर नहीं करते हैं, अर्थात् ऐसा कोई भी उष्ण वेदनाका प्रतीकार वे नहीं करते हैं जिससे उनके तपमें बाधा पहुंचे. वे तपकी रक्षामें ही सावधान रहते हैं, उष्णताकी वाधाकी चिन्ता नहीं करते हैं। इस प्रकार चारित्रकी रक्षा करना उष्णपरीषहका सहन करना अथवा उष्णपरीषहजय कहलाता है। अब दंशमशकपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

दंशमशकादिवाधासहनमप्रतीकारं ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन्होंने शरीरके ढकने मात्रका त्याग करदिया है अर्थात् जो नग्न शरीर ही रहते हैं

अनेक ऋद्धियोंके पैदा हो जानेसे तथा शुभाशुभ तैजस पुतलाको पैदा करनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जानेसे वे उन क्रूर दुष्टोंकी ओर आंख उठाकर भी देखलें या मनमें भी उनकी ओर अनिष्टपनेका विचार करलें तो तत्काल उनका सर्वनाश हो जाय परंतु वे क्षमाशील परमशांतपरिणामी साधु परमेष्ठी चित्तमें कभी विकारभाव नहीं लाते हैं किंतु मोक्षसाधनमें वीतराग भावोंमें चित्तको लगाते हैं दुष्ट पुरुषोंके निंद्य कठोर शब्दोंको ही सुन लेते हैं क्योंकि कानमें शब्द सहसा प्रवेश कर ही जाते हैं परन्तु वे उन शब्दोंके अर्थोंपर कभी विचार नहीं करते हैं कितना बुरा शब्द इसने मेरेलिये कहा है इसका बहुत बुरा अर्थ होता है इत्यादि उन शब्दोंके अर्थपर वे ध्यान नहीं देते हैं किन्तु वे उस समय यह विचारते हैं कि यह मेरे ही अशुभ कर्मोंके उदयका फल है जिससे कि इन लोगोंका मुझपर द्वेषभाव है इत्यादि कर्मोंका विपाक विचार कर शांतिदायक उपायोंसे वे शांतस्वभावी मुनिराज अनिष्ट वचनोंको सहन करते हैं इसीका नाम आक्रोशपरीषहका जीतना है ॥ अब बधपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

मारकेष्वमर्षापोहभावनं बधमर्षणं ॥ २० ॥

अर्थ—ग्राम, वगीचा, वनी, नगरोंमें रात दिन एकाकी नग्न दिगम्बर होकर मुनिराज विहार करते हैं उन्हें देखकर, चारो ओर सब जगह घूमनेवाले चोर डांकू राक्षस म्लेच्छ, भील वधिक, शिकारी पहलेसे ही अनिष्ट करनेवाले अथवा पहले जन्मके विरोधी और स्वभावसे वैरभाव धारण करनेवाले अन्यमती ये सभी लोग उनपर तीव्र क्रोध करने लगते हैं और उन्हें मारते हैं, फटकारते हैं, खींचते हैं, बांध देते हैं, शस्त्रोंसे मारते हैं फिर भी उन दुष्टोंसे वुरी तरह सताये जानेपर भी वे मुनिराज कभी हृदय में द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होने देते उस समय भी वे शांतरसमें निमग्न रहते हैं। वे उस सयय यह विचार करते हैं कि ये लोग मेरे जिस शरीरको मारते हैं खीचते हैं वह शरीर तो नियमसे नष्ट होनेवाला ही है ये लोग तो बडी चतुराईसे इस शरीरका घात कर रहे हैं मेरे व्रत शील भावना आदि आत्मीय गुणोंका

और कहीं भी वंद मकानोंमें जो नहीं रहते हैं केवल दूसरोंके द्वारा वनवाये हुये स्थानोंमें वसतिकाओंमें विना किसीकी वनाई हुई गुफाओं और गुफा सरीखे विलों (पृथ्वीतल भागों) में जो रहते हैं उनमें रात में अथवा दिनमें डांस, मच्छर, मक्खी, कोयल, सूवा, मधुमक्खी. जूंआ (शिरके कीडे) खटमल. कीडे चीटी, विच्छू आदि भयंकर विषैले जंतु आकर शरीरपर गिरते हैं और रात दिन उनका शरीर काटते रहते हैं जिनके काटनेसे उन मुनिराजोंके शरीरमें तीव्र वेदना उत्पन्न होती रहती है तो भी उनका मन उस वेदनासे जरा भी व्याकुल या खिन्न नहीं होता है केवल वे उस पीडाको अपने पूर्व कर्मके उदयसे होनेवाली समझते हैं अर्थात् दूसरे जीवोंको वे उस वेदनामें कारण नहीं समझते किंतु पूर्वकर्मका उदय ही उसमें वे कारण समझते हैं और विद्या मंत्र औषधि आदि प्रयोगोंसे उस वेदनाको दूर करनेकी इच्छा भी कभी नहीं करते हैं, यदि उन विषैले जंतुओंके काटनेसे उनका शरीर भी नष्ट होजाय अर्थात् मरण भी होजाय तो भी निश्चय दृढात्मा वने रहते हैं थोडा भी चलायमान वे धीर वीर मुनिराज नहीं होते हैं जिसप्रकार परचक्रकी सेनाको परास्त करनेके लिये उद्यमी मदोन्मत्त हस्ती शत्रुजनोंके नाना शस्त्रोंका आघात सहता जाता है तो भी वह पीछा नहीं हटता किंतु शत्रुपक्षको परास्तकर निर्विघ्नरूपसे विजय प्राप्तिकरलेता है उसी प्रकार कर्मोंकी आत्मामें आई हुई सेनाके परास्त करनेकेलिये जो मुनिराज सदा प्रयत्नशील रहते हैं वह दंशमशकादिवाधाका सहना अथवा उन दंशमशकादिकी वाधाका प्रतीकार नहीं करना अथवा दंशमशक परीषह जय कहलाता है। शंका—

दंशमशकमात्रप्रसंग इति चेन्नोपलक्षणार्थत्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि दंशमशकका ही सूत्रमें ग्रहण है इसलिये वाधा पहुंचानेवाले अन्य जंतुओंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, वाधाकारक दंशमशकका ही ग्रहण सिद्ध होता है? उत्तर— यह शंका ठीक नहीं है कारण कि यहांपर दंशमशकका शब्द उपलक्षण रूप है। जितने भी काटकर

तो ये कुछ विगाड नहीं करते हैं इस प्रकार विचारकर अपने वीतराग भावोंको विशुद्ध ही रखते हैं जिस प्रकार कोई दुष्ट पुरुष अविवेकी यदि चंदनको जला डाले तो भी चंदन अपने परम शीतल स्वभावसे सुगंधि को ही देता है जलनेपर भी उससे सुगंधि मिलती है इसीप्रकार वे मुनिराज दुष्टोंसे वुरी तरह सताये जानेपर भी उनका भलाही विचारते हैं अपने भावोंको परम शुभ रखते हैं और कर्मोंका विपाक विचारकर विशुद्धतामें लीन होकर उन कर्मोंकी निर्जरा करडालते हैं परम दृढचित्त रहते हैं मृत्युका अवसर आनेपर भी मनमें अधीरता या उद्वेग नहीं लाते हैं किन्तु परम हितकारी औषधिका ही सेवन करते हैं वही क्षमा उनका सवसे वडा वल है जो मारनेवाले दुष्ट पुरुष हैं उनको भी वे मित्रके समान समझते हैं और उनपर क्रोधभाव नहीं करते हैं इस प्रकार मारण आदि शरीर घातक संकटोंके प्राप्त होने पर भी उन घातकोंके प्रति कभी दुर्भाव नहीं लाना किन्तु शांतिसे उन संकटोंको सहन करना इसीका नाम बध परीषहका जीतना है अथवा वधपरीषह सहन है। याचना परीषहका स्वरूप कहते हैं—

प्राणात्ययेपि आहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः ॥ २१ ॥

अर्थ—अनेक उपवासादि करनेसे क्षुधा सता रही है, मार्गकी थकावट होरही है, तप भी उग्रतासे धारण किये जाते हैं शरीरमें रोग भी उत्पन्न होगये हैं, इन कारणोंसे मुनिराजकी समस्त शक्ति (वल) क्षीण हो चुकी है, जिस प्रकार सूखा हुआ वृक्ष रसविहीन हो जाता है उसी प्रकार जिनका आहारादिके अभावमें शरीर सूखगया है उसमें मोटाई चिकनाई आदि गीलापन नहीं रहा है, हड्डी और नशें शरीरके ऊपर उठ आई हैं अर्थात् कमजोरीके कारण हड्डी और नशें ऊपर चमक उठी हैं तथा नेत्र भीतर घुस गये हैं, ओठ सूख गये हैं, गाल बैठ गये हैं और पीला मुंह पड गया है, जैसे सूखाहुआ चमडा सिकुड जाता है उसीप्रकार जिनके अंग और उपांगोंकी खाल सिकुड गई है जंघा, घुटने, कमर वाहोंके जोड शिथिल हो चुके हैं ऐसी अवस्था शरीरकी होजाने परभी वे मुनिराज देशकालकी अवस्थाका

शरीरमें बाधा पहुंचानेवाले जीव होते हैं उन सबोंका ग्रहण इस दंशमशक शब्दसे ही हो जाता है जैसे कौवोंसे घीकी रक्षाकरना तो इसका यह अर्थ नहीं है कि रक्षा करनेवाला कौओंसे तो रक्षा करता रहे परंतु और घी खानेवाले पक्षियों तथा जानवरोंसे उसकी रक्षा नहीं करे किंतु वहांपर काक शब्द उपलक्षण है काकके कहनेसे सभी जीवोंसे घी की रक्षा करना चाहिये यही उस काकशब्दके कहनेसे उपलक्षण अर्थ सिद्ध होता है उसीप्रकार यहांपर सूत्रमें जो दंशमशक शब्द कहा गया है वह भी उपलक्षण रूप है उसके कहनेसे भी समस्त काटनेवालोंका ग्रहण समझ लेना चाहिये। फिर शंका—

यद्येवमन्यतरग्रहणं ॥ १० ॥

अर्थ—फिर यह शंका होती है कि यदि उपलक्षणसे ही अन्य जंतुओंका ग्रहण दंशमशक शब्दसे हो जाता है तो फिर दंश अथवा मशक इन दोनोंमेंसे भी किसी एकका ही ग्रहण करना ठीक है एकके कहनेसे दूसरेका ग्रहण तो उपलक्षणसे ही सिद्ध होजाता है इसलिये या तो सूत्रमें दंश कहना चाहिये या मशक कहना चाहिये, दंशमशक इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करना व्यर्थ है? उत्तर—

अन्यतरोपादाने स्वरूपग्रहणप्रसंगात् ॥ ११ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाका उत्तर यह है कि यदि दंशमशक इन दोनोंमेंसे किसी एकका ग्रहण किया जायगा तो वह एक शब्द केवल अपने स्वरूपका ही बोध करावेगा उपलक्षणरूप अर्थका बोध उस एक शब्दसे नहीं होगा, किंतु जब दूसरा शब्द भी साथमें रहता है तो उसका अर्थ उपलक्षण रूप हो जाता है दंशके समान मशक आदि बाधा पहुंचानेवाले जंतुओंका ग्रहण उस दूसरे शब्दके कहनेसे हो जाता है इसीलिये दोनोंका प्रयोग सूत्रमें किया गया है वह ठीक है॥ अब नाग्न्यपरीषहका स्वरूप कहाजाता है।

जातरूपधारणं नाग्न्यं ॥ १२ ॥

अर्थ—साधुओंका नग्नता गुण कितना उत्तम है उसका खुलासा यह है कि एक तो उस नग्नताके

विचार कर ही आहारके लिये निकलते हैं अथवा देशकालकी जैसी मर्यादा चरणानुयोग शास्त्रमें कही गई है उसीके अनुसार वे विहार करते हैं वचन गुप्तिका पालन करते हैं अथवा मौनसहित ही आहारके लिये निकलते हैं गृहस्थ पात्रके यहां शरीरका दिखाना मात्र ही जिनका कर्तव्य है अर्थात् आहारके लिये कोई संकेत आदि नहीं करते हैं यदि दातारका चित्त अन्यत्र हो तो वे देरीतक वहां खडे भी नहीं रहते हैं किन्तु अपना शरीर मात्र दिखादेते हैं इसी अवसरमें यदि आहारदाता अपने परम शुभोदयसे उनका पडगाहन करलेवे तो ठीक है नहीं तो वे आगे बढजाते हैं अथवा लौट जाते हैं। इतना घोर तप करने पर भी वे उसका घमंड नहीं करते हैं किन्तु सम्यग्ज्ञानप्राप्तिसे चित्तको विवेकयुक्त बनाये रखते हैं यदि उन मुनिराजोंको प्राण जानेका भी अवसर आजाय तो भी वे आहार वसतिका औषधिकी प्राप्तिके लिये दीन शब्द नहीं कहते हैं, मुखको विकार युक्त नहीं बनाते हैं और भी ऐसी कोई शरीरकी संज्ञा या संकेत नहीं करते हैं जिससे उनकी वृत्तिसे आहारादिकी चाहना प्रतीत हो अर्थात् प्राण जानेका अवसर आनेपर भी वे याचना नहीं करत हैं किंतु शास्त्रीय नियत मुनिमर्यादाके अनुसार सिंहवृत्ति ही रखते हैं तथा जिसप्रकार रत्नका व्यापारी जोंहरी मणियोंको दिखाता है उसी प्रकार वे मुनिराज आहारके लिये गमन करते समय अपने शरीरको दिखा देते हैं उसे दिखानेमात्रको वे लुब्धकता (याचनावृत्ति) नहीं समझते हैं जैसे रत्न व्यापारी मणियोंके दिखानेमें अपनी दीनता नहीं समझता है किंतु दिखाना कर्तव्य समझकर दिखाता है उसी प्रकार मुनिराज शरीर दिखानेमात्रको वे याचना-वृत्ति नहीं मानते हैं किंतु शास्त्रीय मर्यादानुसार उतना वे मुनिवृत्तिका कर्तव्य समझते हैं तथा जिस प्रकार कोई अपने लिये बंदना करनेवालेको हाथ उठाकर आशीर्वाद देता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी पाणिपुट धारण करनेको दीनवृत्ति नहीं समझते हैं अर्थात् यदि कोई यह शंका करे कि मुनिराज आहारके लिये अपने हाथोंको पसारदेते हैं वह उनकी दीनवृत्ति क्यों नहीं समझी जावे? तो इसीके

कारण साधुओंकी गुप्ति और समिति विना किसी विरोधके पलजाती है उस नग्नतामें परिग्रहका सर्वथा त्याग हो जाता है, पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य पाला जाता है और मोक्षकी साधनभूत जितनी भी चारित्र क्रियाएं हैं वे सब विना किसीकी याचना किये इस नग्नतागुणसे पाली जाती हैं अर्थात् नग्नता रहनेसे कोई भी उपकरण किसीसे मागनेकी आवश्यकता नहीं रहती है निर्ग्रंथरूप अवस्थासे मोहग्रंथि और परिग्रह गांठ छूटकर आत्मा मोक्षसाधनमें सुतरां तत्पर हो जाता है यह नग्नता निर्विकार वालकके समान सुंदर और समस्त विकारोंसे रहित है इसके होनेसे फिर शरीर पर संस्कारोंके करने की भी कोई उपयोगिता और आवश्यकता नहीं रहती है। विकारके कारण भी कोई नहीं रहते इसलिये नग्नता गुण असंस्कृत और विकाररहित है। मिथ्यादर्शनसहित जीवोंका यह नग्नतागुण प्रतिपक्षी है अर्थात् जो श्वेतपटादिक सचेल अवस्थासे मोक्ष मानते हैं वह मिथ्यादर्शनका रूप है सचेलावस्था मोहकारण स्वरूप है जवतक उसका त्याग नहीं होता है तवतक आत्मा परिग्रहका त्यागी नहीं कहा जासकता है और विना समस्त परिग्रहका त्याग किये वह साक्षात् मोक्षमार्गमें नहीं लगसकता है इसलिये नग्नता गुण उस मिथ्यादर्शनसे सहित परिणामोंका विरोधी है, परम मंगल स्वरूप है। इत्यादि अनेक सद्गुणमंडित इस नाग्न्य अवस्थाको धारण करनेवाले श्रीमुनिराज स्त्रियोंके स्वरूपको सदैव अपवित्र घृणित और निर्जीव ग्लानिरूप भयानक स्वरूप समझते हैं, और वैराग्य भावनासे मनकी चंचलताओंको रोककर उसे वशमें रखते हैं, मनुष्यत्वसवंधी विकारभावसे जो रहित है, नग्नरूपमें उनके किसी प्रकार दोष नहीं आनेसे नग्न परीषह जयकी सिद्धि हो जाती है इसप्रकार निर्विकार जात रूपका धारण करना उत्तम है मोक्षप्राप्तिका कारण है यही नग्नपरीषहजय कहलाता है। दूसरे लोग जो दिगम्बर जैनधर्मसे वाह्य हैं वे मनके विकारोंको रोकनेमें असमर्थ रहते हैं, जव वे मनके विकारको ही नहीं रोक सकते तब वाह्य अंगमें भी विकारका होना स्वाभाविक है इसलिये वे उस वाह्य अंगके

समाधानकेलिये यह कहा गया हैं कि वह दीनवृत्ति नहीं हैं किन्तु मुनिचर्याके अनुसार आहार ग्रहण करनेकी विधि है। जिस प्रकार कोई शिष्य गुरुको प्रणाम करें तो गुरु हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद देता है वह आशीर्वाद गुरुकी दीनवृत्ति या किसी प्रकारकी चाहना नहीं कही जासकती किंतु हाथ उठाकर आशीर्वाद देना विधिमात्र है उसी प्रकार मुनिराज पाणिपुटमें जो आहार ग्रहण करते हैं उस पाणिपुट की वृत्तिको वे दीनवृत्ति नहीं समझते हैं किंतु अदीन, विधिमार्ग समझेत हैं इस प्रकार याचनाका सहन करना याचनापरीषहजय कहलाता है। आजकल काल दोषसे अनेक दीन पुरुष पाखंडी पुरुष जगत्में पैदा हो गये हैं वे लोग मुनिवृत्ति धारण करलेत हैं परंतु मुनिमार्गको नहीं पहचानते हैं और न वे आत्मस्वरूपको ही पहचानते हैं ऐसे लोग याचनावृत्ति करते हैं परंतु जो आत्मवेदी हैं आर्ष मार्गको पहचाननेवाले साधु हैं वे आजकल भी उसी प्रकार मोक्षमार्ग पर दृढ रहते हैं जैसे चतुर्थ कालमें रहते थे। अब अलाभ परीषहका स्वरूप कहते हैं—

अलाभेपि लाभवत्संतुष्टस्याऽलाभविजयः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु अनेक जगह घूमती है उसी प्रकार विना किसी परिग्रहके नाना देशोंमें मुनिराज विहार करते हैं, अपनी शक्तिका कितना ह्रास होगया है इस वातको वे कभी प्रगट नहीं करते हैं, अथवा वे क्षीणशरीरी होगये हैं जो दिनभरमें एकवार ही भोजनको ग्रहण करते हैं एकबार अपने शरीरको दिखाने मात्रका जिनके नियम है अर्थात् गृहस्थके द्वारपर जाते हुये अपना शरीर वे एकवार दिखा देते हैं. ऐसा नहीं है कि यदि द्वाराप्रेक्षण करनेवाला नहीं देखे तो वार वार खडे हुए अपनी मूर्तिको दिखाते ही रहें, किंतु नहीं देखे तो आगे बढ जाते हैं। हमको आहार दो इस प्रकारके असभ्य वचनोंके प्रयोग वे कभी नहीं करते हैं अर्थात् आहारके समय वे मौनसहित ही गोचरीको निकलते हैं जो शरीरकी प्रतिक्रिया अर्थात् शरीरकी रक्षाकी कुछ भी चिंता नहीं करते हैं,

विकार मात्रको छिपानेकेलिये लंगोटी चमडा कपडेकी एक छोटीसी धज्जी आदि ढकनेवाली चीजोंको धारण किये रहते हैं अंतमें वह उनका वस्त्रादिधारण केवल शरीरके संवरण (ढकने) का ही कारण है कर्मोंके संवरण (रोकने) का कारण नहीं है प्रत्युतः कर्मके विशेष वंधका कारण है।

संयमे रतिभावादरतिपरीषहजयः ॥ १३ ॥

अर्थ—संयमी मुनिराज इन नीचे लिखी वातोंसे उत्पन्न होनेवाली अरतिको धैर्य विशेषसे निवारण करते हैं। वे वातें इस प्रकार हैं–क्षुधा आदिकी बाधा जव सताती है तव संयमकी रक्षा करनेमें, इंद्रियोंकी प्रबलताको बडी कठितासे जीतनेमें, व्रतोंके भले प्रकार पालन करनेके भारकी गुरुता प्राप्त होने पर सदैव प्रमादरहित परिणामोंकी सम्हाल करनेमें भिन्न भिन्न देश भाषाओंके नहीं जानने पर विरुद्ध और चपल प्राणियोंसे भरे हुये भयानक मार्गोंमें अथवा राज्यके कर्मचारियों आदिसे भयानक परिस्थितिमें नियम रूपसे एकाकी विहार करने आदिसे जो अरति (खेद) उत्पन्न होती है उसे वे धैर्यविशेषसे निवारण करते हैं, अर्थात् खेदजनक कारणोंके उपस्थित होनेपर भी वे कभी खेद नहीं करते हैं किंतु धैर्य और समताभाव ही धारण करते हैं, संयममें रतिभाव धारण करते हैं विषयसुखसंबंधी रति (राग) को विष मिले हुए भोजनके सेवनके समान परिणाममें खराब हानि करनेवाले समझते हैं इसप्रकार उन मुनियोंके संयममें होनेवाले रागभावमें कोई बाधा नहीं आनेसे अथवा अरतिसे उत्पन्न होनेवाली वाधाका अभाव हो जानेसे अरतिपरीषहका सहना अथवा अरति परीषहजय कहलाता है। शंका—

सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेन्न क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः ॥ १४ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि क्षुधादिक जितनी भी परीषह हैं वे सभी अरति उत्पन्न करनेकी कारण हैं अर्थात् सभी परीषहोंमें अरति होती है इसलिए उन क्षुधादिक परीषहोंके जीतनेसे ही अरतिका जीतना सिद्ध होजाता है फिर अरति परीषहका जो स्वतंत्र ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है ?

आज इस घर कल उस घर आहार लूंगा इत्यादि संकल्प भी वे नहीं करते हैं किंतु जहां शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजनकी प्राप्ति होगी वहींपर ग्रहण करते हैं, यदि एक ग्राममें आहारकी योगाई नहीं मिली तो दूसरे ग्राममें आहारकी खोजमें निकलें ऐसा भी वे मुनिराज नहीं करते हैं अर्थात् यदि एक ग्राममें अथवा उसमें भी जितने घरोंका वृत्तिपरिसंख्यान किया हो उतने घरोंमें आहारकी विधि नहीं मिले तो वे फिर दूसरे ग्रामको नहीं जाते हैं किंतु जंगलको ध्यानसिद्धिके लिये लौट जाते हैं जो केवल पाणिपुटमात्र ही पात्र रखते हैं अर्थात् दोनोंहाथमें ही आहार लेते हैं और कोई पात्र नहीं ग्रहण करते हैं यदि आहारकी विधि जैसी वे चाहते हैं वैसी बहुत दिनोंमें और बहुत घरोंमें भी उन्हें नहीं मिली हो तो भी वे चित्तमें खेद नहीं मानते हैं यह दातार नहीं है, यह तो कोई दूसरा ही है इस प्रकारकी विशेष परीक्षामें भी जो उपयोग नहीं देते हैं आहारकी प्राप्तिकी अपेक्षा आहारके नहीं मिलनेमें ही विशेष रूपसे मेरे तपकी सिद्धि होती है इस विचारसे ही वे तपस्वी मुनिराज संतुष्ट रहते हैं यही अलाभ परीषहका सहन करना, अथवा अलाभ परीषहका विजय कहलाता है ॥ अब रोग परीषहका स्वरूप कहते हैं—

नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनं ॥ २३ ॥

अर्थ—मुनिराज ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर तो दुखोंका ही स्थान है, इसमें दुःख ही दुःख भरे हुये हैं अपवित्रताका घर है, यह शरीर इतना मलिन है कि वाहरकी वस्तुएं भी इसके संसर्गसे मलिन होजाती हैं जिप्रकार पुराना कपडा छोड दिया जाता है उसीप्रकार यह शरीर भी छोडने योग्य है अर्थात् पुराना होनेपर अंतमें छोडना ही पडता है तथा पित्त, वात, कफकी बढवारीके निमित्तसे अनेक रोगोंकी पीडासे यह शरीर सदैव जकडा ही रहता है, रोगोंसे कभी छुटकारा ही नहीं होपाता है, इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करते हुये वे साधु इस शरीरको परवस्तुके समान अपनेसे भिन्न समझते हैं उनकी शरीरमें सदैव उपेक्षा बुद्धि (उदासीनता) ही रहती है इसीलिये रोगग्रस्त होने

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि क्षुधादिकके अभावमें भी मोहनीय कर्मके उदय होनेसे अरति हो जाती है। मोहके उदयसे जिनके चित्त व्याकुल हो जाते हैं उनके क्षुधादिकी वेदनाका अभाव होनेपर भी संयममें अरति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् क्षुधादि परीषह तो क्षुधादि वेदनाओंके होनेपर ही होती है परंतु अरतिभाव क्षुधादि वेदनाओंके नहीं होनेपर भी केवल मोहोदयसे होता है इसलिये उसका स्वतंत्र परीषहोंमें ग्रहण करना ठीक ही है। अब स्त्रीपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

वरांगनारूपदर्शनस्पर्शादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरिषहजयः ॥ १५ ॥

अर्थ—बाग महल आदि एकांत स्थानोंमें रागद्वेषविशिष्ट यौवनका घमंड करनेवाली अपने सुंदर रूपका घमंड करने वाली विभ्रम और उन्मादको पैदा करनेवाले मद्यादिका पान करनेवाली स्त्रियोंके द्वारा बाधा पहुंचानेपर अर्थात् इन यौवन रूप आदिके घमंड और मदिरा पान आदिके नशेसे मदोन्मत्त स्त्रियोंद्वारा वाधा देने पर भी और उनके नेत्रमुख भ्रकुटिके विकार धारण करने पर भी शृंगाररसयुक्त कटाक्ष करना विहार करना विलास लीलाका विस्तार करना कटाक्षोंका फेंकना सुकुमार कोमल चिकने मोटे ऊंचे स्तनरूप कलशोंका धारण करना, अत्यंत पतला पेट, मोटी जांघें सुंदररूप सुंदरगुण सुंदर भूषण सुगंध वस्त्र माला आदि कारणोंके वशीभूत होकर मनकी चंचलता धारण करनेवाली स्त्रियोंके दर्शन और स्पर्शनकी अभिलाषासे जो मुनिराज सर्वथा रहित होते हैं। सुरीला, कोमल, विस्तारयुक्त मीठा शब्द करनेवाली तांत वाजा वासुरी और प्रियजनके अत्यंत मधुर गीत आदिके सुननेमें भी जिनका विलकुल आदर नहीं है वे मुनिराज सदैव संसार समुद्रके कष्ट और नरकोंके अत्यंत भयानक दुःख और रौद्र तथा आर्तध्यानोंकी कुटिलताका विचार करते हैं, स्त्रियों द्वारा होनेवाले अनर्थोंसे जो सदैव दूर रहते हैं उन्हीं साधुओंके स्त्रीपरिषहजय होता है। अन्यमतियोंने जिन ब्रह्मा आदि देवताओंकी कल्पना मान रक्खी है वे देवता तिलोत्तमा अप्सरा आदि स्त्रियोंका रूप देखकर और उनके चंचल

पर भी वे उसकी चिकित्सासे सदैव विरक्त रहते हैं। किंतु केवल धर्म साधनका आधार समझकर शरीरके द्वारा जीवनकी यात्राका निर्वाह होता रहे इसकेलिये जिस प्रकार फोडेपर मलम पट्टी कर दी जाती है उसी प्रकार शास्त्रविधानके अनुसार आहारको ग्रहण करलेते हैं। जलौषधि[1] प्राप्ति[2] आदि अनेक ऋद्धियां भी विशेष तपके प्रभावसे वे मुनिराज प्राप्तकर चुके हैं जिनसे यदि वे चाहें तो तुरंत शरीरके सब रोगोंको दूर कर सकते हैं परंतु ऋद्धियोंकी प्राप्ति होनेपर भी शरीरकी चाहना नहीं होनेसे वे शरीरसंबधी रोगोंका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते हैं किन्तु वे इस प्रकारका विचार करते हैं कि शरीरमें जो रोग हुआ है वह पूर्वमें किये गये पापकर्मका फल है, वह तो भोगना ही पडेगा चलो अच्छा है कि इन रोगोंके हो जानेसे पापोंका फल मिल जायगा तो इसी उपायसे हम कर्मोंके ऋणसे छूट जांयगे इस प्रकार चिंतवन करनेवाले मुनिराज जो रोगोंको सहन करते हैं, उनका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते हैं यही रोगपरीषहका विजय है। अब तृणस्पर्श परीषहका स्वरूप कहते हैं—

तृष्णादिनिमित्तवेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः ॥ २४ ॥

अर्थ—जहां कहीं जैसी ऊंची नीची कांटे कंकरी आदिसे भरी हुई पृथ्वी मिल गई वहींपर मुनिराज शयन करते हैं, तथा सूखे पत्ते सूखे तिनकेवाली भूमिमें और कांटे काठका तखता शिलातल आदि प्रासुक स्थानोंमें विना उन कांटे कंकडी काच आदिको दूर किये ही वे मुनिराज किसी रोगके उत्पन्न होजानेसे अथवा मार्गमें चलनेसे जो कुछ ठंडी गरमीसे परिश्रम उत्पन्न हुआ है उसके दूर करनेकेलिये शयन करते हैं अथवा कांटे आदिसे भरीहुई पृथ्वीमें बैठ जाते हैं उससमय उनके शरीरमें वे

१—पसीनाके आनेपर जो उम पसीनामें धूलि जम जाती है उसको जल्ल कहते हैं। जिनके पसीनेमें लगी हुई धूलिसे समस्त रोग दूर हो जाय उसको जल्लोषधि ऋद्धि कहते हैं। २—जमीन पर खडे होकर अगूंठाके अग्रभागसे सूर्यको छूलेने तथा मेरु पर्वतकी शिखरको छूलेने आदिकी सामर्थ्य हो जाना प्राप्तिऋद्धि है।

नेत्रोंके कटाक्षसे विकारको प्राप्त होकर स्त्रीपरीषहरूपी कीचसे अपनेको निकालनेमें समर्थ नहीं होसके हैं अर्थात् अन्यमतियोंके मानेहुये देवता स्त्रियोंके वशमें हो चुके हैं वे स्त्रीपरीषह जीतनेमें असमर्थ ही रहे हैं किंतु नग्न दिगम्बर वीतराग जैन गुरु ही स्त्रीपरीषहविजयी होते हैं। अब चर्या परीषहका स्वरूप कहते हैं—

ब्रज्यादोषनिगूहश्चर्याविजयः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिन मुनिराजने बहुतकालतक गुरुकुलोंमें रहकर ब्रह्मचर्यका अभ्यास करलिया है, बंध मोक्ष पदार्थोंको भले प्रकार जान लिया है, जो कषायोंके दूरकरनेमें तत्पर रहते हैं भावनाओंके भानेमें जिन्होंने चित्त लगा रक्खा है संयमके आयतन अर्थात् संयम धारण करनेके स्थान जो निर्वाण क्षेत्र अतिशय क्षेत्र कल्याणोत्सव अन्य चिर तपस्वी साधु आदि हैं उनकी भक्ति वंदनाके लिये जो देशांतरमें गमन करते हैं गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही जो समस्त क्रियाओंको पालते हैं नाना देशोंमें विहार करनेसे समस्त व्यवहारको जो जानते हैं, ग्राममें एकरात और नगरमें पांचरात उत्कृष्टतासे मुनियोंको ठहरना चाहिये इस कथनके अनुसार ही जो संयम धारण करते हैं अर्थात् ग्राममें एक दिन और नगरमें पांच दिन ठहरनेके विधानके अनुसार ही जो ठहरते हैं। जिसप्रकार वायु विना किसीको साथ लेकर स्वयं चलती है उसीप्रकार मुनिराज भी विना किसी परिग्रहके निर्ग्रंथ दिगम्बर होकर विहार करते हैं, देशकालके प्रमाणके अनुसार जो गमन करनेकी विधि शास्त्रोंमें बताई गई है उसीके अनुसार मार्गमें जो गमन करते हैं, अर्थात् शास्त्रीय विधानका वे गमन करनेमें सदैव अनुभव करते रहते है। दिनमें ही चलना चाहिये सूर्योदयके पीछे और सूर्यास्तके पहले तक ही चलना चाहिये दिनमें भी सामायिक वेलामें नहीं चलना चाहिये, ईर्यासमितिको पालते हुये ही चलना चाहिये परिहारविशुद्धि चारित्रधारी मुनियोंको दिनभरमें दो कोश प्रमाण ही चलना चाहिये रात्रिमें चलना सर्वथा वर्जित है इत्यादि जो मुनियोंके गमनकी मर्यादा नियत है उसीके अनुसार जो

कांटे कंकण मिट्टीके घडोंके टुकडे तिनके सूखे पत्ते आदि नुकीली चीजें चुभने लगती हैं उससे उन्हें बाधा भी पहुंचती है तथा खुजिली भी उत्पन्न हो जाती है तो भी उस दुःखका वे धीरवीर मुनिराज स्मरण और चिंतवन कभी नहीं करते हैं इसलिये तृणादिके स्पर्शसे जो कुछ बाधा होती है उसे शांतिसे सहन करते हैं वे उस बाधाके वशीभूत नहीं होते किंतु उस बाधाको ही अपने वशमें कर डालते हैं इसीका नाम तृणस्पर्शसहन अथवा तृण स्पर्श परीषहका जीतना है ॥ अब मलपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

स्वपरमलापचयोपचयसंकल्पाभावो मलधारणं ॥ २५ ॥

अर्थ—किसी भी जीवको पीडा नहीं पहुंचे इसभावसे मुनिगण स्नान नहीं करनेकी प्रतिज्ञा रखते हैं अर्थात् स्नान करनेसे जलादिका आरंभ भी होता है और जलके पृथ्वीपर गिरनेसे पृथ्वीके जीवोंको भी बाधा पहुंचती है तथा शरीरपर भी कोई जीव बैठ गया हो तो उसको बाधा पहुंच सकती है फिर जलादिके लिये याचनावृत्ति भी करना पडेगी आरंभ, परिग्रहके त्यागी मुनिराज स्वयं कहींसे जल ला भी नहीं सकते हैं इसलिये स्नान करनेका निषेध अट्ठाईस मूल गुणोंमें रक्खागया है इसीलिये स्नान नहीं करनेकी प्रतिज्ञा मुनियोंके रहती है सूर्यकी तीव्र किरणोंसे तप्त पहाड पर ध्यान करनेसे उनके शरीर पर पसीना भी खूब आरहा है, उस पसीनेका भी मल लगाहुआ है तथा उस पसीनेपर हवासे उडकर धूलि भी लग गई है उसका भी मल शरीरपर लगा हुआ है जहां कहीं धूलिसहित जमीनमें बैठ जाते हैं या शयन करते हैं तो वहांकी धूलि लगनेसे भी उनके शरीरपर मल लग गया है, समस्त शरीर पर धूलि पसीना आदिका मल लगा हुआ है तथा छाजन खुजली दाद आदि रोगोंसे जिनका शरीर घिरा हुआ है उनका भी मल लगाहुआ है, तथा नख शरीरके रोम (बाल) दाढी मूछोंके बाल विना धोने आदिके कारण विकारमय दीखते हैं उन केशादिकोंकाभी स्वाभाविक वाह्य मल उन मुनियोंके लगा हुआ दीखता है इत्यादि अनेक प्रकारके मलोंका शरीरपर संसर्ग होनेपर भी उन मल विकारोंको दूर करनेकी वे

गमन करते हैं, मार्गमें चलते हुये जो क्लेश आते हैं उन सबोंको विना प्रतीकारके सहन करते हैं कांटा आदिका लग जाना दुष्ट पुरुषों द्वारा सताये जाना आदि समस्त बाधाओंको शांतिपूर्वक सहन करते भयानक बनी आदि निर्जन स्थानोंमें निर्भय होकर विना किसीकी सहायताकी अपेक्षा लिये सिंहके समान विहार करते हैं, रास्तेमें चलते हुये मुनियोंके पैरोंमें कभी कठोर और तीक्ष्ण कांटा कंकरी आदि चुभ जाती है तो उससे परम कष्ट होजाने पर भी पहले गृहस्थावस्थामें जिन रथ पालकी घोडा हाथी आदि सवारियोंपर गमन करते थे उनका अब वे कभी स्मरण भी नहीं करते हैं और गमनसंबंधी समस्त दोषोंको भले प्रकार दूर करते हैं उन्हीं मुनिराजोंके चर्या (गमन) परीषहका जीतना सिद्ध होता है अर्थात् ऐसेही मुनिराज चर्यापरीषहविजयी कहलाते हैं। अब निषद्यापरीषहका स्वरूप कहते हैं—

संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा ॥ १७ ॥

अर्थ——स्मशानमें, वन वगीचोंमें सूने निर्जन घरोंमें पहाडोंकी गुफाओंमें खोओंमें कोटरोंमें आदि आदि स्थानोंमें जिनमें कि पहले जो मुनिराज कभी ठहरे नहीं है उनमें बैठकर ध्यान लगाते हैं संयम धारण करनेकी विधिको भले प्रकार जानते हैं किसी उपसर्गके प्राप्त होजाने पर धैर्यका ही सहारा रखते हैं और किसी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ध्यान करनेमें जो परमोत्साह रखते हैं बैठकर ध्यान लगानेमें यदि कोई उपसर्ग उपस्थित हो जाय अर्थात् सर्प आदिक काटजाय कहींसे पत्थर आदि गिर पडे कोई दुष्ट जानवर भक्षण करने आपहुंचे या कोई दुष्ट व्याधा उन्हें मारने लगे आदि उपसर्गोंको प्राप्त होनेपर अथवा शरीरमें कोई रोग विकार खडा होजाय तो भी जिस स्थानपर वे ध्यानमें निमग्न हैं उस स्थानसे रंचमात्र भी विचलित नहीं होते हैं और न किसी बाधाको दूर करनेकेलिये मंत्र विद्या आदि प्रतीकारकी ही अपेक्षा करते हैं जिस स्थानपर वे ध्यान लगाकर बैठ जाते हैं उसस्थानपर यदि क्षुद्र जीवों द्वारा भी अनेक प्रकारसे बाधा पहुंचाई जाय तो भी वे वहींपर काष्ठ और पाषाणके समान

कभी इच्छा नहीं करते हैं, न तो अपना ही शरीरका ही मल वे दूर करना चाहते हैं और न दूसरोंके शरीर का ही मल वे दूर करना चाहते हैं उस मलके दूर करनेमें उनका उपयोग ही नहीं है क्योंकि उस शरीर मलके दूर करनेमें उन्हें जीवोंके घातका भय लगा हुआ है किंतु वे विवेकी मुनिराज कर्मरूपी मल और कीचके दूर करनेके लिये ही सदैव उद्यमी रहते हैं, तथा पहले गृहस्थावस्थामें स्नान, लेप उघटन आदि शरीरसंस्कार किये थे उनका स्मरण करनेमें उनकी चित्तवृत्ति पराङ्मुख रहती है अर्थात् उन भोगेहुये भोगोंका वे कभी स्मरण नहीं करते हैं, इसीका नाम मलधारणका सहनकरना अथवा मलपरीषहजय है।

केशलुंचने तत्संस्काराकरणे वा महत्खेदसहनोपसंख्यानमिति चेन्न मलपरीषहावरोधात् ॥ २६ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि केशोंका लोंच करनेमें, अथवा उन केशोंका संस्कार आदि नहीं करनेमें उन मुनियोंको महान् खेद होता है उसका सहन करना भी एक जुदी परीषहजय कहनी चाहिये ? उत्तर यह शंका ठीक नहीं है कारण कि मलपरीषहमें उसका ग्रहण होजाता है। मल परीषहमें मलसमान्यका ग्रहण है, शरीरमल केशमल नखमल रोममल आदि सब मलोंका मलसामान्यमें ग्रहण हो जाता है इसलिये केशलुंचन आदिका सहन करना भी उसी मलपरीषहविजयमें सामिल हो जाता है ॥

अब सत्कारपुरस्कारपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्काराभिलाषः ॥ २७ ॥

अर्थ—मुनिराज सत्कार भक्ति आदि नहीं होनेपर भी मनमें खेद नहीं मानते हैं वे यह नहीं विचारते हैं कि मैंने बहुत कालसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है, मैं बहुत भारी तपस्वी हूं मैं अपने शास्त्रोंका और अन्य-मतियोंके शास्त्रोंका निर्णय जानता हूं संसारको हितमय उपदेश देनेमें तत्पर रहता हूं मोक्षमार्गके साधनमें कुशल हूं, मैंने अनेक वार परवादी जीते हैं इत्यादि सब बात महत्त्वशाली होनेपर भी मुझे कोई नमस्कार नहीं करता है मेरी भक्ति भी नहीं करता है और विनयपूर्वक कोई मुझे उच्चासन भी नहीं देता है, इत्यादि -

क्षेत्र तक नहीं पहुंच सकता इसलिए कार्माण शरीरके संबंधसे जो आत्मामें क्रिया मानी है वह परनिमित्तक ही क्रिया मानी है एवं कार्माण शरीरके अभावमें जो आत्मामें क्रियाका अभाव माना है वह परनिमित्तक क्रियाका ही अभाव माना है, स्वनिमित्तक क्रियाका अभाव नहीं इसलिये समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेपर आत्मामें ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया भलीभांति सिद्ध है। अथवा—

कर्मोंके नष्ट हो जानेपर शरीरका भी नाश होनेसे यदि मुक्त जीवको निष्क्रिय माना जायगा तो उसके अंदर जो अनंतवीर्य अनंतज्ञान अनंतदर्शन एवं अनंतसुखका अनुभव करना आदि रूप क्रियायें मानी गई हैं वे न मानना चाहिए परंतु अनंतवीर्य आदि आत्माके निजस्वरूप होनेसे वे मुक्त आत्माके अन्दर माने गये हैं, इसलिए शरीरके अभावमें आत्मा निष्क्रिय पदार्थ है यह दोष यहां लागू नहीं हो सकता।

वक्ष्यमाणत्वाच्च पूर्वप्रयोगादिभिः ॥ १५ ॥

दशवें अध्यायमें पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्दित्यादि छठे सूत्रसे मुक्त जीवोंकी ऊर्ध्वगमनरूप क्रियाका वर्णन किया गया है इसलिए शास्त्रसिद्ध होनेसे शरीरके अभावमें भी मुक्त जीवोंके ऊर्ध्वगमनक्रिया बाधित नहीं।

पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च ॥ १६ ॥

पुद्गलोंके अंदर भी दो प्रकारकी क्रिया मानी गई है—एक विस्रसा और दूसरी प्रयोगनिमित्ता। जो क्रिया परपदार्थरूप निमित्तकी अपेक्षा न कर स्वभावसिद्ध हो, वह विस्रसा नामकी क्रिया है तथा जो क्रिया अपनी उत्पत्तिमें परपदार्थकी अपेक्षा रक्खे वह प्रयोगनिमित्ता नामकी क्रिया है।

साऽनन्या स्वात्मविशेषभावात् ॥ १७ ॥

यह दोनों प्रकारकी क्रिया पदार्थका निजस्वरूपविशेष है इसलिए वह क्रियावान पदार्थसे अभिन्न है। खुलासा तात्पर्य इसका ऐसा है कि—जिसप्रकार औष्ण्य–ताप अग्निका निजस्वरूप विशेष है इसलिए वह अभिन्न माना गया है। यदि उसे अग्निसे भिन्न माना जायगा तो वह औष्ण्य ही तो अग्निका स्वरूप है यदि वही भिन्न हो जायगा तो स्वरूपके भिन्न होनेपर अग्निका ही अभाव हो जायगा इसलिये वह औष्ण्य अग्निसे अभिन्न है, उसीप्रकार क्रिया भी क्रियावान पदार्थका निजस्वरूपविशेष होनेसे अभिन्न है, यदि उसे क्रियावान पदार्थसे भिन्न माना जायगा तो द्रव्यको हलन चलन क्रियारहित मानना होगा तथा द्रव्यसे भिन्न मानने पर क्रियाका ही अभाव हो जायगा इसलिए वह क्रिया क्रियावान पदार्थसे अभिन्न ही है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

अर्थांतरत्वेऽपि योगाद्व्यपदेशो दंडदंडिवदिति चेन्न स्वतोऽसिद्धत्वात् ॥ १८ ॥

जिसप्रकार दंडी पुरुषसे दंड पदार्थ भिन्न है तथापि दंडके संबंधसे वह दंडी कहा जाता है उसीप्रकार भले ही क्रिया द्रव्यसे भिन्न रहे तथापि उसके संबंधसे द्रव्य क्रियावान कहा जा सकता है ? सो ठीक नहीं। दंडधारी देवदत्तसे दंडपदार्थ भिन्न रूपसे स्वतः सिद्ध है इसलिये उसके संबंधसे देवदत्तका दंडी नाम उपयुक्त है परंतु क्रियावान पदार्थसे भिन्न क्रिया स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं क्योंकि द्रव्यका निजस्वरूप है वह क्रियावान पदार्थसे कभी भिन्न रह नहीं सकती इसलिये क्रियाके संबंधसे द्रव्य क्रियावान नहीं कहा जा सकता । इसरीतिसे क्रियाकी स्वतः असिद्धि होनेसे दंडीके समान क्रियावान् यह व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

जघन्य विचार वे मुनिराज हृदयमें कभी नहीं लाते हैं किंतु मान सन्मान होनेपर अथवा अपमान अनादर होनेपर समान वीतरागवृत्ति रखते हैं सत्कार पुरस्कारकी कभी आकांक्षा भी नहीं करते हैं केवल मोक्षका ध्यान करते हैं अथवा आत्मध्यानमें लीन रहते हैं, इसीका नाम सत्कारपुरस्कारपरीषहका सहन करना अथवा सत्कारपुरस्कारपरीषहजय कहलाता है। सत्कार नाम पूजा प्रशंसाका है और पुरस्कार नाम किसी भी क्रियामें या आरंभमें आगे करना या निमंत्रण देकर बुलाना आदिका है। जैसे धार्मिक सम्मेलनोंमें रथोत्सव आदि महोत्सवोंमें महाभिषेक आदिमें जिनपूजा समारंभ आदिमें उन्हें आगे रखना या पहलेसे बुलाकर लाना यह सब पुरस्कार कहलाता है॥ अब प्रज्ञापरीषहका स्वरूप कहते हैं—

प्रज्ञोपकार्यविलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः ॥ २८ ॥

अर्थ—अंगपूर्व प्रकीर्णक शास्त्रोंके हम ज्ञाता हैं समस्त ग्रन्थोंके अर्थको समझनेवाले हैं परवादी लोग हमने निरुत्तर करदिये हैं तीन कालवर्ती पदार्थोंके अर्थको भी हम जानते हैं शब्दशास्त्र न्याय-शास्त्र आदि आगममें भी हम पूर्ण निपुण हैं, हमारे सामने दूसरे ऐसे मालूम पडते हैं जैसे कि सूर्यकी दैदीप्यमान कांतिसे तिरस्कृत फीके प्रकाशवाला जुगनू दीखता है। इस प्रकारका अपने विशेषज्ञानका मद वे मुनिराज नहीं करते हैं अर्थात् अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान होनेपर भी तथा न्याय व्याकरण साहित्य सिद्धान्त आदि समस्त शास्त्रोंके सबसे अधिक मर्मज्ञ और उन शास्त्रोंकी रचना करनेवाले होनेपर भी अपने उस परम विशाल ज्ञानका वे मुनिराज कभी घमंड नहीं करते हैं इसीका नाम प्रज्ञा परीषहजय है। अब अज्ञान परीषहका स्वरूप कहते हैं—

अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः ॥ २९ ॥

अर्थ—दुष्ट मिथ्यादृष्टि अविवेकी पुरुषों द्वारा कहे गये ऐसे खोटे वचन भी मुनिराज सुनते हैं कि यह मूर्ख है कुछ भी नहीं जानता है, यह पशुके समान है, इत्यादि निंद्य वचन भी सुनते हैं, तो भी उन्हें

दर्शन मोहनीयके उदयमें होनेवाली आठ परीषह उन गुणस्थानोंमें नहीं होती हैं। प्रश्न—यदि शरीर-विशिष्ट आत्मामें परीषहोंका सद्भाव मानते हो तो जिनके केवलज्ञान प्रगट होचुका है और चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवल चार अघातिया कर्मोंका फल भोगना मात्र जिनके बाकी है उन सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत परमेष्ठीके कितनी परीषह होती हैं? उसीकेलिये सूत्र कहा जाता है——

एकादश जिने ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—जिनेंद्रभगवान केवलज्ञानी वीतराग तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वालोंके ग्यारह परीषह होती हैं, अर्थात् जिन संज्ञा तेरहवें गुणस्थानवर्ती और चौदहवें गुणस्थानवर्ती दोनोंकी है इन दोनों गुणस्थानोंमें वेदनीय कर्मका उदय रहता है इसलिये उसके उदयमें होनेवाली ग्यारह परीषहें भी शक्तिकी अपेक्षा वहां कहीं गई हैं। यहां पर इतना वाक्य और जोडलेना चाहिये कि कोई कोई आचार्य इन ग्यारहपरीषहोंकी जिनेंद्रदेवके कल्पना करते हैं, अर्थात् वास्तवमें वहां एक भी परीषहका सद्भाव नहीं है, कारण वहां पर केवल साता कर्मका उदय है असाताका उदय भी नहीं है, केवलज्ञानियोंके असाताका उदय भी सातारूप परिणत होकर ही उदयमें आता है और वह साताका उदय भी कुछ फलको वहां नहीं देसकता है कारण कि वेदनीयका फल मोहनीयके उदयकी सहायतासे ही जीवोंको मिलता है वहां तृयोदशम और चतुर्दशम गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्रदेवके मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव हो चुका है इसलिये उनके वह साताका उदय भी नाम मात्रका है अतएव उनके परीषहोंका सद्भाव होनेकी कुछ भी योग्यता नहीं है, जिनेन्द्रदेव क्षुधादिक अठारह दोषोंसे सर्वथा रहित होते हैं फिर भी कोई कोई आचार्य केवल वेदनीय कर्मका सद्भाव होनेसे वहां भी ग्यारह परीषहोंका सद्भाव शक्ति मात्रकी अपेक्षा कहते हैं। शंका—

वेदनोदयभावात् क्षुधादिप्रसंग इति चेन्न घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे निमित्तके हट जानेसे नाग्न्य,

सुनकर सहन करते हैं, विद्याभ्यासपूर्वक अर्थके ग्रहण करनेमें और दूसरे लोगोंको उत्तर देकर निरुत्तर करने आदिमें भी सामर्थ्य नहीं रखते हैं। ऐसी ज्ञानकी मंद दशा और दुष्ट पुरुषों द्वारा आक्षेप होनेपर भी वे मुनिराज कभी इस बातकी चिंतासे खिन्न नहीं होते हैं कि मैं बहुत कालसे तप धारण कर रहा हूं, अनेक प्रकार विशेष विशेष तपोंके भारको धारण कर रहा हूं, मैं समस्त प्रकारकी सामर्थ्यको धारण करता हूं और मेरी क्रियाओंमें कोई प्रमादभाव नहीं है, खोटे मन वचन कायके व्यापारसे मैं रहित हूं, अर्थात् मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ क्रियाओंमें मैं कभी नहीं करता हूं, इत्यादि सब बातोंके होनेपर भी मुझे आजतक भी ज्ञानका अतिशय क्यों नहीं प्राप्त होता है अर्थात् विशेष तपस्वी और हर प्रकारसे महाव्रत पालनेमें सावधान होनेपर भी मुझे विशेष ज्ञान अभीतक क्यों नहीं हो पाया इस बातका खेद वे मुनिराज नहीं करते हैं, किंतु कर्मोदयकी बलवत्ता समझ कर शांत भावोंसे और भी विशेषतासे उन कर्मोंके क्षय करनेमें तत्पर होते हैं इसीका नाम अज्ञानपरीषहका जीतना अज्ञानपरीषहका सहन करना है॥ अब दर्शनपरीषहका स्वरूप कहते हैं—

प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनं ॥ ३० ॥

अर्थ—मैं संयमको प्रधानतासे धारण करता हूं, अथवा संयम धारण करनेवालोंमें मैं प्रधान हूं, दुःख देनेवाले अथवा बडे कष्टसे धारण होनेवाले तपोंको धारण करता हूं, परम उत्कृष्ट कोटिकी वैराग्यभावनासे मेरा हृदय विशुद्ध है, मैंने सकल पदार्थोंके सारको जान लिया है, मैंने बहुत कालसे श्रीअर्हन्तदेवकी प्रतिमा, श्रीजिनमंदिर, दिगम्बर जैन मुनि और जिनधर्मकी पूजा भी की है तो भी आज तक मुझमें कोई विशेष ज्ञानका अतिशय प्राप्त नहीं हो सका है, मैंने शास्त्रोंमें और गुरुमुखसे ऐसा सुन रक्खा है

१–श्रीचारित्रसार ग्रन्थमें 'संयमिप्रधानस्य' पाठ है, परन्तु श्रीराजवार्तिककी मुद्रित और लिखित प्राचीन पुस्तकमें भी 'संयमप्रधानस्य' पाठ है इसलिये दोनों अर्थ किये गये हैं फिर भी अभिप्राय दोनोंका एक ही है।

अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, लाभ, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये ग्यारह परीषह जिनेन्द्रदेवके नहीं होती हैं यह तो ठीक है परन्तु वेदनीयकर्मके उदयमें होनेवाली बाकीकी ग्यारह परीषह तो श्रीजिनेन्द्रदेवके नियमसे प्राप्त होती है? अर्थात् जो परीषह घातिया कर्मोंके उदयमें होती थीं वे तो उन कर्मोंके नष्ट होजानेसे नहीं हो सकती हैं परन्तु वेदनीय कर्मोंका तो श्रीजिनेन्द्रदेवके उदय है इसलिये उसके उदयमें होनेवाली—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, ये ग्यारह परीषहें तो उनके अवश्य होनी चाहिये फिर कोई आचार्य ऐसी कल्पना करते हैं ऐसा जो वाक्य शेष लगाया है सो क्यों? अर्थात् जब कर्मोदयसे ग्यारह परीषह प्राप्त हैं तब कोई आचार्य कल्पना क्यों करते हैं सबोंके मतसे ही होना चाहिये?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि घातिया कर्मकी सहायताक भाव हो जानेसे उस वेदनीयकी सामर्थ्य नष्ट होजाती है अर्थात् वेदनीयकर्मका उदय तभी अपना फल देता है जब कि मोहनीय आदि घातिया कर्मोंकी सहायता उसे मिलती हो, विना मोहनीय आदिकी सहायताके वह वेदनीय कर्म फल कुछ नहीं देसकता यों ही उदयमें आकर निर्जीर्ण होजाता है? उसीका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—जिसप्रकार विषद्रव्य मंत्र और औषधिके बलसे मनुष्यादिके मारनेमें समर्थ नहीं होता है, मंत्रप्रयोग करने पर अथवा औषधि देने पर विषका बल या असर नष्ट होजाता है फिर वह मारनेकेलिये समर्थ नहीं होता, उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्निसे घातिया कर्मरूपी ईंधनको श्रीजिनेन्द्रदेव जला डालते हैं, और किसीसे नहीं बांधे जासकें ऐसे अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य ये अनंतचतुष्टय उनके प्रगट होजाते हैं, भगवानके अंतरायकर्मका भी सर्वथा अभाव हो चुकता है इसलिये निरंतर शरीर स्थितिक कारणरूप परम शुभ पुद्गल स्कंधोंकी संतति उनके आती रहती है, ऐसी अवस्थामें वेदनीय कर्मका उदय कभी भी अपने योग्य प्रयोजनकी सिद्धिमें समर्थ नहीं होसकता है क्योंकि उसकी सहायता

कि महान् उपवास और महान् तप आदि धारण करनेवाले साधुओंके प्रतिहार्यविशेष उत्पन्न हो जाते हैं, सो यह कथन मुझे प्रलापमात्र अर्थात् व्यर्थ ही मालूम पडता है, जब मुझे कोई ज्ञानका अतिशय ही नहीं प्राप्त होता है तो इस जिनदीक्षाका धारण करना भी निरर्थक है और यह व्रतोंका पालन करना भी निष्फल है इसप्रकारका खोटा विचार वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं किंतु दर्शनविशुद्धिके योगसे उसप्रकारकी अदर्शन परीषहका सहन ही करते हैं अर्थात् शास्त्रोंमें जो सुन रक्खा है वह झूंठा मालूम होता है अथवा जिनदीक्षा धारण करना ही व्यर्थ है उससे कुछ सिद्धि नहीं है इत्यादि मिथ्याभाव मिथ्या-कर्मके उदयमें ही हो सकता है परंतु मुनिराज सम्यग्दर्शनविशुद्धिके धारण करनेवाले होते हैं इसलिये अनेक कष्टप्रद तपोंके धारण करने पर भी यदि उनके कुछ भी ज्ञानविशेष या ऋद्धिविशेष नहीं प्राप्त हो तो भी वे शास्त्रोंको अथवा गुरुवचनोंको कभी भी अन्यथा नहीं समझ सकते हैं किंतु वे यह समझ कर कि मेरा अशुभकर्म बहुत प्रबल है जिसके कारण मुझे मोक्षमार्गसिद्धिकी विशेष योग्यता प्राप्त नहीं हो सकी है इसलिये उस कर्मकी प्रवलताको दूर करनेकेलिये अब मुझे विशेषरूपसे तप धारण करना चाहिये ऐसा विचार कर वे परमश्रद्धानी सम्यग्दृष्टि परमशांतपरिणामी साधु और भी कर्मक्षयकेलिये दृढता धारण करते हैं और उक्त प्रकारके अदर्शनभावको पैदा ही नहीं होने देते हैं। इसीका नाम अद-र्शनपरीषहजय कहलाता है।

यहांपर यह शंका भी हो सकती है कि अज्ञानपरीषहमें भी यही विचार है कि विशेष तपस्वी होने पर भी मेरे ज्ञानातिशय अभी प्राप्त नहीं हुआ है और अदर्शन परीषहमें भी यही विचार है कि विशेष संयम धारण करने पर भी मुझे ज्ञानातिशय प्राप्त नहीं होसका है दोनों परिषहोंका एकही प्रयोजन मालूम होता है फिर क्या विशेषता इनमें पाईजाती है जिससे दोनोंका व्याख्यान जुदा जुदा किया गया है? इसका समाधान यह है कि अज्ञान परिषह तो ज्ञानकी मंदता होनेपर हो सकती है किंतु अदर्शन

पहुंचानेवाले घातियाकर्म तो भगवानके नष्ट होचुके हैं इसलिये वेदनीयकर्म उदयमें आता हुआ भी सहायीके अभावमें अपना फल देनेमें असमर्थ ही रहता है, अतएव श्री जिनेन्द्रदेवके क्षुधा आदि ग्यारह परीषह नहीं होसकती हैं केवल उन परीषहोंके सद्भावके उपचारसे कल्पना करली जाती है, जिसप्रकार केवलीभगवान्के ध्यानकी कल्पना रहती है अर्थात् ध्यानका फल कर्मोंकी निर्जरा है तेरहवें गुणस्थानमें घातिया कर्मोंका तो क्षय होचुका है और अघातिया कर्मोंका क्षय व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा ध्यानसे चौदहवेंके अंतमें होगा फिर तेरहवेंमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामा ध्यानकी कल्पना क्यों की गई है? अथवा यदि सूक्ष्मकाययोगरूप फलकी मुख्यता मानी जाय या आगेकी कर्म निर्जराका कारण माना जाय तो भी एकाग्रचिंतानिरोध ध्यानका लक्षण सर्वज्ञदेवके नहीं घटता है फिर भी वहां ध्यानका अस्तित्व माना गया है ? तो जिसप्रकार वह कल्पना अपेक्षासे है उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवानके ग्यारह परीषहोंका सद्भाव भी उपचारसे है इसलिये ऊपरकी शंकाका परिहार होचुका है, वास्तवमें श्रीजिनेन्द्र भगवानके परिषहोंका सद्भाव नहीं है किंतु वेदनीयका उदय होनेसे उपचारसे कोई कोई आचार्य उनकी कल्पना करलेते हैं यह कथन सर्वथा ठीक है। अथवा दूसरा समाधान यह भी है कि जिनेन्द्र भगवानके ग्यारह परीषह हैं ऐसी कोई कोई आचार्य कल्पना करते हैं ऐसा वाक्य शेष जो पहले लगाया गया था वह नहीं लगाकर यह कह देना चाहिये कि "एकादश संति" ग्यारह परीषह जिनेंद्रदेवके होती हैं, अर्थात् किन्हीं आचार्यके मतसे होती हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये किंतु होती हैं ऐसा ही कहना ठीक है। क्यों होती हैं ? इसका उत्तर यही है कि उपचारसे होती हैं। जिसप्रकार समस्त ज्ञानावरणकर्मके नष्ट होजाने पर और परिपूर्ण केवलज्ञानके प्रगट होजाने पर एकाग्र चिंता निरोधरूप ध्यानका लक्षण उन केवली

१ सब ओरसे मनको हटाकर एक पदार्थके चिंतवनमें उपयोग लगाना यह छद्मस्थ अवस्थाका कार्य है। जहां समस्त पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष है वहां ऐसा उपयोग घटित नहीं होता है।

परीषह दर्शनमोहनीय कर्मके उदयमें होती है। अज्ञान परीषहमें तो केवल इतना अभिप्राय है कि मुझ विशेष ज्ञान क्यों नहीं होता, किंतु अदर्शन परीषहमें यह मिथ्याबुद्धि रहती है कि मुझे ज्ञानातिशय अभी तक नहीं हुआ इससे माल्रूम पडता है कि शास्त्र झूठे हैं इसलिये अज्ञानपरीषह सम्यग्ज्ञान रहते हुये भी ज्ञानावरण कर्मके उदयमें होती है परंतु अदर्शनपरीषह मिथ्याज्ञान होनेपर ही होती है दोनोंमें बहुत बडा अंतर है। इस प्रकार विना संकल्पके स्वयं उत्पन्न होनवाली इन वावीस परीषहोंको वे परम वीतरागी छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज सहन करते हैं परिणामोंमें थोडा भी कभी इन परिषहोंके कारण खेद या क्लेश नहीं करते हैं इसलिये रागादि भावोंसे जो आस्रव होता है उसका उनके उन परीषहोंके जीतनेसे और परम वैराग्यमय भावोंसे महान् संवर होता है। शंका—

श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेन्नाव्याभिचारदर्शनार्थत्वात् ॥ २१ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि दर्शन दो प्रकारका होता है, श्रद्धानको भी दर्शन कहते हैं और देखनेको भी दर्शन कहते हैं। यहां अदर्शन परीषहमें सामान्य रूपसे दोनों प्रकारके दर्शनोंका ग्रहण प्राप्त होता है क्योंकि कोई विशेषतासूचक व्याख्यान तो किया नहीं गया है जिससे यह जानाजाय कि अमुक दर्शन लेना अमुक नहीं लेना किंतु सामान्य दर्शनका उल्लेख है इसलिये श्रद्धान और देखना रूप दोनों दर्शनोंका ग्रहण होना चाहिये? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि सम्यग्ज्ञानके साथ व्यभिचाररहित जो उसके अनुकूल दर्शन हो उसीका ग्रहण करलेना चाहिये, अर्थात् मतिज्ञान आदि पांच सम्यग्ज्ञानोंके साथ व्यभिचाररहित जो श्रद्धानरूप दर्शन है उसीका यहां ग्रहण समझना चाहिये क्योंकि आलोचना (देखना) रूप दर्शनका मतिज्ञानादि पांच सम्यग्ज्ञानोंके साथ ही रहनेका नियम नहीं है वह देखनारूप दर्शन तो मिथ्याज्ञानोंके साथ भी रह सकता है, इसलिये वह आलोचनरूप दर्शन व्यभिचारी और प्रतिकूल भी है परंतु श्रद्धानरूप दर्शन सम्यग्ज्ञानोंके साथ ही पाया जा सकता है वह

भगवानके नहीं घटता है तो भी कर्मरजके नष्ट करनरूप फलकी संभावनासे ध्यानका वहां उपचार किया ही जाता है उसीप्रकार केवलीभगवानके क्षुधा आदि वेदनाओंका सर्वथा अभाव होनेसे उनके परीषहोंका सद्भाव नहीं है फिर भी वेदनीयकर्मका उदयरूप द्रव्यका सद्भाव होनेसे उनके परीषहोंका भी उपचारसे सद्भाव माना जाता है उसी दृष्टिसे जिनेन्द्रभगवानके ग्यारह परीषह होती हैं ऐसा उपचारकथन युक्त ही है। प्रश्न–यदि सूक्ष्मसांपराय आदि गुणस्थानोंमें भिन्न भिन्न रूपसे थोडी थोडी परीषह कहीगई हैं तो सब परीषह किन गुणस्थानोंमें होती हैं ? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं–

वादरसांपराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—वादर नाम स्थूलका है और सांपराय नाम कषायका है, जिन गुणस्थानोंमें स्थूल रूपसे कषायोंका सद्भाव हो उनको वादरसांपराय गुणस्थान कहते हैं, इस दृष्टिसे सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानके नीचे सब वादरसांपराय कहलाते हैं इतना विशेष है कि यहांपर संयमका प्रकरण है और उसी दृष्टिसे मुनियोंके परीषहोंका सद्भाव वताया जारहा है इसलिये मुनिपद प्रमत्त गुणस्थानसे ही प्रारंभ होता है, अतः छठे गुणस्थानसे लेकर नौवें गुणस्थान तक वादरसांपराय कहलाते हैं इनमें यद्यपि केवल संज्वलनकषायका ही इन गुणस्थानोंमें उदय रहता है फिर भी दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानसे नीचे नौवें आठवें सातवें और छठेमें क्रमसे उत्तरोत्तर स्थूलकषाय है, इन स्थूल कषायवाले चार गुणस्थानोंमें सभी परीषह होती हैं।

वादरसांपरायग्रहणात्प्रमत्तादिनिर्देशः ॥ १ ॥

अर्थ—वादरसांपराय कहनेसे किसी खास गुणस्थानका ग्रहण नहीं है अर्थात् वादर सांपराय नामका कोई गुणस्थान नहीं है, किंतु अर्थका प्रयोजन है। वादरसांपरायका अर्थ है कि स्थूल कषायवाले गुणस्थान। सो स्थूलकषायवाले गुणस्थान छठेसे लेकर नौवें तक समझना चाहिये उन्हीका यहांपर

मिथ्याज्ञानोंके साथ कभी नहीं हो सकता है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शनका ही ग्रहण करना ठीक है वही मत्यादि पांच ज्ञानोंके साथ अव्यभिचारी और अनुकूल रूप है। दूसरी बात यह भी है कि आलोचनरूप दर्शन श्रुतज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानोंमें प्रवृत्ति भी नहीं रखता है क्योंकि उक्त दोनों ज्ञान सत्तामात्र अवलोकनपूर्वक नहीं होते हैं इसलिये यहां अदर्शन परीषहमें जो दर्शन शब्द है उसका अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धानरूप अर्थ ही करना उचित है वही व्यभिचाररहित है। फिर शंका—

मनोरथकल्पनामात्रमिति चेन्न वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—यहां फिर यह शंका होती है कि यहां जो श्रद्धानरूप दर्शनका ही ग्रहण किया गया है यह अपनी मनकी कल्पना मात्र है? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है कारण कि आगे इन परीषहोंकी उत्पत्तिके जो कारण बताये गये हैं उनकी अपेक्षाकी सामर्थ्यसे यहां श्रद्धानरूप दर्शनका ही ग्रहण सिद्ध होता है। आगे जहां अदर्शनपरीषह और अलाभपरीषहकी उत्पत्तिके कारण बताये हैं वहां कहा गया है कि "दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ" अर्थात् अदर्शनपरीषह दर्शनमोहनीय कर्मके उदयमें होती है और अलाभ परीषह अंतराय कर्मके उदयमें होती है। इस सूत्रकथनसे अदर्शन परीषहके कारणमें दर्शनमोहनीय कर्मका उदय बताया गया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अदर्शनपरीषहमें दर्शनका अर्थ श्रद्धान है। यदि अदर्शनपरीषहमें दर्शनका अर्थ आलोचनरूप दर्शन होता तो अदर्शन परिषहके कारणमें दर्शनावरणकर्मका उदय बताया जाता क्योंकि दर्शनावरण कर्मके अभावमें ही आलोचनरूप दर्शन होता है इससे अदर्शनपरीषह दर्शनावरणके उदयमें कहनी चाहिये थी परंतु वह दर्शन मोहनीयके उदयमें कही गई है इससे दर्शनका अर्थ श्रद्धान है यह मनकी कल्पना नहीं है किंतु आगमप्रमाण और युक्तिप्रमाण तथा कार्यकारणपद्धतिसे सिद्ध है। फिर शंका—

अवध्यादिदर्शनपरीषहोपसंख्यानमिति चेन्नावधिज्ञानाद्यभावे सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् ॥ ३३ ॥

सामान्यरूपसे ग्रहण होता है। वादर नाम स्थूल जिसकी कषाय हो सो वादरसांपराय कहलाता है।

तत्र हि निमित्तविशेषस्यानुपक्षीणत्वात्सर्वे ॥ २ ॥

अर्थ—ये परीषह ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे होती हैं, भिन्न भिन्न परीषहोंके होनेमें भिन्न भिन्न कर्मोंके उदयभूत निमित्तकारण पडते हैं यह बात ग्रंथकार आगे कहेंगे। वे ज्ञानावरणादि कर्मोदयरूप निमित्त छठेसे नौवें गुणस्थानतक सभी संभव होते हैं, इसलिये उन गुणस्थानोंमें समस्त परीषहोंका सद्भाव बताया गया है। प्रश्न—किस चारित्रमें समस्त परीषहोंकी संभावना रहती है? उत्तर--

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसंयमेषु सर्वसंभवः ॥ ३ ॥

अर्थ—सामायिक छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रोंमेंसे किमी भी एक चारित्रमें समस्त क्षुधादिक परीषहें होती हैं अर्थात् छठेसे लेकर नौवें तक सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होते हैं और छठं सातवेंमें परिहारविशुद्धि नामका चारित्र होता है इसलिये इन गुणस्थानोंमें समस्त परीषहोंका सद्भाव कहा गया है। प्रश्न—यह बात तो समझमें आचुकी कि अमुक गुणस्थानमें अमुक परीषह होती हैं परंतु यह बात अभी समझमें नहीं आई कि किस प्रकृतिका कौन कार्य है? अर्थात् किस कर्मके उदयमें कौन कौन परीषह होती हैं? इसकी स्पष्टताकेलिये उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मके उदयमें प्रज्ञा परीषह और अज्ञान परीषह होती हैं। शंका—

ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति चेन्नान्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि ज्ञानावरण कर्मके उदयमें अज्ञान अर्थात् ज्ञानका अभाव होता है ज्ञानावरणके उदयमें प्रज्ञा नहीं होसकती, क्योंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है वह कर्मोदयमें कैसे उत्पन्न होसकता है उसके उदयमें तो वह नष्ट होगा? इस शंकाका खुलासा यह है कि प्रज्ञा परीषह उसे कहते हैं

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि कोइ मिथ्यादृष्टि दुष्ट पुरुष मुनिराजसे ऐसा भी कह सकते हैं कि अवधिदर्शन आदि सहित भलेप्रकार देखते हैं किंतु इन मुनिराजके कोई भी अतिशयवाला दर्शन अवधि आदि दर्शन नहीं है तथा शास्त्रोंमें कहा गया है कि अवधिदर्शन आदि गुणप्रत्यय होते हैं अर्थात् क्षयोपशम की विशेषतासे ही अवधिदर्शन आदि होते हैं परन्तु इन मुनिमें कुछ भी उस अवधिदर्शन आदिके योग्य गुण नहीं हैं इत्यादि वचनोंका सहन भी वे मुनिराज करते हैं इसलिये उनके अवध्यादिदर्शनपरीषहजय नामकी परीषह जय भी होना चाहिये परन्तु परीषह वावीस ही कहीं गई हैं किंतु वे तेईस आदि भी होनी चाहिये ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि अज्ञान परीषहमें उसका ग्रहण हो जाता है। जिस समय अवधि आदिक ज्ञानोंका अभाव होता है उसीके साथ अवधि आदि दर्शनोंका भी अभाव हो जाता है इसका स्पष्ट दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशका अभाव होते ही उसके प्रतापका भी अभाव हो जाता है, सूर्यके प्रकाशके साथ ही उसका प्रताप फैलता है इसलिये प्रकाशके अभावमें प्रतापका भी साथ ही अभाव होजाता है ठीक उसीप्रकार अवधिज्ञान आदिक भी अवधिदर्शन आदि पूर्वक ही होते हैं इसलिये जब ज्ञानका अभाव है तो दर्शनका अभाव सुतरां सिद्ध है इसलिये अवधि आदि दर्शनोंकी परीषहका सहन करना भी अज्ञान परीषहके सहन करनेमें अन्तर्भूत हो जाता है इसलिये उनके पृथक् कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां दूसरी शंका यह भी होती है कि यदि एक परीषहको दूसरी परीषहमें गर्भित कर दिया जाता है तो फिर श्रद्धान और दर्शन दोनों भी ज्ञानके अविनाभावी हैं, इसलिये उनका भी प्रज्ञापरीषहमें अन्तरभाव होजाना चाहिये फिर प्रज्ञापरिषहसे भिन्न अदर्शन परीषहको क्यों गिनाया गया है ? उत्तर—यह दोष भी नहीं आता है क्योंकि प्रज्ञाके साथ श्रद्धान रूप दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, किसीको प्रज्ञा होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धान रूप दर्शन नहीं होता है अर्थात्

कि विशेष ज्ञान उत्पन्न होजाय तो उसका मद होना और विशेष ज्ञान होने पर भी उसका मद नहीं करना यही उस परीषहका जीतना है इसलिये विशेषज्ञानके उत्पन्न होने रूप परीषह ज्ञानावरण कर्मके अभावमें होसकती है, परंतु यहांपर प्रज्ञा परीषहका भी ज्ञानावरण कर्मके उदयमें होना बताया गया है सो कैसे ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि प्रज्ञा परीषह दूसरे ज्ञानावरण कर्मके सद्भाव होने पर होती है अर्थात् प्रज्ञा यद्यपि ज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर होती है परंतु प्रज्ञापरीषहरूप विशेष ज्ञानका मद तभी होता है जब कि अन्य ज्ञानावरण कर्मका उदय हो। प्रज्ञा क्षायोपशमिक ज्ञान है वह अन्य ज्ञानावरण कर्मके उदयमें इस प्रकारकी मंदताको पैदा करता है कि उस ज्ञानका घमंड होने लगता है अर्थात् ज्ञानका घमंड अल्पज्ञान वालोंको ही होता है इसलिये प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्मके उदयमें ही होती है जिनके परिपूर्ण ज्ञान होजाता है अर्थात् ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा क्षय होजाता है वहां प्रज्ञा परीषह नहीं हो सकती है, इसप्रकार प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरण कर्मके उदय होने पर उत्पन्न होती है ऐसा संबंध लगा लेना चाहिये। फिर शंका—

मोहोदयादिति चेन्न तद्भेदानां परिगणितत्वात्॥ २॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि मोहनीय कर्मके उदयसे यह बुद्धिमें अहंकारभाव पैदा हो जाता है कि मैं ही महाबुद्धिवान् हूं, मेरे समान दूसरा कोई बुद्धिमान नहीं है, ऐसी खोटी समझ मोहनीय कर्मके उदयमें ही हो सकती है वह ज्ञानावरणके उदयमें नहीं हो सकती है इसलिये प्रज्ञा परीषह का होना जो ज्ञानावरण कर्मके उदयमें बताया गया है वह ठीक नहीं है किंतु मोहनीय कर्मके उदयमें प्रज्ञा परीषह कहनी चाहिये ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं हैं कारण कि मोहनीय कर्मके भेदोंकी गिनती दर्शन और चारित्रके घात करनेमें जुदी नियत है। मोहनीयकर्मके उदयमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका घात होता है, वह कर्म उन्हीं गुणोंके घात करनेमें नियत है इसलिये उसके उदयमें

प्रज्ञा और श्रद्धानका कहीं कहीं पर व्यभिचार भी पाया जाता है, इसलिये प्रज्ञा परीषहमें अदर्शन परीषहका ग्रहण नहीं किया जासकता है। प्रश्न—परीषहोंके जीतनेसे संवर होता है यह बात तो कहदी गई परन्तु यह बात अभी नहीं बताई गई है कि संसाररूपी महान् समुद्रसे पार होनेवाले और इसीलिये मुनिपदकी दीक्षाको धारण करनेवाले साधुओंको क्या ये वावीसपरीषह सभी उपसर्ग पहुंचाती हैं अथवा कोई हीनाधिकता रूप विशेषता है ? अर्थात् छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहों गुणस्थान तक सभी परीषह होसकती हैं या नहीं होसकती या कमती बढती होती हैं इसका स्पष्ट विवेचन अभीतक नहीं किया गया है सो करना चाहिये ? उत्तर–जिन क्षमादिक वावीस परीषहोंका स्वरूप कहा गया है वे भिन्न भिन्न चारित्रके अनुसार विभक्त होजाती हैं परंतु इस नीचेके सूत्रके अनुसार तीन गुणस्थानोंमें नियमरूपसे चौदह परीषह होती हैं, उसीकेलिये सूत्र कहा जाता है—

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ—सूक्ष्मसांपराय उसे कहते हैं जिसमें कषाय सबसे सूक्ष्म होचुकी हो । सांपराय नाम कषायका है, सूक्ष्म नाम अत्यंत मंदका है, दशवें गुणस्थानमें केवल संज्वलन लोभका उदय है वह भी नहीं सरीखा अत्यंत मंद है इसलिये उस दशवें गुणस्थानका नाम सूक्ष्मसांपराय नियत है। ग्यारहवां और बारहवां ये दो गुणस्थान ऐसे हैं कि इनमें कषायोंका विल्कुल उदय नहीं है, ग्यारहवां तो उपशांतकषाय कहलाता है उसमें समस्त चारित्रमोहनीय कषाय सर्वथा शांत रहती है, अर्थात् सत्तामें बैठी रहती है, वहां उदय विल्कुल नहीं होता है और बंध भी नहीं है केवल सत्ता है अर्थात् दशवें गुणस्थानके अंतमें जब समस्त कषायोंका उपशम होजाता है तभी उपशम श्रेणीवाले जीवके वह उपशांतकषाय नामा ग्यारहवां गुणस्थान होता है और बारहवां गुणस्थान क्षीणमोह कहलाता है उसमें कषायोंका सर्वथा उदय सत्ता और बंध तीनोंका अभाव रहता है अर्थात् क्षपकश्रेणी चढनेवाला जीव जब दशवें गुणस्था-

प्रज्ञा परीषहका अंतर्भाव नहीं होता है। जिसके मोहनीय कर्मका क्षयोपशम या अभाव होनेसे सम्यक्-चारित्र प्रगट हो चुका है उसके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयमें प्रज्ञा परीषहका सद्भाव रहता है। इसलिये प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरणकर्मके उदयमें ही होती है ऐसा निश्चय करना चाहिये। प्रश्न—यदि प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनों परीषहोंमें एक ही ज्ञानावरण कर्मका उदय कारण है तो अदर्शन परीषह और अलाभ परीषहमें कौन कर्म कारण है? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उदयमें अदर्शन परीषह होती है और अंतराय कर्मके उदयमें अलाभ परीषह होती है।

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसंदेहाभावः ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर सूत्रमें दर्शनमोह ऐसा विशेष कारण कहागया है इसलिये अवधिदर्शन आदि विषयका संदेह नहीं हो सकता है अर्थात् अदर्शन परीषहके होनेमें दर्शनमोहनीय कर्म कारण है ऐसी अवस्थामें दर्शनका अर्थ अवधिदर्शन आदि नहीं किया जासकता है क्योंकि अवधिदर्शन दर्शनावरण कर्मसे संबंध रखता है।

अंतराय इति सामान्यनिर्देशेपि सामर्थ्याद्विशेषसंप्रत्ययः ॥ २ ॥

अर्थ—यद्यपि सूत्रमें अंतराय ऐसा सामान्य कथन है तो भी सामर्थ्यसे लाभांतराय विशेषका बोध होता है अर्थात् अलाभ परीषहका कारण लाभांतराय कर्म ही हो सकता है इसलिये अंतरायके कहनेसे लाभांतरायका यहां ग्रहण समझना चाहिये। प्रश्न—यदि आदिका मोहनीयका भेद जो दर्शन मोहनीय कर्म है उसके होनेपर तो अदर्शन परीषह होती है तो दूसरा जो चारित्र मोहनीय भेद है उसके होनेपर कौन कौन परीषह होती हैं? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

नके अंतमें समस्त चारित्रमोहनीय प्रकृतियोंका सर्वथा घात कर डालता है, तभी क्षीणमोह नामक गुणस्थानमें वह जीव पहुंचता है इसलिये बारहवें गुणस्थानमें कषायोंका सद्भाव ही नहीं रहता है इसलिये कषायोंका उदय न होनेसे इन दोनों गुणस्थानोंको वीतराग कहते हैं अर्थात् राग द्वेष इनमें बीत चुके हैं एकके उदय और बंधका अभाव है दूसरेमें उदय बंध और सत्ता तीनोंका अभाव है इसलिये दोनों ही वीतराग कहे जाते हैं परंतु वीतराग तेरहवां और चौदहवां भी है किंतु वे सर्वज्ञ वीतराग हैं और ये ग्यारहवें बारहवें छद्मस्थ वीतराग कहे जाते हैं कारण कि इनमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे पूर्ण केवलज्ञान प्रगट नहीं होपाता है पूर्ण केवलज्ञान तेरहवेंके प्रारंभमें होता है जब कि बारहवेंके अंतसमयमें केवलज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों कर्मोंका सर्वथा नाश होजाता है। छद्मस्थ नाम अल्पज्ञका है, जबतक केवलज्ञान नहीं होता है तबतक जीव अल्पज्ञ ही कहलाता है, मनःपर्ययज्ञानी अवधिज्ञानी, तथा पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानके वेत्ता सभी अल्पज्ञानी कहलाते हैं क्योंकि उन सबोंका ज्ञान एकदेशरूप है और ऐसी अवस्था क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक रहती है। तो दशवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानमें और छद्मस्थ वीतराग जो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान हैं उनमें, इन तीनों गुणस्थानोंमें चौदह परीषह होती हैं, चौदहसे अधिक परीषह होनेकी वहां योग्यता ही नहीं है, कौन कौन चौदह होती हैं इसका उलेख भी ग्रंथकार स्वयं आगे करेंगे।

चतुर्दशवचनादन्याभावः ॥ १ ॥

अर्थ——सूत्रमें "चतुर्दश" ऐसा पाठ है, इस चतुर्दश पाठसे अन्य परीषहोंका उन गुणस्थानोंमें अभाव सिद्ध होजाता है क्योंकि संख्याविशेषका ग्रहण नियमके लिये है वह नियम इस प्रकार है कि उन गुणस्थानोंमें चौदह ही परीषह होती हैं और नहीं होतीं। शंका——

सूक्ष्मसांपरायेति नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेन्न सन्मात्रत्वात् ॥ २ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—चारित्रमोहनीय कर्मके उदयमें नाग्न्य परीषह, अरति परीषह, स्त्री परीषह, निषद्या परीषह, आक्रोश परीषह, याचना परीषह और सत्कारपुरस्कार परीषह ये सात परीषह होती हैं। ये नाग्न्य आदि परीषह पुंवेद स्त्रीवेद आदि कर्मोंके उदयमें होती हैं इसलिये इन परीषहोंका कारण मोहोदय अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्मका उदयही है यह वात तो ठीक है परंतु निषद्या परीषह चारित्रमोहनीय कर्मके उदयमें किस प्रकार होती है उसका उत्तर यह है—

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयहेतुत्वं प्राणिपीडार्थत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीयका उदय होनेपर प्राणियोंको पीडा पहुंचानेका भाव होजाता है क्योंकि सुंदर चिकना और अनुकूल ठंडा या सुहावना गरम आसन हो तो थकावट दूर करनेकेलिये उसपर बैठनेके परिणाम हो जाते हैं या बैठकर उस स्थानको छोडनेके परिणाम नहीं होते हैं परंतु वहां बैठनेमें जीवोंको बाधा होने की संभावना रहती है इसलिये निषद्या परीषहमें प्राणिपीडाकी संभावना होनेके कारण चारित्र मोहनीय कर्मका उदय कारण कहागया है अर्थात् निषद्या परीषह भी सरागी मोहित भावोंसे होती है इसलिये वह भी चारित्र मोहके उदयमें होती है। प्रश्न—यह वात तो जानी जाचुकी कि ऊपर जिन परीषहोंका उल्लेख किया गया है वे ज्ञानावरण मोहनीय और अंतराय इन तीन कर्म प्रकृतियोंके उदयसे होती हैं परंतु अन्य जो वाकी की परीषहें हैं वे किस कर्मके उदयसे होती हैं? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—शेष परीषहें अर्थात् ऊपर जिनका उल्लेख आचुका है उनसे बची हुई परीषहें शेष कहलाती हैं वे सब वेदनीय कर्मके उदयमें होती हैं।

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि वीतराग छद्मस्थमें अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानोंमें तो मोहनीय कर्मका सर्वथा उपशम और क्षय होनेसे उस मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाली आठ परीषहें जिनका कि उल्लेख आगे सूत्रकार करेंगे, नहीं होती हैं यह बात तो ठीक है वहां तो चौदह ही परीषह होती हैं इस संख्याके नियमकी सिद्धि होजाती है परंतु सूक्ष्म-सांपराय नामक दशवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका उदय है इसलिये वहां तो चौदहका नियम सिद्ध नहीं होता है, वहां तो मोहनीयके उदयमें अधिक भी हो सकती है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि उस दशवें गुणस्थानमें भी कषाय सत्तामात्र है, वहां केवल संज्वलन लोभ कषायका उदय है वह भी अत्यंत मंद है इतना मंद है कि वह नाममात्र ठहरा हुआ है इसलिये वह गुणस्थान भी वीतराग छद्मस्थके समान ही है अतः वहां भी चौदह परीषहोंका नियम लागू होजाता है। फिर शंका—

तत एव परीषहाभाव इति चेन्न बाधाविशेषपरमेपि तद्भावस्याविरध्यासितत्वात्सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमीगमनसामर्थ्यवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां एक यह शंका होती है कि सूक्ष्मसांपराय और छद्मस्थ वीतराग इनके परीषहोंका अभाव ही कहना चाहिये क्योंकि सूक्ष्मसांपरायके तो मोहनीय कर्मका अत्यंत मंद उदय होनेसे वह भी छद्मस्थ वीतरागके समान ही है और छद्मस्थ वीतराग गुणस्थानोंमें सर्वथा मोहोदय नहीं है इसलिये चारित्रमोहनीयके उदयमें होनवाली परीषह वहां नहीं होनी चाहिये? जिस जीवके क्षुधा आदि वेदनाओंके प्रकर्षका उदय होता है अर्थात् रति अरति और लोभ आदि चारित्र मोहनीय कषायोंकी जहां तीव्रता पाई जाती है वहींपर असाताके उदयमें क्षुधा आदि परीषह होती हैं और जहां वे परीषह होती हैं वहींपर उनका सहना भी होता है और वह सहना ही परीषहजय कहलाता है। परंतु जहां पर मोहनीय कर्मका उदयरूप बलका आश्रय नहीं है वहां पर असाताका उदय भी कुछ

उक्तादन्यानिर्देशः शेषा इति ॥ १ ॥

अर्थ—ऊपर प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार, ये ग्यारह परीषह कहीं जाचुकी हैं, इनसे बची हुईं बाकीकी परीषहें शेष कहलाती हैं वे शेष कौन सी हैं? उनके नाम इस प्रकार हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परीषह शेष हैं ये वेदनीय कर्मके उदयमें होती हैं। शंका—

निमित्तात्कर्मसंयोग इति चेन्न तद्योगाभावात् ॥ २ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि जिसप्रकार "चर्मणि द्वीपिनं हंति" चमडेकेलिये व्याघ्रको मारता है यहां पर 'चर्मणि' इस पदमें जो सप्तमी विभक्तिका विधान है वह निमित्त अर्थमें है, चमडेके निमित्त व्याघ्रको मारता है तो जिस प्रकार 'चर्मणि' पदमें निमित्त अर्थको लेकर ही कर्मयोग है, कर्मयोगमें ही सप्तमी विभक्तिका विधान है। उसीप्रकार 'वेदनीये शेषाः' इस सूत्रमें भी निमित्त अर्थमें सप्तमीविभक्तिका विधान समझना चाहिये वैसी अवस्थामें यह अर्थ होगा कि वेदनीय कर्मके निमित्त परीषह होती हैं अर्थात् अबतक तो परीषहोंमें वेदनीय कर्म कारण कहा जाता है परंतु निमित्त अर्थमें सप्तमी विभक्तिका विधान समझनेसे वेदनीय कर्ममें परीषह कारण ठहरेंगीं? उत्तर—यह शंका ठीक नही है कारणकि यहां पर कर्मका योग नहीं है। कर्मके योगमें ही उस प्रकारकी अर्थात् निमित्तार्थक कर्मयोगमें सप्तमी विभक्तिका विधान होता है परंतु यहां पर कर्मका योग नहीं है इसलिये निमित्त अर्थको लेकर कर्ममें यहां सप्तमी विभक्ति नहीं है। फिर कौनसा यहां विधान है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—

सन्निर्देशस्तदुपलक्षणत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार "गोषु दुह्यमानासु गतः तद्दुग्धासु आगतः" गौओंके दुहते समय चला गया था और उनके दोहनेके समय आगया, यहां पर सप्तमी विभक्तिका विधान है उसीप्रकार 'वेदनीये' यहां पर

नहीं कर सकता है उस अवस्थामें क्षुधा आदि वेदनारूप परीषह भी नहीं हो सकती हैं आर उन परीषहोंके अभावमें परीषहोंका सहनरूप जय भी सिद्ध नहीं होता है फिर भी उन सूक्ष्म-सांपराय और छद्मस्थ वीतराग गुणस्थानोंमें चौदह परीषहोंका विजय कहागया है सो यह कथन केवल भक्तिमात्र दिखानेकेलिये है वास्तवमें सिद्ध नहीं होता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि वहांपर उन परीपहोंके कारणभूत कर्मके उदयका सद्भाव होनेसे शक्तिकी अपेक्षा परीषहोंका सद्भाव भी है ही। जिसप्रकार निरंतर सातावेदनीय कर्मका तीव्र उदयवाले सर्वार्थसिद्धि विमानमें रहनेवाले इन्द्रोंका भी सातवें नरकमें चले जानेकी शक्तिकी अपेक्षा सामर्थ्य होती है, वे कभी भी वहां गमन नहीं करते हैं यहांतक कि वे भगवान्के कल्याणकोंमें भी नहीं जाते हैं फिर भी सातवें नरकमें गमन करनेकी उनकी सामर्थ्य कम नहीं हो जाती है वह वरावर रहती है ठीक उसी प्रकार छद्मस्थ वीतरागोंमें कर्मोदयका सद्भाव होनेसे परीषहोंका कथन युक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है अर्थात् वेदनीय कर्मके उदयमें ग्यारह परीषह होती हैं और ज्ञानावरण कर्मके उदयमें प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह होती हैं तथा अंतराय कर्मके उदयमें अलाभ परीषह होती हैं, ये चौदह परीषह वेदनीय कर्म ज्ञानावरण कर्म और अंतराय कर्म इन तीन कर्मोंके उदयमें होती हैं सो दशवें ग्यारहवें और बारहवें इन तीनों गुणस्थानोंमें ज्ञानावरण अंतराय और वेदनीय इन तीनों कर्मोंका उदय रहता ही है, इसलिये परीषहोंके कारणभूत कर्मोंका उदय रहनेसे शक्तिकी अपेक्षासे चौदह परीषहोंका उन गुणस्थानोंमें विधान किया गया है जो युक्तिसंगत और प्रमाण संगत ही है। चारित्रमोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाली-नाग्न्य अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह और दर्शन मोहनीयके उदयमें होनेवाली एक अदर्शन परीषह उन गुणस्थानोंमें नहीं होती हैं कारण उन कर्मोंका वहां उदय नहीं है दशवेंमें केवल नाममात्रको उदय है इसलिये वह भी छद्मस्थ तुल्य है इसलिये चारित्र मोहनीय और

वेदनीय कर्मके उदय होने पर परीषह होती हैं इस सद्भाव अर्थमें ही सप्तमीका विधान जानना चाहिये। अर्थात् यहां पर सद्भावका उपलक्षण है, जैसे गौओंके दोहन समयके सद्भावमें सप्तमी विभक्ति होती है उसी प्रकार वेदनीय कर्मके उदयके सद्भाव होने पर ही परीषह होती हैं इस सद्भाव अर्थमें यहां पर सप्तमी विभक्ति है। यहांपर सत्वका उपलक्षण है, 'वेदनीये शेषाः' इस सूत्रमें 'वेदनीये सति शेषाः परीषहा भवंति' अर्थात् वेदनीय कर्मके होने पर ही बाकीकी परीषहें होती हैं ऐसा वेदनीय कर्मका सद्भाव अर्थ यहां उपलक्षण है उसे जोड लेना चाहिये। यही सद्भावरूप उपलक्षण 'चारित्रमोहे' आदि सूत्रोंमें भी घटित करलेना चाहिये। प्रश्न—परीषहोंके निमित्त कारणोंका उनके लक्षण और भेदोंका व्याख्यान तो होचुका, अब प्रत्येक आत्मामें एक साथ कितनी परीषहें होसकती हैं? इसकेलिये सूत्र कहते हैं—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७॥

सूत्रार्थ—एकसे आदि लेकर एक साथ एक आत्मामें उन्नीस परीषहों तक विभाग करना चाहिये अर्थात् एक आत्मामें एक साथ उन्नीस तक परीषहें हो सकती हैं।

आङभिविध्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो आङ् पद है वह अभिविधि अर्थमें है अर्थात् आङ् पदके दो अर्थ होते हैं कहीं पर अभिविधि और कहींपर मर्यादा। यदि मर्यादा अर्थमें आङ् लाया जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि जहांतकका विधान हैं उससे पहले पहलेका ग्रहण होता है और यदि अभिविधि अर्थमें आङ् लाया जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि जहांतकका विधान किया जाता है उस सहित ग्रहण किया जाता है। इस सूत्रमें 'आ एकोनविंशतेः' इस वाक्यमें आङ् पद अभिविधि अर्थमें प्रयोग किया गया है उसका अर्थ यही लेना चाहिए कि उन्नीस परीषहों तकका एक आत्मामें एक साथ विधान किया गया है सो बीससे पहले उन्नीसवीं परीषहका भी ग्रहण करना चाहिये उसका स्पष्टार्थ यही होता है कि

समवायादिति चेन्नाविशेषप्रसंगात् ॥ १६ ॥

दंडके समान क्रियाकी स्वतः सिद्धि न होनेसे दंडीके समान क्रियावान् यह व्यपदेश नहीं हो सक्ता यह हमने माना परंतु अयुतसिद्ध रूप लक्षणका धारक अर्थात् दोनों पदार्थोंको सदा एक बतलानेवाला एक समवाय नामका संबंध है उसके द्वारा भिन्न भी क्रिया द्रव्यके साथ एकम एक जानपडनेके कारण द्रव्यका क्रियावान् यह व्यपदेश हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि यदि क्रिया और क्रियावान् दोनोंका अयुत सिद्ध रूप लक्षणका धारक समवायसंबंध माना जायगा अर्थात् समवाय संबंधसे दोनोंको एक माना जायगा तब एकांत पक्षमें जो द्रव्य है वही क्रिया कही जायगी, एवं जो क्रिया है वही द्रव्य कही जायगी, दोनोंको एक मानना पडेगा तथा इसरीतिसे समवाय संबंधसे जब दोनोंको एक मान लिया जायगा तब द्रव्यसे भिन्न क्रिया पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता और क्रियासे भिन्न द्रव्य पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता अतः द्रव्य और क्रियाके भेदसे जो पदार्थोंकी कल्पना कर रक्खी है उसका व्याघात हो जायगा । यदि कहा जायगा कि द्रव्य और क्रिया दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न हैं ऐसा हम (परवादी) स्वीकार करते हैं तब उन दोनोंका अयुतसिद्धरूप लक्षणका धारक समवायसंबंध सिद्ध नहीं हो सकता। इसप्रकार क्रिया क्रियावान्का समवाय संबंध माननेपर भी क्रियाके भिन्न रहते क्रियावान् यह व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि कदाचित् जैनसिद्धांतकारके प्रति यहांपर यह कहा जाय कि—

अनन्यत्वे द्वयोरैकात्म्यमिति चेन्न कथंचिद्व्यतिरेकसिद्धेः ॥ २० ॥

क्रिया और क्रियावानका आपसमें समवाय संबंध माननेपर वे दोनों एक हो जांयगे भिन्न भिन्न रूपसे उनकी प्रतीति न होगी यह ऊपर दोष दिया गया है परंतु यह दोष तो जैनसिद्धांतके अंदर भी

है क्योंकि उसमें भी क्रियाको क्रियावानसे अभिन्न माना है—दोनोंका अभेद माना है इसलिए यदि उन दोनोंका अभेद पक्ष ही निर्दोष माना जायगा तो या तो क्रिया; द्रव्य कही जायगी या द्रव्य; क्रिया कही जायगी। दोनोंमेंसे एक पदार्थ सिद्ध होगा, भिन्न भिन्न रूपसे दो पदार्थ सिद्ध न हो सकेंगे परंतु लोकमें दोनों भिन्न भिन्न जान पडते हैं क्योंकि द्रव्य अवस्थित ध्रौव्य स्वरूप है, क्रिया क्षण क्षण विनाशीक है। द्रव्य अकारण है, क्रिया पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण है, यदि क्रिया और द्रव्य दोनोंका अभेद माना जायगा तो द्रव्य जिसप्रकार ध्रौव्यस्वरूप और अकारण स्वरूप माना है उसप्रकार क्रियाको भी ध्रौव्य स्वरूप और अकारण स्वरूप मानना पडेगा अथवा विपरीत बात ही सिद्ध होगी अर्थात् जिसतरह क्रियाको क्षणविनाशीक और पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण माना है उसप्रकार दोनों एक होनेसे द्रव्यको भी क्षणविनाशीक और कारण मानना पडेगा परंतु यह विरुद्ध है ऐसा माने जानेपर वस्तु स्वरूप न सिद्ध हो सकेगा इसलिये जैनसिद्धांतकारोंने जो क्रियाको द्रव्यसे अभिन्न माना है वह अयुक्त है? वादीकी इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—सो ठीक नहीं। यदि जैनसिद्धांतमें सर्वथा द्रव्य और क्रियाका अभेद माना जाय तब तो यह दोष हो सकता है परंतु वहां तो कथंचित् भेद माना है अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथंचित् द्रव्यसे क्रिया अभिन्न है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न है इस रूपसे जब क्रिया द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है तब उपर्युक्त दोष लागू नहीं हो सकता अतः अनेकांतवाद प्रक्रियाके अनुसार द्रव्य और क्रियाका कथंचित् भेद अभेद मानना ही ठीक है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

क्रियावत्त्वे सत्यानित्यत्वमिति चेन्न व्यभिचारात् ॥ २१ ॥

ऊपर कही गईं अनेक युक्ति प्रयुक्तियोंसे यह बात भलेप्रकार सिद्ध हो चुकी कि आत्मा क्रियावान्

किसी आत्मामें एक साथ उन्नीस परीषह भी होसकती हैं। यहांपर यह प्रश्न उठता है कि उन्नीस ही क्यों होती हैं एक साथ वावीस पूरी क्यों नहीं होती हैं अथवा उन्नीस ही होती हैं तो कौनसी उन्नीस होती हैं तीन कौनसी छूट जाती है? इस प्रश्नके उत्तरमें वार्तिक कहते हैं—

शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावादेकोन्नविंशतिसंभवः ॥ २ ॥

अर्थ—शीत और उष्ण इन दोनों परीषहोंमें एक समयमें एक ही हो सकती है और शय्या निषद्या तथा चर्य्या इन तीनों परीषहोंमेंसे भी एक समयमें एक आत्मामें एक ही कोई हो सकती है, क्योंकि ये परीषह परस्पर विरोधी हैं इसलिये एक साथ नहीं ठहर सकती हैं अर्थात् जिस समय शीत वाधा होगी उस समय उष्ण बाधा नहीं हो सकती और जिस समय उष्ण बाधा होगी उस समय शीतबाधा नहीं हो सकती है, इसी प्रकार बैठना सोना और चलना इन तीनोंमेंसे भी एक समयमें एक आत्मामें एक ही क्रिया होसकती है इसलिये ऊपरकी शीत उष्ण इन दोनोंमेंसे एक और निषद्या शय्या चर्या इन तीनोंमेंसे दो इस प्रकार तीन परीषहोंको हटाकर एक साथ एक आत्मामें बाकीकी उन्नीस परीषहोंकी भी संभावना होनेसे उन्नीस विकल्प हो सकते हैं अर्थात् एक भी होसकती है दो भी हो सकती हैं तीन भी होसकती हैं इसीप्रकार चार पांच आदि उन्नीस तक होसकती हैं। शंका—

प्रज्ञाज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावेऽष्टादशप्रसंग इति चेन्न अपेक्षातो विरोधाभावात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनों परीषह भी तो परस्पर विरुद्ध हैं उन दोनोंमेंसे भी एक समयमें एक आत्मामें एक ही हो सकती है क्योंकि प्रज्ञाका अज्ञान विरोधी है और अज्ञानकी प्रज्ञा विरोधी है इसलिये इन दोनोंमेंसे एक किसीका अभाव होनेसे एक समयमें एक आत्मामें अठारह परीषहोंकी संख्याका ही प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि अपेक्षादृष्टि रखनेसे कोई विरोध इन दोनोंमें नहीं आता है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे तो प्रज्ञाकी अधिकता होती है।

अर्थात् उस मोहका उसी सूक्ष्मसांपराय चारित्रसे अति शीघ्र नाश भी होनेवाला है इसीलिये सूक्ष्मसांपराय विशुद्धिसंयम जिस चारित्रका यथार्थ नाम है, ऐसे मुनिराजोंके सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है। शंका—

गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रांतर्भाव इति चेन्न तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि गुप्ति और समिति इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इस सूक्ष्मसांपराय चारित्रका अंतर्भाव हो जायगा क्योंकि यह चारित्र प्रवृत्तिनिरोधात्मक है और भलेप्रकार प्रवृत्ति है अर्थात् कषायका निरोध और संयममें प्रवृत्ति होनेसे यह चारित्र गुप्ति या समितिमें अंतर्भूत हो जायगा फिर उसके स्वतंत्र व्याख्यानकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि कषायोंका निरोध और संयममें भलेप्रकार प्रवृत्ति होनेपर भी गुणविशेषके निमित्तका आश्रय होनेसे इसका जुदा ही वर्णन किया गया है अर्थात् गुणविशेष जो संज्वलनलोभ कषायका अतिसूक्ष्म होना रूप है वह इस चारित्रसे होता है। यद्यपि गुप्ति समितियोंसे भी संवरकी सिद्धि होती है तो भी इस सूक्ष्मसांपराय चारित्रसे उस संवरकी विशेष सिद्धि होती है इसलिये कषायकी अतिसूक्ष्मतारूप गुणके द्वारा यह संवरकी सिद्धिमें विशेष कारण है अतः गुप्तिसमितिसे इसका जुदा ही वर्णन किया गया है। अब यथाख्यात चारित्रका स्वरूप कहते हैं।

निरवशेषशांतक्षीणमोहत्वादथाख्यातचारित्रं ॥ १२ ॥

अर्थ—समस्त चारित्रमोहनीयका उपशम हो जानेसे अथवा क्षय होजानेसे आत्माकी शुद्धस्वभावरूप अवस्थाकी अपेक्षा रखनेवाला जो चारित्र है वह अथाख्यात चारित्र कहलाता है। पहले सामायिक आदि चारित्रोंको धारण करनेवालोंने इस यथाख्यात चारित्रका वर्णन तो किया है परंतु विना मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय किये उसे प्राप्त नहीं किया था किंतु उस चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय करके अब उन सामायिकादि चारित्रोंके अनंतर यह धारण किया जाता है इसलिये इसका

और अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञानोंके अभावकी अपेक्षा अज्ञान होता है इसलिये दोनोंका सद्भाव एक समयमें ही एक आत्मामें हो सकता है, अतः अठारह नहीं किंतु उन्नीस परीषह एक साथ हो सकती हैं। फिर शंका—

दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेन्न प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—यहांपर फिर दूसरी शंका यह होती है कि प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनोंमें विरोध होनेसे वे दोनों तो एक साथ नहीं होसकती हैं उनमेंसे तो एक समयमें एक ही मानी जावे तथा दंश मशक इन दोनोंकी एक साथ ही प्रवृत्ति मानी जावे तो भी उन्नीस परीषहोंका विकल्प हो सकता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि मशक शब्द प्रकारार्थक है अर्थात् दंशके साथ मशक शब्द उपलक्षण है, उससे दंशके समान अन्य काटनेवाले जन्तुओंका ग्रहण होता है इसलिये अन्य जन्तुओंके भेदोंको ग्रहण करनेकेलिये मशक शब्दका प्रयोग किया गया है इसलिये दंशमशक ये दो परीषह नहीं है किंतु एक ही परीषह है इसलिये उन्नीस विकल्प नहीं हो सकते हैं और प्रज्ञा परीषह तथा अज्ञान परीषह इन दोनोंका परस्पर विरोध भी नहीं है यह बात पहले कही जाचुकी है। फिर शंका—

दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेन्न श्रुतिविरोधात् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह भी शंका होती है कि दंश शब्दके ग्रहणसे ही उसके समान जातिवाले काटनेवाले जीवोंका ग्रहण हो जायगा फिर मशक शब्दका प्रकार रूप अर्थ नहीं लिया जायगा अर्थात् दंश शब्दसे ही प्रकार अर्थ भी लेलिया जायगा फिर प्रकार अर्थके लिये मशक शब्दका प्रयोग व्यर्थ है किंतु उसका प्रयोग भिन्न परीषह रूपमें समझना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि शास्त्रका ऐसा अर्थ करनेमें विरोध आता है। जो शब्द जिस अर्थमें शास्त्रानुसार नियत है वही अर्थ हमारे लिये प्रमाण है। शास्त्रमें दंश शब्द प्रकार अर्थका वाचक नहीं कहा गया है किंतु दंश

नाम अथाख्यात है। अथ शब्द अनंतर अर्थमें आता है, इसका अर्थ यह होता है कि चारित्रमोहनीय कर्मके उपशम और क्षयके अनंतर ही वह प्रगट होता है इसीलिये उसे अथाख्यात चारित्र कहते हैं। अथवा-

यथाख्यातमिति वा ॥ १३ ॥

अर्थ—अथवा दूसरा उसका नाम यथाख्यात भी है उसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार आत्माका स्वभाव नियत है उसीप्रकार वह उस अवस्थाको प्रगट करता है इसलिये उसका नाम यथाख्यात है अर्थात् जैसा शास्त्रमें उसका स्वरूप कहा गया है कि मोहनीय कर्मका समस्तरूपसे उपशम या क्षय होकर आत्माकी वीतराग विशुद्ध अवस्था प्रगट होजाना उसी अवस्थाको जो धारण करावे उसका नाम यथाख्यात है।

इतेरुपादानं ततः कर्मसमाप्तिज्ञापनार्थत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—"सामयिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रं" इस सूत्रमें जो इति शब्द पड़ा हुआ है वह इतिशब्द यद्यपि अनेक अर्थोंमें आता है, कहीं पर हेतु अर्थमें आता है, कहीं एवं प्रकार—इसप्रकार अर्थमें आता है, कहीं व्यवस्था अर्थमें आता है, कहीं विपर्यास अर्थमें आता है, कहीं समाप्ति अर्थमें आता है इत्यादि अनेक अर्थ इति शब्दके होते हैं। यहांपर विवक्षावश इति शब्दका अर्थ समाप्तिरूप लिया गया है. उस अर्थके लेनेसे यह भाव सिद्ध हो जाता है कि यथाख्यात चारित्रसे सकलकर्मोंके क्षयकी समाप्ति अर्थात् पूर्णता होजाती है।

उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनं ॥ १५ ॥

अर्थ—इन सामायिक छेदोपस्थापना आदि चारित्रोंका जो सूत्रमें क्रम रक्खा गया है वह उत्तरोत्तर गुणोंका महत्त्व प्रगट करनेकेलिये रक्खा गया है अर्थात् आगे आगे अधिक अधिक विशुद्धि इन चारित्रोंमें है इसीके प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें इनका क्रम रक्खा गया है। उसीका कथन इस प्रकार है—सामायिक छेदोपस्थापना संयमोंकी जघन्य विशुद्धिरूप लब्धि[1] थोडी है उसकी अपेक्षा परिहारविशुद्धि चारित्रकी

१—क्षयोपशमजन्यविशुद्धिर्लब्धिः। अर्थ—क्षयोपशमसे होनेवाली विशुद्धिको लब्धि कहते हैं।

शब्दका अर्थ उसीका वाच्यरूप डांस है, वही शब्द अपने वाच्यरूप अर्थका भी ग्रहण करे वही प्रकार अर्थको भी जनावे ये दोनों बातें एक शब्दसे किसप्रकार सिद्ध हो सकती हैं? इसलिये शास्त्रविहित अर्थके अनुसार दंश शब्द प्रकार अर्थमें नहीं आता है किंतु डांस अर्थमें आता है इसलिये दंशका प्रकार अर्थ करनेसे शास्त्रविरोध आता है इसलिये मशक शब्दका ही अर्थ प्रकाररूप ग्रहण करना चाहिये। फिर शंका—

तुल्यमिति चेन्नान्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यदि शास्त्रका विरोध होनेसे एक शब्दकी दूसरे अर्थमें कल्पना करना अयुक्त है ऐसा कहा जाता है तो मशक शब्दमें भी यह बात समान है, अर्थात् उसका भी प्रकार रूप अर्थ नहीं होसकता है किंतु मशक शब्दका वाच्य जो मच्छर है वही अर्थ होगा, मशक शब्दका प्रकार अर्थकेलिये प्रयोग करना व्यर्थ है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि परीषहका निरूपण तो दूसरे शब्दसे किया गया है। परीषहका कथन तो दंश शब्दसे किया गया है फिर जो उस दंश शब्दके साथ मशक शब्दका प्रयोग किया गया है वह परीषहका विधान नहीं करता है किंतु प्रकार अर्थका ही द्योतक हो जाता है अर्थात् दंश शब्दसे उस परीषहका विधान सिद्ध होजाने पर फिर जो मशक शब्दका प्रयोग किया गया है वह व्यर्थ पडता है फिर भी उसके ग्रहणको सामर्थ्यसे सिद्ध होता है कि उसका प्रकार अर्थ है। फिर शंका—

चर्याद्यविशेषादेकान्नविंशतिवचनमिति चेन्नारतौ परीषहजयभावात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि चर्या निषद्या और शय्यामें अरति परीषहसे कुछ भिन्नता या विशेषता नहीं है अर्थात् चर्या निषद्या शय्या परीषहका अर्थ उनसे अरति करना है तथा अरतिपरीषह अलग कही ही है, इसलिये एक अरति परीषह ही कहनी चाहिये चर्या शय्या निषद्या परीषहके कहनेकी

जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी अधिक है और जितनी उसकी जघन्य है उसकी अपेक्षा उसी परिहारविशुद्धि चारित्रकी उत्कृष्ट विशुद्धि जघन्यसे अनन्तगुणी अधिक है। परिहारविशुद्धि चारित्रकी उत्कृष्टविशुद्धिकी अपेक्षा सामायिक छेदोपस्थापना चारित्रोंकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी अधिक है। उन सामायिक छेदोपस्थापना चारित्रोंकी उत्कृष्ट विशुद्धिकी अपेक्षा सूक्ष्मसांपराय चारित्रकी जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी अधिक है और सूक्ष्मसांपरायकी जघन्य विशुद्धि जितनी है उससे उसकी उत्कृष्ट अनंतगुणी अधिक है तथा उससे अनंतगुणी विशुद्धि यथाख्यात चारित्रकी है। यथाख्यात चारित्रकी विशुद्धतामें हीनाधिकता नहीं है अर्थात् उसमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं हैं वह एकरूप है। यहांपर अनंतगुणी विशुद्धिका अर्थ यह समझना चाहिये कि विशुद्धताके अंश पहलेकी अपेक्षा अनंतगुणित अधिक हैं अर्थात् कषायोंकी मंदता आर उनका अनुदय हो जानेसे आत्माकी निर्मलताके अंश बहुत बढ जाते हैं। इस प्रकार ये पांचों प्रकार जो चारित्ररूप आत्माका चैतन्यपरिणाम है वह शब्दके विषयकी अपेक्षासे संख्यातभेदवाला है अर्थात् शब्दसे यदि चारित्रका प्रतिपादन किया जायगा तो उसके संख्यात ही भेद हो सकते हैं। जिसप्रकार सामायिक छेदोपस्थापना आदिरूपसे वह चारित्र पांच प्रकार है वैसे ही उसके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट आदि तर तम भेदोंकी अपेक्षा रखकर यदि उन्हीं चारित्रोंको शब्द द्वारा कहना चाहेंगे तो संख्यात प्रकारसे कह सकते हैं, यदि उसी चारित्रको बुद्धिके उपयोगरूप विकल्पों द्वारा विचार करें तो असंख्यात भेद उस चारित्रके प्रतीत होंगे और चारित्रकी विशुद्धिकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो उसी चारित्रके अनंत भेद हो जाते हैं क्योंकि विशुद्धिके अनंत भेद हैं। इसप्रकार यह चारित्र पूर्व जो कर्मोंका आस्रव होता था उसके रोकनेका कारण होनेसे परम संवरका हेतु सिद्ध हो जाता है। अब कहते हैं कि चारित्रका स्वरूप और उसके भेद तो कह दिये गये उसके अनंतर जो यह कहा गया था कि 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तपसे भी संवर होता हैं और तपसे निर्जरा भी होती है, इस-

आवश्यकता नहीं है। इस हिसाबसे परीषहोंकी संख्या उनईस ही माननी चाहिये क्योंकि अरति परीषहमें ही चर्या शय्या निषद्या इन तीनों परीषहोंका अतर्भाव होजाता है परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि अरतिमें परीषहोंके जीतनेका ही अभाव है क्योंकि संयममें प्रेम न करना अरतिपरीषह है। जो साधु संयममें प्रेम ही नहीं करेंगे तो वे किसी भी परीषहको नहीं जीत सकेंगे इसप्रकार यदि अरति परीषहमें चर्या शय्या निषद्याका अंतर्भाव किया जायगा तो फिर सब ही परिषहोंका अभाव मानना पडेगा क्योंकि इसप्रकार माननेसे अरति परिषहके जीतनेका अभाव होजायगा यदि इन तीनों परिषहोंके जीतनेमें रति नहीं होगी अर्थात् इन तीनों परिषहोंके जीतनेमें वह अरति करेगा तो फिर वह अरति परिषहको जीत ही नहीं सकेगा और ऐसा करने पर बाईस परिषहोंमेंसे अरति परिषह ही निकाल देनी पडेगी इसका खुलासा यह है कि चर्या निषद्या शय्यामें जो कुछ पीडा होती है उसे मुनिराज सहन करते हैं उस चर्यादिकसे होनेवाली थकावटकी पीडाके सहनेमें वे अरुचि नहीं करते, यदि उस पीडाके सहनेमें अरुचि करें तो उनके उन चर्या निषद्या शय्या संबंधी परीषहोंका जीतना कैसे बनेगा ? अर्थात् विना चर्यादिकी पीडा सहन किये परीषहजय नहीं बनेगा इसलिये यदि चर्यादिकोंको अरतिमें अंतर्भूत करेंगे तो चर्या-

---

१ इसी विषयको श्लोकवार्तिककारने इस प्रकार लिखा है—चर्य्यानिषद्याशय्यानामरते रविशेषात् एकोन्नविंशति वचनमिति चेन्न अरतौ परिषहजयाभावात्। न हि चर्याशय्यानामरतेरेकत्वादेकत्वं युक्तं तत्र अरतौ परीषहजयायोगात्। तत्कृतपीठासहनात्। परीषह जयेन्यत्वमेव तेषामिति द्वाविंशति वचनमेव युक्तं।

अर्थ—चर्या निषद्या शय्या परीषहोंमें अरतिसे कुछ विशेषता नहीं है इसलिये उन्नीस ही परीषह कहनी चाहिये ? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि अरति परीषहके जीतनेका ही अभाव होजायगा। चर्या शय्यादिकोंके अरतिके साथ एकत्व वताकर इनको एक कहना युक्त नहीं है क्योंकि यदि चर्यादिकमें अरति होनेपर परीषहोंका जीतना ही सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उन चर्यादिकोंकी पीडा सहनेका नाम ही परीषहजय कहलाता है और परीषहोंके जीतनेपर अरतिसे भिन्नता ही सिद्ध होजाती है। ऐसी अवस्थामें बाईस परिषहोंका वचन ही युक्तियुक्त है। श्लोकवार्तिक। इस श्लोकवार्तिककी पंक्तियोंका और राजवार्तिककी पंक्तियोंका एक ही आशय है।

लिये अब उस तपका विधान ही कहना चाहिये, वह तप कितने प्रकारका है सो अब उसीका स्वरूप कहते हैं—वह तप मूलमें दो प्रकार है—एक वाह्य तप, दूसरा अभ्यंतर, उन वाह्य और अभ्यंतर दोनों तपोंके छह छह भेद हैं अर्थात् आत्मामें होनेवाले तपश्चरणरूप परिणामोंके भी छह भेद हैं और उसके साधनभूत वाह्य भोजन द्रव्यके त्याग आदि द्रव्योंसे संवंध रखनेवाले वाह्य तपके भी छह भेद हैं, दोनों तपोंके कुल बारह भेद हैं। उनमें पहले वाह्य तपके भेदोंको दिखानेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-
क्लेशा वाह्यं तपः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—१–अनशन करना अर्थात् चारों प्रकारके आहारका त्यागकर उपवास धारण करना, २—ऊनोदर करना अर्थात् जितनी भूख है उससे वहुत कमती आहारका ग्रहण करना, ३–घरोंकी संख्याका नियम कर लेना अर्थात् आज यदि दो घर आहार की योगाई मिल सकेगी तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा फिर आगे आहारकेलिये नहीं जांयगे ऐसा संकल्प करलेना, ४–रसोंका परित्याग करना, ५—एकांतमें शयन करना और बैठना, ६–प्रमादरहित कायक्लेश करना ये छह वाह्य तपके भेद हैं। इन अनशन आदिका स्वरूप कहते हैं—

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनं ॥ १ ॥

अर्थ—मंत्रकी सिद्धि आदि जो कुछ भी प्रत्यक्ष फल हैं अर्थात् इस लोकसंवंधी फल हैं उसकी अपेक्षा नहीं करके किया गया जो उपवास सो अनशन कहलाता है अर्थात् केवल निर्जराकेलिये जो चार प्रकारके आहारका त्याग कर उपवास धारण करना है वह अनशन तप कहलाता है। वह अनशन तप क्यों धारण किया जाता है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि संयमकी बढवारीकेलिये रागके नाश

दिकोंमें अरति होनेसे परीषहजय नहीं होसकता है। अरति परीषह तो जब संयममें अरुचिका अवसर आता है तब उस अरुचिको नहीं आने देनेके समय होती है वहांपर वाह्य शारीरिक पीडाका कुछ भी सहन नहीं है परंतु चर्यादिक परीषहोंमें तो प्रतिद्वंद्वी कारणकलाप जो कुछ कहगये हैं उनके समीपमें रहनेसे आत्माके भावोंमें जो उन प्रतिद्वंद्वी निमित्तोंसे पीडारूप परिणाम प्राप्त होता है उस निमित्तको धारण करनेवाले चतुर साधु उस पीडारूप भावके त्याग करनेकेलिये और संयममें प्रवृत्ति करनेके लिये उद्यत होते हैं इसी अभिप्रायको लेकर यह उपोद्घात उठाकर प्रकरण कहागया है अर्थात् मुनिराजोंको जैसे जैसे वाह्य निमित्त मिलते हैं उनके द्वारा जो कुछ कष्टोंका अनुभव होता है उसीका नाम तो परीषह है और उस कष्टमय अनुभवको छोडकर संयममें प्रवृत्ति रखना अथवा वाह्य साधनोंसे होनेवाले शारीरिक कष्टोंको सहन करना या जीतना सो परीषहजय कहलाता है। इसी बातको सिद्ध करनेके लिये यह प्रकरण ऊपरकी शंकाका परिहार करते हुये कहा गया है। अब कहते हैं कि जिन वावीस परीषहोंके वशमें न होकर अर्थात् जिन परीषहोंको जीतकर विवेकी विद्वान् मुनिराज नवीन कर्म नहीं बांधते हैं उनका संवर करते हैं और पहले संचित कियेहुये कर्मकी निर्जरा कर डालते हैं उन परीषहोंका स्वरूप तो कहा जाचुका उनके पीछे कर्मोंका नाश करनेकेलिये जिस सामर्थ्यशील और पुरुषसे ही साध्य होनेवाले चारित्रका कथन करते हैं वह चारित्र, चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम लक्षणरूप जो आत्मविशुद्धिरूप लब्धि है उस लब्धि (विशुद्धि) सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकार है, तथा प्राणियोंकी पीडाको दूर करना अर्थात् त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा करना और इंद्रियोंके बलको जीतना अर्थात् इंद्रियोंको वशमें रखना इस दो प्रकारकी शक्तिके भेदसे वह चारित्र दो प्रकार है तथा उत्कृष्ट मध्यम जघन्य रूप विशुद्धिकी हीनाधिकताकी अपेक्षासे वह चारित्र तीन प्रकार होजाता है तथा विकलज्ञान जो क्षायोपशमिकरूप एकदेश ज्ञान है उसके विषयभूत सराग वीतराग भेदोंकी अपेक्षासे और सकल क्षायिकज्ञान

करनेकेलिये अर्थात् आहार और शरीरसंबंधी रागको नष्ट करनेकेलिये कर्मोंका नाश करनेकेलिये ध्यान-सिद्धिकेलिये तथा आगमकी प्राप्तिकेलिये अर्थात् निर्मल बुद्धिकी प्राप्ति होकर आगमका ज्ञान बढै इसके-लिये क्षयोपशम बढानेके लिये यह अनशन तप किया जाता है। अब उसके भेद कहते हैं—

तद् द्विविधमवधृतानवधृतकालभेदात् ॥ २ ॥

अर्थ—उस अनशन तपके दो भेद हैं, एक किसी समयविशेषतक अर्थात् नियत काल तक, दूसरा जिसका समय नियत न हो किंतु आजन्म तक आहारका त्याग कर देना वह अनवधृतकाल अनशन तप कहलाता है। उनमें एकदिनमें एकवार[1] भोजन करना, चतुर्थ[2] भक्त आहार करना, षष्ठ भक्त आहार करना, आदिरूपसे जो कालकी मर्यादा लेकर आहार करना है वह तो अवधृतकाल अनशन[3] कहलाता है और शरीरकी समाप्तिपर्यंत जो आहारका परित्याग किया जाता है वह अनवधृतकाल अनशन तप कहलाता है। अब अवमोदर्य तपका स्वरूप कहते हैं—

संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थमावमोदर्यं ॥ ३ ॥

अर्थ—जितना आहारकेलिये भात होता है उसका चतुर्थांश अथवा आधा ग्रास छोड देना अर्थात् जितना आहार एकबारमें मुनिराज ग्रहणकर सकते हैं उस परिमाणवाले आहारके या तो चौथे भागको वे छोड देते हैं या आधा ग्रास एक ग्रास आहार छोड देते हैं, ऐसा करनेसे पेट भरता नहीं है किंतु खाली रहता है, अव नाम ऊनका है अर्थात् ऊन उदर रखना इसको अवमोदर कहते हैं, अवमोदरके

१—जघन्य प्रोषधोपवासमें एक वार आहारका भी विधान है।

२—चार वार आहारका त्याग करना चतुर्थभक्त कहलाता है अर्थात् एक दिनमें दो वार आहार समझा जाता है, इसप्रकार चार आहार छोड़ना, छह आहार छोड़ना चतुर्थभक्त षष्ठभक्त कहलाते है, एक प्रोषधोपवास धारण करना, वेला करना तेला करना आदिरूपसे एक दिन दो दिन चार दिन आठ दिन पंद्रह दिन आदिरूपसे आहारका त्याग करना अवधृतकाल अनशन तप कहलाता है।

३—कषाय, इन्द्रियसम्बन्धी विषय और आहार इन तीनोंका त्याग ही अनशन है।

केवलज्ञानके विषयभूत सयोगकेवली अयोगकेवलीके भेदोंकी अपेक्षासे वह चारित्र चार प्रकार है और नीचेके सूत्रके अनुसार सामायिकादि भेदोंकी अपेक्षासे पांच प्रकार भी वह चारित्र है, उसीका वर्णन नीचेके सूत्रसे करते हैं—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यात-मिति चारित्रं ॥ १८॥

सूत्रार्थ—सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन भेदोंसे पांच प्रकारका चारित्र है। यह पांचोंप्रकारका चारित्र मुनियोंके होता है अर्थात् छठे गुणस्थानसे प्रारंभ होता है। छठे सातवें आठवें और नौवें इन चार गुणस्थानोंमें सामायिक छेदोपस्थापना ये दो चारित्र होते हैं छठे और सातवें इन दो गुणस्थानोंमें परिहारविशुद्धि चारित्र होता है दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है तथा ग्यारहवें वारहवें तेरहवें और चौदहवें इन अंतके चार गुणस्थानोंमें तथा सिद्ध परमेष्ठीके यथाख्यातचारित्र होता है। इनमें आदिके चार चारित्र तो संज्वलनकषायकी उत्तरोत्तर मंदतामें होते है परंतु यथाख्यातचारित्र संज्वलनकषायके सर्वथा अनुदयमें होता है। इन चारित्रोंका स्वरूप वार्तिकों द्वारा श्रीग्रंथकार कहते हैं—

सामायिकशब्दोऽतीतार्थः ॥ १ ॥

अर्थ—इस सामायिक शब्दका अर्थ कहाजाचुका है। कहां कहा जाचुका है? "दिग्देशानर्थदंड-विरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च" इस सातवें अध्यायके सूत्रमें इस सामायिक शब्दका अर्थ कहा गया है। अथवा—

सामायिकामिति वा समासाविषयत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा आय शब्दका अर्थ जाना है और उसका कर्ता अनर्थ है तथा अनर्थ शब्दका अर्थ

भावको अथवा कर्मको आवमोदर्य कहते हैं, अर्थात् खाली—भूखा पेट रखनेकी अवस्थाको अथवा खाली पेट रखनेकी क्रियाको आवमोदर्य कहते हैं। इसप्रकार स्वल्प आहार लेकर भूखा पेट रखनेसे लाभ क्या है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि विना प्रमादके संयमका पालन हो, निद्रा नहीं आवे, प्रमाद-रहित जगते रहें, परिणामोंमें कोई विकार नहीं खडा हो किंतु शांति बनी रहे और किसी प्रकारका प्रमादजनित दोष उत्पन्न न हो, भावोंमें लालसावृत्ति नहीं हो किंतु संतोष बना रहे, बहुत कालतक स्वाध्याय होता रहे उस कालमें किसीप्रकार प्रमाद नहीं सतावे और आत्मीय निर्मल परिणामजनित शुद्ध सुखकी प्राप्ति हो, इसकेलिये ऊनोदरतप किया जाता है। अब वृत्तिपरिसंख्यान तपका स्वरूप कहते हैं—

• एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानं ॥ ४ ॥

अर्थ—भिक्षावृत्ति करनेवाले मुनिराज जब इस प्रकारका संकल्प कर लेते हैं कि आज हम एक ही घर आहारकी योगाई मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं लेंगे अथवा यदि सात घर तक आहारकी विधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो फिर उस दिन नहीं लेंगे अथवा एक गलीमें जितने घर होंगे उनमें यदि आहारकी विधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं लेंगे, अथवा आधेगांवमें जितने घर होंगे उतने घरोंमेंसे कहीं भी यदि शास्त्रोक्त अनुकूल आहारविधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं लेंगे इस प्रकार आहारके लिये उद्यत होते समय संकल्प करलेना वह वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है वृत्ति नाम भोजनसंबंधी क्रियाका है, उसकी संख्याकी नियति करलेना अथवा संकल्प करलेना इसीका नाम वृत्तिपरिसंख्यान है। यह वृत्तिपरिसंख्यान तप आशाकी निवृत्तिकेलिये किया जाता है अर्थात् एक घर विधि नहीं मिली तो चलो दूसरे घर मिल जायगी अथवा एक गलीमें जितने घर हैं उनमें विधि नहीं मिली तो दूसरी गलीमें मिल जायगी इत्यादि जो आशा लगी रहती है यही रागरूप परिणामोंकी जनक है उस आशाका नाश वृत्तिपरिसंख्यान तपसे हो जाता है। जहां नियम हो चुका वहां-

जींवोंके प्राणव्यपरोपण करना वा हिंसा आदि समस्त अनर्थोंका वा पापोंका चलाजाना हुआ। तथा सम उपसर्ग है उसका अर्थ 'अच्छी तरह' है इसप्रकार समाय शब्दका अर्थ हिंसा आदि समस्त पापोंका अच्छीतरह चलाजाना नाश होजाना है अथवा हिंसा आदि समस्त पापोंका अच्छी तरह नाशको प्राप्त होजाना समाय शब्दका अर्थ है उस समायमें अर्थात् हिंसा आदि समस्त पापोंके नाश होनेरूप क्रियामें जो किया जाय अथवा हिंसा आदि समस्त पापोंका नाश होना ही जिसका प्रयोजन वा कार्य हो उसको सामायिक कहते हैं। इसका खुलासा यह है कि जो समस्त पापोंके नाश करनेकेलिये कियाजाय अथवा समस्त पापोंका नाश होना ही जिसका प्रयोजन हो वा जिसके करनेसे समस्त पाप दूर होजांय उसको सामायिक समझना चाहिये।

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरं ॥ ३ ॥

अर्थ—समस्त पापयोगका अभेद रूपसे त्यागका अवलम्बन लेकर जो प्रवर्तित होता है वह सामायिक कहलाता है अर्थात् हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पांचों पापोंके भिन्न भिन्न त्यागकी इस सामायिकमें विवक्षा नहीं है भिन्न भिन्न त्याग तो महाव्रतोंके नामसे कहा जाता है और वे प्रवृत्ति रूप भी हैं सामायिकमें समस्त पापोंका त्याग अभेद रूपसे होजाता है अर्थात् सब प्रकारका आरंभ और समस्त परिग्रहोंका त्याग सामान्य रूपसे सामायिकमें होजाता है इससिये सामायिकमें निष्पाप और निष्कषायरूप प्रवृत्ति होती है अथवा जो किसी नियतकालके लिये धारण किया जाय सो सामायिक कहलाता है। शंका—

गुप्तिप्रसंग इति चेन्नेह मानसप्रवृत्तिभावात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि सामायिक निवृत्ति मार्ग स्वरूप है, अर्थात् समस्त पाप और समस्तयोगोंकी इसमें निवृत्ति होजाती है, इसलिये इस सामायिकमें गुप्तिका प्रसंग प्राप्त होता है, अर्थात्

फिर आगेकी आशाका सर्वथा अभाव हो जाता है। नियत कर लेने पर चित्तवृत्ति फिर आहारकी ओर जाती ही नहीं है। अब रसपरित्याग तपका स्वरूप कहते हैं—

दांतेंद्रियत्वतेजोहानिसंयमोपरोधव्यावृत्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः ॥ ५ ॥

अर्थ-इंद्रियोंका दमन होजाय. इंद्रियोंका तेज भी कमती होजाय, संयमकी रुकावटका अभाव हो जाय इत्यादि बातोंकी सिद्धिकेलिये घी, दही, गुड, तैल, इत्यादि रसोंका त्याग कर देना सो रसपरित्याग तप कहलाता है अर्थात् घृतादि रसोंके अधिक सेवन करनेसे इंद्रियोंमें बल बढता है इंद्रियोंमें तेज और पुष्टि आती है संयममें बाधा पहुंचती है इसलिये मुनिराज उन रसोंका नियमितरूपसे या आजन्मकेलिये त्याग कर देते हैं उनका त्याग हो जानेसे फिर इंद्रियोंका दमन हो जाता है, उनमें कोई विकार नहीं होता है, वे वशमें हो जाती हैं, और संयममें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती है किंतु आत्मीयबल आत्मीयतेज आदि आत्मीय गुणोंकी बढवारी होती है इसकेलिये रसपरित्याग तप किया जाता है। शंका—

रसवत्परित्याग इति चेन्न मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि रस शब्द गुणवाचक है और यहांपर मुनिराज रसवाली वस्तुका त्याग करते हैं वही इष्ट भी है इसलिये रसपरित्याग नहीं कह कर रसवत्परित्याग पद कहना चाहिये अर्थात् रसपरित्याग पदका अर्थ रसका त्याग कहलाता है और रसवत्परित्याग पदका अर्थ रसवाली वस्तुका त्याग कहलाता है, मुनिराज केवल रसका त्याग नहीं करते हैं किंतु रस और रसवाली वस्तुका त्याग करते हैं इसलिये रसपरित्याग ऐसा न कह कर रसवत्परित्याग ऐसा पद कहना उचित है ? उत्तर— यह शंका ठीक नहीं है कारण कि यहांपर मतु प्रत्ययका लुप्त रूपमें निर्देश किया गया है यहां 'रसपरित्यागः'

१—सात दिनोंके सात रस माने गये है, मीठा, घी, दूध, दही, तैल, नमक, हरी, इन सात रसोंका त्याग क्रमसे मंगलवारसे, लेकर प्रतिदिन एक एक रसका किया जाता है।

सामायिक गुप्तिस्वरूप पडता है, गुप्तिमें भी योगोंका निरोध है ? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि सामायिकमें मानस प्रवृत्तिका सद्भाव है मनकृत विचार सामायिकमें होता है किसी पदार्थविशेषका चिंतवन किया जाता है और गुप्तिमें निवृत्ति रहती है अर्थात् उसमें किसी योगकी प्रवृत्ति नहीं होती है। फिर शंका–

समितिप्रसंग इति चेन्न तत्र तस्यै प्रवृत्त्युपदेशात् ॥ ५ ॥

अर्थ–फिर यहां शंका होती है कि यदि सामायिक प्रवृत्तिस्वरूप है तो समितिका लक्षण उसमें जाता है अर्थात् समितिमें जिसप्रकार भलेप्रकार प्रवृत्ति है उसीप्रकार सामायिकमें है इसलिये सामायिक समिति स्वरूप ठहरता है ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि जो मुनि सामायिक चारित्रके पालनेमें प्रयत्नशील हैं वे ही समतियोंमें प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये सामायिक समिति स्वरूप नहीं है किंतु समितिमें कारणस्वरूप है, इसलिये सामायिक कारण और समिति उसका कार्य है इस कार्यकारणके भेदसे दोनोंमें भेद है। फिर शंका—

धर्मप्रसंग इति चेन्नांते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ–यहां दूसरी यह शंका होती है कि पहले दश प्रकार धर्मोंका कथन किया गया है उनमें एक संयम धर्म भी कहा गया है उसीमें इस सामायिकका अंतर्भाव हो जायगा ? उत्तर––यह भी शंका ठीक नहीं है कारणकि सामायिक चारित्रका जो पीछेसे ग्रहण किया है सो वह समस्त कर्मोंके क्षयका कारण है इस वातके प्रगट करनेकेलिये ही उसका अंतमें ग्रहण है। यद्यपि चारित्र धर्ममें अंतर्भूत है फिर भी उसका अंतमें ग्रहण किया गया है अर्थात् चारित्रकी पूर्ति चौदहवें गुणस्थानके अंतमें कहीं गई है इसका कारण यह है कि वह मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है। इसी बातको दिखानेकेलिये चारित्रका कथन अंतमें किया गया है। अब छेदोपस्थापना चारित्रका स्वरूप कहते हैं—

वाक्यमें मतु प्रत्यय भी कहा गया है परंतु वह लुप्त रूप है जिसप्रकार 'शुक्लः पटः' यहांपर शुक्ल शब्द सफेद रंगवाले कपडेका ग्राहक है परंतु मतुका विधान लुप्त रूप है उसी प्रकार यहां समझना चाहिये अर्थात् लुप्त मतु प्रत्ययके विधान होनेसे रस और रसवाली वस्तु दोनोंका त्याग समझना चाहिये। अथवा—

व्यतिरेकाद्वा तत्संप्रत्ययः ॥ ७ ॥

अर्थ—अथवा दूसरा उत्तर यह भी है कि गुणको छोड़ कर गुणी ठहर ही नहीं सकता है इसलिये सामर्थ्यसे रसका त्याग कहनेसे रसवान् वस्तुका त्याग सिद्ध हो जाता है क्योंकि रसका त्याग विना उस रसवाली वस्तुका त्याग किये असंभव है। द्रव्यका जब त्याग कर दिया जाता है तभी रसका त्याग होता है अन्यथा विना द्रव्यका त्याग किये उसके रसका त्याग हो नहीं सकता है इसलिये रसके त्याग करनेकी सामर्थ्यसे ही रसवाली वस्तुके त्यागका बोध हो जाता है। शंका—

सर्वत्यागप्रसंग इति चेन्न प्रकर्षगतेः ॥ ८ ॥

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि जितना भी भोगके योग्य पुद्गल द्रव्य है वह सभी रसवाला है इसलिये रसका त्याग करनेसे समस्त पुद्गल द्रव्यके त्यागका प्रसंग आता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं हैं कारण कि प्रकर्ष गतिवाले पदार्थका हो ग्रहण होता है जिसप्रकार यह कहा जाता है कि रूपवालेको कन्या देना चाहिये तो उसका यह आशय ग्रहण किया जाता है कि जो अधिक रूपवाला पुरुष है उसीको कन्या देनी चाहिये सामान्य दृष्टिसे तो रूप सभी पुरुषोंमें रहता ही है फिर रूपवालेको कन्या देनी चाहिये इस वचनकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसलिये इस वचनके कहनेसे विशेष रूपवानका ग्रहण होता है उसीप्रकार यद्यपि सभी पुद्गल द्रव्य रसवाला होता है तो भी विशेष रसवाले पुद्गल द्रव्यका त्याग समझा जाता है अर्थात् यहां तपका प्रकरण है इसीलिये ऐसे रसोंका त्याग यहां पर समझना चाहिये जो इंद्रियोंको प्रसन्न करनेवाले और उन्हें पुष्ट बनानेवाले हों, ऐसे घृत मीठा नमक आदि पदाथ ही

प्रमादकृतानर्थप्रबंधविलोपे सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना ॥ ७ ॥

अर्थ—देश कालके निमित्तसे सूक्ष्म त्रस स्थावर जीवोंकी यदि अधिक उत्पत्ति होजाय अथवा जिस देश कालमें त्रस स्थावर जंतुओंका बाहुल्य हो वहां मुनियोंका गमन हो जाय और अप्रत्यक्षरूपसे (परोक्षरूपसे) उन जीवोंकी विराधना हो जाय तथा जो निर्दोष क्रिया धारण कर रक्खी है उसका प्रमादवश लोप हो जाय तो उस प्रमादाचरणरूप क्रियाका भलेप्रकार प्रतीकार कर देना इसीका नाम छेदोपस्थापना चारित्र है अर्थात् प्रमादाचरणरूप क्रियाका त्यागकर प्रायश्चित्तपूर्वक संयममें अपनेको पुनः दृढ बना लेना इसीका नाम छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा—

विकल्पनिवृत्तिर्वा ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा पापकर्म जो हिंसादिक है उसकी भेदरूपसे विकल्पकी निवृत्ति करदेना वह भी छेदोपस्थापना है अर्थात् हिंसादि पापोंके विषयमें यदि कोई विकल्प उत्पन्न हुआ हो तो उसे दूर कर देना प्रायश्चित्तादि विधानसे समस्त दोषोंको दूर कर परिणामोंको विशुद्ध रखना इसीका नाम छेदोपस्थापना है। अब परिहारविशुद्धि चारित्रका स्वरूप कहते हैं—

परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रं ॥ ९ ॥

अर्थ—दूर करनेका नाम परिहार है, प्राणियोंके वधसे निवृत्ति हो जाना इसीका नाम परिहार है। उस प्राणिवधकी निवृत्तिसे विशेषरूपसे जिस चारित्रमें विशुद्धि आ जाय वह चारित्र परिहारविशुद्धि कहलाता है। वह परिहारविशुद्धि नामका विशेष चारित्र किस विशेष निर्मल आत्मामें किस समय होता है उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—जो पुरुष जन्मसे तीस वर्ष पर्यंत तो घरमें रहकर व्रतोंका अभ्यास करता रहा हो, वर्षपृथक्त्व अर्थात् तीन वर्षसे ऊपर और नौवर्षसे नीचे (कमसे कम तीन वर्षसे अधिक और ज्यादहसे ज्यादा नौवर्षके भीतरका काल वर्षपृथक्त्व कहलाता है) जो मुनिव्रत लेकर तीर्थंकर

तपस्वियोंके रसपरित्यागमें ग्रहण किये गये हैं, इन पदार्थोंसे रसना इंद्रियको स्वादका आनंद और विशेष राग होता है और इंद्रिय बलवान बनती हैं इसलिये ऐसे विशेष रसवान् पुद्गल द्रव्यसे यहां प्रयोजन सिद्धि नहीं है। यहां पर कोई फिर शंका उठता है—

अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथङ्निर्देशः ॥ ९ ॥

अर्थ—वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप सामान्य रूपसे कहा गया है वह भिक्षावृत्तिमें नियम कराता है इसलिये अनशन अवमोदर्य और रसपरित्याग ये तीनों भिक्षासम्बंधी नियम होनेसे उसी वृत्तिपरिसंख्यान तपके भीतर ग्रहण कर लिये जांयगे, उनका फिर भिन्न भिन्न कथन करना व्यर्थ है? अथवा—

तद्विकल्पनिर्देश इति चेन्नानवस्थानात् ॥ १० ॥

अर्थ—अथवा यहां पर ऐसी भी आशंका हो सकती है कि उस भिक्षाचर्याके लिये सामान्य रूपसे नियम बतानेवाले वृत्तिपरिसंख्यान नामक तपके ही ये अनशन अवमोदर्य रसपरित्याग भेद समझना चाहिये इसलिये उसके भेद समझकर इनका भिन्न भिन्न भी कथन किया जासकता है? अर्थात् वृत्तिपरिसंख्यानसे ये अनशनादिक भिन्न तप हैं इसलिये जुदे कहे गये हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये किंतु वृत्तिपरिसंख्यानके भेद हैं इसलिये उन भेदोंका यह जुदा जुदा कथन है ऐसा समझना चाहिये इस कथनसे यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि वाह्य तपके छह भेद नहीं रहेंगे किंतु तीन ही समझे जांयगे? उत्तर—ऐसी भी आशंका करना ठीक नहीं है कारण कि ऐसा कहनेसे वस्तुकी स्थितिका वोध नहीं हो सकेगा, इन्ही ऊपरकी दोनों शंकाओंका परिहार करनेके लिये वृत्तिपरिसंख्यान और अनशनादिकमें भेद बतलाते हैं—

न वा कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वात् वृत्तिपरिसंख्यानस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—ऊपर जो दोष दिया गया है वह दोष यहां लागू नहीं होता कारण कि भिक्षावृत्तिके लिये

भगवानके चरणोंमें रहा हो, जिसने प्रत्याख्याननामधेय पूर्व तक तो अच्छी तरह अभ्यास कर लिया हो तथा जिसने प्राणियोंके जन्म मरण कालके परिणमनको भलेप्रकार जान लिया हो, जीवोंकी उत्पत्तिके प्रकाररूप जन्मोंका उनकी आधारभूत योनियोंका भी परिज्ञान करलिया हो, जहां जीव उत्पन्न होते हैं अथवा जिन द्रव्योंके निमित्तसे जीवोंकी उत्पत्ति या वध होता हो उन सबके स्वभावोंका जिसने परिज्ञान कर लिया हो, जो प्रमादरहित प्रवृत्ति करता हो, महान् शक्तिशाली हो, जो उत्कृष्टरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला तपस्वी हो, अत्यंत कठिन व्रत और तपश्चरणरूप क्रियाका करनेवाला हो तथा जो प्रातःकाल मध्यान्ह और सायंकाल इन तीन सामायिक वेलाओंको छोडकर दिनभरमें दो कोशमात्र गमन करता हो ऐसे अति निकट भव्यपुरुषके परिहारविशुद्धि नामक चारित्र होता है। इस परिहार विशुद्धि चारित्रको धारण करनेवाले साधु विशिष्ट विशुद्धि प्राप्त करते हैं, जीवोंकी विराधना भी उनसे नहीं होती है। यह चारित्र तीर्थंकरके पादमूलमें रहकर ही होता है। अब सूक्ष्मसांपराय चारित्रका स्वरूप कहते हैं—

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसांपरायत्वं ॥ १० ॥

अर्थ—सूक्ष्म और स्थूल समस्त जीवोंके वधके दूर करनेमें जो प्रमादरहित परिणाम रखते हैं, जिनका ध्यानसिद्धिका उत्साह कभी नष्ट नहीं होता है, जो अखंड रूपसे क्रियाविशेषको धारण करते हैं अर्थात् उपशम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणीरूप परिणामोंकी प्रगतिको विना किसीप्रकारकी विच्छिन्नताके अखंड रूपसे धारण करते हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूपी बहुत भारी प्रबल वायुसे जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालाको खूब बढाकर कर्मरूपी ईंधनको जलाया है तथा पृथक्त्ववितर्क नामा ध्यानविशेषसे कषायरूपी विषवृक्षके अंकुरको जिन्होंने बढनेसे सर्वथा रोक दिया है अथवा उस कषायांकुरको क्षीण कर डाला है। जो अत्यंत सूक्ष्म मोहवीज रह गया है वह भी जिन्होंने नाशके सन्मुख कर रक्खा है

निकले हुए साधु कभी कभी अपनी शक्तिके अनुसार इतने नियत क्षेत्रको लेकर ही कायका व्यापार करते हैं इस क्षेत्रकी गणनाके लिये तो वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाता है और अनशन नाम भोज्य पदार्थके त्यागका है तथा अवमोदर्य और रसपरित्याग ये दोनों उस ग्रहण करनेयोग्य आहारके एक देशकी निवृत्ति करानेमें तत्पर रहते हैं इसप्रकार तीनोंमें वहुत वड़ा अंतर है अर्थात् वृत्तिपरिसंख्यानमें तो केवल क्षेत्रकी मर्यादा करली जाती है कि आज इतने घर अथवा आधे गांव या एक या दो गलियोंके भीतर आये हुए घरोंमें ही मुनिराज आहारके लिये अपने शरीरकी क्रिया करेंगे, नियत किये गये क्षेत्रसे वे अधिक क्षेत्रमें गमन नहीं करेंगे, चाहे आहार मिले चाहे नहीं मिले इसप्रकार क्षेत्रकी मर्यादा तो वृत्तिपरिसंख्यान तपमें की जाती है और अनशन तपमें आहार जघन्य मध्यम उत्कृष्ट रूपसे त्याग कर दिया जाता है अवमोदर्य और रसपरित्यागमें समस्त आहारका त्याग नहीं किया जाता है किंतु इस आहारके एक देशका त्याग किया जाता है। इस प्रकार तीनों तपोंमें वहुत वड़ा भेद होनेसे वे जुदे जुदे तप कहे जाते हैं, न तो वृत्तिपरिसंख्यानमें अनशनादिका ग्रहण ही हो सकता है और न ये अनशनादिक उस वृत्तिसंख्यानके भेद ही कहे जासकते हैं इसलिये जुदे जुदे ही छह तप हैं। अव विविक्तशय्यासन तपका स्वरूप कहते हैं—

आवाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनं ॥ १२ ॥

अर्थ—निर्जन सूने घरोंमें, जंतुओंकी पीडासे रहित एकांत स्थानोंमें संयमी पुरुषोंका शयन और आसन होता है इसीकेलिये विविक्तशय्यासन तप कहा गया है, उस प्रकारके तपसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है इसके लिये कहते हैं कि ब्रह्मचर्य उनका वाधारहित पलता रहे, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी सिद्धि भी निर्बाधरूपसे हो इसकेलिये विविक्तशय्यासन तप कहा गया है अर्थात् जहां कुछ भी वाधा पहुंचानेवाली सामग्री होती है वहांपर स्वाध्याय ध्यान ब्रह्मचर्य आदि सभी कार्योंमें वाधा पहुंचनेकी

पदार्थ है परंतु यह नियम है कि जो जो क्रियावान् होता है वह वह अनित्य होता है जैसे—प्रदीप आदि पदार्थ क्रियावान् हैं इसलिए वे अनित्य दीख पडते हैं। यदि जीवको भी क्रियावान् माना जायगा तो वह भी अनित्य मानना पडेगा परंतु आत्माको अनित्य माननेमें बडा दोष होगा इसलिए उसे क्रियावान नहीं माना जा सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि 'आत्मा अनित्यः क्रियावत्त्वात्' अर्थात् आत्मा क्रियावान होनेसे अनित्य है जो जो क्रियावान होता है वह वह अनित्य होता है जिसतरह दीपक आदि, इस अनुमानमें क्रियावत्त्वरूप हेतु है वह व्यभिचार दोषग्रस्त है क्योंकि महत्तत्त्व अहंकार आदि और परमाणु आदि पदार्थ क्रियावान तो माने हैं पर अनित्य नहीं किंतु उन्हें नित्य माना है इसलिए नित्य परमाणु आदि अलक्ष्योंमें हेतुके चले जानेसे क्रियावत्त्व हेतु व्यभिचारी है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जो सिद्धांतकार समस्त पदार्थोंको अनित्य माननेवाला है उसके मतके अनुसार 'आत्मा अनित्यः क्रियावत्त्वात्' यहांपर क्रियावत्त्व हेतु आत्माके अनित्यपनेका साधक हो सकता है ? सो भी अयुक्त है क्योंकि 'सर्वे प्रत्ययजाश्चैव सर्वे चैव निरीहकाः' अर्थात् लोकके समस्त पदार्थ संस्कारसे उत्पन्न हैं और सब क्रियारहित हैं, उनके आगमके इस वचनके अनुसार आत्मामें क्रियावत्त्व हेतु न रहनेसे वह असिद्ध है। और भी यह बात है कि—

अभ्युपगमात् ॥ २२ ॥

हम (जैनसिद्धांतकार) आत्माको अनित्य भी मानते हैं क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा क्रियावान जीव आदि सब अनित्य हैं इसलिए क्रियावान् होनेसे आत्मा अनित्य है यह ठीक ही है—अर्थात् क्रियावत्त्व हेतु हमारे सिद्धांतमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं उपस्थित कर सकता। तथा—

असिद्धेश्च ॥ २३ ॥

आत्मा अनित्य है क्योंकि वह क्रियावान् है, यहांपर जो आत्माको अनित्य सिद्ध करनेके लिये क्रियावान् हेतु दिया गया है वह हमारे अर्थात् जैनियोंके मतमें सिद्ध ही नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा आत्माको निष्क्रिय माना है इसलिए क्रियावत्त्व हेतु असिद्ध होनेसे वह आत्माको अनित्य सिद्ध नहीं कर सकता। तथा ऊपर जो आत्माको क्रियावान् होनेसे अनित्य सिद्ध करनेके लिये प्रदीप आदिका दृष्टांत दिया गया था वह भी असिद्ध है क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा जब सब ही पदार्थ निष्क्रिय हैं तब क्रियावत्त्व हेतु कभी सिद्ध नहीं हो सकता इसलिए आत्माको अनित्य सिद्ध करनेके लिये प्रदीप आदि दृष्टांत नहीं हो सकते। तथा यह भी बात है कि—

अनुत्पादव्ययोत्पादव्ययदर्शनात् ॥ २४ ॥

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश नहीं माना गया किंतु सब पदार्थ क्रियारहित और नित्य माने हैं अर्थात् जिससमय पर्यायार्थिकनयकी गौणता मानी जायगी और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता मानी जायगी उससमय समस्त पदार्थ उत्पत्ति और विनाशसे रहित होनेके कारण निष्क्रिय और नित्य हैं तथा जिससमय द्रव्यार्थिक नयकी गौणता मानी जायगी और पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता मानी जायगी उससमय हर एक पदार्थका धाराप्रवाहरूपसे उत्पाद और विनाश होनेके कारण सभी पदार्थ क्रियावान् और अनित्य हैं। तथा—

अनेकांतोपपत्तेः ॥ २५ ॥

सर्वथा एकांतवादके माननेपर जितने दोष होते हैं वे अनेकांतवादमें स्थान नहीं पा सकते । इस

संभावना रहती है इसलिये उस संभावनाको दूर करनेके लिये मुनिराज विविक्तशय्यासन नामका तप करते हैं ॥ अब कायक्लेश तपका स्वरूप कहते हैं—

कायक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रतिमायोगसे ध्यान करना अर्थात् नग्न होकर ध्यान करना तथा खड्गासन पद्मासन अर्धपद्मासन वज्रासन गोदूहनासन आदि कठिन कठिन आसनोंसे कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना, ग्रीष्मकालमें आतपन योग धारण करना अर्थात् मध्यान्हकी धूपमें पहाड आदि पर ध्यान करना, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे ध्यान करना, शीतकालमें नदी किनारे पर ध्यान करना इत्यादि रूपसे जो शरीरको खेद पहुंचाना है वह कायक्लेश तप कहलाता है अर्थात् विना प्रमादके वीतराग भावोंसे शारीरिक कष्ट सहन करना, घोर तपश्चरण द्वारा शरीरको खेदमय बना देना इसीका नाम कायक्लेश तप है। इसके विना ध्यानकी सिद्धि और कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है। यह कायक्लेश किस प्रयोजनकेलिये सहन किया जाता है उसीके लिये वार्तिक कहते हैं—

देहे दुःखतितिक्षासुखानभिष्वंगप्रवचनप्रभावनाद्यर्थं ॥ १४ ॥

अर्थ—उपसर्ग आदि किसी कारणसे दुःख उपस्थित हो जाय तो उसका सहन होजाय और इंद्रिय विषयोंके सुखोंमें आसक्ति नहीं हो जाय, इसीकेलिये तथा जिनमतकी प्रभावना हो इसकेलिये कायक्लेश किया जाता है। यदि कायक्लेश तप नही किया जाय तो ध्यानके धारण करते समय किसी दुष्ट पुरुष द्वारा कोई उपद्रव अथवा आकुलताका कारण उपस्थित कर दिया जाय तो उसका फिर सहन करना कठिन होनेसे ध्यानमें चित्त नहीं लग सकेगा इसलिये ध्यानसिद्धिमें बराबर चित्त लगा रहे, कैसा ही कोई उपद्रव या उपसर्ग क्यों न करै फिर ध्यानसे चित्त विचलित नहीं हो, चाहे अधिक ठंडी पडती हो, चाहे अधिक सूर्यकी उष्णता बढ गई हो, हर अवस्थामें वे उन कष्टोंको शांतचित्तसे

चनाका आठवां दोष है। जिस किसी प्रयोजनको विचार कर अपने ही समान किसी दूसरे मुनिसे अपने दोषोंको कह देना वह अव्यक्त नामका नवमा दोष है। इसप्रकार यदि समान मुनिसे दोषोंको कहकर उनसे बहुत बडा भी प्रायश्चित्त लेलिया जाय तो भी उसका कुछ फल नहीं होता है कारण कि प्रायश्चित्त चित्तकी शुद्धिके लिये लिया जाता है। जहां गुरुसे छिपाव लगा हुवा है, परिणामोंमें निष्कपट सरलवृत्ति नहीं है वहां चित्तशुद्धि नहीं हो सकती है इसलिये छिपे रूपमें बडा प्रायश्चित्त भी चित्तशुद्धि करनेवाला नहीं हो सकता है। जो अपराध इन मुनिराजका है उसीके समान मेरा अपराध है, उस दोषके प्रायश्चित्तको ये मुनिराज भी जान चुके हैं जो प्रायश्चित्त इन्हें दिया गया है वही प्रायश्चित्त मेरे लिये ठीक है क्योंकि इनके दोषके समान ही मेरा दोष है इसलिये मुझे भी यही प्रायश्चित्त ले लेना चाहिये उससे छोटा नहीं लेना चाहिये ऐसा विचारकर अपने अपराधोंको छिपा लेना गुरुके समक्ष निवेदन नहीं करना सो दशवां तत्सेवित नामका दोष है। आलोचना करते समय ये ऊपर कहे हुये दश दोष नहीं लगाने चाहिये। जो मुनिराज और अर्जिका अपनेमें अपराधोंको बहुत काल तक नहीं रखकर अर्थात् दोष लगते ही तत्काल विना किसी प्रकारके छल कपटके बालकके समान विना किसी लज्जाके सरल भावोंसे गुरुके समक्ष दोषोंको निवेदन कर देते हैं उन्हें ये ऊपर कहे हुये दश दोष नहीं होते हैं अथवा और भी कोई दोष उन्हे नहीं लगते हैं, मुनिराज और आर्यिका इनके आलोचन करनेमें इतना भेद है कि यदि मुनि आलोचना करेंगे तो दो हीके बीच कर सकते हैं एक तो वे आलोचना करनेवाले मुनिराज और दूसरे उनके गुरु श्रीआचार्य महाराज और वे दोनों ही एकांतमें कर सकते हैं परंतु अर्जिका आलोचना करेंगीं तो वे प्रकाशमें ही करेंगीं और उनकी आलोचनाके समय तीन व्यक्ति

१—संयतिकाश्रयं त्रिविषय प्रकाशे। श्लोकवार्तिकालंकार।
अर्थात् आर्जिकाओंका प्रायश्चित्त तीन जनोंके बीचमें और प्रकाशमें होना चाहिये एकांत वा अंधकारमें नहीं होना चाहिये

सहन करते हैं और ध्यानसे विचलित नहीं होते हैं यह कायक्लेश तपसे ही सिद्धि होती है। शंका—

परीषहजातीयत्वात्पौनरुक्त्यमिति चेन्न स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् ॥ १५ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यह जो आतपस्थान मौन आदि कायक्लेश है सो परीषहका ही एक भेद है, इसलिये परीषहोंके वाद फिर उसकी उपदेश करना पुनरुक्त दोषको प्रगट करता है? अर्थात् परीषह भी कष्टरूप होती है और यह कायक्लेश भी कष्टस्वरूप है इसलिये इस कायक्लेशका परीषहोंमें अंतर्धान होजायगा फिर यहां तपोंमें उसे जुदा गिनानेकी आवश्यकता नहीं है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि अपने आप किये जानेवाले कायक्लेशकी यहां अपेक्षा है। जो बुद्धिपूर्वक स्वयं शरीरको कष्ट दिया जाता है वह तो कायक्लेश कहलाता है और अकस्मात् किसी निमित्तसे जो कष्ट प्राप्त होते हैं सो परीषह कहलाती है इसलिये कायक्लेश मुनिराज स्वयं करते हैं और परीषह क्षुधादि बाधाओंके कारण विना मुनियोंकी इच्छाके स्वतरां उत्पन्न होजाती हैं इसलिये दोनोंमें बहुत अंतर है, अतः कायक्लेश परीषहोंमें सामिल नहीं होसक्ता है। यहांपर दृष्ट फलकी अनपेक्षा सर्वत्र लेनी चाहिये अर्थात् इस लोकसंबंधी प्रत्यक्ष फलोंकी अपेक्षा और परलोकसंबंधी विषयसुखोंकी वांछासे निदान करनेरूप अपेक्षाका इन समस्त तपोंमें त्याग रहता है। दृष्ट फलोंकी अपेक्षा नहीं लेना यह वाक्य सभी तपोंके भेदोंमें लगा लेना चाहिये। प्रश्न—यदि तपोंके भेदोंमें सर्वत्र दृष्टफलकी अपेक्षाका ग्रहण नहीं है तो उसका उल्लेखमें सूत्र करना चाहिये? उत्तर—

सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः ॥ १६ ॥

अर्थ—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' इस सूत्रमें सम्यक् शब्दका ग्रहण किया गया है उससे ही दृष्टफलकी निवृत्ति कीगई है और उसी दृष्टफलकी निवृत्तिका संबंध सर्वत्र सम्यक् शब्दके अधिकारसे चला आता है। प्रश्न—इन वाह्य तपोंमें वाह्यपना क्या है? अर्थात् क्या कारण है कि जिससे ये तप वाह्य कहे जाते हैं? उत्तर—

रहने चाहिये। मुनि अथवा अर्जिका कोई भी यदि लज्जाके कारण अथवा दूसरोंसे तिरस्कार होनेके भयसे अपने दोषोंको निवेदन कर उनका प्रायश्चित्त नहीं लेवें तो जिस प्रकार अपनी आमदनी और खर्चका हिसाव नहीं रखनेवाला कर्जदार दुःख पाता है, उसीप्रकार वे भी दुख पाते हैं। उनका बहुत भारी तपश्चरण भी आलोचनाके अभीष्ट फलको नहीं देसकता है। जिसप्रकार कडवी औषधिके शरीरमें गये विना अर्थात् कडवी औषधिके पिये विना वह फलप्रद नहीं है, उसी प्रकार घोर तपश्चरण भी विना आलोचना किये फलप्रद नहीं होता है और यदि कोई मुनिराज आलोचना भी कर लें परंतु गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका पालन नहीं करें तो भी उस तपश्चरणका बहुत अच्छा फल नहीं होसकता है जिस प्रकार कोई मनुष्य धान्यको सोधनेके लिये तो वैठ जाय और देखता भी जाय कि इसमें कंकडी या तृणादिक हैं तो भी उसे उस धान्यमेंसे निकालकर अलग नहीं करे तो उस विना सुधे हुये धान्यका भक्षण हानिकारक है वह धान्य खानेमें भी बुरा लगेगा और शरीरमें रोग भी पैदा करदेगा उसीप्रकार आलोचना करके भी यदि गुरु महाराजके दिये हुये प्रायश्चित्तका पालन नहीं किया जाय तो उससे भी अशुभ कर्मोंका बंध होनेसे उनकी हानि होगी, तपका उत्तम फल उन्हें नहीं मिल सकेगा। वे मुनिराज अपने आत्मामें उन दोषोंको देखते भी हैं फिर भी उन्हें प्रायश्चित्तका पालनकर निकालकर अलग नहीं करते हैं ऐसी दशामें उन्हें उत्तम फल किस प्रकार मिल सकता है? नहीं मिल सकता। तथा जो मुनिराज श्रीगुरुके निकट आलोचना करके उनके दिये हुये प्रायश्चित्तको हृदयमें धारण कर उसका पालन करते हैं वे उसीप्रकार शोभा और महत्त्वको पाते हैं जिसप्रकार खूव अच्छी तरहसे माजे हुये और साफ किये हुये स्वच्छ दर्पणमें प्रतिविम्ब अति सुंदर दीखता है। इसप्रकार दश दोषोंका स्वरूप और उन दोषोंसे रहित सरल चित्तसे कीजानेवाली आलोचनाका स्वरूप कहा गया। अव प्रायश्चित्तका दूसरा भेद जो प्रतिक्रमण है उसका स्वरूप कहते हैं—

वाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद्बाह्यत्वं ॥ १७ ॥

अर्थ—वाह्य अनशनादि द्रव्यकी अपेक्षासे ही ये तप किये जाते हैं अर्थात् आहारका त्याग करना, स्वल्पाहार करना, घरोंकी संख्याकी नियति करना, रसोंका छोडना, एकांतमें शयन करना, शरीरको क्लेश देना ये सब वाह्य निमित्ति उन तपोंमें पडते हैं इसलिये उन्हें वाह्य तप कहते हैं। और भी—

परप्रत्यक्षत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—दूसरोंको भी अनशन आदिका नियमसे प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् इन वाह्य तपोंको दूसरे पुरुष भी प्रत्यक्ष देख सकते हैं इसलिये भी इन तपोंको वाह्यपना आता है। और भी कहते हैं—

तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च ॥ १९ ॥

अर्थ—इन अनशनादि तपोंको मुनीश्वर भी करते हैं और गृहस्थलोग भी इन्हें करते हैं, गृहस्थोंमें सम्यग्दृष्टि भी इन्हें करते हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं वे भी इन अनशनादि तपोंको करते हैं इसलिये भी इन्हें वाह्यतप कहते हैं। प्रश्न—इन अनशनादि तपोंको तप क्यों कहते हैं? उत्तर—

कर्मनिर्दहनात्तपः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि इकट्ठे किये गये तृण आदिको जला डालती है उसीप्रकार मिथ्यादर्शनादि कर इकट्ठे किये गये कर्मोंको यह तप भी नष्ट कर देता है इसलिये इसे तप कहते हैं। तथा—

देहेंद्रियतापाद्वा ॥ २१ ॥

अर्थ—अथवा यह तप शरीर और इंद्रियोंको तपाता है इसलिये अनशनादिको तप कहते हैं, उन शरीर और इंद्रियोंके तप जानेसे इंद्रियोंको सुगम रीतिसे (सहजमें) वशमें किया जासकता है। प्रश्न—वाह्य तप तो कहा जा चुका इसके पीछे अभ्यंतर तप है उसके कौनसे भेद हैं? उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणं ॥ ३ ॥

अर्थ—कर्मके उदयकी परतंत्रतासे प्रमादजनित जो कुछ मुझसे अपराध हो गया है वह मेरा अपराध मिथ्या हो जाओ इस प्रकार प्रगटरूप शब्दोच्चारण करके उन लगे हुए दोषोंका स्वयं प्रतीकार कर देना वह प्रतिक्रमण कहलाता है अर्थात् जिससमय ध्यानमें मुनि बैठे हों या अन्य समयमें भी जब श्रीगुरु उनके निकट नहीं हों तो वे मुनिराज प्रमादजनित क्षुद्र दोषोंका स्वयं उच्चारण करके उनका प्रतीकार कर डालते हैं, वे एकांतमें बैठे हुए स्वयं ऐसा कहते हैं कि यह दोष मुझसे प्रमादवश हो गया है वह छूट जाओ फिर मैं ऐसा प्रमाद कभी नहीं करूंगा अब जो कुछ पाप लगा है वह मिथ्या हो जाओ। इस प्रकार आत्मसाक्षिक शुद्ध भावोंसे जो पापोंकी प्रतिक्रिया की जाती है, प्रमादजनित दोषोंकी विना गुरुकी निकटताके सोधना की जाती है वह प्रतिक्रमण कहलाता है। अब तदुभयका स्वरूप कहते हैं—

तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयं ॥ ४ ॥

अर्थ—कोई कर्म तो केवल आलोचना करनेसे शुद्ध हो जाता है, अर्थात् कोई अपराध क्रिया तो आलोचना मात्रसे शुद्ध हो जाता है और कोई अपराध केवल प्रतिक्रमण करनेसे छूट जाते हैं और कोई अपराध आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंके संबंधसे छूटते हैं इसलिये जो प्रमादजनित दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंसे छूटते हैं अर्थात् जिन प्रमादाचरणोंकेलिये दोनों क्रियाऐं करनी पडती हैं उसे तदुभय कहते हैं। शंका—कोई यहां ऐसा कह सकता है कि यह तदुभयका विधान व्यर्थ है क्यों व्यर्थ है? इसके उत्तरमें वह कहता है कि जो आलोचना नहीं करता है उसकेलिये कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं हैं अर्थात् जो गुरुके निकट अपने दोषोंकी आलोचना करता है उसीके लिये प्रायश्चित्तपूर्वक दोषों की शुद्धि बताई गई है परंतु आगे फिर यह भी कहा गया है कि प्रतिक्रमण मात्रसे ही शुद्धि हो जाती है अर्थात् विना गुरुकी निकटता प्राप्त किये भी दोषोंका स्वयं निराकरण हो जाता है ऐसा भी उपदेश

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद अभ्यंतर तपके हैं। जो कार्य मुनियोंकेलिये आवश्यक कर्तव्यमें कहा गया है उसे नहीं करना और जो त्याग करनेयोग्य पदार्थ हैं उसे नहीं छोडना इस क्रियासे जो पाप होता है उसे अतीचार कहते हैं उस अतीचारको अथवा पापको शुद्ध करना प्रायश्चित्त कहलाता है अथवा लगे हुए प्रमादादि दोषोंको दूर कर शुद्धि प्राप्त करना भी प्रायश्चित्त कहलाता है। जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके प्राप्त करानेवाले पूज्य साधन हैं और जो उन्हें धारण करनेवाले पूज्य पुरुष हैं उन सबोंमें आदर बुद्धि रखना, उनकी भक्ति करना विनय कहलाता है, शरीरकी क्रियासे और अन्य द्रव्योंसे उन पूज्य पुरुषोंकी उपासना करना परिचर्या सेवा करना सो वैयावृत्य कहलाता है। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें आलस्य या प्रमाद नहीं करना अथवा सम्यग्ज्ञानके उत्पादक शास्त्रोंका भले प्रकार अभ्यास करना वह स्वाध्याय कहलाता है। वाह्य अभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना अर्थात् वाह्य परिग्रह जो नहीं प्राप्त धन धान्यादिक हैं उसका त्याग करना और अभ्यंतर परिग्रह जो कषाय आदि विकार भाव हैं उनका त्याग करना तथा शरीरका त्याग करना भी अभ्यंतर परिग्रह त्यागमें लिया गया है इन वाह्य अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग कर आत्माके भावोंको निःसंग बना लेना वह व्युत्सर्ग कहलाता है। मनके विकल्पोंका परित्याग कर एकाग्रवृत्ति करना ध्यान कहलाता है। इन अभ्यंतर तपोंको वाह्य किसी द्रव्यकी अपेक्षा भी नहीं है केवल आत्मीय भावोंसे ये साध्य किये जाते हैं और इन्हें जिनमतसे वाह्य पुरुष धारण करनेमें भी असमर्थ हैं इसलिये भी ये अभ्यंतर कहलाते हैं। इन प्रायश्चित्तादितपोंको अभ्यंतर क्यों कहते हैं इसीका खुलासा नीचेकी वार्तिकोंसे किया जाता है—

यतोन्यतीर्थानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वं ॥ १ ॥

अर्थ—ये अभ्यंतर तप अन्यमती लोगों द्वारा धारण नहीं किये जासकते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि

दिया गया है यह वात अयोग्य है, इसमें पूर्वापरविरोध आता है। यदि कहा जाय कि प्रतिक्रमणमें भी पहले आलोचना करली जाती है अर्थात् गुरुके निकट आलोचना पहले करली जाती है तभी प्रतिक्रमण होता है इस कथनसे यदि प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही माना गया है तो फिर तदुभयका उपदेश व्यर्थ है अर्थात् जब प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक होता है तो उसमें ही आलोचना प्रतिक्रमण दोनोंका ग्रहण हो जाता है फिर उससे भिन्न तदुभयका विधान व्यर्थ ही ठहरता है ? उत्तर—यह दोष भी ठीक नहीं है क्योंकि जितना भी प्रतिक्रमण किया जाता है वह सब आलोचनापूर्वक ही किया जाता है किंतु इतना उसमें विशेष है कि पहले गुरुकी आज्ञा प्राप्त करली जाती है कि यदि जिन दोषोंकी आलोचना गुरुके निकट की जाती है उनसे अतिरिक्त अन्य भी प्रमाद वश छोटे छोटे दुःस्वप्नादिक दोष लगे तो उनके प्रतीकारके लिये स्वयं प्रतिक्रमणरूप उनका शोधन करलेना चाहिये इसप्रकार गुरुकी आज्ञा प्राप्त करके प्रतिक्रमण शिष्य स्वयं कर लेता है। ऐसा करनेसे कुछ भी पूर्वापरविरोध नहीं आता है। तथा यह तदुभय नामक प्रायश्चित्त तो गुरुके द्वारा ही किया जाता है अर्थात् जिस प्रकार प्रतिक्रमण गुरुकी आज्ञा लेकर स्वयं कर लिया जाता है उस प्रकार यहां नहीं होता है किंतु तदुभयमें आलोचना प्रतिक्रमण दोनों ही गुरुके द्वारा विधान कराये जाते हैं इसलिये इस तदुभयको व्यर्थपना नहीं आता है किंतु तीसरे प्रकारकी उपयोगिता है। अब विवेक नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन अन्न पान उपकरणादिकमें शिष्यकी आशक्ति अधिक है उनसे उसे अलग करा देना विवेक कहलाता है इसका खुलासा यह है कि यदि कोई मुनिराज किसी क्षेत्रसे अथवा किसी द्रव्यसे या अन्न पानादि किसी विशेष सामग्रीसे अथवा नवीन पीछी कमंडलु आदि किसी उपकरण विशेषसे यदि ममत्व करते हुए प्रतीत होते हों तो गुरु उन्हें उन पदार्थोंसे दूर कर देते हैं, उनका सेवन या ग्रहण करनेकी कुछ

लोग इन तपोंका अनुभव नहीं कर सकते हैं इसलिये इन्हें उत्तर तप अथवा अभ्यंतर तप कहते हैं। अंतःकरण जो मन है उसीके व्यापारका इनमें आलम्बन है, वाह्य द्रव्योंका आलम्बन नहीं है इसलिये भी इन्हें अभ्यंतर तप कहते हैं। तथा-

वाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च ॥ २ ॥

अर्थ—ये प्रायश्चित्त आदिक वाह्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रखते हैं इसलिये भी इन्हें अभ्यंतर तप कहते हैं। अव उन्हीं अभ्यंतर तपोंके भेद दिखानेकेलिये सूत्र कहते हैं-

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—नौ, चार, दश, पांच, दो ये भेद क्रमसे उन प्रायश्चित्तादिके हैं ध्यानसे पहले पहले। अर्थात् प्रायश्चित्तके नौ भेद हैं, विनयके चार भेद हैं, वैयावृत्यके दश भेद हैं, स्वाध्यायके पांच भेद हैं, व्युत्सर्गके दो भेद हैं। ध्यानके भेद आगे कहेंगे।

नवादीनां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिः ॥ १ ॥

अर्थ—भेद शब्दके साथ नव आदि संख्यावाची शब्दोंकी अन्य पदार्थमें समासकी जाती है, वह इस प्रकार है- नव, चार, दश, पांच, और दो ये जिसके भेद हैं वह नवचतुर्दशपंचद्विभेदवाला कहलाता है, ऐसा कौन है? ऐसा अभ्यंतर तप है अर्थात् अभ्यंतर तपके जो प्रायश्चित्तादि भेद हैं उनके नव चार आदि भेद हैं। शंका-

द्विशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्न पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि दो संख्या वाचक जो द्वि शब्द है उसका सूत्रमें पहले ग्रहण होना चाहिये क्योंकि-द्वंद्वे अल्पाच्तरं इस सूत्र प्रमाणसे जिसमें अल्प अच् होते हैं द्वंद्व समासमें उनका पहले ग्रहण होता है। यहांपर नवचतुर्दशपंचद्विभेद इस सूत्रमें द्वंद्व समास इन संख्यावाची शब्दोंकी की

कालके लिये उन्हें नहीं आज्ञा देते हैं और शिष्य मुनिराज उस आज्ञाको सादर स्वीकार कर लेते हैं यही विवेक नामका प्रायश्चित्त है। अथवा यदि मुनिराज अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवोंकी बाधा दूर करते हुये भी किसी कारणसे अप्रासुक पदार्थका ग्रहण कर लेवें अथवा जिस प्रासुक पदार्थका भी वे त्याग कर चुके हैं उसको भी भूल कर ग्रहण कर लेवें तो स्मरण आते ही उसका त्याग करदें तो वह भी विवेक कहलाता है। अब व्युत्सर्गका स्वरूप कहते हैं—

व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणं ॥ ६ ॥

अर्थ—कालकी मर्यादा धारणकर जो कायोत्सर्ग आदि किया जाता है वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहलाता है। अब तप नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

तपोऽनशनादि ॥ ७ ॥

अर्थ—अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान आदि तप समझना चाहिये अर्थात् जिन मुनियोंसे कोइ अपराध बनपडा हो तो वे अपनी शक्तिको देखकर उसे न छिपाकर उपवास एकाशन आचाम्ल (विना पकी हुई कांजीसे मिलाहुआ भात खाना, अथवा विना नमक डाले नीरस माडको भी आचाम्ल कहते हैं कहीं कहीं पर नीरस चावलको भी आचाम्ल माना गया है) निर्विकृत्य (दूध आदि रसोंके सेवनसे रहित) आदिके द्वारा जो तपश्चरण करते हैं वह तप प्रायश्चित्त कहलाता है। भय उन्माद शीघ्रता भूल अज्ञान शक्तिहीनता और व्यसनादिक द्वारा महाव्रतोंमें अतीचार लगनेपर ऊपर कहे हुए आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप ये छहों प्रकारके प्रायश्चित्त होते हैं। अब छेद-नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

१-दुःस्वप्नदुश्चिंतनमलोत्सर्जनमूत्रातीचारनदीमहाटवीतरणादिभिरन्यैश्चाप्यनोचारे सति ध्यानमवलंब्य कायमुत्सृज्यांतर्मुहूर्तदिवसपक्षमासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। चारित्रसारे।

गई है फिर भेदशब्दके साथ बहुव्रीहि समास की गई है इसलिये द्वंद्व समासमें उसी शब्दका पहले ग्रहण होता है जिसमें थोडे अच् होते हैं यहांपर द्वि इस शब्दमें सबोंसे थोडे अच् हैं केवल एक ही अच् है और नव आदिमें किसीमें एक अच् नहीं है इसलिए इस द्वि शब्दका नव शब्दसे भी पहले ग्रहण होना चाहिये तथा दूसरा एक नियम यह भी है कि 'संख्याया अल्पीयस्याः' इस सूत्रके अनुसार जो अल्प संख्यावाचक शब्द होते हैं उनका पहले ग्रहण होता है यहांपर दो संख्यावाचक द्वि शब्द ही सबसे थोडी संख्यावाला है इसलिए उसका ही ग्रहण सबसे पहले होना चाहिये? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि पूव सूत्रकी यहां अपेक्षा है, पूर्व सूत्र जो प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यादि है, उसमें प्रायश्चित्त विनय आदिका विधान किया गया है उन प्रायश्चित्तादिकोंका नव चार आदिके साथ क्रमसे संबंध किया जाता है जैसे प्रायश्चित्त नौ प्रकार है विनय चार प्रकार है आदि। यदि ऊपर कहेहुए व्याकरणके दो नियमोंके अनुसार द्वि शब्दका ग्रहण पहले किया जायगा तो फिर प्रायश्चित्तादिकोंका नव आदिके साथ क्रमसे संबंध नहीं हो सकेगा और उन व्याकरणके नियमोंकी तो अपेक्षा कीजाय परंतु इस क्रम विधानकी अपेक्षा नहीं की जाय यह भी तो युक्त बात नहीं है। फिर यहांपर यह शंका होती है कि व्याकरण शास्त्र पदकारोंका अनुवर्तन नहीं करता है किंतु पदकार ही व्याकरण शास्त्रका अनुवर्तन करते हैं अर्थात् व्याकरणके नियमके अनुसार पदोंकी रचना करनेवाले ग्रंथकार चलते हैं नकि पदोंकी रचना करनेवालोंके अनुसार व्याकरणका नियम बनता जाता है और किसी भी प्रयोजनसे लक्षण ग्रंथका अर्थात् व्याकरण सूत्रका उलंघन भी नहीं करना चाहिये। उत्तर—यह भी दोष यहां लागू नहीं होता है क्योंकि राजदंतादिकोंमें पाठ किया जायगा जिससे यह बात सिद्ध होजायगी कि लक्ष्यका अनुकरण लक्षण सूत्र करता है। जैसे 'दंतानां राजा इति राजदंतः' ऐसा इस राजदंतादिक पाठसे सिद्ध होजाता है यद्यपि व्याकरणके सामान्य नियमसे दंतराज होना चाहिये परंतु उसी व्याकरणके इस अपवाद विधा-

दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो वहुत कालसे दीक्षा लिये हुए साधु हैं यदि उनसे कुछ अपराध वन पडा हो तो दिवस पक्ष मासादिके विभाग द्वारा उनकी दीक्षाका छेद करदेना छेद प्रायश्चित्त कहलाता है। इसका खुलासा यह है कि किसी मुनिके अपराधपर उनकी एक दिन या अधिक दिनोंकी दीक्षा कम करदी जाती है, और उन मुनिको उसी संयम या उन मुनियोंके साथ रख दिया जाता है जिनकी दीक्षाका काल उतना ही होता है जितना कि चिरदीक्षित मुनिका कम कर दिया गया है अर्थात् उन चिरदीक्षित साधुकी गणना फिर उन नवदीक्षित मुनियोंमें हो जाती है यही छेद नामका प्रायश्चित्त है। यहांपर इस वातका खुलासा करदेना और भी उपयोगी होगा कि जिन मुनियोंकी दीक्षाका छेद किया जाता है उनकी दीक्षा क्या वास्तवमें कम हो जाती है या नहीं होती है? यदि नहीं होती है तो फिर गुरुके कथनका फल क्या हुआ और प्रायश्चित्त शुद्धि क्या हुई? इसीका खुलासा यह है कि श्रीआचार्य महाराजका मुनिसंघपर जो शासन है उसे पंचाध्यायीकार आचार्यवर्य श्रीअमृतचन्द्र सूरिने अप्रमत्त शासन वताया है। शासन करते हुये भी वे प्रमादी नहीं हैं किंतु अट्ठाइस मूलगुणके धारक परम सावधान मुनिवृत्ति और आचार्य-पदके योग्य छत्तीस गुणोंके धारणमें दृढ होनेसे वे शासन करते हुये भी वीतराग परम सरल निष्कषाय रहते हैं इसलिये अपने शिष्य मुनियोंके उद्धारकी विशुद्ध भावना रखकर उनके लगे हुये अपराधोंके पापरूप फलकी निवृत्तिके लिये और उनकी आत्माको विशुद्ध वनानेकेलिये ही प्रायश्चित्त देते हैं और जो आगमोक्त मार्ग पूर्वाचार्य द्वारा नियत है उसीके अनुसार वे प्रायश्चित्त देते हैं स्वयं प्रमाद या कषाय-वश होकर इच्छानुसार प्रायश्चित्त नहीं देते हैं और लगे हुए अपराधोंकी निवृत्ति तथा आत्माकी विशुद्धि चाहने वाला शिष्य भी गुरुके दिये हुये प्रायश्चित्तको आगम समझता है और उसीको विधिमार्ग समझकर आत्मकल्याण समझता है तथा सरल भावोंसे उसे ग्रहण कर उसी प्रकारकी परिणामोंमें दृढता कर लेता

यक पाठसूत्रसे राजदंत हो जाता है। उसी प्रकार लक्ष्यका अनुवर्तन लक्षणशास्त्र करता है यह वात सिद्ध हो जाती है अर्थात् जिससे लक्ष्यके स्वरूपका बोध हो जाय, लक्ष्यका अर्थ ठीक ठीक समझा जासके उसीकी सिद्धिके लिये लक्षण शास्त्रका विधान है, अर्थ ही बलवान होता है इसलिये लक्षणशास्त्र सदैव लक्ष्य अर्थकी सिद्धिके अनुकूल ही हुआ करते हैं। यहां पर भी नवादिकोंका प्रायश्चितादिके साथ संबंध क्रम है इस लक्ष्यार्थकी सिद्धिकेलिये ही लक्षणग्रंथका उपयोग है। और भी–

प्राग्ध्यानादिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ३ ॥

अर्थ––सूत्रमे 'प्राग्ध्यानात्' ध्यानसे पहले पहले तक नवादिकोंका संबंध है यह विधान है, इससे यह सिद्ध होता है कि नवादिकोंका प्रायश्चित्तादिके साथ क्रमसे व्युत्सर्ग तक संबंध है। यदि क्रमसंबंध नहीं लगाया जाय तो विपरीत अर्थ हो जाय इसलिये ठीक ठीक क्रमसिद्धिके लिये श्रीग्रंथकारको 'प्राग्ध्यानात्' ऐसा वाक्य कहना पडा है इसलिये उसी अर्थकी सिद्धिके लिये लक्षण सूत्रका उपयोग होना आवश्यक है। अब अभ्यंतर तपोंके भेदोंमें आदिका जो प्रायश्चित्त भेद है उसके नौ भेद बताये हैं उन्हीं नौ भेदोंके नाम और उनका स्वरूप कहनेके लिये सूत्र कहते हैं–

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

सूत्राथ––१ आलोचना २ प्रतिक्रमण ३ आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों मिले हुए, ४ विवेक ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद ८ परिहार ९ उपस्थापना. ये नौ भेद प्रायश्चित्त ध्यानके हैं, इनका स्वरूप

१–प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतं। शब्दस्तोम महानिधिकोष।

अर्थ–प्राय नाम तपका है, चित्त नाम निश्चयका है निश्चय युक्त तप करना सो प्रायश्चित्त है।

सन्यासवत्यनशने पुमान् प्रायः। अमरकोष।

अर्थ–सामाधि पूर्वक भोजनके त्याग करनेको भी प्रायः कहते है। उसमें चित्त लगानेको प्रायश्चित्त कहने है। इस प्रकार प्रायश्चित्तका अर्थ पापकर्मके क्षय करनेमें और आत्माकी विशुद्धता उत्पन्न करनेमें आता है।

है इसलिये दोनोंके विशुद्ध भावोंके अनुसार उतने दिनकी दीक्षाका छेद होकर आत्मामें फिरसे प्रायश्चित्त द्वारा निर्मलता या विशुद्धि आजाती है इसका और भी स्पष्टीकरण यह है कि जितने दिनकी दीक्षाका छेद गुरु महाराज बताते हैं, छेदका बताना दीक्षाका छेद नहीं है किंतु जो कुछ मुनिसे अपराध बन चुका था उस अपराधजनित मलिनतासे ही उस दीक्षामें कमी आचुकती है उसी कमीको स्थूलरूपसे गुरु प्रगट कर उस कमीकी पूर्तिके लिये प्रायश्चित्त देते हैं। जो कुछ दो चार दिन या पन्द्रह दिन महीने भरकी तपश्चरण विशुद्धिका उस अपराधसे ध्वंस हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये स्थूलरूपसे नियत काल तक दीक्षाका छेद वताकर उनकी आत्माको पुनः पापरहित निर्मल विशुद्ध बनानेमें वे गुरु पूर्ण सहायक होते हैं प्रायश्चित्त लेनेपर उन अपराधजनित अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होजाती है फिर उस अशुभ कर्मका फल नहीं भोगना पडेगा किंतु गुरुका दिया हुआ दंड ही उसका फल है इसलिये गुरु दीक्षाका छेद नहीं करते हैं किंतु दीक्षाका छेद वास्तवमें उन दोष करनेवाले साधुके विकृतभावोंसे होता है गुरु तो उन दोष करनेवाले साधुकी गणना किसी नियत काल तक उन चिरदीक्षित साधुओंकी विशुद्धिके समान नहीं समझकर उनसे उन्हें पृथक् इसीलिये समझते हैं कि उनका दोष दूर होजाय और वे उस दोषके फलसे मुक्त होकर पुनः उसी प्रकारकी चिरदीक्षित विशुद्धिको पालेवें। अब परिहार नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

पक्षमासादिविभागेन संसर्गमंतरेण दूरतः परिवर्जनं परिहार इत्यवध्रियते ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन मुनिसे कोई अपराध हुआ हो उन्हे पंद्रह दिन, एक मास, छह मास, वर्षदिन आदि विभाग द्वारा विना संघका संबंध रक्खे सर्वथा अलग करदेना परिहार नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। उपस्थापनाका स्वरूप इस प्रकार है—

पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना ॥ १० ॥

श्रीआचार्य स्वयं नीचे वार्तिकों द्वारा कहेंगे। प्रश्न–यह प्रायश्चित्त किसलिये किया जाता है? उत्तर–

प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादात्यागसंयमदार्ढ्याराधनादिसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं ॥ १ ॥

अर्थ––यदि कोई प्रमादसे संयममें दोष लग गया हो तो उसके दूर करनेके लिये प्रायश्चित्त किया जाता है, परिणामोंमें किसी प्रकारकी मलिनता नहीं हो किंतु सदैव भावोंमें उज्ज्वलता अथवा निर्मलता बनी रहे इसकेलिये भी प्रायश्चित्त शुद्धि की जाती है। माया मिथ्या निदान इन तीन शल्योंकी आत्मामें सत्ता नहीं रहे इसके लिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है, किसी प्रकार आत्माके परिणामोंकी स्वस्वरूपसे च्युति हो जाय तो उसे दूरकर स्वस्वरूमें रहनेकेलिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है। ग्रहण किये व्रतोंकी मर्यादाका भंग न हो जाय इसकेलिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है, संयमकी दृढता बनी रहे इसकेलिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है, तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनोंमें चित्त सदैव लगारहे इसकेलिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है। इन सब वातोंकी सिद्धिकेलिये नव प्रकार प्रायश्चित्तका विधान है। इस प्रायश्चित्त शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार उसका यह अर्थ होता है कि "प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तं" अर्थात् प्रायः नाम साधुपुरुषोंके समूहका है उस साधु समुदायकी जिस क्रियामें चित्तवृत्ति प्रसन्न रहै उसका नाम प्रायश्चित्त है। यहांपर 'प्रायाचितिचित्तयोः' इस सूत्रसे सुट् प्रत्यय हो जाता है अर्थात् चिति और चित्तके परे रहते प्रायः शब्दसे सुट् हो जाता है। सुट् हो जानेसे प्राय शब्दके आगे सकारका ग्रहण होकर प्रायश्चित्त शब्द बन जाता है। अथवा प्राय नाम अपराधका भी है। चित्त नाम शुद्धिका है, प्रायका जो चित्त सो प्रायश्चित्त, यदि कोई अपराध या दोष हुवा हो तो उसकी शुद्धि करना अथवा अपराधोंकी शुद्धिके लिये भी प्रायश्चित्त किया जाता है अर्थात् जिसके करने पर अपराधोंकी विशुद्धि हो जाय उसका नाम भी प्रायश्चित्त है। अब प्रायश्चित्तके नव भेदोंमें पहला भेद जो आलोचन भेद है उसका स्वरूप कहते हैं–

अर्थ—महाव्रतोंका मूलसे छेद करके अर्थात् सवथा दीक्षाका छेद करके फिरसे नवीन दीक्षाका देना उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। जो मुनि विद्याके ग्रहणका प्रारंभ करें, योगमें प्रवृत्ति करें अथवा उपकरण आदिका ग्रहण करें तो उस समय गुरुसे पूंछे भी नहीं, उनसे उस संबंधमें कुछ भी नहीं कहे और न ग्रहण करते समय उनका विनय करे तो इस प्रकारकी मुनियोंकी प्रवृत्ति दोषरूप है, उसका प्रायश्चित्त आलोचना करना मात्र है। देशकालके नियमानुसार जो आवश्यक कतव्य है उस आवश्यक कर्तव्यका धर्मकथा अथवा चर्चा प्रश्नोत्तर आदिका प्रसंग आजानेसे स्मरण नहीं रहनेपर फिर उसका स्मरण आनेपर आवश्यक कर्तव्य करनेपर प्रतिक्रमण करना ही उसका प्रायश्चित्त है। किसी भयसे, जल्दीसे, विस्मरण होजानेपर उस व्रतका ठीक ठीक वोध नहीं होनेपर, अथवा शरीरमें अशक्ति आजानेसे अथवा अन्य किसी क्रोधवश वचनोंकी कठोरता आदिके द्वारा महाव्रतोंमें अतीचार लगने पर छेद नामके प्रायश्चित्तसे पहले पहले छह प्रकारका प्रायश्चित्त कहा गया है अर्थात् भय आदि कारणोंसे यदि महाव्रतमें अतीचार लगजाय तो उसे दूर करनेकेलिये आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप इन छह प्रकारके प्रायश्चित्तोंमेंसे यथानुरूप किसी एक प्रायश्चित्तका विधान है। अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवोंकी वाधाका परिहार करते हुये मुनिके यदि किसी कारणसे अप्रासुक द्रव्यका ग्रहण होजाय अथवा वे किसी दूसरेको ग्रहण करादेवें अथवा भूलसे जिस प्रासुक वस्तुका त्याग कर चुके हैं उसका भी ग्रहण होजाय और स्मरण आने पर फिर उसे छोड दियाजाय तो उसका विवेक[1]नामका प्रायश्चित्त है। यदि कोई दुःस्वप्न होजाय, किसीके प्रति खोटा

१—अथवा शक्त्यनुगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणात् अप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात्प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः। चारित्रसारे।

तत्र गुरवे प्रमादविनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनं ॥ २ ॥

अर्थ—उन प्रायश्चित्तके नौ भेदमें आलोचनाका स्वरूप यह है कि प्रसन्न चित्त एकांतमें जहां गुरु विराजे हुए हों वहां उनके सामने देशकालकी परिस्थितिको जाननेवाला शिष्य अपने प्रमादजनित दोषको दश दोषोंसे रहित होकर विनयपूर्वक निवेदन कर देवे अर्थात् गुरुकी भक्ति करनेवाला और देश-कालकी मर्यादा जाननेवाला शिष्य अपने संयममें लगे हुए किसी प्रमादजनित दोषको एकान्तमें प्रसन्न चित्त बैठे हुए गुरुके निकट विनयपूर्वक निवेदन कर देवे परन्तु उस निवेदन करनेमें नीचे लिखे दश दोषोंमेंसे कोई दोष नहीं लगने देवे अर्थात् जो कुछ भी अपराध हुआ हो उसे सरल परिणामसे आचार्य महाराजके निकट कह देवे यह आशंका वह शिष्य न करे कि नहीं मालूम क्या कठोर दंड इस अपराधका मुझे वे देंगे। इसी सरल निवेदनका नाम आलोचना प्रायश्चित्त है। वे दश दोष कौन हैं? अब उन्हींका स्वरूप कहते हैं। उपकरण देने पर आचार्य महाराज मुझे थोडासा ही प्रायश्चित्त देंगे ऐसा विचारकर पहले गुरुके समीप शास्त्र आदि कुछ भी ज्ञानोपकरण या कमंडलु पीछी आदि चारित्रोपकरण कहींसे प्राप्त कर भेट करना पीछे अपने दोषोंका उनके सामने निवेदन करना वह आलोचनाका पहला आकंपित दोष है। मैं प्रकृतिसे दुर्बल हूं अर्थात् मेरी प्रकृति अधिक पित्तवाली है, मैं बहुत दुर्बल हूं, मैं बीमार भी हूं इसलिये उपवास आदि करनेमें समर्थ नहीं हूं, यदि गुरु महाराज मुझे थोडासा ही प्राय-श्चित्त देंगे तो मैं अपना दोष उनसे निवेदन कर दूंगा, इसप्रकार वचन कहना अथवा विचार करना दूसरा अनुमापित नामका आलोचनाका दोष है। जिन दोषोंको किसीने देखा नहीं है उन्हें तो छिपा

१—आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं वादरं च सुहमं च। छण्णं सद्दाकुलियं बहुजण अवत्त तस्सेवि ॥ १ ॥ श्री सर्वार्थसिद्धि ॥

१—आकंपित, २—अनुमापित, ३—यद्दृष्ट, ४—वादर, ५—सूक्ष्म, ६—छन्न, ७—शब्दाकुलित, ८—बहुजन, ९—अव्यक्त, १०—तत्सेवित, ये दश प्रकार आलोचनाके दोष हैं। इन्हें हटाकर ही आलोचना करनी चाहिये।

चिंतवन होजाय, मलमूत्र निकल जाय, आगममें अतीचार लगजाय अथवा महानदी पार करनी पडे अथवा महावनी पार करनी पड़े तो उसका व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है अर्थात् शरीरसे ममत्व छोडकर अंतर्मुहूर्त एक दिन पद्रह दिन अथवा एक महीनेतक ज्योंके त्यों खडे होकर ध्यान लगाना या बैठकर ध्यान लगाना प्रायश्चित्त है। जिनक बहुत वार बडे बडे प्रमाद पाये जांय बहुत वडा जिनका अपराध देखा जाय विरुद्ध प्रवृत्ति जिनकी पाई जाय, ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके लिये क्रमसे छेद मूलभूमि अनुपस्थान और पारंचिक नामक परिहार प्रायश्चित्त कहे गये हैं। मुनिधर्मसे च्युत होनेपर अथवा उसमें समधिक हीनता आने पर आचार्यके पादमूलमें प्रायश्चित्त लिया जाता है वह अनुपस्थान प्रायश्चित्त कहलाता है और जहां एक आचार्य दूसरे आचार्यके पास भेज देते हैं और वे भी तीसरे आचार्यके पास भेज देते हैं इसप्रकार तीन संघके आचार्य तक अथवा सात[3] संघके आचार्यतक भेजकर फिर प्रायश्चित्त देनेको पारंचिक प्रायश्चित्त कहते हैं। इसप्रकार यह नौ प्रकारका प्रायश्चित्त है। इसका विधान देशकाल देखकर, शरीरकी शक्ति देखकर, संयम आदिमें विरोध नहीं आवे इस रूपसे जैसा अपराध हो छोटा या बडा उसके अनुकूल दोषोंका निराकरण करनेकेलिये किया जाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्तशास्त्रमें अपराधके अनुसार प्रायश्चित्त बताये गये हैं उन्हें भी देनेवाले आचार्य स्वयं अपने विवेक गुणसे प्रायश्चित्त देतेसमय पहले देशकालकी परिस्थितिका विचार करते हैं, उस शिष्यकी शक्तिका भी विचार करते हैं कि

१—दुःस्वप्नदुश्चिंतनमलोत्सर्जनागमातिचारनदीमहाटवीरणादाभिश्च। चारित्रसारे। २—ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्यांतर्मुहूर्तदिवसपक्षमासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। चारित्रसारे।

३—स सापराधः स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः, सोप्याचार्यः तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्वा आचार्यान्तरं प्रस्थापयति सप्तमं यावत्। पश्चिमश्च प्रथमालोचनाचार्यं प्रति प्रस्थापयति, स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचरयति। चारित्रसारे।

इन पंक्तियोंका अर्थ तो ऊपर आचुका है। इनका उल्लेख केवल इसलिये किया गया है कि जिन शब्दोंका स्पष्टीकरण श्रीराजवार्तिकमें नहीं है किंतु संक्षिप्त कथन होनेसे अभिप्राय दोनोंका एक है उनकी स्पष्टताकेलिये यह चारित्रसारका मूलपाठ दिया गया है।

लेना और जिन दोषोंको दूसरोंने देख लिया है उन्हीं दोषोंका गुरुके समीप निवेदन कर देना यह मायाचार यद्दृष्ट नामका तीसरा दोष है। आलस्यसे प्रमादसे अथवा अज्ञानसे लगनेवाले छोटे छोटे दोषोंका परिज्ञान या विचार नहीं करना केवल मोटे मोटे दोषोंको गुरुके सामने निवेदन करदेना यह चौथा वादर नामका दोष है। बडे भारी कठिन प्रायश्चित्तके भयसे बडे बडे दोषोंको तो छिपा देना और गुरुमहाराज समझ लगे कि यह शिष्य तो छोटेसे छोटे दोषका भी प्रायश्चित्त कर लेता है, इस बुद्धिसे छोटे छोटे प्रमादरूप आचरणका उनके सामने निवेदन कर देना पांचवां सूक्ष्म नामका दोष है, इस प्रकार व्रतोंमें अतीचार लगनेसे हमको क्या प्रायश्चित्त होसकता है, इस प्रकार उपायांतरसे गुरुसे दोषोंका प्रायश्चित्त पूछ लेना अर्थात् अपना दोष तो कहना नहीं किंतु अमुक दोषका क्या प्रायश्चित्त हो सकता है इसरूपसे गुरु द्वारा उस प्रायश्चित्तका बोध कर लेना अथवा उस प्रायश्चित्तके जाननेकेलिये गुरुकी उपासना करना यह छठा छन्न नामका दोष है। जिससमय आचार्य महाराजके समक्ष अन्य अनेक साधुगण पाक्षिक[1] चातुर्मासिक सांवत्सरिक आलोचना कर रहे हों उस यति समूहके शब्दोंसे स्थान गूंज रहा हो उससमयमें अपने पहिले दोषोंकी आलोचना कर लेना अर्थात् जहां एक दूसरेका शब्द सुनाई नहीं पडे ऐसे समयमें आचार्य महाराजके पास पहुंचकर अपने दोषोंको निवेदन कर देना जिससे अन्य साधुगण उन दोषोंको नहीं सुन सकें और गुरु भी पूर्ण रूपसे नहीं सुन सकें, इस प्रकार आलोचना करनेमें सातवां शब्दाकुलित दोष बताया गया है। गुरुने जो प्रायश्चित्त दिया है वह ठीक है या नहीं है और वह आगममें भी ऐसा ही कहागया है या अन्य रूपसे कहा गया है इसप्रकार शंका करता हुआ शिष्य अन्यसाधुओंसे पूछता रहे अर्थात् किसी बडे प्रायश्चित्तको शंकारूपमें डाल देना इसका नाम बहुजनदोष है यह आलो-

१–पंद्रह दिन पीछे अपने पूर्वकृत दोषोंको जो आलोचना की जाती है वह पाक्षिक आलोचना कहलाती है। इसीप्रकार चार महीना पीछे की जानेवाली आलोचनाको चातुर्मासिक और वर्षदिन पीछे को जानेवालीको सांवत्सरिक कहते है।

यह शिष्य इस प्रायश्चित्तको धारण कर सकता है या नहीं, संयममें कोइ वाधा नहीं आवे इस वातका भी वे ध्यान रखते हैं इन सब बातोंका विचार कर ही वे प्रायश्चित्त देते हैं। जिसप्रकार चतुर वैद्य रोगीकी प्रकृति समय क्षेत्र आदिकी परिस्थिति देखकर ही रोगके शमनार्थ उचित औषधि देता है उसीप्रकार प्रायश्चित्तोंका विधान समझना चाहिये। यद्यपि अपराधोंके भेद असंख्यात लोकप्रमाण शास्त्रोंमें वतलाये गये हैं क्योंकि जीवोंके परिणामोंके भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं और जितने जीवोंके परिणामोंके भेद हैं उतने ही कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसायस्थानके भेदोंकी अपेक्षासे उनके अपराधोंके भेद होजाते हैं, अर्थात् जितने विकल्प आत्माके विकारमय भावोंके होते हैं उतने ही विकल्प अपराधोंके होते हैं परंतु ग्रंथकारोंने उन असंख्यात लोकप्रमाण अपराधोंके लिये उतने ही प्रायश्चित्त नहीं कहे हैं किंतु व्यवहार नयकी अपेक्षासे अनेक अपराधोंके प्रायश्चित्तोंको इकट्ठा करके उनका विधान किया है अर्थात् स्थूलरूपसे अपराधोंकी गणना करके उनके स्थूल रूपसे प्रायश्चित्त कहे गये हैं, सूक्ष्म भावोंके अनुसार प्रायश्चित्तविधान नहीं किया गया है॥ अब कहते हैं कि प्रायश्चित्तके नौ भेदोंका स्वरूप तो कहा जाचुका, उसके पीछे विनय नामका अभ्यंतर तप बताया गया है इसलिये अब उसीके जो चार भेद कहे गये हैं उनका स्वरूप नीचेके सूत्र द्वारा कहते हैं—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय, ये चार विनय तपके भेद हैं। कषाय और इंद्रियोंको वशमें रखना भी विनय है, रत्नत्रय और उसके धारण करनेवालोंके प्रति अपनी नम्रवृत्ति रखना उनके साथ उद्धतभाव नहीं रखना इसीका नाम विनय है।

विनय इत्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ १ ॥

अर्थ—विनय शब्द पूर्वसे चला आरहा है, अर्थात् "प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना-

रीतिसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि न तो कोई पदार्थ सर्वथा निष्क्रिय और नित्य है और न कोई पदार्थ सर्वथा क्रियावान् और अनित्य है किंतु कथंचित् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा समस्त पदार्थ निष्क्रिय और नित्य हैं एवं पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा समस्त पदार्थ क्रियावान और अनित्य हैं इसलिए ऊपर जो क्रियावत्त्व हेतुके बलसे आत्माको सर्वथा अनित्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई थी वह सफल नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा पदार्थ सर्वथा अनित्य सिद्ध नहीं हो सकता किंतु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है ॥ ७ ॥

अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादि इसी (पंचम) अध्यायके पहिले सूत्रमें जो काय शब्दका ग्रहण किया गया है उससे धर्म अधर्म आदिके प्रदेश हैं, यह बात जानी जाती है परंतु धर्म द्रव्यके इतने प्रदेश हैं। अधर्म आदि द्रव्योंके इतने इतने प्रदेश हैं, यह बात नहीं जानी गई इसलिए उस बातका ज्ञान करानेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां ॥ ८ ॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। अर्थात् धर्मद्रव्यके भी असंख्यात प्रदेश हैं, अधर्मद्रव्यके भी असंख्यात प्रदेश हैं और एक जीवद्रव्यके भी असंख्यात प्रदेश हैं।

संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयाः ॥ १ ॥

वार्तिककार असंख्येय शब्दकी सिद्धि दिखाते हैं—'संख्यानं संख्या गणनेत्यर्थः' अर्थात् भलेप्रकार गिननेका नाम संख्या है। अनेक पदार्थोंके एक जगह रहनेपर जो पदार्थ अपने लक्षणके द्वारा विशिष्ट

रूपसे कहा जाय वह विशेष कहा जाता है। संख्याका विशेष अथवा संख्यारूप ही जो विशेष वह संख्या-विशेष कहा जाता है। इस विशेष संख्यासे रहित असंख्येय है अर्थात् जो किसीके द्वारा गिना न जाय वह असंख्येय कहा जाता है। शंका—

तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वप्रसंग इति चेन्न तेनात्मनावसितत्वात् ॥ २ ॥

धर्म अधर्म और आकाशके प्रदेशोंकी संख्या नहीं की जा सकती इसलिए वे असंख्येय हैं यदि असंख्येय शब्दका यह अर्थ किया जायगा तब फिर सर्वज्ञ भी उनको नहीं जान सकता इसलिए धर्म आदिके जाने विना समस्त पदार्थोंका ज्ञान न होनेके कारण सर्वज्ञपना नहीं सिद्ध हो सकता? सो ठीक नहीं। जो पदार्थ जिसरूपसे विद्यमान हो उसे उसी रूपसे जानना सर्वज्ञका सर्वज्ञपना कहा जाता है जिसतरह आकाश प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंत है और सर्वज्ञ उसे अनंतरूपसे ही जानता है तथापि उसके सर्वज्ञपनका नाश नहीं होता उसीप्रकार जो पदार्थ असंख्येय है उसे असंख्येयरूपसे जाननेपर कभी सर्वज्ञपनेकी हानि नहीं हो सकती क्योंकि जो पदार्थ जिसरूपसे अवस्थित है उसे उसी रूपसें सर्वज्ञ यथार्थज्ञ होनेके कारण जानता है इसलिए पदार्थ दूसरे रूपसे स्थित हो और जाने दूसरे रूपसे वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता इस रीतिसे यह बात सिद्ध हुई कि प्रदेशोंकी अपेक्षा धर्म अधर्म आदि असंख्येय पदार्थोंको असंख्येयरूपसे जाननेपर भी सर्वज्ञका सर्वज्ञपन नष्ट नहीं हो सकता।

पदार्थोंके ज्ञान करनेमें संख्यात असंख्यात और अनंत इसप्रकार तीनप्रकारके मानोंका शास्त्रमें उल्लेख किया गया है तथा असंख्यातके युक्तासंख्यात परीतासंख्यात और असंख्यातासंख्यात ये तीन भेद कहे गये हैं एवं इन तीनोंप्रकारके असंख्यातोंके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य ये तीन भेद हैं। धर्म

न्युत्तरं" इस सूत्रमें विनयका नाम आया है उसकी ही अनुवृत्ति यहां आती है, उस विनय शब्दका संबंध प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये जैसे ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। अब ज्ञानविनयका स्वरूप कहते हैं—

तत्र सबहुमानज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः ॥ २॥

अर्थ—जो मुनि आलस्यरहित होकर, मनकी वृत्ति शुद्ध रखकर, और देश काल द्रव्य भावकी विशुद्धताके पहचानने और रखनेमें पूर्ण चतुरता रखकर मोक्षसिद्धिके लिये बडे आदरसे अपनी शक्तिके अनुसार सम्यग्ज्ञानका ग्रहण करते हैं उसका मनन करते हैं और उसे सदैव स्मरण रखते हैं उसीका नाम ज्ञानविनय कहलाता है अर्थात् जो मुनि आलस्य नहीं करते हैं, मनको विशुद्ध रखते हैं, देश कालादिकी विशुद्धिको जानते हैं, ऐसे मुनि सम्यग्ज्ञानमें बडी भक्तिपूर्वक दत्तचित्त रहते हैं इसीका नाम ज्ञानविनय है। अब दर्शनविनयका स्वरूप कहते हैं—

पदार्थश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः ॥ ३ ॥

अर्थ—सामायिकसे लेकर लोकविन्दुसार पर्यंत श्रुतज्ञानरूपी समुद्रमें जिसप्रकार पदार्थोंका स्वरूप और उनका लक्षण श्रीजिनेंद्र भगवान सर्वज्ञ वीतराग देवने कहा है वह बराबर वैसा ही है उसमें कुछ भी अंतर नहीं है श्रीजिनेंद्रदेव सर्वज्ञ वीतराग हैं वे और प्रकार नहीं कह सकते हैं जो पदार्थका स्वरूप है उसीका यथावत् प्रतिपादन करते हैं इसप्रकार आत्मीयभावोंमें जिनेन्द्र वचनों पर पूर्ण प्रतीति रखना और उनमें किसीप्रकार भी संदेह नहीं रखना दर्शनविनय कहलाता है। चारित्रविनयका स्वरूप इसप्रकार है—

तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको धारण करते हैं, ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य इन पांचों आचारोंका पालन करते हैं तथा उन कठिनतासे धारण करनेयोग्य चारित्रोंको सुनकर जिनके

यहां सूत्रमें व्यतिरेक अर्थ हो जाता है अर्थात् व्यतिरेक नाम त्यागका है यही व्युत्सर्गका अर्थ है उसका संबंधित अर्थ यह होता है कि वाह्य अभ्यंतर समस्त दोषोंका त्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है यह अर्थ भाववाची व्युत्सर्ग शब्दकी अनुवृत्तिसे होता है।

उपधीयते बलाधानार्थमित्युपधिः ॥ २ ॥

अर्थ–जो पदार्थ किसीके बलसे अथवा परतंत्रतासे ग्रहण किया जाय सो उपधि कहलाती है अथवा जो पदार्थ किसी दूसरेकी पुष्टिकेलिये ग्रहण किया जाता है वह उपधि कहलाता है अर्थात् उपधि नाम परिग्रहका है क्योंकि परिग्रहसे आत्माको कुछ भी सहायता नहीं मिलती है, आत्माका तो उससे घात ही होता है किंतु अत्मासे भिन्न जो शरीर और क्रोधादि विकार हैं उनकी पुष्टि अवश्य होती है अथवा परिग्रह कर्मोंकी परतत्रंतासे ग्रहण किया जाता है इसलिये भी उसका नाम उपधि है।

अनुपात्तवस्तुत्यागो वाह्योपधिव्युत्सर्गः ॥ ३ ॥

अर्थ––जिसे आत्मा स्वयं ग्रहण नहीं करता है तथा जो आत्माके साथ एकमएक रूपमें मिलकर नहीं रहता है ऐस पदार्थका त्याग करना वाह्योपधिव्युत्सर्ग कहलाता है अर्थात् जो आत्माके साथ मिला हुआ नहीं है ऐसा जो आहार धन धान्य वस्त्र आदि वाह्य परिग्रह है वह वाह्य उपधि है उसका छोड देना सो वाह्योपधिका त्याग है।

क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यंतरोपधिव्युत्सर्गः ॥ ४ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, आदि दोषोंकी निवृत्ति होना सो अभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग कहलाता हैं अर्थात् जो परिग्रह आत्माके साथ एकत्वभावको प्राप्त होरहा है उसका त्याग होना अभ्यंतर उपधिका व्युत्सर्ग है। तथा–

कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा ॥ ५ ॥

हृदयमें आनंदसे रोमांच खडे होगये हैं, जो उन चारित्रोंमें पूर्ण भक्तिभाव रखते हुये चित्तको प्रसन्न अथवा निर्मल बना लेते हैं और उन चारित्रोंके प्रति अथवा उस प्रकारके सम्यक्चारित्र धारण करनेवालोंके प्रति मस्तक नवाते हैं, हाथ जोड कर उन्हें नमस्कार करते हैं और भावपूर्वक उन चारित्रोंका पालन करते हैं इसीका नाम चारित्रविनय है अथवा उस प्रकार चारित्रकी भक्ति करनेवाले और उसे धारण करनेवाले मुनिराज ही चारित्रविनयी कहे जाते हैं। अब उपचारविनयका स्वरूप कहते हैं—

प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेषु अभ्युत्थानाभिगमनांजलिकरणादिरुपचारविनयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पूजनीय आचार्य उपाध्याय और साधु प्रत्यक्षमें सामने आरहे हैं तो उन्हें देखकर खडे होजाना, जब वे जाने लगें तो उनके पीछे पीछे गमन करना उनकेलिये हाथ जोडकर खडे रहना उनकी वंदना करना उनकी क्रियाओंका अनुकरण करना इत्यादि रूपसे अपने पदस्थके योग्य अपने गुरुजन आचार्य, पढानेवाले उपाध्याय और ज्येष्ठ चिरदीक्षित मुनियोंका विनय करना सो प्रत्यक्ष उपचारविनय कहलाता है ❋। तथा—

❋ इस उपचार विनयका स्वरूप श्री चारित्रसारमें और भी विशद है। वह इस प्रकार है—रत्नत्रयका सबसे अधिक आदर करना, समस्तकालके योग्य अनुरूप क्रियाके अनुकूल चलना, मन वचन काय तीनों योगोंका निग्रह करना, सुशीलता धारण करना, धर्मानुकूल कथाओंका कहना सुनना तथा भक्ति रखना, अरहंत जिनमंदिर और गुरुमें भक्ति रखना, दोषोंका वा दोषियोंका त्याग करना, गुणोंसे बढे हुये मुनियोंकी सेवा करनेकी अभिलाषा रखना, उनके अनुकूल चलना और उनकी पूजा करना, यह सब प्रत्यक्ष उपचार विनय है। अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा है—वृद्ध मुनियोंके साथ अथवा गुरुके साथ कभी भी प्रतिकूल नहीं होनेकी सदा भावना रखना, बराबर वालोंके साथ कभी अभिमान नहीं रखना, हीन लोगोंका कभी तिरस्कार नहीं करना, जाति, कुल, धन, ऐश्वर्य, रूप, विज्ञान, बल, लाभ, और ऋद्धियोंमें कभी अभिमान नहीं करना सब जगह क्षमा धारण करनेमें तत्पर रहना थोडे हित रूप और देश कालके अनुसार वचन बोलना करने योग्य नहीं करने योग्य, सेवन और न सेवन करने योग्य तथा कहने न कहने योग्य बातोंका ज्ञान होना इत्यादि क्रियाओंके द्वारा अपने आत्माको प्रवृत्त करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है।

अर्थ–शरीर भी आत्मासे मिला हुआ है इसलिये वह भी क्रोधादिके समान अभ्यंतर उपधिमें सामिल है उसका त्याग करना भी अभ्यंतर उपधिका त्याग कहलाता है। वह दो प्रकार है–एक नियत कालतक, दूसरा जीवन पर्यंत तक*। शंका–

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेन्न तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ–यहांपर यह शंका होती है कि जहां परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप कहागया है वहां परिग्रहकी निवृत्ति कही जाचुकी है फिर यहां तपोंमें भी परिग्रहका त्याग बतलाना व्यर्थ है? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि उस स्थानमें अर्थात् परिग्रह त्याग महाव्रतमें धन सोना चांदी वस्त्र आदि वस्तुओंका त्याग बताया गया है, यहांपर वाह्य अभ्यंतर सभी आत्मभिन्न शरीर क्रोधादिका त्याग बताया गया है इसलिये यह कथन व्यर्थ नहीं है। फिर शंका–

धर्माभ्यंतरे भावादिति चेन्न प्रासुकानिरवद्याहारादिनिवृत्तितंत्रत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ–फिर यहांपर यह शंका होती है कि दश प्रकारका जो धर्म बताया गया है उसमें भी त्यागका अंतर्भाव होजाता है फिर यहांपर त्यागका कथन करना व्यर्थ है? उत्तर–दश धर्मोंमें जो त्यागका कथन है वह प्रासुक निर्दोषआहार आदिकी निवृत्तिकेलिये है यहांपर वाह्य अभ्यंतर सभी प्रकारकी उपधियोंके त्यागका कथन है। फिर भी शंका–

तस्य प्रायश्चित्ताभ्यंतरत्वादिति चेन्न प्रतिद्वंद्विभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर यहां शंका होती है कि प्रायश्चित्तके भीतर ही व्युत्सर्गका ग्रहण होजायगा फिर उसका कथन करना व्यर्थ है? उत्तर — यह शंका ठीक नहीं है कारण कि प्रायश्चित्तमें जो त्याग किया जाता है उसका प्रतिद्वंद्वी अतीचार है, अर्थात् अतीचारकी निवृत्तिकेलिये ही प्रायश्चित्तरूप त्याग किया जाता

* इसका विशेष खुलासा चारित्रसारसे जानना चाहिये।

परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरंजलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो आचार्य आदि गुरुजन और अपनेसे बडे मुनिराज परोक्ष हैं उनकेलिये हृदयसे परोक्षमें ही हाथ जोडना, उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणोंका गान करना, उन्हें सदैव स्मरणमें रखना और उनकी आज्ञाओंका पालन करना इत्यादि समस्त क्रियाऐं मन वचन काय तीनोंसे करना चाहिये यह परोक्ष उपचार विनय है। यह चारों प्रकारका विनय क्यों किया जाता है ? उत्तर—

ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनं ॥ ७ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानका लाभ होना आचारमें विशुद्धि प्राप्त होना, भले प्रकार आराधनाओंका पालन होना, इत्यादि बातोंकी सिद्धि विनयभाव धारण करनेसे होती है। इन बातोंके होनेपर पीछे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, इसी कार्यके लिये विनयभावना की जाती है अथात् इस विनयभावनासे मंत्र औषधि उपकरण, यश सत्कार और लाभ आदिकी आकांक्षा नहीं की जाती है, इसलोक और परलोकसंबंधी सांसारिक सुखोंकी इच्छा नहीं कीजाती है किंतु इस विनयभावनासे केवल कर्मोंका नाश करनेकी, निर्मल चारित्र धारण करनेकी और सम्यग्ज्ञान वृद्धिकी तथा सम्यग्दर्शनमें पूर्ण दृढता प्राप्त होनेकी विशुद्ध भावना रक्खी जाती है। अब कहते हैं कि विनयतपका वर्णन किया जाचुका, उसके पीछे आया हुआ वैयावृत्य नामका अंतरंग तप है उसीके कहनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके सम्यग्दृष्टि पुरुषोंका वैयावृत्य करना अर्थात् शरीरके द्वारा उनकी सेवा करना, उनका थका हुआ शरीर दवाना, द्रव्यादिके द्वारा उपदेश द्वारा उनकी सेवामें प्रवृत्त होना इत्यादि वैयावृत्य कहलाता है।

वैयावृत्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ १ ॥

है परंतु यहांपर (व्युत्सर्गमें) वह त्याग निरपेक्षरूपसे किया जाता है अर्थात् व्युत्सर्गरूप त्याग अतीचारकी निवृत्तिके लिये नहीं किया जाता किंतु स्वयं ही कायादि और क्रोधादिका त्याग किया जाता है इसलिये प्रायश्चित्त और व्युत्सर्गमें विशेषता है अर्थात् एक दूसरेमें बहुत बडा भेद है। फिर शंका—

अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेन्न शक्त्यपेक्षत्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर शंका यह होती है कि अनेक स्थानोंमें वचन कहना व्यर्थ है एक ही वार कहनेसे पर्याप्त है अर्थात् परिग्रह त्यागका विधान अनेक जगह नहीं कह कर एक स्थानमें कहदेना ही उचित है वारवार कहनेसे वचनमें गौरव आता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि शक्तिकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न विधान किया गया। कहीं पर तो पाप अथवा अतीचार लगने पर त्याग किया जाता है, कहीं पर निर्दोष अवस्थामें भी किसी नियतकाल तक अथवा अनियत काल तक पुरुषोंकी शक्तियोंकी अपेक्षासे निवृत्त्यात्मक धर्म धारण किया जाता है अर्थात् प्रायश्चित्तादिमें अतीचाररूप पाप लगने पर ही निवृत्ति की जाती है परंतु व्युत्सर्ग तपमें कायादिका त्याग, विना दोषके ध्यान सिद्धिके लिये अथवा निर्ममत्व भावकी दृढताके लिये सुतरां किया जाता है. इसप्रकार यह निवृत्तिरूप धर्म उत्तरोत्तर गुणोंकी प्रकर्षतासे होता है अथवा धर्मोत्साहके पैदा करनेसे होता है इसलिये इसका अनेक जगह कथन पुनरुक्त, दोषसे युक्त नहीं हैं किंतु अभिप्रायके भेदसे भिन्न रूप है। प्रश्न—व्युत्सर्ग क्यों किया जाता है, अर्थात् इसका फल क्या है? उत्तर—

निःसंगनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ॥ १० ॥

अर्थ—परिग्रह छूट जाय, किसीका भय भी परिणामोंमें न लगे, जीवनकी आशाका भाव भी छूट जाय, दोषोंका नाश हो जाय तथा मोक्षमार्गकी भावनामें तत्परता बनी रहे इत्यादि प्रयोजनोंकी सिद्धिकेलिये व्युत्सर्ग तप कहा गया है। वह वाह्य अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकार है। कहते हैं कि अभ्यंतर तपके

अर्थ—अंतरंग तपके भेदोंवाले सूत्रमें वैयावृत्य शब्द आया है उसीकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें चली आती है इसलिये इन आचार्य आदि प्रत्येकके साथ वैयावृत्य शब्दका संबंध लगा लेना चाहिये। जैसे—आचार्यवैयावृत्य, उपाध्यायवैयावृत्य, तपस्विवैयावृत्य, शैक्ष्यवैयावृत्य, ग्लानवैयावृत्य, गणवैयावृत्य, कुलवैयावृत्य, संघवैयावृत्य, साधुवैयावृत्य, मनोज्ञवैयावृत्य, इसप्रकार दशोंके साथ वैयावृत्य शब्दका संबंध जोड लेना चाहिये। वैयावृत्यका स्वरूप इसप्रकार है—

व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्यं ॥ २ ॥

अर्थ—जो अपने शरीरके व्यापारसे अथवा अन्य किसी द्रव्यादिकसे सेवामें लगता है उसके भावको अथवा उसकी क्रियाको वैयावृत्य कहते हैं अर्थात् शरीरादिक और द्रव्यादिक द्वारा आचार्यादिकोंकी सेवा करनेका नाम वैयावृत्य है। अब आचार्यका लक्षण करते हैं—

आचरंति यस्माद्व्रतानीत्याचार्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—भव्य पुरुष अपने हितकेलिये सम्यग्ज्ञान आदि पांच आचार रूप गुणोंको धारण करनेवाले जिन गुरुसे स्वर्गमोक्षसुखरूपी कल्पवृक्षके वीजस्वरूप व्रतोंको ग्रहण कर आचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं अर्थात् जिनसे दीक्षा और व्रत ग्रहण किये जाते हैं वे पंचाचार आचरण करनेवाले श्रीआचार्यपरमेष्ठी कहे जाते हैं।

उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः ॥ ४ ॥

अर्थ—व्रत शील भावनाओंको धारण करनेवाले जिन गुरुके पास मुनिराज विनयपूर्वक पहुंचकर श्रुतज्ञान आगमका अध्ययन करते हैं वे श्रीउपाध्याय परमेष्ठी कहे जाते हैं, अर्थात् जो श्रुतज्ञानके पारंगत और महाव्रतादिको धारण करनेवाले मुनिराज दूसरे साधुओंको पढाते हैं वे साधु श्रीउपाध्याय परमेष्ठी कहे जाते हैं।

छह भेद बताये गये थे पश्चात् प्रायश्चित्तादि तपोंके नौ आदि भेद बताते समय 'प्राग् ध्यानात्' ध्यानसे पहले ये भेद हैं ऐसा कहा गया है परंतु ध्यान भी तप है वह अधिक रूपमें कहनेके लिये पीछे कहनेको छोड दिया गया था अब उसीके कहनेका अवसर है इसलिये नीचेके सूत्र द्वारा उसीका स्वरूप कहते हैं—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—उत्तम संहननवाला पुरुष अन्य समस्त विकल्पोंसे मनको हटाकर किसी एक ध्यानके विषयभूत पदार्थमें लगादेता है उसे ही ध्यान कहते हैं, उसका उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। उत्तम संहनन कौन समझे जाते हैं इसीके लिये कहते हैं—

आद्यं संहननत्रयमुत्तमं ॥ १ ॥

अर्थ—वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, ये आदिके तीन संहनन उत्तम कहे जाते हैं। ये तीन संहनन उत्तम क्यों कहे जाते हैं इसका कारण यह है कि ये तीनों ही ध्यान आदि विशेष परिणामके हेतु पड़ते हैं, इतना विशेष समझना चाहिये कि मोक्षका कारण आदिका एक संहनन ही है अर्थात् पहला वज्रवृषभनाराचसंहनन ही कारण है, उसके विना प्राप्त किये मोक्ष प्राप्ति उस पर्यायसे नहीं हो सकती है परंतु ध्यान सिद्धिकेलिये आदिके तीनों संहनन कारण हैं इसीलिये वे उत्तम कहलाते हैं।

तस्यं उत्तमसंहननस्यैकशब्दः संख्यापदं ॥ २ ॥

अर्थ-सूत्रमें जो एकाग्रचिंतानिरोध, इस वाक्यमें एक शब्द पड़ा हुआ है उस एक शब्दके यद्यपि अन्य असहाय आदि अनेक अर्थ संभव हो सकते हैं, परंतु यहां पर उसका संख्यारूप अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। अर्थात् एक पदार्थमें ही चित्त लगाना यहां एकका अर्थ एक संख्याका है।

अंग्यते तदंगमिति तस्मिन्निति वाग्रमुखं ॥ ३ ॥

अर्थ-अग् धातु गति अर्थ वाली है उससे कर्म अथवा अधिकरण अर्थमें उणादिसे रक्का विधान हो

महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी ॥ ५ ॥

अर्थ—महोपवासादि लक्षण तपको जो धारण करते हैं वे तपस्वी साधु कहे जाते हैं अर्थात् तपस्वी भी एक मुनियोंका भेद है। जो मुनि महान् कठिन उपवास आदि तपको धारण करनेकी मुख्यता रखते हैं वे तपस्वी मुनि कहे जाते हैं। यहां पर अतिशय अर्थमें तपस् शब्दसे मतुप् प्रत्ययके अर्थवाला विन् प्रत्ययका प्रयोग किया गया है अर्थात् अतिशय रूपसे जो तप करनेवाले हैं वे तपस्वी कहे जाते हैं।

शिक्षाशीलः शैक्ष्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो श्रुतज्ञानकी शिक्षा ग्रहण करनेमें निपुण हैं और निरंतर व्रत भावनामें निपुण हैं वे शैक्ष्य अथवा शैक्ष्यक कहे जाते हैं अर्थात् जो मुनि व्रत भावना आदिको धारण करते हुये श्रुतज्ञानकी शिक्षा लेनेकी प्रधानता रखते हैं वे शैक्ष्य कहे जाते हैं।

रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनका शरीर रोग आदि बाधाओंसे क्लेशमय होरहा हो वे ग्लान मुनि कहे जाते हैं।

गणः स्थविरसंततिः ॥ ८ ॥

अर्थ—वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलं ॥ ९ ॥

अर्थ—दीक्षा देनेवाले आचार्यका शिष्य समूह कुल कहाजाता है अर्थात् जिन मुनियोंने आचार्यसे दीक्षा ग्रहणकी हो ऐसे मुनियोंका समूह कुल कहलाता है।

चतुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः ॥ १० ॥

१—आचाम्लवर्धन, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीडित, शतकुंभ, मंदर पंक्ति, विमानपंक्ति, नंदीश्वरपंक्ति, जिनगुणसंपत्ति, श्रुतज्ञान, कनकावली, मुक्तावली, मृदंगमध्य, वज्रमध्य, कर्मक्षयण, त्रैलोक्यसार, आदि महान् २ उपवास करनेवाले तपस्वी कहे जाते हैं।

जाता है और वज्रेंद्रभद्राग्र, इत्यादिके समान अग्र ऐसा निपातनसे सिद्ध हो जाता है अर्थात् अग् धातुसे र प्रत्यय उणादिसे होकर "वज्रेंद्रभद्राग्र" अर्थात् वज्र भद्र इंद्र आदिके समान अग्र शब्द भी निपातनसे सिद्ध होजाता है। अग्र नाम मुखका है अर्थात् शरीरमें जिसप्रकार मुख अग्र रहता है वह प्रधान समझा जाता है उसी प्रकार अग्र नाम मुख अथवा प्रधानका है।

चिंता अंतःकरणवृत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ--पदार्थोंमें मनकी वृत्ति लगाना इसीका नाम चिंता है अर्थात् चिंता नाम किसी पदार्थमें उपयोग लगाकर उसका विचार करनेका है।

अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः ॥ ५ ॥

अर्थ--जो एक पुरुष गमन करना भोजन करना, शयन करना, अध्ययन करना, इत्यादि विशेष विशेष क्रियाओंमें अनियत रूप लगा हुआ है वह समस्त क्रियायोंको छोडकर एक ही क्रियाका कर्त्ता बनकर ठहर जाय उसका नाम निरोध है अर्थात् नाना क्रियायोंसे मनके विकल्पोंसे हटाकर एक ही पदार्थके विचारमें मनको लगाना इसीका नाम निरोध है। मनको दूसरी जगहसे रोकना अथवा एकही पदार्थमें उसे ठहराना इसीका नाम निरोध है। एक ही है अग्र कहिये मुख जिसका वह एकाग्र कहलाता है और चिंताका निरोध करना सो चिंतानिरोध कहलाता है। एकाग्ररूप जो चिंताका निरोध वह एकाग्र चिंतानिरोध कहलाता है। यह एकाग्र रूपसे चिंताका निरोध किसप्रकार होता है? उसीके उत्तरमें कहते हैं—

वीर्यविशेषात् प्रदीपशिखावत् ॥ ६ ॥

अर्थ--जिस प्रकार दीपककी ज्योति निराबाध स्थानमें विशेषताके साथ जलती रहती है वह हलन चलन नहीं करती है उसी प्रकार निराकुल स्थानमें अपनी शक्तिकी विशेषतासे रोकी हुई चिंता, विना किसी अस्थिरताके एकाग्ररूपसे ठहर जाती है अर्थात् जिस प्रकार वायुकी चंचलताके विना

अर्थ—चार प्रकारके मुनियोंके समूहको संघ कहते हैं अर्थात् ऋषि, मुनि, यति, अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंके समूहको संघ कहते हैं।

चिरप्रव्राजितः साधुः ॥ ११ ॥

अर्थ-जो बहुत कालसे दीक्षित हों उन्हें साधु कहते हैं यद्यपि साधु सामान्य रूपसे सभी मुनियोंको कह देते हैं परंतु विशेषरूपसे साधु संज्ञा उन मुनियों की होती है जो बहुत पुराने दीक्षित हों।

मनोज्ञोऽभिरूपः ॥ १२ ॥

अर्थ-जो सुंदर हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। अथवा—

संमतो वा लोकस्य विद्वत्तावक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः ॥ १३ ॥

अर्थ-अथवा जो विद्वान् हो जो अच्छा वक्ता हो जो महाकुलीन हो इस प्रकार जो लोकमें मान्य समझा जाता हो वह भी मनोज्ञ कहलाता है। इस मनोज्ञका ग्रहण इसलिये किया गया है कि लोकमें जिन-मतका गौरव बढानेका वह कारण पड जाता है, उससे जैनमतका संसारमें गौरव बढता है, उससे जैन-मतकी प्रभावना होती है इसलिये उसका भी ग्रहण कियागया है। अथवा—

असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा ॥ १४ ॥

अर्थ—अथवा मनोज्ञसे असंयतसम्यग्दृष्टिका भी ग्रहण होता है क्योंकि वह भी संसारसे उदास रहता है। इन आचार्य आदि दशों प्रकारके मोक्षमार्गोपसेवी पुरुषों पर किसी व्याधि रोगके आजाने पर किसी प्रकारकी परीषहके आ जानेपर अथवा किसी प्रकार मिथ्यात्वका संबंध हो जानेपर इत्यादि किसी प्रकारकी बाधा उनपर उपस्थित होने पर, विना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके केवल भक्तिभावसे प्रासुक

१—ऋद्धियां जिन्हें प्राप्त हो चुकी हैं वे ऋषि कहलाते है। केवलज्ञान जिनके प्रगट हो चुका है वे मुनि कहे जाते है। उपशम या क्षपक-श्रेणी पर जो चढ़े हुए हैं वे यति कहलाते है। जो घर छोड़कर साधुके योग्य व्रतादिक पालते हैं ऐसे साधारण साधुको अनगार कहते हैं।

दीपशिखा स्थिररूपसे जलती है उसी प्रकार इधर उधर मनकी चंचलतासे एक पदार्थके ध्यानमें उपयोग स्थिर होजाता है उसीको एक पदार्थकी प्रधानतासे विचारका ठहराना एकाग्र चिंतानिरोध कहते हैं।

अर्थपर्यायवाची वाग्रशब्दः ॥ ७ ॥

अर्थ—अथवा अंग्यते इति अग्र अर्थः अथवा अग्रनाम अर्थका भी है, एकं अग्रं एकाग्रं एकाग्रे चिंतायाः निरोधः एकाग्रचिंतानिरोधः-एक जो अर्थ सो एकाग्र कहलाया और एक अर्थमें जो मनके उपयोगको ठहराना सो एकाग्रचिंतानिरोध कहलाता है योगविभागसे अर्थात् एकाग्रे चिंता निरोधः इति एकाग्रचिंतानिरोधः यहांपर सप्तमी विभक्तिका योग विभाग करके समास कर लिया जाता है अथवा यदि एकाग्रश्चिन्तानिरोधः एकाग्रचिंतानिरोधः ऐसा विशेषणविशष्यभाव करेंगे तो 'मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः' इसका मयूरव्यंसकादि गणमें पाठ होनेसे समास होजाता है इसका स्पष्टार्थ यह है कि एक द्रव्य परमाणु रूप अर्थमें अथवा एक भाव परमाणुरूप अर्थमें चिंतनाका नियम रखना इसीका नाम एकाग्र चिंतानिरोध है।

ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ॥ ८ ॥

अर्थ—यह ध्यान शब्द भावसाधन कर्तृसाधन और करणसाधन तीनों साधनोंमें प्रयोग किया जाता है। ये तीनों साधन भिन्न भिन्न विवक्षासे विवक्षित किये जाते हैं अर्थात् जुदी जुदी अपेक्षाओंसे ध्यान शब्द भाव साधनादि अर्थोंमें आता है। उनमें जहां ध्येय पदार्थके प्रति तन्मग्नता है और भाव मात्रके द्वारा ध्यानका कथन किया जाता है वहां "ध्यातिर्ध्यानं" ध्यान होना ऐसा भावसाधनरूप ध्यान शब्द कहा जाता है। भाव साधन अर्थमें आत्माका ध्यान करने रूप भावकी ही प्रधानता रहती है तथा "ध्यायतीति ध्यानं" यहां पर बहुलता की अपेक्षासे कर्तृसाधन भी ध्यान शब्दका प्रयोग होता है अर्थात् ध्यान शब्दमें जो अनट् प्रत्यय होता है वह भावसाधन और करणसाधनमें होता है परंतु वह अपेक्षासे

औषधि उन्हें देकर भोजन, पान देकर, आश्रय, सिंहासन, काष्ठासन, विछौना आदि देकर धर्मसाधक उपकरणों द्वारा उनकी उस रोग व्याधिका परीषह आदिका भलेप्रकार दूर कर देना और उन्हें उन व्याधि आदिसे दूरकर पुनः स्वस्थता और सम्यक्त्व व्रतादि भावोंमें पहलेके समान नियोजित कर देना इत्यादि वैयावृत्य कहलाता है।

वाह्यद्रव्यासंभवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च ॥ १५ ॥

अर्थ——वाह्य द्रव्य औषधि, भोजन पान आदिक पासमें नहीं होनेपर भी केवल अपने शरीरसे ही वैयावृत्य करना उपयोगी है जैसे—अपने हाथोंसे उनका कफ दूर कर देना, नाकका मल दूर कर देना, और भी अंतर्मल वाह्यमल आदिको दूर कर उनके अनुकूल उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है अर्थात् जिनके पास वाह्य उपचारके साधन नहीं हैं वे केवल अपने शरीर द्वारा उन आचार्य आदिकी सेवा कर भक्ति लाभ और पुण्योपार्जन कर सकते हैं। यह वैयावृत्य किसलिये किया जाता है इसके उत्तरमें कहते हैं——

समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थं ॥ १६ ॥

अर्थ—समाधि और ध्यानकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं पडे, ग्लानिका अभाव होजाय, साधर्मीजनोंके साथ प्रेमभाव बढे और सबोंको सनाथ बनाये रखनेकेलिये वैयावृत्य कियाजाता है। प्रश्न—सूत्रमें आचार्य आदि दश भेदोंका उल्लेख करनेकी क्या आवश्यकता थी, केवल संघवैयावृत्य अथवा गणवैयावृत्य इतना ही कहनेसे कार्य चल सकता था फिर बहुतोंका नाम क्यों गिनाया गया? उत्तर—

बहूपदेशात्कचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः ॥ १७ ॥

अर्थ—वैयावृत्य करनेके योग्य बहुत पात्र हैं, उनका उपदेश इसीलिये किया गया है कि उनमेंसे किसीकी भी कोई वैयावृत्य करे अर्थात् संघ अथवा गणकी वैयावृत्य कहनेसे उन्हींकी वैयावृत्य लोग

कहीं पर कर्तृसाधनमें भी हो जाता है वैसी दशामें अनट् प्रत्यय हो कर कर्तृसाधन भी ध्यान शब्द सिद्ध हो जाता है इस कर्तृसाधनमें ध्यान करनेवाला कर्ता स्वयं आत्मा ठहरता है अथवा आत्मा और ध्यानमें अभेद विवक्षा होनेसे स्वयं ध्यान ही कर्ता ठहरता है। यह कर्तृभाव वहीं पर होता है जहां कारणकी प्रशंसाके कथनकी मुख्यता पाई जाती है जैसे यह तलवार अच्छी तरह काटती है, यद्यपि तलवार कारण है क्योंकि योद्धाही तलवारसे अच्छी तरह संहार करता है परंतु संहार तलवारसे ही करता है और तलवार पैनी है इसलिये उसकी मुख्यतासे ऊपरके वाक्यमें तलवारको ही कर्ता बना दिया गया है और उसका भी हेतु यह है कि प्रयोग करनेवाला पुरुष और तलवार यद्यपि भिन्न भिन्न है तो भी उद्योग और काटना इन दोनों (पुरुषका उद्योग और तलवारका काटना) की छेदनक्रियाके साथ सामान्य विवक्षा अथवा अभेद विवक्षा होनेसे तलवार ही कर्ता कहलाती है, जैसे तलवारने काटा ऐसा व्यवहार भी होता है उसी प्रकार ध्यान करनेकी इच्छा रखनेवाला आत्मा ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम भावसे अभिन्न है इसलिये आत्मा और उसका ध्यानरूप परिणाम दोनों ही एक हैं, इस अभिन्न दृष्टिसे आत्माके ध्यानरूप परिणामको कर्ता कह देते हैं तथा इस ध्यानरूप परिणामको करणसाधन भी इसलिये कहते हैं कि आत्मा और उसके ध्यान परिणाममें कथंचित् परिणाम और परिणामीके भेदसे भेद भी है। जहां पर्यायी और पर्यायकी भेद कल्पना की जाती है वहांपर पर्यायी कर्ता और उसकी पर्याय करणसाधन हो जाती है जिसप्रकार अग्नि दाह करना, पाक करना, पसीना आदि गरमी पैदा करना इत्यादि क्रियाएं स्वयं करती है फिर उसका आत्मभूत (निजी—अभिन्न) जो उष्णतारूप परिणाम है उसकी भेद विवक्षासे करणसाधन भी वह परिणाम हो जाता है अर्थात् अग्नि स्वयं जलाती है क्योंकि उष्णता गुण उस अग्निसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है फिर भी गुणगुणीका कथंचित् भेद मान कर यह व्यवहार भी किया जाता है कि अग्नि अपने उष्ण परिणामसे जलाती है तो यहां पर अग्निके उष्ण परिणामको करणसाधनता सिद्ध

करते, इन दशोंको गिनानेसे इन सबोंकी वैयावृत्यमें वे प्रवृत्त होसकते हैं इसीलिये बहुतोंका नाम गिना दिया गया है। अब कहते हैं कि वैयावृत्यका स्वरूप तो कहा गया, उसके समीपमें स्वाध्यायका पाठ है इसलिये उसका कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ—बांचना, पूछना, मनन करना, घोकना और दूसरोंको समझाना ये पांच भेद स्वाध्यायके हैं स्वाध्याय करनेका यही क्रम सर्वोत्तम है कि पहिले तो ग्रंथको किसी गुरुसे बांचना (पढना) चाहिये, फिर जहां शंका हो या समझमें नहीं आवे वहां दूसरोंसे पूछना चाहिये, पीछे उस ग्रंथका मनन करना चाहिये जब अच्छीतरह मनन करके समझमें बैठ जाय तब उसके सूत्र गाथा श्लोक वार्तिक पंक्ति आदि घोककर स्मृतिमें धारण कर लेना चाहिये, फिर उसका दूसरोंके लाभके लिये उपदेश देना चाहिये यही क्रम सम्यग्ज्ञान वृद्धिका हेतु है। अब इन वाचना आदि प्रत्येकका अर्थ कहते हैं—

निरवद्यग्रंथार्थोभयप्रदानं वाचना ॥ १ ॥

अर्थ—निर्दोष ग्रंथका उसके अर्थका अथवा ग्रंथ और अर्थ दोनोंका पात्रमें प्रतिपादन करना वाचना कहलाता है अर्थात् किसी पात्रको निर्दोष शुद्ध ग्रंथ पढाना अथवा उसका अर्थ बताना अथवा ग्रंथ अर्थ दोनोंका बताना वाचना कहलाता है।

संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनं ॥ २ ॥

अर्थ—अपने आत्माकी उन्नतिके लिये अथवा दूसरोंको समझानेके लिये जो खिली चिलाहट अथवा हंसी मजाक आदिसे रहित होकर अपने संशयके दूर करनेके लिये अथवा स्वयं पदार्थका स्वरूप निश्चय करनेकेलिये किसी ग्रंथ (पाठ) को या अर्थको अथवा ग्रंथ और उसका अर्थ दोनोंको दूसरे जानकारोंसे पूछना सो पृच्छना कहलाती है अर्थात् किसी शास्त्रका अर्थ यदि समझमें नहीं आया हो अथवा कोई

हो जाती है उसी प्रकार आत्मा अपने परिणामविशेषसे ध्यान करता है यहां पर ध्यानरूप परिणामकी भेदकल्पना होनेसे वह करणसाधन सिद्ध हो जाता है।

एकांतपरिकल्पनायां दोषविधानमुक्तं ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि गुण और गुणीमें अथवा पर्याय और पर्यायीमें सर्वथा भेद ही माना जाय अथवा सर्वथा अभेद ही माना जाय तो इस एकांत पक्षकी कल्पनामें दोष आता है अर्थात् एकांत पक्ष सिद्ध नहीं होता है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है इसलिये आत्मा और उसका ध्यानरूप परिणाम दोनों ही तादात्म्य संबंध होनेसे कथंचित् एक हैं और पर्याय पर्यायीमें संख्या लक्षण प्रयोजन अन्वय व्यतिरेक आदि बातोंसे भेद होनेसे कथंचित् वे भिन्न भी हैं इसीलिये भेद अभेद विवक्षा होनेसे ध्यानमें कर्ता करण और भाव तीनों ही साधन घटित हो जाते हैं।

प्रणीतपरिमाणो मुहूर्तः ॥ १० ॥

अर्थ—सूत्रमें "आंतर्मुहूर्तात्" ऐसा पद आया है, उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि अंतर्मुहूर्त पर्यंत बताई गई है। मुहूर्त यह काल विशेषका कहनेवाला शब्द है उसका परिमाण पहले बताया जा चुका है। ❋

उत्तमसंहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात् ॥ ११ ॥

❋ आवलि असंखसमया सखेज्जावलिसमूह उच्छासा। सतुस्सासा थोवो सत्तत्थोवो लवो भणिया ॥
अट्ठत्तीसद्ध लवा णाली वे णालिया मुहुत्तं तु। एकसमयेण हीणो भिण्णमुहुत्तं हवे सेसो ॥ गोम्मटसार ॥

अर्थ—असंख्यात समयोंके समूहका नाम आवलि कहलाती है, संख्यात आवलिके समूहको उच्छ्वास कहते हैं यहां पर जो आलस्य रहित, रोग पराधीनता चिंता आदिसे रहित जीव है उसीके संख्यात आवलीके समूहरूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है उसीका प्रमाण लिया गया है। सात उच्छ्वासको एक स्तोक कहते हैं, सात स्तोकको लव कहते हैं, साडे अडतीस लवोंको नाली (घडी) कहते हैं और दो नालीको एक मुहूर्त कहते हैं और एक समय कमती मुहूर्तको भिन्नमुहूर्त कहते हैं। तथा एक आवलिसे ऊपर और मुहूर्तके भीतरवाले समयसमूहको अन्त मुहूर्त कहते हैं।

पाठ अशुद्ध हो तो उसे शुद्ध करनेके लिये और ग्रंथका अभिप्राय समझनेके लिये सरल बुद्धिसे किसी विद्वान्से पूछना वह पृच्छना कहलाती है ।

अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थोंका स्वरूप और उनकी रचना विधि आदि प्रक्रियाको समझ लिया है और जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेमें अग्निका प्रवेश भीतर हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपना चित्त उन्हीं पदार्थोंके समझनेमें उनके मनन चिंतवन करनेमें अपने चित्तको लगा दिया है ऐसे मुनिराज जो मनसे उन पदार्थोंका वारंवार चिंतवन करते हैं वह अनुप्रेक्षा कहलाती है,

घोषविशुद्धपरिवर्तनमाम्नायः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो साधु व्रती हैं समस्त आचार व्यवहारको भली भांति जानते हैं इसलोक परलोकसंबंधी सांसारिक किसी भी फलकी आकांक्षा नहीं करते हैं ऐसे साधु, जल्दीके कारण अथवा अधिक देरीसे उच्चारण करनेके कारण अव्यक्त बोलनेके कारण आदि कारणोंसे जो अक्षर पद पाद कुछ भी छूट जाता है वह घोषण संबंधी दोष कहलाता है उस दोषसे रहित शुद्धरूपमें उस ग्रथंको घोकते हैं उसका पाठ करते हैं और उसे वारंवार कहकर कंठस्थ करलेते हैं इसीका नाम आम्नाय है ।

धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः ॥ ५ ॥

अर्थ—किसी प्रत्यक्ष प्रयोजनका त्याग कर मिथ्यामार्गकी निवृत्तिकेलिये संदेहकी निवृत्तिकेलिये अथवा किसी नये पदार्थका स्वरूप कहनेकेलिये धर्मकथा कहना धर्मोपदेश कहलाता है अर्थात् धर्मचर्चाका उपदेश देना धर्मोपदेश कहलाता है। वह उपदेश श्रोताओंसे किसी प्रयोजनके साधनेकेलिये नहीं दिया जाता है किंतु उनकी मिथ्या वासनाको दूर करनेकेलिये अथवा उनका संदेह हटानेकेलिये अथवा किसी पदार्थका रहस्य समझानेकेलिये ही निरपेक्षवृत्तिसे दिया जाता है, वह उपदेश भी अन्य

अर्थ—इन वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहननोंको छोड कर अन्य कोई भी संहनन चिंतानिरोध लक्षण ध्यानके करनेमें अथात् मनकी चचंलताको रोक कर एक पदार्थमें ही उतने काल तक स्थिर करनेमें समर्थ नहीं है इसलिये उत्तम संहनन पदका ग्रहण किया गया है।

एकाग्रवचनं वैयग्र्यानिवृत्त्यर्थं ॥ १२ ॥

अर्थ—एकाग्रवचन जो सूत्रमें किया गया है वह मनकी व्यग्रता अथवा चंचलताकी निवृत्तिके लिये किया गया है। ज्ञान ही व्यग्र हो सकता है परंतु ध्यान व्यग्र नहीं होता है, जहां व्यग्रता है वहां ध्यानकी सिद्धि नहीं होसकती है।

चिंतानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थं ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथिवीके किसी परिणामविशेषमें घट शब्द रहता है उसीप्रकार ज्ञानस्वरूप जो चिंता है उसके व्यापारविशेषमें ध्यान शब्द रहता है, इसीके दिखानेकेलिये चिंतानिरोध ऐसा वाक्य कहा गया है अर्थात् घट शब्दकी प्रवृत्ति पृथ्वीकी पर्याय विशेषमें ही नियत है, घट पृथिवीकी एक पर्यायविशेष है, उसीप्रकार ध्यान भी आत्माका विशेष ज्ञानात्मक एक व्यापार है, वह आत्माका स्वभावविशेष है।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थं ॥ १४ ॥

अर्थ—जो उत्तम तपका अधिकार चला आता है, उसी ध्यान रूप तप विशेषका स्वरूप कहनेके लिय ध्यान वचन कहागया है अर्थात् जो उत्तमसंहननवाले पुरुषोंके एकाग्रचिंतानिरोध एक अंतर्मुहूर्त-पर्यंत उत्कृष्टतासे कहा गया है वह उस ध्यानका ही स्वरूप है जिसका कि वर्णन तपोंके भेदोंमें अधिकार रूपसे चला आता है। इस बातका बोध करानेकेलिये ध्यान शब्दका कथन सूत्रमें किया गया है।

मुहूर्तवचनादहरादिविनिवृत्तिः ॥ १५ ॥

अर्थ—दिन रात पंद्रह दिन महीना आदि दूसरे कालोंकी निवृत्तिकेलिये मुहूर्त वचन कहा गया

प्रकारका नहीं दिया जाता किंतु केवल धर्मचर्चाका ही दिया जाता है। प्रश्न—यह स्वाध्याय किसलिये किया जाता है ? उत्तर—

प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि हो, निर्मलज्ञानकी प्राप्ति हो, शास्त्रज्ञान स्थिर बना रहे, संशयका नाश हो, परवादियोंकी शंकाओंका निरसन हो, परम वैराग्य हो, तपकी वृद्धि हो और जो दोष अज्ञानता या प्रमादसे व्रतोंमें लगते हैं उनकी विशुद्धि हो अथवा वे आगे नहीं लगने पावें इत्यादि कार्योंकी सिद्धिके लिये स्वाध्यायका विधान है। इनके सिवा कषायोंको जीतना, इंद्रियोंको वशमें रखना, मोक्षमार्गके उपायमें लगे रहना इत्यादि वातें स्वाध्यायसे सिद्ध होती हैं। अव कहते हैं कि पांच प्रकारका स्वाध्याय तो कह दिया गया उसके अनंतर जो व्युत्सर्ग कहा गया है उसका भेद कहना चाहिये इसके लिये सूत्र कहते हैं—

वाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—वाह्य और अभ्यंतर परिग्रहका त्याग कर देना सो व्युत्सर्ग कहलाता है।

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकानिर्देशः ॥ १ ॥

अर्थ—व्युत्सर्जन करना अर्थात् समस्त दोषोंको छोड देना व्युत्सर्ग कहलाता है इसलिये यह व्युत्सर्ग शब्द भावसाधन अर्थमें पूर्वसे चला आता है उसी भावसाधनवाले व्युत्सर्ग शब्दकी अपेक्षासे

१—धर्मचर्चा करना अथवा धर्मका उपदेश देना यह स्वाध्यायके अंतिम भेदका स्वरूप है, इससे सिद्ध होता है कि स्वाध्याय उसीका नाम है जिससे आत्मकल्याण अथवा मोक्षमार्गकी सिद्धि हो और यही स्वाध्यायके फलमें बताया है और संशय आदिके दूर करनेकेलिये तथा आत्मोन्नतिकेलिये पूछना आदिका स्वरूप भी कहा गया है, इससे जो कोई देशसंबंधी उपदेशको तथा देशचर्चा समाज चर्चा आदिकी खवर देनेवाले समाचार पत्रोंके पढ़नेको भी स्वाध्याय समझ लेते हैं वह भूल है। स्वाध्याय धर्मशास्त्रोंके पढ़ने पढ़ाने सुनने सुनानेसे ही होता है और सम्यग्ज्ञानात्मक ही होता है तथा आत्मसिद्धि ही उसका फल है, लौकिक प्रयोजन उसका फल नहीं है।

है अर्थात् यदि मुहूर्त शब्द नहीं कहते तो कितने समय तक उत्कृष्ट ध्यान हो सकता है इसका कुछ निर्णय नहीं हो पाता। कोई दिनभर कोई दिनरात कोई पंद्रह दिन आदि समय तक भी उत्कृष्ट ध्यानका होना समझ लेता परंतु एकाग्र रूप उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि अंतर्मुहूर्तसे ऊपर अत्यंत कठिन है। अंतर्मुहूर्त तक मनकी वृत्ति स्थिर रखना यह कार्य भी उत्तम संहनन वाले योगियोंसे ही साध्य है। शंका—

अभावो निरोध इति चेन्न केनाचित्पर्यायेणेष्टत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि चिंतानिरोध नाम ध्यानका कहा गया है, परंतु निरोध नाम तो अभावका है, अभाव कहाजाय अथवा निरोध कहाजाय दोनों ही पर्यायवाची हैं ऐसी दशामें यदि यही अभाव ध्यान शब्दका अर्थ है तो फिर ध्यान, गधेके सींगके समान अभावरूप सिद्ध होता है? उत्तर-यह शंका ठीक नहीं है. कारण कि किसी पर्यायसे वह अभाव स्वरूप भी इष्ट है अन्य चिंताकी अभाव विवक्षामें ध्यान असत् ही है और विवक्षित अर्थको विषय करनेवाले बोधस्वभावरूप सामर्थ्य की अपेक्षासे वह सत्-भाव स्वरूप भी है अर्थात् अन्य पदार्थोंसे चित्तको हटाकर किसीएक पदार्थमें उपयोग लगाना इसीका नाम ध्यान है इसलिये अन्य पदार्थसे चित्तका हटाना यह अभावात्मक है इस दृष्टिसे तो ध्यान अभाव स्वरूप है, और एक पदार्थमें उपयोग लगाया जाता है इस दृष्टिसे वह भावात्मक है दोनों ही भावाभाव विवक्षाऐं उसमें घटित हो जाती हैं। तथा—

अभावस्य च वस्तुत्वात् हेत्वंगत्वादिति ॥ १७ ॥

अर्थ—और जिसे शंकाकार अभाव कहता है वह भी तो वस्तुका धर्म है, क्योंकि वह हेतुका अंगभूत उनके यहां पडता है अर्थात् नैयायिक आदि मतवाले हेतुके पांच अंग मानते हैं उनके यहां वही ठीक हेतु माना जाता है जो अपने पक्षमें रहता हो. सपक्षमें भी रहता हो, परंतु विपक्षमें वह हेतु नहीं रहता हो, वह सत्प्रतिपक्ष भी नहीं होता हो अर्थात् दूसरे किसी हेतुसे बाधित भी नहीं होता हो। तथा

अधर्म आदिको जो असंख्येय माना गया है यहांपर असंख्येय शब्दसे अजघन्योत्कृष्ट अर्थात् मध्यम असंख्येयका ग्रहण है।

प्रदिश्यंते इति प्रदेशाः ॥ २ ॥

जिसका अन्य विभाग न हो सके ऐसे पुद्गलके टुकडेका नाम परमाणु है। परमाणुका लक्षण आगे 'नाणोः' इस सूत्रमें कहा जायगा, यह अविभागी पुद्गलका परमाणु जितने आकाशके क्षेत्रको रोके उसे प्रदेश कहते हैं इसप्रकार परमाणुओंके रहनेके स्थानोंसे जिनका कथन किया जाय वे प्रदेश कहे जाते हैं। 'प्रदिश्यंत इति प्रदेशाः' यह प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति है। धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और एक जीव द्रव्य समानरूपसे असंख्येय असंख्येय प्रदेशोंके धारक हैं अर्थात् धर्म द्रव्यके भी असंख्याते प्रदेश हैं, अधर्म द्रव्यके भी असंख्याते प्रदेश हैं एवं एक जीव द्रव्यके भी असंख्याते प्रदेश हैं। इन तीनों द्रव्योंमें धर्म और अधर्म द्रव्य क्रियारहित हैं और असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशको व्याप्तकर स्थित हैं अर्थात् ऐसा एक भी लोकाकाशका प्रदेश नहीं जहांपर धर्म और अधर्म द्रव्यकी सत्ता न पाई जाय परंतु जीव पदार्थ यद्यपि लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेशोंका धारक है परंतु उसका स्वभाव संहरण और विसर्पण स्वरूप है अर्थात् कारण पाकर वह संकुचित भी हो जाता है और फैल भी जाता है इसलिए नामकर्मके द्वारा वह जैसा छोटा बडा शरीर धारण करता है उतने ही क्षेत्रमें अवगाहन कर रहता है और जिससमय वह लोकपूर्ण अवस्था धारण करता अर्थात् समुद्घात अवस्थामें अपने प्रदेशोंसे समस्त लोकको व्याप्त कर लेता है उससमय मेरुपर्वतके नीचे चित्र और वज्र दोनों पटलोंके मध्यभागमें

१—संख्येय असंख्येय आदिका विशेष वर्णन गोम्मटसारसे समझ लेना चाहिये।

तो जीवके मध्यके आठ प्रदेश विद्यमान रहते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे और तिर्यक् समस्त लोकमें फैल जाते हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचारतः, इति चेन्न मुख्यक्षेत्रविभागात् ॥ ४ ॥

प्रदेशका अर्थ टुकडा है जो अखंड द्रव्य है अर्थात् किसी भी समयमें जिसके खंड नहीं हो सकते उसमें प्रदेशोंकी कल्पना मुख्यरूपसे नहीं हो सकती किंतु व्यवहारसे होगी तथा जिसप्रकार मृगतृष्णा जलका कार्य संपादन न करनेके कारण मिथ्या मानी जाती अर्थात् चमकती हुई रेतीके स्थल (मृगतृष्णा)को मृगगण पानीका प्रवाह जानकर उसकी ओर दौड लगाते हैं और पानी नहीं पाते तो हताश होकर लौट आते हैं इसलिए मृगतृष्णा मिथ्या पदार्थ है उसीप्रकार वह व्यवहार भी मिथ्या पदार्थ है क्योंकि उससे वास्तविक प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती इसीलिए तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूपकी परीक्षामें उसका अधिकार नहीं इसलिए धर्म अधर्म आदि अखंड द्रव्योंमें व्यवहारसे प्रदेशोंकी कल्पना कार्यकारी नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। अखंड द्रव्योंमें प्रदेशोंका विभाग मुख्यरूपसे ही है क्योंकि जिसको घटने अवगाहन कर रक्खा है वह आकाशका प्रदेश अन्य है और अन्य पदार्थने अवगाहन कर रक्खा है वह अन्य है ऐसी प्रतीति है। यदि मुख्यरूपसे क्षेत्रका विभाग न माना जायगा तो आकाशका व्यापकपना ही न सिद्ध हो सकेगा अर्थात् प्रदेशोंको भिन्न भिन्न न मानकर यह घटाकाश है यह पटाकाश है यह मठाकाश है इसप्रकार आकाश ही भिन्न भिन्न माना जायगा तो आकाशका व्यापकपना अर्थात् सब जगह रहना न बन सकेगा। इस रीतिसे आकाश आदि द्रव्योंमें मुख्यरूपसे ही प्रदेशोंकी कल्पना है व्यवहारसे नहीं। यदि यहांपर फिर कहा जाय कि—

प्रत्यक्षादि रूपसे भी बाधित नहीं होता हो। यहांपर इन पांच भेदोंमें हेतुका विपक्षमें नहीं रहना, उसको किसी हेतुसे अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधा नहीं आना यह भी तो स्वरूप है और यह उसका स्वरूप अभाव स्वरूप है, इसलिये उनके यहां जब अभाव धर्म भी भावरूप हेतुका धर्म पडता है तब यदि ध्यानका स्वरूप किसी दृष्टिसे अभाव रूप भी मानलिया जाय तो भी तो वह वस्तुका धर्मही पडेगा अर्थात् आत्माका वह सदैव धर्म ही पडेगा इसलिये उपर्युक्त शंका व्यर्थ है। पुनः शंका—

एकार्थवचनं विस्पष्टत्वादिति चेन्नाऽनिष्टप्रसंगात् ॥ १८ ॥

अर्थ—पुनः यह शंका होती है कि सूत्रमें एकाग्रचिंतानिरोध, ऐसा पाठ है परंतु यह स्पष्टरूपसे अभिप्रायका बोध नहीं कराता है इसलिये उसके स्थानमें एकार्थचिंतानिरोध ऐसा स्पष्ट पाठ होना आवश्यक है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि ऐसा करनेसे अनिष्टप्रसंग होगा। वह इस प्रकार है कि आगे 'वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः' ऐसा सूत्र कहेंगे, उससे अर्थका संक्रमण सिद्ध होता है, द्रव्यको छोड कर ध्यानपर्यायको विषय करता है और पर्याय छोड कर द्रव्यको विषय करता है यदि यहां पर "एकार्थे निरोधः" अर्थात् एक अर्थमें निरोध होना ऐसा अर्थ ग्रहण करलिया जाय तो उस सवीचार ध्यानका विरोध होगा अर्थात् उस सवीचार ध्यानमें तो अर्थका संक्रमण (वदलना) बताया गया है और यहां यदि एकार्थनिरोध कहते हैं तो उसका अर्थ यह होगा कि एक पदार्थमें ही रहना वदल कर दूसरेमें नहीं जाना यह अर्थ उस सवीचार ध्यानका वाधक ठहरेगा इसलिये वह विरोध नहीं आवे इसकेलिये एकार्थ नहीं कह कर एकाग्र कहना ही युक्तियुक्त है। पुनः शंका—

एकाग्रवचने तुल्यमिति चेन्नाभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—यहां पुनः यह शंका होती है कि यदि एकाग्रचिंतानिरोध इसमें एकाग्र पदका ही पाठ रक्खेंगे तो भी अनिष्ट प्रसंग होगा क्योंकि वहां भी तो अग्र शब्दका अभिप्राय अर्थ है इसलिये एकाग्र

इष्ट वस्तुका यदि वियोग हो जाय तो उसकी चाहनाके लिये वारवार चिंता करना और यही निदानका प्रयोजन है इसलिये इस ऊपरके सूत्रसे ही निदानका ग्रहण भी हो जायगा फिर अलग 'निदानं च' यह सूत्र क्यों बनाया गया है? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि "विपरीतं मनोज्ञस्य" इस सूत्र द्वारा तो यह वात सिद्ध होती है कि जो पदार्थ पहले पासमें था उसका वियोग होने पर फिर उसकी चाहना की चिंता करना परंतु निदानका विषय नवीन होता है। जो विषय पहले अपने भोगनेमें नहीं आया है अर्थात् जिसकी प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है उसका संकल्प निदानमें किया जाता है। जो व्यक्ति सुखकी आकांक्षासे ठहरा हुआ है जिस पदार्थको वह पहले नहीं पा सका है उसकी पानेकी प्रार्थना करता है अर्थात् अपने शुभकर्मके फलमें यह चाहना करता है कि मुझे स्वर्ग मिल जाय आदि रूपसे भविष्यके पदार्थकी प्राप्तिमें कारण निदान है इसलिये निदानका ग्रहण "विपरीतं मनोज्ञस्य" इस सूत्रमें नहीं हो सकता है। उसमें पूर्वानुभूतिकी आकांक्षा है इस निदानमें नवीनकी भविष्यमें आकांक्षा है इसलिये दोनोंमें बहुत बडा भेद है। इसप्रकार यह चार प्रकारका आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन अशुभ लेश्याओंके विशेषबलसे होता है। इस आर्तध्यानके होनेमें जीवका अज्ञानभाव और मोहित बुद्धि ही कारण है। यह ध्यान आत्माके विशेष रागरूप परिणामोंसे उत्पन्न होता है। पाप प्रयोगका आधारभूत है अर्थात् इस आर्तध्यानसे पापका ही संचय होता है, भोग उपभोगोंकी आकांक्षा, और भी नानाप्रकारके संकल्पोंके प्रसंगसे यह ध्यान होता है, धर्मका आश्रय छोड देनेसे और कषायोंका आश्रय ग्रहण करनेसे यह ध्यान होता है, अर्थात् धर्मरूप भावोंका त्याग कर देनेसे और कषायभावोंको अंगीकार कर लेनेसे यह ध्यान होता है तथा कर्मोंके उदयको अथवा आत्मामें अशांतिको यह बढाता है और प्रमादवश अशुभ कर्मोंका आस्रव करता है। विपाकमें खराब है, अर्थात् इस आर्तध्यानका फल अच्छा नहीं है, असाताके उदयमें होता है अथवा इस आर्तध्यानसे परि-

कहनेसे भी वही अनिष्ट प्रसंग ज्योंका त्यों लगा रहता है। उत्तर—एकाग्र शब्द कहनेसे फिर कुछ दोष नहीं आता है क्योंकि अभिमुखताके रहने पर जहां वारवार भी एक पदार्थमें वृत्ति है तो उसका भी बोध होगा ही। अग्र नाम मुखका है इसलिये मुख कहनेसे अनेक रूपका ग्रहण होता है उनमें एक मुख संक्रमण भी है वह भी इष्ट है, इसलिये कुछ भी अनिष्टता नहीं है अर्थात् मुख्यतासे एक पदार्थमें वृत्ति रहना यही एकाग्रका अर्थ है, यह अर्थ जहां संक्रमण नहीं है वहां तो जाता ही है परंतु जहां द्रव्यसे पर्याय और पर्यायसे द्रव्यका संक्रमण रूप अर्थ ग्रहण किया जाता है वहां भी जाता है क्योंकि वहां पर भी अन्य समस्त विकल्पोंको छोड कर द्रव्य पर्यायरूप संक्रमणात्मक ध्यानकी मुख्यता है। यह भी उस ध्यानका एक ही रूप है। एक रूपकी मुख्यता संक्रमणमें भी होनेसे सवीचार ध्यानका विरोध नहीं आता है। अथवा—

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणं ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा यहां एकाग्र पदमें एक शब्दका अर्थ प्राधान्य है उसका अर्थ यह होता है कि ध्यान करनेवाला जो प्रधान पुरुष है उसकी मुख्यतासे ही चिंताका निरोध किया जाता है इसलिये इस ध्याता की मुख्यतासे कहीं पर केवल द्रव्यमें और कहीं पर द्रव्य पर्याय दोनों ध्येयोंमें चिंताका निरोध होता है इस दृष्टिसे भी उस संक्रमण अर्थका ग्रहण होजाता है। अथवा—

अंगतीत्यग्रमात्मेति वा ॥ २१ ॥

अर्थ—अंगतीति अग्र आत्मा अर्थात् जाने सो अग्र इस व्युत्पत्तिसे अग्रनाम आत्माका है उस द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता रखनेवाले आत्मामें (अग्रमें) चिंताका निरोध करना सो ध्यान है। इससे ध्यानकी प्रवृत्ति आत्मामें ही सिद्ध होती है। वाह्य ध्येयकी प्रधानताकी अपेक्षा इस अर्थमें हटादी जाती है। एकाग्र का यहां यह अर्थ होता है कि एक नाम केवल अग्रमें अर्थात् आत्मामें चिंतानिरोध अन्य पदार्थोंकी वृत्तिसे हटा कर मनकी दृढता रखना इस अर्थसे भी एकाग्र पद कहनेसे कोई विरोध नहीं आता है इसप्रकार

णामोंमें असाता होती है। तिर्यंचजातिमें जीवको लेजाना यही इसका फल है अर्थात् इस आर्तध्यानसे जीव नाना दुःख संकटाकीर्ण तिर्यग्गतिको जाता है। अब इस आर्तध्यानके स्वामीको बताते हैं, कौन इसका स्वामी होता है? इसीको सूत्र द्वारा प्रगट करते हैं—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—वह आर्तध्यान पहले दूसरे तीसरे और चौथे इन चार अविरत पर्यंत गुणस्थानोंमें और देशविरत नामक पाचवें गुणस्थानमें तथा प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानमें हो सकता है अर्थात् आदिसे लेकर छठे गुणस्थान तक यह आर्तध्यान हो सकता है उससे ऊपर अप्रमत्त भाव हैं उनमें यह नहीं हो सकता है। असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यंत (मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर) अविरत कहे जाते हैं। संयता-संयत देशविरत कहे जाते हैं, और जो पंद्रह प्रकारके प्रमादोंसे सहित हैं तथा बुद्धिपूर्वक क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् आहार आदिका ग्रहण करना पीछी कमंडलु, शास्त्र आदि वस्तुओंका पकडना लेना आदि क्रियाओंको करते हैं वे प्रमत्तसंयत कहे जाते हैं।

कदाचित् प्राच्यमार्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां ॥ १ ॥

अर्थ—निदानको छोडकर बाकीके तीन आर्तध्यान प्रमादके उदयकी तीव्रतासे कभी कभी प्रमत्त-संयमी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके भी हो सकते हैं परंतु निदान नामा आर्तध्यान छठे गुणस्थानसे नीचे २ ही हो सकता है। कहते हैं कि पहला अशुभध्यान जो आर्तध्यान है उसका लक्षण स्वरूप स्वामी भेद आदि तो कह दिये गये परंतु दूसरा जो रौद्रध्यान है उसका क्या स्वरूप है, किस प्रकार वह उत्पन्न होता है और कौन उसका स्वामी है? इसीके उत्तरमें नीचेका सूत्र कहते हैं—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ—हिंसा झूठ चोरी और इंद्रियसंबधी विषयोंकी तृष्णा इन बातोंसे रौद्रध्यान होता है और वह अविरत गुणस्थानोंमें तथा देशविरत गुणस्थानमें होता है

एकाग्र पदके अनेक अर्थ हैं उन अनेक अर्थोंके करने पर भी कोई विरोध नहीं आता है। फिर शंका—

दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेन्नेंद्रियोपघातप्रसंगात् ॥ २२ ॥

अर्थ—यहां दूसरी शंका यह होती है कि जो ध्यानमें लगा हुआ है उस उपयोगसे दिवस मास वर्ष आदि अनेक समय ठहरना चाहिये केवल अंतर्मुहूर्त ठहरना ठीक नहीं है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि ऐसा करनेसे इंद्रियोंके घातका प्रसंग आवेगा अर्थात् अधिकसे अधिक सामर्थ्यशाली पुरुषको मनकी चंचलता एकवारमें अंतर्मुहूर्त तक रोक सकता है यदि दिवसभर या महीने भर वह ध्यानमें बैठा रहे तो उसकी इंद्रियोंका घात हो जायगा क्योंकि उतने समयतक लगे रहनेसे इंद्रियां नष्ट हो जांयगी। उतना लंबा समय उनकी सामर्थ्यसे बाहर है। फिर शंका—

प्राणापानविनिग्रहो ध्यानमिति चेन्न शरीरपातप्रसंगात् ॥ २३ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि प्राणापानकर्मका अर्थात् श्वासोच्छ्वास क्रियाका रोक देना ध्यान है? उत्तर ऐसा नहीं है, क्योंकि शरीरके नाशका प्रसंग आवेगा। यदि श्वासोच्छ्वासकी रुकावट करदी जायगी तो उसके रुक जाने पर जो कुछ तीव्र वेदना होगी, उस वेदनासे अति शीघ्र ही शरीरसे प्राण निकल जांयगे इसलिये श्वासोच्छ्वासका सर्वथा रोक देना ध्यान नहीं है किंतु धीरे धीरे श्वशोच्छ्वास चलता रहता है उसी अवस्थामें ध्यान होता है। पुनः शंका—

मात्राकालपरिगणन मिति चेन्न ध्यानातिक्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ—यहां यह शंका है कि माला (सूत मूगा मोती आदिकी जप करनेकी माला—जाप) के द्वारा कालकी गणना करना ही ध्यान है क्या? अर्थात् दो चार या दस वीस मालाओंका फेरलेना ही ध्यान है क्या? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि ध्यानका अतिप्रसंग हो जायगा। यदि मालाओंके द्वारा कालकी गणना की जायगी तो ध्यानकी सिद्धि ही नहीं होगी क्योंकि मालाओंके फेरनेमें

ध्यानोत्पत्तेर्हिंसादीनां निमित्ताभावात् हेतुनिर्देशः ॥ १ ॥

अर्थ—हिंसा झूठ आदिका लक्षण पहले सातवें अध्यायमें कहा जा चुका है, वे हिंसा झूठ आदि रौद्रध्यानकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हैं, इसलिये सूत्रमें उन हिंसादिकोंको हेतुरूपसे कहा गया है। अर्थात् रौद्रध्यानकी उत्पत्तिमें हिंसादिक पाप निमित्तकारण हैं।

तेन स्मृतिसमन्वाहाराभिसंबंधः ॥ २ ॥

अर्थ—उस हेतु निर्देशके साथ पहलेसे चले आये हुए स्मृतिसमन्वाहारका संबंध हो जाता है। जैसे—हिंसाका स्मृतिसमन्वाहार, झूठका स्मृतिसमन्वाहार, चोरीका स्मृतिसमन्वाहार और विषयरक्षणका स्मृतिसमन्वाहार, इसका अभिप्राय यही है कि हिंसा झूठ आदि पापोंके विषयमें रातदिन परिणामोंको संक्लेशित रखना, सदैव उन्हींका विचार चिंतवन और तन्मयता रखना इसीका नाम हिंसा आदिका स्मृतिसमन्वाहार है। प्रश्न—यह रौद्रध्यान अविरतके तो हो सकता है परंतु जिसने एकदेश रूपसे हिंसादि पापोंका त्याग कर दिया है अथवा जिसके अप्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय नहीं है उस देशविरतके यह रौद्रध्यान किसप्रकार हो सकता है? उत्तर—

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतंत्रत्वाच्च ॥ ३ ॥

अर्थ—देशविरत जो पांचवे गुणस्थानवर्ती जीव हैं उसके भी रौद्रध्यान होता है, क्योंकि उसके भी कभी कभी हिंसादिका तीव्रोदय हो जानेसे तथा धन आदिकी रक्षामें मोहितवृत्ति बन जानेसे हो सकता है परंतु सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे वह नरकादिका कारण नहीं होता। प्रश्न—यह रौद्रध्यान संयमी पुरुषके क्यों नहीं होता है? उत्तर—

तदयुक्त संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः ॥ ४ ॥

अर्थ—संयमी पुरुषके अर्थात् छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराजके रौद्रध्यान नहीं हो सकता है, क्योंकि

और उनके दानोंका ध्यान रखनेमें चित्तकी एकाग्रता नहीं रहेगी किंतु व्यग्रता खडी हो जायगी इस लिये ध्यानमें मालाओंके द्वारा भगवत्स्मरण अथवा णमोकार मंत्र आदि कहे जाते हैं उसे जप कहते हैं वह ध्यान नहीं है, ध्यानमें तो अंतर्जल्प भी नहीं हैं जपमें अंतरंगमें बोलना होता है, वहां तो मनकी आत्मामें या ध्येयमें तल्लीनता है। फिर शंका–

विध्युपायनिर्देशः कर्तव्य इति चेन्न गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात् ॥ २५ ॥

अर्थ—फिर यह शंका होती है कि एकाग्रचिंतानिरोधको ध्यान कहा गया है किंतु उस ध्यानकी प्राप्तिके लिये किसी विधि रूप उपायका कथन और भी करना चाहिये जैसे अमुक विधिसे अथवा अमुक उपायसे ध्यानकी सिद्धि होती है इस रूपसे कोई विधिरूप उपाय अवश्य बताना चाहिये ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि गुप्तिआदिका प्रकरण उसी ध्यानकी सिद्धिके लिये कहा जाचुका है। ध्यानके विधान और उसकी भावनाके लिये ही गुप्ति आदिका कथन पहले किया जाचुका है। पुनः शंका

संवरार्थं तदिति चेन्न प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् ॥ २६ ॥

अर्थ—यहां फिर यह शंका होती है कि गुप्ति आदिका प्रकरण तो संवरकी सिद्धिके लिये कहा गया है वह ध्यानका उपाय समझनेके लिये तो नहीं कहागया है और न अन्य किसी बातकी सिद्धिके लिये ही उस गुप्ति समिति आदिके प्रकरणका उल्लेख किया गया है जिससे कि वह अन्यार्थक हो ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि उस गुप्ति आदिके पहले उपदेशका कथन दोनों बातोंकी सिद्धिके लिये है। जहां संवरके लिये प्रकृति हैं वहां संवररूप अर्थकी सिद्धि होती है और जहां वे गुप्ति आदिक अन्य अर्थ–निर्जरा आदिके लिये प्रकृत हैं वहां उन अर्थोंकी प्रतिपत्ति या सिद्धि होती है जिसप्रकार धान्य उत्पन्न करनेकेलिये छोटी छोटी नहरें निकाली जाती है परंतु उनसे नाना पशु पक्षी मनुष्य पानी भी पीते हैं, इसी प्रकार उन नहरोंमें स्नान आदि कार्य भी किये जाते हैं और धान्य भी उनसे वृद्धिंगत होकर तयार किये जाते हैं इसप्रकार एकसे दो कार्य भी होते हैं। पुनः शंका–

उस रौद्रध्यानके आवेशमें संयमका ही नाश हो जाता है अर्थात् जिससमय उन संयमी पुरुषोंके रौद्रध्यान होगा उस समय उनके संयमभाव ही नहीं रहेगा, वह छठा गुणस्थान ही उस समय नष्ट हो जायगा इसलिये रौद्रध्यान छठे गुणस्थानसे पहले पहले ही हो सकता है। इसप्रकार यह चारोंप्रकारका ही रौद्रध्यान अत्यंत कृष्णलेश्या नीललेश्या और कापोती लेश्या इन अशुभ लेश्याओंकी तीव्रतामें होता है और आत्माके प्रमाद भावही इस रौद्रध्यान की उत्पत्तिमें कारण हैं। नरकगतिमें जाना इस रौद्र ध्यानका फल है। * इस प्रकार इन अशुभ ध्यानोंमें परिणत हुआ आत्मा उस प्रकार कर्मोंको तीव्रताके साथ गृहण करता है जिस प्रकार कि अग्निसे तपाया हुआ लोहेका गोला जलको तीव्रतासे गृहण करता है।

अब कहते हैं कि "परे मोक्षहेतू" इस सूत्र द्वारा दो ध्यानोंको मोक्षका कारण वताया गया है परंतु उनके नाम स्वरूप भेद आदि कुछ नहीं बताये गये हैं उनमें पहला जो धर्म्य ध्यान है उसके कितने भेद हैं और क्या उनका स्वरूप है, कौन कौन पदार्थ उसके चिंतवनमें आता है तथा कौन उसका स्वामी है? उसके लिये नीचेका सूत्र कहते हैं। वह धर्म्यध्यान सम्यग्ज्ञानका बीजभूत है, कर्मोंका उपशम करनेवाला है आत्माके प्रमादरहित भावोंसे वह सिद्ध किया जाता है, मोह काटनेके लिये वह छैनीके समान है, धर्मके अनुकूल गमन करनेवाला भाव है, स्वर्ग मोक्षसुखोंकी प्राप्ति होना ही उसका फल है। सूत्र—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यं ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन भेदोंसे धर्म्यध्यान चार प्रकार है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रमत्ताप्रमत्तसंयतस्य विचितिर्विवेको विचारणं विचयः ॥ १ ॥

अर्थ—विचिति, विवेक, विचारणा, और विचय ये चारों ही शब्द पर्यायवाची हैं अर्थात् चारोंका

* चारित्रसारमें इस रौद्रध्यानका विशद विवेचन किया गया है।

सकलध्यानधर्मासंगूह इति चेन्न ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात् ॥ २७ ॥

अर्थ—यह भी शंका होती है कि जितना भी ध्यान धर्म है वह सव इस सूत्रमें संगूह नहीं किया गया है इसलिये यह ध्यानका लक्षण पूर्ण नहीं कहा जासकता है ? अर्थात् ध्यानके अनेक प्रकार हैं वे सब इस उत्तमसंहननस्य इत्यादि द्वारा नहीं कहे जासकते हैं इसलिये उस सूत्रमें जो ध्यानका लक्षण कहा गया है वह अधूरा है ? उत्तर-यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि समस्त प्रकारके ध्यानोंके धर्मोंका निरूपण ध्यान प्राभृतमें अर्थात् ध्यानके वर्णन करनेवाले शास्त्रमें विशदरूपसे कहा गया है वहां समस्त ध्यानका लक्षण प्रधानतासे कहा गया है. इस गूंथमें तो प्रकरणवस थोडासा कहा गया है। अब उस सामान्यरूपसे कहे गये ध्यानके भेदोंकी प्रतीतिकेलिये नीचे सूत्र कहते हैं-

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ – आर्त ध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान ये चार ध्यानके भेद हैं। इन चारों प्रकारके ध्यानोंका स्वरूप गूंथकार स्वयं कहते हैं-

ऋतमर्दनमार्तिर्वा तत्र भवं आर्तं ॥ १ ॥

अर्थ-ऋत नाम दुःखका है, अथवा पीडाका नाम आर्ति है उस दुःखमें अथवा पीडामें जो हो सो आर्त कहलाता है अर्थात् जो दुःखात्मक हो अथवा दुःखके कारणोंसे उत्पन्न हो और दुःख ही जिसका फल हो वह आर्तध्यान कहलाता है।

रुद्रः क्रूरस्तत्कर्म रौद्रं ॥ २ ॥

अर्थ--जो रुदन करावे सो रुद्र कहलाता है अर्थात् जो महाक्रूर हो, उस रुद्रकी क्रियाको अथवा उन रुद्र भावोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मको रौद्रध्यान कहते हैं अर्थात् जो क्रूर परिणामोंसे जो क्रिया की जाती है अथवा क्रूरभाव रक्खे जाते हैं वह रौद्रध्यान कहलाता है।

एक ही अर्थ है। प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमीका जो विचार अथवा विवेक सो विचय कहलाता है अर्थात् यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। चौथे पांचवें गुणस्थानोंमें भी वह एकदेशरूपसे किया जाता है परंतु मुख्यतासे छठे और सातवें गुणस्थानोंमें ही होता है इसीलिये इसके स्वामी मुख्यतासे छठे सातवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्त संयमी मुनि वताये गये हैं।

तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः ॥ २ ॥

अर्थ—उस विचयभावकी अपेक्षा लेकर आज्ञादिकोंको कर्मनिर्देश किया गया है अर्थात् जो विचार किया जाय वह आज्ञा अपाय आदि विषयोंको लेकर ही किया जाय इसीलिये आज्ञादिक उस विचय–विचारके कर्म रूप पडते हैं। यहां पर आज्ञादिकोंका द्वंद्व समास है आज्ञा च अपायश्च विपाकश्च, संस्थानं च इति आज्ञापायविपाकसंस्थानानि, तेषां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः यह तत्पुरुष समास है। तदर्थं आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय अर्थात् आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये चारों मिलकर आज्ञापायविपाकसंस्थान कहलाये और उनका जो विचय कहिये विचार करना सो आज्ञापाय-विपाकसंस्थानविचय कहलाया तथा उन आज्ञादिकोंके विचारके लिये धर्म्यध्यान किया जाता है अर्थात् धर्म्यध्यानमें आज्ञाअपाय आदिकोंका विचार किया जाता है।

अधिकारात्स्मृतिसमन्वाहारसंबंधः ॥ ३ ॥

अर्थ—स्मृतिसमन्वाहारका संबंध पहलेसे चला आता है। उसका प्रत्येकके साथ संबंध लगाया जाता है जैसे–आज्ञाविचयकेलिये स्मृतिसमन्वाहार, अपायविचयकेलिये स्मृतिसमन्वाहार आदि अर्थात् आज्ञाके विषयमें, अपायके विषयमें, विपाकके विषयमें और संस्थानके विषयमें वारवार चिंतवन करना उनका पुनः पुनः स्मरण करना यह स्मृतिसमन्वाहारका अभिप्राय है। अब आज्ञाविचयका स्वरूप कहते हैं—

तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः ॥ ४ ॥

धर्मादनपेतं धर्म्यं ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्मका वर्णन किया जाचुका है, उस धर्मसे जो सहित हो ऐसा ध्यान धर्मध्यान कहलाता है अर्थात् दश प्रकारका जो धर्म कहा गया है उस धर्मभावको अथवा धर्मक्रियाको लेकर जो ध्यान हो वह धर्म्यध्यान कहलाता है।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मलद्रव्यके दूर हो जानेसे और शुक्ल (सफेद) गुणके योगसे वस्त्र शुक्ल कहलाता है उसीप्रकार शुक्ल गुणके साधर्म्यसे अर्थात् निष्कषाय निर्मल परिणामोंके साधर्म्यसे आत्माका भाव भी शुक्ल अथवा निर्मल परम पवित्र कहलाता है इसलिये उस परम पवित्र आत्माके भावको ही शुक्लध्यान कहते हैं। यह चारों प्रकारका ध्यान दो विभागोंमें बांटा जाता है, एक प्रशस्त ध्यान और एक अप्रशस्त ध्यान अर्थात् एक शुभध्यान एक अशुभध्यान। पाप आश्रवका कारण होनेसे अशुभ ध्यान कहलाता है ऐसे अशुभध्यान आर्त रौद्रध्यान हैं तथा पुण्यास्रव और कर्मोंको नाश करनेकी सामर्थ्य होनेसे प्रशस्त ध्यान कहलाता है, ऐसे शुभध्यान धर्म्य और शुक्ल ध्यान हैं। अब उन्हीं ध्यानोंका फल बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—पर शब्द यहां द्विवचन है इसलिये उसका यह अर्थ होता है कि पीछेके दो ध्यान अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं। इससे यह भी वात सिद्ध होजाती है कि आदिके दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं। शंका—

एकस्यैव परत्वमिति चेन्न व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि पर तो एक ही कहला सक्ता है, दो तो पर नहीं कहला सकते

अर्थ—ऐसा विचार करना कि इस समय सम्यग्ज्ञानी उपदेष्टाओंका तो अभाव है और कर्मोदयसे बुद्धि बहुत मंद है इसलिये पदार्थोंके समझनेमें वह समर्थ नहीं है। फिर पदार्थ बहुत सूक्ष्म हैं उनका ज्ञान अतिशय बुद्धिवालोंको होना भी कठिन है और हेतु अथवा दृष्टांत ऐसे मिलते नहीं हैं जिनसे उन सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाय ऐसी अवस्थामें श्रीसर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवानका कहा हुआ मार्ग ही प्रमाण समझना चाहिये कि पदार्थका स्वरूप जो जिनेंद्र देवने कहा है वह इसीप्रकार है क्योंकि श्रीजिनेंद्र देव वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे पदार्थका स्वरूप विपरीत रूपसे नहीं कहते हैं इस सद्बुद्धिसे गहन सूक्ष्म पदार्थोंका श्रद्धान रख कर पदार्थका निश्चय करना वह आज्ञाविचय धर्म्यध्यान कहलाता है। इस आज्ञाविचय धर्म्यध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञानुसार ही पदार्थका श्रद्धान करनेका दृढ विचार किया जाता है। अथवा—

आज्ञाप्रकाशनार्थौ वा ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे विशुद्ध परिणामवाला है जिनसे स्वकीय और परकीय सिद्धांत-शास्त्रोंके रहस्यको अच्छी तरह समझ लिया है तथा अस्तिकायादिक अतिसूक्ष्म अमूर्तिक आदि पदार्थ सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए हैं ऐसा स्वयं निश्चय कर वे पदार्थ उसी प्रकार हैं जैसा कि सर्वज्ञ देवने कहा है ऐसा दूसरे लोगोंको जो समझाता है और सिद्धांतकथनके विषयमें श्रुतज्ञानकी सामर्थ्यसे अपने सिद्धांतसे कहीं पर विरोध नहीं आवे उसका पूरा ध्यान रखकर हेतु नय और प्रमाणोंके कथन उपकथन अथवा तर्क वितर्कपूर्वक इस प्रकार विवेचन करता है जो सुननेवाले उसके ग्रहण करनेमें सहनशील अथवा समर्थ हो जांय अर्थात् दूसरे लोगोंको अपने समीचीन ज्ञान द्वारा इस प्रकार समझाता है कि कहीं पर जैनागमका विरोध नहीं आता है और अनेक दृष्टांत हेतुवाद नयवाद और प्रमाणवादसे उन सुननेवालोंको उस कथनमें कोई आपत्ति नहीं होती है और वे झट उसे ग्रहण करनेकेलिये तयार हो

पहला आर्तध्यान है उसके पर रौद्रध्यान है इसलिये परसे उसका ही गृहण होता ? अथवा पर एकके साथ पीछे वालेको ही कहा जासकता है, दोके पीछे वालोंको पर शब्दसे कैसे कहा जासकता है अथवा सबसे आखीरमें जो होगा वही पर कहलावेगा, इस हिसाबसे इन चारों ध्यानोंमें अंतका जो शुक्लध्यान है वही मोक्षका हेतु होसकता है, धर्म्यध्यान मोक्षका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पर शब्दसे अंतिमका ही गृहण होगा। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि जहां व्यवधान होता है वहांपर भी पर शब्दका प्रयोग होता है। जिस प्रकार पटनासे मथुरा पर है, ऐसा प्रयोग होता है परंतु पटनासे लगी हुई उसके पीछे मथुरा नगरी नहीं है बीचमें और भी अनेक इलाहावाद कानपुर आगरा आदि नगर पडे हैं फिर भी मथुरा पटनासे पर कहलाती है इसलिये पर शब्दका प्रयोग वहां पर भी आता है जहां कि बीचमें बहुत बडा अंतर पडा रहता है। इस दृष्टिसे आर्तध्यानसे आगे बीचमें रौद्रध्यानका व्यवधान होनेपर भी पर शब्दसे धर्म्य शुक्लका गृहण करलिया जाता है। अथवा—

द्विवचननिर्देशाद्वा गौणस्यापि संप्रत्ययः ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा पर नाम अंतका है, अंतमें शुक्ल ध्यान है उसके समीपवर्ती भी उपचारसे पर कहलाता है सूत्रमें 'परे' ऐसा द्विवचनका कथन है उस द्विवचनकी सामर्थ्यसे परके समीप रहनेवाले धर्म्यध्यानका भी गृहण परमें करलिया जाता है।

परयोर्मोक्षहेतुत्वात् पूर्वयोः संसारहेतुत्वप्रसिद्धिः ॥ ३ ॥

अर्थ—पीछेके दो ध्यान मोक्षके कारण हैं इस वचनके कहनेसे बाकीके बचे हुये ध्यान संसारके कारण हैं यह बात भी सिद्ध हो जाती है और कोई तीसरा पदार्थ साध्य ही नहीं है अर्थात् या तो संसारके कारण हो सकते हैं या मोक्षके कारण हो सकते हैं तीसरे प्रकारकी कोई कारणता बताई गई नहीं है, इसलिये जब पीछेके दो ध्यानोंको मोक्ष कारण कहा गया है तो यह बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है

जाते हैं इस प्रकार जो उस पुरुषका तर्क नय प्रमाणकी योजनामें तत्पर वारवार पदार्थके समर्थन करने का विचार है वह सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका प्रकाश करनेवाला है इसलिये वह आज्ञाविचय धर्म्यध्यान कहलाता है। अब अपायविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—

सन्मार्गापायचिंतनं अपायविचयः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस अपायविचय धर्मध्यानमें इस प्रकार चिंतवन किया जाता है कि जिन जीवोंके मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे ज्ञानरूपी नेत्र ढक गये हैं उनके जितने भी आचार विचार विनयादिक कार्य हैं और जो जो प्रमाद क्रियायें हैं वे सब संसारकी वृद्धिके लिये होती हैं क्योंकि उनमें अविद्या की बहुलता है अर्थात् अज्ञानके कारण वे सव क्रियायें संसारके बढानेवाली ही होती हैं। जिसप्रकार—

अंधवत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जन्मसे अंधे आदमी यदि वलवान भी हों तो भी वे समीचीन मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् अच्छे मार्गको छोडकर दुःखदायक कुमार्गमें चले जाते हैं, यदि उस अवस्थामें उन जन्मसे अंधोंको कोई अच्छा मार्ग बतानेवाला सूझता पुरुष नहीं मिले तो वे नीचे ऊंचे प्रदेशोंमें पहाडोंकी ऊंची नीची टेकरियोंमें कठोर ठूठोंमें अथवा मिट्टी पत्थर आदिके ऊंचे ढेरोंमें जमीनमें पडे हुये कांटोंसे भरी हुई वनीमें अथवा अन्य कष्टोंसे भरे हुये दुःखमय मार्गोंमें गिर पडते हैं और इधर उधर घूम फिर कर भी ठीक ठीक मार्गके पानेमें समर्थ नहीं होते हैं उसीप्रकार समीचीन उपदेष्टाके अभावसे मोक्षके चाहनेवाले भी मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख रहते हैं उस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तथा समीचीन उपदेश देनेवाले सद्गुरुके नहीं मिलनेसे वे उस समीचीन मोक्ष मार्गको नहीं पहचान सकते हैं इसलिये उस मार्गसे वे बहुत दूर रहकर अपना अपाय (अहित) करते रहते हैं, इस प्रकार उन संसारी कर्माविष्ट आत्माओंके विषयमें उनके अहितभावका विचार करना अर्थात् वे किस प्रकार

कि आदिके आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसारके कारण हैं। * अब इन ध्यानोंका स्वरूप लक्षण कहना चाहिये, उनमें प्रत्येक ध्यानके विषयमें विवेचन करना अभीष्ट है परंतु वचनकी प्रवृत्ति क्रमसे ही हो सकती है सभी एक साथ नहीं कहे जासकते हैं इसलिये पहले आदिका जो आर्तध्यान है उसीका लक्षण स्वरूप कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—जिस पदार्थकी अरुचि है, चाहना नहीं है उसका संबंध हो जानेपर उसके वियोग होनेका रात दिन संकल्प करना उसके दूर होजानेकी सदैव दुर्भावना करना यह भी आर्तध्यानका स्वरूप है।

अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—जो अपनेको अप्रिय पदार्थ हैं जैसे विष कांटा, शत्रु, शस्त्र आदिक, इत्यादि जितने अप्रिय पदार्थ हैं वे सब सदैव बाधा दिया करते हैं, इसलिये वे अमनोज्ञ कहलाते हैं।

भृशमर्थांतरचिंतनादाहरणं समन्वाहारः ॥ २ ॥

अर्थ—पदार्थांतरके चिंतवनको छोडकर वार वार उसीका चिंतवन करना इसीका नाम समन्वाहार है। दूसरे पदार्थोंके उपयोगसे चित्तको खींचकर उसी अनिष्ट पदार्थमें लगाते रहना इसीको समन्वाहार कहते हैं, स्मृतिके समन्वाहारको स्मृतिसमन्वाहार कहते हैं अर्थात् सदैव उसीका स्मरण रखकर चिंता करना सो स्मृतिसमन्वाहार है। अमनोज्ञ पदार्थके मिलने पर वह मुझसे किस प्रकार दूर हो उसका संबंध मुझसे नहीं हो, ऐसा संकल्प करना इसीकी चिंता रखना आर्तध्यान कहलाता है। यह आर्तध्यान

---

* मोक्षहेतू परे ध्याने पूर्वे संसारकारणे इति सामर्थ्यतः सिद्धं विमोहत्वेतरत्वतः ॥ १ ॥ श्लोकवार्तिकालंकार।

अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मोहरहित होनेसे मोक्षके हेतु हैं और आर्त रौद्र ये पहले दो ध्यान मोहनीयसहित होनेसे संसारके हेतु हैं।

अज्ञान और कर्मोदयसे अपने अहितमें स्वयं लगे हुये हैं इस प्रकार चिंतवन करना अपायविचय नामा दूसरा धर्म्यध्यान कहलाता है। अथवा–

असन्मार्गापायचिंतनमपायविचयः असन्मार्गापायसमाधानं वा ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा इसप्रकार चिंतवन करना कि जिनके मिथ्यादर्शनके उदयसे चित्त व्याकुल होरहे हैं ऐसे परमतियोंके द्वारा रचे गये मिथ्यामार्गसे ये विचारे अज्ञानी जीव किस प्रकार ठगे जा रहे हैं उन मिथ्यावादियोंके बताये हुये कुमार्गसे छूटकर ये जीव किस प्रकार स्वात्महितमें अथवा श्रीजिनेंद्रदेव द्वारा कहे हुये सन्मार्गमें लग सकते हैं इस प्रकारका चिंतवन करना भी अपायविचय धर्म्यध्यान है। अथवा जो जीव कुदेव कुशास्त्र कुगुरु और इनके सेवकोंके सेवक बनकर अपना अहित कर रहे हैं उनका उस सेवासे अपाय अर्थात् हटना किस प्रकार हो सकता है ? अथवा जो वचन (कुशास्त्र) पापके करनेवाले हैं उनकी भावनाकी निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है अर्थात् कुमार्गके आराधक वचनोंसे हटकर ये संसारी जीव आत्महितमें कैसे लग सकते हैं ? इस प्रकार जीवोंके अपाय–अहित संबंधी चिंतवन करना सो अपायविचय धर्मध्यान कहलाता है। अब विपाकविचय धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं–

कर्मफलानुभवनविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप कारणोंसे फलका अनुभव संसारी जीवोंको होता है उस कर्मोंके फलका विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान कहलाता है। अब यहां यह बतलाते हैं कि जीवके किस गुणस्थानमें कितनी कितनी प्रकृतियोंका उदय रहता है, अर्थात् विपाक नाम कर्मोंके फलोदयका है। वे कर्म अपना फल किस किस गुणस्थानमें किन किन प्रकृतियोंके उदय द्वारा देते हैं इसी बातका उल्लेख यहां किया जाता है इस उल्लेख-से जीवोंके भावोंका परिज्ञान होता है—मिथ्यादर्शन, एकेंद्रियजाति, द्वींद्रियजाति, त्रींद्रिय जाति,

द्वेषभावसे होता है, अनिष्ट वस्तुमें द्वेषबुद्धि रहती है। प्रश्न—क्या यह आर्तध्यान केवल अनिष्ट चेतन अचेतन द्रव्योंकी पर्यायविशेषका संबंध होनेपर उनके दूर हो जानेकी चिंता रखना इसी अर्थमात्रमें नियत है या और प्रकार भी है ? कहते हैं और प्रकार भी है उसके लिये सूत्र कहते हैं—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—मनोज्ञ पदार्थके विषयमें उससे विपरीत चिंतवन करना यह भी आर्तध्यानका दूसरा भेद है।

प्रागुक्तनिमित्तविपर्ययाद्विपरीतं ॥ १ ॥

अर्थ—पहले जो निमित्त कहा गया है उससे उलटे निमित्तको विपरीत कहते हैं अर्थात् पहले अनिष्ट पदार्थका संयोग बताया गया है उससे उलटा इष्ट पदार्थका वियोग लेना चाहिये। उसीका खुलासा इसप्रकार है—जो पदार्थ मनोज्ञ है अर्थात् अपने लिये अभीष्ट है उसका वियोग हो जाने पर फिर उसके संयोग हो जानेकी चिंता करना उसके संयोगकी वारवार चिंता करना यह भी आर्तध्यान कहलाता है। जिस प्रकार प्रिय वस्तुका संबंध हो जाने पर फिर वह विछुड जाय तो उसके अलग हो जानेसे उसके चाहनेवालेके परिणामोंमें तीव्र कलुषता होती है यह आर्तध्यान कहाजाता है उसी प्रकार जो ज्वर आदिकी पीडासे सताया हुआ है उसके भी उस वेदनासे आर्तध्यान होता है उसीके दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं—

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ-वेदनासे भी आर्त ध्यान होता है।

प्रकरणाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययः ॥ १ ॥

अर्थ—यद्यपि वेदना शब्द सुखके अनुभव करनेमें भी आता है और वह दुःखके अनुभव करनेमें भी आता है इसलिये वह सामान्य रूपसे दोनों ही अर्थोंमें आता है फिर भी यहां पर आर्तध्यानका

चतुरिंद्रिय जाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, इन प्रकृतियोंका पहले मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही उदय होता है, उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें इन मिथ्यादर्शनादि प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है। अनंतनुबंधि क्रोध मान माया लोभ, इन प्रकृतियोंका पहले और दूसरे अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान और सासादन गुणस्थान इन दो गुणस्थानोंमें ही उदय होता है उससे आगे नहीं होता है। सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय तीसरे मिश्र गुणस्थानमें ही उदय होता है उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होता और उस तीसरे गुणस्थानसे नीचे पहले दूसरे गुणस्थानोंमें भी उस मिश्र प्रकृतिका उदय नहीं होता है। तथा अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, अंगोपांग, चारों आनुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, इन सत्रह प्रकृतियोंका उदय असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान तक ही होता है उससे ऊपर पाचवें आदि गुणस्थानोंमें नहीं होता है। इतना विशेष है कि नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन चारों आनुपूर्वियोंका उदय तीसरे सम्यङ्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थानमें नहीं होता है बाकी प्रकृतियोंका उदय वहां भी होता है इसका कारण भी यह है कि उस मिश्र गुणस्थानमें मरण नहीं होता है इसलिये मरणकालमें होनेवाली इन चारों आनुपूर्वियोंका उदय इस मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता है तथा प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान माया लोभ, तिर्यगायु, तिर्यंचगति, उद्योत, नीचगोत्र इन आठ प्रकृतियोंका उदय संयतासंयत नामा पाचवें गुणस्थान तक ही होता है उससे ऊपर छठे आदि गुणस्थानोंमें नहीं होता है। तथा निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि नामवाली तीन प्रकृतियोंका उदय अनुत्तर शरीरवाले प्रमत्तसंयतोंमें होता है अर्थात् प्रथम गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान पर्यंत इन तीन प्रकृतियोंका उदय होता है उससे ऊपर सातवें आदि गुणस्थानोंमें नहीं होता है। अनुत्तर शरीरका अभिप्राय यह है कि छठे गुणस्थानमें आहारक शरीर भी ऋद्धिधारी महान् तपस्वी मुनियोंके मस्तकसे उत्पन्न होता है, वह उत्तर शरीर जिनके नहीं

प्रकरण है इसलिये दुःखरूप वेदनाका ही ग्रहण होता है। जो जीव उस ज्वर विष कंटक शस्त्र शत्रु आदिके द्वारा होनेवाली वेदनासे दुःखी होकर उसके दूर करनेका प्रयत्न करता है उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता है और धैर्य सब जाता रहता है सदैव वह उस वेदनाके दूर करनेकी चिंतामें ही व्यकुल रहता है यह भी आर्तध्यानका तीसरा भेद है।

अंगविक्षेपशोकाक्रंदनाश्रुपाताभिव्यक्तं तृतीयं ॥ २ ॥

अर्थ–जिसप्रकार अनिष्ट पदार्थका संयोग हो जाने पर अथवा इष्ट पदार्थके वियोग हो जानेपर अथवा शरीरमें पीडा होना, शोक होना, रोना, आसूं डालना आदि अशुभ दुःख रूप वेदनाके होने पर तीसरा आर्तध्यान होता है, उसी प्रकार जो मनुष्य किसीके प्रेम विशेषमें आसक्त हो गया है और कामातुर बुद्धि रखता है वारवार विषय सुखोंके रस चाखनेकी तृष्णा रखता है और उसी प्रकारके विषयसुख चाहनेके संस्कारोंमें निमग्न है ऐसे व्यक्तिके शरीर आदिके खेदपूर्वक निदान नामक आर्तध्यान होता है, उसीके स्वरूप प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं–

निदानं च ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ–निदान करना भी चौथा आर्तध्यानका भेद है अर्थात् जिन विषयसुखके कारणभूत इष्ट पदार्थोंकी चाहना करता है उनके लिये परिणामोंमें इस प्रकारका संकल्प करना कि अमुक इष्ट पदार्थ मुझे मिल जाय अथवा मैं अमुक क्षेत्रमें जन्म लूं, अमुक राजाका पुत्र हो जाऊं, कामदेव हो जाऊं इत्यादि रूपसे भावोंमें संकल्प कर लेना इसीको निदानबंध कहते हैं। तीन शल्योंमें यह भी एक बडी शल्य है जो कि व्रती नहीं बनने देती है इसलिये यह निदान बंध भी आर्तध्यान है। शंका—

विपरीतं मनोज्ञस्य,, इत्येवासिद्धमिति चेन्नाप्राप्तपूर्वविषयत्वात् निदानस्य ॥ १ ॥

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि "विपरीतं मनोज्ञस्य" इस सूत्र द्वारा यह बताया गया है कि

उत्पन्न होता है ऐसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके निद्रानिद्रा आदि तीन प्रकृतियोंका उदय होता है। जिनके आहारक उत्तर शरीर उत्पन्न होता है उनके वे प्रकृति उदयमें नहीं आती हैं। तथा आहारक शरीर और आहारक शरीरांगोपांग इन दो प्रकृतियोंका उदय प्रमत्तसंयत नामक छठे गणस्थानमें होता है, उससे ऊपर नहीं होता, और उससे नीचे पाचवें आदि गुणस्थानोंमें भी उन दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है। तथा वेदक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर्यंत ही होता है अर्थात् चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही वेदक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होता है, उनसे ऊपर भी नहीं होता और उनसे नीचे भी नहीं होता है। तथा अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन (कीलक संहनन) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन इन तीन प्रकृतियोंका उदय अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान पर्यंत होता है, उससे ऊपर आठवें आदि गुणस्थानोंमें उनका उदय नहीं होता है तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इन छह प्रकृतियोंका उदय अपूर्वकरणनामा आठवें गुणस्थानके चरम समय पर्यंत होता है। उससे ऊपर नौवें आदि गुणस्थानोंमें उसका उदय नहीं होता है तथा पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद इन तीन वेदोंका और संज्वलन क्रोध, मान, माया इन तीन संज्वलन प्रकृतियोंका उदय अनिवृत्तिवादरसांपराय नामक नवम गुणस्थानके अंत तक होता है, पीछे उस गुणस्थानके संख्यात भाग चलकर अंतमें उन छहों प्रकृतियोंका उदयच्छेद होजाता है अर्थात् उनके उदयकी व्युच्छित्ति हो जाती है, फिर वे प्रकृतियां दशवें गुणस्थानमें उदयमें नहीं आसकती हैं। तथा संज्वलन लोभ प्रकृतिका उदय सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानके अंतिम समय पर्यंत होता है, उससे ऊपर ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें नहीं होता है। तथा वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन इन दो प्रकृतियोंका उदय उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है, उससे ऊपर बारहवें आदि गुणस्थानोंमें नहीं होता है। तथा निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका उदय क्षीणकषाय नामक बारहवें

निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेन्न द्रव्याविभागाभावात् ॥ ५ ॥

यदि धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंकी मुख्यरूपसे कल्पना मानी जायगी तो उन्हें जो निरवयव
खंड पदार्थ माना गया है वह ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि अखंड भी हो और विभागवान भी
ये दोनों बातें आपसमें विरोधी हैं ? सो बात ठीक नहीं । जिसप्रकार घटरूप द्रव्यके जुदे जुदे टुकडे
जाते हैं इसलिए वह सावयव अर्थात् अवयवविशिष्ट पदार्थ है उसप्रकार धर्म अधर्म आदि द्रव्योंके
भाग नहीं—किसी भी कारणसे घटके समान उसके जुदे जुदे टुकडे नहीं हो सकते इसलिए उनका
रवयवपना बाधित नहीं ।

भेद्यत्वादात्मनामेकग्रहणं ॥ ६ ॥

जीवद्रव्यके अनंते भेद हैं इसलिए एक ही जीवद्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं अनेकोंके नहीं यह बात
लानेके लिये सूत्रमें 'एकजीव' यहांपर एक शब्दका उल्लेख किया गया है । यदि एक शब्दका
ख नहीं किया जाता तो नाना जीव ग्रहण किये जाते । नाना जीवोंके अनंते प्रदेश हैं इसलिए केवल
व शब्दके कहनेसे असंख्येय प्रदेशपना सिद्ध नहीं होता ।

विशेष—यहांपर यह शंका उठती है कि—ऊपर धर्म आदिके प्रदेशोंको उनसे अभिन्न कह आए हैं,
अभिन्न होता है उसका भिन्न स्वरूपसे प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । 'असंख्येयाः प्रदेशाः
ाधर्मैकजीवानां' अर्थात् धर्म अधर्म और एक जीवद्रव्यके असंख्याते असंख्याते प्रदेश हैं, यहांपर
र्माधर्मैकजीवानां' यह संबंध अर्थमें षष्ठी विभक्तिका प्रयोगकर प्रदेशोंकी धर्म आदि द्रव्योंसे भिन्नता
ट की गई है क्योंकि संबंधका अर्थ जोडना है, जहांपर दो पदार्थ आपसमें जोडे जांय वहीं संबंध

सार्थक माना जाता है । यहांपर भी संबंध अर्थमें षष्ठीका विधान किया है इसलिए इस उल्लेखसे धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेशोंकी भिन्नता ही सूचित होती है । इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

कथंचित्प्रदेशभेदोपपत्तेः संबंधनिर्देशः ॥ ७॥

जैनसिद्धांतमें सर्वथा कोई बात नहीं मानी जा सकती, जो भी बात मानी जाती है वह कथंचित् ही मानी जाती है । धर्म आदि द्रव्योंसे जो उनके प्रदेशोंका अभेद माना है वह कथंचित् ही माना गया है अर्थात् धर्म आदि द्रव्योंसे उनके भेद कथंचित् अभिन्न भी हैं और कथंचित् भिन्न भी हैं । इस रीतिसे जब धर्म आदि द्रव्य और उनके प्रदेशोंका कथंचित् भेद सिद्ध है तब 'धर्माधर्मैकजीवानां' यहांपर संबंधमें षष्ठी विभक्तिका निर्देश अयुक्त नहीं । 'एकश्चासौ जीवश्च एक जीवः, धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवाः, तेषां धर्माधर्मैकजीवानां' यह यहां धर्माधर्मैकजीव शब्दका विग्रह है । शंका—

असंख्येयप्रदेशा इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्नोत्तरार्थत्वाद्भेदकरणस्य ॥ ८ ॥

'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मेत्यादि' सूत्रके स्थानपर 'असंख्येयप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवाः' सूत्र कहना ठीक है क्योंकि 'असंख्येयाः'की जगह 'असंख्येय' कहनेसे दीर्घ आकारकी जगह ह्रस्व अकार और विसर्ग न करनेसे तथा जीवानां की जगह जीवाः करनेसे लघु सूत्र होगा और सूत्रका जो अर्थ है उसमें भी कोई कमी नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं । व्याकरणशास्त्रमें यह नियम है कि जिस किसी सूत्रमें जिस किसी शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता और उस शब्दके विना सूत्रका अर्थ नहीं होता तो उस शब्दकी पिछले सूत्रसे अनुवृत्ति कर ली जाती है तथा वह अनुवृत्ति उसी शब्दकी हो सकती है जिसका उल्लेख पिछले सूत्रमें मुख्यरूपसे किया गया हो । 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादि सूत्रसे 'प्रदेश' शब्दकी आगेके सूत्रोंमें

पदार्थका विषय करता है और शुक्लध्यान किस पदार्थको विषय करता है, दोनोंका एकही रूप प्रतीत होगा ? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि किस ध्यानका कौन विषय है इस विशेष बातका बोध विशेष व्याख्यानसे होता है, सूत्ररूप सामान्य कथनका विशेष बोध उसके विशेष विवेचनसे होता है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। आगे हम (श्रीग्रंथकार) यह बात कहनेवाले हैं कि श्रेणीके आरोहणके पहले धर्म्यध्यान होता है और उपशम तथा क्षपक श्रेणियोंमें शुक्लध्यान होता है। प्रश्न–यदि आदिके दो शुक्लध्यान उपशांतमोहवालोंके और क्षपकमोहवालोंके नियमसे होतें हैं ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है अर्थात् आदिके दो शुक्लध्यान यदि श्रेणीके आरोहणसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं तो फिर बाकीके शुक्लध्यान–सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये दो किसके होते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

सूत्राथ–पीछेके दो शुक्लध्यान–सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक सर्वज्ञकेवली भगवानके होते हैं। अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें क्रमसे होते हैं।

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणं ॥ १ ॥

अर्थ—केवली ऐसा सूत्रमें सामान्य शब्द है इसलिये अचिंतनीय विभूति विशेषको धारणकरने वाले कवलज्ञान साम्राज्यको अनुभव करनेवाले सयोगकेवली अयोगकेवली इन दोनोंका ही ग्रहण यहां किया गया है। पीछेके दोनों ही शुक्लध्यान उन दोनों केवलियोंके ही होते हैं वे ध्यान छद्मस्थ (अल्पज्ञ) के नहीं हो सकते हैं। प्रश्न–जिस प्रकार अंधकारमें कोई किसीको मुट्ठीसे मार लगा देवे तो वहां उस मारनेवालेका ज्ञान नहीं होपाता कि किसने मारा है इसीलिये उसके बदलेके लिये भी ठीक ठीक प्रयोग नहीं हो सकता है उसी प्रकार ये शुक्लध्यान भी अंधकारमें [illegible]

वितर्कः श्रुतं ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—वितर्क नाम श्रुतज्ञानका है। विशेष रूपसे तर्कणा की जाय अथवा विशेषरूपसे विचार किया जाय उसीका नाम वितर्क है उसीको श्रुतज्ञान कहते हैं। फिर प्रश्न—यदि वितर्क शब्द श्रुतज्ञान अर्थमें विद्यमान है तो यह पूछनेमें फिर आता है कि वीचार शब्दका क्या अर्थ है? इसके उत्तरमें नीचेका सूत्र कहते हैं—

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ–अर्थ व्यंजन योग इन तीनोंके बदलनेको बीचार कहते हैं अर्थात् ध्यानका अवलंबन कभी गुण हो कभी द्रव्य हो कभी कोई योग हो और कभी कोई योग हो इन्हीं ध्यानके विषयोंका जो संक्रमण (बदलते रहना) है उसीको बीचार कहते हैं। व्याख्या-अर्थ नाम ध्येयका है, ध्यानके विषयभूत पदार्थको ध्येय कहते हैं, वह ध्येय द्रव्य भी हो सकता है और पर्याय भी हो सकता है। व्यंजन नाम वचनका है योग नाम मन वचन कायके अवलंबनसे आत्माके प्रदेशोंके हलन चलनका है। संक्रांति नाम परिवर्तनका है। ध्यान कभी द्रव्यको विषय करता है कभी द्रव्यको छोडकर पर्यायको विषय करता है इसप्रकार अर्थसे अर्थांतरमें वह जाता रहता है इसीको अर्थसंक्रमण कहते हैं। तथा वह किसी एक श्रुतवचनको कभी अवलंबन करता है और कभी उसे छोडकर किसी दूसरे श्रुतवचनको विषय करता है, उसे भी छोडकर कभी तीसरे श्रुतवचनको विषय करता है, इसप्रकार व्यंजनसंक्रमण कहलाता है। तथा काययोगको वह कभी ग्रहण करता है और कभी उसे छोडकर किसी दूसरे योगको ग्रहण करता है फिर कभी तीसरे ही योगको ग्रहण करता है इसप्रकार योगसंक्रमण कहलाता है। इस रीतिसे जो द्रव्य पर्यायरूप अर्थका श्रुतवचनरूप व्यंजनका और मनवचनकाय परिस्पंदरूप योगोंका जो ध्यानमें परिवर्तन होता रहता है वह परिवर्तन अर्थात् इन अवलंबनोंका बदलना बीचार कहलाता है। इसप्रकारके वीचारसहित जो

धर्मादनपेतं धर्म्यं ॥ १२ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि दश प्रकारका धर्म कहा गया है। उस धर्मसे जो रहित नहीं है अर्थात् धर्मसे विशिष्ट है वह ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है क्योंकि उत्तमक्षमा आदिकी भावना भानेवालेके ही यह धर्म्यध्यान होता है, उन्हीं पुरुषों की इस ध्यानमें प्रवृत्ति होती है। शंका—

अनुप्रेक्षाणां धर्मध्यानजातीयत्वात पृथगनुपदेश इति चेन्न ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात् ॥ १३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि अनुप्रेक्षाऐं भी धर्म्यध्यानमें गर्भित हो सकती हैं क्योंकि अनुप्रेक्षाओंमें भी चिंतवन किया जाता है और धर्म्यध्यानमें भी चिंतवन है इसलिये उन अनुप्रेक्षाओंका धर्म्यध्यानसे अलग उपदेश करना व्यर्थ है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि ये अनुप्रेक्षाऐं ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप हैं, ज्ञानकी प्रवृत्तिका एक भेद ही अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन है। जिस समय अनित्यादि विषयोंका चिंतवन ज्ञानस्वरूप पडता है तब तो अनुप्रेक्षाके नामसे वह कहा जाता है और उन्हीं विषयोंके चिंतवनमें मनका उपयोग अन्य पदार्थोंके ज्ञान विकल्पसे हटकर केवल एक ध्येय पदार्थके विषयमें तल्लीन हो जाता है उस समय वह धर्म्यध्यान कहलाता है अर्थात् अनुप्रेक्षा चिंतवनमें ज्ञानविकल्पको मुख्यता है और धर्म्यध्यानमें मनकी स्थिरताकी मुख्यता है। पुनः शंका—

धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात् ॥ १४ ॥

अर्थ—यहां कोई शंका करता है कि धर्म्यध्यान अप्रमत्त संयमी सातवें गुणस्थानवाले मुनिराजोंके ही होसकता है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं हैं क्योंकि ऐसा कहनेसे इससे पहलेके गुणस्थानोंमें धर्म्य ध्यानका अभाव सिद्ध हो जायगा परंतु ऐसा नहीं है असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानोंमें भी धर्म्यध्यान मानागया है क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे चौथे पांचवें छठे गुणस्थानोंमें भी धर्म्यध्यान होता है इसलिये यदि धर्मध्यान केवल अप्रमत्त संयमी सातवें गुणस्थानवालोंके ही

ध्यान होता है वह सवीचार ध्यान कहलाता है ऐसा सवीचार ध्यान केवल पृथक्त्व वितर्क ध्यान है। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि संक्रमण होनेपर भी एकही प्रकारके ध्यानकी निरंतर संतति रहनेसे वह ध्यानके लक्षणसे बाहर नहीं है। इसप्रकार सामान्यरूपसे और विशेषरूपसे कहा गया चार प्रकारका शुक्लध्यान है तथा चारप्रकारका ही धर्म्यध्यान है, जो कि गुप्ति समिति आदि बहुत प्रकारके उपायों द्वारा सिद्ध किये गये हैं। इन ध्यानोंको मुनिराज संसारनिवृत्तिके लिये ध्याते हैं, उन ध्यानोंके प्रारंभमें पूर्ण रीतिसे अभ्यास करते हैं, तथा ध्यानयोग्य सामग्री एवं परिकररूप साधनोंका समागम रखते हैं जिस समय शरीरका उत्तम संहनन होनेसे परीषहोंकी बाधाओंको सहन करनेकी शक्तिवाली आत्मा बन जाता है उसी समय ध्यानसिद्धिके लिये मुनिराज उपक्रम करते हैं, ध्यानसिद्धिके प्रयोगमें वे किसप्रकार लगते हैं? इसीका खुलासा इसप्रकार है—

वे मुनिराज पर्वतोंमें ध्यान लगाते, हैं, गुफाओंमें लगाते हैं, इसीप्रकार घरके आकारमें बने हुए पर्वतके नीचले भागोंमें वे ध्यान लगाते हैं, तथा पर्वतको काट छांट कर जो घर सरीखे आकारवाले भीतरी बडे बडे बिले तयार करा लिये जाते हैं, उन कृत्रिम स्थानोंमें भी वे ध्यान करते हैं, तथा पुराने वृक्षोंके खोखलोंमें, पानीके वेगसे नदियोंके किनारों पर जो मिट्टीके ऊंचे ऊंचे डंडेसे खडे हो जाते हैं उनके भीतर बने हुए खाली प्रदेशोंमें, श्मशानमें, पुराने बगीचोंमें, सूने घरोंमें वे मुनिराज ध्यान लगाते हैं। इन स्थानोंमें वे किसी एक ऐसे प्रदेशमें बैठते हैं जहां भयंकर सर्प, सिंह आदि पशु पक्षी और मनुष्योंका आवागमन नहीं हो, वहां आसपास रहनेवाले तथा बाहरसे आनेवाले विच्छू कीडा मकोडा मच्छर आदि छोटे छोटे जन्तु भी नहीं आते हों, वह प्रदेश न तो अति उष्णही हो और न अतिशीत ही हो और न अधिक वायुवाला ही हो, साथ ही वर्षा धूप (आतप) से भी रहित हो, ऐसा स्थान हो जिसमें कोई बाह्य अथवा अंतरंग कारण आत्मामें क्षोभ पैदा करनेवाले नहीं हों, ऐसे निर्विघ्न ध्यान योग्य

छोडकर शेष पहले समयोंमें होती है उससे ऊपर नहीं अर्थात् संज्वलन लोभकी उदीरणा दशवें गुणस्थानके अंतकी आवलीमें नहीं होती है। वज्रनाराच और नाराच इन दो संहननोंकी उदीरणा उपशांत कषाय गुणस्थान पर्यंत होती है उससे ऊपर नहीं होती है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी उदीरणा एक समय अधिक अंतिम आवलीको छोडकर वाकी क्षीणकषाय पर्यंत होती है उसके ऊपर नहीं होती अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थानके एक समय अधिक अंतिम आवलीके समयोंमें निद्रा प्रचलाकी उदीरणा नहीं होती है वाकीके क्षीणकषायके समयोंमें और उससे नीचेके गुणस्थानोंमें निद्रा प्रचलाकी उदीरणा होती है तथा पांच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण पांच अंतराय इन प्रकृतियोंकी उदीरणा चरमावली (क्षीण-कषाय गुणस्थानकी अंतिम आवली) को छोडकर वाकी क्षीण कषाय पर्यंत होती हैं उसके ऊपर नहीं होती है। मनुष्य गति पंचेन्द्रियजाति औदारिक शरीर तैजस शरीर कार्माण शरीर छह संस्थान औदारिकशरीरांगोपांग वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण गंध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात उच्छ्वास प्रशस्त विहायोगति अप्रशस्तविहायोगति त्रस वादर पर्याप्तक प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुभग दुर्भग सुस्वर दुःस्वर आदेय यशस्कीर्ति निर्माण उच्चगोत्र इन अडतीस प्रकृतियोंकी उदीरणा सयोगकेवली गुणस्थानके अंतिम समय पर्यंत होती है उससे ऊपर नहीं होती है तथा तीर्थंकर प्रकृतिकी उदीरणा केवल सयोगकेवली गुणस्थानमें ही होती है उससे ऊपर भी नहीं होती और उससे नीचे भी नहीं होती है*। सस्थानविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—

लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानाविचयः ॥ ११ ॥

अर्थ—लोकका आकार अथवा उसका स्वरूप पहले कहा जाचुका है उस लोकके अवयव स्वरूप जो द्वीप समुद्र आदिकी रचना है उसका स्वरूप चिंतवन करना संस्थानविचयधर्मध्यान कहा जाता है

* विशेष विवरण-गोम्मटसार कर्मकांडसे ज्ञात करना चाहिये।

एकांत और सब प्रकारकी वाधाओंसे रहित स्थानमें ही वे मुनिराज ध्यान लगाते हैं, जिस भूमिमें वे ध्यान लगाते हैं वह पवित्र होनी चाहिये और गरमी शीतादिसे रहित अनुकूल स्पर्शवाली होनी चाहिये ऐसी पृथ्वीमें वे साधु निराकुलचित्त होकर सुखसे ध्यानके लिये बैठ जाते हैं और पल्यंकासन (पलौथी) माढ़ लेते हैं, अपने चंचल शरीरको विलकुल सीधा लकडीके समान कर लेते हैं, वे मुनिराज अपनी गोदमें पहले वाम (बायां) पैर रखते हैं, उसके ऊपर दक्षिण (दायां) पैरको ऊंचे भागमें रखते हैं, अपने दांतोंको न तो अधिक खोलकर रखते हैं और न अधिक उन्हें बंद कर ही रखते हैं, किंतु साधारणरूपमें कुछ खुले हुए और कुछ बंद हुए थोडे २ चमकते हुए दांतोंके अग्रभागोंको रखते हैं, मुखको थोडासा नत (नीचा) रखते हैं, मध्यभागको विलकुल सीधा रखते हैं, समस्त शरीरको निश्चल–स्थिर कर लेते हैं, विचारमें गंभीर ऐसा मस्तक रखते हैं, मुखको प्रसन्न रखते हैं अर्थात् मुखाकृतिको विकारयुक्त नहीं रखते हैं, पलकोंके पतनसे रहित (अनिमिष) स्थिर और सौम्य (शांत मधुर) दृष्टि रखते हैं और निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, मोह, ग्लानि इन समस्त विकारोंको नष्ट कर देते हैं, श्वासोच्छ्वासका संचार मंद मंद कर लेते हैं इत्यादिरूपसे ध्यानके लिये उपयोगी स्वरूप सामग्री कायचेष्टा निर्विकार ध्यानमुद्रा आदि परिक्रम क्रिया कहलाती है इसे पहले वे मुनिराज धारण कर लेते हैं, पश्चात् अपनी मनोवृत्तिको (मनके व्यापार अथवा उपयोगको) नाभिके ऊपर हृदयमें, मस्तकमें, अथवा अन्य किसी अभ्यस्त प्रदेशमें लगा लेते हैं ऐसे साधु केवल मोक्षकी ही इच्छा रखते हुए उत्तम ध्यानको ध्याते हैं। उस ध्यान क्रियामें पहले वे मनको समस्त विषयोंसे हटाकर एक एक पदार्थमें ही स्थिर करते हैं पीछे राग द्वेषका उपशम कर डालते हैं अपनी बुद्धिमत्तासे शरीरक्रियाको वशमें कर लेते हैं अर्थात् शरीरक्रिया नहीं होने देते हैं, श्वासोच्छ्वास अत्यंत मंद कर लेते हैं, अपने विचारोंको भी एक विषयकी उपयोगितामें स्थिर कर लेते हैं, क्षमाको धारण करते हैं फिर वे साधु वाह्य

गुणस्थानके अंतिम समयसे पहले समय तक (द्विचरम समय तक) होता है। उससे ऊपर बारहवें गुणस्थानके अंतिम समय आदिमें उनका उदय नहीं होता है। तथा पांच ज्ञानावरण प्रकृतियां, चार दर्शनावरण प्रकृतियां पांच अंतराय प्रकृतियां इन चौदह प्रकृतियोंका उदय क्षीणकषाय गुणस्थानके अंतिम समय पर्यंत होता है उससे ऊपर तेरहवें आदि गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है, तथा साता असाता इन दोनों वेदनीय प्रकृतियोंमेंसे कोई एक वेदनीय, औदारिक शरीर तैजस शरीर कार्मण शरीर हुंडकसंस्थान कुब्जकसंस्थान वामनसंस्थान न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान स्वातिसंस्थन समचतुरस्रसंस्थान (छहों संस्थान) औदारिक शरीरांगोपांग वज्रवृषभनाराच संहनन वर्ण गंध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति अप्रशस्त विहायोगति प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुस्वर दुःस्वर निर्माण इन तीस प्रकृतियोंका उदय सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानके चरम समय पर्यंत होता है उससे ऊपर चौदहवें गुणस्थानमें नहीं होता है तथा दोनों वेदनीयोंमेंसे कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पंचेंद्रिय जाति, त्रस, वादर पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, उच्चैर्गोत्र इन ग्यारह प्रकृतियोंका उदय अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अंतसमय तक होता है, उससे ऊपर सिद्धावस्थामें उसका उदय नहीं होता है तथा तीर्थंकर नाम कर्मका उदय सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दो गुणस्थानोंमें ही होता है, उनसे ऊपर सिद्धोंमें और नीचे बारहवें आदि गुणस्थानोंमें उस तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता है*। अब इन कर्मप्रकृतियोंके उदीरणारूप उदयका विवेचन गुणस्थानोंकी अपेक्षासे बताते हैं अर्थात् किस किस गुणस्थानमें किन किन प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है इसी बातको बताते हैं—

अयथाकालविपाकः उदीरणोदयः ॥ १० ॥

अर्थ—विना विपाक समयके ही कर्म उदयमें आकर अपना फल देकर खिर जाय उसे उदीरणा

* इसका विशेष विवरण श्री गोम्मटसार कर्मकांडसे समझना चाहिये।

और अभ्यंतर (अत्म भिन्न और आत्मद्रव्य) द्रव्योंका और उनकी पर्यायोंका ध्यान करते हुए श्रुतज्ञानकी सामर्थ्यसे पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानके द्वारा अर्थ, व्यंजन और काय वचनको अपने मनके एकाग्र उपयोगसे बदलते रहते हैं फिर जिसप्रकार किसीके पास वल और उत्साह पूरा न हो और साथ ही उसका शस्त्र भी अव्यवस्थित हो अर्थात् उसका वींटा आदि कुछ भी ठीक नहीं हो और वह मौथरा भी हो अर्थात् उसकी धार भी तीक्ष्ण नहीं हो तो ऐसी दशामें वह पुरुष वृक्षको वहुत धीरे धीरे काट सकता है उसी प्रकार वे साधु भी उस पूर्ण सामर्थ्यरहित ध्यानके बलसे मोह कर्मकी प्रकृतियोंको धीरे धीरे उपशमाते हैं अथवा खपाते हैं ऐसे मोहनीय कर्मका धीरे धीरे उपशम या क्षय करनेवाले साधु पृथक्त्ववितर्कविचार ध्यानवाले कहे जाते हैं, पूर्ण शक्ति–सामर्थ्य नहीं होनेसे उनका उपयोग स्थिररूपसे एक पदार्थ तथा एक योगका अवलंबन नहीं रखता है किंतु एक योगसे दूसरे योग एक व्यंजनसे दूसरे व्यंजन और एक अर्थसे दूसरे अर्थको अवलंबन करता है उस संक्रमण युक्त ध्यानसे धीरे धीरे मोहरजको हटाते हुए ध्यानयोगसे वे फिर लौटते हैं अर्थात् स्थिरचित्त होकर ध्यान एक पदार्थ परही दृढ नहीं रह सकता किंतु पदार्थान्तर योगांतर करते रहते हैं इसप्रकार पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान पूरा होता है इस प्रकार इस पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानके वलसे समस्त मोहनीय कर्मको नष्ट करदेते हैं यह पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानका स्वरूप कहा गया, इस विधिसे मोहनीय कर्मका सर्वथा जडमूलसे नाश कर अनंत गुणविशुद्धिकोलिये हुए ध्यान विशेषको धारण करते हुए अनेक ज्ञानावरणकर्मकी सहायभूत प्रकृतियोंके बंधको रोकनेमें वे साधु समर्थ होते हैं साथ ही उन कर्मोंकी स्थितिकी हीनता और खंडन भी करते हैं श्रुतज्ञानात्मक उपयोगको धारण करते हुए भी पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानके समान अर्थ व्यंजन योगोंकी संक्रांति नहीं करते हैं–किंतु निश्चलचित्त तथा सर्वथा वीतरागी क्षीणकषाय वैडूर्यमणिके समान सब प्रकारकी वाह्याभ्यंतर उपाधियोंसे रहित होकर जिस पदार्थका ध्यान करते हैं अथवा

स्वरूप आदि कुछ भी नहीं कहागया है ऐसी अवस्थामें उन ध्यानोंकी सिद्धिके लिये किसी प्रकारका व्यापार नहीं किया जासकता है। उत्तर—यदि नीचे लिखे सूत्र द्वारा उन ध्यानोंके विशेष नामोल्लेख नही किये जांय तब तो उनकेलिये व्यापार नहीं किया जासकता है परंतु नीचेके सूत्रोंसे उनका नाम निर्देश स्वरूप कथन आदि सब कियाजाता है।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरताक्रियानिवृत्तीनि ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं। पृथक्त्ववितर्कवीचार पहला ध्यान है इसका शब्दार्थ यह है कि पृथक्त्व नाम अनेक अथवा नाना प्रकारका है वितर्क नाम द्वादशांग श्रुतज्ञानका है, वीचारनाम अर्थ व्यंजन योगोंकी संक्राति (बदलने) का है। इसका पूर्ण अर्थ यह होता है कि द्वादशांग श्रुतज्ञानको अवलंबन लेकर जो ध्यान अनेक प्रकारसे अर्थ पर्याय व्यंजन पर्याय और योगोंमें बदलता हुआ तल्लीनता प्राप्त करे वह पृथक्त्व-वितर्कवीचार ध्यान कहलाता है। उस ध्यानमें कभी द्रव्यपरमाणु विषय पडता है और कभी भाव परमाणु विषय पडता है, उस विषयकी एकाग्रतामें लीन होनेसे कर्मोंका उपशम या क्षय करता है। पदार्थकी कभी व्यंजन पर्यायको (द्रव्य पर्यायको) और कभी अर्थ पर्याय (गुणपर्याय) को यह विषय करता है एक योगसे दूसरे योगका अवलंबन करता है इसप्रकार तीनों योगोंका संक्रमण करता है इस परिवर्तनके भेदसे इस पृथक्त्ववितर्क वीचार नामा शुक्लध्यानके ४२ व्यालीस भेद होजाते हैं। वे इसप्रकार होते हैं—द्रव्य छह हैं उनमें जीवका ज्ञानगुण है और पुद्गलका रूपरसादि गुण है, इसी प्रकार धर्मद्रव्यका गति-हेतुता, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुता, आकाशद्रव्यका अवगाहनहेतुता तथा कालद्रव्यका वर्तनाहेतुता गुण है और उनके प्रत्येक भेदरूप परिणमनको पर्याय कहते हैं। एक पदार्थसे दूसरे पदार्थ पर संक्रमण (उपयोगके बदलनेको) पदार्थांतर कहते हैं, एक गुणसे दूसरे गुणपर बदलनेको गुणांतर और एक

जिस योगका अवलंबन करते हैं वस उसीमें एकाग्रबुद्धिसे तल्लीन हो जाते हैं उससे फिर दूसरे विषयकी ओर उपयोग नहीं लगाते हैं उस ध्यानसे वे लौट कर दूसरे विषयके ध्यानमें नहीं लगते हैं। इसीका नाम एकत्ववितर्कध्यान है यह ध्यान अवीचार होता है इसमें संक्रमण नहीं होता है, इसप्रकार इस एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्निसे शेष बचे हुए ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन समस्त घातिया कर्मरूपी ईंधनको भस्म कर डालते हैं उसी समय उन परमध्यानी लोकोत्तम मुनिराजोंके देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो जाता है, जिस प्रकार मेघोंके पटलसे निकला हुआ सूर्य तीक्ष्ण किरणोंसे समस्त जगत्को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार वे केवली भगवान आवरणोंके हटजानेसे अपने केवलज्ञानरूपी सूर्यकी ज्ञान किरणोंसे समस्त जगत्के मिथ्यान्धकारको दूर कर रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गके प्रकाशसे प्रकाशित कर देते हैं इस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले तीर्थंकर भगवान या सामान्य केवली लोकके ईश्वर—देवेंद्र, नरेंद्र, मृगेंद्र, नागेंद्र आदि सबोंसे वंदनीय होते हैं, सभी उनकी पूजामें प्रवृत्त होते हैं, सभी उन्हें नमस्कार करते हैं और सभी उनके धर्मोपदेशको सुन कर अपना कल्याण करते हैं। ऐसे केवली भगवान अधिकसे अधिक (उत्कृष्ट रीतिसे) कुछ न्यून एक पूर्वकोटि आयु तक विहार करते हैं जब उनकी अंतर्मुहूर्त मात्र आयु बाकी रह जाती है और वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंकी स्थिति भी आयुके बराबर अंतर्मुहूर्त मात्र ही रह जाती है तब समस्त वचन मनोयोगोंको तथा बादर काय योगको भी दूर कर वे सूक्ष्म काय योगका अवलंबन कर लेते हैं उसी समय भगवान सूक्ष्म

१—सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता आठवर्षकी आयुसे पहले नहीं आती है इसलिये जो पुरुष आठवर्षकी आयुमें सम्यग्दर्शन धारण कर और पीछे अंतर्मुहूर्तमें ध्यानधारण कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है ऐसा पुरुष यदि उत्कृष्ट आयुवाला (कर्मभूमिमें उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटिकी हो सकती है) केवलज्ञानी हो तो वह अंतर्मुहूर्त अधिक आठवर्ष न्यून एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण विहार कर सकता है पीछे अंतर्मुहूर्तमें योग निरोध कर निर्वाण पदको पासकता है।

पर्यायसे दूसरे पर्याय पर बदलनेको पर्यायांतर कहते हैं, इस रूपसे अर्थ, अर्थांतर, गुण, गुणांतर, पर्याय, पर्यायांतर ये छह भेद हो जाते हैं इन छहों भेदोंमें योगोंका परिवर्तन होता है इसलिये छह भेदोमें तीन योगोंका बदलाव होनेसे अठारह भेद हो जाते हैं। इसीप्रकार अर्थसे गुण, गुणांतर, पर्याय, पर्यायांतर, इन चारोमें तीन योगोंके बदलनेसे बारह भेद हो जाते हैं, इसीप्रकार अर्थांतरसे गुण गुणांतर पर्याय पर्यायांतर इन चारोमें तीनो योगोंके बदलनेसे बारह भेद हो जाते हैं। इसी रीतिसे सब भेद मिलाकर व्यालीस भेद हो जाते हैं। यह पहला शुक्लध्यान उपशांत कषायमें रहता है आठवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है और क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानक प्रारंभमें रहता है अत्यंत शुक्लेश्याके बलसे होता है अन्तर्मुहूर्त समयमें बदल जाता है। ग्यारह अंग चौदह पूर्वके धारण करनेवाले अथवा दश पूर्व और नौ पूर्व धारण करनेवाले उत्तम मुनीश्वरोंके यह ध्यान होता है। यह ध्यान उपशांत कषायमें होनेसे स्वर्ग फल भी देता है और क्षीणकषायमें होनेसे मोक्ष फल भी देता है। दूसरा ध्यान एकत्ववितर्कअवीचार है इसका शब्दार्थ यह है कि एकत्व नाम एकपनेका है वितर्क नाम श्रुतज्ञानका है अवीचार नाम अर्थ व्यंजन योगोंकी संक्राति नहीं होनेका है। इस ध्यानमें श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर एक भावसे ही ध्यान किया जाता है अर्थ व्यंजन योगोंका परिवर्तन इस ध्यानमें नहीं होता है यह ध्यान किसी एक योगसे ही किसी एक पदार्थ अथवा गुणका चिंतवन करता है। उसी एक भावमें तलीन होजाता है। यह ध्यान भी ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंके धारण करनेवाले उत्तम मुनियोंके होता है यह ध्यान क्षीणकषायके बाकी बहुभाग बचे हुये समयोंमें होता है इस एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानमें घातिया कर्मोंके नाश करनेकी पूर्ण सामर्थ्य है। क्षीणकषायके अंतमें इसी एकत्ववितर्कावीचार ध्यानके बलसे आत्मा ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय इन तीनों कर्मोंका पूर्ण नाश कर डालता है और पृथक्त्ववितर्कविचार ध्यानके बलसे दशवें गुणस्थानके अंतमें ही मोहनीय कर्मका पूर्ण नाश कर देता है उस अवस्थामें चारों घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे आत्मा अनंत-

क्रियाप्रतिपातीध्यानको ग्रहण करते हैं और जिस समय उन भगवानके अंतर्मुहूर्त आयु कर्मकी स्थिति वाकी रह जाती है और वाकीके वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंकी स्थिति उस आयु कर्मसे अधिक रहती है उस समय वे भगवान सामायिककी सहायता रखनेवाले विशेष कारण वाले महासंवर करनेवाले और कर्मोंका विपाक अतिशीघ्र करनेवाले (एक समय मात्रमें कर्मोंको उदयावलीमें लानेवाले) ऐसे अपने उपयोगविशेषके अतिशयसे आयु कर्मसे अधिक स्थिति रखनेवाले उन वेदनीयादि शेष कर्मोंके परमाणुओंको नष्ट करनेकी शक्तिका स्वभाव प्रगट हो जानेसे केवलीसमुद्घात करते हैं वह समुद्घात दंड कपाट प्रतर और लोकपूरण रूप अपने आत्माके प्रदेशोंके विस्तारसे चार समयोंमें करके और उतने ही समयों (चार) में उन आत्मप्रदेशोंको संकोच लेते हैं इसी क्रियासे उन तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मके वरावर अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है उस समय वे केवली भगवान अपने शरीर परिमाण आत्मप्रदेशोंको धारण कर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानको ध्याते हैं।

उसीके पीछे वे समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यानका आरंभ करते हैं, इस ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका प्रचार समस्त काय वचन मनोयोग और समस्त परिस्पंद क्रियाका व्यापार नष्ट होजाता है इसीलिये इस ध्यानको समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिनामा ध्यान कहते हैं। उस समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यानके होने पर सब प्रकारका बंध और आस्रव हो जाता है और उस ध्यानके बलसे अयोगकेवली चौदहवें गुण-स्थानवर्ती जिनेन्द्रदेवके शेष समस्त कर्मोंको नष्ट करनेकी सामर्थ्य प्रगट होजाती है उसीसमय उनके सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र परमावगाढ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये तीनों रत्नत्रय परम प्रकर्षपनेको प्राप्त होजाते हैं उसी समय उनमें समस्त संसार दुःखोंके जालको काटनेकी सामर्थ्य आजाती है और साक्षात् तत्काल ही मोक्ष प्राप्त करानेकी कारणता भी उत्पन्न हो जाती है। उससमय वे अयोगकेवली

१—यह समस्त क्रिया विना इच्छाके आत्माको परम निर्मलताके कारण स्वयं स्वभावसे हो जाती है।

दर्शन अनंतज्ञान अनंतसुख अनंतवीर्यरूप अनंतचतुष्टय लक्ष्मीको पालेता है। क्षायिक दान लाभ भोग उपभोग आदि क्षायिक लब्धियां भी सब उसीं समय प्राप्त होजाती हैं उस समय आत्मा परम वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेष्टा परमात्मा हो जाता है। ये सयोगकेवली भगवान अधिकसे अधिक कुछकम एक करोड पूर्वतक विहार करते हैं, जबतक वे भव्य जीवोंके परम पुण्योदयसे उन्हें हितोपदेश देते हैं तबतक वे वादर योगवाले कहे जाते हैं, पीछे जब उनकी आयु केवल अंतर्मुहूर्तमात्र रह जाती है और वेदनीय नाम गोत्र इन कर्मोंकी स्थिति भी आयुके वरावर ही रहती है उस समय तक वे वादर काय योगमें विराजमान रहते हैं फिर क्रमसे वादर योगोंका निरोध करते हैं, मन वचन श्वासोच्छ्वास और वादर काययोग आदि वादर क्रियायोंका निरोध करते हैं उस समय सूक्ष्मकाययोगको धारण करते हैं और उस समय सूक्ष्म मन वचन काय श्वासोच्छ्वासको भी रोकनेमें समर्थ होते हैं उस समय उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामा तीसरा शुक्लध्यान होता है। यह शुक्लध्यान सामान्य शुक्लध्यानकी अपेक्षा तीसरा कहलाता है परंतु परम शुक्लध्यानकी अपेक्षा पहला है। यदि सयोगकेवली भगवानके आयुकर्मकी स्थिति अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और वेदनीय गोत्र नाम इन अघातिया कर्मोंकी स्थिति कुछ अधिक रहती है तो उनके केवली समुद्घात नामा समुद्घात होता है उसमें आठ समय लगते हैं। दंड कपाट प्रतर और लोकपूरण इन चार विभागोंमें चार समयमें आत्मप्रदेश क्रमसे फैल जाते हैं और क्रमसे चार समयमें ही आत्मामें स्थिति होजाते हैं दंडाकार प्रदेशोंमें वादर काय योग रहता है, कपाट और प्रतरमें मिश्रयोग रहता है और लोकपूरणमें सूक्ष्म काययोग रहता है। इस समुद्घातसे तीनों अघातिया कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है। उसी समय यह जीवन्मुक्त परमात्मा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यानके द्वारा उन मन वचन काय श्वासोच्छ्वासकी सूक्ष्मक्रियाको भी रोकनेमें समर्थ होते हैं और पूर्णयोग निरोध कर डालते हैं उसी समय उनके दूसरा परम शुक्लध्यान अथवा चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा ध्यान प्रगट हो जाता है। उस समय उनके

भगवान ध्यानरूपी अग्निसे समस्त कर्मरूपी कलंकोंके बंधनोंको जला डालते हैं, और जिस प्रकार अग्निमें तपकर सोना किट्टिकालिमादि अंतरंग बहिरंग दोषोंसे रहित होकर शुद्ध सौटंचका होजाता है उसी प्रकार वे केवली भगवान भी परमोत्कृष्ट ध्यानके द्वारा समस्त कर्म नोकर्म परमाणुओंको सर्वथा नष्ट कर परम निर्मल बन जाते हैं वस वही समय उनकी मोक्षप्राप्तिका है जहां आयु कर्मका अंत होनेसे आत्मा शरीरसे भी पृथक् हुआ वहींपर वह अमूर्तिक परम विशुद्ध निर्लेप होता हुआ मोक्षावस्थाको प्राप्त करलेता है। इसी मोक्षप्राप्तिको परमात्माकी सिद्धावस्था कहते हैं इस प्रकार यह अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारका तप नवीन कर्मोंके रोकनेका कारण होनेसे संवरका हेतु कहा जाता है और आत्माके साथ बंध हुये पहले कर्मोंके नष्ट करनेका भी कारण होनेसे निर्जराका हेतु भी कहा जाता है। इस प्रकार यह तपोंका कथन किया जाचुका।

प्रश्न—अब यहां यह प्रश्न होता है कि यह वात तो कही जाचुकी कि परीषहोंके जीतनेसे और तपसे भी कर्मोंकी निर्जरा होजाती है परंतु यह वात अभी समझमें नहीं आई है कि सभी सम्यग्दृष्टि समान रूपसे ही निर्जरा करते हैं अथवा उसमें कुछ हीनाधिकता भी है, उत्तर—कहते हैं कि उन सम्यग्दृष्टियोंमें परस्पर विशेषता होनेसे उनकी निर्जरामें भी हीनाधिकता है, वह किस प्रकार है? इसीका उत्तर नीचेके सूत्र द्वारा कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणानिर्जराः ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—१-अविरत सम्यग्दृष्टि, २-एकदेशव्रती श्रावक ३-प्रमत्त गुणस्थानवर्ती विरत मुनि, ४-अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभकी संयोजना करनेवाले चौथेसे सातवें तक गुणस्थानवर्ती, ५-दर्शन मोहनीय कर्मका क्षय करनेवाले चौथेसे सातवें गुणस्थानवाले भव्य जीव ६-चारित्र मोहनीय कर्मकी

प्राणापानका संचार समस्त मन वचन कायके योग और प्रदेशोंका व्यापार नष्ट होजाता है। इसीलिये उस ध्यानका नाम समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति भी है। व्युपरतक्रियानिवृत्ति अथवा समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति दोनोंका एक ही अर्थ है इस ध्यानमें समस्त आस्रवोंका नाश हो जाता है और आत्मा वाकीके समस्त कर्मोंको नष्ट करनेमें समर्थ होजाता है। उसी समय उनके समस्त शील और गुण प्रगट होजाते हैं, परमावगाढ सम्यक्त्व और परमावगाढ चारित्र भी वहीं पर प्रगट हो जाता है उसी क्षणमें वे अयोगी जिनेन्द्र भगवान समस्त अघातिया कर्मोंको नष्टकर ऊर्ध्वलोकके शिखर पर सूक्ष्मवातवलयके अंतभागमें अपने ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण जा विराजते हैं। फिर वहांसे उनका पुनः संसारमें कभी आना नहीं होता है वे ही सिद्धपरमेष्ठी कहलाते हैं। इस प्रकार इन शुक्लध्यानके चारो पायोंका (भेदोंका) यह संक्षेपसे स्वरूप कहा गया है।

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षया सर्वेषामन्वर्थत्वं ॥ १ ॥

अर्थ—जो इन ध्यानोंका लक्षण कहने वाले हैं उसकी अपेक्षा लेकर सभी ध्यान यथार्थ नामवाले सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् जैसे इन ध्यानोंके नाम हैं उन्हींके अनुसार उनके अर्थ हैं यह जो चार प्रकार का शुक्लध्यान बताया गया है वह किस किस अवलंबनको लेकर होता है इसी वातको स्पष्ट करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानां ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—तीन योगोंसे किसी एक योगसे, काय योगसे और अयोगसे पृथक्त्ववितर्कवीचार आदि चारों ही शुक्लध्यान होते हैं इसीका स्पष्ट विवेचन इसप्रकार है—

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ॥ १ ॥

अर्थ—यह योग शब्द पहले छठे अध्यायमें कहा जा चुका है वहां इसका खुलासा अर्थ किया गया है। "कायवाङ्मनः कर्मयोगः" यह छठे अध्यायका पहला सूत्र है इसमें योगका पूर्ण विवेचन किया गया है।

उपशम श्रेणी द्वारा उपशम करनेवाले आठवेंसे दशवें गुणस्थानवाले यति, ७-चारित्र मोहनीयका सर्वथा उपशम कर चुकनेवाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती यति, ८-चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय करनेवाले क्षपक श्रेणी चढेहुये आठवेंसे दशवें गुणस्थानवर्ती यति, ९-चारित्र मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षयकर चुकनेवाले बारहवें गुणस्थानवर्ती यति, १०-तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जिन और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली जिन, ये दश प्रकारके सम्यग्दृष्टि क्रमसे असंख्यातगुणी उत्तरोत्तर अधिक निर्जरा करते हैं। इस बातको सिद्ध करनेकेलिये श्री राजवार्तिककार श्री आचार्यवर्य श्रीमद्अकलंकदेव व्याख्यान द्वारा बताते हैं—प्रथम सम्यक्त्व आदिकी प्राप्ति होनेपर भावोंकी विशुद्धिके प्रकर्षसे इन दशों भेदोंमें असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी निर्जरा सिद्ध होजाती है अर्थात् सबसे पहले अनादि मिथ्यात्वसे निकलकर प्रथमोपशमसम्यक्त्व आत्मामें उत्पन्न होता है उसी समय मिथ्यात्वकी अपेक्षा उस सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणी विशुद्धि बढ जानेसे असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है, पीछे जब वह अविरत सम्यग्दृष्टि एक देशव्रती होता है तो उसके असंख्यातगुणी विशुद्धि बढजानेसे उस अविरत सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा असंख्यातगुणी* निर्जरा बढ जाती है इसी क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी विशुद्धि बढजानेसे निर्जरा भी उतनी उतनी ही बढती जाती है। उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी विशुद्धि किस प्रकार बढ जाती है इसकेलिये दृष्टांत देते हैं—जैसे कोई व्यसनी पुरुष मद पीकर मूर्च्छित होजाता है परंतु धीरे धीरे अथवा प्रयोग विशेषसे मदका कुछ अंश कमती होनेसे जो ज्ञान शक्ति मूर्च्छित हो चुकी थी वह एक देशरूपमें प्रगट होजाती है। अथवा जैसे जिस पुरुषको तीव्र निद्रा आनेसे हरएक पदार्थकी विस्मृति (यादका नहीं होना) हो जाती है परंतु निद्राके कुछ भंग होनेसे थोडी थोडी स्मृति आने लगती है अथवा जैसे—जिसने किसी प्रकार

*—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिनोंको एक जिन शब्दसे लेकर दश भेद सम्यग्दृष्टि आदिके किये गये हैं यदि दोनों जिनोंको भिन्न भिन्न लिया जाता तो ग्यारह भेद होजाते हैं।

यथासंख्यं चतुर्णामभिसंबंधः ॥ २ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो तीन योग, एक योग, काय योग और अयोग ये चार बातें कही गई हैं उनका चारों शुक्लध्यानोंके साथ क्रमसे संबंध किया जाता है, जैसे—तीनों योगोंके अवलंबनसे पृथक्त्ववितर्क-वीचार ध्यान होता है। तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगके अवलंबनसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान होता है, केवल काययोगके अवलंबनसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान होता है तथा समस्त योगोंके अवलंबनसे रहित अयोगअवस्थामें व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान होता है इसप्रकार चारों अवलंबनोंका चारो ध्यानोंके साथ संबंध होता है। अब उन चारोंमें जो पहला पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान है उसके विषयमें विशेष बोध प्राप्तिकेलिये नीचेका सूत्र कहा जाता है—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—पहले दो शुक्लध्यान श्रुतकेवलीके होते हैं और वितर्क तथा वीचारसे सहित होते हैं अर्थात् श्रुतज्ञानका अवलंबन लेते हैं और अर्थ व्यंजन योगोंका संक्रमण करते हैं यह सामान्य कथन है।

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयासिद्धिः ॥ १ ॥

अर्थ—दोनों शुक्ल ध्यानोंको वे ही मुनिराज आरंभ करते हैं जिन्हें पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त हो चुकता है इसी वातको दिखानेकेलिये एकाश्रये ऐसा पद सूत्रमें दिया गया है दोनों ध्यानोंका एक ही आश्रय है एक ही प्रकारका सकल श्रुतज्ञानी स्वामी है।

सवितर्कवीचार इति द्वंद्वपूर्वोऽन्यपदार्थानिर्देशः ॥ २ ॥

अर्थ—'सवितर्कवीचारे' इस पदमें पहले द्वंद्व समास की जाती है पीछे अन्य पदार्थके साथ वृत्ति की जाती है जैसे—वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ सहवितर्कवीचाराभ्यां वर्तते सवितर्कवीचारः अर्थात्

विषभक्षण कर लिया हो वह पुरुष मोहित—वेहोश हो जाता है परंतु एक देश रूपमें विष विकारके हट जानेसे उसे चेतना आजाती है अर्थात् वह जागृत हो जाता है अथवा जैसे-पित्तादि विकारोंसे जिसे मूर्च्छा आजाती है परंतु उन विकारोंके कुछ अंशोंमें दूर हो जानेसे कुछ अंशोंमें चेतनाकी अभिव्यक्ति भी हो जाती है इसी प्रकार यह संसारी जीव अनंत काय आदि एकेन्द्रिय पर्यायोंमें अनंत काल पर्यंत उत्पन्न होता रहता है और उन्हीं योनियोंमें घूमता रहता है फिर कहीं कर्मोंके क्षयोपशमरूप विशेष लब्धि होनेसे एकेंद्रियसे निकल कर द्वींद्रिय त्रींद्रिय आदि पर्यायोंमें भ्रमण करता है कभी चतुरिंद्रिय और पंचेन्द्रिय भी हो जाता है फिर भी पापोदयकी तीव्रतासे एकेंद्रिय हो जाता है इस प्रकार लाखों वार अथवा असंख्य वार घूम फिर कर फिर कहीं पंचेन्द्रिय पर्यायको पाता है तो भी नरकादि दुःखमयी गतियोंमें अनेक सागर प्रमाण दीर्घकाल तक वहीं पर दुःखका अनुभव करता रहता है पीछे पुण्योदयकी प्रकर्षतासे घुणके द्वारा उकेरे हुए अक्षरोंके समान कभी मनुष्य पर्याय पाता है उस मनुष्य पर्यायमें भी नाना प्रकारके नीच कुलोंमें जन्म लेकर अनेक जन्ममरण धारण करता रहता है फिर बडी कठिनतासे प्राप्त होने वाले देश कुलादिकोंको पाकर अर्थात् धर्म प्राप्तिके योग्य उत्तम देश और उत्तम कुलोंको पाकर संक्लेशके कुछ कमती होनेसे वह भव्य जीव प्रतिभाशक्तिवाला थोडीसी विशुद्धिको पालेता है उस परिणाम विशुद्धिसे उसका आत्मा यद्यपि थोडासा निर्मल होजाता है फिर भी सद्गुरुका उपदेश नहीं मिलनेसे श्रेष्ठ मार्ग जैनमार्गको नहीं पाता है किंतु खोटे खोटे मतों द्वारा कहे गये मिथ्या पदार्थोंको मानकर मिथ्यादृष्टि होकर फिर भी संसाररूपी बडेभारी देशका ही महमान वना रहता है फिर भी इसी क्रमसे अनेक मिथ्यामार्गोंमें और कुयोनियोंमें घूम फिर कर अज्ञानभावजनक मिथ्यात्वविशिष्ट ज्ञानावरण

१—पुराने वृक्षोंमें जो घुन (छोटासा कीडा जो अन्नको घुनादेता है) लग जाता है वह अक्षर सरीखा वन जाता है अर्थात् कीडा वृक्षको इधर उधरसे काटता है उसके काटनेमें कभी कभी अक्षर वन जाते है इसीको घुणाक्षरन्याय कहते हैं।

वितर्क और वीचार मिलकर वितर्कवीचार कहलाये और वितर्कवीचारके साथ जो ध्यान हो वह सवितर्क वीचार ध्यान कहलाता है। शंका—

पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेन्नोक्तत्वात ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि पूर्वके शुक्लध्यान ऐसा पद दियागया है तो पूर्व शब्दसे तो एक ही का ग्रहण होगा जो पहला एक शुक्लध्यान है वही पूर्व शब्दसे ग्रहण किया जासकता है परंतु यहां पर पूर्व शब्दसे आदिके दो शुक्लध्यान लिये गये हैं। सो कैसे? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि इस बातका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि जो समीप रहता है उसको भी समीप होनेसे पहली कोटिमें सामिल कर लेते हैं इस प्रकार द्विवचनकी सामर्थ्यसे आदिके दोनों शुक्लध्यानोंका ग्रहण हो जाता है। उन दोनों ध्यानोंमें ऐसा क्रमवर्ती अर्थ नहीं ग्रहण किया जाय कि सवितर्क पहला शुक्ल ध्यान होता है और सवीचार दूसरा शुक्ल ध्यान होता है इस अनिष्ट क्रमकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहते हैं—

अवीचारं द्वितीयं ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान अवीचार होता है अर्थात् जिस प्रकार पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है उस प्रकार यह दूसरा सवीचार नहीं होता है केवल सवितर्क होता है परंतु वह अर्थ व्यंजन योगोंका संक्रमण नहीं करता है किंतु एक ही विषयमें एक भावसे लीन रहता है इसीका खुलासा व्याख्या द्वारा इस प्रकार होता है-पूर्वके दो शुक्लध्यानोंमें जो दूसरा एकत्ववितर्कशुक्ल-ध्यान है वह अवीचार है अर्थात् वीचारसे रहित है अर्थात् पहला सवितर्क और सवीचार होता है और दूसरा सवितर्क और अवीचार होता है। प्रश्न—वितर्क और वीचारमें क्या विशेषता है अर्थात् दोनोंके अर्थ में क्या भेद है? इसीके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

कर्मके एक देश उपशम होनेसे विशुद्धिको पाता हुआ उपदेश लब्धिको प्राप्त कर लेता है अथवा कदाचित मुनींद्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतोंको सुन लेता है और प्रतिबंधी कर्मोंके दब जानेसे (उपशमित हो जानेसे) उन पर श्रद्धान भी करता है और जिस प्रकार मलिन जलमें फिटकरी आदि डाल देनेसे वह जल निर्मल होजाता है उसमें जो मल था वह नीचे बैठ जाता है उसी प्रकार मिथ्या पदार्थोंके उपदेशोंसे जो आत्मामें मलिनता आ चुकी थी वह मलिनता उस मिथ्या कर्मके उपशम हो जानेसे दूर हो जाती है और आत्मा निर्मल हो जाता है उसी समय श्रद्धानके अनुकूल अभिलाषाकी मुख्यतासे वह भव्यजीव असंख्यातगुणी निर्जरा करने लगजाता है तथा अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तकरण इन अभूतपूर्व (पहले कभी नहीं होनेवाले) भावोंसे प्रथम सम्यग्दर्शनके अभिमुख होता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है यही सम्यग्दर्शन प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है अनादिमिथ्यादृष्टिको सबसे प्रथम यही सम्यग्दर्शन होता है उस समय उसकी जिनेंद्र वचनोंमें पूर्ण रुचि और श्रद्धा स्वभावसे हो जाती है। सम्यग्दर्शनके विशुद्ध भावरूपी अमृतरसके पानसे उसकी विशुद्धि और भी बढ जाती है उस समय जो पहले मिथ्यात्वकर्मके उदयमें वीर्यशक्तिका विघात हो रहा था वह आत्माकी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है और उस विशुद्धिकी प्रकर्षतासे वह निर्मल सम्यग्दृष्टि आत्मा उन्हीं प्रथम सम्यक्त्व रूप विशुद्ध परिणामोंसे सत्तामें बैठे हुए मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकडे कर डालता है १ मिथ्यात्व २ सम्यङ्मिथ्यात्व ३ सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन टुकडे उसी प्रकार करता है जिस प्रकार धानोंको दलनेसे उनके तीन टुकडे हो जाते हैं उनका एक टुकडा तो चांवल कहलाता है दूसरा छोटे छोटे कणरूप हो जाता है और तीसरा टुकडा भूसी स्वरूप होता है उनमें चांवलके समान तो मिथ्यात्व टुकडा समझना चाहिये जैसे चांवलमें सबसे अधिक शक्ति है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्ममें पूर्ण घात करनेकी शक्ति रहती है, कणके समान सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति समझनी चाहिये कणमें भी उदर-पूर्तिकी सामर्थ्य है उसीप्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति भी जात्यंतर रूपसे

अनुवृत्ति जाती है। यदि 'असंख्येयप्रदेशाः' ऐसा पाठ माना जायगा तो यहां बहुव्रीहि समास होनेसे जिनके असंख्यात प्रदेश हों ऐसे धर्म अधर्म आदि 'असंख्येयप्रदेश' कहे जाते हैं, यह अर्थ होगा। यहांपर द्रव्यका विशेषण होनेसे प्रदेश शब्द गौण होगा मुख्य नहीं माना जा सकेगा और गौण होनेसे प्रदेश शब्दकी आगे अनुवृत्ति न जा सकेगी। आगेके सूत्रोंमें उसकी अनुवृत्ति न जा सकनेके कारण प्रदेश शब्दका उल्लेख करना होगा और तब हर एक सूत्रमें प्रदेश शब्दके ग्रहण करनेसे महा गौरव होगा क्योंकि 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादि सूत्रमें तो दो अक्षरोंका ही लाघव होगा परंतु 'प्रदेशाः' इतने अक्षर आगेके सूत्रोंमें कहे जांयगे जिससे थोडे फलके लिये बहुत हानि सहनी पडेगी इसलिए सूत्रका जैसा पाठ है वहीं रखना ठीक है, परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। यदि कोई यहांपर यह शंका करे कि—

प्रदेशकल्पना निरवयवत्वादौपचारिकी सिंहवत् ॥ ९ ॥ न वा प्रत्ययाभेदात् ॥ १० ॥

जिसतरह विशिष्टपंचेंद्रिय तिर्यंच नामकर्मके उदयसे जायमान, क्रूरता शूरता आदि प्रकृष्टगुणोंका धारक पैने नख पैनी दाढ देदीप्यमान सटा एवं पीले नेत्र आदि विशिष्ट अवयवोंका धारक केसरी पदार्थ सिंह शब्दका मुख्य अर्थ है और वैसे गुणोंके न भी धारक बालकमें उसका अध्यारोप करलिया जाता है इसीलिए 'सिंहो माणवकः' अर्थात् यह बालक सिंह है ऐसा संसारके अन्दर व्यवहार होनेसे माणवकमें सिंह शब्दका वाच्य गौण है उसीप्रकार प्रदेश शब्द पुद्गलोंके अन्दर मुख्य है क्योंकि पुद्गलोंके जुदे जुदे टुकडे हो जाते हैं और धर्म आदिके अंदर गौण है क्योंकि वे निरवयव—अखंड पदार्थ हैं उनके टुकडे नहीं हो सकते इसलिए धर्म द्रव्य आदि निरवयव अखंड पदार्थ होनेके कारण उनमें प्रदेशोंकी कल्पना उपचारसे है, मुख्य रूपसे नहीं। उपचार मिथ्या उक्ति मानी जाती है यह ऊपर कहा जा चुका है

इसलिये धर्मास्तिकाय आदिके जो असंख्याते प्रदेश माने हैं वह मिथ्या हैं ? सो ठीक नहीं। उपर्युक्त लक्षणके धारक केसरीमें जो सिंह शब्दका वाच्यपना मुख्य और निश्चित है उससे बालकमें गौण और अनिश्चित रूपसे होनेवाला सिंह शब्दका वाच्यपना भिन्न है इसरीतिसे असली सिंह और कृत्रिम सिंह दोनोंके अंदर जिसप्रकार भेद है उसप्रकार पुद्गल द्रव्य और धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेशोंकी प्रतीति भिन्न भिन्न नहीं होती क्योंकि दोनों जगह अवगाहन भेदकी समानता है अर्थात् जिसप्रकार पुद्गल-परमाणु आकाशके जितने क्षेत्रको घेरता है उसीप्रकार धर्मादि द्रव्योंका एक प्रदेश भी उतने ही आकाशक्षेत्रको घेरता है तथा जिसप्रकार नानापरमाणुओंका क्षेत्रभेद पाया जाता है उसप्रकार धर्मादि द्रव्योंके प्रदेशोंका भी क्षेत्रभेद है इसलिये परमाणु और प्रदेश दोनोंमें प्रदेशोंके अवगाहका परिज्ञान समान है। तथा यह भी बात है कि—

उभयत्र सोपपदत्वात् ॥ ११ ॥

जहांपर केवल सिंह शब्दका प्रयोग होगा विशेष्य वा विशेषण रूपसे कोई भी शब्द उसका उपपद न होगा वहांपर तो वह मुख्य रूपसे केसरी रूप अर्थका प्रतिपादन करता है और जहांपर उसके साथ उपपद अर्थात् कोई दूसरा पद लगा रहता है वहांपर सिंह शब्द गौणरूपसे केसरी अर्थका प्रतिपादन करता है जिसतरह 'सिंहो माणवकः' यह बालक सिंह है यहांपर शुद्ध सिंह शब्दका प्रयोग नहीं किंतु माणवक पद उसके पीछे लगा हुआ है इसलिए यहांपर बालकमें गौणरूपसे सिंह अर्थका प्रतिपादन है परंतु जिसप्रकार मुख्यरूपसे सिंहस्वरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला सिंहरूप उपपदरहित विशेष शब्द है उसप्रकार निरुपपद और विशेषस्वरूप प्रदेश शब्द नहीं किंतु पुद्गल और धर्म आदिमें

आत्माके गुणोंका सर्वघात करती है परंतु मिथ्यात्व द्वारा होनेवाले सर्वघातसे इसके घातमें कुछ हलका-पन है इसीलिये जात्यंतरसर्वघात कहा गया है इसीलिये सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयमें तीसरा गुणस्थान हो जाता है और मिथ्यात्वके उदयमें पहला गुणस्थान होता है फिर भी सम्यग्दर्शन गुणका दोनों ही घात करती हैं भूसीके समान सम्यक्त्व प्रकृति है, भूसीके सेवनसे कुछ फल नहीं होता फिर भी अंशांशरूपसे उससे भी थोडासा विकार होता ही है उसीप्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिसे सम्यग्दर्शनका घात नहीं हो पाता है फिर भी उसमें वह प्रकृति चलता मलिनता और अगाढता ये तीन दोष पैदा कर देती है इन तीन टुकडोंके हो जानेसे मिथ्यात्व कर्मकी जो पूर्ण सामर्थ्य थी वह तीन भेदोंमें बट जानेसे बहुत कम हो जाती है यह परिणाम प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप निर्मल भावके प्रगट होनेका है उसीका यह फल है* ।

उन मिथ्यात्वके तीन टुकडोंमें सबसे हलका टुकडा सम्यक्त्व प्रकृति है, उसके उदयमें आत्मा वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है, वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि दोनों पर्यायवाची हैं। इस सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमे आत्मा पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान ही करता है। वह सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य इन सद्भावोंसे विभूषित होता हुआ जिनेन्द्र भगवानकी भक्तिकी बढी हुई बहुत भारी भावनाका अपने आत्मामें संचार करने लगता है और जहांपर केवली भगवान (श्रुत-केवली या प्रत्यक्षकेवली) विराजे होते हैं वहां पहुंचकर दर्शन मोहनीयके क्षय करनेका आरंभ करता है और केवलीके पादमूलमें उस क्षायिक सम्यग्दर्शनका प्रारंभकर उसकी समाप्ति अर्थात् उस क्षायिक सम्यक्त्वकी पूर्णता पूर्व बांधे हुए आयुकर्मके अनुसार चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें करता है।

* जंतेण कोदवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण। मिच्छं दव्वं तु तिधा असंख गुणहीण दव्वकमा। २६ गोम्मटसार

अर्थात् जिसप्रकार चक्कीसे दले हुये कोदों धान्यके तीन टुकडे होजाते है उसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्रके द्वारा मिथ्यात्व कर्मद्रव्य भी असंख्यात गुणी हीन शक्तिको लिये हुये तीन टुकड़ोंमें बँट जाता हैं।

वेद उनका भिन्न भिन्न है, लेश्याऐं भी जुदी जुदी हैं उत्पत्तिके स्थान भी भिन्न भिन्न हैं अर्थात् कोई मुनि मरण कर किसी स्वर्गमें जाते हैं कोई मोक्षमें जाते हैं और भी भिन्न भिन्न रूपसे अपने अपने भावोंके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारसे उत्पन्न होते हैं तथा कषाय और अकषायके निमित्तसे जो संयम स्थानोंमें अनेक भेद हो जाते हैं उन भेदोंकी अपेक्षा भी उनके अनेक भेद हैं इस प्रकार इन संयम आदि आठ बातोंसे उन पुलाक आदि मुनियोंमें परस्पर विशेषता है उनके सयंम आदिमें किस रूपसे विशेषता है इसका वर्णन ग्रंथकार इस सूत्रकी व्याख्यामें स्वयं करेंगे। शंका—

तसो लक्षणत्वादनिर्देश इति चेन्नान्यतोपीति वचनात्सिद्धेः ॥ १ ॥

अर्थ—यहां पर शंका होती है कि सूत्रमें 'विकल्पतः' इस पदसे तस् प्रत्यय हुआ है सो नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका विधानकरनेवाला कोई सूत्र नहीं है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि "अन्यतोपि" इस वचनसे सिद्धि हो जाती है अर्थात् पंचमी विभक्तिसे तस् प्रत्यय होता है और तृतीया आदि अन्य विभक्तियोंसे भी तस् प्रत्यय होता है। पुनः शंका—

भवदादियोग इति चेन्नान्यत्रापि दर्शनात् ॥ २ ॥

अर्थ—यहां फिर यह शंका होती है कि पंचमी विभक्तिके सिवा अन्यत्र भी जो तस् प्रत्यय होता है वह भू धातु आदिके योग रहते ही होता है जहां भू धातु आदिका योग नहीं है वहां तस्की उत्पत्ति नहीं होती है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि जहां भूधातु आदिका योग नहीं है वहां भी देखा जाता है अर्थात् अन्यत्र भी तस् प्रयोग देखा जाता है जैसे 'नार्थतः, न शब्दतः, नाभिधानतः, स मध्यमः' इति इन वाक्योंमें मध्यम शब्दके योगमें अर्थ आदि शब्दोंसे तस् प्रत्यय देखा जाता है।

प्रातिसेवनेति षत्वाभावः क्रियांतराभिसंबंधात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार इस ग्रामसे सेवक चले गये हैं 'वह विसेवक ग्राम कहलाता है' यहां पर विसेवक

उसी समय वह भव्य मिथ्यात्व कर्मका आत्मासे सर्वथा नाशकर और साथ ही सम्यक्त्वका घात करने-
वाली अनंतानुबंधी चौकडीको भी सर्वथा नाशकर अर्थात् मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियां और अनंतानु-
बंधीकी चार प्रकृतियां इन सातों प्रकृतियोंका सर्वथा नाशकर क्षायकसम्यग्दृष्टि कहलाता है। इस
प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायकसम्यग्दृष्टि इन तीनों ही प्रकारके सम्यग्दृ-
ष्टियोंका संक्षिप्त स्वरूप कहा गया है। ये ऊपर कहेगये क्रमके अनुसार असंख्यातगुणी निर्जरा करते
हैं। अथवा जैसा सातवें अध्यायमें श्रावकका स्वरूप कहागया है उसीके अनुसार शंकादिक दोषोंसे रहित
खोटे शास्त्रोंसे जिसकी बुद्धिपर कुछभी विपरीत भाव नहीं आसकता है ऐसा आत्मीय सद्भावोंको प्राप्त
करनेवाला मोहनीयरूपी अंधकारके पटलसे जो सर्वथा दूर होचुका है और जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा
जिन-वचनोंमें विशेष अनुराग करता है संयमभाव आदि चारित्रकी प्रशंसा करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि
जीव जब आत्माके चारित्र गुणका एक देशघात करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण कर्मका-उपशम या क्षय
करदेता है उस समय एकदेश संयमकी प्राप्ति हो जानेसे वह देशव्रती श्रावकके नामसे कहा जाता है।
यह देशसंयमी श्रावक प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा असंख्यात-
गुणी निर्जरा करता है। पश्चात् प्रत्याख्यानावरण कषायके दूर होजानेसे जो विशुद्धिका प्रकर्ष आत्मामें
बढता है उसके कारण सब प्रकारके गृहस्थसंबंधी परिग्रहोंसे छूटकर परम निर्ग्रंथ दिगम्बर होता
हुआ छठे गुणस्थानवर्ती विरत कहलाता है। यही विरतभाव मुनिपदमें होता है। इस मुनि अवस्थामें
होनेवाले विरतभावमें उस एकदेशव्रती श्रावक की विशुद्धिसे मुनिकी विशुद्धि बहुत बढी हुई रहती
है। इसी क्रमसे उत्तरोत्तर विशुद्धिका स्वरूप बढा हुआ है और उसकी वृद्धिसे कर्मोंकी निर्जरा भी असं-
ख्यात गुणी असंख्यातगुणी अधिक होती जाती है। इसप्रकार ये सम्यग्दृष्टि आदि दशों भेद उत्त-
रोत्तर क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा अधिक अधिक करते जाते हैं इसका संक्षिप्त विवेचन हम सूत्रार्थमें
करचुके हैं, उससे दशोंके क्रमका ज्ञान कर लेना चाहिये। शंका—

शब्दमें षकार नहीं होता है किंतु सकार ही रहता है उसीप्रकार प्रतिगता सेवना प्रतिसेवना यहां पर भी क्रियांतरका संबंध होनेसे षकार नहीं हुआ है किंतु प्रतिसेवनामें सकार ही रह गया है अर्थात् जिसप्रकार विसेवकमें वि उपसर्गका संबंध गतरूप क्रियांतरके साथ होनेसे वहां षत्व नहीं होता है उसीप्रकार प्रतिसेवनामें प्रति उपसर्गका गत क्रियाके साथ संबंध होनेसे षत्व नहीं होता है, प्रतिगता सेवना प्रतिसेवना यहां गत क्रियांतर है।

पुलाकादयः संयमादिभिः साध्याः ॥ ४ ॥

अर्थ--ये पुलाक आदि पांच निर्ग्रंथ मुनि, संयम श्रुत आदि आठ प्रकारकी विशेष अवस्थाओंके द्वारा भिन्न भिन्न रूपमें सिद्ध किये जाते हैं अथवा इन संयमादि आठ भेदोंसे उनका भिन्न भिन्न रूप स्वरूप कथन किया जाता है वह इस प्रकार है—पहले कौनसे मुनि किस संयमको धारण करते हैं इसीको बताते हैं—पुलाकमुनि वकुशमुनि और कषायकुशील तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंके दो भेदोंमेंसे प्रतिसेवनाकुशीलमुनि सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमोंको धारण करते हैं तथा कषायकुशीलमुनि परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय इन चारित्रोंको धारण करते हैं और पहले जो सामायिक छेदोपस्थापना दो चारित्र कहे गये हैं उन्हें भी धारण करते हैं अर्थात् पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन मुनियोंकी अपेक्षा कषायकुशीलमुनिका पद बहुत बढा है। ये दशवें गुणस्थान तक पहुंच जाते हैं। तथा निर्ग्रंथ और स्नातक ये दोप्रकारके मुनि केवल एक यथाख्यात चारित्रको धारण करते हैं अर्थात् ये मुनि दशवें गुणस्थानके ऊपर ही होते हैं उनमें भी स्नातक तो तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती ही होते हैं इस प्रकार संयमकी अपेक्षासे इन पुलाक आदि मुनियोंमें भेद है। अब श्रुतज्ञानकी अपेक्षा भेद कहते हैं—पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन प्रकारके मुनि तो उत्कृष्ट रीतिसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वके धारी होते हैं अर्थात् एक भी अक्षरको नहीं छोडकर पूर्ण दश पूर्वके ज्ञाता होते हैं। तथा

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—पुलाक, वकुल, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक ये पांच भेद निर्ग्रंथ मुनियोंके होते हैं अर्थात् छठे गुणस्थानसे मुनिव्रत प्रारंभ होता है वहांसे लेकर तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान तक सव निर्ग्रंथोंके भेद हैं उन्हीं भेदोंमें समस्त मुनियोंका संग्रह हो जाता है इन पांचोंका स्वरूप इसप्रकार है——

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनकी उत्तरगुणोंमें चित्तवृत्ति नहीं लगती है अर्थात् उत्तरगुणोंको जो नियमपूर्वक पालन नहीं करते हैं और मूल व्रतोंमें भी किसी समय किसी क्षेत्रविशेषमें किसी निमित्तसे परिपूर्णता नहीं हो पाती है अर्थात् जो मुनियोंके आवश्यक पालनीय अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, जिनके पालन किये विना मुनिपद ही नहीं कहलाता है उन मूलगुणोंमेंसे कभी कोई गुण किसी क्षणमें नहीं भी पाला जा सके तो भी वे मुनिपदसे च्युत नहीं कहलाते हैं, इसप्रकार कुछ अविशुद्धताको रखनेवाले हैं अतः तुच्छ धानके समान वे पुलाक मुनि कहे जाते हैं। जिसप्रकार तुच्छ धान्य अपना पूर्णस्वरूप संपादन नहीं कर पाता है इसलिये वह पुलाक नामसे कहा जाता है उसीके समान ये मुनिराज भी पूर्णरूपसे विशुद्धता नहीं धारण करते हैं इसलिये इन्हें भी पुलाकके नामसे कहते हैं अर्थात् पुलाक मुनि छठे गुणस्थानवर्ती तो होते ही हैं यदि छठे गुणस्थानवर्ती न हों तो उन्हें भावमुनियोंके भेदोंमें नहीं गिनाया जाता परंतु उत्तरगुण उनसे नहीं पलते हैं परंतु उनकी भावना अवश्य रखते हैं और मूलगुणोंमें भी मुख्य गुण जो नग्नत्वादि गुण हैं उन्हें छोडकर वाकी किसी गुणका किसी समय उनके नहीं भी पालन होता है ⊛। वकुश मुनियोंका स्वरूप इसप्रकार है।

अखंडितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रणवा वकुशाः ॥ २ ॥

कषायकुशील और निर्ग्रंथ ये दोनों प्रकारके मुनि चौदह पूर्वके धारी होते हैं। जघन्य रीतिसे पुलाकमुनिका श्रुतज्ञान केवल आचार वस्तुका बोध करनामात्र है अर्थात् आचारांगमें जो आचार वस्तु है वहां तक बोध होता है, वकुश कुशील और निर्ग्रंथ इन तीन प्रकारके मुनियोंका श्रुतज्ञान आठ प्रवचन माताओंका बोधरूप है पांच समिति और तीन गुप्तियोंका भलेप्रकार बोध हो जाता है। स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवलज्ञानी सर्वज्ञ होते हैं। इसप्रकार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा इनमें भेद है। अब प्रतिसेवनाकी अपेक्षा भेद बताते हैं—पांच मूलगुणोंको और रात्रिभोजनत्याग व्रतको धारण करनेवाले जो मुनि हैं वे किसी दूसरेकी बाध्यतावश जबरदस्ती उन पांच महाव्रतोंमेंसे और रात्रिभोजनत्यागरूप व्रतमेंसे किसी एककी विराधना करनेवाले पुलाक होते हैं। वकुशमुनि दो प्रकारके होते हैं—एक उपकरणवकुश दूसरे शरीरवकुश। उनमें जिन मुनियोंका चित्त पीछी कमंडलु चौकी शास्त्रोंका सुंदर वेष्ठन आदि चारित्रोपकरण और ज्ञानो पकरणोंमें रागयुक्त रहता है, जो अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न परिग्रहोंको धारण करते हैं अर्थात् अनेक उपकरणोंको वे सरागबुद्धिसे धारण करते हैं इसलिये परिग्रहयुक्त कहे जाते हैं, विशेष विशेष उपकरणोंकी चाहना भी रखते हैं और जो उन उपकरणोंका संस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण सदैव स्वच्छ सुंदर दीखते रहें ऐसा उनका संस्कार पसंद करते हैं ऐसे मुनि उपकरणवकुश कहलाते हैं, और जो अपने शरीरको स्वच्छ रखते हैं, अंगमें धूलि आदि लग जाय तो उसे हटा देते हैं अथवा उस धूलिधूसरित अंगको पसंद नहीं करते हैं वे शरीरवकुश मुनि कहे जाते हैं। तथा जो प्रतिसेवना-कुशील मुनि हैं वे मूलगुणोंमें तो किसीप्रकार विराधना (हानि) नहीं आने देते हैं, किंतु उत्तरगुणोंमें विराधना (हीनता) किसीप्रकार कुछ कर डालते हैं। कषायकुशील निर्ग्रंथ और स्नातक इन मुनियोंके प्रतिसेवना कहिये किसी गुणकी विराधना नहीं होती है अर्थात् उनके मूल गुण और उत्तर-गुण दोनों गुणोंमें किसी प्रकारकी हानि नहीं हो-पाती है। अब तीर्थकी अपेक्षा भेद बताते हैं—प्रत्येक

क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेन्न चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि सूत्रमें जो क्षपक शब्दका प्रयोग किया गया है वह साधु प्रयोग (ठीक) नहीं है क्योंकि अन्वाख्यानका वहांपर अभाव रहता है अर्थात् व्याकरण शास्त्रमें उस प्रकारका व्याख्यान नहीं है क्योंकि क्षै धातुसे आत्व और पुक् प्रत्यय होकर क्षापक सिद्ध होगा, क्षपक शब्दकी सिद्धि नहीं हो सकती है फिर सूत्रमें क्षपक शब्द किसप्रकार कहागया है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि चशब्दसे मित्संज्ञाकी उपलब्धि यहां क्षपक शब्दमें भी हो जाती है। जैसे—क्षै वै, षै, क्षयार्थक धातुऐं हैं इनसे आत्व करनेपर "णिविष्युकिजविजृष्टुसुरजोमंताश्चेति" इस सूत्रमें पडे हुये च शब्दसे क्षै धातुकी मित्संज्ञा हो जानेसे क्षै धातुको जो आत्व होता है वह ह्रस्व हो जाता है इसलिये क्षपक शब्द सिद्ध हो जाता है। प्रयोग किये गये शब्दोंका अन्वाख्यान पाया जाता है उसका प्रयोग भी देखा जाता है इसलिये अन्वाख्यानका अभाव नहीं होता है किंतु सद्भाव ही पाया जाता है।

प्रश्न—यहां यह प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शनके रहने पर भी सभी भेदोंमें यदि असंख्यातगुणी निर्जर होती है सम्यग्दर्शन सर्वत्र है फिर भी परस्पर उनकी निर्जरामें समानता नहीं पाई जाती है यह आश्चर्यकी बात है तो इसीप्रकार श्रावकके समान इस ऊपर सूत्रमें कहे गये विरत आदिक भेद परस्पर गुणोंका भेद होनेसे निर्ग्रंथ नहीं कहला सकते हैं अर्थात् जब परस्पर उनमें कषायोंके भेदसे गुणोंके प्रगटपनेका भेद है तो फिर सभी विरतादिक निर्ग्रंथलिंगधारी नहीं कहे जा सकते हैं ? उत्तर—यह प्रश्न भी ठीक नहीं है क्योंकि गुणोंके भेदसे यद्यपि परस्पर उनमें विशेषता है तो भी नैगमादिनयोंकी अपेक्षासे सभी निर्ग्रंथलिंगधारी कहलाते हैं अर्थात् स्थूल लक्षण सत्वमें निर्ग्रंथताका घट जाता है सूक्ष्म लक्षणमें तारतम्य होनेसे नयोंकी विवक्षासे उसरूपकी सिद्धि कर ली जाती है। उन निर्ग्रंथ मुनियोंके पांच भेद हैं वे नीचेके सूत्र द्वारा इसप्रकार हैं—

तीर्थंकरके वारेमें ये पांचों पुलाक आदि मुनि होते हैं इसलिये भिन्न भिन्न तीर्थंकरोंके समयमें होनेसे उनमें भेद है अर्थात् शास्त्रकारोंने प्रगट किया है कि श्रीऋषभदेव तीर्थंकरके समयमें पुरुषोंमें कुछ अज्ञानभावका वाहुल्य रहा है और श्रीमहावीरस्वामीके समयमें पुरुष उद्दंड और टेढी प्रकृतिके अधिक होते हैं इसलिये इन दोनों तीर्थंकरोंके समय प्रायश्चित्तके पात्र बताये गये हैं और बीचके बाइस तीर्थंकरोंके समयमें सरल और ज्ञानी होते आये हैं इसलिये उनमें प्रायश्चित्तकी पात्रताका आधिक्य नहीं रहा है। इससे भिन्न भिन्न तीर्थंकरोंके समयमें प्रकृति एवं ज्ञानादि गुणोंमें तथा संहनन आदि द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यतामें अंतर होता रहा है परंतु मुनियोंके स्वरूपमें ऐसा कोई अंतर नहीं आसकता जो उनके अट्ठाईस मूलगुण आदि मुनिरूपके वाह्य हो, उनके छठा गुणस्थान नग्नरूप आदि सभी मुनिस्वरूप तो नियमित रहता ही है। अव लिंगकी अपेक्षा उनमें भेद है इस वातका विचार किया जाता है। लिंग दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यलिंग दूसरा भावलिंग। उनमें भावलिंगको लेकर तो पांचों पुलाक आदि निर्ग्रंथ होते ही हैं परंतु द्रव्यलिंगकी अपेक्षा विभाग करना चाहिये। इसका स्पष्टार्थ यह है कि आत्मामें सम्यग्दर्शनका होना आवश्यक है और केवल संज्वलन कषायके उदयमें छठे गुणस्थानके योग्य संयमभावका होना आवश्यक है। इसप्रकारका सम्यक्त्वसहित परिणाम भावलिंग कहलाता है। वह भावलिंग जबतक नहीं होगा तबतक मुनिव्रत नहीं कहलाता है इसलिये पुलाक आदि मुनियोंके भावलिंग तो अवश्य ही रहता है। उत्तरोत्तर संज्वलन कषायका भी अभाव है और भी आत्माकी वीतराग अवस्था है। स्नातक तो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं इसलिये जघन्य भावलिंगसे लेकर उत्कृष्टपर्यंत उन पुलाक आदिमें अवश्य पाया जाता है अतः पांचों ही भावलिंगी कहे जाते हैं परंतु द्रव्यलिंगमें विचार करना है, वह इसप्रकार है कि वह भी दो प्रकार है—एक शरीरकी रचनारूप दूसरा कर्मोदयरूप। शरीरकी अपेक्षा तो सभी मुनि पुंवेदवाले होते हैं ऐसा नियम है, कोई स्त्रीलिंग

अर्थ—जो नग्न दिगम्बर अवस्थाको धारण करते हैं मूलगुणोंको खंडित नहीं होने देते हैं अर्थात् मूलगुण जिनके पूरे होते हैं, परंतु शरीर और उपकरणोंकी सुंदरता सफाईको पसंद करते हैं अर्थात् शरीर भी मैला न रहै, कमंडलु पिच्छिका भी नई हो इस प्रकारकी अनुराग बुद्धि उनकी बनी रहती है, ऋद्धि और यशकी चाहना भी उनके रहती है, अपना प्रभावशाली गौरव भी वे रखना चाहते हैं, परिवारके मनुष्योंसे ममत्वभाव भी पूर्णतासे नहीं छूटपाता है अथवा जिस संघमें रहते हैं उस संघसे भी ममत्व बुद्धि रखते हैं, इसप्रकार खंडरूपसे जो चित्रल भाव रखते हैं वे वकुश नामधारी मुनि कहे जाते हैं वकुश शब्द शवल शब्दका पर्यायवाची है अर्थात् शवलनाम चितकबरेका है जिसप्रकार कोई गौ या घोड़े लाल काला सफेद आदि कई रंग धारण करनेवाले पाये जाते हैं तो चितकबरे वर्णवाले कहे जाते हैं उसीप्रकार जिनके शरीरसंस्कार उपकरण आदिमें कुछ मोह लगा हो और विशुद्धि भी हो मूलगुणोंको भी पूर्णतासे पालते हों ऐसे चित्र विचित्र वर्णोंके समान चित्रल भावोंको धारण करते हों वे वकुश मुनि कहलाते हैं। कुशील मुनियोंका स्वरूप इसप्रकार है—

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् ॥ ३ ॥

अर्थ— कुशील नामधारी मुनि दो प्रकार होते हैं एक प्रतिसेवनाकुशील दूसरे कषायकुशील ऐसे उनके दो भेद होते हैं। जिनसे अंतरंग ममत्व भाव कुछ कुछ नहीं छूटता है अर्थात् परिग्रहसे सर्वथा जो मुक्त नहीं होसके हैं और मूलगुण तथा उत्तरगुण दोनोंको जो पूर्णतासे पालन करते हैं परंतु कभी किसीप्रकार उत्तर गुणमें विराधना भी कर डालते हैं अर्थात् मूल गुणोंमें कभी हानि नहीं आने देते,

---

१—"अखंडितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणाः वकुशाः" श्लोकवार्तिक अर्थ स्पष्ट है।

सर्वार्थसिद्धिमें—"छेदशवलमुक्ताके स्थानमें मोहशवलमुक्ताः" ऐसा पाठ है भाव दोनोंका एक ही है कि परिणामोंमें कुछ नानापना रहता है। वकुश मुनियोंके कुछ मोहकी मात्रा रहती है इसबातको यह पाठ स्पष्ट प्रगट करता है।

अथवा नपुंसकलिंगवाले द्रव्यवेदी मुनिव्रत धारण नहीं कर सकते हैं क्योंकि कषायोदयकी तीव्रतासे द्रव्य स्त्रीवेद और नपुंसकवेदमें मुनिव्रत धारणकरनेकी और उस भवसे मोक्ष जानेकी योग्यता ही नहीं है। दूसरा द्रव्यलिंग कर्मोदयसे होता है वह इसप्रकार होता है कि वाह्यरूप और वाह्यक्रियायें तो मुनितुल्य रहती हैं परंतु अंतरंगमें किन्हीं किन्हींके मिथ्यात्वकर्मका भी उदय रहता है—जिनके मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है वे द्रव्यलिंगी मुनि कहे जाते हैं अर्थात् द्रव्यसे तो उनके मुनिलिंग है परंतु भावसे नहीं है। ऐसे द्रव्यलिंगी मुनि इन पुलाक आदि मुनियोंमें नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये पांचों ही भेद तो भावलिंगी मुनियोंके होते हैं। दूसरा द्रव्यलिंग उनके भी समझा जाता है जिनकी आत्मामें सम्यग्दर्शन तो है परंतु विरतरूप संयम छठे गुणस्थानके योग्य नहीं है इसलिये वे भावलिंगसे तो मुनि नहीं कहे जा सकते हैं परंतु द्रव्यलिंग उनके बराबर मुनिरूप है सम्यग्दर्शनपूर्वक वे क्रियायें भी करते हैं, निर्ग्रंथरूप भी है केवल परिणामोंमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे छठे गुणस्थानोचित्त परिणामोंकी च्युति है इत्यादिरूपसे द्रव्यलिंगकी अपेक्षा विचार करना चाहिये। अब लेश्याकी अपेक्षा विचार करते हैं—पुलाक मुनियोंके पीत पद्म शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं अर्थात् इन तीनोंमेंसे कोई एक हो सकती है, वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लेश्यायें होती है। कषायकुशील मुनियोंके जो कि परिहारविशुद्धि चारित्रको धारण करनेवाले होते हैं उनके उत्तरकी चार लेश्याएं होती हैं अर्थात् कापोती, पीत, पद्म, शुक्ल ये चार हो सकती हैं। सूक्ष्मसांपराय तथा निर्ग्रंथ और स्नातकोंके केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है यहांपर भी इतना खुलासा समझ लेना चाहिये कि छठे सातवें गुणस्थानोंमें संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है, छठेकी अपेक्षा सातवें भी मंदोदय है परंतु जहां आठवेंसे उमशम या क्षपकश्रेणीका प्रारंभ होता है वहां नौवें गुणस्थान तक यद्यपि बादर कषाय बताई गई है परंतु वास्तवमें अत्यंत भेद है केवल दशवें गुणस्थानकी अपेक्षा बादर कही गई है इसलिये जिसप्रकार दशवें गुण-

उत्तरगुणोंमें कभी किसीप्रकार उनके हानि भी हो जाती है वे प्रतिसेवनाकुशील कहे जाते हैं। ग्रीष्म (गरमी) ऋतुमें जंघाओंका प्रक्षालन कर लेना आदि छोटी छोटी बातोंके सेवनसे प्रतिसेवना कुशील कहे जाते हैं। तथा कषायकुशील उन्हें कहते हैं जो समस्त अन्य कषायोंको छोड चुके हैं अथवा उन्हें अपने वशमें कर चुके हैं केवल संज्वलन कषायके अधीन रहते हैं। यहांपर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि कुशील शब्द यहां पारिभाषिक है रूढिसिद्ध है इसलिये वह पूर्ण शीलपालनेवाले संज्वलनमात्र कषायधारी मुनियोंमें आता है जिस कुशील शब्दका अर्थ खोटा शील होता है वह कुशील शब्द यौगिक है उसका ग्रहण यहांपर नहीं है क्योंकि मुनियोंके स्वरूपका प्रकरण है। यह बात कुशील शब्दकी ऊपर की गई व्याख्यासे भली भांति सिद्ध है। निर्ग्रंथ मुनियोंका स्वरूप इसप्रकार है—

उदके दंडराजिवत् संनिरस्तकर्माणोऽतर्मुहूर्तकेवलज्ञानदर्शनप्रापिणो निर्ग्रंथाः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जलमें दंडके समान रेखा पडती है वह तुरंतही नष्ट हो जाती है अर्थात् डंडेके आकारवाली जो लम्बी लम्बी ऊंची पानीमें लहर उठती है अथवा पानीमें डंडामारनेसे जो रेखा उठती है वह तुरंत ही पानीमें विलीन होजाती है उसी प्रकार जिन मुनियोंके कर्म उदयमें नहीं आरहे हैं अर्थात् या तो वे उपशांतकषाय गुणस्थानवाले हैं अथवा क्षीणकषाय हो चुके हैं, ऐसे मुनि एक मुहूर्त पीछे केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्रगटरूपसे धारण करनेके पात्र हैं वे ही निर्ग्रंथ मुनि कहे जाते हैं अर्थात् जिनकी आत्मामें एक मुहूर्त पीछे केवलज्ञान प्रगट होनेकी योग्यता होती है वे निर्ग्रंथ मुनि कहे जाते हैं। यहांपर भी इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि निर्ग्रंथ संज्ञा पारिभाषिक है सामान्यरूपसे सभी मुनि छठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक निर्ग्रंथ कहे जाते हैं जैसा कि इसी "पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः" सूत्रसे सिद्ध है इस सूत्रमें पांचों प्रकारके मुनियोंको निर्ग्रंथ कहा गया है इसलिये निर्ग्रंथ शब्दका अर्थ या तो रूढिसे समझना चाहिये जो अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञानी होसकें वे निर्ग्रंथ कहे जाते हैं

स्थान सूक्ष्मसांपरायमें केवल एक शुक्ललेश्या है उसी प्रकार आठवें नौवे गुणस्थानोंमें भी केवल एक शुक्ललेश्या होती है तथा निर्ग्रंथ स्नातकोंके शुक्ललेश्या उपचारमात्रसे होती है क्योंकि वहां कषायोदय नहीं है। स्नातकोंमें अयोगी केवलियोंका भी ग्रहण हो सकता है इसलिये ग्रंथकार आचार्यबर्य श्रीभट्टाकलंकदेवने वहांकेलिये खुलासा किया है कि जो अयोगपर्वतपर आरूढ होचुके हैं वे तो लेश्यासे सर्वथा रहित होते हैं उनके उपचारसे भी लेश्या नहीं होती है।

अब उपपादकी अपेक्षा विचार करते हैं—पुलाक मुनियोंका उपपाद उत्कृष्टरूपसे ऊत्कृष्ट स्थितिवाले सहस्रार स्वर्गके देवोंमें होता है अर्थात् पुलाक मुनि यदि मरणकर दूसरी गतिको जांयगे तो वे अधिकसे अधिक बारहवें सहस्रार स्वर्गके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें जन्म धारण करेंगे। तथा वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंका जन्म वावीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें आरणस्वर्ग और अच्युतस्वर्गमें उत्कृष्टरूपसे होगा तथा कषायकुशील और निर्ग्रंथ मुनियोंका जन्म तेतीस सागरकी स्थितिवाले अहमिंद्रोंमें सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्कृष्ट रूपसे होता है उन सभी ऊपर कहे गये मुनियोंका जघन्य रूपसे जन्म कहां तक हो सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जघन्यरूपसे इन मुनियोंका जन्म कुछ अधिक दो सागरकी स्थितिवाले देवोंमें सौधर्म स्वर्गमें होता है अर्थात् पुलाकादि मुनि यदि आयुका बंध कर पुनः जन्म धारण करेंगे तो क्रमके कम सौधर्म स्वर्गके उत्कृष्ट देवोंमें उत्पन्न होंगे और अधिकसे अधिक सहस्रार स्वर्गसे लेकर बताये हुए क्रमके अनुसार सवार्थसिद्धि पर्यंत उत्पन्न होंगे परंतु स्वर्गोंको छोड कर उनकी आयुका बंध इतर गतियोंके योग्य अथवा देवोंमें भी भवनवासी आदि तीन निकायोंमे नियमसे नहीं होता है। पुलाकादि मुनि नियमसे कल्पवासी देवोंमें ही जन्म ले सकते हैं यह सम्यक्त्वविशिष्ट महाव्रतकी सामर्थ्यका ही फल है तथा स्नातक तो नियमसे मोक्ष ही जाते हैं उनका संसारमें फिर जन्म नहीं संभव है। अब स्थानका विचार करते हैं—

अथवा निग्रथ नाम परिग्रहरहितका है सो वास्तवमें अंतरंग वहिरंग पूर्णपरिग्रहसे रहित निर्ग्रंथ नामके मुनि ही कहे जाते हैं क्योंकि उन्हींके सर्वथा कषायोंका उदय नहीं है इसलिये यहांपर यौगिक है अन्यत्र पारिभाषिक है और एक दृष्टिसे दोनों जगह भी अर्थानुसारी है अर्थात् यौगिक है। पुलाकादि मुनियोंके बहिरंग परिग्रहका तो त्याग है ही, एकदेशरूपमें अंतरंगमें भी त्याग है केवल संज्वलन कषायका उदय है और निर्ग्रंथ नामके मुनियोंमें दोनों प्रकारके परिग्रहोंका पूर्ण त्याग है क्योंकि ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानोंमें संज्वलन कषायका भी उदय नहीं है। दूसरी बात यहां यह समझ लेना चाहिये कि निर्ग्रंथ नामधारी मुनि एक मुहूर्त पीछे केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं परंतु नियमसे प्राप्त ही करते हों ऐसा नहीं है कारण कि जो क्षीणकषायवाले हैं वे तो नियमसे प्राप्त ही करते हैं परंतु जो उपशांतकषायवाले हैं वे उस भवसे नहीं भी मोक्षजाते हैं उनका उसी भवसे मोक्ष जानेका नियम नहीं है। हां ! यह नियम है कि उपशम श्रेणीमें चढे हुए मुनि अधिकसे अधिक चार वार उपशमश्रेणी धारण कर पीछे नियमसे मोक्ष चले जाते हैं। वहांसे विजयादि अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होकर द्विचरम भव धारण कर पीछे मोक्ष चले जाते हैं। अब स्नातक मुनियोंका स्वरूप कहते हैं—

प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे जिनके आत्मामें केवलज्ञान आदि अतिशयशाली विभूतियां प्रगट हो जाती हैं, जो सयोगकेवली और अयोगकेवली दोनोंप्रकारके जिनेंद्र भगवान जो अठारह हजार शीलके पूर्ण स्वामी हैं जिन्होंने क्षायिक ज्ञान दर्शन दान लाभ आदि क्षायिक लब्धियोंको पा लिया है वे वीतराग सर्वज्ञ देव स्नातक नामक निर्ग्रंथ कहलाते हैं। स्नात नाम वेदकी

१—प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधा स्नातकाः । सर्वार्थसिद्धि।
अर्थात् घातिकर्मोंको नष्ट करनेवाले दोनों प्रकारके सयोगी अयोगी केवली स्नातक कहे जाते हैं। अयोग केवलीका भी यहां ग्रहण है।

स्थानसे यहां प्रयोजन संयमस्थानोंसे है अर्थात् कषायके भेदोंके निमित्तसे जो कुछ परिणामोंमें विरत-रूप संयमका तारतम्य अथवा उनके नाना भेद हो जाते हैं उन्हींको संयमस्थान कहते हैं। कषायोंके असंख्यात भेद हैं, ये भेद कषायाध्यवसायस्थान कहलाते हैं, परमाणुओंकी रसोदय शक्तिकी अपेक्षा उनके अनंते भेद हैं और जितने संज्वलन कषायके उदयजनित रसोदयरूप भेद हैं, उतने ही संयमरूप परिणामोंके भेद हो जाते हैं क्योंकि जितना जितना कषायोदयकी मंदता तीव्रता या क्षय होगा उतना उतना ही संयम भाव प्रगट होगा इसलिये पुलाक आदि मुनियोंके जैसी जैसी कषायवासना रहती है उसी उसीप्रकार उनके संयमस्थान समझे जाते हैं उन्हीं संयमस्थानोंका यहांपर विचार है। संयमके लब्धिस्थान उन्हें कहते हैं कि जहांपर कषायोंका क्षय उपशम अथवा क्षयोपशम होकर संयमरूप परिणामोंका विकाश होता है अथवा कषायोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्धि उत्पन्न हो जाती है उसीको संयमका लब्धि स्थान कहते हैं। वे लब्धिस्थान अथवा संयमरूप परिणामोंकी उज्वलता उन पुलाक आदि मुनियोंके किसप्रकार होती है उसीका उल्लेख इसप्रकार है—सबोंसे जघन्य रीतिके लब्धिस्थान (सर्व जघन्य विशुद्धि) पुलाक मुनि और कषायकुशील मुनियोंके होते हैं इन लब्धिस्थानोंको धारणकर वे दोनों प्रकारके मुनि अपनी विशुद्धिको और भी बढाते हुये असंख्यात लब्धिस्थानों तक बराबर बढते जाते हैं अर्थात् जघन्य विशुद्धिसे असंख्यातगुणी विशुद्धि तक बढ जाते हैं, आगे जाकर पुलाक मुनि तो उन असंख्यात लब्धिस्थानोंतक ही रह जाते हैं परंतु कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और वकुश मुनि उस प्रकारकी विशुद्धिको प्राप्त कर तीनों ही और भी असंख्यातगुणी विशुद्धि प्राप्त करते जाते हैं और असंख्यात लब्धिस्थानों तक बढ जाते हैं परंतु वहांपर वकुश मुनि रह जाते हैं अर्थात् उनके भावोंमें उतनी विशुद्धिसे आगे नहीं हो सकती, इसका प्रयोजन यह है कि वे उसप्रकारके मुनियोंकी क्रिया और भावविशुद्धि धारण करते हैं जिससे और भी ऊंचे श्रेणीकी विशुद्धता उनसे प्राप्त नहीं की जासकती है इसी दृष्टिसे

समाप्तिका है स्नात शब्दसे स्वार्थमें "क" प्रत्यय करनेसे स्नातक शब्द सिद्ध होता है अर्थात् स्नात शब्द वेदकी समाप्ति रूप अर्थमें आता है, वेद शब्दके भी दो अर्थ हैं एक तो वेद पुंवेद स्त्रीवेद और नपुंसक वेदरूप अर्थमें आता है इस अर्थके अनुसार यदि वेदका अर्थ लिया जायगा तो भी ठीक है कि स्नातक मुनि तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवाले कहे जाते हैं और वेदोंकी समाप्ति नौवें गुणस्थानतक समाप्त हो जाती है और यदि वेद नाम ज्ञानका लेते हैं तो ज्ञानकी पूर्णता भी वहांतक हो जाती है इसलिये दोनों ही अर्थोंके अनुसार स्नातक शब्दका प्रयोग ठीक है। पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक ये पांच निर्ग्रंथ कहे जाते हैं। यहां कोई शंका करता है—

प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रंथाभावश्चारित्रभेदात् गृहस्थवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थ चारित्र भेदसे निर्ग्रंथ नहीं कहलाता है उसी प्रकार पुलाक आदि मुनियोंके भी उत्कृष्ट मध्यम जघन्य चारित्रके भेदसे निर्ग्रंथपना नहीं प्राप्त होता है? अर्थात् सभी मुनि निर्ग्रंथ नहीं कहे जा सकते? यहांपर जघन्य चारित्रका ग्रहण सकलसंयमकी अपेक्षासे है। उत्तर—

न वा दृष्टत्वाद्ब्राह्मणशब्दवत् ॥ ७ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि ब्राह्मण शब्दके समान ऐसा व्यवहार भी देखा जाता है। जिसप्रकार ब्राह्मणोंमें भिन्न भिन्न रूपसे चारित्र और अध्ययन कर्मकाण्ड आदिका पालन होता है, किसी ब्राह्मणमें न्यून है किसीमें उत्कृष्ट है। फिर भी सभीकेलिये ब्राह्मण शब्दका व्यवहार होता है, ब्राह्मण सभी कहे जाते हैं इसी प्रकार जहां सकलसंयम पूर्णतासे नहीं पाला जाता है और जहां पूर्णतासे वह पाला जाता है दोनों ही स्थानोंमें निर्ग्रंथ शब्दका व्यवहार होता है इसलिये चारित्रभेद होने पर भी पांचों प्रकारके मुनि निर्ग्रंथ कहलाते हैं। तथा—

संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् ॥ ८ ॥

मुनियोंके पांच भेद किये गये हैं यदि और भी अधिक विशुद्धि वे प्राप्त कर सकें तो फिर वकुश मुनियोंमें उनकी गणना नहीं की जासकती वे फिर दूसरे भेदमें गार्भित होंगे यही अभिप्राय सर्वत्र समझना चाहिये। जहां वकुश मुनियोंके लब्धिस्थान समाप्त होते हैं उनसे ऊपर फिर प्रतिसेवनाकुशील और असंख्यात स्थान बढते हैं फिर वे भी वहांतक रह जाते हैं उनसे भी असंख्यात स्थान ऊपर कषायकुशील मुनि जाते हैं फिर उतने बढकर वे भी छूट जाते हैं अर्थात् प्रतिसेवना कुशील मुनियोंकी अपेक्षा उन कषायकुशील मुनियोंकी विशुद्धिके लब्धिस्थान असंख्यातगुण अधिक हैं उतनी अधिकता पाकर वे भी वहांतक समाप्त हो जाते हैं। उनके ऊपर कषायोंका अभाव हो जानेसे अर्थात् उपशम अथवा क्षय हो जानेसे कषायोंके भेदोंके निमित्तसे संयमस्थानमें फिर भेद नहीं होते इसलिये अकषाय स्थानोंकी लब्धि निर्ग्रंथ मुनियोंको (ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानवालोंको) प्राप्त होती है। वहांपर भी योगप्रवृत्ति और ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका उदय होनेसे गुणोंके विकाशमें अंतर रहता है इसलिये वे निर्ग्रंथ मुनि भी अकषायस्थानोंमें होनेवाली विशुद्धि असंख्यातगुणी बढाते जाते हैं और असंख्यात लब्धिस्थान जाकर उनका स्वरूप भी वहां तक समाप्त हो जाता है, उससे ऊपर एक स्थान जाकर स्नातकोंका स्थान है अर्थात् निर्ग्रंथ मुनियोंसे एक स्थान बढकर स्नातक नामवाले जिनराजोंका पदस्थ है वे पूर्ण विशुद्धि प्राप्तकर समस्त लब्धिस्थानोंकी पूर्णता कर निर्वाण–मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार इन पुलाक आदि मुनियोंकी संयमलब्धि स्नातक पर्यंत अनंतगुणी हो जाती है अर्थात् असंख्यातगुणी संयमविशुद्धि बढते बढते स्नातकतक अनंतगुणी विशुद्धि बढ जाती है और वहांपर विशुद्धिकी परिपूर्णता होकर निर्वाणप्राप्ति हो जाती है ॥

इसप्रकार श्रीमदाचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (मोक्षशास्त्र) का बडी उत्तमतासे अलंकारस्वरूप व्याख्यान करनेवाले इस श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेव विरचित संस्कृत श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थराजकी चावली (आगरा) निवासी न्यायालंकार पंडित मक्खनलालजी शास्त्री विरचित हिन्दी भाषाटीकामें संवर और निर्जराका निरूपण करनेवाला नौवा अध्याय समाप्त हुआ।

अर्थ—यद्यपि निश्चय नयकी अपेक्षासे गुणहीन पुरुषोंमें यह निर्ग्रंथ शब्द व्यवहारमें नहीं आता है तथापि संग्रह और व्यवहार नयोंकी विवक्षावश समस्त विशेष भेदोंका संग्रह कर लिया जाता है अर्थात् निश्चयनयसे तो वे ही निर्ग्रंथ कहे जाते हैं जो सर्वथा वाह्य और अंतरंग कषायोंसे सर्वथा रहित हैं परंतु संग्रह व्यवहार नयसे छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपर सभी गुणस्थानवालोंका गृहण कर लिया है । और भी—

दृष्टिरूपसामान्यात् ॥ ९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सभी पुलाकादि मुनियोंमें पाया जाता है और आभूषण वस्त्रयुक्त भेष तथा आयुध आदि परिगृहसे सभी पुलाकादि मुनि रहित हैं अर्थात् सभी बाह्य परिगृहसे सर्वथा रहित दिगम्बर हैं इसलिये सम्यग्दर्शन और वाह्यपरिगृहसे रहितपना सभी मुनियोंमें समान है अतएव सामान्यदृष्टिसे सभी निर्ग्रंथ कहे जाते हैं। पुनः शंका—

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न रूपाभावात् ॥ १० ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि जिनका व्रत भंगरूप है अर्थात् सकल व्रत जिनमें पूर्णतासे नहीं है वे भी यदि निर्ग्रंथ कहलाते हैं तो श्रावक भी फिर निर्ग्रंथ कहा जाना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार पूर्णरूपसे अंतरंग कषायनिवृत्ति छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनियोंमें नहीं है उसीप्रकार श्रावकमें भी नहीं है, श्रावक भी एकदेशव्रती है इसलिये उसे भी निर्ग्रंथ कहना चाहिये ? उत्तर—यह दोष ठीक नहीं है क्योंकि श्रावकमें उस रूपका अभाव है अर्थात् निर्ग्रंथरूप जो वाह्य परिगृहसे रहित दिगम्बररूप है वही हमारे मतमें—दिगम्बर जैनधर्ममें प्रमाणभूत है और वह निर्ग्रंथस्वरूप श्रावकमें पाया नहीं जाता है इसलिये श्रावकको निर्ग्रंथ नहीं कहा जासकता इसलिये अतिप्रसगंका दोष यहां नहीं आता है। फिर शंका—

अन्यस्मिन् स्वरूपेऽतिप्रसंग इति चेन्न दृष्ट्यभावात् ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर यहां पर यह शंका होती है कि यदि नग्न दिगम्बररूप ही दिगम्बर जैनधर्ममें प्रमाण-

अथ दशमोऽध्यायः ।

क्षायिक भाव अनंतगुण, प्रगटे अखिल प्रमाण ।
कर्म काटि शिवपुर गये, नमों सिद्ध भगवान ॥

प्रश्न—प्रारंभमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मोंके आनेके दरवाजों (कारणों) को रोकदेनेसे आत्मीय प्रदेशोंमें हलन चलन क्रिया होनेपर भी आत्माके आस्रव दोष नहीं होता है इसीका नाम संवर पदार्थ है, इस संवरका कथन तो नवमें अध्यायमें किया जाचुका है अब उसके पीछे निर्जराके कथनका काल प्राप्त है इसलिये उसका वर्णन करना चाहिये । उत्तर—श्रीआचार्य कहते हैं कि इस प्रकरणमें दशमें अध्यायमें निर्जराका कथन करनेकी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि उसका कथन तो तप और कर्मविपाकके संबंधसे पहले ही किया जाचुका है । यह बात पहले कही जाचुकी है कि नानारूपमें फलोंको देकर कर्मोंकी निवृत्ति हो जानेका नाम ही निर्जरा है । फिर शंका होती है कि वहां तो निर्जराका वर्णन नहीं हैं किंतु अनुभागबंधका वर्णन है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि उसी अनुभाग-बंधके प्रकरणसे निर्जराका कथन हो जाता है यदि विभिन्नरूपसे विपाक और निर्जराका कथन किया जाय तो शास्त्रगौरव भी होता है । फिर प्रश्न होता है कि संवरके पीछे निर्जराका कथन होना ही चाहिये इसके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि संवरके पीछे निर्जराका कथन होना चाहिये इसी लक्ष्यसे तो उसका कथन "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र द्वारा किया गया है और इसीलिये गुप्तियोंका वर्णन किया गया है अर्थात् "आस्रवनिरोधः संवरः" इस सूत्र द्वारा संवरका स्वरूप कहकर और "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः" इस सूत्र द्वारा उस संवरके हेतुओंका निरूपण कर "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र द्वारा संवरके पीछे निर्जराका उल्लेख किया गया है अन्यथा यदि संवरके पीछे निर्जराके कथनका

रूप है तो यह नग्नपना तो अन्य मतोंमें भी पाया जाता है अर्थात् दूसरे नैयायिक आदिकोंमें भी परमहंस आदि नग्न साधु पाये ही जाते हैं इसलिये उन्हें भी निर्ग्रंथ मुनि जैनियोंको समझना चाहिये ? उत्तर— यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि उन परमहंसादि स्वरूप माननेवालोंमें सम्यग्दर्शनका अभाव है जहां पर सम्यग्दर्शनपूर्वक ही निर्ग्रंथपना है वहीं पर निर्ग्रंथ मुनिका व्यवहार होता है और जहां पर सम्यग्दर्शन तो नहीं है केवल नंगापना है वहां निर्ग्रंथपनेका व्यवहार नहीं हो सकता है यदि विना सम्यग्दर्शनके केवल नग्न अवस्थामें ही दिगम्बर साधुका व्यवहार हो तो जितने भी बच्चे जन्म लेते हैं और जितने भी मूढमति नंगे हो जाते हैं वे सभी दिगम्बर मुनि कहे जासकते हैं फिर तो मोक्षमार्ग सभीके समझा जायगा ? परंतु विना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके मोक्षमार्ग नहीं कहा जासकता है इसलिये विना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके नग्न मात्रको साधु नहीं कह सकते हैं अतः रत्नत्रयविशिष्ट नग्न ही दिगम्बर साधु कहे जाते हैं। फिर प्रश्न—यदि रत्नत्रयधारी ही मुनि कहलाते हैं तो फिर सबोंको सामान्य मुनि पदसे कहना चाहिये उनके पुलाक बकुश आदि भेद क्यों किये जाते हैं ? उत्तर—चारित्र गुणकी उत्तरोत्तर प्रकर्षता है अर्थात् ऊपर ऊपर अधिक चारित्र पाया जाता है इसी बातको प्रगट करनेकेलिये पुलाक आदिका कथन किया जाता है अर्थात् सामान्यरूपसे तो रत्नत्रयधारी होनेसे पुलाक आदि सभी निर्ग्रंथ मुनि कहलाते हैं परंतु ऊपर ऊपर उनमें रत्नत्रयकी विशेषता है इस दृष्टिसे उनके भिन्न भिन्न नाम कहे गये हैं उन पुलाक आदि मुनियोंमें परस्पर और क्या विशेषता है उसीको प्रगट करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—पुलाक आदि पांचों प्रकारके मुनियोंमें संयम आदिकी अपेक्षासे परस्पर भेद है इनका संयम भिन्न भिन्न है, श्रुतज्ञान भिन्न भिन्न है, व्रताचरण भिन्न भिन्न है, कोई किन्हीं तीर्थंकरके समयमें होते हैं कोई उनसे भिन्न तीर्थंकरके समयमें होते हैं, यद्यपि द्रव्य लिंग सभी मुनियोंके पुल्लिंग है फिर भी भाव

लक्ष्य नहीं रक्खा जाता तो संवर और निर्जराके कारणपनेंका ध्यान नहीं रखकर गुप्तियोंका कथन कहीं भी किया जा सकता था परंतु संवर और निर्जराके हेतुरूपसे ही गुप्तियोंका कथन किया गया है इसलिये संवरके पीछे अब निर्जराका कथन करना चाहिये इस प्रश्नके लिये स्थान नहीं है। दूसरा प्रश्न— यहां दूसरा एक प्रश्न यह होता है कि निर्जरा तो पहले कही जा चुकी इसलिये उसके व्याख्यानकी तो अब आवश्यकता नहीं रही परंतु मोक्षका निरूपण करना चाहिये और वह मोक्ष विना केवलज्ञान प्राप्त किये हो नहीं सकती इसलिये पहले जिन कारणोंसे केवलज्ञान होता है उन्हींका वर्णन करना उपयोगी है? उत्तर—यह प्रश्न भी यहां नहीं उठ सकता, क्योंकि केवलज्ञान भी अब यहां पर दुवारा कहने योग्य नहीं है उसका व्याख्यान ध्यानके प्रकरणमें किया जाचुका है ध्यानके प्रकरणमें जहां एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानोंका निरूपण किया गया है वहां केवलज्ञानका स्वरूप और उसकी उत्पत्तिके कारणोंका और उसकी प्रतिबंधी प्रकृतियोंकी यथाक्रम निर्जरा आदिका कथन अच्छी तरह किया जा चुका है वहां पर ही बतला दिया गया है कि—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलं ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् क्षपकश्रेणीपर चढ़ाहुआ आत्मा दशवें गुणस्थानके अंतमें मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय कर देता है, मोहनीयकर्मके क्षयसे तात्पर्य यहां चारित्रमोहनीयसे है कारण क्षपकश्रेणीका प्रारंभ वे ही मुनि करते हैं जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होजाता है विना दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय हुए क्षकपश्रेणीका प्रारंभ नहीं हो सकता है। जब दशवें गुणस्थानके अंतमें चारित्रमोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है तभी बारहवें गुणस्थानमें पहुंच कर वे मुनिराज एक साथ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्मोंका सर्वथा क्षय करदेते हैं बस उसी क्षणमें आत्मामें केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हो जाते

उपपदसहित ही प्रदेश शब्द दीख पडता है क्योंकि ये घटके प्रदेश हैं और ये धर्म अधर्म आदिके प्रदेश हैं ऐसी घटरूप उपपद तथा धर्म आदि रूप उपपदके साथ ही उसकी प्रतीति मालूम पडती है निरुपपद अर्थात् केवल प्रदेश शब्दका प्रयोग नहीं होता इसरीतिसे निरुपपद और सोपपद दोनोंप्रकारका होनेसे दृष्टांतरूप सिंहमें मुख्य और उपचार दोनोंकी कल्पना होती है परंतु प्रदेशरूप दार्ष्टांत सोपपद ही प्रतीतिमें आता है इसलिए उसमें मुख्य और उपचारकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिए धर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंकी कल्पना उपचारसे नहीं मानी जा सकती। तथा यह भी बात है कि—

हेत्वपेक्षाभावात् ॥ १२ ॥

सिंहमें जो क्रूरता शूरता आदि प्रसिद्ध धर्म हैं उनकी एकदेश समानता रहनेपर बालकमें 'यह सिंह है' ऐसा गौण व्यवहार होता है इसलिये जिसप्रकार यहांपर बालकको गौणरूपसे सिंह कहानेमें क्रूरता शूरता आदिका एकदेश सादृश्य कारण है उसीप्रकार पुद्गलोंमें प्रदेशोंके होनेमें किसी प्रसिद्ध कारणकी अपेक्षा कर धर्मद्रव्य आदिमें उपचारसे प्रदेश नहीं माने जाते किंतु धर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंकी कल्पना स्वाधीन ही है किसी कारणजन्य नहीं इसलिये धर्मादिमें उपचारसे कल्पना नहीं कही जा सकती किंतु पुद्गलके समान उनमें भी मुख्य रूपसे ही प्रदेशोंका सद्भाव है। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

स्वतोऽवधारणाभावाच्चांजसा इति चेन्नात्यंतपरोक्षत्वात् ॥ १३ ॥

यदि घट आदिके प्रदेशोंके समान धर्म आदि द्रव्योंके स्पष्टस्वरूप प्रदेश हों तो जिसप्रकार घट आदिके प्रदेश स्वयं दीख पडते हैं उसप्रकार दीख पडने चाहिये परंतु घट आदिके ग्रीवा पेट आदि भाग

स्पष्टरूपसे स्वयं दीख पडते हैं उनके दिखानेमें दूसरे द्रव्य आदि कारण नहीं अर्थात् दूसरे दूसरे पदार्थोंकी सहायतासे उनका साक्षात्कार हो यह बात नहीं किंतु घट आदिके प्रदेशोंके समान धर्म आदिके प्रदेश स्वयं नहीं दीख पडते, परमाणुओंके अवगाहनसे उनके प्रदेशोंका प्रमाण किया जाता है जितने क्षेत्रको पुद्गलका अविभागी परमाणु रोके उसका नाम प्रदेश कहा जाता है इस रीतिसे धर्म अधर्म आदि अमूर्त द्रव्योंमें परमाणुओंके अवगाहनके आधीन प्रदेशकल्पना होनेसे पराधीन प्रदेशकल्पना होनेके कारण उनमें मुख्यरूपसे प्रदेशोंकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिए ऊपर जो धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंकी कल्पना मुख्यरूपसे मानी गई है वह मिथ्या है? सो ठीक नहीं। घट आदि पदार्थ प्रत्यक्षगोचर हैं इसलिये किसी अन्य पदार्थकी सहायताके विना ही उनके प्रदेश-विभागोंका स्वयं साक्षात्कार होता है परंतु धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ अत्यंत परोक्ष हैं इसलिये स्वयं उनके प्रदेशोंका अवधारण नहीं किया जा सकता न कि गौणप्रदेश होनेसे। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेश भी पुद्गलके प्रदेशोंके समान मुख्य ही हैं किंतु अत्यंत परोक्ष होनेसे उनका साक्षात्कार नहीं होता अतः ऊपर जो धर्म आदिके प्रदेशोंकी मुख्य रूपसे कल्पना की गई है वह बाधित नहीं। तथा—

अर्हदागमप्रामाण्यात् ॥ १४ ॥

जिस आगमका प्रकाश समस्त पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानरूप अतिशयके धारक भगवान अर्हंतके द्वारा हुआ है और गणधर देवोंके द्वारा जिसकी वचनरचनाका अच्छीतरह परिशीलन हुआ है इसलिये जिसका नाम श्रुत पडा है वह आगम उन गणधर देवोंके शिष्य प्रशिष्योंकी परंपरासे धाराप्रवाहरूपसे चला आया है उस आगमके अंदर धर्म अधर्म आदिके क्षेत्रोंके प्रदेशोंको

है और साथ ही अनंत सामर्थ्य आत्माकी प्रगट हो जाती है, जहां यह अवस्था प्रगट होती है वहीं सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानका प्रारंभ है। इसप्रकार पहले मोहनीय कर्म और पीछे ज्ञानावरणादि तीनों कर्म इन चारों घातिया कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होता है। यह बात ध्यानके प्रकरणमें पहले कही जाचुकी है। इसी सूत्रकी व्याख्याके संबंधमें प्रश्नपूर्वक विचार किया जाता है—

अथवा—यहां यह प्रश्न होता है कि पहले अध्यायमें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रको कह कर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका समर्थन भी उनकी उत्पत्तिके कारण उनका लक्षण और विषय संबंध आदि बातोंके कथनपूर्वक किया गया है तथा सम्यग्ज्ञान पांच प्रकारका प्रमाणभूत है यह बात भी कही है और उन पांच भेदोंमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारोंका लक्षण उत्पत्तिके हेतु और विषयसंबंध भी कहा जा चुका है इसके पीछे अब यही बात कहना आवश्यक है कि केवलज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है इसलिये उसीका वर्णन अब करना चाहिये? उत्तर—इस प्रश्नकेलिये भी अवकाश नहीं रहा है क्योंकि केवलज्ञानके कथनका भी समय अब नहीं रहा है उसका व्याख्यान भी पहले किया जाचुका है, यह बात पहले कह दी गई है कि जहां संवरके द्वारा कर्मोंके आनेकी संतति रोक दी जाती है वहां चारित्रके भेदस्वरूप ध्यानरूप अग्निके द्वारा वह घातिया कर्मसमूहरूपी इंधन जला दिया जाता है तो फिर मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अतंराय इन चारों घातिया कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है उसीसमय समस्त चराचर पदार्थोंका साक्षात् प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान सूर्यका उदय हो जाता है, यह बात ध्यानके प्रकरणमें कही जा चुकी है इसलिये केवलज्ञानके निरूपणकी भी अब इस दशवें अध्यायमें आवश्यकता नहीं रही किंतु इस अध्यायमें मोक्षका ही वर्णन करना उपयुक्त है, इसके पहले यहां पर इस मोहक्षयादित्यादि इस दशवें अध्यायके प्रथम सूत्रपर कुछ विचार किया जाता है। शंका—

वृत्तिप्रसंगो लब्ध्वर्थमिति चेन्न क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् ॥ १ ॥

तब उसका अथ वियोग होना क्रियामात्र है इसलिये आत्मासे कर्मका वियोग होता है यह वियोग-क्रिया वियोग करनेवाले आत्मा और वियुक्त होनेवाले कर्म दोनोंसे संबंध रखती है, कृत्स्न शब्दके अर्थसे सत्ता, बंध, उदय, उदीरणा, इन चारों प्रकारकी व्यवस्थाको धारण करनेवाले ज्ञानावरणादि आठों प्रकारके कर्मोंका ग्रहण समझना चाहिये। आठों प्रकारके कर्मोंमें जो चार व्यवस्थाऐं बताई गई हैं उन चारोंमें भी बंध उदय और उदीरणा इन तीनका क्षयविभाग तो गुणस्थानोंके भेदसे कहा जा चुका है परंतु सत्तामें बैठे हुए कर्मोंका क्षय तो अभी नहीं कहा गया है इसलिये उसका वर्णन किया जाता है—

कर्माभावो द्विविधः यत्नसाध्योऽयत्न साध्यश्चेति ॥ ५ ॥

अर्थ—आत्मासे कर्मोंका अभाव दो प्रकारसे किया जाता है एक यत्नपूर्वक और दूसरा बिना यत्न किये अपने आप ही। उन दोनों प्रकारोंमें उसी भवसे मोक्ष जानेवाले जीवके नरकायु तिर्यञ्च आयु और देवायु इन तीन आयु कर्मोंका अभाव तो विना यत्नके ही अपने आप हो जाता है क्योंकि चरमशरीरके इन तीनों आयु कर्मोंका सत्त्व नहीं रहता है, इसका खुलासा यह है कि जो जीव उसी भवसे मोक्ष जाता है महाव्रती होकर नियमसे क्षपकश्रेणी माढ कर कर्मजालको खपा देता है उस जीवके चारों आयुओंमेंसे किसी भी आयुका बंध नहीं होता है क्योंकि यदि उस चरमशरीरीके भी आयु बंध हो तो आयुबंध छूटता नहीं इसलिये उसे पुनः भव धारण करना पडे इसलिये उसके ऐसे भाव और योग्यता नहीं हो सकती जिससे वह चारों आयुओंमें किसी भी आयुका बंध करसके परंतु चरमशरीर जो पुरुष पर्याय उसने पाई है वह मनुष्यायु कर्मके उदयसे टिकी हुई है अर्थात् पूर्वभवमें जो उसने मनुष्यायुका बंध किया था उसीके उदयसे यह चरमशरीर ठहरा हुआ है इसलिये किसी भी आयुका नवीन बंध नहीं होनेपर भी उसके मनुष्यायुकी सत्ता अवश्य है अतः चरमशरीर पुरुषके केवल एक मनुष्यायुकी सत्ता है, बाकी तीन आयुओंकी उसके सत्ता नहीं रह सकती है उसका भी कारण यह है कि चरमशरीरसे पहले भवमें

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि सूत्रमें मोहक्षयात् ऐसा भिन्न पद है और ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च ऐसा भिन्न पद है सो ऐसा करनेसे व्यर्थ ही गौरव होता है और चकारका ग्रहण भी व्यर्थ पडता है यदि समास करके दोनों पदोंका एक पद कर दिया जाय तो लाघव भी हो जाय और चकारका ग्रहण भी नहीं करना पडे "मोहज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात्केवलं" ऐसा सूत्र होना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि यहां सूत्रमें जो भिन्न भिन्न पद रक्खा गया है वह इस प्रयोजनसे रक्खा गया है कि मोहकर्मका क्षय और ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षय क्रमसे जाने जांय अर्थात् दशवें गुणस्थानके अंतमें पहले ही मोहनीय कर्मका क्षय कर दिया जाता है फिर अंतर्मुहूर्तकाल पर्यंत क्षीणकपाय गुणस्थानको ग्रहण किया जाता है पश्चात् एक साथ ज्ञानवरण दर्शनावरण और अंतराय तीनोंका क्षय करके केवलज्ञानको आत्मा प्राप्त करता है इस क्रमकी सिद्धिकेलिये ही भिन्न भिन्न पदोंका ग्रहण है। तथा—

तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः ॥ २ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका पहले क्षय हो जाना ही ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षय होनेमें कारण है विना मोहनीय कर्मके क्षय हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय नहीं होता है और विना ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षय हुए और परमवीतराग अवस्था प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है इस रीतिसे क्रमसे हेतुभावके संबंधकी सूचनाके प्रगट करनेकेलिये भिन्न भिन्न विभक्तिके द्वारा सूत्रमें कथन किया गया है अर्थात् पहले मोहनीयक्षय पीछे ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है इसी वात की सिद्धिकेलिये हेतुलक्षणात्मक भिन्न विभक्तिका निर्देश है। कर्मोंके क्षय होनेमें हेतु वताते हैं—

तत्क्षयः प्रणिधानविशेषात् ॥ ३ ॥

अर्थ—उन मोहनीय आदि कर्मोंका क्षय प्रणिधानविशेषसे होता है। प्रणिधानका अर्थ परिणाम है अर्थात् परमतपसहित आत्माके निर्मल विशुद्ध भावोंके द्वारा ही उन कर्मोंका क्षय हो जाता है उसीका

मनुष्यायुका ही नियमसे बंध होता है और किसी भी आयुका बंध नहीं हो सकता कारण कि मोक्ष पुरुष पर्यायसे ही हो सकती है और किसी पर्यायसे मोक्ष नहीं होती इसलिये चरमशरीरी जीव उससे पहले भवमें मनुष्यायु और पुरुष वेदका ही नियमसे बंध करता है और उन्हींके उदयमें चरमशरीर पुरुष पर्याय धारण करता है इसलिये चरमशरीरके मनुष्यायुके सिवा बाकीकी तीन आयुओंकी सत्ताका बिना यत्नके सुतरां अभाव है। इससे आगे अब यत्नसाध्य प्रकृतियोंका उल्लेख करते हैं अर्थात् जिन प्रकृतियोंका सत्त्व प्रयत्नसे दूर किया जाता है उन्हींका वर्णन किया जाता है—असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानमें अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतिरूप विष वृक्षोंका वन शुभोपयोग (शुभध्यान) रूपी तीक्ष्ण फरसाके पतनसे जडमूलसे नष्ट कर दिया जाता है अर्थात् चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियां और अनंतानुवंधी चौकडी इन सातोंका सर्वथा नाश कर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया जाता है इसके पीछे निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि नरकगति तिर्यग्गति एकेंद्रियजाति द्वींद्रियजाति त्रींद्रियजाति चतुरिंद्रियजाति नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी आतप उद्योत स्थावर सूक्ष्म साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी सेनाको अनिवृत्तसांपराय नामक नौवें गुणस्थानवर्ती अपने समाधिरूपी चक्रसे एक साथ विजय कर लेते हैं अर्थात् नौवें गुणस्थानके पहले भागमें इन १६ प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है इसके पीछे उसी गुणस्थानके दूसरे भागमें अप्रत्याख्याना-वरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन मध्यम आठ कषायोंको नष्ट कर देते हैं इन प्रकृतियोंका क्षय वे नौवें गुणस्थानवर्ती जीव एक साथ ही करते हैं उसके पीछे नौवें गुणस्थानके तीसरे भागमें नपुंसक वेद और चौथे भागमें स्त्रीवेदको क्षय कर डालते हैं तथा इसी नौवें गुणस्थानके पाचवें भागमें हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा इन छह प्रकृतियोंको एक साथ नष्ट कर देते हैं इसके पीछे

खुलासा इसप्रकार है–पूर्व कही गई विधिके अनुसार अर्थात् ध्यानसिद्धिका जो प्रकार "वीचारोर्थ-व्यंजनयोगसंक्रातिः" इस सूत्र द्वारा कहा गया है इसके अनुसार परम तपकी विशेषतासे और निर्मल भावोंकी प्रकर्षतासे (अधिकतासे) आत्मामें विशुद्धि बढती है उस आत्माके शुभ प्रकृतियां तो स्फुरायमान (प्रगट) हो जाती हैं और अशुभ प्रकृतियां नष्ट हो जाती हैं अथवा विलीन हो जाती हैं अर्थात् उपशमित भी हो जाती हैं इस प्रकारकी विशुद्धि प्राप्त करनेवाली आत्माओंमें कोई तो वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थानमें सात प्रकृतियोंके उपशमसे श्रेणीके चढनेकेलिये सन्मुख होता हुआ चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम करनेके लिये आरंभ करता है अर्थात् जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अनंतानुबंधी चौकडीका तो विसंयोजन कर डालता है और दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका नाश कर द्वितीयोशम सम्यक्त्व प्राप्त करलेता है वही उपशमश्रेणी पर चढनेकेलिये उद्यत होता है दूसरा कोई सम्यग्दृष्टि असंयत संयतासंयत प्रमत्तसयत अप्रमत्तसंयत अर्थात् चौथे पांचवें छठे सातवें गुणस्थानोंमेसे किसी भी गुणस्थानमें उन सातों प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है फिर वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमके लिये उद्योग करता है उस समय अधःप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों परिणामोंको धारणकर उपशमश्रेणीका आरोहण करता है और अपूर्वकरण गुणस्थानको पाकर वहां नवीन शुभ भावोंसे पाप प्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभाग घटा कर उन्हें बहुत हलका करदेता है और शुभ कर्मोंके अनुभागको बढा लेता है पश्चात् विशुद्धिके प्रकर्षसे अनिवृत्तिवादरसांपराय नामक नौवें गुणस्थानको प्राप्त होकर–नपुसंकवेद स्त्रीवेद छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) पुंवेद अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण क्रोधद्वय मानद्वय मायाद्वय लोभद्वय तथा संज्वलन क्रोध और संज्वलन मान इन प्रकृतियोंका क्रमसे उस नौवें गुणस्थानमें उपशम करता है तथा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानके प्रथम समयमें अर्थात् नौवें गुणस्थानके अंत भागमें माया संज्वलनका

छठे भागमें पुंवेदका क्षय करते हैं सातवें भागमें संज्वलन क्रोधका क्षय करते हैं आठवें भागमें संज्वलन मानका क्षय करते हैं और नौवें गुणस्थानके नौवें भागमें संज्वलन मायाका क्षय कर देते हैं तथा सज्वलन लोभका क्षय सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानमें हो जाता है।

तथा निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियां क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानके उपांत्य समयमें (अंतिम समयसे पहले समयमें) नष्ट हो जाती हैं और पांच ज्ञानावरणकी प्रकृतियां, चार दर्शनावरणकी प्रकृतियां, पांच अंतराय कर्मकी प्रकृतियां, इन चौदह प्रकृतियोंका उसी बारहवें गुणस्थानके अंत समयमें सर्वथा क्षय हो जाता है तथा अयोगी नामक चौदहवें गुणस्थानके उपांत्य समयमें (अंतसमयसे पहले समयमें) बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है वे बहत्तर प्रकृतियां इसप्रकार हैं-१-दोनों वेदनीयों-मेंसे एक वेदनीय, १ देवगति, ५ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पांच शरीर (इनके पांच बंधन और संघात भी इन्हीं पांच शरीरोंमें गर्भित हैं) ६-संस्थान छह, ३ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तीन आंगोपांग, ६ संहनन छह, १० प्रशस्तवर्ण पांच और अप्रशस्तवर्ण पांच दोनों मिलाकर वर्ण दश, २ गंध दो, १० प्रशस्त रस पांच अप्रशस्त रस पांच कुल दश रस, ८ स्पर्श आठ, १ देवगत्यानुपूर्वी, १ अगुरुलघु, १ उपघात, १ परघात, १ उच्छ्वास, २ विहायोगति दो, १ अपर्याप्तक, १ प्रत्येक शरीर, १ स्थिर, १ अस्थिर, १ शुभ, १ अशुभ, १ दुर्भग, १ सुस्वर, १ दुःस्वर, १ अनादेय, १ अयशस्कीर्ति, १ निर्माण, १ नीच गोत्र, ये बहत्तर प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थानके उपांत्य समयमें नष्ट हो जाती हैं। तथा दोनों वेदनीयोंमेंसे कोई एक १ मनुष्यायु, १ मनुष्यगति, १ पंचेन्द्रियजाति, १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी १ त्रस, १ वादर, १ पर्याप्तक, १ सुभग, १ आदेय, १ यशस्कीर्ति, १ तीर्थंकर, १ उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके अंत समयमें हो जाता है। प्रश्न—क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्मकी प्रकृतियोंके नाश होनेसे ही मोक्ष माना जाता है, अथवा भाव कर्मके नाशकी भी मोक्षकेलिये आवश्यक्ता है? उत्तर-इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीआचार्य महाराज सूत्र कहते हैं—

उपशम कर देता है तथा उसी गुणस्थानमें लोभसंज्वलन कषायका उपशम कर देता है इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्मका उपशम होनेसे वह विशुद्ध उपशांतकषायनामा ग्यारहवां गुणस्थान पा लेता है वहां पर यदि आयुका क्षय हो जाय तब तो मरण कर जाता है। मरणकालमें उसके चतुर्थ गुणस्थान हो जाता है अथवा यदि मरण न हो तो उपशांतकषाय गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्तकालमात्र रहकर नियमसे कषायोंके उदयसे क्रमसे नीचे उतर आता है अर्थात् उपशांतकषायका अंतर्मुहूर्त काल है। वहां यदि मरण न हो तो अंतर्मुहूर्त पीछे नियमसे सूक्ष्म लोभका उदय हो जाता है उसके उदयमें दशवां आदि गुणस्थान क्रमसे होते जाते हैं पश्चात् वे ही साधु जिन्होंने उपशमश्रेणी माढ कर कर्मोंको उपशमा कर ग्यारहवां गुणस्थान प्राप्त किया था और पीछे जो कषायोदय होनेसे नीचेके गुणस्थानोंमें उतरे थे या तो वे साधु अथवा जिन्होंने उपशमश्रेणी नहीं माढी ऐसे दूसरे साधु अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि प्राप्त करनेमें जिनका उत्साह वृद्धिंगत है ऐसे उपशमश्रेणीवाले अथवा श्रेणी नहीं चढे हुए कोई भी साधु परमेष्ठी पहलेके समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो कर और कर्मोंकी बहुत भारी विशुद्धिको धारण कर विशुद्ध होते हुए क्षपकश्रेणीको माढते हैं और उन पहले कहे गये तीन करणपरिणामोंके द्वारा पहलेके समान अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थानको पहुंच जाते हैं और उसके ऊपर नौवें गुणस्थानमें आठ कषायोंका क्षय करके नपुंसकवेदका नाश करते हैं पीछे क्रमसे स्त्रीवेदका नाश कर हास्यादि छह प्रकृतियोंको पुंवेद कालमें लाकर क्षय कर देते हैं इसीप्रकार पुंवेदका क्षय क्रोध सज्वलन कालमें और क्रोध संज्वलनको मान संज्वलन कालमें मान संज्वलनको मायासंज्वलनके कालमें माया संज्वलनको लोभ संज्वलनके समयमें लाकर संक्रमणके क्रमसे वादरकृष्टिविभागके अनुसार उनका क्षय कर डालते हैं इसप्रकार नौवें गुणस्थानमें इन ऊपर कही गई प्रकृतियोंका क्रमसे क्षय करके लोभ संज्वलन कषायको बहुत सूक्ष्म हलका बना लेते हैं और सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें उसका सर्वथा क्षय कर डालते हैं इसप्रकार आठवें

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ--मोक्षप्राप्तिके समय औपशमिक आदि भाव और भव्यत्व भावका भी नाश हो जाता है। औपशमिक भाव कर्मोंके उमशमसे होता है, क्षायोपशमिकभाव कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है, औदयिक भाव कर्मोंके उदयसे होता है, इन भावोंका सद्भाव मोक्षमें नहीं रह सकता है, क्योंकि ये भाव कर्मोंके निमित्तसे होते हैं परंतु मोक्षमें कर्मोंका संबंध नहीं है इसलिये उन भावोंका वहां अभाव है। इसीप्रकार भव्यत्व भावका भी वहां अभाव हो जाता है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि भव्यत्व भाव तो पारिणामिक भाव है, और पारिणामिक भाव कर्मोंके उदय उपशम आदिके निमित्तसे नहीं होता है किंतु वह वस्तुका स्वाभाविक परिणाम कहलाता है, इसलिये उस पारिणामिक भव्यत्व भावका मोक्षमें अभाव क्यों माना गया है? इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि वास्तवमें तो पारणामिक भावका मोक्षमें अभाव नहीं हो सकता है परंतु भव्यत्व भावका जो वहां अभाव बताया गया है उसका अभिप्राय यह है कि भव्यत्व भावकी दो अवस्थायें होती है एक पक्व दूसरी अपक्व, इनमें जब तक भव्यत्व भावका संबंध मिथ्यात्व कर्मके उदयके साथ रहता है तबतक भव्यत्व भावका अपक्व परिणमन कहलाता है और जिस समय उसका संबंध मिथ्यात्वकर्मके उदयके साथ नहीं रहता है तब उसका पक्व परिणमन कहलाता है। जिस समय भव्यत्व भावका पक्व परिणमन होता है उस समय उसके अपक्व परिणमनका नाश हो जाता है भव्यत्व भावका पक्व परिणाम सम्यग्दर्शन प्रगट होने परही होता है इसलिये उस समय मिथ्यात्वके उदयके साथ होनेवाली भव्यत्व भावकी अपक्वावस्थाका नाश हो जाता है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि वास्तवमें भव्यत्व भावका तो नाश नहीं होता है किंतु भव्यत्वभावकी अशुद्ध पर्यायका नाश हो जाता है और जब भव्यत्व भावकी अशुद्ध पर्यायका नाश हो जाता है तभी उस पारणामिक भव्यत्व गुणका लक्षण भी चरितार्थ हो जाता है। "भाविनी सिद्धिर्येषां ते भव्याः" जिनकी

नौवें दशमें इन क्षपक गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंका क्षय करते हुए समस्त मोहनीयकर्मप्रकृतियोंको आत्मासे सर्वथा बाहर कर देते हैं अर्थात् आत्मामें मोहनीय प्रकृतिकी किञ्चन्मात्र भी सत्ता नहीं रहने देते हैं। वस ! सर्वथा मोहनीय कर्मका क्षय होने पर आत्मा क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें पहुंच जाता है इसप्रकार समस्त मोहनीय कर्मके भारको उतार कर उस बारहवें गुणस्थानके उपान्त समयमें अर्थात् अंत समयसे पहले समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय कर डालते हैं और उसके अंतमें पांच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण पांच अंतराय इन चौदह प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय कर तेरहवें सयोगी गुणस्थानके प्रारंभमें अनंतदर्शन अनंतज्ञानस्वभाव केवल पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं जिस केवलपर्यायकी अचिंतनीय विभूतिकी तर्कणा भी नहीं की जा सकती। जिस पर्यायका बाधक अब कोई शत्रुभूत कर्म नहीं रहा है ऐसी केवलपर्यायको पाकर आत्मा जीवन्मुक्त परमात्मा केवली हो जाता है वह केवली परमात्मा कर्मोंके उपलेपसे (बंधनसे) सर्वथा रहित है अर्थात् आत्माके गुणोंके घात करनेवाले घातिया कर्मोंका लेप अब केवली भगवान्‌के नहीं रहा है इसीलिये वे अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनंतसुख और अनंतवीर्य इस अनंत चतुष्टयको प्राप्त हो चुके हैं जिस प्रकार कमल जलमें रहता हुआ अलिप्त परम निर्मल रहता है उसीप्रकार केवली भगवान शरीर धारण करते हुए भी परम निर्मल होते हैं वे समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको साक्षात् एक साथ प्रत्यक्ष करते रहते हैं उनका दर्शन अर्थात् सर्व पदार्थोंका साक्षात् अवलोकन किसी शक्तिसे रोका नहीं जा सकता है, समस्त प्रतिघाती कर्मका सर्वथा नाश कर वह प्रगट हुआ है उस चराचर समस्त पदार्थोंके साक्षात् प्रत्यक्ष देखने-वाले उनके दर्शनको अब कोई आवरण ढक नहीं सकता है, केवली भगवान्‌के अंतरायकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे संपूर्ण पुरुषार्थरूप अनंतवीर्य शक्ति प्रगट हो चुकी है जिसप्रकार मेघोंके आवरणसे सर्वथा रहित चंद्रमा अपनी किरणसमूहको चारों ओर भूमंडलमें फैलाता हुआ अपने शीतल सुंदर

सिद्धि हो सके वे भव्य कहलाते हैं, भव्यत्व गुणके शुद्ध परिणमन होनेपर ही जीव सिद्ध पदका लाभ कर सकते हैं अन्यथा नहीं। इसलिये भव्यत्वकी अशुद्ध पर्यायके नाशकी अपेक्षासे ही मोक्षप्राप्तिमें अथवा मोक्षमें भव्यत्व भावका नाश बताया गया है। यदि भव्यत्वकी पर्यायका नाश नहीं मान-कर भव्यत्व गुणका ही वहांपर नाश समझा जाय तो फिर जीवत्व भावका भी मोक्षमें नाश हो जाना चाहिये, क्योंकि वह भी तो भव्यत्व भावके समान जीवका पारिणामिक भाव है। यदि उसका भी नाश मान लिया जाय तो फिर जीव अजीव हो जायगा, इसलिये जैसे जीवत्व भावका सिद्धावस्थामें नाश नहीं होता है उस प्रकार भव्यत्व भावका भी वहां नाश नहीं होता है। किंतु सम्यग्दर्शन गुणके प्रगट होने पर भव्यत्व गुणकी मिथ्यात्वोदयमें होनेवाली अशुद्ध पर्यायका नाश हो जाता है और तभी जीव सिद्ध पदको प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है। यहांपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि औपशमिक आदि भाव और भव्यत्व भावके नाश होनेपर क्या होता है? उत्तरमें कहते हैं कि मोक्ष होती है क्योंकि मोक्षका ग्रहण "बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इस सूत्रसे हो जाता है।

भव्यत्वग्रहणं अन्यपारिणामिकनिवृत्त्यर्थं ॥ १ ॥

अर्थ——और जो जीवत्व आदिक पारणामिकभाव है उनकी मोक्षावस्थामें निवृत्ति नहीं होती है इस बातको प्रगट करनेकेलिये भव्यत्व पदका ग्रहण सूत्रमें किया गया है। इस भव्यत्व शब्दके ग्रहण करनेसे यह अर्थ होता है कि पारणामिक भावोंमें भव्यत्व भाव और औपशमिकादि भावोंका अभाव होनेसे जीवकी मोक्ष होती है। प्रश्न——द्रव्य कर्मोंका नाश होनेपर भावकर्मोंका नाश तो अपने आप हो जाता है कारण भावकर्मकेलिये द्रव्यकर्म निमित्तभूत है, नित्तिके अभावमें नैमित्तिकका अभाव भी हो जाता है इसलिये द्रव्यकर्मोंका नाश ऊपर बताया गया है उसके कहनेसे भावकर्मोंका नाश तो फलतः सिद्ध हो जाता है उसके कहनेकेलिये इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है

मधुर दर्शनोंसे सबोंको प्रसन्न करता है उसीप्रकार समस्त ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंसे सर्वथा रहित होते हुए केवली भगवान् भी समस्त पदार्थोंका प्रकाश करते हुए अनंत गुणोंके पूर्ण विकाशविशिष्ट केवलज्ञानमय देदीप्यमान मूर्तिको धारण करते हैं।

प्रश्न—समस्त प्रतिबंधी कर्मोंसे रहित सम्यग्दर्शन अनंतदर्शन अनंतवीर्यविशिष्ट अनंत केवलज्ञान होता है उसका स्वरूप तो कहा जा चुका है और उस स्वरूपकी प्राप्ति भी समस्त घातिया कर्मोंके नाश होनेसे ही होती है और वह बाकीके अघातिया कर्मोंके नाशका कारण है यह बात भी समझ ली गई अब यह बताना चाहिये कि मोक्षका क्या लक्षण है और वह किस कारणसे होती है, इन दोनों बातोंका उत्तर देना आवश्यक है? इस प्रश्नके उत्तरमें परम दिगम्बर श्री १०८ परमपूज्य आचार्यवर्य श्रीउमास्वामि महाराजके सूत्रका उल्लेख करते हुए आचार्यवर्य श्रीभट्टाकलंक देव कहते हैं कि जो केवली भगवान् ऊपर कहे अनुसार केवल पर्यायको पा चुके हैं, परम औदारिक दिव्य शरीर धारण करते हैं, अपने प्रभावसे जिन्होंने अनंतवीर्यको प्राप्त कर लिया है और जो चारों घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुके हैं किंतु बाकीके अघातिया कर्मोंको नष्ट करना अभी बाकी है अर्थात् वेदनीय नाम गोत्र आयु ये चार अघातिया कर्म अभी जिनके बाकी हैं ऐसे केवली भगवान्के सूत्रद्वारा बताये गये दो कारणोंसे मोक्ष होती है।

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २॥

अर्थ—आत्मामें कर्म बंध होनेके जितने भी कारण हैं उन सब कारणोंका अभाव होजाय और पूर्वसंचित जितने भी आत्मामें कर्म हैं उन सबोंकी निर्जरा हो जाय इसप्रकार समस्त कर्मोंका नाश हो जाय इसीका नाम मोक्ष है।

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग ये जो पहले बताये गये कर्मोंके आस्रव होनेके

कारण कि पहले तो ऐसा एकांत पक्ष नहीं है कि निमित्तोंके अभाव होने पर नैमित्तिकोंका अभाव हो ही जाता है, दूसरी बात यह भी है कि यदि निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका अभाव फलवलात् समझा भी जाय तो भी उस अर्थके साक्षात् बोध करनेकेलिये भाव कर्मोंके नाशका उल्लेख करना सूत्रमें आवश्यक है तथा जो आगे लक्षण करनेवाले हैं उसकी स्पष्टताकेलिये भी इस सूत्रका ग्रहण परमावश्यक है अर्थात् आगेके सूत्रद्वारा मोक्षवस्थामें जिन भावोंका सद्भाव कहा गया है उसकी स्पष्टताकेलिये भी औपशमिकादि और भव्यत्व भावकी अशुद्ध पर्यायका नाश वतलाना उपयोगी है। प्रश्न—यदि मोक्ष भावोंके अभावमें होती है ऐसा नियम वताया जाता है तो जैसे औमशमिकादि भावोंकी निवृत्ति वतलाई गई है उसीप्रकार सम्पूर्ण क्षायिक भावोंकी निवृत्ति भी माननी चाहिये वैसी अवस्थामें मोक्ष अभावरूप सिद्ध होगी, अभावरूप होनेसे मुक्त जीवका कुछ भी उल्लेख नहीं किया जा सकेगा? उत्तर—यहां ऊपरका प्रश्न तभी वन सकता है जब कि आगे विशेष कथन मोक्षके विपयमें नहीं किया जाय परंतु आगेके सूत्रमें विशेष भावोंका कथन किया गया है, "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" इस सूत्र द्वारा जो वात कही गई है उसीके अपवाद रूपमें यह सूत्र कहा जाता है—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—केवल सम्यग्दर्शन केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्व आदि भावोंको छोडकर वाकी औपशमिकादि कर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंका नाश मोक्षावस्थामें हो जाता है अर्थात् ऊपर जैसा प्रश्न किया गया है उसके अनुसार मोक्षमें समस्त क्षायिक भावोंका भी नाश हो जाता हो ऐसा नहीं है किंतु आत्माके जितने भी क्षायिक एवं पारिणामिक अनंत भाव है उन सबोंका तो उस मोक्षावस्थामें पूर्ण विकाश हो जाता है अथवा आत्माके स्वभावसिद्ध अनंते गुणोंके पूर्ण विकाशका नाम ही तो मोक्ष है इसलिये जो भाव कर्मोंके निमित्तसे होते हैं उन्हीं भावोंका मोक्षप्राप्तिमें नाश हो जाता है, आत्माके

कारण हैं उनका अभाव होनेसे नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है क्योंकि विरोधी कारणोंका अभाव होजानेसे उनका कार्य भी नहीं हो सकता है। आत्मासे, विरोधी कारण मिथ्यादर्शनादिक हेतु थे उनका अभाव हो जानेसे फिर उनके द्वारा होनेवाला नवीन कर्मास्रवरूपी कार्य भी नहीं हो सकता है।

पूर्वोदितानिर्जराहेतुसान्निधाने चार्जितकर्मनिरासः ॥ २ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए निर्जराके कारणोंका सानिध्य (निकटता) होने पर (संचित किये गये कर्मोंका निरास होजाना इसीका नाम निर्जरा है) अर्थात् तप ध्यान आदि जितने निर्जराके हेतु पहले कहे जाचुके हैं उनकी समीपता होने पर जो पूर्व संचित किये गये समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है वही निर्जरा है इस प्रकार बंधके कारणोंका अभाव और निर्जरा इन दोनोंसे समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है। यहांपर कर्मोंके नाशमें बंधहेतुओंका अभाव और निर्जरा कारण है इसलिये "बंधहेत्वभाव-निर्जराभ्यां" ऐसा हेतु लक्षण पंचमी विभक्तिका विधान है जिस समय बंधहेतुओंका अभाव और निर्जरा होती है उसी समय संसारमें ठहरानेवाला जो आयु कर्म है उसकी स्थितिके समान नाम गोत्र वेदनीय कर्मोंकी स्थिति भी उसीके वराबर होजाती है और फिर उसी समय उन चारों कर्मोंका भी एक साथ अंतमें सर्वथा क्षय हो जाता है, बस ! समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना अथवा उनका संबंध आत्मासे विलकुल नहीं रहना आत्माकी इस मुक्तावस्थाका नाम ही मोक्ष है। शंका—

आद्यभावादंताभाव इति चेन्न दृष्टत्वादंत्यवीजवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि कर्मबंधकी संतान जिस प्रकार अनादिकालसे चली आई है उसकी कहीं भी आदि नहीं है उसीप्रकार उसका अंत भी कहीं नहीं होना चाहिये और यह बात देखनेमें आती है कि जिसकी आदि नहीं है उसका अंत भी नहीं होता है यदि इस देखी हुई बातके विपरीत कल्पना की जायगी तो वैसी कल्पना करनेमें अर्थात् कर्मोंकी आदि तो नहीं मानी जावे परंतु उनका अंत

स्वभावसिद्ध गुणोंका वहां नाश नहीं हो सकता यदि गुणोंका नाश हो जाय तो फिर गुणी आत्माका भी नाश हो जाय। उन गुणोंकी केवल अशुद्ध पर्यायोंका नाश हो जाता है। यहां पर अन्यत्र शब्द जो सूत्रमें दिया गया है वह निषेध अर्थमें दिया गया है। उसीका निषेधार्थक अन्यत्र शब्दका निमित्त (संबंध) लेकर सूत्रमें सिद्धत्वेभ्यः ऐसी पंचमीविभक्तिका विधान है। अन्यत्र शब्द निषेध अर्थमें आता है जैसे—"अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः" इस वाक्यमें अन्यत्र शब्दका अर्थ भी निषेधरूप हैं, द्रोण और भीष्मके विना बाकी सब योद्धा पराङ्मुख होगये अर्थात् द्रोण भीष्म तो बराबर लडते रहे बाकीके सब योद्धा लौट आये, यहांपर अन्यत्र शब्दने द्रोण भीष्मका निषेध कर दिया इसीप्रकार ऊपरके सूत्रमें निषेधार्थक अन्यत्र शब्द है। शंका—

अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेन्न स्वार्थिकत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि पंचमी विभक्ति अन्य शब्दके प्रयोगमें होती है जैसे—अन्यो देवदत्तात्. देवदत्तसे यह अन्य है परंतु ऊपर सूत्रमें अन्य शब्द नहीं है किंतु अन्यत्र शब्द है इसलिये उसके योगमें पंचमी विभक्ति नहीं होना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारणकि यहां पर स्वार्थ अर्थमें 'त्र' प्रत्यय किया गया है "केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यस्मिन्नित्यन्यत्र" अर्थात् केवलसम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन सिद्धत्व इनसे अन्यमें यह निषेधविधि है यह अर्थ हो जाता है केवल सम्यक्त्वादि भावोंसे अन्य जो औपशमिकादि भाव हैं उन्हींमें यह निषेधविधि है अर्थात् औपशमिकादि भावोंका ही नाश मोक्षावस्थामें हो जाता है किंतु केवलसम्यक्त्वादि भावोंका नहीं होता है इसलिये अन्य शब्दसे स्वार्थमें 'त्र' प्रत्यय करके अन्यत्र शब्द बन गया है, वैसी अवस्थामें अन्य और अन्यत्र दोनोंका एक अर्थ होनेसे अन्यके समान अन्यत्रके योगमें भी पंचमी विभक्ति हो जाती है। पुनः शंका—

अनंतवीर्यादिनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्नात्रैवांतर्भावात् ॥ २ ॥

होना मान लिया जाय तो ऐसी कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि जिनकी आदि नहीं हैं उन पदार्थोंका भी अंत देखा जाता है जैसे वीज। वीज और अंकुर की संतान अनादि कालसे चली आती है, परंतु अंतका वीज यदि अग्निसे जला दिया जाय तो उसकी फिर अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है इसलिये फिर उनकी संतान वहीं खतम हो जाती है अतः वीज वृक्षकी संतान अनादि होनेपर भी उनका अंत देखा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि कारण और उनसे उत्पन्न हुआ संसार इन दोनोंकी संतति अनादि परंपरासे चली आती है परंतु ध्यान-रूपी अग्निसे कर्मवीज (मिथ्यादर्शनादि कारण) के जलजाने पर फिर संसाररूपी अंकुरको पैदा करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है अतः भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है और जीवकी मोक्ष होजाती है। इसलिये यह बात देखी जाती है कि जिनका अनादिपरंपरासे कार्यकारणभाव चला आता है उनका भी अंत हो जाता है। जहां कारणका अभाव हो जाता है वहीं पर कार्यका भी अभाव हो जाता है। इस बातका अपलाप (लोप) नहीं किया जा सकता है। कहा भी है—

"दग्धे बीजे यथात्यंतं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मवीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः"।

अर्थात् वीजके सर्वथा भस्म होजाने पर अंकुर फिर उत्पन्न नहीं हो सकता है। उसी प्रकार कर्म-रूपी वीजके जलजानेपर संसाररूपी अंकुर फिर उत्पन्न नहीं होता है। कृत्स्नकर्मक्षय पदका यह अर्थ है कि कृत्स्न नाम समस्तका है, समस्त पुद्गलका कर्मरूप पर्यायसे जो क्षय हो जाना है, वह कर्मपर्यायका ही क्षय होता है इसीलिये कर्मक्षय कहा गया है क्योंकि सत्ता रखनेवाले द्रव्यका तो कभी द्रव्यरूपसे विनाश नहीं होता है किंतु पर्यायरूपसे ही उसका विनाश होता है क्योंकि पर्याय उत्पत्तिशाली है इसलिये उसका विनाश भी अवश्य होता है। उसी पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्य भी नाशको प्राप्त होता है ऐसा व्यवहार

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि सम्यक्त्व आदि चार क्षायिक भावोंका सूत्रमें संग्रह किया गया है इससे यह वात सहज सिद्ध हो जाती है कि वाकीके अनंतवीर्य आदि भावोंकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् अनंतवीर्यादि भाव तो क्षायिक भाव हैं उनका भी सूत्रमें ग्रहण करना आवश्यक था परंतु सूत्रमें केवलसम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्व इन चार भावोंका ही ग्रहण है इससे वाकीके क्षायिक भावोंका मोक्षावस्थामें निषेध सिद्ध होता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि अनंत-वीर्यादि क्षायिक भावोंका भी इसी सूत्रमें जिन केवलज्ञानादि भावोंका ग्रहण किया गया है उन्हींमें हो जाता है क्योंकि अनंतवीर्यादि भाव ज्ञान दर्शनके अविनाभावी हैं विना अनंतवीर्यके अनंतज्ञान और अनंतदर्शन नहीं हो सकते हैं इसलिये जव अनंतज्ञान अनंतदर्शनका विधान वताया गया है तो उनके विधानसे अनंतवीर्य आदिका विधान सुतरां सिद्ध हो जाता है उनके फिर स्वतंत्र कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है जैसे—जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य होती है विना अग्निके धूम उत्पन्न नहीं हो सकता उसीप्रकार जहां केवलज्ञानादि भाव होते हैं वहां अनंतवीर्यका सद्भाव अवश्य होता है विना अनंतवीर्यादिके केवलज्ञान आदि गुणोंका सद्भाव भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो अनंत सामर्थ्य नहीं रखता है वह अनंतबोध भी नहीं कर सकता है, जितना विशद वोध होता है उसकेलिये उतनी ही शक्तिकी आवश्यक्ता रहती है. दूसरी वात यह भी है कि आत्माका जो सुख गुण है वह ज्ञानस्वरूप ही है अर्थात् सुखगुणका अनुभव ज्ञानमय होता है यद्यपि ज्ञानगुण भिन्न है और सुखगुण भिन्न है तथापि सभी गुणोंमें परस्पर तादात्म्य होनेसे एकीभाव है इसलिये सुखादि गुणोंका प्रतिभास भी ज्ञानरूप होता है ऐसा कहना भी युक्तियुक्त है क्योंकि ज्ञानी जीव ही सुखका अनुभव करता है उसके विना ज्ञानरहित जड पदार्थमें सुख गुणका अनुभव होना असंभव है। फिर शंका—

बंधस्याव्यवस्थाऽश्वादिवदिति चेन्न मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ॥ २ ॥

होता है इसलिये आत्माके साथ बंधरूप संबंधको प्राप्त हुआ जो पुद्गल द्रव्य है वह जिन कारणोंसे कर्मरूप पर्यायको धारण करता है उन कारणोंके प्रतिद्वंद्वी (विरुद्ध) कारणोंकी निकटता होनेपर उस कर्मरूप पर्यायकी निवृत्ति होजाती है इसलिये उस कर्मका क्षय होगया ऐसा व्यवहार होता है, इसीलिये यह ठीक कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाता है। इस कथनका तात्पर्य इतना है कि जितनी वस्तु जगत्में हैं वे सब अपने अपने स्वरूपको लिये हुये हैं कभी किसी वस्तुका न तो नाश ही होता है और न किसी नवीन वस्तुकी उत्पत्ति ही होती है क्योंकि द्रव्य अनंत गुणोंका अखंड पिंड है गुणोंका नाश कभी होता नहीं है गुणका यदि नाश होजाय तो द्रव्यकी फिर कुछ भी सत्ता नहीं रहती है। गुण सदैव नित्य रहते हैं और उन्हीं गुणोंका तादात्म्यसंबंध रूपसे जो अखंड अभेद है वही गुणसमुदाय द्रव्यके नामसे कहा जाता है, गुणसमूहको छोडकर द्रव्य स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है इसलिये द्रव्य नित्य है उसका नाश तो कभी होता नहीं है, किंतु द्रव्यमें जो पर्यायें होती हैं वे अनित्य हैं, पयाय एक क्षणमें एक होती है, समय समय पर द्रव्योंमें पर्यायें होती रहती हैं और नष्ट हो जाती हैं, द्रव्यका स्वभाव परिणमनशील है और प्रत्येक समयके परिणमनको ही पर्याय कहते हैं। इसलिये प्रत्येक समयमें नया नया परिणाम होता रहता है पूर्व पूर्व परिणाम नष्ट होता रहता है अतः पयाय अथवा परिणाम अनित्य है, पर्यायोंका द्रव्यके साथ संबंध है इसलिये पर्यायदृष्टिसे कथंचित् द्रव्यका भी नाश समझा जाता है और द्रव्य गुणसमुदाय पिंड है इसलिये गुणदृष्टिसे द्रव्य सदैव नित्य है ऐसी व्यवस्थामें पुद्गल द्रव्य भी नित्य है उसकी कुछ स्थूल पर्याय जो कार्माणवर्गणा और नोकार्माणवर्गणाके नामसे प्रसिद्ध हैं, उन्हींका जब आत्माके साथ योग और कषायोंके कारण संबंध होता है तब वे वर्गणायें कर्म और नोकर्म कहलाती हैं, अर्थात् आत्माके साथ बंध हो जाने पर उन कार्माण और नोकार्माणवर्गणाओंकी कर्म और नोकर्म पर्याय हो जाती है, जब उन बंध करनेवाले कारणोंके प्रतिपक्षी आत्माके सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र आदि

अथ—यहांपर यह शंका होती है कि घोडे आदि पशुओंका एक बंधन छूट जाय तो भी दूसरा बंधन हो जाता है, उसीप्रकार जीव भी किसी बंधसे छूटने पर किसी दूसरे बंधसे बंध सकता है इसलिये मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव फिर बंधनसे नहीं बंधते हैं यह बात किसप्रकार मानी जा सकती है, यह व्यवस्था नहीं बन सकती है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि मिथ्यादर्शन आदिके नष्ट होने पर कार्यकारणभावकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् विना कारणके कार्य नहीं हो सकता है यह नियम है, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच ही बंधके कारण हैं इन्हींसे आत्मामें बंध होता है, जिस जीवके जितने कारण हैं उनके उतना ही बंध होता है मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवोंके इन मिथ्यादर्शनादि पांचोंमें एक भी कारण नहीं रहता है इसलिये उनका बंधरूप कार्य भी वहां नहीं रहता है अतः बंधके हेतुओंका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवके बंध नहीं होसकता है। फिर शंका—

पुनर्बंधप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेन्न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां पुनः यह शंका होती है कि मुक्त जीव इस दुःखसमुद्रमें डूबे हुये समस्त संसारको जानते हैं और देखते भी हैं इसलिये संसारी जीवोंको अत्यंत दुःखी देखकर और जानकर उनके परमकारुणिक हृदयमें उन जीवोंके प्रति दयाभाव उत्पन्न होगा और दयाभाव होनेसे कर्मोंका बंध होगा इसलिये मुक्त जीवोंके भी पुन बंध हो सकता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि मुक्तावस्थामें समस्त आस्रवका परिक्षय हो जाता है अर्थात् जिन कारणोंसे कर्मास्रव हो सकता है उनमेंसे एक भी आस्रवका कारण मुक्तावस्थामें नहीं रहता है। भक्ति, स्नेह, कृपा, स्पृहा इत्यादि सब रागके ही भेद हैं इसलिये बे सब बातें वीतराग भगवानमें नहीं हो सकती हैं, अर्थात् किसीके प्रति भक्तिका होना यह राग पर्याय है। जैसे जिनेन्द्र भगवानकी जो अष्टद्रव्यसे पूजा गृहस्थ लोग करते हैं, और उनकी स्तुति पाठोंसे विशेषभक्ति करते हैं वह भक्ति रागरूप आत्माका परिणाम है, यहां कोई शंका कर सकता है कि यदि

स्वभाव प्रगट होजाते हैं तब कर्मबंधके कारण जो योग कषायादिक वैकारिक भाव हैं उनका भी नाश हो जाता है तथा उनका नाश होजाने पर उनका कार्य जो कर्म नोकर्म है उनका भी फिर कर्मबंधरूप कार्य नहीं होता है और ध्यानके द्वारा पहले बंधे हुए कर्म नोकर्मका नाश होजाता है, कर्म नोकर्मके नाशका अभिप्राय यही है कि पुद्गलद्रव्यकी वह पर्याय नष्ट हो जाती है अर्थात् आत्माके साथ संबंध होनेसे जो पर्याय पुद्गल की हुई थी वह पर्याय आत्माका संबंध नहीं रहने पर फिर नहीं रहती किंतु आत्मासे संबंध छूटनेसे वे कर्म नोकर्म पुनः कार्माणनोकार्माणरूप अवस्थामें पहुंच जाते हैं आत्माके साथ बंध होनेतक ही कर्मसंज्ञा है पीछे नहीं इसलिये कर्मका नाश हो जाता है इसका इतना ही प्रयोजन है कि पुद्गलकी कर्म पर्याय आत्मासे हटजाती है फिर उसकी कर्म संज्ञा नहीं रहती है। नाशका अर्थ पुद्गल द्रव्यका नाश नहीं है द्रव्य तो सभी नित्य हैं उनका नाश तो कभी नहीं हो सकता है।

भावसाधनो मोक्षशब्दो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः ॥ ४ ॥

अर्थ— जो मोक्ष धातु क्षेपणरूप (छूटने) अर्थमें नियत है उसी मोक्ष धातुका मोक्षणं मोक्षः ऐसा भावसाधनरूपमें यह मोक्ष शब्द सिद्ध होता है इस भावसाधनका अर्थ कर्मोंका आत्मासे छूट जाना है यह मोक्ष शब्द दो विषयोंको लक्ष्य करता है एक जो छूटनें योग्य पदार्थ कर्म है वह भी इस मोक्ष शब्दका विषय है और जो उसे छोडनेवाला आत्मा है वह भी इस मोक्ष शब्दका विषय है अर्थात् मोक्ष कहनेसे कर्मको छूटने और कर्मको छोडनेवाले इन दोनोंकी अपेक्षा विवक्षित हो जाती है क्योंकि छूटनेका संबंध दोनों ओर है छूटना उन्हीं दो पदार्थोंका हो सकता है जिनका कि बंध है इसलिये बंध दो पदार्थोंका होता है जब बंध दो पदार्थोंको विषय करता है तब छूटना अथवा मुक्त होना यह भी उन्हीं दो पदार्थोंको विषय करता है जिनका कि बंध होता है जैसे बंधशब्द द्विष्ठ है उसीप्रकार मोक्ष शब्द भी द्विष्ठ है। दोनोंमें ही अपने संबंधियोंके क्रमसे संबंध और भेदकी विवक्षा है। मोक्ष शब्द जब भावसाधन

भक्ति राग परिणाम है तो उसका विधान क्यों बताया गया है? इसका उत्तर यह है कि राग दो प्रकारका होता है-एक प्रशस्तराग, एक अप्रशस्तराग। उनमें अप्रशस्तराग अशुभ है वह सांसारिक वस्तुओंमें सराग परिणामरूप होता है। प्रशस्तराग परमार्थके विषयमें होता है, जैसे-जिनेन्द्रभक्तिमें अनुराग, मुनिबंदना अथवा तीर्थबंदनामें अनुराग होना आदि। यह सरागभाव वहांतक ग्राह्य है जहांतक आत्मामें रागभाव रहता है, बुद्धिपूर्वक राग छठे गुणस्थान तक रहता है इसलिये वहांतक अप्रशस्तरागको छोडकर प्रशस्त राग करना ठीक है और उसे भी छोडकर वीतराग भावोंकी प्राप्ति करना उत्तरोत्तर प्रशंस्मनीय है इसीप्रकार किसी वस्तुमें स्नेह करना भी प्रशस्त अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकार है। वह भी आत्माका सराग भाव है। कृपा अथवा दयाभाव भी रागभाव है। जहां किसीकी दुःखावस्था देखकर आत्मामें करुणा उत्पन्न होती है वह करुणा विना राग भावके कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है कारण कि जब बुद्धिपूर्वक उस दुःखी जीवके दुःख दूर करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी तभी तो करुणा होगी और इच्छा लोभरूप पर्याय है इसलिये करुणामय भाव होना रागभाव है। वीतराग भावोंमें करुणा नहीं हो सकती। करुणाका सद्भाव भी बुद्धिपूर्वक छठे गुणस्थानतक है आगे भी दशवें गुणस्थानतक केवल कर्मोदयकी अपेक्षा उसका सद्भाव माना जासकता है कार्यकी अपेक्षा तो छठे गुणस्थान तक ही दयाभाव हो सकता है और वहींतक बुद्धिपूर्वक क्रिया होती है इसलिये वहींतक जीवोंकी रक्षा और उनपर दयाभाव होते हैं, जो लोग परमेश्वर अवस्थामें भी दयाभाव स्वीकार करते हैं और उस दया-भावके कारण ईश्वरमें जगत्कर्तृत्व मानते हैं वे वास्तवमें मिथ्याबुद्धिके कारण वहुत भूले हुए हैं और अपनी मिथ्याबुद्धिसे ईश्वरको रागी सिद्ध करते हैं इसी प्रकार जो वीतराग भगवानके भी कवलाहारका ग्रहण और रोगोंका सद्भाव आदि मानते हैं वे भी मिथ्याबुद्धिसे ग्रसित हैं इसलिये अपनी मिथ्या-बुद्धिसे वीतराग भगवानके क्षुधारोग आदिसे सर्वथा रहित वीतराग स्वरूपमें दूषण लगाते हैं। वास्तवमें

मुख्य रूपसे ही माना गया है गौणरूपसे नहीं यह अवश्य मानना होगा इसलिये धर्म अधर्म आदिके प्रदेश मुख्य ही हैं। खुलासा इसप्रकार है—

एक एक आत्माके प्रदेशमें अनंतानंत ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रदेश रहते हैं। एक एक कर्मके प्रदेशमें अनंत अनंत औदारिक आदि शरीरोंके प्रदेश रहते हैं तथा जिसतरह गीले गुडमें अनन्ते पुद्गलके रेणु आकर तन्मय हो जाते हैं अर्थात चाहे वे रेणु कितने और किसी जातिके क्यों न हों तो भी वे गुडमें स्थान पाकर तल्लीन हो जाते हैं उसीतरह एक एक शरीरके प्रदेशमें अनंते अनंते प्रदेश स्वभावसे ही इकट्ठे होकर रहते हैं इसरीतिसे जिसप्रकार आत्मा आदिके एक एक प्रदेशमें भी कर्म आदिके अनंते अनंते प्रदेश रहते हैं उसीप्रकार धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेशोंमें भी अन्य द्रव्योंके अनंतानन्त प्रदेश रहते हैं इसलिये पुद्गलके समान ही धर्म अधर्म आदिमें मुख्य रूपसे प्रदेशोंकी कल्पना है। तथा—

स्थितास्थितिविचनात ॥ १५ ॥

जहांपर सुख और दुखका अनुभव होता है एवं जहांपर क्रोध आदि स्वरूप परिणामोंकी विद्यमानता है ऐसे जीवके अन्यभावस्वरूप परिणाम होनेपर उसके प्रदेशोंका जहांपर शरीरसे निकलना और फिर शरीरमें प्रवेश करना रूप क्रिया नहीं होती वहां जीवके प्रदेशोंकी स्थिति कही जाती है एवं

१—जीवेहि अणंतगुणा पडिपरमाणुम्मि विस्ससोवचया। जीवेण ये समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु ॥ गोम्मटसार

अर्थात् एक एक कर्मपरमाणुके प्रति अनन्तानन्त कार्माणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु जीवके साथ संबंधित ठहरा हुआ है उनका नाम विस्रसोपचय है। अर्थात् स्वभावसे ही वे परमाणु संचित है, जव आत्मा उनका बन्ध करेगा तव उन्हींकी कर्मसंज्ञा हो जाती है।

जहांपर प्रदेशोंका बाहिर निकलना और पीछे फिर प्रवेश कर जाना रूप क्रियाकी प्रवृत्ति है अर्थात् जहांपर क्रोध आदिके द्वारा बाहर निकलने और पीछे लौटनेसे प्रदेशोंका आपसमें हलन चलन होता है वहांपर अस्थिति (अस्थिरता) होती है तो सब समय मेरुपर्वतके नीचे चित्र और वज्र पटलके मध्यमें जो जीवके आठ मध्यप्रदेश हैं वे निरपवादरूपसे स्थित हैं अर्थात् कैसा भी वलवान कारण क्यों न उपस्थित हो जाय उनमें कभी हलन चलन नहीं होता तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी केवलियोंके और सिद्धोंके भी समस्त प्रदेश सर्वदा स्थित हैं, कैसा भी वलवान कारण क्यों न उपस्थित हो जाय उनके अंदर भी किसीप्रकारका हलन चलन नहीं होता। किंतु जो जीव अधिक व्यायाम (कसरत) करनेवाले हैं अत्यंत दुखी हैं एवं क्लेशोंसे अत्यंत उत्तप्तायमान हैं उनके व्यायाम दुःख और तापकी अधिकतासे आत्माके प्रदेश बाहिर निकल जाते और पीछे फिर वापिस लौट आते हैं परंतु मेरुपर्वतके नीचे चित्र और वज्र पटलोंके मध्यके आठ मध्य प्रदेशोंमें यह हलन चलन नहीं होता इसलिये व्यायाम दुःख और परितापसे परिणत जीवोंके आठ मध्यप्रदेशोंको छोडकर अन्य समस्त प्रदेश अस्थित ही हैं अर्थात् दुःख आदि कारण पाकर हलन चलन रूप क्रिया होती रहनेके कारण वे अस्थिर ही बने रहते हैं तथा इनसे अतिरिक्त जितने जीव हैं उनके प्रदेश स्थित भी हैं और अस्थित भी हैं इसरीतिसे जब जीवके प्रदेश स्थित और अस्थित हैं यह शास्त्रमें उल्लेख मौजूद है तब पुद्गलके समान धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेश मुख्य रूपसे ही हैं, गौण रूपसे नहीं। तथा यह भी बात है—

इंद्रियपरिणामवचनात् ॥ १६ ॥

वीर्यांतराय मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे और अंगोपांगनाम नामकर्मकी

वीतराग भगवान कर्मजनित उपाधियोंसे रहित हैं इसलिये उनके जगत्कर्तृत्व और क्षुधारोग आदि सराग भावोंसे होनेवाली बात कोई भी संभव नहीं है। इसीप्रकार किसी वस्तुकी चाहना करना यह भी लोभकषायका परिणाम है वह भी वीतराग भगवानके नहीं हो सकता है इसलिये वीतराग प्रभु समस्त जगत्को जानते हैं और देखते हैं परंतु वीतरागभाव होनेसे उनके करुणाभाव नहीं हो सकता है, जानना, देखना आत्माके विशुद्ध गुणोंका कार्य है। जब उनके रागभावका किञ्चिन्मात्र भी सद्भाव नहीं है तो कर्मबंध भी किसी प्रकार नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय —

अकस्मादिति चेदनिर्मोक्षप्रसंगः ॥ ५ ॥

अर्थ——यदि कारणके विना ही मुक्त जीवके बंधकी कल्पना की जायगी तो फिर जीवको कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती क्योंकि मुक्तिप्राप्तिके पीछे झट कर्मबंध होकर आत्मा संसारी बन जायगा अर्थात् जब कारणसे कार्य होता है यह सिद्धांत माना जाता है तब तो जहां तक कर्मबंधका कारण रागभाव है वहां तक बराबर बंध होता है परंतु जहां वीतराग आत्मासे रागभाव सर्वथा दूर हो जाता है वहां फिर कर्मबंध कभी नहीं हो सकता है यही मानना न्यायसंगत है। इसके विपरीत यदि विना कारणके भी कर्मबंध होगा तो संसारमें कोई भी जीव मुक्त नहीं सिद्ध होगा, जितने भी मुक्त होंगे वे सब कर्मबंधवाले हो जांयगे वैसी दशामें मोक्षकेलिये समस्त प्रयत्न व्यर्थ ठहरेगा। पुनः शंका—

स्थानवत्त्वात्पातः इति चेन्नानास्रवत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यहां दूसरी यह शंका होती है कि मुक्तजीवोंका विशेष स्थान बताया गया है, सूक्ष्म वातवलयमें लोकके अंतभागमें वे ठहरते हैं इसलिये वे स्थानयुक्त होते हैं और जितने भी स्थानयुक्त होते हैं उनका वहांसे पतन भी हो सकता है इसलिये मुक्तजीवोंका भी पतन होना चाहिये? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि मुक्त जीव आस्रवसे रहित हैं, जितने भी आस्रववाले पदार्थ होते हैं उनका ही पतन हो सकता है जैसे यान-

भी नहीं जा सकता है क्योंकि उसके योगका संबंध नहीं रहा है अर्थात् आत्माको इधर उधर ले जानेवाले कारण अब नहीं रहे हैं इसलिये वह न तो नीचे जा सकता है और न इधर उधर समान या विषम क्षेत्रमें ही जा सकता है इसलिये फलतः यह वात सिद्ध होती है कि जिस क्षेत्रमें आत्मासे कर्मबंध छूटता है उसी क्षेत्रमें वह स्थित रहता है इससे "लोकके ऊपर वह ठहरता है" इस कल्पनाकी भी निवृत्ति होजाती है, यह प्रश्न भी ऊपरकी शंकाको पुष्ट करनेवाला है। इसके उत्तरमें श्रीआचार्य महाराज कहते हैं कि यह प्रश्न तब ठीक हो सकता है जब कि अनभिमत देश (अनिष्ट देश) में गमन करनेके कारणोंका अभाव हो जानेके साथ यदि ऊर्ध्वगमनका कारण भी नहीं रहे परंतु और अनिष्ट गतियोंके कारणोंका तो आत्माके सर्वथा अभाव हो चुका है किंतु ऊर्ध्वगति करनेका निमित्त तो उसके मोजूद है इसलिये उस निमित्तसे वह आत्मा सम्पूर्ण कर्मभारसे मुक्त होता हुआ एक समयमें ही लोकशिखरपर जा विराजता है। इसी बातको सूत्रद्वारा स्पष्ट करते हैं—

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ—समस्त कर्मभारसे मुक्त होनेपर आत्मा लोकके शिखर पर्यंत ऊपर चला जाता है। यहां पर सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे प्रकृत अर्थ लेना चाहिये। यहांपर प्रकरणमें आयाहुआ अर्थ क्या है? उसीको कहते हैं कि प्रकृत अर्थ सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव है। उसी समस्त कर्मोंके अभावरूप अर्थको तत् शब्दसे ग्रहण करना चाहिये। उस समस्त कर्मोंके अभाव हो जानेपर आत्मा ऊपरको जाता है।

आङभिविध्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—आङ् शब्द अनेक अर्थोंमें आता है, वह कहींपर ईषत् (थोडे) अर्थमें आता है, कहींपर अभिविधि अर्थमें आता है, कहींपर मर्यादा अर्थमें आता है इत्यादि अनेक अर्थोंमें आङ् शब्दका प्रयोग देखा जाता है, यहांपर विवक्षावश उसका अभिविधि अर्थ है अर्थात् सूत्रमें आलोकांतात् इसवाक्यमें

पात्र आदिकका पतन देखा जाता है, परंतु मुक्त जीवोंके किसी प्रकार आस्रव नहीं है वे अगुरुलघु गुणकी विशुद्धता प्राप्त कर चुके हैं, अतः उनके पतनकी संभावना भी नहीं हो सकती है। और भी—

गौरवाभावाच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—गौरवसहित जो तालफल होता है उसीका, वृक्षकी डालीसे लगे हुऐ डंठलका संयोग छूटनेपर पतन हो जाता है परंतु जो गौरवरहित आकाश आदि पदार्थ हैं उनका पतन कभी नहीं हो सकता है अर्थात् तालफल आम्रफल आदि जितने भी भारी पदार्थ हैं वे जब तक वृक्षकी डालीसे संबंध रखते हैं तबतक तो डालीके सहारे लटके रहते हैं परंतु डालीका संबंध छूटने पर तत्काल पृथ्वीमें गिर पडते हैं, यह बात समस्त भारी पदार्थोंके साथ होती है परंतु जो आकाश दिशा द्रव्य आदि अमूर्तिक पदार्थ अन्यमतियोंने माने हैं वे तो भारी नहीं हैं इसलिये उनका कभी किसी प्रकार पतन नहीं हो सकता है, आकाशके समान मुक्तात्मा भी अमूर्तिक है वह भी भारी नहीं है, इसलिये उसका भी पतन नहीं हो सकता है। परंतु जिसके मतमें स्थानग्रहण करना ही पातका कारण है उसके मतमें आकाश आदि समस्त पदार्थोंका पात होना चाहिये क्योंकि जैसा स्थानका ग्रहण घोडेकी सवारी वायुयानकी सवारी आदि पदार्थोंमें हैं उसी प्रकार आकाशमें स्थानका ग्रहण समान है इसलिये उनके यहां यानपात्रोंके पतनके समान आकाशका पतन भी होना चाहिये परंतु यह बात उन्हें भी मान्य नहीं है आकाशका पतन वे भी नहीं मानते हैं इसलिये स्थानग्रहण ही पतनका कारण हो यह वात सिद्ध नहीं हो पाती है। पुनः शंका—

परस्परोपरोध इति चेन्नावगाहनशक्तियोगात् ॥ ८ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि सिद्धोंके ठहरने योग्य आकाश तो बहुत थोडा है परंतु उसमें ठहरनेवाले सिद्ध तो अनंतानंत हैं, इसलिये स्थानकी कमीके कारण वे सिद्ध परस्पर एक दूसरेके

जो आङ् शब्द आया है, उसका अर्थ अभिविधि है मर्यादा और अभिविधिमें इतना ही भेद है कि जहां तककी मर्यादाकी जाती है उस स्थानको छोडकर उससे आगेका ग्रहण किया जाता है परंतु अभिविधिमें जहांतककी अवधि की जाती है उस क्षेत्रका भी ग्रहण किया जाता है। यहांपर लोकके अंतकी अवधि की गई है इसलिये लोकके अंतभागका ग्रहण समझना चाहिये। लोकके अंतको लोकांत कहते हैं, जीव ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोकके अंत भागतक गमन करता है फिर आगे गमन नहीं करता है अर्थात् जहांपर लोकके अंतभागमें सूक्ष्म वात वलय है उसी सूक्ष्म वातवलयमें (वह भी लोकके भीतर है) मुक्त जीव जा विराजता है। प्रश्न—यह जो जीवका ऊर्ध्वगमन बताया गया है वह विना हेतुके कहा गया है, किस कारणसे ऊर्ध्वगमन जीवका होता है सो कोई कारण नहीं कहा गया है इसलिये विना कारणके कहा गया ऊर्ध्वगमन किसप्रकार ठीक निश्चित किया जा सकता है अर्थात् जबतक ऊर्ध्वगमनका हेतु नहीं बताया जायगा तबतक वह ठीक नहीं माना जा सकता है। इसके उत्तरमें सूत्र कहा जाता है—

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—यह जीव पहले संसारावस्थामें मोक्षकेलिये बराबर गमन करनेका अभ्यास करता था परंतु उस उद्योगी परिणामरूप निमित्तके छूट जानेपर भी पूर्वप्रयोगवश मुक्त होनेपर भी गमन करता है अथवा जबतक इस आत्माके साथ कर्मोंका परिग्रह लगा हुआ था तबतक यह नीच या चतुर्गतियोंमें भ्रमण करता था परंतु कर्मका भार हट जानेसे वह ऊपरको चला जाता है अथवा जबतक यह आत्मा कर्मोंके बंधमें जकडा हुआ था तबतक ऊपरको नहीं जा सकता था परंतु ज्योंही वह बंधनसे छूटता है त्योंही मुक्त होनेपर तुरंत ऊपरको चला जाता है, अथवा ऊपरको गमन करनेका इस जीवका स्वभाव है इसलिये जबतक कर्मका संबंध था तबतक उनकी परवशतासे ऊपरको नहीं जा पाता था परंतु जब उस कर्मकी परवशतासे यह जीव मुक्त हो जाता है तभी अपने स्वभावके कारण वह चारों गतियोंसे रहित

बाधक होंगे ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारणकि अवगाहन शक्तिके निमित्तसे वे थोडे प्रदेशमें भी सब समा जाते हैं। जो लोकमें मूर्तिमान पदार्थ हैं वे भी थोडे क्षेत्रमें बहुत आ जाते हैं, जब मूर्तिमान पदार्थोंका ही विरोध नहीं देखा जाता है तब अमूर्तिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? वे तो अवगाहन-शक्ति रखते हैं। दृष्टांतकेलिये मणियोंका अथवा दीपकका प्रकाश ले लेना चाहिये, जैसे—मणियोंका प्रकाश अथवा दीपका प्रकाश यद्यपि मूर्तिमान है वह पौद्गलिक परमाणु पुंज है फिर भी थोडेसे आकाश क्षेत्रमें अनंतानंत परमाणुपुंज समूहात्मक प्रकाश स्थान पाजाता है, कोई विरोध नहीं देखा जाता है। जिस क्षेत्रमें एक बिजलीकी रोशनी हो रही है उसी चमकते हुए प्रकाशमें अन्यान्य भी बिजली बत्तियां लगादी जांय तो उनका प्रकाश भी उसी क्षेत्रमें स्थान पा जाता है फिर भी वह स्थान प्रकाशके भरे रहने पर भी नहीं घिरता है और उसमें दूसरी वस्तुएं भी स्थान पाजाती हैं। जब जगह घेरनेवाले पुद्गलोंकी यह बात है तब मुक्त जीव तो शरीरादि सभी प्रकारके परमाणुओंसे रहित हैं वे तो सर्वथा अमूर्तिक हैं इसलिये आकाशके समान उनका एक दूसरेसे कोई विरोध या बाधकता नहीं हो सकती है। जब मुक्त जीवोंके मूर्ति ही नहीं है तो वे आकाशके समान अमूर्तिक हैं केवल पुरुषाकार हैं जैसे आकश भी घटाकाश मठाकाश रूपमें प्रतीत होता है। घट या मकानके भीतरका आकाश क्या घट या मकानको घेरकर रहता है ? नहीं रहता, उसमें अन्य वस्तुयें स्थान पाजाती हैं उसी प्रकार सिद्धालयमें जितने अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं यदि उतनेसे और भी अनंतानंतगुणे सिद्ध वहां पहुंच जांय तो भी वहांका आकाश क्षेत्र घिर नहीं सकता है किंतु पोल सदृश ही सदैव रहेगा, कारण आकाशमें एक दूसरेको घेरकर रहनेवाले स्थूल पुद्गल और स्थूल शरीरधारी संसारी जीव ही हो सकते हैं किंतु जो पदार्थ सर्वथा अमूर्तिक परम सूक्ष्म हैं वे एक दूसरेको न तो रोक सकते हैं और न किसीसे रोके जा सकते हैं और न स्थान ही घेर सकते हैं इसलिये जितनी अवगाहनावाले आकाश क्षेत्रमें एक

सीधा ऊपर लोकशिखर तक चला जाता है। प्रश्न—यदि बहुतसा भी हेतुवाद कहा जाय परंतु दृष्टांतोंद्वारा उसका समर्थन नहीं किया जाय तो वह बहुतसा हेतुरूप अर्थ अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं होता है इसलिये इस ऊर्ध्वगमनके विषयमें दृष्टांतोंको प्रगट करनेवाला सूत्र कहते हैं—

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबूवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—पहलेसे घुमाये हुए कुम्हारके चाकके समान, जिसका लेप दूर होगया है ऐसी तूमडीके समान, एरंडी (अंडी) के बीजके समान और अग्निकी शिखाके समान यह जीव ऊपरके सूत्र द्वारा बताये गये पूर्व प्रयोगादि कारणोंसे ऊपरको गमन करता है।

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबंधः ॥ १ ॥

अर्थ—पहले सूत्रमें जो हेतु कहे गये हैं उनका और इस सूत्रमें जो दृष्टांत कहे गये हैं उनका क्रमसे संबंध लगा लेना चाहिये अर्थात् पूर्वप्रयोगका संबंध घूमते हुए कुम्हारके चाकसे, संगरहितका संबंध लेपरहित तूमडीसे, बंधके छेदका संबंध एरंडबीजसे और तथा गतिपरिणाम (स्वभावगमन) का संबंध अग्निशिखासे लगा लेना चाहिये। इन्हीं हेतु और दृष्टांतोंका संबंध कैसे घटित होता है इस बातका खुलासा नीचेकी वार्तिकोंसे होता है——

अपवर्गप्राप्तये बहुशः प्रणिधानादाविद्धकुलालचक्रवत् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार घट बनानेवाले कुंभकारके प्रयोगसे उसके हाथका दंडके साथ संयोग और दंडका चाकके साथ संयोग होता है और उस कुम्हारके हाथसे घुमाये हुए डंडेके संयोगसे चाकका भ्रमण होता है, परंतु जब कुम्हार चाकपर डंडेका घुमाना बंद भी कर लेता है तब भी जबतक उस चाकके घूमनेका संस्कार बना रहता है तब तक वह विना घुमाये जाने पर भी बराबर घूमता रहता है। ठीक उसीप्रकार संसारमें भ्रमण करते हुए इस आत्माने मोक्षप्राप्तिके लिये अनेकबार बराबर उद्योगविशेष

सिद्ध भगवान हैं उसीमें अनंतानंत सिद्ध स्थान पाजाते हैं, कोई विरोधका कारण नहीं है। इसीलिये—

तत एव जन्ममरणद्वंद्वोपनिपातव्यावाधाविरहात् परमसुखिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—अमूर्त होनेसे ही वे सिद्ध भगवान् परमसुखी हैं। जिसके मूर्ति होती है उसीके उस मूर्तिके संवंधसे प्रीति और द्वेष हो सकता है, परंतु मूर्तिरहित जो मुक्त जीव हैं उनके जन्म मरण आदि झगडे संवंधी किसीप्रकारकी बाधा नहीं रही है इसलिये व्यावाधारहित होनेसे वे मुक्त जीव परम सुखी होजाते हैं। संसारमें जितने भी मोह प्रेम द्वेष आदि अनर्थ हैं वे सब शरीरके संवंधसे होते हैं, शरीरका संवंध रहनेसे ही संसारी जीव जन्म मरण आदि नाना दुःखोंको कर्मोदयवश भोगता है परंतु मुक्त जीवोंके सब दुःखोंका मूल कारण शरीर ही नहीं रहता है इसलिये उनके किसीप्रकारकी कोई बाधा नहीं है अतएव वे मुक्तजीव परम निराकुल आत्मीय विशुद्ध सुखका सदैव अनुभव करते रहते हैं।

न तस्यास्त्युपमानमाकाशपरिमाणवत् ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार एक परमाणुके अवगाहक्षेत्रको लेकर एक एक परमाणु प्रदेशकी वृद्धिके द्वारा कल्पनामें लाया गया सातिशय क्षेत्रवाला पुद्गलका महास्कंद आकाश परिमाणवाला कहलाता है, इस प्रकारकी उपमावाली कल्पनासे रहित आकाशक्षेत्र है वह महास्कंधकी उपमासे रहित है किंतु व्यापक और अनंत है उसीप्रकार सुख शब्दका अर्थ भी न्यूनाधिक रूपसे संसारी जीवोंमें अंतसहित है, परंतु मुक्त जीवोंमें परम अनंतपरिमाणवाला होनेसे निरतिशय है इसलिये उस सुखकी उपमा किसीसे नहीं की जासकती है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे पुद्गलका सबसे बडा महास्कंध भी एक एक पुद्गल परमाणुकी वृद्धि करता हुआ बहुत आकाशक्षेत्रवाला समझा जाता है परंतु फिर भी वह आकाशके बराबर नहीं हो सकता किंतु सांत ही रहता है, वह एक एक परमाणुकी वृद्धिके अतिशयसे बढा है, परंतु आकाश किसी भी अतिशयसे बढता नहीं है किंतु सुतरां वह अनंत है अन्य पदार्थोंकी उपमासे रहित

किया था परंतु अब मोक्षप्राप्तिके समय उसप्रकारके उद्योगका अभाव होजाने पर भी उस संस्कारके आवेशपूर्वक मुक्तात्माका ऊर्ध्वगमन होता है। अर्थात् संसारावस्थामें जो मुक्तिप्राप्तिके लिये परिणामविशेष होता था वह क्षयोपशमजनित भाव था और योगविशेषसे होता था परंतु मुक्तावस्थामें वह भाव और योगविशेष दोनों ही नहीं रहते हैं इसलिये उसप्रकारका उद्योगविशेष तो मोक्षप्राप्तिके समय नहीं रहता है परंतु मोक्षगमनका संस्कार अवश्य बना रहता है। उसी संस्कारके वशसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। तथा—

असंगत्वान्मुक्तलेपालाबूद्रव्यवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मिट्टीका लेप लग जानेसे तूमडीमें भारीपन आजानेसे वह जलमें नीचे चली जाती है, परंतु जलके संबंधसे जब उस तूमडीसे मिट्टीका लेप हट जाता है तब वह हलकी हो जाती है और पानीके ऊपर आजाती है उसीप्रकार आत्मा भी जब तक कर्मोंके भारसे परवश रहता है तबतक तो उसके निमित्तसे वह नियमसे संसारमें घूमता है परंतु जिससमय कर्मभार आत्मासे दूर हो जाता है उस समय वह ऊपर चला जाता है। शंका—

अनियमप्रसंगो दंडवदिति चेन्नोर्ध्वगौरवात ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि जिसप्रकार डंडा जबतक किसी दूसरे द्रव्यके सहारे रहता है तब तक तो वह खडा रहता है परंतु जहां दूसरे द्रव्यका सहारा हटा वहीं वह अनियमित रूपसे गिर पडता है, उसीप्रकार कर्मसे संबंध छूट जानेपर आत्माका भी अनियमितरूपसे गमन होना चाहिये? उत्तर-यह शंका ठीक नहीं है कारण कि जीव ऊर्ध्वगौरवशाली है, जो ऊर्ध्वगौरववाले द्रव्य होते हैं वे दूसरेका संबंध हट जानेपर नियमसे ऊपर ही जाते हैं जैसे जलमें तूमडी, तैल, तृण, काष्ठ आदि पदार्थ नियमसे ऊपरही रहते हैं, हलके पदार्थ रूइ (तूल) आदि भी ऊपर ही जाते हैं उसीप्रकार जीव भी ऊर्ध्व-

है उसकी व्यापकताका भी अंत नहीं है। ठीक उसीप्रकार जो संसारी जीवोंका सुख है वह तो महास्कंधकी वृद्धिके समान हीनाधिक रूपमें होता रहता है, संसारी जीवोंका जो सुख है वह पुण्यकर्मके उदयकी तरतमतासे होता है किसीके हीन किसीके ज्यादा, सो भी सदा नहीं रहता है किंतु जहां पुण्योदय समाप्त हुआ वहीं उनका सुख भी समाप्त होजाता है, इसलिये संसारी जीवोंका सुख सातिशय है पुण्यके अतिशयसे वह उन्हें प्राप्त होता है, और सांत है परंतु मुक्त जीवोंका सुख समुद्रमें उठनेवाली लहरोंके समान आत्मासे अभिन्न है वह किसी अतिशय विशेषसे नहीं होता है जिससे कि अतिशयके अभावमें उसका भी अभाव हो जाय, किंतु आत्माका स्वाभाविक गुण है और वह घातिया कर्मोंके हट जानेसे व्यक्त हो चुका है वह अनंत है, अनुपम है, परम निराकुल है, निरतिशय है। सब सिद्धोंके वह सुख समान है संसारी जीवोंके समान हीनाधिक रूपमें नहीं है अतएव नित्य है। शंका—

अनाकारत्वादभाव इति चेन्नातीतानंतरशरीरानुविधायित्वात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि मुक्त जीव मूर्तिको छोड देते हैं अर्थात् उनके शरीर आदि कुछ भी मूर्ति नहीं रहती है इसलिये उनका कुछ भी आकार नहीं कहा जा सकता है और आकार नहीं होनेसे उनका अभाव सिद्ध होता है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि जो शरीर मुक्तजीवोंने छोडा है उसीके आकार उनका आत्मा रहता है अर्थात् जिस अंतिम शरीरको छोडकर मुक्तजीव सिद्ध पद पाते हैं उस शरीरके आकार ही उनके आत्माके प्रदेश रह जाते हैं फिर उस आकारमें परिवर्तन करनेवाला कोई कारण उनके नहीं रहता है संसारावस्थामें तो एक शरीरको छोडकर आत्मा दूसरे शरीरको धारण करता रहता है इसलिये वहां तो आत्माके प्रदेश नये नये शरीरोंके अनुसार उन्हींके आकार होते रहते हैं परंतु अंतिम शरीर छोडनेपर कर्मोंका सर्वथा अभाव होनेपर फिर मुक्तजीव नवीन शरीर ग्रहण करते नहीं हैं इसलिये जो अंतिम शरीर छोडते हैं उसीके समान उनके आत्मप्रदेशोंका आकार बना रहता है उसे फिर कोई बदल भी नहीं सकता है। शंका—

गौरव परिणामवाला पदार्थ है इसलिये वह भी कर्मभारका बंधन दूर होनेपर नियमसे ऊपर जाता है। तथा—

बंधच्छेदादेरंडबीजवत् ॥ ५ ॥

अथ–जिसप्रकार एरंडीका वीज (अंडीका वीज) जबतक गवाके भीतर बंद रहता है अर्थात् वीजके ऊपर लगे हुए खोखलेके भीतर जबतक वह बीज बंद रहता है तबतक वह वहीं ठहरा रहता है परंतु ज्योंही उस बीजके ऊपरका खोखला (गवा) खुल जाता है त्योंही झट वीज वहांसे निकलकर सीधा ऊपरको उछलता है उसीप्रकार जबतक आत्माको मनुष्यादि पर्यायोंमें लेजानेवाले गतिकर्म, जाति-कर्म, आदि नामकर्म तथा अन्य समस्त कर्मबंध रोके रहते हैं तबतक तो वह चारों गतियोंमें घूमता रहता है परंतु ज्योंही उन समस्त कर्मोंका बंधन आत्मासे दूर होता है त्योंही वह आत्मा नियमसे ऊर्ध्व-गमन करता है। शंका—

तथा गतिपरिणामाच्चाग्निशिखावत् ॥ ६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार तिरछा बहनेका स्वभाव रखनेवाली वायु दीपककी शिखाको भी तिरछी कर देती है परंतु जब उस वायुका संबंध नहीं रहता है अर्थात् वायुका बहना जब बंद हो जाता है तब दीपककी शिखा अपने स्वभावसे ऊपरको ही जाती रहती है, क्योंकि ऊपरको जाना ही दीपशिखाका स्वभाव है उसीप्रकार नाना गतियोंमें लेजानेमें कारणभूत कर्मोंका संबंध रहने पर यह आत्मा भी गतियोंमें गमन करता रहता था परंतु उस गतियोंके कारणभूत कर्मका सर्वथा निवारण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण नियमसे ऊपरको ही सीधा गमन करता है अर्थात् जीवका ऊर्ध्वगमन करना ही स्वभाव है। संसारमें कर्मोंकी परतंत्रतावश वह ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता था परंतु उस परतंत्रताके दूर होजाने पर वह अपने स्वभावानुसार वायुवेगसे रहित दीपशिखाके समान नियमसे ऊर्ध्वगमन करता है। शंका—

असंगत्वबंधच्छेदयोरर्थादविशेषादनुवादप्रसंग इति चेन्नार्थान्यत्वात् ॥ ७ ॥

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसंग इति चेन्न कारणाभावात् ॥ १२ ॥

अर्थ—यहांपर दूसरी शंका यह होती है कि यदि जीव शरीरके आकारके सामान आकार धारण करता है तो शरीरका अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश स्वभावसे जैसे लोकाकाशके समान हैं वे उसीके बराबर फैल जाने चाहिये अर्थात् जवतक शरीर था तव तक तो वह आत्माके प्रदेशोंको अपने वरावर रखता है, वह फैलने नहीं देता है परंतु शरीर छूटनेपर तो उन आत्माके प्रदेशोंको कोई रोकनेवाला पदार्थ नहीं है वे अपने स्वभावसिद्ध लोकाकाशके समान असंख्यातप्रदेशी होनेके कारण उतने ही (लोकके बराबर) फैल सकते हैं? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि शरीर छूटनेपर आत्माके प्रदेशोंको फैलानेका कोई कारण नहीं है, यदि फैलानेवाला कोई कारण हो तो वे प्रदेश लोकाकाश तक फैल सकते हैं, वहां तक फैलनेकी उनकी योग्यता है परंतु संसारावस्थामें जिसप्रकार कर्मका उदय शरीरोंके अनुसार आत्माके प्रदेशोंको हीनाधिक फैलाता या उन्हें संकुचित करता था उसप्रकार मुक्तावस्थामें फैलानेवाला कोई कारण नहीं है जिससे वे फैल सकें या संकुचित हो सकें इसलिये अंतिम शरीर छूटनेपर वे आत्मप्रदेश सांचेमेंसे निकली हुई वस्तुके समान ज्योंके त्यों शरीराकार रह जाते हैं अतः फैलनेका कारण नहीं होनेसे नहीं फैलते हैं। जैसे—

नामकर्मसंबंधात संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ॥ १३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार दीपक अपने नियत परिमाणको लेकर फैल जाता है परंतु वही दीपप्रकाश सरावा घट आदि आवरण करनेवाले (दीपप्रकाशको रोकनेवाले) द्रव्योंके निमित्तसे वडा छोटा भी होजाता है अर्थात् प्रकाशका आवरण करनेवाला द्रव्य यदि अल्प परिमाणवाला होता है तव तो दीपप्रकाश भी घटकर उसी आवरक द्रव्यके भीतर रह जाता है और यदि आवरक द्रव्य वडा होता है तो दीपप्रकाश भी फैल जाता है उसीप्रकार नामकर्मके संबंधसे असंख्यात प्रदेशवाला जीव भी जैसा

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि असंगत्व और बंधच्छेद इन दोनोंमें कुछ भी अर्थविशेष नहीं है, अर्थात् संगसे रहित होना और बंधका छेद होना दोनोंका एकही अर्थ है इसलिये एकके कहनेसे ही कार्य चल जायगा, दोनोंके कहनेसे पुनरुक्तता दोष आता है, सूत्रमें दो भिन्न भिन्न हेतुरूपसे कहे गये हैं परंतु दोनोंका एक ही अर्थ है क्योंकि बंध होनारूप क्रिया भी परस्पर मिलाप होने अर्थमें आती है। परस्पर मिलाप होना यह संग है और परस्पर बंधना यह बंध है दोनोंमें कुछ भेद नहीं है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि दोनोंके अर्थमें भेद है, दो पदार्थोंका एक दूसरेमें प्रवेश होकर बिना किसी भेदके दोनोंका एकमएक (एकक्षेत्रावगाही) हो जाना तो बंध कहलाता है और परस्पर एक दूसरेसे मिल जानेको संग कहते हैं अर्थात् संग तो दो पदार्थोंके संयोगमात्रको कहते हैं, संगमें परस्पर अभेद-भाव और एकक्षेत्रावगाहीपना नहीं होता है परंतु बंधमें परस्पर प्रदेशोंका घनिष्ठ संबंध होकर एकमएक-पना होजाता है इसलिये दोनोंमें अर्थभेद है। अतः गतिके कारण पुण्यपापका अभाव होनेपर भी दूसरे हेतुसे मुक्त जीवकी गति जानी जाती है अर्थात् गतिके कारण जीवकेलिये पुण्यपाप हैं मुक्तजीवके पुण्यपापरूप हेतु नहीं है, फिर भी दूसरा हेतु जो बंधच्छेद और असंगपना हैं इनसे भी स्वभावसिद्ध मुक्तजीवके गति होती है। शंका—

नोदाहरणमलाबूर्मारुतावेशादिति चेन्न तिर्यग्गमनप्रसंगात् ॥ ८ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि मुक्त जीवके गमनकी सिद्धिमें जो अलावू (तूमडी) द्रव्यका उदाहरण दिया गया है वह ठीक नहीं है, उस दृष्टांतसे जीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध नहीं होता है किंतु वायुके वेगसे उसका ऊपर गमन सिद्ध होता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि यदि वायुके वेगसे ही मुक्त जीवका गमन माना जाय तो उसका तिरछा गमन सिद्ध होगा क्योंकि वायुका स्वभाव तिरछा बहनेका ही है वायु कभी ऊपर सीधी नहीं चलती है वह सदैव तिरछी ही चलती है इसलिये

छोटा या बडा शरीरवाला है उसीके अनुसार संकुचित होजाता है और फैल जाता है अर्थात् लोकाकाशके बराबर परिमाणवाला होने पर भी शरीरानुसार छोटा बडा आकार धारण करता है परंतु मुक्त जीवोंके नामकर्म आदि किसी कर्मका संबंध नहीं रहनेसे उनके शरीर नहीं है और शरीरका अभाव हो जानेसे उनके संकोच विस्तार भी नहीं होता है किंतु अंतिम शरीर छोडनेपर उसीके आकार आत्माके प्रदेश ज्योंके त्यों रहजाते हैं। पुनः शंका—

मूर्तिमद्धैधर्म्यादिति चेन्नोभयलक्षणप्राप्तत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेकेलिये दीपका प्रकाश दृष्टांत दिया गया है परंतु दीपका प्रकाश तो मूर्त पदार्थ है इसलिये वह तो रोकनेवालेसे रुक सकता है इसलिये संकुचित या विस्तृत हो सकता है परंतु आत्मा तो अमूर्तिक पदार्थ है वह किसीसे रोका नहीं जा सकता है इसलिये उसके संकोचविस्ताररूप साध्यके सिद्ध करनेमें दीपप्रकाश दृष्टांत विषम है वह ठीक लागू नहीं होता है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि आत्मामें दोनों ही लक्षण घटित होते हैं। आत्मा अपने ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोग लक्षणकी अपेक्षा तो अमूर्त है परंतु पुद्गल कर्मके साथ बंधपरिणामकी अपेक्षा वह मूर्त भी है। यही बात ग्रंथान्तरमें इसप्रकार कही है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं। तह्मा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥

अर्थात् जीवके साथ पौद्गलिक कर्मोंका बंध होरहा है इस कर्मबंधकी अपेक्षा वह पुद्गल कर्मके साथ एकीभाव रखता है, अर्थात् मूर्तिक है तथा वह अपने उपयोगात्मक लक्षणकी अपेक्षा पुद्गलसे जुदा है, अर्थात् अपने स्वरूपकी अपेक्षा अमूर्तिक है इसलिये दोनों अपेक्षाओंकी दृष्टिसे जीव कथंचित् मूर्तिक और कथंचित् अमूर्तिक है। इस आगमकथनसे जीवात्मामें कथंचित् मूर्तता आनेसे दीपप्रकाशका दृष्टांत समान ही है वह विषम नहीं है। शंका—

यदि वायुके निमित्तसे मुक्त जीवका गमन माना जायगा तो उसका तिरछा गमन सिद्ध होगा परंतु मुक्त जीव नियमसे ऊपर सीधा एक समयमें लोकशिखर पर जाविराजता है इसलिये जो तूमीका दृष्टांत दिया गया है वह ठीक ही है। पुनः शंका—

ऊर्ध्वगत्यभावे तदभावप्रसंगोऽग्नेरौष्ण्याभावेऽभाववदिति चेन्न गत्यंतरनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निका उष्ण स्वभाव है यदि वह उष्ण स्वभाव उसका नहीं रहे तो अग्निका भी अभाव हो जाय उसी प्रकार मुक्त जीवका यदि ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है तो उसका जब ऊर्ध्वगमन होना रुक जाता है तब उस ऊर्ध्वगमनरूप स्वभावका अभाव हो जानेसे जीवका भी अभाव सिद्ध होता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि दूसरी गतिके निषेधकेलिये मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है। उसका प्रयोजन यह है कि मुक्त जीवका ऊपर ही नियमसे गमन होता है और किसी भी दिशामें उसका गमन नहीं हो सकता है यही मुक्त जीवका स्वभाव है परंतु ऊपर उसका सदैव गमन ही होता रहे यह स्वभाव नहीं माना गया है, इसी विषयमें दृष्टांत देते हैं—

ऊर्ध्वज्वलनवद्वा ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निका स्वभाव नियमसे ऊपर जाना है परंतु वेगवान् द्रव्यके अभिघातसे अग्निका तिरछा गमन होने पर भी उसका नाश नहीं हो जाता है अर्थात् वायुके वेगसे प्रेरित हो कर अग्निकी ज्वाला तिरछी हो जाती है, तिरछी हो जाने पर उसका ऊपर जानेका स्वभाव नहीं रहने पर भी अग्निका नाश नहीं देखा जाता है उसीप्रकार मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी उस ऊर्ध्वगमनका अभाव होने पर भी जीवका अभाव नहीं हो सकता है। प्रश्न—यद्यपि अग्निका ऊर्ध्वगमन करना स्वभाव है तो भी वेगवान् द्रव्य (वायु)की प्रेरणासे उसकी तिरछी ज्वालाके जलने पर ऊर्ध्वगमनका विरोध हो जाता है इसलिये ऊर्ध्वगमन अग्निका नहीं हो पाता है अर्थात् अग्निके तो ऊर्ध्वगमनका

अनित्यत्वप्रसंग इति चेन्न तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वाचंद्रमुखीवत् ॥ १५ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि यदि आत्मा संकोच विस्तार, दीपकप्रकाशके समान करता है तो जिसप्रकार दीपक अनित्य है उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य ठहरेगा। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण उतना मात्र धर्म ही विवक्षित किया गया है। जिसप्रकार यह कहा जाता है कि यह चंद्रमुखी कन्या है, तो यहां पर कन्याको चंद्रकी उपमा देनेसे चंद्रमें जितने भी बहुतसे गुण हैं उन सब धर्मोंकी समता कन्याके मुखमें आनी चाहिये परंतु उन सब गुणोंकी समता नहीं आती है किंतु केवल एक गुण जो प्रियदर्शनपना गुण है, उसीकी तुलना की जाती है। चंद्रमा जिसप्रकार सबोंको प्रिय मालूम होता है उसी प्रकार इस कन्याका मुख भी सबोंको प्रिय मालूम होता है। चंद्रमाके देखनेसे जैसे आनंद होता है उसीप्रकार इस कन्याका मुख देखनेसे भी देखनेवालोंको आनंद होता है। बस! इसी एक प्रियदर्शनगुणकी तुलनासे चंद्रकी उपमा मुखको दीजाती है। बाकी शीतलप्रकाश, कुमुदोंको प्रफुल्लित करना आदि समस्त धर्म छोड दिये जाते हैं उसीप्रकार प्रदीपके प्रकाशमें जितने भी अनित्यत्वादि अनेक धर्म हैं वे सब छोड दिये जाते हैं, उनकी यहांपर विवक्षा नहीं है केवल संकोच विस्तार धर्मकी ही यहां दीपप्रकाशसे जीवकी तुलना की गई है इसलिये उसीकी तुलना करना चाहिये। यदि दृष्टांतके सभी धर्म दार्ष्टांतमें घटित किये जांय तो फिर जगत्में कोई दृष्टांत ही नहीं ठहरेगा, क्योंकि ऐसा कोई भी दृष्टांत नहीं मिलेगा जिसमें दार्ष्टांतके सब धर्मोंकी तुलना की जासके। यदि दीपके प्रकाशकी अनित्यता की भी जीवके साथ तुलना की जाती है तो फिर दीपप्रकाश वस्तुओंको जला डालता है वह अत्यंत उष्ण होता है, इत्यादि बातोंकी भी तुलना होनी चाहिये। इसीप्रकार हरएक दृष्टांतमें सब धर्म दार्ष्टांतके समानरूपसे कदापि नहीं मिल सकेंगे इसलिये जिस धर्मकी तुलना विवक्षित हो उसी धर्मकी समता करनी चाहिये, यहांपर संकोच विस्तार धर्मकी ही दीपप्रकाशसे तुलना की गई है। पुनः शंका—

विरोधी कारण प्रेरक वायु है उससे उसका स्वभाव रुक जाता है परंतु मुक्त जीवके तो ऊर्ध्वगमन स्वभावके लोप होनेका कोई कारण नहीं है इसलिये उसकी ऊर्ध्वगति तो नहीं रुकना चाहिये, विना किसी बाधक कारणके मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति क्यों रुक जाती है? उत्तर—मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति लोकके अंत तक ही होती है उससे आगे अलोकमें मुक्त जीवकी गति नहीं होती। क्यों आगे उसकी गति नहीं होती है? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

धर्मास्तिकायाभावात्॥ ८॥

अर्थ—धर्म द्रव्यका लोकके अंत तक ही सद्भाव है और वही द्रव्य जीव पुद्गलकी गतिमें उदासीनरूपसे सहायक है अतः लोकके वाहर धर्म द्रव्यका सद्भाव नहीं होनेसे मुक्त जीव लोकसे वाहर गमन करनेमें असमर्थ है, काल द्रव्यको छोडकर वाकी पांच द्रव्य वहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहलाते हैं इसीलिये यहांपर धर्म द्रव्यको अस्तिकायके नामसे कहा गया है। व्याख्या—गतिरूप उपकार करनेमें कारणभूत धर्मास्तिकाय है वह लोकके वाहर नहीं है इसीलिये अलोकमें गमन नहीं हो सकता है, यदि धर्म द्रव्यका अस्तित्व (सद्भाव) नहीं माना जायगा तो लोक और अलोकका विभाग नहीं वन सकता है अर्थात् यदि कोई ऐसी आशंका करे कि जीव अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावसे गमन करता है और आकाशमें गमन करता है ऐसी अवस्थामें गतिमें सहायक धर्मद्रव्य और स्थितिमें सहायक अधर्मद्रव्यको माननेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें पहले तो यह समझना चाहिये कि वस्तुस्वरूप अनिवार्य है वह जैसा नियत है वैसा कार्य सदैव करता है, पदार्थ सभी अपनी अपनी सत्ताको लिये हुये नित्य रहते हैं, न तो कोई कभी नष्ट होता है और न कोई कभी नवीन ही पैदा होता है किंतु केवल पर्यायको वदलते हैं ऐसी अवस्थामें धमद्रव्य अधर्मद्रव्य भी अनादिनिधन पदार्थ नियत हैं, वे जैसे उदासीनरूपसे जीव पुद्गलके गमनमें सहायक नियत हैं उसी प्रकार श्रीसर्वज्ञदेवके ज्ञानमें झलकते हैं उन्हींका उपदेश उनकी दिव्यधनिमें खिरा है।

सर्वथाभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेन्न साध्यत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि जिसप्रकार दीपक बत्ती, तैल और अग्निके मिलनेपर निरंतर प्रकाश करता रहता है परंतु उस वत्ती तैल आदि सामग्रीके क्षय हो जानेपर वह प्रकाश किसी दिशा अथवा विदिशाको नहीं जाता है किंतु उसी क्षेत्रमें सर्वथा विनाशको प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार कारणोंके मिलनेसे स्कंधोंकी संतानपरंपराको लिये हुए चला आया जो स्कंध समूह है वही जीवके नामसे कहा जाता है और क्लेशके क्षय होनेसे वह जीवके नामसे कहा जानेवाला स्कंधसमूह किसी दिशा अथवा विदिशाको नहीं जाता है किंतु उसी क्षेत्रमें सर्वथा विलीन हो जाता है। इस शंकाका खुलासा यह है कि जीवके साथमें लगे हुए जो शरीरादिक स्कंध हैं उन्हींके साहचर्यसे जीव अपना स्वरूप धारण करता है, लोकमें शरीरविशिष्टको जीव कहते हैं उस शरीरादिक पुद्गलस्कंधसमूहका संबंध जब छूट जाता है तब वह जीव कहानेवाला पदार्थ भी वहींपर सर्वथा नष्ट होजाता है कुछ भी बचता नहीं है? यह शंकाकारका अभिप्राय है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि प्रदीप पुद्गलपरमाणुओंका समूहरूप है वह अपनी पुद्गलजातिको नहीं छोडता है और परिणमनके कारण कज्जल आदि रूपमें परिणमन धारण कर लेता है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता है अर्थात् प्रदीपरूपमें परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंका तो कभी नाश होता नहीं है किंतु उन परमाणुओंकी जो प्रकाशरूप पर्याय है उस पर्यायका नाश अवश्य होजाता है। उसीप्रकार जीवके साथमें लगे हुए जो ज्ञानावरणादि कर्मसमूह और शरीरादि नोकर्मसमूह हैं उनका भी जीवकी मुक्तावस्थाके समय सर्वथा संबंध जब छूट जाता है तब कर्मनोकर्मके संबंधसे रहित अमूर्तिक शुद्ध जीवद्रव्य अपने चेतनस्वभावमें सदैव स्थिर रहता है, उसका नाश कभी नहीं होता है, द्रव्य सदैव नित्य रहता है उसका नाश नहीं होता है. केवल उसकी पर्यायका ही नाश होता है, इसी विषयमें दृष्टांत स्पष्ट है—

यदि ऐसी ही आशंका कीजाय तो फिर आकाश द्रव्य माननेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि गमनागमन पृथ्वी पर होता है और वायुमंडलमें होता है, पदार्थ स्वयं अपना अवगाहन रखते हैं आकाशका मानना व्यर्थ ही ठहरता है परंतु आकाश द्रव्यको सब दर्शनकारोंने व्यापकरूपसे स्वीकार किया है और सभी उसे अवकाशदानमें सहायक मानते हैं इसलिये वस्तुस्वभाव तर्कगोचर नहीं है वह जैसा है वैसा ही रहता है। दूसरी बात यह है कि एक कार्यकेलिये अनेक कारणोंकी आवश्यकता होती है जैसे घट बनानेमें मिट्टी डंडा चाक कुम्हार आदि सभी सामग्री कारण पडती हैं उसी प्रकार जीव पुद्गलके गमनमें धर्म द्रव्य कारण पडती है जैसे पृथ्वी पर और वायुमंडलमें गमन करते समय भी आकाश द्रव्यकी कारणता भी परमावश्यक ठहरती है विना आकाश द्रव्यके सहायक हुए न तो पृथ्वी पर ही गमन हो सकता है और न वायु मंडलमें ही गमन होसकता है कारण स्थूल पदार्थ जहां एक दूसरेको रोकते हैं वहां गमन करनेकेलिये और ठहरनेकेलिये अवकाश आकाश द्रव्य ही तो देता है, इसीप्रकार धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्य भी गमनमें और ठहरनेमें उदासीन हेतु पडजाते हैं। जिस प्रकार मछलीको गमन जल कारण है विना जलके वह नहीं चल सकती है और जैसे मार्गमें चलते हुये पथिकको ठहरनेके लिये वृक्षकी छाया कारण है यदि मार्गमें छाया नहीं मिले तो वहां उसका ठहरना भी नहीं हो परंतु वे जल और छाया दोनोंही उन मछलियोंको और पथिकको प्रेरणा नहीं करते हैं कि वे चलें या ठहरें चलना और ठहरना तो उन मछलियों और पथिककी इच्छा पर निर्भर है परंतु यह निश्चित है कि जब भी गमन और ठहरना होगा तब जल और छाया उन्हें सहायक मिलेंगे ठीक इसीप्रकार जीव पुद्गलका जब भी गमन होगा तब धर्मद्रव्य की सहायता रहेगी और जब भी ठहरना उनका होगा तब अधर्म द्रव्यकी सहायता रहेगी। परंतु आकाश द्रव्यके समान धर्म अधर्म द्रव्य भी गमन करने या ठहरनेके लिये जीव पुद्गलोंको प्रेरित नहीं कर सकते हैं अतएव वे उदासीन कारण हैं।

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वेडी (हाथ पैर बांधनेवाली सांकल हथकडी) आदि द्रव्यका संवंध छूट जानेसे देवदत्त आदिकी स्थिति देखी जाती है उसीप्रकार कर्मवंधके छूट जानेपर आत्माकी स्थिति रहती है, इस वातका अपलाप (लोप) नहीं किया जा सकता है। इस कथनसे यह वात स्पष्ट होजाती है कि आत्मा एक स्वतंत्र चेतनामयी द्रव्य है, उसकी मुक्तावस्थाके समय कर्मनोकर्मविशिष्ट अशुद्ध पर्याय नष्ट हो जाती है किंतु शुद्ध चेतनमय जीवद्रव्यका कभी नाश नहीं होता है वह अजर अमर सदैव स्थायी है। पुनः शंका—

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेन्न साध्यत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—यहां पुनः यह शंका होती है कि आत्माकी स्थिति रहती है यह ठीक वात है परंतु जिस देशमें कर्मोंका संवंध आत्मासे छूटता है उसी देशमें उसकी स्थिति रहनी चाहिये क्योंकि कर्मोंके नहीं रहनेसे फिर तो आत्माका पुनर्भव होता नहीं है इसलिये जिस क्षेत्रमें कर्म छूटते हैं आत्माको उसी क्षेत्रमें ठहर जाना चाहिये। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि यह तो साध्यरूप शंका है, आत्माको वहीं ठहर जाना चाहिये अथवा वंधनके नहीं रहनेसे और आश्रयभूत पदार्थके नहीं रहनेसे आत्माका गमन भी होता है इस वातकी सिद्धि श्रीग्रंथकार स्वयं आगेके सूत्र द्वारा करते हैं। प्रश्न—आत्माका वंध छूट जानेसे उसकी अधोगति तो हो नहीं सकती क्योंकि उसमें गुरुता नहीं रही अर्थात् नीचेको गमन उसी वस्तुका होता है जिसमें भारीपना हो अथवा किसी दूसरे वोझेसे जो दवा हो, तूमडीमें जवतक मिट्टी रहती है तवतक वह पानीमें नीचेको जाती है और मिट्टीके दूर हो जानेपर वह पानीके ऊपर रहती है उसी प्रकार कर्मोंके दवावसे आत्मा अधोगति करता था परंतु कर्मवंध हट जानेसे उसमें गुरुपना (भारीपन) नहीं रहा इसलिये वह नीचे नहीं जा सकता है और वह तिरछा

तीसरी बात धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यके स्वीकार करनेमें यह है कि विना उन दोनों द्रव्योंके स्वीकार किये लोक अलोकका विभाग नहीं वन सकता है परंतु लोक अलोकका विभाग मानना आवश्यक है, क्योंकि आकाश तो व्यापक है यह बात दिगम्वर जैन दर्शनकारोंने जैसे मानी है उसी प्रकार सब दर्शनवाले मानते हैं, जव आकाश व्यापक है तव या तो लोकको भी व्यापक मानना चाहिये तव लोक अलोक ऐसे दो विभाग नहीं माननें पडेगे परंतु लोकको व्यापक माना नहीं जा सकता है कारण कि लोक सांत है अर्थात् वह अंत करके सहित है क्योंकि वह रचनात्मक है जितने रचनावाले पदार्थ होते हैं वे सब अंत-वाले होते हैं, ऐसा नियम है, इस नियमकी सिद्धिकेलिये जगत्के सभी दृष्टांत हैं मकान, खेत, सडक, तालाव, नहर, पहाड, समुद्र, आदि जितने भी रचनावाले पदार्थ हैं वे सब अंतसहित पाये जाते हैं, लोक भी रचनावाला है क्योंकि वह पुरुषाकार है, त्रस नाडी और आसंपासकी रचनाके साथ घनोदधि घनवात और तनुवातसे वेष्टित है, उसकी अधोलोक मध्यलोक ऊर्ध्वलोक इन तीन लोकोंमें नरक तिर्यक् मनुष्य और देवलोक आदिकी रचना है वह चौदह राजू प्रमाण लंवा सात राजू प्रमाण मोटा और चौडाईमें नीचे सात राजू मध्यमें एक राजू ऊपर पांचराजू और ऊपरके अंत भागमें पुनः एक राजू प्रमाण है। इसप्रकार लोककी रचना नियत है इसलिये वह नियमसे अंत सहित है यह बात व्याप्तिपूर्वक अनुमानसे भलीभांति सिद्ध हो जाती है, जव रचनावाला होनेसे लोक अंतवाला सिद्ध हो जाता है तव जहां तक लोक है वहांतक लोकाकाश है और उसके वाहर व्यापक अनंत अलोकाकाश है ऐसा लोक अलोकका भेद मानना पडता है। अव दूसरा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कहांपर लोकका अंत माना जाय उसके उत्तरमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि जहांतक धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्य पाये जांय वहांतक ही लोक हैं उनका जहां सद्भाव नहीं है वह अलोक है। यद्यपि लोककी जैसी व्याख्या है कि—लोंक्यंते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकः तदपरोऽलोकः" जहांतक जीवादिक छह द्रव्य पाये जांय वहांतक तो लोक समझना

प्राप्तिसे उत्सेधांगुलके असंख्येय भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेश नेत्र आदि इंद्रियस्वरूप परिणत होते हैं ऐसा शास्त्रमें कहा गया है तथा नेत्रके प्रदेश भिन्न हैं, नासिका इंद्रियके भिन्न हैं और कर्ण आदि इंद्रियोंके भिन्न भिन्न हैं एवं जहांपर नेत्र इंद्रिय विद्यमान है वहांपर कर्ण इंद्रियोंका संक्रमण (मिलाप) नहीं जहांपर कर्ण इंद्रिय विद्यमान है वहांपर नेत्र आदि इंद्रियोंका संक्रमण नहीं इसरीतिसे विशिष्ट विशिष्ट प्रदेशवाली और आपसमें एक दूसरीके स्थानका संक्रमण न रखनेवाली नेत्र आदि इंद्रियां प्रत्यक्षरूपसे दीख पडती हैं इसप्रकार अंगुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण विशुद्ध आत्माके प्रदेशोंका नेत्र आदि इंद्रियस्वरूप परिणमन जब सिद्ध है तब पुद्गल द्रव्यके समान आत्माके प्रदेश मुख्यरूपसे ही हैं। तथा—

द्रव्याणां प्रतिनियतप्रदेशावस्थानात् ॥ १७ ॥

व्यापकस्वरूप आकाशके अन्य प्रदेशोंमें पटना शहर स्थित है और अन्य प्रदेशोंमें मथुरा नगरी वसी हुई है इस रूपसे यह बात सिद्ध है कि आकाशके अनेक प्रदेश हैं। जो मनुष्य एकांतरूपसे आकाशको अप्रदेशी मानता है उसके मतमें जिसस्थानपर पटना वसा है उसी स्थानपर मथुराकी स्थिति भी मानी जायगी परन्तु उनकी स्थिति भिन्न भिन्न है इसलिये आकाश नाना प्रदेशवाला ही है इसरीतिसे आकाशमें प्रदेशोंकी कल्पना मुख्यरूपसे ही है। तथा—

उभयदोषप्रसंगात् ॥ १८ ॥

संसारमें रहनेवाले शरीरधारी मनुष्यके कर्णशष्कुलीके मध्यभागमें अदृष्ट (धर्म वा अधर्म पुण्य वा पाप) से संस्कृत आकाश जो है वही श्रोत्र—कान इंद्रिय है ऐसा जो अन्य सिद्धांतोंके अंदर कहा गया है वहांपर यह प्रश्न उठता है कि वह जो श्रोत्रस्वरूप आकाश है वह संपूर्ण आकाश है वा प्रतिनियत

भिन्न भिन्न है ? यदि यहांपर यह उत्तर दिया जायगा कि वह संपूर्ण आकाश है तब ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोकके अंदर जितने मूर्तिमान द्रव्य हैं उन सबोंके अभिघात (ताडन) से होनेवाले जितने शब्द हैं उन सब शब्दोंका सब जीवोंको ज्ञान हो जाना चाहिये। क्योंकि नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने शब्दको आकाशका गुण मान रक्खा है। सब जीवोंके कान संपूर्ण आकाश हैं ही इसलिए प्रत्येक जीवको सब जगहके मूर्तिमान द्रव्योंके संघट्टनसे जायमान सब शब्दोंका ज्ञान अवश्यंभावी है। यदि कदाचित् यहां यह कहा जायगा कि यह दोष मत हो इसलिए हम आकाशके प्रदेशोंको भिन्न भिन्न मानेंगे तथा भिन्न भिन्न माननेपर एक स्थानपर होनेवाला शब्द दूसरे स्थानपर सुनाई नहीं पड सकता इसलिए सब जगह होनेवाले शब्दोंका सब जीवोंको ज्ञान नहीं हो सकता ? तब तो आकाशके बहुत प्रदेश ही सिद्ध हो गए, वह अप्रदेशी नहीं सिद्ध हुआ, फिर ऊपर जो यह प्रतिज्ञा वादी कर चुका है कि 'मुख्यरूपसे आकाशके प्रदेश हैं ही नहीं' यह प्रतिज्ञा विघटित हो जायगी इसलिए आकाश अप्रदेशी वा उपचारसे प्रदेशी नहीं माना जा सकता। अथवा—

और भी यह प्रश्न होता है कि समस्त आकाशके साथ परमाणुका संबंध होता है कि एकदेश अर्थात् किसी आकाशके खंडके साथ ? यदि यह कहा जायगा संपूर्ण आकाशके साथ परमाणुका संबंध होता है तब या तो आकाशको परमाणुके प्रमाण मानना होगा या परमाणुको आकाशके प्रमाण मानना होगा क्योंकि यदि परमाणु आकाशके समान होगा तब या तो संपूर्ण आकाशके साथ उसका संबंध हो सकता है या आकाश परमाणुके बराबर होगा तब उसके साथ संपूर्णरूपसे परमाणुका संबंध हो सकता है। यदि कहा जायगा आकाशके एकदेशके साथ परमाणुका संबंध है तब आकाशके अनेक प्रदेशोंकी

चाहिये और जहांपर जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल इन पांच द्रव्योंका अभाव हो और केवल आकाश द्रव्य हो वहांपर उसे अलोकाकाश कहते हैं। इस व्याख्याके अनुसार जहांतक जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य आदि छह द्रव्य पाये जांय वहीं तक लोक कहना चाहिये परंतु कहा गया है कि जहांतक धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य पाये जांय वहांतक लोकाकाश है इसका कारण क्या ? इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गल काल ये तीन द्रव्य अखंडरूपमें नियमसे व्यापक नहीं हैं यद्यपि लोकमें जीव पुद्गल काल तीनों ही सर्वत्र भरे हुए हैं परंतु इनमें प्रत्येक द्रव्य इतना बडा सदैव नहीं फैला रहता है कि जो लोकपर्यंत व्याप्त होकर सदा बना रहै परंतु धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये दो द्रव्य ही ऐसे हैं जो लोक पर्यंत अखंडरूपसे व्याप्त होकर रहते हैं इसलिये यह बात कही गई है कि जहांतक धर्म अधर्म द्रव्य पाये जांय वहां तक लोकाकाश है और उनके बाहर अलोकाकाश है। इस कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि लोक अलोकका विभाग करनेवाले धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये दो द्रव्य हैं विना इन द्रव्योंके स्वीकार किये लोक अलोकका विभाग नहीं हो सकता है और लोक अलोकका विभाग मानना ही पड़ता है क्योंकि लोक रचनात्मक है इसलिये वह अंतसहित है जहां उसका अंत है वहीं उसकी समाप्तिमें अलोकाकाश अनंत व्यापकरूपमें सिद्ध होता है। लोकका अंत वहीं है जहांतक कि धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्यका सद्भाव है। इस प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सिद्धि हो जाती है। इन द्रव्योंकी सिद्धिकेलिये अनुमान वाक्य इसप्रकार है—

धर्माधर्मद्रव्ये स्तः लोकालोकविभागानुपपत्तेः। लोकालोकविभागोऽस्ति कुतः लोकस्य सान्तत्वात्। लोकः सांतः रचनात्मकत्वात्। रचनात्मको लोकः विशेषाकारधारित्वात् घटपटभवनाब्धिवत्। अत्रानुमाने विशेषाकाराधरित्वहेतोः रचनात्मकत्वं सिद्ध्यति, रचनात्मकत्वहेतोः सांतत्वं सिद्ध्यति, सांतत्वहेतो- लोकस्याऽव्यापकत्वं सिद्ध्यति ततश्च लोकालोकविभागः, अतः लोकालोकविभागसाधने प्रधानहेतुभूते

कोई देव या विद्याधर पूर्व वैर वश समुद्रमें डाल दे और ध्यानस्थ होनेके कारण वे वहींसे केवलज्ञान पाकर सिद्ध पद पावें तो वे समुद्रसिद्ध कहे जाते हैं ऐसे समुद्रसिद्ध जीव बहुत थोडे होते हैं उनसे संख्यात गुणे अधिक द्वीप सिद्ध होते हैं। यह कथन तो सामान्य रूपसे किया गया है अब विशेष रूपसे इसप्रकार समझना चाहिये—सबसे थोडे लवणोदधि समुद्रसे सिद्ध पद प्राप्त करनेवाले जीव हैं उनसे संख्यात गुणे अधिक कालोदधि समुद्रसे सिद्ध पद प्राप्त करनेवाले जीव हैं उनसे भी संख्यात गुणे अधिक जम्बूद्वीपसे होने वाले सिद्ध हैं उनसे भी अधिक संख्यात गुण अधिक धातकी खडं द्वीपसे होनेवाले सिद्ध हैं उनसे भी संख्यात गुणे अधिक पुष्करार्ध द्वीपसे होनेवाले सिद्ध हैं इस प्रकार यह अल्प बहुत्व क्षेत्रकी अपेक्षा समझलेना चाहिये। अब कालकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—कालका विभाग तीन प्रकारसे होता है—एक उत्सर्पिणी दूसरा अवसर्पिणी तीसरा अनुत्सर्पिणी अनवसर्पिणी अर्थात् जहां उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप कालका परिवर्तन (फिरन) नहीं है वहां अनुत्सर्पिणी अनवसर्पिणी काल कहलाता है जैसे विदेहक्षेत्रमें सदैव चौथा काल रहता है वहां भरत ऐरावत क्षेत्रोंके समान कालकी फिरन नहीं होती है जो जीव उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होते हैं वे उत्सर्पिणी सिद्ध कहे जाते हैं ऐसे जीव सबसे थोडे हैं। जो जीव अवसर्पिणी कालमें सिद्ध होते हैं वे अवसर्पिणीसिद्ध कहलाते हैं ऐसे जीव उन उत्सर्पिणी सिद्धोंसे विशेष अधिक हैं और उन अवसर्पिणी सिद्धोंसे भी संख्यातगुणे अधिक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालकी फिरनसे रहित सिद्ध हैं। यह सब कालकी अपेक्षाका कथन भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे है। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे तो एक समयमें ही सिद्धपद प्राप्त होता है इसलिये उस अपेक्षासे कालका अल्पबहुतपना घटता ही नहीं है क्योंकि सभीजीव एक समयमें ही सिद्ध होंगे इसलिये वहां समय भेद ही नहीं है। अब गतिकी अपेक्षासे अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे सिद्ध गतिमें ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनमें अल्पबहुत्व भेद कुछ नहीं हैं

धर्माधर्मद्रव्ये स्तः । इस अनुमानमालाके सिवा धर्म अधर्म द्रव्योंकी सिद्धिकेलिये आगम प्रमाण है, आगमानुसार गमन करनेवालोंकेलिये एक आगमप्रमाण ही संतोषकारी है। आगममें छह द्रव्योंमें धर्म अधर्मद्रव्योंके नाम भी कहे गये हैं जैसा कि दिगम्बर जैनाचार्य श्रीउमास्वामिप्रणीत महाशास्त्र श्रीतत्त्वार्थसूत्रका "अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः" 'धर्माधर्मयो कृत्स्ने' "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्र प्रमाण हैं। इस आगमकी प्रमाणताका हेतु उसके कथनकी पूर्वापर अविरुद्धता अनुभवगम्यता और सदनुमानसिद्धि है इसके सिवा जो पदार्थ स्थूल हैं इनकी सिद्धि और स्वरूपनिरूपण जैसा आगममें कहा है उसीप्रकार जब उपलब्ध होता है तो फिर सूक्ष्म पदार्थोंके विषयमें आगमकी प्रमाणता माननी ही पडेगी। जिन पदार्थोंका विवेचन दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें पाया जाता है वह हेतुवाद युक्तिवादसे अकाट्य है अनुभवगम्य है क्योंकि वह वीतराग सर्वज्ञप्रणीत है और उन्हींके साक्षात् शिष्य चार ज्ञानके धारी गणधर देव उनके शिष्य आचार्य प्रत्याचार्य आदि वीतराग ऋषियोंने शास्त्रोंमें उसी पूर्वानुगत परंपरासे लिखा है इसलिये आगमकी प्रमाणता हर प्रकारसे सुसिद्ध है, उसी आगम प्रमाणसे धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आदि सभी द्रव्य भलेप्रकार सिद्ध हो जाते हैं, जो लोग आगमप्रमाणको नहीं मानते हैं उनकेलिये धर्म अधर्म द्रव्योंकी सिद्धि युक्तिसे ऊपर की गई है उससे वे संतोष कर सकते हैं। प्रश्न—कार्माण शरीर और औपशमिकादिक भावोंसे सर्वथा रहित निर्वाण पाये हुए जो परमशुद्ध सिद्ध जीव हैं वे किसी दूसरे पर्याय शब्दसे व्यवहारमें लाये जा सकते हैं अथवा उन जीवोंकी कभी कोई व्यवहार करनेयोग्य संज्ञा ही नहीं है, जो कुछ व्यवहार करनेयोग्य शब्द थे वे संसारमें ही थे, मुक्त होनेपर उनके व्यवहार करनेयोग्य कोई शब्द नहीं हैं क्या? उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—हां! शक्य है अर्थात् उनका व्यवहार भी किया जा सकता है। किसप्रकार? सो नीचेके सूत्रसे कहते हैं—अथवा यह भी प्रश्न हो सकता है कि जितने सिद्ध जीव हैं वे सब समान ही हैं या उनका परस्पर किसी रीतिसे भेद भी किया जा सकता है? इसके उत्तरमें भी यही समझना चाहिये कि उनका नीचे लिखे सूत्रके अनुसार भेद भी किया जा सकता है—

अर्थात् जो जीव सिद्ध होते हैं वे चारों गतियोंसे रहित होकर केवल सिद्धगतिवाले कहे जाते हैं इसलिये वहां गति भेद कोई नहीं है अतः अल्पवहुत्वका विचार भी वर्तमान नयसे कुछ नहीं हो सकता है भूत विषयग्राही नयकी अपेक्षासे भी जो अनंतर गति (साक्षात् जिस गतिसे सिद्ध पद प्राप्त होता है उसे अनंतर गति कहते हैं) है वह मनुष्य गति है—विना मनुष्य गतिके अन्य किसी गतिसे सिद्धपद नहीं हो सकता है इसलिये अनंतर गतिकी अपेक्षासे भी अल्पबहुत्व नहीं हो सकता है क्योंकि वहां भी गति भेद नहीं है यदि एकांतर गतिका विचार किया जाय अर्थात् मनुष्यगतिसे पहलीगतिका विचार किया जाय तो उसकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व है। सवसे थोडे सिद्ध वे हैं जो तिर्यग्गतिसे निकल कर मनुष्य गति प्राप्त कर सिद्ध पद पाते हैं, उनसे संख्यातगुणे अधिक मनुष्य गतिसे निकल कर पुनः मनुष्य गति पाकर सिद्ध पद पानेवाले जीव हैं, उनसे संख्यातगुणे अधिक नरकगतिसे निकल कर मनुष्य गति प्राप्त कर सिद्धपद पानेवाले जीव हैं उनसे भी संख्यातगुणे अधिक देव गतिसे निकल मनुष्य गति प्राप्त कर सिद्ध पद पानेवाले जीव हैं सवसे अधिक जीव वे ही सिद्ध होते हैं जो देव गतिसे मनुष्य पर्याय पाकर मोक्ष जाते हैं। अब वेदकी अपेक्षा अल्प वहुत्वका विचार करते हैं—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो वेदरहित ही सिद्ध होते हैं इसलिये वर्तमान नयकी अपेक्षा सिद्धोंमें कुछ भी अल्प वहुत्व नहीं है भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तो सवसे थोडे नपुंसक वेद सिद्ध हैं, स्त्रीवेद सिद्ध उनसे संख्यात गुणे अधिक हैं तथा पुंवेद सिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जव वेद नौंवे गुणस्थानसे ऊपर रहता ही नहीं है फिर वेद सिद्ध किस प्रकार हो सकते हैं? इस शंकाके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि पहले तो भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे यह कथन वर्तमान नयसे तो वेद रहित अवस्थासे ही सिद्ध पद होता है दूसरे श्रेणी चढनेकी अपेक्षासे भी कथन है जो पुंवेदसे क्षपक श्रेणी चढें वे पुंवेदसे सिद्ध कहे जाते हैं जो स्त्री लिंग या नपुंसक लिंगसे श्रेणी चढें वे स्त्री वेद या नपुंसक वेदसे

ल्पबहुत्वतः साध्याः॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—क्षेत्र काल गति लिंग तीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञान अवगाहना अतंर संख्या अल्पबहुत्व इन बारह विकल्पोंसे सिद्ध जीव भेदरूप साध्य किये जाते हैं अर्थात् इन क्षेत्रादि बारह भेदोंसे उनमें परस्पर भेद है, इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतंत्रनयद्वयापेक्षया क्षेत्रादिभिः साध्याः सिद्धाः ॥ १ ॥

अर्थ—क्षेत्रसे लेकर अल्पबहुत्व पर्यंत इन बारह अनुयोगोंके द्वारा वर्तमान नय और भूतनय इन दो नयोंकी अपेक्षासे सिद्धोंका विभाग करना चाहिये। सबसे प्रथम क्षेत्रके द्वारा विभाग बताते हैं—सिद्ध किस क्षेत्रमें सिद्ध पद प्राप्त करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—

सिद्धिक्षेत्रे कर्मभूमिषु वा ॥ २ ॥

अर्थ—सभी सिद्ध परमेष्ठी सिद्धि क्षेत्र अथवा कर्मभूमिमें सिद्ध पद प्राप्त करते हैं वर्तमान विषयको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षासे तो सभी सिद्ध अपने प्रदेश स्वरूप जो सिद्धिक्षेत्र है उसीमें सिद्ध होते हैं अथवा आकाश प्रदेशमें सिद्ध होते हैं अर्थात् निश्चयनयसे तो अपने आत्माके प्रदेशोंमें ही सिद्ध पद होता है कारण निश्चयनयसे शुद्धात्माकी शुद्ध पर्यायका नाम ही सिद्धावस्था है वह सिद्धावस्था शुद्धात्म प्रदेशोंमें ही प्रगट होती है इसलिये निश्चय नयसे अपने आत्माके प्रदेशोंमें ही सिद्धपद प्राप्त होता है और व्यवहार नयसे जिन आकाश प्रदेशोंमें सिद्धात्मा ठहरे हुए हैं वे आकाश प्रदेश ही सिद्धि-क्षेत्र कहे जाते हैं तथा भूतप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे अर्थात् भूतकालको विषय करनेवाली नयकी अपेक्षासे दो प्रकार सिद्ध होते हैं एक जन्मकी अपेक्षासे, दूसरे संहरणकी अपेक्षासे। उनमें जन्मकी अपेक्षासे तो पंद्रह कर्म भूमियोंमेंसे कहींसे भी सिद्ध होते हैं अर्थात् सिद्धपद कर्म भमिसे होता है पांच भरत

सिद्ध कहे जाते हैं यह कथन भी भाववेदकी अपेक्षासे है द्रव्य वेद तो मुनिलिंगमें पुंवेदके सिवा दूसरा हो नहीं सकता है ऐसा नियम है।

अब तीर्थकी अपेक्षासे विचार करते हैं—तीथकर होकर जो सिद्धपद प्राप्त करते हैं वे थोडे हैं। उनसे संख्यातगुणे अधिक सामान्यकेवली हैं। यहांपर मूलपंक्तिमें "तीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणाः" ऐसा पाठ है इससे अधिक कुछ भी पाठ नहीं है श्रीराजवार्तिककी अन्य दो लिखित प्रतियोंमें भी इतना ही पाठ है परंतु तीर्थंकरोंसे सामान्यकेवली संख्यातगुणे अधिक है ऐसा अर्थ श्रीसर्वार्थसिद्धि आदिसे स्पष्ट होता है और यही अर्थ ठीक है, इस कथनकी पुष्टिमें इस दशवें अध्यायकी तीसरी वार्तिक 'तीर्थसिद्धिर्द्वेधा तीर्थकरेतरविकल्पात्' भी प्रमाणभूत है। इस वार्तिकसे भी तीर्थंकर और इतर केवलियोंकी अपेक्षा ली गई है और यह भी निश्चित है कि तीर्थंकर केवलियोंसे सामान्यकेवली संख्यातगुणे अधिक हैं। अब चारित्रकी अपेक्षा विचार करते हैं—चारित्रके अनुयोगकी अपेक्षामें प्रत्युत्पन्ननयकी दृष्टिसे तो सभी सिद्धचारित्रके व्यपदेशके विना ही सिद्ध होते हैं अर्थात् सिद्धपदमें चारित्रकी अपेक्षा नहीं ली गई है इसलिये उसकी अपेक्षा उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी अपेक्षा उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी अपेक्षा लेनेपर अथवा अनंतर चारित्रकी अपेक्षा लेनेपर सभी सिद्ध यथाख्यात चारित्रधारी होकर ही सिद्ध होते हैं इसलिये उसकी दृष्टिसे भी उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। यदि व्यवधान (अंतर) की अपेक्षा ली जाय तो जो पांचों चारित्रोंसे सिद्ध होते हैं ऐसे जीव थोडे हैं, चार चारित्रसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं। अब प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्धकी अपेक्षा विचार करते हैं–प्रत्येक बुद्ध थोडे हैं और बोधितबुद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं। अब ज्ञानकी अपेक्षा विचार करते हैं–प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे सभी सिद्ध केवलज्ञानसे सिद्ध होते हैं इसलिये उनमें उस केवलज्ञानकी अपेक्षासे कुछ भी अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी

पांच ऐरावत पांच विदेह ऐसे पंद्रह कर्म भूमियां हैं उनमें जीव कोई कहींसे और कोई कहींसे सिद्ध होते हैं तथा संहरणकी अपेक्षासे मनुष्यक्षेत्रसे सिद्ध होते हैं अर्थात् यदि किसी जीवको कोई देव या विद्याधर हरण करके ले जाय तो ढाई द्वीप तक ले जा सकता है आगे तो मनुष्यके गमनका सर्वथा अभाव है इसलिये हरणकी अपेक्षासे ढाई द्वीप जो मनुष्यक्षेत्र है उससे सिद्ध होते हैं। यहां पर यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रत्युत्पन्न नय तो क्या है और भूतानुग्रह तंत्र नय क्या है? वर्तमान पदार्थको विषय करनेवाला नय तो प्रत्युत्पन्न नय कहलाता है ऐसे नय चार हो सकते हैं—ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढनय और एवंभूतनय, ये चारों वर्तमान विषयको ग्रहण करते हैं। जो भूत पदार्थको विषय करता है वह भूतप्रज्ञापन अथवा भूतानुग्रहतंत्र नय कहलाता है ऐसे नय नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन हैं। ये तीनों नय वर्तमान तथा भूत दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करते हैं। अब कालकी अपेक्षा विचार करते हैं—किस कालमें सिद्ध होते हैं? उत्तर—एक समयमें सिद्ध होते हैं अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंमें सिद्ध होते हैं। विशेष रीतिसे प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे एक समयमें ही सिद्धिको प्राप्त होता हुआ सिद्ध कहलाता है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे दो प्रकार सिद्ध होते हैं—एक जन्मकी अपेक्षासे दूसरे संहरणकी अपेक्षासे। उनमें सामान्यरूपसे तो जन्मकी अपेक्षासे जो उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी कालमें उत्पन्न हुआ है वह सिद्धपदको प्राप्त हो जाता है, जन्मकी विशेष अपेक्षासे अवसर्पिणी कालमें सुषमादुषमा जो तीसरा काल है उसके अंतके भागमें उत्पन्न होनेवाले जीव और दुःषमासुषमा जो चौथा काल है उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव सिद्ध पदको प्राप्त होते हैं तथा दुःषमा सुषमा जो चौथे काल है उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव तो दुःषमा नामक पांचवें कालमें-सिद्ध हो जाते हैं परंतु पांचवें काल दुःषमामें उत्पन्न होनेवाला जीव सिद्धपदको प्राप्त नहीं होता है तथा और कालमें भी सिद्ध नहीं होते हैं। संहरणकी अपेक्षासे अवसर्पिणी उत्सर्पिणी आदि सभी कालोंमें जीव सिद्धपद पाते हैं। अब गतिकी अपेक्षा विचार करते हैं—

अपेक्षासे दो ज्ञानवाले सिद्ध सबसे थोडे हैं। उनसे संख्यातगुणे चार ज्ञानधारी सिद्ध हैं। उनसे संख्यातगुणे तीन ज्ञानधारी सिद्ध हैं। यह कथन तो सामान्यदृष्टिसे है विशेष रीतिसे इसप्रकार है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञानपूर्वक सिद्धपद प्राप्त करनेवाले सिद्ध सबसे थोडे हैं उनसे संख्यातगुणे सिद्ध मतिज्ञान श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंसे होनेवाले हैं, उनसे संख्यातगुणे मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानपूर्वक होनेवाले सिद्ध हैं और उनसे भी संख्यातगुणे सिद्ध मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानपूर्वक सिद्धपद प्राप्त करनेवाले हैं। अब अवगाहनाकी अपेक्षा विचार करते हैं—जघन्य अवगाहनासे होनेवाले सिद्ध सबसे थोडे हैं। उनसे संख्यातगुणे उत्कृष्ट अवगाहनासे होनेवाले सिद्ध हैं। उनसे भी संख्यातगुणे मध्यम अवगाहनासे होनेवाले सिद्ध हैं। अवयव मध्यरचनाकी अपेक्षासे विचार करते हैं—नीचे यवमध्यांतर सिद्ध संख्यातगुणे हैं और ऊपर यवमध्यान्तर सिद्ध उनसे विशेष रूपसे अधिक है। अब संख्याकी अपेक्षा विचार करते हैं—एक समयमें उत्कृष्ट रीतिसे एकसौआठ सिद्ध होते हैं यह उत्कृष्ट सिद्धोंकी संख्या सबसे थोडी है तथा इस उत्कृष्ट एकसौ आठकी संख्यासे लेकर नीचे पचास संख्या तक एक समयमें होनेवाले सिद्धोंकी संख्या अनंतगुणी है और उनचाससे लेकर पचीस संख्या तक एक समयमें होनेवाले सिद्धोंकी संख्या असंख्यातगुणी है तथा चौवीस संख्यासे लेकर एक संख्यातक एक समयमें होनेवाले सिद्धकी संख्या संख्यातगुणी है अर्थात् एक समयमें एक सिद्ध हो दो हों तीन हों. ऐसे वढते वढते एक समयमें चौवीस तक सिद्ध सिद्धपदवी प्राप्त करें इस चौवीस तक संख्यावाले सिद्ध सबसे अधिक हैं तथा एक समयमें पचीस सिद्ध सिद्धपदवी प्राप्त करें अथवा छब्बीस करें ऐसे वढते वढते उनचास तक एक समयमें मोक्ष चले जांय ऐसे सिद्धोंकी संख्या एकसे लेकर चौवीस तक एक समयमें होनेवाले सिद्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणी हीन है तथा एक समयमें पचास सिद्ध मोक्ष चले जांय और वढते वढते एकसौ आठ तक उत्कृष्ट रूपसे एक समयमें

किस गतिमें सिद्ध होती हैं ? उत्तर—सिद्धगतिमें अथवा मनुष्यगतिमें सिद्ध होते हैं। विशेष रूपसे वर्तमान विषयग्राही नयकी अपेक्षासे तो सिद्धगतिमें ही सिद्ध होते हैं भूतग्राही नयकी अपेक्षासे दो प्रकारकी कल्पना है, एक तो अनंतर गतिमें सिद्ध होते हैं और एक एकांतरगतियोंमें सिद्ध होते हैं उनमें अनंतर गतिकी अपेक्षासे तो मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं अर्थात् जिस गतिसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त हो उस गतिको अनंतर गति कहते हैं अथवा जिस गतिमें मोक्षप्राप्ति तक किसी दूसरी गतिका अंतर नहीं पडे उसे अनंतर गति कहते हैं। ऐसी अनंतर गति मनुष्यगति ही हो सकती है क्योंकि उसी गतिसे साक्षात् मोक्षप्राप्ति होती है, अन्य किसी गतिसे नहीं हो सकती। यदि एकान्तर गतिका विचार किया जाय तो उसकी अपेक्षासे चारों गतियोंसे सिद्धपद प्राप्त हो सकता है अर्थात् जिस गतिसे सिद्धपद प्राप्त होता है उसमे पहली गतिको एकांतर गति कहते हैं ऐसी एकांतर गति चारों गतियां हो सकती हैं कारण चारों गतियोंसे मनुष्यगति पाकर जीव सिद्धपद प्राप्त हो सकता है। अब लिंगकी अपेक्षा विचार करते हैं—किस लिंगसे सिद्धपद प्राप्त होता है ? उत्तर—लिंग तीन प्रकार हैं—पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, ये तीन वेद भी कहलाते हैं। वेदरहित अवस्थासे भी सिद्धपद प्राप्त होता है और तीनों वेदोंसे भी सिद्ध प्राप्त होता है, उनमें वर्तमान विषयग्राही नयकी अपेक्षासे तो वेदरहित अवस्थामें ही सिद्ध पद प्राप्त होता है, तथा भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे सामान्यरूपसे तीनों वेदोंसे सिद्धपद प्राप्त होता है। यह कथन भाववेदकी अपेक्षासे है द्रव्यवेदकी अपेक्षासे नहीं है, कारण कि द्रव्यवेदकी अपेक्षासे तो केवल पुंवेदसे ही सिद्धपद प्राप्त होता है अर्थात् यह नियम है कि द्रव्यवेद साक्षात् सिद्धपद पानेवाले जीवके पुंवेद ही होता है अन्य स्त्रीवेद और नपुंसक वेदमें मुनिव्रत धारण करनेकी योग्यता और परिणाम नहीं हो सकते हैं परंतु भाववेदकी अपेक्षा नौवें गुणस्थान तक तीनों वेद हो सकते हैं उसके ऊपर वेदरहित अवस्था है। लिंगका विचार

मोक्ष जांय ऐसे सिद्धकी संख्या उन पच्चीससे उनचास तक एक साथ मोक्ष जानेवाले सिद्धोंकी संख्याकी अपेक्षा बहुत कमती है अर्थात् अनंतगुणी कमती है और भी खुलासा यह है कि एकसाथ एकसौ आठकी संख्या तो सबसे उत्कृष्ट है क्योंकि ज्यादासे ज्यादा एक सौ आठ ही साथ मोक्ष जासकते हैं। पचाससे लेकर एक सौ आठ तक एक साथ मोक्ष प्राप्त करनेवालोंकी संख्या उत्कृष्ट कोटिके भेदोंमें ली गई है और पच्चीससे लेकर उनचास तक एक साथ मोक्ष प्राप्त करनेवालोंकी संख्या मध्यम कोटिके भेदोंमें ली गई है और एकसे लेकर चौबीस तक एक साथ मोक्ष प्राप्त करनेवालोंकी संख्या जघन्य कोटिके भेदोंमें ली गई है इन तीनों प्रकार की संख्याओंमें सबसे थोडे उत्कृष्ट कोटिसे सिद्धपद प्राप्त करनेवाले हैं उनमें भी जो एक सौ आठ एकसाथ सिद्ध होनेवालोंकी संख्या है वह तो सबसे थोडी है। उस संख्यासे अनंतगुणी अधिक उत्कृष्ट कोटिके भेदवाली संख्या है, उससे असंख्यातगुणी अधिक संख्या मध्यम भेदवाली है और उससे भी संख्यातगुणी अधिक जघन्य भेदवाली संख्या है।

इस प्रकार निसर्ग और अधिगम अर्थात् स्वभाव और परोपदेश इन दो प्रकारके सम्यग्दर्शनोंके कारणोंमेंसे किसी एक प्रकारके सम्यग्दर्शनके हेतु द्वारा होनेवाला जो तत्त्वार्थश्रद्धान स्वरूप, शंकादिक अतीचारोंसे रहित तथा प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य गुणोंसे प्रगट होनेवाला विशुद्ध सम्यग्दर्शन गुण है उसे प्राप्त करके तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे विशुद्धताको धारण करनेवाले सम्यग्ज्ञानको भी प्राप्त करके तथा नाम आदि निक्षेप प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण निर्देश स्वामित्व सत्संख्या आदि उपायोंसे जीवोंके पारिणामिक औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक इन भावोंके स्वरूपको जान करके और जीवके भोगके साधनभूत जो अचेतन पदार्थ हैं उनकी उत्पत्ति नाशरूप स्वभावोंको जानकर यह भव्यजीव उनसे विरक्त होजाता है तथा उसकी समस्त सांसारिक भोगादिक सामग्रीसे तृष्णा दूर हो जाती है पश्चात् वह तीन गुप्तियों और पांच समितियोंका पालन करता है तथा दशलक्षण धर्मोंको धारण करता है

दूसरी अपेक्षासे भी होता है वह इस प्रकार है—लिंग दो प्रकार है एक निर्ग्रंथ लिंग, दूसरा सग्रंथ लिंग। उनमें प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) नयकी अपेक्षासे तो निर्ग्रंथ लिंग (सब बाह्याभ्यंतर परिग्रहरहित विशुद्ध नग्न दिगम्बर अवस्था) से ही सिद्धपद प्राप्त हो सकता है, भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे निर्ग्रंथ लिंग या सग्रंथ लिंगका विचार करना चाहिये। सग्रंथ लिंग और निर्ग्रंथलिंग दोनोंसे भी परंपरा सिद्धपद हो सकता है। अब तीर्थकी अपेक्षासे विचार करते हैं—

तीर्थसिद्धिर्द्वेधा तीर्थकरेतरविकल्पात् ॥ ३ ॥

अर्थ—तीर्थसिद्धि दो प्रकार है—एक तो तीर्थंकर पद पाकर सिद्ध पद प्राप्त करना और दूसरा सामान्य केवली होकर सिद्ध पद प्राप्त करना। उनमें प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे तो गुणस्थानातीत अवस्थामें सिद्धपद होता है वहांपर तीर्थंकर अथवा सामान्यकेवली आदि कुछ भी भेद नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे तीर्थंकर पद और सामान्यकेवली आदिसे सिद्ध पद प्राप्त होता है। इसके सिवा तीर्थसिद्धिका दूसरी तरहसे भी विचार है वह इसप्रकार है कि कोई तो तीर्थंकरके समयमें सिद्धपद पाते हैं और कोई तीर्थंकर जब विद्यमान नहीं रहते हैं तब सिद्ध पद पाते हैं, अर्थात् कोई तो साक्षात् तीर्थंकरके विद्यमान रहते हुए सिद्ध पद पाते हैं और कोई उनके मोक्ष चले जानेपर उनके बादमें सिद्धपद पाते हैं। अब चारित्रकी अपेक्षा विचार करते हैं—किस चारित्रसे सिद्धपद होता है? उत्तर—चारित्रके अभावमें सिद्ध पद प्राप्त होता है अथवा एक या चार या पांचप्रकारके चारित्रसे सिद्ध पद प्राप्त होता है। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे तो चारित्रसे सिद्धपद नहीं होता है, किंतु चारित्रके नामसे रहित अवस्थामें ही सिद्धपद होता है, अर्थात् साक्षात् जहां सिद्धपद प्राप्ति है वहांपर किसी भी चारित्रकी अपेक्षा नहीं है इसका हेतु भी यह है कि चारित्रके भेदोंमें ही शुक्लध्यान कहे गये हैं और चौथा शुक्लध्यान व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामा चौदहवें गुणस्थानमें होता है, तथा ध्यानका फल कर्मोंकी निर्जरा बताई गई है, वह

उन धर्मोंके फलोंको भी देखता है अर्थात् जिन भव्योंने उन्हें पालन कर उत्तम फल पाया है उनका अनुभव कर वह स्वयं उन धर्मोंके धारण करनेमें दृढता रखता है और मोक्ष प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करता हुआ बढी हुई अपनी श्रद्धा संबंध और भावनासे आत्माकी शक्तिको प्रगट करलेता है तथा अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे परपदार्थके विषयमें होनेवाले निर्ममत्व परिणामोंको दृढ बनालेता है, इन्द्रिय विषय आदि अविरत्यादि भावोंसे अपनी आत्माको बचाकर संवररूपसे परिणामोंसे युक्त बन जाता है, उस समय नवीन कर्मोंका आस्रव आना रुक जाता है इसलिये उन कर्मोंका उसके संचय नहीं होता है. वह भव्यात्मा बावीस परीषहोंको जीतनेसे तथा बाह्य अभ्यंतर तपोंके सेवन करनेसे और कर्मोंका रसदानरूप फलका अनुभव कर उनकी निर्जरा होनेसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी विशुद्धिको प्राप्त करता जाता है। जो सम्यग्दृष्टि विरताविरत आदिसे लेकर जिनेन्द्र भगवान पर्यंत परिणामोंकी विशुद्धिके उत्तरोत्तर वृद्धिंगत स्थान बताये गये हैं उन स्थानोंमें प्राप्त होनेवाली विशुद्धिको बढाता हुआ पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा कर डालता है तथा सामायिक आदिके सूक्ष्मसांपराय पर्यंत जो संयमकी विशुद्धिके स्थान हैं उन्हें क्रमसे प्राप्त करता जाता है। जो उन विशुद्ध स्थानोंको धारण करनेवाले पुलाक आदि निर्ग्रंथ मुनियोंके भेद हैं उन भेदोंको भी उत्तरोत्तर विशेष संयमी बनकर धारण करता जाता है। इन संयम स्थानोंकी वृद्धिसे वह भव्यात्मा साधु अपनी आत्मासे आर्तध्यान और रौद्रध्यानको सर्वथा दूर करदेता है और धर्मध्यानकी विजय होनेसे (प्राप्तिसे) निर्विकल्पक परिणामोंमें स्थिर होनेरूप समाधिके बलको प्राप्त कर लेता है। शुक्लध्यानके चार भेदोंमें जो आदिके पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क दो भेद हैं उनमें क्रमसे पहले पृथक्त्ववितर्कको धारण करता है पीछे एकत्व वितर्कको धारण करता है और ध्यानके बलसे नाना प्रकारकी पहले वर्णन की गई विशेष ऋद्धियां उसे प्राप्त हो जाती हैं परंतु वह वीतरागी निस्पृह ध्यानी उन ऋद्धियोंमें थोडा भी अनुराग नहीं करता है अर्थात् उनकी प्राप्तिसे

निर्जरा चौदहवें गुणस्थान तक तो है उससे ऊपर सिद्धपद प्राप्तिके समय नहीं है इसलिये चारित्रमोहनीय कर्मका अत्यंत क्षय होजानेसे सिद्धावस्थामें भी चारित्रभाव है फिर भी उसकी वहां विवक्षा नहीं लीगई है इसलिये सिद्धोंमें जो आठ गुण बताये गये हैं उनमें चारित्रगुणका उल्लेख नहीं किया गया है इसीलिये वहांपर साक्षात् सिद्धपद प्राप्तिमें चारित्रका नामोल्लेख नहीं बताया गया है, तथा भूतप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे एक अनंतर चारित्र और दूसरा व्यवहित चारित्र ऐसे दो भेद कहे गये हैं। अनंतर चारित्र तो यथाख्यातचारित्र कहलाता है क्योंकि सिद्धपद प्राप्तिमें दूसरे चारित्रके अंतरसे रहित यथाख्यातचारित्र ही साक्षात् कारण है इसलिये अनंतर चारित्रकी दृष्टिसे तो एक यथाख्यात चारित्रसे ही सिद्धपद प्राप्त होता है और व्यवधान कहिये अंतरकी अपेक्षासे चार अथवा पांच चारित्रोंसे सिद्धपद प्राप्त होता है। चार चारित्र तो सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात हैं इनसे सिद्धपद प्राप्त होता है और पांच चारित्रोंमें एक परिहारविशुद्धिचारित्र और बढा लेना चाहिये बाकीके ऊपर कहे हुए हैं। इन पांचोंसे सिद्ध पद प्राप्त होता है। अब प्रत्येकबुद्ध और बोधित विकल्प अपनी स्वयंशक्ति और परोपदेशके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोंके भेदसे होते हैं अर्थात् जिनके बिना किसीके उपदेशके निमित्तके सुतरां ज्ञानशक्ति अपने आप अपनी आत्मामें प्रगट हो जाती है वे तो प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं ऐसे तीर्थंकर होते हैं, वे अपने पूर्व संचित अतितीव्र असाधारण पुण्यकर्म और षोडशकारणभावनाओंसे बांधे हुए तीर्थंकर कर्मके कारण जन्मसे तीन ज्ञानधारी होते हैं, मति श्रुत अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान पूर्वक्षयोशमसे उनके जन्मसे ही उत्पन्न होजाते हैं वे जगत्के परम गुरु होते हैं, संसारमें उनका कोई गुरु नहीं होता वे किसीसे भी सन्मार्गका उपदेश अथवा किसी भी प्रकारकी शिक्षा ग्रहण नहीं करते हैं किंतु जगत्के सच्चे शिक्षक और सन्मार्गप्रवर्त्तक आदिगुरु श्रीतीर्थंकर होते हैं, ये तीर्थंकर तो प्रत्येकबुद्ध होते ही हैं यह तो नियम है और संभावित है इसलिये कोई तो प्रत्येकबुद्ध होकर सिद्ध पद पाते हैं

जाता है उस समय वह ऊर्ध्वगमन करता है तथा जिसप्रकार एरंड (अंडी) का वीज जबतक कोष (गवा) के भीतर रहता है तबतक बंद रहता है परंतु जिससमय वह कोष खुलता है अर्थात् उसके बंधका छेद हो जाता है उससमय वीज तत्काल ऊपरको जाता है उसीप्रकार कर्म बंधनसे छूटने पर जीवात्मा भी नियमसे ऊपरको जाता है तथा ऊर्ध्वलोकमें गमन करनेका गौरव धर्म रखनेवाला जीवका स्वभाव होता है और नीचेको गिरनेरूप गौरव धर्मका स्वभाव पुद्गलोंका होता है ऐसा श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है अर्थात् जिसप्रकार पुद्गलमें गुरुता होनेसे वह नियमसे नीचेकी ओर जाता है उसीप्रकार सूक्ष्मरूप होनेसे मुक्त जीव नियमसे ऊर्ध्वगति करता है। जिसप्रकार मिट्टीका ढेला नीचेको जानेका स्वभाव रखता है और वायु तिरछा वहनेका स्वभाव रखती है तथा अग्निकी ज्वाला ऊपर जानेका स्वभाव रखती है उसीप्रकार सिद्ध जीवोंका ऊर्ध्वगमन करनेका स्वभाव है। ऊर्ध्वगमन क्रियाके विपरीत जो नीची तिरछी आदि विकारी गति इस संसारी जीवकी देखी जाती है वह या तो कर्मके निमित्तसे होती है या किसी अन्य प्रतीघातसे होती है अथवा किसी प्रयोगविशेषसे होती है। यहांपर कर्मोंके प्रतीघात और प्रयोग विशेष इन दो कारणोंसे संसारी जीवोंकी गतिमें विभिन्नता पाई जाती है ऐसा अर्थ ठीक प्रतीत होता है, परंतु पदोंमें दो चकारोंके आजानेसे तीन भेद ऊपर दिखाये गये हैं। जीवोंकी कर्मोंके उदयसे होनेवाली गति तो नीचे तिरछी ऊपर सब दिशाओंमें होती है परंतु जिन मुक्तजीवोंके कर्म सर्वथा क्षीण हो चुके हैं,

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः। अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितं ॥ १३ ॥

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः। स्वभावतः प्रवर्तंते तथोर्ध्वगतिरात्मनां ॥ १४ ॥

अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते। कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥ १५ ॥

अधस्तिर्यक्तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः। ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणां ॥ १६ ॥

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारंभवीचयः। समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥ १७ ॥

जिन्हें परोपदेशके विनाही अपनी शक्तिसे ज्ञानातिशय प्रगट हो जाता है और दूसरे बोधितबुद्ध वे कहे जाते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञानके अतिशयको प्राप्त करते हैं। इन दो भेदोंमें प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा तो प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध इन दोनों विकल्पोंसे रहित साक्षात् केवलज्ञानसे सिद्धपद प्राप्त होता है तथा भूतप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे कोई प्रत्येक बुद्ध होकर सिद्ध होते हैं और कोई बोधितबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं। अब ज्ञानकी अपेक्षा विचार करते हैं—एक ज्ञानके द्वारा अथवा दो ज्ञानोंके द्वारा अथवा तीन ज्ञानोंके द्वारा अथवा चार ज्ञान विशेषोंके द्वारा सिद्ध पद प्राप्त होता है। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे केवल एक केवलज्ञानके द्वारा ही सिद्ध पद प्राप्त होता है। भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे तो दो ज्ञानोंसे अथवा तीन ज्ञानोंसे अथवा चार ज्ञानोंसे सिद्ध पद प्राप्त होता है। यदि दो ज्ञानोंकी अपेक्षा लीजाय तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंकी अपेक्षा ली जायगी। क्योंकि संसारीमात्रके ये दो ज्ञान तो नियमसे होते ही हैं इसलिये जिनके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं हो तो उनके इन दो ज्ञानोंपूर्वक ही केवलज्ञान हो जाता है यदि तीन ज्ञानोंकी अपेक्षा ली जाय तो मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानोंकी लेनी चाहिये अथवा मति श्रुत मनःपर्यय इन तीन-ज्ञानोंकी लेनी चाहिये। यदि चार ज्ञानोंकी अपेक्षा लीजाय तो मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंकी अपेक्षा लेनी चाहिये॥ अब अवगाहनाकी अपेक्षासे विचार करते हैं—

अवगाहनं द्विविधं उत्कृष्टजघन्यभेदात् ॥ ४ ॥

अर्थ—आत्माके प्रदेशोंसे व्याप्त होकर रहनेवाला जो क्षेत्र सो अवगाहना है वह दो प्रकार है-एक उत्कृष्ट, दूसरी जघन्य। उनमें उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ पच्चीस धनुषकी है और जघन्य अवगाहना कुछ कमती साढे तीन अरत्नि प्रमाण है। मध्यके अनेक भेद हैं। भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा इन्हीं अवगाहनाके भेदोंमें सिद्ध पद प्राप्त होता है और प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे तो कुछ कमती वर्तमान अव-

वह कुछ भी लाभ नहीं उठाता है इसप्रकार पहले कहे गए क्रमके अनुसार मोहादिक प्रकृतियोंका पूर्ण रूपसे क्षय करके समस्त लोकालोकको साक्षात् प्रत्यक्ष करनेवाली केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीका अनुभव करने लगता है अर्थात् मोहादि प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय करके पूर्ण वीतरागता प्राप्त करलेता है और उसीके अन्त्य क्षणमें ज्ञानावरणादि शेष घातिया प्रकृतियोंका क्षय कर सर्वज्ञ अर्हंत जीवन्मुक्त हो जाता है पश्चात् वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा बाकीके बचे हुए अघातिया कर्मोंको भी अंतिम शुक्लध्यानके बलसे सर्वथा नष्ट कर देता है उनके नष्ट होनेसे फिर वह परमात्मा संसार बंधनसे सदाकेलिए विमुक्त (रहित) हो जाता है, पीछे जिसप्रकार अग्नि अपने लिये कारणरूप इकट्ठे किए हुए समस्त इंधनको जलाकर भस्म कर देती है फिर कुछ भी इंधन बाकी न रहनेसे विना कारणके वह स्वयं बुझ जाती है, उसीप्रकार पहले कर्मके उदयसे पाये हुए भवका तो उस परममुक्त सिद्धात्माके नाश हो चुका फिर नवीन भव प्राप्तिके कोई कारण अवशिष्ट नहीं रहनेसे वह सिद्ध परमात्मा आगे कोई भव धारण नहीं करता है सदाकेलिए संसारका अंत कर देता है, इसप्रकार संसारके समस्त दुःखोंको दूर कर अनंत, परिपूर्ण, सर्व उपमाओंसे रहित अनुपम हीनाधिकतासे रहित निरतिशय अर्थात् विना किसी अतिशय विशेषके स्वयं आत्माके स्वभावसे प्राप्त होनेवाले मोक्षसुखको वह प्राप्त कर लेता है। यह सब तत्त्वार्थश्रद्धान अथवा तत्त्वार्थ-भावनाका फल है।

अब इसी बातका कथन श्रीमदाचार्यवर्य अमृतचन्द्रविरचित श्रीतत्त्वार्थसारके मोक्षप्रकरणके श्लोकोंके अनुसार किया जाता है—

जो आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रसे सहित हो जाता है वह फिर आस्रवके कारणभूत

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशं। निरास्रवत्वच्छिन्नायां नवायां कर्मसंततौ ॥ १

गाहनासे ही सिद्ध पद प्राप्त होता है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि कर्मभूमिसे जो जीव सिद्ध पद प्राप्त करत हैं उनके शरीरका परिमाण अधिकसे अधिक पांचसौ पच्चीस धनुषके बराबर होता है और कमसे कम साडे तीन हाथ होता है यहांपर अरत्निका नाम लिया गया है सो अरत्नि कुछ कमती एक हाथको कहते हैं। पूरे हाथका माप मध्यम अंगुलिके बराबर होता है और कनिष्ठा अंगुलि तक माप करना अरत्नि कहलाता है। इस जघन्य आर उत्कृष्ट भेदोंके बीचमें अनेक शरीरके बीचके माप समझने चाहिये। सिद्ध पद प्राप्त करते समय जीवका माप शरीरके परिमाणसे कुछ कमती हो जाता है इसलिये वर्तमान नयकी अपेक्षा कुछ कमती शरीर प्रमाण लिया गया है और भूतनयकी अपेक्षा शरीरप्रमाण अवगाहना लीगई है। अब अंतरकी अपेक्षा कहते हैं—सिद्ध पद प्राप्त करनेवाले जीवोंका कुछ अंतर भी पडता है क्या? उत्तर—अंतररहित भी सिद्ध होते हैं, और अंतरसहित भी सिद्ध होते हैं।

अनंतरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ ॥ ५ ॥

अर्थ—यदि अतंर रहित बराबर सिद्ध होते रहें तो जघन्य रीतिसे दो समय तक बराबर सिद्ध होते रहेंगे और उत्कृष्ट रीतिसे सिद्ध होते रहें तो बराबर आठ समय तक होते रहेंगे अर्थात् निरंतर मोक्ष जाते रहैं तो कमसे कम दो समय तक जघन्य रूपसे और उत्कृष्ट रूपसे आठ समय तक जाते रहेंगे। यदि बीच बीचमें अतंर पडता जाय तो कितना अतंर पड सकता है उसका विचार करते हैं—

सांतरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीव सिद्ध पद पाते हैं उनका सिद्ध पद पानेमें जो विरहकाल पडता है उसे अतंर कहते हैं अर्थात् जितने भी जीव सिद्ध पद पाते हैं वे यदि रुक जांय बीचमें कोई भी सिद्ध नहीं होवे तो ऐसा अतंराल कितने समय तकका पड सकता है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि जघन्य रीतिसे एक समय है और उत्कृष्ट रीतिसे छह महीनाका अतंराल पडता है अर्थात् यदि कमसे कम कोई जीव सिद्ध

उनकी नियमसे ऊर्ध्वगति ही होती है और वही शुद्धात्माका स्वभाव है जिसप्रकार द्रव्य कर्मकी उत्पत्ति होते ही प्रदेशपरिस्पंद आदि संसारकार्य होने लगता है उसीप्रकार संसारका क्षय होते ही सिद्धजीवोंकी मोक्षमें गति होती है अर्थात् जैसे कर्मसंबंधसे संसार है उसीप्रकार कर्म छूटनेसे मोक्ष है अथवा कर्मबंध ही संसार है और कर्माभाव ही मोक्ष है तथा जिसप्रकार प्रकाश और अंधकार इन दोनोंकी उत्पत्ति तथा विनाश एक साथ होते हैं उसीप्रकार मुक्तजीवको निर्वाणप्राप्ति और कर्मका विनाश एक साथ होता है अर्थात् जिस क्षणमें प्रकाश उत्पन्न होता है उसी क्षणमें अंधकारका नाश होता है, ऐसा नहीं है प्रकाश हो जानेके पीछे अंधकार वहांसे हटै, ऐसा माननेसे क्षणभेद होगा परंतु प्रकाशप्रादुर्भाव और अंधकारनाश इन दोनोंमें कोई क्षणभेद नहीं है ऐसा भी नहीं है कि प्रकाशका अभाव ही अंधकार हो, ऐसा माननेसे अंधकार अवस्तु सिद्ध होता है परंतु वह वस्तुभूत पदार्थ है। जैसे पुद्गलकी प्रकाशमय पर्याय प्रकाश है उसीप्रकार पुद्गलकी अंधपर्याय अंधकार है इसलिये जो पुद्गल परमाणु अंधकारमय रहते हैं वे ही प्रकाश होते समय प्रकाशमय हो जाते हैं इसलिये प्रकाश और अंधकारका कुछ भी क्षणभेद नहीं है ठीक इसी-प्रकार जीवके कर्मोंका नाश होना और मोक्ष प्राप्त करना दोनोंका एक ही समय है क्योंकि कर्मोंके नाशका नाम ही सिद्धपदप्राप्ति है इसलिये कर्मोंका नाश होना और आत्माकी परम विशुद्ध सिद्धावस्थाका प्रगट होना दोनोंका एक ही समय है। सिद्धपरमेष्ठी कहां विराजते हैं इसका वर्णन इसप्रकार है—सूक्ष्म, सुंदर, सुगंधित, पवित्र, परमशुक्ल वर्णवाली एक प्राग्भारा नामकी पृथ्वी है, वह पृथ्वी लोकके मस्तक पर अर्थात् लोकशिखर पर है, उसका विस्तार मनुष्यलोक अर्थात् ढाई द्वीपके बराबर है और वह सफेद छत्रके समान

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह। युगपद्भवतो यद्वत्तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥ १८ ॥
तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा। प्राग्भारानामवसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १९ ॥
त्रिलोकतुल्यविष्कंभा सितच्छत्रनिभा शुभा। ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥

पद नहीं पावे तो एक समय तक नहीं पावेगा और ज्यादासे ज्यादा नहीं पावे तो छह महीना तक कोई जीव सिद्ध पद नहीं पा सकेगा फिर नियमसे सिद्ध होने लगेंगे। अब संख्याकी अपेक्षा विचार करते हैं—

जघन्येन एक उत्कर्षेण अष्टशतमिति संख्या ॥ ७ ॥

अर्थ—एक समयमें कितने जीव सिद्धपद पाते हैं ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि जघन्य रीतिसे तो एक समयमें एक जीव सिद्ध पद पाता है और उत्कृष्ट रूपसे एकसौ आठ जीव एक समयमें सिद्धपद प्राप्त करते हैं अर्थात् कमसे कम एक समयमें एक जीव और ज्यादासे ज्यादा एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। आगे अल्पबहुत्वका विचार कहते हैं—

क्षेत्रादिभिराभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेष अल्पबहुत्वं ॥ ८ ॥

अर्थ—क्षेत्रादिक जो ग्यारह भेद सिद्धोंके भेद सूचक बताये गये हैं उनमें ही परस्पर अपेक्षा दृष्टिसे भेद हैं परंतु वास्तवमें विचार किया जाय तो सिद्धोंमें कुछ भी भेद नहीं हैं वे सब समान हैं इसलिये इस क्षेत्रादिककी अपेक्षासे तो परस्पर संख्याकी हीनाधिकता है उसीका नाम अल्पबहुत्व है उसीको स्पष्ट करते हैं—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे सिद्धक्षेत्रमें ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनमें कुछ भी अल्पबहुत्व नहीं है, भूतप्रज्ञापननयकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व है उसीका विचार करते हैं—क्षेत्रसे सिद्ध होनेवाले जीव दो प्रकारके होते हैं एक जन्म-क्षेत्रसे दूसरे संहरण क्षेत्रसे अर्थात् जहां जिनका जन्म हो उसी क्षेत्रसे जो सिद्धपद प्राप्त करें वे तो जन्मक्षेत्र-सिद्ध कहे जाते हैं और जिन जीवोंको जन्मक्षेत्रसे उठा कर कोई देव या विद्याधर हरण कर ले जाय और किसी दूरवर्ती क्षेत्रमें या समुद्रमें जा पटके और वहांसे वे सिद्धपद प्राप्त करें उन्हें संहरणक्षेत्रसिद्ध कहते हैं। इन दोनों प्रकारके क्षेत्र सिद्धोंमें संहरण क्षेत्र सिद्ध तो थोडे हैं और जन्म सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं तथा जो ऊर्ध्व लोकसे सिद्ध होते हैं वे सबसे थोडे हैं उनसे संख्यातगुणे अधोलोकसे सिद्ध होनेवाले जीव हैं उनसे भी संख्यातगुणे तिर्यग्लोकसे सिद्ध होनेवाले जीव हैं। जिन जीवोंको ध्यानस्थ अवस्थामें

आकारवाली है। शुभ है वह प्राग्भारा पृथ्वी एक राजू चौडी सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी है उसे आठवीं पृथ्वी कहते हैं, उस आठवीं पृथ्वीके वीचमें रूप्यमयी छत्राकार मनुष्यक्षेत्र समान गोल ४५ लाख योजन चौडी मध्यमें आठ योजन मोटी (अंत तक मोटाई क्रमसे घटती गई है) सिद्धशिला है उस सिद्धशिलाके ऊपर लोकके अंत भागमें अर्थात् सूक्ष्म वातवलयके अंतमें सिद्ध भगवान विराजे हुए हैं। परमात्मा सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वभाव, सिद्धत्वभाव, सुख, वीर्य, चारित्र आदि समस्त भाव हैं, वे सब तादात्म्यरूपसे केवलज्ञान और केवलदर्शनमें समाये हुऐ हैं अर्थात् समस्त अनंत गुणोंका तादात्म्य संबंध है, केवलज्ञानकी प्रधानता इसलिये है कि ज्ञान आत्माका प्रधानगुण है उसके विना अन्य किन्हीं गुणोंका उल्लेख नहीं हो सकता है इसलिये केवलज्ञान गुणके भीतर उन अनंतगुणोंका समावेश हो जाता है क्योंकि सभी गुण अभिन्नस्वरूप हैं तथा हेतुका अभाव होनेसे सिद्धोंमें क्रिया भी नहीं होती है अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे कर्मबंधन छूटते ही लोकके अंतभाग तक जहांतक कि धर्मद्रव्य गतिहेतुभूत रहता है वहां तक ही एक समयमें मुक्तजीवोंका गमन होता है आगे हेतुका अभाव होनेसे पुनः सिद्धोंमें क्रिया नहीं होती है वे निष्क्रियरूपसे सदा एक स्थानमें ही विराजे रहते हैं इसी कथनका स्पष्टीकरण करते हुए प्रश्नपूर्वक श्रीआचार्य उत्तर देते हैं कि—यदि कोई ऐसा प्रश्न करै कि लोकके अंतभागमें ही जाकर सिद्ध भगवान क्यों ठहर जाते हैं, उससे ऊपर अलोकाकाशमें भी वे क्यों नहीं चले जाते हैं क्योंकि उनका ऊर्ध्व-गमन करनेका स्वभाव है ? तो इसके उत्तरमें यही समझना चाहिये कि लोकके अंततक ही धर्मास्तिकायका सद्भाव है, उससे आगे उसका अभाव है, इसलिये आगे धर्मद्रव्यके नहीं होनेसे सिद्धजीवकी गति भी आगे नहीं होती क्योंकि धर्मद्रव्य ही सिद्धजीवकी गतिमें सहकारी कारण है।

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने। सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥ २१ ॥
ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥ २२ ॥
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखं। अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥ २३ ॥

सिद्धि निर्बाध है इसलिए यह बात सिद्ध हो चुकी कि आकाश द्रव्यमें प्रदेशोंकी कल्पना मुख्य ही है। तथा और भी यह बात है कि—

कर्माभावप्रसंगात् ॥ १९ ॥

जिस आत्मारूप आश्रयमें जो कर्म उत्पन्न हुआ है वह दूसरे आश्रयसे वियुक्त अन्य आश्रयके साथ संयुक्त होता है क्योंकि कर्मका ऐसा स्वभाव ही है कि वह सदा एक जगह नहीं रहता। (यदि सदा वह एक आश्रयमें ही रहा आवेगा तो फिर स्वर्ग मोक्ष आदिकी कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी) इस रीतिसे जब कर्मका एक आश्रयसे दूसरे आश्रयके साथ संयुक्त होना स्वभाव है तब आकाशके अनेक प्रदेशोंकी सिद्धि निर्बाध है। यदि आकाशको अप्रदेशी माना जायगा तो कर्मका अभाव ही हो जायगा क्योंकि एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना कर्मका स्वभाव है। आकाशके प्रदेश न माने जानेपर एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानारूप कर्मका स्वभाव न माना जायगा, तो स्वभावके अभावमें पदार्थका नाश हो जाता है इसलिये कर्मके उस स्वभावके अभावमें कर्मका भी नाश हो जायगा इसलिए अनेक उत्तमोत्तम युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यमें मुख्यरूपसे प्रदेशोंकी कल्पना है उसीतरह धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें भी प्रदेशोंकी मुख्यरूपसे ही कल्पना है, उपचारसे नहीं।

एकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकांतात्पुरुषवत् ॥ २० ॥

जिसतरह सामान्यरूपसे पुरुषके शरीरकी द्रव्यदृष्टिसे विवक्षा की जाती है उससमय वह पुरुषका शरीर एक माना जाता है और जिससमय मस्तक पीठ जंघा पेट हाथ पांव अंगुली गांठ आदि उस शरीरके अवयवस्वरूप पर्यायोंकी विवक्षा की जाती है उससमय वह अनेक माना जाता है। अथवा जिस-

समय द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा पुरुषद्रव्यकी विवक्षा की जायगी उससमय वह पुरुष एक है और जिस-समय पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा यह पुरुष साफ करनेवाला—पावक है, काटनेवाला—लावक है इसप्रकार अपनी जातिके अविरोधसे पर्यायोंकी विवक्षा की जायगी उससमय पर्याय पर्यायके प्रति भिन्न होनेके कारण वह पुरुष अनेक माना जाता है तथा एक ही पुरुष किसीकी अपेक्षा पिता है, किसीकी अपेक्षा भानजा है, किसीकी अपेक्षा काका है, किसीकी अपेक्षा मामा है इसप्रकार पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे पिता भानजा काका मामा आदि पर्यायोंकी अपेक्षा एक ही पुरुष अनेक है। तथा एक ही पुरुष पंचेंद्रिय भी है, नीरोग भी है, निर्बुद्धि भी है, चतुर भी है, कुशल और सुशील भी है इसप्रकार पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा रहनेपर पंचेंद्रिय आदि पर्यायोंकी अपेक्षा एक ही पुरुष अनेक स्वरूप है उसीतरह द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा रहनेपर जिससमय धर्म अधर्म आकाश और एक जीवकी निजी द्रव्यकी विवक्षा की जायगी उससमय प्रदेशोंका विभाग न रहनेके कारण वे सब एक एक प्रदेशी हैं और जिससमय उनके भिन्न भिन्न प्रदेशोंकी विवक्षा की जायगी उससमय वे नाना प्रदेशवाले हैं इसप्रकार अनेकांत सिद्धांतके अनुसार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी विवक्षा रहनेपर धर्म आदि द्रव्योंको पुरुषके समान एक प्रदेशपना वा अनेक प्रदेशपना युक्तियुक्त है अतः धर्म आदि द्रव्योंमें प्रदेशोंकी कल्पना व्यवहारसे नहीं मानी जा सकती। तथा जीवोंके विषयमें खासकर यह भी बात है कि—

संसारिणश्च व्यवहारतः सावयवत्वात् ॥ २१ ॥

जिससमय व्यवहारनयकी विवक्षा की जायगी उससमय व्यवहारसे संसारी जीव सावयव अर्थात् अनेक प्रदेशी हैं। यहांपर व्यवहार शब्दका अर्थ अनादि कर्मोंके बंधनोंसे बद्धपना लिया गया है।

सिद्धोंका सुख संसार सम्बंधी विषयोंके सुखसे सर्वथा भिन्न है वह सदा एक रूपमें नित्य रहता है। उसका कभी भी अंत नहीं होता है, उनके सुखमें कभी कोई बाधा या आकुलता भी नहीं आती है ऐसा परम ऋषि श्रीअरहंत देवने कहा है। यहांपर कोई यदि ऐसा प्रश्न करें कि जिस मुक्तजीवके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं और शरीर भी जिसके नहीं है उस मुक्त जीवको विना वेदनीय आदि कर्मोंके और विना शरीरके सुख मिलता किस प्रकार है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि लोकमें चार प्रकारके पदार्थोंमें सुखशब्दका व्यवहार होता है १ विषयमें २ वेदनाके अभावमें ३ कर्मके फलोदयमें और मोक्ष अर्थमें। जैसे ठंढके दिनोंमें अग्निसे सुख मिलता है गरमीकी ऋतुमें ठंडी वायु पंखा आदिसे सुख मिलता है यह सुख इंद्रियजनित विषयोंका सुख कहलाता है। इसीप्रकार जहां किसी प्रकार पीडाका अभाव होता है वहां भी सुख शब्दका व्यवहार होता है जैसे किसीको फोडेका कष्ट हो तो उसका फोडा अच्छा होजानेपर वह अपनेको सुखी समझने लगता है अथवा ज्वरका कष्ट हो तो उसके दूर होने पर वह अपनेको सुखी समझने लगता है इसप्रकारका सुख दुःखके अभावमें कहाजाता है। तीसरा सुख शब्द पुण्यके फलसे प्राप्त होनेवाले इष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है जैसे निर्धनको धन प्राप्तिसे, भूखेको भोजन मिलनेसे पुत्र हीनको पुत्र प्राप्तिसे जो सुख होता है वह पुण्य कर्मका फल स्वरूप है। तथा कर्मजनित क्लेशोंका छुटकारा मिलनेसे जो मोक्षावस्थामें जीवके आत्मीय स्वाभाविक सुख प्रगट होता है वह सुख वास्तवमें सुख है और वह अनुपम है। सांसारिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न और उनसे अनंतगुणा सुख मोक्षसुख है। यह सुखका चौथा भेद है। पहले तीनों सुख सांसारिक हैं नश्वर हैं दुःखोंके ही तरतम रूप हैं, आत्मीय गुणोंके घातक हैं, दुःख फल है इसलिये वे सुख

इस सूत्रसे सम्बन्ध है । उसकी अनुवृत्ति यहां आती है अर्थात् आकाशके प्रदेश अनंते हैं यह यहां सूत्रार्थ है । शंका—

असंख्येयानंतयोरविशेष इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ २ ॥

असंख्येयका अर्थ है जिसकी गणना न हो सके और अनंतका अर्थ है जिसका अंत न हो । दोनों ही जगह द्रव्य अर्थात् प्रदेश इतने हैं यह प्रमाण नहीं होता इसरीतिसे प्रदेश इतने हैं इसप्रकारके परिमाणका न होनारूप समानता है तब असंख्येय और अनन्तमें कोई विशेष न होनेसे दोनों जगह एकही शब्दका उल्लेख करना चाहिये, दोनोंका नहीं ? सो ठीक नहीं । असंख्येय और अनंतमें जो भेद है उसका खुलासा तीसरे अध्यायके 'नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते' ॥ ३८ ॥ इस सूत्रमें कह आये हैं इस लिए वहांसे उन दोनोंका विशेष अर्थ समझ लेना चाहिये । यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

अनंतत्वादपरिज्ञानमिति चेन्नातिशयज्ञानदृष्टत्वात् ॥ ३ ॥

जो पदार्थ अनंत है उसका सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा परिच्छिन्न अर्थात् प्रमाण किया जा सकता है या अपरिच्छिन्न अर्थात् नहीं प्रमाण किया जा सकता है । यदि कहा जायगा कि वह सर्वज्ञके ज्ञानसे परिच्छिन्न है तब उसका अंत सिद्ध हो गया इसलिये अनंतस्वरूप पदार्थका अनंतपना नहीं बनता । यदि कहा जायगा कि वह सर्वज्ञके ज्ञानसे परिच्छिन्न नहीं है तब उसका अखंडतासे स्वरूप न जाननेके कारण सर्वज्ञको असर्वज्ञ कहना होगा इसरीतिसे अनंत पदार्थका ज्ञान न होनेके कारण कोई भी पदार्थ अनंत नहीं माना जा सकता ? सो ठीक नहीं । केवली भगवानके जो क्षायिकज्ञान होता है वह अतिशयवान और अनंतानंतपरिमाणवाला होता है इसलिये जब वह अनंतानंतपरिमाणवाला है तब

अग्राह्य हैं केवल एक मोक्षसुख ही अविनश्वर अनुपम असाधारण है इसलिये यही सुख उपादेय है। कोई कोई दर्शनकार मोक्षावस्थाको सुषुप्तिके समान मानते हैं अर्थात् जिसप्रकार सो जाने पर इंद्रिय मनकी प्रवृत्ति न होनेसे ज्ञान दर्शनादिकका अभाव होजाता है उसीप्रकार मोक्षावस्थामें जीवकी दशा हो जाती है परंतु ऐसा माननेवालोंका कहना सर्वथा मिथ्या है कारण मोक्षावस्थामें सुषुप्ति अवस्थाके समान ज्ञान क्रियाका अभाव नहीं हैं किंतु वहां सर्वोपरि ज्ञान प्रगट होजाता है, समस्त लोक अलोकको जाननेवाला केवलज्ञान मोक्षावस्थामें वरावर रहता है, निद्रावस्थामें सुख भी नहीं है परंतु मोक्षावस्थामें आत्माके स्वभावसे उत्पन्न परम निराकुलतामय सुख गुण प्रगट होजाता है तथा निद्रावस्था तो इस संसारी जीवके परिश्रम होजानेसे खेद होजानेसे किसी प्रकारका मद हो जानेसे, किसी प्रकारकी पीडा होजानेसे, कामकी वासना की तीव्रता हो जानेमे तथा मोहनीयकर्म और दर्शनावरण कर्मके उदयमें होती है परंतु मोक्षावस्था उससे सर्वथा विपरीत है, वहांपर न तो परिश्रम है, न खेद है, न व्याधि है, न मद है, न पीडा है, न कामव्यथा है और न मोह है, न दर्शनावरण कर्मका ही उदय है। इन समस्त विकारोंसे रहित परम शुद्ध आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाका नाम ही मोक्ष है इस समस्तलोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिससे मोक्ष-सुखकी तुलना की जासके इसलिये मोक्षसुख निरुपम है अर्थात् उसकी उपमावाला जगत्में कोई सुख नहीं हो सकता है तथा अनुमान और उपमान प्रमाणकी प्रमाणीकता तभी मानी गई है जव कि उनके लिंगोंकी प्रसिद्धि हो, अनुमानकेलिये चक्षुरिन्द्रियादिसे प्रत्यक्ष धूमादि हेतु हों और उपमानकेलिये सादृश्य रूप कोई लिंगविशेष हो तभी अनुमान और और उपमान प्रमाण सिद्ध होते हैं परंतु मोक्षपदार्थ अमू-

चाहिये कि जिन उपर्युक्त सिद्धांतकारोंने लोकधातु आदि पदार्थोंको अनंत माना है वे यह स्वीकार नहीं करते कि पदार्थोंको अनंत माने जानेपर कहीं भी अंत न मिलनेके कारण उनका ज्ञान न होगा अथवा दिव्यज्ञानियोंके ज्ञानसे उनका ज्ञान होता है इसलिए वे अंतसहित-सांत हैं किंतु अनंत मानकर भी वे उनका दिव्य ज्ञानके द्वारा पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष मानते हैं इसलिए ऊपर जो आकाशके अनंतस्वरूप माननेपर जैनसिद्धांतकारके ऊपर यह कटाक्ष किया गया था कि यदि किसी पदार्थको अनंतस्वरूप माना जायगा तो उसके अंतका निश्चय न होनेसे उसका ज्ञान न हो सकेगा वह अयुक्त है। तथा यह भी बात है कि—

सर्वज्ञाभावप्रसंगाच्च ॥ ५ ॥

जो वादी यह मानता है कि अनंतपना ज्ञानके अभावमें कारण है अर्थात् जो जो अनंतस्वरूप पदार्थ होगा उसका अखंडरूपसे ज्ञान न हो सकेगा, उसके मतमें सर्वज्ञ पदार्थ सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि ज्ञेय-ज्ञानके विषयभूत पदार्थोंको अनंत माना गया है इसलिए अनंत होनेके कारण उनका कोई भी जाननेवाला सिद्ध न होगा। यदि यह कहा जायगा कि वे ज्ञेय पदार्थ अनंत नहीं, सांत हैं तब उनका अंत रहनेसे संसारका अभाव होगा तथा संसारके अभावमें मोक्षका भी अभाव होगा। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

समस्त ज्ञेय पदार्थोंमें यदि जीवोंको सांत अर्थात् अंतसहित माना जायगा तो एक न एक दिन सबकी मोक्ष हो जानेपर संसारका अभाव हो जायगा। यदि यहांपर यह माना जायगा कि जो जीव मोक्ष जाते हैं वे वहांसे लौटकर फिर संसारमें आ जाते हैं फिर संसारसे मोक्ष जाते हैं फिर वहांसे लौटकर

र्तिक तथा सूक्ष्म है इसलिये वह इन्द्रियोंके गोचर नहीं हो सकता है उसकी प्रत्यक्षताका साधक कोई हेतु भी नहीं है इसलिये मोक्ष अनुपम पदार्थ है उसकेलिये संसारमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसकी मोक्षके विषयमें उपमा दीजासके इसलिये वह सबसे विलक्षण सारभूत पदार्थ है। मोक्षसुखका श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत देवको साक्षात् प्रत्यक्ष होता है और उनके उपदेशसे अन्य आचार्य प्रत्याचार्य आदि विद्वान् पुरुष भी मोक्षसुखको अविनश्वर अनुपम सुख समझते हैं परंतु वह सुख किसी भी अल्पज्ञानीकी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है इसका कारण यह है कि अमूर्तिक पदार्थके विषयमें अल्पज्ञानी सिवा आगम कथित बचनोंसे और परोक्ष अनुमान द्वारा उसका सामान्यस्वरूप परोक्षरूपसे जान सकता है परतु मोक्षसुखका साक्षात् प्रत्यक्ष अथवा उसका अखंड स्वरूप अल्पज्ञानीकी परीक्षाका सर्वथा विषय नहीं हो सकता है। उसका अनुभव और साक्षात्कार तो श्रीअरहंत परमेष्ठी ही करते हैं और उसका एकदेश अनुभव उन श्रीअरहंत भगवानके वचनोंपर अकाट्य श्रद्धा रखनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं।

इसप्रकार इस मोक्ष तत्त्वका जो शेष छहों तत्त्वोंके साथ सम्यक् श्रद्धान करता है उन्हें सम्यक्रीतिसे जानता है और हेयोपादेयताकी कल्पना छोडकर उनमें मध्यस्थ भाव धारण करता है वही निर्वाणपदका अधिकारी बन सकता है।

इसप्रकार श्रीमदाचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (मोक्षशास्त्र) का बड़ी उत्तमतासे अलंकारस्वरूप व्याख्यान करनेवाले इस श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेव विरचित संस्कृत श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थकी चावली (आगरा) निवासी न्यायालंकार पंडित मक्खनलालजी शास्त्री विरचित हिन्दी भाषाटीकामें मोक्षका निरूपण करनेवाला दशमा अध्याय समाप्त हुआ।

अतीतकालका प्रारंभ हुआ है उसके पहिले एवं जहां भविष्यत्कालका अंत हुआ है उसके पीछे किस पदार्थको कालके नामसे पुकारा जायगा ? यदि कहा जायगा वहांपर नवीन कालद्रव्यकी उत्पत्ति मान लेंगे इसलिए कालका व्यवहार बाधित नहीं हो सकता। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो पदार्थ असत्–अविद्यमान है उसकी तो सर्वथा उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो पदार्थ सत्–विद्यमान है उसका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता यह सिद्धांतसिद्ध बात है। जब भूत और भविष्यत्कालके आदि और अंतमें काल पदार्थ विद्यमान ही नहीं तब उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा—

यदि आकाशको सांत पदार्थ माना जायगा तब जहांतक आकाश है वहांतक तो वह है ही किंतु जहां जाकर उसका अंत होगा उसके बाद किसी ठोस पदार्थकी मौजूदगी माननी होगी। यदि कहा जायगा जहां आकाशका अंत है उसके आगे कोई ठोस पदार्थ नहीं है तब वहां आकाश ही मानना पडेगा इसलिए यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि आकाशका अंत नहीं, वह अनंतस्वरूप ही पदार्थ है। जब यह बात अनेक युक्तियोंसे सिद्ध हो चुकी कि अनंतस्वरूप भी पदार्थका सर्वज्ञके ज्ञानसे प्रत्यक्ष होता है तब अनंत होनेसे उसका परिज्ञान न होगा अथवा यदि परिज्ञान होगा तो वह सांत कहना पडेगा इसतरह जो ऊपर कुतर्क उठाई गई थीं, वे सब मिथ्या हैं।

अमूर्तस्वरूप जीव धर्म अधर्म और आकाशके प्रदेशोंका परिमाण कह दिया गया अब मूर्तस्वरूप पुद्गलोंके प्रदेश जानना आवश्यक है इसलिए सूत्रकार अब पुद्गलके प्रदेशोंका उल्लेख करते हैं—

१—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' पहिले यह पद्यांश लिखा जा चुका है।

टीकाकारकी प्रशस्ति ।

शहर आगराके निकट ग्राम चावली नाम । वैश्योंमें विख्यात तहं श्रीयुत तोताराम ॥ १ ॥
धर्मवंत बुधिवंत अति पद्मावति पुरवाल । परउपकारी वैद्यवर पूजक निज गुणमाल ॥ २ ॥
छहसुत तिनके सभी गण्य मान्य विद्वान । धर्मनिष्ठ विनयी वडे व्यापारी नयवान ॥ ३ ॥
वाल ब्रह्मचारी सुधी रामलालजी नाम । पुत्र रत्न ये जेष्ठ थे जिनसेवक वसु जाम ॥ ४ ॥
तिनके लघु सागार हैं भाई मिट्ठनलाल । सर्वमान्य जिनगौरवी, ग्रामपंच वड भाल ॥ ५ ॥
तृतीय भ्रात पण्डितप्रमुख शास्त्री लालाराम । निपुण न्याय सिद्धान्तमें काव्यकलाके धाम ॥ ६ ॥
उनका ही उपकार यह टीका ग्रंथ अनेक । भावपूर्ण विस्तृत सरल रची स्व-परहितहेत ॥ ७ ॥
आदिपुराण प्रसिद्ध है उत्तर हू जु पुरान । शांतिनाथ जिनराजका शांतिपुराण महान ॥ ८ ॥
पात्रकेशरी स्तोत्र अरु धर्मामृत सागार । धर्म प्रश्नउत्तरसहित, सरल श्रावकाचार ॥ ९ ॥
तत्त्वकोश तत्त्वानुशा-सन हू शास्त्र महान । चरितसार पुनि जिनशतक, सूक्तिमुक्तावलि जान ॥ १० ॥
मणिमाला वैराग्यकी, ग्रन्थ इष्ट उपदेश । क्रियामंजरी, मालिका प्रश्नोत्तर अवशेष ॥ ११ ॥
संशयिवदनविदारिका आदि शास्त्र अभिराम । इन सबकी टीका रची शास्त्री लालाराम ॥ १२ ॥
देखि नास्तिकोंका महा श्रुतका अवर्णवाद । आदिपुराणसमीक्षका रचौ परीक्षावाद ॥ १३ ॥
युक्तिपूर्ण सागम कथन देखि निरुत्तर होय । वैठि रहे चुप होइके मिथ्यावादी लोय ॥ १४ ॥
शास्त्रीजीका ग्रंथ यह पहुंचा चारों ओर । सत्य धर्मकी जय हुई विघटौ मिथ्या शोर ॥ १५ ॥
पंडित नंदनलालजी तिनतैं लघुवर भ्रात । सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥
तिनहू इक चारित्रका ग्रंथ स्वतंत्र वनाइ । जातें निजहित भवि करें तत्त्व यथारथ पाइ ॥ १७ ॥
चौवीसौ जिनराजका पाठ रचौ अनमोल । छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥

ग्रहण है इसलिये अनंत शब्दके उल्लेखसे अनंतानंतका ग्रहण हो जायगा फिर पुद्गलोंको अनंतानंत बतलानेके लिये सूत्रमें अनंतानंत शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं।

अधिकरणविरोधादानन्त्याभाव इति चेन्न सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात् ॥ ३ ॥

बडे पदार्थमें छोटे पदार्थका समावेश हो सकता है, छोटे पदार्थमें बडे पदार्थका नहीं। लोकाकाशको असंख्यात प्रदेशी माना है और पुद्गल स्कंधको अनंतप्रदेशी माना है इसलिये महान पुद्गल स्कन्धका लोकाकाशमें समावेश विरुद्ध होनेसे नहीं हो सकता इसरीतिसे पुद्गलस्कन्धका अनंतपना बाधित है ? सो ठीक नहीं, सूक्ष्मभावसे परिणमन करनेवाले परमाणु आदि पदार्थ एक एक भी आकाशप्रदेशमें अनंतानंत रहते हैं तथा उन अनंतानंत परमाणुओंका एक प्रदेशमें अवगाहन भी आपसमें एक दूसरेको आघात पहुंचानेवाला नहीं, वे निरवाछिन्नरूपसे एक जगह रह सकते हैं इसरीतिसे सूक्ष्मपरिणमन और अव्याहतरूपसे अवगाहनकी सामर्थ्यसे एक एक प्रदेशमें भी अनंतानंत परमाणुओंका रहना विरुद्ध नहीं माना जा सकता इसलिये असंख्यात प्रदेशी भी लोकाकाशमें अनंतानंत पुद्गलस्कन्धोंका रहना अबाधित है। तथा यह भी बात है कि—

अनेकांतात् ॥ ४ ॥ प्रचयविशेषात् संघातविशेषः ॥ ५ ॥

छोटे अधिकरणमें महान् द्रव्य रहती ही नहीं, यह कोई एकांत नहीं किंतु संकुचितरूप और फैले हुए जो चंपक आदि पुष्प उनके गंध आदिके समान पुद्गलोंके प्रचयविशेष अर्थात् विलक्षण संयोगसे समूहविशेष अर्थात् छोटेसे क्षेत्रमें भी बहुतसे पुद्गलोंका रहना दीख पडता है। खुलासा इसप्रकार है—

जबतक चंपाका पुष्प बहुत छोटे परिमाणवाली कलीके रूपमें रहता है उससमय उसे व्यासकर रहने

दीपमालिकाकी रची पूजा और विधान। पढि पूजा करते सदा नर नारी कल्यान ॥ १९ ॥
तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल। तिन सबकी पूजा रची पंडित नन्दनलाल ॥ २० ॥
सम्मेदाचलपर भयो संघ महोत्सव आन। आचार्यशिरोमणि हैं तहां शांतीसागर नाम ॥ २१ ॥
तिनके चरणोंके निकट दशमी प्रतिमापाल। स्वात्मसमुन्नति कर रहे भाई नंदनलाल ॥ २२ ॥
ज्ञानचंद गुणयुक्त है तिनका दीक्षित नाम। सम्यग्ज्ञान प्रकाशते चंद्र तुल्य अभिराम ॥ २३ ॥
तिनतैं छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल। द्वितिय जौंहरी प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २४ ॥
सभी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन। श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरू जिन वैन ॥ २५ ॥
आर्षवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई भ्रात। धर्म दिगम्बर जग बढै यह चिन्ता दिनरात ॥ २६ ॥
राज्य ग्वालियरमें बड़ौ ग्राम मुरेना नाम। गुरु गोपाल करौ तहां विद्यालय सुखधाम ॥ २७ ॥
देश देशके छात्रगण पढैं जैनसिद्धांत। श्रद्धा ज्ञान चरित्र युत करें प्रचार महांत ॥ २८ ॥
राजवार्तिक ग्रंथकी टीका तहां ललाम। करी समाप्त गुरुवार दिन चैत्र सुदी दशमान ॥ २९ ॥
संवत श्रीजिन वीरको पांच पांच [२४५५] चैतुंदोय। पढ़ौ पढ़ावो भव्यजन तत्त्वलाभ बहु होय ॥ ३० ॥
ग्राम जटौआमें बडे लाला चुन्नीलाल। तिनके सुत बहु विज्ञवर पंडित रामप्रसाद ॥ ३१ ॥
तिनतैं लघु पंडित निपुण सुधी गजाधरलाल। न्यायशास्त्र वेत्ता चतुर व्यापारी बडभाल ॥ ३२ ॥
तिनहीने इस ग्रंथके आदि पांच अध्याय। हिंदी टीकामें रचे सबको जो सुखदाय ॥ ३३ ॥
शेष पांच अध्याय जो छट्ठेसे दशमांत। तिन टीका मैंने रची शुद्ध करौ गुणवंत ॥ ३४ ॥
मैं बालक मतिमंद हूं शास्त्ररहस्य–अज्ञान। अति साहस मैंने कियो करि टीका निर्माण ॥ ३५ ॥
भूल चूक जो रह गई सुज्ञानी गुणपाल। पढौ पढावौ शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ ३६ ॥
धर्ममूल इस ग्रंथको पढै सुनै जो कोय। दृढ सम्यक्त्वी संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ ३७ ॥

प्रदेशमात्रत्वात् ॥ १ ॥

जिसप्रकार एक आकाश प्रदेशमें अन्य प्रदेशोंके भेदका अभाव रहनेसे वह अप्रदेशी कहा जाता है उसप्रकार परमाणु भी एक प्रदेशवाला है इसलिए अन्य प्रदेशोंके अभावसे वह भी अप्रदेशी है। तथा—

ततोऽल्पपरिमाणाभावात् ॥ २ ॥

अविभागी पुद्गल परमाणुसे छोटा और कोई भी अन्य पदार्थ नहीं जिसके द्वारा परमाणु के प्रदेशोंका भेद किया जाय इसलिये स्वयं ही आदि और स्वयं ही अंतस्वरूप परिमाणका धारक होनेसे परमाणु अप्रदेशी अर्थात् प्रदेशरहित है। तथा—

अन्वर्थसंज्ञत्वात् ॥ ३ ॥

जो प्रदीपन अर्थात् प्रकाश करे वह प्रदीप कहा जाता है जिसप्रकार यहां 'प्रदीप' यह अन्वर्थ संज्ञा है उसीप्रकार जो अणु अर्थात् सूक्ष्म हो वह अणु कहा जाता है इसप्रकार अणु यह भी अन्वर्थ संज्ञा है। यदि अणुके भी प्रदेश माने जांयगे तो प्रदेशोंका पिंडस्वरूप होनेके कारण वह अणु ही नहीं कहा जा सकता किंतु उसके जो प्रदेश होंगे वे ही अणु कहे जांयगे क्योंकि सबसे छोटे वे ही होंगे इसलिए अणुके प्रदेश नहीं होते यह सिद्धांत सर्वथा सुनिश्चित है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अप्रदेशत्वादभावः खरविषाणवदिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार गधेके सींगका कोई प्रदेश नहीं वह प्रदेशरहित है इसलिये संसारमें उसका अभाव है उसीप्रकार यदि परमाणुको भी प्रदेशरहित अप्रदेशी माना जायगा तो उसका भी अभाव कहा जायगा।

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

(समाप्त)

एक प्रदेशी पदार्थ भी न माना जायगा तो वह वस्तु ही सिद्ध न होगा किंतु प्रदेशरहित होनेसे गधेके सींगके समान वह अवस्तु ठहरेगा। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि जब परमाणु प्रदेशस्वरूप पदार्थ है तब प्रदेशी किसे माना जायगा ? क्योंकि स्पर्श रस आदि गुणोंका आधार वह गुणी परमाणु पदार्थ ही प्रदेशी है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जो पदार्थ प्रदेशस्वरूप हो वही प्रदेशी स्वरूप हो यह बात तो विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं मानी जा सकती इसलिये परमाणुको जो प्रदेशस्वरूप और प्रदेशी स्वरूप माना है वह बाधित है ? सो भी ठीक नहीं। जिससमय पुद्गलकी स्कंध अवस्था होगी उससमय तो स्कंधका अवयव स्वरूप होनेसे परमाणु प्रदेशस्वरूप है क्योंकि विना परमाणुओंके स्कंधकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा जिससमय उस परमाणुको पुद्गल द्रव्य स्वरूप माना जायगा उससमय वह प्रदेशी स्वरूप है क्योंकि पुद्गल द्रव्यस्वरूप माननेपर उसे किसी पदार्थका विभाग मानकर उल्लेख नहीं किया गया और रूप रस गंध आदि गुणोंका आधार होनेसे उसमें प्रदेश प्रदेशी कल्पना ही नहीं हो सकती, कारण द्रव्यके सबसे छोटे अंशको प्रदेश कहा है, प्रत्येक द्रव्यके अंशमें अनन्तगुण रहते हैं वहां गुण गुणी रूप भेद होगा। शंका—

ऊपर एक देशके धारक भी परमाणुको अप्रदेशी कहा गया है यदि उस रूपसे एकप्रदेश विद्यमान रहते भी उसे अप्रदेशी माना जायगा तब दो आदि प्रदेशोंके विद्यमान रहते भी उसे अप्रदेशी कहना चाहिए तथा परमाणु एकप्रदेशी भी है और अप्रदेशी भी है, यह बात आपसमें विरुद्ध भी है। क्योंकि प्रदेशीके विना प्रदेशोंका होना असंभव है और प्रदेशोंके विना प्रदेशीका होना असंभव है इसरूपसे प्रदेश और प्रदेशीका आपसमें अविनाभाव संबंध है इसलिये एक ही परमाणु एकप्रदेशी भी हो और

जायगा तो उसके टुकडे न हो सकेंगे तथा वह जो अंतिम खंड है उसीका नाम परमाणु है। यह परमाणु रूप पदार्थका साधक अनुमान प्रमाण है इस प्रमाणसे परमाणुका अनेक प्रदेशीपना सिद्ध नहीं होता। यदि जबरन इसे अनेकप्रदेशी माना जायगा तो वह परमाणु ही सिद्ध न हो सकेगा। इस धर्मीको ग्रहण करनेवाले अनुमान प्रमाणसे बाधित होनेके कारण द्रव्यत्वहेतु परमाणुमें अनेक प्रदेशपना सिद्ध नहीं कर सकता। तथा परमाणु शब्दका अर्थ ही यह है कि जो सबसे छोटा टुकडा हो अर्थात् उसका फिर टुकडा न हो सके वह परमाणु है इसरूपसे वह एक प्रदेशमात्र ही सिद्ध हो सकता है। तथा केवली भगवानके वह प्रत्यक्ष है अतः परमाणुका अनेक प्रदेशीपना प्रत्यक्ष बाधित होनेसे उसका साधक द्रव्यत्वरूप हेतु कालात्ययापदिष्ट[1] दोषग्रस्त है। तथा—कालको भी द्रव्य माना है परंतु उसे अनेक प्रदेशी नहीं माना किंतु रत्नोंकी राशिके समान प्रत्येक आकाशके प्रदेशके ऊपर एक एक कालाणुका सद्भाव माना है इसलिए द्रव्यत्वरूप हेतुका आधार तो काल बन जाता है परंतु अनेक प्रदेशपनारूप साध्यका वह आधार नहीं इसरीतिसे कालद्रव्यमें हेतुके चले जानेसे और साध्यके न रहनेसे द्रव्यत्वरूप हेतु व्यभिचार दोषग्रस्त भी है इसप्रकार अनेक दोषोंसे दुष्ट होनेके कारण द्रव्यत्वरूप हेतु परमाणुमें अनेकप्रदेशित्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता अतः वह केवल एकप्रदेशी ही है। शंका—

ऊपर कही हुई युक्तियोंसे परमाणुका अनेकप्रदेशीपना जब सिद्ध नहीं हुआ तब उसे एकप्रदेशी ही मानना होगा उस एकप्रदेशी परमाणुका यदि अन्य किसी पदार्थके साथ सर्वांशरूपसे संबंध माना जायगा तो उस पदार्थको भी अणुस्वरूप कहना होगा यदि एकदेशके साथ संबंध होगा तब परमाणु

१—प्रथमाध्यायमें उदाहरणपूर्वक विस्तारसे इसका अर्थ लिख दिया गया है।

जबतक जीवको संसारमें घूमना पडता है तबतक उसे कर्मोंके अनुकूल ही रहना पडता है अर्थात् क्षीर और नीरके समान कर्म और आत्मा एकमएक रहते हैं। पुद्गलीक होनेसे कर्मके अवयव माने हैं। उसके संबंधसे आत्माके भी अवयव माने जा सकते हैं इसलिये व्यवहार नयसे तो संसारी जीवोंके प्रदेशपना है परन्तु शुद्धनिश्चयनयसे आत्माको उपयोग स्वरूप माना है। उपयोगके खंड होने असंभव हैं इसलिये जिससमय शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षा की जायगी उससमय आत्मा अप्रदेशी है। इसरीतिसे जो महानुभाव आत्माको सर्वथा अप्रदेशी मानते हैं अथवा उपचारसे प्रदेशवान् मानते हैं उनका कहना युक्तिबाधित हो चुका क्योंकि उपर्युक्त अनेक युक्तियोंसे आत्मा मुख्य रूपसे ही प्रदेशी है।

धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्याका ज्ञान हो चुका, अब आकाशके कितने प्रदेश हैं सूत्रकार इस विषयका प्रतिपादन करते हैं—

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥

आकाश द्रव्यके प्रदेश अनंत हैं। यह सामान्यरूपसे आकाशके प्रदेशोंका अनंतपना कहा गया है किंतु जिससमय लोकाकाश और अलोकाकाश इसप्रकार आकाशके भेद किये जांयगे उससमय लोकाकाश असंख्येयप्रदेशी होनेके कारण उसके असंख्यात ही प्रदेश हैं।

अनंता इत्यन्यपदार्थनिर्देशः ॥ १ ॥

अनंत यहांपर अंत शब्दका अर्थ अवसान है। जिनका अंत न हो वे अनंत कहे जाते हैं। 'अविद्यमानोऽंतो येषां त इमेऽनंताः' यह यहांपर अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास है और वह अन्यपदार्थ यहांपर प्रदेश लिये गए हैं क्योंकि पासमें ही पहिले सूत्रमें प्रदेश शब्दका उल्लेख किया गया है उसका

यववाले भेद्य नहीं माने जा सकते आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थ हैं इसलिए उपर्युक्त अनुमानसे उनमें भेद्यपना नहीं सिद्ध हो सकता इसलिए यह बात सिद्ध हो चुकी कि टुकडे होते होते जो अंतका अविभागी टुकडा है उसीका नाम परमाणु है और वह केवल एक प्रदेशवाला पदार्थ है।

ऊपर जिन धर्म आदि द्रव्योंके प्रदेशोंका निश्चय कर आए हैं वे धर्म आदि द्रव्य रहते कहां है? ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार उनके आधारका प्रतिपादन करते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

इन समस्त धर्म आदि द्रव्योंका अवगाह अर्थात् स्थिति लोकाकाशमें है। और अलोकाकाशमें सिवाय आकाशके अन्य कोई द्रव्य नहीं है। जहां तक पांच द्रव्य हैं वहीं तकके आकाशका नाम लोकाकाश है।

अनंतरत्वात्पुद्गलानामवगाहप्रसंग इति चेन्न समुदायापेक्षत्वात् ॥ १ ॥

इस सूत्रसे पहिलेके सूत्रोंमें पुद्गल द्रव्यका वर्णन कर आए हैं इसलिए अव्यवहित समीप अर्थात् बिलकुल पास रहनेसे उसीका लोकाकाशमें अवगाह माना जा सकता है, धर्म आदि समस्त द्रव्योंका नहीं? सो ठीक नहीं। धर्म आदि समस्त द्रव्योंकी यहां अपेक्षा है और पुद्गल द्रव्य अव्यवहित पूर्व है इसलिए इस सूत्रमें उसीका ग्रहण होना चाहिये धर्म आदि द्रव्य व्यवहित हैं, इसलिए उनका ग्रहण न होना चाहिये यह यहां विवक्षा नहीं है, इसलिए धर्म आदि समस्त द्रव्योंका ग्रहण होनेसे लोकाकाशमें सब ही द्रव्योंका अवगाहन समझ लेना चाहिये। यदि यहांपर यह तर्क उठाया जाय कि—

वह अनंतस्वरूप पदार्थको स्पष्टरूपसे जान सकता है तथा अतिशयज्ञानके धारक सर्वज्ञके उपदेशसे अन्य लोग भी अनंतस्वरूप पदार्थको अनुमानके द्वारा जान सकते हैं इसलिये सर्वज्ञपनेकी हानि नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह कहा जाय कि परिछिन्नका अर्थ सांत है। जो पदार्थ सर्वज्ञके ज्ञानसे परिछिन्न हो चुका वह सांत ही कहा जायगा अनंत नहीं कहा जा सकता इसलिये आकाशको जो सर्वज्ञके ज्ञानसे परिछिन्न होनेपर भी अनंत माना है वह मिथ्या है? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ अनंत है वह अनंतस्वरूपसे ही सर्वज्ञके ज्ञानमें झलकता है अर्थात् वे अनंतको अनंत स्वरूपसे ही जानते हैं इसलिए अनंत पदार्थ परिछिन्न होनेसे सांत नहीं कहा जा सकता। तथा यह भी बात है कि—

सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ॥ ४ ॥

जैनसिद्धांतकार ही आकाश आदि पदार्थोंको अनंतस्वरूप नहीं मानते और और सिद्धांतकारोंने भी पदार्थ अनंतस्वरूप मान रक्खे हैं। इसलिए पदार्थ अनंते भी सर्वज्ञके ज्ञानद्वारा जाने जाते हैं अर्थात् वे ज्ञानमें सांत होनेपर भी अनंते ही रहते हैं और सर्वज्ञकी सर्वज्ञतामें भी कोई हानि नहीं आती, यह बात सब मतोंमें निर्विवादरूपसे मानी हुई है। जिसतरह कोई कोई अर्थात् चार्वाक लोग मानते हैं कि लोकधातु अर्थात् लोकके कारणस्वरूप पृथिवी जल तेज और वायु ये चार धातु अनंते हैं। नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि दिशा काल आत्मा और आकाश ये सर्वत्र व्यापक हैं इसलिए अनंत हैं। सांख्य सिद्धांतकारोंका कहना है कि प्रकृति और पुरुष दोनों पदार्थ सर्वत्र व्यापक हैं इसलिए वे अनंत हैं। इसतरह यदि अनंतस्वरूप पदार्थके माननेपर आक्षेप किया जायगा तो जैनसिद्धांतपर ही नहीं किया जा सकता अन्य सिद्धांत भी उस आक्षेपके स्थान होंगे। यहांपर यह बात अच्छीतरह समझ लेना

यहांपर अनवस्था दोष टल न सकेगा । इसलिये आकाशका अन्य आधार न मानकर वही अपना आप आधार और आधेय है यही मानना उचित है । तथा—

जो पदार्थ जिससमय जिस रूपसे विद्यमान हो उसे उसी रूपसे जानना एवंभूत नयका विषय है। इस एवंभूतनयकी अपेक्षा वास्तविक दृष्टिसे समस्त द्रव्य अपने आपमें प्रतिष्ठित हैं अर्थात् समस्त द्रव्य स्वयं ही तो आधार हैं और स्वयं ही आधेय हैं इसलिये वास्तविक दृष्टिसे आधाराधेयभाव न होनेसे आकाशके आधारका प्रश्न उठाना ही निर्मूल है । वार्तिककार यहां पर अनवस्था शब्दका खुलासा करते हैं—

अन्योन्याधारताव्याघात इति चेन्न व्यवहारतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ क्रियाविष्टकर्तृकर्माधारवत् ॥ ७ ॥

वास्तविकदृष्टिसे यदि सब द्रव्योंको स्वात्मप्रतिष्ठ अर्थात् स्वयं ही आधार और स्वयं ही आधेय स्वरूप माना जायगा, किसीका कोई अन्य आधार न माना जायगा तो वायुका आधार आकाश है। जलका आधार वायु है। पृथिवीका आधार जल है। समस्त जीवोंका आधार पृथिवी है। समस्त अजीव पदार्थोंके आधार जीव हैं और समस्त जीवपदार्थोंके आधार अजीव हैं। कर्मोंके आधार जीव हैं। जीवोंके आधार कर्म हैं। तथा धर्म अधर्म और कालका आधार आकाश है इसप्रकार जो आपसमें आधार और आधेयभाव कहा गया है उसका व्याघात होगा ? सो ठीक नहीं। यह जो ऊपर आधार और आधेयभाव बतलाया है वह व्यवहार नयकी अपेक्षा है। वायु आदि पदार्थोंका अवगाहन आकाश में है यह जो व्यवहारनयसे माना गया है वहांपर यदि आकाशके भी किसी अन्य आधारकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष न टल सकेगा इसलिये व्यवहार नयकी अपेक्षा माने गए आधार और

संसारमें आते हैं इसरूपसे संसारका कभी भी नाश नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं । यदि मोक्षमें गए हुए जीवोंका लौटना माना जायगा तब फिर उनकी मोक्ष अवस्था ही न बन सकेगी क्योंकि सभी सिद्धांतकारोंने आत्यंतिक अवस्थाका नाम मोक्ष माना है। आत्यंतिक अवस्थाका अर्थ यह है कि उसके बाद फिर जीवकी कोई सांसारिक अवस्था नहीं होती यदि मोक्षके बाद फिर संसारमें आना पडा तो मोक्ष–आत्यंतिक अवस्था नहीं ठहर सकती इसलिए मोक्ष जाकर फिर लौट आना माननेपर जीवोंकी मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकती।

तथा एक एक जीवमें कर्म नोकर्म आदि स्वरूपसे अनंते पुदुगलोंकी स्थिति मानी है यदि इन पुदुगलोंको सांत माना जायगा तो उनका जो कर्मस्वरूप वा नोकर्मस्वरूप भेद है वह न बन सकेगा क्योंकि कर्म नोकर्मस्वरूप परिणत होते होते उनका अंत ही हो जायगा अर्थात् जितने परमाणु हैं सभी कर्म नोकर्म बनकर समाप्त हो जांयगे। और कर्म और नोकर्मका नाम ही संसार है। यदि कर्म नोकर्म-रूप पदार्थोंकी सिद्धि न होगी तो संसारका ही अभाव हो जायगा । संसारकी विद्यमानतामें मोक्षकी सत्ता मानी है, जब संसारका ही अभाव हो जायगा तब मोक्ष पदार्थकी भी सिद्धि न हो सकेगी।

तथा जब सब ही ज्ञेय पदार्थ अंतवान–सांत हैं तब अतीतकाल और भविष्यत्कालका भी अंत मानना होगा इसतरह अतीतकालके और भविष्यत्कालके पहिले और पीछे कालका व्यवहार भी न हो सकेगा क्योंकि जब उनका अंत है तब उनकी आदि भी अवश्य माननी पडेगी इसलिए जहांसे

१—प्राचीन भाषाकार श्रीमान पण्डित पन्नालालजी दुनीवालोंने यहां जो अर्थ किया है वह मेरी बुद्धिमें ठीक नहीं जचता। —अनुवादक.

किंतु जिससमय एवंभूतनयकी विवक्षा है उससमय क्रिया अपने क्रियास्वरूपमें ही रहती है इसलिये अपना वह स्वयं आधार है तथा वास्तविक दृष्टिसे द्रव्य भी अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित रहती है इसलिये वह भी अपना स्वयं आधार है। उसीप्रकार धर्म द्रव्य अधर्मद्रव्य आदि द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है यह बात व्यवहारनयकी अपेक्षा कही गई है, निश्चयनयसे तो समस्त द्रव्योंका स्वस्वरूप ही आधार है कोई भिन्न आधार नहीं इसलिये वास्तवमें धर्म आदि द्रव्योंके आधार धर्म आदि स्वयं हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

आकाशधर्मादीनामाधाराधेयत्वात्कुंडवदरवत्प्रसंग इति चेन्नाऽयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् शरीरे हस्तवत् ॥ ८ ॥

आधार और आधेयपना उसी स्थानपर माना जाता है जहांपर आधार पहिलेसे हो और आधेय पीछेसे हो जिसतरह 'कुंडे वदराणि' अर्थात् कुंडमें वेर हैं, यहांपर कुंड आधाररूप होनेसे वेरोंकी अपेक्षा उसका होना पहिले है और वेर आधेयरूप होनेसे कुंडकी अपेक्षा उनका होना पीछे है तथा इन दोनोंमें युतसिद्धि भी है, कुंड पदार्थ भिन्न है और वेर पदार्थ भिन्न है इसीप्रकार यदि आकाश और धर्म आदि द्रव्योंका आधाराधेयपना माना जायगा तो आधारस्वरूप होनेसे आकाशका धर्म आदिकी अपेक्षा पहिले होना माना जायगा और धर्म आदिका पीछे होना स्वीकार करना होगा तथा जिसतरह कुंड और वेर दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् रूपसे सिद्ध हैं इसलिये उनका आधाराधेयपना है उसीप्रकार आकाश और धर्म आदिको भी पृथक् पृथक् मानना होगा फिर उन्हें जो अनादि और अपृथक् सिद्ध मान रक्खा है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यदि युतसिद्ध अर्थात् पृथक् पृथक् सिद्ध पाहिले एवं पीछे होनेवाले पदार्थोंमें ही आधाराधेयभावका नियम हो तब तो आकाश और धर्म आदि द्रव्योंका आधाराधेय

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानां ॥ १० ॥

पुद्गलोंके संख्याते, असंख्याते और अनंते प्रदेश हैं अर्थात् पुद्गलोंके स्कंध आदि बहुतसे भेद हैं उनमें कोई कोई पुद्गल संख्येय प्रदेशवाले हैं. कोई कोई असंख्येय प्रदेशवाले हैं और कोई अनंते प्रदेशवाले हैं।

चशब्दोऽनंतसमुच्चयार्थः ॥ १ ॥

सूत्रमें अनंत शब्दका उल्लेख नहीं किया गया है परंतु पुद्गलोंको अनंत प्रदेशस्वरूप भी माना है इसलिए 'पुद्गल अनंत प्रदेशस्वरूप हैं' यह बात बतलानेकेलिये सूत्रमें 'च' शब्दका उल्लेख किया गया है तथा यहांपर ऊपरसे प्रदेश शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिए पुद्गलोंके प्रदेश संख्याते, असंख्याते और अनंत हैं ऐसा यहां अर्थ समझ लेना चाहिये। द्वयणुक आदि स्कंधोंमें कोई कोई संख्यात प्रदेशवाले हैं, कोई कोई असंख्यात प्रदेशवाले हैं और कोई कोई अनंत प्रदेशवाले हैं यह यहां स्पष्ट तात्पर्य है।

अनंतानंतोपसंख्यानमिति चेन्नानंतसामान्यात् ॥ २ ॥

पुद्गलोंके अनंतानंत प्रदेश भी माने गये हैं इसलिये सूत्रमें जिसप्रकार संख्येय असंख्येय और च शब्द द्वारा अनंत पदका उल्लेख किया गया है उसीप्रकार अनंतानंतपदका भी उल्लेख करना चाहिए सो ठीक नहीं। अनंतस्वरूप प्रमाणके तीन भेद माने गये हैं। परीतानंत, युक्तानंत और अनंतानंत। सूत्रमें सामान्यरूपसे अनंत शब्दका ग्रहण किया गया है। अनंत सामान्यमें इन तीनोंप्रकारके अनंतोंका

पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध न हों उनमें आधाराधेयभाव न हो क्योंकि जिसप्रकार कुंड और वेर दोनों पृथक् पृथक् सिद्ध पदार्थोंका आधाराधेयभाव है उसीप्रकार स्तंभ और सार ये दोनों पदार्थ अपृथक् सिद्ध हैं अर्थात दोनों जुदे जुदे नहीं क्योंकि सार पदार्थ गुणस्वरूप है गुण; गुणीसे कभी जुदा हो नहीं सकता इसलिए वह स्तंभसे जुदा नहीं हो सकता तो भी उन दोनोंका आधाराधेयपना माना है और स्तंभमें सार यह संसारमें व्यवहार होता है इसलिए जब यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो चुकी कि जिन पदार्थोंकी आपसमें जुदाई नहीं उनका भी आपसमें आधाराधेय संबंध निर्बाध है तब आकाश और धर्म आदिका आपसमें जुदापन न रहनेपर भी आपसमें उनका आधाराधेय संबंध कभी अयुक्त नहीं माना जा सकता।

धर्म अधर्म आदि द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है यह कहा गया है वहांपर लोक पदार्थ क्या है यह अभी अच्छीतरह निर्णीत नहीं हुआ इसलिए वार्तिककार लोक शब्दका निरुक्तिपूर्वक तात्पर्य प्रतिपादन करते हैं—

यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः ॥ १० ॥ लोकतीति वा लोकः ॥ ११ ॥

पुण्यकर्मका फल सुख माना है और पापकर्मका फल दुःख माना है। जहांपर पुण्य और पापके फलस्वरूप सुख और दुःख दीख पडें उसीका नाम लोक है। पुण्य और पापके फलस्वरूप सुख और

१— जिनका तादात्म्य सम्बन्ध है उनमें पृथक् सिद्ध नहीं होने पर भी अनादि सिद्ध आधाराधेयभाव होता है जैसे दुग्धमें सफेदी, और जिनका संयोग संबन्ध है उनमे कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो पृथक् सिद्ध होकर पीछे आधाराधेयभाव धारण करते हैं जैसे कुंडदधि, कुछ ऐसे हैं जो अनादिसे संयुक्त रहते हुये भी आधाराधेयभाव धारण करते हैं जैसे स्वर्णपाषाण आदि।

वाले बहुतसे चंपापुष्पके गंधके अवयव सूक्ष्मप्रचयस्वरूप परिणमनके धारक संकुचितस्वरूप दीख पडते हैं किंतु वही चंपाका पुष्प जब स्थूलप्रचयस्वरूप परिणमनके कारण फूल जाता है उससमय उससे निकल कर चंपा पुष्पके गंधके अवयव समस्त दिशामें व्याप्त हो जाते हैं तथा वेलफल वा आत्रा कंडा (शुष्क गोमय) अथवा लकडीका टुकडा इनमें स्थूलप्रचयस्वरूपसे रहनेवाले पुद्‌गल जिससमय अग्निसे जलाए जाते हैं उससमय वे धुएंके गुब्बारे रूपमें निकलकर समस्त दिशाओंके मंडलको व्याप्त करनेवाले दीख पडते हैं इसरीतिसे जिसप्रकार यहां छोटेसे भी क्षेत्रमें बडेसे द्रव्यका रहना भी दीख पडता है उसीप्रकार असंख्यात प्रदेशी भी लोकाकाशमें अनंतानंत भी जीव और पुद्‌गल रह सकते हैं इसरीतिसे छोटेसे भी क्षेत्रमें जब महान द्रव्यका रहना युक्तिसिद्ध है तब छोटेसे भी असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशमें महान द्रव्यस्वरूप जीव और पुद्‌गलोंका रहना विरुद्ध नहीं।

'संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानां' यहां पर सामान्यरूपसे पुद्‌गलका उल्लेख किया गया है इसलिए परमाणुरूप पुद्‌गलमें भी प्रदेशोंके संबंधका प्रसंग प्राप्त होता है अतः उसके निषेधार्थ सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

नाणोः ॥ ११ ॥

अणु अर्थात् पुद्‌लके परमाणुके प्रदेश नहीं हैं अर्थात् परमाणुके एक प्रदेशमात्रपना कहा है।

'अणोः प्रदेशा न संतीति' अर्थात् परमाणुके प्रदेश नहीं हैं यह वाक्य यहांपर ऊपरसे जोड लेना चाहिये। परमाणुके प्रदेश क्यों नहीं? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

किया गया है इसरीतिसे जब धर्म अधर्म आदि सब ही द्रव्य लोक सिद्ध होते हैं—उनको लोक मानना बाधित नहीं, तब आत्मा ही लोक है धर्म आदि लोक नहीं, यह शंका निर्मूल है। अथवा—

लोक्यत इति वा लोकः ॥ १३ ॥

अनंत—जिसका अंत न हो और अप्रातिहत—किसीके द्वारा जिसकी रुकावट न हो ऐसे केवलदर्शनके धारक भगवान सर्वज्ञके द्वारा जिसका देखना हो वह लोक है। लोक शब्दकी यह व्युत्पत्ति माननेपर धर्म आदि सबोंको लोकपना सिद्ध हो जाता है इसलिए धर्म आदिके लोकपनेका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह तर्क उठाया जाय कि—

आत्मनोऽलोकत्वप्रसंग इति चेन्न स्वात्मलोकनात् ॥ १४ ॥

जो आत्माके द्वारा देखा जाय उसका नाम लोक है यदि यह लोक शब्दका अर्थ माना जायगा तो धर्म आदिक तो लोक कहे जा सकेंगे परंतु जो आत्मा देखनेवाला है वह लोक न कहा जायगा क्योंकि वह लोक्य अर्थात् किसीके द्वारा देखा नहीं जाता इसलिए आत्माको लोक न माने जानेपर विरोध होगा? सो ठीक नहीं। जो सर्वज्ञ अपने सर्वदर्शन गुणके द्वारा बाह्य पदार्थोंको देखता है वह अपनी आत्माको भी देखता है यदि वह अपने आत्माको न देखेगा तो उसका सर्वदर्शीपना ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो सबको देखनेवाला हो वह सर्वदर्शी कहा जाता है यदि वह अपनी आत्माको न देख सकेगा तो सब पदार्थोंको न देखनेके कारण वह सर्वदर्शी नहीं कहा जा सकता तथा यह भी नियम है कि जो अपनेको नहीं देख सकता वह अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंको भी नहीं देख सकता जिसतरह घट अपनेको नहीं देखता इसलिए वह बाह्य पदार्थोंको देखनेमें भी असमर्थ है उसीप्रकार यदि सर्वदर्शी अपनी

सो ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि अणुके केवल एक ही प्रदेश है इसलिये वह गधेके सींगके स मान सर्वथा प्रदेशरहित—अप्रदेशी नहीं हो सकता और न उसका अभाव ही हो सक्ता। कदाचित् फिर यह शंका उठाई जाय कि—

आदिमध्यांतव्यपदेशाभावादिति चेन्न विज्ञानवत् ॥ ५ ॥

परमाणुका आदि, मध्य और अंत व्यवहार है कि नहीं ? यदि कहा जायगा—है, तब प्रदेशपना उसके सिद्ध होगया क्योंकि यह समस्तलोकमें मान्य बात है कि जिसका आदि, मध्य और अन्त है उसके नियमसे प्रदेश हैं। यदि कहा जायगा—आदि, मध्य और अंत परमाणुके नाम नहीं हैं तब जिस-प्रकार गधेके सींगमें आदि, मध्य और अंतका विभाग न होनेके कारण उसका अभाव है उसीप्रकार आदि, मध्य और अंतका विभाग न होनेके कारण परमाणुका भी अभाव कहना होगा ? सो भी ठीक नहीं। जिसप्रकार विज्ञानमें आदि, मध्य और अंतका विभाग न रहनेपर भी उसका अभाव नहीं माना जाता क्योंकि शंकाकार उसे बहुत सूक्ष्म पदार्थ मानता है उसीप्रकार परमाणु भी अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ है इसलिये आदि मध्य और अंतका विभाग न रहनेपर उसका भी अभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि परमाणु एक प्रदेशवाला है। उसमें आदि मध्य और अन्तका विभाग नहीं और उसके अन्य प्रदेश नहीं। परमाणु पदार्थकी सिद्धि आगे विस्तारसे की जायगी।

विशेष—उपर्युक्त लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि परमाणु एक प्रदेशी पदार्थ है। यदि उसे

१—श्लोकवार्तिक पृष्ठसंख्या ४०६ के अनुसार लिखित।

'यत्' शब्दका सर्वज्ञ और लोक दोनोंके साथ विशेषण रूपसे संबंध है। ऐसा अर्थ करनेसे अलोकको लोक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अलोकमें रहकर सर्वज्ञ अलोकको नहीं देखता इसलिये शब्दकी व्युत्पत्तिसे अलोकको भी लोक कहना पडेगा यह शंका निर्मूल है।

तस्याकाशं लोकाकाशं जलाशयवत् ॥ १७ ॥

जिस तरह जलका आशय अर्थात् स्थान जलाशय कहलाता है उसीप्रकार लोकका आकाश अर्थात् रहनेका स्थान लोकाकाश कहा जाता है इसप्रकार 'लोकस्य आकाशं लोकाकाशं' यह स्थानकी अपेक्षा संबंध अर्थमें षष्ठी विभक्तिका निर्देश है। धर्म अधर्म पुद्गल काल और जीव जहांपर दीख पडें उसका नाम लोक है यहांपर लोचनार्थक लोकृ धातुसे अधिकरण अर्थमें घञ् प्रत्यय कर लोक शब्द सिद्ध किया गया है। तथा वह धर्म आदि द्रव्योंका अधिकरण आकाश माना है।

'लोक एवाकाशं लोकाकाशं' यह यहांपर 'विशेषणं विशेष्येणेति' इस व्याकरणके सूत्रके द्वारा समानाधिकरण स्वरूप कर्मधारय समास है। इस आकाशके अंदर धर्म अधर्म आदि द्रव्योंकी विद्यमानता है इसलिए परप्रत्यय अर्थात् धर्म अधर्म आदि परपदार्थोंके निमित्तसे आकाशके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो विभाग हो गये हैं। अर्थात् जहांपर धर्म अधर्म आदि द्रव्योंकी विद्यमानता है वह लोकाकाश और जहांपर उनकी विद्यमानता नहीं केवल आकाशकी ही सत्ता है वह अलोकाकाश है।

१—खुलासा तात्पर्य यह है कि यदि धर्मास्तिकायको न माना जायगा तो जीव पुद्गलोंके गमनमें कोई भी सहकारी कारण न होनेसे गमनका अभाव होगा और यदि अधर्मास्तिकायको न माना जायगा तो स्थितिका कोई कारण न होनेसे स्थितिका अभाव हो जायगा गति स्थितिके अभावमें लोक और अलोकका विभाग न सिद्ध होगा।

अप्रदेशी भी हो यह बात नहीं हो सकती। तथा इसीप्रकार एकही परमाणु प्रदेशस्वरूप और प्रदेशी स्वरूप भी नहीं हो सकता। इन सब बातोंका समाधान ग्रंथकार देते हैं कि—यह बात नहीं। क्योंकि परमाणुका गुण कर्म आदि स्वरूप मानना जिसप्रकार बाधित है उसीप्रकार यदि उसे एक प्रदेशस्वरूप वा अप्रदेशस्वरूप अथवा प्रदेशीस्वरूप न माना जायगा तो उसका द्रव्यपदार्थस्वरूप होना भी बाधित होगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि परमाणु द्रव्यस्वरूप है ही नहीं ? सो ठीक नहीं क्योंकि जितने गुणवान पदार्थ देखे गए हैं वे सब द्रव्य माने गये हैं। परमाणु भी गुणवाला पदार्थ है इसलिये स्कंधके समान उसका द्रव्य होना निरापद है। तथा जो पदार्थ अप्रदेशी है वह प्रदेशी भी वहींपर देखनेमें नहीं आता इसलिए परमाणु कभी प्रदेशी नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर यह तर्क उठाया जाय कि अप्रदेशी भी आकाश आदि पदार्थ प्रदेशी कहे जाते हैं इसलिए परमाणुको प्रदेशी कहदेना चाहिए। सो ठीक नहीं। आकाश आदिके अनन्त आदि प्रदेशोंकी सिद्धि की जा चुकी है इसलिए वे प्रदेशी ही हैं अप्रदेशी नहीं। शंका—

'अनेकप्रदेशः परमाणुर्द्रव्यत्वाद् घटाकाशादिवत्' अर्थात् जिसतरह घट और आकाश आदि पदार्थ द्रव्य होनेसे अनेकप्रदेशी हैं उसीप्रकार परमाणु भी द्रव्य है इसलिए वह भी अनेकप्रदेशी है। इस अनुमानसे जब परमाणु अनेकप्रदेशी सिद्ध है तब उसे जो केवल एक प्रदेशवाला वा अप्रदेशी माना है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यहांपर जो परमाणुरूप पक्ष है वह धर्मी अर्थात् साध्यविशिष्ट पक्षको ग्रहण करनेवाले अनुमान प्रमाणसे बाधित है जिसतरह—'घटादिर्भिद्यमानपर्यंतो भेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः' अर्थात् घट आदि पदार्थ अपने अंतिम अवयव तक खंड खंड होता चला जाता है यदि ऐसा न माना

जहांपर अधर्मद्रव्यके प्रदेश हों वहांपर धर्मद्रव्यके प्रदेश न होने चाहिये ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अमूर्तित्वात्त्रयाणां परस्परप्रदेशाविरोधः ॥ २ ॥

धर्म और अधर्म दोनों द्रव्य अमूर्तिक हैं, स्पर्श रस आदिसे रहित हैं इसलिए इनसे एकके प्रदेशोंसे दूसरेके प्रदेशोंमें रुकावट नहीं आ सकती किंतु जो मूर्तिक अर्थात् स्पर्श रस आदि विशिष्ट होते हैं उन्हींमें एकके द्वारा दूसरेके प्रदेशोंमें रुकावटका होना संभव है इसलिए धर्मद्रव्यके प्रदेशोंद्वारा अधर्मद्रव्यके प्रदेश नहीं रोके जा सकते और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोंद्वारा धर्मद्रव्यके प्रदेश नहीं रोके जा सकते । लोकमें तो यहांतक दीख पडता है कि मूर्तिमान भी जल भस्म और बालू आदि एक जगह अविरुद्धरूपसे दीख पडते हैं अर्थात् मुँहतक घडा जलसे भर दिया जाय और उसमें भस्म या बालू डाली जाय तो जबतक भस्म या बालूसे घडा न भर जायगा तबतक बराबर जल उसको अवगाहनदान देता रहेगा, जलके प्रदेश भस्म या बालूके प्रदेशोंको न रोकेंगे इसलिए जब मूर्तिमान भी जल आदिमें आपसमें एकके द्वारा दूसरेके प्रदेशोंकी रुकावट नहीं होती तब धर्म अधर्म और आकाश तो अमूर्तिक पदार्थ हैं उनमें तो एकके द्वारा दूसरेका प्रतिघात किया ही नहीं जा सकता इसलिए यह बात सिद्ध हो चुकी कि अमूर्तिक धर्म अधर्म और आकाशमें आपसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं । एकके द्वारा दूसरेके प्रदेशोंमें किसी प्रकारसे रुकावट नहीं उपस्थित की जा सकती । तथा यह भी बात है कि—

अनादिसंबंधपरिणामाच्च ॥ ३ ॥

जिनका भेद और संघातरूप परिणमन होता है अर्थात् जो खंड खंड होकर फिर मिल जाते हैं

पदार्थ ही सिद्ध हो जायगा। यदि उस परमाणुको सावयव पदार्थ माना जायगा तो अनवस्था दोष ही होगा क्योंकि उसके विभागोंको भी सावयव माना जायगा फिर उसके जो विभाग होंगे उनको भी सावयव माना जायगा इसरीतिसे विभागोंकी कहीं भी विश्रांति न होनेपर अनवस्था दोष न टल सकेगा इसलिए पदार्थके टुकडे होते होते अंतमें रूपाणुमात्र रह जाता है। उसके आठ प्रदेश रहते हैं और कभी भी वह किसीसे भेदा नहीं जाता इसलिए स्वयं अभेद्य रहता है परंतु अप्रदेशी कोई परमाणु पदार्थ नहीं है किंतु उसकी बुद्धिसे कल्पना होनेसे वह काल्पनिक है ऐसी किसी सिद्धांतकार अर्थात् बौद्धने आठ प्रदेशस्वरूप रूपाणुवादकी कल्पना कर रक्खी है परंतु यह रूपाणु अवयवोंका समूहरूप होनेसे स्कंधस्वरूप ही है इसलिए प्रदेश किंवा परमाणुस्वरूप स्कंधके कहनेसे रूपाणुको परमाणु माननेका निराकरण हो जाता है। तथा यदि रूपाणुको एकप्रदेशी माना जायगा तब तो उसका भेद नहीं हो सकता किंतु उसको आठ प्रदेशवाला माना जायगा तो उसके अवश्य भेद मानने होंगे क्योंकि 'भेद्यो रूपाणुः मूर्तत्वे सत्यनेकावयवत्वात् घटवत्' अर्थात् जिसप्रकार घट पदार्थ मूर्तिक और अनेक अवयववाला है इसलिए वह भेद्य है अर्थात् उसके उत्तरोत्तर टुकडे होते चले जाते हैं उसीप्रकार वादी रूपाणुको भी मूर्तिमान और अनेक अवयवस्वरूप मानता है इसलिए वह भी भेद्य कहा जायगा अतः जो ऊपर रूपाणुको अभेद्य माना है वह अयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब अनेक अवयववाले सभी पदार्थ भेद्य माने जांयगे तब अनेक अवयववाले तो आकाश आदि भी पदार्थ हैं उनके भी टुकडे मानने होंगे सो ठीक नहीं। जो मूर्तिमान अनेक अवयववाले होंगे वे ही भेद्य माने जा सकते हैं किंतु अमूर्तिक अनेक अव-

१—वादी रूपाणु पदार्थको ही परमाणु मानता है।

स्थितिरूप परिणामोंके धारक हैं उनकी गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्योंको एक साथ उपकारी माना है यदि उन्हें समस्त लोकमें व्यापक न मानकर आकाशके किसी एक प्रदेशमें उनकी स्थिति मानी जायगी तो वे सब जगह रहनेवाले समस्त पदार्थोंकी गति और स्थितिमें उपकार नहीं कर सकते क्योंकि यह नियम है कि जिस क्षेत्रमें उपकारी पदार्थ रहेगा वह वहींके पदार्थोंका उपकार कर सकता है किंतु अन्य क्षेत्रमें रहकर अन्य क्षेत्रवर्ती पदार्थोंका साक्षात् उपकार नहीं कर सकता तथा यह भी बात है कि यदि लोकाकाशके एकदेशमें रहकर ही धर्म अधर्मद्रव्य सब जगहके पदार्थोंकी गति और स्थितिमें कारण मान लिये जांयगे तब फिर जीव पुद्गलोंकी गति और स्थिति अलोकाकाशमें भी होनी चाहिये क्योंकि आकाशके एकदेशमें रहनेवाले धर्म और अधर्म द्रव्य जिसप्रकार समस्त लोकाकाशके पदार्थोंकी गति और स्थितिमें उपकार करते हैं उसीप्रकार वे अलोकाकाशमें भी उपकार कर सकते हैं इसलिए जीव पुद्गलोंकी अलोकाकाशमें भी गति और स्थिति माननी होगी इस रीतिसे यही बात युक्त है कि जो लोकाकाशमें चलने फिरनेवाले और ठहरनेवाले समस्त पदार्थोंकी गति स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्यको उपकारी मानना चाहता है उसे अवश्य उन दोनों द्रव्योंका समस्त लोकाकाशमें अवगाह स्वीकार करना चाहिये अन्यथा उपर्युक्त दोषोंके रहते लोकाकाशके समस्त पदार्थोंकी गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्य उपकारी नहीं हो सकते ॥ १३ ॥ (पृष्ठसंख्या ५०८)

इसप्रकार धर्म और अधर्मके अवगाहनकी व्यवस्था कह दी गई अब उससे विपरीत मूर्तिमान् अप्रदेशी संख्यातप्रदेशी असंख्यातप्रदेशी और अनंतप्रदेशी पुद्गलोंके अवगाहनकी विशेषताका सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

आकाशस्याप्यन्याधारकल्पनेति चेन्न स्वप्रतिष्ठत्वात् ॥ २ ॥ ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यांतराधाराभावात् ॥ ३ ॥

धर्म अधर्म आदि द्रव्य विना किसी आधारके नहीं रह सकतीं इसलिए जिसप्रकार उनका आधार लोकाकाश माना गया है उसीप्रकार आकाश द्रव्य भी विना आधारके नहीं रह सकती इसलिए उसका भी कोई अन्य आधार मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। आकाशको स्वप्रतिष्ठ पदार्थ माना है 'स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठः' अर्थात् जो अपने हीमें प्रतिष्ठित हो वह स्वप्रतिष्ठ कहा जाता है। स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आकाश पदार्थ स्वयं ही आधेय है और स्वयं ही आधार है उसके लिये अन्य आधारकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं। इसका कारण यह कि—

यदि आकाशसे अधिक लंबा चौडा कोई अन्य पदार्थ हो तब तो उसे आकाशका आधार माना जा सकता है परंतु आकाशसे बडा तो कोई पदार्थ है नहीं जिसे आकाशका आधार माना जाय इसलिये सब ओर अंतरहित और आकाशसे बडा जब दूसरा कोई भी आधार सिद्ध नहीं है तब आकाश स्वप्रतिष्ठ अर्थात् स्वयं ही आधार और स्वयं ही आधेय है यह निश्चित है।

तथा चानवस्थानिवृत्तिः ॥ ४ ॥ परमार्थतयात्मवृत्तित्वात् ॥ ५ ॥

जब आकाशको स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपना आप ही आधार और आधेय माना है दूसरे किसी भी द्रव्यको उसका आधार नहीं माना तब यहांपर अनवस्था दोषको अवकाश नहीं मिलता यदि आकाशको स्वप्रतिष्ठ न माना जायगा तो उसका कोई आधार मानना पडेगा। उसे भी यदि स्वप्रतिष्ठ न माना जायगा तो उसका भी कोई आधार मानना पडेगा। यदि उसे भी स्वप्रतिष्ठ न माना जायगा तो उसका भी दूसरा आधार मानना पडेगा इसरीतिसे आधारोंकी कल्पनाकी कहीं भी विश्रांति न होनेके कारण

ब्राह्मणोंका ग्रहण है उसीप्रकार 'एकप्रदेशादिषु' यहांपर भी उपलक्ष्य उपलक्षण भाव है क्योंकि बहुव्रीहि समासांत एक प्रदेशादि शब्द अन्य पदार्थका ग्राहक है इसलिये यहांपर भी समानजातीय पदार्थका ही ग्रहण हो सकता है विजातीय पदार्थका नहीं। प्रदेशका समान जातीय पदार्थ प्रदेश ही है इसलिये यहां पर अन्य पदार्थ प्रदेश ही ग्रहण किया जा सकता है अन्य नहीं। इसरीतिसे 'एक प्रदेशको आदि लेकर जितने प्रदेश हैं उनमें' यही 'एकप्रदेशादिषु' शब्दका अर्थ ठीक है। अथवा ऊपरसे प्रदेश शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये भी 'एकप्रदेशको आदि लेकर जितने प्रदेश हैं उनमें' यही 'एकप्रदेशादिषु' शब्दका अर्थ न्याय्य है।

'एकप्रदेशादिषु' यहांपर जो समास माना गया है उसका अर्थ समुदाय है इसलिये 'एकप्रदेशादिषु' यहांपर यद्यपि एकप्रदेश शब्द उपलक्षणस्वरूप है तो भी उसका ग्रहण है। यदि समासका अर्थ यहांपर समुदाय न माना जाता तो यहांपर अन्य पदार्थकी प्रधानता रहनेसे एकप्रदेशसे भिन्न ही प्रदेशोंमें पुद्गल द्रव्यका अवगाहन सिद्ध होता, गौण होनेसे एकप्रदेशमें अवगाहन न सिद्ध होता। खुलासा तात्पर्य यह है—

बहुव्रीहि समास तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि और अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिके भेदसे दो प्रकारका माना गया है। जहांपर विशेषणविशिष्ट पदार्थका ग्रहण हो वह तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि है जिसतरह 'लंबकर्णमानय' अर्थात् जिसके लंबे कान हों उस पुरुषको ले आओ, यहांपर लंबे कान सहित पुरुषके आनेसे विशेषणविशिष्ट पदार्थका ग्रहण है तथा जहांपर विशेषणयुक्त पदार्थका ग्रहण न हो वह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है जिसतरह 'सागरदृष्टमानय' अर्थात् जिस पुरुषने सागरको देख लिया है उसे

१—स्वस्य स्वसदृशस्य च ग्राहकमुपलक्षणं। यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां। इसका वर्णन विस्तारसे ऊपर किया जा चुका है।

आधेयके रहनेपर भी अनवस्था दोषकी निवृत्तिके लिये आकाशका अन्य कोई आधार कल्पना न कर उसे स्वप्रतिष्ठ ही मानना चाहिए। यदि यहांपर निश्चयनयकी विवक्षा की जायगी तो जिसप्रकार आकाश स्वप्रतिष्ठ है उसीप्रकार वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ हैं क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे आकाशके समान वायु आदि पदार्थोंका भी कोई अन्य पदार्थ आधार नहीं। तथा वह वास्तविक दृष्टिसे वायु आदिका स्वप्रतिष्ठपना क्रियायुक्त कर्ता कर्मके आधारके समान समझ लेना चाहिए। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

क्रिया दोप्रकारकी मानी है—एक कर्तामें रहनेवाली और दूसरी कर्ममें रहनेवाली। वहां आस्ते अर्थात् बैठा है और गच्छति अर्थात् जाता है ये दोनों क्रिया कर्तामें रहनेवाली हैं अर्थात् 'अत्र देवदत्त आस्ते' इस आसनपर देवदत्त बैठा है यहांपर बैठनारूप क्रियाका आधार देवदत्त कर्ता है। 'देवदत्तो गच्छति' यहांपर गमन करनारूप क्रियाका आधार भी देवदत्त कर्ता है तथा 'ओदनं पचति' देवदत्त चावल पकाता है एवं 'कुशूलं भिनत्ति' देवदत्त कुशूल (कुठिया) को तोडता है यहांपर पकनारूप क्रियाका चावल रूप कर्म आधार है और तोडनारूप क्रियाका कुशूलरूप कर्म आधार है इसलिये यहांपर पकना और तोडनारूप क्रियायें कर्ममें रहनेवाली हैं। तथा इन क्रियाओंसे विशिष्ट देवदत्त आदि कर्ता और ओदन एवं कुशूल आदि कर्मके आधार आसन आदि और स्थाली—वटलोई आदि पदार्थ हैं क्योंकि देवदत्त आसनपर बैठता है और ओदन वटलोईमें पकाया जाता है जहांपर इसप्रकारकी व्यवस्था है वहांपर व्यवहार नयकी अपेक्षा बैठना जाना आदि क्रियाओंका आधार द्रव्य है तथा उस क्रियाविशिष्ट द्रव्यका आधार दूसरा द्रव्य है। इसरीतिसे व्यवहारनयसे एक पदार्थका आधार दूसरा भिन्न पदार्थ है

धर्म अधर्म आदि अमूर्तिक पदार्थ हैं इसलिये अमूर्तिकस्वभावके कारण उनका तो एक प्रदेशमें रहना हो सकता है परंतु पुद्गलोंको मूर्तिमान माना गया है। मूर्तिमान पदार्थोंके जितने अवयव होंगे उन्हींके अनुसार उनके अवगाहन करनेकेलिये प्रदेश होने चाहिये इसलिये मूर्तिमान पुद्गलोंका एक प्रदेशमें रहना नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि एकप्रदेशमें अनेक पुद्गलोंका रहना अयुक्त नहीं, युक्त ही है तब उसका समाधान यह है कि एकप्रदेशमें अनेक पुद्गलोंका यदि रहना माना जायगा तो या तो उस प्रदेशके विभाग मानने होंगे क्योंकि एकमें अनेकोंका समावेश नहीं हो सकता या उन पुद्गलोंको अनेक न मानकर एक मानना होगा इसलिये एक प्रदेशमें अनेक पुद्गलोंका रहना बाधित है? सो ठीक नहीं, इसका समाधान ऊपर कह दिया गया है कि पुद्गलोंके प्रचयविशेष अर्थात् एक विलक्षण संयोग माना है उस प्रचयविशेषके द्वारा एक प्रदेशके अंदर भी अनेक पुद्गलोंका रहना बाधित नहीं माना जा सकता। इसरीतिसे प्रचयविशेषसे जब अनेक पुद्गलोंका एक प्रदेशमें अवगाहन युक्तिसिद्ध है तब अमूर्तिक पदार्थोंके समान मूर्तिक भी एकप्रदेशमें अनेक रह सकते हैं यह मानना ही होगा। तथा—

एकापवरकेऽनेकप्रकाशावस्थानदर्शनाद्विरोधः ॥ ४ ॥

एक ही घरके अंदर बहुतसे प्रकाश रहते हैं वहांपर यह नहीं होता कि जिस जिसतरह प्रकाशोंका भेद है उस उसतरह उनके क्षेत्र भी भिन्न भिन्न हों तथा यह भी बात नहीं वे सब प्रकाश एकदेशमें रहते हैं इसलिए वे सब एक ही हों किंतु भिन्न भिन्न हैं इस रीतिसे जिसप्रकार एक ही घरमें अनेक प्रकाश

१—एक दीपकका मंद प्रकाश होता है दो तीन अधिक बढ़ आनेसे प्रकाश भी अधिक बढ़ जाता है, जब वे हटा दिये जाते हैं तो प्रकाश भी मंद पड़ जाता है इससे सिद्ध होता है कि प्रकाशके परमाणु एक दूसरेमें मिलकर भिन्न भिन्नरूपसे रहते हैं।

संबंधके माननेमें आपत्ति दी जा सकती है किंतु वह तो अयुतसिद्ध अर्थात् अपृथग्भूत एवं पहिले और पिछलेका विभागरहित पदार्थोंमें भी दीख पडता है इसलिये कोई दोष नहीं, दृष्टांतपूर्वक खुलासा इस-प्रकार है—

हाथ और शरीर दोनों पदार्थोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है क्योंकि हाथ आदि अवयवस्वरूप ही शरीर है और शरीरस्वरूप ही हाथ हैं इसलिये इन दोनोंकी उत्पत्तिका एक ही काल है किंतु हाथका आधार होनेसे पहिले शरीर हो और आधेय होनेसे पीछे हाथ हो, यह बात नहीं तथा यह भी बात नहीं कि शरीरसे हाथ पदार्थ भिन्न हो वा हाथसे शरीर पदार्थ भिन्न हो किंतु दोनों अयुतसिद्ध पदार्थ हैं परंतु शरीर और हाथ दोनोंका आपसमें आधाराधेय संबंध माना गया है अर्थात् शरीर आधार है और हाथ आधेय है यह बात सामान्यरूपसे सबको स्वीकार है इसलिए जिसप्रकार शरीर और हाथ इस स्थलपर शरीरके पहिले और हाथके पीछेसे न रहनेपर भी तथा शरीर और हाथ दोनोंके भिन्न भिन्न न रहनेपर भी दोनोंका आपसमें आधाराधेय संबंध माना है उसीप्रकार आकाश और धर्म आदि द्रव्योंका अनादि परिणमनके कारण एक साथ रहनेसे यद्यपि पूर्वापरीभाव अर्थात् पहिला पिछलारूप विभाग सिद्ध नहीं तथा वे आपसमें निश्चयनयसे भिन्न रहनेपर भी संयोगरूपसे भिन्न भिन्न भी सिद्ध नहीं हैं तथापि उनका आधाराधेय सम्बन्ध बाधित नहीं हो सकता इसलिये शरीर और हाथके समान धर्म अधर्म आदिका आधाराधेयसम्बन्ध सयुक्तिक सिद्ध है। तथा यह भी बात है कि—

अनेकांतात् ॥ ९ ॥

यह भी एकांत नहीं है कि जो पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हों उन्हींमें आधाराधेयभाव हो और जो

रचनाका गणधर आदि देवोंने अच्छीतरह परिशीलन किया है। गणधर देवोंने अपने शिष्योंको बताया फिर उन्होंने अपने शिष्योंको बताया इसप्रकार शिष्य प्रशिष्योंकी संततिद्वारा कभी अंत न होनेसे जिसकी संतान—लडी अव्युच्छिन्न अर्थात् ज्योंकी त्यों विद्यमान है ऐसा ऋषिप्रणीत यथार्थ आगम अब तक मौजूद है और वह आगम इसप्रकार है—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं वादरेहिं णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥ ६४ ॥

अर्थ—सूक्ष्म और वादरस्वरूप नानाप्रकारके अनंतानंत पुद्‌गलोंसे यह लोक चारो ओरसे अच्छी तरह चखाखच भरा हुआ है। इसीतरह और भी अनेक आगमवचन हैं। जब इस आगमसे यह बात सिद्ध है कि एक भी प्रदेशमें जब अनेक पुद्‌गल रह सकते हैं तब आगमप्रमाणसे अनेक पुद्‌गलोंका एक जगह रहना बाधित नहीं हो सकता। तथा—

जिसप्रकार एक निगोतिया जीवके शरीरमें अनंते निगोतिया जीव रहते हैं और वे साधारण जीव कहे जाते हैं क्योंकि उनका आहार श्वासोच्छ्वास जीना और मरना समान है—एक साथ होता है इसलिए उनकी साधारण यह अन्वर्थ संज्ञा है, यह बात भलेप्रकार [2]आगममें निश्चित है उसीप्रकार

१—अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायः सर्वतो लोकः। सूक्ष्मैर्वादरैश्चानंतानंतैर्विविधैः ॥ ६४ ॥ पञ्चास्तिकायसार पृष्ठसंख्या ११६।

२—साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥१९२॥ एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९६॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥ अर्थात् साधारण जीवोंका यही लक्षण है कि उनका समान आहार है, अर्थात् सबोंका एक समय एक ही आहार है, समान ही श्वासोच्छ्वास है, समान ही पानादि ग्रहण है। एक निगोदिया जीवके शरीरमे अनंतानंत निगोदिया रहते हैं, जो कि सिद्धोंसे अनंतगुणे हैं और समस्त बीते हुये कालसे भी अनंतगुणे हैं।

दुःख आत्माके अंदर दीख पडते हैं इसलिए आत्माका ही नाम लोक है । अथवा जो पदार्थोंको देखे और जाने उसका नाम लोक है । पदार्थोंको देखने और जाननेवाला आत्मा ही है इसलिए उसीका नाम लोक है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

इतरद्द्रव्यालोकप्रसंग इति चेन्न रूढौ क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १२ ॥

पुण्य और पापके सुख दुःखरूप फल जिसके द्वारा देखे जांय उसका नाम लोक है अथवा जो पदार्थोंको देखे और जाने उसका नाम लोक है । इन दोनों प्रकारके अर्थोंसे तो आत्माको ही लोकपना सिद्ध होता है और आत्मद्रव्यसे भिन्न जितने द्रव्य हैं उन सबको अलोकपना सिद्ध होता है इसरीतिसे जब आत्माका ही नाम लोक है तब आगममें जो छह द्रव्योंके समूहको लोक माना है उसका यहां विरोध होता है ? सो ठीक नहीं । जहांपर रूढिबलसे अर्थ लिया जाता है वहांपर क्रियाको केवल व्युत्पत्तिमें कारण माना है किंतु क्रियाके द्वारा जो अर्थ उपस्थित होता है वह अर्थ वहांपर नहीं लिया जाता जिसतरह गो शब्दकी 'गच्छतीति गौः' जो चले वह गाय है, यह व्युत्पत्ति है । ऐसी व्युत्पत्ति रहनेपर गमन क्रियासे यही अर्थ उपस्थित होता है कि जो चले फिरे उसीका नाम गाय है, बैठने वा खडी रहनेवाली गाय नहीं है परंतु यहांपर गमनक्रियाको केवल व्युत्पत्तिमें कारण मानकर रूढिबलसे चलना उठना बैठना आदि सब ही अवस्थामें गो शब्दका गाय अर्थ लिया जाता है उसीप्रकार 'लोकनाल्लोकः' अर्थात् जो देखे उसीका नाम लोक है, यह लोक शब्दकी व्युत्पत्ति है । ऐसी व्युत्पत्तिसे देखनारूप क्रियासे यही अर्थ उपस्थित होता है कि आत्मा ही लोक है और धर्म आदि द्रव्य लोक नहीं हैं । इसलिए यहांपर भी देखना-रूप क्रियाको व्युत्पत्तिमें कारण मानकर रूढिबलसे लोक शब्दका अर्थ केवल आत्मा न कर छहो द्रव्य

लोकाकाशप्रकरणात्तदभिसंबंधः ॥ २ ॥

असंख्येयभागादिषु इत्यादि सूत्रमें लोकाकाश शब्दकी अनुवृत्ति है इसलिये उसीका यहां संबंध समझ लेना चाहिये अर्थात् लोकाकाशके असंख्येय आदि भागोंमें जीवोंका अवगाहन है यह यहां स्पष्ट अर्थ है। यदि यहांपर पुनः यह शंका की जाय कि 'लोकाकाशेऽवगाहः' इस सूत्रसे यहांपर लोकाकाश पदकी अनुवृत्ति आ रही है परंतु वहांपर 'लोकाकाशे' यह अधिकरणनिर्देश अर्थात् सप्तम्यंत पदका उल्लेख किया गया है वह अधिकरणका अर्थ यहांपर बाधित है क्योंकि 'लोकाकाशमें असंख्येयभाग आदिमें' यह अधिकरणके उल्लेखसे जायमान अर्थ यहां अयुक्त है किंतु 'लोकाकाशस्य' इस संबंधनिर्देश अर्थात् षष्ठ्यंत लोकाकाश पदका यहां प्रयोजन है जिससे 'लोकाकाशके असंख्येयभाग आदिमें' यह प्रकरणानुकूल अर्थ हो सके। परंतु ऊपर 'लोकाकाशस्य' इस षष्ठ्यंत पदका उल्लेख किया गया नहीं इसलिये 'लोकाकाशे' इस सप्तम्यंत पदकी अनुवृत्ति यहां अप्रयोजनीय है? इसका समाधान वार्तिककारने इसप्रकार दिया है—

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ॥ ३ ॥

व्याकरणका यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि जहां जैसा अर्थ होता है उसीके अनुकूल विभक्तियोंका परिणमन हो जाता है अर्थात् कहींपर उल्लेख द्वितीयांत शब्दका हो और आवश्यकता षष्ठ्यंतपदकी हो तो वहां द्वितीया विभक्तिकी जगहपर षष्ठी विभक्ति मान ली जाती है जिसतरह 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमंत्रयस्वैनं' अर्थात् देवदत्तके घर ऊंचे हैं उस (देवदत्त) को पुकारो यहांपर 'देवदत्तस्य' इस षष्ठ्यंत पदका उल्लेख किया गया है परंतु आगेके वाक्यमें 'एनं' इस द्वितीयांत एतत् शब्दसे देवदत्तका

आत्माको नहीं देख सकेगा तो वह वाह्य पदार्थ धर्मद्रव्य आदिको भी नहीं देख सकेगा किंतु वह वाह्य पदार्थोंका देखनेवाला माना जाता है इसलिए वह अपनी आत्माका भी देखनेवाला है इसरीतिसे जब सब पदार्थोंको देखनेवालेके आत्माका देखना भी स्वयं सिद्ध है तब आत्माको भी लोक कहना निरापद है। शंका—

अलोकस्यापि लोकत्वप्रसंग इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ १५ ॥

जो देखा जाय उसका नाम लोक है यदि लोक शब्दकी यही व्युत्पत्ति मानी जायगी तो अलोकको भी लोक कहना पडेगा क्योंकि जो सर्वद्रष्टा है वह उसे भी देखता है। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि सर्वदर्शी पुरुष अलोकको नहीं देखता ? सो ठीक नहीं। यदि वह अलोकको न देखेगा तो उसका सर्वदर्शीपना ही सिद्ध नहीं हो सकता तथा यह बात किसीको इष्ट भी नहीं कि सर्वदर्शी तो हो और अलोकको न देखे इसलिये जब सर्वदर्शी अलोकको भी देखता है तब अलोकको भी लोक कहना चाहिये ? सो भी अयुक्त है। ऊपर कहा जा चुका है कि रूढिबलसे विशेष पदार्थका ग्रहण होता है। यद्यपि यहांपर जो देखा जाय वह लोक है इस व्युत्पत्तिसे सर्वदर्शी अलोकको भी देखता है इसलिये अलोकको भी लोक कहे जानेका प्रसंग आता है तथापि आकाशके असंख्यातप्रदेशी क्षेत्रमें लोक शब्दकी रूढि है अनंत प्रदेशमें नहीं इसलिये लोक शब्दसे रूढिबलसे लोकक्षेत्र ही लोक कहा जाता है, अलोक लोक नहीं कहा जाता। अथवा यह भी बात है कि—

उभयविशेषणभावाद्वा ॥ १६ ॥

'यत्रस्थेन सर्वज्ञेन यः लोक्यते स लोकः' अर्थात् जहां रहकर सर्वज्ञ जिसे देखे वह लोक है, यहां

ख्येयप्रदेशोंमें भी असंख्यात ही प्रदेश रहते हैं इसरीतिसे लोकाकाशके एक दो आदि सबही प्रदेशोंका नाम जब असंख्येय है तब असंख्येयपनेके अविशेषसे जीवोंके अवगाहनका विशेष नहीं माना जा सक्ता अर्थात् किसी जीवका एक असंख्येयप्रदेशमें अवगाहन है किसीका दो असंख्येयप्रदेशोंमें तो किसीका तीन आदि असंख्येय प्रदेशोंमें है इस रूपसें प्रदेशोंके भेदसे जीवोंके अवगाहनका भेद है परंतु जब एक आदि सबही असंख्येय प्रदेशोंको असंख्येय माना जायगा तब असंख्येयरूपसे भेद न होनेसे जीवोंके अवगाहनका भी भेद न होगा ? सो ठीक नहीं। ऊपर उत्कृष्ट जघन्य और मध्यमके भेदसे असंख्येय तीन प्रकारका कह आये हैं। उनमें मध्यम असंख्येयके असंख्याते ही भेद माने हैं इसरीतिसे जब असंख्येयके असंख्याते भेद माने हैं तब एक दो आदि लोकाकाशके प्रदेशोंका असंख्येयपना रहते भी आपसमें उनका भेद रहनेसे जीवोंके अवगाहनोंका भी भेद सिद्ध हो जाता है। यदि कदाचित् फिर यह शंका की जाय कि—

प्रमाणविरोधादवगाह्ायुक्तिरिति चेन्न जीवद्वैविध्यात् ॥ ५ ॥

यदि लोकाकाशके एक असंख्येयभागमें एक जीवकी ही स्थिति मानी जायगी तो असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशमें असंख्यात जीवोंकी ही स्थिति मानी जा सकती है किंतु द्रव्यप्रमाणसे अनंतानंत जीवराशि मानी गई है वह लोकमें नहीं रह सकती, क्योंकि असंख्यातका प्रमाण छोटा और अनंतानंतका प्रमाण बडा है, असंख्यात प्रमाणवाले पदार्थमें अनंतानंतप्रमाणवाला पदार्थ नहीं रह सकता ? सो भी ठीक नहीं। वादर और सूक्ष्मके भेदसे जीव दोप्रकारके माने गये हैं। इनमें वादर जीव स्थूल शरीरके धारक होनेसे उनका प्रतिघात अर्थात् दूसरे पदार्थोंसे रुकावट हो जाती है इसलिये जिनके

यह लोकाकाश धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके समान असंख्यातप्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके कुल प्रदेश असंख्यात हैं और लोकाकाशके बाहिर चारों ओर अलोकाकाश अनंतप्रदेशी है ॥ १२॥

जिन धर्म अधर्म आदिका ऊपर प्रतिपादन किया गया है यद्यपि उन सबके रहनेका स्थान आकाश है तथापि कोई किसी रूपसे रहता है तो कोई किसी रूपसे रहता है इसप्रकार उनके रहनेमें विभिन्नता हो सकती है इसलिए सूत्रकार अब उनकी स्थितिविशेषका ही प्रतिपादन करते हैं—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समस्त लोकाकाशमें है अर्थात् असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशका ऐसा कोई भी विभाग नहीं जहांपर धर्म अधर्म द्रव्योंका रहना न हो।

निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनं ॥ १ ॥

जिसप्रकार घरके एकदेशमें घटका रहना होता है उसप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्यका लोकाकाशमें अवगाह अर्थात् रहना नहीं किंतु जिसप्रकार तिलोंके प्रत्येक अंशमें तेल व्याप्त रहता उसीप्रकार लोकाकाशमें सर्वत्र धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त है ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं जहांपर धर्म और अधर्म द्रव्यकी सत्ता नहीं इसप्रकार समस्त लोकाकाशमें धर्म और अधर्मकी व्यापकता दिखानेके लिये सूत्रमें कृत्स्न शब्दका उल्लेख किया है। इसरीतिसे धर्म और अधर्मद्रव्य निरवच्छिन्नरूपसे अर्थात् अंशमात्र भी जगह न छोडकर समस्त लोकाकाशको व्याप्त कर स्थित हैं, यह यहां स्पष्ट तात्पर्य है। शंका—जब धर्म और अधर्म दोनों द्रव्य समानरूपसे आकाशको व्याप्तकर स्थित हैं तब एकके द्वारा दूसरेके प्रदेशोंमें रुकावट क्यों नहीं होती अर्थात् जहांपर धर्मद्रव्यके प्रदेश हों वहांपर अधर्मद्रव्यके प्रदेश न होने चाहिये एवं

समयमें संसारमें जीवोंके साथ संबंध नहीं रहता किंतु तैजस और कार्माण शरीरोंका जबतक मुक्ति नहीं होती तबतक सदा संबंध बना रहता है। मृत्युके पश्चात् जब कि औदारिक और वैक्रियिक शरीर यथास्थान पडे रह जाते हैं और जीव दूसरी गतिको चला जाता है उससमय भी तैजस और कार्माण शरीरोंका संबंध रहता है, मूर्तिमान ज्ञानावरण आदि कर्मोंका जीवके साथ संबंध रहता है इसलिये जिससमय देवदत्त आदि कोई पुरुष मरणके सन्मुख होता है उससमय उसे चाहे ऐसे घरमें ही क्यों न लिटा दिया जाय जिसमें कि बालके अग्रभागके बराबर भी बाहर निकलनेका छिद्र न हो जिसकी भीतें मजबूत लोहेसे बनी हों, जिसके दोनों किवाड वज्रमयी हों एवं जिसका बाहिर भी परकोट वज्रका बना हो तथापि मूर्तिमान ज्ञानावरण आदि कर्म और तैजस एवं कार्माण शरीरोंसे संयुक्त रहते भी उसका आत्मा जिससमय शरीरसे बाहर निकलता है घरको विना तोडे फोडे ही निकल जाता है इसलिये जिस प्रकार मृत्युकालमें शरीरसंयुक्त भी संसारी जीवोंका घर आदिसे बाहिर निकलना अप्रतिहत है, किसी भी प्रकारसे रोके जानेपर नहीं रुकता उसीप्रकार सूक्ष्म निगोत जीवोंके शरीर भी अप्रतिघाती हैं, न आपसमें रोके जा सकते हैं और न बादरोंके द्वारा रोके जाते हैं। इस रूपसे जब सूक्ष्म जीवोंका अप्रतिघातीपना युक्ति और आगमसिद्ध है तब असंख्यातप्रदेशी भी लोकाकाशमें अनंतानंत जीव रह सकते हैं उनके उसप्रकारके रहनेमें कोई भी विरोध वा आपत्ति नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

एक जीव लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर है यह बात पाहिले कही जा चुकी है। वह लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है इसलिये जीवके भी असंख्यातप्रदेश हैं यह बात सुनिश्चित है। यहांपर शंका होती है कि जब जीवके असंख्यातप्रदेश हैं तब उसका असंख्येय भाग अर्थात् एक दो आदि असंख्यात भागोंमें

अतएव जिनका संबंध सादि है ऐसे किन्हीं किन्हीं स्थूल स्कंधोंका ही आपसमें प्रदेशविरोध है अर्थात् एकके द्वारा दूसरेके प्रदेशोंकी रुकावट हो जाती है परंतु धर्मादि द्रव्योंमें इसप्रकारकी व्यवस्था नहीं क्योंकि न तो उनका भेद और संघातरूप परिणमन होता है और न उनका संबंध सादि है किंतु पारिणामिकस्वरूप अनादि संबंध उनका माना गया है इसलिए धर्म अधर्म आदि अमूर्तिक पदार्थोंके अंदर आपसमें एकके द्वारा दूसरे प्रदेशोंकी रुकावट नहीं होती।

विशेष—यदि यहांपर कोई यह तर्क उठावे कि लोकमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सत्ता है बस यही बात सिद्ध करनी चाहिये वे समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसका समाधान श्रीश्लोकवार्तिककारने यह दिया है—

धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ।
गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषामुपकारतः ॥ १ ॥

न हि लोकत्रयवर्तिनां पदार्थानां सर्वेषां गतिपरिणामिनां स्थितिपरिणामिनां च गतिस्थित्युपग्रहो युगपदुपकारो धर्माधर्मयोरेकदेशवर्तिनोः संभवत्यलोकाकाशेऽपि तद्गतिस्थितिप्रसंगात् ततो लोकाकाशे गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषां गतिस्थित्युपकारमिच्छता धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहोऽभ्युपगंतव्यः। अर्थात्—

चलने फिरनेवाले और ठहरनेवाले समस्त पदार्थोंकी गति और स्थितिमें उपकारी होनेसे धर्म और अधर्मद्रव्योंका समस्त लोकाकाशमें अवगाह माना है। खुलासा तात्पर्य यह है कि तीनों लोकमें घडेमें घीके समान सब ओर खचाखच पदार्थ भरे हुए हैं उन समस्त पदार्थोंके अंदर जो पदार्थ गति और

लोकके बराबर असंख्यातप्रदेशी है तथापि नामकर्मके द्वारा प्राप्त छोटे बडे शरीरोंके अनुसार संकोच और विस्तारस्वरूप प्रदेशोंका धारक हो जाता है इसप्रकार प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके द्वारा लोकाकाशके असंख्येय आदि विभागोंके बराबर आत्माका रहना सयुक्तिक सिद्ध है। सारार्थ—दीपक यदि विस्तृतक्षेत्रमें रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उस विस्तृतक्षेत्रकी बराबर फैल जाता है और यदि संकुचित क्षेत्रमें रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उस संकुचित क्षेत्रकी बराबर ही फैलता है इसलिये दीपकके प्रकाशमें फैलने और सिकुडनेकी शक्ति है तथा उसके प्रकाशके फैलनेपर यह नहीं माना जाता कि उसके प्रदेश नियतसंख्यासे कुछ बढ गये हैं और सिकुडने पर यह नहीं माना जाता कि वे नियत संख्यासे कुछ कम गये हैं किंतु वे जितने हैं उतनेके उतने ही माने जाते हैं उसीप्रकार नामकर्मके उदयसे जैसे छोटे बडे शरीरको यह आत्मा धारण करता है उसीके अनुकूल आत्माके प्रदेश सिकुड वा फैल जाते हैं। तथा फैल जानेपर यह नहीं माना जाता कि वे असंख्यातसे अधिक हो जाते हैं एवं सिकुडने पर यह नहीं माना जाता कि वे असंख्यातसे कम हो जाते हैं किंतु फैलना और सिकुडना दोनों अवस्थाओंमें वे असंख्यातके असंख्यातस्वरूप ही रहते हैं। शंका—

तद्वदनित्यत्वप्रसंग इति चेन्नेष्टत्वात् ॥ ३ ॥

यदि आत्माको दीपक आदिके समान संकोच और विस्तारस्वरूप माना जायगा तो कारणवश संकुचित और विस्तृत प्रदेशोंका धारक दीपक जिसप्रकार अनित्यपदार्थ है—विनष्ट हो जाता है उसीप्रकार आत्माको भी अनित्य मानना होगा? इसका समाधान यह है कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंको अनित्य माना गया है इसलिये पर्यायदृष्टिसे आत्मा भी अनित्य है क्योंकि कार्माण

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानां ॥ १४ ॥

लोकाकाशके एक प्रदेशको आदि लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशोंमें पुद्गलोंका अवगाह समझ लेना चाहिये अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेशमें, द्व्यणुक दो प्रदेशोंमें वा एक प्रदेशमें भी रहता है। त्र्यणुक तीन प्रदेश वा एक प्रदेशमें भी रहता है। इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

एकप्रदेशादिष्वित्यवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ॥ १ ॥

'एकश्चासौ प्रदेशश्चैकप्रदेशः एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः तेषु एकप्रदेशादिषु' यह यहांपर अवयवके साथ समास है। 'एकप्रदेश आदि लेकर जितने प्रदेश हैं उनमें' यह यहांपर 'एकप्रदेशादिषु' पदका अर्थ है। 'एकप्रदेशादिषु' यहांपर बहुव्रीहि समास रहनेसे अन्य पदार्थ प्रदेश लिया गया है और वह विशेष्य और एक प्रदेशादि पदार्थको विशेषण माना गया है। यदि यहांपर यह तर्क किया जाय कि अन्यपदार्थ प्रदेश ही क्यों लिया गया और कोई पदार्थ क्यों नहीं लिया गया? तो इसका समाधान यह है कि जहांपर उपलक्ष्य और उपलक्षणभाव रहता है वहांपर समान जातीयपदार्थका ही ग्रहण होता है जिसतरह ब्राह्मणोंको निमंत्रण आदिके समय कहा जाता है—सोमशर्मा आदिका निमंत्रण है वहांपर आदि शब्दसे सोमशर्माके समानजातीय अन्य ब्राह्मणोंका ही ग्रहण होता है। यहांपर सोमशर्मा उपलक्षण है क्योंकि जो अपना और अपने समानजातीयका ग्राहक होता है वह उपलक्षण माना जाता है। यहांपर सोमशर्मा अपना और अपने सजातीय ब्राह्मणोंका ग्रहण करनेवाला है इसलिये वह उपलक्षण है और जो ग्रहण किये जांय वे उपलक्ष्य कहे जाते हैं यहांपर सोमशर्मासे भिन्न अन्य ब्राह्मण उपलक्ष्य हैं। इसलिये उपलक्ष्य उपलक्षण भावके होनेसे जिसप्रकार यहांपर समानजातीय अन्य

तो छेदन भेदन आदिसे उसके टुकडे टुकडे हो जांयगे, टुकडे होनेसे उसका नाश होगा इसरीतिसे संसारमें कोई भी पदार्थ सिद्ध न होनेसे शून्यपना ही होगा ? सो ठीक नहीं। अनादिकालसे कर्मका बंध रहनेसे यद्यपि आत्मा और कर्म नीर क्षीरके समान एकमएक हो रहे हैं तथापि लक्षणोंके भेदसे दोनोंमें भेद है अर्थात् कर्मका लक्षण जुदा माना है और आत्माका लक्षण जुदा माना है। कर्म मूर्तिक है और आत्मा अमूर्तिक है। जब आत्माका अमूर्तिक स्वभाव स्वयं सिद्ध है तब उसका अभाव नहीं हो सकता। तथा अमूर्तिक पदार्थके जुदे जुदे टुकडे नहीं हो सकते किंतु मूर्तिकके ही हो सकते हैं इसलिये घट आदि मूर्तिक पदार्थोंके जिसप्रकार छेदन भेदन आदिसे टुकडे टुकडे हो जाते हैं उसप्रकार आत्माके टुकडे नहीं हो सकते अर्थात् उसके प्रदेश जुदे होकर नहीं विखर सकते इसलिए घटादिके समान आत्माके प्रदेशोंके विखरनेकी संभावना करना युक्तिबाधित है। और भी यह बात है कि—

अनेकांतात् ॥ ५ ॥

जो आत्माको एकांतसे संकोचविकासशाली माने और अवयवविशिष्ट माने उसके मतमें यह आपत्ति हो सकती है कि आत्माको अवयववाला माननेसे घट आदिके समान उसके अवयव जुदे जुदे विखर जांयगे और वह नष्ट हो जायगा किंतु जो अनेकांतसे आत्माको संकोचविकासशाली और अवयववाला मानता है उसके मतमें यह आपत्ति नहीं हो सकती। जैनसिद्धांतमें जो आत्माको संकोच-विकासशाली और अवयववाला माना है वह अनेकांतसे माना है इसलिए वहांपर यह आपत्ति लागू नहीं हो सकती। खुलासा इसप्रकार है—

जिससमय द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा की जायगी उससमय अनादिकालसे परिणमनशील चैतन्य

ले आओ, यहांपर सागरसहित पुरुषका आना न होनेसे विशेषणविशिष्ट पदार्थका ग्रहण नहीं। 'एक प्रदेशादिषु' यहांपर भी जो बहुव्रीहि समास माना है वह तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि है इसलिये यहांपर एकप्रदेशसहित अन्य प्रदेशोंमें पुद्गल द्रव्यका अवगाहन माना है। यदि यहांपर अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि यह समास माना जाता तो एकप्रदेशका ग्रहण नहीं होता फिर एकप्रदेशमें भी किन्हीं किन्हीं पुद्गलोंका अवगाह है यह अर्थ नहीं हो सकता।

भाज्यो विकल्पे ॥ २ ॥

सूत्रमें जो भाज्य शब्द पढा गया है उसका अर्थ 'विभक्त करलेना चाहिए' यह है। भाज्यके संस्कृतभाषामें भजनीय भाज्य पृथक्कर्तव्य विकल्प और विभाज्य, ये पर्यायवाचक शब्द हैं। यहांपर अवगाह शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये आकाशके एक प्रदेश आदि प्रदेशोंमें पुद्गलद्रव्यका अवगाह विभक्त कर लेना चाहिये यह यहां स्पष्ट अर्थ है। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

एक परमाणुका एक ही आकाशके प्रदेशमें अवगाह है उसका दो आदि प्रदेशोंमें अवगाह नहीं माना गया तथा दो परमाणु चाहें संयुक्त हों चाहें जुदा जुदा हों उनका एकप्रदेशमें भी अवगाह है और दो प्रदेशोंमें भी अवगाह है। तीन परमाणु चाहे आपसमें संयुक्त हों चाहे जुदे जुदे हों उनका एकप्रदेशमें भी अवगाह है एवं दो प्रदेश और तीन प्रदेशोंमें भी अवगाह है। इसीप्रकार संख्यात असंख्यात और अनंत स्वरूप स्कन्धोंका एक प्रदेश संख्यातप्रदेश असंख्यातप्रदेश और अनंत प्रदेशोंमें लोकाकाशके अंदर अवगाह समझलेना चाहिये। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

एकप्रदेशे नैकस्यावस्थानमयुक्तमिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ३ ॥

पट आदि हैं क्योंकि पट आदि पदार्थोंके अवयव अनेक तंतु आदिके समूहरूप कारणपूर्वक हैं अर्थात् पट आदिके अवयवोंकी प्रकटता अनेक तंतु आदिके समूहसे होती है इसलिये तंतु आदिके विखरते ही पटके अवयव विखर जाते हैं परंतु आत्माके प्रदेश किसी अन्य द्रव्यके संघातरूप कारणपूर्वक नहीं हैं अर्थात् जिसप्रकार पहिले तंतु आदिका समूह होता है तब उसका पटके अवयवोंके नामसे व्यवहार होता है उसप्रकार आत्माके प्रदेशोंके होनेमें किसी अन्य द्रव्यके समूहकी आवश्यकता नहीं इसलिये पट आदिके अवयवोंके समान आत्माके प्रदेश कारणपूर्वक न होनेसे आत्माके प्रदेशोंका जुदा जुदा विखरना नहीं होता। इस व्यवस्थाका पोषण करनेवाला परमाणु दृष्टांत है क्योंकि—

परमाणुको केवल एक प्रदेशी माना है। उसका वह प्रदेश अकारणपूर्वक है क्योंकि उसके होनेमें किसी अन्यद्रव्यके समूहकी आवश्यकता नहीं पडती इसरीतिसे जब उसके अवयवोंका विखरना नहीं होता है तब अवयवोंके विखरनेसे जो अनित्यता होती है उस रूपसे परमाणुमें अनित्यता नहीं हो सक्ती किंतु स्कंधके भेदते भेदते केवल एक प्रदेश रह जाता है उससमय परमाणुका संघातस्वरूप नष्ट हो जाता है इसलिये संघातकी अपेक्षा वह अनित्य है उसीप्रकार आत्माके प्रदेश भी अकारणपूर्वक हैं क्योंकि उनके होनेमें किसी अन्य द्रव्यके समूहरूप कारणकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये प्रदेशवान् होनेसे यद्यपि आत्मा अवयववाला है तथापि घट आदिके समान उसके अवयवोंका जुदा जुदा विखरना न होनेके कारण वह आनित्य नहीं हो सकता किंतु कभी वह गतिमान् रहता है कभी गतिरूप पर्यायके नष्ट हो जानेपर स्थितिमान् होता है इसप्रकार गति आदि पर्यायोंकी अपेक्षा वह अनित्य है। इसप्रकार कारणपूर्वक नहीं होनेसे आत्माके अवयव जुदे जुदे नहीं विखरते इसलिये प्रदेशोंकी विखरने

रहते दीख पडते हैं उसीप्रकार एक भी आकाशके प्रदेशमें अनंते पुद्गल अपने सूक्ष्म परिणमनसे आपसमें मिलकर एवं एक दूसरे स्वरूप न होकर रहते हैं इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें अनेक पुद्गलोंका रहना विरुद्ध नहीं हो सकता। तथा—

द्रव्यस्वभावस्याऽचोदनार्हत्वात् ॥ ५ ॥

द्रव्योंके स्वभाव प्रतिनियत हैं और वे भिन्न भिन्न हैं इसलिए उनके स्वभावके विषयमें यह आक्षेप ही नहीं हो सकता कि ऐसा होना चाहिये वा ऐसा न होना चाहिये जिसतरह अग्नि आदि पदार्थोंका स्वभाव जलाने आदिका है वहांपर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि इनका स्वभाव जलाने आदिका क्यों है जलने आदिका क्यों नहीं तथा तृण काष्ठ आदि पदार्थोंका स्वभाव जलने आदिका क्यों है? जलाने आदिका क्यों नहीं? क्योंकि जैसा जिसका स्वभाव होगा उसका वैसा ही स्वभाव रहेगा वह पलटा नहीं जा सकता उसीप्रकार यद्यपि पुद्गल मूर्तिमान पदार्थ हैं तथापि अपने समानजातीय पदार्थोंको अवगाहनदान देना उनका स्वभाव है इसलिए एक प्रदेशमें भी वे अनंते रह सकते हैं। यहां पर यह तर्क ही नहीं उठाया जा सकता कि अमूर्तिक ही पदार्थ एक प्रदेशमें अनेक रह सकते हैं, मूर्तिक नहीं क्योंकि उनके अवगाहनस्वरूप स्वभावका अभाव नहीं हो सकता इसरीतिसे जब यह बात अच्छी तरह निर्णीत है कि एक प्रदेशमें भी बहुतसे पुद्गलोंके स्कंध अपने अवगाहन स्वभावसे रह सकते हैं तब उनका उसप्रकारका रहना विरुद्ध नहीं माना जा सकता। और भी यह बात है कि—

आर्षोक्तत्वात्सूक्ष्मनिगोतावस्थानवत् ॥ ६ ॥

जिसमें कहे हुए पदार्थोंका सार भगवान सर्वज्ञके ज्ञानद्वारा प्रकाशित हुआ है। जिसकी वचन-

आत्माके अंदर विशेषता मान ली जायगी तो फिर कभी भी सुख दुःख आदिका अभाव न होगा इस रूपसे सदा आत्मा सुख आदि कर्म बंधनोंसे बंधा ही रहेगा, कभी भी उसकी मोक्ष न हो सकेगी (?)। और भी यह बात है कि–

जिसप्रकार परमाणु निरवयव पदार्थ माना है उसमें एककालमें एक जातिका एक ही निरवयव शुक्ल आदि गुण रहता है उसीप्रकार आत्मा भी निरवयव पदार्थ है उसमें भी एक कालमें एक जातिका एक ही निरवयव सुख आदि कोई गुण रहेगा किंतु घट आदिमें जिसप्रकार नानाप्रकारके रूप आदि गुण रहते हैं उसप्रकार उसमें नानाप्रकारके सुख आदि गुण नहीं रहते । यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलं ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलं ॥ १ ॥

अर्थात् वर्षा आतपका आधार यद्यपि आकाश है तथापि उनके द्वारा आकाशमें किसीप्रकारका विकार नहीं होता इसलिए आकाशमें उनका कोई फल नहीं है किंतु चर्मके अंदर ही उन दोनोंका फल दीख पडता है अर्थात् वर्षाके कारण चर्म सड जाता है और आतप–धूपसे वह सूख जाता है। आकाश और चर्म दोनोंमेंसे आत्माको यदि चर्मके समान माना जायगा अर्थात् कर्मोंके सुख दुःख आदि फलोंका उसे आधार माना जायगा तो जिसप्रकार चर्म आदि पदार्थ अनित्य है, विनष्ट हो जाता है उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य और विनाशीक मानना पडेगा और यदि उसे आकाशके समान माना जायगा तो जिसप्रकार आकाशमें वर्षा और आतपका कोई फल नहीं होता उसीप्रकार आत्मामें भी कर्मोंका कोई

द्रव्योंके अवगाहनविशेषका भी आगमके अंदर अच्छीतरह प्रतिपादन है अर्थात् आगममें यह बात स्पष्ट रूपसे लिखी हुई है कि अपने सूक्ष्म परिणमन स्वभावसे एक भी लोकाकाशके प्रदेशमें अनंते पुद्गल रहते हैं इसलिए मूर्तिमान होनेसे एक जगह अनेक पुद्गल नहीं रह सकते यह जो ऊपर दोष दिया गया था वह निर्मूल है ॥ १४ ॥

धर्म अधर्म और पुद्गल द्रव्योंके अवगाहनोंकी अच्छीतरह व्यवस्था बतला दी गई, सूत्रकार अब जीव द्रव्यके अवगाहनकी व्यवस्था बतलाते हैं—

असंख्येयभागादिषु जीवानां ॥ १५ ॥

असंख्येयभागोंमें एक भागका नाम यहां असंख्येयभाग है इसलिये असंख्येयभाग अर्थात् असंख्यात असंख्येयभागोंमें एक भाग आदि असंख्येय भागोंमें जीवोंका अवगाहन है। 'असंख्येयभागादिषु' इस पदके अंदर वार्तिककार विशेषता प्रतिपादन करते हैं—

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ॥ १ ॥

जिनकी संख्या न की जा सके ऐसे पदार्थका नाम असंख्येय है। उन असंख्येयभागोंमेंसे एक भागका नाम असंख्येयभाग है। असंख्येय भागको आदि लेकर जो भाग हैं वे असंख्येय भागादि कहे जाते हैं यह यहांपर असंख्येयभागादिका विग्रह है। यहांपर ऊपरसे अवगाह शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये असंख्येयभाग आदिमें जीवोंका अवगाह है यह यहां अर्थ समझ लेना चाहिये। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—असंख्येयभाग ये किसी पदार्थके होने चाहिये। सूत्रमें किसी पदार्थका उल्लेख किया नहीं गया इसलिये ये भाग किसके समझने चाहिये ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

उससे कम क्षेत्रमें संसारी जीवकी अवगाहना नहीं मानी गई इसलिये लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें जीवोंकी अवगाहना नहीं हो सकती। यदि कदाचित् यहां फिर यह शंका हो कि—

मुक्तानामेतत्प्रसंग इति चेन्न देशोनांत्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् ॥ ९॥

यदि शरीर—प्रमाण प्रदेशोंमें आत्माका अवगाहन माना जायगा तो संसारी आत्माकी तो लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें अवगाहना नहीं हो सकती क्योंकि कमसे कम शरीरका प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग माना गया है उससे कम प्रमाणवाला नहीं इसलिए जघन्यरूपसे भी असंख्यात प्रदेशोंमें ही संसारी जीवकी स्थिति हो सकती है एक आदि प्रदेशोंमें नहीं किंतु सिद्धोंके तो शरीरका संबंध है नहीं, इसलिये उनकी स्थिति लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें हो सकती है? सो ठीक नहीं। जिस शरीरसे जीव मुक्तिलाभ करता है कुछ कम उसी शरीरके बराबर उस जीवकी अवगाहना रहती है। उस देशोन चरम शरीरके बराबर क्षेत्रसे न कुछ अधिक क्षेत्रमें अवगाहना रहती है न कममें, क्योंकि प्रदेशोंके संकुचित होनेपर कम क्षेत्रमें अवगाहना हो सकती है और प्रदेशोंके फैलनेपर अधिक क्षेत्रमें अवगाहना हो सकती है इसलिये किंचित् ऊन चरम शरीरके बराबर क्षेत्रमें जो सिद्धोंकी अवगाहना है उससे कम वा अधिक क्षेत्रमें अवगाहन होनेका कारण प्रदेशोंका संकोच और विस्तार है। उस संकोच और विस्तारका कारण कर्म था सो नष्ट हो चुका इसलिये किंचित् उन चरम शरीरप्रमाण क्षेत्रसे कम वा अधिक क्षेत्रमें सिद्धोंकी अवगाहना नहीं। इसरीतिसे जब सिद्धोंकी अवगाहनाका क्षेत्र आगम प्रमाणसे सुनिश्चित है तब लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें मुक्त जीवोंकी अवगाहना नहीं सिद्ध हो सकती। यहांपर शंकाकार शंका करता है—

१—भगवान नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने सिद्धोंका स्वरूप वर्णन करते कहा है—

ग्रहण किया गया है। यहांपर षष्ठी विभक्तिके स्थानपर द्वितीयाविभक्तिका परिणमन माना गया है क्योंकि 'आमंत्रयस्वैनं' यहांपर द्वितीयांत शब्दका ही प्रयोजन है यदि अर्थके संबंधसे विभक्तिका विपरिणमन न माना जाता तो 'देवदत्तस्य' इस षष्ठीकी जगह 'देवदत्तं' यह द्वितीया विभक्ति नहीं मानी जा सकती थी इसलिये जिसप्रकार यहांपर षष्ठी विभक्तिकी जगह द्वितीया विभक्तिका विपरिणाम मान लिया जाता है उसीप्रकार यद्यपि 'लोकाकाशे' यह सप्तम्यंत पदका ही सूत्रमें उल्लेख है तथापि 'असंख्येयभागादिषु' इस पदके साथ लोकाकाश पदका संबंध रहनेसे एवं वहांपर सप्तमीका अर्थ प्रयोजनीय न होकर षष्ठीका ही अर्थ कार्यकारी होनेसे सप्तमी विभक्तिकी जगहपर षष्ठी विभक्तिका विपरिणाम मान लेना चाहिये इसरीतिसे 'लोकाकाशके असंख्येयभाग आदिमें जीवोंका अवगाह है' इस प्रकरणानुकूल अर्थके होनेमें किसीप्रकारकी अडचन उपस्थित नहीं हो सकती। खुलासा इसप्रकार है—

लोकाकाशके प्रदेशोंके असंख्यात भाग किये जांय उनमेंसे एक भागका नाम असंख्येयभाग है उस असंख्येय भागमें एक जीव रहता है तथा दो तीन चार पांच आदि असंख्येय भागोंमें भी जीव रहता है इसप्रकार सर्वलोकपर्यंत एक जीवकी अवगाहना मानी गई है। नाना जीवोंका अवगाहन समस्त लोकमें है। लोकके बाहर किसी भी जीवका अवगाहन नहीं माना गया। शंका—

असंख्येयत्वाविशेषादवगाहाविशेष इति चेन्नाऽसंख्येयस्यासंख्येयाविकल्पत्वात् ॥ ४ ॥

लोकाकाशके एक भी असंख्येय भागमें असंख्यात प्रदेश रहते हैं एक दो तीन चार आदि असं-

१—न चैकस्य तदसंख्येयभागस्य द्व्याद्यसंख्येयभागानां चाऽसंख्येयप्रदेशत्वाविशेषात् सर्वजीवानां समानोऽवगाहः शंकनीयः १ असंख्येयस्यासंख्येयविकल्पत्वात् च सिद्धं सकल लोकाकाशैकासंख्येयप्रदेशपरिणममानत्वाद् द्व्याद्यसंख्येयभागानामिति नानारूपावगाहसिद्धिः। श्लोकवार्तिक पृष्ठसंख्या ४०८।

अपने समस्तस्वरूपसे आपसमें एक दूसरेका स्पर्श करते हैं अर्थात् जिसतरह धर्म द्रव्य अपने समस्त-स्वस्वरूपसे अधर्म आदि द्रव्योंका स्पर्श करता है उसीतरह अधर्म आदि भी करते हैं इसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंका स्पर्श भी आपसमें अभिन्न है। अवगाहन भी आपसमें अभिन्न है क्योंकि धर्म और अधर्मद्रव्य लोकाकाशमें सर्वत्र व्यापक हैं इसलिये जिसप्रकार धर्म द्रव्यकी अवगाहना है उसीप्रकार अधर्मकी भी अवगाहना है तथा इसीप्रकार अरूपत्व द्रव्यत्व और ज्ञेयत्व आदि भी सब द्रव्योंमें समानरूपसे रहते हैं इसलिये अरूपत्व आदिके द्वारा भी धर्म आदि द्रव्य आपसमें अभिन्न हैं। इसरीतिसे देश आदिकी अपेक्षा जब धर्म आदि द्रव्योंमें अभेद है तब उन सबको एक ही मानना चाहिये, ऊपर जो उन्हें भिन्न भिन्न रूपसे माना है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं।

जिस देश आकार आदिके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंका शंकाकारने अभेद सिद्ध किया है उसीसे उनमें अनेकपनेकी सिद्धि हो जाती है क्योंकि यह नियम है कि अभेद जो माना गया है वह अनेक पदार्थोंके होनेपर ही सिद्ध होता है। अनेक पदार्थोंके न होनेपर अभेद नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि जो एक पदार्थ है उसका अभेद नहीं कहा जा सकता। सारार्थ—अभेद शब्दका अर्थ भेदका न होना है, इस अभेदकी प्रतीति वहीं हो सकती है जहांपर पदार्थ तो अनेक रहें पर भेद न हो किंतु जहांपर एक ही पदार्थ है वहांपर 'भेद नहीं है' ऐसा व्यवहार होता नहीं दीख पडता इसलिये अभेदके कहनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्म आदि द्रव्य अनेक हैं और उनमें अभेदपना सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है इसरीतिसे धर्म आदि द्रव्य अनेक नहीं सिद्ध हो सकते। तथा यह भी बात है कि—

एक ही पदार्थमें रूप रस आदि एक कालमें दीख पडते हैं। यद्यपि वहांपर रूप रस आदिके

शरीर दूसरे पदार्थोंसे रोके जा सकें वे वादर जीव कहे जाते हैं तथा सूक्ष्म जीव अप्रातिघात शरीरके धारक हैं क्योंकि यद्यपि वे शरीरवान हैं तथापि उनके शरीर आदिका सूक्ष्म परिणमन होनेसे न तो वे आपसमें अर्थात् सूक्ष्म जीवके शरीरसे सूक्ष्मजीवके शरीरकी रुकावट होती है और न वादर जीवोंके द्वारा उनके शरीरकी रुकावट होती है इसलिये जिनके शरीरकी किसीके द्वारा रुकावट न हो वे सूक्ष्म जीव कहे जाते हैं। जहांपर एक सूक्ष्म निगोद जीव रहता है वहांपर अनंतानंत साधारण जीव रहते हैं क्योंकि उस निगोत जीवके आधीन ही उनके जीवन मरण आहार आदिकी व्यवस्था है। तथा मनुष्य आदिके शरीरोंमें वादर जीवोंमेंसे भी पसेवसे जायमान तथा संमूर्छनज बहुतसे वादर जीव हर एक शरीरमें रहते हैं। इसरीतिसे असंख्यात प्रदेशी भी लोकाकाशमें अनंतानंत जीवोंका रहना विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। हां! यदि समस्त लोकाकाशमें वादर ही जीव होते तब अनंतानंत जीवोंका असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाशमें अवगाहनका विरोध होता, सो बात तो है नहीं, जीवोंका तो सूक्ष्म भेद भी माना है इसलिये उनके अवगाहनका विरोध नहीं हो सकता।

कथं शरीरस्यात्मनोऽप्रातिघातित्वमिति चेद् दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

यदि कदाचित् यह तर्क उठाया जाय कि जो जीव अशरीर हैं उनका तो अप्रातिघात अर्थात् दूसरेसे न रोका जाना युक्त है किंतु जो जीव शरीरवान हैं उनका अप्रातिघात कैसे कहा जा सकता है? सूक्ष्म जीवोंको भी शरीरसहित माना गया है इसलिये उनका अप्रतिघात नहीं हो सकता? इसका समाधान यह है कि शरीरधारी भी आत्माका अप्रतिघातपना प्रत्यक्ष सिद्ध है और वह इसप्रकार है—

ऊपर जीवके औदारिक आदि पांच शरीर कह आये हैं उनमें आदिके तीन शरीरोंका तो प्रत्येक

क्योंकि ऊपर हेतुपूर्वक उस बातकी सिद्धि कर दी गई है परंतु जिसप्रकार जीव द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है और उसकी लोकाकाशके असंख्येय आदि भागोंमें स्थिति मानी है उसीप्रकार धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी है परंतु उनका लोकाकाशके असंख्येय आदि भागोंमें अवगाहन नहीं माना किंतु समस्त लोकको व्यापकर ये दोनों द्रव्य रहते हैं यह कहा गया है और इस बातके माननेमें किसी प्रकारका कोई भी हेतु नहीं दिया गया है। हेतुके विना किसी बातका मानना प्रामाणिक नहीं माना जाता इसलिये धर्म और अधर्मका समस्त लोकको व्यापकर रहना निश्चित रूपसे नहीं माना जा सकता? इसका समाधान यह है कि धर्म और अधर्मद्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं यह बात वास्तविक ही है इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं हो सक्ता। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जिसप्रकार जलमें गमन करनेवाली मच्छियोंको गमन करनेमें जल सहकारी कारण है, यदि जल न हो तो मच्छियां गमन कर ही नहीं सकतीं तथा जिसप्रकार धूपसे व्याकुल पथिकोंको चमचमाती हुई दुपहरीमें शीतल सुरम्य वृक्षकी छाया ठहरनेमें सहकारी कारण है, उसीप्रकार प्रयोगजनित वा स्वभावजनित परिणामोंके निमित्तसे गति और स्थितिरूप क्रियाओंको अपने आप आरंभ करनेवाले जीव और पुद्गल हैं। ये जीव और पुद्गल लोकाकाशमें सर्वत्र मौजूद हैं और सर्वत्र ही उनकी गति और स्थितिरूप क्रियायें होती हैं। गति और स्थिति रूप क्रियाओंमें क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यको कारण माना गया है जब गति और स्थिति सर्वत्र लोकाकाशमें होती है तब उनके कारणस्वरूप धर्म और अधर्म द्रव्योंकी भी सर्वत्र सत्ता रहनी चाहिये। यदि उनकी लोकाकाशमें सर्वत्र स्थिति न मानकर किसी एक प्रदेशमें मानी जायगी तो जिस प्रदेशमें वे मौजूद हैं उसी प्रदेशमें जीव और पुद्गलोंकी

कैसे रहना हो सकता है असंख्यातप्रदेशस्वरूप समस्तलोकको व्याप्तकर ही रहना चाहिये। सूत्रकार इसका समाधान देते हैं—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १५ ॥

यद्यपि एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर हैं तथापि वे दीपकके प्रकाश समान प्रदेशोंमें संकोचता विस्तारताके होनेसे जैसा आधार शरीर हो वैसे ही संकोच विस्ताररूप प्रदेशवाले हो जाते हैं।

कार्मणशरीरवशादुपात्तसूक्ष्मवादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहारविसर्पः ॥ १ ॥

यद्यपि आत्माका अमूर्तिक स्वभाव है तथापि कर्मोंके साथ अनादिकालसे एकमएक होनेसे वह कथंचित् मूर्तिक बना हुआ है। वह आत्मा यद्यपि लोकाकाशके समान असंख्यातप्रदेशी है तथापि कार्मण शरीरके सम्बन्धसे वह सूक्ष्म शरीर धारण करता है इसलिये उस सूक्ष्म शरीरके धारक आत्माके प्रदेशोंका जो सूखे चामके समान प्रदेशोंका सिकुड जाना है उसका नाम प्रदेशसंहार है तथा कार्मण शरीरके संबंधसे जिससमय वह स्थूल शरीर धारण करता है उससमय जिसप्रकार जलमें तेल फैल जाता है उसीप्रकार उन प्रदेशोंका जो फैल जाना है वह प्रदेशोंका विसर्प कहा जाता है।

ताभ्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवत् ॥ २ ॥

दीपकका जो प्रकाश खुले हुए विस्तृत आकाशके प्रदेशोंमें फैलनेके कारण उतने क्षेत्रकी बराबर माना जाता है वही दीपकका प्रकाश जिससमय शरावा मानिका (पारा) और कमरा आदिसे आच्छादित हो जाता है तो उसीकी बराबर हो जाता है इसलिये जिसप्रकार विस्तृत प्रकाशवाला भी दीपकका प्रकाश शरावा आदि आवरणोंके द्वारा संकुचित प्रकाशवाला बन जाता है उसीप्रकार यद्यपि आत्मा

द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः ॥ १ ॥

बाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा सदा पणिमनशील द्रव्यका जो परिणाम—पर्याय उसे एकप्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें ले जानेका कारण हो उसका नाम गति है अर्थात् गतिरूप पर्यायके द्वारा द्रव्य एकप्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें चला जाता है।

तद्विपरीता स्थितिः ॥ २ ॥

द्रव्य जिस प्रदेशमें विद्यमान है उसी प्रदेशमें उसे रखनेमें जो परिणाम कारण हो, वहांसे हिलने डुलने न दे और गति क्रियाकी निवृत्तिरूप हो वह स्थिति है। स्थितिपर्यायवाला द्रव्य जहां रहता है वहीं बना रहता है, दूसरे प्रदेशमें नहीं जा सकता।

उपग्रहोऽनुग्रहः ॥ ३ ॥

द्रव्योंके अंदर दूसरी दूसरी शक्तियोंके उत्पन्न करनेमें कारण हो जाना रूप अनुग्रह है उसे उपग्रह कहते हैं अर्थात् एक द्रव्यमें किसी शक्तिकी उत्पत्तिमें दूसरे द्रव्यका जो कारण हो जाना है यही उस दूसरे द्रव्यका पहिले द्रव्यपर उपग्रह है। शंका—

गतिस्थित्युपगूहावित्यनेकविगूहसंभवादर्थानिश्चयः ॥ ४ ॥

प्रायः यह एक लोकका नियमसा है कि जिन पदोंका आपसमें समास रहता है उन पदोंका जैसा विग्रह वा व्युत्पत्ति होती है उसीसे अर्थका निश्चय होता है तथा जहांपर एकप्रकारका ही विग्रह होता है वहांपर उस विग्रहसिद्ध अर्थका निश्चय होता है किंतु जहां अनेक विग्रह होते हैं वहांपर अनेक प्रकारके विग्रहोंसे अनेकप्रकारकी अर्थ—उपस्थिति होनेसे यह निश्चय नहीं होता कि यहां कौनसा अर्थ ठीक

शरीरके द्वारा प्राप्त छोटे बडे शरीरके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंको संकोच विस्तार होता है। संकोच और विस्ताररूप होना आत्माकी ही पर्याय है इसलिये इस संकोच विस्ताररूप पर्यायकी अपेक्षा आत्माका उत्पाद और विनाश माननेसे उसे अनित्य माना ही है इस रीतिसे प्रदीप आदिके समान आत्माका भी अनित्यपना इष्ट ही है। अथवा—

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थोंको नित्य माना गया है। यद्यपि प्रदीप आदिके प्रकाशका संकुचित होना और विस्तृत होना स्वभाव है तथापि सामान्यरूपसे जिससमय पुद्गलद्रव्यकी अपेक्षा की जायगी उससमय वह नित्य ही है क्योंकि प्रदीपरूप पुद्गलपर्यायके नष्ट होनेपर उसकी जगहपर तमरूपपर्याय उत्पन्न हो जाती है, पुद्गलद्रव्यका कभी नाश नहीं हो सकता इसलिये द्रव्यसामान्यकी विवक्षा रहनेपर जिसप्रकार दीपक आदि नित्य पदार्थ हैं उसीप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा भी नित्यपदार्थ है इसरीतिसे द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियोंसे आत्मामें संकोच और विस्ताररूप पर्यायोंको सिद्ध करनेवाला दीपक आदि दृष्टांत किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

सावयवत्वाद्विशरणप्रसंग इति चेन्नामूर्तस्वभावापरित्यागात् ॥ ४ ॥

दीपक आदिके समान आत्माको संकोचविकासशाली माना जायगा तो वह अवयवविशिष्ट सिद्ध होगा। अवयवशाली घट आदि पदार्थोंके छेदन भेदन आदि करने पर जुदे टुकडे दीख पडते हैं एवं उनका नाश दीख पडता है। यदि संसारी आत्मा भी संकोचविकासशाली होनेसे सावयव माना जायगा

१—नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति। बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र।

स्थित्युपग्रहौ' इसका संबंध बैठता नहीं क्योंकि इस विशेषणका यहां विशेष्य कोई नहीं है इसलिये यहां अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास तो माना नहीं जा सकता। तथा—

न षष्ठीवृत्तिर्द्विवचनानिर्देशात् ॥ ६ ॥

'गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ' यह जो षष्ठीतत्पुरुष समास कहा गया है वह भी यहां नहीं बन सकता क्योंकि 'उपग्रहौ' यहां द्विवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है। यदि यहांपर षष्ठी तत्पुरुष समास माना जायगा तो षष्ठी तत्पुरुष समासमें उत्तर पदार्थ प्रधान होता है इसलिये उपग्रह शब्दकी प्रधानतासे एवं भावस्वरूप उल्लेख होनेसे 'उपग्रहः' ऐसा एकवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख होना चाहिये क्योंकि भावमें एकही वचनका विधान माना है इसलिये यहांपर सूत्रमें एक मात्राका लाघव होनेसे एकवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख ही उपयुक्त था परंतु द्विवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये यहां षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि द्विवचनांत उपग्रह शब्दके उल्लेखसे दो भिन्न भिन्न उपग्रह लिये जांयगे इसलिये षष्ठी तत्पुरुषमें भी भिन्न भिन्न उपग्रहोंके ग्रहण करनेकेलिये द्विवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है? तो इसका समाधान यह है कि भिन्न भिन्न दो उपग्रहोंके माननेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं, एकवचनांत उपग्रह शब्दसे भी काम चल सकता है इसलिए यह बात सिद्ध हो चुकी कि यदि 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यहांपर षष्ठी तत्पुरुष समास होता तो 'उपग्रहः' ऐसा एकवचनांत उपग्रह शब्दका ही उल्लेख होता परंतु यहां द्विवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये यहां षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता। तो फिर कौनसा समास होना चाहिये? वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

स्वरूप जीव द्रव्य और उपयोग आदि स्वरूप द्रव्यकी विवक्षा होनेसे जीव संकोचविस्तारस्वरूप प्रदेशोंका धारक नहीं हो सकता क्योंकि चैतन्यस्वरूप शुद्ध द्रव्यमें संकोचविकासशालीपना नहीं इस-लिये द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा आत्मा संकोचविकासरहित है एवं द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा आत्मा निरवयव है क्योंकि शुद्ध द्रव्यमें विभागोंकी कल्पना नहीं। तथा जिससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जायगी उससमय प्रतिनियत सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंकी उत्पत्तिका कारण निर्माण नाम कर्मके उदयसे जो सूक्ष्म स्थूल शरीररूप पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है उनकी विवक्षा होनेसे आत्मा संकोच-विकासशाली है क्योंकि सूक्ष्म शरीरके रहनेसे आत्माके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं और स्थूल शरीरके रहनेसे उसके प्रदेश फैल जाते हैं एवं पर्यायार्थिक नयकी ही अपेक्षा आत्मा अवयववाला है क्योंकि अनादि कर्मबंध रूप पर्यायोंके रहनेसे आत्माके अवयवोंकी कल्पना मानी गई है इसप्रकार द्रव्यार्थिक-नयकी अपेक्षा न आत्मा संकोचविकासशाली और न अवयववाला है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा वह संकोचविकासशाली है और अवयवविशिष्ट भी है इसरीतिसे अनेकांतप्रक्रियामें किसीप्रकारकी आपत्ति नहीं। तथा यह भी बात है कि—

तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादणुवत् ॥ ६ ॥

'अवयूयंते विश्लिष्यंते इत्यवयवाः' अर्थात् जो जुदे जुदे होकर विखर जांय उनका नाम अवयव है। यह अवयव शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। यह नियम है कि जिस पदार्थके अवयव कारणपूर्वक अर्थात् अन्य किसी कारणसे जायमान हैं उसी पदार्थके अवयव जुदे जुदे होकर विखर जाते हैं किंतु जिसके अवयव कारणपूर्वक नहीं उसके अवयव जुदे जुदे होकर नहीं विखरते। यहांपर प्रसिद्ध दृष्टांत

विभक्तिका भी विधान माना है इसलिये 'धर्माधर्मयोः' इस षष्ठ्यंत धर्माधर्म पदके रहते भी इनका कर्ता होना निर्बाध है, यदि यहांपर यह कहा जाय कि किसी न किसी क्रियाके संबंधसे कर्ताका व्यवहार होता है, धर्म और अधर्मके साथ किस क्रियाका संबंध है जिससे उन्हें कर्ता माना जाय ? तो उसका समाधान यह है कि सूत्रमें उपकार शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये उपकरोति अर्थात् उपकारस्वरूप क्रियाके सम्बन्धसे धर्म और अधर्मको कर्ता माना गया है, कोई दोष नहीं। यहांपर उपकार शब्द भावसाधन है। 'उपकरणं उपकारः' यह भावसाधन उपकार शब्दका विग्रह वा व्युत्पत्ति है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपकार इति भावसाधनश्चेत्पूर्वेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरर्थांतरवृत्तेः ॥ १० ॥

कर्मसाधनश्चेद्वचनभेदानुपपत्तिः ॥ ११ ॥ न वा सामान्योपादानात् ॥ १२ ॥

यदि 'उपकरणं, उपकारः' इसप्रकार उपकार शब्दको भावसाधन माना जायगा तो 'गति और स्थिति स्वरूप उपग्रह धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है। इसरूपसे जो 'गतिस्थित्युपग्रहौ' इसके साथ उपकार शब्दका सामानाधिकरण्य है वह न बन सकेगा क्योंकि क्रिया तो कर्तामें रहती है इसलिये यहां उपकार रूप क्रिया तो धर्म और अधर्मरूप कर्ताओंमें रहेगी तथा उपगृह्यमाण अर्थात् धर्म और अधर्मके द्वारा जिनका उपकार किया जाता है ऐसी गति और स्थिति जीव और पुद्गलोंमें रहेगी अर्थात् उपकार शब्दको भावसाधन माननेपर उसका आधार तो धर्म और अधर्म द्रव्य पडेगा और कर्मसाधन उपग्रहका आधार जीव और पुद्गल पडेंगे इसलिये उपकार और उपग्रह दोनोंकी भिन्न भिन्न पदार्थोंमें वृत्ति रहनेसे उन दोनोंका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता इसलिये उपकार शब्दकी भावसाधन व्युत्पत्ति

की अपेक्षा आत्मा अनित्य नहीं किंतु गति आदि पर्यायें उसकी नष्ट और उत्पन्न होती रहती हैं इसलिये उनकी अपेक्षा वह अनित्य है।

तत एव प्रतिप्रदेशं गुणविशेषाभावो घटवत् ॥ ७ ॥

आत्माके प्रदेश अकारणपूर्वक हैं उनके उसप्रकारके होनेमें कोई भी अन्य पदार्थ कारण नहीं पडता इसलिये आत्माके हर एक प्रदेशमें विशिष्टगुणपना नहीं दीख पडता किंतु जिन पदार्थोंके अवयवोंके होनेमें अन्य द्रव्य कारण पडते हैं उनके प्रत्येक अवयवमें विशिष्टगुणपना दीख पडता है। इसका दृष्टांतपूर्वक खुलासा इसप्रकार है—

घटके प्रदेश कारणपूर्वक हैं क्योंकि उनके होनेमें अन्य द्रव्योंका समूह कारण पडता है इसलिये घट आदिके हर एक प्रदेश–अवयवोंमें रूप आदि गुणोंकी विशेषता दीख पडती है अर्थात् जैसे जैसे कारण मिलते चले जाते हैं वैसे वैसे ही कभी नीला रूप तो कभी पीला इत्यादि विशेष विशेष रूप आदि गुणोंका भी परिवर्तन होता चला जाता है परंतु आत्माके प्रदेश कारणपूर्वक नहीं क्योंकि उनके होनेमें अन्य कोई द्रव्योंका समूह कारण नहीं पडता इसलिये उसके हर एक प्रदेशमें सुखादिगुणोंके अंदर विशेषता नहीं दीख पडती अर्थात् अनेकप्रकारके सुख आदि गुण नहीं दीख पडते किंतु सब प्रदेशोंमें समानरूपसे एकही प्रकारके सुख आदि दीख पडते हैं। यदि आत्माके प्रदेश जिसरूपसे हैं उनके उस रूपसे होनेमें अन्य द्रव्योंके समूहको कारण माना जायगा तो घट आदि पदार्थोंके अंदर जिस-प्रकार रूप आदि गुणोंकी विशेषता दीख पडती है उसप्रकार आत्माके अंदर भी सुख दुःख आदिकी विशेषता दीख पडेगी और उसी दशामें आत्माका बंध हो सकेगा यदि स्वभावसे सुख दुःख आदिकी

है। उसका समाधान वहां यह दिया गया है कि कार्य शब्दका प्रयोग उपर्युक्त वाक्यमें सामान्यरूपसे किया गया है और यह नियम है कि जिस पदका प्रयोग सामान्यरूपसे किया जाता है और उसका उस समय जो एक वचन द्विवचन आदि रहता है वही तदवस्थ रहता है पीछेसे यदि उस पदके विशेषण स्वरूप दो तीन आदि पद हों और उनके संबंधसे सामान्य रूपसे कहे गये पदके वचनके बदलनेकी आवश्यकता पडे तो भी वहांपर विशेषके अनुमार वचनका परिवर्तन नहीं होता 'कार्यं तपःश्रुते' यहांपर एक वचनांत कार्य शब्दका सामान्यरूपसे उपादान किया गया है यद्यपि पीछेसे तपःश्रुत शब्द उसका विशेषण होनेमे विशेषणके अनुसार कार्यशब्दमें वचनका परिवर्तन होना चाहिये अर्थात् एकवचनकी जगह द्विवचन होना चाहिये परंतु सामान्य रूपसे उल्लेख होनेके कारण वहांपर एकवचनकी जगह द्विवचनका परिवर्तन नहीं होता। उसीप्रकार उपकार शब्दका भी सामान्यरूपसे एकवचनमें उल्लेख किया गया है इसलिये पीछेसे उसका उपग्रह विशेषण होनेपर भी उसके अनुसार उपकार शब्दके एकवचनकी जगह द्विवचनका परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः सूत्रमें जो एकवचनांत उपकार शब्दका प्रयोग किया गया है वही ठीक है।

षष्ठीवृत्तिर्वा भावसाधनत्वोपपत्तेः ॥ १३ ॥

अथवा जिसप्रकार 'उपकरणं, उपकारः' इसप्रकार उपकार शब्द भावसाधन माना है उसीप्रकार 'उपग्रहणं, उपग्रहः' इसप्रकार उपग्रह शब्द भी भावसाधन है इसलिये गतिस्थित्योरुपग्रहो गतिस्थित्युपग्रहौ' यह जो ऊपर षष्ठी तत्पुरुष समास कह आये हैं उसके माननेमें भी कोई दोष नहीं तथा उपग्रह और उपकार शब्दको भावसाधन माननेपर गतिका उपग्रह धर्मद्रव्यका उपकार है और स्थितिका उप-

फल न होगा ? इसका समाधान यह है कि इसप्रकारकी शंका करना पिष्टपेषण है अर्थात् जो चीज पीसी हुई है उसीका फिरसे पीसना है क्योंकि यदि एकांतसे किसी पदार्थको अमूर्तिक वा मूर्तिक माना जाय अथवा नित्य और अनित्य माना जाय तब तो दोष हो सकता है किंतु जहांपर अनेकांतसे कथंचित अमूर्तिक और कथंचित् मूर्तिक एवं कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माना गया है वहां कोई दोष नहीं हो सकता। आत्माको परमतकी तरह न तो सर्वथा अमूर्तिक माना है जिससे आकाशके समान उसमें फल होनेकी ही संभावना न हो और न उसे सर्वथा मूर्तिक ही माना है जिससे चर्मके समान उसे अनित्य माना जाय इसलिये अनेकांत प्रक्रियासे माने गये आत्माके स्वरूपमें किसीप्रकारका उपालंभ नहीं दिया जा सकता। यदि यहांपर पुनः यह शंका की जाय कि—

पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसंग इति चेन्न शरीरप्रमाणानुविधानात् ॥ ८ ॥

जब आत्माको दीपकके समान संकोच विकासशाली माना है तब संकुचित होते होते उसके प्रदेश इतने भी हो सकते हैं कि वे आकाशके एक प्रदेशमें भी आ सकें इसलिये जिसप्रकार लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें पुद्गलोंका अवगाहन माना गया है उसीप्रकार संकोच शक्तिकी अपेक्षा एक जीवद्रव्यका भी लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें अवगाहन मान लेना चाहिये। सो ठीक नहीं, कार्मण शरीरके द्वारा यह संसारी आत्मा जैसा छोटा बडा शरीर धारण करता है उसीको व्यापकर इसके प्रदेश रहते हैं ऐसा आगममें माना गया है। शरीरका प्रमाण एक प्रदेश आदि माना नहीं गया है किंतु जघन्य शरीरका प्रमाण अंगुलके असंख्यातवांभाग माना है अर्थात् इतने प्रमाणसे छोटा शरीर होता ही नहीं इसलिये जघन्यसे जघन्य एक जीव द्रव्यकी अवगाहनाका क्षेत्र अंगुलका असंख्यातवां भाग ही हो सक्ता है

जिस प्रकार एक ही पृथिवी अश्व बैल आदिके गमन और ठहरने दोनोंमें सहकारी कारण मानी जाती है उसी प्रकार एकही धर्मास्तिकाय अथवा अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोंके गमन और ठहरने दोनों कार्योंमें सहकारी कारण हो सकती है, गति और स्थितिमें भिन्न भिन्न रूपसे दो द्रव्योंको सहकारी कारण माननेकी क्या आवश्यकता है ? इसलिये दोनोंमें किसी एकको व्यर्थ मानना पडगा। सो ठीक नहीं। अनेक कार्योंका एकही सहकारी कारण हो यह नियम नहीं किन्तु अनेक कार्योंके अनेक भी सहकारी कारण होते हैं। यहीं पर जीव और पुद्गलोंके गति और स्थिति रूप दो कार्योंमें केवल धर्मास्तिकाय ही कारण है वा अधर्मास्तिकाय ही कारण है यह नहीं किंतु उनकी गमन क्रियामें सह-कारी कारण धर्मास्तिकाय है और स्थिति क्रियामें सहकारी कारण अधर्मास्तिकाय है। इस रीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि गतिमें उपग्रह करना धर्मास्तिकायका कार्य है और स्थितिमें उपग्रह करना अधर्मास्तिकायका कार्य है तब यहां स्पष्ट तात्पर्य यह समझ लेना चाहिये—

स्वयं गतिपरिणामी जीव और पुद्गलोंका गमन धर्मास्तिकायकी सहायताके विना नहीं हो सकता इसलिए गतिरूप उपग्रहमें कारण होनेसे अनुमानसे धर्मास्तिकायकी सिद्धि है तथा स्वयं स्थि-तिपरिणामी जीव और पुद्गलोंकी स्थिति अधर्मास्तिकायकी सहायताके विना नहीं हो सकती इस-लिये स्थितिरूप उपग्रहमें कारण होनेसे अनुमानसे अधर्मास्तिकायकी सिद्धि है। यहां पर अनुमानका स्वरूप इस प्रकार समझ लेना चाहिये—'धर्मास्तिकायोऽस्ति जीवपुद्गलानां गत्यन्यथानुपपत्तेः' अर्थात् विना धर्मास्तिकायके जीव पुद्गलोंका गमन नहीं हो सकता इसलिये उनके गतिरूप उपग्रहमें सहायता पहुंचानेवाला धर्मास्तिकाय है तथा 'अधर्मास्तिकायोऽस्ति जीवपुद्गलानां स्थित्यन्यथानुपपत्तेः' अर्थात्

न धर्मादीनां नानात्वं कुतः। देशसंस्थानकालदर्शनस्पर्शनावगाहनाद्यभेदात् ॥ १० ॥ नातस्तत्सिद्धेः ॥ ११ ॥

धर्म अधर्म आदि द्रव्योंका देश—रहनेका स्थान, संस्थान—आकार, काल, दर्शन, स्पर्शन, और अवगाहन आदिका अभेद है इसलिये देश आदिके अभेदसे उन्हें भी आपसमें अभिन्न ही मान लेना चाहिये फिर उन्हें जो भिन्न भिन्न द्रव्य माना गया है वह अयुक्त है। धर्म आदिके देश आदिका अभेद कैसे है? उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिस जगहपर धर्म द्रव्यका रहना है उसी जगहपर अधर्म आदि भी रहते हैं इसलिये धर्म आदि सब द्रव्योंका रहनेका स्थान अभिन्न है। जो आकार धर्म द्रव्यका माना गया है वही अधर्म आदिका भी है इसलिये आकार भी सबोंका अभिन्न है। भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें धर्म आदि समान रूपसे रहते हैं किंतु यह बात नहीं कि भूतकालमें धर्म द्रव्यकी स्थिति दूसरे प्रकारसे हो और अधर्मकी दूसरे प्रकारसे हो वा भविष्यतकालमें धर्म द्रव्यकी स्थिति दूसरे प्रकारसे हो और अधर्म द्रव्यकी दूसरे प्रकारसे हो किंतु तीनों कालोंमें सबका समानरूपसे रहना है इसप्रकार सब काल भी अभिन्न हैं। जिस जगहपर जितने लोकाकाशके प्रदेशोंमें भगवान सर्वज्ञने धर्म द्रव्यको देखा है वहांपर उतने ही प्रदेशोंमें अधर्म आदिको भी देखा है, यह नहीं कि कहीं किसी रूपसे धर्मद्रव्य देखा हो तो कहीं किसी रूपसे अधर्म आदि द्रव्य देखे हैं इस रूपसे सर्वज्ञके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंका देखना भी अभिन्न है। धर्म आदि द्रव्य

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥ द्रव्यसंग्रह।

अर्थात् सिद्ध जीव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंके धारक हैं किंचित् ऊन चरम शरीरके बराबर उनकी अवगाहना है। लोकके अग्र भागमें स्थित हैं और उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य तीनों पर्यायोंके धारक हैं।

गया है। उपकार, बलाधान और आलंबन ये तीनों शब्द समान अर्थके वाचक हैं अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्य गमन और स्थितिपरिणामी जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें केवल उदासीन रूपसे सहायता पहुंचानेवाले हैं यदि वे चलते वा ठहरते हैं तो उनके चलने और ठहरनेमें सहायीमात्र हो जाते हैं किंतु प्रेरक नहीं, जबरदस्ती उन्हें चलाते ठहराते नहीं यह उपकार शब्दका अर्थ है। इस अर्थसे जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति क्रियाओंमें धर्म और अधर्म द्रव्यका प्रधानरूपसे कर्तापनेका परिहार हो जाता है, वे प्रेरक न होकर उदासीन सहायक ही सिद्ध होते हैं इसलिये स्पष्ट तात्पर्य यहां यह है कि जो अंधा वा अन्य कोई वृद्ध आदि पुरुष अपनी अपनी जांघोंके बलसे चलनेवाला है उसके लिये लाठी आदि केवल सहारामात्र हैं, प्रेरक अर्थात् जवरन घसीटकर ले जानेवाले नहीं उसीप्रकार अपनी शक्तिसे चलनेवाले जीव और पुद्गलोंके गमन और स्थितिमें क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्य केवल सहारा देनेवाले हैं, प्रेरक अर्थात् उन्हें जबरन चलाने और ठहरानेवाले नहीं। इसरीतिसे सूत्रमें उपकार शब्दके उल्लेखसे जब धर्म और अधर्म द्रव्यका गति और स्थिति क्रियामें समानरूपसे कर्तापन सिद्ध नहीं होता तब 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' यही लघु सूत्र बनाना ठीक है। तथा यह भी बात है कि—

यदि गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्य प्रधानरूपसे कर्ता होते और उनका कर्ता होना सूत्रकार को अभीष्ट होता तो 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' वस इतना ही सूत्र करना उपयुक्त होता इसीसे धर्म और अधर्मको प्रधानरूपसे गति और स्थितिका कर्तापन सिद्ध हो जाता परन्तु वैसा सूत्र नहीं किया इससे जान पडता है कि धर्म और अधम प्रधानरूपसे गति और स्थिति रूप क्रियाके कर्ता नहीं। इस रीतिसे 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा सूत्र करनेपर धर्म और अधर्मको प्रधान रूपसे गति और स्थिति

रहनेका स्थान एक ही है तथापि रूप रस आदि भिन्न भिन्न दीख पडते हैं उसीप्रकार यद्यपि धर्म आदि द्रव्योंके रहनेका स्थान एक लोकाकाश ही है तथापि वे आपसमें भिन्न भिन्न अनेक ही हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यद्यपि रूप आदि गुणोंका आश्रय एक है तथापि रूपका ज्ञान नेत्र इंद्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसना इंद्रियसे होता है, गंध आदिका ज्ञान नाक आदि इंद्रियोंसे होता है इसरीतिसे रूप आदि गुणोंके चाक्षुष प्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्ष आदि विशेष लक्षणोंके भेदसे उनका अभेद नहीं माना जा सक्ता, वे अनेक ही माने जायेंगे, धर्म आदि द्रव्योंका कोई विशेष लक्षण कहा नहीं इसलिये वे अनेक नहीं कहे जा सकते ? इसका समाधान यह है कि यदि धर्म आदिके भिन्न भिन्न लक्षण न होते तब तो वे अनेक नहीं माने जा सकते थे किंतु उनके भी भिन्न भिन्न लक्षण इसी शास्त्रमें खुलासा रूपसे वर्णन किये गये हैं इसलिये उनका अभेद[1] नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

जिन लक्षणोंके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंका अनेकपना सिद्ध होता है वे लक्षण कौन हैं ? सूत्रकार उन लक्षणोंका प्रतिपादन करते हैं। सबसे पहिले वे धर्म और अधर्म द्रव्यके लक्षणोंका कथन करते हैं—गति-स्थित्युपेत्यादि। अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—

लोकाकाशमें अवगाहन करनेवाले पुद्गल द्रव्यके अणु और स्कंध ये दो भेद माने हैं और जीवोंको असंख्यातप्रदेशी माना है । उनमें जो लोकाकाशके एक आदि प्रदेशोंमें पुद्गलोंकी अवगाहना और असंख्येय भाग आदिमें जीवोंकी अवगाहना है यह जो ऊपर कहा गया है वह तो युक्त ही कहा गया है

१—धर्म अधर्म आदिकी अनेकता पोषण करनेवाला निम्नलिखित आगमवचन भी है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति ॥ १ ॥

नहीं ठहराया जा सकता। यह नियम जहां जहां संदेह होता है वहां वहां सब जगह माना जाता है। यहांपर भी "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" ऐसा सूत्र बनानेपर यद्यपि धर्मद्रव्य जीवोंके गमनमें सहकारी कारण है पुद्गलोंके गमनमें नहीं तथा अधर्मद्रव्य पुद्गलोंकी स्थितिमें सहकारी कारण है जीवोंकी स्थितिमें नहीं इस विपरीतरूप अर्थके उपस्थित हो जानेसे यथार्थ अर्थ अर्थात् धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल दोनोंके गमनमें सहकारी कारण है एवं अधर्म द्रव्य दोनोंकी स्थितिमें सहकारी कारण है, यह वास्तविक अर्थ दब जाता तथापि अन्य अन्य शास्त्रोंमें इसी वास्तविक अर्थका व्याख्यान है विपरीत अर्थ जो यहां होता उसका नहीं इसलिये व्याख्यानबलसे 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसे सूत्रके करनेपर भी यथार्थ अर्थका ही ग्रहण होगा, विपरीत अर्थका ग्रहण नहीं होगा इसरीतिसे जब उपग्रह शब्दके विना भी इष्ट अर्थकी प्राप्ति निरापद है तब सूत्रमें उपग्रह शब्दका उल्लेख निरर्थक ही है ? सो ठीक नहीं। सूत्रमें उपग्रह शब्दका उल्लेख न कर यदि व्याख्यानके द्वारा यथार्थ अर्थके जानने की आशा रक्खी जायगी तो उसके जाननेमें अधिक बुद्धि लगानेके कारण खेद होनेसे बडी अडचन होगी, बहुत देरके बाद पदार्थका यथार्थ ज्ञान होगा इसलिये सुलभतासे यथार्थ अर्थकी प्रतीतिकेलिये उपग्रह शब्दका सूत्रमें उल्लेख लाभकारी है अर्थात् सूत्रमें 'उपग्रह' शब्दके उल्लेखसे यथार्थ अर्थका बहुत शीघ्र ज्ञान हो जाता है इसरीतिसे यथार्थ अर्थको शीघ्र जानने केलिये उपग्रह शब्दका उल्लेख प्रयोजनीय है, अनर्थक नहीं।

सौकर्यादाकाशस्योपग्रह इति चेन्न धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वान्नगरांतर्गतवेश्मवत् ॥ २०॥

आकाश सर्वगत पदार्थ है ऐसी कोई भी जगह नहीं जहांपर आकाश न हो तथा वह सब पदार्थों

गति और स्थिति होगी क्योंकि जहांपर कारण रहता है वहीं कार्य होता है यह नियम है किंतु जहांपर धर्म और अधर्म द्रव्य न होंगे वहां गति स्थितिरूप कार्य न होंगे क्योंकि कारणोंके न रहते कार्योंका होना असम्भव है इसलिये लोकाकाशमें सर्वत्र जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति होनेके कारण धर्म और अधर्म द्रव्यका समस्त ही लोकाकाशमें सद्भाव युक्तियुक्त है और जीव तथा पुद्गलोंमें क्रमसे गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व ही धर्म अधर्म द्रव्योंका भिन्न भिन्न लक्षण है। इसप्रकार जीव और पुद्गलोंकी गति एवं स्थितिमें सहकारी कारणरूपसे धर्म और अधर्म द्रव्योंकी समस्त लोकाकाशमें व्यापकता प्रदर्शन करनेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

जीव और पुद्गलोंको गमनरूप और स्थितिरूप करना धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है अर्थात् समस्त लोकाकाशमें जीव और पुद्गल जो गमन करते हैं उनके गमनमें सहकारी धर्म द्रव्य मानी गई है और जो वे ठहरते हैं उनके ठहरनेमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य मानी गई है।

१—गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी। तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ १७ ॥

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी। छाया जह पहियाणं गच्छंताणेव सो धरई ॥ १८ ॥

जिसप्रकार मच्छियोंके चलनेमें जल सहकारी कारण है और जो मच्छिया नहीं जाना चाहती उन्हें जबरन नहीं ले जाता उसीप्रकार गमनक्रियामें परिणत जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। वे चलते हैं तो सहायता पहुंचा देता है किंतु जब नहीं चलते तब जबरन उन्हे नहीं चलाती ॥ १७ ॥ जिसप्रकार पथिकोंके ठहरनेमे छाया सहकारी कारण है। यदि पथिक जाना चाहते हैं तो जबरन उनको वह नहीं ठहराती उसीप्रकार स्थिति क्रियामें परिणत जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य सहकारी कारण है। जब जीव पुद्गल चलते हैं तब जबरन वह उन्हे नहीं ठहराती।

हो तो भी पृथिवीपर उसका चलना नहीं होता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि मछलीके गमनमें जल कारण नहीं आकाश ही कारण है तो जलरहित भूमिपर भी उसका गमन होना चाहिये क्योंकि आकाश तो सर्वत्र रहनेवाला है जिसप्रकार वह जलके क्षेत्रमें है उसीप्रकार वह स्थलके भी क्षेत्रमें है परंतु जलहीमें उसका गमन होता है भूमिपर नहीं इसलिये जिसप्रकार यहांपर मछलियोंके गमनमें जल ही सहकारी कारण माना जाता है आकाश नहीं उसीप्रकार गति और परिणामवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्य उपकारी हैं, आकाश उपकारी कारण नहीं हो सकता। यदि जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें आकाशको उपकारी कारण माना जायगा तो आकाश तो अलोकाकाशके अंदर भी है वहांपर भी जीव और पुद्गलोंके गमन और स्थितिमें आकाश उपकारी कारण माना जायगा फिर जीव और पुद्गलोंका गमन और ठहरना लोकाकाशके अंदर भी होगा क्योंकि उनके गमन और ठहरनेमें सहायता देनेवाला आकाश वहांपर भी मौजूद है तथा जब अलोकाकाशमें भी जीव और पुद्गलोंका गमन करना और ठहरना होगा तब लोक और अलोकका जो विभाग माना गया है वह न होगा क्योंकि जहांपर जीव आदि पदार्थ दीख पड़ें वह लोक और जहांपर न दीख पड़ें वह अलोक इसप्रकार पहिले लोक और अलोकका विभाग बता आए हैं। अब जब जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्यको कारण न मानकर आकाशको ही कारण माना जायगा तो अलोकाकाशमें भी आकाशके रहनेसे वहांपर जीव पुद्गल दीख पड़ेंगे इसलिये गति और स्थितिमें आकाशको कारण माननेपर लोक और अलोकका विभाग नहीं बन सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि अलोकका अभाव है अर्थात् अलोक कोई पदार्थ नहीं है इसलिये लोक ही पदार्थ है, अलोक नामका कोई पदार्थ नहीं है ?

है। सूत्रमें जो 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह पद है उसके अनेक विग्रह होते हैं इसलिये वहांपर किस विग्रहसे जायमान अर्थ लेना चाहिये यह निश्चय नहीं होता। उसका खुलासा इसप्रकार है।

'गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती गतिस्थिती उपग्रहौ ययोस्तौ गतिस्थित्युपग्रहौ' अर्थात् गति और स्थितिरूप उपग्रह जिनके हों वे गतिस्थित्युपग्रह कहे जाते हैं। एक तो यह अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास हो सक्ता है। गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ अर्थात् गति और स्थितिके जो उपकार हैं वे गतिस्थित्युपग्रह कहे जाते हैं, दूसरा यह षष्ठीतत्पुरुष समास हो सक्ता है तथा गतिस्थिती एव वा उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ अर्थात् गतिस्थिति रूप ही उपग्रह हैं यह तीसरा कर्मधारय समास हो सक्ता है। यहांपर तीनप्रकारके विग्रहोंसे तीनप्रकारके अर्थोंकी उपस्थिति होती है इसलिये वास्तविक अर्थ क्या है? इस बातका निश्चय नहीं हो सकता? यहांपर वार्तिककार अनिष्ट विग्रहोंका खंडन कर वास्तविक अर्थको कहनेवाले विग्रहका समर्थन करते हुए कहते हैं—'अनेक विग्रहोंके रहनेपर अर्थका निश्चय न हो सकेगा' यह जो दोष कहा गया है वह यहां लागू नहीं हो सकता। क्यों नहीं लागू हो सकता? उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

अन्यपदार्थवृत्त्यभावो गतिस्थित्युपगृहौ धर्माधर्मावित्यवचनात् ॥ ५ ॥

'गतिस्थित्युपग्रहौ' इस पदमें जो अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास माना जाय तो वह यहां नहीं बन सकता क्योंकि यदि यहां बहुव्रीहि समास मानना अभीष्ट होता तो "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ" ऐसा थोडे अक्षरोंका सूत्र बनाया जाता। गतिमें उपकार धर्म द्रव्यका है, स्थितिमें उपकार अधर्म द्रव्यका है इस प्रकरणानुकूल अर्थमें भी किसीप्रकारकी बाधा नहीं होती परंतु वैसा सूत्र न बनाकर सूत्रकारने 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा बनाया है। प्रकृतमें बहुव्रीहिसमासांत 'गति-

मच्छियोंकी ही गति स्थितिरूपक्रिया नहीं दीख पडती यदि जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म द्रव्य कारण होते तो जल आदिके अभावमें भी उनकी गति और स्थितिरूपक्रिया दीख पडनी चाहिये थी परंतु दीख नहीं पडती इसलिये बाह्य कारण जल आदिके आधीन ही जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति है धर्म और अधर्म द्रव्य गति स्थितिमें कारण नहीं इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं, उनका अभाव ही है। सो ठीक नहीं। जिसतरह जल आदि पदार्थोंके आधार पृथिवी आदिक हैं तथापि सामान्यरूपसे समस्त पदार्थोंका आधार आकाश ही माना गया है क्योंकि वह समस्त पदार्थोंको अवगाहन दान देता है उसीप्रकार जल आदि कारणोंकी मोजूदगीमें भी मछली आदिकी गति और स्थिति होती है इसलिये गति और स्थितिमें जल आदि भी कारण हैं तथापि सामान्यरूपसे समस्त पदार्थोंकी गति और स्थितिमें कारण धर्म और अधर्म द्रव्य ही है इसलिये सामान्यसे धर्म और अधर्म द्रव्यको ही कारण मानना होगा इसरीतिसे आकाशके समान धर्म और अधर्म द्रव्यका भी सामान्यरूपसे कारणपना सिद्ध होनेपर जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिक्रियामें धर्म और अधर्म द्रव्यका कारणपना नहीं बाधित हो सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

आकाशमेव पर्याप्तमिति चेन्न सर्वतंत्रविरोधात् ॥ २३ ॥

आकाशको विभु माना है। विभुका अर्थ व्यापक सर्वत्र रहनेवाला है इसलिये गति और स्थितिके कारण जल आदिके रहते भी जिसप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्यको सामान्यरूपसे कारण माना गया है उसीप्रकार आकाश भी सामान्यरूपसे कारण हो सकता है क्योंकि वह सर्वत्र मौजूद है सर्वत्र जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें वह उपकारी बन सकता है इस रूपसे जीव और पुद्गलोंकी गति और

परिशेषात्समानाधिकरणा वृत्तिः ॥ ७ ॥ तथा च द्वित्वोपपत्तिः ॥ ८ ॥

इस रूपसे जब अन्यपदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास और षष्ठी तत्पुरुष समासकी सिद्धि न हो सकी तब गतिस्थिती एवोपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ यह यहां समानाधिकरणरूप कर्मधारय समास ही प्रकरणके अनुकूल अर्थको बतानेवाला मानना ठीक है। इसप्रकार जब यह बात निश्चित हो चुकी कि 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यहांपर कर्मधारय समास है तब 'उपग्रहौ' यह द्विवचनांत उपग्रह पद भी सार्थक हो जाता है क्योंकि गति और स्थिति दोनों क्रियायें जुदी जुदी हैं इसलिये समानाधिकरण संबंधसे अर्थात् गति और स्थिति स्वरूप ही उपग्रहोंके माननेसे उपग्रहोंका भेद मानना भी परमावश्यक है इसलिये 'उपग्रहौ' यहांपर द्विवचनांत उपग्रह शब्दका प्रयोग करना ही चाहिये। यहांपर उपग्रह शब्द कर्मसाधन माना है 'उपगृह्येते इत्युपग्रहौ–गतिस्थिती' अर्थात् जो उपग्रहस्वरूप किये जांय वे उपग्रह हैं और वे गति और स्थिति यहां कहे जाते हैं। इसप्रकार यहांपर उपग्रह शब्दके कर्मसाधन होनेसे गति स्थिति और उपग्रह इनका समानाधिकरण संबंध है। इसरीतिसे आपसमें समानाधिकरण संबंधसे गति और स्थितिके भेद रहनेपर उपग्रहका भेद भी परमावश्यक है अतः 'उपग्रहौ' यह द्विवचनांत उपग्रह शब्दका प्रयोग यहांपर सार्थक है।

धर्माधर्मयोरिति कर्तृनिर्देशः ॥ ९ ॥

सूत्रमें जो 'धर्माधर्मयोः' पदका उल्लेख किया गया है वहांपर धर्म और अधर्म कर्ता माने गये हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि धर्म और अधर्मको कर्ता कारक माननेमें प्रथमा विभक्ति होना चाहिये क्योंकि कर्तामें प्रथमा विभक्तिका विधान माना है? उसका समाधान यह है कि कर्ता कारकमें षष्ठी

व्यापक (सर्वत्र रहनेवाला) होनेके कारण जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें आकाश ही कारण है यदि यह कल्पना की जायगी तो समस्त आत्माओंको भी एक कहा जा सकेगा क्योंकि हर एक पदार्थको जाननेवाली बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंके संबंधकी आत्मामें व्यवस्था रहनेसे आत्मा पदार्थको अनेकप्रकारका माना है तथा शास्त्रमें भी उसे अनेकप्रकारका कहा गया है । गति और स्थितिमें उपकार करनारूप धर्म और अधर्म द्रव्यके कार्यकी यदि जबरन् आकाशमें कल्पना की जायगी तो बुद्धि आदि गुणोंका आधार एक ही आत्मा माना जा सकता है अनेक आत्माओंके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं इसरीतिसे असत् कल्पना करनेपर जो आत्माका अनेकपना व्यवस्थित है वह विरुद्ध हो जायगा इसलिये नैयायिक और वैशेषिक मतमें विरोधकी संभावना देख धर्म और अधर्मके कार्यका आधार आकाश पदार्थ नहीं हो सक्ता।

तथा सांख्यसिद्धांतमें सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये तीन गुण माने हैं । इनमें प्रसाद और लाघव ये दो धर्म तो सत्त्व गुणके माने हैं। शोष और ताप ये दो धर्म रजोगुणके माने हैं और आवरण एवं आसादन ये धर्म तमोगुणके माने हैं। यदि व्यापक होनेसे आकाशको ही जीव और पुद्गलोंकी गतिस्थितिमें कारण माना जायगा धर्म, और अधर्म द्रव्यका सद्भाव नहीं माना जायगा तो यहांपर भी यह कहा जा सकता है कि सत्त्व गुण व्यापक है इसलिये उसीके शोष और ताप एवं आवरण और आसादना धर्म मान लेने चाहिये, रजोगुण और तमोगुणके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं अथवा रजोगुण और तमोगुण भी व्यापक हैं इसलिये रजोगुणके ही प्रसाद, लाघव एवं आवरण और आसा-

१—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टंभकं चलं च रजः इत्यादि सांख्यतत्त्वकौमुदीकी १३वीं कारिकामें यह विषय अच्छीतरह वर्णित है ।

तो बन नहीं सकती। यदि कहा जायगा कि—'उपक्रियते इत्युपकारः' इसप्रकार उपकार शब्द कर्म-साधन है इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं क्योंकि उपकार शब्द और उपग्रह शब्द दोनोंकी कर्मसाधन व्युत्पत्तिके माननेपर दोनोंका सामानाधिकरण्य अर्थात् एक अधिकरण तो हो सकता है परंतु यह नियम है कि जिनका समानाधिकरण संबंध रहता है उनके एक वचन द्विवचन आदि वचन भी समान रहते हैं। यदि उपग्रह और उपकार दोनोंका सामानाधिकरण्य संबंध माना जायगा तो जिसप्रकार द्विवचनांत उपग्रह पदका उल्लेख किया गया है उसीप्रकार द्विवचनांत उप-कार शब्दका भी उल्लेख करना चाहिये परंतु सूत्रमें एकवचनांत उपकार शब्दका ही उल्लेख किया गया है इसलिये उपकार शब्दको कर्मसाधन भी नहीं माना जा सकता। इसरीतिसे उपकार शब्दकी भावसाधन और कर्मसाधन दोनोंप्रकारकी व्युत्पत्ति बाधित है? सो ठीक नहीं। यहांपर उपकार शब्दका सामान्य रूपसे ग्रहण किया गया है इसलिये उसके एकवचनांत उल्लेख करनेपर भी कोई दोष नहीं है। खुलासा इसप्रकार है—

'साधोः कार्यं तपःश्रुते' अर्थात् तप करना और शास्त्र अध्ययन करना ये दो कार्य साधुके हैं। यहांपर तप और श्रुत ही को कार्य माना है इसलिये आपसमें उनका सामानाधिकरण्य संबंध है क्योंकि तप श्रुत रूप कार्यका आधार एक है परंतु कार्य शब्दका एक वचनमें उल्लेख किया गया है और तपःश्रुत शब्दका द्विवचनमें उल्लेख किया गया है इसलिये यहांपर यह शंका उठती है कि जब आपसमें यहांपर सामानाधिकरण्य संबंध है तब जिसप्रकार तपःश्रुत शब्द द्विवचनांत रूपसे कहा गया है उसी-प्रकार कार्य शब्द भी द्विवचनांतरूपसे ही कहना चाहिये, एकवचनांत कार्यका उल्लेख यहां अप्रासंगिक

तथा बौद्धसिद्धांतमें रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये पांच स्कंध माने हैं. निरूपण करना रूपस्कंधका अर्थ है। अनुभव करना वेदना स्कंधका अर्थ है। निमित्तोंका ग्रहण करना संज्ञा स्कंधका अर्थ है। जो पदार्थ संस्कारविशिष्ट हैं उसको और भी अच्छी रीतिसे संस्कारित करना संस्कार स्कंधका अर्थ है एवं विषयोंका जानना विज्ञान स्कंधका अर्थ है। ये समस्त अनुभवन आदि विज्ञानस्कंधके स्वीकार किये विना तो हो नहीं सकते इसलिये अनुभव आदि समस्त धर्म यदि एक किसी स्कंधके कल्पना कर माने जा सकते हैं तो वे विज्ञानके ही कल्पना किये जा सकते हैं इसलिये अनुभवन आदि समस्त धर्मोंका धारक एक विज्ञान ही स्कंध मान लेना चाहिये, शेष चार स्कंधोंके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं तथा इसप्रकार जब चार स्कंधोंकी भी निवृत्ति होगी तब अपनी निवृत्ति अर्थात् विज्ञानकी भी निवृत्ति हो जायगी क्योंकि बाद्ध सिद्धांतके मतानुसार पांचोंमें एक किसी स्कंधके अभाव हो जानेपर पांचोंका ही अभाव माना गया है परंतु यह बात किसी भी बौद्ध सिद्धांतभक्त मनुष्यको इष्ट नहीं हो सकती इसलिये जिसप्रकार अनुभवन आदि अनेक स्कंधोंके धर्म किसी एक स्कंधके धर्म नहीं माने जा सकते उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें सहायता पहुंचाना धर्म और अधर्म द्रव्योंका कार्य है, वह आकाशका कभी हो नहीं सकता इसलिये यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रयोजनके लिये धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव माना गया है वह प्रयोजन कभी आकाशसे सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये आकाशसे भिन्न धर्म और अधर्मद्रव्य भी अवश्य स्वीकार करने होंगे। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

उभयानुग्रहात्परस्परप्रतिबंध इति चेन्न स्वतः परिणामसामर्थ्यस्यानुग्रहाकांक्षित्वात् कुंटनयनयष्टिप्रदीपवत् ॥२४॥

ग्रह अधर्म द्रव्यका उपकार है यह शास्त्रानुकूल अर्थ भी निरापद हो जाता है इसलिये उपग्रह और उपकार शब्दोंको कर्मसाधन माननेपर कर्मधारय समास और भावसाधन माननपर षष्ठी तत्पुरुष समास दोनों ही समासोंका मानना निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि यदि उपग्रह शब्दको भावसाधन माना जायगा तो उसका द्विवचनांत प्रयोग न कर एकवचनांत प्रयोग करना चाहिये क्योंकि भाव पदार्थ एक माना है इसलिये भावमें एक वचन ही होना न्यायसंगत है अतः उपग्रह शब्दको भावसाधन मानकर जो 'उपग्रहौ' यह द्विवचनांत उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है वह असाधु है? इस शंकाका समाधान वार्तिककार देते हैं—

यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थो द्विवचनप्रयोगः॥ १४॥

धर्म और अधर्म दोनों जुदे जुदे पदार्थ हैं गतिमें उपग्रह करना और स्थितिमें उपग्रह करना भी दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिये सामान्यसे दोनों यथाक्रम प्रतिपत्तिके लिये अर्थात् गतिमें उपग्रह करना अधर्म द्रव्यका उपकार है यह क्रमसे प्रतीति करानेकेलिये 'उपग्रहौ' यह द्विवचनांत उपग्रह शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि वहां एक वचनांत उपग्रह शब्दका प्रयोग किया जाता तो जिस प्रकार एक ही पृथिवी अश्व बैल आदिके गमन करने और ठहरनेमें उपकारी मानी जाती है उसी प्रकार एक ही धर्म द्रव्य वा अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलोंके गमन करने और ठहरनेमें उपकारी होता है यह अर्थ समझा जाता जो कि विपरीत है द्विवचनांत उपग्रह शब्दके उल्लेखसे यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि दो उपग्रहोंके रहनेसे धर्म द्रव्य गतिमें उपग्रह करनेवाला है और अधर्म द्रव्य स्थितिमें उपग्रह करनेवाला है यह भिन्न भिन्न उपकार सिद्ध हो जाता है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

रखता है उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंमें भी स्वयं चलने और ठहरनेकी सामर्थ्य है तथापि वे चलने और ठहरनेमें धर्म और अधर्म द्रव्यकी सहायताकी अभिलाषा रखते हैं। स्पष्ट तात्पर्य इसप्रकार है—

कुंटका अर्थ लंगडा है यद्यपि वह स्वयं चलनेकी सामर्थ्य रखता है तथापि लाठी उसके चलनेमें सहायता पहुंचाती है–विना लाठीके वह चल नहीं सकता किंतु लाठी जबरन उसे चलानेवाली नहीं। यदि वह लाठी जो चलनेकी सामर्थ्य नहीं रखते उन्हें भी चलानेवाली मानी जायगी तो जो लोग मूर्छित हैं वा सोनेवाले आदि हैं इसीलिये जो चलनेकी सामर्थ्य नहीं रखते, लाठीके संबंधसे उनकी भी गति होनी चाहिये इसीप्रकार नेत्र भी स्वयं पदार्थोंके देखनेकी सामर्थ्य रखता है और प्रदीप उसके देखनेमें सहायता पहुंचाता है क्योंकि गाढ अंधकारमें दीपककी सहायताके विना नेत्र पदार्थोंको देख नहीं सकता किंतु वह नेत्र जबरन पदार्थोंको दिखानेवाला नहीं यदि उसे जबरन पदार्थोंका दिखानेवाला माना जायगा तो जो मनुष्य मूर्छित हैं वा सो रहे हैं अथवा जन्मान्ध हैं इसीलिये जो पदार्थोंके देखनेमें असमर्थ हैं, नेत्र उनके भी विद्यमान हैं इसलिये उन्हें भी पदार्थ दीख पडने चाहिये। उसीप्रकार गति और स्थितिस्वरूप परिणमन करनेवाले जीव और पुद्गल गमन करने और ठहरनेकी स्वयं सामर्थ्य रखते हैं परंतु धर्म और अधर्मद्रव्य उनके चलने और ठहरनेमें सहायता पहुंचाते हैं, विना धर्म और अधर्मकी सहायताके जीव और पुद्गलोंका गमन करना और स्थित रहना नहीं बन सकता तो भी प्रधानरूपसे वे उनकी गति और स्थितिके कर्ता नहीं माने जाते। यदि प्रधानरूपसे कर्ता माने जाते तो गतिका विरोध स्थिति और स्थितिका विरोध गति क्रिया कर सकती थी परंतु धर्म और अधर्म द्रव्य तो गति और स्थितिमें उपकारी मात्र हैं इसलिये गति और स्थितिमें एक दूसरेको प्रतिबंधक नहीं

अधर्मास्तिकायकी सहायताके विना जीव और पुद्गलोंका ठहरना नहीं हो सकता इसलिये जीव और पुद्गलोंकी स्थितिका सहकारी कारण अधर्मास्तिकाय है। स्वयं गतिस्थितिपरिणामी जीव और पुद्गल समस्त लोकाकाशमें भरे हुए हैं और सर्वत्र ही उनका गमन और ठहरना होता है और धर्म अधर्म द्रव्य सर्वत्र उनकी गति और स्थितिमें सहायक बनते हैं इसलिये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका सर्वत्र ही प्रयोजन दीख पडनेके कारण ये दोनों द्रव्य सर्वगत अर्थात् सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं। शंका—

उपग्रहावचनमुपकारेण कृतत्वात् ॥१५॥ तयोः कर्तृत्वप्रसंग इति चेन्नोपकारवचनाद् यष्ट्यादिवत् ॥ १६ ॥

गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यनुपदेशाच्च ॥ १७ ॥ न वा यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥ १८ ॥

उपग्रह और उपकार दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है इसलिये गतिस्थित्युपग्रहावित्यादि सूत्रमें जो उपग्रह और उपकार दोनों शब्दोंका प्रयोग है वहांपर उपकार शब्द ही पर्याप्त है उसीसे उपग्रह शब्दका अर्थ द्योतित हो सकता है फिर उपग्रह शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह व्यर्थ है इसलिये सूत्रसे उपग्रह शब्द निकालकर "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" इतना ही लघुसूत्र बनाना चाहिए, उपग्रह शब्द सहित बडे सूत्र बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

यदि 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा सूत्र बनाया जायगा तो धर्म और अधर्म गति और स्थितिके प्रधान रूपसे कर्ता हैं यह सूत्रका अर्थ होगा। यह अर्थ यहां बाधित है क्योंकि गति और स्थितिका धर्म और अधर्म द्रव्यको प्रधानरूपसे कर्ता माननेपर समान शक्तिके होनेसे धर्म द्रव्यका अधर्म द्रव्य बाधक होगा एवं अधर्म द्रव्यके कार्यका धर्म द्रव्य बाधक होगा इसलिये 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा सूत्र करना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। सूत्रमें उपकार शब्दका भी उल्लेख किया

वह जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें सहायक नहीं हो सकता, यह बात पहिले बडे विस्तारसे कह दी गई है इसलिये जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें आकाशको उपकारी कारण नहीं माना जा सकता। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भावमें पुष्ट प्रमाण इसप्रकार है—

अनेकांताच्च समगृविकलेंद्रियवत् ॥ २७ ॥

यह सर्वथा एकांत भी नहीं है कि जितने नेत्रधारी हों वे दीपक आदि वाह्य प्रकाशकी सहायतासे रूपको देखें क्योंकि वाघ बिल्ली उल्लू आदि भी नेत्रधारी हैं किंतु अपनी विशिष्ट जातिसे जिसप्रकारके नेत्र उन्हें प्राप्त हुये हैं उनकी सामर्थ्यसे वे प्रदीप आदि वाह्य प्रकाशोंकी सहायता लिये विना ही रूपके ग्रहण करनेमें समर्थ दीख पडते हैं अर्थात् अँधेरी रात्रिमें भी वे दिनके ही समान स्पष्टरूपसे पदार्थ देखते हैं परंतु मनुष्य आदि जीवोंके नेत्रोंमें उसतरहकी विशिष्ट सामर्थ्य नहीं इसलिये वे दीपक आदिकी सहायताके विना रूप नहीं देख सकते इसरीतिसे नेत्रसे रूप देखनेकेलिये दीपक आदि सहायक होने ही चाहिये यह भी एकांत नहीं तथा नहीं होने चाहिये यह भी एकांत नहीं किंतु कहीं कहींपर उनकी आवश्यकता रहती है, कहीं कहींपर उनकी आवश्यकता नहीं रहती यह अनेकांत है। तथा इसीप्रकार—यह भी एकांत नहीं है कि जितने गतिमान् पदार्थ हैं उनकी गति लाठी आदि पदार्थोंके सहारेसे ही होती हो विना उनके न होती हो क्योंकि जिस जीवकी पांचों इंद्रियां अविकल हैं वह लाठी आदिकी सहायता लिये विना ही केवल धर्मास्तिकायके सहारे गमन करता दीख पडता है परंतु जो पुरुष नेत्रविहीन है अंधा है वह यह नहीं जान सकता कि कहां भूमि समतल है और कहां विषम है? इसलिये भूमिकी समाविषमताका ज्ञान करानेवाली लाठीका सहारा लेकर ही वह गमन करता है इसरीतिसे न

क्रियाका कर्तापना सिद्ध नहीं होता एवं और भी किसीप्रकारकी अडचन नहीं दीख पडती तब इतना ही सूत्र करना उपयुक्त है। सूत्रमें उपग्रह शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं। इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

सूत्रमें जो उपग्रह शब्दका अधिक उलेख किया गया है वह जीव और पुद्गलोंके यथाक्रमकी निवृत्तिकेलिये है यदि 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' एतावन्मात्र सूत्र किया जाता तो जीवोंके गतिरूप परिणाममें उपकारी धर्मद्रव्य है, पुद्गलोंके गतिरूप परिणाममें नहीं तथा पुद्गलोंके स्थिति-रूप परिणाममें उपकारी अधर्मद्रव्य है जीवोंके स्थितिरूप परिणाममें वह उपकारी नहीं यह अनर्थरूप अर्थ होता इस यथाक्रमकी निवृत्तिके लिये सूत्रमें उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है। उपग्रहशब्दके उल्लेखसे यह स्पष्ट अर्थ होता है कि जीव पुद्गल दोनोंके गमनमें सहकारी धर्मद्रव्य है एवं दोनों ही की स्थितिमें सहकारी अधर्म द्रव्य है। यही अर्थ वास्तविक है इसलिये इस वास्तविक अर्थकी रक्षाके लिये सूत्रमें उपग्रह शब्दका उल्लेख आवश्यक है। इसरीतिसे सूत्रकारने जैसा सूत्र पढा है वही ठीक है। उसके स्थानपर "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" यह सूत्र करना अयुक्त है। यदि यहांपर पुनः यह शंका उठाई जाय कि—

व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यय इति चेन्न प्रतिपत्तेर्गौरवात् ॥ १९ ॥

'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणं' यह एक सामान्य नियम है। इसका तात्पर्य यह है कि जहांपर किसी बातका संदेह होता है वहांपर शास्त्रका जैसा व्याख्यान होता है उसीके अनुसार विशेष ज्ञान कर लिया जाता है किंतु उस संदेहके होनेपर जो लक्षण वा सूत्र बनाया गया है वह मिथ्या

दिखाना रूप उपकार भी उनका दीख पडता है परंतु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी उपलब्धि नहीं दीख पडती और न उनका उपकार ही कोई दीख पडता है इसलिये गधेके सींगके समान धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अभाव ही है ? सो ठीक नहीं। यदि यहांपर यह माना जायगा कि जिसकी उपलब्धि नहीं है उसका अभाव है जिसतरह गधेके सींगकी उपलब्धि नहीं है इसलिये उसका अभाव माना जाता है तो उपलब्धि तो तीर्थंकर पुण्य पाप और परलोक आदि पदार्थोंकी भी नहीं है यदि उपलब्धि न होनेसे अभाव माना जायगा तो फिर तीर्थंकर आदिका भी अभाव कहना होगा परंतु तीर्थंकर आदिका अभाव किसीको इष्ट नहीं इसलिये उपलब्धिरूप हेतु व्यभिचार दोषग्रस्त है इसरीतिसे लाठी आदि पदार्थोंके समान यद्यपि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी उपलब्धि नहीं है तथापि उनकी नास्ति नहीं कही जा सकती। और भी यह बात है कि—

अनुपलब्ध्यसिद्धेः ॥ २९ ॥

अनुपलब्धि हेतु हमारे (जैन) सिद्धांतमें असिद्ध भी है क्योंकि धर्म और अधर्म दोनों द्रव्य भगवान अर्हंत सर्वज्ञके प्रत्यक्ष ज्ञानके विषयभूत हैं, उन्हें प्रत्यक्ष रूपसे दीख पडता है। उन्हीं भगवान सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत परमागममें उनका कथन किया गया है इसलिये उनका सद्भाव आगमसे सिद्ध है तथा आगममें जो धर्म और अधर्म द्रव्यका स्वरूप वर्णन किया गया है उसीके अनुसार धर्म और अधर्म द्रव्योंका कार्य दीख पडनेके कारण अनुमान प्रमाणसे भी उनका सद्भाव जाना जाता है इसरीतिसे जब प्रत्यक्ष, आगम और अनुमान प्रमाणसे धर्म और अधर्म द्रव्यकी उपलब्धि सिद्ध है तब अनुपलब्धिरूप हेतु असिद्ध होनेसे धर्म अधर्म द्रव्यका अभाव सिद्ध करनेवाला नहीं हो सकता। यहांपर यह नहीं

को अवकाशदान देनेवाला है इसलिये जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें उसीको सहकारी कारण मानना ठीक है धर्म और अधर्म द्रव्यके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं इसरीतिसे जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहकारी कारण धर्म द्रव्य है और स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है यह जो धर्म अधर्म द्रव्यकी कल्पना कर रक्खी है वह वृथा है ? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार नगरके भीतर रहनेवाले महलोंका आधार नगर है क्योंकि उसीके अन्दर महल रहते हैं उसीप्रकार धर्म अधर्म आदि पांचों द्रव्योंका आधार आकाश है इसलिये सब द्रव्योंको अवकाश दान देना बस यही आकाशका धर्म है। जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहायता पहुंचाना और स्थितिमें सहायता पहुंचाना आकाशका धर्म नहीं किंतु वह धर्म अधर्म द्रव्यका ही है । एकका जो धर्म है वह दूसरेमें रह नहीं सकता यह नियम है। यदि यह नियम न माना जायगा और एक पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थमें मान लिया जायगा तो जलका धर्म द्रवित होना है और अग्नि आदिका धर्म जलना आदि है वह पृथिवीका धर्म मान लिया जायगा परंतु ऐसा माना नहीं जाता किंतु जो जिसका धर्म है वह उसीका माना जाता है इसलिये जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें सहायता पहुंचाना रूप धर्म और अधर्म द्रव्यका धर्म आकाशका नहीं हो सकता, वह तो धर्म और अधर्मका ही रहेगा किंतु आकाशका सर्व द्रव्योंका अवगाहनदान देना यही धर्म है इसलिये जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें आकाशको सहायक मानकर धर्म और अधर्म द्रव्यकी कल्पना व्यर्थ बतलाना अयुक्त है। तथा—

आकाशास्तित्वेऽनुगृहीतद्रव्यसंबंधेन सामर्थ्याविर्भावदर्शनादनिमिषवज्यावत् ॥ २१ ॥

मछलीका गमन जलके संबंधसे होता है यदि जल न हो और चाहें भले ही आकाशका उपकार

कारणसे विवाद है उस कारणसे किसी बातका निर्णय नहीं हो सकता। अनुपलब्धि रूप हेतुके माननेपर यह विवाद विद्यमान है कि क्या गधेके सींगके समान धर्म और अधर्म द्रव्योंका निश्चित अभाव है वा आकाशके मूलमें रहनेवाले जल आदि पदार्थोंके समान संशयस्वरूप अभाव है अर्थात् उनका सद्भाव भी माना जा सकता है इसलिये इस हेतुसे यह कभी निश्चयरूपसे नहीं जा सकता कि धर्म और अधर्मद्रव्यकी सर्वथा नास्ति ही है, वे कोई संसारके अन्दर पदार्थ ही नहीं। इस रीतिसे अनुपलब्धि हेतुसे कभी धर्म और अधर्म द्रव्यका अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात्तत्सिद्धेः ॥ ३१ ॥

संसारमें यह प्रत्यक्ष दीख पडता है कि एक कार्यकी सिद्धिमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता पडती है जिसतरह मिट्टीका पिंड जिससमय घटकार्यरूप परिणत होता है उससमय घटस्वरूप परिणत होनेकी अंतरंग सामर्थ्य तो उस मिट्टीके अंदर ही है परंतु वाह्यमें कुंभार दंड चाक डोरा जल काल द्रव्य और आकाश आदिक अनेक सहायक कारणोंकी भी उसे अपेक्षा करनी पडती है तब वह मिट्टीका पिंड घट स्वरूप होता है। कुंभार चाक आदि वाह्य कारणोंकी सहायताके विना अकेले मिट्टीके पिंडमें घटस्वरूप परिणत होनेकी सामर्थ्य नहीं। उसीप्रकार पक्षी आदिक द्रव्य जिससमय चलने वा ठहरनेके लिये उद्यत हैं उससमय चलने वा ठहरनेकी अंतरंग सामर्थ्य तो उन्हींके अंदर है परंतु गति और स्थितिके सहकारी वाह्य कारणोंकी भी उन्हें अपेक्षा करनी पडती है तभी पक्षी आदिकी गति और स्थिति होती है, वाह्य कारणोंकी अपेक्षाके विना उनकी गति और स्थिति नहीं हो सकती। पक्षी आदिकी गति और स्थितिमें वे सहायक—वाह्य कारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। विना

वह ठीक नहीं, जो पद नञ् अव्ययसे विशिष्ट रहता है उसका भी अर्थ होता है जिसतरह अब्राह्मण पद नञ्विशिष्ट है क्योंकि 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' अर्थात् ब्राह्मण नहीं है यह अब्राह्मण शब्दकी व्युत्पत्ति है। यहांपर नञ् अव्ययके साथ ब्राह्मण पदका समास है और अब्राह्मण पदसे भिन्न क्षत्रिय आदिका ग्रहण है इसलिये जिसप्रकार यहांपर अब्राह्मण पद सार्थक माना जाता है उसीप्रकार लोक शब्द भी नञ् विशिष्ट है 'न लोक इत्यलोकः' अर्थात् जो लोक नहीं वह अलोक है यह अलोक शब्दकी व्युत्पत्ति है। यहांपर नञ् अव्ययके साथ लोक पदका समास है इसलिये यहांपर अलोक शब्द भी सार्थक है इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि लोक और अलोकके विभागकी रक्षार्थ जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें आकाश द्रव्य उपकारी नहीं बन सकता किंतु धर्म और अधर्मद्रव्य ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

स्वबाह्यकारणभावाभावयोस्तद्भावाभावदर्शनात्तदभाव इति चेन्न साधारणकारणत्वादाकाशवत् ॥ २२ ॥

गतिमान और स्थितिमान द्रव्योंकी जो नियमितरूपसे गति और स्थितिका होना दीख पडता है वह भिन्न भिन्नरूपसे नियमित अपने अपने बाह्य कारणोंके आधीन है अर्थात् जहां पर जिस प्रकारके बाह्य कारणोंकी आवश्यकता पडती है वहांपर उन्हींके अनुसार गति और स्थिति क्रियायें होतीं हैं विना बाह्य कारणोंके गति और स्थिति क्रियायें नहीं हो सकतीं। जिसतरह जल आदि बाह्य कारणोंके रहते ही मछली आदिकी गमनक्रिया होती है यदि जल आदि बाह्य कारणोंकी समीपता नहीं रहती तो उनकी गति नहीं होती। धर्म और अधर्म द्रव्यको तो जीव और पुद्गलोंकी गति स्थितिमें उपकारी माना ही नहीं जा सकता क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्यके रहते भी यदि जल आदिका अभाव है तो उन

हो इस बातकी रक्षार्थ कार्यमात्रके प्रति केवल संसर्गको ही कारण न मानकर अनेक कारण ही मान लेने चाहिये। तथा—

एकस्य कारणस्य संसर्गाभावात् ॥ ३३ ॥

संसर्ग पदार्थ भी अनेक कारणसिद्ध है अर्थात् उसकी सिद्धिमें अनेक कारण माने हैं क्योंकि कारणोंके संयोग विशेषका नाम संसर्ग है। संयोगी अर्थात् जिन पदार्थोंका आपसमें संयोग हो रहा है वे पदार्थ अनेक हैं इसलिये वह संयोग भी अनेक है इस रीतिसे कार्यके प्रति अनेक कारणोंकी सिद्धि होनेसे 'संसर्ग ही कारण है' इस प्रतिज्ञाकी हानि हो जाती है इसरूपसे अनेकस्वरूप संसर्ग कारणसे कार्योंकी सिद्धि जब युक्तिसिद्ध है तब कार्यमात्रके प्रति अनेक प्रकारके कारणोंका होना स्वतःसिद्ध हो जाता है। तथा—

स्वसमयविरोधात् ॥ ३४ ॥

हमारा (जैनाचार्योंका) यह सर्वथा पक्ष नहीं है कि जिस पदार्थकी प्रत्यक्षमें उपलब्धि नहीं होती वह संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है, इसलिये धर्म और अधर्मद्रव्यकी भले ही उपलब्धि मत हो तथापि उनका सद्भाव ही है, अभाव नहीं कहा जा सकता परन्तु जिस वादीका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती उसका अभाव ही है उसके मतमें स्वसमय अर्थात् स्व-आगमविरोध दोष आता है और वह इसप्रकार है—

संसारमें जितने भी वादी अर्थात् सिद्धांतकार हैं प्रायः सभी अपनेको प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थोंके जानकार मानते हैं एवं ऐसा कोई नहीं कहता कि हमारे अंदर दिव्यज्ञान नहीं और हम प्रत्यक्ष

स्थितिमें आकाशको भी साधारण कारण माननेमें कोई हानि नहीं हो सकती तब उसे ही कारण मानना ठीक होगा, धर्म और अधर्म द्रव्यको कारण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो भी अयुक्त है क्योंकि "आकाश ही जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें कारण है धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं" जो यह कहनेवाला है उसे समस्त सिद्धांतोंके साथ विरोधका सामना करना पडेगा अर्थात् जिसप्रकार यहां विरोध उपस्थित किया जाता है उसप्रकार हरएक मतमें विरोध उठाया जा सकता है। उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

नैयायिक और वैशेषिक लोग आकाश काल आत्मा और दिशा इन चार पदार्थोंको सर्वगत अर्थात् सर्वत्र रहनेवाला व्यापक मानते हैं और इन सबके लक्षण भिन्न भिन्न हैं यह स्वीकार करते हैं। यहांपर यह इससे पूर्व है और यह इससे उत्तर है, यह जो संसारमें व्यवहार प्रचलित है वह दिशानिमित्तक है अर्थात् दिशारूप पदार्थके माननेपर ही वैसा व्यवहार होता है तथा यह बालक पहिले जन्मा है और यह पीछे जन्मा है यह जो व्यवहार है वह कालनिमित्तक है क्योंकि यह छोटा है और यह बडा है यह व्यवहार काल पदार्थके माननेपर ही हो सकता है अन्यथा नहीं, ऐसा वे मानते हैं परंतु जिसप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्यके कार्यको आकाशमें कल्पना कर यह कहा जाता है कि आकाशद्रव्यसे ही कार्य चल जायगा धर्म और अधर्मद्रव्यके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं उसीप्रकार यहांपर भी यह कहा जा सकता है कि यह इससे पूर्व है और यह इससे उत्तर है इत्यादि दिशाका कार्य और यह पहिले जन्मा है और यह पीछे जन्मा है इत्यादि कालका कार्य ये दोनों कार्य सर्वव्यापी आकाशके द्वारा हो सकते हैं, दिशा और काल पदार्थके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं अतः दिशा और कालका अभाव ही मानना ठीक है। तथा—

यह कहना है कि अनेक परमाणुओंके समुदायसे रचे गये पृथिवी आदिक पदार्थ, उनमें रहनेवाले रूप रस आदि पदार्थ एवं पृथिवी आदिमें तथा रूप आदिमें रहनेवाले संख्या परिमाण पृथक्त्वसंयोग और विभाग आदि पदार्थ उन्हींका प्रत्यक्ष होता है परमाणु आकाश आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि लाठी आदि पदार्थोंकी जिसप्रकार उपलब्धि है उसप्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी उपलब्धि न होनेके कारण उनका अभाव माना जायगा तो उपर्युक्त बौद्धसिद्धांतमें विज्ञान आदि पदार्थोंकी, सांख्यसिद्धांतमें सत्त्व आदि पदार्थोंकी और नैयायिक एवं वैशेषिकसिद्धांतमें परमाणु आकाश आदि पदार्थोंकी भी उपलब्धि नहीं होती क्योंकि जो विज्ञान आदिके माननेवाले हैं वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि विज्ञान आदिका किसीको भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये धर्म अधर्म आदिके समान इनका भी अभाव मानना होगा तथा यदि इनका अभाव माना जायगा तो स्वआगमविरोध होगा क्योंकि आगममें उनके अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है और यहां उपलब्धि न होनेसे उनके अभावकी आपत्ति आती है यदि यहां पर यह कहा जायगा कि विज्ञान आदि पदार्थोंके संसारमें कार्य दीख पडते हैं यदि उन्हें न माना जायगा तो उनके कार्य नहीं होने चाहिये इसलिये उनका सद्भाव ही है, अभाव

१—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो, द्रव्याणि तद्वंति पृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिणामयुक्तं ॥ ५४ ॥ (मुक्तावलि पृष्ठ ६२)

अर्थात्—जो रूप गुण उद्भूत अर्थात् प्रकटस्वरूप है उसका नेत्रसे प्रत्यक्ष होता है किंतु ग्रीष्म ऋतुकी गरमीमें और ऊष्मा आदिमें रहनेवाले अप्रकट रूप गुणका प्रत्यक्ष नहीं होता तथा उस उद्भूतरूपके धारक जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं उनका नेत्रसे प्रत्यक्ष होता है तथा पृथक्त्व संख्या विभाग संयोग परत्व अपरत्व स्नेह द्रवत्व और परिणाम गुणका प्रत्यक्ष होता है।

जहांपर किसी मांसके टुकडेपर समानशक्तिके धारक दो पक्षी खींचनेवाले हैं वहांपर एक पक्षी स मांसके टुकडेको खींचकर आगे ले जाता है दूसरा पक्षी उतना ही उसे पीछे खींच लेता है अर्थात् दोनों पक्षियोंके समानशक्तिके धारक होनेसे न तो आगे ले जानेवालेमें यह सामर्थ्य है कि वह आगे लेता ही चला जाय और न पीछे ले जानेवालेमें यह सामर्थ्य है कि वह पीछे लेता ही चला जाय किंतु जितना एक आगे खींचकर लेजाता है उतना ही दूसरा पीछे हटा लाता है इसलिये एक पक्षी दूसरे पक्षीके कार्यका बाधक होनेसे जिसप्रकार यहांपर उत्कर्षगति और अपकर्ष गतिका विधान संभव नहीं होता अर्थात् न आगेको खींचना ही बनता है और न पीछेको हटाना ही बनता है उसीप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्यको जगत्व्यापी अर्थात् समस्त लोकाकाशमें रहनेवाला माना है तो जिससमय धर्मास्तिकायकी सहायतासे जीव और पुद्गलोंकी गति होगी उसीसमय अधर्मास्तिकायकी सहायतासे उनकी स्थिति भी होगी इसलिये स्थितिके द्वारा गतिका रुकना हो सकता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी कार्य हैं तथा जिससमय अधर्म द्रव्यकी सहायतासे जीव और पुद्गलोंकी स्थिति होगी उससमय धर्मद्रव्यकी सहायतासे उनकी गति भी होगी इसलिये स्थितिका गतिरूप कार्य विरोधी होनेसे उसके द्वारा गतिका रुकना हो सकता है इसरीतिसे आपसमें एककी दूसरेके द्वारा रुकावट होनेसे न तो जीव और पुद्गलोंकी गति ही सिद्ध हो सकती है और न स्थिति ही सिद्ध हो सकती है अतः जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका उपकारीपना सिद्ध न होनेके कारण दोनोंका मानना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार लंगडे पुरुषमें चलनेकी स्वयं सामर्थ्य है परंतु वह लाठीकी सहायताकी आकांक्षा रखता है तथा नेत्रमें पदार्थोंके देखनेकी स्वयं सामर्थ्य है तथापि वह दीपककी आकांक्षा

वादी जिसप्रकार स्वयं अथवा अन्य किसी पुरुष द्वारा अपने जीवन मरण आदिका प्रत्यक्ष न रहने पर भी केवल सर्वज्ञ भगवानने देखा है इसी आधारसे उनका अस्तित्व स्वीकार करता है उसप्रकार यद्यपि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका भी किसी मनुष्यको प्रत्यक्ष नहीं तथापि भगवान सर्वज्ञ उनके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे जानते हैं इसलिये उनका अस्तित्व भी निर्बाध है—उनका भी अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

ज्ञानादिवदिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ३६ ॥

आत्माके परिणाम ज्ञान दर्शन आदिक और दुग्ध आदिके परिणाम दही आदिक पदार्थोंकी रचना जिसप्रकार एक दूसरेके आधीन है किन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सिवाय कोई अन्य द्रव्य उनकी रचनामें कारण नहीं माना जाता उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंके जो गति और स्थितिरूप परिणाम होते हैं वे एक दूसरेके आश्रयसे होते हैं, उनके होनेमें भी किसी खास द्रव्यकी सहायताकी आवश्यकता नहीं इसलिये उनकी गति और स्थितिमें जो धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको कारण मान रक्खा है वह ठीक नहीं क्योंकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामका कोई भी संसारके अन्दर पदार्थ नहीं, उनका अभाव ही है। सो भी ठीक नहीं। पक्षी आदिकी गति और स्थितिमें सहायता पहुंचानेवाला कोई वाह्य साधारण कारण अवश्य मानना होगा, विना वाह्य साधारण कारणके उनकी गतिस्थिति नहीं हो सकती और वह साधारण कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही है इसरूपसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अभाव नहीं कहा जा सकता। यह बात पहले खूब खुलासारूपसे कही जा चुकी है।

जहांपर किसी मांसके टुकडेपर समानशक्तिके धारक दो पक्षी खींचनेवाले हैं वहांपर एक पक्षी उस मांसके टुकडेको खींचकर आगे ले जाता है दूसरा पक्षी उतना ही उसे पीछे खींच लेता है अर्थात् दोनों पक्षियोंके समानशक्तिके धारक होनेसे न तो आगे ले जानेवालेमें यह सामर्थ्य है कि वह आगे लेता ही चला जाय और न पीछे ले जानेवालेमें यह सामर्थ्य है कि वह पीछे लेता ही चला जाय किंतु जितना एक आगे खींचकर लेजाता है उतना ही दूसरा पीछे हटा लाता है इसलिये एक पक्षी दूसरे पक्षीके कार्यका बाधक होनेसे जिसप्रकार यहांपर उत्कर्षगति और अपकर्ष गतिका विधान संभव नहीं होता अर्थात् न आगेको खींचना ही बनता है और न पीछेको हटाना ही बनता है उसीप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्यको जगत्व्यापी अर्थात् समस्त लोकाकाशमें रहनेवाला माना है तो जिससमय धर्मास्ति-कायकी सहायतासे जीव और पुद्गलोंकी गति होगी उसीसमय अधर्मास्तिकायकी सहायतासे उनकी स्थिति भी होगी इसलिये स्थितिके द्वारा गतिका रुकना हो सकता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी कार्य हैं तथा जिससमय अधर्म द्रव्यकी सहायतासे जीव और पुद्गलोंकी स्थिति होगी उससमय धर्मद्रव्यकी सहायतासे उनकी गति भी होगी इसलिये स्थितिका गतिरूप कार्य विरोधी होनेसे उसके द्वारा गतिका रुकना हो सकता है इसरीतिसे आपसमें एककी दूसरेके द्वारा रुकावट होनेसे न तो जीव और पुद्गलोंकी गति ही सिद्ध हो सकती है और न स्थिति ही सिद्ध हो सकती है अतः जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका उपकारीपना सिद्ध न होनेके कारण दोनोंका मानना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार लंगडे पुरुषमें चलनेकी स्वयं सामर्थ्य है परंतु वह लाठीकी सहा-यताकी आकांक्षा रखता है तथा नेत्रमें पदार्थोंके देखनेकी स्वयं सामर्थ्य है तथापि वह दीपककी आकांक्षा

धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप है इसलिये उनकी ओरसे यह शंका है कि अदृष्ट नामका आत्माके अन्दर एक गुण है । आत्मामें जो सुख और दुःख होता है उसके होनेमें कारण यही अदृष्ट गुण है एवं सुख और दुःखके कारण जो आत्मामें आकर जुटते हैं वे भी इसीके द्वारा होते हैं। तथा अग्निकी लौ का (शिखा) इधर उधर न जाकर सीधा ऊपर जाना, पवनका तिरछा चलना, परमाणु और मनमें सबसे पहिले कर्मकी (क्रिया) उत्पत्ति होना, पदार्थोंका फैलना सिकुडना, काले पीले पदार्थोंका संयोग होना और एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरसे संयोग होना इत्यादि जितने भर भी संसारके अन्दर कार्य दीख पडते हैं उन सबका कारण भी अदृष्ट है इसरीतिसे जब अदृष्ट इतने इतने अद्भुत कार्योंका कर्ता है तब उसकी ही सहायतासे जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति भी निर्बाधरूपसे हो सकती है उनमें सहायता पहुंचानेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो भी अयुक्त है क्योंकि यह नियम है कि जो जिसका गुण होता है वह गुणीके स्वभाववाला ही होता है और वह उसीके अंदर रह सकता है। अदृष्टको आत्माका गुण माना है इसलिये आत्मा जब चेतन है तब अदृष्टको भी चेतन ही मानना होगा तथा उसका सद्भाव आत्माके ही अन्दर हो सकेगा पुद्गलके अन्दर नहीं इसरीतिसे धर्म अधर्म स्वरूप वा पुण्य और पापस्वरूप अदृष्टका आधार आत्मा ही होनेके कारण उसीकी गति और स्थितिमें वह कारण पड सकता है किंतु पुद्गल अचेतन पदार्थ है उसके अन्दर अदृष्टका रहना हो नहीं सकता इसलिये उसकी गति और स्थितिमें वह कारण नहीं पड

स्वर्गादि सकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः । नरकदुःखादिसकलदुःखानां नारकिशरीराणां च साधनमधर्म इत्यर्थः। जीवेति ईश्वरस्य धर्माधर्माभावात्। [नैयायिकसिद्धांत मुक्तावली पृष्ठ १६६]

हो सकते इसरीतिसे जब गति और स्थितिमें आपसमे प्रतिवंध्यप्रतिबंधक भाव नहीं तब उनमें सहायता पहुंचानेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अवश्य मानने ही होंगे। और भी यह बात है कि—

कचिदुपग्राहकाभावेऽपि गतिस्थितिदर्शनात्पतत्रिवत् ॥ २५ ॥

जिसप्रकार पक्षीमें प्रकृष्ट गतिस्थिति क्रियारूप परिणामकी सामर्थ्य रहती है अर्थात् वह अपनी गति और स्थितिरूप क्रियामें किसी भी वाह्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये मछलियोंकी गतिमें जिसप्रकार जल आदि पदार्थ सहायक हैं उसीप्रकार प्रकृष्ट गति स्थितिरूप परिणामके धारक पक्षीकी गति और स्थितिमें जब कोई वाह्य कारण सहायता पहुंचानेवाला नहीं दीख पडता तब उसकी जो गति और स्थिति दीख पडती है वह धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भावसे ही दीख पडती है इसीप्रकार अन्य द्रव्योंकी गति और स्थिति भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी सहायतासे होती हैं इसरीतिसे जल आदि वाह्य कारणोंकी सहायताके विना भी जब जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति केवल धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सहारेसे ही सिद्ध है तब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अभाव नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

तत्राप्याकाशं निमित्तमिति चेदुक्तं ॥ २६ ॥

पक्षी आदिमें प्रकृष्ट गति और स्थितिकी कल्पना कर उनकी गति और स्थितिमें कोई वाह्य कारण सहायक न होकर जो धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको उनका सहायक माना है वहांपर आकाशको ही सहायक कारण मान लेना चाहिये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं? यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि समस्त द्रव्योंको अवकाश दान देना यही आकाशका लक्षण है

की गति और स्थितिमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको ही सहायक मानना होगा। तथा यह भी बात है कि—

पुण्य पापरूप अदृष्टके रहते ही यदि गति और स्थितिरूप क्रियायें हों तब तो उनका सहायक अदृष्ट गुण माना जा सकता है किंतु यह शास्त्रसिद्ध बात है कि जिस समय चौदहवें गुणस्थानमें आत्मा समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश कर देता है और सिद्ध बन जाता है उस समय यद्यपि उसके पुण्य और पापका बंधस्वरूप अदृष्ट सर्वथा नष्ट हो जाता है तथापि उसकी गति स्थिति मानी गई हैं। यदि अदृष्ट ही गति और स्थितिमें कारण माना जाय तो उस समय सिद्धात्माकी गति और स्थिति नहीं होनी चाहिये इसलिये अदृष्ट जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें सहायक नहीं हो सकता किंतु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही सहायक हैं इसरीतिसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धि निराबाध है। शंका—

अमूर्तत्वाद् गतिस्थितिनिमित्तत्वानुपपत्तिरिति चेन्न दृष्टांताभावात् ॥ ४० ॥

आकाशप्रधानविज्ञानादिवत्तत्सिद्धेः ॥ ४१ ॥

रूप आदि गुणोंके पिंडको मूर्तिक कहते हैं। जैनसिद्धांतमें केवल पुद्गलद्रव्यको मूर्तिक माना है, पुद्गलके सिवाय और सब द्रव्योंको अमूर्तिक माना है। धर्म और अधर्म द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। जो अमूर्तिक पदार्थ होता है वह किसीकी गति और स्थितिमें कारण नहीं हो सकता इसलिये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको जो जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें कारण माना गया है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जिस बातका भी निर्णय करना होता है वह दृष्टांतसे स्फुटरूपसे होता है। अमूर्तिक

तो यही एकांत है कि गमन करनेवाला लाठी आदिकी सहायतासे ही गमन करता है और न यही एकांत हो सकता है कि गमन करनेवाला गमन करते समय लाठी आदिके सहारेकी अपेक्षा ही नहीं रखता किंतु कहींपर यष्टि आदिकी सहायताकी आकांक्षा नहीं रहती और कहींपर रहती है यह अनेकांत है। उसीप्रकार न तो यह एकांत है कि जीव-पुद्गलोंकी गति और स्थिति वाह्य कारणोंके द्वारा ही होती है विना उनके नहीं होती और न यही एकांत है कि उनकी गति और स्थिति वाह्य कारणोंके विना ही होती है किंतु कहींपर वाह्य कारणोंकी अपेक्षा रहती है और कहींपर वाह्य कारणोंकी अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती यह अनेकांत है इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि प्रकृष्ट गति और स्थितिशाली पक्षी आदिकी जहांपर गति और स्थिति होती है वहांपर उनकी गति और स्थितिमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही उपकारी हैं और जिन जीवोंके प्रकृष्ट गति और स्थितिका अभाव है ऐसे मछली आदि जीवोंकी गति और स्थितिमें जल आदि पदार्थ भी उपकारी हैं परंतु वहांपर भी उदासीन कारण धर्म अधर्म द्रव्य अवश्य हैं इसरीतिसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अनुपलब्धेरभाव इति चेन्न स्वतार्थिकराद्यभावप्रसंगात ॥ २८ ॥

जिन पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती उनका अभाव ही माना जाता है जिसतरह गधेके सींगकी उपलब्धि नहीं है इसलिये उसका अभाव ही माना जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पदार्थोंकी भी उपलब्धि नहीं है इसलिये उनका भी अभाव मानना होगा क्योंकि लाठी आदि जो पदार्थ विद्यमान हैं उन्हींकी संसारमें उपलब्धि दीख पड़ती है और यहां जमीन नीची है और यहां ऊंची है इत्यादि भेदका

अधर्मास्तिकाय भी अमूर्तिक हैं तथापि वे जीव और पुद्गलोंकी गति स्थितिमें सहकारी कारण हैं कोई भी दोष नहीं ॥ १७ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका इंद्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता परंतु वे जीव और पुद्गलों-के गति और स्थितिमें उपकारी कारण हैं, बस ! एतावन्मात्र संबंधसे उनका आस्तित्व मान लिया जाता है इसलिये यहांपर यह शंका होती है कि—जिनका इंद्रियोंसे ज्ञान नहीं ऐसे भी धर्मास्तिकाय और अध-र्मास्तिकायका जब जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें उपकारके संबंधसे आस्तित्व मान लिया जाता है तब धर्म और अधर्मके बाद आकाशद्रव्यका भी उल्लेख किया गया है और वह भी अतींद्रिय पदार्थ है इसलिये उसका ज्ञान करानेवाला कौनसा गुण है ? जिसके द्वारा हम धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-के समान उसका भी आस्तित्व मान सकें अतः सूत्रकार उसके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले असाधारण गुणका प्रतिपादन करते हैं—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

समस्त द्रव्योंको अर्थात् जीव आदि पांचों द्रव्योंको अवकाश देना—जगह देना आकाश द्रव्यका उपकार है। आकाश शब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्यान ऊपर विस्तारसे कह दिया गया है।

अवगाहशब्दो भावसाधनः ॥ १ ॥

यहांपर अवगाह शब्द भावसाधन है अर्थात् यहांपर भाव अर्थमें प्रत्यय किया गया है। 'अवगाहनं अवगाहः' यह अवगाह शब्दकी व्युत्पत्ति है। अवगाह और अनुप्रवेश ये दोनों शब्द 'जगह देना' रूप एक अर्थके वाचक हैं। शंका—

कह देना चाहिये कि अनुपलब्धि हेतु असिद्ध हो तथापि धर्म और अधर्मके नास्ति रूप साध्यको वह सिद्ध कर देगा ? क्योंकि यह नियम है कि जो स्वयं असिद्ध है वह किसी भी साध्यके सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता। अनुपलब्धिरूप हेतु यहांपर असिद्ध है इसलिये उससे भी यहांपर धर्म और अधर्मकी नास्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। तथा—

अत एव विवादात् ॥ ३० ॥

लाठी आदि पदार्थ जिसप्रकार प्रत्यक्ष दीख पडते हैं उसप्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रत्यक्षरूपसे नहीं दीख पडते इसलिये उनके विषयमें इसप्रकारका विवाद होता है कि क्या धर्म और अधर्मकी उपलब्धि न होनेके कारण गधेके सींगके समान उनका अभाव है ? अथवा आकाशके मूलमें होनेवाले जल आदि पदार्थोंके समान उनका अभाव है ? अर्थात् गधेके सींगका अभाव तो प्रत्यक्ष दीख पडता है कि किसी भी गधेके सींग नहीं इसलिये गधेके सींग रूपसे उसकी सर्वथा उपलब्धि न होनेसे यह भावना उठ खडी होती है कि क्या गधेके सींगके समान धर्म और अधर्म द्रव्य कोई पदार्थ ही नहीं ? तथा आकाशके मूलमें रहनेवाले जल आदिके होने न होनेका कोई निश्चय नहीं परंतु उसकी उपलब्धि नहीं होती इसलिये धर्म और अधर्मकी उपलब्धि न होनेसे यह भी भावना उदित होती है कि क्या आकाशके मूलमें रहनेवाले जल आदिके समान धर्म अधर्मका अभाव है ? अर्थात् निश्चितरूपसे अभाव नहीं है किंतु उपलब्धि मात्र न रहनेसे अभाव मान लिया जा सकता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि किसी तरहका विवाद हो परंतु जिस पदार्थकी उपलब्धि नहीं उसका अभाव ही मानना होगा। धर्म और अधर्म द्रव्यकी उपलब्धि नहीं इसलिये उनका अभाव ही है ? सो ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम है जिस

सकती तो भी धर्म और अधर्मका लोकाकाशमें अवगाह है यह कथन व्यवहार दृष्टिसे है इसलिये व्यवहारसे धर्म और अधर्ममें अवगाहन क्रियाका मानना बाधित नहीं। शंका—

अयुतसिद्धानामाधाराधेयत्वानुपपत्तिरिति चेन्न तत्रापि दर्शनात् पाणिलेखावत् ॥ ३ ॥

जो पदार्थ भिन्न भिन्न रूपसे सिद्ध हों उन्हें युतसिद्ध कहते हैं और जो पदार्थ भिन्न भिन्नरूपसे सिद्ध न हों वे अयुतसिद्ध कहे जाते हैं। संसारमें यह बात दीख पडती है कि जो पदार्थ भिन्न भिन्न रूपसे सिद्ध हैं उन्हींमें आधाराधेय भाव अर्थात् एक आधार और दूसरा आधेय यह व्यवस्था दीख पडती है क्योंकि आधाराधेयभाव संबंध वहीं पर माना गया है जहां पर अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति हो अर्थात् जो आधार है उसमें पहलेसे ही आधेय पदार्थ प्राप्त हुआ न हो किंतु जहांपर अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति नहीं वहां पर आधाराधेयभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती, इसके प्रसिद्ध दृष्टान्त कुंडबदर आदि हैं अर्थात् कुंड और बेर दोनों पदार्थ आपसमें भिन्न भिन्न हैं और जिस समय कुंडमें बेर छोडे जाते हैं उस समय कुंड आधार और बेर आधेय कहे जाते हैं इसलिये आपसमें उनका आधाराधेयभाव संबंध है परन्तु यह व्यवस्था धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशके अंदर नहीं बन सकती क्योंकि कुंड और बेरोंके समान धर्म अधर्म द्रव्य और आकाशको पृथक् पृथक् नहीं माना गया तथा आकाश पहिलेसे हो और धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य पीछेसे लाकर उसमें रक्खे गये हों यह भी बात नहीं इसलिये अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिका भी उनके अंदर अभाव है इसरूपसे आधाराधेयभाव न घटने पर जो धर्म और अधर्म द्रव्यको आधेय और आकाश द्रव्यको आधार मान रक्खा है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं, यदि यही नियम निर्धारित हो कि जहांपर युतसिद्धि अर्थात् भिन्न भिन्न रूपसे पदार्थ सिद्ध हों वहीं पर आधाराधेयभाव होता है अन्यत्र नहीं तब तो वादीके मतानुसार धर्म अधर्म और आकाशमें आधारा-

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके पक्षी आदिकी गति और स्थिति नहीं हो सकती इसलिये इस रूपसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धि निर्बाध है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—इसप्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धिसे क्या प्रयोजन है? तो उसका समाधान यह है कि अनुपलब्धिरूप हेतुसे शंकाकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका सर्वथा अभाव करना चाहता था, यहां पर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धिसे उस अनुमानका विरोध हो गया इसलिये उस अनुमानका विरुद्ध बताना ही यहां धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धिका प्रयोजन है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

संसर्ग एव हेतुरिति चेन्न कारणनियमाभावप्रसंगात् ॥ ३२ ॥

तंतुओंको पटका उत्पादक कारण माना है। यदि वे तंतु जुदे जुदे पडे रहें तो उनमें पटरूप कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती किंतु जिससमय आपसमें उनका संबंध हो जाता है उसीसमय उनसे पटरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है इसलिये कार्यकी उत्पत्तिमें संसर्ग अर्थात् कारणोंका संयोग ही एक कारण है उसकी उत्पत्तिमें अनेक कारण नहीं? सो ठीक नहीं, यदि सामान्यसे संसर्गको ही कारण माना जायगा तो कारणोंका नियम तो सिद्ध होगा नहीं अतः जिन किन्हीं कारण अर्थात् अनियमित कारणोंसे भी पटकी उत्पत्ति हो सकती है फिर जहांपर अन्य कार्यके उत्पादक कारणोंका संसर्ग है वहांपर भी पटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि भिन्न भिन्न पट आदि कार्योंके विशिष्ट विशिष्ट तंतु आदि कारणोंका संसर्ग कारण है तब कार्योंके उत्पादक अनेक कारणोंकी ही सिद्धि होगई, संसर्गरूप ही विशेष कारण सिद्ध नहीं हुआ इस रीतिसे कारणोंका अनियम सिद्ध न

चित् अनादि संबंधवाला भी माना है, कथंचित् अयुतसिद्ध भी माना है और कथंचित् युतसिद्ध भी माना है इसलिये वहांपर आधाराधेयके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। खुलासा इसप्रकार है—

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे नय दो प्रकारके माने हैं यह पहिले खुलासा रूपसे बतला दिया गया है। द्रव्यार्थिकनयमें केवल द्रव्यकी ओर दृष्टि रहती है, पर्यायोंकी ओर नहीं इसलिये उसकी अपेक्षा किसी भी पर्यायका विनाश और उत्पाद नहीं होता और पर्यायार्थिकनयमें केवल पर्यायोंकी ओर दृष्टि रहती है द्रव्यकी ओर नहीं इसलिये इसकी अपेक्षा उत्पाद विनाश होता है। प्रकृतमें जिससमय द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा रखकर द्रव्यकी ओर दृष्टि रक्खी जायगी और पर्यायार्थिकनयको गौण माना जायगा उससमय धर्म और अधर्ममें किसीप्रकारकी पर्यायोंके परिणमनकी विवक्षा न होनेके कारण वे आकाशके साथ अनादि संबंधवाले और अयुतसिद्ध हैं किंतु जिससमय पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा रखकर पर्यायोंकी ओर दृष्टि रक्खी जायगी उससमय पर्यायोंके विनाश और उत्पादके कारण धर्म और अधर्मद्रव्यका भी विनाश मानना होगा इसलिये पर्यायोंकी अपेक्षा धर्म और अधर्मद्रव्यके विनष्ट होने-पर जहां फिरसे उत्पाद होगा वहांपर आदिसंबंधवाले भी माने जांयगे क्योंकि पर्यायकी अपेक्षा धर्म-द्रव्य और अधर्मद्रव्यका नाश होकर फिरसे आकाशके साथ संबंध हुआ है और वे युतसिद्ध भी हैं क्योंकि नष्ट और उत्पन्न होकर संयोग करना यह भेद रहनेपर ही हो सकता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि इस अनेकांत प्रक्रियाके दिखानेसे प्रकृतमें क्या उपयोग हुआ ? तो उसका समाधान यह है [1]कि धर्म, अधर्म और आकाशमें कथंचित् अवगाह और आधाराधेयभावकी सिद्धि हो गई क्योंकि शंका-

१—जैनसिद्धांतमें धर्म अधर्म आदिके अन्दर एक अगुरुलघुगुण माना गया है उसके द्वारा उनमें विनाश उत्पाद क्रियायें होती रहती हैं।

पदार्थकी दूसरे पदार्थमें प्रवेश करनेकी शक्ति है, वे आपसमें एक दूसरेमें प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये स्थूल पदार्थोंका आपसमें प्रतिघात होनेसे आकाशके अवकाश दान देनेकी शक्तिका निषेध नहीं किया जा सकता अर्थात् आकाशकी तो सबको अवकाशदान देनेकी सामर्थ्य है। यदि स्थूल पुद्गल आपसमें टकरा जाते हैं तो यही कहा जा सकता है कि एक स्थूल पुद्गल दूसरे स्थूल पुद्गलको अवकाशदान नहीं देता किंतु वैसा होनेसे आकाशकी अवकाशदान देनेमें कमी नहीं मानी जा सकती। यदि फिर भी यहांपर यह शंका की जाय कि—

असाधारणलक्षणत्वानुपपत्तेरिति चेन्न सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः ॥ ८ ॥

ऊपर यह कहा गया है कि जो पदार्थ सूक्ष्म हैं उनका परस्परमें अनुप्रवेश है—एक दूसरेको अवगाहन देता है इसलिये यहांपर यह कहा जा सकता है कि जब सूक्ष्म पदार्थ आपसमें एक दूसरेको अवकाश दान देते हैं तब सब जीवोंको अवकाश दान देना यह आकाशका ही असाधारण लक्षण नहीं बन सकता तथा यह नियम है जिस पदार्थका असाधारण लक्षण सिद्ध नहीं उसका संसारके अंदर अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यहांपर अवकाश दान देना जब आकाशका लक्षण नहीं सिद्ध होता तब आकाशका भी अभाव कहना होगा? सो ठीक नहीं। घोडे आदिकी गतिस्थितिमें सहायता पहुंचानेवाले पृथिवी आदि पदार्थोंके रहते भी असाधारण रूपसे समस्त पदार्थोंकी गतिस्थितिमें उपकार करना धर्म अधर्म द्रव्यका ही कार्य माना गया है इसलिए इस असाधारण कार्यरूप हेतुके बलसे जिसप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्यके आस्तित्वका निश्चय कर लिया जाता है उसीप्रकार यद्यपि सूक्ष्म पदार्थ भी आपसमें एक दूसरेको अवकाशदान देते हैं तथापि समस्त पदार्थोंको सामान्यरूपसे अवकाश

नहीं कहा जा सकता । तो इसका समाधान यह है कि जिसप्रकार विज्ञान आदि पदार्थोंके कार्य देख कर उनका सद्भाव मान लिया जाता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंका गति और स्थितिमें सहायता पहुंचाना धर्म और अधर्म द्रव्योंका कार्य भी सर्वानुभवसिद्ध है इसलिये धर्म और अधर्मका भी सद्भाव मान लेना चाहिये, उनके सद्भावके माननेमें क्या दोष है इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि धर्म और अधर्म द्रव्योंकी सिद्धि निर्बाध है। और भी यह बात है कि—

त्वदीयजीवितमरणादिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३५ ॥

जो वादी यह कहता है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका प्रत्यक्ष नहीं है इसलिये उनका अभाव है उसके प्रति यह कहा जाता है कि भाई ! तुम्हारे अन्दर जीवन मरण सुख दुःख आदि अनेक धर्म मौजूद हैं परन्तु उनका किसी दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए उनका भी अभाव कह देना चाहिये परन्तु यह बात न तो तुम मान सकते हो और न कोई अन्य मान सकता है क्योंकि हर एक वहांपर यह कह सकता है कि भले ही उनका प्रत्यक्ष अल्पज्ञानियोंको न हो परन्तु अतिशय ज्ञानके धारक भगवान सर्वज्ञके प्रत्यक्ष—गोचर है इसलिए उनकी सर्वथा नास्ति नहीं कही जा सकती इसलिए जिसप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावको माननेवाले वादीके जीवन मरण सुख दुःख आदिका यद्यपि किसीको भी प्रत्यक्ष नहीं तथापि अतिशय ज्ञानवान भगवान सर्वज्ञ उनके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे जानते और देखते हैं इसी आधारसे उनका सद्भाव मान लिया जाता है उसी प्रकार अल्पज्ञानके धारक वादीके ज्ञान में भले ही धर्म और अधर्म द्रव्यके सत्त्वका निश्चय न हो तथापि परमऋषि भगवान सर्वज्ञके द्वारा उनके स्वरूपका स्पष्टरूपसे ज्ञान है इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्यका कभी भी अभाव नहीं हो सकता इसलिये

वहांपर उसकी प्रकटता नहीं जान पडती परन्तु उसका वह स्वभाव नष्ट नहीं माना जा सकता। लोका-काशमें अवगाहन करनेवाले पदार्थ मोजूद हैं इसलिये वहां उसके अवकाशदान देनेकी प्रकटता जान पडती है और अलोकाकाशमें अवगाहन करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं इसलिये वहां अवकाशदानकी प्रकटता नहीं जान पडती परन्तु वहांपर अवकाशदान देनारूप जो आकाशका स्वभाव है उसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि अवगाहन करनेवाले पदार्थोंके रहते वह उन्हें अवकाशदान दे सकता है। इस रूपसे जब आकाशका 'अवकाशदान देना' रूप लक्षण निर्बाधरूपसे सिद्ध है तब उसका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

अजातत्वादभाव इति चेन्नासिद्धेः॥ १०॥

आकाश कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता जिसतरह गधेका सींग अर्थात् जिस-प्रकार गधेकी सींगकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये वह कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता उसीप्रकार आकाश पदार्थकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये वह भी कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता अतः आकाश पदार्थका अभाव ही है? सो ठीक नहीं। इस अनुमानमें रहनेवाले 'अजातत्व' हेतुसे जो आकाशका अभाव सिद्ध किया गया है वह अजातत्वरूप हेतु ही असिद्ध है। खुलासा इसप्रकार है—

आगममें नित्यद्रव्योंके अन्दर उनकी परिणतिमें कारण एक अगुरुलघु नामका गुण माना है। वह गुण स्वयं प्रतीतिस्वरूप है और उसीके द्वारा नित्य द्रव्योंमें षड्गुणी वृद्धिहानिरूप पर्यायोंका परिणमन हुआ करता है। आकाश भी नित्यद्रव्य है उसमें भी अगुरुलघु गुण माना है इसलिये उसके द्वारा आकाशके अन्दर भी षड्गुणी वृद्धि हानिस्वरूप परिणमन हुआ करता है। वृद्धिहानिका अर्थ भी

वादीने जो यह कहा है कि जिसप्रकार ज्ञान आदि वा दधि आदि जो भी विकार होते हैं वे आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षासे ही होते हैं उनके उस प्रकारके विकारोंके होनेमें किसी भी वाह्य द्रव्यकी सहायताकी आवश्यकता नहीं उसीप्रकार जीव पुद्गलोंकी भी गति स्थितिरूप क्रियायें एक दूसरेकी अपेक्षासे हो सकती हैं उनके होनेमें सहायक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, वह समाधान यहां पर विषम पडता है क्योंकि हर एक सिद्धान्तकारने पदार्थोंके विकारोंके होनेमें वाह्य-कारण काल माना है, यदि कालद्रव्यका अस्तित्व न माना जाय तो पदार्थ जिस निर्विकाररूपसे स्थित हैं उन्हें उसीप्रकारका माना जायगा, विना कालद्रव्यकी सहायतासे उनका किसी प्रकारका भी विकार नहीं हो सकता इसलिये जिसप्रकार आत्माकी ज्ञान आदि परिणति और दूध आदिकी दधि आदि परि-णतिमें कालद्रव्य वाह्यकारण सर्वसम्मत है उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंकी जो गति और स्थिति होती हैं वे भी विना वाह्यकारणोंकी सहायताके नहीं होतीं इसलिये उनके सहायक भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं इसरीतिसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अभाव सिद्ध करनेके लिये जो वादीने समाधान दिया था वह विषम होनेसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अभावका साधक न हो सका तब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी सिद्धि निर्बाध है, उनका अभाव नहीं हो सकता। शंका—

अदृष्टहेतुके गतिस्थिती इति चेन्न पुद्गलेष्वभावात् ॥ ३७ ॥

नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकारोंने एक अदृष्ट नामका गुण मान रक्खा है और उसका अर्थ

---

(१) धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनं ॥ १६१ ॥
अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निंदितकर्मजः, प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ ॥ १६२ ॥

क्षुका उससमय उसका असर्वज्ञरूपसे विनाश माना जाता है क्योंकि उससमय उसका असर्वज्ञपना उपलब्ध नहीं होता इसरीतिसे जिसप्रकार यहांपर आत्माका सर्वज्ञरूपसे उत्पाद और असर्वज्ञरूपसे विनाश माना जाता है उसीप्रकार जो आत्मा जिस क्षणमें सर्वज्ञ नहीं है उस क्षणमें उसे आकाशका प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु दूसरे ही क्षणमें जिससमय वह सर्वज्ञ हो जाता है उससमय वह प्रत्यक्षरूपसे आकाशको जान लेता है इसलिये सर्वज्ञता हो जानेपर जहां प्रत्यक्षरूपसे आकाशकी उपलब्धि होती है वहां तो प्रत्यक्षरूपसे आकाशका उत्पाद माना जाता है, एवं सर्वज्ञता होनेपर जहांपर आकाशके अज्ञानका विनाश होता है वहांपर अप्रत्यक्षरूपसे उसका विनाश माना जाता है। यदि आकाशका अप्रत्यक्षरूपसे विनाश और प्रत्यक्षरूपसे उत्पाद न माना जायगा तो सर्वज्ञका सर्वज्ञपना ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञज्ञानके पहिले आकाश आदि पदार्थ अनुपलब्धस्वरूप हैं। यदि उनके अनुपलब्धपनेका नाश और उपलब्धपनेका उत्पाद नहीं माना जायगा तो वे अनुपलब्धके अनुपलब्धस्वरूप ही रह जांयगे—सर्वज्ञके ज्ञानसे उनकी उपलब्धि न हो सकेगी और फिर कोई सर्वज्ञ ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सब पदार्थोंका जाननेवाला सर्वज्ञ हो सकता है, जब आकाश आदि अनुपलब्धस्वरूप पदार्थोंको वह नहीं जान सकेगा तब सर्वज्ञपना उसका बन ही नहीं सकता इसरूपसे जब प्रत्यक्षरूपसे आकाशकी उपलब्धि और अप्रत्यक्षरूपसे उसका अभाव सुनिश्चित है तब आकाशके अभाव सिद्ध करनेकेलिये जो अजातत्वरूप हेतु दिया गया है वह आकाशमें न रहनेके कारण असिद्ध है। तथा—

आकाश कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता जिसतरह गधेका सींग। यहांपर जो गधेके सींगको दृष्टांत रक्खा है वह भी असिद्ध है अर्थात् उपर्युक्त अनुमानमें नास्तित्वरूप धर्म साध्य

सकता इसप्रकार भले ही अदृष्टकी सहायतासे जीवकी गति और स्थिति सिद्ध हो जाय परन्तु पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें सहायता पहुंचानेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही हैं, विना इनके माने पुद्गलोंकी गति और स्थिति नहीं हो सकती इसलिये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी भी सिद्धि निर्बाध है. उनका अभाव नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

यस्योपकारस्तादर्थ्यात्क्रियाप्रवृत्तिरिति चेन्नान्यधर्मस्यान्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात् ॥ ३८ ॥

पुण्यापुण्यात्ययेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् ॥ ३९ ॥

जिस पुरुषको अदृष्टके निमित्तसे घट पट आदि उपकारी पदार्थ मिल जाते हैं उसीके अदृष्टके निमित्तसे उन घट पट आदि पदार्थोंमें भी गति स्थिति रूप क्रिया हो जायगी। इस रीतिसे जब अदृष्टके संबंधसे पुद्गलकी भी गति स्थिति सिद्ध है तब पुद्गलकी गति स्थितिकी सिद्धिके लिये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो भी अयुक्त है, क्योंकि जो धर्म जहां रहता है वह उसी पदार्थकी क्रियाके आरम्भमें समर्थ हो सकता है किन्तु यह बात नहीं कि–धर्म हो किसी अन्य पदार्थका और वह अन्य किसी पदार्थकी क्रियाके आरम्भमें समर्थ हो क्योंकि यह नियम है कि जो अपने आश्रयमें क्रियाका आरम्भ नहीं करता वह दूसरे पदार्थमें क्रियाका कारण नहीं हो सकता। अदृष्ट आत्माका गुण है, आत्माके अन्दर जो गति स्थितिरूप क्रियायें होनेवाली हैं उन्हींका वह कारण हो सकता है किन्तु घट आदिमें होनेवाली गति और स्थितिमें वह कारण नहीं हो सकता इसलिये आत्माके अदृष्ट द्वारा घट आदि पदार्थोंमें जो ऊपर गति और स्थितिकी सिद्धि की गई है वह अयुक्त है क्योंकि अदृष्ट घट आदिकी गति स्थितिरूप क्रियाका कारण नहीं बन सकता किंतु घट आदि

अपेक्षा गाय पर्यायका सद्भाव मानकर 'गधेका सींग' ऐसा कहा जाता है परंतु जिस जीवका उत्तर काल-वर्ती गोपर्याय रूप स्वभाव है उसीका पूर्वकालवर्ती गधापर्याय रूप भी स्वभाव है किंतु एक जगह दोनों स्वभाव रह नहीं सकते इसलिये एक जगह दोनों स्वभावोंकी असिद्धता है? यह भी ठीक नहीं। जैन सिद्धांतमें वस्तु अनेक पर्यायस्वरूप मानी गई है और प्रतिसमय अनंतीपर्यायोंका उसके अंदर सद्भाव रहता है परंतु विवक्षा जहां जैसी होती है प्रधानतासे वहां उसी पर्यायका ग्रहण होता है। यदि वस्तुका निरन्वय विनाश माना जायगा अर्थात् समस्त पर्यायोंका विनाशपूर्वक अभाव माना जायगा तब फिर किसी चीजका स्मरण नहीं हो सकेगा। स्मरणके आधीन ही लोकका संव्यवहार है यदि व्यवहारमें 'अमुकसे अमुक वस्तु ली वा दी' इत्यादि व्यवहार न माना जाय तब फिर संसारका व्यवहार ही विलुप्त हो जायगा। इसरीतिसे जब यह बात युक्तियुक्त है कि एक वस्तुमें अनेक पर्यायोंका सद्भाव रहता है और जहांपर जिस पर्यायकी विवक्षा रहती है वहांपर उसीका ग्रहण होता है तब जीवका भी गधा और गाय पर्याय स्वरूप स्वभाव मानना बाधित नहीं इसरीतिसे जब एक ही जीवका गधा और गायपर्याय स्वरूप स्वभाव निश्चित है तब गायपर्यायकी अपेक्षा उसके सींगकी कल्पना कर 'गधेका सींग' यह व्यवहार बाधित नहीं हो सकता। शंका—

अनावृतिराकाशमिति चेन्न नामवत्तात्सिद्धेः ॥ ११ ॥

ऊपर अनेक युक्तियोंसे आकाश पदार्थकी सिद्धि की गई है इसलिये शंकाकार कहता है कि वह कोई पदार्थ तो है, विना उसे कोई पदार्थ माने संसारका व्यवहार नहीं चल सकता परंतु जिससमय उसके स्वरूपज्ञानके लिये विचार चलता है उससमय वह कोई वस्तुभूत पदार्थ सिद्ध नहीं होता किंतु आव-

पदार्थ किसीकी गति और स्थितिमें कारण नहीं हो सकता। इस बातको निश्चय करानेवाला कोई दृष्टांत नहीं है इसलिये अमूर्तिक भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको गति और स्थितिमें कारणपनेका अभाव नहीं हो सकता। तथा खुलासा तात्पर्य इस प्रकार है—

आकाश अमूर्तिक पदार्थ है तथापि वह समस्त जीव अजीव आदि द्रव्योंको अवगाहन दान देता है। सांख्यसिद्धांतकार प्रधान अर्थात् प्रकृति पदार्थको अमूर्तिक मानते हैं तथापि वह पुरुषार्थकर महान अहंकार आदि स्वरूप परिणत होकर पुरुषका उपकार करनेवाला माना गया है, बौद्ध सिद्धांतकारोंने विज्ञानपदार्थको अमूर्तिक माना है तथापि उसे सत्स्वरूप वा नामरूपकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण माना है क्योंकि "विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं" अर्थात् "नामरूपकी उत्पत्तिमें विज्ञान कारण है—विज्ञानसे ही नामरूप नामक स्कंधकी उत्पत्ति होती है" ऐसा उनके शास्त्रका वचन है, नैयायिक और वैशेषिकोंने एक अपूर्व नामका धर्म मान रक्खा है उसका ज्ञान इंद्रियोंसे नहीं होता किंतु उसकी व्यक्ति क्रियाके द्वारा होती है इसलिये उसे अमूर्तिक माना है तथापि स्वर्ग आदि फल प्रदान कर वह पुरुषका उपकार करता है यह उनका सिद्धांत है। इस रीतिसे जिस प्रकार अन्य अन्य सिद्धांतकारोंने अमूर्तिक भी आकाश प्रकृति विज्ञान आदि पदार्थोंका भिन्न भिन्न कार्य कल्पना कर रक्खा है उसीप्रकार यद्यपि धर्मास्तिकाय और

१—गङ्गास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वेऽनंतानां जलसंयोगध्वंसानां व्यापादत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वं कल्प्यते लाघवादिति। अर्थात् नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतमें गङ्गामें स्नान करनेको स्वर्गका कारण माना है परंतु जिससमय गङ्गामें स्नान किया जाता है उसी समय तो स्वर्ग मिलता नहीं इसलिये अनंते जलसंयोगके ध्वंसरूप व्यापारकी अपेक्षासे उन्होंने एक अपूर्व धर्म कल्पना कर रक्खा है। यहांपर यह एक पुण्यके स्थान पर है बस! अब जीव मरता है उसीके द्वारा उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। गङ्गास्नान विनष्ट हो चुका इसलिये साक्षात् यह स्वर्ग प्राप्तिमें कारण नहीं।

(मुक्तावली पृष्ठ १८८)

उसका प्रत्यक्ष होता है तथा वह सिवाय आकाश द्रव्यके अन्य किसी द्रव्यमें रहता नहीं इसलिये आकाशका असाधारण गुण होनेसे सर्वत्र व्यापक गुणी आकाशको जनाता है। क्योंकि गुण नियमसे अपने आधारके आधीन रहते हैं, विना आधारके उनका पृथक् रूपसे रहना नहीं हो सकता इसलिये शब्द गुणका रहना आकाशके अंदर ही होगा, आकाशसे बाहिर नहीं । इस रीतिसे जब शब्द आकाशका गुण है तब उसीसे आकाशका अस्तित्व सिद्ध हो सकता है किंतु वह सबको अवकाश देता है, इसरूपसे उसकी सिद्धि मानना निरर्थक है। सो ठीक नहीं । जिस गुणका किसी न किसी इन्द्रियके द्वारा ज्ञान होगा वह नियमसे मूर्तिक होगा तथा वह मूर्तिक गुण मूर्तिक पदार्थका ही हो सकेगा, अमूर्तिकका नहीं। शब्द गुणका ज्ञान श्रोत्र इंद्रियसे होता है इसलिये वह मूर्तिक गुण है तथा वह मूर्तिक पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय है अमूर्तिक आकाशका गुण नहीं इसलिये शब्दके द्वारा आकाशका अस्तित्व नहीं जाना जा सकता । शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय कैसे हैं एवं वह आकाशका गुण क्यों नहीं यह बात 'शब्दबंधसौक्ष्म्येत्यादि' सूत्रमें आगे विस्तारपूर्वक कही जायगी ।

प्रधानविकार आकाशमिति चेन्न तत्परिणामाभावादात्मवत् ॥ १३ ॥

सांख्य सिद्धांतमें सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणकी साम्यरूप अवस्थाका नाम प्रधान माना गया है और उसका स्वभाव प्रसव अर्थात् पदार्थोंको उत्पन्न करना माना गया है और महान अहंकार आदि जितने भी पदार्थ हैं सब इसी प्रधानके विकार हैं इसलिये उन्हींकी ओर से यहां यह शंका की गई है कि जिस प्रकार महान अहंकार आदि प्रधान विकार माने गये हैं उसी प्रकार आकाश भी उसी प्रधानका एक विशेष विकार है किंतु वह कोई विशेष पदार्थ नहीं ? सो भी अयुक्त है । क्योंकि जिसप्रकार

धर्माधर्मयोरवगाहं प्रति कर्तृत्वादनादिसंबंधनिवृत्तिरिति चेन्नौपचारिकत्वात् व्याप्तिसद्भावात् ॥ २ ॥

हंस नामका पक्षी जलका अवगाहन करता है यहांपर जल और हंसका अनादिसंबंध नहीं किंतु सादि संबंध है अर्थात् जल किसी तालाबमें भरा हुआ है किसी अन्य जगह पर रहनेवाला हंस आकर उसका अवगाहन करता है। यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य आकाशका अवगाहन करते हैं, यह माना जायगा तो उनका भी आपसमें अनादि संबंध सिद्ध न हो सकेगा—उनका भी सादि सम्बन्ध स्वीकार करना पडेगा इसलिये धर्म और अधर्मद्रव्य आकाशका अवगाहन करते हैं इसप्रकारसे उनके साथ अवगाहन क्रियाका सम्बन्ध मानना ही अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जलमें हंसकी क्रिया होती है उसप्रकार आकाशमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी क्रिया नहीं होती क्योंकि हलन चलन रूप होना क्रिया कही जाती है, जलमें हंसका हलन चलन होता है, वह एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जाता है परन्तु धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जहांपर स्थित हैं वहींपर स्थित रहते हैं उनका हलन चलन नहीं होता इसलिये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यमें क्रियाके न रहनेसे उनमें उपचार अर्थात् व्यवहारसे अवगाहन क्रियाका सम्बन्ध है इसलिये उनका संबंध सादि नहीं सिद्ध हो सकता। यदि यहांपर यह तर्क उठाई जाय कि—

धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगाहन क्रिया कैसे मानी जा सकती है ? तो उसका समाधान यह है कि व्याप्तिके संबंधसे मानी जाती है क्योंकि जिस प्रकार आकाश पदार्थ सब जगह व्यापक है, वह जहांपर विद्यमान है वहीं सर्वदा रहता है, कहीं भी गमन नहीं करता तथापि सर्वगत अर्थात् 'सब जगह गया हुआ' यह कहा जाता है उसी प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य भी व्यापक हैं—संपूर्ण लोकाकाशमें फैले हुए हैं इसलिये किसी भी क्रियाके न होनेसे उनकी मुख्यरूपसे लोकाकाशमें अवगाहन क्रिया नहीं हो

यहांपर उपकारका प्रकरण चल रहा है। धर्म अधर्म और आकाशका उपकार कह दिया गया अब सूत्रकार पुद्गलद्रव्यके उपकारका उल्लेख करते हैं—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां ॥ १९ ॥

शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वास आदिका बनना पुद्गलोंका उपकार है।

शरीरे सत्युत्तरेषां प्रवृत्तिदर्शनादादौ तद्वचनं ॥ १ ॥

शरीरके रहते ही वचन मन आदिकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है क्योंकि वचन आदिका शरीर आधार है और वचन आदि आधेय हैं इसलिए वचन आदि सबमें प्रधान होनेके कारण सूत्रमें शरीरका ग्रहण सबसे पहले किया गया है।

तदनंतरं वागुपादानं पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् ॥ २ ॥

वचन, मनुष्यका हित सम्पादन करनेवाला है क्योंकि कान इंद्रियसे जिससमय हितकारी उपदेश सुना जाता है उससमय हितकारी मार्गमें आत्माकी प्रवृत्ति होती है इसलिए वाणी पुरुषके हितसंपादनमें कारण होनेसे सूत्रमें शरीरके बाद वाणीका उल्लेख किया गया है। शंका—

अन्येंद्रियोपसंख्यानमिति चेन्न चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् ॥ ३ ॥

सूत्रमें वाक् शब्दका उल्लेख किया गया है और वचनका होना पुद्गलका उपकार मानकर कान इंद्रियको पुरुषका उपकारी माना है परन्तु जिसप्रकार वचनका होना पुद्गलद्रव्यका उपकार माना जाता है उसीप्रकार रूपका होना रसका होना गन्धका होना आदि भी पुद्गलद्रव्यके उपकार हैं इस रीतिसे

धेयभाव संबंधका निषेध किया जा सकता है परंतु 'हाथमें लकीर (रेखा) है' यहांपर युतसिद्धि न दीख पडनेपर भी आधाराधेयभाव दीख पडता है अर्थात् हाथ और रेखा दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं तथापि हाथ आधार और रेखा उसमें रहनेवाली आधेय मानी जाती है इसलिये अभेद रहनेपर भी जिसप्रकार हाथ और रेखामें आधाराधेयभाव संबंध सर्वसम्मत है उसीप्रकार भले ही धर्म अधर्म और आकाश भिन्न भिन्न रूपसे सिद्ध न हों तथापि उनमें आधार और आधेयकी कल्पना बाधित नहीं इस-रीतिसे आकाश आधार और धर्म अधर्म आधेय यही अर्थ ठीक है । तथा शंकाकारके मतानुसार ही आचार्य समाधान देते हैं—

दृष्टत्वादीश्वरैश्वर्यवत् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्य पदार्थ ईश्वरका धर्म विशेष है। धर्म धर्मीसे भिन्न रह नहीं सकता इसलिये वे दानों अभिन्न पदार्थ हैं तथापि ईश्वरमें ऐश्वर्य रहता है ऐसा संसारके अंदर व्यवहार होता दीख पडता है अर्थात् 'ईश्वरमें ऐश्वर्य है' यहांपर ईश्वर आधार आर ऐश्वर्य उसमें रहनेवाला आधेय है यह बात सबको प्रतीति-सिद्ध है इसलिये जिसप्रकार अभेद रहते भी यहां आधाराधेयभाव दीख पडता है उसीप्रकार यद्यपि धर्म अधर्म और आकाश अयुतसिद्ध पदार्थ हैं तथापि उनका आपसमें आधाराधेयभाव निरापद है। अब इसी समाधानको ग्रंथकार जैनसिद्धांतके आधारसे प्रगट करते हैं—

अनेकांताच्च तत्सिद्धिः ॥ ५ ॥

यदि धर्म और अधर्मद्रव्यको सर्वथा अनादिसंबंधवाला और अयुतसिद्ध माना जाय तब तो उनमें आधाराधेयभावकी शंका उठाना ठीक है किन्तु उन्हें कथंचित् आदिसंबंधवाला भी माना है और कथं-

सहायता पंहुचाती है इस रीतिसे जब द्रव्येंद्रिय पुद्गलस्वरूप है और द्रव्येंद्रियस्वरूप नेत्र आदिका होना पुद्गलद्रव्यका उपकार है तब आगेके सूत्रमें चशब्दसे पुद्गलकृत उपकार बतलानेके लिये नेत्र आदि इंद्रियोंका ग्रहण करना युक्तियुक्त है। तथा यह भी बात है कि—

मनोऽग्रहणप्रसंगाच्च ॥ ५ ॥

जिनके होनेमें ज्ञानावरण और वीर्यांतरायका क्षयोपशम कारण है ऐसे आत्मप्रदेश नेत्र आदि इंद्रियां हैं इसलिये उनका होना पुद्गलका उपकार नहीं हो सकता ऐसा मानकर यदि चक्षु आदि इंद्रियोंका चकारसे ग्रहण न किया जायगा तो फिर 'शरीरवाङ्मनः' इत्यादि सूत्रमें मनका भी ग्रहण नहीं होना चाहिये क्योंकि मन भी अपनी उत्पत्तिमें नोइंद्रियावरण कर्मकी क्षयोपशमरूप अवस्थाकी अपेक्षा रखता है अर्थात् वह भी नेत्र आदि इंद्रियोंके समान आत्मस्वरूप पडता है अतः मनका होना भी पुद्गलकृत उपकार नहीं माना जा सकता है। यदि यहां पर यह कहा जायगा कि नोइंद्रियावरण कर्मका क्षमोपशमरूप भाव मान है उसका होना पुद्गलकृत उपकार न हो सकनेके कारण यहां हम अष्टदल कमलाकार द्रव्य मन ग्रहण करेंगे, उसका होना पुद्गलकृत उपकार हो सकता है ? तब नेत्र आदि इंद्रियोंके विषयमें भी यह समाधान दिया जा सकता है कि ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप अवस्था भावेंद्रिय है, पुद्गलकृत उपकारोंमें उसका ग्रहण न हो परंतु पुद्गलद्रव्यकी रचनास्वरूप जो नेत्र आदि इंद्रियां हैं उनका होना पुद्गलकृत उपकार हो सकता है। इसरीतिसे द्रव्येंद्रियकी अपेक्षा नेत्र आदि इंद्रियोंका ग्रहण भी पुद्गलकृत उपकारोंमें बाधित नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कारका यही कहना था कि भेद रहते ही अवगाहन क्रिया और आधाराधेयपना बन सकता है सो यहां-पर अनेकांतसिद्धांतके द्वारा कथंचित् भेदसिद्धि कर दी गई इसरीतिसे कथंचित् भेद और अभेद माननेपर आकाश आधार है और धर्म अधर्म आधेय हैं यह बात युक्तिसिद्ध सुनिश्चित हो चुकी। अब वार्तिककार द्रव्योंकी अपेक्षा अवगाहन क्रियाकी विशेषता बतलाते हैं—

जीवपुद्गलानां मुख्योऽवगाहः क्रियापरिणामात् ॥ ६ ॥

जीव और पुद्गलोंका परिणमन क्रियारूप होता है। अवगाहन करना भी क्रियारूप है, इसलिए जीव पुद्गलोंका जो अवगाहन होता है वह यथार्थ ही है इसरीतिसे जिसप्रकार हंस जलका अवगाहन करता है और वह उसका अवगाहन मुख्य है उसीप्रकार क्रियास्वरूप परिणमन करनेकेकारण जीव और पुद्गलोंका जो आकाशमें अवगाहन है, वह मुख्य है। शंका—

आकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यात् परस्परप्रतिघाताभाव इति चेन्न स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातात् ॥ ७ ॥

यदि आकाशको समस्त पदार्थोंका अवकाश दान देनेमें समर्थ माना जायगा तो वह तो सर्वत्र मोजूद है और मूर्तिक पदार्थोंको भी अवकाश दान देनेवाला है तब एक मूर्तिक पदार्थका जो दूसरे मूर्तिक पदार्थसे प्रतिघात होता है वह नहीं होना चाहिये परंतु देखनेमें आता है कि वज्र आदिके द्वारा लोष्ठ आदिका प्रतिघात होता है एवं भीत आदिसे गौ आदि रुक जाते हैं, आगे नहीं जा सकते इस-रीतिसे जब एक मूर्तिक पदार्थसे दूसरे मूर्तिक पदार्थका रुक जाना हो जाता है तब समस्त पदार्थोंको अवकाश दान देना आकाशका उपकार बन नहीं सकता? सो भी ठीक नहीं, जो स्थूल पदार्थ हैं वे ही आपसमें रुकते हैं किंतु जो सूक्ष्म पदार्थ हैं उनका किसीसे रुकना नहीं होता क्योंकि उनके अंदर एक

होनेमें पुद्गल कारण है क्योंकि जिस मनका उल्लेख सूत्रमें किया गया है वह द्रव्य मन पुद्गलका ही विकार है इसलिये उसका होना पुद्गलकृत उपकार बाधित नहीं माना जा सकता। तथा—

वाग्ग्रहणप्रसंगाच्च ॥ ७ ॥

आत्माकी पर्यायस्वरूप मानकर यदि नेत्र आदि इंद्रियोंको पुद्गलकृत उपकारमें न परिगणन किया जायगा तब फिर वचनका भी ग्रहण न करना चाहिये क्योंकि उसका होना भी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमके बलसे जायमान है परन्तु सूत्रमें वचनरूपको कहनेवाले वाक् शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये पुद्गलकृत उपकारोंमें जिसप्रकार वचनका ग्रहण किया गया है उसप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। शंका—

बहिर्विनिःसृतानामात्मपरिणामाभावात्तद्ग्रहणमिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ८ ॥

जिनका बाहिर निकलना इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है वे आत्माके परिणाम नहीं हो सकते। वाक्-पुद्गल अर्थात् वचनरूप पुद्गलोंका बाहिर निकलना कान इंद्रियसे स्पष्ट सुन पडता है अर्थात् जब बोला जाता है तब मुखसे अगणितवचनवर्गणा निकलती हैं इस रीतिसे जब वचन आत्मिक परिणाम न हो कर पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है और उसके होनेमें पुद्गलद्रव्य कारण पडता है तब उसका होना पुद्गल-कृत उपकार बतलानेके लिये सूत्रमें पृथक्रूपसे उसका ग्रहण उपयुक्त ही है? इसका समाधान यह है कि यह बात हमने पहिले कह दी है क्योंकि जिससमय शंकाकारने यह कहा था कि नेत्र आदि इंद्रियां आत्मस्वरूप हैं उनका होना पुद्गलकृत उपकार नहीं हो सकता, उससमय हमने उत्तर देते हुए स्पष्ट-रूपसे कह दिया है कि स्पर्शन आदि द्रव्येंद्रिय पुद्गलके विकार पौद्गलिक हैं। इसरूपसे जब सब ही

दान देना यह आकाशका ही असाधारण कार्य है इसलिये इस असाधारण कार्यरूप हेतुके द्वारा आकाशका अस्तित्व निर्बाध है—उसका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर फिर भी यह शंका उठाई जाय कि—

अलोकाकाशे तदभावादभाव इति चेन्न स्वभावापरित्यागात् ॥ ९ ॥

यदि सामान्यरूपसे समस्त द्रव्योंको अवकाशदान देना आकाशका कार्य माना जायगा तो जहांपर केवल आकाश द्रव्य हो वहांपर भी उसे अवकाशदान देना चाहिये परंतु अलोकाकाश किसीको अवकाश दान नहीं देता क्योंकि अलोकाकाशमें सिवाय आकाशके अवगाहन करनेवाला कोई पदार्थ नहीं इस रीतिसे 'अवकाश दान देना रूप' आकाशका लक्षण आकाशके एकदेश लोकाकाशमें रहनेपर भी अलोकाकाशमें न रहनेके कारण अव्याप्तदोषग्रस्त है इसलिये वह आकाशका लक्षण नहीं हो सकता। जिसका कोई लक्षण नहीं उस पदार्थका संसारमें अस्तित्व नहीं माना जाता क्योंकि लक्षणके अभावमें नियमसे लक्ष्यका अभाव रहता है इसलिये आकाश पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ? सो भी ठीक नहीं। जिसका जो स्वभाव होता है उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता जिस तरह अवगाहित होना जलका स्वभाव है इसलिये जहांपर हंस उसका अवगाहन नहीं कर रहा है वहांपर भी उसका वह अवगाहित होनारूप स्वभाव विनष्ट नहीं माना जाता क्योंकि हंसके आनेपर उसका अवगाहित स्वभाव व्यक्त होने लगता है सर्वथा अभाव माननेपर उसकी व्यक्ति नहीं हो सकती। उसीप्रकार आकाशका भी समस्त जीवोंको अवकाश देना स्वभाव है। जहांपर अवगाहन करनेवाले पदार्थ मोजूद हैं वहांपर वह उन्हें अवकाशदान देनेकी प्रकटता जान पडती है और जहांपर अवगाहन करनेवाले पदार्थ नहीं

बोलनेकी सामर्थ्य नहीं उनके मनकी उत्पत्ति नहीं होती इस तात्पर्यसे वचन बोलनेवाले सैनी पंचेंद्रिय जीवोंके ही मनका सद्भाव हो सकता है अन्यके अर्थात् द्वींद्रिय आदिके नहीं अथवा जिन जीवोंके वचन प्रयोजनपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं उन्हींका यहां ग्रहण है। द्वींद्रियसे लेकर असैनी पंचेंद्रिय पर्यंत जीवोंके वचन प्रयोजनपूर्वक उच्चारित नहीं होते इसलिए यहांपर सैनी पंचेंद्रियके ही मनका विधान हो सकता है द्वींद्रिय आदि अन्य जीवोंके नहीं।

अंते प्राणापानोपादानं सर्वसंसारिकार्यत्वात् ॥ १० ॥

सूत्रमें शरीर आदि पुद्गलकृत उपकारोंको गिनाते समय सबके अन्तमें प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) का ग्रहण किया गया है उसका खास तात्पर्य यह है कि प्राणापानरूप कार्य सामान्यरूपसे प्रायः समस्त संसारी जीवोंके होता है इसलिये उसके अन्दर कोई प्रकारकी विशेषता न होनेके कारण सबके अन्तमें सूत्रमें उसका प्रतिपादन किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

पुद्गलद्रव्यलक्षणार्थमिति चेन्न वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ११ ॥

'शरीरवाङ्मनः' इत्यादि सूत्रमें जो शरीर वचन मन और प्राणापानका ग्रहण किया गया है वह पुद्गलद्रव्यका लक्षण प्रतिपादन करनेके लिये ग्रहण किया गया है किंतु इनका होना पुद्गलकृत उपकार है, इसप्रकार उपकारके प्रतिपादन करनेके लिये उनका ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् शरीर आदि पुद्गलद्रव्यके कार्य हैं इसलिये जिसके अंदर शरीर आदि कार्य हों वह पुद्गलद्रव्य हैं इसप्रकार शरीर आदि; पुद्गलद्रव्यके लक्षण पडते हैं अतः यहांपर पुद्गलद्रव्यके लक्षणोंके प्रतिपादन करनेके ही लिये शरीर आदिका उल्लेख जान पडता है, उपकार प्रतिपादनके लिये नहीं ? सो ठीक नहीं। पुद्गलद्रव्यका

उत्पात्ति और विनाश है। इस रीतिसे अगुरुलघु गुणके द्वारा जिससमय आकाशके अन्दर वृद्धि मानी जायगी उससमय उसकी उत्पाचि सिद्ध हो चुकी इस रीतिसे वृद्धिकी अपेक्षा आकाश उत्पन्न होनेके कारण अजातत्वरूप हेतु असिद्ध हुआ इसलिये वह आकाशके अभावको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता तथा आकाशमें निरंतर जीव और पुद्गलोंका अवगाहन होता रहता है तथा उनकी प्रतिक्षण उत्पाद विनाश आदि पर्यायें पलटती रहती हैं इसलिये जीव पुद्गलरूप परनिमित्तकी अपेक्षा जो उत्पाद होता है वह आकाशका भी उत्पाद समझा जाता है अर्थात् संसारमें घटाकाश मठाकाश इत्यादिरूपसे व्यवहार होता है। आकाशका जितना भाग घटके अन्दरका है वह घटाकाश कहा जाता है और जितना मठके अन्दर है वह मठाकाश कहा जाता है। जिससमय वह घट वा मठ नष्ट होता है उससमय घटाकाशका वा मठाकाशका नाश हो जाता है इसरूपसे आकाशका भी नाश माना जाता है तथा जिससमय घट उत्पन्न होता है वा मठ होता है उससमय घटाकाश उत्पन्न हुआ वा मठाकाश उत्पन्न हुआ ऐसे व्यवहारके होनेसे आकाशकी भी उत्पाचि मानी जाती है इसलिये आकाश भी उत्पन्न कहा जाता है इसरीतिसे भी जब आकाशकी उत्पाचि सिद्ध है तब अजातत्वरूप हेतुके असिद्ध होनेसे वह आकाशका अभाव नहीं सिद्ध कर सकता।

अथवा—आकाशका उत्पाद और विनाश इस रूपसे भी है—जो आत्मा एक ही क्षणवाद सर्वज्ञ होनेवाला है उसके पहिले क्षणमें वह असर्वज्ञ और दूसरे क्षणमें वह सर्वज्ञ माना जाता है। जिससमय वह सर्वज्ञ हो जाता है वहांपर उस आत्माकी सर्वज्ञरूपसे उत्पाचि मानी जाती है क्योंकि उससमय, जिस-समय कि वह सर्वज्ञ हो चुका उसके सर्वज्ञपनेकी उपलब्धि है तथा जिससमय वह सर्वज्ञरूपसे उत्पन्न हो

शरीर आदि पुद्गलकृत उपकार आत्माका प्रत्यक्षगोचर है तब उसके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं ? यह भी कहना अयुक्त है। कोई कोई शरीर आदि प्रत्यक्षरूपसे दीख नहीं पडते। यदि उनका उपकाररूपसे उल्लेख नहीं किया जायगा तो जो शरीर आदि प्रत्यक्षरूपसे दीख पडते हैं वे ही आत्माके उपकारक माने जा सकेंगे किंतु जो प्रत्यक्षरूपसे नहीं दीख पडते वे आत्माके उपकारक नहीं हो सकते इसलिए जो शरीर आदि प्रत्यक्ष हैं और जो अप्रत्यक्ष हैं वे दोनों ही प्रकारके आत्माके उपकारक हैं यह बात प्रगट करनेके लिये शरीर वचन आदिका खास उल्लेख किया गया है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्माण ये पांच प्रकारके शरीर माने गये हैं। ये अपने सूक्ष्म स्वभावसे प्रत्यक्षके गोचर नहीं होते तथा इनके ही उदयसे जायमान उपचयरूप शरीर अर्थात् अपने सूक्ष्म स्वरूपको छोडकर जिनके स्कंध स्थूलरूप परिणत होते हैं वे प्रत्यक्षगोचर भी होते हैं इस रीतिसे कोई शरीर प्रत्यक्षगोचर हैं और कोई प्रत्यक्षके गोचर नहीं हैं इसप्रकार शरीर दो प्रकारके माने हैं। मन पदार्थ अप्रत्यक्ष ही है, सिवाय केवली भगवान, मनःपर्ययज्ञानी और अवधिज्ञानीके उसे कोई भी प्रत्यक्षरूपसे नहीं जान सकता तथा वचन और श्वासोच्छ्वासोंमें कोई वचन और श्वासोच्छ्वास प्रत्यक्ष है और कोई प्रत्यक्ष नहीं हैं। जिन वचन और श्वासोच्छ्वासोंको इंद्रियां प्रत्यक्ष कर सकतीं हैं वे प्रत्यक्ष हैं और जिन्हें वे प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं वे अप्रत्यक्ष हैं। इस रीतिसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके शरीर आदिका होना पुद्गलकृत उपकार है इस बातको स्फुटरूपसे दिखानेकेलिये शरीर आदिका उल्लेख किया गया है इसलिए शंकाकारने जो ऊपर शंका की है वह अयुक्त है।

है और अजन्यत्वरूप धर्म हेतु है इन दोनों ही साध्य साधनरूप धर्मोंकी गधेके सींगरूप दृष्टांतमें असिद्धता है क्योंकि 'गधेका सींग' इस बातको निर्णय करानेवाली बुद्धि और 'गधेका सींग' यह शब्द उसके लक्षण हैं अर्थात् इस लक्षणके द्वारा उसकी सत्ता मानी जाती है इसलिये बुद्धि और शब्द रूप लक्षणके धारक गधेके सींगके उत्पादक जो निजी कारण हैं उनसे गधेके सींगकी उत्पत्ति मानी गई है अर्थात् गधा और सींग ये शब्द भी सिद्ध हैं और 'गधेका सींग' यह वाच्यार्थ बुद्धिका भी विषय है। इसरीतिसे जब वह अपने निजी कारणोंसे जन्य है तब अजन्यत्वरूप हेतुकी उसके अंदर विद्यमानता न होनेसे वह हेतु असिद्ध है तथा जो पदार्थ अपने कारणोंसे जन्य माना जाता है वह सर्वथा अभावस्वरूप नहीं होता अस्तित्वस्वरूप भी होता है इसलिये गधेके सींगरूप हेतुमें अस्तित्वके रहनेसे नास्तित्वरूप साध्यके अभावसे साध्य भी असिद्ध है। गधेका सींग अपने निजी कारणोंसे जन्य किसतरह है? उसका खुलासा इसप्रकार है——

जो जीव गधेकी पर्यायमें विद्यमान है वह अपने आयुके अंतमें मरा और वही जीव गाय हुआ वहांपर दोनों पर्यायोंमें एक ही जीवपदार्थ है इसलिये उस जीवको गधा भी मान लिया जाता है तथा वह गायकी पर्याय धारण कर चुका है और गायके सींग होते हैं इसलिये गाय पर्यायकी अपेक्षा उस जीवके सींगकी उपलब्धि होनेसे गधेका सींग यह व्यवहार हो जाता है इसरीतिसे जब गधेके सींगका अस्तित्व सिद्ध है और वह अपने कारणोंसे जन्य भी है तब नास्तित्व रूप साध्य और अजन्यत्वरूप हेतुका आधार न होनेसे वह आकाशके अभावको नहीं सिद्ध कर सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

यहांपर गधारूप पर्यायके नष्ट हो जानेपर और गाय पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर एक जीवकी

संबंधसे जायमान है तब वह पुद्गलीक ही है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि भले ही मूर्तिमान द्रव्यके संबंधसे कार्मणशरीरका विपाक हो तथापि आकार आदि न होनेके कारण वह अमूर्तिक ही है, मूर्तिक पुद्गलीक नहीं? उसका समाधान यह है कि कोई भी अमूर्तिक पदार्थ ऐसा नहीं देखा गया जिसका विपाक मूर्तिमान द्रव्यके संबंधसे होता हो। यदि उसप्रकारका एक भी अमूर्तिक पदार्थ होता तो उसके समान कार्मणशरीरको भी अमूर्तिक मान लिया जाता परंतु कार्मणशरीरका विपाक मूर्तिमान द्रव्यके संबंधसे होता है इसलिये वह मूर्तिक पुद्गलस्वरूप है। विशेष–कार्मणशरीर भी साकार है, जिस द्रव्यका कोई आकार नहीं होता वह गधेके सींगके समान अवस्तु होता है। इसलिये आकाश जाव आदि अमूर्तिक पदार्थ भी आकारवाले हैं, फिर कार्माणशरीर तो पुद्गलपरमाणुओंका पिंडस्वरूप है, वह तो आकारवान् है ही, यदि वह आकारवाला नहीं हो तो परमाणु भी निराकार ठहरेगा, फिर घट पटादि भी निराकार ठहरेंगे।

वाग् द्विधापि पौद्गलिकी तन्निमित्तत्वात् ॥ १५ ॥

भाववाक् और द्रव्यवाक्के भेदसे वाक् दो प्रकारकी है और वह दोनों ही प्रकारकी वाक् पुद्गलीक है क्योंकि दोनों प्रकारकी वाक्की उत्पत्तिमें निमित्तकारण पुद्गल है अर्थात् दोनों प्रकारकी वाक् पुद्गल द्रव्यका कार्य है। उसमें भाववाक्की उत्पत्तिमें तो वीर्यांतराय मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण कर्मोंका क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मकी सहायता है। जहांपर यह कारण विद्यमान नहीं रहता वहांपर भाववाक्का होना बाधित है इसलिये यह भाववाक् पौद्गलिक है। तथा वीर्यांतराय और मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम एवं अंगोपांग नामक नामकर्मकी सहायतारूप सामर्थ्यके

रणका अभाव पदार्थ सिद्ध होता है अर्थात् घट पट आदिके नष्ट हो जानेपर आकाश जान पडता है इसलिये वह घट पट आदि पदार्थोंका अभावस्वरूप ही है इसलिये आकाशको कोई वस्तुभूत पदार्थ न मानकर आवरणका अभाव स्वरूप ही मानना चाहिये ? सो भी ठीक नहीं। जिसप्रकार शंकाकार नाम वचन और वेदना आदि पदार्थोंको अमूर्त मानता है तथा उनका कोई भी आवरण न मानकर अस्तित्व स्वीकार करता है—उन्हें अभावस्वरूप न मानकर वस्तुस्वरूप ही मानता है उसीप्रकार आकाश भी अमूर्तिक पदार्थ है, अमूर्तिक पदार्थका अन्य कोई पदार्थ आवरण हो नहीं सकता इसलिये आकाशके भी कोई आवरण सिद्ध नहीं हो सकता। इसप्रकार जब आकाशका कोई भी आवरण नहीं तब आकाश पदार्थ आवरणका अभावरूप नहीं सिद्ध हो सकता किंतु वह नाम वचन वेदना आदि पदार्थोंके समान वस्तुस्वरूप ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शब्दलिंगत्वादिति चेन्न पौद्‌गालिकत्वात् ॥ १२ ॥

तात्पर्य यह है कि नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकार शब्द गुणका समवायी कारण आकाशको मानते हैं इसलिये उनके मतमें आकाशका गुण शब्द माना गया है[1]। यहांपर उन्हींकी ओरसे यह शंका है कि—आकाश समस्त द्रव्योंको अवकाशदान देनेवाला है ऐसा मानकर जो अवकाशदानरूप असाधारण गुणसे आकाश पदार्थकी सिद्धि मानी गई है वह ठीक नहीं किंतु आकाशके अस्तित्वकी सिद्धिका कारण शब्दगुण है क्योंकि शब्द आकाशका गुण है। उसकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण पवनका आघात है। जिससमय पवनसे उसका अभिघात किया जाता है उससमय उसकी उत्पत्ति होती है और कर्ण इंद्रियसे

[1]—'शब्दगुणकमाकाशं' अर्थात् जिसका गुण शब्द है वह आकाश है।

जो गन्धद्रव्य है उसकी प्रतीति घ्राण इंद्रियसे होती है यद्यपि उस गंधद्रव्यमें गन्धके अविनाभावी रस आदि भी मौजूद हैं क्योंकि विना रस आदिके गंध रह नहीं सकता परन्तु अत्यंत सूक्ष्मताके कारण उनकी प्रतीति नहीं होती उसीप्रकार यद्यपि शब्दमें रूप आदि गुणोंका भी सद्भाव है क्योंकि रूप आदि गुणोंके विना शब्द पुद्गल नहीं हो सकता तथापि रूप आदिकी सत्ता उसके अन्दर सूक्ष्मतासे है, नेत्र आदि इंद्रियोंसे ग्रहण नहीं की जा सकती इसलिये केवल कान इंद्रियसे ही उसका ज्ञान होता है। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

अमूर्तिरिति चेन्न मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात् ॥ १८ ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि नैयायिक आदि सिद्धांतकार शब्दको अमूर्तिक आकाशका गुण मानते हैं इसलिये उन्हींकी ओरसे यह शंका है कि शब्द अमूर्तिक आकाशका गुण है इसलिये वह अमूर्तिक है, मूर्तिक नहीं हो सकता फिर जो उसे मूर्तिक पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानी है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जो अमूर्तिक पदार्थ है, उसका न तो किसी मूर्तिमान इंद्रियसे ग्रहण हो सकता है, न वह मूर्तिमान पदार्थसे प्रेरित किया जा सकता है और न वह मूर्तिमान पदार्थसे रोका ही जा सकता है परंतु शब्दके अंदर ये सब बातें प्रत्यक्षरूपसे दीख पडती हैं इसलिये शब्द अमूर्तिक नहीं माना जा सकता। खुलासा तात्पर्य यह है—

श्रोत्र इंद्रिय मूर्तिमान है। उस मूर्तिमान इंद्रियसे शब्दका ग्रहण होता है। अमूर्तिक पदार्थ ऐसा कोई भी नहीं, जिसका मूर्तिमान इंद्रियसे ग्रहण हो इसलिये मूर्तिमान इंद्रियसे गृहीत होनेसे शब्द मूर्तिक है। तथा जिसप्रकार मूर्तिमान पवनके द्वारा अर्कवृक्षकी रूईका ढेर प्रेरित होता है और वह किसी दूर

उनके मतमें आत्माका किसी प्रकारका परिणमन नहीं माना जाता उसी प्रकार आकाशका भी किसी प्रकारका परिणमन नहीं हो सकता। खुलासा तात्पर्य यह है—

सांख्यमतमें आत्माको कूटस्थ नित्य निष्क्रिय अनंतत्व आदि असाधारण धर्मोंका धारक और आविर्भाव तिरोभाव अवस्थासे रहित माना है इसलिये उसका किसीरूपसे परिणमन नहीं होता यह बात मानी है उसी प्रकार उन्हींके मतानुसार प्रधान पदार्थ भी सर्वथा नित्य निष्क्रिय और अनंतत्व आदि असाधारण धर्मोंका धारक है इसलिये उसका भी किसी प्रकारका परिणमन नहीं हो सकता इस रूपसे जो ऊपर यह कल्पना की गई है कि आकाश प्रधानका विकार विशेष है वह कल्पना बाधित है— आकाश पदार्थ कभी भी प्रधानका विकार नहीं माना जा सकता। तथा यदि प्रधानका विकार ही आकाश माना जायगा जैसा कि उनका सिद्धांत है तो वहांपर यह तर्क उठता है कि जिसप्रकार प्रधानका विकार घट अनित्य मूर्तिमान और असर्वगत अर्थात सर्वत्र न रहकर केवल अपने ही क्षेत्रमें रहनेवाला पदार्थ माना जाता है उसी प्रकार जब आकाश भी प्रधानका विकार है तब घटके समान वह भी अनित्य मूर्तिमान और असर्वगत होना चाहिये अथवा विपरीत ही होना चाहिये अर्थात् प्रधानका विकार आकाश जिस प्रकार नित्य अमूर्तिक और व्यापक है उसीप्रकार घट भी नित्य अमूर्तिक और व्यापक होना चाहिये परंतु ऐसा माना नहीं गया इसलिये आकाश प्रधानका विकार नहीं कहा जा सकता किंतु छह द्रव्योंमें एक अन्यतम स्वतन्त्र द्रव्य है और वह अमूर्तिक और व्यापक है। तथा उसका लक्षण अवगाहनहेतुत्व है, न कि शब्द। शब्द पौद्गलिक है अतः वह अमूर्तिक आकाशका लक्षण नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

यह जो कहा गया था कि शब्दका ग्रहण श्रोत्र इंद्रियसे होता है। श्रोत्र इंद्रिय मूर्तिक है वह मूर्तिक पदार्थको ही ग्रहण कर सकती है इसलिये शब्द मूर्तिक है वह जैनाचार्यका कहना ठीक नहीं क्योंकि हमारे (नैयायिक आदिके) सिद्धांतमें श्रोत्र इंद्रियको आकाश स्वरूप माना गया है। आकाश अमूर्तिक है इसलिए अमूर्तिक श्रोत्र इंद्रियसे अमूर्तिक शब्दका ग्रहण करना युक्त ही है इसरीतिसे अमूर्तिक श्रोत्र इंद्रियसे गृहीत होनेके कारण शब्द अमूर्तिक ही है वह मूर्तिक नहीं हो सकता। तथा यह जो कहा था कि मूर्तिक पवन द्वारा शब्द प्रेरित होता है इसलिए मूर्तिक है वह भी ठीक नहीं क्योंकि हमारे मतमें समस्त गुणोंको निष्क्रिय माना गया है। शब्द भी गुण होनेसे निष्क्रिय है इसलिए पवनकी प्रेरणासे उसका एक देशसे दूसरे देशमें गमन नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यहां यह तर्क उठाई जायगी कि जब गुण होनेसे शब्का गमन न माना जायगा तब दूरदेशमें स्थित पुरुष कैसे शब्दका ग्रहण कर सकेगा क्योंकि जहां पर वह शब्द बोला गया है वहांसे दूर देशमें तो उसका गमन माना नहीं जाता। तो उसका समाधान यह है कि—'संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' अर्थात् भेरी दंड आदि पदार्थोंके संयोगसे और वाँस आदिके दो दलोंके विभाग करनसे एवं शब्दसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। ऐसा यह वैशेषिक सिद्धांतकारोंका सिद्धांतसूत्र है। इस सिद्धांतके अनुसार पहिले शब्दसे दूसरा शब्द, दूसरे शब्दसे तीसरा, तीसरेसे चौथा इसरीतिसे शब्दसे शब्द बराबर उत्पन्न होते चले जाते हैं इसलिए दूर देशमें स्थित भी पुरुष शब्द सुन सकता है, कोई दोष नहीं है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जब शब्दसे बराबर शब्द उत्पन्न होता चला जाता है तब उत्पत्ति कालमें जिस प्रकार उसका ग्रहण होता है फिर पीछे क्यों नहीं उस प्रकारका ग्रहण होता? उसका समाधान यह है कि वेगवान द्रव्यके अभिघातसे वह शब्द टकरा

जिसप्रकार श्रोत्र इंद्रिय पुरुषकी उपकार करनेवाली है उसीप्रकार चक्षु आदिक इंद्रियां भी पुरुषका उपकार करनेवाली हैं अतः जिस रूपसे श्रोत्र इंद्रियको पुरुषका उपकारी माना गया है उसीप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंको भी पुरुषका उपकारी मान सूत्रमें उनका ग्रहण करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। 'सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च' इस आगेके सूत्रमें च शब्दका उल्लेख किया गया है। वह च शब्द इष्ट पदार्थका समुच्चय करनेवाला है इसलिए उसी च शब्दसे चक्षु आदि इंद्रियोंका ग्रहण है अतः इस 'शरीरवाङ्मनः' इत्यादि सूत्रमें उनके ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

आत्मप्रदेशाच्चक्षुराद्यग्रहणमिति चेन्न द्रव्येंद्रियस्य पौद्गलिकत्वात् ॥ ४ ॥

पुद्गलद्रव्यका उपकार पुद्गलस्वरूप ही हो सकता है चेतनस्वरूप नहीं, नेत्र आदि इंद्रियां चेतन स्वरूप हैं क्योंकि जिनके होनेमें ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम कारण है ऐसे अंगुलके असंख्यातवे भाग जो आत्माके प्रदेश हैं उन्हें ही नेत्र आदि इंद्रियां माना गया है इसरीतिसे जब नेत्र आदि इंद्रियां पुद्गलस्वरूप नहीं है तब नेत्र आदिका होना पुद्गलद्रव्यका उपकार नहीं माना जा सकता इसलिये 'शरीरवाङ्मनः' इत्यादि सूत्रमें वा सुखदुःखेत्यादि सूत्रमें कहे गये च शब्दसे उनके ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ? यह भी अयुक्त है, ऊपर कहा जा चुका है कि द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रियके भेदसे इंद्रियोंके दो भेद माने हैं उनमें ज्ञानावरण और वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशमरूप भावेंद्रियके होनेसे यद्यपि भावेंद्रिय पुद्गलस्वरूप नहीं मानी जा सकती परंतु द्रव्येंद्रिय पुद्गलस्वरूप ही है क्योंकि अंगोपांग नामक नामकर्मकी सहायतासे द्रव्येंद्रियकी रचना मानी है तथा वह आत्माके उपकार करनेमें

श्रोत्र इंद्रियमें शब्दका ग्रहणरूप दूसरे कार्यका आरंभ न हो परन्तु एक अदृष्ट (धर्म अधर्म) नामका गुण माना है उसके द्वारा श्रोत्र इंद्रियसे शब्दका ग्रहण हो सकता है। उसका समाधान यह है कि अदृष्ट नामका कोई गुण है यह बात ही पहिले तो विचारणीय है क्योंकि विचार करने पर अदृष्ट गुणकी सिद्धि नहीं होती। यदि दुर्जनतोष न्यायसे उसका सद्भाव मान भी लिया जाय तो वहांपर ये प्रश्न उठते हैं कि वह अदृष्ट आकाशको संस्कृत करता है कि आत्माको संस्कृत करता है अथवा शरीरके एक देशको संस्कृत करता है? यदि कहा जायगा आकाशको संस्कृत करता है तो आकाशका संस्कार तो अदृष्टके द्वारा हो नहीं सकता क्योंकि एक तो आकाश अमूर्तिक है और अमूर्तिक पदार्थमें किसीप्रकारका संस्कार हो नहीं सकता। दूसरे अदृष्ट गुण आत्माका है क्योंकि न्याय ग्रंथोंमें जहांपर आत्माके गुण गिनाये हैं वहां पर अदृष्ट आत्माका विशेष गुण कहा गया है। यह नियम है जो गुण अन्यका होता है वह अन्य जगह किसीप्रकारका संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। अदृष्ट आत्माका गुण है इसलिये वह आकाशमें किसी प्रकारका संस्कार नहीं कर सकता। तीसरे जिस पदार्थका जिसके साथ संबंध रहता है वही अपनेसे संयुक्त पदार्थमें संस्कार उत्पन्न कर सकता है। अदृष्टका आकाशके साथ कोई संबंध नहीं इसलिये वह आकाशमें किसीप्रकारका संस्कार नहीं कर सकता इसरीतिसे जब अदृष्टके द्वारा आकाशमें किसी प्रकारका संस्कार उत्पन्न नहीं किया जाता तब श्रोत्र इंद्रियको आकाशस्वरूप मान कर उससे अन्य कार्यस्वरूप शब्दका ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए मानना पडेगा कि अमूर्तिक आकाशसे श्रोत्रइंद्रिय भिन्न और मूर्तिक है एवं उसके द्वारा ग्रहण किया गया शब्द भी मूर्तिक है। यदि यह कहा जायगा कि अदृष्ट आत्माको संस्कृत करता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न नित्य और

अनवस्थितत्वान्मनोऽग्रहणमिति चेन्नानवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् ॥ ६ ॥

जिन ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोपशमरूप आत्मप्रदेशोंको नेत्र आदि इंद्रियां माना गया है उन आत्मप्रदेशोंके स्थान नियत हैं इसलिये वे इंद्रियां अवस्थित अर्थात् निश्चलस्वरूप हैं परन्तु उस प्रकारसे मन अवस्थित नहीं अर्थात् नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप आत्मप्रदेशोंका मन माना गया है परन्तु जिसप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंका स्थान नियत है उसप्रकार मनका स्थान नियत न होनेके कारण वह निश्चलस्वरूप नहीं तथा इसी कारण स्पर्शन आदिको इंद्रिय माना गया है और मनको नोइंद्रिय माना गया है इस रीतिसे जब वह निश्चलस्वरूप नहीं है तब उसका होना पुद्गलकृत उपकार न होनेसे सूत्रमें जो उसका पृथक्रूपसे ग्रहण किया गया है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । भले ही मन नेत्र आदि इंद्रियोंके समान निश्चलस्वरूप न हो तथापि उसके होनेमें पुद्गल द्रव्य कारण है इसलिये उसका होना पुद्गलकृत उपकार मानना अनुचित नहीं है तथा यह नियम है जहां जहां मनसे जायमान ज्ञान होता है वहां वहां मन संज्ञाके धारक आत्माके प्रदेश अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण रहते हैं, कम नहीं रहते, इस कथनसे यहांपर यह विशेष समझ लेना चाहिये कि जो सिद्धांतकार मनका परमाणु स्वरूप मानते हैं उससे बडा नहीं मानते, उनके मतके अनुसार भाव मन आत्माका एक प्रदेश स्वरूप पड सकता है अधिक नहीं, उस बातका यहां खंडन कर दिया गया है क्योंकि जिन आत्माके प्रदेशोंकी मन संज्ञा है वे अंगुलके असंख्यातवे भागसे कम नहीं रह सकते । मन परमाणु स्वरूप है इस बातका खंडन श्रीप्रमेयकमलमार्तंडमें न्यायकी शैलीसे बडे विस्तारसे किया गया है । विद्वानोंको वहांसे समझ लेना चाहिये । इस रीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि अनवस्थितस्वरूप रहने पर भी मनके

आकाशसे रत्नोंकी वर्षा होगई अर्थात् जैनसिद्धान्तकारके अभीष्टकी सिद्धि होगई क्योंकि जिस पदार्थका अभिघात स्पर्शवान द्रव्यके संबन्धसे होता है वह मूर्तिक माना जाता है। अमूर्तिक ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं देखा गया जिसका प्रतिघात मूर्तिक द्रव्यके संबन्धसे हो। शब्दका प्रतिघात मूर्तिक द्रव्यके संबन्धसे होता है इसलिये वह मूर्तिक ही है, अमूर्तिक किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। तथा प्रतिवादीने शब्दका अवरोध मुख्यरूपसे न मानकर गौणरूपसे माना था वह भी ठीक नहीं क्योंकि जब स्पर्शवान द्रव्यसे उसका टकरा जाना प्रतिवादी स्वीकार करता है तब उसका मुख्यरूपसे ही अवरोध है गौणरूपसे नहीं माना जा सकता इसरूपसे शब्दका मूर्तिकपना सुनिश्चितरूपसे सिद्ध हो चुका। तथा—

अभिभवादिदर्शनाच्च मूर्तः शब्द इत्यवगंतव्यं ॥ १९ ॥

जो मूर्तिक पदार्थ होता है उसीका अभिभव (दबाया जाना) आदि होता है। शब्दके अंदर अभिभव आदि क्रियायें होतीं जान पडती हैं इसलिये वह मूर्तिक है। खुलासा इसप्रकार है—

जिस प्रकार तारागण दीपक आदिकी प्रभा सूर्यकी प्रभाके सामने छिप जाती है अर्थात् दब जाती है इसलिये तारागण आदिकी प्रभा मूर्तिक मानी जाती है उसीप्रकार सिंह हाथी भेरी आदिके उत्कट शब्दोंसे पक्षियोंका रोना चिल्लाना आदिका शब्द दब जाता है इसलिये शब्द मूर्तिक पदार्थ है। यदि वह अमूर्तिक पदार्थ होता तो आकाश आदिके समान किसी प्रकार उसका अभिभव नहीं होता। तथा कांसे आदि धातुकी बनी चीजोंमें किसी अन्य चीजका पडना ध्वनिस्वरूप शब्दकी उत्पत्तिमें कारण पड जाता है। जहां कांसे आदिके बने पदार्थोंके साथ दूसरे किसी पदार्थका सबन्ध हुआ वहीं तत्काल शब्दकी उत्पत्ति होजाती है इसलिये शब्दकी उत्पत्तिमें मूर्तिक पदार्थ कारण होनेसे वह मूर्तिक है। यदि वह

इंद्रियां पौद्गलिक हैं तब कान इंद्रिय भी पौद्गलिक है और उसका विषयभूत शब्द भी पौद्गलिक है। इसरीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि चक्षु आदि द्रव्येंद्रिय पौद्गलिक हैं, उनका होना पुद्गलकृत उपकार है। यद्यपि जिसप्रकार कान इंद्रियका 'शरीरवाङ्मनःप्राणेत्यादि' सूत्रमें मुख्यरूपसे उल्लेख किया गया है उसप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंका नहीं तथापि सुखदुःखेत्यादि आगेके सूत्रमें चपदको पढा है और वह इष्ट पदार्थका समुच्चय करनेवाला है इसलिये नेत्र आदि द्रव्येंद्रियोंका होना पुद्गलकृत उपकार है, यह बाधित नहीं हो सकता। सूत्रमें सबसे पहिले शरीर शब्दका उल्लेख क्यों किया गया? इसका समाधान दिया जा चुका है। उसके बाद वाक्शब्दका ग्रहण क्यों किया गया? इसका भी खुलासारूपसे समाधान किया जा चुका है। अब वाक्शब्दके बाद मनः शब्दका ग्रहण क्यों किया गया? वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

ततो मनोग्रहणं तद्धतस्तत्सिद्धेः ॥ ९ ॥

सूत्रमें वचनके बाद जो मन ग्रहण किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जो जीव शरीरविशिष्ट हैं और जिनमें वचनके निर्माण करनेकी सामर्थ्य है उनके मन होता है किंतु जिनके वचननिर्माण करनेकी शक्ति प्रकट नहीं उनके मन नहीं होता इसलिए वचनके बाद मनका सूत्रमें कहा जाना युक्तियुक्त है।

विशेष—यहांपर यह तात्पर्य न समझ लेना चाहिये कि जिसके वचनकी प्रकटता होती है उनके नियमसे मन होता है क्योंकि वचन बोलनेकी सामर्थ्य दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और असैनी पंचेंद्रिय जीवोंके अन्दर भी है परन्तु आगममें उनके अन्दर मनका सद्भाव नहीं बतलाया किन्तु यहांपर यही तात्पर्य लेना चाहिये कि वचन बोलनेवाले हीके मनकी उत्पत्ति होती है किन्तु जिन जीवोंमें वचन

सकता उसीप्रकार विज्ञानका भी नहीं होता इसरीतिसे विज्ञानको अमूर्तिक मानकर और उसका अभिभव जतलाकर प्रतिवादीने जो शब्दका मूर्तिकपना व्यभिचारदोषग्रस्त सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह अयुक्त है। इसरीतिसे अब अनेक युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, वह मूर्तिक पदार्थ है, किसी भी उपायसे वह अमूर्तिक नहीं माना जा सकता। इसप्रकार वचनसंबन्धी विचार समाप्त कर दिया गया अब मनके विषयमें वार्तिककार विचार करते हैं—

मनश्च द्वितीयं पौद्गलिकं तन्मयत्वात् ॥ २० ॥

भावमन और द्रव्यमनके भेदसे मन दो प्रकारका माना है वह दोनों ही प्रकारका मन पुद्गलस्वरूप है इसलिये पौद्गलिक है। उनमें लब्धि[1] और उपयोगस्वरूप भावमन माना गया है। उसके होनेमें पुद्गल निमित्त कारण पडता है इसलिये वह पौद्गलिक है तथा जो पुद्गल अपनी उत्पत्तिमें ज्ञानावरण और वीर्यांतरायकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखते हैं एवं पदार्थोंके गुण और दोषोंका विचार करना, स्मरण करना आदि मनसे जायमान विचारोंके अभिमुख आत्माको सहायता पहुंचानेवाले हैं और वीर्य विशेषके उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं ऐसे पुद्गल जहांपर मनरूपसे परिणत होते हैं उन्हीं पुद्गलोंको द्रव्यमन कहते हैं इसलिये वह द्रव्यमन भी पुद्गलस्वरूप ही है। इसरूपसे द्रव्यमन और भावमन दोनों पुद्गलस्वरूप हैं। कुछ सिद्धांतकार इन्हें आकाशस्वरूप अथवा अमूर्तिक मानते हैं, वैसे वे नहीं हैं। शंका—

अर्थांतरमिति चेन्नानेकांतात् इंद्रियवत् ॥ २१ ॥

आत्मा पदार्थ भिन्न है और मन पदार्थ भिन्न है इसलिये मन आत्मस्वरूप नहीं किंतु उससे भिन्न

१—दूसरे अध्यायमें लब्धि और उपयोगका स्वरूप खुलासारूपसे बतला दिया है। देखो सूत्र—लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं।

लक्षण 'स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः' इस सूत्रद्वारा आगे कहा गया है। यदि शरीरवाङ्मनःप्राणापाने-त्यादि सूत्रसे भी पुद्गलद्रव्यका लक्षण माना जायगा तो फिर आगे जो उसका लक्षण कहा गया है वह व्यर्थ होगा इसलिये यही समझ लेना चाहिये कि यहांपर द्रव्योंके उपकारका वर्णन होनेके कारण उपकार प्रकरण चल रहा है इसलिये कौन कौन पुद्गलोंके पदार्थ आत्माके उपकारक हैं यह बतलानेके लिये यहां शरीर आदिका उल्लेख किया गया है। शंका——

प्रत्यक्षत्वादनुपदेश इति चेन्न केषांचिदप्रत्यक्षत्वात् ॥ १२ ॥

धर्म, अधर्म और आकाश आदि पदार्थ प्रत्यक्षके अगोचर हैं, सिवाय केवलीके अन्य कोई भी व्यक्ति उन्हें स्पष्टरूपसे नहीं देख सकता इसलिए उनके विषयमें जो यह कहा गया है कि जीव पुद्गलोंकी गतिमें सहकारी धर्मद्रव्य है, स्थितिमें सहकारी अधर्मद्रव्य है और समस्त चराचर पदार्थोंको अवगाहन दान देना आकाशका स्वभाव है, वह ठीक है क्योंकि ये कार्य उनके ज्ञान करानेमें कारण हैं, विना इनके उलेखके धर्म अधर्म आदिके अस्तित्वका निश्चय नहीं हो सकता। परंतु शरीर आदि पुद्गलकृत उपकार हैं यह कहना अयुक्त जान पडता है क्योंकि पुद्गलके कार्य शरीर आदि आत्माके उपकारक हैं यह बात प्रत्यक्ष दीख पडती है इसलिए उसके उलेख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि संसारमें प्रायः सबोंको यह स्पष्टरूपसे दीख पडता है कि सूर्य पूर्व दिशामें ऊगता है, पश्चिममें अस्त होता है, गुड मीठा होता है और शृंगवेर (अदरख) कडुवा होता है फिर उसके विषयमें यह उपदेश नहीं दिया जाता कि सूर्य पूर्वमें उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है। गुड मीठा और शृंगवेर कडवा होता है, क्योंकि उस प्रकारका उपदेश निरर्थक माना जाता है इस रीतिसे जब यह बात सिद्ध है कि

स्थित पदार्थ है इसलिये उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं । जो पुद्गल मनरूप परिणत हुए हैं वे गुण और दोषोंका विचार करना स्मरण करना आदि अपना (मनका) कार्यकर उसके अव्यवहित उत्तर समयमें ही मनस्वरूपसे नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उन पुद्गलोंकी मनसंज्ञा नहीं रहती इसलिये मन आत्माके समान सर्वथा अवस्थायी नहीं माना जासकता । अथवा—

मन अवस्थायी ही है यह एकांत नहीं किन्तु विवक्षाके आधीन वह कथंचित् अवस्थायी भी है और कथंचित् अनवस्थायी भी है ऐसा आगमका वाक्य है । जिससमय द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय द्रव्यरूपसे कभी भी मनका नाश नहीं हो सकता इसलिये वह अवस्थायी है एवं पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय पर्यायोंका नियमसे विनाश होता है अतः वह अनवस्थायी भी है । इसरीतिसे कथंचित् अवस्थायी अनवस्थायी दोनों प्रकारका है सर्वथा अवस्थायी नहीं । शंका—

एकद्रव्यमिति चेन्नासामर्थ्यात् ॥ २४ ॥

नैयायिक और वैशेषिक सिद्धान्तकार मनको परमाणु प्रमाण मानते हैं और हर एक आत्मामें एक एक अखंड द्रव्यस्वरूप मन रहता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं इसलिये उन्हींकी ओरसे यहां शंका उठाई जाती है कि—हर एक आत्मामें एक एक अखंड द्रव्यस्वरूप मन रहता है इसी सिद्धान्तका पोषक उनके मतमें यह सूत्र वाक्य भी है कि—'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकं'[1] अर्थात् एक समयमें एक

[1] विवृतिः—प्रतिशरीर मनस एकत्वं व्यवस्थापयति प्रयत्नेति—यदङ्गेन मनसः संयोगो यदा भवति तदा तदङ्गावच्छेदेन प्रयत्न उत्पद्यते नान्यावच्छेदेन । एवं च मनसो नानात्वे एकदाऽङ्गद्वयेनापि एकैकस्य मनसः संयोगसंभवात् प्रयत्नद्वयमुत्पद्यते । न च विंशत्यं गुल्यवच्छेदेन एकदैव विंशतिः प्रयत्ना उत्पद्यंते कथमन्यथा एकदैव तेषां क्रिया उत्पद्यंते इति वाच्य, उत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव तासु यौगपद्यप्रतीतेर्भ्रमरूपत्वात् मनस आशु संचारादेव भिन्नभिन्नसयोगु तासामुत्पादात् । एवं मनसो नानात्वे युगपदेव घ्राणरसनादिभिः सह तेषामेकैकस्य संयोगसंभवात्,

शरीराण्युक्तानि ॥ १३ ॥

दूसरे अध्यायमें जहां पर शरीरोंके नाम गिनाये गये हैं वहां पर औदारिक आदि शरीरोंका विस्तृत व्याख्यान कर दिया है और वे पुद्गलीक हैं यह बात खुलासा रूपसे बतला दी गई है इसलिए यहांपर शरीर शब्दका विशेष व्याख्यान नहीं किया गया। शंका—

कार्मणमपौद्गलिकमिति चेन्न तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबंधनिमित्तत्वात् ॥ १४ ॥

औदारिक आदि पांचों शरीरोंमें आदिके चार शरीरोंको पुद्गलीक मानना तो ठीक है क्योंकि किसी न किसी आकारका होना पुद्गलमें ही हो सकता है, अमूर्तिक द्रव्योंमें नहीं। औदारिक आदि चार शरीर किसी न किसी आकारसे विशिष्ट हैं इसलिये उन्हें पुद्गलीक मानना अयुक्त नहीं परंतु कार्मणशरीरका कोई आकार नहीं, वह निराकार है इसलिये आकाररहित होनेसे जिसप्रकार आकाश पौद्गलिक नहीं माना जाता उसीप्रकार कार्मणशरीर भी पौद्गलिक नहीं हो सकता अतः जो ऊपर पांचों शरीरोंको पुद्गलीक कहा गया है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। किसीप्रकारके आकार आदिके न रहते भी जिसका विपाक मूर्तिमान द्रव्यके संबंधसे होता है वह भी पुद्गलीक माना जाता है। यह प्रत्यक्ष दीख पडता है कि चावल आदि पदार्थोंका पकना जल आदि मूर्तिक द्रव्योंके संबंधसे होता है इसलिये मूर्तिमान जल आदि पदार्थोंके संबंधसे पकना होनेके कारण जिसप्रकार चावल आदि पदार्थ मूर्तिक माने जाते हैं उसीप्रकार गुड कांटे आदि मूर्तिमान द्रव्योंके संबंधसे कार्मण द्रव्यका विपाक होता है अर्थात् गुड कंटक आदि द्रव्योंमें जिस कर्मके फलानुसार जो द्रव्य प्राप्त हुई उसके संबंध होते ही उसका कारण कर्म पककर झड जाता है इसरीतिसे जब कार्मणशरीरका विपाक भी मूर्तिमान द्रव्यके

आत्मा और इंद्रियके साथ जो मनका संबंध होता है वह सर्वात्मना अर्थात् अखंडरूपसे होता है अथवा एकदेशरूपसे होता है ? यदि कहा जायगा कि सर्वात्मरूपसे होता है तब आत्मा और इंद्रिय दोनों पदार्थोंका स्वरूप भिन्न भिन्न होनेसे वे दोनों जुदे जुदे हैं इसलिये परमाणुस्वरूप मनका दोनोंमेंसे एकके साथ ही संबंध हो सकता है, एक समयमें दोनोंके साथ संबंध नहीं हो सकता क्योंकि एक साथ दोनोंके साथ संबंध होनेका विरोध है। यदि यह कहा जायगा कि एक देशसे मन आत्माके साथ संबद्ध होता है अन्य देशसे इंद्रियके साथ होता है इसरीतिसे सर्वात्मरूपसे संबंध होनेपर भले ही दो पदार्थोंके साथ मनका संबंध न हो सके किंतु भिन्न भिन्न देशोंकी अपेक्षा दोनों पदार्थोंके साथ मनका संबंध हो सकता है कोई दोष नहीं लागू हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। प्रतिवादीने मनको परमाणुस्वरूप माना है यदि अन्य देशकी अपेक्षा उसका आत्माके साथ संबंध माना जायगा और अन्य देशकी अपेक्षा इंद्रियके साथ संबंध माना जायगा तो मन प्रदेशवान पदार्थ सिद्ध होगा जो कि परमाणुस्वरूप मनका घातक होनेसे प्रतिवादीको अनिष्ट है अर्थात् परमाणुको एक प्रदेशी माना है। अनेक प्रदेशोंका सद्भाव न माननेसे उसको प्रदेशवान नहीं कहा जा सकता। प्रतिवादी जब मनको परमाणुस्वरूप मानता है तो उसके मतमें भी वह प्रदेशवान नहीं सिद्ध हो सकता अतः अन्य देशकी अपेक्षा वह आत्माके साथ संबंध करता है और अन्य देशकी अपेक्षा वह इंद्रियके साथ संबंध करता है यह कहना अयथार्थ है। तथा और भी यह बात है कि—

यदि मनका सर्वात्मरूपसे आत्माके साथ संबंध माना जायगा तो यह नियम है कि दोनोंको समान परिमाणवाला होना चाहिये। किंतु जहांपर एक छोटा और एक बडा होगा वहांपर कभी दोनोंका

धारक और क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेरित जो पुद्गल वचनरूप परिणत होते हैं वह द्रव्यवाक् है एवं उसका ग्रहण श्रोत्र इंद्रियसे होता है इसलिये वह पुद्गलीक है इसरीतिसे भाववाक् और द्रव्यवाक् दोनों प्रकारकी वाक् पुद्गलीक है और उनका होना पुद्गलकृत उपकार है। शंका–क्षयोपशमरूप सामर्थ्यके धारक और क्रियावान आत्मासे प्रेरित वचनोंको द्रव्यवाक् बतलाया है और उसे पुद्गलस्वरूप माना है परंतु यह प्रतीतिसिद्ध बात है कि जिससमय वचनोंका मुखसे निकलना होता है उसीसमय उनकी उपलब्धि होती फिर नहीं होती यह क्यों ? क्योंकि जब उसको पुद्गल माना है तब प्रारंभमें जिसप्रकार वचन सुन पडते हैं उसप्रकार पीछे भी सुन पडने चाहिये ? उत्तर—

पुनरग्रहणं ताडिद्द्रव्यवदसंहरत्वात् ॥ १६ ॥

जिसप्रकार मूर्तिमान पुद्गलस्वरूप विजली पदार्थ स्पष्टरूपसे आंखोंसे दीख पडता है और उसी क्षण जहां तहां फैलकर अदृश्य हो जाता है–प्रयत्नपूर्वक ढूंढनेपर भी वह फिर नजर नहीं पडता उसी प्रकार वचन भी मूर्तिमान पुद्गल है जिससमय वे उत्पन्न होते हैं उससमय तो वे कानसे सुन पडते हैं किंतु उसी क्षणमें सब ओर फैल जानेके कारण वे सुनाई नहीं पडते–कानोंके अगोचर हो जाते हैं इस रीतिसे जिसप्रकार विजली पदार्थ प्रारंभ समयमें दीख कर फिर नहीं दीख पडता उसीसमय शब्द भी प्रारंभमें सुन पडता है फिर नहीं सुन पडता उसका यही स्वभाव है। शंका–जब शब्द मूर्तिमान पुद्गल-स्वरूप माना जाता है तब जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थ दीख पडते हैं उसप्रकार वह क्यों आंखोंस दीख नहीं पडता ? उत्तर—

चक्षुरादिग्रहणाभावो घ्राणग्राह्यरसाद्यनुपलब्धिवत् ॥ १७ ॥

अनुभव होता है। आत्मा मन इंद्रिय और अर्थ कहीं तो इन चारों पदार्थोंके संबन्धसे ज्ञान आदि होते और कहींपर तीन तो कहींपर दो पदार्थोंके संबन्धसे ज्ञान आदि होते हैं परन्तु उनके मतानुसार विना सन्निकर्षके ज्ञान आदि नहीं होते। जब मनका एकदेशरूपसे ही आत्माके साथ संबन्ध माना जायगा तो जिस आत्माके प्रदेशमें मनका संबन्ध हुआ है उसीप्रदेशमें उस सन्निकर्षसे जायमान ज्ञान सुख दुःख आदि आत्माके विशेष गुणोंका सद्भाव होसकता है और वाकी प्रदेशोंमें नहीं क्योंकि उन प्रदेशोंके साथ मनका संबन्ध नहीं फिर कोई एक प्रदेश तो आत्माका ज्ञान सुख दुःख आदि विशेष गुणोंसे युक्त मानना पडेगा और कोई एक प्रदेश ज्ञान आदिसे विहीन मानना पडेगा। तथा जिस देशमें ज्ञान आदि गुणोंका सद्भाव नहीं माना जायगा उस देशमें आत्माकी पहिचान करानेवाला कोई और लक्षण तो होगा नहीं क्योंकि आत्माके अस्तित्वके परिचायक ज्ञान सुख दुःख आदि गुण हैं और उनका सद्भाव जहांपर मनका सन्निकर्ष है वहींपर है अन्यत्र नहीं इसरूपसे अन्य प्रदेशोंमें ज्ञान आदि गुणोंके अभावसे जिस प्रदेशके अंदर आत्मामें ज्ञान आदि गुण हैं उसी प्रदेशकी बराबर आत्मा माना जायगा सर्वगत–व्यापकपनेका अभाव मानना पडेगा इसलिये मनका एकदेश रूपसे भी आत्माके साथ संबन्ध नहीं हो सकता। तथा—

इसीप्रकार इंद्रियोंके साथ भी मनके संबन्धकी व्यवस्था है। वहांपर भी यह प्रश्न उठता है कि इंद्रियोंके साथ मन सर्वात्मरूपसे संबन्ध करता है वा एकदेशरूपसे। यदि कहा जायगा कि सर्वात्मरूपसे करता है तो ऊपर कहा जाचुका है कि जहांपर समान परिमाण होता है वहींपर सर्वात्मरूपसे संबन्ध होता है यदि इंद्रियके साथ मनका सर्वात्मरूपसे संबन्ध माना जायगा तो मनका जो परमाणुके बराबर

दिशामें रहनेवाले पुरुषके द्वारा ग्रहण किया जाता है इसीप्रकार मूर्तिमान पवनसे शब्द भी प्रेरित होता है और वह किसी दूर दिशामें स्थित पुरुषके द्वारा गृहीत होता है अर्थात् जहां खडा होकर पुरुष बोलता है वहांसे उसका शब्द पवनकी सहायतासे दूरतक चला जाता है और दूरदिशामें रहनेवाला पुरुष उसे सुन लेता है परन्तु अमूर्तिक कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसका प्रेरण किसी मूर्तिमान द्रव्यके द्वारा हो सके इसलिये मूर्तिमान पवनके द्वारा प्रेरित होनेसे शब्द मूर्तिक ही है। तथा जिसप्रकार कुल्या (तालाब)-का जल नली आदिसे रुक जाता है उसीप्रकार शब्द भी नली आदिमें भर लिया जाता है। अमूर्तिक पदार्थ ऐसा कोई नहीं जो मूर्तिमान नली आदिसे रुका हुआ देखा जाय इसलिये मूर्तिमान नली आदिसे रुकनेके कारण शब्द मूर्तिक है। इसप्रकार मूर्तिमान इंद्रियसे गृहीत, मूर्तिमान पवनसे प्रेरित और नली आदिसे रुकनेके कारण शब्द मूर्तिक ही है, कभी अमूर्तिक नहीं माना जा सकता। यहांपर नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंका कहना यह है कि—ऊपर जो शब्दको पुद्गल सिद्ध करनेके लिए हेतु दिये गये हैं वे ठीक नहीं। कभी उन हेतुओंसे शब्द पुद्गल सिद्ध नहीं हो सकता। खुलासा इसप्रकार है—

१—वर्तमानकालमें तो नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंकी शब्दके विषयमें कल्पनाशक्ति झूठी सिद्ध हो चुकी है क्योंकि लोहेके तारोंमें शब्द रोका जाता है, वेतारके तारोंमें शब्द रोका जाता है। फोनोंग्राफकी चूड़ियोंमें भरा जाता है। यदि वह अमूर्तिक होता तो इसप्रकारसे उसका भरना आदि नहीं होता। अमूर्तिक आकाशके अन्दर ऐसी क्रियायें नहीं हो सकतीं इसलिये जैनसिद्धांतमें जो शब्दको पुद्गलकी पर्याय माना है वही यथार्थ है।

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥ उपस्कार—इतश्च नाभिव्यंगतेत्याह—संयोगादिति। संयोगात् भेरीदण्डादिसंयोगात्। विभागात् वंशे पाट्यमाने। तत्र संयोगस्तावन्नाद्यस्य शब्दस्य कारणं तदभावात्, तस्माद्वंशदलद्वयविभागो निमित्तकारणं, दलाकाशविभागश्चा-समवायिकारणं। यत्र च दूरे वीणादावुत्पन्नः शब्दः, तत्र संतानक्रमेण उत्पद्यमानः शब्दः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशप्रदेशमासादयन् गृह्यते तेन शब्दादपि शब्दनिष्पत्तिः। पृष्ठ १२१। (वैशेषिकदर्शन)

जायगा तो वह सर्वथा नित्य पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता परन्तु माना उसे सर्वथा नित्य है इसरीतिसे जब मनके अंदर संयोग और विभागरूप परिणाम नहीं हो सकते तब आत्मा और इंद्रियोंके साथ उसका सर्वात्मरूपसे संबन्ध है वा एक देशरूपसे इत्यादि संयोगविभागसंबन्धी विकल्पोंका उठाना अयुक्त है यहांपर यह न समझ लेना चाहिये कि मनके अंदर संयोग विभागरूप परिणामोंकी भले ही सिद्धि न हो परन्तु गुण और गुणीके सर्वथा भेद माननेमें क्या आपत्ति है ? क्योंकि गुण और गुणीका सर्वथा भेद सिद्ध है ही नहीं किन्तु कथंचित भेदाभेद है, यह बात ऊपर बडे विस्तारसे कह दी गई है। तथा यह भी बात है कि—

प्रतिवादीने मनको अचेतन पदार्थ मान रक्खा है। अचेतन पदार्थके अंदर ऐसी विशेषशक्ति नहीं जो वह यह जान सके कि अमुक आत्मा वा अमुक इंद्रियके साथ संबन्ध करना चाहिये इसरीतिसे जब मन पदार्थ अचेतन है तब इसी इंद्रियके साथ उसका संयोग होना चाहिये अन्य इंद्रियके साथ नहीं अथवा इसी आत्माके साथ उसका संबंध होना चाहिये अन्य आत्माके साथ नहीं ऐसा उसे विशेष ज्ञान हो नहीं सकता इसरीतिसे आत्मा और इंद्रियोंके साथ जब मनके संयोग और विभागकी निश्चितरूपसे व्यवस्था नहीं तब उसकी आत्मा और इंद्रियोंके साथ संयोग विभागकी कल्पना निरर्थक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

जिसप्रकार कर्म पदार्थ अचेतन है तथापि आत्माके साथ उसका प्रतिनियत रूपसे संबंध होता है अर्थात् जो आत्मा जैसी क्रिया करता है उसके उसीके अनुकूल कर्मका बंध होता है, अन्य आत्माके साथ नहीं उसीप्रकार मन पदार्थ भी अचेतन है उसका भी प्रतिनियतरूपसे ही आत्मा और इंद्रियोंके

जाता है इसलिए उसका ग्रहण नहीं होता इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि शब्द गुणका पवनसे प्रेरण नहीं हो सकता किन्तु बराबर एक शब्दसे दूसरे शब्दकी उत्पत्ति होती चली जाती है इसलिए दूर देशवर्ती पुरुष भी सुन लेता है। तथा यह जो कहा था कि शब्दका मूर्तिमान पदार्थसे अवरोध (रुकना) होता है इसलिए वह मूर्तिक है, यह भी कहना अयुक्त है क्योंकि—स्पर्शवान द्रव्यके अभि- घातसे दूसरी दिशामें अन्य शब्दोंका आरंभ नहीं होता अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्दको आरंभ नहीं करता इसलिए एकही दिशामें शब्दका आरंभ होनेसे ऐसा जान पडता है कि स्पर्शवान द्रव्यके संबंधसे शब्द रुक गया परन्तु वास्तवमें वह रुकता नहीं इसलिए मुख्यरूपसे शब्दका अवरोध नहीं किन्तु वह अवरुद्ध सरीखा जान पडता है इसलिए गौण है अर्थात् स्पर्शवान द्रव्यका अभिघात एक शब्दसे दूसरे शब्दकी उत्पत्तिमें विरोधी है किन्तु वह शब्दका अवरोधक नहीं इसलिए स्पर्शवान् द्रव्यसे अवरुद्ध होने- के कारण शब्द मूर्तिक है यह जो जैनाचार्यने कहा था वह अयुक्त है? वार्तिककार अब प्रतिपक्षीकी कल्पनाओंका खंडन कर सबका उत्तर देते हैं कि प्रतिवादीने शब्दको मूर्तिक माननेमें जो दोष दिये हैं वे दोष यहां लागू नहीं हो सकते। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

प्रतिवादीने श्रोत्र इंद्रियको आकाशस्वरूप मानकर और अमूर्तिक इंद्रियसे शब्दका ग्रहण स्वीकार कर जो शब्दको मूर्तिकपनेका निषेध किया है वह ठीक नहीं क्योंकि आकाश अमूर्तिक पदार्थ है उसमें दूसरे कार्यका आरंभ करनेवाली शक्तिका अभाव है इसलिए श्रोत्र इंद्रियको आकाशस्वरूप माननेपर उससे शब्दका ग्रहण नहीं हो सकता अतः श्रोत्र इंद्रियको मूर्तिक मानना पडेगा एवं उसके द्वारा शब्द- का ग्रहण माननेपर शब्दका मूर्तिकपना निश्चित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि आकाशस्वरूप

परमाणुस्वरूप नहीं हो सकता किंतु ऊपर जो उसका प्रमाण बतलाया गया है उतना ही है। शंका—

आशु संचारीति चेन्नाचेतनत्वात् ॥ २५ ॥

यदि मनको परमाणुस्वरूप माना जायगा तो समस्त अखंड नेत्र आदि इंद्रियोंको रूप आदि पदार्थोंका ग्रहण न हो सकेगा किंतु जितने अंशके साथ मनका संबंध है उतने ही प्रमाण नेत्र आदिके अंशसे रूप आदिका ग्रहण होगा इसलिये मन परमाणु प्रमाण नहीं माना जा सकता यह जो ऊपर मनके अणुस्वरूप माननेमें दोष दिया गया है वह युक्त नहीं क्योंकि मनपदार्थ अत्यन्त शीघ्रगामी है उसका बहुत जल्दी नेत्र आदि इंद्रियोंके सर्वांशसे संबंध हो सकता है इसलिये मनको परमाणुस्वरूप माननेपर भी समस्त अखंड नेत्र आदि इंद्रियोंसे ही पदार्थका ग्रहण होगा किसी एक अंशसे नहीं अतः मन पदार्थ परमाणुप्रमाण ही है। सो ठीक नहीं। प्रतिवादी मनको अचेतन पदार्थ मानता है। अचेतन पदार्थके अंदर यह सामर्थ्य नहीं, वह बुद्धिपूर्वक समस्त इंद्रियोंको व्याप्त कर सके इसरीतिसे समस्त इंद्रियको व्याप्त करना अचेतनरूप मनका जब सुनिश्चित नहीं तब मनको परमाणुस्वरूप नहीं माना जा सकता। यदि यहां पर यह उत्तर दिया जाय कि—

अदृष्टवशादिति चेन्न क्रियापरिणामाभावात् ॥ २६ ॥

जिसप्रकार अलातचक्र-कुंभारका चाक, जिससमय पुरुष (कुंभार) से प्रेरित होता है उससमय शीघ्रगामी होनेसे वह सर्वत्र उपलब्ध होता दीख पडता है। किसी एक अंशमें ही उसकी गति होकर रुक जाय यह बात नहीं उसी प्रकार अदृष्ट (धर्म अधर्म) के बलसे प्रेरित मन भी शीघ्रगामी होनेसे सर्वांशरूपसे प्रत्येक इंद्रियको प्राप्त कर सकता है किसी एक अंशमें ही उसका संबंध होकर छूट नहीं

निरवयव प्रतिवादीने कल्पना कर रक्खा है जो सर्वथा नित्य और निरवयव पदार्थ होगा उसमें किसी प्रकारके फलका ग्रहण करना संभव नहीं हो सकता। आत्मा भी सर्वथा नित्य और निरवयव मान रक्खा है इसलिये अदृष्टके द्वारा उपार्जित फलका उसके द्वारा ग्रहण होना भी असंभव है इसलिये आत्मा भी अदृष्टसे संस्कृत नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि शरीरके एक देशमें अदृष्टके द्वारा संस्कार होता है? सो ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है—अदृष्ट गुण आत्माका है। अन्यका गुण अन्य जगह संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये शरीरके एक देशमें अदृष्टके द्वारा कोई प्रकारका संस्कार नहीं हो सकता। दूसरे शरीरके साथ अदृष्टका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है इसलिये अदृष्टके द्वारा शरीरमें किसी प्रकारका संस्कार नहीं उत्पन्न किया जा सकता। इसरीतिसे जब अदृष्टद्वारा आकाश आत्मा और शरीरका एकदेश इनमें कहींपर भी किसी प्रकारका संस्कार नहीं उत्पन्न किया जा सकता, श्रोत्र इंद्रियका आकाशस्वरूप माननेपर उससे शब्दका ग्रहणरूप कार्य नहीं हो सकता। तथा यह भी बात है कि मूर्तिमान औषध आदिके सम्बन्धसे कानका बहिरापन आदि दोष मिट जाता है और स्पष्टरूपसे शब्द सुन पडता है तथा विजलीका भयंकर शब्द वा तोप आदिका उग्र शब्द होता है उससमय अथवा किसी औषध आदिके डालनेसे कानमें बहिरापन आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं इस रीतिसे मूर्तिमान पदार्थके सबन्धसे कानके अन्दर विपत्ति संपत्ति अर्थात् दोष गुण दीख पडते हैं इस-लिये जिसके अंदर मूर्तिमान द्रव्यके सबन्धसे किसी प्रकारका विकार उत्पन्न हो वह मूर्तिक ही माना जाता है अतः श्रोत्र इंद्रिय मूर्तिक है। तथा यह जो प्रतिवादीने कहा था कि स्पर्शवान द्रव्यके आभि-घातसे दूसरे शब्दका आरंभ नहीं होता किन्तु शब्द रुकता नहीं। ऐसा मानने पर तो हमारे घरमें

शब्द

रूपसे जब यह बात सिद्ध है कि आत्मा और मनका आपसमें संयोग माननेपर पहिले दोनों पदार्थ जुदे जुदे थे पीछे उनका संयोग हुआ है तब आत्मा और मनका अनादि संबंध नहीं सिद्ध हो सकता। इस रीतिसे जब प्रतिवादीके मतानुसार ही आत्मा और मनका अनादिसंबंध नहीं बन सकता तब उनका अनादिसंबंध मानना अयुक्त है। तथा जैनसिद्धांतमें मनको ज्ञानावरण (नोइंद्रियावरण) और वीर्यांतराय कर्मकी क्षयोपशम अवस्थारूप होनेसे क्षायोपशमिक माना है। यह नियम है—जो जो क्षायोपशमिक भाव हैं वे सादि और सांत होते हैं। मन भी क्षायोपशमिक भावस्वरूप होनेसे सादि है इसलिये जैनसिद्धांतके अनुसार भी मन और आत्माका अनादि संबंध नहीं माना जा सकता। तथा यह भी बात है कि—

तत्परित्यागविरोधाच्च ॥ २८ ॥

यदि मनका आत्माके साथ अनादिसंबंध माना जायगा तो जिसका अनादिकालसे संबंध है उसका कभी भी संबंध छूटता नहीं। मनका यदि अनादिकालसे संबंध माना जायगा तो उसका भी छूटना न होगा परन्तु उसका छूटना होता है अर्थात् पर्यायदृष्टिसे वह बराबर उत्पन्न और नष्ट होता रहता है और मोक्षावस्थामें उसका समूल नाश माना है इसलिये मनका कभी अनादिसंबंध सिद्ध नहीं होता। यदि यहां पर यह समाधान किया जाय कि—

कर्मवदिति चेन्नानेकांतात् ॥ २९ ॥

जीव और कर्मोंका भी अनादिकालसे संबंध है एवं अपनी स्थितिके पूरी हो जानेपर कर्म छूट भी जाते हैं इसलिये जिसप्रकार जीव और कर्मोंका अनादि कालसे संबंध रहनेपर भी कर्मोंका छूटना हो

अमूर्तिक होता तो जिस प्रकार अमूर्तिक आकाशका उत्पादक कोई मूर्तिक कारण नहीं उसप्रकार शब्द-का उत्पादक भी कोई मूर्तिक कारण नहीं होता परन्तु उसका उत्पादक कारण मूर्तिक है इसलिये शब्द मूर्तिक ही है। तथा पर्वतकी गुफा आदिमें जिससमय शब्द उच्चारण किया जाता है उससमय वहांपर प्रतिशब्द सुन पडता है अर्थात् किसी गुफा आदि स्थानपर खडे होकर घट, पट, आदि जिस शब्दको बोला जाता है उससमय स्पष्टरूपसे उसीका प्रतिशब्द सुन पडता है यह बात शब्दको विना मूर्तिक माने नहीं हो सकती क्योंकि अमूर्तिक आकाश आदि पदार्थोंके अंदर ऐसी व्यवस्था नहीं दीख पडती इसलिये शब्द मूर्तिक ही है, वह अमूर्तिक नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

यदि मूर्तिक पदार्थका ही अभिभव दीख पडे तब तो शब्दको मूर्तिक माना जाय परन्तु अभिभव अमूर्तिक पदार्थका भी दीखपडता है जिसतरह विज्ञान पदार्थ आत्मिक गुण होनेसे अमूर्तिक है परन्तु मूर्तिमान शराब आदिसे उसका अभिभव हो जाता है—शराब पीनेसे ज्ञानशक्ति तिरोहित हो जानेसे मनुष्य पागल हो जाता है इसलिये मूर्तिक और अमूर्तिक दोनोंमेंसे किसीके भी निश्चयका कारण नहीं तब शब्द अभिभूत हो जाता है इसलिये वह मूर्तिक है यह बात निश्चितरूपसे नहीं कही जासकती इस-लिये भले ही शब्द अभिभूत हो तथापि ज्ञान आदिके समान उसे अमूर्तिक ही मानना योग्य है। सो ठीक नहीं। जिस विज्ञानका अभिभव होना शराब आदिके द्वारा माना गया है उस विज्ञानको जैनसिद्धांतमें क्षायोपशमिक ज्ञान माना गया है तथा क्षायोपशमिक ज्ञानको पौद्गलिक (मूर्तिक) स्वीकार किया गया है इसरूपसें जब विज्ञान पदार्थ मूर्तिक है तब मूर्तिमान शराब आदिसे उसका अभिभव होना युक्त ही है। यदि वह अमूर्तिक होता तब जिसप्रकार आकाशका अभिभव किसी मूर्तिमान पदार्थके द्वारा नहीं हो

छूटना होता है इसरीतिसे आत्माके साथ कर्मका कथंचित् अनादिसंबंध और कथंचित् सादिसंबंध माननेसे उनका छूटना युक्तियुक्त है परंतु प्रतिवादी मनका एकांतरूपसे अनादिसंबंध मानता है अतः उसका छूटना नहीं हो सकता इसप्रकार कर्मको दृष्टांत मानकर जो प्रतिवादीने उसके बलसे आत्माके साथ अनादिसंबंधवाले मनका छूटना सिद्ध करना चाहा था, वह सिद्ध न हो सका इसलिये आत्माके साथ मनका अनादिसंबंध सिद्ध नहीं हो सकता।

इंद्रियसहकारिवेदनावगमादिति चेन्न चेतनास्वभावत्वात् ॥ ३० ॥

मन कोई पदार्थ है या नहीं इस बातपर कुछ विचार किया जाता है। शंका—नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा रूप रस आदि इष्ट अनिष्टस्वरूप विषयोंका जो ज्ञान होता है और उनसे जो सुख दुःख रूप वेदन होता है वह मनकी सहायतासे होता है। यदि मन इंद्रियोंका सहायी न हो तो ज्ञान सुख दुःख आदि न हो सकें इसलिये अपने अपने रूप आदि विषयोंके ग्रहण करते समय नेत्र आदि इंद्रियोंकी सहायता करना यही मनका कार्य है अन्य कोई मनका कार्य अनुभवमें नहीं आता एवं इसी कार्यके द्वारा उसके सद्भावका निश्चय है। सो ठीक नहीं। जिसप्रकार अग्निसे जाज्वल्यमान लोहेका पिंड अग्निस्वरूप माना जाता है उसप्रकार इंद्रियस्वरूप परिणत होनेसे आत्मा ही इंद्रिय कहा जाता है इसलिये आत्म-स्वरूप होनेसे चैतन्यस्वरूप होनेके कारण इंद्रियां ही सुख दुःख वेदनाका ज्ञान और अनुभव करती हैं। सुख आदिके अनुभव करनेमें मनकी सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि जबरन यह बात मानी जायगी कि विना मनकी सहायताके सुख दुःख आदिका ज्ञान वा अनुभव इंद्रियोंके द्वारा हो ही नहीं सकता तब जहांपर मन है अर्थात् जो जीव संज्ञी पंचेंद्रिय हैं उनकी इंद्रियोंसे जहां रूप रस आदि

पदार्थ है ? सो ठीक नहीं। अनेकांतवादके अनुसार जिसतरह इंद्रियोंको आत्मासे कथंचित् भिन्न और अभिन्न माना है उसीप्रकार मन भी आत्मासे कथंचित् भिन्न और अभिन्न है सर्वथा भिन्न नहीं। उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

वीर्यांतराय और ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माका ही जिससमय इंद्रिय रूपसे परिणमन होता है उससमय इंद्रिय पदार्थ आत्मासे कथंचित् अभिन्न है क्योंकि परिणाम परिणामीसे सर्वथा भिन्न नहीं माना जा सकता। जब इंद्रियोंमें आत्मपरिणामकी विवक्षा मानी जायगी तब वे आत्मासे भिन्न नहीं हो सकतीं। एवं इंद्रियां नष्ट भी हो जांय तब भी आत्मा ज्योंका त्यों तदवस्थ रहता है उसका नाश नहीं होता इसलिये इस अपेक्षा आत्मासे इंद्रियां कथंचित् भिन्न भी हैं इसरीतिसे जिसप्रकार इंद्रियां आत्मासे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं उसीप्रकार वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी है अपेक्षा जिसको ऐसे आत्मा ही का मनरूप परिणाम माना जायगा उससमय आत्मासे मन कथंचित् अभिन्न होगा क्योंकि मनको आत्माका परिणाम स्वरूप माननेपर वह उससे भिन्न नहीं रह सकता एवं मनके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा पदार्थ तदवस्थ रहता है इसलिये इस अपेक्षा वह आत्मासे कथंचित् भिन्न भी है। इसरीतिसे इंद्रियोंके समान मन भी आत्मासे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है, सर्वथा भिन्न नहीं। यदि यहांपर यह शंका उठायी जाय कि—

अवस्थायीति चेन्नानंतरसमयप्रच्युतेः ॥ २२ ॥ आदेशवचनाच्च ॥ २३ ॥

ऊपर यह कहा गया है कि मनकी निवृत्ति हो जानेपर आत्मा तदवस्थ रहता है इसलिये मन कथंचित् आत्मासे भिन्न भी है परन्तु यह बात अयुक्त जान पडती है क्योंकि आत्माके समान मन भी अव-

न होनेपर जो भीतर ही भीतर आत्मामें पदार्थोंके गुण और दोषोंका विचार होने लगता है, अगणित कोसोंकी दूरी पर रहनेवाली तथा जिसको देखें बहुत काल बीत चुका, ऐसी वस्तुका स्मरण आदि व्यापार होते हैं वे सब व्यापार मनकी ही सहायतासे होते हैं। यदि मन पदार्थ न माना जाय तो उस प्रकार विचार वा स्मरण आदि व्यापार ही बंद हो जांय इसलिये गुण दोष आदि विचारोंके दर्शनसे यह बात सुनिश्चित है कि अंतःकरण—भीतरी इंद्रिय मन नामकी है। इस रूपसे मनका सद्भाव सुनिश्चित है। यहां पर बौद्धका कहना है कि—

विज्ञानमिति चेन्न तत्सामर्थ्याभावात् ॥ २२ ॥

विज्ञानको ही मन कहते हैं, विज्ञानसे भिन्न मन नामका कोई पदार्थ नहीं । मन विज्ञानस्वरूप है इसी बातको पुष्ट करनेकेलिये वह अपने आगमका प्रमाण भी देता है—'षण्णामनंतरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः' अर्थात् छह पदार्थोंके बाद होनेवाला जो विज्ञान है उसीका नाम मन है इसलिये विज्ञानसे भिन्न मनको मानना अनावश्यक है ? सो ठीक नहीं । अतीत विज्ञानको मन माननेपर गुण दोषोंका विचार करना आदि जो ऊपर मनका कार्य कह आये हैं उनके संपादन करनेकी सामर्थ्य उसके अंदर नहीं हो सकती। यह बात यहांपर विचार करने योग्य है कि जब वर्तमान विज्ञानके अंदर यह सामर्थ्य नहीं कि वह बाह्य पदार्थोंका ज्ञान कर सके तब अतीत विज्ञानके अंदर तो वह सामर्थ्य हो ही नहीं सकती क्योंकि बौद्धसिद्धांतकारोंने समस्त पदार्थोंको क्षणविनाशीक स्वीकार कर वर्तमान विज्ञानको भी क्षणविनाशीक माना है एवं उसे पूर्वकालमें होनेवाले और उत्तरकालमें होनेवाले विज्ञानोंसे रहित भी माना है इसलिए वह गुण और दोषोंके विचार करना और स्मरण करना आदि व्यापारोंमें सहायता नहीं प्रदान कर सकता। जो

ही प्रयत्न होता है अनेक प्रयत्न नहीं होते। यदि मन अनेक प्रकारका माना जाता तो एक साथ अनेक प्रयत्न होने चाहिये थे परन्तु एक समयमें अनेक प्रयत्न होते नहीं इसलिये मन एक अखंड द्रव्य है। तथा एक समयमें एक ही ज्ञान होता है अनेक ज्ञान नहीं होते। यदि मन अनेक प्रकारका माना जाता तो एक साथ अनेक ज्ञान होने चाहिये थे परन्तु होते नहीं इसलिये भी एक आत्मामें मन एक ही अखंड द्रव्य है इसरीतिसे हर एक आत्मामें अखंड द्रव्यस्वरूप एक एक ही मन मानना चाहिये ? जैनाचार्य इसका समाधान देते हैं—सो ठीक नहीं, नैयायिक और वैशेषिकोंने मनको परमाणुस्वरूप माना है क्योंकि 'मन परमाणुस्वरूप है वह आत्मा और इंद्रियके साथ संबद्ध होकर अपने प्रयोजनके लिये व्यापृत होता है' ऐसा उन्होंने मान रक्खा है परमाणुस्वरूप मनके अन्दर यह सामर्थ्य नहीं कि वह एक साथ अनेक प्रयत्न वा एक साथ अनेक ज्ञानोंके होनेमें सहायी बन सके इसलिये एक साथ अनेक प्रयत्नोंका न होना वा अनेक ज्ञानोंका न होना मनके एकपनेको सिद्ध नहीं कर सकता कि हरएक आत्माके अन्दर एक एक मन है किंतु परमाणुस्वरूप होनेसे वह असमर्थता प्रगट करता है। इसरीतिसे हरएक आत्मामें मन एक एक है यह बात नहीं सिद्ध हो सकती। अब मन परमाणुस्वरूप है यह जो नैयायिक और वैशेषिकोंने मान रक्खा है इसपर विचार किया जाता है—

प्राणजरासनादीनामपि युगपदुत्पादापत्तिरतः प्रतिशरीरं मन एकमेव न तु नानेत्यर्थः। ननु छिन्नवृश्चिकादिखंडद्वय एव क्रियादर्शनान्मनसो नानात्वमावश्यकमिति चेन्न, तदानीमदृष्टवशेन मनोऽन्तरसन्निवेशादेव तत्संभवात्। अन्यत्र प्रयत्नायौगपद्यस्य ज्ञानायौगपद्यस्य च प्रामाणिकत्वेन मनसो नानात्वस्वीकारस्य कर्तुमशक्यत्वादिति। कूर्मशुण्डादिवन्मनसः संकोचविकाशाभ्यामेव प्रयत्नानां ज्ञानानां च यौगपद्यायौगपद्ययोर्निर्वाहः वस्तुत एकमेवैकस्मिन् शरीरे मन इति केचित् तदपि न मनोरमम्। अनंतावयवानां तत्प्रागभावानां तत्प्रध्वंसानामनंततत्परमाणूनां च कल्पने महागौरवादिति संक्षेपः। एकमित्यनेन प्रथमसूत्रस्थस्य मनस इत्यस्य विभक्तिविपरिणामेन प्रथमांततयान्वयः। पृष्ठ संख्या १५०। वैशेषिकदर्शनं।

बीजशक्तिस्वरूप स्वीकार किया है और सत्स्वरूपसे अवस्थित माना है इसलिये वह गुणदोषविचार और स्मरण आदि कार्योंका आलंबन—आश्रय हो सकता है अतः अतीतविज्ञानस्वरूप मनको मानना अयुक्त नहीं ? सो ठीक नहीं । बौद्धोंने 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' अर्थात् जितने भी संसारके अन्दर पदार्थ हैं वे सत्स्वरूप होनेसे सभी क्षणिक हैं इस अनुमानके द्वारा सब पदार्थोंको क्षणविनाशीक माना है यदि वे किसी एक पदार्थको अर्थात् अलयविज्ञानको कालांतरावस्थायी अर्थात् अनेकक्षणस्थायी मानेंगे तो उसकी सामान्यरूपसे क्षणिकप्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी क्योंकि वहांपर यह कहा जा सकता है कि जिसतरह एक पदार्थ क्षणस्थायी है उसतरह सब पदार्थ क्षणस्थायी माने जा सकते हैं । यदि यह कहा जायगा कि आलयविज्ञान भी क्षणस्थायी है तब यह मानना ही होगा कि वह गुणदोषविचार और स्मरण आदिमें सहायक नहीं हो सकता क्योंकि क्षणविनाशीक होनेसे उसके अंदर उसप्रकारकी सामर्थ्य हो ही नहीं सकती । इसरीतिसे बौद्धोंने जो मनको अतीतविज्ञानस्वरूप माना है उसका वह मानना अयुक्त है । मनके विषयमें सांख्यसिद्धांतकारोंका कहना इसप्रकार है—

प्रधानविकार इति चेन्नाचेतनत्वात् ॥ ३३ ॥

मन पौद्गलिक पदार्थ नहीं माना जा सकता किंतु वह प्रधान (प्रकृति) का विकार है क्योंकि महद् अहंकार आदि स्वरूपसे परिणत होनेवाले प्रधानका विकारविशेष मन है ऐसा सांख्यसिद्धांतमें कहा गया है अतः मनको प्रधानका ही विकार मानना उचित है । सो ठीक नहीं । सांख्यमतमें प्रधान तत्त्वको अचेतन माना गया है । यह नियम है—जो जैसा होता है उसका विकार भी वैसा ही होता है जब प्रधान पदार्थ अचेतन है तब उसका विकार भी नियमसे अचेतन होगा इसलिये प्रधानका विकार मानने

सर्वात्मरूपसे संबंध नहीं बन सकता । मनका आत्माके साथ सर्वात्मरूपसे संबंध माना है इसलिये जब मन परमाणुस्वरूप है तब आत्माको भी परमाणुस्वरूप मानना होगा अथवा आत्मा जिसप्रकार प्रतिवादीके मतमें व्यापक है तब मनको भी व्यापक मानना होगा । परन्तु न तो प्रतिवादीको आत्माको परमाणुस्वरूप ही मानना इष्ट है और न मनका व्यापक मानना ही इष्ट है किंतु उसके मतमें जो परमाणुस्वरूप माना है वह उतना ही है और जो आत्माको व्यापक माना है वह वैसा ही है अतः मनका आत्माके साथ सर्वात्मस्वरूपसे संबंध नहीं हो सकता । यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

मनका सर्वात्मरूपसे संबंध माननेपर यदि ऊपर कही गई आपत्ति आती हैं तब हम उसका आत्माके साथ एकदेशरूपसे संबंध मानेंगे ? इसका समाधान यह है कि परमाणुमें देशविशेषकी कल्पना नहीं की जा सकती । मनको प्रतिवादीने परमाणुस्वरूप माना है इसलिये उसके अन्दर भी किसी देशविशेषकी कल्पना नहीं की जा सकती अर्थात् वह प्रदेशवान् नहीं सिद्ध हो सकता यदि एक देशरूपसे आत्माके साथ मनका संबंध माना जायगा तो मनको प्रदेशवान स्वीकार करना होगा तथा यदि एकदेशरूपसे ही मनका आत्माके साथ संबंध माना जायगा तो चार पदार्थोंके सन्निकर्षसे वा तीन पदार्थ और दो पदार्थोंके सन्निकर्ष (संबंध) से जायमान ज्ञान सुख दुःख आदि जो आत्माके विशेष गुण हैं उन्हें भी आत्माके एकप्रदेशमें रहनेवाला माना जायगा । खुलासा तात्पर्य यहां यह समझ लेना चाहिये कि नैयायिक और वैशेषिकोंका यह सिद्धांत है कि आत्माका मनके साथ संबंध होता है । मनका इंद्रियके साथ संबंध होता है और इंद्रियका पदार्थके साथ संबंध होता है तब ज्ञान और सुख आदिका

१—"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति" मुक्तावली टिप्पणी ।

एक प्रधान ही पदार्थ सिद्ध होगा, परिणाम कोई पदार्थ सिद्ध न होगा इसलिये प्रधानका विकार कोई भिन्न पदार्थ न होनेसे मनका अभाव ही कहना होगा क्योंकि मनको सांख्यसिद्धांतकार विकारविशेष कहते हैं। इसरीतिसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि मन प्रधान तत्वका विकार नहीं। इसप्रकार मनका विचार हो चुका अब श्वासोच्छ्वासका विचार किया जाता है—

कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः ॥ ३५ ॥

वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम एवं अंगोपांग नामक नाम कर्मके उदयसे विशिष्ट आत्माके द्वारा जो कोठेका पवन ऊपरकी ओर लाया जाता है वह उच्छ्वासस्वरूप प्राण कहा जाता है। तथा—

बाह्यो वायुरभ्यंतरीक्रियमाणोऽपानः ॥ ३६ ॥

वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम एवं अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे विशिष्ट आत्मासे जो बाहिरका पवन भीतर पहुंचाया जाता है वह अपान है। ये दोनो ही प्राण जीवनके कारण हैं क्योंकि जब तक उच्छ्वास और निःश्वासका संबंध रहता है तब तक जीवन रहता है और उनके दूर होते ही जीवनकी नास्ति हो जाती है इसलिये जीवनके कारण होनेसे ये दोनों ही आत्माके अनुग्राहक हैं। मन और श्वासोच्छ्वासका मूर्तिकपना वार्तिककार प्रतिपादन करते हैं—

तन्मूर्तिमत्त्वं प्रतिघातादिदर्शनात् ॥ ३७ ॥

प्राण और अपान अथवा वचन मन और प्राणापानका दूसरे दूसरे पदार्थोंसे प्रतिघात दीख पडता है इसलिये वे मूर्तिक पदार्थ हैं क्योंकि यह बात स्पष्टरूपसे लोकमें दीख पडती है जिससमय तीव्रभयका

परिमाण है उतना ही परिमाण इंद्रियोंका मानना होगा अथवा जितना परिमाण इंद्रियोंका माना गया है उतना ही परिमाण मनका माना जायगा फिर मनको जो परमाणुस्वरूप माना है वह परमाणुके बराबर परिमाणवाला न हो सकेगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि सर्वांतमरूपसे संबंध माननेमें अनेक दोष होनेसे हम एक देशरूपसे इंद्रियोंके साथ मनका संबन्ध मानेंगे ? तब उसे प्रदेशवान मानना पडेगा फिर वह परमाणुकी बराबर नहीं कहा जासकता क्योंकि परमाणुमें प्रदेशोंकी कल्पना नहीं हो सकती। इसरूपसे न तो इंद्रियोंके साथ मनका सर्वांतमरूपसे संबन्ध सिद्ध हो सकता है और न एक देशरूपसे सिद्ध हो सकता है। तथा यह भी बात है कि—

नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकारोंने गुण और गुणीका सर्वथा भेद माना है तथा मनको नित्य माना है इसलिये मनके अंदर संयोग और विभागका परिणमन नहीं हो सकता क्योंकि परिणमन वहीं हो सकता है जहांपर गुण और गुणीमें कथंचित् भेद रहता है परन्तु प्रतिवादियोंने गुण और गुणीका सर्वथा भेद मान रक्खा है इसलिये उनके मतके अनुसार मनरूप गुणी पदार्थ भिन्न होगा और संयोग विभागरूप गुण जुदे होंगे इसलिये मनके संयोग विभागरूप परिणाम नहीं हो सकते। तथा संयोग होना उत्पाद और विभाग होना विनाश कहा जाता है। जिसके मतमें पदार्थ सर्वथा नित्य है उसके मतमें नित्य पदार्थके अंदर संयोग विभागरूप परिणाम नहीं हो सकते। प्रतिवादियोंने मनको नित्य पदार्थ माना है इसलिये उसका संयोग विभागरूप परिणमन नहीं हो सकता। इसरीतिसे जब मनके अंदर संयोग और विभागका परिणमन सिद्ध नहीं होसकता तब आत्मा और इंद्रियोंके साथ उसका संयोग और विभाग नहीं माना जासकता तथा यदि मनके अंदर संयोग और विभागका परिणमन माना

रहता है तबतक बराबर उनकी प्रवृत्ति दीख पडती है किंतु उसके कूंच करते ही फिर प्रवृत्ति नहीं दीख पडती इसलिये प्राणापान आदि कार्योंकी प्रवृत्ति अकस्मात् नहीं हो सकती। उनकी प्रवृत्तिका कारण अवश्य आत्मा मानना पडेगा अतः आत्माकी सिद्धि निर्बाध है। यदि बौद्ध यहांपर यह कहे कि—

प्राणापान आदिकी वैसी प्रवृत्तिके होनेमें हमारे मतके अंदर माने हुए विज्ञान आदि कारण हैं, नित्य अवस्थित आत्मा पदार्थ कारण नहीं। सो भी ठीक नहीं। बौद्धोंने विज्ञान आदि पदार्थोंको अमूर्तिक माना है। जो अमूर्तिक पदार्थ हैं उनके अन्दर किसी पदार्थको प्रेरित करनेकी शक्ति हो नहीं सकती यह ऊपर अच्छी तरह सिद्ध किया जा चुका है इसलिये अमूर्तिक विज्ञान आदि प्राणापान आदि कार्यों की प्रवृत्ति करानेमें समर्थ नहीं हो सकते। यदि फिर भी कदाचित् वे यह कहें कि—विज्ञान आदि अमूर्तिक होनेके कारण भले ही प्राणापान आदिके प्रेरक न हों परन्तु रूपस्कन्ध तो मूर्तिक पदार्थ है वह प्राणापान आदिकी प्रवृत्तिमें कारण हो सकता है? सो भी ठीक नहीं। रूपस्कन्धको बौद्धोंने अचेतन पदार्थ माना है। अचेतनके अन्दर यह सामर्थ्य नहीं हो सकती कि वह नियामितरूपसे प्राणापान आदिकी प्रवृत्ति करा सके इसलिये रूपस्कन्ध भी उनकी प्रवृत्तिमें कारण नहीं हो सकता। शंका—

संसारमें जितने पदार्थ हैं सब निरीहक हैं कोई किसी बातकी इच्छा नहीं रखता। पुरुष भी निरीहक है इसलिये उसके प्राणापान आदि क्रियाका सद्भाव मानना अयुक्त है? सो भी ठीक नहीं। यदि सब पदार्थोंको निष्क्रिय माना जायगा तो एक देशसे दूसरे देशमें जो चला जाना होता है वह न हो सकेगा अर्थात् 'देशाद्देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया' अर्थात् एक देशसे दूसरे देशमें जो पदार्थ जाकर उपस्थित होता है उसमें कारण क्रिया है। यदि क्रियाका सर्वथा अभाव मान लिया जाय तो एक देशसे

साथ संबंध होगा अर्थात् जिस आत्मा और इंद्रियके साथ संयोगकी आवश्यकता होगी उसीके साथ होगा अन्यके साथ नहीं हो सकता इसलिये मन आदि पदार्थोंके सन्निकर्षकी कल्पना असत् ठहराना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । क्योंकि जिससमय कर्म आत्माके परिणामसे अनुरंजित होता है अर्थात् आत्माकी वैभाविक परिणतिरूप परिणत होता है उससमय वह चेतनस्वरूप माना जाता है इसलिए आत्मापरिणामकी अपेक्षा वह चेतनस्वरूप है और जिससमय उसके पौद्गलिकस्वरूपकी विवक्षा की जाती है उससमय वह अचेतन है इसप्रकार पुद्गलद्रव्यकी विवक्षासे वह अचेतन भी है इसरूपसे मनका प्रतिनियतरूपसे संबंध बतलानेकेलिये जो वादीने कर्मका दृष्टांत दिया था वह विषम है अर्थात् प्रतिवादी मनको सर्वथा अचेतन मानता है और कर्म चेतन अचेतन दोनोंस्वरूप है इसलिये कर्मके दृष्टांतसे आत्मा और इंद्रियोंके साथ प्रतिनियतरूपसे मनका संबंध सिद्ध नहीं हो सकता । और भी यह बात है कि—

जिससमय नेत्र आदि इंद्रियोंके साथ मनका संबंध होता है उसीसमय उनके अन्दर रूप आदि पदार्थोंके ग्रहण करनेकी योग्यता होती है । जब तक मनका संबंध उनके साथ न होगा तब तक उनसे कभी भी रूप आदि पदार्थोंका ग्रहण नहीं हो सकता । परन्तु प्रतिवादियोंने मनको अत्यंत सूक्ष्म परमाणुके बराबर माना है वह समस्त रूपसे नेत्र आदि इंद्रियोंको व्याप्त कर नहीं सकता इसलिये जितना नेत्र आदि इंद्रियोंका प्रदेश परमाणुस्वरूप मनने व्याप्त कर रक्खा है उतनेहीसे रूप आदि पदार्थोंका ग्रहण होगा समस्त अखंड नेत्र आदि इंद्रियोंमें रूप आदिके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य न होगी परन्तु लोकमें दीख पडता है कि समस्त अखंड नेत्र आदिसे ही रूप आदिका ग्रहण होता है इसलिये मन पदार्थ

जहांपर प्राणीके अंगरूप अर्थके वाचक शब्दोंका द्वंद्वसमास हो वहांपर एकवद्भाव होता है अर्थात् वहांपर समासके अंतका जो शब्द होता है उससे एकवचन और नपुंसकलिंग होता है ऐसा व्याकरण शास्त्रका नियम है। शरीरवाङ्मनःप्राणेत्यादि इस सूत्रमें शरीर वाणी मन आदि भी प्राणोंके अंगरूप अर्थके वाचक शब्द हैं इसलिये 'शरीरं च वाक् च मनश्च प्राणश्चापानश्च शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः' ऐसा द्वंद्वसमास करनेके बाद एकवद्भाव होना चाहिये अर्थात् 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः' इसकी जगहपर 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानं' ऐसा निर्देश होना चाहिये। सो ठीक नहीं। जहांपर प्राणीके अंगवाचक शब्दोंका ही द्वंद्वसमास होगा वहींपर एकवद्भाव होगा किंतु जहांपर अंग और अंगीका मिलकर द्वंद्व-समास होगा वहांपर एकवद्भाव नहीं हो सकता। सूत्रके अन्दर जो शरीर आदि शब्दोंका द्वंद्वसमास है वहां पर शरीर अंगी पदार्थ है अंग नहीं इसलिये यहां पर एकवद्भाव नहीं हो सकता। अंगका अर्थ टुकडा है। अंग, अवयव और एकदेश ये सब शब्द समान अर्थके वाचक हैं। इसरीतिसे 'शरीरवाङ्मनः-प्राणापानाः' यहांपर एकवद्भावकी शंका निरर्थक है। अथवा—

जहां पर प्राणीके अंगवाचक शब्दोंका आपसमें द्वंद्वसमास होगा वहां पर एकवद्भाव हो सकता है किंतु जहांपर अंगवाचक शब्दोंका द्वंद्वसमास न होगा वहांपर एकवद्भाव नहीं हो सकता। वाक् मन आदि शब्दोंका जो सूत्रमें उल्लेख किया गया है वे वास्तवमें प्राणीके अंगवाचक शब्द हैं ही नहीं क्योंकि जिसप्रकार दांत आदि अवयव स्पष्ट रूपसे अवस्थित हैं उसप्रकार वाक् आदि स्पष्टरूपसे

१—प्राणितूर्यांगद्वंद्व एकवत्तुल्यं। १। ४। ६०। प्राण्यंगानां तूर्यांगाना च तुल्यानां च द्वंद्व एकवद्भवति। जैनेन्द्रव्याकरणटीका शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ ३४।

सकता अतः मनको परमाणुके बराबर प्रमाणवाला मानना अयुक्त नहीं ! सो भी ठीक नहीं। कुंभारके चाकको प्रेरणा करनेवाला क्रियावान पुरुष है इसलिये क्रियावान पुरुषके द्वारा प्रेरित होनेके कारण कुंभारके चाककी सर्वत्र जो उपलब्धि होती है वह तो ठीक ही है परंतु प्रतिवादीने अदृष्टको आत्माका विशेष गुण माना है और आत्मा सर्वथा निष्क्रिय पदार्थ उसके मतमें माना गया है इसलिये निष्क्रिय अदृष्टसे कभी मन प्रेरित नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि भले ही अदृष्ट निष्क्रिय पदार्थ हो तथापि वह मनकी प्रेरणारूप क्रियामें कारण हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो स्वयं क्रियारहित है वह कभी दूसरे पदार्थकी क्रियामें कारण नहीं हो सकता यह सर्वमान्य सिद्धांत है इसलिये निष्क्रिय अदृष्टसे कभी मन प्रेरित नहीं हो सकता अतः मन सर्वांशरूपसे कभी इंद्रियको व्याप्त नहीं कर सकता इसलिये मनमें जब प्रेरणारूप क्रियाके परिणमनका अभाव है तब उसे परमाणुके बराबर मानना सर्वथा अयुक्त है। स्वयं क्रियावान न होकर दूसरे पदार्थकी क्रियामें वह कारण क्यों नहीं हो सकता ? यह बात ऊपर खुलासा रूपसे कह दी गई है। यदि कदाचित् यहांपर यह तर्क उठाया जाय कि—

अनादिसंबंधमिति चेन्न संयोगित्वात् ॥ २७ ॥

मन परमाणुकी बराबर प्रमाणवाला हो वा इंद्रियकी बराबर प्रमाणवाला हो इस विषयमें कोई विवाद नहीं परंतु हर एक आत्मामें एक एक मन अखंडद्रव्यरूपसे विद्यमान है और वह अनादि कालसे आत्माके साथ संबद्ध और संयुक्त है किसी समयमें भी उसका जुदापन नहीं होता ? सो ठीक नहीं। जो मनको परमाणुस्वरूप मानता है उसीने यह माना है कि अप्राप्तिपूर्वक जो प्राप्ति है उसीका नाम संयोग है अर्थात् जो पदार्थ पहिले जुदे जुदे हैं उन्हींका जिससमय मिलाप होता है उसका नाम संयोग है इस

पुद्गल आत्माओंका उपकार करनेवाले हैं' यह है। यहांपर यह विशेष बात है कि—जो आत्माएं क्रियावान हैं और कर्मोंसे मलिन हैं वे ही शरीर आदिसे संबद्ध होकर शरीर आदिके द्वारा किये गये उपकारका अनुभव करते हैं यह यहांपर स्पष्ट अर्थ समझ लेना चाहिये। यदि आत्माओंको सर्वथा निष्क्रिय— क्रियारहित माना जायगा और अत्यंत शुद्ध माना जायगा तो उनका शरीर आदि पदार्थोंके साथ तो संबंध होगा नहीं। शरीर आदिके संबंधके विना शरीर आदिके द्वारा किये गये उपकारका भी अनुभव न होगा शरीर आदिके अंदर जो क्रिया होती है उसका कारण आत्मा माना जाता है। अब आत्माको सर्वथा निष्क्रिय माननेपर वह शरीर आदिमें होनेवाली क्रियाका भी कारण न होगा। शरीर आदिकी क्रियाके अभावमें संसारका अभाव होगा एवं संसारपूर्वक मोक्ष मानी गई है इसलिये संसारके अभावमें मोक्षका भी सद्भाव न बन सकेगा। इस मोक्षपर्यंत प्रक्रियाको स्वीकार करनेवाले आस्तिकको चाहिये कि वह संसारी आत्माओंको क्रियावान और कर्ममलीमस भी माने। एकांतरूपसे निष्क्रिय और अत्यंत शुद्ध न माने ॥ १९ ॥

'शरीरवाङ्मनः' इत्यादि सूत्रमें जीवके ऊपर पुद्गलकृत उपकार बताते समय शरीर वाणी मन और प्राणापान ये चार बातें गिनाई हैं। उनमें हलन चलन रूप परिणामके द्वारा शरीर, जीवका उपकारक है। वचनका उच्चारणरूप परिणामके द्वारा वाणी, उपकारक है। ध्यान करना विचार करनारूप परिणाम द्वारा मन उपकारक है और जीवन रखना रूप परिणामके द्वारा प्राणापान, जीवका उपकारक है इसरीतिसे जिसप्रकार जीवपर पौद्गलिक शरीर आदि, उपकार करनेवाले हैं उसीप्रकार सुख होना दुःख होना यह भी पुद्गलकृत जीवके ऊपर उपकार है इस बातको भी सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

जाता है किंतु यह नहीं कि जिस पदार्थका अनादिकालसे संबंध है उसका छूटना नहीं होसकता इस नियमानुसार कर्मोंका जुदापन आत्मासे होता ही नहीं हो, उसीप्रकार यद्यपि आत्माके साथ मनका भी अनादिकालसे संबंध है तथापि उसका छूटना हो सकता है सदा तदवस्थरूपसे उसका संबंध नहीं रह सकता इसलिये मनका अनादि संबन्ध माननेपर भी कोई दोष नहीं है ? सो भी अयुक्त है। जीव और कर्मोंका अनादिसबन्ध है यह बात जैनसिद्धांतमें एकांतरूपसे नहीं मानी गई किंतु जहांपर कर्मबंधकी संतानकी अपेक्षा की जाती है उससमय तो जीव और कर्मका अनादिसंबंध है अर्थात् यदि एक किसी खास कर्मकी अपेक्षा आत्मा और कर्मोंका संबंध लिया जायगा तो वह अनादिसंबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक कर्मके कालका परिमाण निश्चित है जिससमय उसकी स्थिति पूरी होगी नियमसे उसका संबंध छूटेगा ही परन्तु कर्मबंधकी परंपराकी अपेक्षा जीव और कर्मोंका अनादिसंबंध माना है क्योंकि अनादिकालसे आजतक मोक्षसे पहिले पहिले कभी ऐसा अवसर प्राप्त नहीं हुआ जब कि कर्मसामान्य-की जीवसे सर्वथा जुदाई हुई हो इसलिये कर्मोंकी संतानकी अपेक्षा तो आत्माके साथ कर्मोंका अनादि संबंध है और मिथ्यादर्शन अविरति आदि भिन्न भिन्न कारणोंसे जायमान भिन्न भिन्न कर्मोंके संबंधकी अपेक्षा आत्माके साथ कर्मोंका संबंध आदिमान है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंके द्वारा एक कर्म उत्पन्न हुआ वह अपनी स्थिति पूरी कर नष्ट हो गया, दूसरा उत्पन्न हुआ, वह भी अपनी स्थिति पूरीकर नष्ट हो गया, तीसरा उत्पन्न हुआ वह भी अपनी स्थिति पूरीकर नष्ट हो गया इसरूपसे किसी भी खास कर्मका अनादिकालसे आत्माके साथ संबंध नहीं रह सकता इसलिये कर्मको जडसे नष्ट कर देनेवाली उसकी विरोधी भावनाका जिससमय आत्मामें उदय होता है उससमय उससे कर्मका नियमसे

रहना पडता है उससमय ऊपर कहे गये जो प्राण और अपान उनकी क्रियाका जो विच्छेद नहीं होना है अर्थात् धाराप्रवाह रूपसे चलता रहना है उसका नाम जीवित है अर्थात् जबतक प्राण और अपानकी क्रिया जारी रहती है तभीतक जीवन रहता है किंतु जहां प्राणापानकी क्रिया बंद हुई कि जीवन भी उसीसमय समाप्त होजाता है इसलिये प्राणापानकी क्रियाका अविच्छिन्न रूपसे चलना ही जीवित है। इसके होनेमें भी पुद्गल कारण पडता है इसलिये यह भी पुद्गलकृत है।

तदुच्छेदो मरणं ॥ ४ ॥

यह जो जीवितका स्वरूप बतलाया गया है उस जीवितका जिससमय उच्छेद हो जाता है अर्थात् प्राणापानकी क्रिया एकदम रुक जाती है उसका रुक जाना ही मरण है। यह भी पुद्गलके संबंधसे ही होता है अतः यह भी पुद्गलकृत है। इसप्रकार शरीर आदिके द्वारा जीवपर जिसप्रकार पुद्गलकृत उपकार है उसीप्रकार सुख दुःख आदिके द्वारा भी जीवपर पुद्गलकृत उपकार है। अब वार्तिककार जिस क्रमसे सूत्रमें सुख दुःख आदिका निर्देश किया गया है उस निर्देशपर विचार करते हैं—

सुखग्रहणमादौ तदर्थत्वात्परिस्पंदस्य ॥ ५ ॥

समस्त संसारी जीवोंकी जितनी भी क्रियायें होती हैं वे सुखप्राप्तिके लिये होती हैं क्योंकि कोई भी जीवात्मा यह नहीं चाहता कि मुझे किसी प्रकारसे दुःख हो इसलिये प्राणीमात्रका प्रिय होनेके कारण सूत्रमें सबसे पहिले सुख शब्दका उल्लेख किया गया है।

तदनंतरं दुःखवचनं तत्प्रतिपक्षत्वात् ॥ ६ ॥

सुखका विरोधी दुःख पदार्थ है क्योंकि अपने स्वरूपसे सुख प्रीतिका कारण है और दुःख अपने

विषयोंका ग्रहण होता है वहांपर उन रूप आदिका ज्ञान एवं उनसे जायमान सुख आदिके अनुभवमें तो मनको सहायक माना जा सकता है किंतु एकेंद्रिय दो इंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और असैनी पंचेंद्रिय जीवोंमें जहां कि मनकी सत्ता नहीं मानी गई है वहांपर भी तो नेत्र आदि इंद्रियोंसे रूप आदिका ग्रहण और उनसे जायमान सुख दुःख आदिका अनुभव होता है, वह न होना चाहिये क्योंकि इंद्रियोंके सहकारी कारण मनका वहांपर सद्भाव नहीं है, इसरूपसे मनकी सहायताके विना भी जब चैतन्यस्वरूप इंद्रियोंसे ही रूप आदिका ज्ञान और सुख दुःख आदिका अनुभव होता है तब कोई कोई सिद्धांतकारोंने मन, इंद्रियोंका सहकारी कारण है इस रूपसे मनकी जो सत्ता मानी है उसरूपसे मनकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रतिवादी यहांपर यह शंका उपस्थित करै कि—

पृथगुपकारानुपलंभात्तदभाव इति चेन्न गुणदोषविचारादिदर्शनात् ॥ ३१ ॥

यह ऊपर कहा जा चुका है कि मन इंद्रियोंके अगोचर पदार्थ है इसलिये इंद्रियोंके द्वारा उसके सद्भावका निश्चय नहीं किया जा सकता किंतु उसका कोई असाधारण कार्य वा उपकार मानकर उसका अनुमानके द्वारा निश्चय किया जा सकता है। इंद्रियोंके कार्यमें मदद पहुंचाना यही मनका असाधारण उपकार निश्चित कर रक्खा है सो भी खंडित हो चुका इसलिये जब उसके किसी भी उपकारका निश्चय नहीं तब उसका अभाव ही मान लेना ठीक है। यह भी बात अयुक्त है। क्योंकि जो आत्मा मनविशिष्ट है अर्थात् संज्ञी पंचेंद्रिय है उसने जिन पुद्गल परमाणुओंको मनरूप परिणमाया है वे पुद्गल परमाणु जिस समय घोर अंधकारसे समस्त सांसारिक पदार्थ ढक जाते हैं और वाह्य एवं अभ्यंतर दोनों प्रकारकी इंद्रियोंकी प्रवृत्ति एकदम प्रतिहत-कुंठित हो जाती है उस समय किसी भी इंद्रियसे किसी भी पदार्थका ज्ञान

वे अपने द्वारा दूसरे दूसरे पदार्थोंका भी उपकार करते हैं और अपने द्वारा अपना भी उपकार करते हैं इसलिये अपने द्वारा अपना भी उपकार पुद्गल द्रव्य करते हैं यह बात दिखानेके लिये सूत्रमें उपग्रह शब्दका पुनः उल्लेख किया गया है। पुद्गलके द्वारा किया गया पुद्गलका उपकार इसप्रकार है— कांसे आदि धातुओंको राख मांजनेसे साफ कर देती है इसलिये राखके द्वारा कांसे आदि साफ होना पुद्गलके द्वारा पुद्गलका उपकार है। कैसा भी गंदला जल क्यों न हो कतक (फिटकिरी) आदि पदार्थोंके संबंधसे वह साफ हो जाता है। यहांपर कतक आदि द्रव्योंके द्वारा जो जल आदिका साफ होना है वह पुद्गलके द्वारा किया गया पुद्गलका उपकार है। तथा जल आदि पदार्थोंके संबंधसे लोहे आदि पदार्थ चमक निकलते हैं यहांपर जल आदिके द्वारा जो लोहे आदि धातुओंका चमकना है वह पुद्गलके द्वारा किया जानेके कारण पुद्गलका उपकार है। इसीप्रकार और भी समझ लेना चाहिये। शंका—

मरणमात्मोपग्रहो नेति चेन्न निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात् ॥ १० ॥

संसारमें मरना सभीको अनिष्ट–दुःखदायी दीख पडता है ऐसा कोई भी जीव नहीं जिसे मरना इष्ट हो इसरूपसे जब मरना सबको अनिष्ट है तब वह आत्माका उपकार नहीं हो सकता फिर जो आत्मामें होनेवाले पुद्गलकृत उपकारोंमें मरना भी उपकार गिनाया गया है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। संसारमें दीख पडता है कि जो जीव व्याधि–तीव्र रोग पीडा और शोक आदिसे अपना जीना क्षण मात्रकेलिये भी पसंद नहीं करते, जीवनमें सर्वथा आदर न कर विरक्त हैं वे मरणको अत्यंत प्यारी चीज

१—वास्तवमें तो उपकारका अर्थ निमित्त कारण है जिसतरह विष आदि अनिष्ट पुद्गल पदार्थ जीवको दुःख और मरणमें निमित्त कारण है।

पदार्थ पहिले प्रत्यक्षगोचर हो चुका है स्मरण उसी पदार्थका होता है किंतु जिसका पहिले अनुभव नहीं हुआ है उसका स्मरण नहीं हो सकता। ऐसे स्मरणमें सहायता प्रदान करनेवाला कोई स्थायी पदार्थ होना आवश्यक है। अतीत विज्ञानस्वरूप जो मन पदार्थ बौद्धोंने मान रक्खा है वह क्षणविनाशीक है इसलिये वह गुणदोषविचार आदि कार्योंमें सहायक नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

क्षणविनाशीक होनेसे कोई खास विज्ञान गुणदोषविचार और स्मरण आदि कार्योंके होनेमें भले ही सहायक न हो परंतु विज्ञानकी संतान माननेपर अर्थात् एकके वाद दूसरा विज्ञान दूसरेके वाद तीसरा विज्ञान इसरूपसे विज्ञानोंकी लडी स्वीकार करनेपर किसी न किसी विज्ञानसे गुण और दोषोंका विचार एवं स्मरण आदि कार्य संपन्न हो सकते हैं इसलिये मनको विज्ञानस्वरूप मानना अनुचित नहीं है? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ वस्तुस्वरूप होता है वही किसी कार्यके करनेकी सामर्थ्य रख सकता है। बौद्धोंने जो संतान पदार्थ कल्पना कर रक्खा है वह वस्तुभूत नहीं इसलिये वह गुणदोषविचार और स्मरण आदि कार्योंके करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकता। अतीत विज्ञानस्वरूप जो बौद्धोंने मन पदार्थ माना है वह अत्यंत असत—अवस्तुभूत पदार्थ है इसलिये वह कभी भी गुणदोषविचार और स्मरण आदि कार्योंमें सहायक नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर भी बौद्ध यह कहे कि—

हमारे मतमें विज्ञान दो प्रकारका माना गया है एक प्रवृत्तिविज्ञान दूसरा आलयविज्ञान। यह घट है, यह पट है इत्यादि ज्ञानको प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं 'एवं अहं जानामि, अहमनुभवामि' अर्थात् मैं जानता हूं और मैं अनुभव करता हूं, इस विज्ञानका नाम आलयविज्ञान है। प्रवृत्तिविज्ञान क्षणविनाशीक होनेसे भले ही वह गुणदोषविचार वा स्मरण आदि कार्योंमें सहायक न बन सके परंतु आलयविज्ञानको

एक ही सूत्र किया जायगा वो शरीर आदिक भी चार हैं और सुख दुःख आदि भी चार हैं इसलिए यह अनिष्ट आशंका उठ सकती है कि शरीर आदि चार कारण हैं और उनके सुख दुःख आदि कार्य हैं अर्थात् शरीर आदिके साथ सुख आदिका यथाक्रमसे संबंध कर शरीरका कार्य सुख है, वाणीका कार्य दुःख है, मनका कार्य जीवित है और प्राणापानका कार्य मरण है ऐसी अनिष्ट आशंका हो सकती है। इस अनिष्ट आशंकाकी निवृत्तिकेलिये नानायोग अर्थात् दो सूत्र जुदे जुदे कहे गये हैं। अथवा—सुख दुःख आदि चारोंका आगेके सूत्रसे संबंध है इसलिये भी दोनों सूत्रोंको जुदा जुदा कहा गया है। यदि दोनों सूत्रोंका एक सूत्र होता तो जिसप्रकार आगेके सूत्रमें सुख दुःख आदिका संबन्ध है उसी-प्रकार शरीर आदिका भी संबन्ध होता जिसका होना अनिष्ट था इसरीतिसे दोनों सूत्रोंका जुदा जुदा होना युक्तिसंगत है। वार्तिककार सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्षमें सुख आदिका होना असंभव है यह बतलाते हैं—

तदनुपपत्तिर्नित्यानित्यपक्षयोर्विकारावस्थानाभावात् ॥ १३ ॥

यदि आत्माको सर्वथा नित्यपदार्थ माना जायगा तो सर्वथा नित्य पक्षमें विकार नहीं हो सकता अतः सर्वथा नित्यपक्षमें आत्माके अंदर सुख आदिकी उपपत्ति नहीं हो सकती तथा यदि आत्माको सर्वथा अनित्य माना जायगा तो सर्वथा अनित्यपक्षमें उसका अवस्थान नहीं हो सकता इसलिये सर्वथा अनित्यपक्षमें भी सुख आदिका होना अयुक्त है इसरीतिसे सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य किसी भी पक्षमें सुख आदिकी उपपत्ति नहीं हो सकती। खुलासा इसप्रकार है—

यदि सर्वथा नित्यपक्ष माना जायगा तो आत्माको कूटस्थ नित्य माननेपर वह भूत भविष्यत् आदि

पर मन घट पट आदिके समान अचेतन स्वरूप मानना होगा । अचेतन पदार्थ गुणदोषोंका विचार और स्मरण आदि कार्योंमें कारण हो नहीं सकता इसलिये मन गुणदोषविचार और स्मरण आदि कार्योंमें सहायक नहीं हो सकता इसरीतिसे मन कभी प्रधानका विकार नहीं हो सकता । और भी यह बात है कि—

जहांपर गुणदोषविचार और स्मरण आदिका कारण मन माना गया है वहांपर कर्ता पुरुष माना जायगा कि प्रधान माना जायगा ? यदि कहा जाय कि कर्ता वहांपर पुरुष है तब ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि गुण दोषोंका विचार और स्मरण आदि सात्त्विक गुण हैं और पुरुषको सर्वथा निर्गुण पदार्थ माना है इसलिये वह विचार आदि गुणोंका कर्ता नहीं हो सकता । यदि कहा जायगा प्रधान कर्ता है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वह अचेतन पदार्थ है । लोकमें अचेतन पदार्थ कहीं भी गुण दोषों का विचार और स्मरण आदिका कर्ता देखा नहीं गया इसलिये प्रधान गुण दोषोंका विचार और स्मरण आदि कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता । तथा यह भी बात है कि—

तदव्यातिरेकात्तदभाव: ॥ ३४ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणका साम्यअवस्थारूप जो प्रधान तत्त्व माना गया है और महान अहंकार आदि जो उसके विषम परिणाम माने गये हैं वे प्रधानतत्त्वसे भिन्न हैं वा अभिन्न हैं ? यदि कहा जायगा भिन्न है तब सांख्यसिद्धांतमें जो यह माना गया है कि कार्य और कारण एक है यह प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी क्योंकि यहांपर प्रधानरूप कारणसे महान अहंकाररूप कार्यको भिन्न मान लिया गया है । यदि कदाचित् प्रतिज्ञाकी रक्षार्थ महान आदिको प्रधानसे अभिन्न माना जायगा तब

दुःख आदिका संभव हो सकता है और न सर्वथा अनित्यपक्षमें हो सकता है किंतु कथंचित् नित्यानित्य स्वरूप माननेपर ही हो सकता है इसलिये आत्माको कथंचित् नित्यानित्यस्वरूप माननेपर ही सुख दुःख आदिका भले प्रकार निरूपण हो सकता है अतः उसे कथंचित् नित्यानित्यस्वरूप मानना ही युक्तियुक्त है ॥ २० ॥

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गलद्रव्यका जिसप्रकार निरंतर परपदार्थोंका उपकार करना स्वभाव है क्या उसी प्रकार आत्माओंका भी है अथवा उनकेलिये अन्य कोई विधान है ? सूत्रकार आत्माओंके उपकारके विषयमें कहते हैं—

परस्परोपग्रहो जीवानां ॥ २१ ॥

जीवोंका परस्पर उपकार है अर्थात् समस्त जीव कारण वशसे एक दूसरेका सुख दुःख जीवन मरण तथा सेवा शुश्रूषा आदिसे उपकार करते हैं।

कर्मव्यतिहारविषयः परस्परशब्दः ॥ १ ॥

कर्मव्यतिहारका अर्थ समानरूपसे कामका कर देना है अर्थात् किसीने किसीका कुछ काम किया उसका किसी न किसी रूपसे बदला चुका देना है। इसका दूसरा पर्याय शब्द संस्कृत भाषामें क्रियाव्यतिहार भी है। सूत्रमें जो परस्पर शब्दका उल्लेख किया गया है उसका विषय कर्मव्यतिहार है अर्थात् वह कर्म व्यतिहार अर्थमें है। परस्परस्य उपग्रहः परस्परोपग्रहः अर्थात् आपसमें जो उपकार करना है वह परस्परोपग्रह कहा जाता है, यह यहां परस्परोपग्रह शब्दका विग्रह है। आपसमें वह उपकार किसरूपसे होता है वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

कारण वज्र आदिका शब्द होता है उससमय मनकी क्रिया रुक जाती है—लोगोंकी विचारशक्ति नष्ट होकर मूर्छा आजाती है तथा जिससमय मदिरा आदि नशा करनेवाली चीजोंको खाया पीया जाता है उस समय भी मनकी क्रिया रुक जाती है। विचारोंके नष्ट होजानेपर मनुष्य एकदम पागल हो जाता है अतः वज्र आदिके भयंकर शब्दसे वा मदिरा आदिसे मनका रुकना दीख पडता है तथा हाथ आदिसे मुखके ढक लेनेपर प्राण और अपानका भी रुकना प्रत्यक्ष सिद्ध है एवं जब श्लेष्मा (कफ)का विशेष प्रकोप होता है तब भी प्राण अपान रुक जाते हैं इसलिये प्राण और अपानका भी रुकना प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसप्रकारका मूर्तिमान पदार्थोंसे रुकना आदि कार्य अमूर्तिक पदार्थके अंदर हो नहीं सकता अतः मन और प्राणापान मूर्तिक पदार्थ हैं।

अत एवात्मास्तित्वसिद्धिः प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात् ॥ ३८ ॥

प्राणापान आदि कर्म आत्माके कार्य हैं। पुद्गलके संबंधसे वे आत्मामें होते हैं इसीसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि निर्बाधरूपसे हो जाती है। क्योंकि जिसप्रकार रथ आदि यंत्रोंका चलना उनको चलानेवाले पुरुषकी सत्ता बतलाता है। यदि उनका चलानेवाला कोई न हो तो उनका चलना हो नहीं सकता उसीप्रकार प्राणापान आदि कर्म भी आत्माकी सिद्धि करनेवाले हैं। यदि आत्मा कोई पदार्थ न हो तो प्राणापान आदिकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

प्राणापान आदि कार्योंकी प्रवृत्तिका कारण आत्मा नहीं आकस्मिक रूपसे ही उनकी प्रवृत्ति होती है? सो ठीक नहीं। जिस कार्यकी प्रवृत्ति नियमपूर्वक होती है उस कार्यका आकस्मिक रूपसे होना नहीं माना जाता। प्राणापानकी प्रवृत्ति नियमितरूपसे होती है अर्थात् जबतक शरीरमें आत्माका सद्भाव

है, कोई किसीके जीवनकी रक्षा करता है तो कोई किसीको मृत्युका ग्रास बनाता है। बस ! जीवोंमें जो परस्परका उपकार है वह सुख आदि संबंधी ही है, अन्य किसी प्रकारका नहीं यह बात जतलानेके लिये उपग्रह शब्दका सूत्रमें खासरूपसे उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि—

स्त्रीपुंसरतिवदनियमप्रदर्शनार्थं च ॥ ४ ॥

जिसप्रकार स्त्री और पुरुष एक साथ रतिक्रिया करते समय समानरूपसे आनंदकी व्यक्ति होनेके कारण परस्पर एक दूसरेका उपकार करते हैं उसप्रकार सुख आदिके उपकारमें नियम नहीं अर्थात् किसी एकने किसी एकको सुख पहुंचाया है वहां पर दोनों ही समानरूपसे सुखका अनुभव करें अथवा एक किसीने दूसरेको दुःख पहुंचाया है वहांपर समानरूपसे दोनों ही दुःखी हों अथवा एकने यदि दूसरेको सुख पहुंचाया है तो दूसरा भी उसे बदलेमें सुखही पहुंचावे दुःख नहीं पहुंचावे यह कोई नियम नहीं इस बातको प्रदर्शन करनेके लिये भी सूत्रमें उपग्रह शब्दका उल्लेख है। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

कोई एक जीव जिससमय अपनेको सुख करता है उससमय दूसरे किसी एकको भी सुख करता है, दो को भी सुख करता है और बहुतोंको भी सुख करता है। कोई एक जीव जिससमय अपनेको दुःख करता है उससमय दूसरे किसी एकको भी दुःख करता है, दोको भी दुःख करता है, और बहुतोंको भी दुःख करता है। तथा जहांपर दो किंवा बहुतसे जीव अपनेको सुख किंवा दुःख करते हैं वहांपर दूसरे किसी एकको भी सुख और दुःख करते हैं, वा दोको वा बहुतोंको भी सुख और दुःख करते हैं इसीप्रकार जीवित आदिके अंदर भी योजना कर लेनी चाहिये ॥ २१ ॥

दूसरे देशमें जाना नहीं हो सकता किंतु जीव पुद्गलोंका एक देशसे दूसरे देशमें जाना अनुभवमें आता है इसलिये सामान्यसे सब पदार्थोंको निष्क्रिय मानना अयुक्त है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

वायुरूप धातुविशेषसे दूसरे देशमें जो उत्पत्ति होना है उसीका नाम क्रिया है क्योंकि आगममें क्रियाके विषयमें यह कहा गया है कि 'भूतिर्येषां क्रिया सैव' जिन पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है उनकी वह उत्पत्ति ही क्रिया है इसरूपसे जिन पदार्थोंकी दूसरे देशमें प्राप्ति होती है उनमें क्रियाका सद्भाव उपचारसे है मुख्यरूपसे उनके अंदर कोई भी क्रिया नहीं ? सो भी अयुक्त है। जो सामान्यरूपसे समस्त पदार्थोंको निष्क्रिय मानता है उसके मतमें वायु पदार्थ भी निष्क्रिय है इसलिये जब दूसरे देशमें किसी पदार्थके उत्पन्न करनेकी उसके अंदर सामर्थ्य ही नहीं तब वह दूसरे देशोंमें पदार्थोंके उत्पन्न करनेमें कारण कैसे हो सकता है इसरीतिसे वायुरूप धातुविशेष क्रियामें कारण हो नहीं सकता और क्रिया माने विना पदार्थोंकी दूसरे देशमें प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि यहां पर बौद्धोंकी ओरसे पुनः यह तर्क उठाया जाय कि—

सत्स्वरूपसे स्थित जितने भी पदार्थ हैं सब क्षणिक हैं—क्षणविनाशीक हैं इसलिये उनके अवस्थित न रहनेसे उनमें क्रियाका सद्भाव नहीं माना जा सकता अतः सामान्यरूपसे समस्त पदार्थोंको निष्क्रिय मानना युक्त ही है ? सो भी ठीक नहीं। सामान्यसे समस्त पदार्थ क्षणविनाशीक हैं यह बात असिद्ध है—कोई भी प्रमाण इस बातको सिद्ध करनेवाला नहीं तथा अयुक्त भी है क्योंकि समस्त पदार्थोंका क्षणिकपना युक्तिसे भी सिद्ध नहीं होता यह बात ऊपर विस्तृतरूपसे कह दी गई है। इसलिए सब पदार्थोंको क्षणविनाशीक मान उन्हें निष्क्रिय मानना बौद्धोंका सर्वथा असमंजस है। शंका—

प्राण्यंगत्वाद् द्वंद्वैकवद्भावप्रसंग इति चेन्नांगांगिद्वंद्वे तदभावात्॥ ३६॥

ऐसा जो व्यवहार है वह परत्वापरत्व है। ये सब वर्तना आदि कालके निमित्तसे होते हैं और उन्हींसे कालका अस्तित्व सिद्ध होता है।

करणाधिकरणयोर्वर्तनेति चेद्युटि सति ङीप्रसंगः ॥ १ ॥ णिजंताद्युचि वर्तना ॥ २ ॥

व्याकरण शास्त्रमें करण और अधिकरण अर्थमें धातुओंसे युट् प्रत्ययका विधान माना है। यदि यहांपर 'वृतोङ् वर्तने' धातुसे करण और अधिकरण अर्थमें युट् प्रत्यय कर एवं 'वर्तते अनया अस्यां चेति वर्तना' अर्थात् जिसके द्वारा वा जिसमें वर्तन किया जाय वह वर्तना है ऐसा विग्रह कर वर्तना शब्द सिद्ध किया जायगा तो यह नियम है जिन प्रत्ययोंका ट् इत्संज्ञक जाता है उनसे ङीप्रत्यय होता है। यहांपर भी युट्में ट् इत्संज्ञक जानेसे ङी प्रत्यय होगा अतः 'वर्तनी' ऐसा रूप सिद्ध होगा, वर्तना नहीं फिर सूत्रमें 'वर्तना' शब्दका उल्लेख अशुद्ध है? सो ठीक नहीं। यहांपर णिच्प्रत्ययांत वृतोङ् धातुसे स्त्रीलिंगमें कर्म और भावरूप अर्थके विवक्षित रहनेपर युच् प्रत्ययकर वर्तना शब्दकी सिद्धि की गई है इसलिये यहांपर ङी प्रत्ययकी कोई संभावना नहीं। 'वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना' अर्थात् जो वर्तनस्वरूप हो वह वर्तना है। यह यहांपर वर्तना शब्दका विग्रह है अथवा—

अनुदात्तेत्वात्ताच्छीलिको वा ॥ ३ ॥

जिसका अनुदात्त इत् जाता है उससे ताच्छीलिक अर्थमें अर्थात् 'वह उसका स्वभाव ही हो' इस अर्थमें व्याकरण शास्त्रके अंदर युच् प्रत्ययका विधान माना है। वृतोङ् धातुका अनुदात्त इत्संज्ञक है इसलिये ताच्छीलिक अर्थमें युच् प्रत्ययकर वर्तना शब्दकी सिद्धि हुई है। वर्तनशीला वर्तना अर्थात्

१—करणाधारे चानट्। २।३।११२। शब्दार्णवचंद्रिका। २—स्नूदिद्युतायमूठ्मूठन: ।३।१।१८। शब्दार्णवचंद्रिका।

अवस्थित नहीं। इसरूपसे जब वाणी मन आदिमें प्राणीका अंगपना ही सिद्ध नहीं हो सकता तब उनमें एकवद्भावकी आशंका करना निरर्थक है। अथवा—

जहांपर समाहार समासका विषय रहता है वहींपर व्याकरण शास्त्रके अनुसार द्वंद्वमें एकवद्भाव होता है। समाहार समास एक प्राणीसंबन्धी जहांपर अंग रहते हैं वहींपर होता है, अनेक प्राणियोंमें रहनेवाले अंगोंमें नहीं होता। सूत्रमें जो वाक् आदि अंगोंका उल्लेख किया गया है वहांपर अनेक प्राणियोंमें रहनेवाले अंगोंकी विवक्षा है किसी एक प्राणीके वे अंग नहीं माने गये इसलिये वहांपर एकवद्भावकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः' इस निर्देशकी जगह 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानं' यह निर्देश मानना अयुक्त है। एकवद्भावकी यहां प्राप्ति नहीं हो सकती।

पुद्गलशब्दो निर्दिष्टार्थः ॥ ४० ॥

सूत्रमें जो पुद्गल शब्दका उल्लेख किया गया है, उसका पुरुषको गिलना अर्थात् आत्माको ढकेलना अथवा जुदा जुदा होकर पुर जाना वा फिर विखर जाना, यह अर्थ है। यह अर्थ विस्तारसे ऊपर कह दिया गया है।

उपग्रहप्रकरणात्कर्तरि षष्ठी ॥ ४१ ॥

ऊपरसे उपग्रह शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है और उस उपग्रह शब्दको कर्मसाधन माना है अर्थात् कर्म अर्थमें प्रत्ययकर उपग्रह शब्द सिद्ध किया गया है। जहांपर कर्म अर्थमें प्रत्यय किया जाता है वहांपर कर्म उक्त रहता है और कर्ता अनुक्त रहता है इसलिये कर्ताके अनुक्त रहनेसे 'पुद्गलानां' यहांपर कर्ता अर्थमें षष्ठी विभक्ति है। शरीरवाङ्मन इत्यादि सूत्रका यहां स्पष्ट अर्थ 'शरीर आदि परिणामोंके द्वारा

नुभूति ही वर्तना है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—एक ही अविभागी समयमें धर्म आदि छहो द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप तीनों अवस्थाओंको लिये अपने सादि अनादि पर्यायोंके साथ वर्तते हैं वस, यही अर्थ वर्तनाका है। अर्थात् धर्म अधर्म आदि छहों द्रव्योंका पर्यायोंकी अपेक्षा एक ही अविभागी समयमें जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थास्वरूप होना है उसीका नाम वर्तना है।

सानुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत् ॥ ५॥

चावल गलकर जिससमय भातस्वरूप परिणत हो जाते हैं उससमय व्यवहारसे चावल पक गये ऐसा कहा जाता है उस पाकको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि जिस पहिले समयमें अग्निका चावलोंके साथ संयोग हुआ है उस प्रथम समयसे आरंभ कर प्रतिसमय सूक्ष्मरूपसे कुछ न कुछ पाक अवश्य होता रहा है। यदि प्रथमसमयमें अग्नि और जलके संबंध होनेपर किसी प्रकारका भी पाक न होगा तो दूसरे तीसरे आदि समयोंमें भी किसीप्रकारका पाक नहीं हो सकता तब पाकका अभाव ही कहना होगा क्योंकि धीरे धीरे तारतम्यसे पाक माने विना कभी एक साथ पाक नहीं हो सकता इसरीतिसे यहांपर अच्छी तरह चावलोंके पक जाने पर जिसप्रकार प्रतिसमयमें कुछ न कुछ पाकका होना अनुमानसे निश्चित कर लिया जाता है उसीप्रकार समस्त द्रव्योंका जो निज निज पर्यायोंका होना है उनका जानना भी दुःसाध्य है किंतु किसी विशिष्ट पर्यायको लक्ष्यकर यह जान लिया जाता

१—अंतर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यार्वेपर्ययं। अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना ॥ ४१ ॥

प्रत्येक द्रव्योंके प्रत्येक सूक्ष्मपर्यायोंमें जो एक समयके भीतर उनकी सत्ताका अनुभव होते दीखता है उसे वर्तना समझना चाहिये। तत्त्वार्थसार पृष्ठसंख्या १५८।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

सुख होना दुःख होना जीना मरना ये उपकार भी पुद्गलोंके हैं क्योंकि सुख दुःख होना जीना मरना भी कर्मरूप पुद्गलोंके कारणोंसे होता है।

बाह्यप्रत्ययवशात्सद्वेद्योदयादात्मनः प्रसादः सुखं ॥ १ ॥

आत्माके अंदर रहनेवाला जो सातावेदनीय कर्म है जिससमय उसका द्रव्य क्षेत्र आदि बाह्य कारणोंके द्वारा परिपाक होता है अर्थात् जिससमय वह उदयमें आता है उससमय जो आत्माके अंदर प्रीतिरूप प्रसन्नता होती है उसी प्रसन्नताको सुख कहते हैं। सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेके कारण यह पुद्गलकृत है।

तथाऽसद्वेद्योदयादात्मपरिणामो यः संक्लेशप्रायः स दुःखमिति ॥ २ ॥

तथा आत्माके अंदर रहनेवाला असातावेदनीय कर्म है जिससमय द्रव्य क्षेत्र आदि बाह्य कारणोंके द्वारा परिपाकको प्राप्त होता है अर्थात् असातावेदनीय कर्म उदयमें आता है उससमय उस असातावेदनीय रूप कर्मके उदयसे जो आत्माका परिणाम संक्लेशमय होता है अर्थात् जिसके होनेसे आत्माको क्लेश पहुंचता है वह दुःख कहा जाता है। असातवेदनीय कर्मके उदयसे होनेके कारण यह भी पुद्गलकृत है।

भवस्थितिनिमित्तायुर्द्रव्यसंबंधिनो जीवस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाव्युपरमो जीवितं ॥ ३ ॥

जीवको अटकाकर रखनेमें कारण आयु नामका कर्म है। जिससमय यह आयु नामका कर्म उदयमें आता है और उसके उदयसे जीवने जितनी स्थिति बांधी है उतनी स्थितिप्रमाण उस पर्यायमें

चाहिये जो वह अन्य पदार्थ होगा वही निश्चयकाल है और वह निश्चयकाल वर्तनाका कारण है इस प्रकार अनुमानसे निश्चयकालकी सिद्धि निरापद है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

आदित्यगतेरिति चेन्न तद्गतावपि तत्सद्भावात् ॥ ७ ॥

ऊपर जो धर्म आदि छह द्रव्योंकी वर्तना मानी है उसमें कारण निश्चय कालद्रव्य नहीं, किंतु सूर्यकी गति निमित्तकारण है अर्थात् सूर्यकी गतिसे ही द्रव्योंकी वर्तना होती है? सो ठीक नहीं। सूर्यकी भी जो गति है उसमें भी निश्चयकालद्रव्य कारण है क्योंकि सूर्यकी गति भी व्यवहारसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंको विषय करनेवाली मानी है अर्थात् जो गति हो जाती है उसे भूतकाल विषय करता है और उसरूपसे वह नष्ट समझा जाता है। जो गति आगे होनेवाली है उसे भविष्यत्काल विषय करता है और उसरूपसे वह उत्पन्न होनेवाली समझी जाती है एवं जो चालू है उसे वर्तमानकाल विषय करता है एवं उसरूपसे वह ध्रौव्यस्वरूप समझी जाती है इसरीतिसे एक ही अविभागी समयमें सूर्यकी गति उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थास्वरूप है एवं उस गतिका रूढ़ि नाम क्रिया है उसरूपसे उस गति क्रियाके अंदर भी एक ही अविभागी समयमें समस्त द्रव्योंमें पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप तीनों अवस्थाओंका होनारूप जो वर्तना है वह मोजूद है। उस वर्तनाके होनेमें कोई न कोई अन्य कारण होना चाहिये वह अन्य कारण निश्चयकाल ही हो सकता है इसरीतिसे निश्चयकालकी सिद्धि दुर्निवार है। यदि यहांपर फिर यह तर्क उठाया जाय कि—

आकाशप्रदेशनिमित्तेति चेन्न तां प्रत्यधिकरणभावाद्राजनवत् ॥ ८ ॥

धर्म आदि समस्त द्रव्योंमें जो वर्तना होती है उसके होनेमें आकाशके प्रदेश कारण हैं, अन्य कोई

स्वरूपसे अप्रीतिका कारण है इसलिये विरोधी होनेके कारण सुखके बाद सूत्रमें दुःखका उल्लेख किया गया है।

जीविनस्तदुभयदर्शनात्तदनंतरं जीवितग्रहणं ॥ ७ ॥

सुख और दुःख दोनों जीवके ही होते हैं पुद्गल आदिके नहीं इसलिये सुख दुःखके उल्लेखके बाद सूत्रमें जीवित शब्दका ग्रहण किया गया है।

अंते प्राप्यत्वान्मरणस्यांते वचनं ॥ ८ ॥

आयुकर्मके क्षय होनेपर मरण होता है और वह समस्त प्राणियोंको सबके अंतमें जाकर प्राप्त होता है इसलिये सूत्रमें सबके अंतमें मरण शब्दका उल्लेख किया गया है। "सुखं च दुःखं च जीवितं च मरणं च सुखदुःखजीवितमरणानि तान्येवोपग्रहाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाः" यह यहांपर सूत्रस्थ पदोंका विग्रह है। यहांपर ऊपरके सूत्रसे पुद्गल द्रव्यकी अनुवृत्ति आरही है इसलिये सुख होना दुःख होना जीना मरना ये सब पुद्गलकृत उपकार हैं। शंका—

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेन्न स्वोपग्रहदर्शनार्थत्वात् ॥ ९ ॥

ऊपरके सूत्रोंसे उपग्रह शब्दकी बराबर अनुवृत्ति चली आरही है उससे शरीर वाणी मन और प्राणापान तथा सुख दुःख जीवित और मरणके द्वारा पुद्गल जीवोंका उपकार करते हैं यह अर्थ स्पष्ट रूपसे प्रतिपन्न हो जाता है फिर सुखदुःखेत्यादि सूत्रमें उपग्रह शब्दके उल्लेखकी क्या आवश्यकता है? उसका उल्लेख अनर्थक ही है? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य दूसरे दूसरे पदार्थोंका ही उपकार करते हैं अपने द्वारा अपना उपकार नहीं करते उसप्रकार पुद्गलद्रव्य नहीं

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः ॥ १० ॥

जहांपर द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा नहीं है किंतु प्रधानरूपसे पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा है वहांपर अपनेसे अभिन्नस्वरूप द्रव्यत्व जातिको न छोडकर जिससमय चेतन अचेतनस्वरूप किसी भी द्रव्यकी जिस किसी पर्यायकी उत्पत्ति होती है उससमय पूर्वपर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो भी नया विकार होता है उसको परिणाम कहते हैं अर्थात् पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता रहनेपर चेतन अचेतनस्वरूप किसी भी द्रव्यकी जहांपर पूर्वपर्यायका विनाश और नवीन पर्यायकी उत्पत्ति है उस नवीन पर्यायका नाम विकार है और उसीको परिणाम कहते हैं एवं वह परिणाम, प्रयोग और विस्रसारूपलक्षणका धारक हैं अर्थात् उस परिणामके प्रयोगपरिणाम और विस्रसापरिणाम ऐसे दो स्वरूप हैं। जो विकार अपने निज स्वरूपके लाभ करनेमें पुद्गलके विकारकी अपेक्षा रखता है वह प्रयोगपरिणाम कहा जाता है और जिस विकारके होनेमें पुद्गलके विकारकी अपेक्षा नहीं रहती वह विस्रसापरिणाम कहा जाता है। अर्थात् पुद्गलके विकारके निमित्तसे जायमान परिणामका नाम प्रयोगपरिणाम है और जिसके होनेमें पुद्गल निमित्त नहीं पडता स्वभावतः होनेवाला है वह विस्रसापरिणाम है।

वह परिणाम अनादि परिणाम और सादि परिणामके भेदसे दोप्रकारका है। लोकका संस्थान और मेरुपर्वतका आकार आदिक अनादिपरिणाम हैं। सादिपरिणाम दो प्रकारका है एक प्रयोगज और दूसरा वैस्रसिक। उनमें कर्मोंकी उपशम क्षय और क्षयोपशमरूप अवस्थाओंकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके जो औपशमिक आदि परिणाम हैं वे अपौरुषेय हैं, किसी भी पुरुषके द्वारा नहीं किये गये इसलिये वैस्रसिक हैं तथा ज्ञान शील भावना आदि जो भी परिणाम हैं वे आचार्य आदि पुरुषोंके प्रयोगके

मानते हैं इसलिये उनकी अपेक्षा मरणका होना भी उपकार होनेके कारण उपकार प्रकरणमें उसका उल्लेख करना अयुक्त नहीं। अथवा स्पष्ट तात्पर्य यह है कि—

प्रयोजनप्रतिपादनार्थत्वाच्च दुःखवत् ॥ ११ ॥

जिसप्रकार दुःख पदार्थ सबको अनिष्ट है ऐसा कोई भी संसारके अंदर प्राणी नहीं जो दुःखको इष्ट समझता हो इसलिये दुःख भी उपकार नहीं हो सकता तथापि वह जो जीवोंमें होता है वह पुद्गलके द्वारा होता है, बस! एतावन्मात्र प्रयोजनपर दृष्टि डालकर उसका उपकारोंमें ग्रहण किया जाता है उसी-प्रकार यद्यपि मरण पदार्थ भी अनिष्ट है इसलिये वह भी उपकारकी कोटिमें परिगणित होने योग्य नहीं तथापि वह जो जीवोंका होता है वह पुद्गलके संबंधसे होता है एतावन्मात्र प्रयोजनीय समझकर जीवके अंदर होनेवाले पुद्गलकृत उपकारोंमें ग्रहण किया गया है। इसरीतिसे यह बात युक्तिपूर्वक सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार शरीर वाणी आदिके द्वारा जीवोंपर पुद्गलका उपकार है उसीप्रकार सुख दुःख आदि द्वारा भी है। शंका—

लघ्वर्थमेकसूत्रीकरणमिति चेन्नाऽऽशंकानिवृत्त्यर्थत्वात् ॥ १२ ॥

"शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां" और "सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च" ये जो दो सूत्र रक्खे गये हैं उनकी जगह पर "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च" ऐसा एक सूत्र ही बनाना उपयुक्त है। लाभ यह होगा कि दो सूत्रोंकी वृथा जो दो संख्या मानी है वह न माननी पडेगी एवं सुखदुःखेत्यादि सूत्रमें जो पुद्गल आदिकी अनुवृत्तिकेलिये आयोजन करना पडता है वह भी न करना पडेगा इसलिये लाघवकेलिये एक ही सूत्रका होना उपयुक्त है? सो भी ठीक नहीं। यदि

अवस्थामें वीजके स्वभावका अभाव है इसलिये परिणाम पदार्थका ही अभाव है । वार्तिककार इसका समाधान देते हैं–सो ठीक नहीं। जैनसिद्धांतमें जिसपक्षको लेकर परिणाम पदार्थकी निरवद्य सत्ता मानी है उससे जो यहां एकांतरूपसे सत्पक्ष और असत्पक्षकी अपेक्षा परिणामका अभाव सिद्ध किया गया है वे भिन्न पक्ष हैं इसलिये परिणाम पदार्थका अभाव नहीं माना जासकता। खुलासा तात्पर्य यह है–

जिसप्रकार जो दोष सर्वथा सत्पक्षमें आता है वह सर्वथा असत्पक्षमें लागू नहीं होता क्योंकि सत्पक्षकी अपेक्षा असत्पक्ष दूसरा पक्ष है एवं जो दोष सर्वथा असत्पक्षमें आता है वह सत्पक्षमें लागू नहीं होता क्योंकि असत्पक्षकी अपेक्षा सत्पक्ष दूसरा पक्ष है तथा एकांतरूपसे सत्पक्ष और असत्पक्षमें जो दोष आता है वह सत् असत्रूप अनेकांत पक्षमें लागू नहीं होता क्योंकि एकांतरूप सत असत्पक्षकी अपेक्षा अनेकांतरूप सत् असत्पक्ष दूसरा पक्ष है । यदि किसी एकपक्षमें आनेवाला दोष दूसरे पक्षमें बलात् मान लिया जायगा तब फिर पक्षसंकर दोष होगा अर्थात् जब एक ही पक्षका दोष सब पक्षोंमें लागू होगा तो फिर एक ही पक्ष मान लेना ठीक है, अनेक पक्षोंके माननेकी क्या आवश्यकता है ? जैन सिद्धांतके अंदर अनेकांतस्वरूप सत् असत्पक्ष माना है इसलिये एकांतरूप सत् असत्पक्षके अंदर आनेवाला दोष अनेकांत पक्षमें लागू न हो सकनेके कारण सर्वथा सत् और असत्पक्षमें जो परिणामका अभाव सिद्ध किया गया था वह अनेकांतस्वरूप सत् असत्पक्षके अंदर नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि–

यदि अनेकांतस्वरूप सत असत्रूप पक्ष माना जायगा तो भी सत्पक्ष और असत्पक्षमें प्रत्येक पक्षमें जो दोष होगा वह उभयस्वरूप अनेकांतपक्षमें माना जायगा क्योंकि यह नियम है कि–'प्रत्येकं यो भवे-

कालमें एक सरीखा रहेगा वैसी दशामें एक परिणामसे दूसरा परिणामस्वरूप पलट जानारूप विकार उसके अन्दर न हो सकेगा अर्थात् सुख दुःख आदिस्वरूप किसी प्रकारका उसके अंदर परिणमन होगा नहीं अतः उसके सुख आदिका होना असंभव होनेसे उनकी कल्पना करना अयुक्त है । यदि सर्वथा अनित्यपक्ष माना जायगा तो प्रत्येक पदार्थ क्षणविनाशीक सिद्ध होनेसे आत्मा भी क्षणविनाशीक माना जायगा इसलिये अवस्थानके अभावसे उसके साथ सुख आदिका संबंध न बन सकेगा क्योंकि संसारमें यही बात सुनिर्णीत है कि जो पदार्थ अवस्थित–कुछ काल स्थायी रहता है उसीके इष्ट अनिष्ट शब्द स्पर्श आदिके संबंध होनेपर सुख दुःख आदिका संभव हो सकता है किंतु जो क्षणविनाशीक है उसके सुख दुःख आदिका संभव नहीं हो सकता। यहां पर यह बात और भी समझ लेना चाहिये कि–

यह जो आत्माओंमें सुख किंवा दुःख आदि होते हैं वे अकस्मात्–विना कारण नहीं होते किंतु उनकी उत्पत्तिमें कुशल और अकुशलभावना कारण है। जिस समय शुभकर्मोंकी भावना की जाती है उससमय आत्मासे सुखका संबंध होता है एवं जिस समय अशुभ निंदित कार्योंकी भावना की जाती है उस समय आत्मासे दुःखका संबंध होता है इसलिये सुख दुःख आदिका होना कुशल और अकुशल भावनापूर्वक है। तथा वह कुशल और अकुशल भावना स्मृतिज्ञानसे संबंध रखनेवाली चेष्टास्वरूप है अर्थात् जिस क्रियामें पदार्थोंके स्मरणका संबंध रहता है वहीं पर कुशल एवं अकुशल भावना होती है। तथा यह नियम है कि जो पदार्थ अवस्थित होगा उसीके स्मृति आदि हो सकते हैं अर्थात् वही पहिले अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण कर सकता है किंतु जो क्षणविनाशीक होगा उसके स्मृति आदि नहीं हो सकते। इसरीतिसे यह बात सिद्ध होती है कि न तो सर्वथा नित्यपक्षमें आत्माके अन्दर सुख

अनुकूल अंकुरपर फल नहीं हो सकता, कोई विलक्षण ही प्रकारका फल होगा। तथा पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा रहनेपर शालिवीज आदि पर्यायकी अपेक्षा अंकुरके अंदर वीजकी नास्ति है क्योंकि एक समयमें या तो वीज पर्याय ही हो सकती है या अंकुर पर्याय ही हो सकती है, आपसमें विरोध होनेसे दोनों पर्यायोंका एक साथ सद्भाव नहीं हो सकता। यदि जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है वह उसी रूपसे अवस्थित माना जायगा उसका कुछ भी अविरुद्ध विभिन्नरूपसे परिणमन न माना जायगा तो दूसरे पदार्थका जो प्रकृतिके अविरुद्ध भिन्नरूपसे होना दीख पडता है अर्थात् वीज आदिका अंकुर आदिसे विलक्षण रूपसे परिणमन दीख पडता है वह अयुक्त होगा। इसलिए यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि अंकुरमें कथंचित् वीज है, कथंचित् नहीं है अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अंकुरमें वीज है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा नहीं है तथा ऐसा सिद्ध होनेसे परिणाम पदार्थ भी अबाधित है। और भी यह बात है कि—

प्रतिषेधाभावाच्च ॥ १९ ॥

जो वादी सत्त्व और असत्त्वका विकल्प उठाकर परिणाम पदार्थका प्रतिषेध करना चाहता है उसके प्रति यह प्रश्न उपस्थित होता है वह सत्स्वरूप परिणाम पदार्थका प्रतिषेध करना चाहता है कि असत्स्वरूप परिणाम पदार्थका प्रतिषेध करना चाहता है? क्योंकि सत्स्वरूप असत्स्वरूप दोनों प्रकारके परिणामोंका प्रतिषेध होना असंभव है। यदि कहा जायगा कि परिणाम सत्स्वरूप है तब उसका अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो सत्स्वरूप पदार्थ होता है उसका नाश नहीं हो सकता ऐसा ऊपर कई जगह कह आए हैं! परिणामको भी प्रतिवादी सत्पदार्थ मानता है इसलिए उसका भी कभी नाश नहीं

स्वामिभृत्यादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः ॥ २ ॥

यह स्वामी है, यह सेवक है, यह आचार्य है और यह शिष्य है इत्यादि रूपसे जो व्यवस्थाका होना है उसका नाम परस्परोपग्रह है। इस अवस्थामें स्वामी धन आदि प्रदानकर सेवकोंका उपकार करता है और सेवकगण हितकारी मार्ग सुझाकर और अहितकारी मार्गका निषेध कर स्वामीका उपकार करते हैं। आचार्य दोनों लोकोंमें उत्तमोत्तम फल प्रदान करनेवाला उपदेश देकर एवं उस उपदेशके अनुसार उत्तमोत्तम क्रियाओंको पालन कराकर शिष्योंका उपकार करते हैं और शिष्यगण आचार्यके अनुकूल सेवा शुश्रूषा आदि कर आचार्यका उपकार करते हैं। इसप्रकार प्रत्येक जीव दूसरे जीवोंके किसी न किसी उपकारमें प्रवृत्त रहता है इसप्रकार आपसमें एकके द्वारा दूसरेको किसी न किसीरूपसे सहायता पहुंचाना जीवोंका आपसमें उपकार है। शंका—

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेन्नानंतरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् ॥ ३ ॥

उपग्रह शब्दकी ऊपरसे अनुवृत्ति आरही है उसीके संबंधसे यहां सूत्रका अर्थ निष्पन्न हो सकता था फिर सूत्रमें जो उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है वह अनर्थक है? सो ठीक नहीं, पुद्गलकृत जो शरीर आदि चार सुख आदि चार इसप्रकार आठ प्रकारके ऊपर उपकार कह आये हैं उनमें सुख आदिका यहां संबंध है यह बात जतलानेके लिये उपग्रह शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये वह निरर्थक नहीं। खुलासा तात्पर्य यह है कि जीवोंका जो परस्पर उपकार बतलाया गया है वह कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है किंतु पीछेके सुख दुःखेत्यादि सूत्रमें जो सुख आदि चार बातें कही गई हैं, तत्स्वरूप ही जीवोंका आपसका उपकार है। अर्थात् एक जीव दूसरे जीवको सुख पहुंचाता है, कोई दुःख पहुंचाता

परिणमन नहीं हो सकता इसलिए उसके मतमें कोई भी वक्ता नामका पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वाच्य जो अर्थ है उसका भी अभिधेय-अर्थरूपसे परिणमन नहीं हो सकता इसलिए अर्थ भी कोई पदार्थ उसके मतमें नहीं सिद्ध हो सकता तथा जो शब्द है उसका भी वाचकस्वरूपसे परिणमन नहीं हो सकता इसलिए वाचक (कहनेवाला) भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता इसरूपसे वक्ता, वाच्य और वचनके अभावसे प्रतिषेध न बन सकनेके कारण उसका अभाव मानना होगा। परिणामके प्रतिषेधका अभाव परिणामस्वरूप ही पडेगा इसरूपसे परिणाम पदार्थका अभाव नहीं हो सकता। यदि यहांपर पुनः यह शंका की जाय कि—

अन्यानन्यत्वदोषादिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ १३ ॥

परिणाम कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि जिससमय परिणामी पदार्थसे उसकी अन्यत्व अनन्यत्वरूपसे विवक्षा की जायगी अर्थात् भिन्न अभिन्न माना जायगा उससमय अन्यत्व अनन्यत्व दोनों पक्षोंके अंदर दोष होनेसे उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

वीजसे जहांपर अंकुरकी उत्पत्ति हो चुकी है वहांपर वीजसे अंकुर अन्य माना जायगा कि अनन्य माना जायगा ? यदि कहा जायगा वीजसे अंकुर पदार्थ भिन्न है तब अंकुर वीजका परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि परिणाम परिणामी व्यवहार वहीं होता है जहांपर अभिन्नता रहती है। प्रतिवादी अंकुरको वीजसे भिन्न मानता है इसलिये अंकुर वीजका परिणाम नहीं हो सकता। यदि कहा जायगा कि अंकुर वीजसे अनन्य (अभिन्न) है ? सो भी ठीक नहीं। क्योंकि जब अंकुर वीजसे अभिन्न है तब वह वीजस्वरूप ही हो गया, अंकुर नामका कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता। कहा भी है—

जब यह बात सुनिश्चितरूपसे मानी जा चुकी है कि जो सत्स्वरूप होगा वह अवश्य उपकारी होगा जैसे धर्म अधर्म आदि पदार्थ सत्स्वरूप हैं इसलिये वे उपकारी माने गये हैं तब कालद्रव्य भी सत्स्वरूप पदार्थ है उसका क्या उपकार है ? इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्रकार कालद्रव्यका उपकार प्रतिपादन करते हैं। कालद्रव्यका विशदरूपसे लक्षण आगे कहा जायगा और वह अमूर्तिकस्वरूप है। केवल यहां पर समस्त द्रव्योंका उपकार प्रकरण होनेसे यहां उसका उपकार प्रतिपादन किया गया है। वह उपकार इसप्रकार है। अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसरूपसे भी है—जिसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंके अस्तित्वका सिद्ध करनेवाला गति आदि उपकार प्रतिनियत है उसप्रकार कालका अस्तित्व बतलानेवाला कोई प्रतिनियत उपकार है या नहीं ? यदि है तो बतलाना चाहिये वह क्या है ? इसलिये 'वर्तनापरिणामेत्यादि' सूत्रसे वह उपकार बतालाया जाता है—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

काल द्रव्यके वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये पांच उपकार हैं। जो दूसरोंको वर्तावे उसे वर्तना कहते हैं। यद्यपि धर्म आदि द्रव्य अपनी पर्यायोंके पूरणार्थ स्वयं वर्तनरूप होते हैं तथापि उनके वर्तनमें जो बाह्य कारण है जो कि उन्हें वर्तनारूप करता है, उसे वर्तना कहते हैं। द्रव्यका ऐसा पर्याय जो कि एक धर्मका निवृत्तिरूप और दूसरे धर्मका जननरूप हो उसे परिणाम कहते हैं। जैसे आत्माके क्रोधादिक और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं। जो हलन चलन आदिरूप हो वह क्रिया है। एक देशसे दूसरे देशतक जानेको भी क्रिया कहते हैं जैसे गाडीका चलना, मेघोंका चलना। बडा छोटा इस व्यवहारको परत्वापरत्व कहते हैं जैसे वह युवा १५ वर्षका है और यह युवा २० वर्षका है

सकता है। इसरूपसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि वीजसे अंकुर पदार्थ सर्वथा अन्य वा सर्वथा अनन्य नहीं किंतु कथंचित् अन्य और कथंचित अनन्य है और वह पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अन्य है और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनन्य है। यदि कदाचित् यहां फिर यह तर्क उठाया जाय कि—

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषादिति चेन्नानेकांतात् ॥ १४ ॥

जहांपर वीज अंकुररूप परिणत हो चुका है वहांपर अंकुरके अंदर वीज व्यवस्थित है या नहीं व्यवस्थित है? यदि कहा जायगा कि अंकुरके अंदर वीज व्यवस्थित है तब अंकुर अवस्थामें वीजके विद्यमान रहनेपर अंकुरका अभाव कहना होगा क्योंकि वीज और अंकुर दोनों पर्यायोंका एक जगह पर एक साथ रहना विरुद्ध है। यदि कहा जायगा कि अंकुरकी विद्यमानतामें वीज व्यवस्थित नहीं है तब अंकुर वीजका परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि अंकुर अवस्थामें वीजके व्यवस्थित रहनेपर ही अंकुर वीजका परिणाम हो सकता है अव्यवस्थित रहनेपर नहीं। इसलिए व्यवस्थित अव्यवस्थित दोनों पक्षोंमें दोष होनेसे वीजका अंकुर परिणाम नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। वीजका जो अंकुर परिणाम माना है वह अनेकांतपक्षके आधारपर माना है इसलिए कोई दोष नहीं हो सकता। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

जिसप्रकार मनुष्यायु और मनुष्यनामकर्मके उदयसे अंग उपांगरूप पर्यायोंको प्राप्त होनेके कारण जिसतरह अग्निसे तपाया गया लोहेका पिंड अग्नि माना जाता है उसीतरह अंगुली नामक उपांग स्वरूप परिणत होनेके कारण अंगुली ही आत्मा मान लिया जाता है। उसके बाद वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमके द्वारा वही अंगुलिस्वरूप आत्मा यद्यपि संकोच विस्ताररूप पर्यायोंको प्राप्त होता है अर्थात्

वर्तन—परिवर्तन करना ही जिसका स्वभाव हो वह वर्तना है, यह वर्तना शब्दका विग्रह है। अब वार्तिककार वर्तनाका स्वरूप कहते हैं—

प्रतिद्रव्यपर्यायमंतर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ॥ १ ॥

द्रव्यकी हरएक पर्यायके प्रति एकही समयमें जो उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप सत्ताकी अनुभूति अर्थात् अविच्छिन्नरूपसे होना है वही वर्तना है। वार्तिकका शब्दार्थ इसप्रकार है—द्रव्यकी जो पर्याय वह द्रव्यपर्याय है। हर एक द्रव्यकी पर्यायके प्रति जो हो वह प्रतिद्रव्यपर्याय है। जिसने अंतरंगमें एकसमय निर्धारण कर लिया हो वह अंतर्नीतैकसमय कही जाती है और वह अंतर्नीतैकसमय स्वसत्तानुभूति है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों पर्यायोंका जो अविरोधपूर्वक समानरूपसे रहना है वह सत्ता कही जाती है। इस स्वरूपसे भिन्न संसारमें कोई भी सत्ता नामका पदार्थ नहीं। यह पदार्थोंका उत्पादव्ययध्रौव्यरूप निजसत्ता प्रतिनियत है अर्थात् असाधारण है। यद्यपि इस सत्ताका किसी इंद्रियके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि यह अनुगताकार बुद्धि, सत्ता यह नाम और पदार्थोंकी अनुकूल प्रवृत्तिरूप हेतुसे जानी जानेके कारण अनुमान ज्ञानके गोचर है। अर्थात् यदि सत्ता नामका पदार्थ न माना जाय तो अनुगताकाररूप बुद्धि, सत्ता नाम और पदार्थोंकी अनुकूल प्रवृत्ति ही न हो सकेगी, सत्ता सब पदार्थोंमें सामान्यरूपसे रहती है इसलिये सादृश्यरूप व्यवहारकी अपेक्षा यद्यपि वह एक है तथापि जीव अजीव और उनके भेद प्रभेदोंके साथ जो वह सबन्ध करती है वह अपनी विशेष विशेष शक्तियोंके द्वारा ही करती है इसलिये पदार्थोंके नाना भेद रहनेसे वह सत्ता भी नाना प्रकारकी है। उस सत्ताकी जो अनुभूति है अर्थात् निरवच्छिन्नरूपसे प्रवृत्ति है वह स्वसत्तानुभूति कही जाती है और वह स्वसत्ता-

स्वरूप परिणत होनेसे वही आत्मा वीज संज्ञाका धारक बन जाता है इसप्रकार वीजस्वरूप आत्माके माननेसे यह फल निकलता है कि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यस्वरूपसे कभी भी विचलित न होनेके कारण वह सत्स्वरूप है और जिससमय पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा की जायगी उससमय पुद्गलसंबंधी शालिजातिस्वरूप एकेंद्रिय रूप रस स्पर्श गंधरूप पर्यायोंकी अपेक्षा वह सदा विद्यमान नहीं रह सकता अर्थात् वीजरूप पर्यायके नष्ट होनेपर पर्यायदृष्टिसे आत्मा भी नष्ट माना जाता है इसलिए पर्यायकी अपेक्षा वह असत्स्वरूप भी है। तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा ही वह अनन्य स्वरूप है क्योंकि पर्यायें द्रव्यसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं इसलिए पर्यायोंसे आत्मा अन्य नहीं माना जा सकता तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह अवस्थित भी है क्योंकि निज चैतन्यस्वरूप द्रव्यकी अपेक्षा वह सदा अवस्थित रहता है किंतु जिससमय पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा की जायगी उससमय पुद्गल-संबंधी शालिवीजरूप पर्यायकी अपेक्षा वह असत्स्वरूप है क्योंकि वीजपर्यायस्वरूप आत्माके माननेपर वीजकी अविद्यमानतामें पर्यायदृष्टिसे आत्मा भी असत्स्वरूप माना जाता है तथा इसी पर्यायदृष्टिसे वह आत्मा अन्य भी है क्योंकि पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य और पर्यायोंका भेद होनेसे पर्यायोंसे आत्मा अन्य है तथा पर्यायदृष्टिसे ही वह अनवस्थित भी है क्योंकि प्रतिक्षण पर्यायोंका परिणमन होनेके कारण उसका एक अवस्थित रूप नहीं रह सकता। इसरूपसे अनेकांतदृष्टिसे अंकुरके अंदर वीज व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों स्वरूप सिद्ध होता है तब सर्वथा व्यवस्थित अव्यवस्थित पक्षको आश्रयकर जो ऊपर दोष दिया गया था वह अयुक्त है। शंका—

वृद्ध्यभावप्रसंग इति चेन्नान्यहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

है कि इसकी पर्यायमें प्रतिसमय कुछ न कुछ विशेषता होती रही है इसीलिये अंतमें यह विशिष्ट पर्याय अनुभवमें आरही है। यदि प्रतिसमय कुछ न कुछ उसके अंदर विशेषता न होती तो यह विशिष्ट पर्याय कभी अनुभवमें न आती। इसरूपसे जब प्रतिसमयमें होनेवाली पर्यायोंकी विशेषताका अनुमान कर लिया जाता है तब एक अविभागी समयमें द्रव्योंका पर्यायोंके अंदर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप तीनों अवस्थाओंका होनारूप वर्तना भी अनुमानसे जान ली जाती है इसप्रकार प्रतिसमय होनेवाले पाकके समान वर्तनाकी सिद्धि अनुमानके द्वारा है।

तल्लक्षणः कालः ॥ ६ ॥

ऊपरकी वार्तिकसे जो वर्तनाका स्वरूप बतलाया गया है उसी वर्तनारूप लक्षणका धारक कालद्रव्य है। इस कालद्रव्यकी सिद्धि इसप्रकार है—समय घंटा घडी पल आदि क्रियाविशेष और उन समय आदि क्रियाविशेषोंद्वारा होनेवाले पर्याय पाक आदिक यद्यपि अपनी सत्ताका स्वयं ही अनुभव करते हैं अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अपनी सत्तामें स्वयं लीन रहते हैं इसलिए वे स्वयं वर्तमान हैं तथापि यह समय है यह घंटा है यह पाक है इत्यादि रूपसे उन समय आदिके समय पाक आदि रूढि नाम प्रसिद्ध हैं। इन्हीं समय और पाक आदिको व्यवहारसे समयकाल और ओदनपाककाल (भातका पकनेका काल) ऐसा मान लिया जाता है क्योंकि भातका पाक प्रतिसमयमें अनुक्रमसे माना है वहांपर कालके सूक्ष्म अंशोंका अनुमानसे निश्चय है इसलिए ओदनपाकका ओदनपाककाल ऐसा संसारमें व्यवहार है इसीप्रकार समयकाल यह भी व्यवहार है। यह व्यवहार कालरूप पर्यायके विना आकस्मिक अर्थात् विना किसी कारणके नहीं हो सकता इसलिए इस व्यवहारकालका कारण कोई अन्य होना

तो बीजहीका और बीजका परिणाम होनेसे उस अंकुरका प्रमाण बीजके प्रमाणके ही बराबर होना चाहिये परंतु पृथ्वी और जलके रसके संबंधसे परिणामके प्रमाणकी बढवारी हो जाती है इसलिये कोई दोष नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। यदि इसरूपसे परिणामकी वृद्धि मानी जायगी तो वह परिणाम पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है—

अथेष्टं तैरसैर्भौमैरौदकैश्च विवर्धते। नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते ॥

पृथिवी और जलके रसोंसे अंकुर आदि परिणामोंके प्रमाणोंकी बढवारी होता है यदि ऐसा माना जायगा तब फिर अंकुर बीजका परिणाम नहीं हो सकता अर्थात् दूधका जिसप्रकार दही परिणाम होता है उसप्रकार अनुरूप परिणाम तो हो सकता है किंतु परिणामीकी अपेक्षा आधिक परिमाणवाला प्रतिरूप यदि वह परिणाम होगा तो वह परिणाम नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर फिर यह उत्तर दिया जाय कि—

जो अंकुर आदि परिणाम होते हैं उनपर पृथिवी और जलके रसस्वरूप दूसरे द्रव्यका संचय (लेप) रहता है इसलिए उस दूसरे द्रव्यके संचयके कारण परिणामीकी अपेक्षा परिणामके प्रमाणकी वृद्धि हो जाती है ? सो भी ठीक नहीं। दूसरे द्रव्यके संयोग रहनेपर भी परिणामकी वृद्धि नहीं हो सकती। खुलासा तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार काठके ऊपर लाखका संयोग रहनेपर भी काठकी वृद्धि नहीं मानी जाती उसीप्रकार पृथिवी और जलके रसरूप दूसरे द्रव्यका अंकुरके साथ संयोग रहनेपर उस संयोगकी ही वृद्धि हो सकती है अर्थात् जितने रसके अवयवोंका संयोग रहेगा उतनी ही उस संयोगकी वृद्धि मानी जायगी, अंकुरकी वृद्धि नहीं मानी जा सकती। कहा भी है—

निश्चयकाल उसके होनेमें कारण नहीं हो सकता इसरूपसे वर्तनाको कारण मानकर जो निश्चयकालकी सिद्धि मानी जाती है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार जिस वर्तनमें चावल पकाए जाते हैं वह वर्तन चावलोंका आधारमात्र माना जाता है किंतु यह बात नहीं कि वह स्वयं चावलोंको पकाता हो क्योंकि पकाना यह कार्य अग्निका है—अग्निके संयोगसे ही चावल पकते हैं उसीप्रकार आकाश भी सूर्यकी गति आदिकी वर्तनामें आधार है अर्थात् आकाशमें रहकर ही सूर्यकी गति आदिकी वर्तना होती है किंतु यह बात नहीं कि स्वयं आकाश ही वर्तनाको करे क्योंकि वर्तना करना निश्चयकाल-द्रव्यका कार्य है इसलिए निश्चयकालद्रव्यका अस्तित्व सुनिश्चित है। यदि पुनः यह कहा जाय कि—

सत्त्वात इति चेन्न तस्या अप्यनुग्रहात ॥ ९ ॥

समस्त पदार्थोंमें सत्ता नामका धर्म साधारणरूपसे रहता है वही समस्त पदार्थोंकी वर्तनामें कारण मान लेना चाहिये, निश्चयकालको उसका कारण मानना व्यर्थ है ? सो भी ठीक नहीं । निश्चयकालद्रव्यसे अनुगृहीत वर्तना ही तो सत्ता है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप सत्ता पदार्थ माना गया है और एक अविभागी समयमें समस्त द्रव्योंके अन्दर पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप तीनों अवस्थाओंका होना वर्तना माना गया है इसलिये वर्तनास्वरूप ही सत्ता पडती है। इसरूपसे जब वर्तना स्वरूप ही सत्ता सिद्ध होती है तब वर्तनाका कारण सत्ता पदार्थ तो माना नहीं जा सकता, कोई अन्य ही पदार्थ माना जायगा, जो वह अन्य पदार्थ होगा वही निश्चय कालद्रव्य है इसरूपसे निश्चयकाल-द्रव्यकी सिद्धि अबाधित है। इसप्रकार वर्तना शब्दपर विचार किया जा चुका। अब वार्तिककार परि-णाम शब्दपर विचार करते हैं—

जायमान खाये गये आहारके पचानेकी सामर्थ्यस्वरूप शरीरबल और अग्निबलका होना अर्थात् शरीरकी शक्ति और जठराग्निकी तीव्रताका होना एवं जो कुछ भी हितकारी पथ्यस्वरूप आहार किया गया है और उसका जो भी रस आदि परिणाम बना है उस परिणाममें निर्माण नामकर्मके उदयकी अपेक्षाका होना है। इन वाह्य और अंतरंग कारणोंके द्वारा वह बालक दिन दिन बढता जाता है उसी प्रकार विशिष्ट वनस्पति नामक आयुकर्म और नामकर्मके उदयसे जीवका आधारस्वरूप वीज पदार्थ अंकुररूप परिणत हो चुका है वह जिसतरह अग्निसे तपाए गये लोहेके गोलेको अग्नि अपने स्वरूप परिणमा लेती है उसीतरह पृथिवी और जलके रसको अपने स्वरूप परिणमाता हुआ वह अंकुर जिस समय बढता है उससमय उसकी वृद्धिमें वाह्य कारण तो सूर्यकी किरणोंका संताप अर्थात् घूप है और अंतरंग कारण वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान अंकुरके शरीरबल और अग्निबलसे पृथिवी और जलके रसोंको पचानेके कारण अपनी जातिके अनुकूल निर्माण नामक नामकर्मके उदयकी अपेक्षा-का होना है इसप्रकार अपनी वृद्धिके अनुकूल वाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा अंकुरकी वृद्धि होती है इसरीतिसे अंकुररूप परिणामकी वृद्धिमें जब अन्य अन्य पदार्थ निमित्त कारण हैं तब न उसमें वीजका परिणामपना निषिद्ध किया जा सकता है और न उसमें वृद्धिका अभाव कहा जा सकता है। इसरूपसे जैनधर्मका सिद्धांत अनेकांतस्वरूप है इसलिए उसके अंदर वृद्धिके अभावका प्रसंग नहीं आ सकता क्योंकि किसी न किसी अपेक्षा वृद्धि अवश्य सिद्ध हो जाती हैं किंतु जो एकांतवादी हैं, नित्यत्व आदि धर्मोंमें किसी एक धर्मस्वरूप ही पदार्थोंके माननेवाले हैं उनके मतकी अपेक्षा परिणामके अंदर वृद्धि नहीं बन सकती इसलिए उन्हींके मतके अंदर वृद्धिके अभावका दोष आता है। स्पष्ट तात्पर्य यह है कि—

निमित्तसे होते हैं अर्थात् ज्ञानका परिणमन, शीलका पालन और अनित्य आदि भावनाओंका चिंतवन रूप जो भी परिणाम होते हैं वे आचार्य आदि पुरुषोंके निमित्तसे होते हैं इसलिये वे प्रयोगज परिणाम हैं। तथा अचेतनस्वरूप मिट्टीके जो घट आदि परिणाम हैं वे कुंभार आदि पुरुषोंके प्रयोगसे जायमान हैं—विना कुंभार आदिके प्रयोगके घट आदिका निर्माण नहीं हो सकता इसलिये मिट्टीके जो घट आदि परिणाम हैं वे प्रयोगज हैं एवं मेघ वर्षनेके बाद आपसे आप आकाशमें इंद्रधनुषकी रचना हो जाना, विजलीका निर्माण होजाना इत्यादि जितने भी परिणाम हैं वे सब वैस्रसिक हैं क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें कुंभार आदि पुरुषोंके प्रयोगोंकी अपेक्षा नहीं रहती। इसप्रकार यहां जीव और पुद्गलके प्रयोगज और वैस्रसिक परिणामोंका खुलासारूपसे प्रतिपादन किया गया है। इसप्रकार धर्म अधर्म आदि द्रव्योंके भी दोनों प्रकारके परिणाम समझ लेने चाहिये। शंका—

परिणामाभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेन्न पक्षांतरत्वात् ॥ ११ ॥

जिस परिणाम पदार्थका ऊपर विवेचन किया गया है वह परिणाम पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसके होने और न होनेमें अनेक दोष आते हैं। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जहांपर वीजसे अंकुरकी उत्पत्ति हो चुकी है वहांपर अंकुरमें वीज है या नहीं है? यदि कहा जायगा, अंकुरके अंदर वीज है तो जिसप्रकार अंकुर अवस्थामें विद्यमान रहते भी वीजका अभाव माना जाता है उसीप्रकार अंकुरका भी अभाव होना चाहिये। यदि कहा जायगा—अंकुरमें वीज नहीं है तब यह अवश्य मानना होगा कि वीजका अंकुररूपसे परिणाम नहीं हुआ है क्योंकि यदि वीजका अंकुररूप परिणाम होता तो अंकुर अवस्थामें भी वीजका स्वभाव उपलब्ध होना चाहिये था परन्तु अंकुर

पदार्थकी वृद्धिमें कारण होते नहीं देखे गये हैं इसलिये वृद्धिके कारण और उन कारणोंसे जिस पदार्थकी वृद्धि स्वीकार की गई है उन दोनोंके एकसाथ विनष्ट होनेपर अंकुर आदिकी वृद्धिके कारण पृथिवी और जलके रस आदि कारणोंसे अंकुरकी वृद्धि नहीं मानी जासकती। यदि कहा जायगा एकसाथ वे विनष्ट नहीं होते किंतु पूर्वापरक्रमसे विनष्ट होते हैं तब पहिले जब अंकुर नष्ट होचुका तब नष्ट हुए अंकुरका पृथिवी आदिक कारण क्या करसकते हैं? कुछ भी नहीं अथवा स्वयं भूमि आदि ही नष्ट हो गये तो वे नष्ट हुए अंकुरका क्या कर सकते हैं? कुछ भी नहीं इसरीतिसे क्षणिक एकांत पक्षमें एक साथ वा पूर्वापरक्रम दोनों ही प्रकारसे वृद्धि नहीं परन्तु अनेकांतवादियोंके मतमें किसीप्रकारका दोष नहीं क्योंकि—

जिससमय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मानी जायगी उससमय अंकुर और भूमि आदिका द्रव्य-स्वरूपसे कभीभी नाश न होनेके कारण वे नित्य हैं और जिससमय पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा मानी जायगी उससमय अंकुर और भूमि आदि सब क्षणविनाशीक हैं इसरूपसे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्यस्वरूप अनेकांत पक्षमें वृद्धिका होना निरापद है। शंका—

क्षणिकत्वे प्रबंधभेदाभ्युपगमाद् वृद्धिरिति चेन्न तदभावात ॥ १६ ॥

क्षणिकवादी बौद्धका कहना है कि हमारे मतमें प्रबंधोंका भेद माना गया है इसलिये समस्त पदार्थोंके क्षणिक रहनेपर भी वृद्धिका होना बाधित नहीं हो सकता। खुलासा इसप्रकार है—

प्रबंधके तीन भेद हैं—एक सभागरूप, दूसरा क्रमापेक्ष और तीसरा अनियत। दीपकसे दीपकका जलना और प्रवाहसे प्रवाहका होना यह तो सभागरूप प्रबंध है क्योंकि जहांपर समानताका संबंध

द्वोषों द्वयोर्भावे कथं न स:' अर्थात् जो दोष हर एक पक्षमें होगा वह दोनोंके एक साथ होनेपर क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा इसलिए एकांतरूपसे माने गये सत्पक्ष और असत्पक्षमें आनेवाला दोष अनेकांतस्वरूप सत् असत्पक्षमें अवश्य लागू होगा ? सो ठीक नहीं । वैष्णव संप्रदायमें हिरणांकुश नामके किसी राजाको राक्षस और नास्तिक माना है और उसे दमन करनेके लिये विष्णुका एक नृसिंह नामका अवतार माना है । उस नृसिंह अवतारकी आकृति कुछ मनुष्यके आकार रहती है और कुछ सिंहके आकार रहती है अतः उस नृसिंह अवतारके अंदर मनुष्य और सिंहके अंदर जो जो बातें होनी चाहिये वे होनी आवश्यक हैं क्योंकि मनुष्य और सिंहका सम्मिलित रूप ही नृसिंहावतार माना गया है परंतु वे बातें वा गुण दोष नृसिंह अवतारके अंदर नहीं पाये जाते वह उनसे भिन्न एक विलक्षण ही पदार्थ है उसीप्रकार यद्यपि सत्स्वरूप और असत्स्वरूप दोनों पक्षोंका सम्मिलित रूप ही अनेकांत सत्असत्स्वरूप है इसलिए प्रत्येक सत्पक्ष और असत्पक्षके अंदर आनेवाले दोष सम्मिलितरूप अनेकांत सत्असत्स्वरूप पक्षमें होने चाहिये परंतु नृसिंह अवतारके समान एकांत सत् असत्पक्षोंसे अनेकांत सत्असत्स्वरूप पक्ष एक विलक्षण ही पदार्थ है इसलिए प्रत्येक सत् असत्पक्षके अंदर आनेवाले दोषोंका अनेकांत सत्असत्स्वरूप पक्षके अंदर लागू होना असंभव है । इसलिए यह यथार्थ बात मानना आवश्यक है कि—

द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा रहनेपर शालिवीज आदि द्रव्यकी अपेक्षा अंकुरके अंदर वीजका सद्भाव है यदि वीजांकुर संततिका सर्वथा अभाव मान लिया जायगा तो अंकुरके ऊपर जो विशिष्ट फल उत्पन्न होता है उस फलका ही अभाव हो जायगा क्योंकि वीज द्रव्यका सर्वथा नाश माननेपर उस वीजके

१—विष्णुपुराण नृसिंहावतारपर्व ।

जाना चाहिये क्योंकि गधा सत्पदार्थ है और उसका सींग असत्पदार्थ है परंतु इन दोनोंका प्रबंध बाधित है इसरूपसे असत्पक्षमें और सत असत्पक्षमें जब प्रबंधका होना बाधित है तब मानना पडेगा कि दो सत्स्वरूप पदार्थोंका ही प्रबंध हो सकता है। परंतु सत्स्वरूप भी उन्हीं पदार्थोंका प्रबंध हो सकता है जो पूर्व और उत्तरकालमें रहनेवाले हों। सर्वथा क्षणिकवादमें पूर्व और उत्तरकालमें रहनेवाले दो स्कंधोंका एक क्षणमें रहना हो नहीं सकता अर्थात् जिससमय बाल अवस्था रहेगी उससमय कुमार अवस्था नहीं रह सकती एवं जिससमय कुमार अवस्था रहेगी उससमय बाल अवस्था नहीं रह सकती इसलिये सर्वथा क्षणिकवादमें प्रबंध पदार्थका होना बन नहीं सकता। यदि जबरन दो स्कंधोंका एक क्षणमें होना माना जायगा तो बौद्धोंने जो 'समस्त पदार्थ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है वह नष्ट हो जायगी, विद्यमान नहीं रह सकती। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

'समस्त पदार्थ क्षणिक हैं' प्रतिज्ञा हमारी यही है परन्तु जिसप्रकार तराजूके दोनों पलोंमें एक ही साथ एक पला नीचा और एक पला ऊंचा दीख पडता है अर्थात् दोनों पलोंके नीचे ऊंचे होनेका एक ही समय है उसीप्रकार एक साथ पदार्थोंका उत्पाद और विनाश हो सकता है इसरूपसे एक ही कालमें उत्पाद विनाश माननेपर पदार्थोंका प्रबंध निश्चित है अतः क्षणिक एकांतवादमें वृद्धिका होना संभव है अभाव नहीं कहा जा सकता? सो भी ठीक नहीं। यदि पदार्थोंके उत्पाद और विनाशकी एक ही क्षणमें एक साथ सत्ता मानी जायगी तो एक साथ प्रकट होनेवाले गायके दाँये और वाँये सींगोंमें जिसप्रकार कार्य कारणभाव नहीं माना जा सकता उसीप्रकार उत्पाद और विनाशके अन्दर भी कार्य कारणभाव नहीं बन सकता। विनाश और उत्पादमें परस्पर कार्य कारणभाव माना गया है इसलिये एकांत क्षणिक-

हो सकता। यदि जबरन यहांपर यह कहा जायगा कि सत्पदार्थका भी अभाव होता है तब वहांपर यह उत्तर दिया जा सकता है कि परिणामका प्रतिषेध भी तो सत्पदार्थ है। यदि सामान्यरूपसे सब ही सत्पदार्थोंका प्रतिषेध माना जायगा तो परिणामका प्रतिषेधरूप सत्पदार्थका प्रतिषेध अवश्य मानना होगा इसलिए परिणामके प्रतिषेधका प्रतिषेध भी कहना चाहिये। यह नियम है जहांपर दो नकार रहते हैं वहांपर विधिका प्रतिपादन होता है। परिणामके प्रतिषेधका प्रतिषेध यहांपर भी दो प्रतिषेध हैं इस-लिये घटके अभावका अभाव जिसप्रकार घटस्वरूप माना जाता है उसप्रकार परिणामके प्रतिषेधका प्रतिषेध (अभावका अभाव) परिणामस्वरूप ही होगा इसरूपसे सत्पदार्थका अभाव माननेपर परिणाम पदार्थका अभाव न सिद्ध होकर परिणाम पदार्थ ही सिद्ध हो जाता है। यदि यहांपर प्रतिवादी यह कहे कि प्रतिषेध पदार्थ सत्स्वरूप है, कभी उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता? तब इसका समाधान यह है कि परिणामपदार्थ भी सत्स्वरूप है उसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता इसरूपसे यदि परिणामपदार्थको सत्स्वरूप माना जायगा तो उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि परिणाम पदार्थ असत्स्वरूप है इसलिए असत्स्वरूप होनेसे उसका प्रतिषेध है? सो भी ठीक नहीं। यदि असत् होनेसे परिणामका प्रतिषेध माना जायगा तो जिसप्रकार गधेका सींग असत् है इसलिए उसका प्रतिषेध नहीं बन सकता उसीप्रकार असत् होनेसे परिणामका भी प्रतिषेध नहीं बन सकेगा इसरीतिसे चाहे परिणाम पदार्थ सत्स्वरूप माना जाय चाहे असत्स्वरूप माना जाय, उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अथवा—

जो प्रतिवादी परिणाम पदार्थको ही नहीं मानता उसके मतमें किसी भी आत्माका वक्तृत्वरूपसे

यहांपर यह बात खासरूपसे विचारणीय है कि जो नष्ट होता है, जो उत्पन्न होता है और जो शश्वतरूपसे विद्यमान रहता है ये तीनों बातें अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों गुण समुदाय-स्वरूप हैं या गुणसमुदायसे भिन्न हैं ? यदि इन तीनोंको गुणसमुदायस्वरूप माना जायगा तो जो गुण समुदाय पहिले है वही पीछे है यहांपर कोई किसीका परिणाम नहीं ठहरता क्योंकि परिणाम पदार्थका सद्भाव वहीं माना जा सकता है जहांपर पदार्थ अन्यरूपसे विनष्ट हो, अन्यरूपसे अवस्थित शाश्वत रहै और अन्यरूपसे उत्पन्न हो किंतु जहांपर एक ही रूपसे आगे और पीछे गुणसमुदाय समान है वहांपर परिणाम नहीं माना जा सकता। प्रकृतमें गुणसमुदाय जो पहिले है सो ही पीछे है अर्थात् एकरूप है वहांपर उत्पादव्ययध्रौव्यरूप परिणामका सद्भाव नहीं हो सकता इसलिए द्रव्यका परिणाम नहीं सिद्ध हो सकता। यदि कहा जायगा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप परिणाम गुणसमुदायसे भिन्न पदार्थ है तब गुणसमुदाय मात्र ही द्रव्य पदार्थ है यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है क्योंकि गुणसमुदायसे भिन्न उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप परिणामवाला भी द्रव्य पदार्थ मान लिया गया। इसरीतिसे सर्वथा नित्य द्रव्यका परिणाम माननेसे गुणसमुदायमात्र स्वरूप द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण नहीं बन सकता। तथा यदि द्रव्यके एक धर्मका विनाश माना जायगा और एकका उत्पाद माना जायगा तो अनित्यता ही सिद्ध होगी फिर जो एकांतरूपसे नित्यता मान रक्खी है वह विरुद्ध हो जायगी। और भी यह बात है कि—

गुणसमुदायस्वरूप जो द्रव्य पदार्थ माना गया है वहांपर यह तर्क उठता है कि समुदाय पदार्थ गुणोंसे भिन्न है वा अभिन्न है ? यदि कहा जायगा कि समुदाय पदार्थ गुणोंसे अभिन्न है तब गुण ही

स्याचेद्बीजं परिणतं नान्यो वीजाच्च सोऽङ्कुरः ।
तच्च नैवं यदि ह्यन्यो न तच्चेन्न सोऽङ्कुरः ॥

अर्थात् जब वीज अंकुररूप परिणत हो चुका तब वह अंकुर वीजसे अन्य पदार्थ नहीं माना जा सकता, वह वीज ही है। यदि यह बात न मानी जायगी और वीजसे अंकुर अन्य ही माना जायगा तब वह वीज नहीं है यदि वीज माना जायगा तो वह अंकुर नहीं है अर्थात् वह अंकुर वीजका परिणाम नहीं हो सकता । वार्तिककार इसका समाधान देते हैं—सो ठीक नहीं । क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि एक पक्षका दोष दूसरे पक्षमें लागू नहीं होता । जिस सर्वथा अन्यत्व और अनन्यत्व पक्षको लेकर परिणाम पदार्थकी असिद्धिका प्रतिवादीने प्रयत्न किया है वह एकांत पक्ष है और जैनसिद्धांतमें जो वीजका परिणाम अंकुर माना गया है वह अनेकांत पक्षके आधारपर माना गया है इसलिये एकांत पक्षके अंदर होनेवाले दोष अनेकांत पक्षमें लागू नहीं हो सकते। इसरीतिसे यहां वीज और अंकुरके अंदर सार बात यही समझ लेनी चाहिये कि वीजसे अंकुर सर्वथा भिन्न वा सर्वथा अभिन्न पदार्थ नहीं किंतु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है क्योंकि जबतक वीजमें अंकुर नहीं उत्पन्न हुआ है उससे पहिले वीजमें अंकुर पर्यायका सद्भाव नहीं था, पीछेसे हुआ है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् वीजसे अंकुर पर्याय भिन्न है। एवं शालिवीजकी जो जाति है उस विशिष्ट जातिसे यदि अंकुर पदार्थ भिन्न माना जायगा तो उसका अभाव ही कहा जायगा क्योंकि शालिवीजका जो द्रव्य है उस द्रव्यस्वरूप ही तो अंकुर है इसलिये द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा रहनेपर शालिवीजजातिस्वरूप द्रव्यकी अपेक्षा वीजसे अंकुरपदार्थ कथंचित् अनन्य है अर्थात् वह अंकुर कथंचित् वीजस्वरूप भी कहा जा

शब्द आदि स्वरूप परिणत हो सकते हैं फिर जो शब्द आदिके अंदर सुख आदिका समन्वय—अंतर्भाव माना है वह न हो सकेगा क्योंकि पूर्वभावका अन्यभावस्वरूप होना परिणाम है ऐसी नित्यत्वैकांतवादीकी दृढ प्रतिज्ञा है। यदि यह कहा जायगा कि पूर्वभाव अन्यभावरूप परिणत नहीं हो सकता इसरीतिसे शब्द आदिका सुख दुःख आदिके अंदर अंतर्भाव ही हो सकता है शब्द आदिस्वरूप सुख आदि परिणत नहीं हो सकते? तब इसका समाधान यह है कि नित्यत्वैकांतवादीने जो यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि पूर्वभावका जो अन्यभावस्वरूप हो जाना वह परिणाम है, वह प्रतिज्ञा छिन्नभिन्न हो जायगी क्योंकि अपनी प्रतिज्ञाका कुछ भी ध्यान न रख नित्यत्वकांतवादी यह कहता है कि पूर्वभाव अन्यभावस्वरूप परिणत नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि पूर्वभावका अन्यभावस्वरूप न होना माना जायगा तो सर्वथा एकांतपक्षमें जो सुख आदिक जिसरूपसे हैं वे उसी रूपसे होंगे किसी भी अवस्थामें शब्द आदि स्वरूप नहीं हो सकते इसलिए शब्द आदि भावोंका अभाव ही होगा जो कि अनिष्ट है इसलिए नित्यत्वैकांतपक्षमें पूर्वभावका अन्य भावस्वरूप होना परिणाम है यह परिणामका लक्षण नहीं बन सकता। तथा यह भी एक बात है कि—

अभावस्यापरिणामात् ॥ १९ ॥

एकांतपक्षमें जो पदार्थ जिसरूपसे नहीं है उसका उसरूपसे होना नहीं माना जासकता जिसप्रकार अभाव पदार्थ भावस्वरूपसे नहीं है इसलिए उसका भावस्वरूपसे होना नहीं माना जा सकता। इसी तरह गुण पदार्थ स्थूलरूपसे नहीं है इसलिए उसका स्थूलरूपसे होना नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् जिस पदार्थका जिसरूपसे होना नहीं है उसका जबरन उसरूपसे होना माना जायगा तो

निमित्त कारणोंके द्वारा सिकुड भी जाता है और फैल भी जाता है तथापि वह अपने अनादि पारिणामिक चैतन्यस्वरूप द्रव्यको नहीं छोडता इसलिये द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यस्वरूपसे उसका अभाव न होनेसे आत्मा सत्स्वरूप है एवं जिससमय पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा रहती है, पुद्गलकी विकारस्वरूप अंगुली नामक उपांगरूप पर्यायकी अपेक्षा आत्मा असत्स्वरूप भी है अर्थात् अंगुलीस्वरूप आत्माके माननेपर जिससमय अंगुलिका विनाश होगा उससमय पर्यायदृष्टिसे आत्माका भी विनाश माना जायगा इसलिए अंगुलिरूप पर्यायकी अपेक्षा आत्मा असत् भी है। तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि पारिणामिक चैतन्यद्रव्यसे भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं इसलिए वह आत्मा अनन्यस्वरूप है और चैतन्यस्वरूप हरएक अवस्थामें ज्योंका त्यों विद्यमान रहता है इसलिए अवस्थित भी है किंतु जिससमय पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा की जायगी उससमय संकोच विस्ताररूप पर्यायोंकी अपेक्षा आत्मा असत् स्वरूप भी है अर्थात् संकोच विस्तारके होनेसे आत्माका परिमाण छोटा बडा होता रहता है एवं छोटा बडा होना ही उत्पाद और व्यय है इसलिए संकोच विस्तारकी अपेक्षा उसके नियमित स्वरूपका अभाव होनेसे वह असत्स्वरूप भी है। तथा पर्यायदृष्टिकी अपेक्षा आत्माकी पर्यायें भिन्न भिन्न मानी जाती हैं इसलिए वह पर्यायोंसे अन्य भी है एवं प्रतिक्षण पर्यायोंके उत्पाद विनाशसे आत्माका कोई अवस्थित रूप न होनेके कारण वह अनवस्थित भी है। इसरीतिसे जिसप्रकार अंगुलिरूप आत्माके अंदर सत् असत्रूप परिणामोंकी व्यवस्था मानी है उसीप्रकार एकेंद्रिय वनस्पति नाम आयुकर्मके उदयसे जो आत्मा प्रकट हुआ है वही आत्मा जिससमय वीजपर्यायको प्राप्त होता है उससमय जिसतरह अग्निके द्वारा तपाया हुआ लोहेका पिंड अग्नि कह दिया जाता है उसीतरह वीज-

क्रिया परिस्पंदात्मिका द्विविधा ॥ २० ॥

वाह्य और अंतरंग कारणोंके द्वारा द्रव्यमें उत्पन्न होनेवाली हलन चलनरूप क्रिया है। वह क्रिया दो प्रकारकी है-एक प्रयोगनिमित्ता और दूसरी विस्रसानिमित्ता। अर्थात् एक क्रिया ऐसी होती है जो पुरुष आदिके प्रयोगसे जायमान होती है और एक क्रिया स्वभावसिद्ध होती है। उनमें गाडी आदिकी जो क्रिया है वह प्रायोगिकी है क्योंकि पुरुष आदिके प्रयोगके बलसे गाडी आदि चलती है और मेघ आदिकी क्रिया विस्रसानिमित्ता है क्योंकि उसके होनेमें पुरुष आदिके प्रयोगकी अपेक्षा नहीं रहती वह स्वभावसिद्ध होती है। शंका—

स्थितिग्रहणमिति चेन्न परिणामावरोधात् ॥ २१ ॥

यदि 'वर्तनापरिणामक्रियेत्यादि' सूत्रमें हलन चलनरूप क्रिया मानी गई है तब क्रिया पदसे स्थितिका तो ग्रहण हो नहीं सकता क्योंकि गतिक्रियाकी अभावस्वरूप स्थितिक्रिया है इसलिये स्थिति भी कालकृत उपकार है यह बतलानेकेलिये सूत्रमें स्थितिशब्दका ग्रहण करना चाहिये ? सो ठीक नहीं, स्थिति परिणमनशील पदार्थ है इसलिये परिणामके अंदर उसका अंतर्भाव होनेसे पृथक्रूपसे सूत्रमें उसके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर पुनः यह शंका की जाय कि—

परिणामग्रहणमेकमेवास्त्विति चेन्न भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् ॥ २२ ॥

जिसप्रकार स्थितिरूप विशेष क्रियाका परिणाममें अंतर्भाव कर लिया गया है उसप्रकार क्रिया-सामान्यका परिणामके अंदर अंतर्भाव हो सकता है फिर परिणाम पदका ही सूत्रमें प्रयोग करना ठीक है क्रिया पदके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्यका भाव दो प्रकारका है

वीज आदिका जो अंकुर आदि परिणाम ऊपर सिद्ध किया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि परिणामके अंदर जो परिमाणमें वृद्धि दीख पडती है उसका अभाव मानना होगा अर्थात् जिस पदार्थका जो परिणाम माना जाय उसका परिमाण परिणामी पदार्थके अनुकूल ही हो सकता है–परिणामीसे बडा परिमाण परिणामका नहीं हो सकता। खुलासा इसप्रकार है—

यदि वीज अंकुररूपसे परिणत होता है ऐसा माना जायगा तो जिसप्रकार दूधका परिणाम दही अनुरूप परिमाणवाला होता है उसप्रकार वीजके परिमाणके बराबर ही अंकुरका परिमाण होना चाहिये किंतु वीजकी अपेक्षा बडा परिमाण नहीं होना चाहिये इसरीतिसे वीज आदिका अंकुर आदि परिणाम माननेसे परिणामके अंदर वृद्धिका अभाव मानना होगा। कहा भी है—

किंचान्यद्यदि तद्वीजं गच्छेदंकुरतामिह। विवृद्धिरंकुरस्य स्यात्कथं वीजादपुष्कलात्॥

'किंचान्यत्' इतना वाक्य जिसग्रंथका यह पद्य है उस ग्रंथके ऊपरके प्रकरणसे संबंध रखता है उसका अर्थ यह है कि– 'और भी यह बात है कि' यदि वीज ही अंकुररूप परिणत होता है, ऐसा माना जायगा तो वीज तो बहुत ही छोटा पदार्थ है उसीका परिणाम अंकुर उससे बडा परिमाणवाला कैसे हो सकता है अर्थात् अंकुरको वीजका ही परिणाम माना जायगा तो वह वीजके परिमाणके बराबर ही परिमाणवाला होगा–वीजसे बडा परिमाणवाला नहीं होसकता। यदि यहांपर परिणाम पदार्थको माननेवाले जैनी यह समाधान दें कि—

वीजसे जो अंकुरकी उत्पत्ति होती है वह पृथ्वी जल आदि पदार्थोंके संबंधसे होती है। यदि पृथ्वी जल आदि पदार्थोंका संबंध न मिले तो अंकुर कभी उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिये अंकुर परिणाम है

कार करनेवाला है और उसका स्पष्ट स्वरूप इसप्रकार है—लोकाकाशके जितने प्रदेश माने हैं उतने ही कालाणु भी आगममें स्वीकार किये गये हैं अर्थात् लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश माने हैं इसलिए कालाणु भी असंख्यात ही स्वीकार किये गये हैं ये समस्त कालाणु आपसमें जुदे जुदे हैं अर्थात् रत्नोंकी राशि किंवा गेहूं चना आदि अन्नोंके ढेरमें जिसप्रकार आपसमें जुदा जुदापन रहता है उसीप्रकार ये कालाणु भी आपसमें जुदे जुदे द्रव्य हैं, पुद्गलके स्कंधके समान उनका पिंड नहीं । तथा लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर एक एक कालाणु द्रव्य विद्यमान है इसरूपसे लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंपर एक एकके हिसाबसे असंख्याते ही अप्रदेशी कालाणुओंके रहनेके कारण कालाणु समस्त लोकमें व्याप्त हैं एवं कालाणुओंमें न तो मुख्यरूपसे प्रदेशोंकी कल्पना हो सकती है, न व्यवहारमें हो सकती है इसलिए मुख्य और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे किसी प्रकारकी प्रदेशोंकी कल्पना न होनेके कारण कालाणु निर-वयव हैं। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य जीवद्रव्य आकाशद्रव्य और द्व्यणुक आदि स्कंधरूप पुद्गलद्रव्य इनमें तो प्रदेशोंकी कल्पना मुख्यरूपसे है अर्थात् इन द्रव्योंको प्रदेशसमूह (पिंड) रूप माना है इसलिए इनमें मुख्यरूपसे ही प्रदेशोंकी कल्पना है । परमार्थदृष्टिसे परमाणु अप्रदेशी है क्योंकि जिसमें दो आदि प्रदेशोंकी कल्पना हो सके उस पदार्थको प्रदेशी माना जाता है, परमाणुमें केवल एक ही प्रदेश माना गया है इसलिए वह अप्रदेशी है परंतु उसमें प्रचयरूप होनेकी शक्ति विद्यमान है अर्थात् जिससमय उसका अन्य परमाणुओंके साथ बंध होता है उससमय वह प्रचयस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिए परमाणुके अंदर प्रदेशोंकी कल्पना व्यवहारसे है । परंतु कालाणुओंमें प्रदेशोंकी कल्पना न मुख्यरूपसे हो सकती

आलिप्तं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति । तनु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते ॥
तथैवं यदि तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितं । रसाश्च वृद्धिं कुर्वंति वीजं तत्र करोति किं ॥

जिसप्रकार लाखसे लेप किया हुआ काष्ठ स्थूल तो हो जाता है किंतु वहांपर बढवारी लाखकी ही होती है, काष्ठ पतलाका पतला ही बना रहता है उसीप्रकार द्रव्यांतर रूप रसके संबंध रहनेपर भी वीज जिसरूपका है उसी रूपका रहता है और लाखके समान वे रस ही अंकुरकी वृद्धि करते हैं तो वहांपर वीज क्या करता है ? अर्थात् अंकुर वीजका परिणाम नहीं हो सकता इसलिए परिणाम नामका कोई पदार्थ नहीं हो सकता। वार्तिककार इस विस्तृत शंकाका समाधान देते हैं—जो ठीक नहीं। 'वीजमात्रः स एवांकुरः स्यात्' अर्थात् वीजके परिमाणके बराबर वह अंकुर होगा' ऐसा कहनेसे परिणामको न माननेवाले वादीने ही यह स्वीकार कर लिया कि संसारमें परिणाम नामकी कोई वस्तु है यदि परिणाम पदार्थ न होता तो उसप्रकारसे कहा नहीं जा सकता । और प्रतिवादीने जो यह दोष दिया है कि यदि परिणाम पदार्थ माना जायगा तो वृद्धिका अभाव होगा अर्थात् वीज आदि परिणामीकी अपेक्षा जो अंकुर आदि परिणामके अंदर वृद्धि दीख पडती है वह न दीख पडेगी ? वह भी ठीक नहीं। अंकुर आदि परिणाम वीज आदि परिणामियोंके ही हैं और उनके अंदर जो परिमाणकी वृद्धि दीख पडती है वह अन्यनिमित्तक है, उसके होनेमें अन्य पदार्थ कारण हैं। खुलासा व्यवस्था इसप्रकार है—

जो बालक पर्यायका धारक जीव मनुष्य आयु और मनुष्य नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ है वह जो बढता है उसकी वृद्धिमें वाह्यकारण तो सूर्य आदिकी किरण, माताके स्तनोंका दूध पीना और नव-नीत—मक्खन आदि पदार्थोंका आहार करना है और अंतरंग कारण वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे

कृत परत्वापरत्व माना जाता है। जिसप्रकार अहिंसा सत्य अचौर्य आदि गुणोंके संबंधसे धर्म पर है और अहिंसा आदिसे विपरीत हिंसा आदि दोषोंके संबंधसे अधर्म अपर है । एवं जहांपर कालके निमित्तसे यह छोटा है और यह बडा है ऐसा व्यवहार होता है वहांपर कालकृत परत्व अपरत्व लिया जाता है जिसप्रकार एक पुरुष सौ वर्षकी उम्रका है और एक सोलह वर्षकी उम्रका है उनमें सोलह वर्षके पुरुषकी अपेक्षा सौ वर्षका पुरुष पर है क्योंकि उसके साथ विशेष कालकी पर्यायोंका सम्बन्ध है एवं सौ वर्षके पुरुषकी अपेक्षा सोलह वर्षका पुरुष अपर है क्योंकि उसके साथ सौ वर्षवाले पुरुषकी अपेक्षा अल्पकालके परिमाणका संबंध है। इसरीतिसे क्षेत्रकृत प्रशंसाकृत और कालकृत तीन प्रकारका परत्व अपरत्व दीख पडता है और तीनों ही जगहपर भिन्न भिन्न अर्थ लिया गया है तब सूत्रमें जो परत्वापरत्व पदका उल्लेख किया गया है उसके अर्थका कोई निश्चय नहीं हो सकता ? इस विस्तृत शंकाका वार्तिककार समाधान देते हैं—सो ठीक नहीं। यहांपर कालके उपकारका प्रकरण है—कालकृत उपकार अन्य द्रव्योंका क्या हो सकता है ? यह बात इस प्रकरणमें बताई गई है इसलिए यहांपर कालकृत परत्वापरत्वका ग्रहण है। जैसे दूर देशमें रहनेवाले कुमारको पर कहना चाहिये और समीप देशमें रहनेवाले वृद्धको अपर कहना चाहिये परंतु कुमार अपर कहा जाता है और वृद्ध पर कहा जाता है यह व्यवहार भी विना कारण नहीं होता इसलिए इस व्यवहारसे कालकृत उपकारका ग्रहण समझना चाहिये। उसीतरह तपस्वी और चांडालोंमें तपस्वी उत्कृष्ट होनेसे पर होना चाहिये और चांडाल अधम होनेसे अपर होना चाहिये इसीप्रकार समीपमें रहनेवाला चांडाल अपर होना चाहिये और दूर देशमें रहनेवाला तपस्वी पर होना चाहिये परंतु चांडाल (वृद्ध) समीपमें रहनेपर भी पर कहा जाता है और दूरदेशमें रहनेवाला भी तपस्वी (कुमार) अपर

जो मतवाले पदार्थोंको कूटस्थ नित्य मानते हैं उनके मतानुसार किसी भी पदार्थका परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि नित्य पदार्थको परिणामवाला नहीं माना गया इसलिए विपरिणमनके अभावसे उनके मतमें वृद्धिस्वरूप परिणाम नहीं हो सकता । तथा जो एकांतरूपसे समस्त पदार्थोंको क्षणविनाशीक माननेवाले एकांत क्षणिकवादी बौद्ध हैं उन के मतमें पदार्थोंका प्रतीत्यसमुत्पाद माना गया है अर्थात् एकांत क्षणिकवादमें वास्तवमें उत्पाद नहीं बन सकता किंतु औपचारिक उत्पाद माना है अर्थात् प्रतीतिके द्वारा उत्पत्तिकी कल्पना है वास्तवमें क्षणिक पदार्थोंकी स्थिति ही नहीं है तब उत्पाद उनका कैसे होगा ? जब प्रतीतिमें ही समुत्पाद है तब जितने रूपमें पदार्थका ज्ञान होगा वह पदार्थ उतना ही समझा जायगा अर्थात् जितने बडे पदार्थका ज्ञान होता है वह पदार्थ बुद्धिमें उतना ही बडा प्रतीत होता है उसकी वृद्धि नहीं होती इसरूपसे क्षणिक एकांतवादके अंदर भी वृद्धि नहीं बन सकती वृद्धिका अभाव ही सिद्ध होता है इसप्रकार सर्वथा एकांतवादमें ही वृद्धिके अभावका प्रसंग आता है, अनेकांतवादमें नहीं । और भी यह बात है कि—

एकांत क्षणिकवादमें जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं—क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाले हैं तब अंकुर पदार्थ और उसकी वृद्धिमें कारणरूपसे माने गये पृथिवी जलके रस आदि पदार्थोंका एक साथ समूल नाश होता है कि पूर्वापरक्रमसे अर्थात् पहिले अंकुर नष्ट होता है पीछे उसके कारण नष्ट होते हैं अथवा पहिले उसकी वृद्धिके कारण नष्ट होते हैं पीछे अंकुर नष्ट होता है। यदि कहा जायगा कि अंकुर और उसकी वृद्धिमें माने गये कारणोंका एक साथ ही नाश होता है तब पृथिवी और जलके रस आदिसे अंकुर आदिकी वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जो वृद्धिके कारण विनष्ट हो रहे हैं वे साथ साथमें ही विनष्ट होनेवाले

वे अमूर्तिक ही हैं। एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें भ्रमण करनारूप क्रिया है यह ऊपर कहा जा चुका है। कालाणुओंका एकप्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें गमन नहीं होता किंतु वे अपने अपने स्थानपर नियमितरूपसे अवस्थित रहते हैं इसलिये वे निष्क्रिय माने हैं। इसप्रकार यह परमार्थकालका स्वरूप है तथा व्यवहार काल परिणाम क्रिया आदिसे जाना जाता है। निश्चयकालद्रव्यकी जो वर्तना है उसीसे व्यवहारकालकी काल संज्ञा है। सूर्य आदिकी गति आदिसे व्यवहारकालका ज्ञान होता है इसलिये वह किसी कारणसे परिच्छिन्न है अर्थात् सूर्यकी गति आदिसे जाना जाता है तथा जो पदार्थ अपरिच्छिन्न हैं, जाने नहीं जाते उनके जनानेमें कारण है। अर्थात् सूर्य आदिकी गति प्रत्यक्षसे नहीं दीख पडती किंतु दो घंटेका दिनमान हो चुका इसलिये सूर्यकी गति इतनी होनी चाहिये अथवा चार घंटेका दिनमान हो चुका इसलिये सूर्यकी गति इतनी होनी चाहिये इत्यादि रूपसे व्यवहारकालसे सूर्यकी गति आदिका निश्चय कर लिया जाता है।

कालत्रैविध्यसिद्धिः परस्परापेक्षत्वात् ॥ २६ ॥

भूतको वर्तमान और भविष्यत् कालकी, वर्तमानको भूत और भविष्यत् कालकी एवं भविष्यत्कालको भूत और वर्तमानकालकी इसप्रकार एक दूसरेकी आपसमें अपेक्षा रहनेसे वह व्यवहार काल भूत, वर्तमान और भविष्यत्के भेदसे तीन प्रकारका है क्योंकि जिसप्रकार देवदत्त नामका कोई पुरुष वृक्षोंकी पंक्तिका अनुसरण करता है उससमय जिस वृक्षको वह तय कर चुका उसमें तो यह व्यवहार होता है कि उस वृक्षको उसने प्राप्त कर लिया एवं जिस वृक्षके पास वह पहुंच रहा है उसमें यह व्यवहार होता है इस वृक्षको प्राप्त कर रहा है और जो वृक्ष आगे है अभी वहांतक वह नहीं पहुंचा है उसमें यह

रहता है वहांपर सभागरूप प्रवन्ध होता है। समानरूप दीपकमें समानरूप दीपकका होना, समानरूप प्रवाहसे समानरूप प्रवाहका होना यहांपर आपसमें सदृशपना है इसलिये यहांपर सभागरूप प्रबंध है। अपनी अपनी संततिके परिणामोंकी प्राप्ति रहनेके कारण बाल कुमार अथवा वीज अंकुर आदि अवस्थाओंका विच्छेद न होना क्रमापेक्ष नामका प्रबंध है अर्थात् पहिली बालक अवस्था, बालक अवस्थाके बाद कुमार अवस्था, कुमार अवस्थाके बाद युवा अवस्था आदि, इसीप्रकार वीजसे अंकुर, अंकुरसे वीज, वीजसे अंकुर इत्यादि। इसप्रकार बालक आदि वा वीज आदि संततियोंके परिणामोंका जो क्रमसे उपलंभ होना है, वीचमें विच्छेदका न होना है वह क्रमापेक्ष संबंध है तथा मेघ और इंद्रधनुष आदिमें अनेक वर्णोंके प्रबंधके नियमका जो न होना है अर्थात् एकसाथ अनेक वर्णोंका उपलब्ध होना है वह अनियत नामका प्रबंध है। इसरूपसे दीपसे दीपकका जलना, स्रोतसे स्रोतका होना, बाल अवस्थासे कुमार अवस्थाका होना आदि प्रबन्धसे क्षणिकवादमें वृद्धि हो सकती है, वृद्धिका अभाव नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रबंधकी संभावना नहीं हो सकती। खुलासा व्यवस्था इसप्रकार है—

यहांपर यह विचारणीय बात है कि बौद्धोंने जो प्रबंध माना है वह सत्पदार्थोंका माना है वा सत् असत् दोनों प्रकारके पदार्थोंका माना है अथवा केवल असत्पदार्थोंका माना है? उनमें जो पदार्थ असत् हैं उनका प्रबंध तो हो नहीं सकता क्योंकि यदि असत्पदार्थोंका प्रबंध माना जायगा तो वाँझका पुत्र और आकाशका फूल इनका भी प्रबन्ध होना चाहिये। ये भी असत्पदार्थ हैं। यदि कहा जायगा कि सत् और असत् दोनों पदार्थोंका माना जायगा अर्थात् एक पदार्थ सत्स्वरूप और एक पदार्थ असत्स्वरूप होगा तो उन दोनोंका प्रबन्ध हो सकता है तब गधा और गधेके ही सींगका आपसमें प्रबंध हो

प्राप्त कर वर्तनाके संबंधका अनुभव कर चुका उससमय वही द्रव्य भूतकालस्वरूप कहा जाता है एवं वह कालाणु भी द्रव्यको वर्ता चुका इसलिये वह भी भूतकाल माना जाता है। तथा वही द्रव्य कालाणुको प्राप्त होकर आगे होनेवाली वर्तनाका संबंध करेगा इसलिये भविष्यत् वर्तनाके संबंधकी अपेक्षा वही द्रव्य भविष्यत्स्वरूप कहा जाता है एवं वह कालाणु भी आगे जाकर द्रव्यको वर्तावेगा इसलिये वह भी भविष्यत् काल माना जाता है इसरूपसे व्यवहारकालके वर्तनाकी अपेक्षा भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीनों भेद युक्तियुक्त हैं। तथा इसीप्रकार प्रतिसमयमें होनेवाली सूर्यकी गतियोंकी अपेक्षा की जायगी उससमय आवली उच्छ्वास प्राण स्तोक लव नालिका मुहूर्त अहोरात्र पक्ष मास ऋतु अयन (षण्मास) आदि जो भी कालके भेद हैं वे सूर्यकी गतिके परिवर्तनके कारण होनेवाली कालवर्तनाके द्वारा होते हैं इसलिये वे व्यवहार काल कहे जाते हैं तथा सूर्यकी गतिके आधीन इस आवली उच्छ्वास आदिरूप व्यवहारकालका होना मनुष्यक्षेत्रके अंदर ही संभव है क्योंकि सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंका परिभ्रमण मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप) के ही अंदर होता है मनुष्यक्षेत्रसे बाहिर नहीं क्योंकि मनुष्य-क्षेत्रसे वाहिरके क्षेत्रोंमें रहनेवाले ज्योतिषी देव गतिक्रियारहित अवस्थित हैं इसलिये सूर्यकी गति आदिके द्वारा होनेवाले व्यवहार कालका मनुष्यक्षेत्रसे वाहिरके क्षेत्रोंमें विभाग नहीं। इसप्रकार मनुष्य क्षेत्रके अन्दर होनेवाली ज्योतिषियोंकी गतिसे जायमान समय आवली आदि व्यवहारकालके द्वारा जाने गये क्रियाकलापसे अर्थात् क्रियाओंके समूहसे कालवर्तना होती है। उस कालवर्तनाहीका नाम

१—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके। १३। तत्कृतः कालविभागः। १४। बहिरवस्थिताः। १५। इन सूत्रोंमें यह विषय अच्छीतरह स्पष्ट कर दिया है। अध्याय ४ तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार देखो।

वादमें उत्पाद और विनाशका एकसाथ होना नहीं बन सकता। इसप्रकार एकांत क्षणिकवादपर विचार किया जा चुका और उसे असिद्ध ठहराया जा चुका। अब वार्तिककार सर्वथा नित्यैकांतपर विचार करते हैं—

ध्रौव्यैकांते परिणामाभावोऽनेकदोषप्रसंगात् ॥ १७ ॥

जो वादी सर्वथा नित्यस्वरूप पदार्थोंको माननेवाले हैं उनके आगममें परिणामका स्वरूप यह कहा गया है कि—"अवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मांतरनिवृत्तौ धर्मांतरोपजनने च परिणामः। अवस्थितस्य हि ध्रौव्यादिलक्षणस्य द्रव्यस्य क्षीरधर्ममात्रानिवृत्तौ दधिधर्ममात्रोत्पत्तौ परिणाम इति" अर्थात् जो ध्रौव्य आदि स्वरूप अवस्थित है उसमें दूधके धर्मोंकी निवृत्ति होनेपर दहीके धर्मोंकी जो प्रकटता होना है उसीका नाम परिणाम है" यह परिणामका स्वरूप नहीं बन सकता क्योंकि यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायगा और उसका परिणाम कल्पना किया जायगा तो अनेक दोषोंका होना संभव है। खुलासा रूपसे उन दोषोंका संभव इसप्रकार है—

यदि द्रव्यको सर्वथा नित्य अवस्थितस्वरूप माना जायगा तो उसका किसी प्रकारका परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ अपरिणामी माना गया है और जो अपरिणामी है उसका किसी प्रकारका परिणाम बन नहीं सकता। यदि परिणाम पदार्थको स्वीकार कर गुणसमुदायमे भिन्न परिणामस्वरूप द्रव्य स्वीकार किया जायगा तो 'केवल गुणसमुदाय ही द्रव्य है' यह जो नित्यैकांतवादियोंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है वह प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी क्योंकि परिणामस्वरूप भी द्रव्यके स्वीकार करनेपर 'गुणसमुदायमात्र ही द्रव्य है' यह प्रतिज्ञा दृढ नहीं रह सकती। तथा—

लाता है और आवलीका समूह उच्छ्वास कहा जाता है इसप्रकार समयरूप क्रियाके समूहसे जानी हुई आवली जिससमय उच्छ्वासके जाननेमें वर्तमान होती है उससमय वह आवली ही कालस्वरूप कही जाती है इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये अर्थात् आवलीरूप क्रियाओंसे जाना हुआ उच्छ्वास कहा जाता है। जिससमय वह उच्छ्वास प्राणोंके जाननेमें वर्तमान होता है उससमय वही कालस्वरूप कहा जाता है। इसीतरह उच्छ्वासरूप क्रियाओंसे जाना हुआ प्राण कहा जाता है । जिससमय वह प्राण स्तोकके जाननेमें वर्तमान होता है उससमय वह स्तोक ही कालस्वरूप कहा जाता है इसीतरह आगे भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये । इसरूपसे तो युक्तिबलसे क्रियास्वरूप ही काल सिद्ध होता है तथा लोकमें भी जिससमय गाय दुही जाती हैं उससमयका नाम गोदोहनसमय माना जाता है। जिस समय इंधन लाया जाता है उससमय इंधनका समय माना जाता है एवं जिससमय चावल आदि पकाया जाता है उससमय पाकका समय माना जाता है अर्थात् गोदोहन क्रियाको ही काल माना जाता है इंधन आनयन क्रियाको ही काल माना जाता है एवं पाक क्रियाको ही काल माना जाता है इसरीतिसे क्रियास्वरूप ही काल है क्रियासे भिन्न कोई काल नामका पदार्थ नहीं। इस विस्तृत शंकाका वार्तिककार समाधान देते हैं—सो ठीक नहीं। यदि काल नामका पदार्थ न माना जायगा तो काल नाम ही संसारसे लुप्त हो जायगा। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

यह कार्य एक उच्छ्वासमात्रमें किया यह कार्य मुहूर्तमात्रमें किया इत्यादि संसारके अंदर व्यवस्था दीख पडनेके कारण यह बात ठीक है कि यह समस्त व्यवहार क्रियाकृत ही है तथापि जिस शरीरस्वरूप पिंडका रूढि नाम देवदत्त है उस शरीरका 'दंडी' यह नाम दंडका संबंध विना किये अकस्मात् नहीं हो

मानना पर्याप्त है समुदाय (द्रव्य)की जो कल्पना की गई है वह निरर्थक है । तथा जब समुदाय पदार्थ अर्थात् द्रव्य पदार्थका ही अभाव है तब द्रव्यके विना गुण रह नहीं सकते इसलिए द्रव्यके अविनाभावी गुणोंका भी अभाव है और भी यह बात है कि यदि गुणोंसे अभिन्न समुदायको माना जायगा तो समुदाय भी एक गुणस्वरूप पडेगा अथवा एक गुण भी नाना गुणस्वरूप पडेगा । इसरीतिसे गुणोंसे समुदाय पदार्थको अभिन्न माननेपर गुण और द्रव्य दोनों पदार्थोंका अभाव हो जाता है । यदि कदाचित् यह कहा जाय कि समुदाय गुणोंसे भिन्न पदार्थ है तब गुणसमुदायस्वरूप द्रव्य है यह प्रतिज्ञा नहीं ठहर सकती क्योंकि गुणोंसे समुदाय भिन्न पदार्थ है इसलिए वह गुणस्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता और जब समुदाय गुणस्वरूप नहीं हो सकता तब समुदायको ही द्रव्य पदार्थ माना गया है वह भी कभी गुणस्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता । तथा गुण और समुदाय दोनों अविनाभावी पदार्थ हैं । एकके विना दूसरा नहीं रह सकता इसलिए एकांतरूपसे भेद अभेद पक्ष माननेपर गुण और द्रव्यकी सिद्धि न होनेके कारण जगतका कोई स्वरूप ही सिद्ध न होगा इसलिए समस्त जगत स्वरूपशून्य मानना पडेगा । इसप्रकार अनेक दोषोंके होनेसे नित्यत्वैकांतपक्षमें परिणाम पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता ।

तथा यह जो कहा था कि पूर्वभावका अन्यभावस्वरूप होना परिणाम है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि पूर्वभावका अन्यभावस्वरूप परिणत होना यदि परिणाम माना जायगा तो नित्यत्वैकांतवादीने शब्द आदिका जो सुख आदिके अंदर समन्वय माना है वह न बन सकेगा और शब्द आदिका अभाव भी मानना पडेगा इसप्रकार ये दो दोष आकर उपस्थित होंगे । खुलासा इसप्रकार है—

पूर्वभावका यदि अन्यभावस्वरूप होना ही परिणाम माना जायगा तब सुख, दुःख और मोह भी

नहीं इसलिए उसकी अपेक्षा रखनेवाले भूत और भविष्यत् काल भी सिद्ध नहीं होते । वर्तमानकालके अभावमें उनका भी अभाव माना जायगा । तथा यह जो प्रतिवादीके मतमें कहा गया है कि—

आरम्भादिरपवर्गांतः क्रियाकलापो वर्तमान इति आरंभाय प्रवृत्ता यस्मिन् काले भवंति कर्तारः कार्यस्यानिष्ठातः तन्मध्यमकालमिच्छंतीति अर्थात् जिस किसी कार्यको कर्ता जिस कालमें आरंभ कर देते हैं जबतक वह कार्य समाप्त नहीं होता उतने कालमें होनेवाला जो भी क्रियासमूह है उसीका नाम बीचका काल अर्थात् वर्तमानकाल है, इसलिए वर्तमानकालका अभाव नहीं कहा जा सकता ? सो भी ठीक नहीं । क्योंकि पहिले प्रतिवादीने क्रियामात्रको काल माना है और यहांपर क्रियासमूहको काल मान लिया है इसलिए कहीं कुछ और कहीं कुछ और इसप्रकार स्वीकारताके अंदर ही विरोध आता है । तथा यह भी बात है कि क्रियाके अवयव तो क्षणिक हैं क्षण क्षणमें विनष्ट होनेवाले हैं इसलिए उनका समूह सिद्ध ही नहीं हो सकता अतः क्रियाके समूहको जो काल माना जाता है वह मानना ही असंगत है । किंतु जो महानुभाव क्रियासमूहसे भिन्न अन्यलक्षण अर्थात् वर्तनालक्षणका धारक काल पदार्थ मानता है अर्थात् जैनसिद्धांतके अनुसार काल द्रव्यको माननेसे घट आदिकी उत्पत्तिके प्रथम समयमें जो क्रियाकी वर्तना हो रही है उसे आरंभ कर द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अवस्थित रहनेवाली द्वितीयादि समयोंकी विशिष्ट क्रियाओंके समुदायकी उपचारसे कल्पना कर उन क्रियाओंके समूहसे जायमान घट आदि पदार्थ जबतक बनकर पूर्ण हों उससे पहले पहलेकी घटादिकी क्रिया भी वर्तमानस्वरूप मानी जा सकती है इसरीतिसे जैनसिद्धांतके अनुसार घट आदिके प्रथम समयकी क्रियाको लेकर उसके पूर्ण होने तकका क्रियासमूह द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अवस्थित होनेसे वर्तमानकाल माना जा सकता है ।

परिणाम पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जिस स्वरूपसे उसका होना नहीं बन सकता उसरूपसे उसका होना मान लिया जाता है तथा परिणाम वही माना जा सकता है जहांपर जिसरूपसे जिसका होना संभव हो वहांपर उसरूपसे ही उसका होना माना जाय तथा यह भी बात है कि जो पदार्थ जिस स्वरूपसे हो उसका पुनः उस स्वरूपसे होना नहीं हो सकता जिसतरह अभाव पदार्थ अभावस्वरूपसे है इसलिए फिर उसका अभावस्वरूपसे होना नहीं हो सकता इसरीतिसे सर्वथा एकांतपक्षमें 'जो पदार्थ जिसरूपसे नहीं है उसका उसरूपसे होनेका अभाव' एवं 'जो पदार्थ जिसरूपसे है उसका पुनः उसरूपसे होनेका अभाव' इसप्रकार दोनों तरह जब परिणाम पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता तब परिणामपदार्थकी सिद्धिके लिये अनेकांतपक्षका ही आश्रय करना ठीक है, अनेकांतपक्षके अंदर उपर्युक्त कोई दोष नहीं हो सकता क्योंकि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनेकांतवादमें गुण गुणी परिणाम परिणामी आदिका भेद माना गया है और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अभेद माना गया है इसलिए अनेकांतवादमें जिससमय पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा मानी जायगी उससमय तो गुण गुणी आदिका भेद भी है और जिससमय द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा मानी जायगी उससमय द्रव्यसे भिन्न गुण आदि कोई पदार्थ न होनेसे अभेद भी है। तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अवस्थित भी द्रव्यका परिणाम होता है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनवस्थित भी द्रव्यका परिणाम है क्योंकि द्रव्यस्वरूपसे द्रव्य पदार्थका कभी भी नाश नहीं हो सकता इसलिए द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्य अवस्थित है एवं पर्यायरूपसे प्रतिसमय पर्यायें पलटती रहती हैं इसलिए पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्य अनवस्थित है। इसप्रकार परिणाम पदार्थका विवेचन कर दिया गया अब वार्तिककार क्रिया पदार्थका विवेचन करते हैं—

तथा जो पदार्थ स्वयं अनवस्थित है, क्षणविनाशीक है वह अनवस्थित पदार्थका जनानेवाला नहीं हो सकता। परमतमें क्रियाको क्षणविनाशीक माना गया है इसलिए क्रिया दूसरी क्रियाकी जनानेवाली नहीं हो सकती इसलिए क्रिया दूसरी क्रियाको जनानेवाली है इसलिए वह कालस्वरूप है यह जो ऊपर कहा गया है वह ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

दीपक क्षणिक पदार्थ है और उसका परिस्पंद—प्रकाश आदि भी क्षणिक हैं तथापि दीपक प्रकाश आदिका जनानेवाला है इसलिए जिसप्रकार अनवस्थित भी दीपकसे अनवस्थित परिस्पंद जाना जाता है उसीप्रकार भले ही क्रिया पदार्थ अनवस्थित हो तथापि क्रियासे क्रियाका जानना हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी ठीक नहीं। प्रदीपका परिस्पंद क्षणविनाशीक है यह बात हमें (जैनसिद्धांतकारोंको) स्वीकार नहीं क्योंकि दीपकके प्रकाश आदि कार्योंको अनेक क्षणस्थायी माना है इसरीतिसे जब प्रदीप परिस्पंद अनेक क्षणस्थायी ठहरता है तब अनवस्थित क्रिया दूसरी क्रियाको जनानेवाली है इस बातको सिद्ध करनेमें वह दृष्टांत नहीं हो सकता क्योंकि दार्ष्टांतसे उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न है इसरीतिसे दृष्टांतकी असिद्धिसे क्रिया दूसरी क्रियाको जनानेवाली है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि एक क्रिया दूसरी क्रियाके जनानेमें समर्थ मत हो क्योंकि वह क्षणविनाशीक है और क्षणविनाशीक पदार्थ दूसरे पदार्थको जना नहीं सकता परंतु क्रियाओंका समूह तो अनेक क्षणस्थायी पदार्थ है वह तो दूसरी क्रियाको जना सकता है ? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ क्षणविनाशीक हैं, उनका समूह होना ही बाधित है प्रतिवादी क्रिया पदार्थको क्षणविनाशीक मानता है इसलिए क्रियाओंका समूह नहीं सिद्ध हो सकता अतः क्रियासमूहसे दूसरी क्रियाका जानना बाधित है। यदि यहांपर पुनः यह कहा जाय कि—

कृत परत्वापरत्व माना जाता है। जिसप्रकार अहिंसा सत्य अचौर्य आदि गुणोंके संबंधसे धर्म पर है और अहिंसा आदिसे विपरीत हिंसा आदि दोषोंके संबंधसे अधर्म अपर है। एवं जहांपर कालके निमित्तसे यह छोटा है और यह बडा है ऐसा व्यवहार होता है वहांपर कालकृत परत्व अपरत्व लिया जाता है जिसप्रकार एक पुरुष सौ वर्षकी उम्रका है और एक सोलह वर्षकी उम्रका है उनमें सोलह वर्षके पुरुषकी अपेक्षा सौ वर्षका पुरुष पर है क्योंकि उसके साथ विशेष कालकी पर्यायोंका सम्बन्ध है एवं सौ वर्षके पुरुषकी अपेक्षा सोलह वर्षका पुरुष अपर है क्योंकि उसके साथ सौ वर्षवाले पुरुषकी अपेक्षा अल्पकालके परिमाणका संबंध है। इसरीतिसे क्षेत्रकृत प्रशंसाकृत और कालकृत तीन प्रकारका परत्व अपरत्व दीख पडता है और तीनों ही जगहपर भिन्न भिन्न अर्थ लिया गया है तब सूत्रमें जो परत्वापरत्व पदका उल्लेख किया गया है उसके अर्थका कोई निश्चय नहीं हो सकता? इस विस्तृत शंकाका वार्तिककार समाधान देते हैं—सो ठीक नहीं। यहांपर कालके उपकारका प्रकरण है—कालकृत उपकार अन्य द्रव्योंका क्या हो सकता है? यह बात इस प्रकरणमें बताई गई है इसलिए यहांपर कालकृत परत्वापरत्वका ग्रहण है। जैसे दूर देशमें रहनेवाले कुमारको पर कहना चाहिये और समीप देशमें रहनेवाले वृद्धको अपर कहना चाहिये परंतु कुमार अपर कहा जाता है और वृद्ध पर कहा जाता है यह व्यवहार भी विना कारण नहीं होता इसलिए इस व्यवहारसे कालकृत उपकारका ग्रहण समझना चाहिये। उसीतरह तपस्वी और चांडालोंमें तपस्वी उत्कृष्ट होनेसे पर होना चाहिये और चांडाल अधम होनेसे अपर होना चाहिये इसीप्रकार समीपमें रहनेवाला चांडाल अपर होना चाहिये और दूर देशमें रहनेवाला तपस्वी पर होना चाहिये परंतु चांडाल (वृद्ध) समीपमें रहनेपर भी पर कहा जाता है और दूरदेशमें रहनेवाला भी तपस्वी (कुमार) अपर

दूसरे शब्दका आरंभक नहीं हो सकता क्योंकि जिससमयमें शब्द आत्मस्वरूपका लाभ करता है अर्थात् उत्पन्न होता है उससमय उसका असत्त्व है—विद्यमानता नहीं, इसलिये मौजूद न रहनेके कारण वह उससमय अन्य शब्दका आरंभ नहीं कर सकता तथा जिस क्षणमें उसकी उत्पत्ति हुई है उससे दूसरे क्षणमें भी वह दूसरे शब्दको आरंभ नहीं कर सकता क्योंकि उत्पत्तिके दूसरे ही क्षणमें उसका नाश माना है । तथा परमतमें जिस पदार्थकी उत्पत्ति होनेवाली है उसकी जिस क्षणमें सत्स्वरूप अवस्था समीप है अर्थात् दूसरे क्षणमें जहां सत्स्वरूप परिणति होनेवाली है वह उत्पत्ति क्षण कहा जाता है तथा उत्तर क्षणमें उस पदार्थकी सत्ता मानी जाती है इसलिये वास्तवमें परमतमें उत्पत्तिका व्यवहार बन ही नहीं सकता अर्थात् जैनसिद्धांतानुसार उत्पत्ति क्षणमें भी पदार्थ नियमसे सत्स्वरूप रहता है क्योंकि असत्की उत्पत्ति हो नहीं सकती परंतु परमतमें उसे उत्पत्तिक्षणमें असत्स्वरूप और दूसरे क्षणमें सत्स्वरूप माना है इसलिये उत्पत्तिका व्यवहार ही वहां नहीं हो सकता अतः शब्दकी ही उत्पत्ति भी विवादग्रस्त है एवं जब उत्पत्ति विवादग्रस्त है तब शब्द दूसरे शब्दका आरंभक है यह बात नहीं बन सकती । यदि यह शंका की जाय कि—

क्षणविनाशीक होनेके कारण क्रियावयवोंका समूह न सिद्ध हो परंतु पूर्व विज्ञानसे प्राप्त संस्कारके कारणोंकी आधाररूप बुद्धिके अन्दर समुदायकी कल्पना कर ली जा सकती है इसलिये क्रियाओंका समूहरूप पदार्थ अयथार्थ नहीं माना जा सकता ? सो भी ठीक नहीं । वह बुद्धि भी क्षणिकस्वरूप ही है इसलिये उसके अन्दर क्रियावयवोंके समुदायकी कल्पना नहीं की जा सकती इस रूपसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि क्रियावयवोंका समूह सिद्ध नहीं हो सकता फिर क्रियावयवसमूहरूप जो

एक परिस्पंदात्मक अर्थात् हलन चलनरूप और एक अपरिस्पंदात्मक अर्थात् स्थिररूप। उनमें जो भाव परिस्पंदस्वरूप है वह तो क्रिया है और जो भाव अपरिस्पंदस्वरूप है वह परिणाम है इसप्रकार द्रव्यके दो प्रकारके भाव बतलानेकेलिये सूत्रमें क्रिया पदका पृथक् रूपसे उल्लेख किया गया है। अब वार्तिककार परत्व अपरत्व पर विचार करते हैं—

क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात्परत्वापरत्वानवधारणमिति चेन्न कालोपकारप्रकरणात् ॥ २३ ॥

यह पर है और यह अपर है इसप्रकारकी प्रतीति परत्व अपरत्वसे होती है। वह परत्व अपरत्व क्षेत्रके निमित्तसे भी होता है, प्रशंसासे भी होता है और उसके होनेमें काल भी कारण है। जहांपर आकाशके प्रदेशोंमें अल्पबहुत्व थोडे बहुतकी अपेक्षा की जाती है वहांपर क्षेत्रनिमित्तक परत्व अपरत्व लिया जाता है जिसप्रकार एक ही दिशामें मेरी अपेक्षा एक पुरुष तो गजभरके अंतरसे खडा है और एक पुरुष आधा गजके अंतरसे खडा है। उनमें जो पुरुष मुझसे गजभरके अंतरसे खडा है वह पर है क्योंकि आधागजके अंदर जितने आकाशके प्रदेश हैं उससे गजभरके अंदर अधिक आकाशके प्रदेश हैं इसलिये गजभरके अंतरसे खडे हुए पुरुषकी अपेक्षा आकाशके बहुत प्रदेशोंके रहनेके कारण वह आधा गजके अंतरसे खडे हुए पुरुषकी अपेक्षा पर है एवं आधा गजके अंतरसे जो पुरुष खडा है वह अपर है क्योंकि एक गजके अन्दर जितने आकाशके प्रदेश हैं उससे आधा गजके अंदर थोडे प्रदेश हैं इसलिये एक गजके अंतरसे खडे हुए पुरुषकी अपेक्षा आधा गजके अंतरसे खडा पुरुष अपर है। इस प्रकार यह क्षेत्रनिमित्तक परत्वापरत्व है।

तथा जहांपर प्रशंसाके निमित्तसे पर—उत्कृष्ट और अपर—अनुत्कृष्ट लिया जाता है वहांपर प्रशंसा-

परत्वकी अपेक्षा अपरत्व है और अपरत्वकी अपेक्षा परत्व है इसप्रकार परत्व अपरत्वकी परस्पर अपेक्षा बतलानेकेलिये सूत्रमें परत्वापरत्वका पृथक्‌रूपसे ग्रहण किया गया है। सबसे पहिले सूत्रमें वर्तना शब्दका क्यों ग्रहण किया गया? वार्तिककार इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

वर्तनाग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ॥ ३० ॥

वर्तना परिणाम आदि जितने भी कालकृत उपकार बताए हैं उनमें वर्तना प्रधान है क्योंकि निश्चय कालका ज्ञान वर्तनाके द्वारा ही होता है। परिणाम आदि जो व्यवहारकालके लिंग बताए हैं वे अप्रधान हैं क्योंकि उनके होनेमें वर्तना कारण है। वर्तनाके ही वे विशेष भेद हैं इसरूपसे वर्तनाके प्रधान होनेसे सूत्रकी आदिमें सबसे पहिले वर्तना शब्दका ग्रहण किया गया है ॥ २२ ॥

शंका—शरीर वाणी आदि पुद्गलकृत उपकार है ऐसा ऊपर कहा गया है। परंतु दूसरे दूसरे शास्त्रकार उन्हें जीव मानते हैं यह बात कैसे है? सूत्रकार इस शंकाके समाधानमें शरीर आदिको पुद्गल सिद्ध करनेके लिये पुद्गलका स्वरूप बतलाते हैं—

स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्श रस गंध वर्णवाले पुद्गल द्रव्य हैं। कितने प्रकारका स्पर्श है? कितने प्रकारका रस है? इत्यादि वार्तिककार स्वयं खुलासा रूपसे प्रतिपादन करेंगे।

१—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव और कालकृत उपकारोंका वर्णन कर दिया गया। 'उपयोगो लक्षणं' इत्यादि सूत्रसे जीव आदिका लक्षण भी कह दिया गया। पुद्गलोंका भी 'अजीवकायाः' यह सामान्य लक्षण कह दिया गया। विशेष लक्षण अभीतक नहीं कहा गया इसलिये सूत्रकार पुद्गलका अब विशेष लक्षण कहते हैं स्पर्शेत्यादि। यह उत्थानिका सर्वार्थसिद्धिकी है।

हैं और न व्यवहाररूपसे अर्थात् रत्नोंकी राशिके समान माननेके कारण जिसप्रकार रत्नोंकी राशि पिंडस्वरूप परिणत नहीं हो सकती उसप्रकार पिंडस्वरूप परिणत न होनेसे तो कालाणुओंमें मुख्यरूपसे प्रदेशोंकी कल्पना नहीं हो सकती एवं परमाणुमें जिसप्रकार प्रचयरूप होनेकी शक्ति है उसप्रकार काला-णुओंमें वैसी शक्ति न होनेके कारण उनमें व्यवहारसे भी प्रदेशोंकी कल्पना नहीं हो सकती तथा जब कालद्रव्यमें प्रदेशोंकी किसी प्रकारसे कल्पना नहीं हो सकती तब वह काय नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'प्रदेशप्रचयात्मकत्वं हि कायत्वं' अर्थात् प्रदेशोंका पिंडस्वरूप होना ही कायपना कहा जाता है सो प्रदे-शोंका पिंडस्वरूप होना कालद्रव्यके अंदर हो नहीं सकता इसलिये जिसप्रकार धर्मद्रव्यकी धर्मास्तिकाय और अधर्म आदि द्रव्योंकी अधर्मास्तिकाय आदि संज्ञा हैं उसप्रकार कालद्रव्यकी कालास्तिकाय संज्ञा नहीं हो सकती । तथा कालाणुओंकी लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर शाश्वतरूपसे अवस्थिति मानी है इसलिये उनके विनाशका कोई भी कारण न होनेसे वे नित्य हैं एवं पर्याय दृष्टिसे परानिमित्तक अर्थात् पुद्‌गल आदि द्रव्योंके आधीन उत्पाद विनाश होनेसे वे अनित्य हैं अर्थात् पुद्‌गल आदि द्रव्योंके उत्पाद विनाश होनेमें कारण कालद्रव्य है इसलिये पुद्‌गल आदिके अन्दर होनेवाला उत्पाद विनाश उसके कारणस्वरूप कालमें भी मान लिया जाता है। जिसके अंदर धागा (सूत) प्रवेश करता है ऐसे सुईके छिद्रमें रहनेवाले आकाशके समान यद्यपि कालाणुओंकी मूर्ति परिच्छिन्न है परिमित है अर्थात् आकाशके एक प्रदेशके समान कालाणुके आकार परिमित हैं । इसलिये कालाणुओंको मूर्तिक पदार्थ मानना चाहिये क्योंकि परिमितपनेका होना मूर्तिक पदार्थके अंदर ही संभव हो सकता है तथापि जिसमें रूप आदि गुण पाये जांय वही मूर्तिक पदार्थ माना जाता है। रूप आदिका कालाणुओंके अंदर अभाव है इसलिये

गया इसलिए रसके अभावसे वायुमें स्पर्शके बाद रसका ग्रहण न हो सकनेसे 'स्पर्शके बाद रसका ग्रहण होता है' यह कथन व्यभिचार दोषग्रस्त है ? सो ठीक नहीं । रूप आदिको स्पर्शका अविनाभावी माना है। विना स्पर्शके रूप आदि कभी नहीं रह सकते इसलिए जिसप्रकार घट आदिमें स्पर्शके साथ रूप आदिका सद्भाव है उसीप्रकार वायुमें भी स्पर्शके रहते रूप आदिका सद्भाव नियमसे है अतः वायुमें भी स्पर्शके बाद रसका ग्रहण संभव होनेसे उपर्युक्त व्यभिचार दोष नहीं हो सकता । यदि कदाचित् यहां यह कहा जाय कि—

यदि वायुके अंदर रूप आदि गुणोंका सद्भाव है तो जिसप्रकार स्पर्शका ग्रहण होता है उसप्रकार रूप आदिका क्यों ग्रहण नहीं होता ? सो भी ठीक नहीं । जिसप्रकार नाक इंद्रिय स्थूल (उत्कट) गंधको ही विषय करती है सूक्ष्म गंधको नहीं उसीप्रकार शेष चक्षु आदि इंद्रियां भी स्थूल ही विषयको ग्रहण करती हैं सूक्ष्म विषयोंको नहीं । वायुके अंदर जो रूप आदि विद्यमान हैं वे सूक्ष्म स्वरूप हैं इसलिये इंद्रियोंके द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता ।

रूपात्प्राग्गंधवचनमचाक्षुषत्वात् ॥ ४ ॥

गंधका चक्षु इंद्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये रूपसे पहिले सूत्रमें गंधका पाठ किया गया है अर्थात् जिसप्रकार स्पर्श और रस अचाक्षुष हैं, चक्षु इंद्रियसे नहीं जाने जाते उसीप्रकार गंध भी अचाक्षुष है इसलिये अचाक्षुषोंमें ही गंधका पाठ उपयुक्त होनेसे रूपसे पहिले सूत्रमें गंध शब्दका पाठ रक्खा है ।

अंते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः ॥ ५ ॥

स्थूल होनेसे ही वर्णकी उपलब्धि होती है सूक्ष्मकी नहीं इसलिये सबसे अंतमें सूत्रमें वर्णशब्दका पाठ रक्खा गया है ।

व्यवहार होता है कि उस वृक्षको वह प्राप्त करेगा इसरीतिसे यहांपर प्राप्त हो चुका, प्राप्त हो रहा है और प्राप्त होगा यह तीन प्रकारका व्यवहार होता है उसीप्रकार कालाणुओंको अनुसरण करनेवाले द्रव्य जिससमय वर्तना पर्यायका अनुभव करते हैं उससमय उनके अंदर भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों भेदोंका सद्भाव रहता है अर्थात्–कालाणुओंको अनुसरण करनेवाले द्रव्योंमें जो द्रव्य वर्तना पर्यायका अनुभव कर चुका अर्थात् उसकी एक पर्याय पलट चुकी वहांपर तो भूत कालका व्यवहार होता है। जिससमय वर्तना पर्यायका अनुभव कर रहा है अर्थात् अपनी वर्तमान पर्यायमें मौजूद है उससमय वर्तमान कालका व्यवहार होता है एवं जब वर्तना पर्यायका आगे जाकर अनुभव करेगा अर्थात् उसकी कोई दूसरी पर्याय पलटेगी उससमय भविष्यत्कालका व्यवहार होता है इसरीतिसे जिस कालकी अपेक्षा वर्तना पर्यायका अनुभव होगा उसकालका नियमसे सद्भाव माना जायगा अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके भेदसे व्यवहारकालका तीनप्रकारका होना अबाधित है। विशेषता इतनी है कि परमार्थकालके अंदर भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये भेद गौणरूपसे हैं और व्यवहारकालके अंदर मुख्यरूपसे हैं। भूत आदि कालोंमें परस्पर अपेक्षा किस प्रकार है इस बातको स्वयं वार्तिककार स्पष्ट रूपसे दिखाते हैं—

क्रियास्वरूपपरिणामशील जो द्रव्य कालपरमाणुको प्राप्त होता है वह द्रव्य उस कालमें वर्तमान समयमें रहनेवाली वर्तनाके साथ संबद्ध रहनेके कारण वर्तमान कालस्वरूप कहा जाता है तथा वह द्रव्य जिस कालाणुको प्राप्त करता है वह कालाणु भी संबंधको न उल्लंघ कर अर्थात् द्रव्यके साथ संबद्ध होकर उस द्रव्यको वर्ताता है इसलिये वह कालाणु भी वर्तमानकाल माना जाता है। जिससमय वह द्रव्य कालाणुको

कहे गये हैं किन्तु इनमें प्रत्येकके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंतगुणे परिणमन समझ लेने चाहिये ॥ २३ ॥

पुद्गलद्रव्यके रूप आदि समस्त धर्मोंका निरूपण कर दिया गया अब उन रूप आदिसे जो अवशिष्ट हैं उनके विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च ॥ २४ ॥

शब्दवान् बंधवान् सौक्ष्म्यवान् स्थौल्यवान् संस्थानवान् भेदवान् तमोवान् आतपवान् और उद्योतवान् भी पुद्गल द्रव्य हैं। अर्थात् शब्द आदि भी पुद्गलकी पर्यायें हैं।

शब्दादीनामभिहितानिर्वचनानां परिप्राप्तद्वंद्वानां मतुनाभिसंबंधः ॥ १ ॥

व्युत्पत्तिके द्वारा जिनका अर्थ लब्ध है ऐसे शब्द बंध आदिकी परस्पर अपेक्षा रहनेपर द्वंद्वकर मतु प्रत्ययके साथ संबंधकी योजना करलेनी चाहिये। शब्द आदिकी कर्त्ता कर्म करण और भावसाधन व्युत्पत्ति इसप्रकार है—

शपति—अर्थमाह्वयति—प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्दः। जो अर्थको बुलावे, अर्थकी प्रतीति उत्पन्न करे, अर्थ जिससे जाना जाय वा अर्थका जानना स्वरूप हो वह शब्द है। बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन, बंधनमात्रं वा बंधः। जो बांधे वा जो बंधे, अथवा जिससे बांधा जाय वा जो बंधनस्वरूप हो वह बंध है। लिंगेन आत्मानं सूचयति, सूच्यतेऽसौ, सूच्यतेऽनेन, सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यं। किसी चिह्नसे जो अपनेको जतलावे, वा स्वयं जतलाया हुआ हो अथवा दूसरेसे जतलाया जाय वा जतलाना मात्र हो वह सूक्ष्म कहा जाता है और उस सूक्ष्मका जो स्वरूप वा कर्म है वह सौक्ष्म्य है। स्थूलयते परिबृंहयति, स्थूलयतेऽसौ, स्थूलयतेऽनेन, स्थूलनमात्रं वा स्थूलः, स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यं। जो

१। सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाणभेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ १६॥ द्रव्यसं

काल है उस कालके द्वारा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके अन्दर रहनेवाले जीवोंकी संख्यात असंख्यात और अनंतस्वरूप कालकी गणनाका भेद एवं कर्म, भव और कायकी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टस्वरूप स्थितिका ज्ञान होता है। इसरूपसे परमार्थकाल और व्यवहारकाल दोनोंकी सिद्धि अबाधित है एवं व्यवहारकालके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीनों भेद निरापद हैं। शंका—

क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न तदभावे कालाभिधानलोपप्रसंगात् ॥ २७ ॥

क्रियासे भिन्न काल पदार्थकी उपलब्धि होती नहीं दीख पडती इसलिए क्रियास्वरूप ही काल है क्योंकि संसारमें आवली उच्छ्वास आदि रूपसे जितना भी कालव्यवहार है वह सब क्रियाकृत ही है एक क्रिया दूसरी क्रियासे जानी जाती है एवं जिससमय वह क्रिया अन्य क्रियाके जाननेमें वर्तमान रहती है उससमय वही क्रिया कालके नामसे पुकारी जाती है। तथा संसारमें जो समय नामका कालका भेद माना जाता है वह समय भी परमाणुके परिवर्तनसे जायमान क्रियारूप ही है अर्थात् आगममें यह माना गया है कि अपनी मंदगतिसे जितनी देरमें पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक आकाशके प्रदेशसे दूसरे आकाशके प्रदेशमें जाय उतनी देरका नाम समय है इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि परमाणुके परिवर्तनसे जायमान क्रियास्वरूप ही समय है क्योंकि कालसामान्य और क्रियाका आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध है अर्थात् क्रिया और समयरूप कालका व्यवहार परमाणुरूप अधिकरणके द्वारा होता है— दोनोंके व्यवहारका अधिकरण एक परमाणु है, इसलिए क्रिया ही समय मानना होगा किंतु समयरूप कालके भेदको जतलानेवाला समयसे भी सूक्ष्म कोई अन्य काल नहीं जिससे समयको जनानेवाला वह समयसे भी सूक्ष्म कालका भेद माना जाय। तथा वह समयस्वरूप क्रियाओंका समूह ही आवली कह·

शब्द दो प्रकारका है, एक भाषास्वरूप और एक उससे विपरीतस्वरूप । अर्थात् भाषास्वरूप और अभाषास्वरूपके भेदसे शब्द दो प्रकारका माना है।

भाषात्मक उभयथा, अक्षरीकृतेतरविकल्पात ॥ ३ ॥

अक्षरीकृत और अनक्षरीकृतके भेदसे भाषास्वरूप शब्द दो प्रकारका है। शास्त्रको व्यक्त करनेवाला शब्द अक्षरीकृत कहा जाता है। उस अक्षरीकृत शब्दके संस्कृत प्राकृत आदि भेद हैं और वह आर्य और म्लेच्छोंके व्यवहारका कारण है अर्थात् आर्य और म्लेच्छोंका वचन व्यवहार सब अक्षरीकृत शब्दके आधीन होता है। तथा अनक्षरीकृत अर्थात् अनक्षर स्वरूप शब्द दो इन्द्रिय आदि जीवोंके होता है और अतिशय ज्ञान—केवलज्ञानके स्वरूपके प्रतिपादनका भी कारण है क्योंकि भगवान केवलीकी दिव्यध्वनिको अनक्षरस्वरूप माना है। यह दोनो प्रकारका भाषात्मक शब्द प्रायोगिक है।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् ॥ ४ ॥

अभाषात्मक शब्द प्रयोगनिमित्तक और विस्रसानिमित्तकके भेदसे दो प्रकारका है । जो किसी प्रयोगसे जायमान हो वह प्रयोगनिमित्तक कहा जाता है और जो स्वभावसिद्ध हो वह वैस्रसिक कहा जाता है।

तत्र वैस्रसिको वलाहकादिप्रभवः ॥ ५ ॥ प्रयोगश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात ॥ ६ ॥

मेघ आदिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वैस्रसिक कहा जाता है क्योंकि उसके होनेमें किसीके प्रयोगकी अपेक्षा नहीं रहती। तथा प्रयोगसे जायमान शब्द तत वितत घन और सौषिरके भेदसे चार प्रकारका है। चामके तननेसे जो शब्द हो वह तत कहा जाता है। यह तत जातिका शब्द ढोल नगारे और ढफ आदिसे उत्पन्न होता है। तंत्री (तांति) से होनेवाला शब्द वितत कहा जाता है एवं वीन सुघोष तमूरे आदि वादित्रोंसे इसकी उत्पत्ति है। ताल घंटा आदिके हलावनेसे जो अभिघात–धक्का पहुंचता है उस अभि-

सकता इसलिए 'दंडी' ऐसे नामकी सामर्थ्यसे ही जिसप्रकार वहां दंडके संबंधकी सिद्धि आपसे आप हो जाती है उसीप्रकार समय उच्छ्वास निश्वास मुहूर्त आदि रूढि संज्ञाओंके धारक पदार्थ हैं उनको जो कालके नामसे पुकारा जाता है वह उनका काल नाम कालद्रव्यको विना माने अकस्मात् नहीं हो सकता इसलिए आपसे आप कालद्रव्यकी सिद्धि हो जाती है यदि काल पदार्थ न माना जाय तो समय आदिमें जो कालका व्यवहार होता है उस कालके व्यवहारका ही संसारसे अभाव हो जाय इसरूपसे क्रियास्वरूप ही काल नहीं किंतु क्रियासे भिन्न काल नामका पदार्थ है यह बात सुनिश्चित हो चुकी। तथा यह भी बात है कि—

वर्तमानाभावप्रसंगाच्च ॥ २८ ॥

जो प्रतिवादी क्रियास्वरूप ही काल पदार्थ मानता है उससे भिन्न वर्तनारूप लक्षणके धारक काल पदार्थको स्वीकार नहीं करता उसके मतमें वर्तमानकालका सद्भाव नहीं बन सकता। क्यों वर्तमान कालका सद्भाव नहीं बन सकता? उसका खुलासा इसप्रकार है—

जिससमय पट बन रहा है उससमय पटके जो तंतु प्रक्षिप्त हो चुके वे तो अतिक्रांत अर्थात् बीत चुके और जो तंतु आगे प्रक्षेपण किये जांयगे वे अनागत हैं उन दोनोंके बीचमें भूत और भविष्यत् कालसे संबंध रखनेवाली क्रियाओंसे भिन्न कोई क्रिया नहीं जिसे वर्तमान क्रिया मानी जाय इसलिए वर्तमानमें कोई क्रिया न होनेसे वर्तमानकालका सद्भाव नहीं माना जा सकता क्योंकि क्रियास्वरूप ही काल माना है तथा भूत और भविष्यत् काल वर्तमानकालकी अपेक्षा माने गये हैं। यदि वर्तमानकाल सिद्ध न होगा तो भूत भविष्यत् कालकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकृतमें वर्तमानकाल सिद्ध होता

शब्दस्वरूप जो व्यंग्य पदार्थ है वह अपने स्वरूपसे अवस्थित—मौजूद ध्वनियोंसे व्यक्त किया जाता है कि अनवस्थित ? यदि कहा जायगा कि स्वस्वरूपसे अवस्थित ही ध्वनियोंसे व्यक्त किया जाता है तब वहांपर भी दो प्रकारके विकल्प उठते हैं यथा—जबतक ध्वनिकी निकटता नहीं हुई है उसके पहले ही वह स्वरूपसे अवस्थित हो व्यक्त होता है कि ध्वनियोंकी निकटताके पश्चात् व्यक्त होता है ? तथा जबतक वह ध्वनियोंसे व्यक्त नहीं होता तब तक जो उसकी उपलब्धि नहीं होती उसमें उस शब्दस्वरूप पदार्थकी सूक्ष्मता कारण है अर्थात् वह सूक्ष्म होनेसे उपलब्ध नहीं होता यह बात है अथवा उसकी उपलब्धिका प्रतिबंधक कोई अन्य पदार्थ है। यदि कहा जायगा वह सूक्ष्मतासे उपलब्ध नहीं होता तो जिसप्रकार आकाश सूक्ष्म पदार्थ है और उसकी कभी भी उपलब्धि नहीं होती उसीप्रकार जिसकी व्यक्ति ध्वनियोंके आश्रित है वह शब्दस्वरूप पदार्थ भी सूक्ष्म है इसलिये किसी भी समय उसका ग्रहण न होना चाहिये । यदि कहा जायगा कि वह शब्दस्वरूप पदार्थ है तो सूक्ष्म ही परन्तु ध्वनियोंकी निकटता रहने पर वह स्थूल हो जायगा एवं स्थूल होनेसे उसकी उपलब्धि होगी । सो भी ठीक नहीं। परवादीने ध्वनियोंसे व्यंग्य उस शब्दरूप पदार्थका जो ऊपर स्वरूप वर्णन किया है वहांपर उसे नित्य माना है। जो नित्य पदार्थ होता है उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं उपस्थित हो सकता । यदि ध्वनियोंकी निकटता रहने पर सूक्ष्मस्वरूप शब्दमें स्थूलतारूप विकारकी उत्पत्ति मानी जायगी तब उसका जो नित्यपना माना गया है वह न बन सकेगा क्योंकि उसमें स्थूलतारूप विकार नहीं हो सकता। तथा ध्वनिके द्वारा होनेवाली व्यक्तिसे पहले शब्दकी जो उपलब्धि नहीं होती उसका प्रतिबंध करनेवाला कोई अन्य पदार्थ है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिसप्रकार घटकी उपलब्धिमें अंधकार प्रतिबंधक है अर्थात् अंधकारके रहते घटका ज्ञान न होनेके कारण जिसप्रकार अंधकार घटके ज्ञानका प्रतिबंधक माना जाता है उसप्रकार शब्दकी उपलब्धिका प्रतिबंधक कोई भी पदार्थ नहीं। यदि यहांपर अंधकार पदार्थको न माननेवाले वादीका कहना यह हो कि—

अर्थात् जैनसिद्धांतके अनुसार उत्पत्ति क्षणसे लेकर कार्यकी समाप्ति पर्यंत क्रियासमूहको वर्तमानकाल कहा जा सकता है, क्षणिकवादी वा अन्यवादीके मतानुसार नहीं।

यदि कदाचित् यही कहा जाय कि क्रियासे भिन्न कालकी उपलब्धि नहीं हो सकती इसलिए कालका अभाव ही है—काल द्रव्य कोई पदार्थ नहीं ? तब वहांपर यह समाधान है कि क्रिया और क्रियासमूहका भी सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता उनका भी अभाव है क्योंकि कर्ता आदि कारकोंकी प्रवृत्ति-विशेषको क्रिया माना गया है। वह प्रवृत्ति कारकोंसे भिन्न नहीं जान पडती क्योंकि जिसप्रकार सर्पकी कुटिलता सर्पका निजस्वरूप है, सर्पसे भिन्न पदार्थ नहीं उसीप्रकार क्रिया भी कारकोंका निजस्वरूप है कारकोंसे भिन्न पदार्थ नहीं तथा क्रिया—अवयवोंसे उनका समूह भी जुदा नहीं दीख पडता किंतु वह क्रिया अवयवस्वरूप ही है इसलिए यदि कालको क्रियास्वरूप बताकर कालद्रव्यका निषेध किया जायगा तो क्रिया और क्रिया समूह भी कारकोंसे भिन्न नहीं होनेसे अथवा कारकस्वरूप ही होनेसे उन दोनोंका भी अभाव मानना पडेगा। और भी यह बात है कि—

यह जो ऊपर कहा गया था कि क्रिया दूसरी क्रियाको जनानेवाली है इसलिए वह कालस्वरूप है यह भी बात क्रियाओंके क्षणविनाशीक होनेके कारण नहीं बन सकती क्योंकि स्वयं ठहरनेवाले प्रस्थ (सेर) आदि जितने भी परिमाणविशेष हैं वे ही कुछ काल अवस्थित रहनेवाले चावल आदिके परिमाणको जनानेवाले हो सकते हैं किंतु जो पदार्थ अवस्थित नहीं है उसके परिमाणके जनानेवाले नहीं हो सकते। क्रिया पदार्थ चावल आदिके समान अवस्थित नहीं है किंतु जो क्षण क्रियाकी उत्पत्तिके बाद उसकी स्थितिका माना है उस स्थिति क्षणमें ही उसका नाश भी प्रतिवादीने स्वीकार किया है।

जिस ध्वनिको शब्दस्वरूपकी व्यक्त करनेवाली मानी है वह ध्वनि स्फोट (शब्दस्वरूप) का उपकार करती है अथवा कानका उपकार करती है किंवा स्फोट और कान दोनोंका उपकार करती है ? यदि कहा जायगा स्फोटका उपकार करती है सो तो ठीक नहीं क्योंकि स्फोटको नित्य पदार्थ माना गया है, जो नित्य होता है उसके अंदर किसी प्रकारका विकार हो नहीं सकता एवं जब विकार उसके अंदर नहीं हो सकता तब उसे किसीके उपकारकी भी आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये जिस प्रकार जल सींचनेसे पृथ्वीकी गंध विशेष रूपसे महक निकलती है अतः जलका सींचा जाना पृथिवीके गंधकी अभिव्यक्तिमें उपकारक माना जाता है उसप्रकार नित्य होनेसे स्फोटके अंदर उपकारकी संभावना न रहनेसे ध्वनिके द्वारा स्फोटका उपकार नहीं हो सकता । तथा यह भी बात है कि स्फोटवादियोंने ध्वनियोंके द्वारा अभिव्यंग्य स्फोट पदार्थको अमूर्तिक भी माना है, अमूर्तिक पदार्थमें किसी प्रकारका विकार हो नहीं सकता क्योंकि अमूर्तिक आकाशके अंदर किसी प्रकारका विकार दीख नहीं पडता इस रीतिसे अमूर्तिक स्फोटको जब किसीके उपकारका कोई फल नहीं तब उसका उपकार करनेवाली ध्वनियां हैं यह बात अयुक्त है । यदि कहा जायगा कि ध्वनिसे कानका उपकार होता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार नेत्रमें धुंध आदि विकारोंके हो जाने पर अंजन द्वारा उनका नाश होने पर जिस प्रकार अंजन नेत्रका उपकार करनेवाला दीख पड़ता है उस प्रकार जिसकी सुननेकी शक्ति नष्ट हो गई है अर्थात् जो बधिर है उसके कानोंमें ध्वनिके द्वारा किया गया कुछ भी उपकार नहीं दीख पडता इस रीतिसे धुंध आदि विकारोंको काट कर और देखनेकी शक्ति प्रकट कर गुणकारी होनेके कारण जिसप्रकार अंजन नेत्रका उपकार करता है उस प्रकार बधिरके कानमें विकारको नष्ट कर किसी दूसरे गुणको उत्पन्न करनेकी शक्ति ध्वनिके अंदर नहीं दीख पडती इसलिये ध्वनि कानका उपकार नहीं कर सकती । यदि यहांपर प्रतिवादी यह कहै कि—

ध्वनि श्रोत्र इंद्रियका उपकार करती है अर्थात् पदार्थोंके सुननेमें जो कुछ कान इंद्रियके अंदर

जिसप्रकार वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों प्रकारके शब्दोंको क्षणविनाशीक माना है उनका समूहस्वरूप पद और वाक्य स्वीकार किया गया है इसलिये जिसप्रकार शब्दोंका समूहस्वरूप पद और पदोंका समूहस्वरूप वाक्य माना जाता है उसीप्रकार भले ही क्रिया क्षणिक हो तथापि क्रियावयवोंका समूह हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी ठीक नहीं । यदि वर्णात्मक वा ध्वन्यात्मक शब्दोंको हम सर्वथा क्षणविनाशीक मानें तब तो यह कहा जा सकता है कि जिसप्रकार क्षणिक शब्दोंका समूह पद और वाक्यस्वरूप माना जाता है उसप्रकार क्षणिक होनेपर भी क्रियावयवोंका समूह हो सकता है परंतु वर्ण और ध्वनि दोनों प्रकारके शब्दोंको क्षणविनाशीक नहीं माना गया क्योंकि यदि उन्हें क्षणविनाशीक माना जायगा तो जिस देशके अंदर वर्णात्मक वा ध्वन्यात्मक शब्दकी उत्पत्ति हुई है वहींपर एक ही क्षणमें वह नष्ट हो जाना चाहिये परंतु देखा जाता है कि दूर देशमें स्थित पुरुषके कानतक वह पहुंचता है जिसका कि वहांतक पहुंचनारूप कार्य अनेक क्षणसाध्य है अतः शब्द क्षणिक नहीं माना जा सकता इसरूपसे जब शब्द क्षणिक नहीं ठहरता तब शब्दरूप दृष्टांत असिद्ध होनेसे वह क्षणविनाशीक क्रियाओंका समूह सिद्ध करनेवाला नहीं हो सकता । यदि यहांपर यह समाधान दिया जाय कि—

शब्द तो क्षणविनाशीक ही है किंतु एक शब्दको दूसरे शब्दका आरंभक माना गया है इसलिये जो शब्द नष्ट होता जाता है वह दूसरे दूसरे शब्दोंको आरंभ करके ही नष्ट होता है इसरीतिसे बराबर शब्दोंका आरंभ होनेसे दूर देशमें रहनेवाले पुरुषके कानतक शब्द पहुंच सकता है उसको स्थायी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो भी अयुक्त है । क्योंकि जो पदार्थ क्षणविनाशीक है वह किसीका आरंभ करनेवाला नहीं हो सकता । प्रतिवादी शब्दको क्षणविनाशीक मानता है इसलिये एक शब्द

वाक्यस्फोटः—अर्थात् जो वर्णोंसे व्यक्त किया जाय उसका नाम स्फोट है। वा 'स्फुटत्यर्थो यस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित हो—खुलासारूपसे जान पडे उसका नाम स्फोट है, इस व्युत्पत्तिके बलसे शब्द स्वरूप स्फोट यौगिक भी है। इस स्फोटका लक्षण स्फुटत्व है अर्थात् स्फुटत्यभिव्यक्ती भवत्यर्थोऽस्मात् अनेन वा जिससे वा जिसके द्वारा अर्थ अभिव्यक्त हो वह स्फोट है, इस व्युत्पत्तिसे पदार्थोंका प्रकाशकपना ही स्फोटका लक्षण है। यहांपर प्रकाशका अर्थ ज्ञान है इसलिये जिसके अंदर पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति हो वह स्फोट है यह स्फोट शब्दका सार अर्थ है। जहां पर स्फोटसे वर्णोंके समूहका ज्ञान हो वहां वर्णस्फोट समझ लेना चाहिये। जहांपर पदोंका ज्ञान हो वहां पदस्फोट समझ लेना चाहिये इसी-प्रकार वाक्यस्फोट आदिमें अर्थका निर्णय समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस स्फोटसे वाक्योंका ज्ञान हो वह वाक्यस्फोट है। जहां पर अखंड अर्थात्—अवयवोंकी कल्पनारहित पदोंका ज्ञान हो वह अखंड पदस्फोट है। जहांपर स्फोटसे अखंड वाक्योंका ज्ञान हो वहां अखंड वाक्यस्फोट है। जिस स्फोटसे वर्णोंकी जाति जान पडे वह वर्णजातिस्फोट है। जिससे पदोंकी जाति जान पड़े वह पदजातिस्फोट है एवं जिस स्फोटसे वाक्योंकी जाति जान पडे वह वाक्यजातिस्फोट है। इन वर्णस्फोट आदि आठों प्रकारके स्फोटोंमें वाक्य स्फोट ही वास्तविक है और सब अवास्तविक हैं अर्थात् वाक्यस्फोटके सहायक मात्र हैं ऐसा वैयाकरणोंका सिद्धांत है। स्फोट पदार्थ क्यों स्वीकार करना चाहिये, इस बातकी सिद्धिमें स्फोटवादी वैयाकरण यह युक्ति देते हैं—

वर्ण देखते देखते विनष्ट होनेवाले हैं इसलिये एक क्षण भी स्थित न रहनेके कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह बात युक्तियुक्त है। इस रूपसे पदोंका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता एवं पदोंके प्रत्यक्ष न होनेपर पदार्थोंका स्मरण होना असंभव है इसलिये उन पदार्थोंकी प्रतीतिके लिये नित्यस्वरूप एक स्फोट पदार्थ स्वीकार करना होगा। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

काल पदार्थ माना है वह अयुक्त है परंतु जिसके मतमें अर्थात् भगवान अर्हतके मतमें द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा बुद्धि नित्य भी है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनित्य भी है उसके मतमें घट आदि वस्तुके अंदर अथवा बुद्धिके भी अंदर शक्ति और व्यक्तिरूपसे रहनेवाला (अर्थात् पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा घट आदि वस्तुमें वा बुद्धिमें क्रियावयवोंका समूह शक्तिरूपसे रहता है क्योंकि पर्यायार्थिकनयसे प्रतिक्षण क्रियाओंका नाश होनेके कारण उनका समूह अवस्थित नहीं रह सकता किंतु क्रियावयवोंके समूहकी शक्ति विद्यमान है तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह व्यक्तिरूपसे रहता है) एवं काल वर्तनाके कारण काल नामका धारक तथा परिच्छिन्न—सूर्यकी गति आदि कारणोंसे जाना गया, ऐसा जो क्रियावयव-समूह है वह अन्यका परिच्छेद अर्थात् सूर्यकी गति आदि पदार्थोंका जनानेवाला है इसरूपसे जैन-सिद्धांतके अनुसार सूर्यकी गति आदिके आधीन होनेवाले घंटा घडी पल दिन रात्रि आदि व्यवहार-कालकी सिद्धि निरापद है । व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है इसलिए व्यवहारकालकी सिद्धि होनेसे निश्चयकालकी सिद्धि सुतरां सिद्ध है क्योंकि पर्यायीके विना पर्याय ठहर नहीं सकती यह बात ऊपर विस्तारसे कह दी जा चुकी है । इसरूपसे व्यवहार और निश्चय दोनों कालोंकी सिद्धि निर्बाध है । शंका—वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वेत्यादि सूत्रमें 'परत्वापरत्व' शब्दका पृथक् रूपसे ग्रहण क्यों किया गया ? वर्तनापरिणाम आदिके समान परत्वापरत्वको भी एक ही समासांत पदके अंदर ग्रहण करना योग्य था इसलिए 'वर्तमानपरिणामक्रियापरत्वापरत्वानि कालस्य' ऐसा ही सूत्र रखना ठीक है ? वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं—

परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणं परस्परापेक्षत्वात् ॥ २९ ॥

होसकती अतः स्फोटकी अभिव्यक्तिमें ध्वनियोंको कारण मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—क्षणिक भी ध्वनि स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कारण हो सकती हैं कोई दोष नहीं तो उसका समाधान यह है कि जिसप्रकार क्षणिक भी ध्वनियोंको स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कारण माना जाता है उस प्रकार पदार्थोंकी प्रतीतिमें भी कारण मान लेना चाहिये, पदार्थोंकी प्रतीतिमें कारण माननेमें क्या द्वेष है? यदि कहा जायगा कि पदार्थोंकी प्रतीतिमें कारण माननेमें भी कोई दोष नहीं तब फिर अन्तर्गडु स्फोटकी पदार्थोंको जाननेके लिये कल्पना कर रक्खी है वह निरर्थक है अर्थात् यदि क्षणिक भी ध्वनि पदार्थ-प्रतीतिमें कारण मान ली जायगी तो फिर पदार्थ प्रतीतिकेलिये जो स्फोटको कारण माना गया है वह व्यर्थ है इस रीतिसे प्रतिवादीने जो ऊपर ध्वनिका स्वरूप प्रतिपादन किया है एवं पदार्थोंके ज्ञानकेलिये स्फोटकी कल्पना कर रक्खी है वह सब कल्पित एवं निरर्थक है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

प्रदीपवदिति चेन्न तस्यासिद्धत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थात् उत्पत्तिके वाद ही नष्ट होनेवाला क्षणिक भी दीपक जिसप्रकार पदार्थोंको प्रकाशित करता है उसप्रकार क्षणिक भी ध्वनि स्फोटकी अभिव्यक्ति कर सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। उत्पत्तिके बाद ही दीपकको नष्ट होनेवाला नहीं माना गया क्योंकि जब दीपकका आत्मलाभ (उत्पत्ति) हो चुकता है उसके बाद उसका प्रकाश दूसरे दूसरे देशोंमें फैलता है एवं दूर देशमें रहनेवाले घट आदिका प्रकाशन करता है यह बात स्पष्टरूपसे दीख पड़ती है। यदि वह उत्पत्तिके बाद ही विनष्ट हो जाय तो न तो उसकी उत्पत्तिके बाद दूसरे दूसरे देशोंमें प्रकाश फैल सके और न उसके द्वारा दूर देशमें स्थित घट आदिका प्रत्यक्षदर्शन हो सके इस रीतिसे दीपकका क्षणिकपना न सिद्ध हो सकनेके कारण दीपकरूप दृष्टांत असिद्ध है इसलिये 'क्षणिक भी ध्वनि स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कारण है' इस बातको वह नहीं सिद्ध कर सकता। यदि फिर भी यह कहा जाय कि—

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् ॥ १ ॥

स्पर्श रस गंध आदि जितने भी इंद्रियोंके विषय कहे गये हैं उनमें स्पर्शका बल दीख पडता है अर्थात् रस आदि अन्य विषयोंको स्पर्शकी सहायता लेनी पडती है । तथा भिडकर पदार्थोंका ज्ञान करानेवाली जितनी भी इंद्रियां हैं वे जिससमय पदार्थोंका ज्ञान करातीं हैं उससमय सबसे पहिले स्पर्शकी ही व्यक्ति होती है एवं स्पर्शके ग्रहण करनेमें समस्त संसारी जीवोंकी योग्यता है, एकेंद्रियको लेकर पंचेंद्रिय पर्यंत समस्त जीव स्पर्शका ग्रहण कर सकते हैं इसलिए स्पर्शरसगंधेत्यादि सूत्रमें सबसे पहिले स्पर्शका ग्रहण किया गया है। शंका—

रसप्रसंग इति चेन्न स्पर्शे सति तद्भावात् ॥ २ ॥

यदि विषयबलके देखनेसे सबसे पहिले सूत्रमें स्पर्शका पाठ रक्खा है तो विषयका बल तो रसके अंदर भी दीख पडता है क्योंकि स्पर्शजन्य सुखमें उत्कंठा न रहनेपर भी रसके लिये प्रयत्न होता दीख पडता है इसलिए सबसे पहिले सूत्रमें रसका ही पाठ रखना युक्त है ? सो ठीक नहीं। स्पर्शजन्य सुखमें उत्कंठा न रहनेपर जहांपर रसके लिये व्यापार होता दीख पडता है वहांपर भी स्पर्शके रहते ही रसका व्यापार दीख पडता है इसलिए सबसे पहिले सूत्रमें स्पर्शका ही ग्रहण युक्त है । तथा स्पर्शके ग्रहणके बाद रसका ग्रहण होता है इसलिए स्पर्शके बाद ही सूत्रमें रसका ग्रहण किया गया है । यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

वायौ तदभावादव्यभिचार इति चेन्न तत्राप्यभ्युपगमात् ॥ ३ ॥

वायु केवल स्पर्शवान पदार्थ माना गया है। सिवाय स्पर्शके उसमें रस आदि कोई भी नहीं माना

उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती इस रूपसे अभिव्यंजक और अभिव्यंग्यके वैधर्मसे भी स्फोट पदार्थ ध्वनिसे अभिव्यंग्य नहीं माना जा सकता। और भी यह बात है कि—

ध्वनिसे अभिव्यक्त होनेवाला स्फोट पदार्थ ध्वनिसे भिन्न है कि अभिन्न है? यदि कहा जायगा कि अभिन्न है तब वह ध्वनिस्वरूप ही होगया इसलिये स्फोटके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं तथा जहां पर अभिव्यंजक और अभिव्यंग्यमें परस्पर भेद रहता है वहीं पर अभिव्यंग्यपना माना जा सकता है जब अभिव्यंजकरूप ध्वनिसे अभिव्यंग्यरूप स्फोट पदार्थ अभिन्न है तब वह व्यंग्य नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जायगा कि वह ध्वनिसे भिन्न है तब उसकी उपलब्धि कानसे नहीं हो सकती क्योंकि शब्दकी ही उपलब्धि कानके द्वारा हो सकती है, जब स्फोटको ध्वनिरूप शब्दसे भिन्न माना जायगा तब कानके द्वारा वह नहीं सुना जा सकता। तथा और भी यह बात है कि—

यदि स्फोटको ध्वनिसे व्यंग्य माना जायगा तो जिसप्रकार विज्ञानसे व्यक्त होनेवाले व्यंग्यस्वरूप घट आदि पदार्थ अनित्य हैं उसीप्रकार स्फोटको भी व्यंग्य होनेसे अनित्य माना जायगा। यहां पर यह शंका न करना चाहिये कि विज्ञानके द्वारा व्यंग्य तो आकाश भी है। यदि सभी व्यंग्य अनित्य माने जांयगे तो आकाश भी अनित्य माना जायगा क्योंकि वह मूर्तिमानसे व्यंग्य होता है ऐसा विशेष्य वचन है। दूसरी बात यह भी है कि—जो जो व्यंग्य होता है वह वह कार्य होता है जैसे घट आदि। परंतु स्फोटको कार्य न मानकर नित्य स्वीकार किया गया है इसलिये भी वह स्फोट व्यंग्य सिद्ध नहीं हो सक्ता।

महदादिविदिति चेत्साध्यसमत्वात् ॥ ९ ॥

सांख्य सिद्धान्तमें उत्पत्ति और विनाश किसी पदार्थका नहीं माना है किन्तु उत्पत्तिकी जगह अभिव्यक्ति मानी है और नाशकी जगह अपने अपने कारणोंमें लीनता मानी है अतएव महान् अहंकार आदि जो भी सांख्य सिद्धांतकारोंने तत्त्व माने हैं उनकी प्रकृति आदिसे अभिव्यक्ति स्वीकार

नित्ययोगे मतुर्विधानं ॥ ६ ॥

स्पर्शश्च रसश्च गंधश्च वर्णश्च स्पर्शरसगंधवर्णास्ते येषां संति ते स्पर्शरसगंधवर्णवंतः, यहांपर जो व्याकरण शास्त्रके अनुसार मतुप्रत्ययका विधान किया गया है वह नित्ययोगमें किया गया है क्योंकि 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः' अर्थात् न्यग्रोध जातिके वृक्ष क्षीरवाले हैं यहांपर क्षीर शब्दसे इन् प्रत्ययका विधान जिसप्रकार नित्ययोगमें है अर्थात् न्यग्रोधजातिके वृक्ष कभी भी क्षीररहित नहीं हो सकते, यह वहां इन् प्रत्ययका अर्थ सूचित करता है उसीप्रकार अनादिपारिणामिक स्पर्श आदि गुणोंका भी पुद्गलके साथ नित्यसंबंध है. स्पर्श आदिके विना कभी पुद्गलद्रव्य नहीं रह सकता, इसलिये 'स्पर्शरसगंधवर्णवंतः' यहांपर भी मतुप्रत्ययका विधान नित्ययोग अर्थमें है। यद्यपि स्पर्श आदिकी अनंती पर्यायोंके होनेसे अनंते भेद हो सकते हैं तथापि मूल भेदोंकी प्रसिद्धिकेलिये यहांपर उनके मूलभेदोंका उल्लेख किया जाता हैं।

मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णास्निग्धरूक्षस्पर्शभेदाः ॥ ७ ॥

कोमल १ कठोर २ भारी ३ हलका ४ गरम ५ ठंडा ६ चिकना ७ रूखा ८ ये आठ स्पर्शके मूल भेद हैं।

तिक्तकटुकाम्लमधुरकषाया रसप्रकाराः ॥ ८ ॥

तीखा (चरपरा) १ कड़वा २ आमला ३ मीठा ४ और कषैला ये पांच रसके मूलभेद हैं।

गंधः सुरभिरसुरभिश्च ॥ ९ ॥

सुगंध और दुर्गंध ये दो गंधके मूलभेद हैं।

वर्णाः पंचधा नीलपीतशुक्लकृष्णलोहितभेदात ॥ १० ॥

नीला पीला सफेद काला और लाल ये पांच भेद वर्णके हैं। इसप्रकार ये स्पर्श आदिके मूलभेद

है अतः भगवान जिनेन्द्रका शासन ही निर्दोष है। इसप्रकार शब्दस्वरूप पुद्गलद्रव्यकी पर्याय पर विचार किया जा चुका। अब बंध नामक पुद्गलकी पर्याय पर विचार किया जाता है—

बंधोऽपि द्वेधा विस्रसाप्रयोगभेदात् ॥ १० ॥

बंधकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है एक तो विस्रसा अर्थात् स्वभावतः और एक प्रयोगसे। जहां पर स्वभावतः बंध होता है वहां पर वैस्रसिक बंध कहा जाता है और जहांपर किसी प्रयोगसे जायमान रहता है वहांपर प्रायोगिक कहा जाता है इस रूपसे वैस्रसिक और प्रायोगिकके भेदसे बंधके दो भेद हैं।

आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् ॥ ११ ॥

आदिमान और अनादिमानके भेदसे वैस्रसिक बंध दो प्रकारका है। स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण विजुली उल्का मेघ अग्नि और इन्द्रधनुष आदिके अंदर जो पुद्गलोंका संयोगरूप बंध है वह सब आदिमान बंध है क्योंकि वह पहिले नहीं था—स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे पीछेसे उत्पन्न हुआ है। तथा अनादि वैस्रसिक बंध धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायमें प्रत्येकके तीन तीन भेद होनेसे नव प्रकारका है। वह इसप्रकारका है—

धर्मास्तिकायबंध, धर्मास्तिकायदेशबंध, धर्मास्तिकायप्रदेशबंध, अधर्मास्तिकायबंध, अधर्मास्तिकायदेशबंध, अधर्मास्तिकायप्रदेशबंध, आकाशास्तिकायबंध, आकाशास्तिकायदेशबंध, आकाशास्तिकायप्रदेशबंध। धर्मास्तिकायबंधसे समस्त धर्मास्तिकायके साथ बंध लेना चाहिये। समस्तका आधा देश कहा जाता है और देशका आधा प्रदेश कहा जाता है इसलिये धर्मास्तिकायदेशबंधसे आधे धर्मास्तिकायके साथ बंध एवं धर्मास्तिकायप्रदेशबंधसे उससे भी आधे धर्मास्तिकायके साथ बंध समझ लेना चाहिये। इसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके अंदर व्यवस्था है इन सबका बंध अनादि है क्योंकि वह कब हुआ यह कहा नहीं जा सकता।

बढावे अथवा स्वयं बढे अथवा दूसरेके द्वारा बढाया जाय वा वृद्धिस्वरूप हो वह स्थूल कहा जाता है और उस स्थूलका स्वरूप वा कार्य स्थौल्य है। संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति संस्थितिर्वा संस्थानं, जो ठहरे वा जिसकरिके ठहरा जाय वा जो स्थितिस्वरूप हो वह संस्थान है। भिनत्ति, भिद्यते, भेदमात्रं वा भेदः जो भेद करै अथवा जो भेदा जाय अथवा जो भेदस्वरूप हो वह भेद है। 'पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात्ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्रं वा तमः' अर्थात् पूर्वजन्ममें उपार्जन किये गये अशुभ कर्मके उदयसे जो आत्माको अज्ञानरूप करे वा जिसके द्वारा आत्मा अज्ञानस्वरूप कीजाय अथवा जो अज्ञानस्वरूप हो वह तम है। पृथिव्यादिघनपरिणाम्युपश्लेषात् देहादिप्रकाशावरणतुल्याकारेण छिद्यते छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया, पृथिवी आदि सघन द्रव्योंके संबंधसे देह आदि पदार्थोंसे होनेवाले प्रकाशावरणके समान अर्थात् जिस प्रकार देह आदि पदार्थ प्रकाशका आवरण करते हैं उसी प्रकार जो आच्छादित हो वा जो अपनेको आच्छादन करे वह छाया है। असद्वेद्योदयात् आतपत्यात्मानं, आतप्यतेऽसौ, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतपः, असाता वेदनीय कर्मके उदयसे जो अपनेको तपावे वा जो तपाया जाय अथवा जिसके द्वारा ताप हो वा जो तापस्वरूप हो वह आतप है। निरावरणमुद्योतयति, उद्योत्यतेऽसौ, उद्योत्यतेऽनेन उद्योतनमात्रं वा उद्योतः, अर्थात् निरावरणरूपसे जो प्रकाश करै अथवा जो प्रकाशित हो वा जिसके द्वारा प्रकाश किया जाय वा जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो वह उद्योत है। शब्दश्च बंधश्च सौक्ष्म्यं च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योताः, ते येषां संति ते शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च। यह शब्दबंधेत्यादि सूत्रका विग्रह है।

शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात् ॥ २ ॥

---

१ स्थितिरूप अर्थका कहनेवाला होनेसे स्था धातु अकर्मक है इसलिये कर्त्ता करण और भाव लकारोंमें हो उसकी व्युत्पत्ति दिखाई गई है।

गये प्रयत्नका नाम विधि है उस विधिके विपर्यय अर्थमें विस्रसा शब्द नियत है अर्थात् पुरुषकृत प्रयत्नसे कार्य्य न हो, स्वभावसिद्ध कार्य हो वहां विस्रसा शब्दका प्रयोग किया जाता है। जो स्वभावतः होनेवाला हो वह वैस्रसिक बंध है।

प्रयोगः पुरुषकायवाङ्मनः संयोगलक्षणः॥ १२ ॥

पुरुषके शरीर वचन मनः संयोगका नाम प्रयोग है। उस प्रयोगसे प्रयोजन रखनेवाला वा उस प्रयोगसे जायमान बंध प्रायोगिक बंध कहा जाता है। वह प्रायोगिक बंध दो प्रकारका है—एक अजीवविषय अर्थात् अजीवसे संबंध रखनेवाला और दूसरा जीवाजीवविषय अर्थात् जीव और अजीव दोनोंसे संबंध रखनेवाला। उनमें काष्ठ आदिके ऊपर लाख आदिका संबंध होना अजीवसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रायोगिक बंध है। जीवके साथ कर्म और नोकर्मका बंध होना जीवाजीवविषयिक बंध कहा जाता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके भेदसे कर्मबंध आठ प्रकारका है। कर्मबंधका वर्णन आगे अर्थात् आठवें अध्यायमें विस्तारसे किया गया है। तथा औदारिक आदि शरीरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला नोकर्म बंध कहलाता है। औदारिक वैक्रियिक आहारकरूप आहारवर्गणा भाषावर्गणा तैजस और मनोवर्गणा ये सब नोकर्म कहलाते हैं। इसप्रकार अजीवविषय और जीवाजीवविषय इसप्रकार दोप्रकारका तो प्रायोगिक बंध यह है तथा इसी प्रायोगिका बंधके आलपन १ आलेपन २ संश्लेष ३ शरीर ४ और शरीरी ५ ये भी पांच भेद हैं। रथ और गाडी आदिका लोहेकी सांकल वा सन (जूट) आदिकी बनी हुई (वरत्रा—रज्जुविशेष) मोटी मजबूत रस्सीसे खीचकर बांध देना आलपन बंध कहा जाता है। यद्यपि लपि धातुका अर्थ आलाप करना है तथापि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं और जहां जैसा करना होता है वहां उस अर्थका संघटन कर लिया जाता है व्याकरणके इस सिद्धान्तके अनुसार यहांपर लपि धातुका अर्थ खीचना ही लिया गया है। भीत और महल आदिका

घातसे जायमान शब्द घन कहा जाता है एवं वांसुरी और शंख आदिसे जायमान शब्द सौषिर कहा जाता है।

जिस शब्दका ऊपर उल्लेख किया गया है वह शब्द आकाशका गुण है ऐसा किसी सिद्धांतकारका सिद्धान्त है अर्थात् "शब्दगुणकमाकाशं" जिसका शब्द नामका गुण हो वह आकाश पदार्थ है, इस-प्रकार आकाशका लक्षण करते समय नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकारोंने शब्दको आकाशका गुण माना है। परन्तु वह ठीक नहीं। शब्द आकाशका गुण नहीं हो सकता इस बातको पहले विस्तारसे सिद्ध कर चुके हैं। दूसरे लोगोंका सिद्धांत है कि

ध्वनि हैं वे क्षणविनाशीक हैं, उनकी क्रमसे उत्पत्ति होती है, अपने स्वरूपका प्रतिपादन करदेने मात्रसें उनकी शक्ति उपक्षीण हो जाती है इसलिये वे दूसरे पदार्थोंके ग्रहण करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकते। यदि माना जायगा कि वे ध्वनि दूसरे पदार्थोंके ग्रहण करनेमें समर्थ हैं तो जिस-प्रकार पदोंसे पदार्थोंकी प्रतीति होती है उसीप्रकार हर एक वर्णसे वर्णके अर्थकी भी प्रतीति होनी चाहिये क्योंकि जिसप्रकार पदोंसे भिन्न पदार्थ दूसरा अर्थ है उसप्रकार वर्णसे भिन्न वर्णार्थ भी दूसरा अर्थ है। तब एक वर्णके उच्चारण करने मात्रसे अर्थकी प्रतीति हो जायगी उसी अर्थकी प्रतीतिके लिये फिर दूसरे वर्णोंका उच्चारण करना व्यर्थ है। तथा जिनकी क्रमसे उत्पत्ति होती है उनका सहभाव—एकसाथ रहनारूप समूह भी सिद्ध नहीं हो सकता। परवादी ध्वनियोंको क्रमसे उत्पन्न होनेवाली मानता है इसलिये उनका एकसाथ होनारूप समूह नहीं सिद्ध हो सकता, जिसे अर्थके साथ संयोजित किया जाय। इसलिये उन वर्ण पद और वाक्योंसे अर्थके प्रतिपादन करनेमें समर्थ, अमूर्तिक नित्य अतीन्द्रिय निरवयव और नैष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित शब्दस्वरूपको ध्वनियोंसे अभिव्यंग्य पदार्थ मानना चाहिये सो ठीक नहीं। शब्द स्वरूप पदार्थको व्यंग्य और ध्वनियोंको जो व्यंजक माना है वह व्यंग्यव्यंजकभाव ही यहां नहीं बन सकता। खुलासा इसप्रकार है—

प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होजाना है वह वैक्रियिक तैजस शरीर नोकर्मबंध नामका दूसरा भेद है। वैक्रियिक और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक हो जाना है वह वैक्रियिक कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका तीसरा भेद है एवं वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होजाना है वह वैक्रियिक तैजस कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका चौथा भेद है । इस प्रकार ये चार भेद वैक्रियिक शरीर नोकर्मबंधके हैं । तथा—

आहारक आहारकशरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होजाना है वह आहारक आहारक शरीर नोकर्मबंध नामका पहिला भेद है । आहारक और तैजस शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होजाना है वह आहारक तैजस शरीररूप नोकर्मबंध नामका दूसरा भेद है। आहारक और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक हो जाना है वह आहारक कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका तीसरा भेद है एवं आहारक तैजस और कार्मण शरीर रूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होजाना है वह आहारक तैजस कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका चौथा भेद है। इसप्रकार ये चार भेद आहारक शरीर नोकर्मबंधके हैं। तथा—

तैजस तैजस शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकम एक हो जाना है वह तैजस तैजस शरीर नोकर्मबंधका पहिला भेद है एवं तैजस और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो एकमएक होजाना है वह तैजस कार्मण शरीर नोकर्मबंधका दूसरा भेद है इसप्रकार ये दो भेद तैजस शरीर नोकर्म बंधके हैं तथा कार्मण कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक होना है वह कार्मण कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका भेद है इसरीतिसे पंद्रह प्रकारका शरीरबंध है।

अनादि और आदिमानके भेदसे शरीरीबंध अर्थात् जीवसंबंधी बंध भी दो प्रकारका है उनमें ऊपर नीचे चार चार रुचक विमानके समान अवस्थित जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका कभी भी आपसमें वियोग

प्रकाशका अभावस्वरूप ही अंधकार पदार्थ है वह कोई वस्तुस्वरूप पदार्थ नहीं। सो ठीक नहीं। जिसप्रकार नील आदि वर्ण अतिशयवान हैं और आपसमें एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं अर्थात् श्वेत आदिके प्रतिपक्षी नील आदिक हैं इसलिये उन्हें वस्तुस्वरूप माना जाता है उसी प्रकार अंधकार भी अतिशयवान पदार्थ है और प्रकाशका प्रतिपक्षी है इसलिये वह भी वस्तुस्वरूप पदार्थ है वह अभावस्वरूप नहीं माना जा सकता। इसलिये जो सिद्धांतकार अंधकारको अभावस्वरूप मानते हैं उनका मानना प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तुका अपलाप करना है, इसरूपसे स्वस्वरूपसे अवस्थित शब्दरूप पदार्थकी तो ध्वनियोंके द्वारा व्यक्ति हो नहीं सकती। यदि कहा जायगा स्वस्वरूपसे अनवस्थित पदार्थकी ध्वनियोंके द्वारा व्यक्ति होती है सो भी ठीक नहीं। क्योंकि ध्वनिके द्वारा होनेवाली व्यक्तिसे पहिले जो पदार्थ स्वस्वरूपसे अवस्थित रहता है उसीकी व्यक्ति कही जा सकती है और वही व्यंग्य कहा जा सकता है किन्तु व्यक्तिसे पहिले जो स्वस्वरूपसे अवस्थित नहीं है किन्तु ध्वनियोंकी निकटता होनेपर ही जिसके स्वरूपकी उपलब्धि होती है वह व्यंग्य नहीं कहा जा सकता, कार्य कहा जासकता है इसलिये ध्वनि शब्दस्वरूप पदार्थकी अभिव्यंजक है और शब्द व्यंग्य है यह जो ऊपर कहा गया है वह अयुक्त है, तथा और भी यह बात है कि—

सबसे पहिली जो वर्ण-ध्वनि है वह समस्त शब्दस्वरूपकी व्यंजक है कि शब्दस्वरूपके एक देशकी व्यंजक है? यदि कहा जायगा कि यह समस्त शब्दस्वरूपकी व्यंजक है तब आदिकी वर्णध्वनिसे ही समस्त शब्दस्वरूपका ज्ञान हो जायगा फिर उसके स्वरूपके ज्ञान करनेकेलिये अन्य वर्णध्वनियोंका प्रयोग करना निरर्थक है। यदि कहा जायगा कि आदिकी वर्णध्वनि शब्दस्वरूपके एक देशको ही व्यक्त करती है तब शब्दस्वरूप सावयव ठहरता है क्योंकि सावयव बिना माने एकदेश सर्वदेश आदिकी कल्पना नहीं हो सकती फिर जो 'शब्दस्वरूप निरवयव है' यह ऊपर प्रतिवादीने प्रतिज्ञा की है वह नष्ट हो जायगी। तथा और भी यह बात है कि—

स्थितिके भेदसे भी भेद है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तो आगे आठवें अध्यायमें कही जायगी, नोकर्मोंकी स्थिति इसप्रकार है—

औदारिक और वैक्रियिक शरीरविशिष्ट जीवकी जितनी आयु है उस आयुके बराबर उन शरीरोंकी स्थिति—रूप निषेक[1] हैं अर्थात् जिस जीवकी जितनी आयु है उतनी ही उसके शरीरकी स्थिति है उस स्थितिवाले जो परमाणुसमूह हैं वे नोकर्मकी स्थितिके सूचक हैं। औदारिकशरीरकी स्थिति तीन पल्यप्रमाण है क्योंकि एकसमयसे लेकर तीन पल्यप्रमाण कालतक औदारिकशरीरका निश्चित रूपसे रहना होता है। वैक्रियिकशरीरकी तेतीससागरप्रमाण स्थिति है क्योंकि एकसमयमें होनेवाले निषेकसे आरंभकर बराबर तेतीससागरप्रमाण कालके अंतसमयतक वैक्रियिकशरीरका निश्चितरूपसे रहना होता है। आहारकशरीरकी स्थिति अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। तैजसशरीरकी छ्यासठसागरप्रमाण स्थिति है एवं कार्मणशरीरकी स्थिति जो कर्मोंकी स्थिति है वही समझ लेना चाहिये यहांपर इतना विशेष जानने योग्य है कि—यदि कर्मोंकी ही स्थिति कार्मणशरीरकी स्थिति ली जायगी तो ज्ञानावरण आदि अनेक कर्मोंकी स्थिति भी ली जासकेगी क्योंकि कर्म होनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी स्थितिका भी संभव है इसलिये यहांपर आत्मीय—स्वस्वरूपही कर्मस्थितिका ग्रहण है अर्थात् औदारिक आदि शरीरस्वरूप जो कर्म हैं उनकी स्थिति ही कार्मणशरीरकी स्थिति मानी है किंतु ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंकी स्थिति कार्मणशरीरकी स्थिति नहीं मानी गई। यहांपर औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मण ये पांचों शरीर नामकर्मके भेद स्वरूप शरीर नामा नामकर्मस्वरूप हैं उन्हींकी वीस वीस कोटाकोटी सागरप्रमाण स्थिति है। कार्मणशरीर भी नामकर्मका भेद है इसलिये उसकी स्थिति भी वीस कोटाकोटी सागरप्रमाण है। यहांपर कार्मणशरीरसे सभी कर्म नहीं लिये गये हैं ऊपर जो औदारि-

[1] एक समयमें कर्मके जितने परमाणु उदयमें आवें उन सबके समूहका नाम निषेक है।

प्रखरता दीख पडती है वह ध्वनिके द्वारा किया गया ही उपकार है । सो भी ठीक नहीं । क्योंकि पदार्थोंका सुनना (जानना) बस इसके सिवाय कान इन्द्रियका दूसरा कोई उपकार नहीं हो सकता, वह जब मान ही लिया गया और उससे पदार्थोंके ज्ञानमें किसी प्रकारकी अडचन उपस्थित नहीं हो सकती तब पदार्थोंके ज्ञानके लिये जो स्फोटकी कल्पना कर रक्खी है वह व्यर्थ है। क्योंकि वह तो कान इन्द्रियसे ही हो सकता है इसलिये 'कान इन्द्रियका ध्वनि उपकार करती है' यह कल्पना करना भी निर्मूल है। यदि कहा जायगा कि स्फोट और श्रोत्र दोनोंका उपकार ध्वनिसे होता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येकके अंदर ध्वनिकृत उपकार अयुक्त कह आये हैं इसलिये एक साथ भी ध्वनिके द्वारा दोनोंका उपकार नहीं हो सकता। ऐसा नियम भी है कि–'प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः' अर्थात् जो दोष हर एकके अंदर भिन्न भिन्न रूपसे है वह एक साथ दोनोंके होने पर भी नियमसे रहता है । इस रीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि न तो ध्वनि स्फोटका उपकार कर सकती है न श्रोत्रका उपकार कर सकती है और न स्फोट और श्रोत्र दोनोंका उपकार कर सकती है।

विशेष—स्फोट शब्दका स्पष्ट अर्थ इसप्रकार है–'वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यंग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोटः' अर्थात् वर्णसे भिन्न हो वर्णस्वरूप न हो किंतु वर्णोंसे व्यक्त किया गया हो अर्थात् पहिले पहिले वर्णोंके अनुभवके साथ अंतिम वर्णके अनुभवसे व्यक्त हो, पदार्थका ज्ञान करनेवाला हो, नित्य होनेसे शब्दका नाम स्फोट है । ऐसा कितने ही वैयाकरणोंका मत है किंतु नैयायिक मतमें स्फोट पदार्थको स्वीकार नहीं किया गया है, यदि वे स्वीकार करें तो जिसप्रकार उनके मतमें वर्ण पदार्थ अनित्य है उसप्रकार स्फोट पदार्थ अनित्य मानना होगा। वह स्फोट पदार्थ वर्णस्फोट १ पदस्फोट २ वाक्यस्फोट ३ अखंडपदस्फोट ४ अखंडवाक्यस्फोट ५ वर्णजातिस्फोट ६ पदजातिस्फोट ७ और वाक्यजातिस्फोट ८ के भेदसे आठ प्रकारका है।

ऐसा है, जिसका इसरूपसे निरूपण होसके वह इत्थंलक्षण है और जिसका इसरूपसे निरूपण न होसके वह अनित्थंलक्षण संस्थान है कौन संस्थान इत्थंलक्षण है और कौन अनित्थंलक्षण है । वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमंडलादित्थमतोऽन्यदनित्थं ॥ १७ ॥

गोल तिकोना चौकोना लंबा और मंडलाकार आदि संस्थान इत्थंलक्षण हैं क्योंकि यह गोल आकार है यह तिकोना है इत्यादि रूपसे इनका निरूपण होसकता है और इनसे भिन्न मेघ आदिके अनेक प्रकारके संस्थान अनित्थंलक्षण हैं क्योंकि वे ऐसे हैं इस रूपसे उनका निरूपण नहीं हो सकता।

भेदः षोढोत्करचूर्णखंडचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात ॥ १८ ॥

भेदका अर्थ भिदना है अर्थात् भिन्न भिन्न होना है और वह उत्कर चूर्ण खंड चूर्णिका प्रतर और अणुचटनके भेदसे छह प्रकारका है। काष्ठ आदिका आरे आदिसे चीरना उत्कर कहा जाता है। यव (बेझर) गेहूँ आदि धान्योंका सत्तू और कनी आदि रूप होना चूर्ण है। घट आदि पदार्थोंके कपाल कंकड़ी होना खंड है। उर्द मूंग आदिका दालस्वरूप परिणत होना चूर्णिका है। मेघपटल आदिका अवयवरूपसे विभक्त होना प्रतर है एवं अग्निसे तपे हुए लोहके पिंड आदिपर घन आदिसे अभिघात करनेपर जो अग्निके फुलिंगोंका निकलना है वह अणुचटन है।

तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं ॥ १९ ॥

जिससे दृष्टिका प्रतिबंध हो—घट पट आदि पदार्थ प्रकट रूपसे न सूझ पड़ें वह पदार्थ तमः—अंधकार है। प्रदीप इसी अंधकारको दूर करता है इसीलिये वह प्रकाशक—पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला माना जाता है।

छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ॥ २० ॥ सा द्वेधा तद्वर्णादिविकारप्रतिबिंबमात्रग्रहणविकल्पात ॥ २१ ॥

जब जब वर्णोंका उच्चारण किया जाता है तब तब उनकी समान रूपसे प्रतीति न होकर भिन्न भिन्न रूपसे ही प्रतीति होती है। यह नियम है जिसकी प्रतीति भिन्न भिन्न रूपसे होगी वह पदार्थ अनित्य होगा, इस लिये देखते देखते नष्ट हो जानेके कारण वर्णोंका आपसमें संबंध नहीं हो सकता तथा जब वर्णोंका आपसमें संबंध नहीं हो सकता तब उनके समुदायका भी संबंध नहीं हो सकता एवं प्रत्येक वर्णमें पदार्थका रहना व्यभिचरित रहनेसे हो नहीं सकता। इसलिये पूर्व पूर्व वर्णोंके अनुभवसे जायमान संस्कारका धारक एवं अंतिम वर्णसे जायमान अनुभवसे शोभित हृदयमें शीघ्र ही उदय होनेवाला एक स्फोट नामका पदार्थ है, वह नित्य है और उसीमें नित्य संबंधकी योग्यता है इसलिये वही पदार्थोंकी प्रतीतिमें कारण हो सकता है इसलिये पदार्थोंकी प्रतीतिकेलिये अवश्य स्फोट पदार्थ स्वीकार करना चाहिये। पंतजलिभाष्यमें कहा भी है—

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां यः एककोटिबुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते तदेकं पदमेकं बुद्धिविषय एकप्रयत्नक्षिप्तमभागमक्रमवर्णं बौद्धमंत्यवर्णप्रत्ययोपस्थापितं प्रतीयते। अर्थात्—जिनमें ध्वनियोंका क्रम संकुचित है अर्थात् जहांपर ध्वनियोंका क्रम नहीं एवं जो अर्थके संकेतसे युक्त हैं ऐसे वर्णोंका जो एकबुद्धिनिर्भास है अर्थात् बुद्धिमें ऐक्यरूपसे प्रतिभास होना है वह पद है और उसका जिस वाच्यकेलिये संकेत किया गया है उसका वह वाचक है। वह एक पद एक बुद्धिका विषय, एक प्रयत्नसे युक्त, विभागरहित जिसमें वर्णोंका क्रम नहीं है एवं बुद्धिगम्य है वह अंतवर्णके अनुभवसे व्यक्त होता है। इसलिये स्फोट पदार्थका मानना युक्तियुक्त है। (न्यायकोष) पृष्ठ-सं० २६०।

वार्तिककार और भी ध्वनि पर विचार करते हैं कि—जिन ध्वनियोंको स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कारण कह आये हैं वे ध्वनि उसकी अभिव्यक्तिमें कारण हो ही नहीं सकतीं क्योंकि जिस क्षणमें ध्वनियोंकी उत्पत्ति होती है उसीक्षणमें उनकी स्थिति परवादीने मानी है, उत्पत्तिक्षणके बाद उनकी स्थिति नहीं मानी है इसरीतिसे जब उनकी स्थिति ही निश्चित नहीं तब वे स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कभी कारण नहीं

भी ठीक नहीं। यदि टकराकर लौटकर आनेवाली नेत्रोंकी किरणोंसे ही अपने मुख वा शरीरका ग्रहण माना जायगा तो जो व्यक्ति पूर्वकी ओर मुखकर खड़ा हुआ है उसका पूर्वकी ओर मुख किये हुये ही ग्रहण होना चाहिये किंतु खड़ा हो पूर्व दिशाकी ओर मुख कर और दीख पडे उत्तरकी ओर मुखसहित यह विपरीत रूपसे ग्रहण नहीं होना चाहिये क्योंकि इसप्रकार विपर्यासका करनेवाला वहां कोई कारण प्रतीत नहीं होता। तथा ऐसा माने जानेपर भींत आदिमें अतिप्रसंग भी होगा क्योंकि नेत्रकी किरणोंका टकराना भींतसे भी होता है परन्तु वहांपर उन किरणोंसे अपने शरीरका ग्रहण नहीं होता अर्थात् दर्पणसे टकरा कर लोटने पर जिसप्रकार नेत्रकी किरणोंसे अपने शरीरका स्पष्ट ग्रहण होता है उसप्रकार भींत आदिसे टकराकर लोटनेपर भी नेत्रकी किरणोंसे अपने शरीरका ग्रहण होना चाहिये सो क्यों नहीं होता ? तथा मनकी सहायता विशिष्ट ही नेत्र इंद्रिय पदार्थको ग्रहण कर सकती है ऐसा भी तुम्हारा मत है। यदि नेत्रकी किरणें शरीरसे बाहिर निकल जायंगी तो वहांपर मनकी सहायता तो रहेगी नहीं फिर दर्पणसे टकराकर लोटनेवाली नेत्रकी किरणोंसे अपने शरीरका ग्रहण होता है यह कहना ही अयुक्त है क्योंकि जिस समय दर्पणसे टकराकर नेत्रकी किरणें लोटेंगीं उस समय उनके साथ मनका संबंध न रहनेसे वे कभी भी अपने शरीरका ग्रहण नहीं कर सकतीं इसलिये वैसी कल्पना न कर दर्पण आदिके अंदर अवश्य छायाका सद्भाव मानना चाहिये एवं स्वच्छ पदार्थकी स्वच्छतारूप परिणामसे उसका विपरीतरूपसे ग्रहण होता है यही बात यथार्थ समझनी चाहिये।

आतपः उष्णप्रकाशलक्षणः ॥ २२ ॥

सूर्यसे जायमान उष्णतारूप प्रकाशस्वरूप आतप है अर्थात् सूर्यके उष्णप्रकाशका नाम आतप है और वह पुद्गलका परिणाम है।

उद्योतश्चंद्रमणिखद्योतादिविषयः ॥ २३ ॥

कर्मवदिति चेदसिद्धत्वादेव ॥ ८ ॥

अर्थात् व्यक्तिरूपसे जितने भी कर्म हैं अर्थात् क्रिया—संकोच, विस्तार, उछलना कूदना आदि क्रिया हैं—वे सब क्षणविनाशीक हैं परन्तु वे कर्मत्वजातिकी अभिव्यक्तिमें कारण हैं इसलिये क्षणिक भी कर्म जिसप्रकार कर्मत्व नामक जातिकी अभिव्यक्तिमें कारण माने जाते हैं उसप्रकार क्षणिक भी ध्वनियां स्फोटकी अभिव्यक्तिमें कारण हो सकती हैं । सो भी ठीक नहीं । व्यक्तिरूपसे क्षणविनाशीक कर्म, कर्मत्वजातिको अभिव्यक्त करते हैं, यह बात ही हमारे (जैनाचार्योंके) मतमें असिद्ध है, क्योंकि व्यक्तिरूपकर्मोंसे यदि कर्मत्वजातिको सर्वथा भिन्न माना जाय तब तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिस्वरूप कर्म कर्मत्वजातिको अभिव्यक्त करते हैं परन्तु जैन-सिद्धान्तमें द्रव्य गुण और कर्मके अंदर रहनेवाले सामान्य विशेषोंको भिन्न स्वीकार किया नहीं तथा यह भी बात है कि कर्मको भी द्रव्यसे भिन्न नहीं माना क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्यस्वरूप ही कर्मको स्वीकार किया गया है अर्थात् अनंतशक्ति समूहरूप द्रव्यमें जो प्रदेशवत्त्व नामका गुण है उसीके विकारको कर्म कहते हैं । इसलिये वे द्रव्यसे अभिन्न हैं इस रूपसे द्रव्य कर्म सामान्य आदिका आपसमें भेद नहीं तब व्यक्तिरूप कर्म कर्मत्वजातिको अभिव्यक्त करते हैं यह कथन ही असंगत है, अतः कर्मोंका क्षणिकपना असिद्ध है । तथा और भी यह बात है कि—

मूर्तिमान और क्रियावान दीपकसे मूर्तिमान और क्रियावान ही पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं किंतु यह बात नहीं कि अभिव्यंजक दीपक तो मूर्तिक और सक्रिय हो और घट पट आदि व्यंग्य अमूर्तिक और निष्क्रिय हों इसलिये जिसप्रकार दीपक और घट पट आदि पदार्थोंमें अभिव्यंजक और अभिव्यंग्यपना समान कार्यस्वरूप है उसप्रकार ध्वनि और स्फोटके अंदर अभिव्यंजक और अभिव्यंग्यपना समान धर्म स्वरूप नहीं क्योंकि अभिव्यंजक—ध्वनिको मूर्तिमान और क्रियावान माना है और अभिव्यंग्य स्फोटको अमूर्तिक और निष्क्रिय माना है इसलिये ध्वनिके धर्मोंका धारक स्फोट न होनेसे ध्वनिसे

'आ आकाशादेकद्रव्याणि, निष्क्रियाणि च' यह कहा गया है यहांपर कालद्रव्यका उल्लेख है ही नहीं इसलिये धर्म अधर्म आदिकी गोष्ठीसे कालद्रव्यका वहिर्भाव होनेसे वह पुद्गलद्रव्यके समान क्रियावान नहीं हो सकता । अथवा—

पहिले 'द्रव्याणि, जीवाः, कालश्च' ऐसा नहीं कहा गया । यदि कालको क्रियावान् मानना इष्ट होता तो ऐसा कहा जाता तथा 'जीवाश्च' इस सूत्रमें जीव भी 'द्रव्य है' यह बतलानेकेलिये 'च' शब्दका कथन किया गया है परंतु यदि कालद्रव्यको क्रियावानपना इष्ट होता तो द्रव्याणि जीवाः कालश्च' ऐसा कहनेसे च शब्द अधिक नहीं कहना पडता 'जीवाः' इतना ही लघु सूत्र होता तथा आगे जाकर 'कालश्च' । ३८ । यह सूत्र कहा गया है । यदि कालद्रव्यको क्रियावानपनेका इष्ट होता तो पहिले ही वह सूत्र कह दिया जाता आगे जाकर नहीं कहना था परन्तु वह 'द्रव्याणि' आदि सूत्रोंके मध्यमें न कहकर अंतमें कहा गया है इसलिये क्रिया काल द्रव्यकी पर्याय नहीं हो सकती, पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है । यह बात सिद्ध हो जाती है । यदि कदाचित् यहांपर यह तर्क उठाई जाय कि—

आगे जो 'कालश्च' सूत्र कहा गया है वह काल द्रव्यके अनंत समय हैं यह बतलानेके लिये कहा गया है इसलिये वहांपर उसका कहा जाना अयुक्त नहीं । सो भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि काल द्रव्यको क्रियावानपना इष्ट होता तो 'आकाशस्यानंताः' इसी सूत्रके साथ कालस्य च ऐसा जोड़ देना था उससे यह अर्थ हो जाता कि काल द्रव्यके अनंत समय हैं विशेषता यह होती कि 'सो ऽनंतसमयः ३९ ।' यह सूत्र नहीं कहना पड़ता परन्तु इतना विशिष्ट लाघव अर्थात् "सोऽनंतसमयः" इस सूत्रका न करनारूप महान लाघवके रहते भी आगे ही जाकर कालश्च इस सूत्रका प्रतिपादन किया गया है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि काल द्रव्य क्रियावान नहीं है किन्तु क्रिया परिणाम पुद्गल द्रव्यका ही है ।

काल द्रव्यको जो निष्क्रिय कहा गया है वह परिस्पंद—हलन चलनरूप क्रियाकी अपेक्षा है

कर उन्हें व्यंग्यही माना है कार्य्य नहीं। इसी सिद्धांतपर दृष्टि डाल कर स्फोटवादी यहांपर कहता है कि—जिसप्रकार महान आदि तत्त्वोंको व्यंग्य ही माना है कार्य्य नहीं उसीप्रकार स्फोट पदार्थ भी व्यंग्य ही है, कार्य्य नहीं। सो भी ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार स्फोटके अंदर व्यंग्यपनेका अभाव सिद्ध करना इष्ट है उसीप्रकार हमें महान आदि तत्त्वोंके अंदर भी व्यंग्यपनेका अभाव इष्ट है, हम महान आदि तत्त्वोंको भी व्यंग्य कहां मानते हैं इस रूपसे साध्यसम होनेसे महान आदि दृष्टान्तके बलसे स्फोटमें व्यंग्यपना सिद्ध नहीं हो सकता। तथा यह भी बात है कि—

स्फोटवादीने स्फोट पदार्थको अमूर्तिक नित्य और निरवयव माना है तथा जिस ध्वनिसे उस स्फोटकी अभिव्यक्ति मानी है उस ध्वनिको मूर्तिमान् अनित्य और सावयव माना है परन्तु संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं देखा गया जो स्वयं अमूर्तिक नित्य और निरवयव हो और मूर्तिमान् अनित्य एवं सावयव पदार्थसे अभिव्यक्त हो इसलिये दृष्टांतस्वरूप कोई भी पदार्थ न होनेसे स्फोटकी सिद्धि बाधित है इसलिये ध्वनिरूप ही शब्द है और वही नित्य अनित्य वा कालांतरस्थायी और क्षणिक है यह स्वीकार करना चाहिये। जहांपर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी वहांपर पुद्गल द्रव्यस्वरूप होनेके कारण ध्वनिरूप शब्द नित्य है और जहांपर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होगी वहांपर कानसे सुनी गई सामान्य रूपसे शब्द पर्यायकी स्थितिकी अपेक्षा वह शब्द कालांतरस्थायी अर्थात् कुछ क्षण ठहरनेवाला है एवं प्रतिसमय होनेवाली शब्द पर्यायकी अपेक्षा वह क्षणिक है। इस रूपसे यह बात अच्छीतरह निश्चित है कि ध्वनि रूप ही शब्द है और वही अपेक्षासे कथंचित् नित्य कथंचित् क्षणिक है किंतु यह मानना कि ध्वनि क्षणविनाशीक है उससे पदार्थोंका ज्ञान हो नहीं सकता इसलिये शब्दस्वरूप नित्य अमूर्तिक निरवयव एक स्फोट नामक पदार्थ मानना चाहिये यह जो कल्पना की गई है वह जल्पनामात्र है—निरर्थक एवं युक्तिबाधित है इसलिये जैनसिद्धांतके अंदर शब्दको जो कथंचिन्नित्य और कथंचित् अनित्यस्वरूप कहा है वही युक्तियुक्त

हो जाते हैं इसलिये उनकी छिन्न भिन्न रूप गात होनेसे छेदगति है। लाखका गोला, कंदु और दारुके पिंड आदिकी अभिघात गति है। मदिरा तयार करनेवाले पात्रको कंदु कहते हैं और काष्ठसमूहको दारुपिंड कहते हैं। नाव जहाज आदिकी अवगाहनगति है क्योंकि ये गमन करते समय जलका अवगाहन करते हैं। पाषाण और लोहेके फालकी गुरुगति है क्योंकि भारी होनेसे उनकी गतिमें भारीपन रहता है और अलावूद्रुत (तूंबडीके गूद) आककी रुई आदिकी लघु गति है क्योंकि हल्के होनेसे इनका गमन हल्के रूपसे होता है। शराव और सौवीर (मादक पदार्थ) की संचारगति है क्योंकि पीलेनेपर समस्त शरीरमें उसका असर पहुंचनेसे संचार होने लगता है—घूमने लगता है। मेघ घोड़े और हाथी आदिकी किसी न किसी संयोगसे गति होती है इसलिये इनकी संयोगगति है। पवन अग्नि परमाणु सिद्ध और ज्योतिषी देव इनकी स्वभावगति है। उनमें शुद्ध वायु स्वभावसे ही तिरछी वहती है इसलिये उसकी तिर्यग्गति है एवं धौंकनी आदिके संवंधसे अनिश्चितगति है। अग्निकी गति स्वभावसे ऊपरको होती है इसलिये उसकी गति ऊर्ध्वगति है एवं पवन आदि कारणोंके द्वारा अग्निकी लौ इधर उधर चली जाती है इसलिये दूसरी दूसरी दिशामें भी उसकी गति होती है। परमाणुकी गति अनियत है पूर्व दिशामें ही होनी चाहिये वा उत्तर दिशामें ही होनी चाहिये इसप्रकार उसकी गतिका कोई नियम नहीं। सिद्धोंकी गति नियमसे ऊर्ध्वगति ही है। सिद्ध नियमसे समस्त कर्म नष्ट हो जाने पर ऊपर ही जाते हैं तथा मनुष्यलोकमें सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषी देवोंका सदा भ्रमण हुआ करता है इसप्रकार प्रयोगगति आदिके भेदसे दशप्रकारकी गति समझ लेनी चाहिये। शंका—

मत्वर्थीयप्रयोगादन्यत्वं शब्दादीनां दंडवदिति चेन्न अनेकांतात् ॥ २७ ॥

मतु इन् आदि जितने भी मत्वर्थीय प्रत्यय हैं उनका विधान वहीं होता है जहांपर आपसमें भेद और उनका संवंध रहता है जिसतरह 'दंडी पुरुषः' यहांपर दंड और पुरुषका आपसमें भेद है एवं पुरुषके

कालाणुओंका कभी आपसमें वियोग नहीं होता इसलिये उनका भी अनादि वैस्रसिक बंध है। एक जीवके प्रदेशोंमें यद्यपि संकोच विस्तार होता रहता है क्योंकि कारणके वश संकुचित होना और फैलना संसारी जीवके प्रदेशोंका स्वभाव है परंतु ऐसा कभी भी नहीं होता कि आपसमें उनका वियोग हो जाय वे संबद्ध ही रहते हैं इसलिये एक जीवके प्रदेशोंका बंध भी अनादि वैस्रसिकबंध है । धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य कालद्रव्य और आकाशद्रव्यका कभी भी आपसमें वियोग नहीं होता स्वभावतः उनका सदा संयोग बना रहता है इसलिये उनका जो आपसमें बंध है वह भी अनादि वैस्रसिक बंध है । सामान्य रूपसे नानाजीवोंका भी अन्य द्रव्योंके साथ बंध अनादि है अर्थात् व्यक्तिकी अपेक्षा तो जीवोंका अन्य द्रव्योंके साथ अनादि बंध नहीं हो सकता क्योंकि वियोग होता रहता है किंतु जीव सामान्यकी अपेक्षा कभी भी अन्य द्रव्योंके साथ वियोग नहीं हो सकता इसलिये जीव सामान्यकी अपेक्षा नानाजीवोंका अन्य द्रव्योंके साथ बंध अनादि है। पुद्गल द्रव्योंमें भी सामान्यकी अपेक्षा महास्कंध आदिका बंध अनादि है अर्थात् किसी एक स्कंधकी अपेक्षा तो अनादि बंध नहीं कहा जा सकता क्योंकि विछुड़ना होता रहता है परंतु सामान्यरूपसे किसी न किसीका बंध बना ही रहता है इसलिये सामान्यकी अपेक्षा बंध अनादि है अर्थात् तेईस तरहकी पुद्गल वर्गणाओंमें महास्कंध वर्गणा भी मानी गई है, वह सदा स्थूलरूपसे संयुक्त ही रहती है इसलिये महास्कंध आदिकी अपेक्षा बंध अनादि है। यद्यपि धर्म आदि समस्त द्रव्योंका आपसमें बंध हो सकता है तथापि यहां पुद्गलका प्रकरण चल रहा है अर्थात् यहां पर जो बंधका उल्लेख किया गया है वह पुद्गलकी पर्यायरूपसे किया गया है इसलिये यहां पुद्गलविषयक बंध ही ग्रहण किया है।

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः ॥ १२ ॥

जहांपर पुरुषकृत परिणामकी अपेक्षा की जाती है वह विधि कहलाती है अर्थात् पुरुषके द्वारा किये

हैं और सौक्ष्म्य रूप पुद्गलकी पर्यायको छोडकर शब्द आदि जो पुद्गलकी पर्याय हैं वे स्कंधोंकी ही होती हैं और वे व्यक्तस्वरूप होती हैं अर्थात् रूप रस गंध स्पर्श ये गुण शब्द बंध आदि पुद्गलोंकी स्कंध रूप पर्यायोंमें भी रहते हैं, वे पुद्गल मात्रके लक्षण हैं परंतु शब्दादि पर्याय समस्त पुद्गलमें नहीं रहती हैं। यह विशेषता बतलानेकेलिये दोनों सूत्रोंका पृथक रूपसे उल्लेख किया गया है। सौक्ष्म्य रूप पर्यायको छोड कर इसलिये कहा गया है कि सूक्ष्मता परमाणुके अंदर भी रहती है और स्कंधोंमें भी रहती है क्योंकि अंतिम सूक्ष्मताका सद्भाव परमाणुके अंदर माना है, आपेक्षिक सूक्ष्मता स्कंधोंके अंदर मानी है इस-रीतिसे परमाणु और स्कंध दोनोंके ही अंदर सूक्ष्मतारूप पुद्गल पर्यायका सद्भाव है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—जिसप्रकार स्पर्श रस आदि पर्यायोंका अणु और स्कंध स्वरूप दोनों प्रकारके पुद्गलोंके अंदर सद्भाव है उसप्रकार यदि सूक्ष्मताका भी दोनोंके अंदर सद्भाव है तब सौक्ष्म्य पर्यायको स्पर्श आदिके साथ ही कहना था, शब्द आदिके साथ क्यों उसका उल्लेख किया गया? वह ठीक नहीं, शब्द बंधेत्यादि सूत्रमें स्थौल्य शब्दका उल्लेख किया गया है उस स्थौल्यका प्रतिपक्षी (विरोधी) सौक्ष्म्य है यह द्योतित करनेकेलिये सौक्ष्म्य शब्दका प्रयोग किया गया है। अथवा—

स्पर्शादीनामेकजातीयपरिणामख्यापनार्थं च ॥ २९ ॥

स्पर्श आदि गुणोंका जो परिणमन होता है वह एक जातिका ही होता है भिन्न जातियोंका नहीं यह बतलानकेलिये भी स्पर्शरसगंधेत्यादि और शब्दबंधेत्यादि दो सूत्रोंका पृथक् रूपसे उल्लेख किया है।

भावार्थ—कठिनतारूप लक्षणका धारक एक स्पर्श अर्थात् कठिन स्पर्श अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व और उत्तरकालमें होनेवाली उत्पाद और विनाश रूप पर्यायोंकी संततिसे धारण करता द्विगुणा चौगुणा संख्यातगुणा असंख्यातगुणा और अनंतगुणा परिणमन करता है वह कठिन स्पर्श पर्याय स्वरूप ही होता है कोमल भारी हलका आदि स्पर्शस्वरूप परिणमन नहीं करता। इसीप्रकार कोमल आदि

मिट्टी और इंट आदिसे जो संयुक्त करना है अर्थात् भींत और महल आदिमें जो मिट्टी और ईंट आदि लगाई जाती है और वैसा करनेसे आपसमें जो उनका संयोग होता है वह आलेपन बंध है। यद्यपि यहां पर भी आङ्पूर्वक लिंप धातुका लेप करना अर्थ है तथापि धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे यहांपर अर्पण अर्थ लिया गया है। लाख और काष्ठ आदिका जो आपसमें संबंध होना है वह संश्लेष बंध है। शरीरोंका आपसमें संबंध शरीरबंध कहा जाता है और औदारिक वैक्रयिक आहारक तैजस और कार्मण शरीर रूप नोकर्मोंके बंधके भेदसे वह पांच प्रकारका माना है तथा इन पांच प्रकारके भेदोमें औदारिक शरीररूप नोकर्म बंध चार प्रकारका है। वैक्रियिक शरीर नोकर्म बंध भी चार प्रकारका है। आहार शरीर नोकर्म बंध भी चार प्रकारका है। तैजस नोकर्म बंध दो प्रकारका है एवं कार्मणशरीर नोकर्म बंध एक प्रकारका है। इस तरह शरीरनोकर्म पंद्रह प्रकारका है। भेदोंका खुलासा इसप्रकार है—

औदारिकशरीररूप नोकर्मके प्रदेशोंका जो औदारिकशरीररूप नोकर्मके प्रदेशोंके साथ आपसमें प्रविष्ट हो जाना है वह औदारिकशरीर नोकर्मबंधका औदारिकौदारिक शरीर नोकर्म बंध नामका पहिला भेद है। औदारिक और तैजस शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें अनुप्रविष्ट हो जाना है वह औदारिक तैजस शरीर नोकर्मबंध नामका दूसरा भेद है। औदारिक और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें सम्मिलन हो जाना है वह औदारिक कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका तीसरा भेद है एवं औदारिक तैजस और कार्मण शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें प्रविष्ट हो जाना है वह औदारिक तैजस कार्मण शरीर नोकर्मबंध नामका चौथा भेद है। इसप्रकार ये चार भेद तो औदारिक शरीर नोकर्म बंधके हैं। तथा—

वैक्रियिक वैक्रियिक शरीररूप नोकर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक हो जाना है वह वैक्रियिक वैक्रियिक शरीर नोकर्मबंध नामका पहिला भेद है। वैक्रियिक और तैजस शरीररूप नोकर्मोंके

परिणमन कोमलस्वरूप होता है वहांपर भी वह स्पर्शस्वरूप अपनी जातिको न छोडकर विनाश और उत्पादको अनुभव करता हुआ परिणमता है इसीप्रकार चिकना रूखा ठंडा गरम आदिके अंदर भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

नोदनाभिघाताद्युपसंख्यानमिति चेन्न चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात ॥ ३० ॥

नोदनका अर्थ प्रेरण है और अभिघातका अर्थ धक्का लगना है इत्यादि वातें पुद्गलके अंदर ही हो सकती हैं अन्य किसी द्रव्यके अंदर नहीं इसलिए जिसप्रकार शब्द आदि पुद्गल पर्यायोंका खासरूपसे शब्द-बंधेत्यादि सूत्रमें उल्लेख किया गया है उसप्रकार नोदन अभिघात आदि भी पुद्गल की ही पर्याय हैं इनका भी खास रूपसे सूत्रमें उल्लेख होना चाहिए। सो ठीक नहीं। शब्दबन्धेत्यादि सूत्रमें च शब्दका उल्लेख किया गया है। च शब्दका समुच्चय अर्थ भी माना है इसलिए जो जो इष्ट वातें ग्रहण करने योग्य होती हैं उन सबका च शब्दसे ग्रहण किया जासकता है अतः आगममें जिन जिनको पुद्गलका परिणाम इष्ट माना है 'च' शब्दके उल्लेखसे यहां उनका ग्रहण है खास रूपसे उनके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। नोदन अभिघात आदिको भी आगममें पुद्गलका परिणाम कहा गया है इसलिए उनका भी 'च' शब्दसे ग्रहण है यहांपर खासरूपसे उनके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं ॥ २४ ॥

स्पर्श आदि गुण अणु और स्कंध दोनों प्रकारके पुद्गलोंमें रहते हैं शब्द आदि केवल स्कंधोंमें रहते हैं यदि यह बतलानेकेलिए ऊपर पृथक् पृथक् रूपसे दो सूत्र कहे गए हैं तो बतलाना चाहिए कि वे स्पर्श आदि गुणोंके धारक पुद्गल कौंन हैं तथा वे पुद्गल दो प्रकारके कौंन कौंन हैं इसलिए सूत्रकार उसका समाधान करते हैं—

नहीं होता, सदा वे आपसमें संबद्ध रहते हैं इसलिये उनका आपसका बंध अनादि बंध है एवं इन आठ प्रदेशोंके सिवाय शेष जितने भी जीवके प्रदेश हैं उनमें कर्मोंके निमित्तसे संकोच विस्तार होनेका स्वभाव है इसलिये उनका जो बंध है वह आदिमान बंध है। अथवा जिसप्रकार क्रोधसे परिणत हुआ आत्मा ही क्रोध कह दिया जाता है उसीप्रकार तपे हुये लोहेके पिंडके समान हर एक आत्माका शरीरके साथ बंध होनेसे दोनो एकमएक होनेके कारण आत्मा ही शरीर कह दिया जाता है इसलिये ऊपर जो पंद्रह भेद शरीर बंधके कहे गये हैं वही भेद शरीरीबंधके भी समझ लेने चाहिये अर्थात् जब औदारिक आदिको केवल शरीर स्वरूप माना जायगा उस समय वे शरीरबंधके भेद समझे जायंगे एवं जिस समय अग्नि और लोहेके पिंडके समान उनके साथ आत्माका एकमएक होनेसे उन्हें आत्मास्वरूप माना जायगा उससमय वे शरीरीबंधके भेद समझे जायंगे। औदारिक आदि शरीरोंकी भेद विवक्षा रहने पर उपर्युक्त पंद्रह भेद शरीर बंधके हैं। अभेद विवक्षा रहने पर वे भेद शरीरीबंधके समझने चाहिये। शंका—

कर्म और नोकर्मके अंदर क्या भेद है? उत्तर—मन वचन और कायकी क्रियाका नाम योग है उस योगस्वरूप आत्माके परिणामसे जो किया जाय वह कर्म कहा जाता है अर्थात् मन वचन और कायकी क्रियासे जो आत्माके अंदर हलन चलन होता है उससे आत्मामें कर्मोंका आगमन होता है इसलिये मन वचन काय स्वरूप आत्माके परिणामसे जो हो वह कर्म है। यह कर्म आत्माओंको पराधीन करनेमें मूल कारण है अर्थात् कर्मोंके संबंधसे ही पराधीन हो आत्मा संसारमें भटकता फिरता है तथा कर्मोंके उदयसे जायमान जो पुद्गलका परिणाम आत्माको सुखी दुःखी करनेमें सहायक है वह नोकर्म कहा जाता है वह औदारिकशरीर आदि है। 'नो' यह अव्यय है और उसका ईषत् (थोड़ा) अर्थ है इसलिये नोकर्मका अर्थ ईषत्कर्म किया गया है अर्थात् जो स्वयं कर्म तो न हो किंतु कर्मको सहायता पहुंचानेवाला हो वह नोकर्म कहा जाता है। एक तो इसरूपसे कर्म और नोकर्मके अंदर भेद है दूसरे

जाता है इसलिये जो स्कंध स्थूल हैं उनके अंदर तो धरना उठाना आदि व्यापार होता ही है परंतु द्व्यणुक आदि भी स्कंध कहे जाते हैं किंतु उन्हें न ग्रहण किया जा सकता है और न रखा जा सकता है तथापि उन्हें स्कंध कहा जाता है। इसलिये धरना उठाना रूप उपलक्षणस्वरूप क्रिया माननेसे द्व्यणुक आदिमें वह क्रिया नहीं घटित होने पर भी स्कंधपना बाधित नहीं।

उभयत्र जात्यपेक्षं बहुवचनं ॥ ३ ॥

यद्यपि पुद्गलोंके अनंत भेद हैं तथापि अणुजाति और स्कंधजाति ये दो ही उनकी जाति हैं एवं अणु और स्कंध पुद्गलोंके जितने भी भेद हैं उन सबका ग्रहण है अर्थात् अणु जातिके पुद्गल अनंत हैं और उनका अणु शब्दसे ग्रहण है। स्कंध जातिके भी पुद्गल अनंत हैं और उनका स्कंधरूपसे ग्रहण है इस प्रकार अणु और स्कंधजातिके आधार अनंते अनंते पुद्गल हैं यह बतलानेके लिये 'अणवः' और 'स्कंधाः' यहांपर बहुवचनांत अणु और स्कंध शब्दका प्रयोग किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अणुस्कंधा इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्नोभयसूत्रसंबंधार्थत्वाद्भेदकरणस्य ॥ ४ ॥

'अणवः स्कंधाश्च' इस सूत्रकी जगहपर 'अणुस्कंधाः' इतना सूत्र करना ही ठीक है क्योंकि ऐसे सूत्रके करनेमें अक्षर थोडे हैं इसलिये लाघव है एवं सूत्रका जो यथार्थ अर्थ है उसके अंदर भी किसी प्रकारकी अड़चन नहीं होती। सो ठीक नहीं। ऊपर स्पर्शरसगंधेत्यादि और शब्दबंधसौक्ष्म्येत्यादि दो सूत्र कहे गये हैं तथा स्पर्श रस गंध और वर्णवान तो अणु है और शब्द बंध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तम छाया आतप और उद्योतवान् स्कंध हैं, इसप्रकार दोनों सूत्रोंके साथ अणु और स्कंधका संबंध किया गया है इसलिये दोनों सूत्रोंके साथ अणु और स्कंधका संबंध करनेके लिये 'अणवः, स्कंधाः' इस रूपसे अणु और स्कंधका भिन्न भिन्न रूपसे उल्लेख किया गया है। यदि 'अणुस्कंधाः' ऐसा समासांत एक पद किया जाता तो 'अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः' अर्थात् विग्रह अवयव—पदोंका होता है और

कादि शरीरोंकी स्थिति स्वायुः प्रमाण बताई गई है वह नोकर्मका भेद स्वरूप है, कर्मस्वरूप नहीं है। उन औदारिकशरीर आदि कर्मोंमें औदारिकशरीर वैक्रियिकशरीर तैजसशरीर और कार्मणशरीर रूप कर्मोंमें प्रत्येक कर्मकी स्थिति वीस वीस कोटाकोटी सागरप्रमाण है और आहारक शरीररूप कर्मकी स्थिति कोटाकोटि सागरप्रमाणके भीतर है। इसप्रकार बंधरूप पुद्गलकी पर्यायका विवेचन कर दिया गया। अब सौक्ष्म्य आदिका तात्पर्य बतलाया जाता है—

सौक्ष्म्यं द्विविधमंत्यमापेक्षिकं च ॥ १४ ॥

अंत्य और आपेक्षिकके भेदसे सौक्ष्म्य दो प्रकारका है। जो सबसे अंतमें होनेवाला हो वह अंत्य कहा जाता है और जो अपेक्षाकृत हो वह आपेक्षिक कहा जाता है। सबसे छोटा परमाणु पदार्थ है इसलिये अंत्य सौक्ष्म्य परमाणुके अंदर रहता है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य विल्व—वेल फल, आंवला फल और वदरी फल-वेरफल आदिके अंदर रहता है अर्थात् बेलकी अपेक्षा आंवला सूक्ष्म है और आंवलेकी अपेक्षा वेर आदि सूक्ष्म हैं।

तथा स्थौल्यं ॥ १५ ॥

जिसतरह सौक्ष्म्य अंत्य और आपेक्षिकके भेदसे दो प्रकारका है उसप्रकार स्थौल्यके भी अंत्य और आपेक्षिक दो भेद हैं। समस्त जगतमें रहनेवाला महास्कंध सबसे स्थूल है उससे बड़ा कोई पदार्थ नहीं इसलिये अंत्य स्थौल्य तो महास्कंधके अंदर रहता है और अपेक्षासे होनेवाला आपेक्षिक स्थौल्य वेर आंवला बेल और ताल आदिमें है अर्थात् वेरकी अपेक्षा आंवला स्थूल है। आंवलेकी अपेक्षा वेल स्थूल है और वेलकी अपेक्षा तालस्थूल है।

संस्थानं द्वेधेत्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं च ॥ १६ ॥

संस्थानका अर्थ आकार है और वह इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षणके भेदसे दो प्रकारका है। यह

वादमें माना गया है' तब तो कोई दोष नहीं परंतु यहां तो 'अंत्यं कारणमेव' अर्थात् परमाणु कारण ही है इसप्रकार एव शब्दसे अवधारण किया गया है इसलिये विरोध टल नहीं सकता क्योंकि यह नियम है जहांपर एवकार किया जाता है उससे अन्यका नियमसे निषेध हो जाता है इसलिये यहांपर परमाणु कारण ही है कार्य नहीं ऐसा निश्चय होनेसे परमाणुमें कार्यपनेका सर्वथा निषेध हो जाता है इसलिये परमाणु कथंचित् कार्य और कथंचित् कारण स्वरूप ही कहा जा सकता है। तथा—

नित्य इति चायुक्तं स्नेहादिभावेनानित्यत्वात् ॥ ७ ॥

परमाणु नित्य ही है ऐसा भी नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने स्वीकार कर रक्खा है, परंतु वह भी ठीक नहीं क्योंकि परमाणुके अंदर स्नेह आदि गुणोंका सद्भाव अर्थात् स्नेह आदि स्वरूप ही परमाणुको माना है। वे स्नेह आदि गुण परमाणुके अंदर उत्पन्न होते हैं और विनष्ट भी होते हैं इसलिये स्नेह आदि गुणोंके उत्पाद विनाशसे परमाणुका भी उत्पाद विनाश होनेसे वह अनित्य भी है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे परमाणु नित्य पदार्थ है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य भी है इसलिये उसका सर्वथा नित्य मानना अयुक्त है। शंका—

अनादिपरमाण्ववस्थामिति चेन्न तत्कार्याभावात् ॥ ८ ॥

परमाणु पदार्थ अनादि है और अत्यंत सूक्ष्म है वह द्व्यणुक त्र्यणुक आदि कार्योंका उत्पादक होनेसे कारण ही है, कार्य नहीं होसकता तथा वह भेदसे उत्पन्न होता है यह भी बात नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ? सो ठीक नहीं। यदि उसको अनादि पारिणामिक सूक्ष्म स्वभावका धारक माना जायगा तो उससे द्व्यणुक त्र्यणुक आदि कार्योंकी उत्पत्ति न बन सकेगी क्योंकि कार्यस्वरूप होनेसे उसका जो अनादि अणुत्व आदि स्वभाव है उसका अभाव हो जायगा। यदि कहा जायगा कि द्व्यणुक आदि परमाणुके कार्य हैं ही तब द्व्यणुक रूप कार्यके भेद होनेसे परमाणु उत्पन्न होता है ऐसा माने जाने

प्रकाशको ढकनेवाला प्रकाशावरण शब्दका अर्थ है। यहांपर प्रकाशावरण शब्दसे शरीर आदिका ग्रहण है। पुद्गल द्रव्यकी छायारूप पर्याय शरीर आदिके निमित्तसे होती है, वह छाया दो प्रकारकी मानी है। एक तद्वर्णादिविकारस्वरूप, दूसरी प्रतिबंधग्रहणमात्रस्वरूप। स्वच्छ द्रव्यस्वरूप दर्पणके तल आदिमें मुखादिकी छाया है वह तद्वर्णादिरूप है क्योंकि जैसा वर्ण वा चिह्न आदि होता है दर्पणमें स्पष्ट रूपसे झलक जाता है तथा दर्पण आदिसे भिन्न अन्य स्थानोंमें जो छाया है वह प्रतिबंधमात्रस्वरूप है जैसे जलमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब, वहां पर प्रतिबिम्बमात्र दीख पड़ता है, वर्ण आदिकी झलक नहीं दीख पड़ती। शंका—

पूर्वकी ओर मुखकर खड़े होनेपर छायामें उत्तरकी ओर मुख दीख पड़ता है यह छायाके अंदर विपरीतग्रहण क्यों ? अर्थात् जिस ओर मुखकर खड़ा हुआ जाय उसी ओर मुख छायामें दिखना चाहिये किन्तु खड़ा हुआ जाता है पूर्वकी ओर मुखकर और छायामें दीख पड़ता है उत्तरकी ओर मुख! यह विपरीत बात क्यों होती है ? उत्तर—दर्पण आदि द्रव्यके अंदर रहनेवाली स्वच्छता रूप परिणाम विशेषसे पूर्व दिशाकी ओर मुखकर खड़े होनेपर उत्तर दिशाकी ओर मुख दीख पड़ता है। यदि वहांपर प्रतिवादी (नैयायिक और वैशेषिक) यह कहे कि—

दर्पणके तल आदिमें छाया नहीं रहती किन्तु हमारे मतमें नेत्रको तैजस—दीपक आदिके समान तेजस्वरूप पदार्थ माना है एवं दीपक आदि तैजस पदार्थोंके अंदर जिसप्रकार किरण रहती हैं उसीप्रकार नेत्रके अंदर भी किरण हैं उन किरणोंका जिस पदार्थके साथ संबंध रहता है उसी पदार्थका प्रत्यक्ष होता है किन्तु जहांपर उन किरणोंका रुकना होजाता है वहांपर पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। छायाके अंदर बात यह है कि जिस समय नेत्रकी किरणें दर्पणकी ओर जाती हैं और सघन (ठोस) द्रव्य होनेके कारण उससे टकराकर पीछेकी ओर लोटती हैं उस समय उन किरणोंसे अपने ही मुखका ग्रहण होता है इसलिये छाया कोई वास्तविक पदार्थ न होनेसे दर्पण आदि पदार्थोंके अंदर उसका सद्भाव मानना निरर्थक है। सो

उन्हें परमाणुके कार्य माननेमें भी किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं ! सो भी ठीक नहीं। छाया आदि पदार्थ चाक्षुष हैं—नेत्र इंद्रियसे स्पष्टरूपसे दीख पडते हैं इसलिये वे नेत्र इंद्रियसे स्पष्टरूपसे दीख पडनेवाले स्कंधके ही कार्य हो सकते हैं। परमाणु अचाक्षुष हैं क्योंकि उन्हें अतींद्रिय माना है इसलिये चाक्षुष छाया आदि उसके कार्य नहीं होसकते। इसलिये छाया आदि स्कंधके कार्य हैं परमाणुके नहीं, यह कहना मात्र ही नहीं किंतु बलवान चाक्षुषत्व रूप हेतुसे सिद्ध है। तथा वादी जो यह कहता है कि परमाणु पदार्थ अनादि है यह भी उसका कहना अयुक्त है क्योंकि 'भेदादणुः' इस सूत्रमें द्व्यणुकके भेदसे परमाणुकी सिद्धि मानी गई है इसलिये अनादिकालसे जैसाका तैसा परमाणु नामका पदार्थ कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

नित्यवचनं तदर्थमिति चेन्न तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात् ॥ ११ ॥

आगममें जो परमाणुका नित्य विशेषण किया गया है वह 'परमाणु अनादि है' यह ज्ञापन करनकेलिये किया गया है इसलिये अनादि परमाणु कोई पदार्थ नहीं यह कहना अयुक्त है। सो भी ठीक नहीं। जिस परमाणुको नित्य माना गया है उसके अंदर स्नेह रूक्ष आदि गुणोंका विपरिणमन माना गया है क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ होही नहीं सकता जिसका कोई न कोई परिणाम न हो। यह नियम है सर्वथा नित्य पदार्थमें किसी प्रकारका परिणाम हो नहीं सकता अनित्य मानने पर ही होगा तथा स्नेह आदि स्वरूप ही परमाणु है इसलिये स्नेह आदि गुणोंके परिणमनसे परमाणु पदार्थ सर्वथा नित्य नहीं 'कथंचित अनित्य भी है।'

नयापेक्षमिति चेदुक्तं ॥ १२ ॥

यदि कदाचित् यह माना जाय कि पुद्गलका सबसे अंतका अवयव परमाणु कारण है एवं नित्य है यह कहना नयोंकी अपेक्षा है एकांत रूपसे नहीं तब वहांपर यह कहना है कि यदि नयकी अपेक्षा पर-

चंद्रमा मणि और जुगनू आदिके प्रकाशका नाम उद्योत है अर्थात् जिसके प्रकाशमें शांति हो आताप न हो उसका प्रकाश उद्योत कहलाता है। शंका—

क्रियोपसंख्यानं पुद्गलपरिणामादिति चेन्न धर्माधर्माकाशानां क्रियया प्रतिषेधसंबंधेनोक्तत्वात ॥ २४ ॥

यहांपर एक देशसे दूसरे देशमें जानारूप क्रिया ली गई है वह क्रिया पुद्गलका ही परिणाम है इसलिये जिसप्रकार शब्द आदि पुद्गल परिणामोंका सूत्रमें ग्रहण किया गया है उसप्रकार क्रियाका भी ग्रहण करना चाहिये। सो ठीक नहीं। ऊपर धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्यमें क्रियाका निषेध किया गया है उससे अर्थतः यह सिद्ध हो जाता है कि क्रिया पुद्गलकी ही पर्याय है इसरूपसे धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्यमें क्रियाके निषेध करने पर वह क्रिया पुद्गलकी ही पर्याय सिद्ध होती है तव यहांपर उसको पुद्गलकी पर्याय बतलानेकेलिये सूत्रमें क्रिया शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ है इसीलिये शब्दबंधेत्यादि सूत्रम उसका उल्लेख नहीं किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कालस्यापि क्रियावत्त्वप्रसंग इति चेन्न पूर्वत्रानभिधानात् ॥ २५ ॥

धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्यमें क्रियाका निषेध किया गया है उस क्रियाके निषेधकी सामर्थ्यसे यदि पुद्गलकी पर्याय क्रिया मानी जायगी तब क्रियाको कालद्रव्यकी पर्याय भी माननी होगी क्योंकि धर्म अधर्म और आकाशद्रव्यसे जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य भिन्न है उसप्रकार कालद्रव्य भी भिन्न है जसतरह धर्म आदिमें क्रियाके प्रतिषेधकी सामर्थ्यसे पुद्गलकी पर्याय क्रिया मानी जाती है उसी- कालकी पर्याय भी हो सकती है, सो ठीक नहीं। पहिले—'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' पर जिसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंका प्रतिपादन किया गया है उसप्रकार कालद्रव्यका प्रतिपादन ्या गया तथा अजीवकाया धर्माधर्मेत्यादिमें जो धर्माधर्मेत्यादिके उल्लेखका क्रम है उसीके अनुसार

१। यद्यपि जावके भी क्रिया होती है तथापि यहां पुद्गलकी ही क्रियाका ग्रहण है।

पदार्थ है—मातुलिंग आदिके समान वह सावयव नहीं इसलिए उसके अंदर एक रस एक वर्ण और एक गंध ही है। तथा—

द्विस्पर्शौ विरोधाभावात् ॥ १३ ॥

परमाणुमें दो स्पर्शोंका रहना विरुद्ध नहीं क्योंकि उन स्पर्शोंका आपसमें कोइ विरोध नहीं इसलिये शीत और उष्णमेंसे कोईएक एवं स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोईएक इसप्रकार परमाणुके अंदर दो स्पर्श हैं अर्थात् स्निग्ध उष्ण वा स्निग्ध शीत अथवा रूक्ष उष्ण रुक्ष शीत इनका आपसमें कोई विरोध नहीं इसलिये इनमें अविरोधी दो स्पर्श परमाणुके अंदर रह सकते हैं। यद्यपि यहां यह कहा जासकता है कि परमाणु एकप्रदेशी है इसलिये उसमें दो स्पर्श नहीं रह सकते परंतु इसका समाधान यह है कि जो स्पर्श आपसमें विरोधी हैं उन्हीं दो स्पर्शोंका परमाणुके अंदर रहना नहीं हो सकता किंतु जिन स्पर्शोंका आपसमें कोई विरोध नहीं उनके रहनेमें कोई आपत्ति नहीं। स्निग्ध उष्ण किंवा रूक्ष उष्ण आदि दो अविरोधी स्पर्श हैं वे एक साथ एक जगह रह सकते हैं उनका परमाणुमें एक साथ रहना बाधित नहीं यथा यहां पर यह विशेष समझ लेना चाहिए कि शीत उष्ण और स्निग्ध रूक्ष इन्हीं चार प्रकारके स्पर्शमेंसे अविरोधी दो स्पर्श परमाणुके अंदर रह सकते हैं, भारी हलका और कोमल कठोर इन चार प्रकारके स्पर्शोंमेंसे कोई भी स्पर्श परमाणुके अंदर नहीं रह सकता क्योंकि इन स्पर्शोंका अधिकरण स्कंध है ये स्कंधहीमें रहते हैं। स्पष्ट भाव यह है कि यह भारी है यह हलका है यह कोमल है और यह कठोर है, यह व्यवहार स्कंधके ही अंदर होता है परमाणु अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ है वह भारी हलका आदि धर्मोंसे रहित है इसलिए भारी हलका आदि धर्म परमाणुके अंदर नहीं रह सकते शंका—जब परमाणु अत्यंत परोक्ष है किसी भी इन्द्रियसे उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तब उनका जगतके अंदर अस्तित्व है यह कैसे निश्चय होगा क्योंकि अत्यंत परोक्ष पदार्थका गधेके सींगके समान अभाव भी कहा जा सकता है। उत्तर—

अर्थात् जिसप्रकार जीव और पुद्गल एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना रूप परिस्पंद—हलन चलन क्रिया करते हैं उस प्रकार काल द्रव्यके अंदर हलन चलनरूप क्रिया नहीं इसलिये परिस्पंदरूप क्रियाकी अपेक्षा कालद्रव्य निष्क्रिय है परन्तु अस्ति आदि क्रियाकी अपेक्षा वह निष्क्रिय नहीं क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सदा उसके अंदर परिणमन हुआ करता है इसलिये जिससमय द्रव्यार्थिक-नयकी विवक्षा की जायगी उससमय अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियास्वरूप द्रव्यकी अपेक्षा कथंचित् कालद्रव्य क्रियावान है और जिससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जायगी उससमय एक-देशसे दूसरे देशमें लेजानेमें समर्थ हलनचलन क्रियारूप विशिष्ट परिणाम अर्थात् हलनचलनक्रियारूप पर्याय कालद्रव्यके अंदर नहीं है इसलिये उसके अंदर न होनेसे कालद्रव्य निष्क्रिय है। वार्तिककार क्रियाके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

सा दशप्रकारा प्रयोगबंधाभावच्छेदाभिघातावगाहनगुरुलघुसंचारसंयोगस्वभावनिमित्तभेदात् ॥ २६ ॥

वह क्रिया प्रयोग बंधाभाव छेद अभिघात अवगाहन गुरु लघु संचार संयोग और स्वभावरूप निमित्तोंके भेदसे दश प्रकारकी है अर्थात् प्रयोगगति १ बंधाभावगति २ छेदगति ३ अभिघातगति ४ अवगाहनगति ५ गुरुगति ६ लघुगति ७ संचारगति ८ संयोगगति ९ स्वभावगति १० ये दश भेद क्रियाके हैं। ये प्रयोगगति आदि दशो प्रकारकी क्रियायें वाण, एरंडवीज (अंडी), मृदंगका शब्द, लाखका गोला, नावद्रव्य, पाषाण, अलावू (तूंबडी) शराब मेघ और पवन आदि पदार्थोंसे संबंध रखनेवाली हैं उनमें वाण चक्र और कणप (अस्त्रविशेष) इनकी प्रयोगगति है क्योंकि मनुष्य आदिके प्रयत्नसे इनकी गति क्रिया होती है। एरंडवीज (अंडी) तिंडुक वीज (तिंदुडूका वीज) इनकी बंधाभावगति है क्योंकि इनका ढेमना आदिमें बंधन रहता है जिससमय उस बंधनका अभाव होता है उससमय इनकी गति होती है। मृदंग भेरी और शंख आदिके शब्द पुद्गल होनेसे आपसमें छिन्न भिन्न

एवं उससे स्कंधरूप स्थूलकार्यकी उत्पत्ति होती है इसलिये वह स्थूल भी है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा परमाणुका द्रव्यरूपसे कभी भी नाश नहीं होता इसलिये वह नित्य भी है और बंधका भेद भी होता है. अर्थात् जिन परमाणुओंकी स्कंधरूप बंधपर्याय हो रही है उसकी भेदरूप पर्याय होनेसे तथा स्निग्ध रूक्ष आदि गुणोंका भी निरंतर संक्रमण अर्थात् उत्पाद विनाशरूप अपर्याय होनेसे वह अनित्य भी है। वह अप्रदेशी है जिससमय यह विवक्षा की जायगी उससमय निःप्रदेशत्वरूप पर्यायकी अपेक्षा वह एक रस एक वर्ण एक गंध और दो स्पर्शवाला है एवं उसके अंदर अनेक स्कंधस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति है जिससमय यह माना जायगा उससमय वह अनेक रस अनेक वर्ण अनेक गंध और दोसे अधिक स्पर्शवाला है। जिससमय उसके सद्भावका निश्चय कार्य लिंगरूप अनुमानके द्वारा माना जायगा उससमय वह कथंचित् कार्यलिंग अर्थात् अनुमानगम्य है एवं जिससमय प्रत्यक्ष ज्ञान—अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानसे उसका साक्षात् प्रत्यक्ष माना जायगा उससमय वह कार्यलिंग नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है—

कारणमेव तदंत्यः सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥ १ ॥

अर्थात् परमाणु कारण भी है अंत्य भी है सूक्ष्म भी है, नित्य भी है एक रस एक वर्ण एक गंध और दो स्पर्शवाला भी है। विशेष—यह कारणपना आदि परमाणुका अनेकांतके आधारपर माना है इसलिये खुलासा तात्पर्य इस श्लोकका यह है कि परमाणु कारणरूप भी है, कार्यरूप भी है, अंत्यस्वरूप भी है, अनंत्यस्वरूप भी है, सूक्ष्म भी है स्थूल भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है। एक रस एक वर्ण एक गंध और दो स्पर्शवाला भी है, अनेक रस अनेक वर्ण अनेक गंध एवं अनेक स्पर्शवाला भी है तथा कार्यलिंग भी है और कार्यलिंगसे रहित भी है यह सब विवक्षा द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे घटित होती है। अब वार्तिककार स्कंध पर्यायका कुछ स्वरूप बतलाते हैं—

साथ दंडका संबंध है इसलिये दंड शब्दसे मत्वर्थीय इन् प्रत्ययका विधान है। शब्द बंधेत्यादि सूत्रमें भी मतु प्रत्ययका विधान है इसलिये यहांपर भी शब्द आदिका शब्दवान् आदिसे भेद है यह अनुमान किया जाता है। सो ठीक नहीं। अभेद रहने पर भी लोकमें मत्वर्थीय प्रत्यय दीख पड़ता है जिसतरह 'सारवान् स्तंभः' यह खंभा सारवाला है। 'आत्मवान् पुरुषः' यह पुरुष आत्मावाला है। यद्यपि सार पदार्थ स्तंभसे और आत्मा पदार्थ पुरुषसे भिन्न नहीं तथापि सार और आत्मन् शब्दसे मत्त्वर्थीय मतु प्रत्ययका विधान है इसीतरह शब्दवान आदिसे शब्द आदि भी अभिन्न हैं तथापि वहां मत्वर्थीय प्रत्ययके होनेमें कोई आपत्ति नहीं तथा शब्द आदिका शब्दवान् आदिसे कथंचित् भेद भी माना है क्योंकि जिससमय पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय पर्याय दृष्टिसे शब्द आदि पर्यायोंका शब्दवान् आदि पुद्गलोंसे भेद होनेसे शब्दवान आदिसे शब्द आदि भिन्न हैं एवं जब द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी तब जिसप्रकार अग्निसे तपा हुआ लोहका पिंड अग्नि स्वरूप ही माना जाता है अग्निसे भिन्न नहीं माना जाता उसीप्रकार पुद्गलका शब्दादि स्वरूप परिणमन होनेसे उसे शब्दादि स्वरूप ही माननेसे शब्दवान आदिसे शब्द आदिका अभेद है क्योंकि द्रव्य दृष्टिसे शब्द आदि पुद्गल स्वरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं उपलब्ध होते इसरीतिसे कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदरूप अनेकांत प्रक्रियासे शब्द आदिसे मत्वर्थीय प्रत्ययका विधान अयुक्त नहीं। शंका—यदि स्पर्श रस आदिक और शब्द बंध आदिक पुद्गलके ही परिणाम—पर्याय हैं तब स्पर्श रसेत्यादि सूत्रमें स्पर्श आदिका और शब्दबंधेत्यादि सूत्रमें शब्द आदिका, इसप्रकार दो सूत्रोंसे दोनोंका क्यों प्रतिपादन किया गया ? दोनो सूत्रोंका एक सूत्र ही बनाना ठीक था, दोनों सूत्रोंका एक सूत्र होने पर कुछ अक्षर भी कम कहने पडते यह लाघव भी होता ? उत्तर—

पृथग्ग्रहणं केषांचिदुभयपर्यायज्ञापनार्थं ॥ २८ ॥

स्पर्श रस आदि जो पुद्गलके गुण बतलाये गये हैं वे अणु और स्कंध दोनों प्रकारके पुद्गलोंके होते

बात है कि—स्पर्श रस आदि स्वरूप जो आहार खाया जाता है वह वात पित्त और कफस्वरूप परिणत होता है, पित्त पदार्थ जठराग्नि स्वरूप है यह सर्वमान्य सिद्धांत है इसलिये यह बात सुनिश्चित है कि तेज पदार्थ स्पर्श आदि चारो गुणोंका धारक है, रस आदिका उसके अंदर अभाव नहीं। तथा—

स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायुः स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। वायु स्पर्शवाला होनेसे स्पर्श रस आदि वा शब्द बंध आदि पर्यायस्वरूप है जिस तरह घट आदि। अर्थात् जिसप्रकार घट पदार्थ स्पर्शवाला है और रस गंध वर्ण स्वरूप एवं शब्द बंध आदि स्वरूप भी है उसीप्रकार जब वायु स्पर्शवाला है तब वह भी रस गंध वर्ण स्वरूप एवं शब्द बंध आदि स्वरूप हैं रस आदिका उसके अंदर अभाव नहीं कहा जा सकता तथा यह भी बात है कि–स्पर्श रस आदि स्वरूप जो भी आहार खाया जाता है वह बात पित्त कफ स्वरूप परिणत होता है। बातको प्राण अपान आदि स्वरूप माना है इसलिये यह बात अच्छी तरह निश्चित हो चुकी कि वायु स्पर्श आदि समस्त पर्याय स्वरूप है किंतु रस आदिका उसके अंदर अभाव है यह बात नहीं। इस रूपसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होचुकी कि पृथिवी जल तेज आदि चारो स्कंधोंमें प्रत्येक स्कंध स्पर्श आदि समस्त पर्यायस्वरूप हैं किंतु किसीमें स्पर्श आदि चारो हैं किसीमें तीन हैं, किसीमें दो हैं किसीमें एक है यह बात नहीं इसलिये जिन दर्शनकारोंने अर्थात् नैयायिक और वैशेषिकोंने जो यह बात मान रक्खी है कि पृथिवीमें स्पर्श रस गंध और वर्ण ये चारो रहते हैं। जलमें स्पर्श रस और वर्ण ये तीन रहते हैं। तेजमें स्पर्श और वर्ण ये दो ही रहते हैं एवं वायुमें केवल स्पर्श रहता है और पृथिवीत्व जातिवाला पृथिवी जलत्व जातिवाला जल आदि चारोंको भिन्न २ जाति-वाला मान रक्खा है उस बातका खंडन होचुका।

विशेष—नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकारोंने पृथिवी जल तेज और वायु इन चार पदार्थोंको भूत मान रक्खा है और उनका यह सिद्धांत है कि पृथिवीके अंदर तो स्पर्श रस गंध और वर्ण ये चारो

गुणोंके अंदर व्यवस्था समझ लेनी चाहिये अर्थात् कोमल आदि गुणोंका जो परिणमन होता है वह भी अपनी जातिको न छोड़कर समान जातीय कोमल आदि स्पर्श पर्याय स्वरूप ही होता है, भिन्नजातीय स्वरूप नहीं। तथा तीखा रस नामका एक गुण अपनी जातिको न छोड़कर जिससमय पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले उत्पाद विनाशरूप परिणामोंकी संततिसे वर्तमान रहता है उससमय द्विगुणा तिगुणा चौगुना संख्यातगुणा असंख्यातगुणा और अनंतगुणा जो भी उसका परिणाम होता है वह तीखा रस स्वरूप ही होता है कड़वा आदि रसस्वरूप नहीं। इसीप्रकार कड़वे आदि रसोंके अंदर भी स्वस्वरूप ही परिणमन होता है परस्वरूप नहीं। तथा—सुगंध नामका गंध अपनी गंध जातिको न छोड़कर जिस समय पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले उत्पाद और विनाशोंकी संतति स्वरूप प्रवर्तता है उससमय जो उसका परिणमन होता है वह सुगंध स्वरूप ही होता है; दुर्गंध स्वरूप नहीं होता, इसीप्रकार दुर्गंधके अंदर भी समझ लेना चाहिये उसका परिणमन भी स्वस्वरूप—दुर्गंध स्वरूप ही होगा, सुगंध स्वरूप नहीं हो सकता। तथा सफेद नामका एक वर्ण गुण अपनी वर्णजातीय परित्याग न कर जिससमय पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाली उत्पाद विनाशोंकी संतति स्वरूप प्रवर्तमान होता है उससमय जो भी उसका परिणमन होता है वह सफेद वर्णस्वरूप ही होता है नील आदि वर्ण स्वरूप नहीं इसीप्रकार नील आदि वर्णोंके अंदर भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए वहांपर भी स्ववर्णस्वरूप ही परिणमन होगा परवर्णस्वरूप नहीं हो सकता। शंका—

जहांपर कठोर स्पर्श कोमल स्पर्शस्वरूप, भारी हलका स्वरूप, चिकना रूखास्वरूप ठंडा गरम स्वरूप, तीखा रस कडुआ आदि रसस्वरूप, सुगंध दुर्गंध स्वरूप, सफेद वर्ण काला आदि वर्णस्वरूप एवं दूसरे गुण दूसरे दूसरे गुणोंके साथ संबंध रहनेपर दूसरे दूसरे गुण स्वरूप परिणत होते हैं वहांपर स्वस्वरूप परिणमन न होकर पर स्वरूप परिणमन कैसे होता है? समाधान—जहांपर कठिन स्पर्शका

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते ॥ २६ ॥

पुद्गलोंके स्कंध, भेद टूटनेसे और संघात मिलनेसे होते हैं। भेदसंघातेभ्य यहां बहुबचन होनेसे भेद और संघात तथा एक साथ भेद संधात तीनोंसे स्कंध होते हैं यह समझना चाहिए। नानापरमाणुओंके मिलनेसे और नाना स्कंधोंके मिलनेसे भी नाना स्कंध होते हैं और बडे बडे स्कंधोंके टूटनेसे भी दो परमाणुओं तकके द्व्यणुक तकके अनेक स्कंध होते हैं तथा इसीप्रकार कितने ही स्कंधोंका एक ही समयमें भेद और संधात दोनों होनेसे भी स्कंध होते हैं।

संहतानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः ॥ १ ॥

विपरिणाम करानेवाले वाह्य और अभ्यंतर कारणोंकी विद्यमानतामें आपसमें मिले हुए स्कंधोंका जो विदारण अर्थात् टुकडे टुकडे कर देना है उसका नाम भेद है।

विविक्तानामेकीभावः संघातः ॥ २ ॥

भिन्न भिन्न अवयवोंका जो आपसमें एकीभाव—जुड जाना है, उसका नाम संधात है। शंका—

द्वित्वाद्द्विवचनप्रसंग इति चेन्न बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात ॥ ३ ॥

जब भेद और संघात दो कारणोंसे स्कंधोंकी उत्पत्ति मानी गई तब भेदसंघाताभ्यां, ऐसा द्विवचन होना चाहिए भेदसंघातेभ्यः ऐसा बहुवचन क्यों किया गया। सो ठीक नहीं। भेदसे भी स्कंधकी उत्पत्ति होती है संघातसे भी होती है एवं एक साथ होनेवाले भेदसंघातसे भी होती है यह विशिष्टार्थ वतलानेके लिए भेदसंघातेभ्यः ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया गया है इसलिए जिसप्रकार भेदसे और संघातसे स्कंधकी उत्पत्ति मानी है उसप्रकार एक ही समयमें भेदके साथ संघातसे भी स्कंधकी उत्पत्ति होती है यह अर्थ समझ लेना चाहिए।

उत्पूर्वः पदिर्ज्ञात्यर्थः ॥ ४ ॥

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

तथा वह पुद्गल द्रव्य अणु और स्कंधके भेदसे दो प्रकारके हैं। दोसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत परमाणुओं तकके पिंडकी स्कंध संज्ञा है।

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यंते शब्द्यंते इत्यणवः ॥ १ ॥

परमाणुका एक प्रदेश माना है इसलिये केवल एक प्रदेशमें रहनेवाले स्पर्श आदि गुणोंसे निरंतर परिणमते हैं यह बात जिनके द्वारा प्रगट की जाय वे अणु-परमाणु कहे जाते हैं। उनसे सूक्ष्म और दूसरा कोई पुद्गलका अवयव नहीं इसलिये वे ही तो स्वयं अपनी आदि स्वरूप हैं वे ही मध्यस्वरूप और वे ही अंतस्वरूप हैं अर्थात् जिसप्रकार वस्त्र आदिमें कोई खंड आदिस्वरूप रहता है कोई मध्यस्वरूप रहता है और कोई अंतस्वरूप रहता है उसप्रकार आदि मध्य और अंतका परमाणुके अंदर विभाग नहीं वह स्वयं ही आदिस्वरूप स्वयं ही मध्यस्वरूप और स्वयं ही अंतस्वरूप होता है। कहा भी है—

अंतादि अंतमज्झं अंतते णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ॥ १ ॥

जो पदार्थ स्वयं ही तो अपनी आदिस्वरूप हो, स्वयं ही अपना मध्यस्वरूप हो, स्वयं ही अपना अंतस्वरूप हो, इंद्रियां जिसको प्रत्यक्ष न कर सकें और जिसको दूसरा कोई भी विभाग न हो सके वह पदार्थ परमाणु है। स्कंधके अंदर यह कोई बात नहीं हो सकती। वार्तिककार स्कंधका स्वरूप बतलाते हैं—

स्थौल्याद्ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कंदनात्स्कंधाः ॥ २ ॥

स्थूल होनेसे जिसमें ग्रहण करना और रखना आदि व्यापार हो सके उसे स्कंध कहते हैं। 'ग्रहण करना और रखना आदि व्यापार हो सके' यह क्रिया रूढ है और जो रूढ क्रिया होती है वह कहीं कहीं उपलक्षणस्वरूप मान ली जाती है अर्थात् वह क्रिया कहीं पर न हो तो भी उसका सद्भाव मान लिया

एक ही समयमें अन्यसे भेद होनेपर और अन्यका मिलाप होनेपर एक साथ होनेवाले भेदसंघातसे द्विप्रदेश स्वरूप आदि स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २६ ॥

स्कंधोंकी उत्पत्तिके कारण बतला दिये गये परंतु वे सामान्यरूपसे कहे जानेके कारण परमाणुकी उत्पत्तिके कारण समझे जासकते हैं इसलिये विशेषरूपसे परमाणुकी उत्पत्तिका कारण प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

भेदादणुः ॥ २७ ॥

परमाणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है, संघातसे नहीं।

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनंमब्भक्ष्यवत् ॥ १ ॥

संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं जो जलको न पीता हो क्योंकि जलके विना जीवनकी सत्ता रह नहीं सकती इसलिये जलका पीना सबकेलिये स्वभाव सिद्ध है तथापि जिसके लिये खासकर 'अब्भक्ष' वचनका प्रयोग किया जाता है वहांपर स्वभावसे ही यह नियम सिद्ध होजाता है कि यह जल ही पीता है अन्य चीजका भक्षण नहीं करता उसीप्रकार 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते' इस सूत्रसे भेदसे परमाणुओंकी उत्पत्ति स्वतः सिद्ध है फिर जो 'भेदादणुः' यह कहा गया है वह केवल भेदसे ही परमाणुओंकी उत्पत्ति होती है संघात वा एक साथ होनेवाले भेदसंघातसे नहीं होती यह नियम द्योतन करनेकेलिये है। यद्यपि यह नियम द्योतन करनेकेलिये एवकारकी आवश्यकता थी तथापि जब जलभक्षकके समान वह सामर्थ्यसे ही सिद्ध है तब एवकारकी कोई आवश्यकता नहीं ॥ २७ ॥

संघातरूप कारणसे ही स्कंधोंकी उत्पत्ति मान लेना उपयुक्त था फिर जो भेदसंघात ग्रहण किया है उसका ग्रहण करना अनर्थक है। ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार उसके ग्रहणका प्रयोजन प्रतिपादन करते हुये सूत्र कहते हैं—

समुदाय समासका अर्थ लिया जाता है, अर्थात् समास करनेपर समुदाय ही अर्थवान् होता है, अवयव नहीं। व्याकरणके इस नियमानुसार 'अणुस्कंध' ऐसे समुदायका ही अर्थ होता एवं अणु और स्कंध ऐसे अवयवोंका अर्थ नहीं होता तथा जहांपर भी संबंध होता वहांपर अणुस्कंध ऐसे समुदायका ही होता, अणु और स्कंधका भिन्न भिन्न रूपसे संबंध नहीं होता परंतु ऊपर कहे गये दोनों सूत्रोंमें भिन्न भिन्न रूपसे अणु और स्कंधका संबंध है इसलिये दोनों सूत्रोंके साथ संबंध करनेकेलिये भिन्न भिन्न प्रत्ययांत अणु स्कंधका उल्लेख किया है 'अणुस्कंधाः' ऐसा समासविशिष्ट नहीं किया है। अन्य अन्य सिद्धांतकारोंने परमाणुका स्वरूप जैसा जैसा मान रक्खा है, वार्तिककार उनमें कुछ स्वरूपोंका खंडन करते हैं—

कारणमेव तदंत्यमित्यसमीक्षिताभिधानं कथंचित्कार्यत्वात् ॥ ५ ॥

पुद्गलका सबके अंतमें होनेवाला जो अवयव अर्थात् परमाणु है वह कारण ही है कार्य नहीं हो सकता ऐसा किन्हीं किन्हीं सिद्धांतकार अर्थात् नैयायिक वैशेषिक आदि सिद्धांतकारोंका कहना है। वह अविचारपूर्वक कहना है क्योंकि वास्तविक अनेकांतरूपसे कारण कार्य दोनों स्वरूप माननेसे परमाणुको कथंचित् कार्यरूप भी मान लिया है। आगे "भेदादणुः २७।" इस सूत्रसे जहांपर भेदसे परमाणुकी उत्पत्ति मानी है वहांपर परमाणुका कार्यपना अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है इसलिये एकांतरूपसे परमाणु कारण ही है यह बात नहीं कही जा सकती। शंका —

अविरोध इति चेन्नैवशब्देनावधारणात् ॥ ६ ॥

यदि परमाणुको कथंचित् कार्यस्वरूप भी मान लिया जाय तो भी कारणपनाका निषेध नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार वह कथंचित् कार्यस्वरूप है उसप्रकार कथंचित् कारणस्वरूप भी है इसलिये परमाणुके कारणपनेका विरोध नहीं किया जा सकता। सो ठीक नहीं। यदि इसप्रकार कथंचितरूपसे जिसतरह उसे कार्य माना गया है उसतरह कथंचितरूपसे कारण भी माना जाय जैसा कि 'अनेकांत

गतिमें सहायता देनेवाला धर्मद्रव्य है। स्थितिमें सहायता देनेवाला अधर्मद्रव्य है, अवगाहन दान देनेवाला आकाशद्रव्य है, वर्तना उपकार कालद्रव्यका है, शरीर वाणी आदि उपकार पुद्गलद्रव्यका है, आपसमें उपकार करनारूप उपकार जीवद्रव्यका है इसप्रकार गति स्थिति अवगाहन वर्तना शरीर आदि एवं परस्पर उपग्रह आदि कारणोंसे धर्म अधर्म आदिके अस्तित्वका अनुमान प्रमाणके द्वारा निश्चयकर उन्हें पहिले द्रव्य कह आये हैं परंतु वे द्रव्य क्यों हैं? यह बात अभीतक नहीं बतलाई इसलिये सूत्रकार जिस द्रव्यके लक्षणके आधारपर धर्म आदिको द्रव्य कहा गया है उस द्रव्यके लक्षणके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

सद्द्रव्यलक्षणं ॥ २९ ॥

द्रव्यका लक्षण सत् है अर्थात् जो सत्स्वरूप हो वही द्रव्य है।

धर्मादि द्रव्यमित्यवध्रियते सत्वात्,—धर्म अधर्म आदि सत्स्वरूप हैं इसलिये वे द्रव्य कहे जाते हैं क्योंकि जो सत् है वह द्रव्य है इस रूपसे धर्म आदिको द्रव्यपना निर्बाधरूपसे है ॥ २९ ॥

जब द्रव्यका लक्षण सत् निश्चित हुआ तब प्रश्न उठता है कि उस सत्का लक्षण क्या है? इसलिये कहा जाता है कि—जो इंद्रियोंसे ग्रहण किया जा सके, अतींद्रिय भी हो, वाह्य और अंतरंग कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाला हो वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत् पदार्थ है ऐसा यहांपर वाक्यशेष समझ लेना चाहिये इसीबातके बतलानेके लिये उत्पादव्ययेत्यादि सूत्रका प्ररूपण हुआ है। अथवा सत् स्वरूप होनेसे धर्म अधर्म आदि द्रव्य हैं यह निश्चित हो चुका है परन्तु सत् पदार्थ क्या है? यह अभी तक नहीं कहा गया इसलिये सूत्रकारने उत्पादव्ययेत्यादि सूत्रका निर्माण किया है अथवा यदि यह वात विवक्षित रक्खी जायगी कि गति आदि उपकारके विद्यमान रहते हुए धर्म अधर्म आदि द्रव्य सत् हैं तव जिससमय उनसे गति आदि उपकार नहीं हो रहा है इस समय उनको असत् कहनेका अवसर प्राप्त होगा इसलिये चाहे

पर परमाणुमें कार्यपना सिद्ध होगया क्योंकि उसकी उत्पत्तिमें द्व्यणुक भेद कारण पड जाता है। इसरूपसे जब भेद परमाणुकी उत्पत्तिमें कारण युक्तिसिद्ध है तब परमाणु कारण ही है कार्य नहीं हो सकता है यह एकांत रूपसे कहना अयुक्त है। तथा और भी यह बात है कि—

जो कार्य होता है वही कारण होता है कार्यत्वके अभावसे किसीमें कारणपना नहीं माना जासकता जिस तरह जो पुत्र होता है वही जाकर पिता होता है। किंतु जो मनुष्य पुत्र नहीं वह पिता भी नहीं हो सकता। यदि परमाणुको कार्य न माना जायगा तो वह कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि कार्यस्वरूप न होनेसे कारणस्वरूप नहीं हो सकता इसलिये जो वादी परमाणुको कारण मानना चाहते हैं उन्हें उसे कार्यस्वरूप भी मानना चाहिये इसरूपसे परमाणु कथंचित् कारण और कथंचित् कार्य दोनों स्वरूप हैं यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

छायादि तत्कार्यमिति चेन्न स्कंधनिमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

अनादि परमाणुके द्व्यणुक आदि कार्य न हों परंतु छाया आदि कार्य हो सकते हैं अर्थात् जिस तरह तृण आदिकी छाया होती है और वह तृण आदिका कार्य मानी जाती है उसीप्रकार परमाणुकी छाया होसकती है इसलिये छाया आदि परमाणुके कार्य हैं कोई दोष नहीं? सो भी ठीक नहीं। छाया की उत्पत्तिमें कारण स्कंध है क्योंकि अनंतानंत प्रदेशोंके धारक स्कंधोंके द्वारा छाया पदार्थकी उत्पत्ति होती है इसलिये छाया आदिकी उत्पत्तिमें स्कंध ही निमित्त कारण होनेसे वे स्कंधके ही कार्य हैं अनादि परमाणुके नहीं। यदि यहां फिर यह कहा जाय कि—

प्रतिज्ञामात्रमिति चेन्न चाक्षुषत्वात् ॥ १० ॥

छाया आदि स्कंध रूप पुद्गलके कार्य हैं परमाणुके कार्य नहीं यह बात एक प्रतिज्ञा मात्र जान पडती है कोई बलवान हेतु इसबातका सिद्ध करनेवाला नहीं कि वे स्कंधके ही कार्य हैं परमाणुके नहीं अतः

ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवः ॥ ३ ॥

अनादि पारिणामिक स्वभावसे व्यय और उत्पादके न होनेसे जो स्थिर रहै उसका नाम ध्रुव है ध्रुवति–स्थिरीभवति इति ध्रुवः अर्थात् जो स्थिर रहै उसका नाम ध्रुव है यह ध्रुवशब्दकी व्युत्पत्ति है उस ध्रुवका जो भाव वा कर्म है वह ध्रौव्य कहा जाता है जिस तरह पिंड घट आदि समस्त अवस्थाओंमें मिट्टीका अनुगत रूपसे रहना अर्थात् पिंड स्थास कोश कुशूल आदि समस्त मिट्टीकी पर्यायोंमें अनुगत रूपसे मिट्टीका रहना मिट्टीका ध्रुवपना है क्योंकि किसीभी पर्यायमें मिट्टीका नाश नहीं होता। शंका–

अन्येनान्यसंयोगे दंडिवदिति चेन्नांतर्नीतसत्ताक्रियस्य युजेराश्रितत्वात ॥ ४ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यहांपर उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च उत्पादव्ययध्रौव्याणि। उत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं इसप्रकार विग्रह माना है परंतु यह विग्रह ठीक नहीं क्योंकि ऐसा होनेसे दंडीके समान यहांपर अन्यके साथ अन्यका संयोग संबंध सिद्ध होता है तादात्म्य संबंध नहीं सिद्ध हो सकता अर्थात् दंडीका अर्थ दंडविशिष्ट पुरुष यह अर्थ है और वहां पुरुषके साथ दंडका संयोग संबंध है उसीप्रकार उत्पादव्ययध्रौव्य विशिष्ट सत् यह ठहरता है अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका सत्के साथ संयोग संबंध ही सिद्ध होता है तादात्म्य नहीं परन्तु सत्को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक माना है अर्थात् उत्पाद आदिका सत्के साथ तादात्म्य संबंध माना है इसलिये उपर्युक्त रूपसे विग्रह तथा उस रूपसे सूत्रका निर्माण अयुक्त ही है। सो ठीक नहीं। 'युक्तं' यह युजि धातुसे बनाया गया प्रयोग है। सत्तारूप क्रिया युज धातुके भीतर प्रविष्ट है इसलिये सत्तास्वरूप युज धातुका ही यहांपर आश्रय है, इसलिये सत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका आश्रय है अर्थात् उत्पादादि तीनों स्वरूप ही सत् यह यहां अर्थ है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

युजि धातु सत्ताक्रिय कैसे है? तो उसका समाधान यह है कि जितनी भर भी भू आदिक धातु हैं उन सबका 'भाव' यह अर्थ है तथा भाव और सत्ताक्रिया इन दोनोंका एकही विद्यमानतारूप अर्थ है।

माणुको कारण आदि माना जायगा तो वह ठीक ही है उसमें किसी प्रकारकी अडचन नहीं उपस्थित हो सकती क्योंकि—द्व्यणुक त्र्यणुक आदिके समान परमाणु समुदायस्वरूप कार्य नहीं है इसलिए वह कारण है, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्यस्वरूपसे न परमाणुकी उत्पत्ति हो सकती है और न विनाश होसकता है इसलिए वह नित्य भी है। 'कारणमेव' यहांपर यद्यपि एव शब्दसे यह अवधारण होता है कि परमाणु कारण ही है कार्य नहीं परन्तु जहांपर सामान्य रूपसे कारणकी विवक्षा होगी वहां पर अवधारण विरोध करनेवाला समझा जाता है किंतु जहांपर विशेषरूपसे हेतुकी विवक्षा होगी वहांपर अवधारणसे किसी प्रकारके विरोधकी संभावना नहीं। तदंत्यं कारणमेव अर्थात् परमाणु कारण ही है। यदि सामान्य रूपसे उसे यहां कारण ही माना जायगा तब तो वह विरुद्ध है क्योंकि वह कारण मात्र नहीं हो सकता क्योंकि स्कंध भेदसे उत्पन्न होनेसे कार्य भी है किंतु जब विशेषरूपसे कारणकी विवक्षा की जायगी और यह माना जायगा कि वह द्व्यणुक आदिके समान समुदायस्वरूप कार्य नहीं है इसलिये कारण है तब कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि उस प्रकारके विशेषरूपसे उसे कारण माना ही गया है और उस विशेषस्वरूपसे वह कारण ही है इसरूपसे परमाणुको कारण मानाजानेपर वह कारण ही है यह भी कहा जासकता है और द्रव्यस्वरूपसे उसका अवस्थान रहनेसे अर्थात् उत्पाद और विनाश न होनेसे वह नित्य भी है अतः नयोंकी अपेक्षा परमाणुको कारण और नित्य मानना विरुद्ध नहीं, ठीक ही है।

एकरसवर्णगंधोऽणुर्निरवयवत्वात् ॥ १२ ॥

परमाणु पदार्थको निरवयव माना है इसलिए उसमें एक रस एक वर्ण और एक गंध है क्योंकि मातुलिंग—आम आदि जो सावयच—अवयवविशिष्ट पदार्थ हैं उन्हींके अंदर अनेक रसपना दीख पडता है, मयूर (मोर) आदि जो सावयव पदार्थ हैं उनके अंदर अनेक वर्णपना दीख पडता है एवं अनुलेपन उपटन आदि जो सावयव पदार्थ हैं उनके अंदर अनेक गंधपना दीख पडता है। परंतु परमाणु निरवयव

शब्दसे भेद अर्थमें मत्वर्थीय मतु प्रत्यय करनेपर देवदत्त तो गोमान् कहा जा सकता है परंतु उत्पादव्यय ध्रौव्य शब्दसे कथंचित् अभेद अर्थमें मत्वर्थीय प्रत्ययकर सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यवत् नहीं कहा जा सकता यह उपालंभ नहीं निवृत्त हो सकता अर्थात् गौवोंसे जिसप्रकार देवदत्तका भेद है उसप्रकार उत्पादादिसे भिन्न सत् नहीं है यह उपालंभ नहीं टल सकता इसलिये उत्पादादिसे मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं हो सकता। यदि कहा जायगा कि जहांपर अभेद रहता है वहांपर भी मत्वर्थीय प्रत्यय दीख पडता है जिसप्रकार आत्मवान् आत्मा सारवान् स्तंभः अर्थात् आत्मावाला आत्मा है सारवाला स्तंभ है यहांपर आत्मासे आत्मा और स्तंभसे सार भिन्न न रहनेपर भी मतुप् प्रत्ययका विधान है इसलिये उत्पाद आदिका सत्से कथंचित् अभेद रहनेपर उत्पादव्ययध्रौव्य शब्दसे मतुप् प्रत्ययका विधान होना चाहिये । तो इसका परिहार भी समान है अर्थात् अभेद अर्थमें मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं भी होता है इसलिये यहांपर भी उसके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं' इसकी जगह 'उत्पादव्ययध्रौव्यवत्' कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अथवा—

समाधिवचनत्वाद् ॥ ६ ॥

'युक्तं' यहांपर युजिधातुका अर्थ समाधि है इसलिये युक्तका अर्थ समाहित है । समाधान तात्पर्य और तादात्म्य ये सव एकार्थवाचक हैं अतः उत्पादव्यय और ध्रौव्यसे युक्त इसका अर्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। अथवा—

कथंचिदन्यत्वोपपत्तेर्वा ॥ ७ ॥

पर्यायीसे पर्यायोंका कथंचित् भेद माना है । सत् यहांपर पर्यायी है और उत्पादव्ययध्रौव्यपर्याय है। उन उत्पाद आदिका सत्से कथंचित् भेद माना है इसलिये युक्त शब्दका अर्थ योग ही समझ लेना चाहिये। यदि उत्पाद आदि पर्यायोंका और सत्का सर्वथा अभेद मान लिया जायगा तो न पर्याय सिद्ध होगी और न पर्यायी सिद्ध होगा दोनोंका अभाव हो जायगा।

तदस्तित्वं कार्यलिंगात् ॥ १४ ॥

शरीर इंद्रिय और पृथिवी आदि महाभूतरूप कार्योंकी उत्पत्ति परमाणुओंसे ही होती है विना परमाणुओंके शरीर आदि कार्योंकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये शरीर आदि कार्यरूप असाधारण कारणसे परमाणुओंका जगतके अंदर अस्तित्व सुनिश्चित है।

अनेकांतः कारणत्वादिविकल्पः ॥ १५ ॥

परमाणु कारण है अंत्य है कार्य है अनंत्य है आदि जितने भी विकल्प हैं वे सब अनेकांतरूपसे हैं क्योंकि अनेक धर्मस्वरूप परमाणु किसीरूपसे कारण भी कहा जाता है और किसीरूपसे कार्य भी कहा जाता है। खुलासा इसप्रकार है—

द्व्यणुक त्र्यणुक आदि जितने भी कार्य हैं सब परमाणुके निमित्तसे होते हैं इसलिये द्व्यणुक आदि कार्योंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा परमाणु कथंचित् कारण है। वह द्व्यणुकरूप स्कंधके भेदसे उत्पन्न होता है इसलिये इस अपेक्षा वह कार्य भी है। एवं स्निग्धत्व रूक्षत्व आदि कार्यरूप गुणोंका परमाणु आधार है इसलिये भी वह कार्य है। तथा भेद होते होते जब पुद्गलका अंतिम निरवयव अवयव परमाणु रह जाता है तब फिर उसका अभाव नहीं होता इसलिये कथंचित् परमाणु अंत्य भी है क्योंकि फिर उसका दूसरा टुकडा नहीं हो सकता एवं प्रदेशोंका कभी परमाणुके अंदर भेद नहीं होता है तथापि उसमें रहनेवाले स्निग्ध आदि गुणोंका सदा भेद विपरिणमन होता रहता है व स्निग्ध आदि गुण परमाणुस्वरूप ही हैं इसलिये उनके भेदसे अंतिम अवयवपना न होनेसे वह अनंत्य भी है अर्थात् गुणावयवोंकी अपेक्षा सावयव भी है तथा परमाणुका परिणमन सूक्ष्म होता है इसलिये सूक्ष्म परिणमनके होनेसे वह सूक्ष्म है

१—कोमल कठोर हलका भारी ये चारों ही स्पर्शके भेद आपेक्षिक है, वे वास्तविक गुण नहीं है, क्योंकि कोमल आदि व्यवहार अपेक्षाकृत है, वास्तवमें नहीं है और वह व्यवहार स्कंधोंमें ही तरतमरूपसे हो सक्ता है, परमाणु सबसे अन्तिम अंश है उसमें कोमलादिका व्यवहार नहीं हो सकता। २—कार्यलिंगत्वात् इत्यपि पाठः।

और भी जिसरूपसे द्रव्यमें ध्रुवपना है उसरूपसे वादीने ध्रुवपना नहीं समझ पाया क्योंकि हमारा सिद्धांत यह है कि—एकांत रूपसे व्यय और उत्पादसे द्रव्यका अभेद नहीं है यदि उत्पाद और व्ययसे सर्वथा द्रव्यका अभेद माना जायगा तो द्रव्यको उत्पाद व्यय स्वरूप ही कहना होगा फिर ध्रौव्यका अभाव ही हो जायगा क्योंकि एकांत पक्षमें जहां उत्पाद और व्यय रहेंगे वहां ध्रौव्य नहीं हो सकता इसलिये यही बात मानना युक्त है कि किसीप्रकारसे व्यय और उत्पादसे द्रव्यका भेद है और किसी प्रकारसे अभेद है वहांपर जिससमय उत्पाद और व्यय होरहे हैं उससमय द्रव्यके स्वरूपसे व्यय और उत्पादका भेद है अर्थात् अनुवृत्तिस्वरूप द्रव्य पिंडसे जुदे होनेसे उत्पाद व्यय द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं और भले ही व्यय और उत्पाद हो तथापि द्रव्यजातिका कभी भी नाश नहीं हो सकता इसलिये अभेद है इसप्रकार एकांत पक्षका आश्रय कर व्यय और उत्पादसे द्रव्यका अभेद अथवा भेद मानना अयुक्त सिद्ध हो चुका क्योंकि यदि एकांत रूपसे व्यय उत्पादका भेद माना जायगा तो द्रव्यको छोडकर व्यय और उत्पाद अन्यत्र दीख पडेंगे तथा यदि एकांतरूपसे व्यय और उत्पादका द्रव्यसे अभेद माना जायगा तो द्रव्यको छोडकर व्ययमें किसी एकका कहना ही पर्याप्त होगा दोनोंके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं तथा उत्पाद और व्यय आपसमें अविनाभावी धर्म हैं यदि एकका अभाव हो जायगा तो फिर दूसरेका भी अभाव होगा इसलिये दोनोंमेंसे एक भी सिद्ध न हो सकेगा। और भी यह बात है कि—

स्ववचनविरोधाच्च ॥ १० ॥

यदि व्यय और उत्पादके अभेदसे द्रव्यमें ध्रुवपनेका निषेध किया जायगा तो वादीने जिस हेतुका अपने अभीष्ट पक्षकी सिद्धिके लिये प्रयोग किया है उसमें साधकत्व धर्मका व्यय और उत्पादके समान अभेद ही माना जायगा तब जिसप्रकार वह स्वपक्षका साधक है उसप्रकार वह परपक्षका भी साधक होना चाहिये क्योंकि उसमें साधकत्व धर्मका अभेद है इसलिये उसमें दूषकता न होनेसे वह परपक्षको दुष्ट नहीं

बंधका स्वरूप आगे कहा गया है। जो परमाणु बंधरूप पर्यायको प्राप्त हो चुके हैं वे स्कंध कहे जाते हैं। उन बंधपर्यायको प्राप्त परमाणुओंके तीन भेद हैं। स्कंध १ स्कंधदेश २ और स्कंधप्रदेश ३।

अनंतानंत परमाणुओंसे विशिष्ट बंधका नाम स्कंध है। उसके आधे भागका नाम स्कंधदेश है और उसके भी आधे भागका नाम स्कंधप्रदेश है। इसी स्कंधके स्पर्श रस आदि एवं शब्द बंध आदि पर्यायोंको धारण करनेवाले पृथिवी जल तेज और वायु ये भेद हैं। स्पर्श रस आदि और शब्द आदि पर्यायात्मक घट पट मठ आदि स्वरूप पृथिवी प्रसिद्ध ही है। जल भी स्पर्श रस आदिका विकार होनेसे स्पर्श रसादिवान् स्कंध है उसमें भी स्पष्टरूपसे गंधकी उपलब्धि होती है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

पृथिवीके अवयवस्वरूप द्रव्योंका सदा जलके साथ संयोग रहता है इसलिये उनके संबंधसे जलमें गंध ऐसा जान पडता है कि वह जलका ही गुण है। सो ठीक नहीं। गंधवदंभः रसवत्त्वात् आम्रफलवत्। जल रसवाला है इसलिये वह गंधवाला भी है जिसतरह आम्रका फल। अर्थात् आमके फलमें जिसप्रकार रस है और गंध भी है—रसके साथ गंधका कोई विरोध नहीं दीख पडता उसीप्रकार जलके अंदर भी जब रस है तब गंध भी उसके अंदर अवश्य है—गंधका अभाव नहीं कहा जासकता, इस सदनुमान द्वारा जलके अंदर गंधका अस्तित्व सिद्ध किया गया है तथा ऐसा कोई समय नहीं जब कि जलके अंदर गंध न रहे किंतु वह सदा रहता है कभी भी उसका अभाव नहीं हो सकता। तथा गंध और जलका अविनाभाव संबंध है विना जलके गंध नहीं रह सकता और विना गंधके जल नहीं रह सकता इन तीन हेतुओं द्वारा यह बात सुनिश्चित है—गंध जलका गुण है एवं जल पुद्गलकी पर्याय है।

जिसप्रकार घट स्पर्श रसादिमान पृथिवीका कार्य है इसलिये वह स्पर्श आदि स्वरूप है उसप्रकार तेज भी स्पर्श रसादिमान काष्ठ आदिका कार्य है इसलिये वह भी स्पर्श रसादिस्वरूप है। तथा यह भी

द्रव्यसे भेद वा अभेद दोनों ही बात सिद्ध न होनेसे द्रव्य और उत्पाद आदिका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं बन सकता फिर जो उत्पाद आदिको लक्षण और द्रव्यको लक्ष्य माना है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। यदि एकांत रूपसे भेद अथवा अभेद माना जाय तब तो उपर्युक्त दोष होसकता है परंतु यहांपर तो अनेकांतदृष्टिसे कथंचित् भेद वा अभेद माना है इसलिये कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—पर्यायी द्रव्य और पर्यायोंका आपसमें कथंचित् भेद और अभेद है जिसप्रकार एक ही मनुष्य जिसमें कि जाति कुल और रूप आदिकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है तो भी वही भिन्न भिन्न अनेक संबंधोंकी अपेक्षा पिता पुत्र भाई और भानजा कहाजाता है इसलिये जाति कुल रूप आदिकी अपेक्षाके विशेषसे रहित एकही पुरुषमें भिन्न भिन्न संबंधोंसे जायमान अर्थात् वही पुरुष अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है तथा वही अपने भाईकी अपेक्षा भाई और अपने मामाकी अपेक्षा भानजा है इसप्रकार भिन्न भिन्न संबंधोंकी अपेक्षा होनेवाले पितृत्व पुत्रत्व भ्रातृत्व और भागिनेयत्व आदि आपसमें एक दूसरे भिन्न भिन्न अनेक धर्म दीख पडते हैं परंतु उन धर्मोंके भेदसे उस पुरुषका भेद नहीं माना जाता और न उस पुरुषके अभेदसे अधर्मोंका अभेद माना जाता इसलिये उस पितृत्व आदि शक्तिकी अपेक्षा वह पुरुष भिन्न नहीं एक ही माना जाता है उसीप्रकार बाह्य और अंतरंग कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाले द्रव्यके पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे अभिन्न हैं क्योंकि द्रव्यस्वरूपसे भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं इसलिये न तो उत्पाद आदि धर्म और द्रव्यका असत्स्वरूप—अभाव सिद्ध हो सकता है और न लक्ष्य लक्षण भावका अभाव हो सकता है अतः उत्पाद आदि पर्यायोंका द्रव्यसे कथंचित् भेदाभेद मानना ही युक्तियुक्त और न्याय है इसलिये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों स्वरूप सत्ता है एवं उस सत्तासे युक्त द्रव्य हैं यह जो ऊपर कहागया है वह सुनिश्चित है॥ २९॥

रहते हैं[1]। जलके अंदर गंध नहीं रहता किंतु शेषके वर्ण रस और स्पर्श ये तीनो रहते हैं[2]। तेजके अंदर वर्ण और स्पर्श ए दो ही रहते हैं, गंध और रस नहीं रहते[3]। तथा वायुके अंदर केवल स्पर्श ही रहता है शेष तीनों धर्मोंमेंसे कोई भी धर्म नहीं रहता। परन्तु यह बात नहीं, जैनसिद्धांतके अंदर पृथिवी आदिको कोई भिन्न पदार्थ नहीं माना, सब पुद्गलकी पर्यायें हैं और पुद्गलका लक्षण स्पर्श रस गंध और वर्णस्वरूप माना गया है। तथा यह नियम है, जहांपर चारोंमेंसे कोई एक धर्म रहेगा वहांपर नियमसे चारों ही रहेंगे यह नहीं हो सकता कि कहींपर एक रहे तो कहींपर दो आदि रहें इसलिए वायु आदिमें जो स्पर्श आदिमेंसे केवल एक वा केवल दो आदि धर्म मान रक्खे हैं वह युक्तिबाधित है। यद्यपि नैयायिक आदि बादी यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब वायु आदिमें रूप रस आदि नहीं दीख पडते तब उसमें कैसे उनका सद्भाव माना जा सकता है। तब उसका समाधान यह है कि वे बहुत ही सूक्षम रूपसे वायु आदिके अंदर रहते हैं इसलिए सूक्ष्मताके कारण उनका साक्षात्कार नहीं होता किंतु वायुमें उनका अभाव है यह बात नहीं। इसका खुलासा ऊपर किया जाचुका है विशेष प्रमेयकमलमार्तंडके द्रव्यसिद्धि प्रकरणमें इसका स्वरूप स्पष्टरूपसे कहा गया है इसलिए वहांसे समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

शंका—पुद्गलका अणु स्कंधरूप जो परिमाण है वह अनादि है कि सादि है । उत्तर—अणु और स्कंधरूप परिणामकी उत्पत्ति होती है इसलिए अणु स्कंधरूप परिणाम सादि है तब वहांपर यह प्रश्न उठता है कि जब अणु और स्कंधरूप परिणाम सादि है तब फिर यह बतलाना चाहिए कि किन किन कारणोंसे उनकी उत्पत्ति होती है। इसलिए पहिले स्कंधोंकी उत्पत्तिके कारण बतलानेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

---

१ तत्र द्वितिगंधहेतुर्नाना रूपवती मता। षड्विधस्तु रसस्तत्र गंधस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥ २ वर्णाःशुक्लः रसस्पर्शो जले मधुर शीतलो। ३ स्पर्श उष्णस्तेजस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरं। ४ अपाकजोऽनुष्णा शीतः स्पर्शस्तु पवने मतः ॥ ४२ ॥ तिर्यग्गमनमानेषः ज्ञेयः स्पर्शादिलिंगकः (मुक्तावली—वैशेषिक दर्शन)

यह वही है इस प्रकारके स्मरणका नाम प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान अकस्मात् विना कारणके नहीं हो सकता इसलिये उसका कारण तद्भाव है अर्थात् तद्भावरूप कारणके रहते ही उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञान होता है यदि तद्भाव (जो मनुष्य पहिले देखा वा सुना था उसका पुनः साक्षात्कार होना) न हो तो प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। भवनं भावः तस्य भावस्तद्भावः यह तद्भाव शब्दकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिस रूपसे पहिले देखी जा चुकी है उसका उसी रूपसे फिर भी होना देखना जिससमय होता है उस समय यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि सर्वथा वस्तुका विनाश माना जायगा अथवा सर्वथा नवीन रूपसे उत्पाद माना जायगा तो स्मरण पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकता तथा स्मरणके आधीन समस्त लोकका व्यवहार है जब स्मरणका अभाव हो जायगा तब वह भी न बन सकेगा, इसलिये तद्भावरूपसे जो अव्यय (विनाश न होना है) वह नित्य है यह सुनिश्चित हो चुका। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

विरोध इति चेद्धर्मांतराश्रयणात् ॥ २ ॥

शंकाकारका यह कहना है कि पदार्थमें उत्पाद व्यय माने गये हैं इसलिये पदार्थ उत्पन्न होता ही है फिर जैनसिद्धांतवादी कहते हैं कि वह उत्पन्न नहीं होता इसीप्रकार पदार्थ नष्ट होता ही है फिर वे कहते हैं कि पदार्थ नष्ट नहीं होता यह बात परस्पर विरुद्ध पडती है सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जनकत्वरूप धर्मकी अपेक्षा पिता और पुत्र दोनोंका होना विरुद्ध माना जाता है क्योंकि जनकत्वकी अपेक्षा पिता तो कहा जासकता है किंतु पुत्र नहीं कहा जासकता क्योंकि पुत्र जन्यत्वकी अपेक्षा कहा जाता है। उसीप्रकार जिसरूपसे व्यय और उत्पाद माने हैं उसीरूपसे यदि नित्यपना माना जाय तब तो विरोध हो सकता है क्योंकि एक रूपसे व्यय उत्पाद और नित्य नहीं होसकते परंतु वे भिन्न भिन्न रूपसे माने हैं धर्मान्तरोंके अवलम्बनसे भेद माना गया है इसलिये उसदृष्टिसे पिता पुत्र दोनों ही धर्म घट जाते हैं

उत्पद्यंते यहांपर उत् उपसर्ग पूर्वक पदि धातुका अर्थ उत्पन्न होना है इसलिए उत्पद्यंतेका अर्थ उत्पन्न होता है यह समझ लेना चाहिए।

तदपेक्षो हेतुनिर्देशः ॥ ५ ॥

"भेदसंघातेभ्यः" यहां हेतु अर्थमें पंचमी विभक्ति है अर्थात् यहांपर जो हेतुका निर्देश किया गया है इसकी अपेक्षासे भेदसंघातेभ्यः यह वाक्य है। यद्यपि हेतु रूप अर्थके रहनेपर 'भेदसंघातैः' ऐसा तृतीयांत वचन कहना था तथापि जहांपर निमित्त कारण रूप हेतुओंका प्रतिपादन रहता है वहांपर समस्त विभक्तियोंका उल्लेख दीख पडता है इसलिये यहां पंचम्यंत वचन भी ठीक है। इसप्रकार भेदसे, संघातसे, एवं भेदसंघात रूप कारणोंसे स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है, यह यहांपर हेतुका अर्थ समझना चाहिये। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

जिससमय आपसमें दो परमाणुओंका मिलाप होता है उससमय द्विप्रदेशस्वरूप स्कंध उत्पन्न होता है जिससमय दो प्रदेश स्वरूप स्कंध और एक परमाणुका अथवा तीन परमाणुओंका आपसमें मिलान होता है उससमय तीन प्रदेशस्वरूप स्कंध उत्पन्न होता है तथा जिससमय दो दो प्रदेश स्वरूप दो दो स्कंधोंका आपसमें मिलान होता है वा त्रिप्रदेशस्वरूप स्कंध और एक परमाणुका अथवा चार परमाणुओंका आपसमें मिलाप होता है उससमय चार प्रदेशस्वरूप स्कंध उत्पन्न होता है। इसीप्रकार संख्यात प्रदेशवाले स्कधोंके साथ संख्यात प्रदेशवाले स्कधोंका मिलाप होने पर संख्यात प्रदेश स्वरूप स्कंध होता है असंख्यात प्रदेशवाले स्कंधोंके साथ असंख्यात प्रदेशवाले स्कंधोंका मिलाप होने पर असंख्यात प्रदेश स्वरूप स्कंध होता है तथा अनंत प्रदेशवाले स्कंधोंके साथ अनंत प्रदेशवाले स्कंधोंका मिलान होनेपर अनंतप्रदेशात्मक बंध होता है। तथा इन्हीं स्कधोंका भेद होते होते दो प्रदेश स्वरूप स्कंध पर्यंत स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार यह तो भिन्न भिन्न भेद और संघातोंसे स्कंधोंकी उत्पत्तिका विधान है इसीतरह

मामा है किंतु भानजेके पिताका वह साला है और भानजेकी माताका भाई भी है। जिससमय मामा कहा जाता है उससमय सालापन वा भाईपन गौण वा अनर्पित होता है इसीप्रकार वस्तुमें भी अनेक धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षासे सिद्ध हैं।

धर्मांतरविवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितं ॥ १ ॥

वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है। उस अनेक धर्मस्वरूप वस्तुमें प्रयोजनके वशसे किसी एक खाश धर्मकी विवक्षा रहने पर उसी धर्मका प्रधान रूपसे ग्रहण करना अर्पित है इसी अर्पितकी दूसरी पर्याय उपनीत अर्थात् उपस्थापित भी है। अर्थात् विवक्षित अथवा नियोजित धर्मको अर्पित कहते हैं।

तद्विपरीतमनर्पितं ॥ २ ॥

प्रयोजन न रहने पर वस्तुके अंदर विद्यमान भी धर्मकी विवक्षा नहीं होती इसलिये जिस धर्मकी विवक्षा की गई है उस धर्मके सिवाय जितने भी अन्य वस्तुके अंदर धर्म हैं वे सब गौण हैं, अनर्पित हैं। अर्पितं च अनर्पितं च अर्पितानर्पिते ताभ्यां सिद्धे अर्पितानर्पितसिद्धे अर्थात् सत्व (अनित्यत्व) और नित्यत्वकी सिद्धि अर्पित और अनर्पितके द्वारा है, यह यहांपर विग्रह है अर्पित अनर्पित सिद्धिकी खुलासा व्यवस्था इसप्रकार है—

मिट्टीका पिंड, रूपी द्रव्य है जहांपर इसप्रकार प्रधान रूपसे विवक्षा है वहांपर नित्यपना है क्योंकि रूपी द्रव्यपनेका कभी भी अभाव नहीं हो सकता तथा अनेक धर्म स्वरूप परिणमन करनेवाले पदार्थमें जहांपर दूसरे दूसरे धर्मोंकी विवक्षा है और रूपी द्रव्य स्वरूपकी विवक्षा नहीं है वहांपर "मिट्टीका पिंड" इतना ही विवक्षित होनेसे वह मिट्टीका पिंड स्वरूप पर्याय अनित्य है क्योंकि पर्याय नष्ट होजानेवाला पदार्थ है। इसरूपसे एकही वस्तुमें धर्मोंके अंदर मुख्य और गौणकी विवक्षासे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही सिद्ध हैं। यदि केवल द्रव्यार्थिक नयका ही

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

जो स्कंध नेत्र इंद्रियके अगोचर है, नेत्रइंद्रियसे जिसका प्रत्यक्ष नहीं होसकता उस स्कंधका भेद और संघातसे नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष होता है।

अनंतानंत परमाणुओंके समुदायसे बना हुआ कोई कोई स्कंध चक्षु इंद्रियसे प्रत्यक्ष होता है और और कोई कोई नहीं भी होता है वहांपर जिस स्कंधका चक्षुइंद्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे होता है? उसका उत्तर यह है कि उसका नेत्रइंद्रियसे प्रत्यक्ष भेद और संघात दोनोंसे होता है। केवल भेद होजानेसे भी उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता और न केवल संघातसे ही चाक्षुष होता है किंतु दोनोंसे ही होता है। खुलासा इसप्रकार है—

जिस स्कंधका परिणमन सूक्ष्मस्वरूप है उसका भेद भी हो जाय तथापि सूक्ष्मपना नष्ट नहीं होता इसलिये सूक्ष्मताके कारण उसका नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता वह अचाक्षुष ही रहता है। परंतु वह स्कंध जिसका परिणमन भी सूक्ष्म ही है उसका जिससमय भेद होता है उसीसमय अन्य संघात जिसका कि नेत्र इंद्रियसे प्रत्यक्ष होता है उससे संयोग होजानेसे सूक्ष्म परिणमनका उपरम होजाता है और स्थूलताकी उत्पत्ति होजाती है इसलिये उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है अर्थात् वह चक्षुइंद्रियसे दीख पडता है। सूक्ष्म स्कंधका तो भेद हो और उसका स्थूल स्कंधमें संघात हो तो उस सूक्ष्म स्कंधके भेदको स्थूल स्कंधमें मिलजानेसे पर्याय पलटकर स्थूलरूप हो जाती है तभी उसका प्रत्यक्ष होने लगता है। इसलिये जिस स्कंधका प्रत्यक्ष नेत्र इंद्रियसे नहीं होता उसका भी नेत्रइंद्रियसे प्रत्यक्ष होता है यह बात बतलानेकेलिये स्कंधकी उत्पत्तिमें भेदसंघातको कारण माना है क्योंकि जो स्कंध अचाक्षुष है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न तो केवल संघातसे होसकता है और न केवल भेदसे ही होसकता है इसलिये भेदसंघात पदका ग्रहण निरर्थक नहीं ॥ २८ ॥

स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः ॥ ३२ ॥

परमाणुओंके स्कंधोंका बंध स्निग्धत्वसे अर्थात् चिकनाईसे और रूक्षत्वसे अर्थात् रूखेपनेसे होता है।

स्नेहपर्यायाविर्भावात्स्निह्यते स्मेति स्निग्धः ॥ १ ॥

वाह्य और अंतरंग कारणोंके द्वारा जो पदार्थ चिकना हो वह स्निग्ध कहा जाता है।

रूक्षणाद् रूक्षः ॥ २ ॥

वाह्य और अंतरंग कारणोंके द्वारा जो रूक्षस्वरूप हो वह रूक्ष है। 'स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वं तस्मात् स्निग्धरूक्षत्वात्' यह स्निग्धरूक्षत्व शब्दका विग्रह है। स्निग्धपना चिकनास्वरूप पर्याय है और उससे विपरीत जो परिणमन है अर्थात् रूखास्वरूप जो परिणमन है वह रूक्षत्व है। 'स्निग्धरूक्षत्वात्' यह हेतु अर्थमें पंचमी विभक्ति है।

तत्कृतो बंधो द्व्यणुकादिपरिणामः ॥ ३ ॥

दो चिकने और रूखे परमाणुओंका आपसमें संवंध होनेपर द्व्यणुक स्कंध स्वरूप बंध होता है। इसीप्रकार संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशात्मक स्कंधरूप बंध समझ लेना चाहिये अर्थात् संख्यात परिमाणके धारक स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंके संवंधसे संख्यात प्रदेशात्मक स्कंध होता है, असंख्यात परिमाणके धारक स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंके संवंधसे असंख्यात प्रदेशात्मक स्कंध होता है एवं अनंतरूप परिमाणके धारक स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंके संवंधसे अनंतप्रदेशात्मक स्कंध होता है।

एकगुणादिसंख्येयासंख्येयानंतविकल्पः स्नेहः ॥ ४ ॥

शक्तिके अविभागी अंशका नाम अविभागप्रतिच्छेद है। उस अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप एक स्नेह गुणका नाम एक स्नेह है। यह पहिला स्नेह कहा जाता है इसीप्रकार दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत भेद स्नेहके हैं, इसप्रकारके गुणोंके धारक परमाणु हैं।

गति आदि विशिष्ट उपकार नहीं भी विद्यमान हों तथापि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्यके लक्षण सदा द्रव्यके अंदर रहते हैं अतः जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों स्वरूप हो वह सत् है, और सत् ही द्रव्य है, यह वात द्योतन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

जो उत्पत्ति विनाश और मोजूदगी सहित है वही सत् है नवीन अवस्था रूप परिणत होना उत्पत्ति है। पुरानी अवस्थाका छूटजाना व्यय है और दोनों अवस्थामें स्वस्वरूपसे मौजूद रहना ध्रौव्य है। इसप्रकार द्रव्यमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म एकसाथ निरंतर रहते हैं। जिसमें ये तीनों धर्म रहैं वही सत् है और वही द्रव्य है। अब वार्तिककार सबका खुलासा स्वरूप बतलाते हैं—

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ॥ १ ॥

चेतन वा अचेतन द्रव्यका अपनी जातिको न छोड़कर वाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंके द्वारा जो एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणत हो जाता है उसका नाम उत्पाद है। उत्पादनं उत्पादः अर्थात् उत्पत्ति होना यह उत्पाद शब्दकी व्युतपत्ति है। जिसतरह मिट्टीके पिंडका घटस्वरूप परिणत होना घटका उत्पाद कहा जाता है।

तथा पूर्वभावविगमो व्ययः ॥ २ ॥

उसीतरह अर्थात् चेतन वा अचेतन द्रव्यका अपनी जातिको न छोडकर पूर्व अवस्थाका जो छूट जाना है वह व्यय हैं। व्ययनं व्ययः अर्थात् नाश यह व्यय शब्दकी व्युतपत्ति है। जिसतरह घटके उत्पन्न होनेपर पिंडाकारका छूटजाना अर्थात् पहिली अवस्था पिंडाकार रूप रहती है और दूसरी अवस्थामें घटाकार प्रगट होता है इसलिये घटाकार अवस्थाके प्रगट होते समय जो पिंडाकार अवस्थाका छूट जाना है वह पिंडपर्यायका विनाश है।

न जघन्यगुणानां ॥ ३३ ॥

जघन्य गुण सहित परमाणुओंका बंध नहीं होता है। परमाणुओंमें रहनेवाले स्निग्धता और रूक्षताके एक अविभाग प्रतिच्छेदको एक गुण कहते हैं जिस परमाणुमें स्निग्धता वा रूक्षताका एक अविभाग प्रतिच्छेद रहजाय वह जघन्यगुणवाला है। यहां एक अविभागी प्रतिच्छेदको जघन्य कहा है। जिसमें एक गुण स्निग्धता वा रूक्षताका होगा वह परमाणु द्वितीयादि संख्यात असंख्यात अनंतगुणसहित स्निग्ध परमाणु वा रूक्ष परमाणुके साथ बंधको प्राप्त न होगा।

शाखादित्वाद्देहांगत्वाद्वा जघन्यशब्दसिद्धिः ॥ १ ॥

व्याकरण शास्त्रमें एक शाखादि गण है। उस शाखादि गणसे 'य' प्रत्ययका विधान है। जघन्य शब्दका भी शाखादि गणमें पाठ है इसलिये उससे 'य'[1] प्रत्यय करनेसे जघन्य शब्द सिद्ध हुआ है जघनमिव जघन्यं अर्थात् जो जघनके समान हो वह जघन्य है यह उसका विग्रह है। उपमाका अर्थ यहांपर यह है कि जिसप्रकार समस्त शरीरके अवयवोंमें जघन (स्त्रीकी जंघा) निकृष्ट है उसीप्रकार अन्य भी जो निकृष्ट है वह जघन्य कहलाता है। अथवा देहके अंगोंके वाचक शब्दोंसे भी 'य' प्रत्ययका विधान है। जघन योनि प्रदेशरूप देहके अंगका कहनेवाला शब्द है इसलिये उससे 'य' प्रत्यय कर जघन्य शब्द सिद्ध हुआ है। जघने भवः जघन्यः, जघन्य इव जघन्यः। जो जघनमें उत्पन्न हो वह जघन्य है। जो जघन्यके समान है वह भी जघन्य कहा जाता है अर्थात् जिसप्रकार जघनमें होनेवाला पदार्थ निकृष्ट होता है उसीप्रकार अन्य भी जो निकृष्ट पदार्थ है वह जघन्य कहा जाता है।

गुणशब्दस्यानेकार्थत्वेविवक्षावशाद्भागग्रहणं ॥ २ ॥

गुण शब्दके रूप आदि अनेक अर्थ हैं जिसतरह—रूपादयो गुणाः रूप आदि गुण हैं यहांपर

१ 'शाखादिभ्यो य । ५–१–१०३ । शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघनमिव जघन्यः । अग्र्यः । सख्यः ।

जगतमें जितने भी शब्द हैं वे अपने अपने अर्थोंके साथ रहते हुये सत्ताको ही विषय करते हैं इस रीतिसे जब युज धातुका सत्तारूप अर्थके साथ आश्रय अर्थ हैं तब सत् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है इसका अर्थ सत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है यही है इसप्रकार जब उपर्युक्त विग्रहके रहनेपर भी संयोग संबंध सिद्ध न होकर तादात्म्य संबंध ही सिद्ध होता है तव उस विग्रहके माननेमें और उपर्युक्त सूत्र निर्माणमें कोई प्रकारकी आपत्ति नहीं। यदि यहांपर पुनः यह तर्क उठाया जाय कि—

यदि समस्त भू आदि धातुओंका सत्ता अर्थ ही माना जायगा तब एध आदि धातुओंका जो वृद्धि आदि भिन्न भिन्न अर्थ प्रतिपादन किया गया है वह न बन सकेगा। सो ठीक नहीं। सत्तारूप अर्थके विद्यमान रहते ही एध आदि धातुओंके वृद्धि आदि अर्थ होसकते हैं यदि सत्ता अर्थ न माना जायगा तो वृद्धि आदि अर्थ भी न हो सकेंगे क्योंकि गधेका सींग आदि पदार्थ असत् हैं उनका सत्ता अर्थ नहीं हैं इसलिये उनके वृद्धि आदि अर्थ भी नहीं इस रीतिसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि एध आदि धातुओंका सत्ता अर्थके साथ ही वृद्धि आदि अर्थ है अतः सत्ता अर्थके साथ युजि धातुका आश्रय रूप अर्थ निर्बाधरूपसे सिद्ध होनेके कारण उत्पादव्ययेत्यादि सूत्रका उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप सत् है यह अर्थ स्पष्ट और आगमके अनुकूल है। शंका—

उत्पादव्ययध्रौव्यवदिति न्याय्यमिति चेन्न उपालंभपरिहारतुल्यत्वात ॥ ५ ॥

जिसके अंतरंगमें सत्तारूप क्रिया प्रविष्ट है ऐसा युज धातु माना जायगा तव 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं' इसकी जगह 'उत्पादव्ययध्रौव्यवत्' ऐसा ही कहना ठीक है क्योंकि दो मात्राओंके न कहनेसे लाघव भी है? सो ठीक नहीं। यहांपर वादीने जो उपालंभ (उलाहना) दिया है वह और उसका परिहार (निराकरण) दोनों समान हैं। स्पष्ट भाव यह है कि जिस रूपसे गौवोंसे देवदत्तका भेद है उसरूपसे उत्पादव्यय और ध्रौव्यसे द्रव्यका भेद नहीं किंतु वह भेद जुदे रूपसे है अर्थात् कथंचित् भिन्न प्रकारका है इसलिये गो

गुणसाम्ये सदृशानां ॥ ३४ ॥

गुणोंकी समानता रहनेपर सदृशोंका बंध नहीं होता। भावार्थ–पहिले कहा जाचुका है कि स्निग्ध और रूक्षोंका बंध होता है और अब निषेध प्रकरणमें सदृशोंका अर्थात् स्निग्धका स्निग्धके साथका भी ग्रहण किया है इससे विदित होता है कि सदृशोंका भी बंध होता है इसीलिये निषेध किया है। सूत्रका तात्पर्य यह है कि दो गुण स्निग्धोंका दोगुण स्निग्ध वा दोगुण रूक्षोंके साथ बंध नहीं होता तथा दोगुण रूक्षोंका दोगुण रूक्ष वा दोगुण स्निग्धोंके साथ बंध नहीं होता। इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

सदृशग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थं ॥ १ ॥

स्निग्ध जाति और रूक्ष जातिसे तुल्योंकेलिये भी बंधकी व्यवस्था है अर्थात् स्निग्धोंका स्निग्धोंके साथ और रूक्षोंका रूक्षोंके साथ भी बंध होसकता है परंतु गुणोंकी समानता रहनेपर नहीं यह बात प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें सदृश पदका उल्लेख किया गया है।

गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंग्रहार्थं ॥ २ ॥

जिनके भाग तुल्य होते अर्थात् जो परमाणु समान गुणोंके धारक होते उनका बंध नही होता यह बतलानेकेलिये सूत्रमें गुणसाम्य शब्दका ग्रहण किया गया है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि–

सदृशग्रहणमनर्थकं गुणसाम्यवचनादिति चेन्न समानगुणकारयो स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसंगात ॥ ३ ॥

सूत्रमें सदृश पदका ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि गुणसाम्य कहनेसे ही उसका तात्पर्य सिद्ध हो जाता है। अर्थात् जिनके गुण समान हों वे गुणसाम्य कहलाते हैं और सदृश शब्दका भी यही अर्थ है। सो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेसे समान गुणवाले स्निग्ध और रूक्षोंके बंधका भी निषेध होजाता अर्थात् यदि सदृश पदका ग्रहण न किया जाता तो द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण रूक्षोंके साथ, त्रिगुण स्निग्धों का त्रिगुण रूक्षोंके साथ समान गुण होजानेसे बंधका निषेध हो जाता और सदृश पदका ग्रहण करनेसे

सच्छब्दस्य प्रशंसाद्यनेकार्थसंभवे विवक्षातोऽस्तित्वसंप्रत्ययः ॥ ८ ॥

सत् शब्दके प्रशंसा आदि अनेक अर्थ हैं जिसतरह 'सत्पुरुषः प्रशस्तः पुरुषः' अर्थात् यह पुरुष प्रशंसा-योग्य है यहांपर सत् शब्दका अर्थ प्रशंसा है। सत्करोति-आदरं करोतीत्यर्थः अर्थात् आदर करता है यहां पर सत् शब्दका अर्थ आदर है। सद्भूतमयमाह-विद्यमानमाह इत्यर्थः अर्थात् जो मौजूद है उसे कहता है यहांपर सत् शब्दका अर्थ मौजूदगी है। प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात् अर्थात् साधु होनेसे इसके झूठ बोलनेकी प्रतिज्ञा है यहांपर सत् शब्दका अर्थ प्रतिज्ञायमान है परंतु यहांपर प्रशंसा आदि अर्थोंकी विवक्षा न रहनेसे किंतु अस्तित्वरूप अर्थकी विवक्षा रहनेसे यहांपर सत् शब्दका अर्थ अस्तित्व ही है।

व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य ध्रौव्यानुपपत्तिरिति चेन्नाभिहितानवबोधात् ॥ ९ ॥

जैनसिद्धांतमें द्रव्यको ध्रौव्य व्यय और उत्पाद स्वरूप माना है परंतु जहांपर व्यय और उत्पाद रहेंगे वहांपर ध्रौव्य रह नहीं सकता इसलिये जो प्रत्येक पदार्थको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप माना है वह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। द्रव्यमें ध्रौव्यका रहना जिसरूपसे माना गया है उसको ही वादी नहीं समझा। यहांपर जो ध्रुवपना लिया गया है द्रव्यरूपसे कभी भी पदार्थका नाश न होनेके कारण द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा लिया गया है किंतु व्यय और उत्पादके अव्यतिरेक वा व्यतिरेकसे नहीं लिया गया है क्योंकि यदि व्यय और उत्पादके अव्यतिरेककी अपेक्षा ध्रौव्य माना जायगा तब द्रव्यके व्यय उत्पाद स्वरूप होनेसे ध्रुवपना नहीं बन सकता क्योंकि जहांपर व्यय और उत्पाद रहेंगे वहांपर ध्रुवपना नहीं रह सकता इसलिये द्रव्यको अध्रौव्य स्वरूप माना जायगा। यदि कदाचित् व्यय और उत्पादके व्यतिरेकसे ध्रौव्य माना जायगा जिसप्रकार व्यय और उत्पादसे व्यतिरिक्त द्रव्य है उसप्रकार द्रव्यसे व्यतिरिक्त व्यय और उत्पाद भी है इसलिये उन्हें भी ध्रौव्य स्वरूप मानना होगा अतः उत्पाद और व्ययके अव्यतिरेक वा व्यतिरेकसे ध्रुवपना नहीं है किंतु द्रव्य स्वरूपसे ही ध्रुवपना है। अथवा—

अथ न्यायालंकार वादीभकेशरी धर्मधीर पंडित मक्खनलालजी पद्मावतीपुरवाल कृत हिंदीवचनिका प्रारभ्यते—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

अर्थ—दो अधिक गुणवालोंका तो बंध होता है। अर्थात् जिस परमाणुमें दो गुण रूक्षताके हों अथवा दो गुण स्निग्धताके हों उस परमाणुका बंध उससे (अपनेसे) दो गुणअधिक गुणवाले परमाणुके साथ होगा। जिस परमाणुमें चार गुण रूक्षताके हों अथवा चार गुण स्निग्धताके हों ऐसे परमाणुके साथ दो गुण वाले परमाणुका बंध होगा। इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिये श्री राजवार्तिककार कहते हैं— द्व्यधिकः चतुर्गुणः। द्वाभ्यां गुणाभ्यां अधिकः। कः पुनरसौ चतुर्गुणः। इसका अर्थ यह है। दो गुण अधिक कौन होगा? उत्तर—चतुर्गुण होगा। कारण—दोगुणोंसे अधिकको द्व्यधिक कहते हैं वह चतुर्गुण ही पडता है। वह चतुर्गुण ही क्यों पडता है इसका खुलासा इसप्रकार है कि–जिस परमाणुमें सबसे जघन्य गुण होता है अर्थात् एक गुण होता है उसका तो किसीके साथ बंध होता ही नहीं है। एक गुण रुक्षता अथवा एक गुण स्निग्धता रखनेवाले परमाणुमें तो बंध योग्यता ही नहीं है। किंतु दो गुणवालेमें बंधयोग्यता है। इसलिये एक परमाणु की बंध योग्यता दो गुण रहने पर आजाती है परन्तु जिस दूसरे परमाणुके साथ उसका बंध होता हो उसमें उससे दो गुण अधिक हों तभी उस दूसरे परमाणुमें बंध योग्यता आती है। इस लिये वह दूसरा परमाणु पहले परमाणुसे दो गुण अधिक होगा अर्थात् उसमें चार गुण स्निग्धता या रूक्षताके होगे तभी बंध होगा। यह कमसे कम दो अंश और चार अंश वाले परमाणुओंमें ही बंध हो सकता है। दूसरे ऊपर यदि बंध होगा तो तीन अंश और पांच अंश वालोंमें चार अंश और छह अंश वालोंमें पांच अंश और सात अंश वालोंमें छह अंश और आठ अंश वालोंमें परस्पर बंध होसकता है। इसके आगे दो अधिक अंशों कीं जहां योग्ता होगी वहीं परमाणुओंमें बंध योग्यता समझनी चाहिये! इसीका स्पष्टीकरण वार्तिक द्वारा किया जाता है—

बना सकता अथवा जिस हेतुका प्रयोग परपक्षके दूषण करनकेलिये किया गया है उसमें भी दूषकत्व धर्मका अभेद ही माना जायगा तब जिसप्रकार वह परपक्षका दूषक है उसप्रकार स्वपक्षका भी दूषक होगा क्योंकि उसमें दूषकत्व धर्मका अभेद है इसलिये उसमें साधकता न होनेसे वह स्वपक्षको सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये वादीके आगममें जो यह कहा गया है कि "जो हेतु स्वपक्षकी सिद्धिकेलिये प्रयुक्त किया जाता है वह स्वपक्षकी सिद्धि करता है और परपक्षको दूषित करता है एवं जो हेतु परपक्षको दूषित करनेकेलिये प्रयुक्त होता है वह परपक्षको दूषित करता है और स्वपक्षको सिद्ध करता है।" यह वचन विरुद्ध पड जायगा इसलिये जिसप्रकार यहांपर साधकत्व और दूषकत्वका साधक और दूषकसे सर्वथा अभेद नहीं माना जाता उसप्रकार व्यय और उत्पादका भी द्रव्यसे सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता अतः ऊपर जो यह कहा गया है कि व्यय और उत्पादके अभेदसे द्रव्यमें ध्रौव्य नहीं रह सकता वह बात खंडित हो चुकी। इसलिये अनेकांतरूपसे कथंचित भेदाभेद मानना ही युक्तियुक्त है। शंका—

उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेन्नान्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकांतोपपत्तेः ॥ ११ ॥

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य द्रव्यसे भिन्न है कि अभिन्न? यदि कहा जायगा कि भिन्न है तो जैन सिद्धांतमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यको सत् माना है वह यदि द्रव्यसे भिन्न माना जायगा तो द्रव्यका अभावही हो जायगा तथा द्रव्यके अभावमें उत्पाद आदिका कोई भी आधार नहीं होनेसे उनका भी अभाव होजायगा इसरूपसे जो उत्पाद आदिको लक्षण और द्रव्यको लक्ष्य माना है वह लक्ष्य लक्षण भाव ही दोनोंका न बन सकेगा क्योंकि संसारमें बांझका पुत्र और आकाशका फूल आदि जितने भी असत् पदार्थ हैं उनका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता अतः उत्पाद आदिका द्रव्यसे भेद तो माना नहीं जासकता। यदि कहा जायगा कि उनमें अभेद है तब भी जो लक्ष्य है उसे ही लक्षण मानना होगा अथवा जो लक्षण है उसे ही लक्ष्य मानना होगा इसरूपसे प्रत्यक्ष विरोध होगा इसरीतिसे उत्पाद आदिका

दो गुण अधिक समान जाति वाले अथवा दो गुण अधिक असमान जातिवाले परमाणुओंका बंध होता है इससे भिन्नका नहीं होता अर्थात् जहां दो अधिक गुण नहीं हैं वहां बंध योग्यता नहीं है।

इसीका स्पष्टार्थ और भी ग्रंथकार करते हैं। जैसे–जिस परमाणुमें दो गुण चिक्कणताके हैं उस परमाणुका एक गुण चिक्कणतावाले अथवा दो गुण चिक्कणतावाले अथवा तीन गुण चिक्कणतावाले परमाणुके साथ बंध नहीं होता है, किंतु दो गुण चिक्कणतावाले परमाणुका चार गुण चिक्कणतावाले परमाणुके साथ बंध हो जाता है। तथा उसी दो गुण चिक्कणतावाले परमाणुका पांच गुण चिक्कणतावाले, छह गुण चिक्कणतावाले, सात गुण चिक्कणतावाले, आठ गुण चिक्कणतावाले, नौ गुण चिक्कणतावाले, दश गुण चिक्कणतावाले, संख्यातगुण चिक्कणतावाले, असंख्यातगुण चिक्कणतावाले, और अनंतगुण चिक्कणतावाले, परमाणुओंके साथ बंध नहीं होता है।

इसीप्रकार विषम बंधकी अपेक्षा तीन गुण चिक्कणतावाले परमाणुका पांच गुण चिक्कणतावाले परमाणुके साथ बंध हो सकता है। परंतु बाकीके हीनाधिक गुणवालोंके साथ उसका बंध नहीं हो सकता। अर्थात् तीन गुण चिक्कणतावाले परमाणुका एक गुण, दो गुण, तीन गुण, चार गुण चिक्कणतावाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं हो सकेगा। कारण यह बात पहले कही जा चुकी है कि दो गुण अधिकवालेका ही बंध हो सकता है। इसलिये तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ ही बंध हो सकता है। इसीप्रकार तीन गुण चिक्कणतावाले परमाणुका छह गुण, सात गुण, आठ गुण, नौ गुण, दश गुण, संख्यातगुण असंख्यातगुण और अनंतगुण चिक्कणतावाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं हो सकता है।

इसीप्रकार समगुणकी अपेक्षा चार गुण चिक्कणतावाले परमाणुका छह गुण चिक्कणतावाले परमाणुके साथ बंध होता है। बाकीके एक गुण, दो गुण, तीन गुण, चार गुण, पांच गुण चिक्कणतावालोंके साथ तथा सात गुण, आठ गुण, संख्यात, असंख्यात, अनंतगुण चिक्कणतावाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं होता है।

शंका—जिसप्रकार ज्ञान आदिक धर्म, द्रव्यके आत्मभूत और अन्वयस्वरूप हैं, उसीप्रकार पर्याय भी द्रव्यके आत्मभूत–आत्मस्वरूप ही हैं । पर्यायोंको प्रतिक्षण विनशी माना है इसलिये पर्यायोंके विनाशसे द्रव्यका भी समूल उच्छेद हो सकता है। इसका समाधान यह है कि पर्यायोंके विनाशसे द्रव्यके विनाशकी तो संभावना जब की जासकती है जब कि जिसप्रकार क्रमसे पिंड घट कपाल आदि पर्यायें कभी दीख पडती हैं और कभी नहीं दीख पडतीं उसप्रकार रूपीपना द्रव्यपना अजीवपना और अनुपयोगपना आदिरूप परिणाम भी कभी दीख पडें और कभी न दीख पडें परन्तु उनका कभी भी अभाव नहीं दीख पडता तथा रूपीपना आदि स्वरूप ही द्रव्य पदार्थ है इसलिये पर्यायोंके विनाशसे द्रव्यका कभी भी विनाश नहीं हो सकता इसरूपसे पिंड घट आदि पर्यायोंके विनाश और उत्पादोंके रहनेपर भी घट आदि पर्यायोंके विनाश और उत्पादोंके रहनेपर भी द्रव्य अपने स्वरूपसे विनष्ट नहीं होता वह नित्य ही रहता है इसबातको दिखानेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तद्भावाव्ययं नित्यं ॥ ३० ॥

जो तद्भावरूपसे अव्यय है सो ही नित्य है। भावार्थ—जो पहिले समयमें था वही दूसरे समयमें हो उसे तद्भाव कहते हैं और जो तद्भावसे अव्यय (विनाशरहित) हो उसीको नित्य जानना चाहिये। अभिप्राय यह है कि–पदार्थके भाव वा गुणके नाश नहीं होनेको नित्य कहते हैं। अग्निके उष्णता गुणका बना रहना अग्निका नित्यपना है। सर्वथा नित्य अर्थात् कूटस्थ कोई वस्तु नहीं है, सत्ताकी वा द्रव्यकी अपेक्षा नित्यत्व है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व है।

यहांपर द्रव्यका प्रकरण चल रहा है इसलिये द्रव्य तद्भावसे अव्यय होनेके कारण नित्य है यह यहां अर्थ समझ लेना चाहिये। वार्तिककार तद्भाव शब्दका खुलासा अर्थ करते हैं—

प्रत्यभिज्ञानहेतुता तद्भावः ॥ १ ॥

बंध हो जायगा। यही व्यवस्था सर्वत्र समझ लेनी चाहिये। इसी ऊपर किये गये विवेचनको सिद्धांत-गाथा द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

उक्तं च—णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।

अर्थ—स्निग्ध गुणवालेका स्निग्ध गुणवाले परमाणुके साथ बंध होता है परंतु वह दो अधिक गुणकी जहां योग्ता होगी वहीं पर होगा। इसी प्रकार रूक्ष गुणवालेका रूक्षगुणवालेके साथ वंध होता है वह भी वहींपर होगा जहां दो गुण अधिक की योग्यता होगी। इसीप्रकार स्निग्ध गुणवालेका रूक्ष-गुण वाले परमाणुके साथ बंध होता है और रुक्ष गुणवालेका स्निग्ध गुणवालेके साथ वंध होता है परन्तु वह दो गुण अधिक वालोंका ही होता है अन्यथा नहीं। इतना विशेष है कि जघन्यगुण वाले अर्थात् एक गुण स्निग्धता अथवा एक गुण रूक्षतावाले परमाणुके साथ कभी बंध नहीं हो सकता है अर्थात् जघन्य गुणवालेको छोडकर जहां बंध योग्यता है अर्थात् जहां दो गुण अधिक वाला परमाणु है वहांपर बंध हो जायगा चाहे समता हो अथवा विषमता हो अर्थात् चाहे दो गुण वाले और चार गुणवालोंका हो अथवा तीन गुणवाले और पांच गुणवालोंका हो। इस गाथामें परमाणु परमाणुकी बंध योग्यताका पूर्ण विवरण सिद्धांतकार आचार्य महाराजने बता दिया है। बंध रूक्ष रूक्षवालोंका भी हो सकता है; स्निग्ध स्निग्धवालोंका भी हो सकता है स्निग्ध रूक्षवालोंका भी हो सकता है और रूक्ष स्निग्धवालोंका भी हो सकता है परन्तु एक गुण वालेका किसीके साथ नहीं हो सकेगा इस एक गुणवाले परमाणुको छोडकर वाकी चाहे समान समानका हो, चाहे विषम विषमवालोंका हो अर्थात् दो चार आदि पूरों पूरोंका हो अथवा तीन पांच आदि ऊनों ऊनोंका हो जहां दो गुण अधिक होंगे वहां बंध हो सकेगा।

इसलिये नित्यता आदिके होनेमें भिन्न भिन्न धर्मोंका आश्रय रहनेसे यहांपर विरोध नहीं हो सकता ॥

द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है यह बात ऊपर बहुत अच्छी तरह बताई जाचुकी है तथा जिनके चित्त मिथ्यादर्शनके उदयसे आकुलित हैं वे उस बातको स्वीकार नहीं करते इसलिये उनका यहांपर यह कहना है कि—जिस सत्का नाश और उत्पाद होता है वही नित्य भी है यह कहना अत्यंत साहसको लिये हुये है क्योंकि वह बात वा कल्पना अनुभवमें नहीं आसकती इसलिये उसपर विश्वास नहीं किया जासकता यहांपर वार्तिककार–आचार्य कहते हैं कि नाश उत्पाद स्वरूप पर्यायोंमें सत्पना और नित्यपना दोनों ही निर्दोष रूपसे हो सकते हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नयोंमें किसी भी एक एक नयकी अपेक्षा[1] दोनों हीका संभव है अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वरूप पर्यायोंमें सत्पनेका भी संभव है और नित्यपनेका भी संभव है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा असत्-पना और अनित्यपना भी संभव है इसी आशयको सूत्रकार सूत्रके द्वारा प्रकट करते हैं—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

जिसकी मुख्यरूपसे विवक्षा की जाय सो अर्पित और जिसकी गौणरूपसे विवक्षा की जाय सो अनर्पित है इन दोनों नयोंसे वस्तुकी सिद्धि होती है। भावार्थ–वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं उनमेंसे वक्ता जिस धर्मको प्रयोजनके वश प्रधान कर कहै वह अर्पित है और प्रयोजनके विना जिस धर्मको कहनेकी इच्छा न करे वह अनर्पित है। इसमें यह न समझ लेना चाहिये कि जो धर्म कहा नहीं गया वह वस्तुमें है ही नहीं। नहीं, वह जरूर है परंतु उससमय उसके कहनेकी मुख्यता नहीं है क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक ही पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, मामा, भानजा, श्वसुर, जामाता जो अनेक संबंध विद्य-मान हैं वे सब अपेक्षासे ही सिद्ध होते हैं, कोई कहै यह मामा ही है सो नहीं है। भानजेकी अपेक्षा

१ वार्तिककारको यह प्रथमाका द्विवचनांत इष्ट है। अन्यत्र 'सद्धेः' ऐसा पंचम्यंत प्रयोग माना है।

लावेगा अर्थात् संयोग परमाणुओंको परस्पर इकट्ठा मात्र कर हो जाता है। परंतु वंधका कार्य प्राप्तिमात्र नहीं है उसका कार्य उन परमाणुओंकी परस्पर एक पिंडात्मक अवस्था कर देना है। अर्थात् वंध अवस्थामें परिणत पुद्गल स्कंधोंमें जो एक रसात्मक गुणोंका परिणमन है वही वंध पर्याय है। यह एक रसवत्ता परमाणुओंके मिलने मात्रसे सिद्ध नहीं होती है। जिन स्कंधोमें रहनेवाले स्निग्ध और रूक्ष गुण परस्पर एक दूसरेरूप परिणाम धारण करनेसे रहित हैं, केवल परमाणुओंका संयोगमात्र हो गया है किंतु उन परमाणुओंके गुणोंका एक रूप नहीं हुआ है वहां अधिक गुणवाले हीन गुणवालोंको अपने रूप परिणमन करानेवाले सिद्ध नहीं हो सकते। जिस प्रकार कुछ तंतु काले हों और कुछ तंतु सफदे हों तो उन दोनों प्रकारके तंतुओंका जो संयोग होगा वह उन कृष्ण शुक्ल तंतुओंके गुणोंको एक रूप नहीं कर सकता है। केवल दोनों प्रकारके तंतुओंका संयोग मात्र हो जायगा इसलिये वंध जहां होता है वहां अधिक गुणवाले हीन गुणवालोंको अपने रूप परिणमवा लेते हैं यह वात वंध पर्यायसे ही सिद्ध हो सकती है केवल संयोगमात्रसे नहीं हो सकती इसीलिये वंध धर्म संयोगसे भिन्न माना गया है। इसी वातको आगेके सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं —

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—परस्पर बंध होनेपर अधिक गुण अपनेसे हीन गुणोंको अपने स्वरूप परिणवा लेते हैं। अर्थात् यदि चारगुण स्निग्धताके हैं और दो गुण रूक्षताके हैं तो दो गुण रूक्षताके भी चार स्निग्धतामें एकीभावको प्राप्त होकर स्निग्धरूप परिणत हो जांयगे यदि रूक्षताके अंश अधिक होंगे और स्निग्धताके अंश कमती होंगे तो स्निग्धताके अंश भी रूक्षरूप परिणत हो जांयगे।

प्रकृतत्वाद् गुणसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर गुणका ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि वह प्रकरणमें चला आरहा है। उस गुण ग्रहणके

विषय माना जाय तो घट पट आदि पर्यायोंके आधीन जो व्यवहार होता है कि 'घट ले आओ, पट रख आओ' यह व्यवहार नहीं बन सकता क्योंकि पर्यायोंसे भिन्न सर्वथा द्रव्यस्वरूप वस्तुका संसारमें अभाव है। तथा यदि पर्यायार्थिक नयका ही विषय माना जाय तो भी लोकका व्यवहार नहीं बनसकता क्योंकि द्रव्यसे भिन्न केवल पर्याय स्वरूप वस्तुका भी संसारके अंदर अभाव है किंतु वस्तु द्रव्य पर्याय दोनों स्वरूप संसारके अंदर दीख पडती है इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नय इकट्ठे होकर ही लोकके व्यवहारमें समर्थ हैं। इस रूपसे प्रधान और गौण व्यवहारकी अपेक्षा अनित्यत्व और नित्यत्वसिद्धि सुनिश्चित है ॥ ३१ ॥

शंका—सत् पदार्थ अनेक नयोंके व्यवहारका कारण है इसलिये भेद और संघातके द्वारा स्कंधस्वरूप सतोंकी उत्पत्ति होती है अर्थात् स्कंधरूप पुद्गल पर्याय, भेदसे, संघातसे और भेद संघातसे उत्पन्न होती है। यह बात ठीक है परंतु संदेह यह उठता है कि वह द्व्यणुक त्र्यणुक आदि स्वरूप संघात परमाणुओंके संयोगसे ही होता है अथवा उस संघातके होनेमें कोई अन्य विशेष कारण निश्चित कर रक्खा है। इसका समाधान यह है कि परमाणुओंके संयोग होनेपर एकत्वरूप परिणमन होनेवाले बंधसे अर्थात् आपसमें उनका एकमएक होनेसे संघात होता है। यदि यह बात है तब फिर यह प्रश्न उठता है कि पुद्गल जातिके परित्याग न होनेपर और संयोग होने पर जब बंध होता है तब किन्हींका बंध होता है किन्हींका नहीं, इसका कारण बतलाना चाहिये? इसका समाधान यह है कि पुद्गलस्वरूपके अविशेष रहने पर भी अनंत पर्यायोंकी विलक्षण सामर्थ्यसे आपसमें बंध होता है जहांपर वह सामर्थ्य प्रगट होगी वहांपर बंध होगा और जहां नहीं होगी वहांपर बंध नहीं हो सकता। सूत्रकार उसी बंधके कारणोंका उल्लेख कहते हुये सूत्र कहते हैं—

बदल जाती है, दोनोंका एकभाव होकर तीसरी ही अवस्था हो जाती है जिसप्रकार नीला और पीला रंग मिलनेसे तोते (सुआ) के पंखोंके समान वर्ण होजाता है। अर्थात् नीला रंग और पीला रंग इन दोनों रंगोंको परस्पर घोलकर एकरूप कर दिया जाय तो पीलापन और नीलापन दोनोंका अभाव होकर एक तीसरी ही हरित अवस्था होजाती है। उसीप्रकार बंध होनेपर रूप रसादि गुणोंका परिणाम बदल जाता है।

समाधिकाविल्यपरेषां पाठः ॥ ३ ॥

अर्थ—बंध होनेपर समान गुण और अधिक गुणवाले अपने रूप परिणवा लेते हैं, अर्थात् जिसप्रकार अधिक गुणवाला हीन गुणवालेको अपने रूप परिणवा लेता है उसीप्रकार समान गुणवाला भी समान गुणवालेको अपने रूप परिणवा लेता है। ऐसा कोई सूत्र पढते हैं। अर्थात् "बंधेधिकौ परिणामिकौ च" ऐसा तो सूत्र है परंतु कोई 'समाधिकौ परिणामिकौ च' ऐसा सूत्र बताते हैं ऐसा सूत्र कहनेसे दो गुण स्निग्धवालेका दोगुण रूक्षवालेके साथ भी परिणमन होसकता है इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

तदनुपपत्तिरार्षविरोधात ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊपर जो "बंधे समाधिकौ" सूत्रपाठ किया गया है वह नहीं बनता है, क्योंकि आर्षआगमसे विरोध आता है, सिद्धांतमें जहां बर्गणाके बंधविधानका प्रकरण है। वहां नोआगम द्रव्यबंधके भेद कथनमें सादि वैस्रिसकबंध विना किसी निमित्तके अपने आप होनेवाले स्वाभाविक बंधका निरूपण किया गया है अर्थात् विशेष अवस्थाको प्राप्त परमाणुओंका सादिरूपमें स्वभावसिद्ध बंध स्निग्ध रूक्ष गुणोंकी योग्यतासे किसप्रकार होता है यह बात बताई गई है। उसी जगह यह बात भी कही गई है कि विषम स्निग्धता और विषम रूक्षतामें ही बंध होता है, समान स्निग्धता और समान रूक्षतामें बंध नहीं होता है किंतु परमाणुओंमें परस्पर प्राप्ति मात्र संयोगसे होजाती है वास्तवमें उनमें भेद रहता है

तथा रूक्षः ॥ ५ ॥

जिसप्रकार स्नेह गुणके भेद बतलाये गये हैं उसप्रकार रूक्षके भी संख्यात असंख्यात और अनंते भेद हैं तथा इसप्रकारके गुणोंके धारक परमाणु हैं। वार्तिककार स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणोंके भेदोंकी प्रतीति बतलाते हैं—

तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु पांशुकणिकाशर्करादिषु च प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्तदनुमानं ॥ ६ ॥

जिसप्रकार जलकी अपेक्षा अधिक चिकनाई बकरीके दूध और घीमें है। बकरीके दूध और घीकी अपेक्षा अधिक चिकनाई गायके दूध और घीमें है। गायके दूध और घीकी अपेक्षा अधिक चिकनाई भैंसके दूध और घीमें है एवं भैंसके दूध और घीकी अपेक्षा अधिक चिकनाई ऊंटनीके दूध और घीमें है तथा धूलकी अपेक्षा अधिक रूखापन धूलिके कणोंमें अर्थात् धूलिके छोटे छोटे टुकडोंमें है और उनसे अधिक रूखापन बालूमें है। उसीप्रकार परमाणुओंमें भी अधिकता और हीनतासे स्निग्ध और रूक्षगुणोंकी सत्ता है अर्थात् किसी परमाणुमें स्नेह गुण अधिक है तो किसीमें कम है एवं किसीमें रूक्ष-गुण अधिक है तो किसीमें कम है इसप्रकार अनुमान प्रमाणके द्वारा परमाणुओंमें स्निग्धत्व और रूक्षत्वगुणकी सिद्धि निर्बाध है ॥ ३२ ॥

चिकनाई और रुखाईके कारण परमाणुओंका आपसमें बंध होता है इसप्रकार बंधके कारणोंका निश्चय रहने पर भी कितने गुणवाले परमाणुओंके साथ कितने गुणवाले परमाणुओंका आपसमें बंध होता है यह बात विशेषरूपसे नहीं कही इसलिये सामान्यसे एक आदि समस्त गुणोंके धारक परमा-णुओंके आपसमें बंधका प्रसंग रहने पर जिन गुणोंका बंधमें कारणपना अनिष्ट है उन अनिष्ट गुणोंकी निवृत्तिके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

स्निग्ध रूक्ष दोनोंका बंध कहा गया है।* परंतु समान गुणवालोंका बंध होता है ऐसा आर्षका अर्थ कभी नहीं होता फिर शंकाकारने ऐसा उलटा अर्थ समझकर जो सम गुणवालेका भी बंध होता है इस आशयका "बंधे समाधिकौ" ऐसा सूत्रपाठ किया है वह सिद्धांत विरुद्ध है।

अब कोई शिष्य प्रश्न करता है कि सम जाति और विषम जातिके बंधका यह कथन क्यों किया गया है इससे किस फलकी सिद्धि होती है? इसका उत्तर देते हुये आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो अनंतानंत प्रदेशवाला, स्वभावसे संचित अनंत प्रदेशात्मक स्निग्ध रूक्षरूप परिणामको धारणकरनेवाला विस्रसोपचय रूप[2] पौद्गलिक—कार्माण पिंड है वह काय वचन मन इन तीन योगोंके निमित्तसे आत्मामें बंधको प्राप्त होकर कर्मरूप अवस्थाको धारणकर लेता है। और वही कर्मपिंड ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि नामोंके अनुसार आत्मीय गुणोंका घात करता हुआ तीस कोटाकोटि सागर पर्यंत आत्मामें एकीभाव रूपसे ठहरा रहता है। वह उस एक स्वरूपात्मक परिणमन रूप परिणामसे मेघादिक समान कभी फलता नहीं है, सदैव घनिष्ट रूपसे अभिन्नरूप ही बना रहता है। यही उस बंधपरिणामका फल है। यदि उन पुद्गल परमाणुओंका परस्पर अभिन्न रूप बंध नहीं हो तो मेघपटल आदिक समान वह परमाणु समूह भिन्न होकर विखर सकता है परंतु ऐसा नहीं होता, शास्त्रोंमें कर्मोंकी स्थिति सत्तर कोटाकोटि तक बताई गई है वहांतक वह कर्मपिंड एक रसात्मक ज्ञानादि गुणोंकी घात करनेकी योग्यताको धारण किये

---

* समका दूसरा अर्थ पूरा और विषमका अर्थ ऊना भी किया गया है। जैसे चार छह गुणवालेका बंध यह पूरा समबंध और पांच सात गुणवालोंका बंध यह ऊना—विषम बंध है, परन्तु समका अर्थ समान गुणवालोंका बंध आर्षमें नहीं नहीं है।

२ आत्मामें बंधे हुये कर्मपरमाणुओंमें प्रत्येक कर्मपरमाणुके साथ ऐसे अनंतानंत परमाणु लगे हुए है जो कर्मरूप परिणत तो नहीं हुये हैं किंतु योगोंके निमित्तसे·आकर्षित होकर आत्माके साथ बंध जानेपर वे ही कर्म कहलाने लगते हैं और सकषाय भावोंसे बहुत कालतक अपना फल देते है। अर्थात् बंध अवस्थाके पहले बंध योग्य पुद्गलपरमाणु समूह जो आत्माके साथ लगा हुआ है वही विस्रसोपचय कहलाता है।

गुण शब्दसे रूप आदिका ग्रहण है। द्विगुणा यवाः ये जौ धान्य दूने हैं यहांपर गुण शब्द भाग अर्थका वाचक है। गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत् अर्थात् यह साधु उपकार माननेवाला है यहांपर गुणका अर्थ उपकार है। गुणवानयं प्रदेशः इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यंते। यह स्थान गुणवाला है यहांपर गौ और धान्य वहुत उपजते हैं। यहांपर गुण शब्द द्रव्यका वाचक है। द्विगुणा रज्जुः यह रस्सी दूनी है यहांपर गुण शब्दका अर्थ समान अवयव है। गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनीभूता इत्यर्थः अर्थात् इस गांवमें हम गौण हैं। यहांपर गुण शब्दका अर्थ गौण है। परंतु इस प्रकरणमें गुण शब्दका अर्थ 'भाग' विवक्षित है इसलिये न जघन्यगुणानां यहांपर गुण शब्दसे भाग रूप अर्थ लिया गया है। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बंधः अर्थात् जघन्य भागवाले परमाणुओंका आपसमें बंध नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि—

एक स्निग्धत्व रूप गुणके धारक परमाणुका एक स्निधत्व गुणवाले वा दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंतगुण स्निधत्व गुणके धारक परमाणुके साथ बंध नहीं होता तथा उसी एक स्निग्धत्व गुणके धारक परमाणुका एक रूक्षत्व गुणवाले परमाणुके साथ एवं दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंतगुणे रूक्षत्व गुणके धारक परमाणुके साथ बंध नहीं होता। इसीप्रकार एक रूक्षत्व गुणके धारक परमाणुके अंदर भी बंध की व्यवस्था समझ लेना चाहिये अर्थात् जिस परमाणुमें एक रूक्षत्व गुण है उसका एक रूक्षत्व गुणवाले वा दो तीन चार संख्यात असंख्यात एवं अनंतगुणे रूक्षत्व गुणवाले परमाणूके साथ बंध नहीं होता तथा एक रूक्षत्व गुणवाले परमाणुका एक स्निग्धत्व गुणवाले परमाणुके साथ वा दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंतगुणे स्निग्धत्व गुणवाले परमाणुके साथ बंध नहीं होता ॥ ३३ ॥

जघन्य स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणोंको छोडकर अन्य समस्त स्निग्ध और रूक्षोंका सामान्य रूपसे बंधका प्रसंग आया उसके निषेधके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

है इसका स्पष्टीयकरण इसप्रकार है कि अपने सत्स्वरूपसे भिन्न द्रव्यका स्वरूप कुछ नहीं है, यदि सत्स्वरूप भावरूप स्वरूपसे भी द्रव्य भिन्न हो तो वह अभाव रूपही ठहरेगा। परन्तु अभावात्मक जगतमें कोई पदार्थ होता नहीं है इसलिये सत्स्वरूप ही द्रव्य सिद्ध होता है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य कुछनकुछ अर्थक्रिया करता ही रहता है अर्थात् कोईनकोई प्रयोजन प्रत्येक द्रव्यसे सिद्ध होता ही रहता है, इस अर्थक्रिया करनेवाले गुणको वस्तुत्वगुण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य सदैव परिणमन करता रहता है, द्रव्यके इस परिणाम धारण करनेवाले गुणको द्रव्यत्व गुण कहते हैं प्रत्येक द्रव्य परिणाम धारण करता हुआ भी अपने स्वरूपको कभी नहीं छोडता है, कितनी ही अवस्थायें उसकी क्यों न बदलती रहें परन्तु कभी भी वह अपने स्वरूपसे च्युत होकर दूसरे वस्तुस्वरूप नहीं होता है, इस प्रकारकी अवस्था रखने वाले गुणको अगुरुलघु गुण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य किसीनकिसीके ज्ञानका विषय अवश्य होता रहता है। यह निश्चित है कि सर्वज्ञके ज्ञानमें सब द्रव्य विषय होते रहते हैं द्रव्यके इस गुणको प्रमेयत्व गुण कहते हैं इसीप्रकार जीवका स्वरूप इन सामान्य गुणोंके सिवा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चारित्र आदि विशेष गुणोंका भी समुदायरूप है। उन सामान्य गुण और ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि विशेष गुण, इनसे भिन्न जीव द्रव्यका और कुछ स्वरूप नहीं प्रतीत होता है। इसीप्रकार पुद्गलमें सामान्य गुणोंके सिवा रूप रस गंध स्पर्श आदि विशेष गुणोंका समूह भी है, उन सबोंसे भिन्न पुद्गलका और कुछ स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, काल, आकाश, इन द्रव्योंका भी स्वरूप अस्तित्व वस्तुत्व आदिक सामान्य गुण और गति स्थिति वर्तना अवकाशदानहेतुत्व, अमूर्तित्व आदि विशेष गुण, इनसे भिन्न कुछ नहीं है। इससे यह बात हर एक विचारशील पुरुषके ध्यानमें आजाती है। कि गुण समुदाय ही द्रव्य है उससे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार थैलीमें रुपये भरे रहते हैं अथवा वर्तनमें दाल आदिक वस्तु रहती है उस प्रकार द्रव्य आधारभूत जुदा पदार्थ हो और उसमें रहने वाले गुण आधेयभूत जुदे पदार्थ हों, किंतु वृक्षमें

तो द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण स्निग्धोंके साथ, द्विगुण रूक्षोंका द्विगुण रूक्षोंके साथ सदृशता अर्थात् समान जातीयता होनेसे बंध नहीं होता यह अर्थ होता है। अथवा--

न चेष्टत्वात् ॥ ४ ॥

समान गुणवाले दो स्निग्ध गुणोंका दो स्निग्ध गुणोंके साथ एवं दो रूक्षगुणोंका दो रूक्षगुणोंके साथ बंध नहीं होता, यह जो सदृश ग्रहणका प्रयोजन बतलाया है वह ठीक नहीं, क्योंकि उसप्रकारका बंध न होना इष्ट ही है इसलिये यह प्रश्न फिर ज्योंका त्यों खडा है कि सदृशपदका सूत्रमें ग्रहण क्यों किया गया ? अतः वार्तिककार उसका समाधान देते हैं—

गुणवैषम्ये बंधप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ५ ॥

गुणोंकी विषमता रहनेपर तुल्य जातियोंका अर्थात् स्निग्ध गुणवालोंका स्निग्ध गुणवालोंके साथ और रूक्ष गुणवालोंका रूक्षगुणवालोंके साथ बंध होता है यह अर्थ जनानेकेलिये सूत्रमें सदृश पदका उल्लेख किया गया है। अर्थात् सूत्रमें सदृश पदका ग्रहण नहीं किया जाता तो विषम गुणवाले तुल्य जातियोंका भी बंध होता है यह बात सिद्ध नहीं होती इसलिये सूत्रमें सदृश पदका ग्रहण अनर्थक नहीं किंतु सार्थक ही है ॥ ३४ ॥

विषम गुणोंके धारक तुल्य जातीय और अतुल्य जातीयोंका बंध होता है ऐसा सामान्य रूपसे कहा जाने पर समस्त विषम गुणोंके धारक तुल्य जातीय और अतुल्य जातीयोंका सामान्यरूपसे बंधका प्रसंग आया इसलिये जिन जिन विषम गुणवाले तुल्यजातीय और अतुल्य जातीयोंका बंध इष्ट है उनके जनानेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

इति श्री तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी हिंदी वचनिका न्यायतीर्थ पंडित गजाधरलालजी पद्मावतीपुरवाल कृत समाप्त।

अनन्यत्वेऽपि लोके सुवर्णांगुलीयकवद्व्यपदेशदेशनान्मत्वर्थीयसिद्धेः ॥ १ ॥

अर्थ—यह बात नहीं है कि जहां भेद है वहीं मतुप् प्रत्यय होता है, किंतु जहां अनन्यपना है-अभेद है वहां भी मतुप् प्रत्यय होता है, यह बात लोकमें देखी जाती है, जैसे सुवर्णकी अंगूठी। यहांपर सोना और अंगूठी यद्यपि दोनों ही एक पदार्थ है, अंगूठीसे भिन्न सोना नहीं है और न सोनेसे भिन्न अंगूठी है किंतु सोने स्वरूप ही अंगूठी है, फिर भी सोनेकी अंगूठी ऐसा भेद व्यवहार होता है और उसी भेद अर्थमें अभिन्न पदार्थमें भी प्रत्यय होता है। इसीप्रकार यहांपर भी द्रव्य और गुणपर्यायोंमें लक्षणकी अपेक्षा कथंचित् भेद सिद्ध होनेसे द्रव्यमें गुणपर्यायोंसे कथंचित भेद माना जाता है और उसी भेददृष्टिसे मतुप् प्रत्यय होता है। इस मतुप् प्रत्ययके होनेसे गुण पर्यायवाला द्रव्य कहलाता है यह द्रव्यका स्वरूप सिद्ध हो जाता है।

अर्थ—यहांपर कोई शंकाकार कहता है कि गुण यह संज्ञा दूसरे शास्त्रोंमें कही गई है, जैनियोंके शास्त्रोंमें तो द्रव्य और पर्याय इन दो रूप ही तत्त्व है, इसीलिये दोप्रकार नयोंका उपदेश किया गया है। मूलनय दोप्रकार ही है—१ द्रव्यार्थिकनय २—पर्यायार्थिकनय। यदि इन दो नयोंसे भिन्न कोई गुण नामक पदार्थ भी हो तो उस गुणको विषय करनेवाला कोई तीसरा भी मूल नय होना चाहिये। परंतु कोई तीसरा नय तो कहा नहीं गया है इसलिये गुण कोई वस्तु नहीं है यह बात सिद्ध होजाती है, ऐसी अवस्थामें 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' ऐसा सूत्र कथन नहीं बन सकता है? अर्थात् जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका ही उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है तो 'पर्यायवद्द्रव्यं' ऐसा सूत्र करना ही ठीक है 'गुण-पर्ययवद्द्रव्यं' ऐसा सूत्र नहीं करना चाहिये?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—अर्हंत प्रणीत शास्त्रोंमें गुणका कथन किया है। अर्हंत-प्रणीत शास्त्रमें यह सूत्र है कि "द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः" इस सूत्रसे शास्त्रोंमें गुणका उल्लेख है यह बात स्पष्ट हो जाती है, और भी शास्त्रोंमें गुणोंका विधान किया गया है यथा—

आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् पंचगुणादिसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

अर्थ—द्व्यधिकादिगुणानां तुः इस सूत्रमें जो आदि शब्द है उसका प्रकार अर्थ है, वह प्रकार क्या है ? उसीके उत्तरमें कहते हैं कि दो गुणोंसे अधिकता ही प्रकार है। ऐसा कहनेसे पांच गुण आदिका बोध हो जाता है। यहांपर अवयवके साथ विग्रह है और समासका समुदाय रूप अर्थ होता है। अर्थात् प्रत्येक पदके साथ तो समास किया जाता है और समस्त पदोंका समुदायरूप अर्थ किया जाता है ऐसा करनेसे चार गुणोंका भी ग्रहण हो जाता है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि दो गुणकी अधिकता जिस परमाणुमें होगी उसीका बंध हो सकेगा। चाहे दो गुणवाले परमाणुसे दो गुण अधिकवाला दूसरा परमाणु हो अथवा तीन गुणवाले परमाणुसे दो गुण अधिकवाला दूसरा परमाणु हो वैसी अवस्थामें दोनों परमाणुओंका परस्पर बंध हो सकेगा। यही वात आदि शब्दका अर्थ जो प्रकार है उससे सिद्ध होती है। प्रकारका अर्थ यही हैं कि दो गुण अधिक होने चाहिये चाहे वे दो गुण अधिक समान गुणवाले परमाणुसे हों अथवा विषम गुणवाले परमाणुसे हों यदि सम गुणवाले परमाणुसे दो गुण अधिकवाला परमाणु लिया जायगा तो कमसे कम वह चार गुणवाला ही पड़ेगा कारण जघन्य (एक) गुणवाले परमाणुका तो बंध होता ही नहीं है कमसेकम दोगुणवाले परमाणुका बंध होता है इसलिये उस दो गुणवालेसे अधिक दो गुणवाला परमाणु चार गुणवाला ही हो सकता है इसीप्रकार यदि एक परमाणु तीन गुणवाला हो तो उससे दो गुण अधिकवाला परमाणु पांच गुणवाला पडेगा। बस! इसीप्रकार चाहे समगुणवाला परमाणु हो चाहे विषम गुणवाला परमाणु हो उन दोनो प्रकारके परमाणुओंका उनसे दो गुण अधिकवाले परमाणुओंके साथ बंध हो सकेगा। ऐसी समता और विषमता क्रमसे दो गुण और तीन गुणवाले परमाणुओंसे लेकर संख्यात असंख्यात एवं अनंत गुणतक समझनी चाहिये। परन्तु जिसके साथ बंध योग्यता होगी वह उससे दो गुण अधिकवाला ही होगा। फलितार्थ यह हुआ कि

है। इसलिये द्रव्यनय और पर्यायनय अथवा सामान्य और विशेष रूपको छोडकर द्रव्यका कोई तीसरा नय रूप हो ही नहीं सकता है क्योंकि नय विकलादेशी होते हैं अर्थात् वस्तुके एकदेशको नय कहते हैं उन्हीं एक एक देशोंका जो समुदाय है वह प्रमाणका विषय है। कारण प्रमाणका विषय सकलादेश होता है। अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तुकी दोनों अवस्थाओंको विषय करनेवाला प्रमाण है। प्रमाण वस्तुके सर्वांशको विषय करता है।

इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुका जो सामान्य सदात्मक परिणाम है वह सामान्य-अंश कहलाता है, वस्तुमें सत् सत् यह प्रतीति सामान्य रूपसे होती है और वह सभी वस्तुओंमें एक सदृश होती है। यद्यपि प्रत्येक वस्तुका सत् जुदा जुदा है फिर भी सत् रूप प्रतींतिमें कुछ भेद नहीं होता, यही सामान्य प्रतीति दर्शनका विषय है आर यह सत् रूप पदार्थ जीव द्रव्य है अथवा रूप रसात्मक पुद्गल द्रव्य है ऐसी भेद प्रतीतिका होना ही विशेष ग्रहण है यह पर्यायार्थिक नयका विषय है। ये दोनों अंश सामान्यांश और विशेषांश कदाचिद एक वस्तुके आधे आधे हिस्सेमें रहते होंगे ऐसा समझना भी भूल है। वस्तुके समस्त अंशोंमें जहां सामान्यांश है वही उसके समस्त अंशोंमें विशेषांश है। वस्तु तो एक अखण्ड अनिर्वचनीय स्वरूप वाला है यह अंशों की भेद कल्पना नयरूप ज्ञानकी विषय विवक्षासे होती है। इसी-लिये एक २ अंशको विषय करने वाला ज्ञान नय कहलाता है और वस्तुके सर्वांशको विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

अथवा गुणही पर्याय कहलाते हैं, ऐसा भी कथन है ऐसी अवस्थामें गुण समुदाय द्रव्य कहना अथवा पर्याय समुदाय द्रव्य कहना दोनोंका एक ही रूप है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्याय हैं, उनसे भिन्न गुण कुछ नहीं है। इसलिये गुण ही पर्याय हैं ऐसा कहनेमें भी कुछ भेद नहीं है। जब गुण पर्याय द्रव्य इन तीनोंमें वास्तवमें कुछ भेद नहीं है, तीनोंका एक ही अधिकरण है, तीनोंका एक

इसीप्रकार बाकी गुणवालोंकी बंध योग्यताका विचार कर लेना चाहिये। जिसप्रकार चिक्कण गुणवालोंकी परस्पर दो गुण अधिक हो जाने पर बंध योग्यता है उसीप्रकार रूक्ष गुणवालोंकी भी समझ लेनी चाहिये, उसीको स्पष्ट करते हैं—दो गुण रूक्षवाले परमाणुका एक, दो, तीन गुण रूक्षतावाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं हो सकता किंतु उसका चार गुण रूक्षतावाले परमाणुके साथ तो बंध हो जाता है और उसी दो गुण रूक्षतावाले परमाणुका पांच छह संख्यात असंख्यात अनंतगुणवाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं होता है। इसीप्रकार तीन गुण रूक्षतावाले परमाणुका दो गुण अधिक रूक्षतावालेके साथ अर्थात् पांच गुण रूक्षतावाले परमाणुके साथ बंध हो जाता है।

जिसप्रकार यह बंधयोग्यता सम विषमरूपसे समान जातिवालोंकी बताई गई है अर्थात् स्निग्ध स्निग्धकी और रूक्ष रूक्षकी। उसीप्रकार यह सम विषमरूपसे बंधयोग्यता भिन्न २ जातिवालोंमें अर्थात् स्निग्ध और रूक्षगुणवालोंमें भी समझ लेनी चाहिये।

जैसे—दो गुण चिक्कणतावाले परमाणुका एक गुण, दो गुण, तीन गुण रूक्षतावाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं होता है, किंतु उसका चार गुण रूक्षतावाले परमाणुके साथ तो बंध हो सकता है। इसके आगे उस दो गुण चिक्कणतावाले परमाणुका पांच गुण छह गुण आदि गुणवाले परमाणुओंके साथ बंध नहीं हो सकता है।

इसीप्रकार जिस परमाणुमें तीन गुण स्निग्धताके हैं उसका पांच गुण रूक्षता रखनेवाले परमाणुके साथ तो बंध हो सकता है परंतु उस तीन गुण स्निग्धतावाले परमाणुका बाकीके पूर्व और उत्तर गुणवाले परमाणुके साथ बंध नहीं हो सकता है। अर्थात् तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ ही बंध हो सकता है, उसका एक, दो, तीन, चार, छह, सात, आठ, आदि गुणवालोंके साथ बंध नहीं हो सकता है। बस इसी प्रकार दो गुण स्निग्धता अथवा रूक्षताके जिस परमाणुमें अधिक होंगे उसीका दो गुण हीनवालोंके साथ

यह बात विदित होती है कि द्रव्य उतने ही है जितने कि पहले कहे जाचुके हैं, ऐसी आशंका होनेपर श्रीआचार्य महाराज उन द्रव्योंका भी निरूपण करते हैं जो पहले नहीं कहे गये हैं उसीकेलिये सूत्र कहते हैं—

कालश्च ॥ ३८ ॥

काल भी एक द्रव्य है। ऊपर धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, इन पांच द्रव्योंका उल्लेख तो किया जाचुका है, इनके अतिरिक्त छठा द्रव्य और भी है और वह कालके नामसे प्रसिद्ध है। जिसप्रकार पांच द्रव्योंका गुण पर्याय लक्षण है उसीप्रकार काल द्रव्यका भी गुणपर्याय लक्षण है। कालद्रव्य भी अस्तित्वादिक सामान्य गुणोंके सिवा वर्तनालक्षण आदि विशेष गुणोसे विशिष्ट है, यह काल द्रव्य भी अनंत गुणोंका पिंड है। इसलिये पांच द्रव्योंके समान यह भी छठा द्रव्य है।

यह काल द्रव्य एक प्रदेशात्मक है ऐसे एक एक प्रदेश वाले काल द्रव्य असंख्तात हैं, वे लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक एक काल द्रव्य रत्नोंकी राशिके समान ठहरे हुये हैं,। लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात हैं इसलिये काल द्रव्य भी असंख्यात हैं। काल द्रव्यका भी अन्य द्रव्योंके समान प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है, काल द्रव्यकी एक समयमें होनेवाली पर्यायका नाम ही एक समय है। यह पर्याय काल द्रव्यकी है इसलिये वास्तविक है। एक एक समयवर्ती पर्यायोंके समूहको आवलिमुहूर्त आदि नामोंसे कहते हैं। ये सब नाम काल्पनिक हैं कारण असंख्यात समयोंके समूहको आवलि कहते हैं। इसीप्रकार उत्तरोत्तर समय समूहकी वृद्धि होनेपर मुहूर्त आदि नामोंकी कल्पना की गई है। एक समयका प्रमाण अति सूक्ष्म है वह विवेचनाके बाहर है फिर भी लक्षणदृष्टिसे सिद्धांतकारोंने यह बात कह दी है कि जितने कालमें पुद्गलका एक परमाणु अपनी मंदगतिसे चलकर दूसरे परमाणुपर चलाजाय इसी कालका नाम समय है।

कुछ श्वेताम्बर आदि मतवाले निश्चयकाल द्रव्यको स्वीकार नहीं करते हैं, वे केवल व्यवहार काल

इस प्रकार ऊपर कही गई व्यवस्थाके अनुसार परमाणु परमाणुका परस्पर बंध हो जाने पर द्व्यणुक त्र्यणुक चतुरणुक आदि अनंत प्रदेशवाले स्कंध पर्यन्त स्कंधोंकी उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये।

तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषप्रतिपत्त्यर्थः ॥ २ ॥

अर्थ—द्व्यधिकादिगुणानां तु इस सूत्रमें जो अंतमें तु शब्द पडा हुआ है वह निषेधको दूर करता है और बंध की विशेष विधिका विधान करता है। अर्थात् पहले दो सूत्रोंमें 'न जघन्य गुणानां' और 'गुण साम्ये सदृशानां' इन सूत्रोंमें बंधकी योग्यताका निषेध किया गया है परन्तु इस द्व्यधिकादि-गुणानां तु इस सूत्रमें रक्खे गये तु शब्दसे यह बात सिद्ध होती है कि इस प्रकार की योग्यतामें वंध हो जाता है। पहले जघन्य गुणवालोंकी और गुणोंकी समानतामें सदृशोंकी बंधयोग्यता नहीं है ऐसा निषेधकथन है परंतु इस सूत्र द्वारा कहागया है कि दो अधिक गुणवालों की तो वंध योग्यता हो जाती है। यहांपर उस पहले निषेधकथनको दूरकर बंधकी विशेष विधि बताई गई।

शंका—यहांपर यह शंका होती है कि परस्पर जिन परमाणुओंका संयोग हो जाता है उस संयोग अवस्थावाले परमाणुओंका नाम ही बंध है फिर संयोगसे भिन्न एक बंध नामका धर्म क्यों कल्पना किया जाता है अर्थात् संयोग अवस्थावाले परमाणुओंसे भिन्न बंध कोई धर्म नहीं है फिर बंधके स्वरूपकेलिये दो अधिक गुण आदि अभिप्रायवाले सूत्रोंकी रचना व्यर्थ क्यों की गई है? क्योंकि संयोगका नाम ही तो बंध है? संयोग परस्पर परमाणुओंकी प्राप्तिस्वरूप है उसी परस्पर परमाणुओंकी प्राप्ति आदिसे ही सभी समूहात्मक व्यवहारोंकी सिद्धि हो जाती है अर्थात् स्कंध भी परमाणुओंकी परस्पर प्राप्तिका नाम है वह प्राप्ति संयोगस्वरूप है। उसी संयोगसे परमाणुओंको समूह स्वरूप कहा जाता है। इसी समूहात्मक पिंडको स्कंध कहते हैं इसलिये संयोग अवस्थावाले परमाणुओंसे भिन्न बंध कोई पर्याय परमाणुओंकी नहीं है।

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—परमाणुओंका संयोग होगा तो वह उनकी प्राप्तिमात्र कह-

आकाशादिवत्तत्सिद्धिः ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार आकाशादिकोंमें लक्षणकी सिद्धि है उसीप्रकार कालमें भी उसकी सिद्धि हो जाती है। ध्रौव्य तो कालका विना किसी दूसरे निमित्तके स्वयं स्वकीय उपादान कारणजनित सिद्ध ही है, कारण कालकी स्वभाव व्यवस्था सदैव नियत रूपसे रहती है, ध्रौव्यके विना वह रह नहीं सकती है इसलिये ध्रौव्य मानना ही पडता है। व्यय और उत्पाद वाह्य कारणसे ही होते हैं और अगुरुलघु गुणकी वृद्धि हानिकी अपेक्षा अपने अंतरंग कारणसे भी होते हैं। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमें एक अगुरुलघु नामका गुण है वह सदैव षड्गुणी हानि और वृद्धि करता रहता है, उस हानि वृद्धिसे जो परिणमन होता है वही व्ययोत्पाद है इसप्रकार गुणकृत व्ययोत्पाद स्वप्रत्ययसे कहलाता है, उस अगुरुलघु गुणके परिणमनमें किसी वाह्यकारणकी आवश्यकता नहीं है। किंतु जो व्ययोत्पाद अन्य द्रव्योंके परिणमनसे होते हैं वे पर प्रत्ययसे होनेवाले कहे जाते हैं। जैसे एक आदमी छोटा है एक वडा है एक वस्तु नवीन है एक पुरानी है, यह कालकृत व्ययोत्पाद पर वस्तुओंके निमित्तसे होता है। इसीप्रकार अन्य द्रव्योंके समान कालके भी साधारण और असाधारण गुण होते हैं, उनमें कालका असाधारण गुण तो वर्तनाहेतुत्व है, तथा अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि उसके साधारण गुण हैं। कारण—ये अचेतनत्वादिक गुण आकाश, धर्म अधर्म इन द्रव्योंके भी हैं इसलिये वे साधारण कहे जाते हैं। जिसप्रकार कालद्रव्यमें गुणोंका वर्णन किया उसीप्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप उसकी पर्याय भी समझ लेनी चाहिये। यदि पर्याय न हों तो उसके भूत भविष्यत वर्तमान आदि भेद ही नहीं हो सकते।

उस कालद्रव्यका अस्तित्व किस चिन्हसे जाना जाता है, तथा उसकी रचनाका क्रम क्या है, यह सब कथन वर्तनापरिणामके लक्षण प्रकरणमें कहा जाचुका है।

प्रश्न—कालद्रव्य है यह बात तो ठीक है, परंतु वह, कालद्रव्य आकाश द्रव्यके समान एक द्रव्य है,

संबंधसे गुणका बोध हो जाता है इसलिये सूत्रमें आये हुये अधिक शब्दका संबंध गुणोंके साथ समझ लेना चाहिये। अर्थात् बंध होने पर अधिक गुणहीन गुणोंको अपने रूप परिणमन कर लेते हैं। दृष्टांतके लिये वार्तिक कहते हैं—

भावांतरापादानं परिणामकत्वं क्लिन्नगुडवत ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मीठे रसवाले गीले गुड़में गिरे हुये धूलके छोटे २ कण गुड़में मिलजानेसे मीठे रसरूप परिणत हो जाते हैं अर्थात् उन गुडमें गिरे हुये रेणुओंका परिणमन गुडके अधिक गुण मीठे रसरूप परिणत हो जाता है। उसीप्रकार और भी जो अधिक गुणवाला परमाणु होगा वह हीन गुणवालेको अपने आप परिणवा लेगा। ऐसा कहनेसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि जो दो गुण स्निग्धवाला अथवा दो गुण रूक्षवाला परमाणु है उसे चार गुण स्निग्धवाला अथवा चार गुण रूक्षवाला परमाणु अपने रूप परिणवा लेगा इसीप्रकार तीन गुणवालेको पांचवाला परिणवा लेगा। इसप्रकार सर्वत्र अधिक गुणवाला हीन गुणवालेको अपने रूपमें कर लेगा। इसप्रकारके परिणमनसे फल यह होता है कि दोनों परमाणुओंकी पूर्व अवस्था छूटकर तीसरी ही अवस्था हो जाती है। अर्थात् जिससमयमें दोगुण रूक्षवाले परमाणुको चार गुण स्निग्धवाला परमाणु अपने स्निग्ध स्वरूप परिणवा लेता है उससमय फिर न तो कोई हीन गुणवाला ही प्रतीत होता है और न अधिक गुणवाला ही प्रतीत होता है और न स्निग्ध रूक्षका भेद ही प्रतीत होता है किंतु एक रूप अवस्था हो जाती है। इसी अवस्थाको स्कंधात्मक बंध अवस्था कहते हैं। यदि इसप्रकार बंध अवस्था नहीं मानी जाय और संयोगमात्रसे ही कार्य चलजाय तो काले और सफेद तंतुओंके समान संयोग होनेपर भी परस्पर एक दूसरेका अपने रूप परिणमन तो होगा नहीं, वैसी अवस्थामें वे मिले हुये संयोगी परमाणु सब आपसमें भिन्न भिन्न रूपसे ही ठहरे रहेंगे। परंतु इसके विपरीत ऐसा देखा जाता है कि परस्पर बंध होजाने पर वर्ण रस गंध आदि गुणोंकी अवस्था

कालद्रव्य है। वर्तनाएं प्रतिसमयवर्ती अनंती हैं। वे सब कालाणुके निमित्तसे होती हैं अतः मुख्य कालाणु भी अनंत समयवाला कहाजाता है। कारणमें कार्यका उपचार करनेसे यह अनंतका व्यवहार निश्चयकालमें भी होजाता है। कालका सबसे छोटा अंश समय कहाजाता है, अर्थात् कालकी अत्यंत छोटी पर्यायसे घिरा हुआ जो काल है वह समय कहलाता है उसीसमयका समूह विशेष आवलिका आदि नामोंसे कहा गया है।

प्रश्न—'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस सूत्रमें गुणोंका भी उल्लेख किया गया है वे गुण कौन हैं अर्थात् गुण किसे कहते हैं? इसीके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो द्रव्यके आश्रित रहें और स्वयं निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं, गुण विना गुणीके नहीं रहते हैं और गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं।

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा ॥ १ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें जो यह आश्रय शब्द है वह अधिकरण साधन है, गुण जहां आश्रय करें वह आश्रय कहलाता है, यहां अधिकरण अर्थमें पुल्लिंगमें 'य' प्रत्यय हुआ है। अथवा कर्म साधन भी आश्रय शब्द है जो गुणोंसे आश्रित किया जाय वह आश्रय कहा जाता है। यहांपर आङ् पूर्वक श्रि धातुसे कर्ममें अच् प्रत्यय होनेसे आश्रय शब्द बना है। द्रव्य शब्दका अर्थ पहिले ही कहा जाचुका है, द्रव्य ही जिनका आश्रय हो वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं, ऐसे गुण होते हैं।

निर्गुण इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थं ॥ २ ॥

अर्थ—जो द्रव्यके आश्रित रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं ऐसा कहनेपर द्व्यणुकादिमें भी गुणका बोध होने लगेगा। क्योंकि कारण द्रव्यके आश्रय कार्य द्रव्य रहते हैं द्व्यणुक त्र्यणुक आदि स्कंध भी परमाणु

एकीभाव नहीं होता है । और इसी अभिप्रायसे श्रीआचार्य महाराजने "गुण साम्ये सदृशानां" यह सूत्र कहा है कि गुणोंकी समानता होनेपर सदृशोंका भी बंध नहीं होता है । अर्थात् जहांपर, दोगुण स्निग्ध स्निग्धवाले, दोगुण रूक्ष रूक्षवाले, तथा दोगुण स्निग्ध रूक्षवाले परमाणु होंगे वहां समानगुण होनेसे बंध नहीं होसकता है। इसलिये जब समानगुणवालोंके बंधका निषेध किया गया है तब बंध होनेपर समान गुणवाला भी अपनेरूप परिणमन कर लेता है ऐसा आर्षविरोधी वचन विद्वानों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। कारण जब समान गुणवालोंका बंध ही नहीं हो सकता है, तो एक गुण दूसरे गुणका अपनेरूप परिणमन किसप्रकार कर सकता है ? नहीं करसकता है ।

विषमे समे वास्ति बंध इति वचनाद्विरोध इति चेन्नाऽऽर्षाऽज्ञानात् ॥ ५ ॥

अर्थ-यहां शंकाकार कहता है कि-सिद्धांतमें ऐसा कहागया है कि जघन्यको छोडकर बाकी सम विषम गुणोंमें बंध होजाता है अर्थात् सम विषम गुणवाले परमाणुओंमें एक गुणवाले परमाणुओंको छोडकर बंध होजाता है। इस कथनसे समान गुणवालोंका भी सिद्धांतकारोंने बंध होना बता दिया है। फिर समान गुणवालोंका भी बंध होजाता है इस सूत्रपाठका आर्षसे कोई विरोध नहीं आता है ?

आचार्य उत्तर देते हैं कि ऊपरकी शंका ठीक नहीं है, कारण ऐसी शंका आर्ष—आगमकी आज्ञाके समझे विना ही कीगई है, आगममें जो जघन्यको छोडकर सम विषम गुणवालोंका बंध बताया गया है वहां समका अर्थ समान गुणवालोंका बंध होता है ऐसा नहीं है, किंतु समका अर्थ समानजाति वालोंका बंध होता है ऐसा है। इसीप्रकार विषमका अर्थ विषमजातिवालोंका बंध होता है ऐसा है। दृष्टांत इसका इसप्रकार है—चार गुण स्निग्धवाले परमाणुका छहगुण स्निग्धवाले परमाणुके साथ बंध होजाता है यह तो समान जातिवालोंका बंध है स्निग्ध स्निग्धका ही बंध है। तथा चार गुण रूक्षवाले परमाणुका छहगुण स्निग्धवाले परमाणुके साथ बंध हो जाता है यह विषम जातिका बंध है । यहांपर

छोडते हैं, इसीलिये वे अन्वयी कहलाते हैं, पर्याय व्यतिरेकी कहलाती हैं। अतः द्रव्याश्रय, इस विशेषणसे ही पर्यायोंकी निवृत्ति होजाती है। क्योंकि द्रव्याश्रय गुण होते हैं यहांपर गुणका द्रव्याश्रय विशेषण जो दिया गया है वह इसलिये नहीं दिया गया है कि गुणोंका आश्रय प्रगट करै, यह वात तो विना प्रगट किये ही सिद्ध होजाती है अर्थात् यह वात तो सामर्थ्यसे ही सिद्ध हो जाती है कि गुणका द्रव्य आश्रय है, विना आश्रयके गुण निराधार ठहर ही नहीं सकते हैं और द्रव्यको छोडकर कोई दूसरा गुणोंका आश्रय है नहीं। इसलिये आश्रय प्रगट करनेकेलिये गुणोंका द्रव्याश्रय विशेषण देना व्यर्थ पडता है, अतः उसका दूसरा अभिप्राय यह लिया जाता है कि वह पर्याय निवृत्तिकेलिये द्रव्याश्रय गुण ही होते हैं पर्यायें नहीं होती हैं।

यहांपर यह शंका होती है कि क्या शब्दोंकी अधिकतासे ही अर्थकी अधिकता समझी जाती है इसीलिये पर्यायकी निवृत्ति करदी जाती है, अर्थात् द्रव्याश्रय पदका अधिक विधान किया गया है तो क्या इस अधिक पद रचनासे ही पर्यायकी निवृत्ति रूप विशेष अर्थका वोध कर लिया जाता है या कोई हेतु भी है कि जिससे द्रव्याश्रय कहनेसे पर्यायोंका ग्रहण नहीं होसके ? इस शंकाके उत्तरमें कहा जाता है कि यह वात नहीं है कि अधिक शब्द ग्रहणसे ही अधिक अर्थ कर लिया जाय किंतु शब्द सामर्थ्यसे विशेष अर्थ होता है उसीको वार्तिक द्वारा कहते हैं—

मत्वर्थे वा निवृत्तिविधानात ॥ ४ ॥

अर्थ—मत्वर्थी जो यः प्रत्यय है, वह विशेषणको अन्य पदार्थमें लेजाता है, तथा मत्वर्थक यः प्रत्यय नित्य योगमें आता है, यहांपर नित्ययोगरूप अर्थका ग्रहण करना चाहिये। ऐसा अर्थ लेनेसे यह वात सिद्ध हो जाती है कि जो द्रव्यको नित्य ही आश्रय करके रहें वे गुण कहलाते हैं अर्थात् गुण द्रव्यको कभी नहीं छोडते हैं, वे अनुगत रूपसे सदैव द्रव्यके साथ रहते हैं, परंतु पर्यायें ऐसी नहीं होतीं हैं,

हुये बराबर ठहरा रहता है और क्रम क्रमसे स्थितिको पूरा करता हुआ आत्मासे निर्जरित होता रहता है इसीकेलिये यह बंधका विवेचन किया गया है। इसके सिवा पुद्गलोंमें स्कंध भेद भी है, वह स्कंधभेद परमाणुओंके परस्पर एकीभावरूप बंधसे ही होता है। उस बंधमें भिन्न भिन्न स्निग्ध रूक्षगुणवाले परमाणु भी एक गुणात्मक होजाते हैं यही बंधके निरूपणका प्रयोजन है।

यहांपर श्रीआचार्य महाराजसे शिष्य प्रश्न करता है कि—अपने पहले 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' इन सूत्रों द्वारा द्रव्योंका नाम गिनाया है, पांच द्रव्योंको अस्तिकाय भी बताया है और जीव अजीवका भी उल्लेख किया है, सो क्या इसप्रकारके नाममात्र अथवा उद्देश्यमात्रसे ही द्रव्योंकी प्रसिद्धि समझी जाय अथवा उनका कोई लक्षण भी है जिससे द्रव्योंका स्वरूप समझा जाय? इसके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि द्रव्यकी प्रसिद्धि केवल नाममात्रसे नहीं है किंतु लक्षणसे भी है, वह लक्षण क्या है? उसीको सूत्र द्वारा वे कहते हैं—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं ॥ ३७ ॥

अर्थ—गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है। गुणपर्यायोंसे भिन्नद्रव्य कोई वस्तु नहीं है, यहांपर 'मतुप' प्रत्यय अभेद अर्थमें है, जैसे सार वाला दूध, सार वाला फल इत्यादि व्यवहार अभेदमें होता है उसी प्रकार गुणपर्यायोंसे भिन्नद्रव्य वस्तु नहीं है तो भी गुणपर्याय वाला द्रव्य ऐसा व्यवहार होता है। किसी भी द्रव्यका स्वरूप विचार करनेसे गुणसमुदाय ही वह प्रतीत होता है। जिसप्रकार वृक्षका स्वरूप स्कंध शाखा, डाली, गुच्छे, पत्ते, पुष्प, फल इनसे भिन्न कुछ नहीं है, इन शाखादिका समूह ही वृक्ष कहा जाता है उसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण और चेतनत्व रूप-रसगंध स्पर्शवत्व, अवकाशदानयोगत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व वर्तनाहेतुत्व, इत्यादि विशेषगुण इनका समुदाय ही द्रव्य कहलाता है इन सामान्य और विशेष गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ प्रतीत नहीं होता

परिणाम शब्दका अर्थ कहना चाहिये इसीके लिये 'तद्भावः परिणामः' यह सूत्र कहागया है। अथवा कोई दर्शनकार—नैयायिक आदिक गुणोंको द्रव्यसे भिन्न पदार्थ मानते हैं वह क्या स्याद्वादियोंको भी मान्य है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, गुण द्रव्यसे भिन्न पदार्थ है यह बात जैनियोंको मान्य नहीं होसकती। यद्यपि कथंचित् द्रव्यसे गुण भिन्न भी हैं, गुणोंका नाम निर्देश द्रव्यसे भिन्न है, लक्षण भिन्न है, संख्या भिन्न है, इन अपेक्षाओंसे गुणोंमें द्रव्यसे भेद है, तो भी गुणद्रव्यसे पृथक् उपलब्ध नहीं होते हैं, और द्रव्यके ही परिणाम हैं, इसलिये वे अभिन्न हैं, ऐसा कहते हुये ही कोई शिष्य श्री-आचार्य महाराजसे पूछता है कि महाराज! परिणाम किसे कहते हैं? उसीको बताइये, इस प्रश्नके उत्तरमें महाराज कहते हैं कि "तद्भावः परिणामः" वस्तुका स्वभाव ही परिणाम है। उसी परिणाम शब्दकी व्याख्या वार्तिकसे कहते हैं—

धर्मादीनां येनात्मना भवनं सः तद्भावः परिणामः ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मादिक द्रव्य जिस स्वरूपसे होते हैं, वह उनका भाव कहा जाता है, उसी वस्तुके भावको तत्त्व अथवा परिणाम भी कहते हैं। अर्थात् धर्मादि द्रव्योंका जो स्वभाव परिणाम है वही तद्भाव है वही स्वस्वरूप है।

तत्स्वरूपं व्याख्यातं ॥ २ ॥

अर्थ—उस परिणामका स्वरूप पहले कहा जाचुका है। कहां कहा जाचुका है? "वर्त्तनापरिणाम-क्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्रमें कहा जाचुका है।

स द्विधाऽनादिरादिमांश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—वह परिणाम दो प्रकार है (१) अनादि (२) आदिमान्। उनमें अनादिपरिणाम तो धर्मादि द्रव्योंका जो गति स्थिति आदि उपकार है वही है। अर्थात् धर्मादि द्रव्य जो अनादिकालसे गत्यादि

रहने वाले फल पत्ते शाखा स्कंध आदिके समान अथवा मकानमें रहने वाले (जिनसे मकान बना है) ऐसे किवाड, भित्ति, खम्भे, ईंट, चूना ऊपरका पटाव खिड़की आदिके समान गुणोंका समूह ही द्रव्य है वही द्रव्य केवल लक्षण आदि की दृष्टिसे भेद विवक्षावश गुणवाला अथवा गुणपर्याय वाला कहलाता है

यहांपर एक बात और विचारणीय है वह यह है कि प्रत्येक गुण प्रतिसमय अपनी अवस्था बदलता रहता है। विना विशेष परिणामके कोई गुण नहीं रहता, इस गुणके परिणाम अथवा अवस्थाका नाम ही पर्याय है। जब प्रत्येक क्षणमें गुणोंकी नवीन २ पर्यायें होती रहतीं हैं तब सूक्ष्म विचार करनेसे यह बात भी कही जासकती है कि अनादिकालसे लेकर अनंतकाल पर्यंत पर्यायोंको छोडकर गुण कुछ पदार्थ नहीं है समस्त पर्यायोंका समूह ही गुण है, परंतु प्रत्येक क्षणवर्ती पर्याय उस गुणसे भिन्न नहीं है और न वह समस्त गुण उस एक पर्यायात्मक ही है, और यह भी निश्चित है कि एक समयमें एक गुण की एक ही पर्याय होती है। इसलिये गुण पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है ऐसा कहनेमें भी एक ही फलितार्थ निकलता है।

गुणोंका स्वरूप आगे 'द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः' इस सूत्रमें बताया जायगा। पर्यायोंका स्वरूप यही है कि एक समयवर्ती एक गुण अथवा द्रव्यकी अवस्थाको ही पर्याय कहते हैं, यह पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाला और प्रतिक्षण ध्वंश होनेवाला परिणाम है। गुण और पर्याय जिसमें पाये जांय वह गुण पर्यायवाला कहलाता है। यहांपर शंकाकार कहता है कि ऐसा अर्थ करनेमें मतुः प्रत्यय नहीं सिद्ध होता है कारण द्रव्य और गुणपर्यायोंमें अभेदभाव है, और मतुः प्रत्यय भेदमें ही होता है? यदि द्रव्य और गुण पर्यायोंमें भेद माना जायगा तो निराधार होनेसे न तो गुणपर्यायोंकी सिद्धि होगी और गुण पर्यायरूप धर्मोंका अभाव होनेसे धर्मीभूत द्रव्यकी भी सिद्धि नहीं होगी दोनोंका अभाव होगा? इस शंकाके उत्तरमें नीचेकी वार्तिक कहते हैं—

प्रश्न—यदि सभी द्रव्योंका परिणाम आदिमान् और अनादि है तो उन परिणामोंका परिज्ञान किस प्रकार होसकता है? उत्तर—

नयद्वयवशात् सर्वत्र तदुभयसिद्धिः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊपरके प्रश्नका उत्तर इसप्रकार है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंकी विवक्षाके वशसे समस्त धर्मादि द्रव्योंमें उस अनादि और आदिमान् परिणामका परिज्ञान हो जाता है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय द्रव्यको ही विषय करता है इसलिये उस दृष्टिसे द्रव्य जैसे नित्य है उसीप्रकार उसका परिणाम भी अनादि है और पर्यायार्थिक नय पर्यायको ही विषय करता है उस दृष्टिसे द्रव्य जैसे अनित्य है उसीप्रकार उसका परिणाम भी आदिमान् है। वस्तुमें उत्पाद व्यय पर्याय दृष्टिसे ही होते हैं, इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सभी पर्यायें सादि हैं। परंतु संततिकी अपेक्षा वे ही अनादि कहीजाती हैं। जैनसिद्धांतमें अपेक्षादृष्टिसे ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है।

ऊपर जो छहों द्रव्योंका द्रव्य और पर्यायकी विवक्षाभेदसे अनादि और सादि परिणाम बताया गया है उसमें इतना विशेष है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चारों द्रव्य अमूर्तिक हैं अतएव इंद्रिय-गोचर नहीं होनेसे अत्यंत परोक्ष हैं, इसलिये उनमें होनेवाला अनादि और आदिमान् परिणाम आगमसे जाना जाता है, तथा जीव पुद्गल ये दो द्रव्य मूर्तिक भी हैं इनमें पुद्गलद्रव्य तो मूर्तिक ही है, परंतु मूर्तिक होनेपर भी परमाणु वा सूक्ष्म स्कंध अत्यन्त सूक्ष्म होने पर इंद्रियगोचर नहीं है, जीव द्रव्य यद्यपि अमूर्तिक है, परंतु संसारी जीव अनादि कर्म संबंध होनेसे कथंचित मूर्तिक भी है। इसलिये इन दोनों द्रव्योंका अनादि और आदिमान् परिणाम आगमसे तो जाना ही जाता है कथंचित् प्रत्यक्ष गोचर भी हो जाता है। अर्थात् शुद्ध जीवका और परमाणुका परिणाम तो आगमसे ही जाना जाता है वह इंद्रियगोचर न होनेसे छद्मस्थोंके प्रत्यक्षगम्य नहीं है। परंतु संसारी जीवोंका स्थूल परिणाम और पुद्गल स्कंधोंका स्थूल परिणाम छद्मस्थोंके प्रत्यक्ष भी होता है।

इसप्रकार श्री तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालंकारकी हिंदीटीकाके निरूपणमें पांचवां अध्याय पूर्ण हुआ।

गुण इति दव्वविधाणं दव्ववियारोयपज्जयो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं ॥ १ ॥

इस गाथाका अर्थ इसप्रकार है—गुण यह द्रव्यका विधान करने वाला स्वरूप है। गुणका समूह ही द्रव्य कहलाता है, इसलिये द्रव्यकी सिद्धि गुणोंसे ही होती है । तथा द्रव्यका विकार ही पर्यायके नामसे कहा गया है। अर्थात् जब गुण समूह ही द्रव्य है तब द्रव्य विकारको पर्याय कहा जाय अथवा गुण-विकारको पर्याय कहाजाय दोनोंका एक ही अर्थ है। उन गुण और पर्यायोंसे सहित अथवा परिपूर्ण ही द्रव्य कहलाता है। अर्थात् जिसका सर्वांश गुण पर्याय स्वरूप है ऐसा द्रव्य कहलाता है । वह अयुत प्रसिद्ध है, अर्थात् अभिन्न एक तादात्म्य स्वरूप है। और नित्य है, अर्थात् गुण समुदाय रूप द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है।

फिर शंकाकार कहता है कि यदि ऊपरके कथनानुसार गुण कोई वस्तु विद्यमान माना जाता है तो उस गुणको विषय करने वाला तीसरा मूलनय होना चाहिये जिसप्रकार द्रव्य नय पर्यायनय कहे गये हैं उसीप्रकार गुणनय भी कहना चाहिए ?

उत्तर—यह आशंका ठीक नहीं है, कारण द्रव्यके दो ही स्वरूप हैं एक सामान्य स्वरूप, दूसरा विशेष स्वरूप। उन दोनोंमें जो सामान्य स्वरूप है उसीको गुणके नामसे भी कहा जाता है। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब एकही अर्थके कहने वाले शब्द हैं। और विशेष स्वरूप को पर्यायके नामसे भी कहा जाता हैं विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों पर्यायके कहने वाले शब्द हैं।

उन सामान्य और विशेष दोनों नयोंमें जो सामान्यको विषय करने वाला नय है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेषको विषय करने वाला नय है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका मिला हुआ जो एक अभिन्न तादात्म्य संबंध स्वरूप है वही द्रव्य कहलाता

अर्थात् दिगम्बर जैनाचार्य प्रणीतशास्त्रोंमें माना हुआ जो आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे बंधने वाला जो अनंत पुद्गल वर्गणाओंका स्कंध विशेष है उसीकी कर्म संज्ञा है। यह पारिभाषिक–रूढि संज्ञा है। कहींपर कर्म शब्दका अर्थ क्रिया होता है जैसे—उत्क्षेपण कर्म—ऊपर फेंकने रूप क्रिया, आकुंचन कर्म–संकोच करनेरूप क्रिया, प्रसारण कर्म फैलने या फैलानेरूप क्रिया, गमन कर्म–चलनेरूप क्रिया, इसप्रकार यहां कर्मशब्द क्रिया अर्थमें आता है। कर्मशब्दकी व्युत्पत्तिसे भी क्रियारूप अर्थ ही सिद्ध होता है, जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं यह व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है इससे क्रिया अर्थ ही सिद्ध होता है। इस प्रकार कहींपर रूढि अर्थ कहीं व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ ऐसे कर्मशब्दके अनेक अर्थ हैं। कायवाङ्मनः कर्म इस सूत्रमें जो कर्म शब्द है उसका अर्थ भी व्युत्पत्ति सिद्ध क्रियारूप अर्थ लिया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि यहांपर कर्म शब्दका क्रियारूप अर्थ ही क्यों लिया गया है और अर्थवाला कर्मशब्द क्यों न समझा जाय? इसके उत्तरमें यह समझलेना चाहिये कि यहांपर क्रियाको छोडकर अन्य अर्थ असंभव है अर्थात् अन्य अर्थ करनेसे सूत्रका प्रकृत अभिप्राय सिद्ध नहीं होता।

यदि फिर कहा जाय कि अन्य अर्थसे प्रकृत सूत्राशय क्यों नहीं सिद्ध होता तो इसका उत्तर नीचेकी वातिकसे दिया जाता है—

न कर्तुरीप्सिततमस्येतरस्योभयस्य च विवक्षासंभवात् ॥ ४ ॥

कर्ताको क्रिया द्वारा प्राप्त होने वाला एवं उसकी इच्छाका विषय भूत जो अत्यन्त इष्ट है वह कर्म कहा जाता है वह तीन प्रकार है–१–निर्वृत्य २–विकार्य ३–प्राप्य। जो वस्तु कर्ताद्वारा तयार तो की जाय परन्तु उसमें कोई विकार नहीं हो उसे निर्वृत्य कहते हैं। जैसे कोली (तंतुवाय) कपड़ा बुनता है, यहां पर कपडा जो कर्म है वह निर्वृत्य कर्म है, अर्थात् वह कपडा तंतुओंसे बनाया तो जाता है परंतु तंतुओंमें कोई विकार नहीं होता, वे ज्योंके त्यों समुदाय रूपसे कपडेमें बुने हुए रहते हैं। अथवा उनका समुदाय

तादात्म्य अभिन्न स्वरूप है, ऐसा समानाधिकरण होनेपर मतुप् प्रत्यय हो जाता है उसके होनेपर 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुण पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा भेददृष्टि रूप अर्थ सिद्ध हो जाता है।

विशेषणानुपपत्तिरर्थाभेदादिति चेन्न मतांतरनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ——यहां शंकाकार कहता है कि यदि गुणोंका नाम ही पर्याय है तो विशेषण देना व्यर्थ है, अर्थात् गुणपर्यायमें जब भेद ही नहीं है तब 'गुण' विशेषण देना व्यर्थ है। कारण—गुण और पर्याय दोनोंके अर्थमें कोई भेद नहीं माना गया है। इसलिये यातो 'गुणवद्द्रव्यं' अथवा 'पर्ययवद्द्रव्यं' इसप्रकार दोनोंमेंसे कोई एक द्रव्यका लक्षण करना चाहिये 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' ऐसा दोनोंका पाठ करना व्यर्थ है?

उत्तर——यह शंका ठीक नहीं है, कारण——यहांपर जो गुण और पर्याय दोनोंका ग्रहण किया गया है वह मतांतरकी निवृत्तिके लिये किया गया है। दूसरोंके मतोंमें—नैयायिक वैशेषिक आदि दूसरे मतवालोंने गुण द्रव्यसे सर्वथा जदे भिन्न ही माने हैं, परंतु द्रव्यसे भिन्न गुण नहीं हैं, यदि गुणोंको द्रव्यसे सर्वथा जुदा माना जाय तो द्रव्यका अभाव ही हो जाय। अर्थात् यदि द्रव्यसे भिन्न गुण हों तो फिर द्रव्य गुणोंसे भिन्न क्या वस्तु ठहरेगा और उसका क्या स्वरूप होगा? अथवा द्रव्यसे भिन्न गुणोंको माननेसे गुणोंका भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता, कारण द्रव्यसे भिन्न गुण कभी कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं, इसलिये दूसरे मिथ्यामतोंके खंडन करनेकेलिये गुण विशेषण भी दिया गया है। गुणके कहनेसे यह बात सिद्ध होजाती है कि द्रव्य गुणोंका ही समूह है उससे भिन्न द्रव्य नहीं सिद्ध होता।

द्रव्यका परिणमन होना, परिवर्तन होना ही पर्याय है, और उन पर्यायोंके भेद ही गुण हैं। पर्यायोंसे भिन्न जातिवाले गुण कोई पदार्थ नहीं हैं। इसलिये मतान्तरोंकी निवृत्ति—निराकरणकेलिये गुण विशेषण दिया गया है, अतः वह सार्थक ही है।

प्रश्न—जो द्रव्य पहिले कहे जाचुके हैं, उन्हींका यह 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' लक्षण कहा गया है। इससे

अथ षष्ठोऽध्यायः।

आस्रवभाव विनाशकर, भये सिद्ध भगवान।
हाथ जोडि तिनको नमूं, होइ पापकी हान ॥

पांचवें अध्यायमें अजीव पदार्थका व्याख्यान किया जाचुका है पहले चार अध्यायोंमें जीव पदार्थ कहा गया है. जीव तत्त्व और अजीव तत्त्वके पीछे इससमय आस्रव तत्व कहना चाहिये इसलिये उसकी प्रसिद्धिकेलिये अथवा विशेषसिद्धिके लिये यह सूत्र कहा जाता है–

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥

अर्थ– काय वचन और मन, का जो कर्म वह योग कहलाता है। अर्थात् मन वचन काय वर्गणाओंके अवलम्बनसे जो आत्म–प्रदेशोंका हलन चलन होता है वह योग कहा जाता है।

कायादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वंद्वः ॥ १ ॥

'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' इस सूत्रमें जो काय मन वचन शब्द हैं उनका इतरेतरयोग नामका द्वंद्व समास है।

वाङ्मानसः प्रसंग इति चेन्न बहुषु तदभावात ॥ २ ॥

यहां यह शंका होती है कि जब इतरेतर योगमें यहां द्वंद्व समास है तो व्याकरणके नियमानुसार 'वाङ्मानसं' ऐसा प्रयोग होना चाहिये ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि बहुत पदार्थोंमें उस विधिका अभाव है। अर्थात् जिस इतरेतरयोग विधिसे वाङ्मानसं प्रयोग होना चाहिये वह विधि दो पदार्थोंमें ही होती है, जहां तीन आदिक बहुत पदार्थ होते हैं वहां 'वाङ्मानसं' ऐसा प्रयोग नहीं बनता। यहां इस सूत्रमें काय आदि तीन पदार्थ हैं वे बहुत संख्यक हैं, बहु संख्यामें वैसा

सांसारिक कार्य सिद्धिके लिये मानते हैं। परन्तु उनसे यह पूछना चाहिये कि विना निश्चयकालद्रव्यके माने व्यवहार काल की प्रवृत्ति कैसे चल सकती है? जब निश्चय कालकी समयरूप पर्याय होती है तभी तो उसका समूहरूप दिन पक्ष वर्ष आदि व्यवहार चलता है यदि मूलभूत समय पर्याय नहीं हो तो उसका समूहरूप व्यवहार भी नहीं चल सकता। दूसरें जिस प्रकार धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्य आकाशद्रव्यका लक्षण गति स्थिति अवकाशदानहेतुत्व है उसीप्रकार काल द्रव्यका लक्षण वर्तना हेतुत्व है यदि वर्तनाहेतुत्व लक्षण काल द्रव्य नहीं मानजाय किन्तु वर्तना वस्तुओंमें ही मानी जाय, तो फिर गति स्थिति अवकाश दान भी वस्तुओंमें ही मान लेना चाहिये। धर्म अधर्म आकाश द्रव्योंके माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। कदाचित् कहाजाय कि जो वस्तु जिस कार्यके लिये सहायक नियत है उसका मानना आवश्यक है तो फिर काल द्रव्यका मानना भी वर्तनारूप सहायताके लिये मानना परमावश्यक है।

तीसरे विना काल द्रव्यके स्वीकार किये व्यवहारकालमें जो काल शब्दकी प्रवृत्ति होती है वह किसप्रकार हो सकेगी। जब तक कोई काल नामक पदार्थ मूलभूत नहीं है तबतक यह भूत काल है यह वर्तमान काल है यह भविष्यत काल है, यह पढनेका काल है यह देव दर्शनका काल है इत्यादि सर्वत्र जो काल शब्दका व्यवहार होता है वह किस निमित्तसे प्रचलित हो सकेगा? इससे सिद्ध होता है कि निश्चयभूत कोई काल द्रव्य है उसीके निमित्तसे उसकी समयरूप पर्यायोंके समूहोंमें काल्पनिक व्यवहार कालका होता है। यह काल द्रव्य निष्क्रिय है और अमूर्तिक है।

यथोक्तद्रव्यलक्षणोपेतत्वाद्द्रव्यं ॥ १ ॥

अर्थ—जो द्रव्यका लक्षण पहले कहा जाचुका है उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् होता है और सत् द्रव्यका लक्षण है अथवा गुण पर्याय वाला द्रव्य होता है। उस लक्षणसे काल द्रव्य भी लक्षित किया जाता है अर्थात् कालद्रव्यका भी यह लक्षण किसप्रकार सिद्ध होता है? इसी बातको नीचेकी वार्तिकसे स्पष्ट करते हैं।

कर्त्रादिसाधनेष्विच्छातो विशेषोध्यवसेयः ॥ ७ ॥

कारकोंकी प्रवृत्ति विवक्षाके आधीन होती है इसलिये कर्म शब्द, कर्ता आदि साधनोंमें संभवित होता है उन साधनोंका अपनी इच्छानुसार ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् कर्म शब्द कर्तृ साधन है या कर्म साधन है या करणसाधन है इसका विशेष अर्थ विवक्षाधीन है। वह इसप्रकार है—वीर्यांतराय कर्म तथा ज्ञानावरण कर्मके क्षय तथा क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा निश्चय दृष्टिसे अपने परिणामका कर्ता स्वयं आपही है क्योंकि कायादि वर्गणाओंके अवलंबनसे जिस योगका परिणमन होता है वह योग आत्माकी निज अवस्था है इसलिये अपने परिणामका कर्ता स्वयं आत्मा है। वचन काय वर्गणाओंके अवलंबनसे योगोंका परिणमन तेरहवें गुणस्थान तक होता है इसलिये तेरहवें गुणस्थानमें वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयकी विवक्षा है उससे नीचे बारहवें गुणस्थान तक उन कर्मोंके क्षयोपशमकी विवक्षा है। आत्माके समान पुद्गल स्वयं अपने परिणामोंका कर्ता है। वीर्यंतराय कर्म और ज्ञानावरण कर्मका क्षयक्षयोपशमरूप परिणाम पुद्गल द्रव्यका है, ऐसी अवस्थामें पुद्गल परिणामोंके कर्ता स्वय पुद्गलकर्म हैं क्योंकि निश्चियदृष्टिसे निजका परिणमन सदा निज रूप ही होता है। तथा परिणाम द्रव्यसे भिन्न स्वतंत्र पदार्थ नहीं होता, इसलिये वीर्यंतरायकर्म और ज्ञानावरणकर्मका क्षयक्षयोपशम रूप परिणाम उन कर्मोंसे भिन्न नहीं है किंतु उन्हीं स्वरूप है। वैसी स्थितिमें उन परिणामोंका कर्ता स्वयं कर्म है। व्यवहार दृष्टिसे आत्मा और कर्म दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक संबंध है। पुद्गलविपाकी कर्म और अंगोपांगनामा नामकर्मके उदयसे मन वचन काय सहित जीवके जो आत्मप्रदेशोंका हलन चलन होता है वह योग कहलाता है। यहांपर जीवके प्रदेशपरिष्पंदमें पुद्गलविपाकी कर्म और अंगोपांग कर्म निमित्त कारण हैं। तथा पुद्गलके परिणमनमें आत्मा निमित्त कारण है। ऐसी परस्पर सापेक्षतामें व्यत्यय होता है अर्थात् कभी आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता ठहर जाता है और कभी पुद्गल आत्माके परिणमनका

अथवा संख्यात द्रव्य है, अथवा असंख्यात द्रव्य है अथवा अनंत द्रव्य है ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री आचार्य महाराज सूत्र कहते हैं—

सोनंतसमयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—वह कालद्रव्य अनंत समयवाला है, यह कथन व्यवहारकालकी अपेक्षासे है, कारण व्यवहारकाल ही समूहात्मक दृष्टिसे अनंत समयवाला है, और यदि वर्तना दृष्टिसे विचार किया जाय तो निश्चयकालके भी प्रति समयवर्ती समय अनंते होते हैं। इसी बातको वार्तिक द्वारा स्पष्ट करते हैं—

व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं वचनं ॥ १ ॥

अर्थ—मुख्यकाल वे परमार्थभूत कालाणु कहलाते हैं जो एक एक लोकाकाशके प्रदेशमें एक एक अणुरूपसे ठहरे हुये हैं। ये अणुरूप कालद्रव्य जुदे जुदे हैं और ऐसे असंख्यात द्रव्य हैं। जितने धर्मास्तिकायके असंख्यात प्रदेश हैं, उतने ही कालाणुद्रव्य असंख्यात हैं। परंतु इतना विशेष है कि धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है और उसके असंख्यात प्रदेश हैं, उसप्रकार कालद्रव्य एक हो और उसके असंख्यात प्रदेश हों ऐसा नहीं है किंतु अणुरूप कालद्रव्य ही जुदे जुदे असंख्यात हैं।

कालद्रव्यका यह अनंत समयका निरूपण व्यवहारकालका प्रमाण निश्चित करनेकेलिये किया गया है। यद्यपि वर्तमानकालका परिमाण एक समय है तो भी अतीत अनागत समय अनंत हैं उनका कभी अंत नहीं आता है, इसीलिये उन्हें अनंत कहा गया है। अथवा—

मुख्यस्यैव वानंतपर्यायवर्तना हेतुत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा यह अनंत समयका निरूपण मुख्यकालके प्रमाणका निश्चय करनेके लिये ही किया गया है। यद्यपि अणुरूप कालद्रव्य जुदा जुदा एक है तथापि अनंत पर्यायरूप वर्तनाका हेतु होनेसे वह अनंत रूप उपचारसे उपचरित किया जाता है। अर्थात् वर्तना सदैव होती रहती है उसका हेतु

बनसे हो चाहे वचन या कायवर्गणाओंके अवलंबनसे हो परंतु हलन चलन सामान्य एक है उसमें तीन भेद नहीं बनते। फिर योगके तीन भेद करना अयुक्त है ? परंतु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि योगमें तीन भेद पर्यायकी विवक्षासे सिद्ध होते हैं, जिसप्रकार रूप रस गंध स्पर्श आदिगुणोंका अखंड पिंड घटद्रव्य एक है, घटद्रव्यसे रूप रसादिक अभिन्न हैं फिर भी चक्षुरादि इंद्रियोंकी भेदविवक्षासे घटमें रूप रस आदि परिणामोंका भेद हो जाता है। चक्षुसे घट रूपवाला जाना जाता है नासिका इंद्रियके संबंधसे वह गंधवाला जाना जाता है, स्पर्शनइंद्रियके संबंधसे वही घट हल्का भारी रूखा चिकना आदि भेदवाला जाना जाता है उसीप्रकार आत्मा अनंत गुणोंका अखंडपिंड एक द्रव्य है। वह भले ही निरवयव है फिर भी पर्यायभेदसे योगका भेद सिद्ध होता है अर्थात् आत्मामें यद्यपि योगपरिणाम एक है तथापि मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इन वर्गणाओंके अवलंबनसे वह तीन भेदोंमें विभक्त होजाता है। जहांपर निमित्तमें भेद होता है वहां नैमित्तिकमें भी भेद होना स्वाभाविक है। यदि निमित्तके भेद होनेपर भी नैमित्तिकमें भेद सिद्ध नहीं हो तो निमित्तकारणमें वैयर्थ्यपना आजाय। जब-तक वह नैमित्तिकमें कोई प्रभाव नहीं डाले तब तक उसका मानना व्यर्थ है । इसलिये योगपरिणामको जिस जिस वर्गणाका अवलंबन होता है उसी उसी रूप उसका परिणमन होता है इसप्रकार परिणमनके भेदसे योगके तीन भेद मानना न्यायसंगत है।

चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद्रूपादिभेदाध्यवसायस्येति चेन्नाऽऽत्माभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मा-
पादितसामर्थ्योपलंभात् ॥ १० ॥

यहांपर यह भी शंका होती है कि घटमें जो रूप रस आदि भेदोंका निश्चय किया जाता है वह चक्षु आदि इंद्रियोंके ग्रहणके भेदसे होता है। अर्थात् चक्षुइंद्रिय रसनाइंद्रिय नासिकाइंद्रिय आदि इंद्रियां घटके रूप आदि भेदोंमें निमित्तकारण हैं उन निमित्तोंमें भेद होनेसे घटके रूपादि परिणाम भी भिन्न २

ओंमें रहते हैं, परमाणुद्रव्य कारण द्रव्य है और द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्य है, परमाणुसे ही द्व्यणुकादि बनते है और वे परमाणु द्रव्यमें ही रहते हैं इसलिये द्रव्यका आश्रय द्रव्य भी होता है। ऐसी अवस्थामें द्रव्याश्रय गुण होते हैं यह गुणोंका लक्षण द्रव्यमें चले जानेसे अतिव्याप्ति दोष आजाता है। जो लक्षण अपने लक्ष्यसे भिन्न अलक्ष्यमें भी रहजाय वह अतिव्याप्ति दोषयुक्त लक्षण कहलाता है। यहां पर द्रव्याश्रय गुणका लक्षण है परंतु गुणसे भिन्न जो द्व्यणुकादि द्रव्य है वह भी परमाणु द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये यह द्रव्याश्रय लक्षण गुणका दूषित लक्षण है इस दोषके दूर करनेके लिये निर्गुण ऐसा विशेषण दिया गया है। इस विशेषणसे पहला दोष दूर हो जाता है द्व्यणुकादि द्रव्य द्रव्याश्रित तो हैं परन्तु वे निर्गुण नहीं हैं द्व्यणुक नाम दो परमाणुके बंधको कहते हैं परमाणु द्रव्य है जो द्रव्य होता है वह अनंतगुणोंका पिंड होता है इसलिये द्व्यणुक आदि निर्गुण नहीं हो सकते उनमें रूप रस गंध स्पर्श आदि गुण रहते हैं परन्तु गुणमें गुण नहीं रहते इसलिये वे निर्गुण कहलाते हैं ऐसा कहनेसे अतिव्याप्ति दोष दूर होचुका।

पर्यायाणां गुणत्वप्रसंग इतिचेन्न द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां पुनः शंका होती है कि यदि गुणका लक्षण यही माना जाय कि जो द्रव्यके आश्रित रहें वे गुण कहलाते हैं तो यह लक्षण घट पटादिके आकार रूप पर्यायोंमें भी चला जाता है घटपटादि रचनारूप पर्यायोंमें दोनों ही बातें पाई जाती हैं वे पर्यायें द्रव्याश्रय भी हैं और निर्गुण भी हैं पर्यायोंमें गुण भी नहीं रहते हैं। इसलिये गुणका लक्षण पर्यायोंमें चले जानेसे पर्यायोंको भी गुणपना सिद्ध होजाता है।

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—गुणोंका द्रव्याश्रय जो विशेषण दिया गया है उसीसे उन पर्यायोंकी निवृत्ति होजाती है, पर्यायें भी द्रव्याश्रय रहती हैं परंतु क्षणध्वंसी हैं, एक क्षण पीछे उनका नाश होजाता है, परंतु गुण सदैव द्रव्याश्रित बने रहते हैं, वे द्रव्यके आश्रयको कभी नहीं

पडता ही है। इसप्रकार वचनवर्गणाका अवलंबन होनेपर शरीरनामकर्म और अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर वीर्यांतराय मत्यक्षराद्यावरण कर्मका क्षयोपशमरूप वचनलब्धिके प्रगट होनेपर वचन परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंका जो हलनचलनरूप व्यापार होता है वही वचनयोग कहलाता है। इसीप्रकार अभ्यंतर वीर्यांतराय कर्म और नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशमरूप मनोलब्धिके प्रगट होनेपर तथा पहलेके समान—बाह्यनिमित्तभूत मनोवर्गणाका अवलंबन होनेपर तथा शरीरनामकर्म और अंगोपांगनामकर्मके उदय होनेपर, मनरूप परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंका जो हलन-चलन रूप व्यापार होता है वह मनोयोग कहलाता है।

तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाके अवलंबन रहनेपर जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पंद—हलन-चलन होता है वह काययोग कहलाता है।

यहांपर शंका होती है कि यदि योगमें क्षयोपशमलब्धि अंतरंग कारण है तो जहां कर्मोंका क्षयो-पशम नहीं है किंतु क्षय है वहां योग कैसे होगा? यदि यहांपर यह कहाजाय कि कर्मोंका क्षय होनेपर भी तीनोंप्रकारका योग सयोगकेवलियोंके तेरहवें गुणस्थानमें होता है इसलिये योगमें वीर्यांतराय आदि कर्मोंका क्षयोपशम ही केवल कारण नहीं है किंतु उनका क्षय भी है यदि ऐसा माना जायगा अर्थात् कर्मोंके क्षयके निमित्तसे भी योगोंका सद्भाव माना जायगा तो कर्मोंका सर्वथा क्षय करनेवाले अयोगकेवली और सिद्ध भगवानके भी योगोंका सद्भाव सिद्ध होगा। फिर वे भी सयोगी कहलायेंगे? इस शंकाके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं कि यहांपर यह दोष नहीं आता है क्योंकि आत्मा क्रियारूप परिणमनशील

१—औदारिकवर्गणा, औदारिकमिश्रवर्गणा, वैक्रियिकवर्गणा, वैक्रियिकमिश्रवर्गणा, आहारकवर्गणा, आहारकमिश्रवर्गणा और कार्माण वर्गणा। जबतक कोई भी वर्गणा स्वतंत्ररूपसे कर्मके ग्रहण करनेमें असमर्थ रहती है तबतक वह कार्माणवर्गणाका सहारा लेती है, उसीका नाम मिश्रयोग है।

वे कदाचित् होनेवाली हैं, इसलिए द्रव्याश्रय कहनेसे पर्यायोंका ग्रहण नहीं होता है, यह बात द्रव्याश्रय पदके कहने मात्रसे सिद्ध नहीं होती है किंतु उस पदमें जो यः प्रत्ययका विधान है और वह नित्ययोग अर्थमें आता है उसीसे विशेष अर्थकी सिद्धि होजाती है।

इस कथनसे गुण अन्वयी धर्म कहलाते हैं—जैसे जीवद्रव्यके अस्तित्वादिक सामान्य गुण और ज्ञान-दर्शनादिक विशेषगुण। इसीप्रकार पुद्गलके अचेतनत्वादिक सामान्य गुण और रूपरसादिक विशेषगुण। ये सभी गुण उन द्रव्योंके साथ सहभावी रूपसे सदैव रहते हैं। पर्यायें इन गुणोंसे जुदी हैं वे जीवकी घटज्ञान पटज्ञान आदि रूप हैं और पुद्गलकी घट पट कपाल आदि विकाररूप हैं। ये पर्यायें क्रमवर्ती हैं एक समयके पीछे पूर्वपर्यायका नाश हो जाता है और नवीन पर्यायका उत्पाद होजाता है। इसीलिये गुण ध्रौव्यात्मक है, पर्यायें व्ययोत्पाद स्वरूप हैं। इस ऊपरके कथनसे गुणोंका लक्षण निर्दोष सिद्ध होचुका।

प्रश्न—परिणाम शब्द वार वार कहा गया है परंतु उसका क्या अर्थ है यह नहीं बताया गया है इसलिये परिणाम किसे कहते हैं इसका खुलासा होजाना आवश्यक है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री आचार्य महाराज सूत्र कहते हैं—

तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

अर्थ—वस्तुका जो निजभाव है वही उसका परिणाम कहलाता है। अर्थात् वस्तुकी वर्तमानकालवर्ती अवस्थाको ही परिणाम कहते हैं। इस कथनसे वस्तु सदैव परिणमनशाली और स्वस्वभावका कभी त्याग नहीं करनेवाली सिद्ध होजाती है। यह परिणाम पर्याय स्वरूप है इसीलिये क्रमवर्ती है गुणरूप नहीं है, गुण नित्य सहभावी होता है। परंतु प्रत्येक वस्तु सदैव वर्तमान अवस्थासे विशिष्ट रहेगा। वह वर्तमान अवस्था ही उसका निजभाव स्वभाव है। यदि एक वर्तमान अवस्था वर्तमान काल नष्ट होजानेसे नष्ट होजायगी तो आगेका काल वर्तमानकाल होगा और उसकालमें होनेवाली अवस्था ही वर्तमान अवस्था कही जायगी। इसलिये ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे वस्तुकी निज अवस्था ही उसका परिणाम है।

देवदत्त द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे कथंचित् एक कथंचित् अनेक—अनेकान्त धर्म वाला कहाजाता है।

उसी प्रकार भिन्न २ क्षयोपशमसे प्राप्त शरीर मन वचन पर्यायोंके भेदसे योगके तीन भेद हो जाते हैं वह कथंचित् अनेक कहलाता है। तथा अनादि पारिणामिक चैतन्य दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणोंका अभिन्न एक लब्धिरूप सामान्य परिणाम होनेसे आत्माकी द्रव्यदृष्टिसे उस योगमें वाह्य कायवर्गणा आदि अवलंबनोंकी विवक्षाकी अपेक्षा नहीं रहनेसे योगको एकपना रहता है। अर्थात् वाह्य सामग्रीके भेदसे योगमें भेद हो जाता है इस अपेक्षासे वह मनोयोग वचनयोग और काययोग इन तीन भेदोंमें विभक्त होजाता है जिस समय वाह्य अवलंबनोंकी विवक्षा नहीं की जाती है उस समय वह योग सदा आत्माका सामान्य लब्धिस्वरूप एक अखंड परिणाम स्वरूप रहता है इसलिये एक ही कहा जाता है इस प्रकार योगमें कथंचित् एकपना और कथंचित् अनेकपना होनेसे अनेकांत है। ऊपर जो शंका की गई थी कि आत्मा निरवयव द्रव्य है उसका योग परिणाम एक ही है और आत्मामें ग्राह्य ग्राहक भेद नहीं हो सक्ता इसलिये योगमें त्रैविध्य नहीं आसक्ता वह शंका निर्मूल हो चुकी उसका उत्तर खुलासा दिया जा चुका है।

ध्यानं योग इतिचेन्न तस्य वक्ष्यमाणत्वात ॥ १२ ॥

यहां शंका होती है कि योग शब्दका अर्थ ध्यान है। ऊपर जो काय वचन मनका कर्म योग कहा गया है वह ठीक नहीं है? समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस योग शब्दका ध्यान अर्थ वाली युज धातुसे बनता है अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको बशमें रखकर समस्त पापप्रवृत्तिसे विरक्त होने रूप समाधि अर्थ वाली युज धातुसे योग शब्द बनता है उसे योग ध्यान, समाधि आदि किसी शब्दसे कहा जाय सभी पर्याय वाचक शब्द है उस योगका कथन तो ध्यानके प्रकरणमें किया जायगा। परंतु यहां पर तो आस्रवका प्रकरण है उसीके प्रतिपादन करनेके लिये योग शब्दका प्रयोग है। इसलिये कर्म ग्रहण कारण रूप अर्थमें युज धातुसे योग शब्द सिद्ध किया गया है इसलिये इस योग शब्दका अर्थ कर्म

उपकार करते आरहे हैं और करते ही रहेंगे यही उन द्रव्योंका अनादिकालसे चला आया हुआ परिणाम है। ऐसा नहीं है कि धर्मादि द्रव्य तो पहिलेसे हों, और गति आदि उपकाररूप उनका परिणाम पीछेसे हो, अथवा ऐसा भी नहीं है कि गति स्थिति आदि उपकाररूप परिणाम तो पहिले हो, और धर्म अधर्म आदि द्रव्य पीछेसे हों, ये दोनों ही बातें नहीं हैं। तो क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि धर्मादिक द्रव्य और उनके गत्यादि परिणाम इन दोनोंका अनादि संबंध है। अर्थात् परिणामको छोडकर न तो परिणामी ही रह सकता है और न परिणामीको छोडकर परिणाम ही ठहर सकता है। परिणाम परिणामी दोनोंका अभेद है। इसलिये धर्मादि द्रव्योंका और उनके गत्यादि परिणामोंका सदासे एकीभावरूप अनादि संबंध है। तथा वाह्य कारणोंसे जो परिणाम प्राप्त होता है वह आदिमान् भी है। जैसे मनुष्य अश्वादिकी गति स्थिति आदि द्वारा जो धर्मादि द्रव्योंका गत्यादि उपकाररूप परिणाम समझा जाता है वह परिणाम उनका सादि है। विशेष कारणोंसे विशेष समयमें होनेवाला परिणाम है।

शंका—यहांपर कोई ऐसा कहते हैं कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चार द्रव्योंमें तो अनादि परिणाम है। परंतु जीवपुद्गलोंमें आदिमान् परिणाम है। अर्थात् जीव पुद्गल दो द्रव्य क्रियावान् हैं। इसलिये उनका परिणाम सादि है। धर्मादि चार द्रव्य निष्क्रिय हैं इसलिये उनका परिणाम अनादि है? आचार्य कहते है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण सभी द्रव्य अनादिस्वरूप हैं, अन्यथा—यदि उन्हें अनादि स्वरूप नहीं माना जायगा तो नित्यपनेका ही उनमें अभाव होजायगा। इसलिये जिसप्रकार धर्म अधर्म आकाश काल ये चार द्रव्य अनादि हैं उसीप्रकार जीवपुद्गल भी अनादि हैं, जिसप्रकार धर्मादि चारोंका अनादि परिणाम है उसीप्रकार जीव पुद्गल इन दो द्रव्योंका भी स्वभाव परिणाम अनादिसिद्ध है। जिसप्रकार धर्मादि द्रव्योंका भी वाह्यनिमित्तजनित परिणाम आदिमान् है उसीप्रकार जीव पुद्गल द्रव्योंका भी वाह्यनिमित्तजनित परिणाम आदिमान् है। इसलिये अनादि और सादि परिणाम छहों द्रव्योंके समान हैं।

नामसे कही जाती है यह बात प्रकरणसे सिद्ध हो चुकी, परंतु अब यह बतलाना चाहिये कि आस्रवका क्या लक्षण है क्योंकि छठे अध्यायमें क्रमप्राप्त आस्रव तत्त्वका निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की गई है इसलिये उसी प्रकृत आस्रवका लक्षण बताना चाहिये इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जो संसारी पुरुषके यह तीन प्रकारका योग बताया गया है वही आस्रव कहा जाता है। इसी बातको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ—जो ऊपर तीन प्रकारका योग बताया गया है वही आस्रव है अर्थात् संसारी पुरुषके जो मिथ्यात्व, कषाय आदि कर्मोंके आनेमें कारण है वही योग अथवा आस्रव कहा जाता है।

कायवाङ्मनस्कर्मास्रव इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न योगाप्रत्याख्यानात् ॥ १ ॥

यहां यह शंका होती है कि 'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इतना बड़ा एक सूत्र ही बनाना उचित था ऐसा एक सूत्र बनानेमें लाघव भी बहुत है। 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' एक सूत्र यह और 'स आस्रवः' एक सूत्र यह ऐसे दो सूत्र बनानेसे व्यर्थका गौरव होता है। इसके सिवा पहले सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग और दूसरे सूत्रमें 'स' शब्दका प्रयोग जो किया गया है, एक सूत्र करनेसे वह दो शब्दोंका प्रयोग भी हट जाता है और जो प्रयोजन दो सूत्रोंसे सिद्ध होता है वह प्रयोजन भी एक सूत्रसे सिद्ध हो जाता है। काय वचन मनके अवलंबनसे जो आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप कर्म है वह आस्रव है ऐसा अर्थ दोनोंका एक सूत्र करनेसे होता है। इस अर्थमें सब भाव आजाता है। अलग २ दो सूत्र बनानेसे सूत्र भी दो हो जाते हैं और क्रियाको योग बताकर फिर उसे आस्रव कह देनेसे शब्द और अर्थमें भी व्यर्थका गौरव होता है इसलिये ऊपर कहे अनुसार दो सूत्रोंका एक सूत्र ही होना ठीक है? समाधान—आचार्य कहते हैं कि यह प्रश्न भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों सूत्रोंको एक सूत्र करनेसे योग शब्दका जो प्रयो-

अथ षष्ठोऽध्यायः।

आस्रवभाव विनाशकर, भये सिद्ध भगवान।
हाथ जोडि तिनको नमूं, होइ पापकी हान॥

पांचवें अध्यायमें अजीव पदार्थका व्याख्यान किया जाचुका है पहले चार अध्यायोंमें जीव पदार्थ कहा गया है. जीव तत्त्व और अजीव तत्त्वके पीछे इससमय आस्रव तत्व कहना चाहिये इसलिये उसकी प्रसिद्धिकेलिये अथवा विशेषसिद्धिके लिये यह सूत्र कहा जाता है–

कायवाङ्मनः कर्मयोगः॥ १॥

अर्थ– काय वचन और मन, का जो कर्म वह योग कहलाता है। अर्थात् मन वचन काय वर्गणाओंके अवलम्बनसे जो आत्म–प्रदेशोंका हलन चलन होता है वह योग कहा जाता है।

कायादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वंद्वः॥ १॥

'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' इस सूत्रमें जो काय मन वचन शब्द हैं उनका इतरेतरयोग नामका द्वंद्व समास है।

वाङ्मानसः प्रसंग इति चेन्न बहुषु तदभावात॥ २॥

यहां यह शंका होती है कि जब इतरेतर योगमें यहां द्वंद्व समास है तो व्याकरणके नियमानुसार 'वाङ्मानसं' ऐसा प्रयोग होना चाहिये? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि बहुत पदार्थोंमें उस विधिका अभाव है। अर्थात् जिस इतरेतरयोग विधिसे वाङ्मानसं प्रयोग होना चाहिये वह विधि दो पदार्थोंमें ही होती है, जहां तीन आदिक बहुत पदार्थ होते हैं वहां 'वाङ्मानसं' ऐसा प्रयोग नहीं बनता। यहां इस सूत्रमें काय आदि तीन पदार्थ हैं वे बहुत संख्यक हैं, बहु संख्यामें वैसा

एक सूत्रसे ही काम चल जायगा तीसरे—योगशब्दका अर्थ भी नहीं छूटता है वह एक सूत्रमें ही जोड दिया गया है इसप्रकार एक सूत्र बनानेमें कोई हानि प्रतीति नहीं होती ?

इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक सूत्र बनानेसे समस्त योगोंमें आस्रवका प्रसंग आता है, अर्थात् यदि "कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः" ऐसा सूत्र किया जायगा तो योगशब्दके अर्थका तो लोप नहीं होगा परंतु दूसरे सिद्धांतका विघात होगा, जहांपर योग माना गया है और आस्रव नहीं माना गया है वहांपर अब एक सूत्रके करनेसे आस्रवका प्रसंग भी आता है यही सिद्धांतका विघात है। जैसे—केवलीसमुद्धातमें जिस समय कुछ आत्मप्रदेश बाहर निकलते हैं उससमय वे दंड, कपाट, प्रतर लोकपूर्णरूपसे फैलतेहुये समस्त लोकको सूक्ष्म वायुमंडल पर्यंत व्याप्त कर लेते हैं। वहांपर दंड कपाटादिकके द्वारा होनेवाला आत्मप्रदेशपरिस्पंदनरूप योग तो है परंतु वह योग आस्रवका कारण नहीं है यदि ऊपर लिखे अनुसार दोनोंका एक सूत्र बना दिया जायगा तो इस दंडादि द्वारा होनेवाले परिस्पंदनरूप योगसे भी आस्रव होने लगेगा। परंतु वहां आस्रव नहीं माना गया है इसलिये एक सूत्र करना ठीक नहीं है।

यदि कहा जाय कि वहांपर भी आस्रव माना जाय तो क्या दोष है? क्योंकि वहां सूक्ष्मयोग माना ही है उसी सूक्ष्मयोगके निमित्तसे वहां स्वल्प बंध भी होता ही है। इसलिये वहां आस्रव माननेमें क्या दोष है? इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि वहां आस्रव माननेमें विपरीतता आती है अर्थात् सिद्धांतका विरोध आता है। सिद्धांतमें वहां आस्रव माना नहीं है किंतु जहांपर मन वचन काय वर्गणाओंके अवलंबनपूर्वक योग होता है वहीं आस्रव माना जाता है, दंड कपाटादि द्वारा होनेवाला योग वर्गणावलंबनहेतुक नहीं होता अर्थात् दंड कपाटादि अवस्थाओंमें जो योग होता है वह वर्गणाके अवलंबनपूर्वक नहीं है इसलिये उस कपाटादिमें होनेवाले योगसे आस्रव भी नहीं होता है।

प्रयोग नहीं बनता इसलिये 'वाङ्मानसं' यह प्रयोग नहीं बन सकता है। सूत्रका सामान्य शब्दार्थ इस प्रकार है—काय वचन और मन इनका जो कर्म—क्रिया वह योग है। 'मनः कर्म' इस पदमें कृतमिकं सः' इस सूत्रसे सत्व प्रत्यय होता है। उसीसे 'मनः कर्म' ऐसा पद बना है। काय वचन मन इन शब्दोंका अर्थ पहले कहा जाचुका है।

कर्मशब्दस्यानेकार्थत्वे क्रियावाचिनो ग्रहणमिहान्यस्यासंभवात ॥ ३ ॥

कायवाङ्मनः कर्म—इस सूत्रमें जो कर्म शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं। जैसे कहींपर तो कर्ताकी इच्छाके विषय भूत पदार्थमें कर्म शब्दका प्रयोग होता है। जैसे—कुम्हार घटको बनाता है। इस वाक्यमें कुम्हार तो कर्ता है, क्योंकि जो स्वतंत्र होता है वह कर्ता होता है, घटके बनानेमें कुम्हार स्वतंत्र है इसलिये वह तो कर्ता है, घट कर्म है। क्योंकि कुम्हारकी इच्छा घटके बनानेकी है, इसलिये उसकी इच्छाका विषयभूत पदार्थ घट है 'घटं करोति' इस वाक्यमें उत्पन्न करने रूप जो करोति क्रिया है उसकी व्याप्तिका आश्रय घट कर्म है। जहां कर्तामें प्रथमा विभक्ति होती है वहां कर्ममें द्वितीया विभक्ति होती है, घटमें द्वितीया विभक्ति है इसलिये वह कर्म है। उपर्युक्त वाक्यमें कर्मशब्द व्याकरणमें माने हुये कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान आदि कारकोंमें आये हुये कर्म शब्दके अर्थमें है।

कहींपर कर्म शब्दका अर्थ पुण्य पाप होता है। जैसे—अच्छा काम करनेवाला शुभकर्मका बंध करता है, बुरा कार्य करनेवाला अशुभकर्मका बंध करता है, यहांपर कर्मशब्दका अर्थ पुण्य पाप है।

---

१ अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः । ५ । ४ । ७७ ।

इस पाणिनीके सूत्रानुसार अजंत निपात होनसे वाङ्मानस शब्द बनना चाहिये। परंतु यह अजंत निपात वाङ्मनस इन दो ही शब्दोंमें होता है अधिक शब्दोंमें नहीं होता। क्योंकि सूत्रमें दो ही शब्दोंका प्रयोग है और वह नियत रूपसे ही निपतित होता है।

है कि कायादि वर्गणाओंके अवलंबनके विना भी योग होता है परंतु वह आस्रव नहीं कहा जाता। यदि दोनों सूत्रोंका एक सूत्र यह बना दिया जाय कि 'कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रवः' काय वचन मनकी क्रियारूप योग आस्रव है ऐसा अर्थ करनेसे उपयुक्त अर्थकी प्रतीति नहीं होती है अर्थात् मन वचन काय रूप वर्गणाओंके आलम्बनसे जो योग होता है. उसीसे आस्रव होता है अन्य प्रकारके योगसे नहीं इस अर्थकी सिद्धि नहीं होती है किंतु दोनों सूत्रोंका एक सूत्र बनानेसे सब प्रकारके योगोंसे आस्रव होनेका प्रसंग आजाता है परंतु यह बात आगम विरुद्ध है इसलिये अलग अलग सूत्र बनानेसे ही इष्ट अर्थ की सिद्धि हो सकती है।

आगे यह प्रश्न होता है कि योगको आस्रव संज्ञा क्यों दी गई ? इसका समाधान करते हैं—

तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार सरोवरमें बाहरसे जल आनेका द्वार (मोरी) जल आनेमें कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है उसीप्रकार योगरूपी प्रणाली (नाली) के द्वारा आत्मामें कर्म आता है इसलिये योग आस्रव कहलाता है। अर्थात् जिस प्रकार जल आनेके कारणभूत दरवाजे—मोरीको जल आनेका मार्ग कहाजाता है उसीप्रकार आत्मामें कर्म आनेका कारण योगरूपी नाली है उसे भी आस्रव कहा जाता है। यहांपर कर्मोंके आगमनको आस्रव नहीं कहा गया है किंतु कर्मोंके आगमनमें कारणस्वरूप जो कायादि वर्गणालंबी योग है उसे आस्रव कहा गया है।

कषायाक्लिन्नस्य तदुपश्लेष आर्द्रवस्त्ररेणुवत् ॥ ५ ॥

जिसप्रकार जलसे गीला (भीगा) हुआ वस्त्र चारो ओरसे वायु द्वारा आये रेणुओंको—परमाणुओंको ग्रहण कर लेता है उसीप्रकार कषायरूपी जलसे भीगा हुआ आत्मा योगके द्वारा आये हुये कर्मोंको अपने सर्व प्रदेशों द्वारा ग्रहण करलेता है अथवा जिसप्रकार अग्निमें अच्छीतरह तपाया हुआ लोहका पिंड

यदि कायादिकोंको एक साथ कर्मपना और कर्तापना दोनों ही रूप माना जाय तो यह बात असंभव होनेसे बन नहीं सक्ती क्योंकि एक कालमें एक ही पदार्थमें एक रूपसे कर्ता और कर्म दोनों कारकोंका सद्भाव व्याकरणशास्त्रसे तथा लोकसे असिद्ध है इसलिये 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' कर्ताको जो अभीष्ट हो वह कर्म है ऐसा जो कर्म कारकका लक्षण है वह कर्म यहां सूत्रमें ग्रहण नहीं किया गया है।

नापि पुण्यापुण्यलक्षणं उत्तरसूत्रस्य सामर्थ्यात् ॥ ५ ॥

अर्थ — और न पुण्य पाप लक्षणवाले पुद्गलस्कंध रूप कर्मका ही यहां ग्रहण है । पुण्यपापरूप कर्मका यहां ग्रहण क्यों नहीं है यह बात आगेके सूत्रकी सामर्थ्यसे जानी जाती है। यदि इस सूत्रमें पुण्य पाप लक्षणवाले पुद्गलस्कंध रूप कर्मका ही ग्रहण होता तो आगे जो 'स आस्रवः शुभः' 'पुण्यस्याऽशुभः पापस्य' ये सूत्र कहे गये हैं कि शुभास्रव पुण्य बंधका कारण है और अशुभ आस्रव पापबंधका कारण है यह कथन सब व्यर्थ ठहरता अर्थात् यदि कायवाङ्मनः कर्म इस सूत्रमें पडे हुये कर्म शब्दका अर्थ पुण्य पाप रूप कर्म समझा जाय तो आगेके सूत्रोंकी रचना व्यर्थ ठहरती है क्योंकि उनका जो प्रयोजन पुण्य पाप रूप कर्म ग्रहण है वह इसी कायादि सूत्रसे हो जायगा फिर उन सूत्रोंका कहना व्यर्थ ठहरेगा परतु आचार्योंका जितना भी कथन है वह सब सापेक्ष और सार्थक है इसलिये जहां जो अर्थ अपेक्षित है वहां वही लेना चाहिये।

कर्तुरीप्सितमं वाऽत्मनः कर्तृत्वात् ॥ ६ ॥

अथवा आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप सामर्थ्यसहित आत्मा ही कर्ता प्रसिद्ध है कारण कि आत्मा ही मन वचन काय वर्गणाओंके अवलंबनसे होनेवाले आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप क्रियापरिणामका कर्ता है। उसी आत्मारूप कर्ताकी इच्छाका विषयभूत होनेसे पारिभाषिक कर्मका ग्रहण है अर्थात् कायेत्यादि सूत्रमें कर्म शब्दका अर्थ क्रिया है।

शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—शुभयोग पुण्य बंधका कारण है और अशुभयोग पाप बंधका कारण है। तथा शुभ परिणामोंसे शुभ योग होता है और अशुभ परिणामोंसे अशुभ योग होता है। अर्थात् शुभ योगसे जो कर्म आते हैं उनमें पुण्यरूप—सुखरूप फलदेनेका रस पडता है और अशुभ योगसे जो कर्म आते हैं उनमें पापरूप दुखरूप फलदेनेका रस पडता है।

प्राणातिपातानृतभाषणवधाचिंतनादिरशुभः ॥ १ ॥

किसी जीवके प्राणोंका घात करना, विना दिये हुये द्रव्यका ग्रहण कर लेना, मैथुन सेवनादि करना इत्यादि प्रवृत्ति अशुभ काययोग कहा जाता है।

झूठ बोलना, कठोरवचन बोलना दूसरेकी निंदा रूपवचन बोलना, हास्य भय अभिमान माया-चार आदि विकारोंके उत्पन्न करनेवाले वचन बोलना आदि अशुभ वचनयोग कहलाता है।

दूसरेके मारनेका विचार करना, मनमें ईर्षाभाव, अदेखसकाभाव आदि बुरे विचारोंका चिंतवन करना अशुभ मनोयोग कहलाता है।

ततोऽनंतविकल्पादन्यः शुभः ॥ २ ॥

उस ऊपर कहे हुये अनंत भेदोंवाले अशुभ योगसे जो अन्य है—विपरीत है वह शुभयोग है। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

किसी जीवकी हिंसा नहीं करना—अहिंसाभाव धारण करना, चोरीका त्याग करना, ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना, इत्यादि शुभ काययोग कहलाता है।

सत्य बोलना, हितरूप परिमित वचन बोलना इत्यादि शुभवचन योग कहलाता है।

अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओंकी भक्ति धारणकरना, तपमें रुचिरखना, शास्त्रमें विनयादिभाव—श्रद्धा आदि धारण करना शुभ मनोयोग कहलाता है।

कर्ता ठहर जाता है। ऐसी अवस्थामें वह परिणाम ही कर्म कहा जाता है। तथा कारण कारकके कथनकी विवक्षा करने पर कर्ताका धर्म उपचारसे परिणाममें आरोपित किया जाता है अतः वही परिणाम कुशल और अकुशल अर्थात् पुण्यपापरूप द्रव्य भाव स्वरूप कर्मका कर्ता कहाजाता है। यहांपर परिणाम कर्ता और भाव पुण्यपापरूप आत्माकी पर्याय तथा द्रव्य पुण्यपापरूप पुद्गलकी पर्याय, कर्म कहा जाता है। तथा आत्माकी ही प्रधान विवक्षा करने पर आत्मा कर्ता और परिणाम करण सिद्ध होता है। इस अवस्थामें बाहुल्यकी अपेक्षा करि जिस परिणामके द्वारा कर्म किया जाय वह परिणाम करण साधन कहा जाता है इसप्रकार कर्म शब्द बहुत प्रकारसे विवक्षित होता है। जहांपर साध्यसाधनभावकी विवक्षा नहीं की जाती है केवल अपने स्वरूपमें स्थित वस्तुस्वरूपका ही कथन कहा जाता है वहां जो किया जाय वह कर्म अथवा करना मात्र कर्म ऐसा भी कहा जाता है, इसीप्रकार बाकी कारकोंको घटित कर लेना चाहिये।

योगशब्दस्यापि तथैव ॥ ८ ॥

जिस प्रकार कर्म शब्द कर्तृसाधन आदि विवक्षाके आधीन हैं उसीप्रकार योग शब्दके भी कर्ता आदि साधन आदि विवक्षाके आधीन घटित कर लेना चाहिये।

त्रैविध्यानुपपत्तिरात्मपरिणामाविशेषादिति चेन्न पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत् ॥ ९ ॥

यहांपर यह शंका होती है कि योगमें त्रिविधपना नहीं सिद्ध होता, क्योंकि वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षय क्षयोपशमसे होनेवाला लब्धिरूप आत्माका परिणाम ही योग कहलाता है वह तीन प्रकारका नहीं होसकता, लब्धिरूप परिणाम एक ही सामान्य रूप है वह तीनप्रकार कैसे होगा। इसका भी कारण यह है कि आत्मा एक अखंडद्रव्य है, वह अनंत गुणोंका पिंड है उसी अनंत गुणोंके अखंड पिंडरूप आत्मद्रव्यका एक लब्धिरूप परिणाम ही योग है। यदि उसका विभावरूपसे भी ग्रहण किया जाय तो भी आत्मप्रदेशोंका हलन-चलनरूप परिणाम एक है, वह चाहे मनोवर्गणाके अवलं-

उत्पन्न होता है वह अशुभ योग कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि जो शुभ कर्मोंका कारण हो वह शुभ योग कहा जाय और जो अशुभ कर्मोंका कारण हो वह अशुभ योग कहा जाय। यदि शुभ कर्मोंका कारण शुभ योग और अशुभ कर्मोंका कारण अशुभ योग ऐसा ही शुभ अशुभ योगका लक्षण मानलिया जाय तो शुभ योगकी सिद्धि ही नहीं हो सक्ती, केवल अशुभ योग ही सिद्ध होगा क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मोंके बंधका कारण होता है अर्थात् प्रति समय संसारी जीवके आयुको छोड़ कर सातों कर्मोंका बंध होता रहता है ऐसी अवस्थामें शुभयोगसे भी ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियोंका बंध होता है परंतु शुभयोगके कारण ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियोंमें रसभाग स्वल्प पडता है और शुभ प्रकृतियोंमें अधिक पडता है। यदि शुभकर्मका कारण ही शुभयोग कहा जायगा तो कभी शुभ योग नहीं बनैगा क्योंकि प्रतिसमय अशुभकर्म भी जीवके बंध होते रहते हैं इसलिये यही लक्षण ठीक है कि जो शुभपरिणामोंसे उत्पन्न हो वह शुभयोग और जो अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न हो वह अशुभ योग है।

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यं ॥ ४ ॥

कर्मकी जब स्वतंत्र विवक्षा की जाती है तब पुण्य शब्दका यह अर्थ होता है कि जो आत्माको पवित्र करे अथवा प्रसन्न करै वह पुण्य कहलाता है अर्थात् जिस समय पुण्य कर्मका उदय होता है उस समय उत्तम उत्तम सांसारिक विभूतियां प्राप्त होती हैं, शरीर निरोग रहता है, संसारमें कीर्ति होती है इसलिये पुण्य कर्म आत्माको प्रसन्न करता है।

जिस समय कर्मकी परतंत्र विवक्षा की जाती है उस समय वह पुण्य कर्ता नहीं रहता किंतु हो जाता है फिर उसका यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा आत्मा प्रसन्न किया जाय है, वे पुण्य कर्म साता वेदनीय, शुभ नाम, शुभगोत्र, शुभायु हैं, जिनका [illegible] कहलाता [illegible]शेष विवरण आगे आठवें अध्यायमें ग्रंथकार स्वयं करेंगे।

सिद्ध हो जाते हैं। यह निश्चित है कि लोकमें ग्रहणके भेदसे ग्राह्यपदार्थमें भी भेद हो जाता है परंतु इसप्रकारका ग्राह्यग्राहकभाव आत्मामें तो है नहीं फिर घटके दृष्टांतसे अभिन्न एक अखंड आत्मद्रव्यके योगभेद कैसे बन सकते हैं ? समाधान—

ऊपर जो शंका कीगई है वह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आत्मद्रव्यके ग्राह्यग्राहकरूपसे भेद नहीं होनेपर भी काय वचन मन इनमें पूर्वकृत कर्मकी भिन्न भिन्न सामर्थ्यका उदय होनेसे भेद हो जाता है। वह इसप्रकार है—

पुद्गलविपाकी शरीरनामा नामकर्मका उदय होनेपर काय वचन मन इन तीनोंमेंसे किसी एक वर्गणाका अवलंबन होनेपर तथा वीर्यांतरायकर्म और मत्यक्षराद्यावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्राप्त अभ्यंतर वचन लब्धिके रहनेपर वचनरूप परिणामके अभिमुख—सन्मुख होनेवाले आत्माके जो प्रदेशोंका परिष्पंद — हलन-चलनरूप व्यापार होता है वही वाग्योग कहा जाता है।

अर्थात् जिस वर्गणाका अवलंबन होता है वही योग कहलाता है। वाग्वर्गणाके अवलंबनसे वचनयोग होता है। मनोवर्गणाके अवलंबनसे मनोयोग होता है। कायवर्गणाके अवलंबनसे काययोग होता है इसीलिये कहा गया है कि तीनों वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाका अवलंबन होना आवश्यक है तीनों वर्गणाओंमें एक वर्गणाका अवलंबन भी तभी हो सकता है जब कि पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म और अंगोपांग नामकर्मका उदय हो इसीलिये उनका उदय आवश्यक बताया गया है। इसके सिवा वाग्योग होनेमें वचनलब्धिकी आवश्यकता है। वचनलब्धि तभी हो सक्ती है जब कि वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम हो और वचन बोलनेमें कारण मत्यक्षराद्यावरणकर्मका क्षयोपशम हो, विना मतिज्ञानका क्षयोपशम हुये और उसीके भेदस्वरूप अक्षराद्यावरण कर्मका क्षयोपशम हुए वचनलब्धि प्रगट नहीं होसक्ती। वीर्यांतराय कर्म तो सामान्यरूपसे सभी आत्मीय शक्तियोंमें बलाधानरूपसे कारण

लाता है। जो कर्म देव मनुष्यादि इष्ट गति, पंचेन्द्रिय आदि इष्ट जाति, देव शरीर, कामदेव आदिक इष्ट शरीर, इष्ट इंद्रिय तथा इष्ट उनके विषय आदि सुखकारक इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिमें कारण है अथवा इष्ट वस्तुओंका उत्पादक जो कर्म है वह पुण्यकर्म है तथा अनिष्ट गति अनिष्ट जाति अनिष्ट शरीर अनिष्ट इंद्रिय अनिष्ट इंद्रियविषय आदि दुःखकारक वस्तुओंका जो उत्पादक कर्म है वह पापकर्म कहलाता है। इस प्रकार जीवकी इष्ट अनिष्ट बुद्धिके भेदसे इन पुण्य पाप कर्मोंमें भेद है। ऐसी अवस्थामें जो शुभ योग है वह पुण्यका कारण है और जो अशुभ योग है वह पापका कारण है अर्थात् शुभ योगसे पुण्यका आस्रव और अशुभयोगसे पापका आस्रव होता है।

शुभपरिणामस्य घातिकर्मनिमित्तत्वात्तदनिर्देश इति चेन्नेतरपुण्यपापापेक्षत्वात् ॥ ७ ॥

यहां शंका होती है कि जो शुभ योगको पुण्य बंधका कारण बताया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उस कथनसे वस्तुसिद्धि नहीं होती इसीलिये वह अगमक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करता है। क्यों वस्तुसिद्धि नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि घातिया कर्मोंका बंध भी शुभ परिणामोंसे होता है जब घातिया कर्मोंका बंध भी शुभ परिणामोंसे होता है तब शुभयोग पुण्य बंधका कारण है यह बात नहीं बनती क्योंकि घातियाकर्म तो पापरूप प्रकृतियां हैं वे भी शुभ परिणामोंसे बंधको प्राप्त होती हैं, शुभ परिणामोंका नाम ही शुभ योग है इसलिये शुभयोगसे पुण्यबंध होता है ऐसा कथन ठीक नहीं है ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहांपर घातिया कर्मरूप प्रकृतियोंकी विवक्षा नहीं है किंतु अघातिया प्रकृतियोंकी विवक्षा है। अघातिया कर्मोंमें कुछ पुण्य प्रकृतियां भी होती हैं कुछ पाप प्रकृतियां होती हैं। घातियां प्रकृतियां तो सभी पापरूप हैं उनकी यहां विवक्षा नहीं है इसलिये अघातिया कर्मोंके पुण्य पापरूप भेदोंकी विवक्षा करके ही यह कहा गया है कि शुभ योग पुण्य बंधका हेतु है और अशुभ योग पाप बंधका हेतु है। क्योंकि घातिया कर्मोंका तो अपने विषयमें नियतपना है अर्थात् सभी

है क्रियारूप परिणमनशील आत्माके मन वचन कायरूप तीनों वर्गणाओंके अवलंबनसे जो परिस्पंदन होता है उसे योग कहते हैं वह योग सयोगकेवली भगवानके है। क्योंकि वचनादिवर्गणाओंके द्वारा उनके आत्मप्रदेशोंका परिस्पंदन होता रहता है। इसलिये वे सयोगकेवली कहे जाते हैं। परंतु अयोगकेवली और सिद्धभगवानके इन तीनों वर्गणाओंमेंसे किसी भी वर्गणाका सद्भाव नहीं है इसीलिये उनके आत्मप्रदेशोंका परिस्पंदन भी नहीं होता है। अतएव उनके योगोंका सद्भाव सर्वथा नहीं होता है।

अनेकान्ताच्च लावकादिवत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार देवदत्त जातिकुल रूप संज्ञा लक्षण आदि संबंधसे अभिन्न तथा एक है और वह उस एकत्वको कभी नहीं छोडता है—,

इसलिये इस एकत्वकी दृष्टिसे देवदत्त एक कहा जाता है। परंतु वही देवदत्त वाह्य सामग्रीके भेदको धारण करता है जैसे—कभी वह किसी वृक्षको काटता है, कभी पत्थरको तोडता है, कभी अग्निको जलाता है इत्यादि भिन्न भिन्न पर्यायोंके धारण करनेकी दृष्टिसे देवदत्तके भी भेद हो जानेसे वह अनेक कहा जाता है। जैसे अग्नि जलाने वाला देवदत्त, पत्थर तोडने वाला देवदत्त आदि। इस प्रकार एक ही

---

१ अयोगकेवलिनो न प्रदेशस्पंदः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वात्। यस्य तु प्रदेशस्पन्दः स्यात् स तथा प्रसिद्धो यथा सयोग इति युक्तिः। सिद्धानामतएव प्रदेशस्पन्दाभावस्तेषामयोगव्यपदेशः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वासिद्धे रव्यपदेश्यचारित्रमयत्वात्। कायादिवर्गणाभावाच्च सिद्धानां न योगो युज्यते ततो वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमे क्षये वा सति कायादिवर्गणालम्बितो जीव प्रदेश परिस्पन्दो योग स्त्रिविधः प्रत्येतव्यः (श्लोकवार्तिकालङ्कारः) अर्थात् वीर्यान्तराय कर्मका क्षय वा क्षयोपशम होनेपर कायादि वर्गणाओंका अवलंबन होनेपर जो जीव प्रदेशोंका परिस्पंदन होता है वही योग है। वह तीन प्रकार है परंतु समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानमें स्थित होनेसे अयोग केवलीके प्रदेश परिस्पंद नहीं होता। इसलिये उनके योग भी नहीं कहा जाता। सिद्धोंके भी उक्त ध्यान है और निर्विकल्पक चारित्र है तथा उनके कायादि वर्गणायें भी नहीं हैं इसलिये उनके भी योग नहीं है। मुक्त जीवोंका ऊर्ध्व गमन होता है वह प्रदेश परिस्पंद नहीं कहलाता किंतु निस्तब्ध आत्माका ऊर्ध्व गमन है तथा वहां वर्गणाओंका अवलंबन भी नहीं है। इसलिये सयोगकेवली तक ही योग है।

कम शुभ समझे जाते हैं बाकी नरकायु और इतर सात कर्मोंमें संक्लेशकी वृद्धिसे ही अधिक स्थिति-बंध पडता है इसका भी कारण यह है कि तीन आयुओंको छोडकर वाकी समस्त कर्मोंकी स्थिति अशुभ मानी गई है कर्म फलदानकी अपेक्षा कुछ शुभ भी है परंतु स्थिति उनकी अशुभ ही समझी जाती है इसीलिये उसके उत्कृष्ट बंधमें संक्लेश परिणाम कारण कहा गया है। ऊपर लिखे हुये सिद्धांत-कथनके अनुसार शुभयोग पुण्यबंधका हेतु है और अशुभयोग पापबंधका हेतु है ऐसे दो वाक्य भिन्न भिन्न कहे गये हैं सो व्यर्थ हैं ?

इसके उत्तरमें श्री आचार्य कहते हैं कि उन वाक्योंका कहना अनर्थक नहीं है किंतु सार्थक है क्योंकि अनुभाग बंधकी अपेक्षा वह कथन है। प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध, और अनुभाग-बंध, इन चारों बंधोंमें अनुभाग बंध ही प्रधान भूत है और उसकी प्रधानताका भी हेतु यह है कि कर्मोंका जो सुखदुःखरूप फल होता है वह अनुभागबंधसे ही होता है यदि कर्मोंमें सुख-दुःखरूप फल देनेका कार्य न हो तो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति ये तीनों ही बंध व्यर्थ हैं, उनके रहते हुए भी आत्माका इष्ट अनिष्ट रूप वेदन कुछ नहीं हो सक्ता है, अनुभाग बंध ही एक ऐसा बंध है जो कर्मोंमें सुख दुःख रूप फलकी हीनाधिकता पैदा करता है इसलिये उसी अनुभाग बंधकी अपेक्षा शुभ योगको पुण्यबंधका कारण बताया गया है और अशुभ योगको पाप बंधका कारण बताया गया है ऐसी दशामें सर्व शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंके निमित्तसे होता है अर्थात् उत्कृष्ट पुण्य बंध उत्कृष्ट शुभ योगसे होता है और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है। उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ प्रकृतियोंके जघन्य

१—ये तीन आयु शुभ इसलिये है कि इनमें पहुंचकर जीव कितने ही कष्टमें क्यों न हो उन पर्यायोंको छोड़ना नहीं चाहता है परंतु नर-कायुमें पहुंचकर जीव वहांसे जल्दी निकलनेका विचार करता रहता है।

ग्रहणका कारणभूत क्रियात्मक परिणाम लिया जाता है वह तीन प्रकार है। यहां ध्यानार्थक योग शब्द नहीं है। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं जहां जैसा प्रकरण होता है उसीके अनुसार वहां उपयुक्त—संगत अर्थ ले लिया जाता है। एक ही युज धातुसे ध्यानके प्रकरणमें ध्यानार्थक योग शब्दकी सिद्धि है, यहां पर आस्रव प्रकरण होनेसे क्रियार्थक योग शब्दकी सिद्धि है।

समुदाये योगव्यपदेशप्रसंग इति चेन्न प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः ॥ १३ ॥

शंका—'गर्गाः शतं दण्ड्यंताम्' गर्ग (एक जातिके मनुष्य) लोगोंपर सौ रुपये दंड किये जांय ऐसा कहने पर समस्त गर्ग लोग समुदायरूपसे दंडित होते हैं क्योंकि दंड करनेवाले राजा लोग दंडकी द्रव्यसे प्रयोजन रखते हैं प्रत्येक गर्गको दंड नहीं देते तो जिसप्रकार यहां वाक्यकी परिसमाप्ति समुदायगत अर्थसे है उसीप्रकार कायवाङ्मनका जो क्रियासमुदाय है उसीके साथ योग शब्दका संबंध होना चाहिये प्रत्येकके साथ योग व्यवहार नहीं होना चाहिये अर्थात् मनोयोग वचनयोग काययोग ये भेद नहीं होने चाहिये किंतु मन वचन कायकी जो क्रिया उसीका नाम योग है इसप्रकार तीनोंकी क्रियाके समुदायमें ही योग शब्दका व्यवहार होना युक्तिसंगत है, समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिसप्रकार समुदायमें वाक्यपरिसमाप्ति देखी जाती है उसीप्रकार प्रत्येकके साथ भी वाक्यपरिसमाप्ति होती है जैसे—'देवदत्त-जिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यंतां' यहांपर भोजन करनेरूप क्रियाकी समाप्ति प्रत्येकके साथ है। देवदत्तको भी भोजन कराओ, जिनदत्तको भी कराओ और गुरुदत्तको भी भोजन कराओ। प्रत्येक व्यक्तिके साथ भोजन करनेरूप क्रियाकी समाप्ति होनेसे वाक्य समाप्ति प्रत्येकके साथ है। उसीप्रकार योग शब्दका कथन भी प्रत्येक कर्मके साथ है। कायका कर्म काययोग वचनका कर्म वचनयोग, मनका कर्म मनोयोग इसप्रकार प्रत्येक कर्मके साथ योगका संबंध होनेसे योगके जो तीन भेद किये हैं वे यथार्थ हैं।

यहांपर प्रश्न होता है कि यह बात हम स्वीकार करते हैं कि तीन प्रकारकी क्रिया तीन योगोंके

प्रकृतियोंकी दशा है। अर्थात् शुभ योगसे शुभ प्रकृतियोंमें अधिक रस पड़ता है और अशुभोंमें बहुत कम पड़ता है। अशुभ योगसे अशुभोंमें अधिक पड़ता है शुभ प्रकृतियोंमें उससे बहुत कम पड़ता है। परंतु रस अवश्य पड़ता है क्योंकि सातों कर्मोंका बंध एक साथ प्रतिक्षण होता है।

यहां प्रश्न होता है कि समस्त पुण्य पापरूप कर्मोंके आगमनमें कारण आस्रव है वह आस्रव क्या समस्त संसारी जीवोंके समान रूपसे अर्थात् एक सरीखा होता है या किसीके कम और किसीके अधिक इस प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षा उसमें भेद हो जाता है? इस प्रश्नका उत्तर ग्रंथकार सूत्र द्वारा देते हैं।

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ—कषायसहित जीवके सांपरायिक आस्रवका ग्रहण होता है तथा कषायरहित जीवके ईर्यापथ आस्रवका ग्रहण होता है। जिस आस्रवके होनेसे जीवका संसार बढ़ता जाय अर्थात् जो आस्रव संसारका कारण हो वह सांपरायिक आस्रव कहलाता है ऐसा आस्रव कषाय रहित जीवके ही होता है। क्योंकि कर्म तभी फल दे सकते हैं जब कि वे आत्मामें ठहरें और उनमें अनुभाग बंध पड़े, परंतु ये दोनों बात कषायसे होती है इसलिये कषायवाले जीवके संसारका कारणभूत आस्रव होता है तथा जो कर्म एक ओरसे आकर आत्मासे स्पर्श मात्र कर बाहर चले जाते हैं अर्थात् जिन कर्मोंकी स्थिति एक समय-मात्र भी नहीं है और जिनमें अनुभाग बंध थोड़ा भी नहीं पड़ता है वे कर्म ईर्यापथ आस्रववाले कर्म कहे जाते हैं। वस कर्मोंका आस्रव कषाय रहित जीवके होता है।

आस्रवस्योभयस्वामिकत्वाद् द्वयीप्रसिद्धिः ॥ १ ॥

आस्रवके दो स्वामी हैं—एक कषायवाला जीव, एक कषायरहित जीव, इसलिये आस्रवके अनंत भेद होने पर भी स्वामियोंकी दो प्रकार भेदकल्पना होनेसे आस्रवकी दो प्रकार ही प्रसिद्धि है एक सांपरायिक आस्रव, दूसरा ईर्यापथ आस्रव अथवा सकषायजीवास्रव और अकषाय जीवास्रव ऐसे आस्रवके

जन है वह छूट जाता है अर्थात् योग शब्द आगममें प्रसिद्ध है उसका अर्थ भी प्रसिद्ध है। 'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इतना एक सूत्र कहनेसे आगमप्रसिद्ध योग शब्दका लोप हो जाता। ऐसा लाघव भी अयुक्त है जिसमें आगमनिर्दिष्ट शब्दोंका लोप हो जाय और विशिष्ट अर्थका भी लोप होजाय। योग शब्दका जो रहस्य है वह आस्रवसे सिद्ध नहीं होता आस्रव तो योगसे विहित किया गया है अर्थात् योगको उद्देश्य बनाकर आस्रवका विधान किया गया है। योग आत्माका लब्धिरूप परिणाम है। वह वाह्य सामग्रीके भेदसे तीन कोटियोंमें विभक्त हो जाता है। आस्रव केवल व्युत्पत्तिसिद्ध क्रियात्मक तत्त्व है। वह जीव अजीवके सद्भावमें ही अपनी सत्ता रखता है। अथवा जीव अजीवकी क्रियासे भिन्न आस्रवकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है इसलिये योगजनित क्रियाका नाम आस्रव कहा गया है वह जीव या पुद्गलका स्वतंत्र गुण व पर्याय नहीं है किंतु दोनोंके सम्मेलनसे होनेवाली क्रिया है, इसलिये उस योगका लोप करना और आस्रव तत्त्व द्वारा ही उसकी प्रयोजनसिद्धि वताना युक्तिसिद्ध नहीं है। जो शंकाकारने स शब्द और योग शब्दका लाघव वताया है उस लाघवसे एक वास्तविक पदार्थका लोप ही हो जाता है ऐसा लाघव करना नितांत अनुचित है इसलिये "कायवाङ्मनः कर्मयोगः, स आस्रवः" ऐसे जो दो सूत्र किये गये हैं वही ठीक एवं युक्ति प्रमाणसे सिद्ध हैं दो का एक सूत्र करना सिद्धांतका विघातक है।

कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रव इति चेन्न सर्वयोगास्रवप्रसंगात् ॥ २ ॥

अब यहांपर दूसरी शंका होती है कि यदि दो सूत्रोंका एक सूत्र करनेसे योगशब्दका लोप होता है तो ऐसा एक सूत्र बना लिया जाय जिसमें योग शब्दका भी ग्रहण होजाय जैसे—"कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रवः" ऐसा एक सूत्र करनेसे दो सूत्रोंका गौरव भी दूर होजाता है और 'स आस्रवः' इस सूत्रमें जो 'स' शब्द है उसका लाघव भी होजाता है अर्थात् तत् शब्दसे 'सः' शब्द विभक्त लगानेसे सिद्ध होता है, उसका प्रयोग भी एक सूत्र करनेसे नहीं होगा, दूसरे दो सूत्र बनानेका गौरव भी न होगा, संक्षेपमें

जीव कहलाता है। जिसके कषाय नहीं होती वह अकषाय जीव कहाजाता है। सकषाय और अकषाय इन दोनोंके क्रमसे सांपरायिक और ईर्यापथ आस्रव होता है।

समंतात्पराभवः आत्मनः संपरायः ॥ ४ ॥

कर्मोंके द्वारा सब ओरसे आत्माका पराभव-तिरस्कार होना ही संपराय है अर्थात् रोग, शोक, आधि, व्याधि, जन्म, मरण, जरा आदि आत्माको हीनस्थान प्राप्त होता रहै और वह उसमें खिन्न होता रहै वह संपराय कहलाता है अर्थात् संसारका नाम संपराय है।

तत्प्रयोजनं सांपरायिकं ॥ ५॥

वह संसार ही जिसका प्रयोजन हो वह कर्म सांपरायिक कहलाता है जैसे इंद्रमह[१] पूजा ही जिसका प्रयोजन हो ऐसी जो पूजनक्रिया वह ऐंद्रमहिक कही जाती है। उसीप्रकार जिस आस्रवका प्रयोजन संसार हो—रोग शोक जरा जन्म मरण आदि वेदनाओं द्वारा आत्माका तिरस्कार करना हो वह सांपरायिक आस्रव कहलाता है।

ईरणमीर्या योगगतिः ॥ ६ ॥

गति अर्थवाली 'ईरि' धातुसे भाव अर्थमें 'ण्य' प्रत्यय करनेसे ईर्या शब्द सिद्ध होता है और उसका अर्थ योगोंकी गति होता है।

तद्द्वारकं ईर्यापथः ॥ ७ ॥

जिसका ईर्या ही द्वार अर्थात् मार्ग हो वह ईर्यापथ कहा जाता है अर्थात् जो क्रिया केवल योगोंसे होती है, कषाय जिसमें कारण नहीं होती है वह ईर्यापथ क्रिया कही जाती है। ईर्या नाम योगोंकी

१—नित्य पूजन, अष्टान्हिक पूजन, चतुर्मुख पूजन और इन्द्रध्वज पूजन इत्यादि पूजनोंके भेद है, उनमें इन्द्रध्वज पूजाका अधिकारी इन्द्र होता है। चतुर्मुख पूजनका अधिकारी मुकुटबद्ध महाराजा होता है।

यहांपर फिर शंका होती है कि यदि दंडादि व्यापारकालमें जो योग है उसके आस्रवपना नहीं है तो आस्रवके न होनेसे वहां बंध भी नहीं सिद्ध होगा परंतु वहांपर बंध तो माना गया है वह बिना आस्रव के कैसे हो सक्ता है ? इस शंकाका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि यह दोष भी यहां नहीं आता है वहां जो बंध होता है वह दंडादि क्रियारूप योगके निमित्तसे नहीं होता है किंतु कायवर्गणाके आलंबनसे जो आत्मप्रदेश परिस्पंद होता है उस निमित्तसे वहां बंध माना गया है।

एकयोगे पितत्प्रयोजनकारणात्तदप्रसंग इति चेन्न योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः ॥ ३ ॥

शंकाकार फिर कहता है कि जिसप्रकार केवली भगवानके इन्द्रियोंके रहते हुये भी उनका व्यापार नहीं होता इसलिये उनके इन्द्रियजनित कर्मबंधका अभाव है उसीप्रकार तेरहवें गुणस्थानमें दंडादियोगके रहते हुये भी अर्थात् दण्ड कपाटादि क्रियारूप योगके रहते हुये भी उस योगपूर्वक बंध उनके नहीं होता है उस योगपूर्वक बंध नहीं होनेसे उस योगसे आस्रवका अभाव भी सिद्ध हो जाता है यह बात जैसे योगविभाग करनेसे अर्थात् भिन्न भिन्न दो सूत्र बनानेसे सिद्ध होती है उसी प्रकार एक योग करनेसे अर्थात् दो सूत्रोंका एक सूत्र करनेसे भी सिद्ध हो जाती है । अर्थात् दंडादि क्रियारूप योग आस्रव नहीं है यह बात एक योग करने पर भी सिद्ध होजाती है फिर दो सूत्रोंके करनेसे ही आस्रवपनेका अभाव दंडादि योगको होगा यह बात खंडित हो जाती है ?

समाधान—आचार्य कहते हैं यह बात ठीक नहीं है क्योंकि योगविभाग करनेकी सामर्थ्यसे ही अर्थात् भिन्न भिन्न दो सूत्रोंके करनेसे ही तेरहवें गुणस्थानमें दंड कपाटादि योग आस्रव नहीं होता अर्थात् 'कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आस्रवः' इन दो सूत्रोंके करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है कि काय वचन मनके अवलंबनसे जो आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप योग है वही आस्रव कहा जाता है । जो कायादि वर्गणाओंके अवलंबनवाला योग नहीं है वह आस्रव नहीं कहा जाता । तथा इससे यह बात भी सिद्ध होती

झड जाते हैं वे ईर्यापथ कर्म कहे जाते हैं। अर्थात् ग्यारहवें बारहवें तेरहवें गुणस्थानोंमें योग तो उपस्थित है किंतु कषाय नहीं है। ग्यारहवें गुणस्थानमें जो कषाय है वह सत्तामें बैठी हुई है उदयमें सर्वथा नहीं है इसलिये कषायके विना आये हुये कर्मोंमें स्थिति अनुभाग नहीं पडते किंतु एक समयमें ही कर्म आते हैं आत्मासे स्पर्श करते हैं और निर्जरित होजाते हैं। इसलिये योगोंकी उपस्थिति होनेसे वहां केवल प्रकृति प्रदेश बंध है जो कि योगोंके कारण होता है परंतु वह विना स्थिति बंध और अनुभाग बंधके कुछ कार्यकारी नहीं हैं अतएव उक्त तीन गुणस्थानोंमें कर्मोंका आत्मापर कुछ प्रभाव नहीं पडता। कर्म योगोंसे आते तो हैं परंतु यों ही तत्काल चले जाते हैं उन्हें ईर्यापथ कर्म अथवा ईर्यापथ कर्मास्रव कहते हैं।

अजाद्यदित्युभयत्र पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्नातिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् ॥ ३ ॥

यहांपर व्याकरण संबधमें प्रश्न होता है कि—'सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः' इस सूत्रमें सकषाय और अकषाय शब्दमें पहले अकषाय शब्दका पाठ होना चाहिये उसके पीछे सकषाय शब्दका पाठ होना चाहिये। इसीप्रकार सांपरायिक और ईर्यापथ शब्दोंमें पहले ईर्यापथ शब्दका पाठ होना चाहिये पीछे सांपरायिक शब्दका पाठ होना चाहिये। क्योंकि श्रीजैनेन्द्र व्याकरणका एक 'अजाद्यत्' सूत्र है उसका यह अर्थ है कि जिस शब्दकी आदिमें अच् अर्थात् स्वर हो उसका पहले निपात होता है। अर्थात् द्वंद्वसमासमें अच् आदिवाले शब्दका पहले उच्चारण होता है व्यंजन आदिवाले शब्दका उससे पीछे होता है। इस सूत्रके अनुसार अकषाय और ईर्यापथ इन दोनों शब्दोंका पहले उच्चारण होना चाहिये पीछे सकषाय और सांपरायिक शब्दोंका होना चाहिये परंतु 'सकषायाकषाययोः' इस सूत्रमें पहले सकषाय और सांपरायिक शब्दोंका पाठ दियागया है सो उक्त व्याकरणके सूत्रके नियमके अनुसार विरुद्ध पडता है ?

इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं कि यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि अकषाय जीव बहुत थोडे हैं, सकषाय जीव बहुत अधिक हैं, इसीप्रकार ईर्यापथ आस्रववाले बहुत थोडे हैं सांपरायिक

जलमें छोड दिया जाता है तो वह चारो ओरसे जलको खींचलेता है और अपनेमें अंतर्लीन करलेता है, उसीप्रकार कषायसहित जीव योग द्वारा आये हुये कर्मको चारोओरसे ग्रहण कर लेता है।

इस वार्तिकसे योग और कषायकी भिन्नता बतलाई गई है, योगका कार्य केवल कर्मोंका आकर्षण करनेका है अर्थात् प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध मात्र योगका कार्य है । कषायका कार्य आये हुये कर्मोंको आत्माके साथ बंध करनेका है अर्थात् स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायसे ही होता है। यदि वस्त्र सूखा हो तो वायुसे आये हुये भी रेणु वहां ठहर नहीं सकते किंतु स्पर्श करके तुरंत चले जाते हैं परंतु जलसे भीगा हुवा वस्त्र उन रेणुओंको ठहरानेमें कारण है उसीप्रकार जहां कषाय नहीं है सयोगकेवली गुणस्थानमें—वहां योगजनित कर्म आते हुये भी आत्माका स्पर्श मात्र करके चलेजाते हैं परंतु दशवें गुणस्थान तक कषायके रहनेसे योग द्वारा जो कर्म आते हैं वे आत्मामें ठहरकर अपना पुण्य पाप रूप फल देते हैं। ❋

यहांपर यह प्रश्न होता है कि कर्म पुण्य पापरूपसे दोप्रकार कहा गया है, उसकेलिये क्या सामान्य योग कारण है या पुण्य पाप रूप कर्मोंकेलिये भिन्न भिन्न योग कारण है ? इस प्रश्नका समाधान श्रीआचार्यपरमेष्ठी सूत्र द्वारा करते हैं—

❋ 'स आस्रवः' इस सूत्र द्वारा कर्मोंके आगमनमें योगको ही कारण माना गया है परंतु मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद और कषाय भी कर्मोंके आनेमें कारण हैं इसलिये उन्हें भी आस्रव कहना योग्य था वे क्यों नहीं कहे गये ? यदि ऐसी कोई आशंका करे तो उसका उत्तर यह है कि मिथ्यादर्शन केवल मिथ्यात्व गुणस्थान तक ही कर्मबंधका कारण है आगे सासादन आदि गुणस्थानोंमें नहीं है । अविरति भी विरतभावसे पहले २ अर्थात् पांचवें गुणस्थान तक ही कर्म बंधका कारण है। प्रमाद भी प्रमत्तभाव पर्यंत ही कारण है और कषाय भी दशवें गुणस्थानतक ही कर्मबंधका कारण है परंतु योग सामान्यरूपसे पहले गुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक कर्मागमनका कारण है। इसलिये संक्षेपसे आस्रवका कारण योग ही है उसीमें मिथ्यादर्शनादि कारणोंका समावेश हो जाता है। इसीबातको श्री श्लोकवार्तिककारने "स आस्रव इह प्रोक्तः' इस कारिकामें स्पष्ट किया गया है।

त्याख्यान प्रत्याख्यान और सज्वलन संबधी ग्रहण करना चाहिये) हिंसा झूठ चोरी कुशील तथा परिग्रह ये पांच अव्रत और सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रिया प्रयोगक्रिया समादानक्रिया ईर्यापथ क्रिया प्रादोषिकीक्रिया कायिकीक्रिया अधिकरणकीक्रिया पारितापिकीक्रिया प्राणातिपातिकीक्रिया दर्शनक्रिया स्पर्शनक्रिया प्रात्ययिकीक्रिया समंतानुपातक्रिया अनाभोगक्रिया स्वहस्तक्रिया निसर्गक्रिया विदारणक्रिया आज्ञाव्यापादिकाक्रिया अनाकांक्षाक्रिया आरंभक्रिया पारिग्राहिकीक्रिया मायाक्रिया मिथ्यादर्शनक्रिया अप्रत्याख्यानक्रिया ये पच्चीस क्रिया इसप्रकार ३९ उनचालिस भेद, पहला जो सांपरायिक आस्रव है उसके हैं।

इंद्रियादय उक्तलक्षणा द्वंद्वविषयाः ॥ १ ॥

इंद्रियादिकोंका लक्षण पहले कहा जा चुका है। इंद्रिय कषाय आदिका यहां पर सूत्रमें द्वंद्व समास है। इंद्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया, इन सबोंका परस्पर इतरेतरयोगलक्षण द्वंद्व समास है, इसीलिये 'इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः' ऐसा बहुवचन प्रयोग है अर्थात् ये प्रत्येक भी बहुसंख्यक हैं, क्योंकि इंद्रियां पांच हैं, कषाय चार हैं, अव्रत पांच हैं, क्रियाऐं पच्चीस हैं। इसप्रकार प्रत्येक बहुसंख्यक है तथा सब मिलकर भी बहुसंख्यक हैं—इंद्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया, इसप्रकार बहुसंख्या चार सख्या है तीनसे लेकर बहुसंख्या हो जाती है। बहुसंख्यक होनेसे यहां बहुवचनका प्रयोग है।

पंचादीनां संख्याशब्दानां संख्यया वृत्तिः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो पांच चार आदि संख्यावाची शब्द हैं उनका संख्या शब्दके साथ समास है। अर्थात् सूत्रमें 'पंचचतुःपंचपंचविशंतिः' ये संख्यावाची शब्द हैं, इनका पांच, चार, पांच और पच्चीस यह अर्थ है, इन संख्यावाची शब्दोंका सूत्रमें आये हुए संख्या शब्दके साथ संबंध है, सूत्रमें 'पंचचतुःपंचपंचविशंति संख्याः" यह अंतमें संख्या शब्द आया है इसका संबंध पंचचतुः आदिके साथ है। पंच अधिक विशंतिको पचाविंशति कहते हैं। विंशति नाम वीसका है। पांच अधिक वीस—पच्चीस

यहांपर यह शंका होती है कि ऊपर अशुभयोगके अनंतविकल्प बताये गये हैं, उसीप्रकार उसके प्रतिपक्षी शुभयोगके भी अनंतविकल्प समझने चाहिये परंतु अध्यवसायस्थान तो असंख्यात लोक प्रमाण ही बतलाये गये हैं फिर अशुभयोग और शुभयोगके अनंत अनंत विकल्प किसप्रकार हो सक्ते हैं अर्थात् कषायाध्यवसायस्थानोंके समान योगाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोक प्रमाण हैं इसलिये उतने ही प्रकारका योग होसक्ता है फिर अनंत भेद यहां कैसे बताये गये हैं?

समाधान—अनंतानंत पुद्गल प्रदेशोंका संचयरूप ज्ञानावरणकर्म और वीर्यांतरायकर्म है उन्हीं कर्मोंके सर्वघाति और देशघाति ऐसे दो प्रकारके स्पर्धक होते हैं उन्हीके क्षयोपशमके भेदसे मनोयोग वचनयोग और काययोग, इन तीनों योगोंके अनंतभेद कहे गये हैं। अर्थात् ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोपशमरूप लब्धिके भेदसे ही योगोंमें भेद होता है, उक्त दोनों कर्म अनंतानंत पुद्गलवर्गणाओंके संचित अनंतानंत समयप्रबद्ध स्वरूप हैं इसलिये कर्म परमाणुओंके भेदोंकी अपेक्षा अथवा समय समय प्रति निकलनेवाले निषेकोंकी अपेक्षा क्षयोपशमके भी अनंत भेद हो जाते हैं, जितने उन कर्मोंके क्षयोपशमके भेद होते हैं उतने ही योगोंके भेद हो जाते हैं, इसलिये योगोंके भी अनंत भेद हैं। शास्त्रोंमें जो योगाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण बताये गये हैं वे स्थूलदृष्टिसे स्कंध विशेषोंकी अपेक्षा कहे गये हैं।

अथवा अनंतानंत कर्म परमाणुओंके ग्रहण करनेका कारण होनेसे भी योग अनंतानंत हैं। अथवा जीवराशि अनंतानंत है, उनके विषय भेदोंकी अपेक्षा अर्थात् नाना जीवोंके योगजनित नाना परिणाम होते हैं इस दृष्टिसे भी योगोंके अनंत भेद हैं। योगोंमें शुभपना और अशुभपना कैसे आता है? इसके उत्तरमें वार्तिककार वार्तिक कहते हैं—

शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः ॥ ३ ॥

शुभ परिणामोंसे जो योग उत्पन्न होता है वह शुभ योग कहा जाता है, जो अशुभ परिणामोंसे

इस सूत्रमे जो इंद्रियादिक शब्द हैं और जो पंच आदिक संख्यावाची शब्द हैं, उनका क्रमसे ही संबंध है। चार इंद्रिया पांच कषाय ऐसा अक्रमसंबंध—उलटा संबंध कोई न समझ लेवे इसीलिये श्री वार्तिककार स्पष्ट करते हैं। क्रमसे ही इनका संबंध क्यों है अक्रमसे क्यों नहीं ? यदि ऐसी कोई शंका करे तो उसका उत्तर आचार्य देते हैं कि यह बात व्याख्यानसे जानी जाती है कि क्रमसे ही इनका संबंध है। इंद्रियां पांच ही होती हैं, कषाय पांच नहीं होते किंतु चार होते हैं। अव्रत पांच ही होते हैं पच्चीस नहीं होते, किंतु पच्चीस कियायें होती हैं। इसप्रकार शास्त्रोंमें इंद्रियादिकोंकी संख्या नियत रूपसे प्रसिद्ध है। यह बात व्याख्यान परंपरासे सर्वजनविदित है।

इंद्रियादीनामात्मनोऽनन्यत्वान्यत्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ६ ॥

इंद्रिय और कषायादिकोंका आत्माके साथ कथंचित् अभेद है तथा कथंचित् भेद है। अर्थात् इंद्रियादिक आत्मासे किसी अपेक्षा जुदी वस्तु हैं किसी अपेक्षा वे और आत्मा दोनों एकरूप हैं इसप्रकार परस्पर दोनोंमें अनेकांतभाव है। किसप्रकार इंद्रियां आत्मासे अभिन्न हैं और किसप्रकार भिन्न हैं ? इस बातका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—अनादिपारिणामिक चैतन्यरूप द्रव्यार्थादेशसे इंद्रियोंमें और आत्मामें कोई भेद नहीं है इसलिये दोनों एक हैं। अर्थात् भावेंद्रिय इंद्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली एकदेशज्ञानकी व्यक्तिरूप आत्माकी ही अवस्थाविशेष है। आत्मासे भिन्न भावेंद्रिय कोई वस्तु नहीं है। यदि कर्मोंकी अवस्थाकी दृष्टि न रक्खी जाय किंतु अनंत गुणोंके अभिन्न अखंड पिंड चैतन्यस्वरूप अनाद्यनिधन एक आत्मद्रव्यकी ही दृष्टि रक्खी जाय तो आत्मासे ज्ञानविशेषरूप इंद्रिय भिन्न वस्तु नहीं सिद्ध होती। द्रव्य द्रष्टिसे आत्मा और इंद्रियां ऐसा भेद ही नहीं बनता, किंतु एक अखंड चैतन्यप्रधान आत्मद्रव्यका ही अभेदरूपसे बोध होता है, इसलिये द्रव्यदृष्टिसे आत्मा और इंद्रियां दोनों एक हैं—अभिन्न हैं।

तत्प्रतिद्वंद्विरूपं पापं ॥ ५ ॥

उस पुण्यका जो प्रतिद्वंद्वी स्वरूप है अर्थात् पुण्यसे जो प्रतिपक्षी—विपरीत है वह पाप कहाजाता है पाप शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—जो शुभ परिणामोंसे आत्माको बचावै वह पाप कहलाता है। अर्थात् आत्मामें जो अच्छे भावोंको नहीं होने दे वह पाप है। असाता वेदनीय, अशुभ गोत्र, अशुभ आयु तथा घातिया कर्म उसके भेद हैं इनका विशेष विवरण भी आगे आठवें अध्यायमें किया जायगा।

उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वादविशिष्टमिति चेन्नेष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः ॥ ६ ॥

यहां शंका होती है कि जिसप्रकार चाहे सोनेकी वेडी हो चाहे लोहेकी वेडी हो, दोनोंका ही परतंत्र बनाना यह एक फल है यह वात नहीं है कि सोनेकी बेडीसे मनुष्यको कोई सुख होता हो और लोहेकी वेडीसे दुःख होता हो, दोनों ही वेडियां मनुष्यको वांधनेवाली हैं इसलिये सोनेकी वेडी भी मनुष्यको दुःखकारी है उसीप्रकार पुण्य और पाप दोनों ही आत्माको परतंत्र एवं दुःखदायी हैं जैसे पापसे आत्मा संसारमें भटकता है मुक्ति नहीं पासक्ता उसीप्रकार पुण्यकर्मसे भी आत्मा संसारमें भटकता है उससे भी मुक्ति नहीं पासक्ता ऐसी अवस्थामें जब दोनोंमें समानता है फिर एक पुण्यकर्म है, एक पापकर्म है ऐसा संकल्प भेद—नाम लक्षण आदि भेद क्यों किया जाता है? अर्थात् जब कि दोनोंका आत्माको परतन्त्र करना ही फल है तब कर्मके पुण्य और पाप ऐसे दो भेद करना व्यर्थ है? इस शंकाका उत्तर ग्रंथकार देते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि इष्ट और अनिष्टके निमित्तके भेदसे उन दोनोंके भेदकी सिद्धि होती है अर्थात् यद्यपि पुण्य और पाप दोनों ही कर्म आत्माको परतंत्र बनाते हैं तथापि संसारी जीव जिसे सुखसामग्री समझता है वह उसकेलिये इष्ट है तथा जिसे दुःखसामग्री समझता है वह उसके लिये अनिष्ट है ऐसी अवस्थामें जो कर्म सुखसामग्रीका निमित्त कारण है वह पुण्य कर्म कहलाता है, जो कर्म दुःखसामग्रीका निमित्तकारण है वह पापकर्म कह-

होती है, क्षायिक अवस्थामें वह नहीं रहती है। यदि भावेंद्रियां और आत्मा पर्यायदृष्टिसे भी एक होते तो क्षयोपशम अवस्थामें जैसे उसके भावेंद्रियां रहती हैं वैसे क्षायिक अवस्थामें भी रहना चाहिये। अथवा जैसे क्षायिक अवस्थामें वे उसके नहीं रहतीं वैसे क्षायोपशमिक अवस्थामें भी नहीं रहनी चाहिये परंतु एक अवस्थामें रहती हैं दूसरीमें नहीं रहतीं। इससे अच्छीतरह सिद्ध होता है कि अवस्थाभेदसे आत्मा और इंद्रियोंमें भेद है इसी भेदकी दृष्टिसे पंचइंद्रियां आदि संख्याका कथन प्राप्त होता है। इंद्रियां स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन भेदोंसे पांचप्रकार है, इनका विवेचन दूसरे अध्यायमें किया जाचुका है। क्रोध मान माया लोभ ये कषाय हैं, इनके अनंतानुबंधी आदि भेद आगे आठवें अध्यायमें कहे जांयगे। हिंसादि पांच पाप अव्रत हैं, "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इत्यादि सूत्रों द्वारा उन अव्रतोंका लक्षण आगे सातवें अध्यायमें स्वयं ग्रंथकार करेंगे। क्रियाके पचीस भेद हैं वे इसप्रकार हैं—

सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पंच ॥ ७ ॥

अर्हंतदेव गुरु और शास्त्रकी पूजा, स्तुति, बंदना आदि सम्यग्दर्शनको बढानेवाली क्रियाका करना सम्यक्त्वक्रिया है। मिथ्या देवता आदिकी पूजा स्तुति वंदना आदि ऐसी क्रिया करना जिससे मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति हो एवं जिस प्रवृत्तिमें मिथ्यात्व परिणाम कारण हो उसे मिथ्यात्वक्रिया कहते हैं। शरीरादिके द्वारा जाना आना लेटना, बोलना आदि रूपक्रिया प्रयोगक्रिया कहलाती है। वीर्यांतराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर अंगोपांग नाम कर्मकी प्राप्ति द्वारा काय वचन मन योगोंकी रचनामें समर्थ पुद्गलोंका जो ग्रहण होना है अथवा सम परिणामी संयमी पुरुषका जो अविरतरूप क्रिया आचरणके प्रति सन्मुख होना है वह समादान क्रिया कही जाती है। ईर्यापथ कर्मोंका जिस क्रियासे आगमन हो ऐसी प्रमाद रहित क्रिया करना वह ईर्यापथ क्रिया कही जाती है। ये पांच क्रियाएं हुईं।

प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पंच ॥ ८ ॥

घातिया प्रकृति पापरूप कर्म है इसलिये उन कर्मोंका कार्य आत्माके गुणोंका घात करना यह नियत है। अथवा शुभ योग पुण्यका ही कारण है ऐसा नियम यहां नहीं समझना चाहिये किंतु ऐसा नियम समझना चाहिये कि पुण्य बंधका कारण शुभ योग ही है अर्थात् यदि पुण्यबंध होगा तो शुभ योगसे ही होगा इस नियमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि शुभयोग पापबंधका भी कारण है परंतु जब यह नियम कर दिया गया कि शुभ योग ही पुण्यबंधका हेतु है तो ऐसी व्याप्ति करनेसे शुभ योगसे पाप बंध भी सिद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्थामें घातिया कर्मरूप पाप प्रकृतियोंका शुभयोगसे कैसे बंध होता है यह शंका दूर हो गई, शुभ योगसे घातिया कर्मोंका भी बंध होता है इसमें कोई दोष नहीं है, न कोई विरोध ही आता ।

शंकाकार फिर कहता है कि यदि ऐसा है तो शुभयोग पाप बंधका भी कारण है और अशुभयोग पुण्य बंधका भी कारण है यह स्वीकार करना चाहिये क्योंकि समस्त कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम कारण पडता है अर्थात् चाहे पुण्य कर्म हो, चाहे पाप कर्म हो उत्कृष्टस्थिति संक्लेश परिणामोंकी विशेषतासे ही उनमें पडेगी। जैसा कि सिद्धांतकथन है—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दुउक्कस्स संकिलेसेण।
विपरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणां तु ॥ (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा १३४ वीं)

अर्थ—सर्व स्थितियोंका उत्कृष्ट बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है तथा विपरीत अवस्थामें जघन्य बंध होता है अर्थात् यदि संक्लेश परिणामोंकी हीनता होती है तो कर्मोंमें उत्कृष्ट स्थिति नहीं पडती है किंतु जघन्य पडती है। यह नियम तीन आयुकर्मों को छोडकर बाकी समस्त कर्मोंके लिये है अर्थात् तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु इन तीन आयुओंमें शुभ परिणामोंकी विशेषतासे अधिक स्थिति-बंध पडता है और अशुभ परिणामोंकी विशेषतासे हीन स्थिति बंध पडता है क्योंकि ये तीनों आयु

भुजगैश्च सवैरजातरोषैः समरूपाण्यसतां विचेष्टितानि ॥"

अर्थ—कर्मके वशीभूत होता हुआ क्रोधी जीव विना निमित्तके ही—विना कारण ही कषायोंके उदयको प्राप्त होता रहता है जिसप्रकार पूर्णिमाके दिन चंद्रमा राहु द्वारा ग्रसा जाता है अर्थात् जिसप्रकार विना किसी निमित्तके स्वभावसे ही किसी पूर्णिमाके दिन चंद्र ग्रहण पडजाता है उसीप्रकार विना ही निमित्त दुष्ट पुरुष कषाय किया करते हैं तथा जिस प्रकार हरिणका रुधिर पीकर तीव्र चंचल जीभ रखनेवाले सिंह अष्टापद भेडिया सर्प आदि निसर्गहिंसक जीव विना कारण ही हिंसा किया करते हैं उसी प्रकार विना क्रोधके निमित्तोंके भी दुष्ट पुरुषोंकी चेष्टायें स्वभावसे ही हिंसक होती हैं इसलिये सिद्ध होचुका कि क्रोध विना निमित्तके भी होता है अर्थात् स्वभावसे उदयमें आता रहता है परंतु प्रदोष अर्थात् दूसरोंपर दोष लगाना आदि क्रिया निमित्तपूर्वक ही होती है। यह कषाय और प्रादोषिकी क्रियामें अंतर है। यह प्रादोषिकी क्रियाका व्याख्यान हुआ।

विशेष दुष्ट पुरुषोंकी जो चोरी व्यभिचार जीवबध आदिके उद्यम करनेरूप क्रिया है वह कायिकी क्रिया कही जाती है। हिंसाके उपकरण—सामग्री वर्छी तलवार आदि शस्त्रोंका देना आधिकरणकी क्रिया कही जाती है। जिससे अपने आपको दुःख उत्पन्न हो तथा दूसरोंको भी दुःख हो ऐसी जो दुःख उत्पन्न करनेवाली क्रिया है वह पारितापकी क्रिया है। तथा आयु इंद्रिय बल प्राणोंका वियोग करनेवाली प्राणोंका घात करनेवाली जो क्रिया है वह प्राणातिपातिकी क्रिया है। इसप्रकार पांच क्रियायें ये हुईं।

दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमंतानुपातानाभोगाक्रियाः पंच ॥ ९ ॥

प्रमादी पुरुषके रागसे भीगाहुआ हृदय होनेसे सुंदर स्वरूप देखनेकी चेष्टाएं करना दर्शन क्रिया कही जाती है अर्थात् विशेष रागी होकर किसीके सुंदर रूपको देखनेकी चेष्टा करना दर्शन क्रिया है। प्रमादके वशीभूत होकर स्पर्श करने योग्य इष्ट वस्तुके विषयमें विशेष रागपूर्वक प्रवर्तित होना स्पर्शन क्रिया है।

अनुभागबंधका कारण होन पर भी वह पुण्य प्रकृतियोंके अनुभाग बंधका विशेष रूपसे कारण है इसलिये शुभयोग पुण्य वंधका कारण है यह कथन सुसंगत है। अर्थात् शुभयोगसे अशुभ प्रकृतियोंमें भी अनुभाग वंध पडता है परंतु शुभ योगके रहते हुए अशुभ प्रकृतियोंमें अतिमंद अनुभाग बंध पड़ता है और शुभ प्रकृतियोंमें बहुत अधिक पड़ता है इसलिये मुख्यताकी दृष्टिसे शुभयोग पुण्य बंधका कारण है यह कथन युक्तियुक्त है । जिसप्रकार जो वस्तु थोड़ा अपकार करनेवाली भी हो परंतु उससे बहुत उपकार होता हो तो वह उपकार करनेवाली ही समझी जाती है । दृष्टांतके लिये श्रीजिनेंद्र भवनको लेलेना चाहिये, श्री जिनेंद्र भवनके निर्माण करानेमें यद्यपि आरंभजनित थोड़ीसी हिंसा होती है परंतु उस मंदिरनिर्माणसे जितना भव्य जीवोंको पुण्यवंध एवं परिणामोंमें विशुद्धता होती है उसकी अपेक्षा वह आरंभी हिंसा कुछ नहीं है इसलिये श्री मंदिरका बनवाना परम उत्तम एवं पुण्यबंधका कारण ही समझा जाता है उसीप्रकार शुभ योगके विषयमें समझना चाहिये।

जैसा कथन शुभ योगके विषयमें कियागया है वैसा ही अशुभ योगमें घटित कर लेना चाहिये। अशुभ योग मुख्यतासे पापबंधका ही कारण है इसलिये उसे पाप वंधका कारण कहागया है। अतएव शुभयोग पुण्य वंधका हेतु और अशुभ योग पापवंधका हेतु है ऐसे दो वाक्योंका कथन ठीक है। यही बात दूसरे ग्रथोंमें नीचे लिखी गाथाके अनुसार कही गई है—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विपरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ (गोम्मटसार कर्मकांड १६३ वीं गाथा)

अर्थ—शुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभाग बंध, विशुद्ध परिणामोंसे होता है और अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागवंध संक्लेश परिणामोंसे होता है। तथा शुभ प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभागबंध संक्लेश परिणामोंसे होता है और अशुभ प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभागबंध विशुद्ध परिणामोंसे होता है। यही सब

प्रमादसे पुण्य बंध करनेवाली उत्तम उत्तम क्रियाओंका नहीं करना भी निसर्गक्रिया कही जाती है। किसीके द्वारा किये गये पापादिरूप कार्यको प्रगट करदेना विदारण क्रिया कही जाती है।

छह अवश्यक नित्य नैमित्तिक कर्म एवं मूल गुणादिकोंके विषयमें जैसी श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है तदनुसार चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे उन्हें पालनेमें असमर्थ होनेके कारण भगवानकी आज्ञासे विरुद्ध आचरणका कथन करना आज्ञाव्यापादिका क्रिया है। शठता और प्रमाद–आलस्यसे शास्त्रोक्त विधि विधानमें अनादर करना अर्थात् जैसा शास्त्रोंमें कर्मकाण्डका उपदेश दिया गया है उसप्रकार उसे पालनेमें अपनी शठतासे अथवा आलस्यसे अनादर बुद्धि रखना सो अनाकांक्षा क्रिया कहलाती है। इसप्रकार पांच क्रियायें ये हुईं।

आरंभपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाऽप्रत्याख्यानाक्रियाः पंच ॥ ११ ॥

छेदना भेदना विनाश करना आदि प्रवृत्तिमें तत्पर रहना अथवा दूसरों द्वारा इसप्रकारका आरंभ होता हुआ देखकर हर्ष मानना सो आरंभ क्रिया कहलाती है। परिग्रहका किसीप्रकार नाश न हो, उसकी सदा रक्षा वनी रहै ऐसा उद्योग करना पारिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन आदि गुणोंके विषयमें दूसरोंको ठगनेरूप क्रिया करना मायाक्रिया कहलातीहै। अर्थात् थोडा ज्ञानी होकर भी जिन वातोंके विषयमें शास्त्रोंका बोध नहीं है उनके विषयमें भी अपनी सम्मति शास्त्रोंका नाम लेकर प्रगटकरना, शास्त्रोंके विरुद्ध अपने ज्ञान द्वारा लोगोंको समझाना, शास्त्रोंमें जो वात कही गई हैं उनका अर्थ तो दूसरा है परंतुकिसी प्रयोजन सिद्धिकेलिये उनका दूसरा अर्थ वतलानेकी चेष्टा करना आदि ज्ञानके विषयमें मायाक्रिया है। तथा जो चरित्र जिस पदस्थकेलिये शास्त्रोंमें वताया गया है उसको नहीं पालन करते हुये भी लोगोंको ऊपरी ढोंग द्वारा विशेष चरित्रधारी अपनेको प्रगट करना अथवा जो चारित्रक्रिया शास्त्र निर्दिष्ट है उससे विरुद्धाचरण करना. गुप्तरूपसे चारित्रसे भ्रष्ट रहना ऊपरी प्रवृत्तिके दिखानेके लिये पूर्ण योगी अपनेको

दो स्थूल भेद हैं। पुद्गलस्कंध एवं जीवोंके भावोंकी श्रेणियोंकी अपेक्षा उसी आस्रवके अनंत भेद होते हैं।

प्रश्न होता है कि यहां कषाय किसे कहते हैं? उत्तर—

कषत्यात्मानमिति कषायः ॥ २ ॥

जो आत्माको कसै, दुःख दे वह कषाय कहलाता है, ऐसा कषाय क्रोध मान आदि परिणामरूप है। अर्थात् क्रोधादि परिणाम आत्माको नरकादि कुगतियोंके दुःख देता है उन दुखोंसे आत्मा खूब कसा जाता है अतः आत्माको दुःख देनेवाले क्रोध मान माया लोभ हास्य रति अरति भय जुगुप्सा शोक स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद एवं मिथ्यात्व ये सब पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले आत्माके विचारभाव कषायें[1] कहे जाते हैं। अथवा—

कषायवद्वाश्लेषहेतुत्वात ॥ ३ ॥

अथवा कषाय नाम फिटकरी, लोध आदि कषायले द्रव्योंका है, जिसप्रकार कपडा रंगनेमें फिटकरी लोध आदि विशेष कारण हैं, इनके लगानेसे कपडेपर अधिक रंग चढता है, उसीप्रकार जो कषायले द्रव्य—कषायके समान हो वह कषाय कहा जाता है। क्रोधादि परिणाम भी आत्मामें कर्मोंका श्लेष—संबंध करानेमें कारण है। जितनी कषाय जिस जीवमें होगी उतने ही कर्मोंका घनिष्ट संबंध उस जीवके साथ होगा, इसलिये क्रोधादि परिणाम कषाय कहे जाते हैं। जो कषायसहित जीव होता है वह सकषाय

१—सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स। संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति। गोम्मटसार जीवकांड नं० २८२

अर्थात्—जिसप्रकार बढ़ी लंबी मर्यादावाले खेतको हलसे जोतते है और उसमें धान्य बोकर बहुतसे धान्य पैदा करते हैं, उसीप्रकार जीवके कर्मरूपी खेतको कषायरूपी हलसे संसारी—सकषायी जीव खूब जोतते हैं, उसमें सुख दुःखरूपी फल पैदा करनेके लिये बीज डालते हैं, विपाक होने पर वही अधिकरूपमें उन्हें मिलता है। उस कर्मरूपी खेतकी मर्यादा अनंत संसार है इसलिये जो जीवके कर्मक्षेत्रको कसते हैं वे कषाय कहे जाते हैं।

दूसरे जुदे शब्दोंसे करना यही प्रपंच है तथा शास्त्रोंमें प्रपंच रूप कथन अनुपयोगी समझा जाता है इसलिये इंद्रियादिकका कथन करना व्यर्थ है इस शंकाका समाधान देतेहुये आचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर अनेकांत दृष्टिसे कथन किया गया है और शंका एकांतरूपसे की है। ऐसा सर्वथा नियम नहीं है कि इंद्रिय, कषाय, अव्रत क्रिया स्वरूप ही होते हैं, किंतु क्रियासे भिन्न भी होते हैं, इसका भी प्रमाण यह है कि नाम स्थापना और द्रव्यनिक्षेपसे कहेजानेवाले जो इंद्रिय कषाय अव्रत हैं, उनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं है क्योंकि नाम निक्षेपसे कही जानेवाले जो इंद्रिय आदि हैं उनमें क्रिया नहीं होसकती। कारण कि वे नाममात्र इंद्रिय आदि हैं अर्थात् किसीने किसी जड वस्तुका नाम इंद्रिय रख दिया हो तो वह नामसे इंद्रिय तो कहलाती है परंतु इंद्रियोंका जो व्यापार होना चाहिये वह उसमें नहीं होता। इसीप्रकार स्थापनानिक्षेपमें मुख्य क्रिया नहीं हो सकती कारण कि यह वही है ऐसा वचन और यह वही है ऐसी बुद्धिकी प्रवृत्तिमें वह स्थापित द्रव्य केवल निमित्त मात्र है अर्थात् किसीने खम्भेमें इंद्रियादिकी स्थापना कर ली हो तो उस खम्भेमें यह उस इंद्रियादि रूप है, ऐसे वचनकी प्रवृत्ति और तद्रूप बुद्धिकी प्रवृत्ति हो जाती है, परंतु उस खम्भेमें जो इंद्रिय कषायादिकोंका वास्तव व्यापार है वह नहीं हो सकता इसलिये स्थापित वस्तुमें मुख्य क्रिया नहीं होती है। अर्थात् मुख्यपदार्थकी क्रिया—जिसपदार्थकी स्थापना की जाती है उसकी क्रिया उस स्थापित वस्तुमें नहीं होती है। द्रव्यनिक्षेपके विषयभूत इंद्रिय कषाय अव्रतोंमें भी क्रिया नहीं होती है, क्योंकि द्रव्यनिक्षेप भूत अथवा अनागत पर्यायमें ही प्रवर्त्तित होता है। इसलिये जो इंद्रिय कषाय अव्रत क्रियारूप परिणमनसे रहित होचुके हैं अथवा क्रिया परिणमन रूप आगे होनेवाले हैं उन्हींमें इंन्द्रिय कषाय अव्रतका विधान होगा। जो क्रिया परिणित हैं उनमें द्रव्यनिक्षेपकी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये द्रव्यनिक्षेपसे कहे गये इंद्रियादिकोंमें भी क्रिया नहीं है।

गतिका है यह पहले कह चुके हैं। जिस कर्मके आगमनमें केवल योगोंकी गति ही हो अर्थात् योगमात्र ही जिस आस्रवमें कारण हो कषाय सर्वथा न हो वह ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है। सांपरायिक और ईर्यापथ इन दोनोंका द्वंद समास होनेसे सांपरायकेर्यापथ शब्द बनता है और उसका संबंध अर्थमें षष्ठी विभक्तिके द्विवचनका सांपरायिकेर्यापथयोः ऐसा प्रयोग बनता है। इसप्रकार एक सांपरायिक आस्रव, एक ईर्यापथ आस्रव, इन दोनोंका संबंध क्रमसे सकषाय और अकषाय जीवोंके साथ लगाना चाहिये। सकषाय जीवके सांपरायिक कर्मका आस्रव होता है, अकषाय जीवके ईर्यापथ कर्मका आस्रव होता है। इसीका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है जैसे—सांपराय नाम कषायका है, मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसांपराय–दशवें गुणस्थान पर्यंत कषायोंका उदय रहता है इसलिये कषायसहित जो पहिले गुणस्थानसे लेकर दशवें गुण स्थानवाले जीव हैं उनके कषायोंका उदय होनेपर जैसे जैसे परिणाम होते हैं, उन परिणामोंसे योगोंके द्वारा जो पुद्गल द्रव्यकी कार्माण वर्गणाएं आती हैं वे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होकर कर्मरूप पर्यायको धारण करती हैं जिसप्रकार गीले चामके आश्रित जो धूलि है वह उसी चाममें जम जाती है उसीप्रकार योग द्वारा आये हुये कर्मोंको कषाय अपने क्रोधादि भावोंसे आत्माके साथ बंध कराकर कुछकालतक वहीं ठहरने योग्य स्थिति उनमें डाल देते हैं और सुखदुखरूप फल देनेकी हीनाधिकता भी उनमें पैदा कर देते हैं इसलिये वे कर्म सांपरायिक कहे जाते हैं। अर्थात् संपराय नाम कषायका पहले बताया जाचुका है, कषायसे स्थितबंध और अनुभागबंधको धारण करनेवाले जो कर्म योग द्वारा आते हैं वे सांपरायिक कहे जाते हैं।

उपशांतकषाय, क्षीणकषाय तथा सयोगकेवली—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवाले जीवोंके योगके द्वारा जो कर्म आते हैं वे कषायका अभाव होनेसे आत्मामें ठहरते नहीं हैं किंतु जैसे सूखी भीतपर पडी हुई धूलि जमती नहीं किंतु तुरंत झड जाती है उसीप्रकार एकसमयमें ही आत्मासे

बातके द्योतन करनेकेलिये यहां सूत्रमें क्रियाओंसे भिन्न इंद्रियादिकोंका स्वतंत्र कथन है ? इस शंकाका उत्तर श्रीआचार्य नीचेकी वार्तिक द्वारा देते हैं—

नवा प्रतिज्ञातविरोधात् ॥ १४ ॥

ऊपर जो शंकाकी गई है वह ठीक नहीं है अर्थात् इंद्रिय कषाय अव्रतका जो स्वतंत्र कथन करनेमें प्रयोजन बताया गया है वह प्रयोजन नहीं है वैसा प्रयोजन रहनेसे प्रतिज्ञाका विरोध होता है। श्रीआचार्यने पहले यह प्रतिज्ञावाक्य प्रगट कर दिया है कि काय वचन मनके अवलंबनसे जो आत्मप्रदेश परिस्पंद होता है वह योग है और वही आस्रव है। यहां पर शंकाकार इंद्रियादिकोंको द्रव्यास्रव कहता है परंतु उपर्युक्त आस्रव विधायक सूत्रोंमें द्रव्यास्रव, योगोंको स्वीकार किया है इसलिये उस प्रतिज्ञाका विरोध आता है।

कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थं वा ॥ १५ ॥

दूमरी बात यह है कि निमित्त नैमित्तिककी विशेषता प्रगट करनेके लिये भी क्रियाओंसे जुदा इंद्रियादिकोंका ग्रहण किया गया हैं। अर्थात् इंद्रियादिक कारणरूप हैं—निमित्तभूत हैं। क्रियायें अनेक कार्यस्वरू। हैं—नैमित्तिक हैं। इसी विशेषताके ज्ञापन करनेकेलिये क्रियाओंसे भिन्न इंद्रियादिकोंका विधान किया गया है। स्पर्शन आदि इंद्रियजनित क्रिया, क्रोध परिणाम आदिरूप कषाय संबंधी क्रिया, हिंसा आदि अव्रत स्वरूप क्रिया, ये तो आस्रव स्वरूप हैं तथा इन्हीं इंद्रिय कषाय अव्रतोंसे पच्चीस क्रियाऐं उत्पन्न होती हैं। इंद्रिय कषाय अव्रत रूप तीनों परिणामोंके होनेपर ही ये पच्चीस क्रियायें होती हैं जैसा कि—मूर्छा कारण है, परिग्रह उसका कार्य है, उस परिग्रहके होते हुये ही उसका रखना, रक्षण करना, खर्च करना आदि संस्कार स्वरूप क्रिया होती है। इसीप्रकार क्रोध कारण है, प्रदोष उसका कार्य है उसके होनेपर ही प्रादोषिकी क्रिया होती है। इसीप्रकार मान कारण है, किसीको नहीं नवना—

आस्रववाले बहुत अधिक हैं इसलिये अकषाय और ईर्यापथवाले जीवोंकी अपेक्षा सकषाय तथा सांपरायिक जीवोंके बहुत भेद और बहुत विवेचन होनेसे सकषाय और सांपरायिक शब्दोंमें अभ्यर्हित-पना—पूज्यपना है इसलिये उन्हींका पूर्व निपात कियागया है।

भावार्थ—व्याकरणका एक सामान्य नियम होता है एक विशेष होता है। विशेष नियम अपवाद नियम कहलाता है। अपवाद नियम बलवान होता है क्योंकि वह सामान्य नियमको बाधकर बनाया जाता है। यहांपर 'अजाद्यत्' इस व्याकरण सूत्रसे यद्यपि सकषायसे पहले अकषाय और सांपरायिकसे पहले ईर्यापथ शब्दका निपात होना चाहिये परंतु व्याकरणका अपवाद सूत्र यह भी है कि अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति अर्थात् जो पूज्य है उसका पहले निपात होता है। इस नियमसे पहला नियम बाधा जाता है। जो पूज्य शब्द होगा वह भले ही अच् आदिवाला न हो तो भी उसीका पूर्व प्रयोग होगा। जहां पूज्य शब्द नहीं है वहां दो शब्दोंमें अच् आदि वाला ही पहले प्रयुक्त होगा। यहांपर सकषाय और सांपरायिक शब्द पूज्य है। पूज्यता भी अनेक प्रकार होती है। यहां पूज्यताका अर्थ बहुत संख्या और बहुत विवेचन लिया गया है। इस विवेचन आधिक्यकी अपेक्षा सकषाय और सांपरायिक पूज्य शब्द हैं इसलिये उन्हींका पहले निपात किया गया है। अतः 'सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः' यही सूत्र सुसिद्ध है।

यहांपर प्रश्न होता है कि यदि सांपरायिक आस्रवका बहुत विवेचन है तो उसके भेद कौन कौनसे हैं इसप्रश्नका उत्तर श्रीआचार्य नीचेके सूत्र द्वारा देते हैं—

इंद्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थ—वीर्यांतराय और इंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा नामकर्म विशेषसे उत्पन्न स्पर्शादिको विषय करनेवाली पांच भावेन्द्रिय तथा पांच द्रव्येन्द्रिय इस प्रकार सामान्य रूपसे दोनों इंद्रियोंका ग्रहण होनेसे पांच इंद्रियां, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय (ये चारो ही कषाय अनंतानुबंधी अप-

उसके उन विषयोंमें रुचि रहनेसे तज्जन्य आस्रव होता रहता है। अथवा प्रमत्त परिणामी कोई जीव रूपादिक विषयोंको सेवन कर या न करै अर्थात् इंद्रियोंकी प्रवृत्ति करै या न करै, परंतु वह अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, हिंसादिकोंके कारणरूप आठ कषायरूप परिणामोंसे परिणत रहता है, वैसी अवस्थामें वह हिंसा झूठ आदि कार्योंको करै या न करै किंतु प्रमादस्वरूप अविरतभावोंसे निरंतर कर्मबंध करता रहता है। इसीप्रकार प्रत्याख्यानावरण और स्थूल संज्वलन क्रोध मान माया लोभ रूप कषायाष्टकसे परिणत होता हुआ वह हिंसादि कार्योंको नहीं करने पर भी, रागरूप परिणत होनेसे, विरताविरत और विरत—पांचवें और छठे गुणस्थानोंमें भी कर्मबंध करता रहता है। इसप्रकार प्रमत्त गुणस्थान तक कर्मोंका आस्रव इंद्रिय विषयोंके निमित्तसे भी होता रहता है और कषायदि परिणतिसे भी होता रहता है परंतु प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सातवें आदि गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव पंद्रह[1] प्रकारके प्रमादसे रहित होजाते हैं फिर भी वे कषाय और योगके निमित्तसे कर्म ग्रहण रूप आस्रव करते रहते हैं। अर्थात् यदि इंद्रियोंके ग्रहणसे ही कषाय और अव्रतोंका ग्रहण होजायगा तो जहां इंद्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं है वहां आस्रव कैसे माना जायगा ? पहले शंकाकारकी ओरसे यह बात कही गई है कि इंद्रियोंकी रूपादि विषयोंमें प्रवृत्ति होनेपर ही मन द्वारा विचार होता है पश्चात् आत्माकी कषाय अव्रत रूप क्रिया परिणति होती है इसीके उत्तरमें यह बात कही गई है कि जहां इंद्रियोंकी प्रवृत्ति है वहां तो कथंचित्[2] यह बात बन भी जायगी परंतु जहां इंद्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं है वहां इंद्रियोंके पीछे तो कषाय

१—चार प्रकार कषाय, चार प्रकार संज्ञायें, पांचकार इंद्रिय और निद्रा तथा प्रणय, ये पंद्रह प्रमादके भेद हैं। पंद्रह प्रमादके भेदोंमें कषाय सूक्ष्म संज्वलन कषायको छोड़कर बाकीकी ग्रहणकी जाती है।

२—जहां इंद्रियोंकी प्रवृत्ति है वहां भी सर्वत्र इंद्रियप्रवृत्तिपूर्वक ही कषाय अव्रत होते हों ऐसा नहीं है किंतु अनंतानुबंधि आदि कषायोंके उदय होनेसे विना इंद्रिय प्रवृत्ति रूप व्यापारके भी कषाय अव्रतरूप परिणाम होते हैं और उन्हींसे कर्मबंध होता रहता है कभी कभी इंद्रियप्रवृत्तिपूर्वक भी कर्मबन्ध होता है इसीलिये हमने कथंचित् पद दिया है।

कहे जाते हैं। यहांपर बहुव्रीहि समास है वह इसप्रकार है—पांच तथा चार तथा पांच तथा पच्चीस यह सब मिलकर उनचालीस हुए, यह–इतनी संख्या प्रमाण है संख्या जिनकी ऐसे जो इंद्रिय कषाय अव्रत क्रिया, ये पांच चार पांच और पच्चीस संख्यावाले कहे जाते हैं। इसप्रकार वहुव्रीहि समास करनेसे क्रमसे पांच भेद इंद्रियोंके, चार भेद कषायोंके, पांच भेद अव्रतोंके, और पच्चीस भेद क्रियाओंके होते हैं।

पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः ॥ ३ ॥

इस सूत्रमें "पूर्वस्य भेदाः" यह जो पूर्व शब्द है वह व्यवस्था वाचक है, वह पूर्व शब्द यह व्यवस्था करता है कि पहले सूत्रमें जो पहला आस्रव है उसीके ये भेद हैं। अर्थात् 'सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः' इस सूत्रमे आस्रवक दो भेद बताये गये हैं, एक सांपरायिक, दूसरा ईर्यापथ। इसमे पहला सांपरायिक आस्रव है उसीके ये उनचालीस भेद हैं।

भिद्यंत इति भेदाः ॥ ४ ॥

इसी सूत्रमें 'पूर्वस्य भेदाः' भेद शब्द भी आया है। उसका यह अर्थ है कि पहले सांपरायिक आस्रवके ये भेद हैं–प्रकार हैं। जो भेदा जाय वह भेद कहा जाता है। अर्थात् एक दूसरेसे जुदा समझा जाय। यहांपर जो उनचालीस भेद किये गये हैं वे सब एक सांपरायिक आस्रवके ही भेद हैं, परंतु वे सब परस्पर एक दूसरेसे जुदे हैं। जो इद्रियां हैं वे कषाय नहीं हैं, जो कषाय हैं वे अव्रत नहीं हैं, जो अव्रत हैं वे कषाय इंद्रिय और क्रियारूप नहीं हैं। इसप्रकार सभी भेद परस्पर एक दूसरेसे विशेषता रखते हैं इसीलिये तो उनचालीस भेद कहे गये। यदि एकसे दूसरा भेद कुछ विशेषता नहीं रखता होता तो फिर सब एकरूप ही कहलाते परंतु सबोंका एकरूप नहीं है किंतु उनचालीस रूप हैं इसीका नाम भेद है।

यथासंख्यमभिसंबंधो व्याख्यानतः ॥ ५ ॥

माना जायगा तो जहां पर कषाय उदित नहीं है किंतु सत्तामें बैठी हुई है वहांपर भी सांपरायिक आस्रवका प्रसंग आवैगा अर्थात् वहांपर ईर्यापथ आस्रव होता है परंतु सत्तामें बैठी हुई कषायोंके कारण अब सांपरायिक आस्रवका प्रसंग आवेगा। जैसे उपशांत कषायरूप ग्यारहवें गुणस्थानमें कषायका सर्वथा उदय नहीं है, केवल सत्तामें वह बैठी हुई है, ऐसी अवस्थामें चक्षुरादि इंद्रियोंसे रूपादिका गृहण होनेसे राग द्वेष हिंसा आदिके होनेका भी प्रसंग होगा। दूसरी बात यह है कि उपशांत कषाय गुणस्थानमें चक्षुरादि द्वारा रूपादि गृहण होने पर भी वीतरागता बनी रहती है यदि इंद्रियादिकी प्रवृत्ति रागद्वेषपूर्वक ही मानी जाय तो ग्यारहवें गुणस्थानमें चक्षुरादि इंद्रियों द्वारा रूपादिका गृहण मात्र जो होता है वह राग द्वेषपूर्वक ही फिर होगा, वैसी अवस्थामें वीतरागताका उस गुणस्थानमें अभाव ही समझा जायगा। इसलिये यह शंका कि कषाय मात्रका ही ग्रहण करना चाहिये उसीसे कार्य चल जायगा; अयुक्त है—ठीक नहीं है किंतु कषाय. इंद्रिय, अव्रत और क्रिया इन सबोंका ग्रहण आवश्यक है।

अव्रतवचनमेवेति चेन्न तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात ॥ १८ ॥

फिर शंका होती है कि केवल अवृतका ही पाठ सूत्रमें रखना युक्तियुक्त है, अवृतके कहनेसे उसीमें इंद्रिय, कषाय और क्रियारूप परिणामोंका अंतर्भाव हो जाता है अर्थात् अवृतमें ही इंद्रियादिक आजाते हैं इसलिये इन इंद्रियादिकोंका स्वतंत्र पाठ नहीं रखके केवल अवृतका पाठ ही सूत्रमें रखना उचित है। समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि इंद्रियादिक अवृतकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत हैं अर्थात् विना इंद्रियादिके अवृतकी प्रवृत्ति नहीं हो सक्ती इसीलिये अवृतसे भिन्न इंद्रियादिकोंका पाठ रखना आवश्यक है। अवृत असंयमरूप आत्माकी अवस्थाका नाम है, परंतु वह आत्माका वैभाविक परिणाम है, उसकी प्रवृत्ति, विना इंद्रियादिकोंके हो नहीं सक्ती इसलिये इंद्रियादिक अव्रतकी प्रवृत्तिमें निमित्त कारण हैं अतएव अवृतसे भिन्न इंद्रियादिका गृहण न्यायसंगत है। इसप्रकार समस्त शंकाओंका

तथा पर्यायदृष्टिसे दोनोंमें भेद है। जब पर्यायका विचार किया जाता है तब भिन्न भिन्न कर्मोदय और क्षयोपशमसे होनेवाली आत्माकी अवस्था भिन्न भिन्न नामोंसे कही जाती है। जिन जीवोंके केवल स्पर्शनेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है बाकी रसना घ्राण आदि इंद्रियावरण कर्मोंके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय है उन जीवोंके केवल एक स्पर्शन भावेंद्रिय प्रगट हो जाती है बाकी इंद्रियां नहीं प्रगट होतीं। जिनके स्पर्शन और रसना दो इंद्रियोंका क्षयोपशम हो जाता है उन जीवोंके दो इंद्रियां प्रगट होजाती हैं, बाकी नहीं होतीं। जिनके जितनी इंद्रियां प्रगट होती हैं वे जीव उन्हीं इंद्रियोंवाले कहे जाते हैं जैसे एकेंद्रिय, द्वींद्रिय त्रींद्रिय आदि। इसप्रकार कर्मोंके उदय और क्षयोपशमके भेदसे आत्माकी भिन्न भिन्न अवस्था होजाती है और पर्याय दृष्टिसे वे सब अवस्थायें जुदी जुदी कही जाती हैं इसीलिये पर्याय-दृष्टिसे आत्मा और इंद्रियोंमें भेद है, यदि पर्यायदृष्टिसे भी आत्मा और इंद्रियोंमें भेद नहीं माना जाय तो एकेंद्रिय द्वींद्रिय और त्रींद्रिय आदि जीवोंमें भी कोई भेद नहीं रहेगा परंतु उन सबोंमें बहुत बडा भेद देखा जाता है, एकेंद्रिय जीव रसका स्वाद नहीं लेसकता, द्वींद्रिय जीव रसका स्वाद लेसक्ता है। द्वींद्रिय जीव सुगंध दुर्गंधका ज्ञान नहीं कर सकता परंतु त्रींद्रिय जीव उनका ज्ञान कर सकता है, इस-लिये इन उदय और क्षयोपशमके भेदसे होनेवाली आत्माकी पर्यायोंमें आत्मासे किसीप्रकार भेद भी है। एक बात यह भी है कि भावेंद्रियकी निवृत्ति होनेपर केवल द्रव्येंद्रिय रहजाती है इसलिये भी अवस्था भेदसे आत्मा और इंद्रियोंमें भेद है अर्थात् जिससमय आत्मामें समस्त ज्ञानावरण कर्मका क्षय होजाता है उससमय उसके क्षयोपशम ज्ञानका अभाव होनेसे इंद्रियज्ञान तो रहता नहीं है किंतु सर्व पदार्थोंको युगपत् प्रत्यक्ष करानेवाला अतींद्रिय ज्ञान—केवलज्ञान प्रगट होजाता है, केवलज्ञान अवस्थामें द्रव्येंद्रिय रहजाती हैं उनमें विषयग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं है वे यों ही आकृतिमात्रसे रहती हैं इसलिये भी पर्यायदृष्टिसे आत्माका और इंद्रियोंका भेद है। क्षयोपशम अवस्थामें आत्मामें भावेंद्रिय रूप पर्याय प्रगट

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशार्त्तीवनात्तीव्रः ॥ १ ॥

बाह्य अभ्यंतर कारणोंके प्रगट होनेसे उदयमें आया हुआ जो उग्र परिणाम है वह स्थूल होनेसे तीव्र कहलाता है। तीव्र शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—तीवनात् स्थूलभावात् तीव्रः—अर्थात् जो स्थूल स्वरूप धारण करै वह तीव्र कहलाता है। भावार्थ यह कि जिस समय अंतरंगमें कर्मोंका प्रबल उदय हो, बाह्यमें सामग्री भी द्रव्य क्षेत्र कालभावरूप उसीके सहायक मिलजाय उस समय बढ़े हुए उग्र क्रोध मान आदि कषायोंके प्रगट होनेसे आत्मामें अत्यंत उग्र—स्थूल वैभाविक भाव उत्पन्न हो जाता है वही अति कठोर भाव तीव्रभाव कहा जाता है।

तद्विपरीतो मंदः ॥ २ ॥

बाह्य अभ्यंतर कारणोंके नहीं प्रगट होनेसे उत्पन्न हुआ जो अत्यंत मंद रूप परिणाम है वह मंद कहलाता है। मंदनात् मंदः, अति सूक्ष्म होनेसे मंद कहलाता है।

ज्ञातमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्ते ज्ञातं ॥ ३ ॥

मैं इस जीवको मारूं ऐसा परिणाम नहीं भी होने पर किसी प्रकार अपने द्वारा जीवके मारे जाने पर यह ज्ञान होजाना कि यह जीव मेरे द्वारा मारा गया है यह भी ज्ञातभाव कहलाता है अर्थात् जीवको मारना तो नहीं चाहता परंतु उसके मारे जाने पर यह अवश्य जानता है कि यह जीव मेरे द्वारा मारा गया है, इस प्रकारके ज्ञानको ज्ञातभाव कहते हैं। दूसरी रीतिसे यह भी ज्ञातभाव कहलाता है कि यह जीव मारने योग्य है ऐसा जानकर उसके मारनेमें प्रवृत्ति करना। जानबूझकर जीवको मारनेकी चेष्टा करना यह भी ज्ञातभाव है।

मदात्प्रमादाद्वानवबुध्यप्रवृत्तिरज्ञातं ॥ ४ ॥

मदिरा आदि मादक द्रव्योंका पालन करने आदिसे उत्पन्न इंद्रियोंकी शिथिलता एवं मूर्छा पैदा

क्रोधके आवेगसे दूसरे जीवोंपर दोष लगाना उनकी निंदा आदि करना प्रादोषिकी क्रिया है।

यहांपर शंका होती है कि प्रादोषिकी क्रिया क्रोधके आवेगसे उत्पन्न होती है तो वह क्रोधस्वभाव ही ठहरी इसलिये क्रोधके ग्रहणसे ही उसका ग्रहण सिद्ध होजाता है फिर उसका ग्रहण करना व्यर्थ है, फिर ग्रहण करनेसे पौनरुक्त्य दोष आता है। जो बात एकवार कह दी जाय फिर बार बार उसीका कहना पुनरुक्त दोष कहलाता है। जब क्रोधमें प्रादोषिकी क्रिया गर्भित हो चुकी तो कषायोंमें आचुकी फिर क्रियायोंसें अलग उसका गिनना पुनरुक्त दोष है। समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रादोषिकी क्रिया स्वयं क्रोधस्वरूप नहीं है किंतु उसमें क्रोध कारण पडा हुआ है। क्रोधके निमित्तसे दूसरेकी निंदा गर्हा दोष लगाना आदि दोष होते हैं इसलिये क्रोधकषाय उस प्रादोषिकी क्रियामें कारणभूत है प्रादोषिकी क्रिया उसका कार्य है इसलिये कार्यकारणका भेद होनेसे पौनरुक्त्य दोष नहीं आता है। इसके सिवा निमित्त नैमित्तिक भेद भी है अर्थात् प्रादोषिकी क्रिया किसी निमित्तसे प्रवर्तित होती है विना विशेष निमित्तके परदोषका उद्घाटन आदिमें प्रवृत्ति नहीं की जाती है परंतु क्रोध तो विना किसी निमित्तके भी स्वभावसे ही उदित होता रहता है। जिस समय किसीकी प्रिय स्त्री और धन आदिका कोई दुष्ट हरण कर ले जाय अथवा अन्य कोई अपराध कर डाले तभी उस स्त्री और धनवालेके भाव दुष्टकी निंदा आदिमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये प्रादोषिकी क्रिया तो निमित्तपूर्वक ही होती है परंतु क्रोध परिणति तो विना किसी निमित्तके भी दुष्ट स्वभावसे ही क्रोधी पिशुन—चुगुलखोर पुरुषोंके सदैव होती रहती है जैसा कि ग्रंथांतरमें कहा गया है—

"अणिमित्तमेव कोई कम्मास्सवसंगदो कसायाणं।
उदयं उवेदि जीवो चंद इव महग्गहं पव्वे ॥"

तथा—"मृगलोहिततीव्रलोलजिव्हैर्हरिशार्दूलवृकैर्निसर्गहिंसैः।

जुड़ता है। जैसे—तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव। इतना विशेष है कि जिन शब्दोंके अंतमें भाव शब्द आया है उन्हीं शब्दोंमें प्रत्येकके साथ उसका संबंध समझा जाता है, इसीलिये अधिकरण और वीर्यके साथ उसका संबंध नहीं है, उसका भी कारण यह है कि अधिकरण और वीर्य ये दोनों भावरूप नहीं है, अधिकरण तो द्रव्यरूप पडता है और वीर्य द्रव्यकी सामान्य शक्ति है इसीलिये भावशब्द अज्ञातशब्दके अंत तक ही रक्खा गया है।

युगपदसंभवात् भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेन्न बुद्धिविशेषव्यापारात् ॥ ८ ॥

यहांपर यह शंका होती है कि भाव, द्रव्यका उपादेय सदा द्रव्यके साथ रहनेवाला सामान्यरूप एक परिणाम है, वह एकरूप है इसलिये सदा आत्मद्रव्यको द्योतित करता है—जनाता है। तथा तीव्र मंद आदि भाव आत्माकी अवस्था विशेष है वह आत्माकी व्यतिरेकी—भेदरूप अवस्था है, इसलिये वे विशेषण-स्वरूप हैं अर्थात् भाव आत्माके अस्तित्व—सतस्वरूप सामान्य परिणामका नाम है, वह सदा एकरूप है। सत्तारूप परिणामसे आत्मद्रव्यका अखंडरूपसे त्रिकालवर्ती एकपनेका बोध होता है। उसके प्रति-कूल तीव्र आदि भाव आत्माकी विशेष विशेष अवस्थायें हैं इसलिये वे अवस्थायें विशेषणस्वरूप हैं। ऐसी अवस्थामें भावशब्दसे सत्तारूप आत्मा सामान्यका ग्रहण होता है और तीव्रादि द्वारा उसकी अवस्था विशेषका ग्रहण होता है, दोनोंका एकसमयमें एक साथ गृहण असिद्ध है। जिसप्रकार गोत्व कहनेसे समस्त गौओंमें रहनेवाले सामान्यधर्मका बोध होता है वह [1]एकरूप है अर्थात् सामान्य गौपनेमें कुछ

[1]—गोत्वधर्म एक स्वतंत्र पदार्थ है वह सदा नित्य रहता है। वह समस्त गौओंपर व्यापकरूपसे रहता है ऐसा नैयायिक वैशेषिकोंका सिद्धांत है परंतु उनका ऐसा सिद्धांत प्रमाण और युक्तियोंसे बाधित है जिसका विस्तृत विवेचन पीछे कई स्थानोंमें किया जाचुका है। यहांपर जैनसिद्धांतानुसार गोत्वधर्म गौ व्यक्तिसे भिन्न स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किंतु सास्ना, पूंछ सींग पेट पीठ आदि रूप जो गौओंका—भैंस आदिसे भिन्न आकार है उसी रूप गोत्वधर्म है। उस सामान्य आकारसे समस्त गौओंका बोध होजाता है।

यहांपर शंका होती है कि इंद्रियोंके ग्रहणसे ही दर्शनक्रिया और स्पर्शनक्रियाका ग्रहण अपने आप सिद्ध है फिर दर्शन स्पर्शनाक्रियायोंका ग्रहण व्यर्थ है अर्थात् देखनेरूप क्रिया और छूनेरूप क्रिया इंद्रियोंसे होती है, इंद्रियोंका ग्रहण सांपरायिक आस्रवके भेदोंमें हो ही चुका है, इंद्रियोंसे भिन्न दर्शन स्पर्शन कोई वस्तु नहीं है फिर इन दोनों क्रियायोंका ग्रहण पच्चीस क्रियाओंमें जो स्वतंत्र किया है वह व्यर्थ है ?

इस शंकाका समाधान श्री आचार्य देते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि इंद्रिय ग्रहण जो सांपरायिक आस्रवमें किया गया है उसका प्रयोजन तो इंद्रियजन्य ज्ञानसे है परंतु यहांपर इंद्रियपूर्वक आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्द हलन, चलन रूप व्यापारसे प्रयोजन है। अर्थात् इंद्रिय ग्रहणमें इंद्रियजनित ज्ञान प्रवृत्तिरूप व्यापार है और यहांपर दर्शन स्पर्शन क्रियामें इंद्रियपूर्वक आत्मपरिस्पंदरूप व्यापार है यही इनमें भेद है इसीलिये इंद्रियोंसे भिन्न दर्शन स्पर्शन क्रियायोंका ग्रहण करना ठीक है। अपूर्व अपूर्व आधारोंका उत्पन्न करना अर्थात् विषयसंबंधी नवीन नवीन आधारोंकी रचना करना प्रात्यायिकी क्रिया कही जाती है। जिस स्थानमें स्त्री पुरुष पशु रहते हैं उस स्थानमें मल मूत्रका क्षेपण करना अर्थात् मनुष्य और पशुओंके रहनेके स्थानोंमें शौचादि बाधाओंकी निवृत्ति करना समंतानुपात क्रिया है। विना झाडी हुई और विना अच्छी तरह देखी हुई पृथ्वीमें झटपट बैठजाना अथवा अन्य वस्तुका रखदेना वह अनाभोगक्रिया कही जाती है। अर्थात् विना जीवोंकी बाधाका विचार किये विना सोधी हुई और देखी हुई पृथ्वीमें किसी भी वस्तुका और शरीरादिका रख देना अनाभोगक्रिया है। ये पांच क्रियाएं हुई।

स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रियाः पंच ॥ १० ॥

जो दूसरे द्वारा करने योग्य क्रिया है उसे स्वयं अपने आप करना स्वहस्त क्रिया कही जाती है। जिन प्रवृत्तियोंसे पापका ग्रहण हो—पाप लगता हो ऐसी विशेष प्रवृत्तियोंको अच्छा समझना निसर्ग क्रिया कही जाती है अर्थात् पाप वंध करानेवाली प्रवृत्तियोंमें रुचि रखना निसर्गक्रिया है। अथवा आलस्यसे

दूसरा जो परिस्पंद—क्रिया रूप भाव है वह उत्पाद एवं नाश स्वरूप है इसीलिये आदि अंतवाला भी है उनमें जो अपरिस्पंदरूप भाव है वह तो सामान्यमात्र द्रव्यसत्ताका द्योतक भाव है, वह तीव्रमंद आदि भावोंके भेदका विधान नहीं करासक्ता है तथा दूसरा जो काय वचन मनकी क्रिया रूप लक्षण-वाला परिस्पंदात्मक भाव है वह काय वचन मनके योग भावोंका और तीव्र मंद आदि भावोंका भेद विधा-यक है। ऐसा भेदविधायक भाव यहां क्यों लिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि यहां काय वचन मनके अवलंबनसे होनेवाले आत्माके प्रदेशोंके परिस्पंदरूप योगोंका अधिकार है। इसलिये इस प्रकरणमें सत्तास्वरूप भावका ग्रहण नही है किंतु बुद्धिविषयक व्यापारकी प्रधानता होनेसे परिस्पंदात्मक भाव शब्दका ग्रहण है अथवा जिसप्रकार अपरिस्पंदात्मक भावका आत्मासे अभेद है उसीप्रकार आत्मासे आत्माके अवस्था विशेषोंका अभेद है इसलिये भाव शब्दसे तीव्रादि आत्मीय भावोंकी सिद्धि होजाती है और भी यह बात है—

भावभूयस्त्वात् ॥ १० ॥

संसारी जीवके कषायाध्यवसायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं तथा प्रत्येक कषायाध्यवसाय स्थानमें असंख्यात लोकप्रमाण सूक्ष्मभाव हैं इसलिये भावके अनेक भेद हैं। यहांपर यह प्रश्न होता है कि जब प्रत्येक कषायाध्यवसाय स्थानमें बहुत भाव हैं तो एक कालमें एक भावके साथ तीव्र मंद आदिका संबंध बन नहीं सक्ता इसलिये अयुक्त है। इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि प्रश्नकर्त्ताकी बुद्धिमें ही भावोंमें एकपना है अर्थात् एक समयमें एक भाव होता है यह बुद्धिमें स्थूलदृष्टिसे विषय बोध होता है वास्तवमें वह एक भाव नहीं है किंतु एक समयमें भी अनेक भाव होते हैं। उसीका और भी स्पष्टी-करण करते हैं कि क्षयोपशमके भेदसे—बुद्धिविषयक व्यापार क्रियाके भेदसे प्रत्येक भावमें भी बहुतपना है इसलिये भावका तीव्रादिके साथ युगपत् संबंधमें कोई बाधा नहीं है।

सिद्ध कर देना इसप्रकार चारित्रके विषयमें मायाचार करना चारित्रसंबंधी मायाक्रियाहै। दूसरे पुरुषको मिथ्यात्व क्रिया करता हुआ देखकर तथा मिथ्यात्ववर्धक कारणोंमें दत्तचित्त देखकर उसे प्रशंसा सहायता आदि बातों द्वारा उसी क्रियामें दृढ करदेना, मुखसे कहना कि जो तू क्रिया कर रहा है वह बहुत अच्छी कर रहा है। इसप्रकार मिथ्यात्व मार्गमें लगे हुयको उसी मार्गमें दृढ बनाना मिथ्यादर्शनक्रिया कहलाती है। संयमके घात करनेवाले—अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण आदि कर्मोंके उदयसे त्याग रूप प्रवृत्तिका नहीं होना अथवा अव्रतरूप प्रवृत्ति रखना, अप्रत्याख्यान क्रिया है। ये पांच क्रियाएं हुईं।

इसप्रकार ये पच्चीस क्रियायें कही गईं हैं, इन क्रियाओंमें कुछ क्रियायें शुभरूप हैं कुछ अशुभरूप हैं। दोनोंप्रकारकी क्रियाओंसे यह संसारी जीव शुभ अशुभरूप सांपरायिक आस्रव करता रहता है। अर्थात् इन क्रियाओंसे आत्मामें शुभ अशुभ कर्मोंकी स्थिति अनुभाग बंध पडते रहते हैं और यह संसारी आत्मा उनका सुख दुख रूप फल भोगता रहता है।

इंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानतिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपंचमात्रप्रसंग इति चेन्नाऽनेकांतात ॥ १२ ॥

यहांपर शंका होती है कि इंद्रिय कषाय और अव्रत ये तीनों ही क्रिया स्वरूप ही हैं, इसलिये उनका ग्रहण क्रियाओंके ग्रहणसे ही होजाता है फिर उन इंद्रियादिकोंका भिन्नरूपसे ग्रहण करना व्यर्थ है अर्थात् इंद्रिय कषाय, अव्रत ये तीनों प्रवृत्ति रूप व्यापार हैं और क्रियायें जो कही गई हैं वे भी प्रवृत्तिरूप व्यापार हैं इसलिये इंद्रियादि व्यापार तथा क्रियाव्यापार दोनों एकही पडते हैं ऐसी अवस्थामें क्रियाओंके कथनमें ही इंद्रियादिकोंका कथन गर्भित हो जाता है फिर "इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः" इस सूत्रमें इंद्रिय, कषाय, अव्रतका पाठ जुदा रक्खा गया है वह व्यर्थ है। यदि व्यर्थ बातका भी ग्रहण किया जायगा तो केवल प्रपंचमात्र है अर्थात् जिस बातकी सिद्धि दूसरे प्रकारसे हो चुकी हो फिर उसीकी सिद्धि

सामर्थ्य-वीर्यशक्ति उसका विशेष विकाश द्योतन करनेकेलिये जिसप्रकार वीर्यका स्वतंत्र गृहण सिद्ध है उसीप्रकार तीव्रादि भावोंका भी स्वंतत्र गृहण सिद्ध है। उन्हीं सबोंके भेदसे आस्रवके फलमें भेद होता है।

तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानंत्यासिद्धिः ॥ १३ ॥

कार्यमें भेद कारणके भेदसे ही आता है। यदि कारण भिन्न भिन्न नहीं हों तो कार्य भी भिन्न भिन्न नहीं हो सक्ते। यहांपर अनुभागके भेदोंसे अर्थात् कर्मोंके रसोदयके भेदसे आस्रवके अनंतभेद बतलाये गये हैं। उसी आस्रवका कार्य आत्माके शरीर आदिकी रचना है वे भी अनंत भेदरूप हैं। अनंत कार्योंके जाननेसे उनके कारणोंमें भी अनंतपनेका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् जितने रंग वाले सूत होंगे उतने प्रकार ही कपडेमें भेद हो जांयगे इसलिये भिन्न भिन्न कपडोंको देखकर उनके कारणभूत तंतुओंकी भी भिन्नता सिद्ध होजाती है उसी प्रकार शरीरादि नाना कार्योंमें अनेक भेद देखनेसे उनके कारणरूप आस्रवोंमें भेद सिद्ध होता है और आस्रवोंके भेदसे उनके कारणभूत आत्माके तीव्र मंदादि भावोंमें भेद सिद्ध होता है तथा उनके भेदसे आत्माकी भिन्न भिन्न विकाश वीर्यरूप सामर्थ्यका भेद जाना जाता है इसप्रकार कार्यमें भेद देखनेसे कारणके भेदका अनुमान सहज करलिया जाता है।

यहांपर यह प्रश्न होता है कि अधिकरणका नाम तो लियागया है परंतु उसका स्वरूप नहीं कहा गया है सो कहना चाहिये? इसके उत्तरमें अधिकरणके भेदोंका प्रतिपादन करते हुये श्री आचार्य अधिकरणका स्वरूप वतलानेके लिए नीचेका सूत्र कहते हैं—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ—आस्रवके अधिकरण जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य, इसप्रकार दो भेद स्वरूप हैं, अर्थात् एक जीवाधिकरण दूसरा अजीवाधिकरण ऐसे अधिकरण दो प्रकार है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो आत्मामें कर्मास्रव होता है वह दो प्रकारके निमित्तों द्वारा होता है, एक जीवके निमित्तसे दूसरा अजीवके निमित्तसे।

अथवा ऐसा एकांत नहीं हैं कि इंद्रिय कषाय अव्रत ये तीनों क्रियास्वरूप ही होते हैं, क्योंकि आगमका ऐसा वचन है कि द्रव्यार्थिकनयसे इंद्रियादिक क्रिया स्वरूप नहीं हैं परंतु पर्यायार्थिकनयसे वे क्रियास्वरूप हैं और जिससमय अनादि पारिणामिक अखंड अभिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य—द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा गौण करदी जाती है तथा कर्मोदयसे प्राप्त अवस्था विशेषकी दृष्टि—पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता कर दी जाती है उससमय इंद्रिय कषाय अव्रत क्रियास्वभावात्मक होनेसे क्रियारूप कहलाते हैं। तथा जिससमय पर्यायार्थिक नय गौण करदी जाती है और द्रव्यार्थिक नय मुख्य कर दी जाती है उससमय वे इंद्रियादिक क्रियास्वरूप नहीं कहे जाते हैं। इसप्रकार इंद्रियादिक क्रियाओंसे कथंचित् भिन्न हैं कथंचित् अभिन्न हैं ऐसा अनेकांत है, क्रियाओंसे उन्हें सर्वथा अभिन्न कहना युक्तिसंगत नहीं है। शंका—

शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वात् इंद्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वात् ॥ १३ ॥

शुभ अशुभ कर्मोंके आस्रवरूप परिणमनके अभिमुख होनेसे इंद्रिय कषाय अव्रत द्रव्यास्रव हैं तथा कर्मोंका ग्रहण होना भावास्रव है, वह पच्चीस क्रियाओंसे होता है। इसीबातकेलिये इंद्रिय कषाय अव्रतका स्वतंत्र निर्देश किया गया है। अर्थात् यहांपर यह शंका उठाई गई है कि इंद्रिय कषाय अव्रत ये तीनोंका स्वतंत्र कथन इसलिये किया गया है कि शुभ अशुभ—पुण्य पापरूप कर्मोंके आस्रवमें वे कारण स्वरूप हैं अतएव इंद्रिय कषाय अव्रत द्रव्यास्रवरूप हैं और कर्मोंका आना यह भावास्रव रूप है वह पच्चीस क्रियायोंसे होता है। इसप्रकार इंद्रियादिकोंको द्रव्यास्रवपना है और भावास्रव कर्मग्रहण रूप इनसे जुदा है इस

१—यहांपर कोई यह आशंका करे कि यद्यपि नाम स्थापना द्रव्यनिक्षेपसे तो इंद्रियादिक क्रियास्वरूप नहीं ठहरते परंतु भावनिक्षेपसे तो क्रियात्मक ही है। ऐसी अवस्थामें क्रियासे भिन्न उनका ग्रहण क्यों नहीं व्यर्थ पड़ेगा? इस आशंकाके परिहार करनेके लिये ही श्रीआचार्यने 'अथवा' इस दूसरी विवक्षासे उत्तर दिया है।

अधिकरण कहा जाता है, इसलिये पर्यायोंके बहुत होनेसे "जीवाजीवाः" ऐसा जो सूत्रमें बहुवचन दिया गया है वही न्याय प्राप्त है।

जीवाजीवाधिकरणमित्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न वृत्तिद्वयेप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात् ॥ ४ ॥

यहांपर शंका होती है कि 'अधिकरणं जीवाजीवाः' ऐसा सूत्र नहीं बनाकर 'जीवाजीवाधिकरणं' ऐसा बनाना उचित था क्योंकि पहले सूत्रकी अपेक्षा दूसरे सूत्रमें ही लाघव है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'जीवाजीवाधिकरणं' ऐसा सूत्र यदि बनाया जायगा तो उसके दोप्रकारसे समास होसकेंगे, उन दोनों समासोंके करनेपर भी इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं होसकेगी दो प्रकारके समास इसप्रकार होंगे—'जीवाजीवौ एवाधिकरणं जीवाजीवयोर्वाधिकरणं' जीव अजीव ही जो अधिकरण अथवा जीव अजीवका अधिकरण। यहांपर पहला जो समास है वह समानाधिकरण लक्षणवाला है वह समास यहां बन नहीं सकता क्योंकि वैसा समास करनेसे जीवत्वअजीवत्व विशेषण विशिष्ट एक अधिकरण मात्रकी प्रतीति होगी और वैसी प्रतीति होनेसे आस्रव विशेषका परिज्ञान नहीं होनेसे इष्ट अर्थकी सिद्धि भी नहीं होगी। अर्थात् जीव अजीव जो अधिकरण, ऐसा यदि समास किया जायगा तो जीवत्व अजीवत्व दोनों धर्मोंकी एक मिली हुई अवस्थारूप अधिकरण अर्थ होगा परंतु अभीष्ट अर्थ भिन्न भिन्न जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण रूप हैं, यह अर्थ ऊपर कहे हुये समाससे सिद्ध नही होता और भिन्न भिन्न अधिकरणोंकी सिद्धि हुये विना दो भिन्न भिन्न आस्रवविशेषोंकी सिद्धि नहीं होती है परंतु वह इष्ट है इसलिये पहला समास करना ठीक नहीं है।

दूसरा भिन्नाधिकरण रूप समास करना भी ठीक नहीं है अर्थात् 'जीवाजीवयोर्वाधिकरणं जीवाजीवाधिकरणं' जीव अजीवका जो अधिकरण सो जीवाजीवाधिकरण ऐसा समास भी यहां नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा समास करनेसे जीव अजीव मात्रकी प्रतीति होगी किंतु जीवरूप अधिकरण

उसे बुलाओ ऐसा द्वितीया विभक्तिका अर्थ है। इसप्रकारका विभक्तिभेद अर्थभेदसे हो जाता है, जहां जो अर्थ होता है वहां वैसे ही शब्दका प्रयोग किया जाता है इसलिये जीव अजीव ये दोनों किसके अधिकरण हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें आस्रवके अधिकरण हैं ऐसा संबंध अर्थभेदसे कर लिया जाता है अतः फिर इस सूत्रमें आस्रव पद देनेकी आवश्यकता नहीं रहती है उसका प्रकरण तो पहलेसे आही रहा है।

अब अधिकरणके भेद बतलाते हुए कहते हैं कि वह जीव अजीवरूप दोनों प्रकारका अधिकरण दश भेदवाला है, वे दश भेद इस प्रकार हैं—१ विष, २ लवण, ३ क्षार, ४ मधुर, ५ आम्ल, ६ स्नेह, ७ अग्नि, ८ दुःप्रयुक्तकाययोग, ९ दुःप्रयुक्तवचनयोग, १० दुःप्रयुक्तमनोयोग। इनका खुलासा इस प्रकार है—विष, लवण, खारी पदार्थ, मीठा, कषैला, चिकना, अग्नि इनके निमित्तसे जो आत्मामें कर्मग्रहण होता है वह सव अजीवाधिकारण आस्रव है और मनोयोग वचनयोग काययोग इन खोटे योगोंसे कर्मास्रव होता है वह जीवाधिकरण आस्रव है, अर्थात् आस्रवमें कहीं अजीव और कहीं जीव निमित्त कारण पडते हैं।

फिर प्रश्न होता है कि आस्रवके क्या इतने ही भेद हैं अथवा और भी कुछ भेद हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आर भी हैं, फिर प्रश्न कर्त्ता कहता है कि यदि और भी आस्रवके भेद हैं तो पहले आदिका जो जीवाधिकरण आस्रव है उसीके भेद कहिये इसके उत्तरमें आचार्य सूत्र कहते हैं।

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

अर्थ—संरंभ समारंभ और आरंभ, तीन भेद तो ये, तथा मनोयोग, वचनयोग, काययोग तीन भेद ये, तथा करना, कराना, अनुमोदना करना तीन भेद ये, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार भेद कषायके, इन भिन्न भिन्न विशेषोंके द्वारा क्रमसे जीवाधिकरण आस्रवके एकसौ आठ भेद हो जाते हैं। अर्थात् संरंभ समारंभ आरंभ इन तीनोंको मन वचन काय इन तीनों योगोंसे परस्पर गुणा करने पर

अव्रतरूप परिणाम होंगे नहीं, फिर वहां केवल इंद्रियोंके ग्रहणसे कषाय अव्रतोंका कैसे ग्रहण होगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा। क्योंकि सातवें आदि गुणस्थानोंमें इंद्रियप्रवृत्ति सर्वथा नहीं है। केवल कषाय और योगोंसे कर्मास्रव होता है। दूसरी बात यह भी है कि एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय एवं असंज्ञिपंचेंद्रिय जीवोंमें मनका अभाव होनेसे इंद्रियप्रवृत्तिपूर्वक विचार तो हो नहीं सक्ता, परंतु क्रोधादि हिंसारूप परिणामोंसे उनके भी कर्म ग्रहण तो होता है। शंकाकारका कहना था कि इंद्रियोंकी प्रवृत्तिके पीछे विचार होता है तत्पश्चात् ही कषाय अव्रत रूप क्रिया परिणति होती है। परंतु एकेंद्रियादि जीवोंके तो मनका अभाव होनेसे विचारकेलिये अवकाश ही नहीं है वैसी अवस्थामें उनके भी आस्रव नहीं होगा, परंतु आस्रव तो रागरूप परिणति होनेसे उनके भी होता ही है इसलिये केवल इंद्रियोंके ग्रहणसे कषाय अव्रतोंका ग्रहण हो जायगा, स्वतंत्र कषाय अव्रतोंका ग्रहण नहीं करना चाहिये ऐसा शंकाकारका कहना प्रमाणबाधित है किंतु सूत्रमें जो इंद्रिय कषाय अव्रत तीनोंका ग्रहण किया गया है वही प्रमाणसिद्ध है।

कषायाणां सांपरायिकभावेपि पर्याप्तत्वात् अग्रहणमिति चेन्न सन्मात्रेपि तत्प्रसंगात् ॥ १७ ॥

यहांपर शंका होती है कि जो जीव रागी द्वेषी है वही चक्षुरादि इंद्रियों द्वारा रूपादिकोंके आधीन होता हुआ कर्मग्रहण करता है। अथवा रागी द्वेषी होता हुआ ही जीवोंको मारता है। अथवा रागी द्वेषी होता हुआ ही झूठ बोलना चोरी करना आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है इसलिये केवल कषायोंका ग्रहण करनेसे ही सांपरायिक आस्रव पूर्ण रूपसे हो जायगा, उसके लिये कषायोंसे भिन्न इंद्रिय अव्रत और पचीस क्रियाओंका ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि बिना रागद्वेषके न तो इंद्रियप्रवृत्ति ही हो सक्ती है और न अव्रत एवं क्रियारूप व्यापार ही हो सक्ता है इसलिये केवल कषायका ग्रहण करना चाहिये?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि कषायके ग्रहणसे ही सांपरायिक आस्रव

अर्थ—प्रमादसहित जीवका जो प्रणोंके घात करनेमें प्रयत्नविशेष है वह संरंभ कहा जाता है अर्थात् प्रमादी जीव जो हिंसादिक पापोंमें उद्यमरूप परिणाम करते हैं उस प्रकारके उनके भाव संरंभ कहे जाते हैं।

साधनसमभ्यासीकरणं समारंभः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो क्रिया अर्थात् कार्य सिद्ध करना है उसके साधनोंका अच्छी तरह अभ्यास करना एवं उन्हें इकट्ठा करना समारंभ कहा जाता है अर्थात् जिन कारणोंसे हिंसादिक पाप होते हैं उन कारणोंका भले प्रकार अभ्यास करना और उन कारणोंका संग्रह करलेना समारंभ कहाजाता है।

प्रक्रमः आरंभः ॥ ४ ॥

अर्थ—यहांपर प्रक्रममें जो प्र शब्द है उसका अर्थ आदि कर्ममें प्रवृत्ति होना है इसलिये पहला जो क्रम है वह प्रक्रम कहाजाता है। उसीका नाम आरंभ है। आरंभमें आङ् उपसर्ग है उसका अर्थ आदि कर्ममें प्रवृत्ति होना है। अर्थात् कार्यका प्रारंभ करदेना आरंभ अथवा प्रक्रम कहलाता है। भावार्थ—हिंसादिक पापोंमें प्रवृत्ति करनेकेलिये जो उद्यमरूप अथवा प्रयत्नशील जीवका भाव होता है वह संरंभ है उन हिंसादिक पापोंके साधनोंको जुटा लेना अथवा उनका अभ्यास करना समारंभ है और उन हिंसादिक पापोंमें प्रवृत्तिका आरंभ करदेना आरंभ है।

तत्त्वकथनात् सर्वे भावसाधनाः ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्मके कहनेकी विवक्षासे यहांपर तीनोंका उल्लेख भावसाधन रूपसे किया गया है जैसे 'संरंभणं संरंभः' अर्थात् हिंसादिक कार्योंके करनेकेलिये जो प्रयत्नरूप जीवका परिणाम होना वह संरंभ कहलाता है, समारंभणं समारंभः अर्थात् उन हिंसादि कार्योंके साधनोंका अभ्यास करना अथवा उन साधनोंको जुटाना रूप व्यापार समारंभ कहलाता है। तथा आरंभणं आरंभः अर्थात् उन हिंसादि

परिहार एवं समस्त पदोंकी सार्थकता सप्रमाण सिद्ध होनेसे—इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः सूत्र ही युक्तियुक्त एवं प्रमाणसिद्ध है।

यहां पर यह प्रश्न होता है कि इस सूत्रसे तीनों योगोंके—सांपरायिक आस्रवके उनचालीस भेद बताये गये हैं, वे समस्त आत्माओंके कार्य होनेसे समस्त संसारी आत्माओंके समानरूपसे होंगे, जब सब संसारी जीवोंके समान रूपसे होंगे, तब सबोंके कर्मफल भी समान ही होगा, एक दूसरेके फलमें कोई विशेषता नहीं होगी? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, अर्थात् सब संसारी आत्माओंमें उनका समान ही आस्रव हो और समान ही उसका फल हो यह बात नहीं है, क्योंकि समस्त संसारी आत्माओंमें इंद्रिय कषाय अव्रत क्रियाजनित—सांपरायिक आस्रवके होने पर भी उनके विभावरूप परिणामोंके अनंत भेद होनेसे नाना जीवोंके आस्रव और उसके फलमें भिन्न भिन्न विशेषता रहती है। वह विशेषता किस प्रकार रहती है? इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रंथकार सूत्र कहते हैं—

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थ—तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इन छह बातोंकी विशेषतासे उस आस्रवमें नाना जीवोंकी अपेक्षा परस्पर विशेषता हो जाती है। अर्थात् किसी संसारी जीवके तीव्र भावोंसे आस्रव होता है, किसीके मंद भावोंसे होता है, किसीके जानते हुए भी—ज्ञात दशामें आस्रव होता है, किसीके विना जाने कार्यके करनेसे—अज्ञात दशामें आस्रव होता है। किसीके जीवनिमित्त आस्रव होता है किसीके अजीवनिमित्त आस्रव होता है, किसीके अधिक शक्ति होनेसे अधिक आस्रव होता है किसीके कम शक्ति होनेसे कम आस्रव होता है। इसप्रकार इन भेदोंकी अपेक्षा जिस जीवके जिस रूप कषायादिक वैभाविक भाव होते हैं उस जीवके उसी रूपसे कर्मग्रहण एवं स्थितिबंध अनुभागबंध पड़ते हैं, इसलिये समस्त संसारी जीवोंके समान फल नहीं होता है।

अर्थ—कषायोंका लक्षण पहले कहा जाचुका है जो आत्माको कषै अर्थात् आत्माकी शुद्ध परिणतिको नष्ट करते रहें वे कषाय कहलाते हैं।

विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः ॥ ११ ॥

अर्थ—एक पदार्थ दूसरे पदार्थोंसे जो जुदा सिद्ध किया जाता है वह विशेष कहलाता है अथवा एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे भेद करनेवाला विशेष कहा जाता है।

तस्य प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ १२ ॥

अर्थ वह विशेष शब्द प्रत्येकके साथ संबंध रखता है जैसे संरंभविशेष समारंभविशेष आरंभविशेष इत्यादि। अर्थात् प्रत्येक संरंभ समारंभ आदिक एक दूसरेसे भिन्न भिन्न परिणाम हैं इसीलिये भेद सिद्ध करनेकेलिये प्रत्येकके साथ विशेष शब्दका संबंध लगाया गया है।

विशेषैरिति निर्देशानुपपत्तिः क्रियापदाभावात् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार देवदत्तने भोजन किया, हाथसे किया इन वाक्योंमें क्रियाका प्रयोग होनेपर ही कर्ता-करणका कथन सिद्ध होता है, उसीप्रकार यहां "विशेषैः" इस पदके साथ कोई क्रियापद नहीं है, इसलिये संरंभविशेष समारंभविशेष आदि रूपसे विशेष शब्दका कथन सिद्ध नहीं होता है? भावार्थ—जहां क्रियापद होता है वहींपर वाक्य कहाजाता है, जहां क्रियापद नहीं होता वहां वाक्य भी नहीं कहाजाता और जहां वाक्य नहीं होता वहां उसका अर्थ भी पूर्णरूपसे नहीं किया जासकता है। जिसप्रकार देवदत्तने भोजन किया और उसने हाथसे कार्य किया यहांपर देवदत्तको कर्तापना और हाथको करणपना तभी सिद्ध होता है जब कि 'भुक्तं' और 'कृतं' ऐसे क्रियापद साथ लगे हुऐ हैं उसप्रकार इस—आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगेत्यादि सूत्रमें 'विशेषैः' इस पदके साथ कोई क्रियापद तो है नहीं इसलिये संरंभ समारंभ आदि भिन्न-भिन्न हैं ऐसा अर्थ भी सिद्ध नहीं हो सकता? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

करनेवाले मदसे, अथवा उपयोगकी अनस्थिरतास्वरूप—असावधानीरूप प्रमादसे जो गमनागमन आदि क्रियाओंमें विना जाने बूझे प्रवृत्ति करना है वह अज्ञातभाव कहलाता है। अर्थात् विना समझे-बूझे अंधाधुंध प्रवृत्ति करना अज्ञातभाव कहलाता है।

अधिक्रियतेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं ॥ ५ ॥

अर्थ नाम पुरुषोंके प्रयोजन, जिसमें अधिकार करें वह अधिकरण द्रव्य कहलाता है। अर्थात् पुरुषोंके कार्य जिस निमित्तको लेकर अथवा जिस वस्तुके आश्रयसे सिद्ध किये जांय उसे अधिकरण कहते हैं। अधिकरण नाम आधारका—आश्रयका है। जिसके आश्रयसे पुरुषोंका कार्य हो वह आश्रय अधिकरण कहा जाता है, वह द्रव्य विशेष पड़ता है।

द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यं ॥ ६ ॥

द्रव्यकी जो शक्तिविशेष है वह उसकी सामर्थ्य कहलाती है उसीका नाम वीर्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी निज शक्तिका जो विशेष सामर्थ्य रूप विकास है वही उसका वीर्य कहा जाता है।

भावशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ ७ ॥

जिसप्रकार देवदत्त, गुरुदत्त, जिनदत्त भोजन करें, यहांपर भोजन करनारूप क्रियाका संबंध प्रत्येक व्यक्तिके साथ लगता है। देवदत्त भी भोजन करै, गुरुदत्त भी करै और जिनदत्त भी भोजन करै, इसप्रकार वाक्यके अन्तमें आया हुआ भोजनरूप क्रियापद प्रत्येक पुरुषके साथ जुड़ता है उसीप्रकार तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभाव—इस सूत्रमें आया हुआ जो भाव शब्द है वह तीव्र आदि शब्दोंमें प्रत्येकके साथ

१—वीर्य जड़ चेतन सभी द्रव्योंमें रहनेवाला सामान्य गुण है। प्रत्येक द्रव्य निज शक्ति रखती है उसीके बलसे वह कृत कार्य होता है। यहांपर जीवका प्रकरण होनेसे वीर्यतराय कर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली जीवकी वीर्यरूप आत्मशक्तिका ग्रहण है। जो वीर्य सात धातुओंमें एक पुष्ट धातु स्वरूप है वह भी उसी आत्मद्रव्यकी वीर्य शक्तिके अनुसार अन्तरंग कारणके अनुरूप ही संचित होता है।

संमारंभ आरंभ ये तीन, मनोयोग वचनयोग काययोग ये तीन, कृत कारित अनुमोदना ये तीन, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, इस प्रकार इन सवोंकी गिनती की गुणितवृत्ति सुच् प्रत्ययसे जानना चाहिये अर्थात् इन संख्याओंका संरंभादिकके साथ संबंध लगाकर परस्पर गुणा करनेसे आस्रवके सब एकसौ आठ भेद हो जाते हैं।

एकश इति वीप्सार्थनिर्देशः ॥ १७ ॥

अर्थ—एक शब्द वीप्सा अर्थको प्रगट करता है. वीप्सा नाम बारबार कहनेका है। "संख्यैकाद्वीप्सायां" इस जैनेंद्रव्याकरणके सूत्रसे संख्यावाची एक शब्दके अंतमें शस् प्रत्यय वीप्सा अर्थमें हो जाता है, उस शस् प्रत्ययके हो जानेसे एकशः ऐसा पद बन जाता है। उसका यह अर्थ होता है कि एक एक तीन आदिक भेदोंको प्राप्त होता है अर्थात संरंभादिकादिक, कृतादिक, योग और कषाय इनमेंसे एक एकके तीन आदिक भेद हैं। वे क्रमसे लगालेना चाहिये, जैसा कि संरंभादिक तीन, कृतादिक तीन, योग तीन, कषाय चार, इस रूपसे ऊपर अर्थ किया गया है।

संरंभादित्रयस्यादौ वचनं वस्तुत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—संरंभ आदिक तीन यद्यपि आत्माके परिणामविशेष हैं तथापि आत्माके जो हिंसादिक परिणाम भेद हैं उन्हें विषय कहते हैं इसलिये वे भी वस्तु कहे जाते हैं, तथा कृत कारित अनुमोदना आदिके ये संरंभादिक साधनभूत हैं इसलिये उन सबोंके पहले इन संरंभादिक तीनका पाठ दिया गया है। अर्थात् संरंभ समारंभ आदिक आस्रवके अधिकरण भूत हैं। इसलिये इनका सूत्रमें पहले पाठ दिया गया है।

योगादीनामानुपूर्व्यवचनं पूर्वापरविशेषणत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—योग आदिकोंका सूत्रमें अनुक्रमसे वचन है, क्योंकि पहले और पीछे कहे हुओंमें परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव है। अर्थात् संरंभ समारंभ आरंभ ये तीनों विशेष्य हैं और कृत कारित अनुमो-

भी भेद नहीं है इसलिये वह गोत्वधर्म कटी पूंछवाली खंडी गौ, कटे सींगवाली मुंडी गौ, एवं काली गौ, सफेद गौ, कवरी गौ आदि नाना भेदवाली गौओंका विधान नहीं करता है किंतु समस्त गौओंमें सामान्यरूपसे ये समस्त गौयें हैं ऐसा बोध और गौ संज्ञारूप वचन कराता रहता है उसीप्रकार भावशब्द भी 'यह सत् रूप है' ऐसा सामान्य रूप बोध और सत् सामान्य वचनका कारण है वह तीव्र मंद आदि अवस्था विशेषोंका विधान नहीं करा सकता अर्थात् भावशब्द और तीव्रादि शब्दोंका परस्पर संबंध युगपत् विरोधी पडता है फिर सूत्रमें कैसे किया गया ? समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहां पर आस्रव प्रकरणमें सामान्य सत्तारूप भाव शब्दका गृहण नहीं है किंतु बुद्धिविशेषरूप व्यापार होनेसे परिणाम विशेषरूप तीव्रादिभावोंके सूचक भावशब्दका गृहण है अर्थात् यहांपर बुद्धिसंबंधी व्यापारकी प्रधानता है कारण कि बुद्धि विशेष ही विशेष विशेष रूपसे पदार्थको गृहण करनेमें समर्थ है इसलिये तीवादिभावोंका विधान करनेवाला ही भावशब्द यहां लिया गया है। कैसे लिया गया है इसके उत्तरमें गृंथकार वार्तिक कहते हैं—

भावद्वैविध्यात् ॥ ९ ॥

नोद्रव्योंके[1] भाव दोप्रकार हैं एक परिस्पंद रूप—क्रियात्मकभाव, दूसरा अपरिस्पंदरूप—परिणामात्मक भाव। इन दो भावोंमें जो अपरिस्पंदरूप भाव है वह द्रव्योंके अस्तित्व स्वरूप अनादि एक रूप है। वह प्रत्येक वस्तुका निजरूप है, सत्ता रूप है, सत्तासे भिन्न कोई वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि अभाव रूप जगतमें कोई पदार्थ नहीं है। वही सत्‌रूप परिणाम समस्त द्रव्योंमें समान रूप होनेसे—साहश्य होनेसे उपचारसे एक कह दिया जाता है वास्तवमें तो प्रत्येक शब्दकी सत्ता जुदी जुदी है। तथा

१—नो कार्माण वर्गणाओंसे बननेवाले शरीर और मन वचन कायको नोकर्मद्रव्य कहा जाता है। तथा शरीरके संबन्धसे आत्मद्रव्यको भी नोद्रव्य कह दिया जाता है।

कषायोंके भेदसे और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे काययोग विशिष्ट संरंभके ऊपर लिखे अनुसार बारह भेद होते हैं। इसीप्रकार इन्हीं चार कषाय और कृत कारित अनुमोदनासे केवल काययोग द्वारा समारंभके भी बारह भेद हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं–१ क्रोधकृतकायसमारंभ, २–मानकृतकायसमारंभ ३–मायाकृतकायसमारंभ, ४–लोभकृतकायसमारंभ। ५–क्रोधकारितकायसमारंभ, ६–मानकारितकाय-समारंभ, ७–मायाकारितकायसमारंभ, ८–लोभकारितकायसमारंभ, ९–क्रोधानुमतकायसमारंभ, १०–मानानुमतकायसमारंभ, ११–मायानुमतकायसमारंभ, १२–लोभानुमतकायसमारंभ। जिसप्रकार ये समा-रंभके बारह भेद होते हैं, उसीप्रकार आरंभके भी बारह भेद होते हैं वे इसप्रकार हैं–१ क्रोधकृतकायारंभ, २–मानकृतकायारंभ, ३–मायाकृतकायारंभ, ४–लोभकृतकायारंभ, ५–क्रोधकारितकायारंभ, ६-मानकारि-तकायारंभ, ७–मायाकारितकायारंभ, ८–लोभकारितकायारंभ, ९–क्रोधानुमतकायारंभ, १०–मानानुमत-कायारंभ, ११–मायानुमतकायारंभ, १२–लोभानुमतकायारंभ। इसप्रकार सब मिलकर काय योगके भेद छत्तीस हो जाते हैं इसी बातको दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है, वह इसप्रकार है—

संरंभो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरंभसमारंभौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत् ॥ १ ॥

अर्थ–क्रोध आदि चार कषाय और कृत कारित अनुमोदना इन भेदोंसे विशिष्ट काययोगके भेदसे संरंभ बारहप्रकारका होजाता है। उसीप्रकार इन्हीं भेदोंसे समारंभ और आरंभ भी प्रत्येक बारह बारह प्रकारका होता है। इसप्रकार संरंभ समारंभ और आरंभ इन तीनोंके मिलकर छत्तीस भेद होजाते हैं। जिसप्रकार काययोगके ये छत्तीस भेद कहे गये हैं उसीप्रकार उन्हीं क्रोधादि कषाय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे वचनयोग और मनोयोगके भी छत्तीस छत्तीस भेद समझना चाहिये। इसप्रकार सब मिलकर जीवाधिकरणरूप आस्रवके एकसौ आठ भेद होजाते हैं। इसक ल

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वात् न पृथग्गृहणमिति चेन्न तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवफलभेदज्ञापनार्थत्वात् ॥ ११ ॥

यहांपर शंका होती है कि वीर्य शब्दका जो पृथक् ग्रहण किया गया है वह निष्प्रयोजन है—व्यर्थ है, क्योंकि वह आत्मद्रव्यका निज परिणाम है। जीवका अधिकरणसंबंधी परिणाम ही वीर्य है। अर्थात् जीवाधारमें व्याप्त रहनेवाली जो उसकी निज शक्ति वही वीर्य कहलाती है इसलिये उसका गृहण अधिकरणके कहनेसे ही हो चुका फिर स्वतंत्र गृहण करना व्यर्थ है ?

समाधान—यह शंका ठींक नहीं है क्योंकि तीव्र मंद आदि विशेष भावोंको धारण करनेवाले जीवकी हिंसा झूठ चोरी आदि क्रियायोंसे जो आस्रव होता है वह विशेष विशेष रूपसे होता है उसीके प्रगट करनेके लिये यहांपर वीर्य शब्दका स्वतंत्र गृहण कियागया है। जितना जितना आत्माकी निज सामर्थ्यका विकाश प्रगट होता जाता है उतना उतना ही तीव्र तीव्रतर तीव्रतम आदि परिणामविशेष आत्मामें प्रगट होते जाते हैं उनके निमित्तसे ही आत्मामें विशेष विशेष आस्रव होता जाता है। इस बातके प्रगट करनेके लिये ही वीर्य शब्दका स्वतंत्र गृहण किया गया है। अन्यथा यदि वीर्य शब्दका गृहण न किया जाता तो विशेष सामर्थ्यके विकाशसे विशेष परिणामोंका प्रादुर्भाव होता है यह बात नहीं सिद्ध होती।

तथा च तीव्रादिगृहणासिद्धिः ॥ १२ ॥

जिसप्रकार आस्रवका फल—भिन्न भिन्न रूप तीव्र तीव्रतर आदि रूप वीर्यकी प्रकर्षता तथा अप्रकर्षतासे जाना जाता है इसलिये वीर्यका स्वतंत्र गृहण है उसीप्रकार कर्मबंधके भेदसे तीव्र मंद आदि शब्दोंका भी स्वतंत्र गृहण सिद्ध होता है। यदि कर्मबंधका भेद न माना जाय और वीर्यको जीवाधिकरण स्वरूप ही माना जाय तो तीव्र मंद आदि भी जीवाधिकरण स्वरूप पड जांयगे उनका भी स्वतंत्र गृहण अनर्थक—व्यर्थ सिद्ध होगा। परंतु तीव्र मंद आदिका स्वतंत्र गृहण सिद्ध है क्योंकि उनसे होनेवाले कर्मबंधमें हीनाधिकरूप भेद सिद्ध है इसलिये तीव्रादि विशेष अवस्थाओंमें कारणभूत जो आत्माकी

संरंभादीनां क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरंजनाधिकरणभावो नीलीपटवत् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार नील रंगसे भरे हुये पात्रमें डाला हुआ वस्त्र नीलरंगमें रंग जानेसे नीला होजाता है उसीप्रकार अनंतानुवंधी आदि कषायोंसे सहित संरंभादिक क्रियाओंके अनुरंजनसे आस्रवमें जीवाधिकरणपना सिद्ध होता है। अर्थात् जिसप्रकार पटमें नीलरंगके संबंधसे नीलपना आजाता है उसीप्रकार जीवके क्रोधादिभावोंके संबंधसे होनेवाली क्रियाओंमें अनुरागादि परिणामोंकी विशेषता होनेसे आस्रवमें विशेषता होती है, यही विशेषता जीवाधिकरणरूप आस्रवके नामसे कही जाती है॥ यहां अब कहते हैं कि आदिका जो जीवाधिकरणरूप प्रथम सांपरायिक आस्रवका भेद है उसके भेद तो बताये जाचुके हैं अब उससे विलक्षण और सांपरायिकके निमित्तसे प्रगट हैं दोष जिसके ऐसा जो दूसरा सांपरायिक आस्रवका भेद अजीवाधिकरणरूप आस्रव है उसके भेद बतानेकेलिये सूत्र कहा जाता है—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगानिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परं ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग इन चारोंके क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेद हैं और ये कुल ग्यारह भेद सांपरायिक आस्रवके दूसरे भेद अजीवाधिकरण आस्रवके भेद हैं। उत्पत्तिको निर्वर्तना कहते हैं, किसी वस्तुके रखने वा धरनेको निक्षेप कहते हैं। दो या अधिक वस्तुओंके मिलादेनेको संयोग कहते हैं और प्रवृत्तिको निसर्ग कहते हैं, शरीर, मन, वचन, उच्छ्वास निश्वासकी उत्पत्ति करना अथवा चित्रादिकी उत्पत्ति करना यह सब निर्वर्तना कहलाती है। इनके निमित्तसे जो आस्रव होता है वह निर्वर्तनाजनित अजीवाधिकरणआस्रव कहलाता है। यह अजीवाधिकरण आस्रव इसलिये कहलाता है कि इस आस्रवमें जीवके भावोंकी प्रधानता नहीं है किंतु शरीरादि अथवा चित्रादि रचनाओंकी प्रधानता है इसीप्रकार किसी वस्तुको विना देखे विना झाडे विना सोधे रखदेना इससे जो आस्रव होता है वह निक्षेपजनित अजीवाधिकरण आस्रव कहा जाता है। इसीप्रकार भोजन पानीका संयोग मिला देना

उक्तलक्षणा जीवाजीवाः ॥ १ ॥

जीवोंका और अजीवोंका लक्षण पहले पांच अध्यायोंमें कहा जाचुका है। यहांपर शंका होती है कि जब उनका लक्षण पहले कहा जाचुका है तो फिर यहांपर जीव अजीवोंके नाम दुबारा क्यों कहे गये ? इस शंकाका उत्तर नीचेकी वार्तिक द्वारा दिया जाता है—

पुनर्वचनमधिकरणविशेषज्ञापनार्थं ॥ २ ॥

जीव अजीवका इस सूत्रमें दुवारा ग्रहण अधिकरण विशेषका परिज्ञान करानेके लिये किया गया है। अधिकरण जीवाधिकरण अजीवाधिकरणके भेदोंसे दो प्रकार है यह अर्थ विशेष जाना जाय इसी लिये जीव अजीवका नाम दुबारा कहा गया है। वह अर्थ विशेष क्या है ? इसका उत्तर यह है कि हिंसादिकोंका उपकरणपना है। अर्थात् हिंसादिकोंके द्वारा होनेवाला आस्रव जीव और अजीवके आश्रयसे होता है।

द्विवचनप्रसंग इति चेन्न पर्यायाणामधिकरणत्वात् ॥ ३ ॥

यहांपर यह शंका होती है कि मूल पदार्थोंके दो भेद हैं एक जीव, एक अजीव, इसलिये सूत्रमें 'जीवाजीवौ' ऐसा द्विवचन होना चाहिये ? समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पर्यायोंको अधिकरणपना है। जीव अजीव सामान्य अधिकरणपनेको धारण नहीं करते हैं किंतु पर्याय ही उसे धारण करते हैं, अर्थात् जीवाजीव सामान्य अधिकरण नहीं हैं, किंतु जीव अजीवकी विशेष पर्यायें अधिकरणरूप पडती हैं। यदि जीव अजीव सामान्य ही अधिकरण कहा जाय तो सभी जीव और सभी अजीव अधिकरण पडेंगे, ऐसी अवस्थामें सिद्ध जीव भी आस्रवके अधिकरण होने चाहिये तथा आकाशद्रव्य भी आस्रवाधिकरण होना चाहिये परंतु वे नहीं होसकते, इसलिये जीव अजीव द्रव्योंकी विशेष विशेष पर्यायें ही अधिकरणस्वरूप पडती हैं, भिन्न भिन्न पर्यायोंसे विशिष्ट द्रव्य ही

साथ अधिकरण शब्दका संबंध समानाधिकरणरूप और वैयधिकरणरूपसे घटित होता है। किस समय किसप्रकारका संबंध लगाना चाहिये इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि–जिससमय निर्वर्तना आदि शब्द कर्मसाधनरूप विवक्षासे कहे जाते हैं उससमय उनका अधिकरणके साथ समानाधिकरण-रूपसे संबंध समझना चाहिये। जैसे—"निर्वर्तना एव अधिकरणं" इत्यादि। अर्थात् निर्वर्तना ही अधि-करण है। यहांपर विर्वर्तना और अधिकरण इन दोनोंका एक ही आधार है। निर्वर्तनासे भिन्न अधि-करण नहीं ठहरता है। परंतु जिससमय निर्वर्तना आदि शब्दोंकी भावसाधनरूप विवक्षा की जाती है उससमय उनका अधिकरणके साथ वैयधिकरणरूपसे संबंध समझना चाहिये। जैसे–"निर्वर्तनानिक्षेप संयोगनिसर्गलक्षणाः भावाः परमधिकरणं विशिष्यंति" निर्वतना निक्षेप संयोग निसर्ग, इन लक्षणोंवाले जो भाव हैं वे पर जो अजीवाधिकरण है उसे विशेष बनाते हैं अर्थात् अजीवाधिकरणमें इन निर्वर्तना आदि लक्षणोंसे भेद होजाता है, उस भेदसे अजीवाधिकरणके अनेक भेद होजाते हैं। यह अजीवाधि-करणमें विशेषता निर्वर्तना आदि नामोंसे आती है। यहांपर निर्वर्तना आदि शब्द विशेषण और अधि-करण विशेष्य पडता है, इसलिये निर्वर्तना आदि शब्दोंका अधिकरणके साथ वैयधिकरण संबंध सिद्ध होता है। अध्यारोपित क्रियाकी अपेक्षासे कर्मका निर्देश है। अर्थात् क्रियापदका अध्यारोप करनेमे उसकी अपेक्षासे ही यहां पर कर्मनिर्देश किया जाता है। निर्वर्तना नाम निष्पादन अर्थात् उत्पन्न करनेका है। निक्षेप नाम स्थापना अर्थात् रखनेका है। संयोग नाम मिश्रका अर्थात् मिलादेनेका है और निसर्ग नाम प्रवर्तनका अर्थात् प्रवृत्ति करनेका है। इन चारोंका अर्थ ऊपर सूत्रार्थमें किया जाचुका है और आगे जहां इनके भेद बताये जांयगे वहां भी खुलासा हो जायगा।

द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वंद्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ॥ ३ ॥

अर्थ–द्वौ च, चत्वारश्च, द्वौ च, त्रयश्च, द्विचतुर्द्वित्रयः, ते भेदा येषां ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः इति। दो, चार,

और अजीवरूप अधिकरण ऐसे भिन्न भिन्न दोनोंके आधार अधिकरणोंसे आस्रव होता है ऐसा जो विशेष अर्थ है उसका बोध नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि जीव और अजीव इन दोनोंसे भिन्न अधिकरण उपलब्ध भी नहीं होता है। अर्थात् जीवाधिकरण जीवसे भिन्न कुछ नहीं है और अजीवाधिकरण अजीवसे भिन्न कुछ नहीं है यदि "जीवाजीवयोरधिकरणं" ऐसा समास किया जायगा तो उस अवस्थामें जीव अजीवका अधिकरण जीव अजीवका आधारमात्र उनसे भिन्न सिद्ध होगा परंतु सिद्धांतदृष्टिसे यह बात इष्ट नहीं है इसलिये 'अधिकरणं जीवाजीवा' इस सूत्रमें जो जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसा पाठ है वही ठीक है।

यहांपर प्रश्न होता है कि जीव अजीव अधिकरण किसका है? उत्तर—यहांपर आस्रवका प्रकरण है इसलिये उसीका है ऐसा संबंध कर लिया जाता है फिर प्रश्न होता है कि यदि यह जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रवका अधिकरण है तो उस आस्रवका षष्ठी विभक्तिके द्वारा उल्लेख करना चाहिये अर्थात् यह सूत्रमें प्रगट करना चाहिये कि यह जीव अजीव आस्रवका अधिकरण है?

उत्तर—इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि यहांपर "आस्रवस्य" आस्रवका अधिकरण है ऐसा षष्ठी विभक्तिके द्वारा कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कारण कि जहां जैसा अर्थ इष्ट होता है उसीके अनुसार विभक्तियोंका परिणमन हो जाता है, इस नियमके अनुसार यहांपर भी आस्रव शब्द जो प्रथमा विभक्तिविशिष्ट पहले सूत्रसे प्रकरणमें चला आरहा है उसका षष्ठी विभक्तिरूप 'आस्रवका' ऐसा अर्थ कर लिया जाता है, इसप्रकारका विभक्ति विपरिणाम सर्वत्र देखा जाता है जैसे—किसीने कहा कि देवदत्तके मकान बहुत ऊंचे हैं, उसे बुलाओ, अर्थात् ऊंचे मकान जो दीखते हैं वे देवदत्तके हैं, उन्हींमेंसे उसे बुला लो यहांपर पहले वाक्यमें देवदत्त शब्दका षष्ठी विभक्तिसे कथन किया गया है और दूसरे वाक्यमें उसका द्वितीया विभक्तिसे निर्देश किया गया है। पहलेमें देवदत्तके घर, ऐसा षष्ठीका अर्थ है दूसरे वाक्यमें

भोजन नहीं करता है इस कथनसे सिद्ध होता है कि वह रात्रिमें अवश्य खाता है कारण दिनमें तो खाता नहीं है और विना भोजन किये मोटापना आ नहीं सकता इसलिये अर्थापत्तिसे यह बात सिद्ध होती है कि वह रात्रिमें भोजन करलेता है, यहांपर उसका रात्रिके भोजन करनेका विधान यद्यपि किया नहीं गया है तो भी फलित अर्थसे सिद्ध हो जाता है इसीको अर्थापत्तिसिद्ध अर्थ कहते हैं। प्रकृतमें भी वह अर्थापत्ति घटती है—जब कि इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण किया जाता है तो पूर्व सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि जब यहबात कही जाती है कि ये पर जो अजीवाधिकरण उसके भेद हैं तो यह बात विना कहेही सिद्ध हो जाती है कि पहले संरंभादिक जीवाधिकरणके भेद हैं, फिर जो पूर्व सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण है वह व्यर्थ प्रतीत होता है, दोनों वार्तिकोंसे यह शंका उपस्थित की गई है कि यदि पहले सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण है तो इस सूत्रमें पर शब्द व्यर्थ है और यदि इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण है तो पहले सूत्रमें आद्य शब्द व्यर्थ है ?

अर्थापत्तिरनैकांतिकीति चेन्न प्रयासमात्रत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ— यदि यहांपर कोई यह बात कहै कि जो ऊपर अर्थापत्ति कही गई है वह अनैकांतिकी है। अर्थात् अर्थापत्तिसे जो अर्थ सिद्ध होता है वह नियमसे ठीकही अर्थ हो ऐसा नहीं है किंतु उस अर्थमें कभी कभी व्यभिचार (दूषण) भी आजाता है जैसे—यदि यह कहाजाय कि मेघके नहीं होनेपर वर्षा नहीं होती है तो ऐसा कहने पर यहबात विना कहे ही सिद्ध होजाती है कि मेघके आने परही वृष्टि होती है। परंतु यह अर्थापत्ति दूषित है क्योंकि कभी कभी मेघके रहने पर भी वर्षा नहीं होती है। इस लिये इस सूत्रमें पर शब्दके ग्रहणसे पूर्व सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण नहीं करने परभी अर्थापत्तिसे आदि-रूप अर्थ सिद्ध हो जायगा ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता क्योंकि अर्थापत्ति दूषित भी होती है ? इस शंकाके उत्तरमें कहा जाता है कि अर्थापत्ति दूषित होती है यह वात कहना ठीक नहीं है कारण अर्था-

नौ भेद हो जाते हैं और उन नौ भेदोंको कृत कारित अनुमोदना, इन तीन भेदोंसे गुणा करने पर सत्तावीस भेद हो जाते हैं, तथा उन सत्ताईस भेदोंको चार कषायोंसे गुणा करने पर एकसौ आठ भेद हो जाते हैं। संरंभादिकोंका क्या अर्थ है इस वातको ग्रंथकार स्वयं वार्तिकों द्वारा नीचे स्पष्ट करेंगे।

आद्यग्रहणं सामर्थ्यात् सिद्धिरिति चेन्न विस्पष्टार्थत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि सूत्रमें जो आद्य पदका ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है, क्योंकि उस आद्य अर्थकी सिद्धि सामर्थ्यसे ही हो जायगी, वह सामर्थ्य क्या है ? वह सामर्थ्य यह है कि इसके आगे जो अजीवाधिकरणके भेदोंको बताने वाला सूत्र कहा जायगा उसमें 'पर' वचनका ग्रहण किया गया है, जब उस सूत्रमें 'पर' वचनका गृहण है तो उससे सिद्ध होता है कि इस पहले सूत्रमें जीवाधिकरणके भेद हैं, अर्थात् "निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परं' इस आगेके सूत्रमें पर शब्द है. इस पर पदका यह अर्थ होता कि है ये निर्वर्तनादिक भेद अजीवाधिकरणके हैं, इस अर्थसे यह वात सुतरां सिद्ध हो जाती है कि पहले सूत्रमें जीवाधिकरणके भेद कहे गये हैं, फिर इस पहले सूत्रमें आद्य पद देना व्यर्थ है ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, कारण कि स्पष्ट अर्थ होनेके लिये 'आद्य' पद देना ठीक ही है किसीवातका अभिप्राय अनुमानसे जाना जाय उसमें गौरव होता है अर्थात् जो वात सूत्रमें पडेहुये पदोंसे तो नहीं जानी जाय किन्तु परंपरा दूसरे सूत्रोंके पदोंसे अनुमान द्वारा समझी जाय तो वैसी समझसे पदार्थबोध देरीसे होता है। ज्ञानान्तरोंकी अपेक्षा होनेसे झटपट अर्थबोध नहीं हो पाता, इसकेलिये सूत्रमें वैसा पद प्रयोग करना आवश्यक है जिससे जल्दी एवं साक्षात् अर्थबोध होजाय। अतएव यहांपर सूत्रमें आद्यपदका जो ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ नहीं है किंतु उपयोगी है।

प्रयत्नावेशः संरंभः ॥ २ ॥

संबंध अधिकरणके साथ है। यदि कोई स्वसंबंधी अधिकरण होता तो उसका निषेध इस पर शब्दसे होजाता परंतु कोई दूसरा स्वसंबंधी अधिकरण है नहीं, जिसका निषेधकर यह पर शब्दपर अधिकरणका विधानकर सूत्रका संबंध जोड देवे। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि संरंभादिक जो जीवाधिकरण है वही इस पर शब्द द्वारा निषिद्ध किया जाता है अर्थात् इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण इसीलिये सार्थक है वह पर शब्द पहले सूत्रमें कहा गया जो संरंभादिक जीवाधिकरण है उसका निषेध करता है और यह निर्वर्तना आदिक पर है अर्थात् अजीवाधिकरण है ऐसा संबंध सूचित करता है इसलिये ही यदि पर शब्दकी सार्थकता समझीजाय तो इसके उत्तरमें कहा जाता है कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उसका संबंध तो सिद्ध ही है, संरंभादि विशिष्ट आदिका जीवाधिकरण है इसके कहनेमात्रसे यह बात [1]परिशेषानुमानसे सिद्ध हो ही जाती है कि यह दूसरा अजीवाधिकरण है, इसलिये संबंध सिद्धिकेलिये पर शब्दका ग्रहण व्यर्थ है? और कदाचित् यह कहा जाय कि सूत्रमें जो पर शब्द है वह प्रकृष्ट अर्थका वाची है अर्थात् पर शब्दका अर्थ उत्कृष्ट किया जाय तो यह अर्थ होगा कि यह दूसरा उत्कृष्ट अधिकरण है सो ऐसा कहना भी उसी ऊपरके कथनसे खंडित होजाता है, क्योंकि जिसप्रकार स्वसंबंधी अधिकरणके नहीं होनेसे उसका निषेध कर पर संबंधी अधिकरणका विधान नहीं किया जासकता है उसीप्रकार पर शब्दका उत्कृष्ट अर्थ करनेसे किसी निकृष्ट अधिकरणका निषेध करना पडेगा तभी वह

१—जो बात दूसरी बातके कहनेसे फलितरूपसे सिद्ध होजाय उसे परिशेषानुमान कहते हैं। जैसे—किसीको यदि अणुव्रती कहाजाय तो वह अष्ट मूलगुणधारी है यह बात विना अष्टमूलगुणका कथन किये ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि अणुव्रत विना अष्टमूलगुणके होते नहीं हैं। इसीप्रकार पहले सूत्रमें दिये गये आदिशब्दसे ही दूसरे सूत्रमें पर शब्दका अर्थ विना पर शब्दके कहे ही सिद्ध होजाता है, क्योंकि आदि शब्दका ग्रहण ही यह बात प्रगट करता है कि कोई पर भी है। आदि और पर दोनों ही सापेक्षिक हैं, इसलिये एकके ग्रहणसे दूसरेका अर्थ फलितरूपसे प्रगट होजाता है।

कार्योंमें प्रवृत्ति होजाना आरंभ कहलाता है यहांपर आसव शब्द सात तत्त्वोंमें भावरूपसे अथवा धर्म रूपसे कहा गया है इसलिये संरंभादिकोंकी व्युत्पत्ति भी भावसाधनरूपसे की गई है ।

व्याख्यातार्थो योगशब्दः ॥ ६ ॥

अर्थ—योग शब्दका अर्थ पहले कायवाङ्मनःकर्म योगः इस सूत्रमें कहा जाचुका है।

कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ७ ॥

अर्थ—स्वतंत्रतासहित आत्मासे जो किया जाय वह कृत कहलाता है अर्थात् जिस कार्यको आत्मा स्वाधीन होकर स्वतंत्ररूपसे करै वह कृत कहलाता है।

कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षं ॥ ८ ॥

अर्थ—दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षा रखकर जो कार्य किया जाय वह कारित कहलाता है अर्थात् जिस कार्यको दूसरेके प्रयोगसे करावे स्वयं न करै किंतु दूसरेसे करावे अथवा दूसरेको करावै वह कारित कहलाता है।

अनुमतशब्दः प्रयोजकास्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे कोई नेत्रवाला मौनीव्रती दूसरेके द्वारा किये जानेवाले कार्यको देखता रहता है उसका निषेध नहीं करता है और उसे मनमें स्वीकार करता है इसलिये वह उस कार्यका अनुमंता कहा जाता है उसी प्रकार जो कोई दूसरा पुरुष अपने प्रयोगसे किसी कार्यको कर रहा हो उस कार्यकी होनेवाली पूर्ण क्रियामें जिसने अपना मनका भाव लगादिया हो वह अनुमंता कहाजाता है । अर्थात् जैसे मौनी पुरुष बोलता तो नहीं है किंतु आँखोंसे सब कुछ देखता हुआ उसे हृदयसे स्वीकार करता है इसलिये वह उस कार्यमें सहमत समझा जाता है उसी प्रकार जो किसी कार्यको करते हुये देखकर उसमें अपनी सम्मति भी काय वचन मनसे देता रहे तो वह उस कार्यका सम्मति देनेवाला अनुमंता कहा जाता है।

अभिहितलक्षणाः कषायाः ॥ १० ॥

बताना व्यर्थ है ? इन ऊपरके समस्त शंका रूप कथनोंसे पर शब्दका ग्रहण निरर्थक ठहरता है। इसका उत्तर आचार्य महाराज नीचेकी वार्तिकोंसे देते हैं—

नचाऽन्यार्थत्वात ॥ ९ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाओंमें जो पर शब्दके भिन्न भिन्न अर्थ किये गये हैं और उसका ग्रहण व्यर्थ बताया गया है उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पर शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं है किंतु सार्थकही है क्योंकि पर शब्दका अर्थ यहांपर अन्यरूप होता है, अन्यरूप अर्थ होनेसे सूत्रमें पडे हुए पर शब्दका यह अर्थ होता है कि ये निर्वर्तना निक्षेप आदिक संरंभादिक जीवाधिकरणके भेदसे जुदे हैं, यदि पर शब्दका यह अन्यरूप अर्थ नहीं किया जाय तो निर्वर्तना आदिक भी आत्मपरिणाम ठहरेंगे और आत्मपरिणाम होनेसे वे भी जीवाधिकरणके ही विकल्प (भेद) सिद्ध होंगे परन्तु निर्वर्तना आदि न तो आत्मपरिणाम ही हैं और न जीवाधिकरणके ही भेद हैं, इसलिये संरंभादिक जो आत्मपरिणाम और जीवाधिकरणके भेद हैं उनसे ये संरंभादिक भिन्न हैं इस वातको सूचित करनेकेलिये सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण किया गया है और वह सार्थक ही है अथवा संरंभादिक, आद्य जो जीवाधिकरण है उसके भेद हैं और ये निर्वर्तना आदिक पर जो अजीवाधिकरण हैं उसके भेद हैं इस स्पष्ट अर्थके सिद्ध करनेके लिये ही पर शब्दका ग्रहण है।

इष्टार्थसंप्रत्ययाद्वा ॥ १० ॥

अर्थ—अथवा इसपर शब्दके ग्रहणसे इष्ट अर्थका बोध होता है। इष्ट अर्थ क्या है ? इसीका उत्तर नीचेकी वार्तिकसे प्रगट करते हैं—

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलोत्तरभेदात् ॥ ११ ॥

अजीवाधिकरण जो निर्वर्तनालक्षण है अर्थात् निर्वर्तना नामका जो अजीवाधिकरणका भेद है वह दो प्रकार है—एक मूलगुणनिर्वर्तना और एक उत्तरगुणनिर्वर्तना । उनमें पहला भेद जो मूलगुण-

नवा वाक्यशेषापेक्ष्यत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका कीगई है वह ठीक नहीं है क्योंकि यहांपर वाक्यशेषकी अपेक्षा लगी हुई है। आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगेत्यादि सूत्रमें यद्यपि क्रियापद दिया नहीं गया है फिर भी 'भिद्यते' ऐसा क्रियापद अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है। क्योंकि क्रियापदका प्रयोग नहीं भी किया जाय तो भी अप्रयुक्त क्रियाकी अपेक्षासे कारकका प्रयोग देखा जाता है जैसे—'शंकुलया खंडः' इसका अर्थ होता है कि सरोंतासे सुपारीके खंड—टुकडे करना चाहिये। यहांपर 'करना चाहिये' ऐसा कोई क्रियापद प्रयुक्त नहीं है फिर भी उसकी अपेक्षा 'शंकुलया' में तृतीया विभक्ती प्रयुक्त होती है इसलिये जहां क्रियापद प्रयुक्त नहीं भी होता है. वहांपर भी कारक होता है।

अधिकृताभिसंबंधाद्वा ॥ १५ ॥

अर्थ—अथवा यहांपर भेद शब्दका अधिकार चला आता है, पहले 'इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः' इस सूत्रमें 'पूर्वस्य भेदाः' ऐसा भेदशब्दका प्रयोग है, उसी भेदशब्दका अधिकार आगेके सूत्रोंमें भी आता है उसी भेद शब्दकी अपेक्षा रखकर आद्यं संरंभ—इस सूत्रमें विशेषके साथ भेदका संबंध लगाकर तृतीया विभक्तीका प्रयोग किया गया है अर्थात् संरंभ समारंभ आदि विशेषोंसे उनमें भेद है यह भेदका संबंध पहले सूत्रसे अधिकार प्राप्त है।

त्रिस्त्रिस्त्रिचतुरिति सुजंतानां यथाक्रमभभिसंबंधः ॥ १६ ॥

अर्थ—आद्य संरंभ समारंभ इस सूत्रमें जो तीन त्रि शब्द हैं और एक चतुः शब्द है उन संख्यावाची शब्दोंका संरंभ समारंभ आदिके साथ क्रमसे संबंध लगाया जाता है। तीनों ही संख्यावाची त्रिशब्द और एक चतुः शब्द सुजंत हैं अर्थात् सुच् प्रत्यय उनके अंतमें लगा हुआ है, इसलिये उन सुच प्रत्यय वाले संख्यावाची शब्दोंका संरंभादिक प्रत्येक तीन तीनके साथ संबंध हो जाता है जैसे संरंभ

इससे आस्रव होता है। अनाभोगनिक्षेपाधिकरण उसे कहते हैं कि जिस वस्तुको जिस स्थानपर रखना चाहिये वहां उसे नहीं रखना किंतु इधर उधर चाहे जहां रखदेना अर्थात् जिसवस्तुका जो स्थान नियत है वहां उसे न धरकर चाहेजहां रखदेना इससे भी जीवोंको बाधा होती है इसलिये ये चारों ही आस्रवके कारण हैं।

संयोगो द्विधा भक्तपानोपकरणभेदात् ॥ १३ ॥

अर्थ—संयोग दोप्रकार है, एक भक्तपान दूसरा उपकरण। अर्थात् भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरणके भेदसे संयोगाधिकरणआस्रवके दो भेद हैं। इनका अर्थ इसप्रकार है–भोजन पानका मिलादेना भक्तपानसंयोगाधिकरण कहलाता है। जिस वस्तुंसे जो कार्य करना है उस वस्तुका अथवा उस उपकरणका मिलादेना उपकरणसंयोगाधिकरण कहलाता है। इन संयोगभूत क्रियाओंसे भी आस्रव होता है।

निसर्गस्त्रिधा कायादिभेदात् ॥ १४ ॥

अर्थ—निसर्गाधिकरणके तीन भेद हैं, कायादिके भेदसे उसके भेद होजाते हैं। कायनिसर्गाधिकरण, वाङ्निसर्गाधिकरण, मनोनिसर्गाधिकरण ये तीन भेद हैं। इनका खुलासा अर्थ यह है–कायकी प्रवृत्ति करना कायनिसर्गाधिकरण कहलाता है, वचनकी प्रवृत्ति करना वचननिसर्गाधिकरण कहलाता है, मनकी प्रवृत्ति करना मननिसर्गाधिकरण कहलाता है, इन मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे जो आस्रव होता है वह निसर्गजनितअजीवाधिकरण आस्रव कहाजाता है। इसरीतिसे दोनों प्रकारकी निर्वर्तना चारप्रकारका निक्षेप, दोप्रकारका संयोग और तीनप्रकारका निसर्ग ये ग्यारहभेद अजीवके हैं, इसलिये इनके निमित्तसे जो आस्रव होता है वह अजीवाधिकरण अर्थात् अजीव निमित्तवाला आस्रव कहाजाता है। प्रश्न–यहांपर कोई यह प्रश्न करता है कि ऊपर जो मन वचन कायका परिणाम

दना, चार कषाय और योग, इन सवोंको विशेषणपना है। इसलिये क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, तथा कृत कारित अनुमोदना इन भेदोंसे जो मन वचन काय योगके भेद हो जाते हैं वे सब भेद संरंभ समारंभ आरंभ इन तीनोंके विशेषण हो जाते हैं और संरंभादिक तीनं उनके विशेष्य हैं। उनमेंसे प्रत्येकके छत्तीस भेद हैं। संरंभके भेद इसप्रकार हैं—१ क्रोधकृतकायसंरंभ, २—मानकृतकायसंरंभ, ३—मायाकृत कायसंरंभ, ४—लोभकृतकायसंरंभ। यहां पर क्रोधकषायविशिष्ट काययोग द्वारा स्वयं किये गये संरंभका ग्रहण है। अर्थात् जो व्यक्ति क्रोधकषायविशिष्ट भावोंको धारण करता हुआ स्वयं अपने काययोगसे दूसरे जीवका अनिष्ट करनेके लिये उद्यत होता है वह क्रोधकृतकाययोग संरंभवाला कहलाता है। जिसप्रकार क्रोधकषायको धारण करता है उसीप्रकार कभी मान कभी माया कभी लोभ कषायको भी धारण करता है परंतु जहां काययोगसे ही स्वयं परका अनिष्ट करनेकेलिये उद्यत होता है वहां कृत काययोगके साथ ऊपर कहे गये चार भेद हो जाते हैं। ये चारों भेद संरंभके ही हैं। अब क्रोधादि चारों कषायोंको और उसी काययोगसे होनेवाले संरंभको कारितके साथ जोडनेसे नीचे लिखे चार भेद हो जाते हैं १—क्रोधकारितकायसंरंभ. २—मानकारितकायसंरंभ ३—मायाकारितकायसंरंभ, ४—लोभकारितकायसंरंभ इसका अर्थ यह होता है कि क्रोधादि कषायोंके वशीभूत होकर काययोग द्वारा दूसरेसे किसीके अनिष्ट करानेका उद्योग करना जिस प्रकार क्रोधादि कषाय और काययोगविशिष्ट संरंभका भेद कृत और कारितसे होता है, उसीप्रकार उन्हींके साथ अनुमोदनाको जोडनेसे नीचे लिखे चार भेद हो जाते हैं—१ क्रोधानुमतकायसंरंभ २—मानानुमतकायसंरंभ, ३—मायानुमतकायसंरंभ, ४—लोभानुमतकायसंरंभ। इन अनुमोदनाकृत चार भेदोंका यह अर्थ है कि दूसरेके द्वारा किसीके अनिष्टका उद्योग देखकर क्रोधादि कषाय भावोंसे काययोग द्वारा अनुमोदनारूप उद्योग करना। इस प्रकार क्रोध मान माया लोभ इन चार

दर्शनके विषयमें किये जांयगे तो दर्शनावरणकर्मका आस्रव होगा। प्रदोषादिकका क्या अर्थ है? इसका खुलासा श्री आचार्य महाराज वार्तिकों द्वारा स्वयं स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानकीर्तनानंतरमनाभिव्याहरतोंतः पैशून्यं प्रदोषः॥ १॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तिमें मूलकारणभूत जो मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल यह पांच सम्यग्ज्ञान हैं उनकी किसी पुरुषने प्रशंसा की हो, तो उसे सुनकर उसकी प्रशंसा नहीं करना, मौन भावसे चुप हो जाना और मनमें उस प्रशंसा करनेवालेके प्रति ईर्षाभाव धारणकर उस ज्ञानमें दूषण लगानेरूप दुष्ट अभिप्रायका धारण करलेना वह प्रदोष कहलाता है।

पराभिसंधानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः॥ २॥

अर्थ—किसी परनिमित्तको लेकर किसी विषयका ज्ञान रहते हुये भी यह कहना कि यह ऐसा नहीं है अथवा मैं उस विषयको नहीं जानता हूं इत्यादि कहकर जो ज्ञानको छिपालेना इसीका नाम निह्नव है अर्थात् निह्नव नाम छिपानेका है जिस विषयको भलीभांति जानता भी है उस विषयमें कार्य पडनेपर निषेध करना कि मैं उस विषयको नहीं जानता हूं अथवा किसी पुरुषके भयसे अथवा मित्रके अनुरोधसे किसी भी स्वार्थवश उस विषयका उलटा प्रतिपादन करदेना जैसे सप्तपरम स्थानोंकी प्राप्तिकेलिये सज्जातिका होना परमावश्यक है क्योंकि विना शरीरपिंडशुद्धिके मोक्षपात्रता आती ही नहीं है, परंतु इस बातको समझते हुये भी यदि कोई किसी स्वार्थवश यह कहदे कि जाति कोई वस्तु नहीं है अथवा जानता हुआ भी यह कहदे कि मैं इस जातिविषयमें समझता नहीं हूं तो उसका यह कहना अपने ज्ञानको छिपाना है। यही निह्नव नामका दोष है।

यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यं॥ ३॥

अर्थ—जिस शास्त्रको भलेप्रकार जानता है फिर भी किसी कारणसे उस शास्त्रसंबंधी देनेयोग्य

आस्रवके भेद जीवोंके परिणामोंके भेदोंसे होते हैं। जीवके भाव कभी क्रोधरूप कभी मानरूप कभी माया रूप और कभी लोभरूप होते रहते हैं और जीव इन्हीं क्रोधादि भावोंके आवेशमें कभी स्वयं दूसरेका अनिष्ट करना चाहता है, कभी दूसरेसे कराना चाहता है, कभी किसीको किसीका अनिष्ट करता हुआ देखकर अनुमोदना करता है। कभी दूसरेका अनिष्ट करनेकी वाञ्छा करता है, कभी उसकेलिये साधन जुटाता है और कभी प्रबल कषायोंके होनेपर अनिष्ट करनेकेलिये आरंभ करदेता है। कभी इसप्रकार वाञ्छा साधनोंका जुटाना. अथवा कार्यमें तत्पर होजानारूप क्रिया कायसे करता है, कभी वचनसे करता है और कभी मनसे करता है। इसरीतिसे संरंभ, समारंभ और आरंभ इन तीनों विशेष्योंको क्रोधादि चारों कषायरूप विशेषणोंसे, कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन भेदोंसे और मन वचन काय इन योगोंके भेदरूप विशेषणोंसे गुणित करनेपर एकसौ आठ भेद जीवाधिकरण आस्रवके होजाते हैं। इन्हीं एकसौआठ भेदोंमें जैसी जैसी हीनाधिकता होती है उसी रीतिसे नाना जीवोंके भिन्न भिन्न रूपसे हीनाधिकरूपसे आस्रव होता है।

चशब्दः क्रोधादिविशेषोपसंग्रहार्थः ॥ २० ॥

अर्थ—आद्यं संरंभसमारंभारंभेत्यादि—इस सूत्रमें जो चकारका ग्रहण है वह क्रोधादि कषायोंके विशेष भेदोंको संग्रह करनेकेलिये किया गया है। उससे अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन चारोंप्रकारकी कषायकी जातियोंका ग्रहण होजाता है अर्थात् ऊपर जो क्रोध मान माया लोभ ये कषायके चार भेद कहे गये हैं वे चारों ही भेद अनंतानुबंधी आदि चारों प्रकारके कषायोंके हैं इसलिये प्रत्येकके चार चार भेद होनेसे कषायके सोलह भेद होजाते हैं। इन सोलह कषायभेदोंके साथ उन संरभादिकोंका गुणा करनेसे जीवाधिकरण आस्रवके चारसौ बत्तीस भेद होजाते हैं।

प्रश्न—इन कषायादिकोंको आस्रवपना किसप्रकार है? इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रंथकार कहते हैं—

दूषण लगाता है, उसे रोकता है, उसकी प्रशंसा नहीं करता है, अपने ज्ञानको छिपाता है, दूसरेको ज्ञान होनेमें बाधा डालता है, ये सब वात ऐसी हैं जो वैसा करनेवालेके ज्ञानके रोकनेमें ही साधक होजाती हैं, क्योंकि उसप्रकारके दुष्ट अभिप्रायोंसे जो ज्ञानावरणकर्मका बंध होगा उससे उसका ज्ञान ढक जायगा। इसी प्रकार दर्शनके विषयमें यदि प्रदोष निह्नवादिक किये जांयगे तो दर्शनावरण कर्म-बंधके कारण होंगे। शंका—

आसादनमेवेति चेन्न सतो विनयाद्यनुष्ठानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर कोई शंका करता है कि उपघातका लक्षण सम्यग्ज्ञानमें दूषण लगाना बताया गया है और किसीके सम्यग्ज्ञानको रोकदेना यह आसादनका लक्षण बताया गया है। दूषण लगाना अथवा दूषण लगाकर रोकदेना दोनोंमें कुछ भेद नहीं प्रतीत होता, ऐसी अवस्थामें उपघात आसादनमें कुछ भेद नहीं रहा, जो उपधात है वही आसादन है फिर दो नाम सूत्रमें क्यों दिये गये ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि शंकाकारका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विद्यमान सम्यग्ज्ञानका विनय-भाव प्रगट नहीं करना, उसका गुणकीर्त्तन—प्रशंसा आदि नहीं करना यह तो आसादन कहलाता है, तथा ज्ञानको अज्ञान ठहरादेना, अथवा ज्ञानके नाश करनेका दुरभिप्राय धारण करना उपघात कहलाता है अर्थात् आसादनसे उपघातरूप भाव अधिक बुरा है, आसादनमें तो सम्यग्ज्ञानी द्वारा कहे हुये पदार्थकी प्रशंसा ही नहीं करता है और उसे रोकनेका प्रयत्न करता है परंतु उपघातभाववाला तो सम्यग्ज्ञानको अज्ञान ही ठहरा देता है और उसका लोप ही करना चाहता है इसलिये आसादन और उपघात दोनोंमें यह बहुत बडा भेद है। प्रश्न—सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे क्या अर्थ ग्रहण किया जाता है ? उत्तर—

तदिति ज्ञानदर्शनप्रतिनिर्देशः ॥ ८ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे ज्ञान और दर्शनका बोध होता है और तत् शब्दका प्रदोषा-

अथवा वस्त्रादि उपकरणोंका संयोग मिला देना यह संयोग जनित अजीवाधिकरण आस्रव कहलाता है और शरीरकी प्रवृत्ति करना, वचनकी प्रवृत्ति करना, मनकी प्रवृत्ति करना यह निसर्गजनित अजीवाधिकरण कहलाता है। इसप्रकार इन ग्यारह भेदोंसे जो आस्रव होता है वह संरंभादिकसे भिन्न अजीवाधिकरणरूप है।

निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा ॥ १ ॥

अर्थ—ये निर्वर्तना आदिक शब्द कर्मसाधन समझने चाहिये। जैसे—"निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना" जो उत्पन्न किया जाय वह निर्वर्तना कहलाता है। "निक्षिप्यते इति निक्षेपः" जो रक्खा जाय वह निक्षेप कहलाता है। "संयुज्यते इति संयोगः" जो मिलाया जाय वह संयोग कहलाता है। "निसृज्यतेऽसौ इति निसर्गः" जो प्रवर्ताया जाय वह निसर्ग कहा जाता है। अथवा इन्हीं निर्वर्तना आदि शब्दोंको भावसाधन भी समझना चाहिये। जैसे—"निर्वर्तनं निर्वर्तना" उत्पन्न होना ही निर्वर्तना कहलाती है। अर्थात् उत्पन्न होनेरूप भावही निर्वर्तना कहा जाता है। "निक्षिप्तिः निक्षेपः" क्षेपण होना अर्थात् धरनेरूप क्रियाका होना ही निक्षेप कहा जाता है। "संयुक्तिः संयोगः" मिलनेका नामही संयोग है। "निसृष्टिः निसर्गः" प्रवृत्तिका होना ही निसर्ग कहा जाता है। इसप्रकार भावकी मुख्यता रहनेसे ये निर्वर्तना आदि शब्द भावसाधन भी हैं।

समानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाधिकरणसंबंधः ॥ २ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे अधिकरण शब्दकी अनुवृत्ति आती है। अर्थात् "अधिकरणं जीवाजीवाः" यह सूत्र पहले कहा जाचुका है, उसीसे इस "निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परं" इस सूत्रमें अधिकरण शब्दकी अनुवृत्ति चली आती है। उस अधिकरण शब्दका इस सूत्रके साथ समानाधिकरणरूपसे अथवा वैयधिकरणरूपसे संबंध समझना चाहिये। अर्थात् निर्वर्तना आदि शब्दोंके

सामर्थ्यसे लेलिया जाता है। इसप्रकार तत् शब्दसे ज्ञान, ज्ञानवान्, ज्ञानसाधक, दर्शन, दर्शनवान्, दर्शनसाधक इन सबोंका ग्रहण हो जाता है। क्योंकि ज्ञानवान् और ज्ञानसाधन भी तो ज्ञाननिमित्तक ही हैं। इसलिये जो ज्ञान दर्शनके विषयमें दूषण होगा वह उनके ज्ञाता और साधनोंमें भी होगा। शंका—

तुल्यास्रवत्वादेकत्वमिति चेन्न वचनविरोधात् ॥ १० ॥

अर्थ—जो प्रदोषादिक ज्ञानावरण आस्रवके कारण हैं वेही दर्शनावरण आस्रवके कारण हैं। जब दोनों आस्रवोंका एकही कारण है तब कारण एक होनेसे कार्यमें भी एकपना होना चाहिये इस दृष्टिसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनोंको भिन्न भिन्न कर्म न मानकर एकही कर्म माननाचाहिये ? अर्थात् यह बात लोकमें देखी भी जाती है कि जिनका एक कारण होता है वे सब एकही समझे जाते हैं यहांपर ज्ञानावरण दर्शनावरण दोनोंका एक ही प्रदोषादिरूप कारण है इसलिये उन दोनों कर्मोंमें भी एकपना होना चाहिये, उनके जुदे जुदे दो नाम न होना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यदि जिनका समान आस्रवका कारण है वे सब एकही मानलिये जावें तो ऐसा कहनेमें वचनका विरोध आता है वह वचनविरोध इसप्रकार आता है कि जितने भी वचन (शब्द) वोले जाते हैं उन सबोंमें कंठ तालु ओष्ठ आदिका संयोग विभाग ही कारण है जब सभी वचनोंमें कंठ तालु ओष्ठ आदिका संयोग विभाग होनारूप एकही कारण है तो शंकाकारके कथनानुसार सभी वचनोंमें एकपना होगा, वैसी अवस्थामें वचनोंमें साधक और दूषकपनेका भेद भी नहीं रहेगा जो वचन अपने पक्षका साधक है अथवा जो वचन परपक्षका दूषक है वे दोनों वचन एकही हो जांयगे, एक होनेसे यह बड़ीभारी हानि होगी कि जो वचन जिस साध्यसिद्धिके लिये कहा जायगा वह उसका साधक नहीं ठहरेगा अथवा परपक्षका भी साधक हो जायगा अथवा स्वपक्षकाभी दूषक हो जायगा, क्योंकि शंकाकारके मतानुसार जो एक कारणसे होते हैं वे सब एकही होते हैं, वचन सभी कंठ तालु आदिके संयोग विभागसे होते हैं, इसलिये एक कारणके होनेसे

दो और तीन ये मिलकर द्विचतुर्द्वित्रयः कहे जाते हैं और ये संख्यावाचक शब्द जिनके भेद हैं वे द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः इसप्रकार द्वंद समास है गर्भमें जिनके ऐसे ये द्विआदिक शब्द अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समासवाले कहे जाते हैं। अर्थात् पहले द्वौ च चत्वारश्च, इस रूपसे इन द्वि आदि संख्यावाची शब्दोंका द्वंद्व समास कर लिया जाता है पीछे उन सबोंको मिलाकर उनका अन्यपदार्थप्रधान वहुव्रीहि समास कर लिया जाता है। जैसे द्वि आदिक हैं भेद जिनके ऐसे दो चार दो तीन भेदवाले निर्वर्तना आदि कहे जाते हैं। इसप्रकार द्वंद्व समास पहले हो जानेसे द्वंद्वगर्भित बहुव्रीहि समास कहलाता है। शंका—

परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात् ॥ ४ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो पर वचनका पाठ है वह व्यर्थ है क्योंकि पहले सूत्रमें आद्य शब्दका पाठ कहा जा चुका है अर्थात् "निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परं" इस सूत्रमें जो पर शब्द दिया गया है वह व्यर्थ है, कारण कि पहले "आद्यं संरंभसमारंभारंभेत्यादि" सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण किया गया है उस सूत्रमें जब यह बात कही गई है कि एकसौ आठ प्रकारका पहला जीवाधिकरण आस्रव होता है तब इस सूत्रमें यह वात विना पर शब्दके लगानेसे ही सिद्ध हो जाती है कि ये दूसरे अजीवाधिकरण आस्रवके भेद हैं, फिर पर शब्द क्यों लगाया गया? अथवा—

अस्मिन्सति पूर्वत्राद्यवचनं अनर्थकं अर्थापत्तिसिद्धेः ॥ ५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें यदि पर शब्दका ग्रहण किया गया है तो पहले सूत्रमें आद्य शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि वह आद्य शब्दका अर्थ अर्थापत्तिसे ही सिद्ध हो जायगा, अर्थात् एक वातके कहनेसे दूसरी बातका ग्रहण अपने आप विना उच्चारण किये ही सिद्ध हो जाय उसे अर्थापत्तिसिद्ध अर्थ कहते हैं, जैसे जिस पुरुषके पास एकलाख रुपये वताये जांय तो, उसके पास हजार भी हैं यह बात अपने आप ही सिद्ध है। अथवा जो आदमी मोटा तो हो रहा है परंतु कहा यह जाता है कि यह पुरुष दिनमें

और जुदे २ ही कार्य हैं, जुदे जुदे ही आकार हैं, यदि शंकाकारके मतके अनुसार एक कारणसे होनेवाले कार्योंको एक रूप ही मान लिया जाय तो घट सरावा आदि सभी चीजें एक ठहरेगीं परन्तु यह बात लोकमें प्रत्यक्ष वाधित है। वे सब चीजें एक नहीं समझी जातीं किन्तु भिन्न २ ही समझी जाती हैं और भिन्न भिन्न ही उनसे प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

अब जिन शंकाकारोंका यह मत है कि एक कारणसे कार्यमें एकपना आता है उन शंकाकारोंके आगमसे ही इस शंकामें बाधा आती है, इसी बातको श्रीआचार्य दिखलाते हैं—सांख्यसिद्धांत माननेवाले यह मानते हैं कि प्रधान अथवा प्रकृति एक जड स्वरूप तत्त्व है, उसीसे महान् अहंकार आदि तत्त्व पैदा होते हैं और प्रधानको वे सांख्यवादी नित्य मानते हैं, अमूर्त मानते हैं, एक मानते हैं, व्यापक मानते हैं, परंतु महान् अहंकार आदि उस प्रधानसे पैदा होनेवाले पदार्थोंको वे अनित्य मानते हैं, मूर्त मानते हैं, अनेक मानते हैं और व्याप्य (एक देशमें रहनेवाले) मानते हैं। यदि उनके कहनेके अनुसार एक कारण होनेसे कार्यमें एकपना माना जायगा तो एक प्रधानरूप कारणसे पैदा होनेवाले महान, अहंकार, पांच इंद्रिय, पांचभूत आदि कार्य भी सब एक रूप होने चाहिये, परंतु सांख्यने वे सब जुदे जुदे माने हैं। सबोंके नाम, लक्षण, संख्या, प्रयोजन आदि सभी बातें भिन्न भिन्न मानी हैं, यह सांख्य आगमका विरोध ही यह बतलाता है कि एक कारण होनेपर भी कार्यमें एकपना नहीं आता, इसीप्रकार दूसरा आगम यह है कि पुण्य पाप आनेज्य संस्कार आदि कार्य एक अविद्या (अज्ञान) से होते हैं, यदि कारणके एक होनेसे कार्यमें एकपना मान लिया जाय तो अविद्यारूप एक कारणसे उत्पन्न होनेवाले पुण्य पापादिक कार्योंमें भी एकपना ठहरेगा परंतु पुण्यका लक्षण और फल जीवोंको सांसारिक सुख देनेवाला है, पापका लक्षण और फल जीवोंको दुःख देनेवाला है, सबोंके भिन्न भिन्न प्रयोजनादि हैं। इस आगमका विरोध ही यह बतलाता है कि एक कारण होनेपर भी कार्योंमें एकपना नहीं आता है।

पत्तिमें दूषण बताना शंकाकारका प्रयास मात्र है, अर्थात् यह व्यर्थका प्रयास—परिश्रम है कि अर्थापत्तिमें दूषण दिखाकर पर शब्द और आद्य शब्दकी सिद्धिको सार्थक बताना और अर्थापत्तिमें व्यभिचार आता है यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि जिस समय यह कहा जाता है कि अहिंसामें ही धर्म है उस समय यह बात अर्थापत्तिसे क्या सिद्ध नहीं हो जाती कि हिंसामें अधर्म है? अवश्य सिद्ध हो जाती है। इसीप्रकार मेघके नहीं होनेपर वर्षा नहीं होती है ऐसा कहने पर यह अर्थ सुतरां सिद्ध होजाता है कि मेघके होने पर ही वृष्टि होती है। इसका यह अर्थ निकलता है कि वर्षा होगी तो मेघके होने परही होगी विना मेघके वह नहीं हो सकेगी। इसलिये पर और आद्य शब्दकी सार्थकताके लिये अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध होनेवाले अर्थमें दूषण बताना ठीक नहीं है। इस कथनसे इस सूत्रमें पर शब्दके ग्रहणसे पहले सूत्रमें आद्य शब्दका अर्थ अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जायगा अथवा पहले सूत्रमें आद्य शब्दके ग्रहणसे इससूत्रमें पर शब्दका अर्थ अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जायगा दोनोंमेंसे एकका ग्रहण व्यर्थ है यह शंकाकारकी शंका अभी तक खडी हुई है। फिर भी शंका—

असंबंधार्थत्वादिति चेन्न ।निवर्त्याभावात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर शंकाकार फिर भी शंका करता है कि यदि इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण नहीं किया जायगा तो इस सूत्रका संबंध घटित नहीं होगा अर्थात् पहिले सूत्रमें संरंभादिक जीवाधिकरण आस्रवके भेद हैं और निर्वर्तना आदिक ये अजीवाधिकरण आस्रवके भेद हैं ऐसा संबंध पर शब्दके विना ग्रहण-किये सिद्ध नहीं होता, इसलिये निर्वर्तना आदिके साथ अजीवाधिकरणका संबंध है इस बातको सूचित करनेकेलिये इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण किया गया है? इस शंकाके उत्तरमें कहाजाता है कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि दूसरा निषेधयोग्य कोई पदार्थ नहीं है, यदि कोई दूसरा निषेध-योग्य पदार्थ होता तो उसका निषेध कर पर शब्द परअर्थका विधान करदेता, अर्थात् पर शब्दका

इनके क्षय होते ही तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानका प्रादुर्भाव होता है और केवलीभगवान होजाते हैं, दोनों कर्मोंका क्षय होना और केवलज्ञान तथा केवलदर्शनका प्रगट होना, ये दोनों ही कार्य एक ही क्षणमें होते हैं, दोनों ही ज्ञान दर्शन एक साथ प्रगट होते हैं इसीलिये इन ज्ञान दर्शन दोनोंके आवरण स्वरूप कर्मोंके आस्रवका कारण भी एक ही प्रदोषादिरूप बताया गया है।

इतरत्र क्रमवृत्तिर्जलसमवेताग्निप्रतापप्रदीपप्रकाशवत् ॥ १२ ॥

अर्थ—केवली भगवानके सिवा, बारहवें गुणस्थानतक जितने भी संसारी जीव हैं उन सबोंके ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंका क्षयोपशम रहता है इसलिये उनके ज्ञान और दर्शन क्रमसे ही होते हैं, जिसप्रकार जल सहित अग्निका प्रताप ही होता है, उसका प्रकाश नहीं होता, तथा दीपकका प्रकाश ही होता है उसका प्रताप नहीं होता। उसीप्रकार छद्मस्थ जीवके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है उस समय उसके दर्शनोपयोग नहीं होता है।

इसका खुलासा अर्थ यह है कि ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्मोंका प्रत्येक संसारी जीवके क्षयोपशम ही रहता है, इतना विशेष है कि केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण इन दोनोंका क्षयोपशम नहीं रहता किंतु सर्वथा आवरण ही रहता है, इनका केवलीमें क्षय हो जाता है उससे पहले पहले सर्वथा आवरण रहता है बाकीके ज्ञान और दर्शन क्षयोपशमरूप छद्मस्थोंके रहते हैं। क्षयोपशम नाम लब्धिरूप ज्ञानका है, इसलिये लब्धिरूप तो ज्ञान दर्शन दोनों ही एक साथ रहते हैं परन्तु कार्यात्मक उपयोगरूप उनकी अवस्था क्रमसे ही होती है, जिस समय दर्शनोपयोग होता है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं होता, किंतु दर्शनोपयोग पहले और ज्ञानोपयोग पीछे होता है, यह क्रमवृत्ति इसीप्रकार है जिसप्रकार कि जलसहित अग्नि उष्ण तो रहती है परन्तु जलके कारण उसमें प्रकाशकत्व शक्ति नहीं प्रगट हो पाती है, वह धूंधलीसी बनी रहती है इसलिये जल सहित अग्निमें केवल प्रताप (गरमी) है परंतु प्रकाश

प्रकृष्ट अथवा उत्कृष्ट शब्द सार्थक होसकता है, परंतु यहांपर ऐसा नहीं है कि जीवाधिकरण तो निकृष्ट हो और पर शब्दके ग्रहणसे उस निकृष्ट जीवाधिकरणका निषेधकर उत्कृष्ट अजीवाधिकरणका इस सूत्रमें विधान किया जाय अर्थात् यदि जीवाधिकरणको निकृष्ट माना गया होता तो यह कहा जासकता था कि पर शब्द इस सूत्रमें सार्थक है, वह निकृष्ट जीवाधिकरणका निषेध कर उत्कृष्ट अजीवाधिकरणका विधान करता है परंतु सिद्धांतमें जीवाधिकरणमें निकृष्टता और अजीवाधिकरणमें उत्कृष्टता मानी नहीं गई है ऐसी अवस्थामें पर शब्दका उत्कृष्ट अर्थ करना और उसके ग्रहणकी सार्थकता बताना यह भी व्यर्थ है, इस कथनसे फिर भी पर शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है ? फिर भी शंका—

इष्टवाचित्वमितिचेन्न अत एव ॥ ८ ॥

अर्थ—शंकाकार फिर भी शंका करता है कि सूत्रमें जो पर शब्द है वह इष्ट अर्थका वाचक है, जैसे कहा जाता है कि "परंधाम गत इति इष्टं धाम गतः इति" वह पर धामको चला गया इसका अर्थ यही होता है कि वह इष्ट स्थानको चला गया। इस कथनसे पर शब्दका अर्थ इष्ट होता है, उसी अर्थकी सिद्धिके लिये इस सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण किया गया है ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि यह शंका भी ठीक नहीं है अर्थात् परशब्दका इष्ट अर्थ बताकर उसके ग्रहणकी सार्थकता बताना भी ठीक नहीं है, क्यों ठीक नहीं है ? इसीलिये ठीक नहीं है कि उसका भी कोई निषेध योग्य पदार्थ नहीं है, क्या कोई अनिष्ट पद है जिसे दूर कर इस इष्टवाची परशब्दका ग्रहण सार्थक समझा जाय ? अर्थात् कोई नहीं है। इसका खुलासा अर्थ यह है कि यदि कोई परशब्दका अर्थ इष्टरूप करै तो यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि जीवाधिकरणको अनिष्ट माना जाय तो उसे निषेध कर यह पर शब्द निर्वर्तना आदि अजीवाधिकरणको इष्ट प्रगट करेगा परन्तु सिद्धांतमें जीवाधिकरणको अनिष्ट और अजीवाधिकरणको इष्ट माना नहीं गया है, इसलिये पर शब्दका इष्ट अर्थ करना और उसके ग्रहणकी सार्थकता

नष्ट ही हो चुके और भविष्यत् पदार्थ अभी उत्पन्न हुए ही नहीं हैं, तब उन भूत भविष्यत् पदार्थोंका वर्तमानमें ग्रहण और स्पर्श किस प्रकार होगा ? जब उनका ग्रहण ही नहीं है तो उनका दर्शन भी नहीं हो सकता, इसलिये केवली भगवानके जो समस्त पदार्थोंका अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों काल संबंधी पदार्थोंकी पर्यायोंका ज्ञान दर्शन युगपत् माना गया है वह नहीं होगा, उनके केवल ज्ञान तो होगा परंतु दर्शन नहीं होगा इसलिये वे ज्ञाता तो कहे जांयगे परंतु सकल पदार्थोंके दृष्टा नहीं कहे जासकते ? उत्तर——यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उनके ज्ञान दर्शन दोनों ही सर्वथा निरावरण हो चुके हैं, जिस प्रकार मेघपलटके आवरणके सर्वथा हट जाने पर सूर्यका जहां प्रकाश फैलाता है वहींपर प्रताप भी फैलता है और जहां प्रताप फैलता है वहीं सर्वत्र उसका प्रकाश भी फैलता है उसी प्रकार ज्ञानावरण दर्शनावरण दोनों कर्मोंके सर्वथा नष्ट करदेने पर केवली भगवानके अचिंत्य माहात्म्य और अचिंत्य समवशरणादि वाह्य विभूति तथा अनंतचतुष्टयरूप अंतरंग विभूतिको धारण करनेवाला तथा लोकालोकवर्ति समस्त पदार्थोंको एवं उनको भूत भविष्यत् वर्तमान कालवर्ति समस्त पदार्थोंको युगपत् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे देखने और जाननेवाला केवलदर्शन और केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो जाता है, उसके प्रकट होते ही जहां सर्वत्र ज्ञान होता है वहीं सर्वत्र दर्शन भी होता है अथवा जहां सर्वत्र दर्शन होता है वहीं सर्वत्र ज्ञान भी होता है। अर्थात् ऊपर जो शंकाकारका अभिप्राय प्रगट किया गया था कि प्रत्यक्ष सभी इन्द्रियोंसे स्पर्श करके ही होता है, सो निरावरण बतलाकर आचार्य महाराजने उस बातका खंडन कर दिया है। जहां निरावरण ज्ञान होजाता है वहां इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं ठहरता है, इंद्रिय प्रत्यक्ष एक देशमें होनेवाला परोक्ष बोध है, वह अल्पज्ञानीके ही हो सकता है; सर्वज्ञके नहीं हो सकता, इंद्रिय प्रत्यक्षबोध यदि सर्वज्ञके भी माना जायगा तो उसके सर्वज्ञता ही नहीं ठहर सकेगी। इसलिये जब सर्वज्ञके इंद्रिय प्रत्यक्ष होता ही नहीं है किंतु अतींद्रिय बोध होता है तब उसके दर्शनका विषय वर्तमान और स्पर्श किया

निर्वर्तना है वह भी अनेकरूप है—पांच शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास ये सब उसके भेद हैं। उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ पुस्त चित्र कर्म आदि रूप है। अर्थात् पांच शरीरोंकी रचना होना, मन वचन और श्वासोच्छ्वासकी रचना होना अथवा औदारिकादि शरीरों एवं मन वचन श्वासोच्छ्वासकी क्रिया करना, इससे जो आस्रव होता है वह निर्वर्तनाजनित अजीवाधिकरणरूप आस्रव है। इसीप्रकार काष्ठ पर कोई रचना करना कागजपर लेप्यादि रूपसे कुछ भी रचना बनाना जैसे कागजोंपर मनुष्य हाथी बैल आदिके चित्र बनाये जाते हैं अथवा तैलचित्र बनाये जाते हैं वे सब पुस्तके नामसे कहे जाते हैं। भित्ति पात्र आदिपर चित्रक्रिया करना ये सब उत्तरगुणनिर्वर्तनाके भेद हैं इनसे जो आस्रव होता है वह अजीवाधिकरण आस्रव है।

निक्षेपश्चतुर्थाऽप्रत्यवेक्षादुःप्रमार्जनसहसानाभोगभेदात् ॥ १२ ॥

अर्थ—निक्षेपके चार भेद हैं, १—अप्रत्यवेक्षित, २ दुःप्रमार्जन, ३—सहसा, ४ अनाभोग ये उसके चार भेद हैं। इन्हीं चारोंको निक्षेपके साथ लगानेसे अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण ये चार रूप होजाते हैं। इन चारों निक्षेपोंका स्पष्ट अर्थ इसप्रकार है—विना देखे हुये किसी वस्तुके रखदेनेको अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण कहते हैं, विना देखे रखनेसें जीवोंके मरजानेकी पूरी संभावना रहती है, जिस वस्तुको रक्खा जाता है उसीपर यदि छोटे छोटे जीव बैठे हों तो विना देखे रखनेसे वे सब जीव मर सकते हैं इसलिये विना देखे रखना यह अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण नामका अजीवाधिकरण आस्रवका भेद है। इसीप्रकार विना झाडे हुये अथवा जहां वस्तु रखनी है उस स्थानको विना सोधे हुये वस्तु रखनेसे वहां भी जीव मर सकते हैं इस लिये विना सोधेहुये स्थानपर रखना अथवा विना झाडे स्थानपर रखना दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहलाता है। किसी वस्तुका जल्दी जल्दी धरदेना अथवा जल्दीमें पटक देना इसे सहसानिक्षेपाधिकरण कहते हैं

भगवानके भी वैसे रूपसे ही दर्शन होता है ? अर्थात् नहीं होता, उनके निरावरण दर्शन होनेसे सावरणके समान वर्तमान योग्यतापन्न पदार्थोंका ही दर्शन नहीं होता किंतु भूत भविष्यत् सूक्ष्म आदि समस्त पदार्थोंका होता है। अर्थात् शंकाकारकी शंका आवरणविशिष्ट संसारी आत्माके इंद्रियबोधको लक्ष्य करके उत्पन्न हुई है परंतु केवली भगवानके निरावरण ज्ञानदर्शन हैं इसलिये उन निरावरण ज्ञान दर्शनकी तुलना सावरण ज्ञान दर्शनसे नहीं की जासकती है। इस कथनसे यह बात सिद्ध होचुकी कि केवली भगवानके तीनों कालवर्ती पदार्थोंको विषय करनेवाला दर्शन होता है। शंकाकार पुनः दूसरी शंका इस प्रकार करता है कि यह बात ठीक है कि केवली भगवानके निरावरण दर्शन होनेसे अतीत अनागत पदार्थोंमें दर्शनकी प्रवृत्ति होती है परंतु अवधिज्ञानी आत्मा तो आवरणसहित है इसलिये उसके दर्शन किसप्रकार होगा ? अर्थात् अवधिज्ञानी तो संसारी छद्मस्थ है उसके भूत भविष्यत् पदार्थोंके विषयमें दर्शन किसप्रकार हो सकता है ? इसके उत्तरमें आचार्य महाराज वार्तिक कहते हैं।

करणनिरपेक्षक्षयोपशमशक्तिविशेषयोगादवधिज्ञानिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—यद्यपि अवधिज्ञानी आत्माके आवरण है तो भी उस अवधिज्ञानीके जो अवधिदर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष है वह इंद्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित है, इसीलिये केवलदर्शनके समान अवधिज्ञानीके भी विना उपदेशके सुने ही अवधिदर्शनकी प्रवृत्ति होती है, अवधिज्ञानीके अतीत अनागत पदार्थ स्पष्ट रूपसे विषय नहीं होते हैं, तो भी अवधि दर्शन होजाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन ज्ञानोंमें इंद्रिय और मनकी अपेक्षा रहती है उनमें दर्शनकी प्रवृत्ति स्पष्टरूपसे ही होगी, अर्थात् वर्तमान स्पर्शावगाहन योग्यतापूर्वक ही होगी इसीलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञानविषयक जो दर्शन होता है वह स्पर्शावगाहनरूप योग्यतापूर्वक ही होता है, क्योंकि वह दर्शन इंद्रिय और मनकी सहायतासे होता है, परंतु जहां इंद्रिय मनकी अपेक्षा नहीं ली जाती है उन ज्ञानोंके पूर्व अथवा साथ जो

कहागया है वह मूलमें तीनप्रकार होनेपर भी सूक्ष्मपरिणमनकी अपेक्षासे वह अनंत पर्यायें धारण करनेवाला है. वही आस्रवके नामसे कहाजाता है, अर्थात् मन वचन कायके अवलंबनसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके हलन चलनका नाम ही आस्रव है, वही कर्मग्रहणका कारण है, उससे जो समस्त सांपरायिक आस्रव होता है वह क्या एकरूपसे ही होता है अथवा भिन्न भिन्न रूपसे होता है ? अर्थात् वही मन वचन कायका परिणाम (योगविशेष) सकषायभावोंसे समस्त सांपरायिक आस्रवका एक मार्गरूपसे हेतु है अथवा भिन्न भिन्न मार्गोंसे हेतु है ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री आचार्य महाराज कहते हैं कि वह एक मार्गरूपसे हेतु नियत नहीं है किंतु कायादि व्यापारोंकी समानता होनेपर भी किसी जीवके वह किसीरूपसे हेतु है और किसीजीवके किसी अन्यरूपसे हेतु है ? किसरूपसे कौन कौन हेतु पडते हैं ? उन्हींका स्पष्टीकरण नीचेके सूत्रोंसे श्री आचार्य करते हैं—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन, उपघात इत्यादि बातोंका करना ज्ञानावरण और दर्शनावरण आस्रवका कारण है। अर्थात् आत्मामें ज्ञान गुण प्रधान है, उसीकी मुख्यतासे कर्मोंमें ज्ञानावरणकर्मका उल्लेख सबसे प्रथम किया गया है, उसके पीछे दर्शनावरण कर्मका उल्लेख है। क्योंकि ज्ञान दर्शन दोनों ही आत्माके चेतना गुणकी सामान्य विशेष पर्याय हैं, छद्मस्थ जीवोंके दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है ओर केवलियोंके दर्शन ज्ञान युगपद् होता है, कारण कि दर्शनावरण और ज्ञानावरणका सर्वथा क्षय होनेपर ही आत्मामें केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होते हैं। ज्ञान और दर्शन गुणोंमें ज्ञानगुण ही प्रधान है इसलिये उसीकी मुख्यता उसके घात करनेवाले कर्ममें भी रक्खी गई है। यहांपर सूत्रमें जो तत् शब्द है उसका संबंध ज्ञान दर्शनसे है, इसका यह अर्थ होता है कि ज्ञानके विषयमें यदि प्रदोष निह्नवादिक किये जांयगे तो ज्ञानावरणकर्मका आस्रव होगा यदि वे

ही वह पदार्थोंका विषय करता है अर्थात् अवधिज्ञानमें तो दूसरेके मन आदि की कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वह तो स्वतंत्र रूपसे पदार्थोंको विषय करता है, इसीलिये वह स्वमुखसे अर्थात् अपने आप विषय करनेवाला कहा जाता है, परंतु मनःपर्ययज्ञान परके मनकी अपेक्षा रखता है, दूसरेके मनमें जो पदार्थ विचारा गया है उसीको वह विषय करता है, इसलिये जिस प्रकार मन अतीत अनागत पदार्थोंका चिंतवन ही करता है उन्हें देखता नहीं है, उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी भूत भविष्यत् पदार्थोंको जानता है उन्हें देखता नहीं है। तथा दूसरेके मनके विषयभूत जो वर्तमान पदार्थ हैं, उन्हे भी वह विशेष रूपसे ही जानता है, इसलिये सामान्यपूर्वक प्रवृत्तिका अभाव होनेसे मनःपर्यय दर्शनका भी अभाव है। यहांपर इतना और समझलेना आवश्यक है कि मनःपर्ययज्ञान यद्यपि दूसरेके मनमें चिंतवन की हुई बातको ही विषय करता है फिर वह मनकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु अवधिज्ञानके समान वह भी मनकी अपेक्षासे सर्वथा निरपेक्ष है। अपेक्षा तो तब कही जायगी जब कि मनके द्वारा वह पदार्थोंको विषय करता हो, परंतु मनःपर्ययज्ञान भी मनके द्वारा पदार्थोंको नहीं जानता है किंतु वह स्वतंत्र आत्मासे उन पदार्थोंका साक्षात्कार करता है, केवल दूसरेके मनमें विचारी हुई बातको विषय करता है इस कथनका यही तात्पर्य है कि दूसरेने अपने मनसे जो कुछ विचारा है उस मनके विचारे हुए दूसरेके सूक्ष्म बिषयको मनःपर्ययज्ञानी प्रत्यक्ष करलेता है स्वयं मनसे नहीं जनता है। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार मानस प्रत्यक्ष भी पदार्थोंको विशेषाकारसे ही जानता है उनका पहले वह सामान्यावलोकनरूप दर्शन नहीं करता है उसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान भी विशेष रूपसे ही पदार्थोंको जानलेता है वह उनका पहले सामान्यबोधरूप दर्शन नहीं करता है। यदि कहाजाय कि केवलज्ञान भी तो प्रथम ही बिशेष रूप ही पदार्थोंको जानता है फिर उसीके साथ दर्शनोपयोग क्यों बताया गया है? तो इसका उत्तर वही है जो पहले दिया जा चुका है कि यद्यपि केवलज्ञान प्रथमसे ही विशेषज्ञानरूप

ज्ञानको भी योग्य पात्रकेलिये नहीं देता है वह उसका मात्सर्यभाव कहा जाता है, अर्थात् किसीने कोई बात पूछी हो अथवा कोई शिष्य किसी शास्त्रका अभिप्राय जानना चाहता हो तो जानकारी रखते हुये भी यह समझकर कि यदि इसे बता दूंगा तो यह भी मेरे समान हो जायगा, इसकी भी प्रतिष्ठा बढ जायगी; अतएव नहीं बताना, इसे मात्सर्यभाव कहते हैं।

ज्ञानव्यवच्छेदकरणमंतरायः ॥ ४ ।

अर्थ—अपने कलुषित परिणामोंसे किसीकी ज्ञानप्राप्तिमें विघ्न डालदेना अंतराय कहलाता है अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके साधनोंको हटादेना या पुस्तक नहीं देना अथवा अन्य ज्ञानसाधनोंमें विघ्न डालकर किसीको ज्ञान प्राप्त नहीं होने देना अंतराय कहलाता है।

वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनं ॥ ५ ॥

अर्थ—दूसरा पुरुष जिस सम्यग्ज्ञानका प्रकाश कर रहा है उसको शरीरकी क्रियासे अथवा वचनसे रोकदेना आसादन कहलाता है अर्थात् यह कह देना कि इस ज्ञानका प्रकाश या प्रसार मत करो अथवा खडे होकर अपने शरीरबलसे रोकदेना यह आसादन नामका दोष है।

प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वस्तुका स्वरूप किसी सम्यग्ज्ञानीने यथार्थ भी प्रतिपादन किया है तो भी अपनी आत्मामें उसके प्रति कलुषित-भाव होनेसे अथवा बुद्धिमें ही विकार होनेसे वह वस्तुस्वरूप अयोग्य प्रतीति होनेसे उससे उस सम्यग्ज्ञानमें दूषण लगादेना उपघात कहलाता है अर्थात् यथार्थ स्वरूपका कथन भी यदि अपनी विकारी-बुद्धिमें नहीं जचै तो उस समाचीन कथनमें भी दूषण लगादेना वह उपघात नामका दोष है। ये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन, उपघात दोष यदि ज्ञानके विषयमें किये जांयगे तो उन भावों तथा क्रियाओंसे करनेवालेकी आत्मामें ज्ञानावरणकर्मका बंध होगा। जो दूसरोंके सम्यग्ज्ञानमें

१–आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीके प्रतिकूल रहना अथवा उनके प्रतिकूल वचन बोलना। २–जो जो समय शास्त्रकारोंने अध्ययन करनेकेलिये निषेध किये हैं, जैसे–सूर्यादिका ग्रहणकाल, संध्याकाल, आदि उन निषिद्ध कालोंमें शास्त्रोंका अध्ययन करना। ३–शास्त्रोंमें श्रद्धाका नहीं होना अर्थात् जिनवाणीकी दृढतर प्रतीतिका नहीं होना। ४–शास्त्रोंके अभ्यास करनेमें अर्थात् उनके स्वाध्याय करनेमें और मनन करनेमें आलस्य अथवा प्रमाद करना। ५–शास्त्रोंके अर्थ सुननेमें आदर बुद्धि नहीं रखना अर्थात् उपेक्षाबुद्धिसे उन्हें सुनलेना किंतु परम हितकर समझकर उन शास्त्रोंके अर्थको विशेष अनुराग और आकांक्षाभावसे नहीं सुनना। ६–तीर्थ जो मोक्षमार्ग है उसका रोकदेना अर्थात् चलते हुये मोक्षमार्गमें धर्मविरुद्ध विचार और प्रवृत्ति द्वारा रोडा अटका देना। ७–यदि कुछ अधिक शास्त्रोंका अभ्यास कर लिया हो तो उस अपने विशेष पांडित्यका घमंड करना। ८–मिथ्या उपदेश देना अर्थात् आचार्य कथनके विरुद्ध उपदेश देना। ९–जो शास्त्रोंके अच्छे जानकार हैं उन समीचीन विद्वानोंका तिरस्कार करना अथवा बहुश्रुतके धारक आचार्य और उपाध्यायोंका ही अपमान करना। १०–किसी मिथ्यापक्षको पकडकर उस अपने पक्षके सिद्ध करनेमें अथवा उसकी पुष्टिमें ही पण्डितपना दिखाना। ११–अथवा अपने समीचीन पक्षको भी पंडिताईके घमंडमें छोडदेना और परमतकी मिथ्यापक्ष पकड लेना। १२–असंबद्ध प्रलाप करना अर्थात् विना पूर्वापर विषयका संबंध जोडे चाहे जो अंडबंड बकवाद करते जाना। १३–उत्सूत्र भाषण करना, अर्थात् शास्त्रोंमें जिन वातोंका विधान किया गया है अथवा जिनवातोंका निषेध किया गया है उनका उलंघन कर स्वतंत्र बुद्धिसे भाषण करना। १४–किसी लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही शास्त्रोंका अभ्यास करना अथात् पेटके विकारको दूर करनेकी अपेक्षासे कोई चिकित्सा शास्त्रानुसार उपवास करना चाहता है और उसी अभिप्रायको रखकर जैनशास्त्रोंको भी देखना चाहता है कि इनमें उपवासकी विधि क्या बताइ गई है, इत्यादि लौकिक प्रयोजनसे ही शास्त्रोंका

दिकके साथ षष्ठी तत्पुरुष समास है वह इसप्रकार है—"तयोः प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः-तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः" इस षष्ठी तत्पुरुष समासका यह अर्थ होता है कि उन ज्ञान दर्शनके विषयमें किये गये प्रदोष निह्नव मात्सर्य अंतराय आसादन और उपघात ज्ञानावरण दर्शनावरणके आस्रवके कारण हैं। शंका—यहांपर कोई शंका करता है कि ज्ञान दर्शनका न तो प्रकरण ही है, और न ज्ञान दर्शन शब्दका पहले उल्लेख ही किया गया है, फिर तत् शब्दसे उन ज्ञान दर्शनका ग्रहण अथवा बोध किसप्रकार होसकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। उत्तर—

सामर्थ्यात्तदभिसंबंधः ॥ ९ ॥

अर्थ—सामर्थ्यसे उन ज्ञान दर्शनका ग्रहण होजाता है और वह सामर्थ्य यह है कि सूत्रमें "ज्ञानदर्शनावरणयोः" यह पद पडा हुआ है इस वचनकी सामर्थ्यसे प्रदोष आदिका संबंध किया जाता है अर्थात् प्रदोषादिक ज्ञानावरण दर्शनावरणके आस्रवके कारण हैं ऐसा जब सूत्रमें वचन है तब उन्हीं ज्ञानावरण और दर्शनावरण शब्दोंकी सामर्थ्यसे यह अर्थ भी निकल जाता है कि ज्ञानके विषयमें यदि प्रदोषादिक किये जांयगे तो वे ज्ञानावरणके आस्रवके कारण होंगे और यदि प्रदो षादिक दर्शनके विषयमें किये जांयगे तो वे दर्शनावरणके आस्रवके कारण होंगे इस सामर्थ्यसिद्ध अर्थका बोध तत् शब्दसे होजाता है। प्रश्न—ज्ञान दर्शनवाले जो पुरुष हैं उनके विषयमें और उन ज्ञान दर्शनोंके साधक जो पुस्तक गुरु आदि हैं उनके विषयमें प्रदोषादिकका संबंध किसप्रकार घटित होगा? उत्तर—उन सबका ग्रहण भी तत्प्रदोषादिके ग्रहणसे ही होजाता है। अर्थात् तत् शब्दसे जैसे ज्ञान दर्शनके विषयमें किये गये प्रदोषादिक यह अर्थ होता है उसीप्रकार उसी तत् शब्दसे ज्ञानवान् और दर्शनवान्के विषयमें किये गये प्रदोषादिक यह अर्थ भी ले लिया जाता है। इसीप्रकार ज्ञान दर्शनके जो गुरु पुस्तक दीपक आदि साधनभूत पदार्थ हैं उनके विषयमें किये गये प्रदोषादिक ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंके आस्रवके कारण हैं यह अर्थ भी उसी तत् शब्दकी

करना अर्थात् पदार्थोंका अस्तित्व यदि श्रद्धामें हो तब तो ठीक ठीक दर्शन भी होता है परंतु पदार्थोंकी श्रद्धा छोडकर नास्तिक-भावका पक्ष लेलिया जाय तो फिर दर्शन भी उन पदार्थोंका नहीं हो पाता है। १०–सम्यग्दृष्टिके भावोंमें दूषण लगाना, ऐसा करनेसे भी वस्तु:स्थितिका यथार्थ दर्शन नहीं होगा। ११–खोटे तीर्थोंकी अर्थात् खोटे मार्गकी या खोटे शास्त्रोंकी या खोटे तीर्थस्थानोंकी प्रशंसा करना, ऐसा करनेसे भी सच्चे शास्त्र, सच्चे मोक्षमार्ग और सच्चे तीर्थस्थानोंका दर्शन नहीं होता है किंतु दर्शनावरण कर्मका तीव्र बंध होकर उन लाभोंसे वंचित रहना होता है। १२–प्राणोंका घात करना, अर्थात् दर्शनोपयोगरूप चेतनाका घात करना। १३—मुनीश्वरोंको देखकर ग्लानि करना, मुनीश्वरोंके अभ्यंतर तपकी प्रशंसा न कर उनके धूलि आदिसे धूसरित शरीरको देखकर ग्लानिका भाव धारण करनेसे भी दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है। इन तेरह क्रियाओंके करनेसे और भी इन्हींके समान प्रमादाचरण करनेसे दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है। इसप्रकार प्रदोपादिक यदि ज्ञानमें दूषण करनेवाले होंगे तो ज्ञानावरण कर्मास्रवके कारण पडेंगे और यदि वे दर्शनमें दूषण करनेवाले होंगे तो दर्शनावरण कर्मास्रवके कारण पडेंगे, इसरीतिसे विषयभेद होनेसे आस्रवोंमें भेद होजाता है। जिसप्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मप्रकृतियोंके आस्रवका भेद है, उसीप्रकार साता वेदनीय असाता वेदनीय आदि कर्मप्रकृतियोंके आस्रवके भेदोंका अंतर है उसीको नीचेके सूत्रोंसे स्पष्ट करते हैं–

दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन, ये बातें यदि अपनी आत्मामें हों अथवा दूसरोंकी आत्मामें उत्पन्नकी जांय अथवा अपनी और दूसरोंकी दोनोंकी आत्माओंमें उत्पन्न होजांय तो असातावेदनीयकर्मके आस्रवका कारण होंगीं। अर्थात् दुःख शोकादिकके करनेसे असातावेदनीय-कर्मका ही बंध होगा, चाहें वे स्वयं कीजांय चाहें दूसरोंको पैदा कराईजांय, चाहें अपने आप भी की जांय

सभी वचनोंमें एकपना ठहरेगा। फिर कौन साधक वचन है कौन दूषक वचन है यह कुछ भी भेद नहीं रहेगा, यही वचनका विरोध होगा। यदि कदाचित शंकाकार यह कहै कि एक कारण होनेसे सब वचनोंमें तुल्यता अर्थात् समानता रहने परभी जो वचन अपने पक्षका साधक है वह परपक्षका दूषकही होता है अथवा जो परपक्षका दूषक है वह स्वपक्षका साधकही होता है ऐसा होनेसे वचनोंमें जो साधकत्व और दूषकत्व धर्मोंमें एकपना आता है वह नहीं आवेगा इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यदि वचनोंमें इसप्रकार भेद माना जायगा तो फिर शंकाकारका वह कहना सिद्ध नहीं होगा कि जहां समान हेतु है वहां कार्यमें एकपना आता है अर्थात् जब एकही कारणसे वचन उत्पन्न होते हैं तब भी उनमें भेद माना जाता है, एक स्वपक्षका साधक वचन होता है एक परपक्षका दूषक होता है अथवा एक किसी विषयका विधान करता है एक किसी वातका निषेध करता है, ऐसा वचनोंमें भेद मानना ही पडता है अन्यथा अपने पक्षकी सिद्धि और परपक्षका निषेध कभी हो ही नहीं सकेगा। इसलिये यह कहना सिद्ध नहीं होता कि ज्ञानावरण दर्शनावरणका एक ही प्रदोषनिह्नवादिरूप कारण है इसलिये उन दोनोंको एक मानना चाहिये। एक कारण होने पर भी वचनभेदके समान कार्योंमें भेद होता है।

दृष्टागमव्याघातात् ॥ ११ ॥

अर्थ - जो शंकाकार ज्ञानावरण दर्शनावरणका एक कारण होनेसे दोनोंको एकही माननेके लिये कहता है उसका कहना प्रत्यक्ष और आगमसे भी विरुद्ध पडता है, अर्थात् यह कहना ठीक नहीं है कि जिनका समान (एक) कारण हो वे सब एक मानलिये जांय, जिसके यहां समान कारणसे कार्योंमें एकपना माना जाता है उसके यहां मिट्टीसे बनने वाले घट सरावा आदि कार्योंमें भी नानापना नहीं ठहरेगा परन्तु प्रत्यक्षमें यह वात देखी जाती है कि मिट्टीरूप एक कारणसे ही घट, सरावा, दीवला, हंडी, कुलडा आदि अनेक चीजें बनती हैं और वे चीजें सब जुदी जुदी हैं, उनके जुदे जुदे ही नाम हैं

किसी निमित्तसे जनतामें अपवाद किया जाय, तथा कठोर वचन किसीके सुने जांय, इत्यादि वाह्य-निमित्तोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें जो कलुषता अर्थात् मलिनता उत्पन्न हो जाती है उससे जो तीव्रपश्चात्तापरूप परिणाम होता है, उसीका नाम ताप है। अर्थात् किसीके द्वारा अपनी निंदा फैलाई जाती हो अथवा कोई गाली आदि कठोर वचन अपने लिये कहता हो इत्यादि बातोंसे जो चित्तमें अत्यंत क्षोभ और पश्चात्ताप होता है उसीको तापके नामसे कहा जाता है। अब आक्रंदनका लक्षण कहाजाता है।

परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापाद्यभिव्यक्तं क्रंदनमाक्रंदनं ॥ ४ ॥

अर्थ—किसी प्रकारसे परिणामोंमें तीव्र क्षोभ होनेसे खूब जोर जोरसे ऐसा विलाप करना जिससे तेजीके साथ आंसुओंकी धारा वह रही हो और मुख नेत्र आदि शरीरका विकार प्रगटरूपसे उसकी दशाको बता रहा हो इसप्रकारका जो रोना है अथवा चिल्लाना है वह आक्रंदन कहलाता है। बधका स्वरूप इसप्रकार है—

आयुरिंद्रियवलप्राणवियोगकरणं बधः ॥ ५ ॥

आयुकर्म इस संसारी जीवको उस पर्यायमें स्थितिके नियत कालतक रोक लेता है जिस पर्यायकी आयुका उदय हो, उस भव-धारणमें कारणभूत आयुका वियोग करदेना, अथवा रूप रसादिको ग्रहण करनेवाली इंद्रियोंका वियोग कर देना. अथवा शरीर इंद्रियादिक वर्गणाओंके अवलम्बन रखनेमें कारण स्वरूप जो श्वासोच्छ्वास लक्षण प्राण है, उसका वियोग करदेना, इसप्रकार एक दूसरेका परस्पर प्राणहरण करदेना उसीका नाम बध है। अर्थात् बधनाम प्राणहरण करनेका है, चाहे आयुका घातकर किसीको सर्वथा मार डाला जाय अथवा किसीकी किन्हीं इंद्रियोंको नष्ट कर दिया जाय अथवा किसीके श्वासोच्छ्वासको रोकदेना इत्यादि रूपसे जो संसारी जीवके दशों प्राणोंका अथवा उनमेंसे कतिपय प्राणोंका वियोग करदेना इसीको बध कहते हैं। परिदेवनका लक्षण इसप्रकार है—

इसीप्रकार तीसरा आगम यह है कि आत्मा, मन, इंद्रिय, पदार्थ इन चारोंके सन्निकर्षरूप एक समान कारणसे होनेवाले रूपादि पदार्थोंका ज्ञान सुख दुःख आदि अनेक भिन्न भिन्न कार्य होते हैं, यदि एक चतुष्टयरूप कारणसे होनके कारण सबोंको एक मानलिया जाय तो इस ऊपरके आगमका विरोध आता है अर्थात् सभी प्रकारका ज्ञान आत्मा मन इंद्रिय और पदार्थोंके संबंधसे होता है, आत्मा मनसे संबंध करता है, मन इंद्रियसे और इंद्रिय पदार्थोंसे संबंध करता है तब रूपादि पदार्थोंका ज्ञान और उन पदार्थोंसे होनेवाला सुख दुःखरूप अनुभव भी होता है। यहांपर ज्ञान और सुख दुःखादिका साधन तो एक है, कौन ? वही आत्मा, मन, इंद्रिय और पदार्थ इन चारोंका सन्निकर्ष एक कारणके होने पर भी रूपज्ञान जुदा है, रसज्ञान जुदा है, घटज्ञान, पटज्ञान, सुख, दुःख, आदि सभी कार्योंमें भेद पाया जाता है, यदि कारणके एक होनेसे कार्योंमें एकपना मानाजाय तो इस कार्यकारणके भेदरूप आगमका विघात होगा। इसलिये पहले जो शंकाकारने यह शंका की थी कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोंका प्रदोषादि रूप एक ही कारण होनेसे उन दोनोंको जुदा जुदा नहीं मानना चाहिये किंतु एक ही मानना चाहिये इस शंकाका प्रत्यक्षसे वाधा बताकर और उसीके आगमकी वाधा बताकर आचार्य महाराजने निरसन (खंडन) कर दिया। अब यहां यह बात बताते हैं कि ज्ञानावरण दर्शनावरण दोनोंके आस्रवका कारण एक ही क्यों है ?

आवरणाभावे साहचर्यात् ॥ १२ ॥

अर्थ—आवरण कर्मका अत्यंत क्षय होजानेपर अर्थात् सर्वथा नाश होजानेपर केवलीभगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होते हैं, जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेके साथ साथ ही उसका प्रकाश और प्रताप दोनों ही एक साथ प्रगट होजाते हैं। इसीप्रकार ज्ञानावरण और बचाहुआ दर्शनावरण इन दोनों कर्मोंका क्षीणकषायनामक वारहवें गुणस्थानके अंतमें एक साथ पूर्ण क्षय होजाता है,

कहनेसे इसबातका ज्ञान नहीं होता है कि दुःखकी अनेक जातियां हैं और उसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं उन भेदोंके कारण उनसे होनेवाले आस्रवके भी उतने ही भेद हैं इस विशेष बातका परिज्ञान नहीं होनेपर उस दुःखके ही कुछ विशेष भेदोंका उल्लेख किया जाता है, उससे उस दुःखके विशेषरूपोंका परिज्ञान भलीभांति होजाता है। उन विशेष बातोंके कहे विना भिन्न भिन्न रूपसे बोध नहीं हो पाता है, इसीलिये दुःखके साथ शोकादिक शब्दोंका भी ग्रहण किया गया है। इन सभी भेदोंमें दुःखका लक्षण और उसीका विस्तार प्रतीत होता है इसलिये ये समस्तभेद भलेप्रकार ग्रहण किये गये हैं।

कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मिट्टीका पिंड, घडा, कपाल, इत्यादि मिट्टीकी सभी विशेष पर्याय मूर्तिमान स्वरूप द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सभी अभिन्न हैं और सभी पर्यायोंका आकार आदि भिन्न भिन्न है इसलिये पर्यायार्थिक दृष्टिसे उन सबोंमें भेद भी है अर्थात् मिट्टीसे जितनी भी वस्तुएं बनती हैं वे सब मिट्टीसे जुदी नहीं कही जासकती हैं, कारण? क्या पिंडमें, क्या घडेमें, क्या कपालमें, क्या सरावामें सभी भेदोंमें मिट्टी है इसलिये रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक मिट्टी स्वरूप पुद्गलसे वे सब पर्यायें अभिन्न हैं उस दृष्टिसे उनमें कुछ भी भेद नहीं है इसलिये द्रव्यदृष्टिसे वे सब एक हैं परंतु मिट्टीके पिंडका जुदा आकार है, घडेका जुदा आकार है, कपाल और सरावाका आदिका जुदा आकार है, और उन सबोंके जुदे जुदे ही कार्य हैं उन बातोंकी अपेक्षा पर्यायदृष्टिसे उन सभी पर्यायोंमें भेद भी है। उसीप्रकार दुःख शोक ताप आक्रंदन बध परिदेवन ये सभी भेद सामान्य रूपसे दुःखरूप परिणामसे अभिन्न हैं क्योंकि शोकादिक सभी भेदोंमें दुःखका ही अनुभव होता है, इसलिये उस दुःखरूप सामान्य परिणामकी दृष्टि से तो शोकादिक और दुःखमें कोई भेद नहीं है वे सब एक ही हैं, परंतु जब दुःख शोकादिक पर्यायोंके स्वरूप कार्य और निमित्तोंकी ओर दृष्टि दी जाती है तो प्रत्येकका जुदा जुदा हेतु और कार्य है, उस

नहीं है दीपकमें प्रकाश तो है परंतु प्रताप नहीं है, क्योंकि दीपकके प्रकाशमें बैठा हुआ कोई भी व्यक्ति उष्णताका अनुभव नहीं करता है, जैसे इनमें एक एक गुण रहता है उसीप्रकार छद्मस्थ जीवमें एक समयमें एकही उपयोग रहता है, परन्तु जैसे सूर्यके उदय होतेही उसका प्रकाश और प्रताप दोनोंही साथ ही प्रगट होते हैं उसीप्रकार भगवान् केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों ही एक साथ प्रगट हो जाते हैं।

अतीतानागतयोदर्शनाभावस्तल्लक्षणाभावादिति चेन्न निरावरणत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—यहां शंकाकार शंका करता है कि अतीत पदार्थमें और अनागत पदार्थमें दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि उन विषयोंमें उसका लक्षण ही नहीं जाता है, अतीत अनागत विषयोंमें दर्शनका लक्षण इसलिये नहीं घटित होता है कि ज्ञान तो विना स्पर्श किये हुए विषयमें हो जाता है परंतु दर्शन स्पर्श किये हुए विषयमें ही होता है, अतीत पदार्थ और अनागत पदार्थोंका विनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे अभाव ही समझना चाहिये, जब उनका अभाव है तब न तो वे वर्तमानकालमें विषयभूत ही हो सकते हैं और न स्पर्श ही किये जा सकते हैं, ऐसी अवस्थामें उन अतीत अनागत पदार्थोंके विषयमें ज्ञान ही हो सकता है; दर्शन नहीं हो सकता, इसलिये केवलीभगवान्के अतीत अनागत पदार्थोंका दर्शन नहीं कहा जा सका, उनके उन पदार्थोंके दृष्टापनेका अभाव ही कहना चाहिये ? यहांपर शंकाकारका अभिप्राय यह है कि वह दर्शनको वर्तमान ज्ञेयको विषय करनेवाला मानता है। उसका सिद्धांत ऐसा है कि ज्ञान तो उपदेशादिसे विना वर्तमान ज्ञेयके भी हो जाता है परन्तु दर्शनका विषयविषयी संबंध तभी होता है जब कि ज्ञेय वर्तमानमें हो। इसके सिवा एक वात यह भी है कि वह इंद्रियजनित वोधके अतिरिक्त अवधिदर्शन, केवलदर्शन आदि कुछ मानता भी नहीं है इसलिये उसका कहनेका अभिप्राय यह है कि जब भूत और भविष्यत् पदार्थ वर्तमानमें उपस्थित ही नहीं है, क्योंकि भूत पदार्थ तो

समय आत्मा दुःखमें निमग्न हो जाता है उस समय स्वयं दुःखस्वरूप बन जाता है इसलिये जहां आत्मा और उसका विकारमय परिणाम जो दुःख है उन दोनोंमें अभेद है वहां तो दुःख शब्द कर्तृ-साधन रूप है, और जिस समय पर्याय और पर्यायी दोनोंमें भेदविवक्षा की जाती है उस समय "दुःख-यति अनेन अस्मिन्निति वा दुःखं" आत्मा जिस कारणसे दुःख करता है अथवा जिस विषयमें दुःख करता है ऐसा अर्थ होनेसे दुःख शब्द करणादिसाधनरूप पड जाता है, अर्थात् जहां आत्मा और उसका विकारमय परिणाम दुःख, इन दोनोंमें परस्पर भेद माना जाता है वहां आत्मासे दुःख भिन्न ही ठहरता है इसलिये भेदविवक्षामें दुःख शब्द करणादि साधन रूप है। अथवा जहां दुःखरूप परिणामकी मुख्यता रखकर वस्तुस्वरूप मात्रका कथन किया जाता है वहां 'दुःखनं दुःखमिति भावसाधनत्वं' दुःख करनेरूप परिणाम ही दुःख कहाजाता है इसलिये वहां दुःख शब्द भाव साधन रूप पडजाता है, भाव-साधनमें वर्तमान परिणामकी ही मुख्यता रहती है । जिसप्रकार दुःख शब्दमें कर्ता करणभाव साधन-पना घटाया गया है उसी प्रकार पर्याय पर्यायीकी भेदाभेद विवक्षासे शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन इन शब्दोंमें भी कर्ता करण भाव साधनपना घटित करलेना चाहिये ।

तदेकांतावधारणमनुपपन्नं अन्यतरैकांतसंग्रहात् ॥ १० ॥

अर्थ—ऊपर जो दुःखादि शब्दोंका कर्ता करणभाव साधनपना बताया गया है वह एकांतपक्षका अवलम्बन लेनेपर नहीं सिद्ध होता है, अर्थात् जहांपर पर्याय पर्यायीमें सर्वथा भेद है अथवा उन दोनोंमें सर्वथा अभेद है वहां एक ही शब्द कर्ता करण आदि भिन्न भिन्न साधनों द्वारा नहीं कहा जा सकता है किंतु एकांत पक्षमें एक शब्दका कर्ता अथवा करण आदिमेंसे कोई एक ही साधन रूप सिद्ध होगा, क्योंकि वहां एक शब्दके एकांत रूपसे एक ही पक्ष भेद या अभेद रूप घटित हो सकेगा परंतु सर्वथा एकांत पक्ष माननेवालोंके यहां वस्तुसिद्धि ही नहीं हो पाती है, यदि सर्वथा पर्याय ही मानी जाय तो

हुआ मानना भी सिद्ध नहीं होता, जहां निरावरण पूर्ण दर्शन हो जाता है वहां फिर भूत भविष्यत् वर्तमान सभी पदार्थोंका दर्शन होने लगता है और साथ ही ज्ञान होता है। दूसरी बात यह भी है कि जहां निरावरण दर्शन और ज्ञान हो जाते हैं वहां फिर ज्ञेय वर्तमानमें उस पर्यायसे उपस्थित हो या न हो इस बातकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती, कारण जब दर्शन और ज्ञानमें किसी प्रकारका आवरण ही नहीं रहता है तब ज्ञेय चाहे भूत भविष्यत् वर्तमान किसी भी अवस्थामें क्यों न हो सभी विषय पडते ही हैं इस लिये निरावरण दर्शनके विषयमें शंकाकारकी शंका व्यर्थ है।

तद्वद्वृत्तेः ॥ १५ ॥

अर्थ—शंकाकारको लक्ष्य कर आचार्य महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार जो पदार्थ वर्तमानपर्यायमें उपस्थित नहीं है, उस पदार्थको तथा जो उपदेश द्वारा कहा भी नहीं जासकता ऐसे पदार्थको केवलीभगवान जानते हैं, उस प्रकार वे उसप्रकारके पदार्थको देखते भी हैं, इस विषयमें तुम्हारी क्या हानि होती है? अर्थात् जब निरावरण ज्ञानद्वारा अनुपस्थित और अनुपदिष्ट पदार्थ जाना जाता है तब निरावरण दर्शन द्वारा अनुपस्थित और अनुपदिष्ट पदार्थ देखा भी जाता है, इस बातमें शंकाकारको कौनसी आपत्ति रहजाती है, जहां निरावरणता समान है वहां विषय निर्देश भी समान ही होता है और भी इसी विषयको स्पष्ट करते हैं—

विकल्पात् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आवरणसहित छद्मस्थ जीवको अस्पृष्ट अर्थात् भूत भविष्यत् पदार्थोंके विषयमें और अत्यंत सूक्ष्म पदार्थोंके विषयमें विना उपदेशके ज्ञान नहीं हो सकता है, तो क्या उन पदार्थोंके विषयमें केवली भगवानके भी ज्ञान नहीं होगा? अवश्य होगा। उसी प्रकार आवरणसहित छद्मस्थ जीवके वर्तमान उपस्थित और योग्यतापन्न स्पर्शावगाही पदार्थोंके विषयमें दर्शन होता है, तो क्या केवली

क्षणिकत्वाच्च पूर्वानुभूतस्मरणाभावात् शोकादिपरिणामाभावः ॥ ११ ॥

अर्थ—पहले अनुभव किये हुए पदार्थका वियोग होनेपर जो उसकी चिन्ता की जाती है उसी चिन्ता करनेवाले पुरुषके शोकादिक होते हैं, परन्तु क्षणिकवादमें स्मरण तो हो नहीं सकता है, स्मरणके विना शोकादिक भी नहीं हो सकते हैं अर्थात् बौद्धदर्शनवाले सभी पदार्थोंको नाशवान् मानते हैं, उनके मतमें आत्मा आदि सभी पदार्थ एक क्षण ठहरते हैं फिर नष्ट हो जाते हैं, ऐसी अवस्थामें शोकादिक भाव उनके यहां सिद्ध नहीं हो सकते हैं, कारण वे भाव विना पूर्वानुभूत विनष्ट पदार्थके वियोगजनित चिंताके स्मरण विना हो नहीं सकते हैं परंतु क्षणिक पदार्थमें स्मरणकी सिद्धि नहीं हो पाती है, कदाचित् बौद्ध मतवाले ऐसा कहैं कि पदार्थ भले ही नष्ट होजाय परंतु उसकी संतान तो बनी रहेगी उसीसे स्मरण हो जायगा अर्थात् वे ऐसा भी मानते हैं कि आत्माका तो एक क्षणमें ही नाश हो जाता है परंतु वह आत्मा अपने ज्ञानादि गुणोंके उत्तर संस्कार छोड जाता है, फिर वे संस्कार भी एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं परंतु वे भी उनके संस्कार पैदा कर जाते हैं इसप्रकार संतान परंपरासे स्मरण हो जायगा और स्मरण होनेसे शोकादिक होजांयगे ? यदि ऐसा कहाजाय तो इसके उत्तरमें यह बात है कि जब बौद्धोंके यहां सभी पदार्थ क्षणध्वंसी हैं तो संतानका भी नाश होजायगा, वह भी एक ही क्षण ठहरेगा, जो उत्तर संतान पैदा होगा वह नया होगा वह भी एक ही क्षण ठहरेगा इसलिये संतानका भी अभाव होनेसे स्मरणकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात पहले कही जा चुकी है।

तथा क्षणिकवादमें भावसाधन भी नहीं बन सकता है, क्योंकि जब तक भाववान् आत्माका सद्भाव नहीं होगा तबतक भावका ठहरना भी असंभव है, इसप्रकार सर्वथा क्षणिक पदार्थ माननेवाले बौद्धोंके मतमें शोकादिकोंका सद्भाव और उनमें कर्तादि साधनभावपना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है अब दूसरा मत जो सांख्यादिक है वह आत्मा द्रव्यको मानकर उसमें क्रिया गुणका अभाव मानता है

दर्शन होता है वह अतीत अनागत पदार्थोंको विना स्पर्शावगाहनरूप योग्यताके ही हो जाता है इसलिये ऐसा नियम नहीं है कि जो ज्ञान सावरण हो उसके स्पृष्ट होकरही दर्शनकी प्रवृत्ति होती है; अन्यथा नहीं, किंतु ऐसा है कि जहां इंद्रिय मनकी उपयोगिता है वहां तो स्पृष्टता पूर्वक ही दर्शन होता है परंतु उनकी उपयोगिता नहीं है किंतु निरपेक्षता है वहां विना स्पृष्टताके ही दर्शनप्रवृत्त हो जाता है। पुनः शंका—

मनःपर्ययदर्शनमप्यस्त्विति चेन्न कारणाभावात् ॥ १८ ॥

अर्थ—शंकाकारका यह कहना है कि जिस प्रकार अवधिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी दर्शनपूर्वक ही होना चाहिये ? इसके उत्तरमें श्री आचार्य महाराज कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि वहांपर दर्शन होनेका कारण नहीं है। कारण क्या नहीं है उसका खुलासा यह है कि मनःपर्यय दर्शनावरण कर्म नहीं है। शास्त्रोंमें दर्शनावरण कर्मके चार ही भेद माने गये हैं। इसलिये जब मनःपर्यय दर्शनावरणकर्मका ही अभाव है तब उसका क्षयोपशम ही सिद्ध नहीं होता और क्षयोपशमके विना मनः पर्यय दर्शनोपयोग भी सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् सर्वज्ञ देवने दर्शनावरण कर्मके आठ भेद बताये हैं, उनमें अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण जैसे बताये हैं वैसे मनःपर्ययदर्शनावरण कर्मका उल्लेख नहीं किया है। इसलिये विना उस कर्मकी सत्ताके उसका क्षयोपशम भी नहीं हो सकता है, इसलिये मनःपर्यय ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं होता है। विना कारणके कार्य नहीं होता है। और भी इसीका खुलासा किया जाता है—

परकीयमनःप्रणालिकया तदधिगमात् ॥ १९ ॥

अर्थ—एक बात यह भी है कि जिसप्रकार अवधिज्ञान अपने विषयमें स्वमुखसे ही प्रवर्तित हो जाता है उस प्रकार मनःपर्ययज्ञान नहीं प्रवर्तित होता है, किंतु दूसरेकी मनरूप प्रणालीकी अपेक्षा रखकर

ही उसके अनुभवन होसकता है अर्थात् अधर्म नाम पापका है और धर्मनाम पुण्यका है, पुण्यपापका ग्रहण उसी आत्मामें होसकता है जो क्रियावान है, जहां क्रिया ही नहीं वहां उनका ग्रहण किसीप्रकार नहीं होसकता है और क्रियारहित आत्मा उन पुण्यपापोंका फल भी नहीं भोग सकता है, इसलिये अधर्मके निमित्तसे भी निष्क्रिय निर्गुण आत्मामें सुखदुःखादिकोंका सद्भाव नहीं सिद्ध होता है। इसप्रकार सर्वथा आत्माको क्षणिक माननेवालोंके मतमें तथा आत्मामें गुण और क्रिया नहीं माननेवालोंके मतमें पुरुषके सुखदुःखादिक भाव नहीं होसकते हैं, किंतु अनेकांत पक्ष माननेवाले और आत्माको गुणसमुदाय स्वरूप माननेवाले जैनसिद्धांतवादियोंके यहां ही सुखदुःखादिककी व्यवस्था तथा कर्तादि साधन भाव भलेप्रकार सिद्ध होजाते हैं। अब सूत्रके अर्थका खुलासा किया जाता है—

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशात् ॥ १२ ॥

अर्थ—वे दुःख शोकादिक क्रोधादि विकारोंकी तीव्रतासे अपने भी होजाते हैं, दूसरोंके भी होजाते हैं और कभी अपने और दूसरे, दोनोंके होजाते हैं, उसीका खुलासा इसप्रकार है—जो आत्मा क्रोधादि कर रहा है और जिससमय उनसे अपने आत्मामें ही दुःख शोकादिक उत्पन्न करलेता है, उससमय वे दुःखशोकादिक अपने आपमें होनेवाले कहेजाते हैं तथा जिससमय आत्मा समर्थ होता हुआ कषायवश दूसरेको दुःखादि पहुंचाता है, उससमय वे दुःखादिक दूसरेमें होनेवाले कहेजाते हैं, तथा जिससमय कर्जा देनेवाले बडे आदमी कर्ज (ऋण) लेनेवाले क्षुद्र पुरुषोंके रोकने पकडने आदिमें लगजाते हैं उससमय वे दोनों ही भूख प्यास आदि दुखोंको पाते हैं ऐसी अवस्थामें वे दुःखादिक अपने और दूसरे दोनोंमें होनेवाले कहे जाते हैं अर्थात् कहींपर असाता वेदनीयके उदयमें स्वयं ही क्रोधादि कषायवश जीव दुःखशोकादि करते हैं, कहींपर वे अपनी सामर्थ्यसे उन्हें दूसरोंको पहुंचाते हैं और कहींपर संक्लेशभावोंसे दोनों ही दुःखादिक भोगते हैं।

जानता है वहां सामान्यावलोकन पहले नहीं होता है फिर भी जो उसके साथ केवलदर्शनका सद्भाव माना गया है उसका प्रयोजन इतना ही है कि केवल दर्शनावरण कर्मका आत्मामें पहले सद्भाव था उसी कर्मका केवली भगवानके सर्वथा अभाव हो चुका है, अर्थात् केवलदर्शनावरण कर्मका सर्वथा उनके क्षय हो चुका है, इसलिये केवल दर्शनरूप क्षायिकभाव मानना परमावश्यक है। मनःपर्यय दर्शनावरण कर्मका अस्तित्व ही नहीं है इसलिये उसका क्षयोपशम नहीं होनेसे मनःपर्यय दर्शनोपयोग नहीं होता है। अब श्री आचार्य महाराज कहते हैं कि शंकापक्षको लेकर जो प्रकृत विषयके अतिरिक्त बातें कहीं गई हैं उन्हें अब समाप्त किया जाता है और वही आस्रव संबंधी प्रकृत विषय प्रारंभ किया जाता है—

भिन्नास्रवत्वं वा प्रदोषादीनां विषयभेदाद्भेदासिद्धेः ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंका आस्रव भिन्न भिन्न रूपसे होता है ऐसा भी समझलेना चाहिये। क्योंकि प्रदोषादिकोंके विषयभेद होनेसे आस्रवोंमें भी भेद सिद्ध होजाता है अर्थात् पहले यह बात कही गई थी कि प्रदोषादिक ज्ञानावरण कर्मके भी आस्रव कारण हैं और वे ही दर्शनावरणकर्मके भी आस्रव कारण हैं। उस कथनमें यह शंका हो सकती है कि दोनोंके आस्रवका एक प्रकार ही कारण किस प्रकार हो सकता है? इसलिये उसी बातके स्पष्टकरनेके लिये यहां कहाजाता है कि ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका भिन्न कारण है और दर्शनावरणकर्मके आस्रवका भिन्न कारण है क्योंकि दोनोंका विषय भिन्न भिन्न है। जो ज्ञानके विषयमें प्रदोषादिक किये जांयगे वे ज्ञानावरणकर्मके आस्रवके कारण होंगे और जो दर्शनके विषयमें प्रदोषादिक किये जांयगे वे दर्शनावरणकर्मके आस्रवके कारण होंगे इसलिये प्रदोषादिक नाम एक सदृश हैं परंतु उनका भिन्न भिन्न विषय होनेसे वे जुदे जुदे ही कहेजाते हैं और वे अपने अपने कर्मके आस्रवके कारण हो जाते हैं। क्या क्या क्रिया करनेसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है उसीका स्पष्टी करण करते हैं।

यदि कोई यह शंका करै कि दुःखको ही प्रधानता क्यों है ? तो इसका उत्तर यह है कि आगेके जो शोक तापादिक हैं वे सब दुःखके ही विशेष विकल्प हैं, अर्थात् शोक तापादिक सभी भेद असाता वेदनीयके उदयमें होनेवाले दुःखके ही विशेष पर्याय हैं, इन भेदोंमें और दुःखमें सामान्य विशेषका भेद है।

प्रश्न—क्या दुःखके विकल्प जो सूत्रमें शोकादिक गिनाये गये हैं उतने ही हैं अथवा और भी हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—नहीं, अर्थात् इतने मात्र ही नहीं हैं किंतु और भी विकल्प हैं, उन्हींको नीचेकी वार्तिकसे स्पष्ट करते हैं—

शोकादिग्रहणस्य विकल्पोपलक्षणत्वादन्यसंग्रहः ॥ १६ ॥

अर्थ—ये शोकादिक सभी दुःखके विकल्प हैं तथा और भी जितने दुःखके विकल्प हैं उन सबोंके उपलक्षणके लिये उनका ग्रहण किया गया है, इसलिये और भी जितने दुःखभेद हैं उन सबोंका इन शोकादिकके कहनेसे ग्रहण हो जाता है अर्थात् उपलक्षण उसे कहते हैं कि जिसके कहनेसे दूसरे उसी जातिवालोंका ग्रहण होजाय जैसे किसीने कहा कि 'कौओंसे दहीकी रक्षा करना' तो इस कथनका यह अर्थ नहीं है कि कौओंसे दहीकी रक्षा की जाय और बिल्ली कुत्ता खाते हों तो उनसे रक्षा नहीं की जाय किंतु बोलनेवालेने कौए शब्दका नाम उपलक्षण रूपसे लिया है अर्थात् उसका अभिप्राय यही है कि कौएके समान जितने भी जीव दहीको विगाडनेवाले अथवा खानेवाले हों उन सबोंसे उसकी रक्षा की जाय, इसलिये कौआ शब्द उपलक्षण है, इसी प्रकार शोकादिक उपलक्षण हैं, उनके कहनेसे उनके समान और भी जितने दुःखके भेद प्रभेद हैं उन सबोंका ग्रहण उनसे समझलेना चाहिये। और वे इस प्रकार हैं—१ अशुभ प्रयोग—दूसरोंको खोटे मार्गमें लगानेकी प्रेरणा करना, २—परपरिवाद-दूसरोंकी निन्दा अथवा तिरस्कार करना, ३—पैशून्य—दूसरोंको नहीं देख सकना, उनकी चुगली करना, ४—अनुकंपाभाव—हृदयमें दयाभावका नहीं होना, अर्थात् परिणामोंको कठोर रखना, जीवोंपर दयाके

अभ्यास करना अथवा किसी लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मिथ्याज्ञानका भी अध्ययन करना जैसे भूगोल विज्ञानादिककी प्रतीति करना। यह अर्थ भी फलितार्थरूपसे घट जाता है। १५–शास्त्रोंका बेचना, अर्थात् शास्त्रोंका सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिके लिये दान करना तो उत्तम है परंतु उनका बेचना उनके अनादर और अविनयका कारण है। १६–प्राणोंका घात करना, अर्थात् दूसरोंकी चेतनाका हरण करना, उनके ज्ञानका घात करना। ये ऊपर कहे गये सोलह कारण हैं और भी इनके अतिरिक्त जो सम्यग्ज्ञानमें विघातक कारण हों वे सब ज्ञानावरणकर्मके आस्रवके हेतु हैं अर्थात् ऊपरकी सोलहों बातें ऐसी हैं जिनके करनेसे ज्ञानावरणकर्मका आस्रव होता है इसलिये प्रत्येक विवेकी आत्माको सम्यग्ज्ञानके विरुद्ध प्रवृत्ति और विचार नहीं करनेका पूरा ध्यान रखना चाहिये। अब क्या क्या क्रिया करनेसे दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है सो बतलाते हैं—

१—दूसरा देखता हो तो उसके साथ ईर्षाबुद्धि रखना, अथवा उसे नहीं देखने देना। २–देखते हुये किसीको किसीप्रकारकी बाधा पहुंचाकर अंतराय डालदेना, वह नहीं देख सकै वैसा प्रयत्न करना। ३–किसीके नेत्रको निकाल लेना अथवा नेत्रोंका फोडदेना अथवा अपने ही नेत्रोंको बिगाड लेना ४–इंद्रियोंमें किसीप्रकार प्रतिरोध करना अर्थात् ऐसा प्रयोग करना जिससे इंद्रियोंका उपयोग नहीं किया जासके। ५—अपने अच्छे देखनेका अर्थात् दृष्टिकी सुंदरताका अथवा अधिक दीखनेका घमंड करना। ६–बहुत देरतक सोना अथवा दूसरोंको सुलाना अथवा "आयत स्वापित" शब्दको यदि भिन्न भिन्न समझा जाय तो ऐसा भी अर्थ होता है कि अपनी दृष्टिको लम्बा बनाना अर्थात् नेत्र फाडकर देखना आदि और सोना या सुलाना। ७—दिनमें शयन करना। ८–आलस्य रखना, आलस्य करनेसे भी दर्शनमें बाधा पडती है क्योंकि इंद्रियोंका उपयोग कमती होता है, ठीक ठीक उपयोग नहीं होता है इसलिये आलस्य करना भी दर्शनावरण कर्मके आस्रवमें हेतु कहा गया है। ९–नास्तिक पक्षका ग्रहण

तयार करना, ३५ बलाभियोग—किसी पर वलपूर्वक आक्रमण करना, अर्थात् दूसरेके साथ जवर्दस्ती झगडा करना, ३६ शस्त्रप्रदान—दूसरोंको शस्त्र देना, अर्थात् मारनेके लिये हथियार देना, ३७ पाप मिश्रभाव—पाप सहित भावोंका रखना, अर्थात् मनमें पाप वासना रखना इत्यादि सभी बात उन शोकादिक दुःखोंमें गर्भित हैं, ये सब दुःखादिक चाहे अपने आत्मामें हों चाहे दूसरेके आत्मामें हों चाहे अपने और परके दोनों आत्मामें हों असाता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण होते हैं ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् ऊपर जितनी बात कही गई हैं वे सव और मूत्रमें जो दुःखादिक कहे गये हैं वे सब जिस आत्मामें उत्पन्न होंग उसीमें असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा, ये सब दुःखादिक असाता वेदनीयके ही उदयमें होते हैं और उसी असाता कर्मके आस्रवके कारण हैं। शंका—

स्वतीर्थकरोपदेशविरोधादयुक्तिरिति चेन्न सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः ॥ १७ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यदि दुःखादिकोंका करना असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण है तो फिर नग्न रहना उपवास आदि तपोंका करना भी दुःखका कारण है इसलिये उन तपोंको करनेका उपदेश देना अपने तीर्थंकरके लिये विरुद्ध पडेगा अर्थात् यदि दुःखादिक ही असाता वेदनीयके आस्रव कारण हैं तो फिर तीर्थंकर भगवान जो नग्न परीषह और उपवास आदि तपोंके करनेका उपदेश देते हैं वह सब विरुद्ध पडेगा क्योंकि इन सब तपोंमें दुःख होता है इसलिये वे सब असाताके ही कारण ठहरेंगे ऐसा उपदेश तीर्थंकर क्यों देते हैं? यदि कदाचित् यह कहाजाय कि तीर्थंकरोंका उपदेश विरुद्ध नहीं है किंतु ठीक है तो फिर दुःखादिक असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ऐसा कहना अयुक्त है अर्थात् जब तीर्थंकरोंका तपका उपदेश देना ठीक है तो उस तपके करनेमें जो दुःखादिक होंगे वे असातावेदनीयकर्मके आस्रवके कारण नहीं होंगे फिर दुःखादिकोंको असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण बताना ठीक नहीं है? इस शंकाके उत्तरमें श्रीआचार्यमहाराज कहते हैं कि यह शंका

और दूसरोंको भी पैदा कराई जांय, जहां दुःख शोकादिक भावोंका सद्भाव होगा वहां असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होगा। दुःख शोकादिकका क्या स्वरूप है उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

पीडालक्षणः परिणामो दुःखं ॥ १ ॥

अर्थ—प्रतिकूल, विरोधी द्रव्यका संयोग होना, अभिलषित पदार्थोंका बियोग होना और जो अपने मन तथा इंद्रियोंको अनिष्ट हों सुननेमें अतिकठोर हों ऐसे वचनोंका श्रवण होना, इत्यादि वाह्य साधनोंकी अपेक्षासे और अंतरंगमें असाता वेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो पीडारूप परिणाम वही दुःख कहलाता है अर्थात् जो वस्तुएं अपनेको असाता पहुंचानेवाली हों वे सब दुःखके उत्पन्न करनेवालीं कही जाती हैं, दुःखनाम पीडा अथवा कष्ट होनेका है, संसारी आत्माको नीचे लिखी वातोंसे कष्ट होता है जैसे—जो वस्तु इष्ट नहीं है उसका संबंध होजाय, जो वस्तु अत्यंत प्रिय हो उसका वियोग होजाय, जो मन इंद्रियोंको अतीव अनिष्ट और कटुक हो ऐसी बातोंका सुनना इत्यादि बातोंसे पीडा होती है, पीडामें भीतरी हेतु असाता वेदनीय कर्मका ही उदय है। अब शोकका लक्षण कहा जाता है।

अनुग्राहकसंबंधविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस किसी बंधु मित्र अपने परमहितैषी और उपकारी प्रिय वस्तुका संबंध अपनेसे छूट जाय अर्थात् उसका वियोग हो जाय तो उसके वियोग होने पर जो परिणामोंमें अत्यन्त खेद होता है और उसी वियोगसे होनेवाली खिन्नताकी वार वार चिंता की जाती है उसीका नाम विकलता है और उसी विकलता अर्थात् वेचैनीको शोक कहते हैं। यह शोक तभी होता है जब कि अंतरंगमें मोहनीयकर्मका विशेष जो शोकनामा नोकषायभेद है उसका उदय हो। अव तापका लक्षण कहा जाता है।

परिवादादिनिमित्तादाविलांतःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः ॥ ३ ॥

अर्थ—परिवाद नाम तिरस्कारका है, किसीप्रकार भी किसीके द्वारा तिरस्कार किया जाय अथवा

तयार करना, ३५ बलाभियोग—किसी पर वलपूर्वक आक्रमण करना, अर्थात् दूसरेके साथ जवर्दस्ती झगडा करना, ३६ शस्त्र प्रदान—दूसरोंको शस्त्र देना, अर्थात् मारनेके लिये हथियार देना, ३७ पाप मिश्रभाव—पाप सहित भावोंका रखना, अर्थात् मनमें पाप वासना रखना इत्यादि सभी बात उन शोकादिक दुःखोंमें गर्भित हैं, ये सब दुःखादिक चाहे अपने आत्मामें हों चाहे दूसरेके आत्मामें हों चाहे अपने और परके दोनों आत्मामें हों असाता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण होते हैं ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् ऊपर जितनी बात कही गई हैं वे सव और सूत्रमें जो दुःखादिक कहे गये हैं वे सब जिस आत्मामें उत्पन्न होंग उसीमें असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा, ये सब दुःखादिक असाता वेदनीयके ही उदयमें होते हैं और उसी असाता कर्मके आस्रवके कारण हैं। शंका—

स्वतीर्थकरोपदेशविरोधादयुक्तिरिति चेन्न सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः ॥ १७ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यदि दुःखादिकोंका करना असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण है तो फिर नग्न रहना उपवास आदि तपोंका करना भी दुःखका कारण है इसलिये उन तपोंको करनेका उपदेश देना अपने तीर्थंकरके लिये विरुद्ध पडेगा अर्थात् यदि दुःखादिक ही असाता वेदनीयके आस्रव कारण हैं तो फिर तीर्थंकर भगवान जो नग्न परीषह और उपवास आदि तपोंके करनेका उपदेश देते हैं वह सब विरुद्ध पडेगा क्योंकि इन सब तपोंमें दुःख होता है इसलिये वे सब असाताके ही कारण ठहरेंगे ऐसा उपदेश तीर्थंकर क्यों देते हैं ? यदि कदाचित् यह कहाजाय कि तीर्थंकरोंका उपदेश विरुद्ध नहीं है किंतु ठीक है तो फिर दुःखादिक असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ऐसा कहना अयुक्त है अर्थात् जब तीर्थंकरोंका तपका उपदेश देना ठीक है तो उस तपके करनेमें जो दुःखादिक होंगे वे असातावेदनीयकर्मके आस्रवके कारण नहीं होंगे फिर दुःखादिकोंको असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण बताना ठीक नहीं है ? इस शंकाके उत्तरमें श्रीआचार्यमहाराज कहते हैं कि यह शंका

संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकंपाप्रायं परिदेवनं ॥ ६ ॥

अर्थ—इसप्रकार रोना जिसमें संक्लेशरूप परिणामोंका सद्भाव प्रतीत होता हो, अपने तथा दूसरोंके उपकार करनेकी इच्छा प्रतीत होती हो, और जिसे सुनकर सुननेवालोंको दया उत्पन्न होजाती हो, उस रोनेका नाम परिदेवन है। यहांपर यह शंका उत्पन्न होती है कि—

दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसंबंधेन तज्जात्याख्यानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—शोक ताप आक्रंदन आदि जितनी भी बातें सूत्रमें कहीगई हैं वे सब दुःखके ही प्रकार हैं, अर्थात् सभी दुःखस्वरूप ही हैं, इसलिये सबोंका ग्रहण केवल एक दुःख शब्दके ग्रहणसे ही सिद्ध होजाता है, फिर दुःखके साथ साथ इन शोकादि शब्दोंका भिन्न भिन्न उल्लेख करना व्यर्थ ही प्रतीत होता है? इस शंकाका उत्तर इसप्रकार है कि—ऊपरकी शंका ठीक नहीं है, कारण कि कुछ विशेष भेदोंकी प्रतीति अथवा संबंध होनेसे दुःखकी जातिमें ही गर्भित होनेवाले शोकादिकोंका भिन्न भिन्न उल्लेख किया गया है। अर्थात् शोकादिक यद्यपि दुःखजातिमें गर्भित किये जानेवाले हैं फिर भी उस दुःखके नानाभेद होनेसे उन भेद प्रभेदोंका स्वरूप सुननेकी विशेष जिज्ञासासे उनका कथन भी आवश्यक है। जिसप्रकार किसीने गौ ऐसा सामान्य शब्द बोल दिया हो तो उस सामान्य शब्दसे गौ कितने प्रकारकी होतीं हैं ऐसा विशेष बोध सुननेवालोंको नहीं होसकता है, तब उस विशेष ज्ञानकेलिये खंडी गौ, मुंडी गौ, सफेद गौ, काली गौ इत्यादि नामोंसे उस गौका उल्लेख किया जाता है अर्थात् किसी पुरुषके अनेक गायें बंधी हुई हैं उसने एक लडकेसे कहा कि गौका वह बच्चा है, लडका उस कथनसे यह नहीं समझ पाता कि किस गौका यह बच्चा है, फिर वह पुरुष जब विशेषरूपसे कहता है कि वह बच्चा अमुक गौका है जिसकी पूंछ कट गई है उसका वह बच्चा है अथवा जिसके सींग कट गये हैं, उसका है अथवा जो काली है जो सफेद है उसका वह बच्चा है, इतना कहते ही लडका झट समझ लेता है, ठीक इसीप्रकार सामान्य दुःख शब्द

व्रताचरण आदि उत्तम कार्य भी दुःखहेतु समझे जांयगे तो फिर नियमरूपसे व्रतपालन कठिन उपवासादिक भी दुःखके कारण ठहरेंगे फिर उनका सांख्यमतमें जो उपदेश दिया गया है कि व्रताचरण करना चाहिये, ब्रह्मचर्यादि धारण करना चाहिये यह सब उपदेश विरुद्ध ठहरेगा इसलिये सांख्यमतमें भी ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है अर्थात् जिसप्रकार दुःख शोक ताप आदि दुखरूप होनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण समझे जाते हैं उसप्रकार उपवास करना, ब्रह्मचर्यव्रत पालना, नग्नदिगम्बर रहना आदि तपश्चरण दुःखके कारण नहीं समझे जाते हैं, किंतु वे सुखके कारण ही समझे जाते हैं इसीलिये उनका उपदश सब मतोंमें विधानरूपसे दिया गया है। बौद्ध सांख्य आदि सभी दुःखशोकादिको पापका कारण मानते हैं और दान उपवास, ब्रह्मचर्य व्रताचरण आदि तपरूप अनुष्ठानको सुखका कारण और मोक्षसाधक मानते हैं, इसलिये ऊपर जो शंकाकारका प्रश्न है वह जैनियोंके यहां तो उठता ही नहीं है और भी मतोंमें नहीं उठता है। इसी बातको और भी पुष्ट करते हैं—

द्वेषासंभवात् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी अनिष्ट द्रव्यके संबंध होनेसे द्वेषकी उत्पत्तिपूर्वक दुःखोत्पत्ति होती है उस प्रकार धर्मध्यानमें तत्पर रहनेवाले मुनिराजके वाह्य और अभ्यंतर तपकी प्रवृत्ति करनेमें जो अनशन केशलुंचन आदि क्रियाओंके करनेके कारण कायक्लेश होता है उसमें द्वेषकी संभावना नहीं है। अर्थात् जिसप्रकार सरागी पुरुष क्रोधादि भावोंके उदयसे किसी अनिष्ट वस्तुका संबंध होजानेसे उस वस्तुसे द्वेष करने लगजाते हैं, इसलिये उनका वह दुःख कषायसहित होनेसे संक्लेशका कारण है, उसप्रकार वीतराग मुनियोंके अनशन केशलोंच आदि क्रियाओंके करनेमें जो कुछ कायक्लेशरूप दुःख होता है, उसमें उनके सकषायभाव नहीं होते हैं उस दुःखको वे दुःख ही नहीं मानते हैं किंतु आत्म-ध्यान एवं मोक्षसाधनका एक निरारंभ उत्तम मार्ग समझते हैं इसलिये उनका

विशेष हेतु और कार्यकी दृष्टि रखनेसे उन दुःख शोकादिकोंमें विशेषता भी प्रतीत होती है इसलिये पर्यायदृष्टिसे दुःख शोक ताप आक्रंदन बध परिदेवन ये सभी जुदे जुदे भी हैं अर्थात् सामान्य रीतिसे तो शोकमें भी दुःख है तापमें भी दुख है, सभीमें दुःख प्रतीत होता है, परंतु विशेष रीतिसे पीडाका नाम दुःख है, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग होनेपर होनेवाली खिन्नता एवं विकलताका नाम शोक है पश्चात्तापका नाम ताप है, चिल्लाकर रोनेका नाम आक्रंदन है, मारनेका नाम बध है और करुणाजनक रोनेका नाम परिदेवन है, इस प्रकार परस्पर इन सबोंमें भेद प्रतीत होता है।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः ॥ ६ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो दुःख शोक ताप आदिक शब्द हैं वे कर्तृसाधन भी हैं, करणसाधन भी हैं और भावसाधन भी हैं, इन शब्दोंमें कर्ता करणभाव—साधनपना क्यों है ? इसकेलिये कहते हैं कि इन शब्दोंमें पर्यायी और पर्यायकी भेद तथा अभेदविवक्षा है, अर्थात् जिन शब्दोंमें किसी अपेक्षासे भेद हो किसीसे अभेद हो तो वहां कथंचित् पर्याय और पर्यायीमें अभेद होनेसे कर्तृसाधनपना भी आ जाता है और पर्याय पर्यायीमें कथंचित् भेद होनेसे करणसाधनपना भी आ जाता है। जहां सर्वथा भेद माना जाता है अथवा सर्वथा अभेद माना जाता है वहां एक ही साधन नियत रहता है, कथंचित् भेदाभेद विवक्षामें ही साधनोंमें कथंचित् भेद हो सकता है। सूत्रमें जो दुःख शोकादिक शब्द हैं, उनमें यदि पर्यायी और पर्यायकी दृष्टिसे अभेद माना जाय अर्थात् पर्याय पर्यायीमें भेद नहीं समझाजाय तो उस समय अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेके समान आत्मा ही दुःखरूप परिणाम धारण करनेसे दुःख करता है, "आत्मैव दुःखयति" आत्मा ही दुःख करता है, यहांपर दुःख शब्द कर्तासाधन है क्योंकि आत्मा स्वयं दुःखरूप परिणमता है। जिस प्रकार अग्निसे तपा हुआ लोहा स्वयं अग्निरूप धारण कर लेता है उस समय वह गोला ही अग्निरूप कहा जाता है, उसीप्रकार यहां भी समझलेना चाहिये, जिस

व्रताचरण आदि उत्तम कार्य भी दुःखहेतु समझे जांयगे तो फिर नियमरूपसे व्रतपालन कठिन उपवासादिक भी दुःखके कारण ठहरेंगे फिर उनका सांख्यमतमें जो उपदेश दिया गया है कि व्रताचरण करना चाहिये, ब्रह्मचर्यादि धारण करना चाहिये यह सब उपदेश विरुद्ध ठहरेगा इसलिये सांख्यमतमें भी ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है अर्थात् जिसप्रकार दुःख शोक ताप आदि दुखरूप होनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण समझे जाते हैं उसप्रकार उपवास करना, ब्रह्मचर्यव्रत पालना, नग्नदिगम्बर रहना आदि तपश्चरण दुःखके कारण नहीं समझे जाते हैं, किंतु वे सुखके कारण ही समझे जाते हैं इसीलिये उनका उपदश सब मतोंमें विधानरूपसे दिया गया है। बौद्ध सांख्य आदि सभी दुःखशोकादिको पापका कारण मानते हैं और दान उपवास, ब्रह्मचर्य व्रताचरण आदि तपरूप अनुष्ठानको सुखका कारण और मोक्षसाधक मानते हैं, इसलिये ऊपर जो शंकाकारका प्रश्न है वह जैनियोंके यहां तो उठता ही नहीं है और भी मतोंमें नहीं उठता है। इसी वातको और भी पुष्ट करते हैं—

द्वेषासंभवात् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी अनिष्ट द्रव्यके संबंध होनेसे द्वेषकी उत्पत्तिपूर्वक दुःखोत्पत्ति होती है उस प्रकार धर्मध्यानमें तत्पर रहनेवाले मुनिराजके वाह्य और अभ्यंतर तपकी प्रवृत्ति करनेमें जो अनशन केशलुंचन आदि क्रियाओंके करनेके कारण कायक्लेश होता है उसमें द्वेषकी संभावना नहीं है। अर्थात् जिसप्रकार सरागी पुरुष क्रोधादि भावोंके उदयसे किसी अनिष्ट वस्तुका संबंध होजानेसे उस वस्तुसे द्वेष करने लगजाते हैं, इसलिये उनका वह दुःख कषायसहित होनेसे संक्लेशका कारण है, उसप्रकार वीतराग मुनियोंके अनशन केशलोंच आदि क्रियाओंके करनेमें जो कुछ कायक्लेशरूप दुःख होता है, उसमें उनके सकषायभाव नहीं होते हैं उस दुःखको वे दुःख ही नहीं मानते हैं किंतु आत्म-ध्यान एवं मोक्षसाधनका एक निरारंभ उत्तम मार्ग समझते हैं इसलिये उनका

पर्यायी जो आत्मा है उसका अभाव ठहरेगा, फिर आत्माके अभाव होनेपर विज्ञानादिकोंको करण आदि साधनपना भी नहीं बन सकेगा क्योंकि जब कर्ता आत्माका ही अभाव है तब विज्ञानादि गुणों की भी सिद्धि नहीं हो सकती, विना गुणीके गुण कहां ठहर सकते हैं, तथा जितने भी शेष कारक हैं वे सब स्वतंत्र शक्ति विशिष्ट कर्ताकी अपेक्षा रखनेवाले हैं, इसलिये कर्ताके अभावमें उसकी अपेक्षा रखनेवाले बाकीके सब कारक भी अभावको प्राप्त हो जाते हैं। अथवा इन विज्ञानादिकोंको कर्ता साधनपना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि करण आदि साधनोंसे साध्य होनेवाला जो पदार्थ है उसकी अपेक्षा का अभाव है। जबतक करणादि साधनोंसे साध्य होनेवाले पदार्थकी अपेक्षा नहीं होगी तबतक कर्तृसाधनपना भी किसप्रकार घटित होगा, अर्थात् मूल पदार्थके अभावमें करणादि साधन भी नहीं बन सकते हैं तथा उन विज्ञानादिकोंमें परस्पर भी सचिवपना नहीं है अर्थात् एक दूसरेके प्रति किसी प्रकारकी कोई अपेक्षा अथवा सहकारिता नहीं रखता है, क्योंकि उनकी एकसाथ ही उत्पत्ति मानी गई है, जिस प्रकार एकसाथ उत्पत्ति होनेवाले गौके वांये दांये सीगोंमें एक दूसरेकी परस्पर किसीप्रकारकी अपेक्षा अथवा सहायता नहीं है उसीप्रकार उन विज्ञानादिकोंमें भी नहीं है और न अतीत अनागत विज्ञानादिकोंका वर्तमान गुणोंके प्रति किसी प्रकारका सहायभाव ही बनता है क्योंकि जिसप्रकार बन्ध्यापुत्रका अभाव है उसीप्रकार भूत भविष्यत विज्ञानादिकोंका भी अभाव है। ऊपरका कथन उन बौद्ध दार्शनिकोंके प्रति है जो आत्माका अस्तित्व नहीं मानकर विज्ञानादि गुणोंकी क्षणिक संतानोंको मानने वाले हैं, इसप्रकारके क्षणिक विज्ञानवादमें न तो कर्ता करण आदि साधन ही सिद्ध हो पाते हैं और न उन विज्ञानादिकोंका उनकी मानी हुई कल्पित संतानोंके साथ कार्य कारण आदि संबंध ही सिद्ध हो पाता है, जहां आत्मादि पदार्थोंकी मूलभूत कुछ सत्ता ही नहीं है वहां उन विज्ञानादिकोंका अस्तित्व भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो पाता है। यही बात श्री आचार्य महाराजने ऊपर स्पष्ट करदी है। अब और भी सर्वथा एकांतपक्षमें आनेवाले दूषणोंको वे स्पष्ट करते हैं—

अनुग्रहबुद्ध्या तद्व्यापाराद्दंडपाटनवत् ॥ २० ॥

अर्थ–जिस प्रकार कोई दयाभावसे भीगे हुए चित्तवाला वैद्य किसी संयमी पर उपकार बुद्धि धारण कर उसके फोडेको बडे यत्नके साथ चीर देता है फिर भी क्रोधादि भावोंका सर्वथा अभाव होनेसे पाप-बंध नहीं करता है, उसीप्रकार अनादिकालसे संसारमें होनेवाले जन्म मरण बुढापा आदि वेदनाओंके नाश करनेमें उद्यमी जो यति हैं वे उन वेदनाओंके प्रतीकार करनेमें प्रवर्तित होते हुए अपने अथवा दूसरोंके लिये दुःखके कारणभूत नहीं हैं, उनके क्रोधादि भावोंका सद्भाव भी नहीं है इसलिये वे पापके बंध करने वाले नहीं कहे जा सकते अर्थात् किसी संयमीके यदि कोई फोडा होजाय और उस संयमीसे धार्मिक-प्रेम रखनेवाला कोई वैद्य बडे यत्नसे उस फोडेको चीर डाले तो उस चीरनेसे यद्यपि संयमीको कष्ट होता है फिर भी वह दयालु वैद्य क्रोधादि भावोंसे रहित होनेके कारण पापका भागीदार नहीं होता है किंतु संयमीकी वैयावृत्ति करनेके कारण पुण्यबंध ही करता है, उसीप्रकार संसारावस्थामें होने-वाले जन्म मरण बुढापा आदि वेदनाओंको सर्वथा सदाके लिये नाश करनेकेलिये उद्यमी साधुजन यदि क्रोधादिरहित वीतराग भावोंसे स्वयं अनशनादि कठिन तपश्चरण करते हैं अथवा दूसरोंको भी करनेका उपदेश देते हैं तो वे पापके बंध करनेवाले किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते हैं किंतु पुण्य पाप दोनोंके नाश करनेवाले शुद्धोपयोगी हैं। इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं—

मनोरत्याः सौख्याभिधानात् ॥ २१ ॥

अर्थ-जिसप्रकार संसारी जीव नाना दुःखोंसे सताये जाने पर भी जहां मनोरति समझते हैं वहां सुख मानते हैं उसीप्रकार जो अनशन केशलोंच आदि कठिन तप करनेवाले साधुजन हैं वे भी उसी धर्मसाधनमें मनोरति समझते हैं इसलिये वे उस क्रियामें सुख ही मानते हैं, दुःख नहीं मानते हैं। अर्थात् जहां पर दुःख होनेपर संक्लेशभाव हो वहां ही वह दुःख दुःख समझा जाता है, किंतु जहां दुःख होने

उसीके एकांत पक्षपर विचार करते हैं—आत्मा द्रव्य मात्र है, उसमें क्रिया और गुण नहीं रहते हैं, वह निर्गुण और निष्क्रिय है, ऐसा जो मानते हैं उनके यहां भी सुख दुःखादि भावोंकी प्राप्तिकेलिये आत्मामें कर्तापना नहीं आसकता है अर्थात् जब उस आत्मामें क्रिया और गुण नहीं है तो सुख दुःखादि परिणाम किसप्रकार होसकते हैं ? नहीं होसकते हैं, और कर्तापनेका अभाव होनेसे करणादि साधनोंका भी उसके अभाव ही समझना चाहिये। जब कर्ता ही मूलभूत पदार्थ नहीं बन पाता तो फिर करण आदि साधन भी नहीं होसकते हैं, कदाचित् यह कहा जाय कि वास्तवमें तो आत्मामें कर्ता आदि साधनपना नहीं है परंतु उसकी कल्पना कर लीजाती है, तो उसके उत्तरमें यह बात है कि जब कर्ता करण और साधनभाव आत्माके माना जायगा तो उसके निर्गुणपना और निष्क्रियपना नहीं बनेगा ऐसी अवस्थामें उनके मतका ही विघात होजाता है, दूसरा दोष यह भी आवेगा कि अचेतन जड पदार्थमें जो सुख दुःखादिभावोंके प्रति कर्तापने आदिका अभाव माना गया है वह भी नहीं बनेगा, अर्थात् जब निर्गुण और निष्क्रिय पदार्थमें भी सुख दुःखादि भावोंके सद्भावकी कल्पना की जायगी तो जिस जड पदार्थमें सुख दुःखादिकी संभावना नहीं है उसमें भी वे भाव हो जांयगे परंतु घट पटादिक जो जड पदार्थ हैं उनमें सुख दुःखादिक भाव कभी देखे नहीं जाते हैं अर्थात् जडपदार्थमें वे भाव होते नहीं हैं। यदि कदाचित् सुख दुःखादिभाव अचेतन पदार्थके भी माने जांय तो फिर चेतन और अचेतन पदार्थमें भेद ही क्या रहेगा ? दोनों ही समान होजांयगे। यदि आत्माको निष्क्रिय और निर्गुण माननेवाला यह बात कहे कि आत्मा यद्यपि निष्क्रिय है, उसमें किसीप्रकारकी क्रिया नहीं है तोभी जो दुःखादिक भाव उसके होते हैं वे अधर्मके निमित्तसे होते हैं ऐसा माननेमें क्या हानि है ? इसके उत्तरमें यह बात है कि अधर्मके निमित्तसे भी निष्क्रिय आत्मामें सुखदुःखादि सिद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि जो सर्वथा निष्क्रिय है उसके धर्म और अधर्मके ग्रहण करनेकी विधिका ही अभाव है और न उनके फलका

प्रतीत होता है इसलिये पहले शंकाकारने जो मुनियोंके कायक्लेशमें दुःख बताया था वह उसका कथन युक्तिप्रमाण और अनुभवसे बाधित है। प्रश्न—यदि ऊपरके सूत्रद्वारा कहे गये दुःख शोकादिक असाता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं तो द्वितीय जो सातावेदनीयकर्म है उसके आस्रवके कारण कौनसे हैं? उत्तर—

भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—समस्त प्राणी और व्रती पुरुषोंमें करुणाभाव रखना, दान देने और सराग संयम आदिके धारण करनेमें भलेप्रकार चित्तका लगाना, क्षमाभाव धारण करना, पवित्रता धारण करना, इसीप्रकार और भी देवपूजन आदि बातोंका धारण करना सातावेदनीयकर्मके आस्रवका कारण है अर्थात् ऊपरके सूत्र द्वारा जो बातें असातावेदनीयके आस्रवकेलिये कारणभूत बताई गई हैं, उनसे विपरीत इस सूत्र द्वारा सातावेदनीयके आस्रवकेलिये कारणभूत बताई गई हैं।

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि ॥ १ ॥

अर्थ—आयुकर्म और नामकर्मके उदयसे जिन जिन योनियोंमें जीव उत्पन्न होते हैं उन्हें भूत कहते हैं अर्थात् भूत नाम जीवोंका है, व्युत्पत्तिसे संसारी जीवोंका नाम सिद्ध होता है। उन्हींका यहां प्रयोजन है। जो जीवों की उत्पत्तिके स्थान हैं, जहां जीव पैदा होते है ऐसे आधारभूत स्थान हैं उन्हें योनियां कहते हैं, उन योनियोंमें जीव आयु और नाम कर्मके उदयसे ही पैदा होते हैं इसलिये उन पैदा होनेवाले जीवोंको भूत अथवा प्राणी इत्यादि नामोंसे कहा जाता है।

व्रताभिसंबंधिनो व्रतिनः ॥ २ ॥

अर्थ—व्रतोंका स्वरूप आगे सातवें अध्यायमें अहिंसा सत्य आदि नामोंसे कहा जायगा, उन व्रतोंको जो पालनेवाले हैं वे व्रती कहे जाते हैं। वे व्रती दोप्रकारके होते हैं, आरंभके प्रति जिनकी चित्तवृत्ति

विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वाद्यनिर्देश इति चेन्न विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात् ॥ १३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि सूत्रमें 'असद्वेद्यस्य' पद पडा हुआ है उसमें जो विद धातु है उसके चार रूप बनते हैं जैसे–विदंति, विंदंति, विंदंते, विद्यंते, इन चारों ही प्रयोगोंके ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव, ये चार अर्थ होते हैं, इन चारों प्रयोगोंमेंसे यहां सूत्रमें किसी एकका ग्रहण समझा जाय तो भी जो अर्थ यहां अभीष्ट है कि असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ऐसा अभीष्ट अर्थ उनसे नहीं होता है? अर्थात् वेद्यपदका अर्थ वेदनीयकर्म लिया जाता है परंतु वेद्य शब्दके ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव ये चार ही अथ होते हैं फिर वेद्यशब्दका वेदनीयकर्मरूप अर्थ किसप्रकार लिया जाता है? यह शंका ठीक नहीं है, कारण कि सूत्रमें जो विद् धातु ली गई है वह चेतनार्थक ली गई है। विद् धातुसे चुरादि गुणमें ण्यंत प्रत्यय होनेसे चेतनार्थक विद्का वेद्य यह प्रयोग है । इसी वेद्य पदका यौगिक तथा रूढिरूपसे वेदनीयकर्मरूप अर्थ होजाता है।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—वह वेद्यपद असत् शब्दसे विशेषित किया जाता है अर्थात् उस वेद्यका असत् ऐसा विशेषण दिया जाता है क्योंकि अप्रशस्त वेद्यका यहांपर ग्रहण है। अर्थात् सूत्रमें असातारूप वेदनीयका ग्रहण है इसलिये अशुभसूचक असतशब्द उस वेद्यका विशेषण है । असातावेदनीयकर्म अनिष्टफलको उत्पन्न करनेका कारण है इसीलिये उसे अशुभ अप्रशस्त इस नामसे कहा जाता है। अब यह बतलाते हैं कि सूत्रमें दुःख शोकादिक जो शब्द हैं उनमें दुखका ही नाम पहले क्यों है, शोकका नाम पहले क्यों नहीं, इसीका खुलासा नीचेकी वार्तिकोंसे करते हैं–

दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात् ॥ १५ ॥

अर्थ—सूत्रमें दुःख शब्दका ग्रहण आदिमें किया जाता है क्योंकि वही सबोंमें प्रधान है, यहांपर

नहीं हो सका है फिर भी उस कषाय भावके दूर करनेकेलिये जो उद्यत चित्तवाले हैं वे सराग कहे जाते हैं अर्थात् जो प्रशस्तरागको सर्वथा नहीं हटा सके हैं फिर भी संसारको नष्ट करनेकेलिये उद्यमी बने हुये हैं वे मुनिराज छठे आदि गुणस्थानवर्ती सराग कहे जाते हैं।

प्राणींद्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः ॥ ६ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय द्वींद्रिय आदि प्राणियोंके विषयमें तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयमें जो अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्त होजाना है उसे संयम कहते हैं। अर्थात् जिस प्रवृत्तिसे एकेंद्रियादि जीवोंका घात हो और चक्षुरादि इंद्रियोंकी सांसारिक वासनाओंमें प्रवृत्ति हो उसप्रकारकी प्रवृत्तिको अशुभ प्रवृत्ति कहते हैं उससे जो विरक्त होना है—उस अशुभ प्रवृत्तिका त्याग होना है अर्थात् एकेंद्रियादि जीवोंकी रक्षाके भाव और इंद्रियोंकी विषयप्रवृत्तिका दमन करना है उसीका नाम संयम है तथा सरागके संयमको सरागसंयम कहते हैं, अथवा सराग जो संयम वह सरागसंयम कहाजाता है अर्थात् छठे आदि गुणस्थानवर्ती जो यति हैं वे सरागसंयमी कहे जाते हैं।

आदिशब्देन संयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपोनुरोधः ॥ ७ ॥

अर्थ—संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप इनका ग्रहण भी सूत्रमें आये हुये आदिशब्दसे किया जाता है। आरंभ परिग्रहसे जो सर्वथा विरक्त नहीं हैं वे संयमासंयमी कहेजाते हैं अर्थात् एकदेश विरतिको संयमासंयम कहते हैं, विना प्रयोजनके विषयसेवनको अनर्थ कहते हैं ऐसे प्रयोजनरहित अनर्थ भूत विषयोंकी निवृत्ति जो अपने निजी अभिप्रायसे तो नहीं करता है किंतु किसीप्रकारकी परतंत्रतासे उन भोगोंमे निरोध होजाता है उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। अर्थात् अनिच्छापूर्वक विषय निवृत्तिको अकामनिर्जरा कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दहीरसको छोडना तो नहीं चाहता है उसकी उस दहीमें गृद्धता लगी हुई है फिर भी दही उसे मिल नहीं सका है ऐसी दशामें जो उस दहीसे निवृत्ति

भाव नहीं लाना, ५—परपरितापन—दूसरोंको तीव्र दुःख पहुंचाना, ६—अंगोपांगछेदन - दूसरोंके अंगोंको तथा उपांगोंको छेद डालना, ७ भेदन - किसी पशु आदिके मर्मस्थलको भेदन करना अर्थात् भीतरी गहरी चोट पहुंचाना, ८ ताडन—किसीको फटकार वताते हुए सताना, ९ त्रासन—किसीको किसीप्रकारका कष्ट पहुंचाना, १० तर्जन—किसीको ललकार कर फटकारना, ११ भर्त्सन—किसीका अपमान करना, १२ तक्षण—किसीके शरीरको छीलडालना, १३ विशंसन—किसीका प्रतिघात करना अर्थात् उसे मारना १४ बंधन—किसीको बांधकर रखना, १५ रोधन—किसीको किसीप्रकार रोककर रखना, १६ मर्दन—किसीको दवाकर मिसलडालना, १७ दमन—किसीको वशमें रखना, अथवा किसीके मानका खंडन करदेना, १८ वाहन—किसीको चलाते रहना अर्थात् बोझा लाधकर अथवा विना वोझके ही किसीको अधिक गमन कराने‌का कष्ट पहुंचाना १९ विहेडन—किसीकी विंडवनाकरना अथवा मारना, २० ह्रेपण—किसीको लज्जित करना, २१ कायरौक्ष—शरीरमें रूक्षता पहुंचाना, अर्थात् किसीको चिक्कण आहारादिकसे रोककर उसके शरीरमें रूखापन पैदा करदेना २२ परनिंदा—दूसरोंकी निंदा करना २३ आत्मप्रशंसा—अपनी प्रशंसा करना, २४ संक्लेश प्रादुर्भावन—दूसरोंको बहुतसा दुःख देना, २५ आयुबहुमानता—अपनी आयु यदि अधिक हो तो उसका अभिमान करना, २६ निर्दयत्व—दूसरोंमें दयाभाव नहीं रखना, २७ सत्वव्यपरोपण—दूसरे जीवोंके प्राणोंका घात करना, २८ महारंभ परिग्रह—अधिकारंभ और अधिक परिग्रह रखना, २९ विश्रंभोप घात—दूसरोंके विश्वासका घात करना, ३० वक्रशीलता—मायाचारी रखना, ३१ पापकर्मजीवित्व—जिसमें अधिक पाप क्रिया हो ऐसी आजीविका करना, ३२ अनर्थदंड—विना प्रयोजन व्यर्थ क्रिया करना; ३३ विषमिश्रण—किसीके आहारादिकमें विष मिला देना, ३४ शतजाल—पाश वागुरा पंजर यंत्रोपायसर्जन—मछली आदि पकडनेका जाल फांसी पक्षियोंके पकडनेकी वागुरा अर्थात् भंवरकली अथवा लगाम चूहे आदि पकडनेका पींजरा और भी नाना प्रकारके जीवोंको कष्ट पहुंचानेवाले सैकडोंयंत्रोंका उपाय

व्याकरण संबंधी शंका करता है कि क्षमूष धातुसे क्षांति शब्द बना है सो क्षमूष धातुमें षित्वपना है इसलिये अङ् प्रत्यय होकर क्षमा शब्द बनना चाहिये। यहांपर क्षांति कहागया है सो कैसे? अर्थात् क्षमाकरना सहन करना इस अर्थमें क्षमूष् धातुसे क्षमा शब्द बनना चाहिये परंतु यहां सूत्रमें क्षांति शब्दका प्रयोग किया गया है सो कैसे किया गया है ? इस प्रश्नका समाधान आचार्य महाराज देते हैं कि शंकाकारका कहना तब ठीक होता जब कि भूवादि गणमें कही गई क्षमूष् धातुका यहां ग्रहण होता, यहां तो दिवादि गणमें आई हुई जो सहन अर्थमें 'क्षमु' धातु है उसका यह 'क्षांति' रूप है।

लोभप्रकाराणामुपशमः शौचं ॥ १० ॥

अर्थ—समस्त प्रकारके लोभोंसे जो विरक्ति हो जाना है उसको शुचि कहते हैं और शुचिके भाव अथवा कर्मको शौच कहते हैं अर्थात् सब प्रकारके लोभके त्यागका भाव रखना अथवा सब प्रकारके लोभके त्यागकी क्रिया करना इसीको शौच कहते हैं, शौच नाम पवित्रताका है। वह अंतरंग पवित्रता लोभके त्यागसे ही आती है इसलिये सब प्रकारके लोभका त्याग करना ही शौच है। वे लोभके प्रकार (भेद) कौन कौन हैं उन्हें बतलाते हैं—अपनी वस्तुका नहीं छोडना, दूसरेके द्रव्यका अपहरण करना, चुरालेना, अपने यहां यदि कोई वस्तु रखगया हो तो उसे छिपालेना, इत्यादि सब लोभके ही भेद हैं, और भी लोभके अनेक भेद हैं जैसे जीनेका लोभ, पुत्र मित्रादिका लोभ, मकान आदि संपत्तिका लोभ आदि अनेक प्रकारका जो मोहित परिणाम है वह सब लोभ कहलाता है उससे विरक्ति होना शौच कहलाता है।

इतिकरणं प्रकारार्थं ॥ ११ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो इति शब्द पडाहुआ है उसका अर्थ यहांपर प्रकार है। इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जैसे—हेतु अर्थमें भी कहीं कहीं इति शब्द आता है, इति नाम इस हेतुसे। कहींपर इति

ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा प्रश्न ही किसीप्रकार उठाया नहीं जासकता है, इसप्रकारका प्रश्न न तो अर्हंतको माननेवाले जैनियोंके यहां ही उठसकता है क्योंकि अपने तीर्थंकरभगवानके उपदेशमें व्याघात आवेगा, अर्थात् यदि इसप्रश्नको आर्हतजैन ही उठावें तो उनके तीर्थंकरके कथनमें दूषण आता है, जिन तीर्थंकर भगवानने दुखादिकोंको असातावेदनीयकर्मके आस्रवका कारण बताया है, उन्होंने ही उपवासादि तपोंका अनुष्ठान करना भी बतलाया है और उन तपोंसे मोक्षसिद्धि बताई है इसलिये सिद्ध होता है कि तप करनेमें या तो दुःख ही नहीं होता है अथवा जो दुःख होता है उससे परिणामोंमें असाता या क्लेश नहीं माना जाता है किंतु अप्रमाद निष्कषाय भावोंसे सब परीषहोंका सहन आदि तप किया जाता है इसलिये जैनियोंके यहां तो ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होसकता है और जो क्षणिकवाद माननेवाले बौद्धमती हैं उनके यहां भी ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है, कारण वे लोग सब दुखोंसे शून्य अनात्मवाद माननेवाले हैं इसलिये उनके यहां जिसप्रकार हिंसादिक भाव बुरे समझे जाते हैं वैसे दानादिक भी बुरे ठहरेंगे, क्योंकि दुःखकारणता दोनों स्थानोंमें समान है अर्थात् बौद्धमतमें आत्मा क्षणिक है वह सब दुःखोंसे रहित है, ऐसा माना है, साथ ही उनके यहां यह भी माना है कि हिंसादिक पापके कारण हैं और दानादिक पुण्यके कारण हैं, परंतु यदि यह कहा जाय कि जितने भी तप व्रताचरण आदिके उपदेश हैं वे भी दुःखके कारण हैं तब दानादिकोंको भी वैसा ही मानना पडेगा अर्थात् वे भी दुःखकारण ठहरेंगे क्योंकि दान देने आदिमें भी तो दुःख होता है परंतु बौद्धोंके यहां हिंसादिकोंको पापका कारण माना गया है और दानादि कर्मको पुण्यका कारण माना गया है इसलिये बौद्धोंके यहां भी यह ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है। इसीप्रकार दूसरे जो सांख्य आदि मती हैं उनके मतमें भी हिंसादिकोंको दुःखका कारण होनेसे पापके आस्रवका कारण माना गया है और यम नियमरूपसे व्रतोंका पालन करना, अनेकप्रकारके भेषोंका धारण करना, कठिन उपवास धारण करना, ब्रह्मचर्यका धारण करना इत्यादिको पुण्यका कारण माना गया है परंतु यदि तप

महाराज कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि दोनोंका ग्रहण ही उस अर्थको स्पष्ट रीतिसे प्रगट करता है, अर्थात् भिन्न पदोंका निर्देश और इतिशब्दका प्रयोग इन दोनोंका विधान सरलता पूर्वक इस बातको बतलानेकेलिये है कि—भूतव्रत्यनुकंपा आदिके समान सूत्रमें नहीं लिखे गये अन्य कार्योंके करनेसे भी सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है और वे कार्य श्रीअर्हंतभगवानकी पूजामें तत्पर रहना, बालक और वृद्ध मुनियोंकी वैयावृत्ति करनेमें उद्योगशील रहना, सरल भावोंको रखना, विनयकी प्रधानता रखना, इत्यादि हैं। शंका—

व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेन्न प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ–यहां शंकाकारकी शंका है कि सूत्रमें जो भूत और व्रती ऐसे दो शब्दोंका प्रयोग किया गया है सो केवल एक भूत शब्दके ग्रहण करनेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होजाती है, फिर व्रती शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि जितना भी सामान्य कथन होता है वह समस्त विशेषोंमें व्याप्त होकर रहता है इसमें किसीका विरोध नहीं है। अर्थात् विना सामान्यके कोई विशेष नहीं हो सकता है ऐसा नियम है। जैसे–ब्राह्मण विना मनुष्यके नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्राह्मण मनुष्यका ही तो विशेष है इसलिये सामान्यके भीतर विशेष तो आही जाता है फिर विशेषका ग्रहण करना व्यर्थ है भावार्थ–सूत्रमें जो भूत शब्द है उसका जीव अर्थ होता है उससे व्रतीका ग्रहण स्वयं सिद्ध होजाता है क्योंकि जो भी व्रती होगा वह जीव अवश्य होगा, फिर व्रती शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि यहां सूत्रमें जो सामान्य 'भूत' से जुदा व्रती शब्दका ग्रहण है वह प्रधानता प्रगट करनेके लिये है। अर्थात् जो सामान्यजीवोंमें अनुकंपा है उससे व्रतियोंमें की गई अनुकंपा श्रेष्ठ है। यह दिखानेकेलिये ही भूत और व्रती इन सामान्य और विशेष शब्दोंका उल्लेख किया गया है।

नित्यानित्यात्मकत्वेऽनुकपादिसिद्धिर्नान्यथा ॥ १५ ॥

ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा प्रश्न ही किसीप्रकार उठाया नहीं जासकता है, इसप्रकारका प्रश्न न तो अर्हंतको माननेवाले जैनियोंके यहां ही उठसकता है क्योंकि अपने तीर्थंकरभगवानके उपदेशमें व्याघात आवेगा, अर्थात् यदि इसप्रश्नको आर्हतजैन ही उठावें तो उनके तीर्थंकरके कथनेमं दूषण आता है, जिन तीर्थंकर भगवानने दुखादिकोंको असातावेदनीयकर्मके आस्रवका कारण बताया है, उन्होंने ही उपवासादि तपोंका अनुष्ठान करना भी बतलाया है और उन तपोंसे मोक्षसिद्धि बताई है इसलिये सिद्ध होता है कि तप करनेमें या तो दुःख ही नहीं होता है अथवा जो दुःख होता है उससे परिणामोंमें असाता या क्लेश नहीं माना जाता है किंतु अप्रमाद निष्कषाय भावोंसे सब परीषहोंका सहन आदि तप किया जाता है इसलिये जैनियोंके यहां तो ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होसकता है और जो क्षणिकवाद माननेवाले बौद्धमती हैं उनके यहां भी ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है, कारण वे लोग सब दुखोंसे शून्य अनात्मवाद माननेवाले हैं इसलिये उनके यहां जिसप्रकार हिंसादिक भाव बुरे समझे जाते हैं वैसे दानादिक भी बुरे ठहरेंगे, क्योंकि दुःखकारणता दोनों स्थानोंमें समान है अर्थात् बौद्धमतमें आत्मा क्षणिक है वह सब दुःखोंसे रहित है, ऐसा माना है, साथ ही उनके यहां यह भी माना है कि हिंसादिक पापके कारण हैं और दानादिक पुण्यके कारण हैं, परंतु यदि यह कहा जाय कि जितने भी तप व्रताचरण आदिके उपदेश हैं वे भी दुःखके कारण हैं तब दानादिकोंको भी वैसा ही मानना पडेगा अर्थात् वे भी दुःखकारण ठहरेंगे क्योंकि दान देने आदिमें भी तो दुःख होता है परंतु बौद्धोंके यहां हिंसादिकोंको पापका कारण माना गया है और दानादि कर्मको पुण्यका कारण माना गया है इसलिये बौद्धोंके यहां भी यह ऊपरका प्रश्न खडा नहीं होता है। इसीप्रकार दूसरे जो सांख्य आदि मती हैं उनके मतमें भी हिंसादिकोंको दुःखका कारण होनेसे पापके आस्रवका कारण माना गया है और यम नियमरूपसे व्रतोंका पालन करना, अनेकप्रकारके भेषोंका धारण करना, कठिन उपवास धारण करना, ब्रह्मचर्यका धारण करना इत्यादिको पुण्यका कारण माना गया है परंतु यदि तप

नहीं बनेंगे। कदाचित् बौद्धमतवाला यह कहे कि हम पदार्थको क्षणध्वंसी मानकर भी संस्कार मानते हैं इसलिये अनुकंपादिभाव बन जांयगे। अर्थात् क्षणिकमतवाला बौद्ध यह मानता है कि पदार्थ तो एकक्षणमें ही नष्ट होजाता है परंतु वह अपना संस्कार छोडजाता है. वह संस्कार भी नष्ट होतेसमय दूसरा संस्कार उत्पन्न करजाता है इसप्रकार एक ही पदार्थके उत्तरोत्तर संस्कार होते रहते हैं उन संस्कारोंकी संतानपरंपरा चलीजाती है, उससे पूर्वापरका बोध हो जायगा और अनुकंपा आदि भाव भी होजांयगे? इसके उत्तरमें जैनसिद्धांती कहते हैं कि जब तुम (बौद्ध क्षणिकवादी) सभी पदार्थोंको एक क्षणमें नष्ट होना स्वीकार करते हो तो संस्कार भी एक क्षणमें नष्ट होगा फिर दूसरे संस्कारका पहले संस्कारसे क्या संबंध रहजायगा क्योंकि संस्कार भी तो अनित्य है. इसलिये क्षणध्वंसी होनेसे जिस प्रकार ज्ञानमें पूर्वापर ग्राहकशक्ति नहीं है उसीप्रकार संस्कारमें भी नहीं रहेगी अथवा जिसप्रकार ज्ञानभावमें अनुकंपादिभाव नहीं सिद्ध होते हैं उसप्रकार अज्ञानभावमें भी वे नहीं बनते हैं, इसप्रकार सर्वथा नित्यपक्ष और सर्वथा अनित्यपक्षमें अनुकंपादिक सातावेदनीयके आस्रव कारण सिद्ध नहीं होते हैं किंतु स्याद्वादी जैनियोंके मतसे ही उनकी सिद्धि होती है। अब कहते हैं कि साता और असाता दोनोंप्रकारके वेदनीयकर्मके आस्रवके हेतु बतलादिये गये उसके अनंतर अनंतकाल तक रहनेवाले संसारके प्रधान कारणभूत मोहनीयकर्मके आस्रवका क्या हेतु है? उसीको नीचेके सूत्रमें प्रगट करते हैं—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहनीयस्य॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—केवली भगवान, जिनवाणी, चार प्रकारके मुनियोंका संघ. दश प्रकारका धर्म अथवा, अहिंसादि लक्षण धर्म, और चार निकाय वाले देव, इन सबोंका अवर्णवाद करना अर्थात् उनके विषयमें सर्वथा मिथ्यारूपसे स्वरूपविपर्यास प्रगट करना दर्शन मोहनीयकर्मके आस्रवका कारण है।

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः॥ १ ॥

कठिन तपश्चरण भी संक्लेशका कारण नहीं है। जहां प्रमाद परिणाम होते हैं वहींपर संक्लेश होता है, जहां प्रमादरूप परिणाम नहीं हैं किंतु वीतराग परिणाम हैं वहां संक्लेशकी संभावना ही नहीं है इसीलिये उन मुनिराजोंके असातावेदनीय कर्मका बंध नहीं होता है, क्योंकि जहां क्रोधादि कषायोंसे सहित होनेपर अपने लिये अथवा परकेलिये अथवा दोनोंकेलिये दुःख दिया जाता है वहां वह दुःख पापकर्मके आस्रवका कारण होता है, किंतु जहां केवल कायक्लेश रूप दुःख है क्रोधादिभाव नहीं है वहां उन वीतराग भावोंसे स्वात्मसिद्धिकेलिये होनेवाला दुःख पापास्रव हेतु कदापि नहीं होसकता किंतु कर्मोंकी निर्जराका ही हेतु है। इसीविषयमें और भी कहा जाता है।

आहितप्रसादत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मुनिराज अहिंसादि क्रियाओंके करनेमें तत्पर होनेके कारण निर्विकार प्रसन्न रहते हैं उसीप्रकार वे उपवास केशलोंच आदि तपोनुष्ठानको करनेमें शुद्धोपयोग रखते हुए प्रसन्न रहते हैं, इसलिये वे उन तप क्रियाओंमें दुःख भी नहीं समझते हैं और उस प्रकारके तपश्चरणसे संक्लेशभाव भी नहीं करते हैं और भी इसी वातको स्पष्ट करते हैं।

प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ १९ ॥

अर्थ—किसी समय किसी भी कारणसे यदि उन मुनिराजोंके क्रोधादि भावोंका उदय हो जाय तो उसके निमित्तसे होनेवाले कर्मबंधके दूर करनेकेलिये वे प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रमादसे, अथवा अज्ञानसे अथवा कषायविशिष्ट योग प्रवृत्तिसे किसी भी निमित्तसे यदि मुनियोंके क्रोधादि विकार भावोंका संचार हो जाय तो उसे वे प्रायश्चित्त लेकर तत्काल दूर कर डालते हैं और अपनी वीतराग परिणतिको पूर्ववत् निर्मल बना लेते हैं, तो ऐसे निर्मल निष्कषाय भावोंको रखनेवाले मुनियोंके अनशन केशलोंच आदि तपश्चरणमें क्रोधादि भावोंका सद्भाव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा—

हुए पदार्थको वह नहीं देख सकता है। मन भी पूर्व अनुभूत पदार्थको ही विषय करता है इसलिये वे दोनों इंद्रियां भी समस्त पदार्थको जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं। इसप्रकार जो ज्ञान करण, क्रम व्यवधानसे रहित हो और ज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त क्षयसे प्रगट हुआ हो, जो आत्माका निज स्वभाव रूप हो वह केवलज्ञान कहलाता है। अर्थात् केवलज्ञान उसे कहते हैं कि जो ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट हो वह ज्ञान एकसाथ एकही क्षणमें जगत्के समस्त पदार्थोंको साक्षात् जानता है। ऐसा सर्वज्ञज्ञान इंद्रियोंसे नहीं हो सकता है इसलिये वह अतींद्रिय ज्ञान कहा जाता है, इसीलिये क्रमवर्ती भी नहीं है। जो ज्ञान दूसरे साधनके निमित्तसे हो उसे भी व्यवहित कहते हैं जैसे छद्मस्थ जीवोंको परोक्ष अग्निका ज्ञान धूमसे होता है, जो अनुमान ज्ञान कहलाता है। इसप्रकारके ज्ञान छद्मस्थोंको ही होने हैं, सर्वज्ञ केवली समस्त ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा नाश कर चुके हैं इसलिये उनके निरावरण युगपत् साक्षात् समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है। वे त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ ज्ञानवाले अर्हत भगवान जीवन्मुक्त, केवली, सर्वज्ञ आदि नामोंसे कहे जाते हैं। अब श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते हैं—

तदुपादिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतं ॥ २ ॥

अर्थ—उन रागद्वेषरहित वीतराग सर्वज्ञ अर्हत देवके द्वारा कहे गये ओर अतिशय बुद्धि ऋद्धिके धारण करनेवाले चार ज्ञानके धारी गणधर देवोंके द्वारा अर्हतदेवसे सुनकर हृदयमें धारण किये गये तथा उनके शिष्य प्रशिष्य आचार्य प्रत्याचार्यों द्वारा शास्त्रोंमें वर्णित किये गये जिन वचनोंको श्रुत कहते हैं। यह बात सविस्तर पहले कही जा चुकी है। अब संघका लक्षण कहते हैं।

रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः ॥ ३ ॥

अर्थ-सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहनेवाले चार प्रकारके मुनियोंका जो गण है उसे संघ कहते हैं। ऋषि, यति, मुनि, अनगार यह चार प्रकार मुनियोंका संघ कहलाता है। यद्यपि संघ

कठिन तपश्चरण भी संक्लेशका कारण नहीं है। जहां प्रमाद परिणाम होते हैं वहींपर संक्लेश होता है, जहां प्रमादरूप परिणाम नहीं हैं किंतु वीतराग परिणाम हैं वहां संक्लेशकी संभावना ही नहीं है इसी-लिये उन मुनिराजोंके असातावेदनीय कर्मका बंध नहीं होता है, क्योंकि जहां क्रोधादि कषायोंसे सहित होनेपर अपने लिये अथवा परकेलिये अथवा दोनोंकेलिये दुःख दिया जाता है वहां वह दुःख पापकर्मके आस्रवका कारण होता है, किंतु जहां केवल कायक्लेश रूप दुःख है क्रोधादिभाव नहीं है वहां उन वीत-राग भावोंसे स्वात्मसिद्धिकेलिये होनेवाला दुःख पापास्रव हेतु कदापि नहीं होसकता किंतु कर्मोंकी निर्जराका ही हेतु है। इसीविषयमें और भी कहा जाता है।

आहितप्रसादत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मुनिराज अहिंसादि क्रियाओंके करनेमें तत्पर होनेके कारण निर्विकार प्रसन्न रहते हैं उसीप्रकार वे उपवास केशलोंच आदि तपोनुष्ठानको करनेमें शुद्धोपयोग रखते हुए प्रसन्न रहते हैं, इसलिये वे उन तप क्रियाओंमें दुःख भी नहीं समझते हैं और उस प्रकारके तपश्चरणसे संक्लेशभाव भी नहीं करते हैं और भी इसी वातको स्पष्ट करते हैं।

प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ १९ ॥

अर्थ—किसी समय किसी भी कारणसे यदि उन मुनिराजोंके क्रोधादि भावोंका उदय हो जाय तो उसके निमित्तसे होनेवाले कर्मबंधके दूर करनेकेलिये वे प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं, अर्थात प्रमादसे, अथवा अज्ञानसे अथवा कषायविशिष्ट योग प्रवृत्तिसे किसी भी निमित्तसे यदि मुनियोंके क्रोधादि विकार भावोंका संचार हो जाय तो उसे वे प्रायश्चित्त लेकर तत्काल दूर कर डालते हैं और अपनी वीत-राग परिणतिको पूर्ववत् निर्मल बना लेते हैं, तो ऐसे निर्मल निष्कषाय भावोंको रखनेवाले मुनियोंके अनशन केशलोंच आदि तपश्चरणमें क्रोधादि भावोंका सद्भाव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा—

अंतःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः ॥ ७ ॥

अर्थ—महान् गुणवालोंके विषयमें अपनी बुद्धिकी कलुषतासे नहीं होतेहुये भी दोषोंका प्रगट करना अवर्णवाद कहलाता है अर्थात् जिन महान् परमपूज्य परमेष्ठियोंमें और उनके वचनोंमें तथा परमपूज्य प्रकर्षसे देवपर्याय पानेवाले लोकश्रेष्ठ व्यक्तियोंमें कोई दोष नहीं है फिर भी अपनी बुद्धिकी मलिनतासे उनमें दोष बताकर जगमें प्रगट करना इसीका नाम अवर्णवाद है। मिथ्यादोष लगानेका अथवा उनके स्वरूपका विपर्यास वर्णन करनेका नाम अवर्णवाद है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म, और देवोंके अवर्णवादको केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवाद कहते हैं। केवली आदिमें किसप्रकार अवर्णवाद लगाया जाता है उसीका एक एक उदाहरण नीचेकी वार्तिकोंसे कहते हैं—

पिंडाभ्यवहारजीवनादि वचनं केवलिषु ॥ ८ ॥

अर्थ—केवलियोंके विषयमें यह कहना कि केवली भगवान पिंडाहार लेकर जीते हैं अर्थात् श्वेतांवरमतवाले कहते हैं कि केवली भगवान (त्रयोदशगुणस्थानवर्ती) मनुष्यके समान कवलाहार (एक एक ग्रासरूपसे आहार लेनेको कवलाहार कहते हैं) करते हैं, विना आहार लिये वे जी नहीं सकते हैं। इसप्रकार श्वेताम्बर मतवाले केवली भगवानमें अपनी मलिनबुद्धिसे दोष लगाते हैं, जब कि श्वेतांवर मतवाले तेरहवें गुणस्थानमें अर्हतभगवानके असातावेदनीयकर्मका स्वयं अभाव मानते हैं और समस्त दोषोंसे रहित वीतराग उन्हें कहते हैं फिर जहां असाताकर्मका उदय नहीं है और उस असाताकर्मके उदयमें होनेवाले क्षुधा तृषा आदि दोष भी नहीं है वहां—अर्हतभगवानमें कवलाहारका दोष लगाना सर्वथा मिथ्या है, यही केवलियोंका अवर्णवाद है। आहारके छह भेद पहले बताये जाचुके हैं, उनके अनुसार कोई कवलाहारसे जीते हैं, कोई लेप्याहारसे जीते हैं, कोई वायुका आहार करते हैं, किसीके पुद्गल वर्गणाओंका ही आहार है आदि आहारके अनेक भेद हैं, सभी कवलाहारसे जीते हैं ऐसा कहना

पर भी फलमें मनकी प्रसन्नता हो तो वहां वह दुःख भी सुख-साधक एवं सुखरूप समझा जाता है जैसे किसानको खेती करनेमें अनेक कष्ट होते हैं परंतु उसे वह कष्ट नहीं मानता किंतु बडे प्रेम और उत्साहसे करता है और उस कष्टसे सुखी होता है उसीप्रकार योगीजन भी तपश्चरणकी सिद्धिमें होने-वाले कष्टोंको कष्ट नहीं समझते हैं किंतु उन्हें कर्मोंका नाश करनेके लिये एक परम औषधि समझ कर धर्म-भावसे प्रसन्नतापूर्वक करनेमें ही अपना हित समझते हैं। जहां द्वेष-भाव है वहीं कष्टमें दुःख है, जहां द्वेषभाव नहीं है किंतु मनमें चाहना है; प्रेम है वहां दुःख नहीं किंतु सुख ही है, इसी बातको ग्रंथांतरमें इसप्रकार कहा गया है—

"पुरे वने वा स्वजने जने वा प्रासादशृंगे द्रुमकोटरे वा।
प्रियांगनांऽकेऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरंति ॥ १ ॥

इस श्लोकका अर्थ यह है कि-चाहे नगरमें हो, चाहे वनमें हो, चाहे अपने जनमें हो, चाहे परजनमें हो, चाहे महलके शिखरपर पर हो, चाहे वृक्षके खोखलेमें हो, चाहे अपनी प्यारी स्त्रीकी गोदमें हो, चाहे शिलातलपर हो, कहीं भी हो परंतु जहांपर अपने मनका प्रेम है, मनकी चाहना अथवा प्रसन्नता है वहींपर सुख माना जाता है। इससे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि सुख विशाल नगरमें रहनेसे ही नहीं मिलता किंतु मनकी प्रसन्नता हो तो जंगलमें भी मिलजाता है, सुख महलों ही नहीं धरा है किंतु एक ध्यानीकेलिये वृक्षके कोटरमें ही सुख है वहींपर उसकी मनःप्रसन्नता है। सुख प्रिय स्त्रीकी गोदमें ही नहीं धरा है किंतु जरा भी अरुचि होनेपर वह स्त्री विषवत् प्रतीत होने लगती है परंतु जहां मनकी प्रसन्नता है वहां शिलापर बैठकर ध्यान लगानेसे या किसीप्रकार निर्मल भावोंको रखनेसे वहां भी सुख प्रतीत होता है इसलिये कठिनसे कठिन तपश्चरण करनेमें ही साधुजन मनकी पवित्रता अथवा प्रसन्नता समझते हैं इसलिये उन्हें वह कष्ट दुःखरूप नहीं भासता है किंतु सुखरूप ही

भेदसे होता है अर्थात् उनके भी ज्ञान दर्शनादि क्रमसे होते हैं, इत्यादि प्रकारसे जो वात केवलियोंमें सर्वथा नहीं हैं उन वातोंका उनमें सद्भाव वताकर उन्हें हीन सिद्ध करना उनका अवर्णवाद है। जैसे— असातावेदनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके सर्वथा अभाव होनेपर कवलाहार नहीं होसकता है उस-प्रकार उनके तूंबी आदि पात्रका होना, कंवल आदि उपकरणोंका होना, और अतींद्रिय ज्ञान होनेपर भी क्रमवर्ती ज्ञानदर्शनका होना, ये समस्त वातें भी केवलीके नहीं हो सकती हैं, परंतु मिथ्यादृष्टिलोग उन वातोंको कहकर केवलीभगवानका अवर्णवाद करते हैं। अब श्रुतका अवर्णवाद कहते हैं—

मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुते ॥ ९ ॥

अर्थ—मांस मच्छी आदि जीवोंके कलेवरका भक्षण करना, मधु (शहत) और मदिराका पान करना, कामवासनासे पीडित होनेपर मैथुन सेवन करना, तथा रात्रिमें भोजन करना इत्यादि सब वातें निर्दोष हैं, इनमें किसीप्रकारका दोष नहीं है, ऐसा शास्त्रका वचन है इसप्रकार कहना यह शास्त्रका अवर्णवाद है। जो मांस भक्षणादिक वातें कहीं गई हैं वे सभी सर्वथा निषिद्ध हैं उनका भक्षण करनेवाले और मैथुन सेवन करनेवाला तथा रात्रि भोजन करनेवाला अत्यंत पापी है जीवोंका घातक है ऐसा तो शास्त्रोंका विधान है परंतु इसके विपरीत उन निषिद्ध वातोंका शास्त्रोंमें विधान बताना यह शास्त्रोंमें दूषण लगाना है, यह उनका अवर्णवाद है। ऐसा अवर्णवाद भी तीव्र मिथ्यादृष्टि ही लगाते हैं। अब संघका अवर्णवाद कहते हैं—

शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावन संघ ॥ १० ॥

अर्थ—ये चारोंप्रकारके मुनिवृंद (मुनि, ऋषि, यति, अनगार) शूद्र होते, कभी स्नान नहीं करते हैं, इनका शरीर मलसे लिप्त रहता है, अपवित्र होते हैं. नग्न रहते हैं, निर्लज्ज होते हैं, ये साधु इसी लोकमें दुःख पाते हैं फिर परलोकमें कहांसे सुखी हो सकते हैं इत्यादि वचन कहना संघका अवर्ण-

निवृत्ति होचुकी है एकप्रकारके व्रती वे कहे जाते हैं, उन्हें संयतमुनि कहते हैं। दूसरे वे कहे जाते हैं जो ग्रहस्थाश्रममें रहनेवाले होते हैं उन्हें संयतासंयत गृही कहते हैं। अर्थात् व्रती पुरुषोंके दो भेद होते हैं एक संयमी, दूसरे गृहस्थ अथवा संयमासंयमी। जो आरंभ परिग्रहको छोडकर गृहसे उदास होकर जंगलमें चले जाते हैं वे महाव्रत धारण करनेवाले मुनिराज संयमी व्रती कहलाते हैं तथा जो सर्वथा आरंभ परिग्रह छोडनेमें असमर्थ हैं वे गृहस्थ एकदेश व्रतोंको धारण करते हैं वे संयमासंयम एकदेश चारित्रके पालनेवाले कहे जाते हैं।

अनुकंपनं अनुकंपा ॥ ३ ॥

जिनका चित्त करुणासे भीग जाता है, जो दूसरोंकी पीडाको अपनी पीडाके समान समझते हैं, और दया-बुद्धिसे उनकी पोडाको दूर करते हैं वे अनुकंपाधारी कहे जाते हैं। अनुकंपन नाम दया करनेका है। भूतव्रत्यनुकंपा इसपदकी समास की गई है उस मिले हुये समस्त पदका अर्थ होता है कि भूत नाम प्राणी और दोनोंप्रकारके व्रती उनमें दयाभाव धारण करना। यहांपर "साधनकृता व्हुलं" इस जैनेन्द्र महावृत्तिके सूत्रसे समास हुई है, जैसे 'गलचोपकः' अथवा मयूरव्यंसकादि गणमें पाठ होनेसे समास है।

स्वस्य परानुगृहबुद्ध्यातिसर्जनं दानं ॥ ४ ॥

अर्थ—अपनी वस्तुको दूसरोंपर उपकार वुद्धि रखकर दे देना इसीका नाम दान है अर्थात् विना किसी आकांक्षाके केवल उपकार बुद्धिसे अपने द्रव्यको दूसरोंको वितरण करदेना—देदेना इसीको दान कहते हैं।

संपरायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः ॥ ५ ॥

अर्थ—योग कषायोंके निमित्तसे जो पहले कर्म बांध रक्खे हैं उनके उदयमें जिनका रागभाव नष्ट

करदिया है ऐसे साधुओंको निर्लज्ज कहना महाधृष्टता और विवेकहीनता ही है । जब कि आरंभ परिग्रहका नहीं त्यागी भी वालक केवल विकारभावके नहीं होनेसे नंगा रहनेपर भी निर्लज्ज नहीं कहा-जाता तो आरंभ परिग्रहके त्यागी वीतराग निर्विकारी मुनि निर्लज्ज कैसे कहे जा सकते हैं ? यदि वे एक तंतुमात्र भी परिग्रह शरीर पर रक्खें तो उसीका उन्हें मोह होगा वे फिर सर्वथा निर्मोही नहीं कहे जासकते हैं इसलिये निर्लज्ज आदि कहकर जो नग्न दिगम्बर साधुओंकी निंदा करते हैं वे अपने आप तीव्र अशुभ कर्मका वंध करते हैं । इसी प्रकार जो लोग अपनी विपरीत बुद्धिके कारण मुनियोंको इस लोकमें दुःखी बताकर उन्हें परलोकमें भी दुःखी होनेकी संभावना करते हैं वे विचारे महा अज्ञानी हैं, तपश्चरणका वे कुछ रहस्य ही नहीं समझते हैं जो मुनिगण नाना कठिन परीषहोंको स्वयं सहन करते हैं, गरमीमें तप्तशिलातलपर ध्यान लगाते हैं, शीतमें नदी किनारे खडे होकर ध्यान लगाते हैं, अनेक घोर उपसर्गोंको सहन करते हैं वे अपने कर्मोंकी निर्जरा करते हैं । वे परम वीतरागी ध्यानमें ही लीन रहते हैं, दुःखहेतुओंके उपस्थित होने पर भी दुःख नहीं मनाते हैं समता भावोंसे उन्हें सहते हैं ऐसे परम तपस्वियोंके दुःखकी संभावना समझना अज्ञान ही है । उनके ध्यानसे संसारी जीवोंके भी दुःख नहीं रहते फिर उन्हें दुःखी कैसे कहा जासकता है ? इसलिये मुनिजन दुःखी नहीं किंतु परम सुखी हैं, दुःख संक्लेशभावोंसे होता है उनके कभी भी संक्लेश भाव नहीं होता, सदैव उनके शांत क्षमा शील परिणाम रहते हैं इसलिये वे अनंत कर्मोंकी निर्जरा कर साक्षात् अथवा कुछ भव धारणकर मोक्ष-लाभ करलेते हैं, सदाके लिये अजर अमर सिद्ध परमेष्ठी बन जाते हैं, परलोकका ही वे नाश कर डालते हैं फिर परलोकमें उन्हें दुःखी समझना नितांत भूल है इसलिये ऊपर कही हुई वातें मुनियोंका अवर्ण-वाद है । अब धर्मका अवर्णवाद कहते हैं--

निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे ॥ ११ ॥

की गई है वह पारतन्त्र्यसे की गई है, दहीका न मिलना परवशतासे है। इसप्रकार जो विना इच्छाके भोगोंकी निवृत्ति होती है वह अकाम निर्जरा कहलाती है। जिनमें यथार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे अज्ञानी पुरुष बाल कहलाते हैं, वे मूर्ख मिथ्यादृष्टि होते हैं, उन अज्ञानियोंका तप बालतप कहलाता है, जैसे अग्निमें प्रवेश करना, पंचाग्नि तपना, कारीष नाम कंडों (उपलों) की अग्निको कहते हैं, चारों ओर उपलोंको जलाकर बीचमें बैठजाना, इसप्रकार जीवघातक दुष्ट आरंभजनित अज्ञानतापूर्वक होनेवाले तप बालतप कहेजाते हैं।

निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः ॥ ८ ॥

अर्थ—निर्दोष रूपसे क्रिया विशेषका धारण करना सो योग कहलाता है, उसीका नाम समाधि है। उसका यही अर्थ होता है कि भलेप्रकार उपयोगको लगाना अर्थात् प्राणियोंमें और व्रतियोंमें दया-भाव तथा दान देना सराग संयम आदिका धारण करना, इत्यादि सभी क्रियायोंको निर्दोषरूपसे धारण करना उनमें अच्छीतरह चित्त लगाना इसीका नाम योग है। मन वचन कायकी विषयांतर प्रवृत्तिके दूर करनेकेलिये उसका ग्रहण है। ऊपर सूत्रमें जिन वातोंका ग्रहण है उनसबका योगके साथ संबंध है। भूत व्रती आदिपदोंका समास करके ऐसा संबंध होता है कि—भूत और व्रती वे मिलकर भूतव्रती कह-लाये उनमें करुणाभाव रखना तथा दान देना, सराग संयम आदिका पालन करना, उन समस्त क्रियायोंका जो योग अर्थात् उनका भले प्रकार चित्तपूर्वक सेवन करना वह सब मिलकर भूतव्रत्यनुकंपादानसराग-संयमादियोगः इतना बडा एक समस्त पद बन गया है।

धर्मप्रणिधानात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः ॥ ९ ॥

अर्थ—शुभ परिणामोंकी भावनापूर्वक क्रोधादि कषायोंकी जो निवृत्ति कर देना है उसे क्षांति कहते हैं अर्थात् क्रोधादि कषायोंका त्याग करदेना क्षांति अथवा क्षमाभाव कहा जाता है। यहांपर कोई

हैं उनमें भी आसक्तचित्त होकर कामसेवन करते हैं, इत्यादि प्रकारसे देवोमें झूठा दोषारोपण करना उनका अवर्णवाद है। इसप्रकार देवोंका अवर्णवाद वेही अज्ञानी करते हैं जो देवोंके स्वरूपको नहीं जानते हैं। जिन्होंने जैनसिद्धांत देखा है वे देवोंके स्वरूपको भलीभांति जानते हैं, देवगति कर्म आदिके उदयसे देवपर्याय मिलती है, देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी, इनमें नीचेके तीन प्रकार वाले देव अधोलोक और मध्यलोकमें रहते हैं और चौथे प्रकारवाले ऊपर स्वर्गोंमें रहते हैं, चारों ही प्रकारके देव अनेक सुंदर रत्न जडित भवन देवियां आदि नाना सुख-सामग्रीसे विशिष्ट होते हैं, नाना प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ होते हैं, सभी देव वर्षों पीछे इच्छा होनेपर अपने कंठमें होनेवाले अमृतका ही आहार करते हैं, मांस मदिराकी तो वात ही क्या है, उन अपवित्र वस्तुओंको तो वे कभी छूते या देखते ही नहीं है किंतु अन्न और दूध जलादिका भी वे सेवन नहीं करते हैं केवल अमृतका ही पान करते हैं, परम पुण्य प्रकर्षसे वह अमृत देवोंको ही प्राप्त होता है और श्रीतीर्थंकर देव भी उसे प्राप्त करते हैं इनके सिवा अन्य किसी जीवको वह नहीं मिलता। देवगणोंकी नियोगिनी देवांगनाऐं नियत रहती हैं इसलिये वे देव देवियां अपने २ नियोगियोंके साथ ही रमण करते हैं अन्योंके साथ व कामवासनाको कभी तृप्त नहीं करते हैं, अन्योंके साथ रमण करनेकी उनमें वासना ही नहीं उत्पन्न होती है, ऐसा शुभ भाव उनका उस उत्तम देव पर्यायके कारण सुतरां रहता है। चारो प्रकारके देवोमें अनेक देव सम्यग्दृष्टी होते हैं। मेरु पर्वत नंदीश्वर द्वीप आदिमें विराजमान अकृत्रिम चैत्यालय और अकृत्रिम चैत्योंकी वंदनाके लिये जाते हैं। भगवानके गर्भादि कल्याणकोंमें आकर जैनधर्मकी प्रभावनाके साथ अपना जन्म सफल करते हैं, किसी परम धर्मात्मा पर कोई बडा संकट आजाय तो उसे दूर भी करते हैं। अनेक ऋद्धियोंके स्वामी होते हैं, अवधिज्ञानी होते हैं। देवोंमें अनेक देव तीर्थंकर भगवानके वैराग्यमें सहायक होते हैं और अनेक देव एक भव धारण कर, अनेक

शब्द एवं अर्थमें आता है अर्थात् इति शब्दका इसप्रकार अर्थ होता है। कहींपर इति शब्द प्रकार अर्थमें भी आता है जैसे इति नाम इसप्रकार । कहींपर इति शब्द आदि अर्थमें भी आता है जैसे इति अर्थात् इत्यादिक। कहींपर इति शब्दका व्यवच्छेद अर्थात् संबंध विच्छेद—भेदरूप भी अर्थ होता है और भी इति शब्दके अनेक अर्थ देखे जाते हैं परंतु यहां भूतवृत्त्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति जो इति शब्द है उसका अर्थ प्रकार है। अर्थात् इस तरहके जितने भी कार्य हैं वे सब साता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं। शंका——

वृत्तिप्रसंगो लघुत्वादिति चेन्नान्योपसंग्रहार्थत्वात् ॥ १२ ॥

अर्थ——यहांपर यह शंका होती है कि सूत्रमें सब पदोंका समास करना ठीक है अर्थात् भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगक्षांतिशौचानि ऐसा मिला हुआ एक वाक्य ही होना चाहिये परंतु ऐसा नहीं करके जो जुदा जुदा वाक्यप्रयोग किया गया है सो ठीक नहीं है कारण भिन्न भिन्न पदोंके कहनेसे व्याकरण शास्त्रके अनुसार गौरव होता है। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि सूत्रमें जो भिन्नता रक्खी गई है वह उसी तरहकी दूसरी बातोंका संग्रह करनेकेलिये रक्खी गई है अर्थात् सरागसंयमादि क्षमा शौचके समान और भी जो उसप्रकारकी बातें हैं उनसे भी सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

इतिकरणानर्थक्यमिति चेन्नोभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् ॥ १३ ॥

अर्थ—शंकाकार फिर कहता है कि यदि समास नहीं करना किंतु भिन्न भिन्न पदोंका रखना अन्य बातोंके ग्रहण करनेकेलिये है तो इतिशब्दके ग्रहणका भी तो वही प्रयोजन है अर्थात् इति शब्दका प्रकार अर्थ है उसके कहनेसे भी अन्यबातोंका ग्रहण होता है, जो अर्थ इतिशब्दसे निकलता है वही अर्थ समास नहीं करनेसे होता है तो फिर इति शब्दका ग्रहण ही व्यर्थ है ? सूत्रमें इति शब्द नहीं कहना चाहिये केवल भिन्नपदोंके कहनेसे ही अन्य अर्थका ग्रहण हो जायगा ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य

वाले परिणाम निश्चित किये गये हैं, तो दर्शन मोहनीय कर्मके अनंतर जो चारित्र मोहनीय कर्म है उसके आस्रवके कारण कौनसे हैं? उन्हींको नीचेके सूत्र द्वारा बताते हैं—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—कषायोंके उदयसे जो आत्माका तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः ॥ १ ॥

अर्थ—पहले जो कर्म संचित कर रक्खे हैं उनकी द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे फलकी प्राप्ति होना अथवा उन बंधे हुए कर्मोंका परिपाक होना उदय कहलाता है। कषायकी निरुक्ति और अर्थ पहले किया जा चुका है। कषायका जो उदय वह कषायोदय कहलाता है, उस कषायोदयसे जो तीव्र परिणाम होता है सो चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है। अब तीव्र परिणाम शब्दोंका अर्थ कहते हैं।

तीव्रपरिणामशब्दावुक्तार्थौ ॥ २ ॥

अर्थ—"तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः" इस सूत्र द्वारा तीव्र शब्दकी व्याख्या की जा चुकी है और "तद्भावः परिणामः" इस सूत्र द्वारा परिणाम शब्दकी भी व्याख्या की जा चुकी है। अर्थात् तीव्र नाम उत्कटता—प्रबलताका है और परिणाम नाम भावका है। आत्माके प्रबल भावको तीव्र परिणाम कहते हैं। अब चारित्र मोहनीयकी व्यवस्था कहते हैं—

चारित्रं मोहयति मोहनं वा चारित्रमोहः ॥ ३ ॥

अर्थ—चारित्रका लक्षण पहले किया जाचुका है, उस चारित्रको जो मोहित करदे अथवा मोहित करना अर्थात् विपरीत परिणमन रूप (मिथ्या चारित्ररूप) करदेना उसे चारित्र मोहकर्म कहते हैं। पूर्ण सूत्रका अर्थ यह होता है कि कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवका हेतु है।

अर्थ—जो लोग आत्माको सर्वथा अनित्य मानते हैं अथवा जो सर्वथा उसे नित्य मानते हैं उनके मतमें ये सातावेदनीयके कारण अनुकंपादिक भाव कुछ भी नहीं सिद्ध होते हैं इसीवातको इस वार्तिक द्वारा बताते हैं—जैनसिद्धांतके अनुसार द्रव्यत्वादिक जो अनादिनिधनद्रव्यका स्थायीभाव है उसकी अपेक्षासे जीवद्रव्य नित्यधर्मको कभी नहीं छोडता है और दूसरे दूसरे निमित्तोंसे परिणमन होनेके कारण वही जीवद्रव्य अनित्यधर्मको भी धारण करता है, इसप्रकार जो अपने निज रूपको कभी छोड नहीं सकता और भिन्न भिन्न निमित्तांतरोंसे नाना अवस्थाओंको भी धारण करता रहता है ऐसे नित्यानित्य रूप धारण करनेवाले जीवद्रव्यके ही अनुकंपा आदि परिणामविशेष होसकते हैं, और जो इसके विपरीत जीवको सर्वथा नित्य मानते हैं ऐसे सांख्यके यहां तथा जीवको सर्वथा अनित्य माननेवाले वौद्धके यहां अनुकंपादिक भाव नहीं बन सकते, क्यों नहीं बन सकते ? इसीका स्पष्टीकरण करते हैं। यदि जीवद्रव्यको सर्वथा नित्य ही माना जाय उसमें विशेष परिणाम नहीं माना जाय तो फिर उसमें किसीप्रकारकी विक्रिया नहीं होगी, किसीप्रकारकी विशेष क्रिया अथवा अवस्थाविशेष तभी हो सकती है जब कि उसे परिणामशील माना जाय यदि सर्वथा नित्य उसे माना जायगा तो जीवद्रव्य सदैव एक स्वभाववाला रहेगा वैसी दशामें उसके अनुकंपादिभावोंका अभाव ही होजायगा। यदि अनुकंपादिभावोंका सद्भाव जीवके माना जायगा तो फिर वह सर्वथा नित्य नहीं ठहरेगा। क्योंकि परिणमन माननेमें नित्यपनाका नाश होजायगा। इसी-प्रकार सर्वथा क्षणिकपक्ष माननेवाले वौद्धके यहां भी अनुकंपादिक भाव नहीं बनेंगे, क्योंकि उनके यहां जब जीवद्रव्य क्षणिक है तो पूर्व और उत्तर दोनों अवस्थाओंको ग्रहण करनेवाले एक विज्ञानका सद्भाव नहीं बनेगा। कारण क्षणिकतामें एक विज्ञान पूर्व अवस्थाको ही ग्रहणकर नष्ट होजायगा फिर उत्तर अवस्थाका ग्राहक वह ज्ञान नहीं रहेगा, इसलिये पूर्वापर अवस्थाका ग्राहक एक विज्ञान नहीं रहनेसे अनुकंपा आदि भावोंका भी अभाव होगा अर्थात् क्षणध्वंसी जहां ज्ञान है वहां अनुकंपादिभाव भी

आस्रव होता है। अत्यंत क्रोधयुक्त परिणाम रखना, अत्यंत अभिमानके भाव रखना, दूसरोंसे ईर्षा रखना परस्पर व्यवहारमें झूठ बोलना, दूसरोंके ठगनेमें वा दूतपनेमें तत्पर रहना, अत्यंत रागकी वृद्धि रखना अर्थात् काम कौतूहलमें अधिक सरागी भावोंका रखना, परस्त्रीका सेवन करना, परस्त्रीका राग भावसे आदर करना, टेढे नेत्रोंवाली सुन्दर स्त्रीकेसे भाव रखना, उसका आलिंगन करना आदि वातोंसे स्त्रीवेद कर्मका आस्रव होता है। थोडा क्रोध करना, कपट करनेमें उत्साह नहीं रखना, अधिक लोभ नहीं करना, स्त्रीके समागममें थोडा राग करना अपनी स्त्रीमें ही संतोष रखना, विशेष रूपसे ईर्षाभावका त्याग करना स्नान क्रियामें गंधमाला आभरणादि क्रियाओंमें आदर भाव नहीं रखना इत्यादि वातोंसे पुरुष वेद कर्मका आस्रव होता है। अत्यंत क्रोध अत्यंतमान अत्यंतमाया अत्यंत लोभरूप परिणाम रखना, गुप्तेंद्रिय लिंग आदिका छेदन करना स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ काम सेवन करनेके निरंतर व्यसनरूप परिणामोंका रखना, शील व्रतगुणधारियोंका तथा दीक्षा धारियोंका तिरस्कार करना, परस्त्रीका हरण करना, रागकी तीव्रतासे अनाचारका सेवन करना इत्यादि वातोंसे नपुंसक वेदनीयकर्मका आस्रव होता है। अव कहते हैं कि अनेक भेदोंवाला जो मोहनीयकर्म है उसके आस्रवके भेद तो कह दिये गये हैं अव चार प्रकारका जो आयु कर्म है उसके आस्रवके भेद कहना चाहिये? इसलिये सवसे पहले नियत काल तक फल देनेवाला जो पहला नरकायु है उसीके आस्रवके कारणोंको दिखानेके लिये यह नीचेका सूत्र कहते हैं—

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहका रखना नरकायुके आस्रवका कारण है।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ॥ १ ॥

अर्थ—बहु शब्द संख्यावाची भी हैं जैसे—'एकं द्वौ बहवः' इति इसका अर्थ एक दो बहुत होता है, यहांपर बहुशब्दका अर्थ बहुत संख्याका वाचक है, तथा बहुशब्दका अर्थ परिमाणवाची भी है

अर्थ—करण नाम चक्षुरादिक इंद्रियोंका है, स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र और मन ये छहो इंद्रियां करण कहलाती हैं। काल भेदसे वृत्ति होनेका नाम क्रम है, अर्थात् जहां धीरे धीरे समय समयके अंतरसे ज्ञानका व्यापार हो वहां वह ज्ञान क्रमवर्ती कहलाता है। ऐसा क्रमवर्ती ज्ञान समस्त संसारी जीवोंको होता है, जितने अल्पज्ञ हैं वे सब इंद्रियों द्वारा पदार्थोंका बोध करते हैं और जो इंद्रियोंसे बोध होता है वह क्रम क्रमसे ही होता है, इंद्रियां समस्त पदार्थको एकसाथ जाननेमें असमर्थ हैं किंतु एकको जानकर दूसरेको दूसरेके पीछे तीसरेको इस पद्धतिसे वे पदार्थोंको जानती हैं। मन भी पदार्थोंको जल्दी जल्दी ग्रहण करता है परंतु वह भी उन्हें क्रम क्रमसे ही जानता है इसलिये कालके अंतरसे पदार्थांतरमें ज्ञानके व्यापार होनेको क्रम कहते हैं। भित्ति आदिकी वीचमें रुकावट आजानेको व्यवधान कहते हैं, जैसे हम सामनेके पदार्थको जब देखते हों और उस समय हमारे और उस देखने योग्य पदार्थके वीचमें कोई दीवाल या अन्य कोई ढकनेवाला पदार्थ आजाय तो वह व्यवधान कहा जाता है, अल्पज्ञोंका इंद्रियजनित ज्ञान व्यवहित पदार्थको देखनेमें भी असमर्थ रहता है—जिसके बीचमें कोई व्यवधान आजाय उस पदार्थका बोध फिर इंद्रियोंसे नहीं होता है। परंतु इतना विशेष है कि जो इंद्रियां अप्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थका दूरसे ही ग्रहण करती हैं वे व्यवहित पदार्थका भी बोध करती हैं ऐसी इंद्रिया दो हैं एक चक्षु और दूसरा मन। चक्षु काच आदिसे व्यवहित पदार्थको भी देख लेता है, मन भी सैकडों कोश दूरवर्ती पदार्थका चिंतवन करलेता है परंतु वे दोनों भी अपनी योग्यतानुसार ही पदार्थको ग्रहण करती हैं। जैसे—चक्षुके सामर्थ्यानुसार पदार्थ हो, न अति दूर हो न अति निकट हो किंतु जितनी दूरपर चक्षु ठीक देख सकता है उतनी दूरपर हो, इधर उधर विदिशाओंमें भी न हो, अत्यन्त छोटा पदार्थ भी न हो, अत्यन्त बडा भी न हो किंतु चक्षुसे ग्रहण करने योग्य हो उसी पदार्थको वह ग्रहण करसकता है अन्यको नहीं। इसीप्रकार वह काच आदिके व्यवहित पदार्थोंको तो देख सकता है किंतु भित्ति आदिसे ढके

भाव लगा हुआ हो तो वहां भी परिगृह कहा जायगा। जिसके वहुत आरंभ और वहुत परिगृह हो वह वह्वारंभपरिगृह एक समास किया हुआ वाक्य कहाजाता है। उसका जो भाव है अर्थात् वहुत आरंभ परिगृह रखनेवालेका जो धर्म है स्वभाव है उसे वह्वारंभपरिगृहत्व कहते हैं, वह वह्वारंभपरिगृहत्व नरकायुके आस्रवका कारण है। अर्थात् वहुत आरंभ और वहुत परिगृह रखनेका स्वभाव होना ही नरकायुके आस्रवका हेतु है। इसका खुलासा इसप्रकार है—जो जीव परिगृहके संगृह करनेमें लवलीन रहते हैं, जिनके अत्यंत तीव्रपरिणाम (कठोर क्रूर) रहते हैं, हिंसा करनेमें सदैव तत्पर रहते हैं, जो अनेकवार उपदेशोंसे अपनी सम्मतिसे और अपनी भावनासे क्रोधादिक भावोंको धारण करते रहते हैं तथा उन्हीं क्रोधादि परिणामोंसे होनेवाली आरंभपरिगृह क्रियाको इसप्रकार अपनाते हैं जिसप्रकार कि तपा हुआ लोहेका गोला अग्निको अपना लेता है, ऐसे अतिक्रोधी, अति आरंभी, अतिपरिगृही क्रूरपरिणामी हिंस्र प्रवृत्तिवाले जीव नरकायुका वंध करते हैं। अथवा ऊपर कहेगये भाव नरकायुके आस्रवके कारण होते हैं, इसप्रकार तो यह संक्षेपसे वर्णन किया गया है। उन भावोंका विस्तारसे कथन इसप्रकार है— मिथ्यादर्शनसहित हीनाचारमें तत्पर रहना, अत्यंत मान करना, शिलाभेदके समान अत्यंततीव्र क्रोध करना, अत्यंत तीव्र लोभका अनुराग रहना, दयासे रहित परिणामोंका होना, दूसरोंको दुख देनेका चित्त रखना, जीवोंको मारनेका उन्हे बांधनेका भाव रखना, प्राणी जीव सत्व इनके निरंतर घात करनेके परिणाम रखना (यहांपर प्राणी जीव सत्व तीनों शब्द एक जीवके ही पर्याय वाचक हैं) जिससे दूसरेके प्राणोंका वध होता हो ऐसे झूठवचन वोलनेका स्वभाव रखना दूसरोंका धन हरण करनेका स्वभाव रखना दूसरेकी स्त्रियोंके आलिंगन करनेका स्वभाव रखना, मैथुन सेवनसे विरक्तिका नहीं होना, अत्यंत आरंभमें इन्द्रियोंको लगाये रखना, काम भोगोंकी अभिलाषाको सदैव वढाते रहना, शील सदाचाररहित स्वभाव रखना, जो आहार पाप वंधके हैं वैसे आहारके ग्रहण करने करानेका भाव रखना, वहुतकालतक वैर बांध रखना,

शब्दका अर्थ मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका इन चार भेदोंमें भी होता है, परन्तु यहांपर संघ शब्दका अर्थ वह नहीं है किंतु चार प्रकारके मुनियोंका समूह ही संघ शब्दसे लिया गया है। शंका—

एकस्यासंघत्वमितिचेन्नाऽनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि संघत्वसिद्धेः ॥ ४ ॥

शंका—जब संघ गण वृंद इन तीनों शब्दोंका अर्थ 'समूह' है तब एक मुनिको संघशब्दसे कैसे कह सकते हैं और जब एक मुनि 'संघ' नहीं है तब उन एकका किया हुआ अवर्णवाद—निंदा दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण नहीं होगा? उत्तर—सो ठीक नहीं है क्योंकि अनेक गुणोंका समूह एक मुनिमें रहनेसे वह एक भी संघ शब्दसे कहे जाते हैं। जैसा कि आगममें कहा है—

"संघो गुणसंघादो कम्माणविमोखदो हवदि संघो।
दंसणणाणचरित्ते संघादिंतो हवदि संघो"॥ १॥

अर्थ—जिसमें गुणोंका संघ—समूह रहता है वह संघ है, जिसने कर्मोंका नाश कर दिया है वह संघ है, जो दर्शन ज्ञान चारित्रसे युक्त है वह संघ है। अब धर्मका स्वरूप कहते हैं—

अहिंसादिलक्षणो धर्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस जैनसिद्धांतमें कहागया जो अहिंसादि लक्षणवाला धर्म है वही धर्म कहा जाता है अर्थात् श्रुतकेवली द्वारा प्ररूपित जो अहिंसा सत्य और उत्तम-क्षमा आदि रूप धर्म है वही धर्म शब्दसे कहा जाता है। अब देवोंका स्वरूप कहते हैं—

देवशब्दो व्याख्यातार्थः ॥ ६ ॥

अर्थ—"देवाश्चतुर्णिकायाः" इस चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रमें देवशब्दका व्याख्यान किया जा चुका है अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी ऐसे देवगति नामकर्मके उदयसे होनेवाले जो देवोंके चार भेद हैं वे देव शब्दसे कहे जाते हैं। अब अवर्णवाद शब्दका अर्थ कहते हैं—

आर्तध्यानसे मरण करना, इत्यादि लक्षणोंसे तिर्यंचआयुका बंध होता है। यहां कहते हैं कि तिर्यंचआयुके आस्रवके कारण कह दिये गये अब मनुष्यायुके क्या कारण हैं उसीका निरूपण नीचेके सूत्रसे करते हैं—

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—थोडा आरंभ करना और थोडा परिग्रह रखना मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्य ॥ १ ॥

अर्थ—नरकायुके आस्रवका कथन किया जाचुका है उस नरकायुके आस्रवसे जो विपरीत है वह मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। इसप्रकार संक्षेप कथन है। अर्थात् ऊपर यह बात कही जाचुकी है कि बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहसे नरकायुका आस्रव होता है, परंतु उसके विपरीत थोडा आरंभ और थोडा परिग्रह रखनेसे मनुष्यायुका आस्रव होता है। इसीका विस्तारसे कथन इसप्रकार है—मिथ्यादर्शन सहित बुद्धिका होना, स्वभावमें विनय होना प्रकृतिमें भद्रता होना अर्थात् सज्जनस्वभावी होना, परिणामोंमें कोमलता होना, उनमें मायाचारका भाव नहीं होना, अच्छे आचरणोंमें सुख मानना बालूकी रेखाके समान क्रोधका होना, विशेष गुणी पुरुषोंके साथ व्यवहारप्रिय होना, थोडा आरंभ थोडा परिग्रह रखना, संतोष रखनेमें रुचि होना, प्राणियोंके घातसे विरक्तिका होना, खोटे कार्योंसे निवृत्तिका होना, मनमें जो बात हो उसीके अनुसार सरलतासे बोलना, व्यर्थका बकवाद नहीं करना, परिणामोंमें मधुरताका होना, सब लोगोंके साथ उपकार बुद्धि रखना, परिणामोंमें वैराग्यवृत्तिका रखना, किसीसे ईर्षाभाव नहीं रखना थोडासंक्लेशका होना, गुरु देव अतिथिका पूजासत्कार करना, दान देनेका स्वभाव रखना, कपोत लेश्या तथा पीतलेश्यासे सहित होना, धर्मध्यानसे मरण करना आदि लक्षणोंसे मनुष्यायुका आस्रव होता है। अब कहते हैं कि मनुष्यायुके आस्रवका कारण क्या इतने मात्र हैं या और भी हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं और भी हैं, उसीका कथन नीचेके सूत्रद्वारा करते हैं—

और समझना महामूर्खता है। यदि सभी कवलाहारसे जीवित हों तो एकेंद्रियादि जीवोंमें और देवोंमें कवलाहार कहां है अर्थात् उनके कवलाहार नहीं है फिर भी वे हजारों वर्ष और असंख्यातों वर्ष जीते हैं क्या इन सब बातोंसे श्वेतांबरमतका उसीके शास्त्रोंसे खंडन नहीं होजाता है? अवश्य होजाता है इसलिये केवली भगवान कवलाहार नहीं करते हैं, उनके मूलमें इच्छा ही नहीं है, विना इच्छाके कवलाहार कभी हो ही नहीं सकता है। फिर असाताका उदय नहीं है, चारित्र मोहनीयकर्मका सर्वथा नाश होनेसे क्षुधादि दोषोंका सद्भाव भी नहीं है। किंतु परम शुक्लध्यानके कारण परमदिव्य असाधरण औदारिक शरीर केवलियोंका होजाता है, वैसी अवस्थामें उस शरीरकी स्थितिकेलिये कवलाहारकी जरूरत भी नहीं है, उनके योग अभी अवशिष्ट हैं इसलिये उस योगके कारण उनके परम शुभ और परम सूक्ष्म अनंतानंत आहारवर्गणा जातिके पुद्गल स्कंध प्रतिसमय आते रहते हैं और तत्काल निकलते रहते हैं उन्हीं पुद्गल स्कंधोंके आनेसे उनका शरीर दिव्यरूपसे बना रहता है। इसके सिवा एक बात यह भी है कि जबतक आयुकर्मका संबंध है और पूर्व कर्मोदयसे जिन आहारवर्गणाओंका संचय किया हुआ है उनकी सत्ता जबतक रहेगी तबतक शरीरकी स्थिति रहना अनिवार्य है इसलिये जो लोग (श्वेतांबर) केवलीभगवानके कवलाहार बताते हैं वे उनका अवर्णवाद करते हैं, उनमें मिथ्यादोष लगाते हैं, उनके असाधारण लोकोत्तर अनुपम अनंत गुणोंके विकाशमें दोषोत्पादन करते हैं यह उनकी बुद्धिकी मलिनता है अथवा उनके मिथ्यात्वकर्मका ही तीव्रोदय है, इसीलिये वस्तुस्वरूपमें उन्हें मिथ्या भाव प्रतीत होता है। केवलीभगवानमें कवलाहारी कहनेके सिवा और भी दोष लगाना जैसे केवलीभगवान कंवल* आदि दश उपकरण रखते हैं, तूंबीपात्र आदि परिग्रह रखते हैं तथा उनके दर्शन ज्ञान चारित्र काल

* यह अर्थ "कंवलदशानिर्हरणाः" पाठका है, तथा केवलदशानिर्हरणाः, पाठ भी है उसका अर्थ होता है कि केवलज्ञान अवस्थामें केवली मलमूत्र भी करते है।

शंका ठीक नहीं है कारण कि स्वभावमार्दवं च, यह सूत्र जो भिन्न कहा गया है वह आगेके कथनकी अपेक्षा से कहा गया है, आगे सूत्रमें देवायुके आस्रव वतावेंगे उनमें यह स्वभावमार्दव भी देवायुका आस्रवका कारण है यदि मनुष्यायुके आस्रवके लिये दोनों सूत्रोंका एकही सूत्र करदिया जाता तो फिर स्वभावमार्दव मनुष्यायुके आस्रवका ही कारण होता, देवायुके आस्रवके लिये फिर उसका भिन्न कथन करना पडता इसलिये भिन्न सूत्र कहनेसे और चकारका ग्रहण करनेसे यह अर्थ हो जाता है कि स्वभावमार्दव मनुष्यायुके आस्रवका भी कारण है और चकारसे देवायुके आस्रवका भी वह कारण है। यहां कोई शंका करता है कि मनुष्यायुके क्या ऊपर कहे गये दोही कारण हैं ? इसके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि नहीं, अर्थात् दोही कारण नहीं हैं किंतु और भी हैं अव नीचेके सूत्र द्वारा उन्हींको कहते हैं-

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ-शील नाम उत्तर गुणोंका है और व्रत मूलगुणोंको कहते हैं। ये शील और व्रत अर्थात् उत्तरगुण और मूलगुण श्रावक और मुनि दोनोंके समझने चाहिये। इन शीलव्रतोंसे जो रहितपना है वह चारों आयुके आस्रवका समान रूपसे कारण है अर्थात् जिन जीवोंके देशव्रत और सकल व्रत नहीं है साधारणरूपसे नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों आयुओंमेंसे कोई भी आयु उनजीवोंके अपने अपने भावोंके अनुसार बंध सकती है। इस सूत्रमें च शब्द क्यों दिया गया है उसीकी सार्थकता वताते हैं—

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः ॥ १ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो चकारका ग्रहण किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि अल्पारंभ परिग्रह भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है और निःशील निःव्रतत्व भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है इस अधिकारप्राप्त मनुष्यायुके समुच्चयके लिये चकार ग्रहण किया गया है। निःशीलव्रतत्व शब्दका समास इस प्रकार है-'शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि, निःक्रान्तः शीलव्रतेभ्यः निःशीलव्रतः, तस्य भावः

वाद है। अर्थात् दिगम्बर जैनसिद्धांतकारोंने शूद्रको मुनिदीक्षा देनेका अधिकार नहीं बताया है, इसलिये शूद्र तो साधु हो नहीं सकते फिर भी मुनियोंको शूद्र कहना यह उनमें वहुत बडा दोष लगाना है, उनके लिये यह पाप वचन है। मिथ्यादृष्टि पुरुष इसप्रकारका दोष लगाकर मुनिसंघका अवर्णवाद करते हैं, इसीप्रकार मुनियोंको हीनकुली बताना उनके माता पिताओंको भी दोषी बताना, उन्हें हीनाचारी कहना यह सब मुनियोंका अवर्णवाद तीव्र पापी मिथ्यादृष्टि करते हैं। इसप्रकारका अवर्णवाद करनेवाले नरकादि कुगतियोंका नियमसे बंध करते हैं, कारण कि वे सन्मार्गका लोप करते हैं, परम गुरुओंको दोषी ठहराते हैं, यह उनका तीव्र मिथ्याभाव उनके लिये ही दर्शन मोहनीय कर्मका बंधक होता है।

इसी प्रकार जो लोग मुनियोंको स्नान नहीं करनेवाले, नग्न रहनेवाले आदि बताकर उनकी निंदा करते हैं वे भी महा पापी हैं, कारण वे मुनिस्वरूपको समझते ही नहीं हैं, मुनिगण आरंभ परिग्रहके सर्वथा त्यागी होते हैं ऐसी अवस्थामें उनके वस्त्रादिका ग्रहण स्नानादिकका आरंभ किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं होसकता फिर उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता ही क्या है, तपश्चरणके प्रभावसे उनका विना स्नानके ही दिव्य शरीर रहता है, उनका शरीर अपवित्र नहीं होता किंतु महान् पवित्र होता है, उनके चरण-रजसे संसारी जीवोंके पाप नष्ट होते हैं, जो संसारी जीव अपनी बुरी बुरी वासनाओंके कारण पाप-पंकमें निमग्न रहते हैं, नाना अशुद्धियोंके संपर्कसे सने रहते हैं, आरंभ परिग्रहसहित होते हैं उन्हीं लोगोंमें अपवित्रता रहती है, मुनिगण अंतरंग और वहिरंग सभीप्रकारके परिग्रहसे सर्वथा दूर रहते हैं, अपने शुद्धात्माके ध्यानमें निरंतर लीन रहते हैं, वे परमपूज्य पूतात्मा जब दूसरोंको पवित्र करते हैं फिर वे अपवित्र कैसे होसकते हैं अर्थात नहीं होसक्ते हैं। इसीप्रकार उन्हें निर्लज्ज बताना भी महा मूर्खता है, जिस व्यक्तिके रागद्वेष हो विकारभाव हो वह यदि वस्त्र छोडकर नग्न होजाय तो वह तो निर्लज्ज कहलावेगा परंतु जिन साधुओंके सर्वथा विकारभाव नहीं है जो परम वीतराग हैं, आरंभ परिग्रहका जिन्होंने सर्वथा त्याग

इस सूत्रसे होजाता है यदि इस सूत्रसे केवल मनुष्यायुकी ही अपेक्षा होती तो इस निःशीलव्रतत्वका पाठ भिन्न सूत्र द्वारा नहीं कहकर वहीं मनुष्यायुके आस्रववाले सूत्रमें कर दिया जाता, किंतु वैसा न करके जो स्वतंत्र निर्देश (कथन) किया गया है इससे ही सिद्ध होता है कि निःशीलव्रतत्व केवल मनुष्यायुके आस्रवका हेतु नहीं है किंतु पीछे कहीगई सभी आयुओंके आस्रवका हेतु है जब इसप्रकारकी सिद्धि भिन्न सूत्र करनेसे ही होजाती है तब फिर सूत्रमें 'सर्वेषां' पद देना व्यर्थ ही प्रतीत होता है? इसके उत्तरमें श्री आचार्य कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि भोगभूमिज मरकर देव होते हैं उनकी अपेक्षा भी निःशीलव्रतत्वसे है इसलिये 'सर्वेषां' पदका ग्रहण सूत्रमें आवश्यक है अर्थात् यदि सूत्रमें सर्वेषां पद नहीं देते तो पीछे कही गई आयुओंका तो गृहण हो ही जाता परंतु शीलव्रतोंसे रहित भोगभूमिया जीव मरकर देव होते हैं इसलिये भोगभूमियोंकी अपेक्षासे निःशीलव्रतत्व देवायुके आसूवका भी कारण है, इस देवायुका गृहण नहीं होता क्योंकि देवायुका वर्णन पीछे तो आया नहीं है उसके आसूवके हेतु तो आगे कहे जांयगे इसलिये अव्रती भोगभूमिया जीव भी मरकर नियमसे देव होते हैं इस अपेक्षा शीलव्रतरहितपना चारों आयुओंके आसूवका कारण है, इस बातकी सिद्धिके लिये सर्वेषां पदका देना आवश्यक है नारक तिर्यंच मनुष्य इन तीनों आयुओंके आसूवकी विधि तो कही गई है अब देवायुके आसूवका विवेचन होना चाहिये ? उसीकेलिये नीचेके सूत्र कहते हैं—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—सरागसंयम संयमासंयम अकामनिर्जरा बालतप ये देवायुके आसूवके कारण हैं।

व्याख्याताः सरागसंयमादयः ॥ १ ॥

अर्थ—शुभ परिणाम जो सराग संयमादिक हैं उनका व्याख्यान पहले किया जाचुका है, वे सराग संयमादिक देवायुके आसूवके कारण होते हैं अर्थात् "भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः

अर्थ—जिनेंद्र भगवानने जो उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारका धर्मका स्वरूप बताया है वह निर्गुण है अर्थात् निःसार है, जो उस धर्मको धारण करते हैं वे मरकर असुर होते हैं इत्यादि प्रकारसे धर्मकी निंदा करना, धर्मका अवर्णवाद है, जो धर्म अपने लिये और परके लिये परम हितकारी है, जिस धर्मका स्वरूप आचार्यवर्य समंतभद्र स्वामीने यह कहा है कि "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः। यदीय प्रत्यनीकानि भवंति भवपद्धतिः" अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये रत्नत्रय धर्म कहलाते हैं, इन्हीको सर्वज्ञ देवने धर्म कहा है और इनके उलटे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों अधर्म हैं और वे संसारको ही वढाने वाले हैं। इसी रत्नत्रय धर्मका फल उन्हीं आचार्यवर्य समंतभद्र स्वामीने संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुखस्वरूप मोक्षलाभ बताया है। उसी धर्मके उत्तम क्षमादिक भेद हैं, सम्यग्दर्शन स्वपर भेद विज्ञान और वस्तुकी यथार्थताकी प्रतीति कराता है, सम्यग्ज्ञान यथार्थ बोध और मोक्षमार्गका स्वरूप वताता है, सम्यक्चारित्र समस्त अंतरंग वहिरंग उपाधियोंसे क्रोधादि अंतरंग विकारोंसे और वंहिरंग धनधान्यादि परिग्रहोंसे हटाकर अपने आत्मामें अपनेको लीन बनाता है और सब जीवोंपर हितमय भावना प्रगट करता है ऐसा रत्नत्रय जो नियमसे मोक्षफलका देनेवाला है, जिसके विना अन्य किसी प्रकारसे जीव कर्मबंधनसे छूट ही नहीं सकता है उस धर्मको निःसार कहना और उसके सेवन करनेवालोंको असुर होना बताना यह धर्मका अवर्णवाद है उसकी झूठी निंदा है। ऐसा अवर्णवाद वे ही लोग करते हैं जो स्वयं धर्महीन हैं और धर्मके वास्तविक रूपको विलकुल समझे नहीं है। अब देवोंका अवर्णवाद कहते हैं—

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ॥ १२ ॥

अर्थ—देवगण मदिरापान करते हैं वे मांस भक्षण करते हैं और अंहिल्यादिक जो मानुषी स्त्रियां

१ वैष्णव संप्रदायवाले मानते है कि देवगण मानुषी स्त्रियोंसे संभोग करते है।

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन भी देवायुके आस्रवका कारण है। इसका खुलासा यह है कि जिस जीवके सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होगा उसके यदि पहले किसी आयुका बंध नहीं हुआ तो वह नियमसे देवायुका बंध करता है। सम्यग्दर्शनविशिष्ट भावोंसे जीव कल्पवासी उत्तम देवोंमें जन्म लेता है। इतना और विशेष समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पहिले यदि उस जीवने उसी पर्यायमें किसी अन्यगति संबंधी आयुका बंध करलिया हो तो वह जीव मरणकालमें सम्यग्दर्शनसे रहित होकर उन्हीं मिथ्यात्वादि भावोंमें पहुंच जाता है। यहांपर इतना भेद समझ लेना भी आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन रत्नत्रयमें प्रधान गुण है वह मोक्षका हेतु है, फिर उसे यहां देवायुका बंध करनेवाला संसारका कारण क्यों बताया गया है? यदि ऐसा कोई प्रश्न करै तो उसका उत्तर है कि वास्तवमें सम्यग्दर्शन तो मोक्षका ही हेतु है परंतु जबतक पूर्णरूप रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती है तब तक सम्यग्दर्शनविशिष्ट आत्मा अपने सराग-भावोंसे देवायुका बंध करता है, यद्यपि बंध करनेवाला सरागभाव ही है सम्यग्दर्शन नहीं है फिर भी जो सम्यग्दर्शनको देवायुका कारण कहागया है उसका कारण यही है कि उसके होनेपर आत्माकी शुभ परिणति होजाती है उस सम्यक्त्वके अविनाभावी आयुबंधके कारण भावोंसे सम्यग्दृष्टि देवायुका बंध करता है।

उक्तं सम्यक्त्वलक्षणं ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इससूत्रमें पहले किया जा चुका है।

अविशेषाभिधानेपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात् ॥ २ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन देवायुका बंध करनेवाला है ऐसा सामान्य कथन है—चार प्रकारके देवोंमें कौनसी देवायुका वह बंधक है सो कुछ सूत्रमें विशेष कथन नहीं किया गया है फिर भी सौधर्मादि कल्प-वासी देवसंबंधी आयुके आस्रवका वह कारण है ऐसा विशेष अर्थ समझलेना चाहिये क्योंकि 'सम्यक्त्वं

दो भव धारण कर मोक्ष भी जाते हैं। देवोंके सदैव उच्च गोत्रका ही उदय रहता है इसलिये देवपर्याय संसारमें सातावेदनीयजनित सुखकी दृष्टिसे सबसे उत्तम पर्याय है, सुखका निधान है ऐसे देवोंको मदिरा मांस खानेवाले कहना आदि उनके स्वरूपका विपर्यास है यही देवोंका अवर्णवाद है इसप्रकारका अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है इसीवातको कहते हैं।

दर्शनं मोहयति मोहनं वा दर्शनमोहः ॥ १३ ॥

अर्थ—दर्शन नाम सम्यग्दर्शनका है उसका लक्षण पहले "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इस सूत्र द्वारा कहा जा चुका है। जो उस सम्यग्दर्शनको मोहित करदे अर्थात् उसे विपरीत स्वादु वनादे। जिसप्रकार कड़वी तूवीमें रक्खा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, उसीप्रकार जो सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्माके विशुद्ध-गुणको विकारी—मिथ्यादर्शन रूप करदे वह दर्शन मोहकर्म कहलाता है अथवा सम्यग्दर्शनके मोहन करनेको—उसे विपरीत बनानेको दर्शनमोह कहते हैं। उस दर्शन मोहनीय कर्मके ये ऊपर कहे गये अवर्णवाद आस्रव कारण हैं ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् केवलीका अवर्णवाद, श्रुतका अवर्णवाद, संघका अवर्णवाद, धर्मका अवर्णवाद, देवोंका अवर्णवाद, ये सब अवर्णवाद दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं। सब कर्मोंमें महादुःखकारी सबसे बडा जीवका अनिष्ट करनेवाला और अनंत संसारका कारण एक दर्शन मोहनीय कर्म ही है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति सब कर्मोंसे अधिक सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी पडती है। जबतक इस जीवके उस दर्शनमोह कर्मका सद्भाव रहता है तब तक वह किसी प्रकार मोक्ष-पात्र नहीं बन सकता, सदैव संसारमें ही रुला करता है। ऐसे भयंकर प्रवल कर्मका बंध वे जीव करते हैं जो जीव केवली आदिका अवर्णवाद करते हैं। किसीका अवर्णवाद करना जगत्में सबसे बडा पाप है इससे बढकर दूसरा पाप नहीं हो सकता इसलिये ऐसे पापोंसे वचना प्रत्येक विवेकीका प्रथम कर्तव्य है। अब कहते हैं कि ये ऊपर जो कहे गये हैं वे दर्शन मोहनीयके उत्पन्न करने

योगवक्रताविसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—मन वचन काय इन तीनों योगोंकी कुटिलता रखना और विपरीत भावको लेकर तत्त्वोंमें विसंवाद करना–झगडा करना अशुभनामकर्मके आस्रवका कारण है। योगवक्रताका स्वरूप इसप्रकार है—

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता ॥ १ ॥

काय, वचन, मन, इनका व्याख्यान पहले किया जाचुका है, उन तीनोंकी जो कुटिलता है वही योगवक्रता कहलाती है अर्थात् सरल परिणाम नहीं रखना किंतु मन वचन काय इन तीनोंकी वाह्य क्रिया कुछ और ही रखना और भीतरी भाव कुछ और ही रखना इसीका नाम मन वचन कायकी कुटिलता है। मन वचन कायके भेदसे तीन ही योग कहे जाते हैं, उनकी प्रवृत्तिमें जो मायाचारपूर्ण भाव हैं वही योगवक्रता कहलाती है। अब विसंवादका स्वरूप कहते हैं—

विसंवादनमन्यथाप्रवर्त्तनं ॥ २ ॥

अर्थ—दूसरेको अथवा स्वयंको उलटे मार्गमें प्रवर्त्तित करना (लगाना) और उसी उलटे मार्गका प्रतिपादन कहिये कथन करना सो विसंवाद कहलाता है। शंका—

योगवक्रतैवेति चेत्सत्यमात्मांतरेपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनं । ३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि उलटी प्रवृत्ति करना अथवा उसप्रकारका कुटिलरूपसे कथन करना विसंवाद कहा जाता है और उसीका नाम योगवक्रता भी है अर्थात् विपरीत मार्गका कथन करना और वैसी प्रवृत्ति करना यही तो मन वचन कायकी कुटिलता है इसीको योगोंकी वक्रता कहते हैं, इसलिये सूत्रमें जो योगवक्रता और विसंवादको जुदा जुदा ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है? इस शंकाका समाधान श्रीआचार्यमहाराज इसप्रकार देते हैं कि ऊपर जो शंका उठाई गई है सो ठीक है परंतु सूत्रमें जो दोनोंका जुदा जुदा पाठ रक्खा गया है वह अपने और दूसरे जीवोंकी अपेक्षासे है अर्थात् विसंवाद दूसरोंकी अपेक्षासे होता

वह परिणाम किस प्रकारका है उसीका कुछ स्वरूप यहां प्रगट करते हैं–जगत्के जीवोंका उपकार करना ही है कार्य जिन्होंका तथा शील और व्रतोंसे विशिष्ट एवं अनुभूत है आत्मा जिनका ऐसे तपस्वी साधु जनोंकी निंदा करना, धर्मका लोपकरना, धर्मके कार्योंमें अथवा धर्म धारणमें विघ्न डालना, किसीको शील से च्युत करा देना, किसीको उत्तम गुणोंसे च्युत कर देना, किसीको देश संयमसे च्युत कर देना, अथवा शील गुण देशसंयम सकल संयमसे स्वयं अपने आपको पतित कर देना, जिनका मधु मदिरा मांससे चित्त विरक्त होचुका है उनके चित्तमें भी भ्रम पैदा करदेना अथवा अपने चित्तमें मदिरा मांस मधुसे विरति न होना किंतु भ्रम पैदा कर लेना, व्रतोंमें दूषण लगा देना, संक्लेशभावोंसे दीक्षा तथा व्रतोंका धारण करना, अपने चित्तमें तथा दूसरोंके चित्तमें कषाय भावोंका पैदा कर देना, इत्यादिसे कषाय वेदनीय कर्मका (चारित्र मोहनीय) आस्रव होता है। बहुत जोरसे हंसना अथवा धार्मिक विषयोंमें भी हास्य करना, काम चेष्टासे हंसना, बहुत बोलनेके साथ हँसना यह सब हास्य वेदनीयकर्मके आस्रवका हेतु हैं दीन हीन पुरुषोंको देखकर हास्य करना, अर्थात् इस प्रकार हंसनेसे हास्य कर्मका वंध होता है दूसरे जीवोंमें नाना प्रकारकी क्रीडा करना कराना किसीकी उचित वातको भी रोक देना, दूसरेको खेद पहुंचाना, दूसरेकी रति (प्रेम) का विनाश करना, पापीपनेका स्वभाव रखना, पापियोंकी संगति करना, पाप-क्रियामें खूब उत्साह रखना इत्यादि बातें अरति वेदनीयकर्मके आस्रवका कारण हैं। स्वयं शोकाकुलित रहना, हर्षमें शोक करना, दूसरेके दुःखका प्रगट करदेना, दूसरेके शोकमें हर्ष और आनंद मनाना आदि वातें शोक वेदनीयके आस्रवका कारण हैं। स्वयं भयसहित परिणाम रखना, दूसरेको भय पैदा करना, परिणामोंमें दयाभाव नहीं रखना, दूसरे जीवोंको दुःखदेना आदि वातोंसे भय वेदनीय कर्मका आस्रव होता है। समीचीन धर्मके पालनेवाले चारो वर्णोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष हैं तथा जो कुलक्रमागत क्रिया और आचरणके पालनेमें तत्पर हैं ऐसे पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरों की निंदा करनेका स्वभाव रखना आदि वातोंसे जुगुप्सावेदनीय कर्मका

वकवाद करनेमें अपने सौभाग्यका उपभोग करना, दूसरोंको वश करनेके प्रयोग करना, दूसरोंको कुतूहल पैदा करना, बढिया बढिया भूषण पहिननेकी चाह रखना, चैत्यालयसे चंदन माला धूप आदि द्रव्योंका चुरालेना, किसीकी विडंबना करना, उपहास करना, ईटें चूना आदिका पकाना अर्थात् भट्टा लगाना, जंगलमें अग्नि लगानेका प्रयोग करना, प्रतिमाका, प्रतिमाके आयतनका अर्थात् चैत्यालयका और जिनकी छायामें विश्राम लिया जाय ऐसे बाग वगीचोंका विनाश करना, तीव्र क्रोध करना, तीव्र मान रखना, तीव्रमायाचार करना, तीव्रलोभ करना, पापकर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातोंसे भी अशुभ नामकर्मका आस्रव होता है। यह सब अशुभ नामकर्मके आस्रवका हेतु है। अब कहते हैं कि शुभ नामकर्मके आस्रवका क्या कारण है ? उसीका विवेचन नीचेके सूत्रद्वारा करते हैं—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—उसमे जो विपरीत है अर्थात् जो कुछ ऊपर अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण बताये गये हैं उनसे जो विपरीत कारण हैं वे सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण समझना चाहिये। वे कौनसे हैं, उन्हींको दिखाते हैं—

ऋजुयोगोऽविसंवादनं च ॥ १ ॥

अर्थ—जो ऊपर अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण कहा गया है उससे विपरीत—काय वचन मनकी सरलताका होना और विसंवाद नहीं करना यही उससे विपरीत कहलाता है अर्थात् मन वचन कायमें मायाचारी न हो उनमें सरलता रहै और दूसरोंको समीचीनमार्गसे भ्रष्ट नहीं करना और न वैसा उपदेश ही देना शुभनामकर्मके आस्रवका कारण है। जिस प्रकार अशुभ नामकर्मके आस्रवमें चकारके ग्रहणसे और बातोंका ग्रहण किया गया था उसी प्रकार यहांपर भी उनसे विपरीत बातोंका ग्रहण शुभ नाम कर्मके लिये समझ लेना चाहिये। वे बातें इस प्रकार हैं—धर्मात्मा पुरुषोंका दर्शन करना आदर

जैसे—बहुरोदनः बहुसूपः इति, इसका अर्थ बहुत भात वहुत दाल होता है। यहांपर बहुतदाल बहुत भातमें जो बहुत शब्द है वह बहुतसंख्याको नहीं प्रगट करता है किंतु बहुत परिमाण अर्थात् एक बडे मापको प्रगट करता है। सूत्रमें जो बहुशब्द है उसका दोनोंप्रकारका अर्थ लेना चाहिये दोनोंप्रकारका अर्थ लेनेसे कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि सामान्यपनेसे दोनोंप्रकारका अर्थ घटित हो जाता है अर्थात् यदि आरंभ परिग्रहके साथ बहुशब्दका अर्थ संख्यावाची किया जायगा तो भी ठीक घटित होगा, अधिक संख्यामें आरंभ परिग्रह रखनेसे नरकायुका बंध होता है यह अर्थ होगा और यदि बहुशब्दका अर्थ उनके साथ परिमाणवाची किया जायगा तो भी ठीक अर्थ घटित होगा, अधिक मापमें आरंभ परिगृह रखनेसे नरकायुका बंध होता है, यह अर्थ होगा। इसप्रकार सूत्रमें पडहूये बहुशब्दके दोनों ही अर्थ घटित होते हैं अब आरंभशब्दका अर्थ करते हैं—

आरंभो हैंस्रं कर्म ॥ २ ॥

अर्थ—हिंसा करनेका ही जिनका स्वभाव हो वे हिंस्र कहे जाते हैं, उन हिंसा करनेवाले हिंस्रोंकी क्रियाको हैंस्र अथवा आरंभ कहते हैं। अर्थात् आरंभ नाम हिंसारूप प्रवृत्तिका है, आरंभ जितना भी किया जायगा उसमें स्थावरादि जीवोंका नियमसे वध होगा इसलिये कैसा भी आरंभ क्यों न हो वह हिंसामय व्यापार ही होगा। आरंभशब्दके साथ बहुशब्दका समास करनेसे बहुत जो आरंभ वह बह्वारंभ अथवा वहुपरिमाणमें जो आरंभ वह बह्वारंभ ऐसा अर्थ होता है। अब परिगूह शब्दका अर्थ करते हैं—

ममेदमिति संकल्पः परिगूहः ॥ ३ ॥

अर्थ—यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूं इसप्रकार अपनेपनेका जो अभिमान है अथवा पर-वस्तुमें यह मेरी है आदि रूपसे जो संकल्प है वह परिगूह कहलाता है अर्थात् परिगूह नाम केवल वाह्य धन धान्यादि पदार्थोंको ही नहीं करते हैं किंतु वाह्यमें जहां कुछ भी पदार्थ नहीं परंतु भावोंमें ममत्व

प्रकृतिका बंध बँध सकता है। अब इन सोलह भावनाओंमें क्रमसे एक एकका लक्षण कहा जाता है—

जिनोपदिष्टे निर्ग्रंथे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगा दर्शनविशुद्धिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान अर्हंत परमेष्ठीने जिस निर्ग्रंथ लक्षण मोक्षमार्गका उपदेश किया है उसमें रुचि होना वह दर्शनविशुद्धि कही जाती है अर्थात् श्रीअर्हत्परमेष्ठी सर्वज्ञदेवने परम वीतराग निष्परिग्रह-लक्षण नग्न दिगम्बर मोक्ष मार्गका निरूपण किया है, उसी मार्गमें श्रद्धान रखना इसीका नाम दर्शनविशुद्धि है। उस दर्शनविशुद्धिके आठ अंग हैं। उनके नाम इसप्रकार हैं–निःशंकितत्व, निःकांक्षता, विचिकित्सा-विरह, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये उसके आठ अंग हैं, अब इन आठ अंगोंमें प्रत्येक अंगका लक्षण कहते हैं–इस लोक संबंधी भय, परलोकसंबंधी भय, पीडारोगसंबंधी भय, मरण भय, अगुप्तिभय, रक्षा नहीं होने संबंधी भय. आकस्मिक भय इन सात प्रकारके लोक प्रसिद्ध भयोंसे छूट जाना यह सम्यग्दृष्टिका निःशंकित अंग कहलाता है, अर्थात् सात प्रकारके भयोंमेंसे किसी प्रकारके भयकी उसे आशंका या डर नहीं रहता है, वह वस्तुस्वरूपका विचारकर निश्चल रहता है। तथा अर्हंत भगवानके द्वारा जो कुछ कहा गया है अथवा उनके उपदेशानुसार गणधरदेव तथा आचार्योंने शास्त्र रचे हैं उन सबोंमें क्या यह बात ठीक है अथवा ठीक नहीं है इस प्रकारकी शंकाका निरास हो जाना यह निःशंकित अंगका मुख्य लक्षण है अर्थात् सम्यग्दृष्टि निःशंकित अंग पालनेवाला जिन-वचनोंमें कभी किसी प्रकारकी शंका नहीं करता है।किंतु उसपर पूर्ण श्रद्धा रखता है। इसलोक परलोक संबंधी विषयों और भोगोंकी चाहनाकी निवृत्ति होजाना, तथा किसी प्रकारका मिथ्यादृष्टियोंमें चमत्कार भी देखकर उनकी आकांक्षाका नहीं होना सो निःकांक्षित अंग कहलाता है अर्थात् सम्यदृष्टिका निःकांक्षित अंग वह कहाजाता है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको धारण करके भी उनका कोई सांसारिक वासना-ओंकी पूर्तिरूप फल नहीं चाहना और न मिथ्यादृष्टि जीवोंमें कोई विशेष बात देखकर उनमें चाहना

महाक्रूर स्वभाव रखना, विना विचारे रोने चिल्लानेका स्वभाव रखना किसीके उपकार करनेकी वुद्धि नहीं रखना, मुनि सिद्धांत देवं तीर्थंकर इनका अवर्णवाद करना. अर्थात् देव गुरु शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना कृष्ण लेश्यासे उत्पन्न रौद्र ध्यानसे मरण करना इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके वंधके कारण होते हैं। कहते हैं कि नरकायुके आस्रव तो कहे जाचुके अब तिर्यच योनिके आस्रव कहना चाहिये इसलिये नीचेके सूत्रद्वारा उसीको कहते हैं—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—मायाचार पूर्ण परिणाम रखना तिर्यञ्चआयुके आस्रवका कारण है। अब मायाका लक्षण कहते हैं—

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया ॥ १ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीयकर्मके उदयसे प्रगट होनेवाला आत्माका जो कुटिल स्वभाव है, वह माया कहलाती है। वह माया दूसरोंको ठगनेवाली है इसलिये तिर्यंचआयुके आस्रवका कारण है। इसप्रकार संक्षेपसे कथन है। विस्तारसे इसप्रकार है—मिथ्यात्व भावोंसे सहित होकर अधर्मका उपदेश देना, बहुत आरंभ रखना, बहुत परिग्रह रखना, दूसरोंको ठगना, दूसरोंसे छिपाकर खोटाकर्म करना, पृथिवी भेदके समान क्रोध करना शीलरहित स्वभावका रखना, शब्दसे अथवा किसी चिन्हसे दूसरोंको ठगना, कपट रखनेमें प्रेम होना, परस्पर भेद करदेना, किसीके अनर्थोंका प्रगट करदेना, रूप रस गंध स्पर्शका अन्यथाभाव करदेना, किसीकी जातिमें कुलमें शीलमें दूषण लगादेना, झगडा अथवा विवाद करनेका स्वभाव रखना, खोटी आजीविका करना, किसीके श्रेष्ठ गुणोंका भी लोप कर देना, किसीके बुरे गुणोंको अर्थात् अवगुणोंको अथवा दोषोंको प्रगट करदेना, नील लेश्या और कापोती लेश्यावाले परिणाम रखना,

१—किसी ग्रंथमें-"यतिसमयभेदतीर्थंकरासादन" ऐसा भी पाठ है उसका यति और शास्त्रोंका भेद करना अर्थात् मुनियोंके और शास्त्रों के स्वरूपमें भेदकर नवीन कल्पित मत चलाना ऐसा अर्थ होता है। जहां 'यतिसमयदेवतीर्थङ्करासादन' पाठ है वहां ऊपरका अर्थ होता है।

धर्ममें दृढ करदेना यह सम्यग्दृष्टिका स्थितिकरण अंग कहलाता है अर्थात् स्वयं अथवा दूसरा कोई किसी भी निमित्तसे श्रद्धान अथवा व्रतादि धर्मसे चलायमान होता हो तो अपनेको अथवा उसे समझा बुझाकर उसीरूपसे धर्मम दृढ करदेना स्थितिकरण अंग कहलाता है। जिनेन्द्रदेवके कहे हुये धर्मामृतमें सदा अनुराग रखना सो सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य अंग कहलाता है अर्थात् जिसप्रकार गौ अपने बच्चेसे प्रेम करती है उसीप्रकार जिनधर्म जिनदेव जिनगुरु जिनशास्त्रोंमें तथा जिनधर्मी सत्पुरुषोंमें छल कपट रहित शुद्ध धार्मिक प्रेम करना उनके समागमकी सदैव अभिलाषा रखना वह वात्सल्य अंग है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयके प्रभावसे अपने आत्माका प्रकाश करना वह सम्यग्दृष्टिका प्रभावना अंग कहलाता है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धारण करके अपने आत्माकी प्रभावना करना दूसरी आत्माओंमें जिनधर्मका प्रकाश पहुंचाना जैनधर्ममें कहेहुये अहिंसादि सूक्ष्म असाधारण सब जीव हितकारी तत्त्वोंका निरूपण कर परमतोंमें जिनमतका प्रभाव प्रगट करना, वितंडावादियोंको शास्त्रार्थ द्वारा विजय कर जिनमतका प्रभाव दिखाना मेला प्रतिष्ठा आदि महोत्सवों द्वारा जिनमतका महत्व प्रगट करना जिनमतके शास्त्रोंमें कहेगये मंत्रोंद्वारा भी जिनमतका चमत्कार दिखाना जहां धन खर्च कर विभूति दिखानेकी आवश्यकता है वहां उसप्रकारसे भी जिनमतका गौरव बढाना आदि अनेक प्रकारसे दिगम्बर जैनधर्मकी लोकमें प्रभावना प्रगट करना सो प्रभावना अंग कहलाता है। इस प्रकार आठ अंगोंका पालन करना सम्यग्दर्शनमें लगनेवाले मल दोष रूप अतीचारोंको छोडना तथा समस्त जीवोंका मेरे द्वारा मोक्षसाधक सच्चा हित हो ऐसी परमविशुद्ध उत्कट भावना रखना सो दर्शनविशुद्धि नामक पहली और मुख्य भावना है। इस एक भावनाके विना सभी भावनाऐं निःसार हैं सवोंमें प्रधान भावना यही एक है। इसीके साथमें वाकीकी सब भावनाऐं सार्थक और कार्यकारी हैं॥ अब दूसरी भावना विनयसंपन्नताका स्वरूप कहते हैं—

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—स्वभावमें मृदुता कहिये कोमलता रखना यह भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

उपदेशानपेक्षं स्वभावमार्दवं ॥ १ ॥

मृदु नाम कोमलका है, उसका जो भाव अथवा क्रिया सो मार्दव कहलाता है। अर्थात् कोमल परिणामका होना सो मार्दव है। स्वभावसे ही कोमल परिणामका होना वह स्वभावमार्दव कहलाता है। इसका खुलासा यह है कि विना किसीके उपदेशके स्वभावसे ही परिणामोंमें कोमलताका होना यह कषायोंकी मंदता भी मनुष्यायुका कारण है। शंका—पहिले भी मनुष्यायुके आस्रवका कथन किया गया है वहां इस स्वभाव मार्दवका भी वर्णन किया गया है अर्थात् इससे पहिले सूत्रकी व्याख्यामें मनुष्यायुके आस्रवमें स्वभावसे कोमलता भी बताई गई है फिर इस सूत्रमें स्वतंत्ररूपसे उसका दुवारा जो ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है? उत्तर—पहिले जो स्वभावमार्दवका वर्णन किया गया है वह व्याख्यामें किया गया है, सूत्रमें नहीं किया गया है, इसलिये सूत्रद्वारा यह कथन करना आवश्यक समझा गया कि विना किसी उपदेशकी अपेक्षाके जहां स्वभावसे ही कोमलता है वहां भी मनुष्यायुका बंध होता है। इसी सूत्रके अनुसार ऊपरकी व्याख्यामें स्वभावमार्दवका उल्लेख किया गया है इसलिये ऊपरकी शंका निर्मूल है। फिर शंका—

एक योगीकरणमिति चेन्नोत्तरापेक्षत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—मनुष्यायुके आस्रवके लिये "अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य" और "स्वभावमार्दवं च" ऐसे दो सूत्र कहे गये हैं, परंतु जब दोनों ही मनुष्यायुके आस्रव कारण हैं तब दोनों सूत्रोंको भिन्न भिन्न नहीं कहना चाहिये किंतु दोनों सूत्रोंका एक ही सूत्र इस प्रकार कर देना चाहिये कि "अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" ऐसा करनेसे "स्वभावमार्दवं च" इस सूत्रमें चकारका जो प्रयोग किया गया है सो भी नहीं करना पडेगा और भिन्न सूत्रका निर्देश नहीं होनेसे लाघव भी होगा? समाधान—ऐसी

रण भावनाओंमें उम लोकाचार विनयके करनेका विधान ही है, यहां तो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय और उनके धारियोंका विनयका ही प्रकरण है। अब तीसरी भावना—शीलव्रतोंमें अतीचार नहीं लगानेकी है उसीका स्वरूप बताते हैं--

चारित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः ॥ ३ ॥

अर्थ—अहिंसा सत्य आदि व्रतोंमें और उन व्रतोंकी रक्षा करनेमें तत्पर ऐसे क्रोधादि कषायोंसे रहित शील कहिये उत्तर गुणोंमें निर्दोष प्रवृत्ति रखना. मन वचन काय इन तीनों योगोंका व्यापार उन व्रत और शीलोंके पालनेमें निरतीचार शुद्ध रूपसे हो वही शीलव्रतोंमें अनतिचार कहलाता है अर्थात् कषायविशिष्ट मन वचन काय योगोंके निमित्तसे उन शीलव्रतोंमें प्रमादयुक्त कोई दूषण नहीं लगनेपावे इसप्रकारकी भावना ही शीलव्रतोंमें अनतिचार भावना है। अब चौथी ज्ञानभावना अथवा निरंतर ज्ञानोपयोग रूप भावनाका स्वरूप कहते हैं—

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः ॥ ४ ॥

जीवादिपदार्थोंको विषय करनेवाला, प्रत्यक्ष परोक्ष लक्षणवाला. अज्ञान निवृत्तिरूप साक्षात् फलवाला तथा हितकी प्राप्ति अहितका परिहार और अनुभवकी उपेक्षारूप परंपरा फलवाला जो सुमति आदि पांचप्रकारका ज्ञान है उसकी भावनामें नित्य लगे रहना इसीका नाम अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है अर्थात् अभीक्ष्ण नाम निरंतरका है। सदैव उन सुमति सुश्रुत आदि पांचप्रकारके सम्यग्ज्ञानोंकी प्राप्ति और विशेष वृद्धिकेलिये प्रयत्नशील रहना इसीका नाम अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नामकी भावना है। जीवादि पदार्थ उसज्ञानके निजविषयभूत पदार्थ हैं। इंद्रियोंसे साक्षात् (विना व्यवधानके) होनेवाले ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं अर्थात् व्यवहारमें उसे प्रत्यक्ष कहते हैं वास्तवमें वह भी परोक्ष है कारण इंद्रियोंसे जितना कुछ ज्ञान होता है वह मलिन और वस्तुके एकदेश स्थूल अंशको विषय करता है। जो

निःशीलव्रतत्वं' शील और व्रतोंको मिलाकर शीलव्रतानि वाक्य हुआ फिर जो शील व्रतोंसे रहित है वह निः क्रांतशीलव्रत कहलाया उसका जो भाव है अर्थात् शीलव्रतसे रहित पुरुषका जो स्वभाव है कि शीलव्रतोंसे रहितपना होना वह निःशीलव्रतत्व कहलाया। सूत्रमें जो सर्वेषां पद है उसका अर्थ कहते हैं—

सर्वेषां गृहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थं ॥ २ ॥

अर्थ—सभी आयुओंके आस्रवका बोध किस प्रकार हो इसीके लिये सर्वेषां पद सूत्रमें दिया गया है। उससे चारों आयुयोंके आस्रवका बोध हो जाता है अर्थात् यदि सूत्रमें सर्वेषां पद नहीं देते तो अधिकार-प्राप्त मनुष्यायुका ही ग्रहण होता वाकी नरक तिर्यञ्च आयुका ग्रहण नहीं होता परंतु निःशील निर्व्रत परिणामोंसे सभी आयुओंका ग्रहण अभीष्ट है इसलिये सर्वेषां पद देना परम उपयोगी है। शंका—

देवायुषोपि प्रसंग इति चेन्नातिक्रांतापेक्षत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां शंकाकारका ऐसा कहना है कि यदि सर्वेषां पदका ग्रहण सभी आयुओंके संगृह करनेकेलिये है तो यह निःशील निर्व्रतभाव देवायुके आस्रवका भी कारण ठहरेगा? परंतु यह शंका ठीक नहीं क्योंकि सूत्रमें जो सर्वेषां पद है वह भूतकी अपेक्षासे दिया गया है। जितनी आयुओंके आस्रवोंका पहले कथन किया जाचुका है उन्हीं आयुओंका ग्रहण "सर्वेषां" पदसे होगा अर्थात् पहले नरकायु तिर्यगायु और मनुष्यायुके आस्रवका कथन किया जाचुका है इसलिये उन्हीं तीनों आयुओंका गृहण समझना चाहिये। देवायुके आस्रवका कथन पहिले आया नहीं है वह आगे आवेगा इसलिये उसका गृहण नहीं समझना चाहिये। फिर शंका—

पृथक्करणात् सिद्धेरानर्थक्यमिति चेन्न भोगभूमिजार्थत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि निःशीलव्रतत्व सूत्रको भिन्नरूपसे स्वतंत्र किया गया है, इस भिन्न निर्देशसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिन आयुओंका पीछे वर्णन होचुका है उनका ग्रहण

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः ॥ ६ ॥

अर्थ—किसी भव्य जीवने पात्रके लिये आहार दिया तो वह उसी दिन प्रीतिका कारण होता है अर्थात् उसदिन पात्रका आहार हो जानेसे दिनभर हर्ष होता है उसी प्रकार किसीने किसीको अभय दान दे दिया तो वह उसके उस एक भव संकटमें हर्षका कारण होता है परंतु सम्यग्ज्ञानका दान देना तो अनेक लाखों भवोंमें होनेवाले दुःखोंसे उद्धार करनेवाला होता है इसलिये आहारदान अभय दान और ज्ञानदान तीनोंप्रकारका ही दान जैसी विधि बताई गई है उसीके अनुसार देना त्याग कहलाता है इस त्यागकी भावना भाना त्यागभावना कही जाती है।

यहांपर विशेष यह समझ लेना चाहिये कि त्याग नाम दानका है, उस त्यागके लक्षणमें जो 'परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्याग' यह वार्तिक कही गई है, उस वार्तिकमें जो 'परप्रीति' शब्द है उसका दो प्रकारसे समास हो सकता है, एक तो यह कि 'परा चासौ प्रीतिः इति परप्रीतिः' इसका अर्थ यह होता है कि उत्कृष्टरूपसे हर्ष मनाना, जिस दिन मुनियोंको दान दे चुके उसदिन उस दाता श्रावकको पात्र दान देनेका अतीव हर्ष होता है, ऐसा नहीं है कि उस आहार दानके मिल जानेसे मुनियोंको प्रसन्नता होती हो उन्हें तो मिलजाय तो भी हर्ष विषाद नहीं है और नहीं मिले तो तोभी हर्ष विषाद नहीं है इसलिये परप्रीति शब्दका अर्थ यही उत्तम प्रतीत होता है कि आहारदान देना उत्कृष्ट प्रीतिका कारण है इसीप्रकार अभयदान देना और सम्यग्ज्ञान देना यह भी उस देनेवालेके लिये उस भवमें और अनेक भवोंमें हर्षका देनेवाला होता है। किसीको बचा देनेसे अथवा स्वयं अभयदान देनेसे उस अभय देनेवालेको अपने जीवनभरमें उस अभय दिये हुये व्यक्तिके कारण प्रसन्नता रहती है। ऐसा अर्थ करनेसे तो 'परप्रीति' शब्दकी परा चासौ प्रीतिरिति 'परप्रीतिः' पर (उत्कृष्ट) जो प्रीति वह परप्रीति यही समास ठीक प्रतीत होता है और उसी शब्दका दूसरा षष्ठी तत्पुरुष समास भी होता है वह इसप्रकार है "परस्य प्रीतिः" इसका यह

शौचमिति सद्वेद्यस्य” इस सातावेदनीयके आस्रवके कारणोंको प्रगट करनेवाले सूत्रमें सरागसंयमादि भावोंका निरूपण किया जाचुका है इसलिये उनका यहांपर फिर अर्थ करना व्यर्थ है। ये सराग संयमादिक देवायुके आस्रवके कारण हैं यह तो संक्षेप कथन है विस्तारपूर्वक कथन इसप्रकार है--कल्याण करनेवाले मित्रोंका संबंध करना, देव गुरु शास्त्र और इनके भक्तोंकी सेवा करना, सच्चे धर्मका श्रवण करना, सद्धर्मका जगत्तमें गौरव प्रगट करना, निर्दोष प्रोषधोपवास धारण करना, इसप्रकार इन वातोंको करनेवाले तथा तपोभावना आदिमें जिन्होंने जीव अजीवका स्वरूप नहीं जाना है ऐसे बालतप करनेवाले, जिन्होंने तत्त्व-स्वभावको नहीं जाना है ऐसे अज्ञानकृत संयमको धारण करनेवाले भी संक्लेशरहित भावोंकी विशेषतासे कोई तो भवनवासी और व्यंतर आदि सहस्रार पर्यंत देवोंमें जन्म लेते हैं और कोई मनुष्य और तिर्यंचोंमें भी जन्म लेते हैं तथा अकामनिर्जरासे जो क्षुधा प्यास आदि बाधाओंको विना इच्छाके भी निरोध करते हैं, ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, पृथिवीमें शयन करते हैं, शरीर पर मल धारण करते हैं इन वातोंके सेवन करनेसे जो संतापादिक होते हैं उनसे जिनका शरीर खेद खिन्न होचुका है, नारकियोंके समान रोकनेवालोंके द्वारा जो बंधनमें बांध दिये गये हैं, बहुत कालसे जो रोग ग्रस्त होरहे हैं तथा जो संक्लेशरहित परिणामोंको धारण करते हुए वृक्ष और पर्वतकी चोटीसे गिरते हैं जो केवल अनशन करनेमें. अग्नि और जलमें प्रवेश करनेमें, विष भक्षण करनेमें धर्मबुद्धि मानते हैं, ऐसे जीव व्यंतर मनुष्य और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा जिनके शील और व्रत नहीं है, किंतु जिनका चित्त दयाभाव सहित है, जिनके जलकी रेखाके समान क्रोध है, ऐसे भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीव भी व्यंतर आदि देवोंमें जन्म धारण करते हैं। इसप्रकार भेदसहित देवायुके आस्रवका कथन किया जाचुका। अब कहते हैं कि देवायुके आस्रवके कारण क्या इतने ही हैं या और भी हैं, सो कहते हैं कि और भी हैं उन्हींका कथन नीचेके सूत्रद्वारा करते हैं—

सम्यग्दर्शन उत्पन्न कराकर उन्हें निर्भीक बना देते हैं । यह भी सबसे बडा अभयदान है । अब तप भावना जो सातवीं भावना है उसका स्वरूप कहते हैं—

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः ॥ ७ ॥

अर्थ—यह शरीर दुःखोंका कारण है, सदा ठहरनेवाला नहीं है. अपवित्र है ऐसे शरीरका इच्छानुसार नाना भोग-सामग्रीसे और उबटने आदि नाना शृंगागार आदि विधिसे भलेप्रकार लालन पोषण करना ठीक नहीं है यद्यपि यह शरीर अपवित्र है फिर भी सम्यग्दर्शनादि गुणरूप रत्नोंके सचय करानेमें उपकारी है ऐसा विचारकर जो इंद्रिय विषयोंके सुख और प्रेमसे विरक्त हो जाता है और जिसप्रकार स्वामी अपने सेवकसे काम लेता है उसीप्रकार इस अपवित्र अनित्य शरीरसे जब तक वह ठहरा हुआ है तब तक प्रमाद रहित खूब परीषह सहने आदिका कार्य लेता है इसप्रकार अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर जो जैन-सिद्धांत निरूपित मार्गसे अविरुद्ध निष्कषाय निःप्रमाद भावोंसे शक्तिको नहीं छिपाकर कायक्लेशरूप तप करना है वह तो भावना कहलाती है अब साधुसमाधि नामक आठवीं भावनाका स्वरूप कहते हैं—

मुनिगणतपः संधारणं समाधिःभांडागाराग्निप्रशमनवत् ॥ ८ ॥

अर्थ——जिसप्रकार नाना वस्तुओंसे भरे हुये घरमें अग्नि लगजाय तो उन वस्तुओंकी रक्षाकेलिये उस घरकी रक्षा कीजाती है और अग्नि बुझानेका शीघ्र प्रयत्न किया जाता है क्योंकि भीतर रक्खी हुई वस्तुओंकी रक्षा करनेका कारण होनेसे घर भी बहुत उपकारी है इसलिये उसकी रक्षा करना आवश्यक है। उसीप्रकार अनेक व्रत शील आदिगुणोंसे बहुत बढे हुये जो मुनिगण हैं उनके तपमें यदि कहींसे कोई विघ्न खडा हो जाय तो उसे दूरकर जो गुणोंकी रक्षा करना है वह समाधि कहलाती है । इस समाधिका 'साधु' विशेषण है उसका अर्थ है कि भलेप्रकार समाधि करना अर्थात् विन कषायभाव और प्रमादके निर्दोष विधिसे गुणों की रक्षा करना सो साधुसमाधि कहलाती है अथवा साधु जो मुनि उनकी

च' यह सूत्र जुदा ही किया गया है, यदि सामान्य देवायुका ही ग्रहण होता तो फिर जहां अन्य कारण देवायुके पहले सूत्रमें बताये गये हैं वहां इस सम्यग्दर्शनको भी कह दिया जाता उसकेलिये जुदा सूत्र कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन सौधर्मादि कल्पवासी देवायुके आस्रवका ही कारण है। यहां फिर प्रश्न होता है कि यदि इस सूत्रके भिन्न कहनेसे सम्यग्दर्शन सौधर्मादि उत्तम देवोंकी आयुका आस्रव करनेवाला है तो पहिले सूत्रमें जो आस्रवके कारण कहे गये हैं वे सामान्यरूपसे चारों निकायोंके देवोंकी आयुके आस्रवके कारण ठहरेंगे, ऐसी अवस्थामें सरागसंयम और संयमासंयम भी भवनवासी व्यंतर आदि देवायुके आस्रवके कारण सिद्ध होंगे ? समाधान—

नातरतात्सिद्धेः ॥ ३ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि इसीसे उस कथनकी भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् जब कि सम्यग्दर्शन सौधर्मादि कल्पवासी देवोंकी आयुके आस्रवका कारण है ऐसा नियम किया जाता है, तो इस नियमसे सराग संयम और संयमासंयम इन दोनोंकेलिये भी उसी नियमकी सिद्धि सुतरां हो जाती है क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके सरागसंयम और संयमासंयमभाव बनते ही नहीं है। सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सरागसंयम और संयमासंयमरूप चारित्र हो सकता है, इसलिये जब केवल सम्यग्दर्शन सौधर्मादि देवायुका आस्रव कारण है तब सम्यग्दर्शनसहित चारित्र सौधर्मादि देवायुका आस्रव कारण क्यों नहीं होगा ? किंतु अवश्य होगा। अब कहते हैं कि आयु कर्मके पीछे जो नामकर्मका कथन किया गया है उसके आस्रवका क्या कारण है ? उसीका नीचेके सूत्रद्वारा व्याख्यान किया जाता है। उस नामकर्मके भी दो भेद हैं—एक अशुभ नामकर्म दूसरा शुभनामकर्म। उन दोनोंमें पहले क्रमप्राप्त अशुभ नामकर्म है इसलिये उसीका आस्रव कथन पहले किया जाता है—

कहलाता है, वैयावृत्यके समान दूसरा कोई उपकारी नहीं है, संयममें सहायता पहुंचानेवाली बहुत ही उपकारी क्रिया है। अब दशवीं अर्हद्भक्ति, ग्यारहवीं आचार्यभक्ति बारहवीं बहुश्रुतभक्ति, तेरहवीं प्रवचनभक्ति इन चारों भावनाओंका स्वरूप कहते हैं—

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोनुरागो भक्तिः ॥ १० ॥

अर्थ—केवलज्ञान और श्रुतज्ञानादिक हैं दिव्यनेत्र जिनके ऐसे अर्हंत भगवान और आचार्य परमेष्ठीके विषयमें तथा दूसरोंके हित करनेमें प्रवृत होनेवाले और स्वपर शास्त्रोंके विस्तार पूर्वक निश्चयनयके जानवाले ऐसे बहुश्रुत जो उपाध्याय परमेष्ठी उनके विषयमें तथा श्रुतरूपी देवताके समीपमें गुणोंकी प्राप्ति किये विना नहीं प्राप्त होनेवाली और मोक्षरूपी भवनमें चढनेकेलिये अच्छीतरह बनाई हुई सीढियोंके समान जो प्रवचन कहिये जिनवाणी है उसके विषयमें भावोंकी विशुद्धि सहित जो प्रेम है वह भक्ति कहलाती है और वह तीनप्रकारकी है। भावार्थ—चार घातिया कर्मोंको नष्टकर केवलज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त करनेवाले श्रीअर्हंतपरमेष्ठीके विषयमें भावोंकी विशुद्धि पूर्वक अनुराग प्रगट करना वह अर्हद्भक्ति नामक दशवीं भावना है तथा श्रुतिज्ञानादिरूपी दिव्य नेत्रोंका प्राप्त करनेवाले श्रीआचार्यपरमेष्ठीके विषयमें भावोंकी विशुद्धि पूर्वक अनुराग प्रगट करना वह श्रीआचार्यभक्ति नामक ग्यारहवीं भावना है तथा दूसरोंके हितमें सदैव प्रवृत्त रहनेवाले और जिनमत तथा अन्यमतोंके शास्त्रोंका रहस्य विस्तार पूर्वक जाननेवाले व्यवहार निश्चय नयोंके स्वरूपको भलेप्रकार समझनेवाले श्रीउपाध्यायपरमेष्ठीके विषयमें भावोंकी विशुद्धिपूर्वक अनुराग प्रगट करना वह श्रीबहुश्रुतभक्ति नामक बारहवीं भावना है तथा जो शास्त्रोंका रहस्य जाने विना नहीं प्राप्त होनेवाली और मोक्षस्थानरूपी भवनके चढनेकेलिये सुगम सीडियोंका कार्य देनेवाली ऐसी जिनवाणीके विषयमें भावोंकी विशुद्धिपूर्वक अनुराग प्रगट करना वह प्रवचनभक्ति नामक तेरहवीं भावना है। अर्हंत आचार्य उपाध्याय और जिन-

है और योगोंकी कुटिलता स्वयं भी होती है इसलिये स्वपरके भेदसे दोनोंका पृथक् ग्रहण ही ठीक है उसीका दृष्टांत इसप्रकार है जैसै–कोई पुरुष भलेप्रकार स्वर्ग मोक्षसाधक क्रियाओंमें लगरहा है, उसे देखकर कोई काय वचन मनके द्वारा उसके साथ यह विसंवाद करै कि तू ऐसा मत कर अर्थात् जिस (समीचीन) क्रियामें तू लगरहा है उसे छोडदे और इसप्रकार (विपरीत क्रिया) कर इसप्रकार दूसरेको कुटिलताके साथ प्रवर्ताना सो तो विसंवाद कहलाता है और अपने आप अपने मन वचन कायको जो कुटिल रक्खा जाता है वह योगवक्रता कहलाती है इसप्रकार इन दोनोंमें भेद है। सूत्रमें जो चकारका ग्रहण है उसका प्रयोजन बताते हैं—

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

अर्थ–यहां सूत्रमें जो "च" शब्दका ग्रहण किया गया है, वह अनुक्तसमुच्चयके लिये किया गया है अर्थात् जिन बातोंका कथन इस सूत्रमें नहीं किया गया है उन बातोंका भी ग्रहण समझा जाय इसके-लिये चकारका ग्रहण सूत्रमें किया गया है। वे बातें कौनसी हैं? उनका वर्णन इसप्रकार है—मिथ्याद-र्शनका होना, अदेखसकाभावका होना अथवा दूसरेकी चुगली करना, चित्तमें सदैव चंचलता रखना, कमती बढती बांट तराजू रखना, सोना मणि रत्न आदि उत्तम वस्तुओंमें झूठी नकली चीजें मिलादेना, किसीकी झूठी गवाही देदेना, दूसरेके अंग अथवा उपांग तोड मोड देना, रूप रस गंध वर्णका विगाड देना अर्थात् स्वरूप विकृति करदेना, यंत्र पींजरा आदि पीडा करनेवाले पदार्थ बनाना, एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका विषय संबंध करना अर्थात् कपटवृत्तिसे भिन्न द्रव्यका भिन्न द्रव्यके साथ स्वरूप विपर्या-सरूप संबंध मिलाना, भावोंमें मायाचारी अधिक रखना, दूसरोंकी निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, झूठ बोलना, दूसरोंके द्रव्यको चुरालेना, बहुत भारी आरंभ और बहुत परिग्रह रखना, उज्ज्वल भेष और रूपका घमंड करना, कठोर और असत्यतापूर्ण प्रलाप करना, क्रोधभाव रखने और अधिक

अर्थात् मेरे प्रमादसे जो दोष मेरे चारित्रमें लगचुके हैं वह दूर होजाओ ऐसी मन वचन कायकी सरलतासे विशुद्ध भावना पूर्वक उनका दूर करना वह प्रतिक्रमण है और आगामी कालमें जो दोष लगनेवाले हैं उनका दूर करना वह प्रत्याख्यान कहलाता है अर्थात् आगामीकालमें मेरे किसीप्रकार प्रमादजनित दोष न हों, मैं उनके नहीं होनेकी सरल मन वचन कायसे भावना करता हूं अथवा आगामीकालमें जो कुछ प्रमादसे दोष लगें वे भी दूर होजांय ऐसा विचार करना वह प्रत्याख्यान है। तथा परिमित कालतक शरीरसे ममत्व छोड देना वह कायोत्सर्ग है अर्थात् सामायिकके समय एक मुहूर्त दो मुहूर्त आदि नियत समयकेलिये शरीरसे सर्वथा ममत्व छोडदेना, उतनेकालमें शरीरपर कोई भी विपत्ति अथवा वाधा क्यों न आजाय उसे निर्ममत्वभावोंसे सहन करना और शरीरकी रक्षाकी कुछ भी चिंता नहीं करना वह कायोत्सर्ग है। ये छह नियमसे प्रतिदिन करनेकी मुनियोंकी आवश्यक क्रियायें हैं इनका नियतकालमें अर्थात् जो प्रातःकाल मध्यान्हकाल सायंकाल सामायिक वंदना आदिका समय शास्त्रोंमें निर्धारित किया गया है उसकालमें विना किसीप्रकारकी आकुलताके पालन करना वह आवश्यकापरिहाणि नामक चौदहवीं भावना है। आवश्यक क्रियाओंका अपरिहाणि अर्थात् नहीं छोडना यही आवश्यकापरिहाणि है। अब मार्गप्रभावना नामक पंद्रहवीं भावनाका स्वरूप कहते हैं—

ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनं ॥ १२ ॥

अर्थ—अन्यमत रूपी जुगुनू (पटवीजना) की चमकको नीचा दिखानेवाली ऐसी ज्ञानरूपी सूर्यकी प्रभाके द्वारा तथा इंद्रके आसनको भी कंपायमान करनेवाले महाउपवास आदि लक्षणवाले श्रेष्ठतपके द्वारा तथा भव्य पुरुषरूपी कमलवनको प्रफुल्लित करनेवाली सूर्यकी प्रभाके समान जिनेन्द्र भगवानकी पूजाके द्वारा समीचीनधर्म—जिनधर्मका प्रकाश करना सो मार्गप्रभावना नामक पंद्रहवीं भावना कही जाती है अर्थात् अपने सम्यग्ज्ञानसे जिनमतका प्रभाव दिखाना अपने तपसे जिनमतका प्रभाव दिखाना

सत्कार करना उनके प्रति सद्भाव रखना संसारसे भय भीत रहना प्रमादको छोडदेना, अभिन्न चारित्रका पालन करना, आदि प्रकारके जो अशुभसे विपरीत शुभ परिणाम हैं वे शुभनाम कर्मके आस्रवके कारण हैं। अब कहते हैं क्या शुभकर्मकी आस्रव विधि इतनी मात्र है? या और भी उसकी विधिमें कुछ विशेषता है? उत्तर—हां; है वह यह कि जो अनंत और अनुपम प्रभाववाला और अचिंत्य विभूति विशेषका कारणभूत तथा तीन लोकमें विजय करनेवाला तीर्थंकर नाम कर्म है वही परम शुभ नाम कर्म है और उसी परम शुभ तीर्थंकर नाम कर्मकी विशेष आस्रव विधि नीचेके सूत्र द्वारा कही जाती है—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ——सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होना, विनय युक्तता होना। शील और व्रतोंमें अतीचार नहीं लगने देना, निरंतर ज्ञानोपयोग और संसारसे भीतिका होना, अपनी शक्तिके अनुसार दान और तप करना किसी बडे विघ्नके उपस्थित होनेपर भी धारण किये हुए तपकी भलेप्रकार रक्षाकरना अर्थात् तपकी रक्षाके लिये जो मुनिगणोंका समाधिमरण धारण करना है वह साधुसमाधि कही जाती है, वैयावृत्य करना, अर्हतकी भक्ति करना, आचार्यकी भक्तिकरना, वहुश्रुतज्ञानियोंकी भक्ति करना, शास्त्रकी भक्ति करना, छह आवश्यकोंका नहीं छोडना, जिनमार्गकी प्रभावना करना, शास्त्रमें प्रेम होना, ये सोलह भावनायें परम शुभ तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवकी कारण हैं। ये सोलह भावनायें सभी हों तो भी तीर्थकर प्रकृतिका बंध होसकता है और सभी नहीं भी हों किंतु थोडी हों तो भी उसका बंध हो सकता है परंतु विना दर्शनविशुद्धि भावनाके उसका बंध नहीं हो सकता है चाहे सब हों चाहे थोडी हों परंतु दर्शन विशुद्धिका होना परमावश्यक है इसलिये यदि केवल दर्शनविशुद्धि भावना ही अकेली हो तो भी तीर्थंकर

और उनके बुरे गुणोंको प्रगट करदेना अथवा अपने बुरे गुणोंको छिपा देना और अच्छे गुणोंको प्रसिद्ध करदेना ये बातें नीचगोत्रके आस्रवकी कारण हैं।

दोषोद्भावनेच्छा निंदा ॥ १ ॥

अर्थ–सच्चे या झूठे दूसरोंके दोषोंको प्रगट करनेकी इच्छा रखना और दूसरे दोष प्रगट करनेका ही चित्तमें भाव रखना इसीका नाम निंदा है।

गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा ॥ २ ॥

अर्थ–यथार्थ हो चाहे अयथार्थ हो किसीके गुणके प्रगट करनेका अभिप्राय रखना प्रशंसा कही-जाती है अर्थात् दूसरोंके गुणोंको प्रगट करनेका भाव होना ही प्रशंसा है, वे गुण उनमें चाहे वास्तवमें हों या नहीं हों। परमात्मनिंदाप्रशंसे इस पदका यह समास होता है–पर कहिये दूसरा और आत्मा कहिये अपना, इन दोनोंको मिलाकर परात्मानौ पद बनता है, निंदा और प्रशंसा इन दोनोंको मिला-कर निंदाप्रशंसे यह पद बनता है। दूसरेकी निंदा अपनी प्रशंसा ऐसा क्रमपूर्वक अर्थ करनेसे परात्म-निंदाप्रशंसे ऐसा सबोंका एक समास करलियाजाता है। इसका क्रमसे संबंध लगाकर यही अर्थ होता है कि दूसरोंकी निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना।

असद्गुणोद्भावने ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रतिबंधक कारणोंके रहने पर जो वस्तुका नहीं प्रगट होना उसीको अनाविर्भाव छादन इन नामोंसे कहते हैं अर्थात् किसी भी रोकनेवाले या ढकनेवाले कारणोंके रहनेपर जो वस्तुका अथवा उसके गुणोंका प्रकाश या प्रसिद्ध नहीं होना उसीका नाम छादन है।

प्रतिबंधकाभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनं ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रतिबंधक कारणके अभाव होनेपर जो वस्तु प्रकाशित होजाती है सो उद्भावन है। जो

करना यही आकांक्षानिवृत्ति अथवा निःकाक्षित अंगका लक्षण है। शरीरादिक अपवित्र स्वभाववाले हैं ऐसा जानकर ये पवित्र हैं ऐसा झूठा संकल्प दूर करदेना, तथा अर्हंत भगवानके कहे हुए शास्त्रोंमें यह बात ठीक नहीं है यह घोरकष्ट देनेवाली बात है, यदि यह अति कष्ट देनेवाली वात इसमें नहीं हो तो फिर सभी वातें ठीक हैं, इसप्रकारकी अशुभ भावनासे विरक्त होना सो निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण है अर्थात् शरीरादि अपवित्र वस्तुओंमें शुद्धताकी प्रतीति नहीं करना और केशलुंचन अथवा आरंभपरिग्रहका त्याग आदि कठिन व्रतोंको देखकर उनसे घोरकष्ट समझकर उन्हें ठीक नहीं वताना इत्यादि बुरी भावना नहीं करना सो सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सा अंग है। जो तत्त्व स्वरूपके समान दीखते हैं परंतु वास्तवमें वे तत्त्वस्वरूप नहीं हैं किंतु मिथ्यास्वरूप हैं ऐसे अनेक प्रकारके मिथ्या एकान्तके पक्षपाती मिथ्या मार्गोंमें परीक्षारूपी नेत्रोंसे भलेप्रकार परीक्षा करके उनमें समीचीन युक्तियोंका अभाव है ऐसा निश्चयकर उन मिथ्यामतोंसे मोह नहीं करना अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग दिगम्बर मुद्राधारी जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे गये पदार्थ ही श्रद्धान करने योग्य हैं, उनके विना और जितने भी एकांत पक्षपाती युक्तिप्रमाण शून्य संशय विपरीतरूप मिथ्यामत हैं वे सब श्रद्धान करनेयोग्य नहीं हैं उनसे संबंध नहीं रखना इसीका नाम सम्यग्दृष्टिका अमूढदृष्टिता अंग है। उत्तम क्षमादि भावनाओंके द्वारा अपने धर्मकी वृद्धि करना सो उपवृंहण अग कहलाता है अर्थात् अपनी आत्माके उत्तम क्षमादि गुणोंको अहिंसादि लक्षण व्रतोंको तप शील संयमादिको वढाते हुये आत्माकी विशुद्धता बढाते जाना तथा दूसरे आत्माओंके गुणोंकी उनके व्रतादिककी वृद्धि कराना और किन्हीं अज्ञानियोंके द्वारा व्रतादिकोंके नहीं पालने आदिके कारण जो कुछ धर्मकी निन्दा हुई हो तो उसे दूर करना ये सब वातें सम्यग्दृष्टिके उपगूहन अंगमें गार्भित हैं।

जिन कारणोंसे अपना अथवा दूसरोंका धर्मभ्रष्ट होता हो ऐसे कषायादि कारणोंके उपस्थित होजानेपर धर्मसे यदि पतन होनेका अवसर आया हो तो उससमय अपने आपको अथवा दूसरोंको उस

अर्थ—नीचैः यह शब्द अधिकरणप्रधान देखा जाता है। जिसके द्वारा आत्मा नीच स्थानमें किया जाता है उसे नीचैर्गोत्र कहते हैं, उस नीच गोत्रके कारण ऊपर कहे गये परनिंदा आदि समझना चाहिये उसीका विस्तार इसप्रकार कहा जाता है—जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत. आज्ञा, ऐश्वर्य, तप इन आठोंका मद करना, अर्थात् मैं अमुक कुलमें अमुक जातिमें उत्पन्न हुआ हूं मेरा बल और रूप आदि सभी औरोंसे अधिक है। इसप्रकार इन आठ वातोंका घमंड करना, दूसरोंका तिरस्कार होता हुआ देखकर हर्ष मनाना, दूसरोंके तिरस्कार अथवा निंदा करनेका स्वभाव रखना, धार्मिक पुरुषों की निंदा करना, अपना बडप्पन दिखाना दूसरोंकी कीर्तिका लोप करदेना दूसरोंके अपयशको प्रगट करना अथवा अपनेमें कीर्तिके योग्य गुण नहीं हैं तो भी अपनी झूठी कीर्ति करना, गुरुका तिरस्कार अथवा अपमान करना, गुरुका बडा बडा दोष प्रगट करना उनका फजीहता अर्थात् लोकापवाद करना, गुरुके स्थानका और उनके मानका भंग करदेना, गुरुके गुणोंका लोप करना, उन्हें हाथ नहीं जोडना, उनकी स्तुति अथवा प्रशंसा नहीं करना, उनके आनेपर खडे नहीं होना, तथा तीर्थंकर आदिका आदर नहीं करना इत्यादि वातोंसे नीच गोत्रका वंध होता है अर्थात् ऊपर कही गई नीच वातोंसे यह जीव नीच पर्यायमें चला जाता है। कहते हैं कि नीच गोत्रके आस्रवका हेतु तो कह दिया गया अब ऊंच गोत्रके आस्रवकी विधि कौन है? उसीको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—नीच गोत्रके आस्रवके जो जो हेतु ऊपर कहे गये हैं उनसे विपरीत क्रियाओंका करना जैसे परनिंदा और आत्मप्रशंसा नीचगोत्रके आस्रवका हेतु है तो आत्मनिंदा और परप्रशंसा उच्चगोत्रके आस्रवका हेतु है, इसीप्रकार जितनी बातें नीचगोत्रके लिये हेतुभूत कही गई हैं उनसे उलटी उच्चगोत्रके लिये हेतुभूत समझनी चाहिये। इसके सिवा नीचैर्वृत्ति कहिये अभिमान छोडकर विनयपूर्वक रहना तथा अनुत्सेक कहिये उद्धत अथवा उद्दंड स्वभाव नहीं रखना ये सब उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता ॥ २ ॥

अर्थ—मोक्षके साधनभूत सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि जो आत्मीय गुण है उन गुणोंमें और उन गुणोंकी प्राप्तिके कारणभूत आचार्य परमेष्ठी साधुपरमेष्ठी आदि सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्-चारित्रधारियोंमें अपनी योग्यवृत्तिसे आदरसत्कार करना अथवा उनके प्रति जो कुछ कषायभाव हो तो उसे दूर करदेना विनयसंपन्नता कहलाती है। यहां योग्य वृत्तिका अर्थ यह है कि जिसप्रकारके पात्र हों उनका उसीप्रकारका विनय करना अथवा जिसप्रकारका भक्त हो वह उसीप्रकार अपने पदस्था-नुसार उन पात्रोंकी विनय भक्ति करें अर्थात् यदि मुनि पात्र हो तो उनकी विनय परम उत्तमताके साथ 'नमोस्तु' शब्दके उच्चारण पूर्वक की जाती है और यदि सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी हो तो उनकी विनय वंदना शब्दके साथ की जाती है। यदि ऐलक हो तो उन्हें भी मुनिका लघुभाई समझकर मुनि-समान ही उनका विनय किया जाता है। इतना विशेष है कि उन्हें 'नमस्कार' शब्द कहकर धोक दी जाती है। इसीप्रकार विनय करनेवाला यदि गृहस्थ हो तो उक्तप्रकारसे विनयकी विधि करेगा और यदि मुनि मुनिका विनय करे, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारीका करे तो उसका स्वरूप जुदा होगा जो कि 'षट् पाहुड' आदि शास्त्रोंमें कहागया है। विनयके अनेक भेद हैं—हृदयमें भक्ति रखना, परोक्ष नमस्कार करना, उनके दर्शनोंकी अभिलाषा रखना, उनके समक्ष लेटना आदि किसीप्रकारका प्रमादाचरण नहीं करना, उनके समक्ष बडी भक्तिके साथ विनयपूर्वक बोलना, सामने पहुंचते ही खडे हो जाना इत्यादिरूपसे गुरु आदिकी विनय करना और सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी हृदयसे सराहना करना उन्हें अपनी आत्मामें चाहना अथवा अपनी आत्मामें वे गुण प्रगट होचुके हों तो उनकी वृद्धि चाहना आदि भी विनयका प्रकार है। इतना विशेष है कि भक्तिपूर्वक विनय सम्यग्दृष्टियोंका ही किया जासकता है, अन्य उपकारी या लोक-मान्य (मिथ्यादृष्टि) पुरुषोंका विनय न तो भक्तिपूर्वक किया ही जासकता है और न यहां षोडशका-

नहीं करना, इसीका नाम अनहंकारता अथवा अनुत्सेक है अर्थात् मैं बहुत विद्वान् हूं। इसप्रकारका अहंकारपना अथवा उद्धतभाव नहीं प्रगट करना सो अनुत्सेक कहलाता है। यह भी उच्चगोत्रके आस्रवका कारण है। इसप्रकार ये सब बातें दूसरा जो उच्चगोत्र उसके आस्रवकी कारण हैं इन्हींका विस्तार इस प्रकार है—जाति, कुल, रूप, वल, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, तप, इन वातोंकी अपनेमें वृद्धि और प्रसिद्धि होनेपर भी अपना बडप्पन नहीं दिखाना, दूसरोंकी अवज्ञा नहीं करना, उद्दंडता नहीं दिखाना, निंदा नहीं करना, ईर्षा नहीं करना, हास्य नहीं करना, तिरस्कार अथवा लोकापवाद नहीं करना अर्थात् दूसरोंका तिरस्कार दूसरोंकेसाथ उद्धतभाव दूसरोंकी निंदा दूसरोंके साथ ईर्षाभाव दूसरोंका हास्य दूसरोंका परिवाद ये सब वातें नहीं करना तथा मान कषायको छोड देना अर्थात् मानीपनेका स्वभाव नहीं रखना, तथा धर्मात्मा पुरुषोंकी पूजा प्रतिष्ठा करना, उनके लिये हाथ जोडना, प्रणाम करना बंदना करना तथा इस युगमें जो गुण उत्तम चारित्र ज्ञान आदि दूसरोंमें नहीं पाये जावें ऐसे विशेष गुणोंको प्राप्त करके भी अभिमान नहीं करना अहंकारपनेका नाशकर लघुरूपसे विनयपूर्वक रहना तथा भस्मसे छिपीहुई अग्निके समान अपने गुणोंका अथवा अपने महत्त्वका अपने आप ही प्रकाश नहीं करना, तथा धर्मकी प्राप्तिके जो कारण हैं उनमें अत्यंत प्रेम आदर भाव होना अथवा धर्मके साधन जो धर्मात्मा जन हैं उनका बहुत आदर सत्कार करना उनसे अनुराग करना इत्यादि हेतु उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं। कहते हैं कि ज्ञानावरणादि सातप्रकारके कर्मोंके आस्रवोंके भेद तो कहदिये गये अब आठवां कर्म जो अंतराय कर्म है उसके आस्रवकी कौनसी विधि है? उसीको नीचेके सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं—

विघ्नकरणमंतरायस्य ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—किसीके कार्योंमें विघ्न डालना अंतरायकर्मके आस्रवका कारण है। अर्थात् किसीको दान देते हुये, किसीको लाभ होते हुये, किसीको भोग उपभोग भोगते हुये आदि वातोंको देखकर

ज्ञान इंद्रियोंसे रहित साक्षात् आत्मासे होता है जैसे अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष कहेजाते हैं। इनमें भी अवधि और मनःपर्यय एकदेश प्रत्यक्ष हैं, केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष त्रिकालदर्शी त्रिलोकदर्शी एकक्षणमें सबोंको जाननेवाला अतींद्रिय परम निर्मल सर्वज्ञज्ञान है। इंद्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह सब परोक्ष है. हेतुओंसे आगमसे जो ज्ञान होता है वह सब तथा इंद्रिय मनसे जो होनेवाले हैं वह सब परोक्षज्ञान है। जिससमय वस्तुका यथार्थ बोध हो जाता है उससमय इस वस्तु विषयक अज्ञानकी निवृत्ति होजाती है यही सम्यग्ज्ञानका साक्षात् फल है। जो पदार्थ हितकारी हैं उनकी प्राप्ति होजाना जो अनिष्ट हैं उन्हें छोड देना जो हितरूप भी नहीं हैं और अहितरूप भी नहीं हैं उन पदार्थोंसे उदासीनता रखना यह भी उस मम्यग्ज्ञानका फल है, यह फल अज्ञान निवृत्तिके पीछे होनेवाला फल है इसलिये परंपरा कहाजाता है यह सब उस सम्यग्ज्ञानका प्रयोजन है। अब संवेग नामक पांचवीं भावनाका स्वरूप कहते हैं।

संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः ॥ ५ ॥

अर्थ—शरीरसंबंधी दुःख और मानसीक दुःख जो मनमें किसीप्रकारकी चिंता रखनेसे होता है, यह मानसीक दुःख अनेक प्रकारका है जैसे–प्रिय पदार्थका वियोग होजाना, अप्रिय (अनिष्ट) पदार्थका संयोग होजाना, जो वस्तु परम इष्ट प्रतीत होती है उसकी प्राप्ति नहीं होना, इत्यादि अनेक प्रकारकी मानसीक व्यधियोंसे जो दुःख होता है वह मानसीक दुःख कहलाता है। इसप्रकार अति कष्टस्वरूप शारीरिक और मानसीक रूप जो संसार दुःख है उससे नित्य भयभीत रहना संवेग कहलाता है अर्थात् सांसारिक दुःख ही आत्माको दुःखी करने वा इसलिये ऐसे दुःखमय संसारसे छूट जाना ही आत्माका सच्चा हित है इसप्रकार संसारसे भय खाते हुये उससे सदैवकेलिये छूटजानेकी भावना भाना इसीका नाम संवेग भावना है। अब छठी भावना त्यागका स्वरूप कहते हैं–

प्राप्तिमें बाधा डालना अर्थात् स्नानादिको नहीं होने देना, दूसरोंके विभवकी बढवारी देखकर बहुत आश्चर्य करना, अत्यंत लोभसे द्रव्यका परित्याग नहीं करना अर्थात् दान देनेकेलिये परिणाम नहीं करना, यदि कोई दूसरा दान नहीं देता हो तो उसीका समर्थन करना अर्थात् दान नहीं देनेका ही समर्थन करना, दानादि कार्योंमें प्रमाद करना दूसरोंका लोकापवाद करना देवताकेलिये जो निवेद्य और अनिवेद्य द्रव्य हो उसे स्वयं ग्रहण करलेना जो द्रव्य देवताके समक्ष चढाने योग्य संकलिपत हो उसे निवेद्य कहते हैं और जो देवतार्थ द्रव्य हो परंतु चढाने योग्य नहीं हो उसे अनिवेद्य कहते हैं मंदिरजीमें रक्खे हुये पूजाके लिये चावल लवंग गोला आदि तो निवेद्य द्रव्य कहलाता है और चमर छत्र आदि उपकरण द्रव्य अनिवेद्य कहलाता है निर्दोष उपकरणोंका त्याग कर देना दूसरोंकी वलशक्तिका घात करना, धर्ममें विघ्न डालदेना अर्थात् कोई धर्मकाकार्य होता हो तो उसमें बाधा पहुंचा देना किसीके श्रेष्ठ आचारमें बाधा पहुंचा देना तपस्वियों गुरुओं चैत्य कहिये प्रतिमाओंकी पूजामें बाधा पहुंचा देना, साधुओंकेलिये पात्रदान वसतिका शास्त्रादि देनेमें बाधा पहुंचा देना कृपण दीन अनाथोंके लिये वस्तु पात्र आश्रय देनेका निषेध करना, दूसरेको रोक रखना उन्हें बांधकर रखना उनके गुप्त अंगका छेदन करना, उनके कान, नासिका, और ओठोंको काट देना, प्राणियोंका घात करना, इत्यादि समस्त क्रियाओंसे अंतरायकर्मका आस्रव होता है। यहांपर यह प्रश्न होता है कि समस्त कर्मोंके आस्रवका विस्तार जो संक्षिप्त कथनके पीछे सभी कर्मोंका बताया गया है वह सूत्रमें तो कहा नहीं गया है फिर वह कहांसे किसप्रकार जाना जाता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें नीचेकी वार्तिक कहते हैं—

इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः ॥ ३ ॥

अर्थ—इति शब्दका अनुकरण (ग्रहण) चला आरहा है कहांसे चला आरहा है ? यदि ऐसा कहा जाय तो कहते हैं कि जहां सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण वताये गये हैं "क्षांतिः शौचमिति

अर्थ होता है कि दूसरेकी प्रीति अर्थात् आहारदान अथवा अभयदान अथवा सम्यग्ज्ञान दान देना उस ग्रहण करनेवालेकी प्रीतिका कारण होता है एक दृष्टिसे यह अर्थ भी ठीक है क्योंकि जहां करुणादान दिया जाता है और अभयदानादि दिया जाता है वहां उस दानको लेनेवाला प्रसन्न होता है, किसी भूखे दीन हीन पुरुषको करुणाबुद्धिसे आहार दिया जाय वह आहार उस भूखेको उस दिनकी क्षुधा मिट-जानेसे दिनभर हर्षका कारण होता है। इसीप्रकार किसीको किसीके संकटसे बचाकर अथवा स्वयं उसे प्राणदंडसे माफकर जो अभयदान दिया जाता है तो उसे जीवनके मिलजानेसे वह अभयदान पानेवाला पुरुष उस पर्यायमें प्राणदंडके बडेभारी संकटसे छूटजानेके कारण परम प्रसन्न होता है इस दृष्टिसे आहार दानादि दूसरेको प्रीतिका कारण होता है। यह अर्थ भी ठीक है, परंतु जहां पात्रदान है वहां आहारदानसे पात्रोंको हर्ष नहीं होता है वहां तो दाता ही अपना कल्याण और अहोभाग्य समझकर प्रसन्न होता है इसलिये पात्रदानकी दृष्टिसे तो परप्रीति शब्दका पहला ही अर्थ "उत्कृष्टप्रीति" ठीक है, और अन्यकेलिये दोनों ही अर्थ ठीक हैं। सम्यग्ज्ञान दानसे देनेवाला भी प्रसन्न होता है और पानेवाला भी प्रसन्न होता है। वह दान दोनोंकेलिये सम्यग्ज्ञानप्राप्ति और उसकी वृद्धिका कारण है तथा अनेक भवोंकेलिये तो क्या सदाके लिये ही अज्ञानसे दूरकर सर्वज्ञ बनानेका कारण होता है, अनेक शास्त्रोंमें दानके चार भेद भी बताये गये हैं, उनमें इन तीन भेदोंके सिवा एक औषधदान भी है परंतु वह अभय-दानमें गर्भित होजानेसे यहां भिन्नरूपसे नहीं कहा गया है। इन दोनोंकी विधि जो कुछ विधि द्रव्य दाता और पात्रोंके भेदसे जैसी अन्य शास्त्रोंमें और इस ग्रंथराजमें बताई गई है उसीके अनुसार दान-देनेसे उत्तमफलकी प्राप्ति होती है, इसप्रकार दानदेनेकी भावना त्यागभावना कहलाती है। इन दोनोंमें मुनिगण सम्यग्ज्ञान दान और अभयदान देते हैं, धर्मोपदेश देकर और शास्त्रोंकी रचना करके तो वे सम्यग्ज्ञान दान देते हैं और षट्कायके जीवोंकी रक्षा करके अभयदान देते हैं तथा अनेक जीवोंको

आस्रव हेतु हैं, दुःख शोकादि असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं इत्यादि जो आस्रवके भिन्न भिन्न कारण कहेगये हैं वे इसलिये सिद्ध नहीं होते हैं कि उनके समर्थनमें कोई ऐसा हेतु शास्त्रकारोंने नहीं दिया है कि जिससे यह बात स्पष्ट होजाय कि प्रदोष निह्नवादिकमें ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंके आस्रव होनेकी नियामक योग्यता है। इसलिये विना किसी विशिष्ट हेतुके भिन्न भिन्न आस्रवके कारणोंका नियम सिद्ध नहीं होता है? इसके सिवा इसी शंकाके भीतर यह शंका भी समझ लेनी चाहिये कि ज्ञानावरणकर्म ज्ञानका ही घात करनेवाला है, दर्शनावरण दर्शनका ही घात करनेवाला है इसमें क्या नियामक हेतु है? इस वातकी सिद्धिके लिये भी आचार्य महाराजने कोई खास हेतु नहीं दिया है फिर भिन्न भिन्न कर्म भिन्न भिन्न गुणोंके घातक हैं और भिन्न भिन्न ही उनके आस्रव कारण हैं ऐसा कथन भी सिद्ध नहीं होता है? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि शंकाकारका कहना ठीक नहीं है कारण कि शास्त्र, स्वभावोंके प्रगट करनेवाले होते हैं। जिसप्रकार दीपक घटादिकोंके स्वभावको प्रगट करता है उसीप्रकार शास्त्र भी विद्यमान पदार्थोंके ही प्रकाश करनेवाले होते हैं, जैसे अमुक वस्तुका यह परिणाम है, अमुक वस्तुकी यह शक्ति है इत्यादि रूपसे द्रव्यके स्वरूपके ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं, इस स्वभावके कथनसे जो कुछ शंकाकारकी शंका थी वह शंका अथवा उपालंभ या आक्षेप दूर हो चुका इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिसप्रकार घटपटादि पदार्थ घरमें रक्खे होते हैं तभी उनका प्रकाश प्रदीप करता है, यदि घरमें पदार्थ नहीं हों तो प्रदीप उनका प्रकाश भी नहीं दिखा सकता है क्योंकि दीपक पदार्थोंको कुछ पैदा नहीं करता है किंतु यदि पदार्थ वहां रक्खे हों तो उन्हें मात्र दिखा देता है, इसलिये जिस प्रकार दीपक उपस्थित वस्तुओंको ही दिखाता है उसीप्रकार शास्त्र भी पदार्थोंमें रहनेवाली शक्तियोंका ही प्रकाश करदेते हैं, अर्थात् जो गुण या शक्ति पदार्थोंमें पाई जाती है उसीका उल्लेख शास्त्र करते हैं, शास्त्रोंके कहनेसे वे शक्तियां पदार्थमें आतीं हों ऐसा कुछ नहीं है किंतु विद्यमान शक्तियोंका

जो गुण रक्षा है सो साधुसमाधि कहलाती है। इसका खुलासा यह है कि जिसप्रकार अग्नि लगजाने पर वस्तुओंकी रक्षाके लिये घरकी रक्षा की जाती है और यदि बहुत अग्निके कारण घरकी रक्षा नहीं होती देखती है तो फिर उसकी रक्षा छोडकर उसमें रक्खी हुई वस्तुओंकी रक्षा की जाती है, ठीक उसीप्रकार जो मुनिगणोंका शरीर तप धारण करनेमें सहायक हो रहा है उसपर किसीप्रकारकी उपसर्ग आदिकी आपत्ति आई हो तो उसे निष्कषाय भावोंसे वे विना किसी प्रतीकारके सहन करते हैं और अपने सम्यक्चारित्रादि वीतराग गुणोंकी रक्षा करते हैं यदि क्षुधाका अधिक प्रकोप हो तो शरीरकी सहायतासे आत्मीय-गुणोंकी निर्मलता और पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं इसलिये शरीरसे तो ममत्वभाव वे थोडा भी नहीं करते हैं किंतु उसके द्वारा तपका पालन होता है इसीलिये उसका स्वयं विनाश भी कभी नहीं करते हैं, किंतु जब आहारादिके करने पर भी वह जीर्ण शरीर ठहरनेमें अशक्य हो जाता है अथवा किसी बडेभारी उपसर्गसे उसकी स्थिति अशक्य हो जाती है तो फिर उसकी कुछ भी परवा न करके अपने सम्यक्त्वादि गुणोंकी सम्हालमें वे लगजाते हैं और परम वीतराग भावोंसे निर्विकल्पक भावोंमें स्थिर हो जाते हैं फिर आहारादि क्रियामें प्रवृत्त नहीं होते हैं यही सब आत्मीयगुणोंकी रक्षा साधुसमाधि भावना कही जाती है। अब वैयावृत्य भावना जो नवमी भावना है उसका स्वरूप कहते हैं—

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यं ॥ ९ ॥

अर्थ—गुणवान् साधुजनोंके किसीकारणसे यदि दुःखकी प्राप्ति हो जाय तो निर्दोष विधिसे बहुत उपकार पूर्वक उसका दूर करदेना वैयावृत्य कहलाता है अर्थात् साधु संयमी पुरुषोंको यदि ज्वरादि कष्ट हो गया तो उसमें उनकी सेवा करना, उसे दूर करनेका उपचार करना, यदि मार्ग चलते चलते अधिक खेद उन्हें पहुंचा हो तो उनका शरीर हाथपांव दबाकर उसे दूरकरना इत्यादि नानारूपसे साधुपुरुषोंकी सेवा करना उनका कष्ट विना किसी प्रकारकी बाधा उनके संयममें पहुंचाये दूर करना सो सब वैयावृत्य

तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—वे शास्त्र विद्यमान पदार्थोंके ही अथवा विद्यमान पदार्थशक्तियोंके ही प्रगट करनेवाले होते हैं यह बात अतिशय विशिष्ट ज्ञानसे देखनेवालोंसे प्रतीत होती है अर्थात् जो बात अतिशय ज्ञानधारी केवलज्ञानी सर्वज्ञने देखी है उसीको शास्त्रोंमें श्रीगणधरादि महर्षियोंने निरूपण किया है इसलिये शास्त्रोंमें जो कुछ निरूपण वस्तुस्वभावका बतानेवाला किया गया है वह ठीक है उसीका स्पष्ट कथन इसप्रकार है—

श्री अर्हंत भगवान परम दिगम्बर वीतराग सर्वज्ञ हैं, उनका अतिशय विशिष्ट जो केवलज्ञान है वह एक क्षणमें एक साथ अलोकसहित तीन लोकके समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष करता है, जो कुछ उन प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञने देखा है उसी अर्थका उपदेश शास्त्र करते हैं अर्थात् शास्त्रोंमें उन्हीं बातोंका उल्लेख गणधरदेव और उनके शिष्य प्रशिष्य आचार्य प्रत्याचार्योंने किया है जिन बातोंका व्याख्यान श्रीसर्वज्ञ देवकी अतिशयवती दिव्यध्वनिसे उन्होंने साक्षात् सुना है इसीलिये वे शास्त्र प्रमाणभूत हैं और उनकी प्रमाणतासे ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवका नियम भी जो कुछ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है वह भी प्रमाणभूत है फिर प्रदोषनिह्नवादि अशुभभावोंसे ज्ञानावरणादि अशुभकर्मोंका आस्रव होता है और भूतव्रत्यनुकंपादि शुभभावोंसे सातावेदनीय आदि शुभकर्मोंका आस्रव होता है यह बात जैसी दिगम्बर जैनाचार्योंने बताई है उसीप्रकार पौद्गलिक द्रव्योंके भिन्न भिन्न स्वभाव और आत्माओंके भिन्न भिन्न स्वभाव अन्यमतियोंने भी स्वीकार किये हैं इसी बातको नीचेकी वार्तिकसे स्पष्ट किया जाता है—

सर्वाविसंवादाच्चोपालंभानिवृत्तिः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस विषयमें भिन्न भिन्न मतवाले प्रवादी लोग भी विसंवाद अर्थात् विवाद नहीं करते हैं, उन्होंने स्वयं भिन्न भिन्न स्वभाव वस्तुओंमें स्वीकार किये हैं, जैसे—पृथिवी आदि द्रव्योंका कठिन द्रव, उष्ण, चलन आदि स्वभाव माना है अर्थात् पृथिवीका कठिन स्वभाव, जलका द्रव स्वभाव, अग्निका

वाणी इन चारोंकी भक्ति मन वचन कायसे की जाती है इसलिये मनोभक्ति वचनभक्ति और कायभक्ति इसप्रकार उसभक्तिके तीनभेद होजाते हैं । अब आवश्यकापरिहाणि नामक जो चौदहवीं भावना है उसका स्वरूप कहते हैं–

षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्त्तनमावश्यकापरिहाणिः ॥ ११ ॥

अर्थ–मुनियोंके लिये नियमसे पालने योग्य छह आवश्यक क्रियायें हैं उनके नाम इसप्रकार हैं– १–सामायिक, २–चतुर्विंशतिस्तवन, ३-वंदना, ४–प्रतिक्रमण, ५–प्रत्याख्यान, ६–कायोत्सर्ग। समस्त पापोंकी और तीनों योगोंकी निवृत्ति पूर्वक चित्तको एकाग्ररूपसे ज्ञानमें लगा देना सामायिक है अर्थात् सामायिकमें समस्त पापोंका त्याग कर दिया जाता है, मन वचन कायकी प्रवृत्ति जो विषयोंमें जाती है उसे रोक लिया जाता है तथा एकचित्त होकर किसी वस्तुके चिंतवनमें लीनता होजाती है। भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले प्रत्येक चौवीस तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्त्तन करना वह चतुर्विंशतिस्तव है अर्थात् चौवीस तीर्थंकर जो प्रत्येककालमें धर्म प्रवर्त्तक होते हैं उनके गुणानुवाद गाना उनकी भक्ति पूर्वक स्तुति करना वही चतुर्विंशतिस्तव है । मन वचन कायकी शुद्धि रखते हुये पद्मासन अथवा खड्गासनसे चारों दिशाओंमें शिरको झुकाकर नमस्कार करना तथा बारह प्रकारसे हाथोंको जोडकर और उन्हें मुखके चारोओर घुमाकर आवर्त्तन करना वह वंदना है । वंदना नाम नमस्कारका है, वह वंदना सामायिकके पहले और पीछे की जाती है, वह दो आसनोंसे होती है, चारो दिशाओंमें शिरको झुका-कर सिद्धपरमेष्ठी और अर्हंत आचार्य आदि परमेष्ठियोंको नमस्कार किया जाता है और नमस्कार करनेके साथही तीन तीन वार आवर्त्तन (दोनों हाथोंको जोडकर मुखके चारों ओर घुमाया जाता है) किया जाता है इसप्रकार वारह आवर्त्तन किये जाते हैं, यह वंदनाकी क्रिया है। असावधानी आदि प्रमादवश जो दोष पहले लग चुके हैं उन्हें स्मरणकर उनका दूर करना वह प्रतिक्रमण कहलाता है,

चक्षुका विषय ही क्यों है ? उत्क्षेपण क्रिया स्वतः क्यों हो जाती है ? सत्त्वगुणकी साम्यावस्था ही क्यों रहती है, मिथ्या भ्रम आदि संस्कार अविद्यासे ही क्यों होते हैं ? इत्यादि सब बातें अन्य दर्शनकारोंने स्वभावसे ही मानी हैं, इन वस्तु स्वभावोंके समर्थनके लिये उन्होंने कोई हेतु नहीं दिया है. इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंमें ज्ञानादि भिन्न भिन्न गुणोंके घात करनेकी शक्ति है और प्रदोषादि भिन्न भिन्न ही उनके आस्रव कारण हैं इस वस्तुस्वरूपके परिणमनमें भी कोई उपालंभ नहीं हो सकता है। जिस पदार्थकी पर्यायका जिस रूपमें परिणमन होता है वह भी नियत है उसकेलिये हेतुवादकी आवश्यकता नहीं है इस विषयमें सभी दर्शनकारोंको विवाद नहीं है। शंका—

तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेन्न अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः ॥ ८ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि प्रदोष निन्हवादिकोंको ज्ञानावरणादि कर्मोंका नियतरूपसे जुदा जुदा आस्रव कारण कहागया है परंतु वे प्रदोष निन्हवादिक समस्त कर्मोंके आस्रवके कारण हो जाते हैं क्योंकि जिस समय ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है उसीसमय अन्य समस्त कर्मोंका भी आस्रव होता है, अर्थात् यह नियम है कि केवल आयुका (परभवकी) बंध तो जीवकी भुज्यमानआयुके त्रिभागमें होता है वाकी सात कर्मोंका बंध हर समय होता है इस नियमसे जिस समय ज्ञानावरणकर्मका बंध होगा उसी समय अन्य समस्त कर्मोंका भी होगा फिर प्रदोष निन्हवादिसे ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंका ही आस्रव होता है और दुःख शोकादिसे असातावेदनीयका ही आस्रव होता है इत्यादि जुदे जुदे रूपसे जो कर्मोंके आस्रवके कारण बताये गये हैं सो नियम नहीं सिद्ध होता ? इस शंकाके उत्तरमें श्रीआचार्यमहाराज कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण कि जो प्रदोषादिकोंको ज्ञानावरणादि भिन्न भिन्न कर्मोंके आस्रवका कारण कहागया है वह अनुभाग विशेषकी अपेक्षासे ही कहा गया है। यद्यपि प्रदोष निन्हवादि कारणोंसे ज्ञानावरणादि समस्त प्रकृतियोंके प्रदेशादि बंधका कोई नियम नहीं है, तथापि अनुभाग विशेषके नियमके

और बहुत भारी जिनपूजाके महोत्सवसे जिनमतका प्रभाव दिखाना वह मार्गप्रभावना कहलाती है। अब सोलहवीं प्रवचनवत्सलत्व नामक भावनाका स्वरूप कहते हैं—

वत्से धेनुवत् सधर्मिणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार गौ अपने बच्चेमें स्वाभाविक तीव्र स्नेहको प्रगट करती है उसीप्रकार अपने साधर्मी भाईको देखकर उसके साथ स्नेहसे चित्तका भीग जाना वह प्रवचनवत्सलत्व नामक सोलहवीं भावना है अर्थात् साधर्मी भाइयोंको देखकर हृदयसे प्रसन्नता होना उनके साथ धार्मिक अनुराग करना आदि प्रवचनवत्सलत्व है। जो समानधर्मी पुरुषमें स्नेह करना है वह प्रवचनस्नेह है इसप्रकार ऊपर कही गई ये सोलह कारणभावनायें भलेप्रकार भाई गई भिन्न भिन्न भी और सब मिलकर समस्त भी तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवकी कारण जानना चाहिये अर्थात् चाहे समस्त भावनायें हों चाहे थोडी हों यदि अच्छीतरह भावनामें लाई जावें तो वे तीर्थंकर प्रकृति जो समस्त प्रकृतियोंमें असाधारण सर्वश्रेष्ठ प्रकृति है उसके आस्रवकी करण होती हैं। इतना विशेष है कि उन भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि भावना अवश्य होनी चाहिये उसके विना तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं होता है। उन भावनाओंका अर्थ यही है कि चित्तमें इन सोलह वातोंका पुनः पुनः चिंतवन किया जाता है, वारवार चिंतवन करनेका नाम ही भावना है। जैसे मेरे दर्शनविशुद्धि बनी रहे, मेरे विनयसहित भाव सदैव बने रहें, मेरे शील व्रतोंमें अतीचार कभी नहीं लगें आदि रूपसे जो वारवार चिंतवन किया जाता है उसीका नाम भावना है। नामकर्मके पीछे कहेजानेवाले गोत्रकर्मके ग्रहण होनेमें क्या कारण है? उसीको स्पष्ट करते हैं। गोत्र कर्मके दो भेद हैं, १ नीच गोत्र, २ उच्चगोत्र। अब नीच गोत्रका स्वरूप दिखानेवाला सूत्र कहते हैं—

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—दूसरोंकी निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंके अच्छे गुणोंको भी छिपा देना

कारणोंका जुदा जुदा उल्लेख किया गया है। इसप्रकार छठे अध्यायमें कहे गये कर्मोंके आस्रवके कारणोंको समझकर उनसे निवृत्त होना प्रत्येक भव्यात्माका कर्तव्य है। इसी समीचीन प्रयोजनसे श्रीआचार्यमहाराजने यह परम हितकारक शास्त्र-रचना की है।

इसप्रकार तत्त्वार्थोंका वड़ी उत्तमतासे अलंकारस्वरूप व्याख्यान करनेवाले इस श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थराजकी चावली निवासी न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी शास्त्री विरचित हिन्दी भाषा टीकामें आस्रवका निरूपण करनेवाला—छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोध्यायः।

शुभ अशुभ राग संयुत विविध योगप्रवृत्ति निवार।
सकलकर्महरता प्रभो ! करो भवोदधि पार॥

आस्रव पदार्थका निरूपण छठे अध्यायमें किया गया है जहां कि उसके व्याख्यान करनेकी प्रतिज्ञा की गई है. आस्रवके एक सौ आठ भेदोंका वर्णन किया गया है और भी अनेक रीतियोंसे उसका विचार किया गया है. पुण्यरूप और पापरूप कषायोंके निमित्त होनेसे वह आस्रव दो प्रकारका है—एक पुण्यास्रव दूसरा पापास्रव। उन दोनोंमें पुण्यास्रव व्याख्यान करनेयोग्य है, कारण वही प्रधान है वह प्रधान भी इसलिये है कि मोक्षकी प्राप्तिमें वह कारण पड़ता है अर्थात् संसारी जीव तभी मोक्ष प्राप्तिकेलिये उन्मुख (सन्मुख) होता है जव कि पाप प्रकृतियोंका वह उपशम अथवा नाशकर पुण्य प्रकृतियोंके उदयसे विभूषित होता है। पुण्य प्रकृतियोंका उदय विना शुभ परिणामोंके नही होता है, और शुभ परिणाम वीतराग परिणतिमें कथंचित् कारणभूत हैं इसलिये मोक्षप्राप्तिमें शुभपरिणामजनित पुण्यास्रव निमित्त कारण है अतएव प्रधानकोटिमें आनेसे वह व्याख्यान करने योग्य है।

यहांपर प्रश्न होता है कि यदि पुण्यास्रवका ही व्याख्यान किया जाना समुचित है तो यह बतला-

वस्तुमें विद्यमान गुण हैं उन्हें सत् कहते हैं, जो गुण उस वस्तुमें नहीं हैं उन्हें असत्, दोनोंको मिलाकर सदसद्गुणौ, पद बनता है। इसी प्रकार छादन और उद्भावन इन दोनोंको मिलाकर छादनोद्भावने पद बनता है। सत् असत् गुणोंका जो ढकना और प्रकाश करना सो सदसद्गुणच्छादनोद्भावने, ऐसा समास वाक्य बनता है। यहांपर भी यथाक्रमसे संबंध लगा लेना चाहिते। उसका अर्थ ऐसा होता है कि दूसरेके अच्छे गुणोंको ढक देना और बुरे गुणोंको प्रकाश कर देना अथवा दूसरेके भले गुणोंको भी ढक देना और अपने झूठे गुणोंका भी प्रकाश करना और अपनी झूठी प्रशंसा करना, ये सब नीच गोत्रके आस्रव के कारण हैं। अब गोत्र शब्दका अर्थ करते हैं–

गूयते तदिति गोत्रं ॥ ५ ॥

अर्थ–गोत्र शब्दका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ यह होता है कि जिसके द्वारा जाना जाय वह गोत्र है। यहां पर व्याकरण शास्त्रके उंणादि सूत्रसे गू धातुसे त्रट्प्रत्यय होता है तब गोत्र शब्द बनता है अर्थात् गोत्र शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे जो जाना जाय उसे गोत्र कहते हैं ऐसा अर्थ होता है परंतु अनेक स्थानोंमें शब्दोंकी व्युत्पत्ति केवल शब्द सिद्धिको ही सूचन करती है, उन शब्दोंके अर्थ पारिभाषिक रूपसे जुदे अर्थोंमें ही नियत हैं। जैसे गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे उसका अर्थ गमन करना निकलता है परंतु उस अर्थसे गौका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है किंतु रूढिसे अथवा पारिभाषिकरूपसे गौ शब्दका अर्थ दूध देनेवाली गौ नामक तिर्यंच विशेषमें नियत है। इसीप्रकार यहांपर भी गोत्र शब्दका अर्थ उस कर्मसे है जिसके उदयमें जीव लोकपूजित अथवा लोकनिंद्य कुलोंमें जन्म धारण करै लोकमें उच्च नीच समझा जाय, अर्थात् संतानक्रमसे चले आये जो जीवके आचार व्यवहार उन्हींको गोत्रके नामसे कहते हैं यह गोत्र शब्दका रूढिसिद्ध अर्थ है।

नीचैरित्यधिकरणप्रधानः शब्दः ॥ ६ ॥

संबंधी विषयोंके सेवन करनेसे होती है जहां विषयोंसे विरक्ति हो जाती है वहां हिंसादिक पापोंकी भी निवृत्ति हो जाती है। हिंसादिक पापोंकी निवृत्ति होना ही विरति है और उसीको व्रत कहते हैं।

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः ॥ १ ॥

अर्थ—हिंसादिक पापोंका स्वरूप 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा आगे कहा जायगा।

विरमणं विरतिः ॥ २ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्मके उपशम क्षय एवं क्षयोपशमके निमित्तसे औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक आदि चारित्रके प्रगट होनेसे जो परिणामोंमें हिंसादिक पापोंसे विरक्ति होती है उसीको विरति कहते हैं। अर्थात् पापोंमें प्रवृत्ति तभी होती है जब कि चारित्रमोहनीय कर्मका उदय रहता है, उसीके उदयसे प्रेरित आत्मा पापोंको बुरा समझता हुआ भी उनमें प्रवृत्त होजाता है और पापास्रव बांधता रहता है। जब उस चारित्रमोहनीयका किसी कारणवश उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम होजाता है तब आत्मामें औपशमिकादि विशेष चारित्रकी प्रगटता हो जाती है, उसीसमय आत्माकी विकारावस्था दूर हो जाती है और वह अपने स्वभावमें स्थिर हो जाता है। जितने अंशोंमें उसके परिणामोंमें कर्मकी उपशमादि अवस्थायें होती हैं उतने ही अंशोंमें उसके चारित्रभाव प्रगट होता है। चारित्रगुणका प्रगट होना एवं कषायोंका शांत होना दोनोंका एक ही विरतिरूप फल है।

व्रतमभिसंधिकृतो नियमः ॥ ३ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक भावोंका नाम ही अभिसंधि है। यही करना चाहिये, अथवा इसीप्रकार करना चाहिये इसप्रकार अन्य कार्योंसे निवृत्ति हो जाना, इसको नियम कहते हैं। अभिसंधिपूर्वक जो नियम किया जाता है वही सब जगह व्रत कहाजाता है। अर्थात् अंतरंग परिणामोंकी रुचि एवं दृढतापूर्वक

नीचैर्गोत्रास्रवप्रतिनिर्देशनार्थस्तच्छब्दः ॥ १ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो तत् शब्द है वह पूर्वका ग्रहण करनेवाला होता है । यहां समीपमें ऊपर नीच गोत्रका ही वर्णन किया गया है इसलिये तत् पदसे नीच गोत्रके आस्रवका ग्रहण करना चाहिये । अब विपर्यय शब्दका अर्थ कहते हैं—

विपर्ययोऽन्यथा वृत्तिः ॥ २ ॥

अर्थ—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करना उसका नाम विपर्यय कहलाता है । 'तस्य विपर्यय इति तद्विपर्ययः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास है। इसका अर्थ यह है कि उसका विपर्यय सो तद्विपर्यय कहलाता है। उसका किसका ? इस प्रश्नके उत्तरमें पहले कहचुके हैं कि तत्पदसे पहले कहे हुयेका ग्रहण है पहले नीचगोत्रके आस्रवके जो हेतु बताये गये हैं, अब इस उच्चगोत्रके आस्रव बतानेवाले सूत्रमें उनसे विपरीत लेना चाहिये । अर्थात् जो हेतु नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं उनसे उलटे उच्चगोत्रके आस्रवके कारण समझने चाहिये। वह विपर्यय किस प्रकार है—अपनी निंदा करना, दूसरोंकी प्रशंसा करना, दूसरोंके अच्छे गुणोंका प्रकाश करना और उनके बुरे गुणोंको ढकदेना अथवा अपने अच्छे गुणोंकी भी प्रशंसा नहीं करना, ये सब उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं । इनके सिवा और भी उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं उन्हींको स्पष्ट करते हैं—

गुरुष्वनतिर्नीचैर्वृत्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिनमें अपनेसे अधिक गुण पाये जाते हैं ऐसे गुरुजनोंके सामने विनयसे रहना, अपनी लघुता प्रगट करना इसीका नाम नीचैर्वृत्ति कहलाती है । यह भी उच्चगोत्रके आस्रवका कारण है इसके सिवा और भी हैं सो दिखाते हैं—

अनंहकारताऽनुत्सेकः ॥ ४ ॥

अर्थ—यद्यपि विज्ञान आदिकी वृद्धिसे अच्छी प्रसिद्धि भी पाई है तो भी उन गुणोंका मद घमंड

झूठ आदि जो आत्माके विभाव परिणाम हैं वे तो ध्रुव नहीं है किंतु क्षणमात्रमें उदित होनेवाले एवं नष्ट होनेवाले विभावभाव हैं । इनके अध्रुवपनेमें यही प्रमाण है कि वे सकारणक हैं अर्थात् कषायादि अंतरंग कारण और निमित्तभूत वाह्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं इसलिये उनका अपाय—नाश भी नियत है । ऐसी अवस्थामें हिंसादिक ध्रुवरूप नहीं कहे जा सकते, ध्रुव न होनेसे अपादान कारक भी उनमें नहीं घटित हो सकता । यदि यहांपर यह कहा जाय कि हिंसादिभावोंसे परिणत आत्मा ही हिंसा आदि शब्दोंसे कहाजाता है अर्थात् कषायविशिष्ट आत्मा ही हिंसा झूठ आदि शब्दोंसे कहा जाता है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वही आत्मा ध्रुव है । कारण ?—जो आत्मा हिंसादि विशिष्ट कभी कभी होता है वही आत्मा द्रव्यदृष्टिसे सदा नित्य है इसलिये इस दृष्टिसे हिंसादिकार्योंमें ध्रुवपना आही जाता है ? ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इसप्रकार ध्रुवपना माननेमें उन पापोंसे आत्माकी विरति होना नहीं सिद्ध होता क्योंकि द्रव्य सदा नित्य रहता है उससे अपादानपना असिद्ध ही है अर्थात् जब हिंसादि परिणामवाला आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तब हिंसादि परिणामोंसे उसका संबंधविच्छेद कैसे होसकता है, विना संबंध विच्छेद हुए अपादान कारक भी नहीं बन सकता ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—ऊपर शंका की गई है वह ठीक नहीं है कारण ? बुद्धिद्वारा अपायमें ध्रुवत्वकी विवक्षा होनेसे अपादान कारक सिद्ध होजाता है । जिसप्रकार 'धर्माद्विरमति' धर्मसे विमुख होता है, यहांपर बुद्धिपूर्वक धर्ममें ध्रुवपना आता है धर्मको छोडने वाला पुरुष ऊहापोह करनेवाली बुद्धिसे विचारता है कि धर्म अतीव कठिनतासे प्राप्त किया जा सकता है और इसका फल परोक्ष है केवल श्रद्धामात्र करनेयोग्य है अर्थात् धर्मका फल स्वर्ग आदि उत्तम सामग्रीकी प्राप्ति बताया गया है परंतु यह वात केवल श्रद्धान करनेयोग्य रह जाती है फल परोक्ष है वह मिलेगा या नहीं सो किसने देखा है इसप्रकार विचारकर वह पुरुष धर्मको अपनी बुद्धिद्वारा ग्रहणकर उसे छोड देता है इसीप्रकार यहां प्रकृतमें भी यही वात है । विचार करनेवाला विवेकी पुरुष विचार करता है कि ये हिंसा झूठ

उनके बीचमें विघ्न डालदेना उसीको अंतरायकर्मके आस्रवका कारण बताया गया है। अब आचार्य महाराज विघ्न शब्दकी व्याख्या करते हैं—

दानादि विहननं विघ्नः ॥ १ ॥

अर्थ—दानादिकोंका वर्णन पहले "दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च" इस सूत्रद्वारा किया जाचुका है। उन दानादिकोंका विहनन करना इसीका नाम विघ्न है। उनका विशेषरूपसे हनन करना, घात करना अर्थात् कोई पुरुष दान देता हो कोई लेता हो या किसीको लाभ पहुंचता हो, कोई लाभ पहुंचाता हो उन सबोंके बीचमें बाधा डाल देना इसीका नाम विघ्न है।

घञर्थे कविधानं ॥ २ ॥

अर्थ—"स्थास्नापाव्यधिहनेर्युध्यर्थमिति" इस सूत्र द्वारा "क" विधि अर्थात् विपूर्वक हन् धातुसे क प्रत्यय होकर क् भागकी इत्संज्ञा होजाती है और हन्‌मेंसे अकारका लोप होकर विघ्नशब्द सिद्ध होता है उस विघ्न शब्दका करणके साथ षष्ठी तत्पुरुषसमास करनेपर 'विघ्नका करना' यह अर्थ होता है उसीका 'विघ्नकरण' ऐसा समासयुक्त पद बनता है। यह विघ्न करना अंतरायकर्मके आस्रवका कारण है ऐसा संक्षिप्त अर्थ है। अब उसीका विस्तारसे विवेचन इसप्रकार है—किसीको किसीसे ज्ञानप्राप्ति होती हो तो उसका निषेधकर उसमें बाधा डाल देना, किसीका किसीसे सत्कार होता हो तो उसका घातकर उसमें बाधा डालदेना, किसीके दान देनेमें अथवा लेनेमें विघ्न पहुंचा देना, किसीके लाभमें विघ्न डालदेना, किसीके भोगमें विघ्न डालदेना, किसीके उपभोगमें विघ्न डालदेना, किसीकी बलशक्तिमें विघ्न डालदेना, इसीप्रकार किसीके स्नान करनेमें, लेप लगानेमें, माला आदि सुगंधित वस्तुओंके धारण करनेमें वस्त्रोंके पहिननेमें भूषणोंके धारण करनेमें, शयन करनेमें, आसनपर बैठनेमें, खानेयोग्य पदार्थोंके खानेमें, पीने योग्य पदार्थोंके पीनेमें चाटने योग्य पदार्थोंके चाटनेमें इन सब बातोंके सेवन करनेमें अथवा इनकी

प्रत्येकके साथ लगाया जाता है। जैसे–हिंसासे विरति, असत्यसे विरति, चोरीसे विरति, कुशीलसे विरति और परिग्रहसे विरति। इसप्रकार विरति शब्दका संबंध प्रत्येक पापके साथ नियत है। यहांपर शंकाकार कहता है कि यदि विरतिशब्दका प्रत्येक पापके साथ संबंध है तो–

विषयभेदाद्विरतिभेद बहुत्वप्रसंगः ॥ ८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार गुड तिल भात आदि पाक होनेयोग्य पदार्थोंके भेदसे पाकमें भी भेद होजाता है जैसे दो पाक तीन पाक, आदि भेद होजाते हैं उसीप्रकार कहनेयोग्य हिंसादिकके भेदसे उनके त्यागके भी भेद होजाते हैं. इसलिये हिंसादिकमें जैसे बहुवचन है उसीप्रकार विरतिशब्दमें भी वहुवचन होना चाहिये भावार्थ—जैसे हिंसादिक पाप बहुत हैं इसलिये वे वहुवचनसे कहे गये हैं उसीप्रकार उनके त्याग भी बहुत हैं, क्योंकि प्रत्येकका त्याग जुदा जुदा है इसलिये त्यागका वाचक जो विरति शब्द है वह भी वहुवचन होना चाहिये।

न वा तद्विषयविरमणसामान्योपादानात् ॥ ९ ॥

अर्थ–ऊपर जो दोष दिखाया गया है वह ठीक नहीं है, कारण हिंसादि विषयोंके त्यागका सामान्य कथन है। यहांपर विषयके भेदसे त्यागमें भेद नहीं होता, त्यागके भेदकी विवक्षा नहीं है, किंतु त्याग शब्द सामान्य रूपसे विवक्षित है। जिसप्रकार गुण तैल चावलोंका पाक, इस सामान्य पाक शब्दकी विवक्षामें पाकशब्द एक ही वचन कहा जाता है उसीप्रकार हिंसा झूठ चोरी आदि पाचों पापोंका त्याग भी सामान्य रूपसे कहा जाता है इसलिये सामान्य विरति शब्दका प्रयोग होनेसे वह भी एकवचनमें ही विवक्षित होता है अतः हिंसादिकोंके वहुवचन होनेपर भी विरति शब्दका एकवचन ही न्यायसंगत प्रयोग है। इसी अपेक्षासे समस्त पापोंकी निवृत्ति लक्षण सामायिककी अपेक्षा एक ही व्रत है तथा भेदयुक्त छेदोपस्थापना-की अपेक्षा पंचप्रकार व्रत हैं। यहां कोई शंका करता है–

सद्वेद्यस्य" इस सूत्रमें इति शब्दका पाठ है। उसी इति शब्दका ग्रहण आगेके सभी सूत्रोंके साथ समझ लेना चाहिये अर्थात् इति शब्दका अर्थ प्रकार है, वह अर्थ सर्वत्र आस्रवके कारणोंमें ग्रहण करलेना चाहिये। जितने भी आस्रवोंके हेतु प्रकार हैं उन सबका ग्रहण इति शब्दके अनुवर्तनसे होजाता है। इन ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवसे आत्मामें क्या विकार होता है उसीका खुलासा करनेकेलिये नीचेकी वार्तिक कहते हैं—

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौंडातुरवत् ॥ ४ ॥

अर्थ—इसप्रकार जो आस्रवकी विधि बताई गई है अर्थात् आस्रवके कारण बताये गये हैं, उनसे जो आठप्रकारके कर्म ज्ञानावरणादिक आत्माके साथ बंधते हैं जिनका कि स्वरूप और मूल तथा उत्तर-भेद आगे आठवें अध्यायमें कहे जांयगे, उन कर्मोंके निमित्तसे आत्मा संसाररूप विकारको निरंतर अनुभव करता रहता है। जिसप्रकार मत्तपुरुष अपनी विशेष रुचिसे मद मोह विभ्रम करनेवाली मदिराको पीकर उसके परिपाकसे अनेकप्रकारके विकारभावोंको प्राप्त होता है अथवा जिसप्रकार रोगी पुरुष अपथ्य भोजन करके वात—सन्निपात आदि विकारोंको प्राप्त होजाता है उसीप्रकार यह संसारी आत्मा उन बांधेहुये कर्मोंके उदयसे चारो गतियोंमें होनेवाले सांसारिक दुःखोंको भोगता रहता है। शंका—

अनुपदिष्टहेतुकत्वादास्रवनियम इति चेन्न स्वभावाभिव्यंजकत्वाच्छास्त्रस्य ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर शंकाकारका ऐसा कहना है कि जो आस्रवका नियम कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका तत्प्रदोष निह्नवादिक भिन्न भिन्न कारण हैं वह नियम सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उसके लिये इस शास्त्रमें ऐसा कोई हेतु नहीं कहागया है जिससे आस्रवका नियम हम समझ लेवें और जो बात सहेतुक होती है वही विद्वानों द्वारा ग्रहण करने योग्य होती है? अर्थात् शंकाकारके कहनेका यह प्रयोजन है कि ऊपर जो कर्मोंके आस्रव जुदे जुदे बताये गये हैं जैसे प्रदोष निह्नवादिक ज्ञानावरण दर्शनावरणके

न संवरो व्रतानि परिस्पंददर्शनात् ॥ १३ ॥

अहिंसा आदि व्रत संवर नहीं कहे जासकते, कारण ?—उनमें परिस्पंद—क्रियारूप परिणाम देखा जाता है, झूठ चोरी आदिके छोडने, सत्य वचन एवं दिया हुआ द्रव्य ग्रहण करनेरूप क्रियाकी प्रतीति होनेसे व्रतोंका क्रियापरिणाम प्रसिद्ध है । भावार्थ—व्रत संवरमें अंतर्भूत नहीं किये जासकते, कारण ?—संवर तो क्रिया निरोध स्वरूप है वह निवृत्तिमार्ग है, परंतु व्रत प्रवृत्तिरूप हैं वे क्रियात्मक हैं, संवरमें त्यागमार्ग है, व्रतोंमें अव्रत त्यागके साथ व्रतग्रहण है और वृतक्रिया परिणामस्वरूप है इसलिये संयममें उनका ग्रहण कर शंकाकारने जो उनका यहां निरूपण अप्रासंगिक बताया था वह ठीक नहीं है । यहां आस्रव करणमें ही उनका उलेख करना समुचित है, क्योंकि शुभास्रवके हेतुओंमें व्रतोंका ग्रहण है और भी यह वात है—

गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च ॥ १४ ॥

अर्थ—गुप्ति आदि स्वरूप संवरका विधान आगे नवमे अध्यायमें किया जायगा, उसी संवरका यह अहिंसादि व्रत विधान परिवार सामग्री है, जो व्रतोंको पालन करलेता है वही साधु सुखपूर्वक—विना किसी आयास अथवा श्रमके संवर धारण कर लेता है, अर्थात् संवरकी प्राप्तिमें व्रतकारणरूप सामग्री कही जाने योग्य है क्योंकि व्रतोंकी सिद्धि होनेपर संवरकी सिद्धि अतिसुलभ है इसलिये संवरके कारण-कलापमें वृतोंका उलेख समझना चाहिये परंतु उसे संवरस्वरूप समझना ठीक नहीं है । संवरसे वृतोंमें भिन्नता है यह वात ऊपर सिद्ध की जा चुकी है ।

रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेन्न भावनांतर्भावात् ॥ १५ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि रात्रिभोजनविरति—रात्रिभोजनत्यागरूप वृतका ग्रहण भी करना चाहिये क्योंकि वह भी तो छठा अणुवृत है । जैसे अहिंसादिक पांच अणुवृत हैं तैसे छठा अणुवृत रात्रि-

अथवा पदार्थस्वरूपका निरूपण शास्त्र करते हैं इसलिये ज्ञानावरणादि कर्मोंमें ज्ञानादिके घात करनेकी भिन्न भिन्न शक्तियां विद्यमान हैं, और प्रदोष निन्हवादि भावोंसे उसीप्रकारकी शक्तिवाले कर्मोंका ग्रहण हो जाता है, यह बात उन आत्मीयभावोंसे और कर्मकी शक्तियोंसे संबंध रखतो है। जीवोंके जैसे जैसे भाव होते हैं उन्हींके अनुसार उसी प्रकारका उन्हें फल मिलता है इसलिये यह निश्चित बात है कि भावानुसार शक्तिवाले कर्मोंका ही जीवके संचय होता है। इस स्वभावसिद्ध बातको ही शास्त्र बताते हैं, ज्ञानावरण कर्ममें ज्ञानके घात करनेकी शक्ति विद्यमान है उसप्रकारका वस्तुधर्म पर्यायोंके अनुसार पदार्थोंमें रहता है और जो जिसका स्वरूप है वह अचिंत्य है तर्कके अगोचर है इसीप्रकार यह बात भी सिद्ध है कि जीवके शुभ या अशुभ जैसे भाव होते हैं उनके उसीप्रकारका शुभ अथवा अशुभ कर्म-बंध भी होता है और यह बात भी सिद्ध है कि प्रदोष निन्हवादिकसे ज्ञानका अथवा दर्शनका ही घात किया जाता है इसलिये उन भावोंसे ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंका ही आस्रव होता है। इसीप्रकार दुःख शोकादि असाता करनेवाले अशुभ भाव हैं तो उनसे असातावेदनीय अशुभकर्मका ही बंध होता है, भूतव्रती अनुकंपादानादि शुभ भाव हैं वे सातारूप भावोंसे होते हैं इसलिये उनसे सातावेदनीय कर्मका ही ग्रहण होता है इसप्रकार भावोंकी शक्तियां और कर्मोंकी शक्तियां जो कुछ विद्यमान हैं अथवा जैसा कुछ कार्य हो रहा है उसीका उल्लेख शास्त्रोंमें किया गया है ऐसा नहीं है कि पदार्थोंमें जो शक्ति अथवा स्वभाव नहीं है फिर भी उनमें शास्त्रकारोंने वह बताया हो, किंतु विद्यमान धर्मका ही निरूपण शास्त्रोंमें किया गया है।

अब यहांपर यह शंका उपस्थित होती है कि शास्त्रमें विद्यमान वस्तुका ही उल्लेख किया गया है, जो धर्म वस्तुमें नहीं है उसका उल्लेख नहीं किया गया है, इसमें प्रमाण क्या है? अर्थात् दिगम्बर जैनाचार्य प्रणीत शास्त्रोंमें जिन बातोंका उल्लेख किया गया हैं वे सभी बातें ठीक हैं इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तरमें आचार्य महाराज नीचेकी वार्तिक कहते हैं—

होगा उससे बहुत हिंसा होगी। अग्निका जलाना, पानीका लाना पृथ्वीका झाडना आदि समस्त आरंभोंमें सूक्ष्म जीवोंका अवलोकन दिनके समान ठीक ठीक होना असंभव है इसलिये उन आरंभोंमें अनेक जीवोंका बध नियमसे होगा इसलिये रात्रिभोजन दूषित होनेसे वर्जित है। फिर शंका—

परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेन्न चंक्रमणाद्यसंभवात् ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि दूसरे द्वारा प्रदीप आदि समस्त वस्तुओंकी योजना कर दी जाय तो फिर रात्रिभोजन करनेवालेको आरंभजनित दोष भी नहीं लग सकता ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—यह वात भी ठीक नहीं है कारण—शास्त्रोक्त विधानसे अवलोकनकी जैसी विधि बताई गई है उसकी सिद्धि नहीं बनसकती। शास्त्रोंमें एषणा शुद्धिपूर्वक आहार ग्रहण करनेका जैसा विधान है वह रात्रिभोजीके किसीप्रकार नहीं बन सकता। ज्ञान, सूर्य और अपनी इंद्रिय इन तीनों द्वारा भलेप्रकार अवलोकित एवं परीक्षित किये गये मार्गसे ही जूडाप्रमाण—चार हाथमात्र आगेकी पृथ्वी निहारकर चलनेवाले साधु योग्य देश और योग्य कालमें शुद्ध भिक्षाका ग्रहण करते हैं। ऐसा आचारशास्त्र—यत्याचारका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं होसकती क्योंकि रात्रिमें सूक्ष्मजीवोंका अवलोकन सर्वथा अशक्य है फिर मुनियोंका गमन एवं निरंतराय एषणाशुद्धिपूर्वक भोजनका ग्रहण नितांत कठिन है ऐसी अवस्थामें परकृत प्रदीपादिकी योजना होनेपर भी रात्रिभोजन मुनियोंके मार्गसे सर्वथा विपरीत है। श्रावकोंके मार्गसे भी विपरीत है फिर मुनियोंकी तो बात दूर है।

दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसंग इति चेन्नोक्तोत्तरत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—यहांपर एक शंका यह होती है कि दिनमें साधु ग्राममें चला जाय वहांसे किसी भाजन द्वारा भोजन आदि लाकर रात्रिमें भोजन करले तो दिनमें अवलोकन भी सिद्ध हो जाता है और रात्रिभोजन भी। इसके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि एसी शंका भी ठीक नहीं है कारण—इसका उत्तर भी ऊपर दिया जाचुका है। यह बात ऊपर कही जाचुकी है कि रात्रिमें प्रदीपादिका आरंभ विशेष होगा उससे

उष्ण स्वभाव और वायुका चलन स्वभाव वैशेषिकोंने माना ही है यह स्वभाव पृथिवी आदि द्रव्योंकी स्वयं उपादान शक्तिरूप परिणाम है. इस स्वभावमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है इसीप्रकार रूपादि गुणोंका चाक्षुषत्वादि रूप प्रतिनियत स्वभाव भिन्न भिन्न माना ही है अर्थात् रूपका चाक्षुष स्वभाव है, वह चक्षुका विषय है, चक्षु विषय करनेवाला विषयी है, रूप चक्षुके द्वारा विषय होनेवाला विषय है रसका रासन स्वभाव नियत है अर्थात् रस रसना इंद्रियका विषय नियत है. गंध घ्राणेंद्रियका विषय है, स्पर्श स्पर्शनेन्द्रियका विषय है और शब्द श्रोत्रेंद्रियका विषय है। इसप्रकार रूपादि गुण और चक्षुरादि इंद्रियां, इनके भी भिन्न भिन्न स्वभाव नियत हैं तथा संयोग विभाग अपेक्षारहित कारणपनेका स्वभाव रखने वाले उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि कर्मोंका भी भिन्न भिन्न स्वभाव माना है अर्थात् नैयायिकादिक क्रियाका लक्षण यह करते हैं कि जो विना किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षालिये संयोग विभागमें कारण हो वही क्रिया है। कर्मनाम यहांपर क्रियाका है। वह पांच प्रकार मानी है ऊपर फेंकना, नीचे गिरना, संकोच होना, प्रसारण होना और गमन होना इसप्रकार कर्मका स्वरूप भी वस्तुके ही स्वस्वभाव परिणमनरूप भिन्न भिन्न माना है। इसीप्रकार सांख्यने प्रकाश प्रवृत्ति और नियम स्वभाववाले सत्त्व रज तम इन तीनोंको भिन्न भिन्न स्वभाववाले माना है। सत्त्वधर्म प्रकाश करनेवाला है, रजोगुण प्रवृत्ति करानेवाला है। तमोगुण नियमन कहिये रोकनेवाला है अर्थात् स्थितिकराना सत्त्वगुणका कार्य है, जन्म देना रजोगुणका कार्य है, नाशहोना तमोगुणका कार्य है। सत्त्वकी साम्यावस्था है, रजोगुणकी रागावस्था है तमोगुणकी मलिनावस्था है। ये स्वभाव भी वस्तुभूत सत्त्वादि गुणोंके नियतरूपसे अन्यमतोंने स्वीकार किये हैं। इसीप्रकार संस्कारादि प्रतिनियत भिन्न भिन्न कारणपनेका स्वभाव अविद्याओंका वेदांतवादी मानता है अर्थात् संस्कार माया आदि स्वभाव अविद्याका है ऐसा वेदांतवादका सिद्धांत है। यह स्वभावभेद वस्तुका विना किसी हेतुके अन्यमती मानते हैं, पृथिवी कठिन स्वभाव ही क्यों है ? जल द्रवस्वभाव ही क्यों है, रूप

ष्योंका गमन आगमन तथा दाताजन द्वारा दियेगये आहारका गिरना पडना आदि सब वस्तुओंका स्पष्ट निरीक्षण होजाता है उसप्रकार चांदनी और दीपक आदि प्रकाशके द्वारा पदार्थोंका स्पष्ट निरीक्षण नहीं किया जासकता और भूमि आदि समस्त वस्तुओंका स्पष्ट निरीक्षण होना आवश्यक है इसलिये दिनमें ही भोजन करना युक्त है। यह जो अहिंसा आदि पांचप्रकार व्रतका विधान किया गया है वह सामान्य रीतिसे कहा गया है, पांचप्रकार विषयोंका सामान्य त्यागरूप व्रतका विधान विरतिके आश्रयभूत विवक्षाओंकी संभावनासे दो कोटियोंमें बांटा गया है अर्थात् व्यक्तियोंके आत्मभूत धर्मोंके द्वैविध्य होनेसे व्यक्तियोंके द्वैविध्यके समान उन धर्मोंके भी दो भेद हो जाते हैं अर्थात् जैसे जीवोंके परिणाम दोप्रकार हैं, एक सर्वथात्यागरूप, एक एकदेशत्यागरूप, वैसे व्रतोंके भी दो भेद होजाते हैं—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—एक देश रूपसे और सर्वदेश रूपसे त्याग करनेसे व्रत भी अणु और महारूपसे दो प्रकार हैं अर्थात् एकदेश हिंसादिक पापोंका त्याग करनेसे अणुव्रत कहा जाता है और सर्वदेश उन्हींका त्याग करनेसे महाव्रत कहा जाता है। इसप्रकार अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे व्रत दोप्रकार है।

कुतश्चिद्दिश्यत इति देशः ॥ १ ॥

अर्थ–जो किसी अपेक्षा वस्तुके कुछ अवयवोंको प्राप्त होता है उसे देश कहते हैं। देश प्रदेश दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं। अर्थात् जो वस्तुके कुछ अंशोंतक उसे ग्रहण करता है, समस्त वस्तुको नहीं, उसे एक देश कहते हैं।

सरत्यशेषानवयवानिति सर्वः ॥ २ ॥

अर्थ– वस्तुके समस्त अवयवोंको प्राप्त होता है वह सर्वदेश कहा जाता है, देश और सर्व दोनोंका द्वंद्वसमास करनेसे देश सर्व समस्त (समाससहित) पद बनता है। इस पदसे पंचमीविभक्तिका द्विवचन

हेतुपनेसे प्रदोश निन्हवादिक जुदे जुदे कर्मोंके आस्रवकेलिये विभक्त किये गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यद्यपि यह नियम नहीं है कि प्रदोषादिकसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके ही प्रदेशोंका बंध होता हो उस समय अन्य कर्मोंका नहीं होता हो जेसी जैसी योगोंकी प्रवृत्ति होती है उसीके अनुसार हीनाधिक प्रदेशोंका ग्रहण होता है। एक समयमें आयुके विना समस्त कर्मोंका ग्रहण होता है परंतु कर्मोंमें जो अनुभाग विशेष पडता है वह प्रदोषादिक जुदे जुदे कारणोंसे पडता है। यदि शुभ राग होगा तो शुभ कर्मोंमें अधिक अनुभाग पडेगा ओर अशुभ राग होगा तो अशुभ कर्मोंमें अधिक अनुभाग पडेगा। स्थिति अनुभाग कषायोंके निमित्तसे कर्मोंमें पडते हैं। अनुभागके तीव्र मंद आदि अनेक भेद हैं उसी अनुभागकी विशेषता दिखानेके लिये प्रदोषादिकाका विधान किया गया है। यदि प्रदोषादि होंगें तो ज्ञानावरण कर्ममें विशेष अनुभाग पडेगा यदि दुःखशोकादि होंगे तो असाता वेदनीयमें अधिक अनुभाग पडेगा। यदि भूत व्रतियोंमें अनुकंपादिरूप भाव होंगे तो साता वेदनीयमें अधिक अनुभाग पडेगा। इत्यादि रूपसे कर्मोंमें अनुभागबंध की विशेषता दिखानके लिये ही जुदे जुदे आस्रवके कारणोंका उल्लेख कियागया है। यदि यहांपर शंका की जाय कि अनुभाग बंध की ही विशेपता क्यों दिखाई जाती है, प्रदेशबंध आदिकी विशेषता क्यों नहीं दिखाई जाती है? इस शंकाका समाधान यह है कि यद्यपि योगोंकी तीव्रता मंदता आदि रूपसे प्रदेश बंधमें भी भेद पडजाता है, फिर भी अनुभाग बंध की विशेषता दिखानेका यह हेतु है कि कर्मोंका जो कुछ फल मिलता है वह अनुभाग बंधकी अपेक्षासे ही मिलता है। प्रकृति प्रदेश स्थिति इन तीनों बंधोंसे आत्माको कुछ विशेष हानि नहीं है, परंतु वास्तवमें हानि है तो अनुभागबंधसे ही है आत्माके गुणोंका घात अनुभागबंधसे ही होता है। जैसा जैसा कर्मोंमें तरतमरूपसे अनुभाग पडता है उसीप्रकार वह आत्मीय गुणोंके घात करनेमें समर्थ होता है इसलिये भिन्न भिन्न कर्मोंमें अनुभाग विशेष किन किन कारणोंसे पडता है उनका समझ लेना आवश्यक है इसीकेलिये प्रदोष निन्हवादि

पंच पंचेत्यत्र वीप्सायां शस्प्रसंग इति चेन्न कारकाधिकारात् ॥ २ ॥

अर्थ–पंच पंच इस निर्देश कथनमें वीप्साकी विवक्षा होती है, वीप्साकी विवक्षा होनेपर शस् प्रत्यय होना आवश्यक है शस् प्रत्यय होनेपर पच पंच ऐसा पाठ न होकर पंचशः इतना ही पाठ होगा। वैसी अवस्थामें लघुरूपसे कथन होगा अर्थात् वीप्सामें शस् प्रत्यय करनेसे दोवार पंच पंच सूत्रमें पाठ नहीं होगा किंतु एकवार पंचशः कहनेसे ही उस अर्थकी सिद्धि हो जायगी ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह शका ठीक नहीं है कारण ?–शस् प्रत्ययके लिये कारकका अधिकार है अर्थात् जहां कारकमें विभक्ति होगी वहां शस् प्रत्यय वीप्सामें होता है यहां कारकत्व नहीं है इसलिये शस् यहां नहीं हो सकता उसके न होनेसे पंच पंच यही पाठ ठीक है। पुनः शंका–

क्रियाध्याहारात् कारकत्वमिति चेन्न विकल्पाधिकारात ॥ ३ ॥

अर्थ–सूत्रमें पंच पंच इतना ही पाठ है उसका अर्थ यह होता है कि पांच पांच भावनाओंकी भावना करै ऐसा अर्थ करनेमें 'भावयेत्' इस क्रियाका अध्याहार (ऊपरसे संबंध) कर लिया जाता है, क्रियाका अध्याहार करनेपर वाक्यकी पूर्ति होजाती है वैसी अवस्थामें कारक भी सिद्ध हो जाता है। कारक सिद्ध होनेपर शस् प्रत्यय भी होना आवश्यक है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण ? शस् विधायक सूत्रमें 'वा' इस विकल्पवाचक शब्दकी वहां अनुवृत्ति चली आती है इसलिये यहां शस् प्रत्यय नहीं किया तो भी कोई दोष नहीं है। फिर शंका–शस् प्रत्यय जब हो सक्ता है तो लघु निर्देशकेलिये शसप्रत्ययांत निर्देश करना ही ठीक है अर्थात् शस् प्रत्यय करनेसे सूत्रका लघु निर्देश होगा इसलिये शस् प्रत्यय करना ठीक है ? उत्तर—सो भी ठीक नहीं, शस् प्रत्यय करनेसे लघु निर्देश तो हो जायगा परंतु अर्थसे गौरव होगा अर्थात् वाक्यमें क्रियाका अध्याहार करने पर ज्ञानमें गौरव होगा इसलिये शस् प्रत्यय न कर जुदा जुदा पंच पंच प्रयोग ही करना ठीक है ऐसा होनेसे यह स्पष्ट अर्थ प्रगट होता है कि उस पांचप्रकारके

देना भी आवश्यक है कि जो क्रिया विशेष उस कर्मबंधके कारण हैं वे किन पुरुषोंके द्वारा आरंभ किये जाते हैं, अर्थात् जिन क्रियाओंसे पुण्यका आस्रव होता है, उन क्रियाओंको कौन पुरुष पालते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि वे क्रियायें व्रती पुरुषों द्वारा पालन की जाती हैं। व्रती कहनेसे भी शंकाका पूर्ण समाधान नहीं होता, कारण ?—व्रती उसे ही कहा जाता है जो व्रतोंका पालन करे, परंतु जबतक व्रत क्या है यह निश्चय नहीं हो जायगा तबतक व्रतीका निश्चय भी नहीं हो सकेगा, अभीतक व्रतका कोई विशेष लक्षण कहा नहीं गया है, इसलिये यहां व्रतका लक्षण वतानेवाला सूत्र कहा जाता है—अथवा छठे अध्यायके प्रारंभमें कहा गया है कि 'काय वचन और मन इन तीनों वर्गणाओंके निमित्तसे जो आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पंद होता है' वह योग कहा जाता है, वही आस्रव है तथा शुभयोग पुण्यके आस्रवका कारण है, यह वात वहांपर सामान्य रीतिसे कही गई है, परंतु शुभयोग क्या है यह नहीं वताया गया है उसीके वतानेकेलिये 'हिंसानृतेत्यादि' सूत्र कहा जाता है—अथवा छठे अध्यायमें ही जहां सातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण वताया गया है वहां भूतव्रत्यनुकंपादानेत्यादि, सूत्रका उल्लेख किया गया है, इस सूत्रमें व्रती शब्दका भी उल्लेख है, परंतु यह नहीं बताया गया है कि व्रत क्या और उनके संबंधसे व्रती कौन ? इसलिये उन्हीं व्रतोंका निश्चय प्रगट करनेकेलिये नीचे सूत्र कहाजाता है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पांचोंपापोंसे विरक्त होनेका नाम व्रत है। रम धातुसे क्तिन् प्रत्यय होनेसे रति शब्द बनता है, इसका अर्थ होता है विषयोंमें राग करना। रतिशब्दके पहले 'वि' उपसर्ग लगादेनेसे उसका उलटा अर्थ होजाता है अर्थात् विषयोंसे उदास होना, उनको छोड देना अथवा उनमें रागभाव नहीं करना यह विरति शब्दका अर्थ है। हिंसादिक पापोंकी प्रवृत्ति इंद्रिय-

है अथवा हंसीमें झूठ बोल देता है इसलिये इन क्रोधादि विकारोंकी आत्मामें उत्पत्ति ही न हो अथवा उनका त्याग मेरे दृढतासे सदैव बना रहे इसप्रकार उनके त्यागकी निरंतर भावना भाना चाहिये, साथ ही अनिंद्य और शास्त्रानुकूल वचन बोलनेकी सदैव भावना रखना चाहिये। इन पांचों वातोंकी भावना भावन करनेसे सत्यव्रतकी दृढता होजाती है अथवा उसकी च्युतिकी कभी संभावना नहीं होती। व्याख्याका अर्थ इसप्रकार है—क्रोधका त्याग करना लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना और अनिंद्य तथा शास्त्रानुकूल वचन बोलना ये पांच सत्यव्रतकी भावनाएं हैं। अनुवीची भाषणका अर्थ शास्त्रानुकूल वचन बोलना है। यहां यह शंका होती है कि अनुवीचिभाषण तो मिथ्याभाषी पुरुषके भी बन सकता है अर्थात् जो अयोग्य वचन बोलता है वह भी अनुवीचिभाषण करसकता है फिर उससे सत्यव्रतकी दृढता कैसे बन सकती है? उत्तर—यह दोष प्रकृतमें लागू नहीं होता, कारण?—यहां पुण्यास्रवका प्रकरण है इसलिये जो पुण्यका संचय करनेवाला वचन है उसीका सहायक अनुवीचिभाषण लिया जाता है, जो वचन पापसंचयका कारणभूत है उस अनुवीचिवचनका यहां अधिकार नहीं है। जो वचन विचारपूर्वक बोला जाता है वह भी अनुवीचिभाषण कहाजाता है। विचारपूर्वक वचन बोलनेसे भी असत्यवचनका प्रयोग नहीं होता।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—सूने स्थानोंमें—जिनमें मनुष्योंका संचार नहीं होता ऐसे पर्वत गुफा वृक्षके खोखले प्रदेशों आदिमें रहना, जो स्थान दूसरे मुनियों द्वारा छोडे जाचुके हैं उनमें रहना दूसरे मुनियोंको आता हुआ देखकर उन्हें उस स्थानमें आनेसे नहीं रोकना; आचारशास्त्र मार्ग द्वारा बतायी गई विधिके अनुसार भिक्षा ग्रहण करना, यह मेरे बैठनेका स्थान है तुम्हारा तो दूसरा है, अथवा यह मेरा कमंडलु है तुम इसे क्यों उठाते हो आदि रीतिसे सधर्मा—समान धर्मधारी साधुओंसे विवाद नहीं करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं,

अन्य समस्त वातोंको छोडकर जो ग्रहण करने योग्य विषयमें नियम प्रतिज्ञा करलेना है इसीका नाम व्रत है। बुद्धिपूर्वक परिणामका नाम अभिसंधि कहा गया है उसका अभिप्राय ऐसा है कि अमुक पदार्थ हित-कारी है उसका ग्रहण करनाचाहिये अमुक पदार्थ अहितकर है उसे छोडना चाहिये, ऐसा विचारकर जो हानिकारक विषयोंको छोडकर उपादेय—ग्रहण करने योग्य पदार्थोंके ग्रहण करनेकी बुद्धिकी दृढता करली जाती है उसीका नाम अभिसंधि है तथा अभिसंधिपूर्वक जो अन्य समस्त वातोंको छोडनेका संकल्प कर लिया जाता है वही व्रत कहा जाता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः॥ ४॥

अर्थ—हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रह इनसे विरति होना व्रत है ऐसा जो सूत्रमें कहा गया है उसके अनुसार "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः" यह वाक्य अपादान कारक है। अपादानमें पंचमी विभक्तिका प्रयोग होता है। इस वाक्यमें भी बहुवचन पंचमी विभक्तिका प्रयोग है। हिंसानृते-त्यादि वाक्यको अपादान कारक प्रगट करनेका यह प्रयोजन है कि हिंसादि पापोंको आत्मा जितने अंशोंमें छोडता है उतने अंशोंमें वह उनसे जुदा होजाता है। जहां संबंध विच्छेद होता है वहांपर अपा-दान कारकका प्रयोग होता है।

ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेन्न बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः॥ ५॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि कि यहांपर अपादान कारक नहीं बन सकता, क्योंकि वह वहीं पर बनता है जहांपर कि ध्रुवपना रहता है परंतु यहांपर ध्रुवपना नहीं है। जो पदार्थ ध्रुवरूपसे निश्चित है वहीं अपादान संज्ञा प्राप्त होती है, जैसे - ग्रामात् आगच्छति, गांवसे आता है यहांपर गांवसे—यह अपा-दान कारक है। कारण ?—गांव ध्रुव है, वह सर्वथा अचल है जिसे छोडा जाता है वह अचल होता है तभी उसकी अपादान संज्ञा होती है, गांव अचल होनेसे ध्रुव है इसीलिये उसकी अपादान संज्ञा है परंतु हिंसा

उनमें रागभाव नहीं रखनेकी भावना करना और जो इंद्रियविषय अपनेलिये अनिष्ट प्रतीत होते हैं उनमें द्वेषभाव नहीं करनेकी भावना करना ये पांच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाएं हैं। इन भावनाओंके सिवा और भी जिनवातोंसे व्रतोंकी दृढता रहती है उन वातोंका उपदेश जिसप्रकार विद्वानोंद्वारा किया जाता है उसीप्रकार उनकी दृढताकेलिये व्रतोंके विरोधियोंके विषयमें भी नीचे लिखेप्रकार भावना भानी चाहिये।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥ ९ ॥

अर्थ—हिंसादिक पापोंके विषयमें भी नीचे लिखेप्रकारसे विचार एवं भावना करना चाहिये कि ये हिंसा झूठ चोरी आदि पाप इस लोकमें मनुष्यका सर्वनाश करनेवाले हैं। राजा दंड देता है, प्रजा धिक्कारती है, कुटुम्बियोंमें लज्जित होना पडता है, प्रतिष्ठा नष्ट होजाती है इत्यादि वातोंसे ये पाप इसलोकमें हरप्रकारसे हानि करते हैं, परलोकमें महानिंद्य फल देते हैं, नरकादि दुर्गतियोंके दुख इन्हीं पापोंके कारण भोगने पडते हैं इसलिये ये पाप इसलोक और परलोक दोनों जगह जीवको दुख देनेवाले हैं ऐसा समझकर इन्हें छोडना चाहिये।

अभ्युदयानिःश्रेयसार्थानां नाशकोपायो भयं वा ॥ १ ॥ अवद्यं गर्ह्यं ॥ २ ॥

अर्थ—जीवके अभ्युदय—कल्याण अथवा स्वर्ग लक्ष्मी आदि समुन्नति तथा मोक्षकेलिये उपयोगी जो क्रिया एवं उसके साधनोंका नाश करनेवाला जो अनर्थ है वह अपाय कहा जाता है अथवा इस लोकसंबंधी परलोकसंबंधी आदि सातप्रकारके भयको भी अपाय कहते हैं। अवद्य नाम गर्ह्यका है अर्थात् निंदितको गर्ह्य कहते हैं अपाय और अवद्य इन दोनोंका द्वंद्वसमास करनेसे अपायावद्ये ऐसा समाससहित पद बनता है अपाय और अवद्यका जो दर्शन उसे अपायावद्यदर्शन कहते हैं। अपाय और अवद्यदर्शन रूप भावना करना चाहिये। कहां करना चाहिये? उत्तर—इसलोक और परलोकमें, किनके विषयमें? हिंसादिकोंके विषयमें अर्थात् हिंसादिक इसलोक और परलोकमें नाशकारी और निंदित हैं ऐसी भावना भानेसे उनकी

चोरी आदि परिणाम पापके कारण हैं। पापकर्ममें जो पुरुष लगजाता है उसे इसी लोकमें राजा दंड देता है, परलोकमें अनेकप्रकार वह दुःख भोगता है। इसप्रकार बुद्धिके द्वारा हिंसादिकोंको ग्रहणकर उनसे वह निवृत्त हो जाता है इसलिये बुद्धिके द्वारा ध्रुवपनेकी विवक्षा होनेसे अपादानकारक सिद्ध हो जाता है अर्थात् जैसे धर्ममें बुद्धिसे ध्रुवपना आता है तभी उसे छोडा जाता है उसीप्रकार हिंसादि पापोंमें भी बुद्धिसे ध्रुवपना आता है तभी उन्हें भी छोडा जाता है। ध्रुवपना आनेसे "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो" इस वाक्यमें पंचमी विभक्त्यंत अपादान कारक सिद्ध है।

अहिंसायाः प्रधानत्वादादौ तद्वचनमितरेषां तत्परिपालनार्थत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—अहिंसा समस्त व्रतोंमें प्रधान है इसलिये उसका ग्रहण सबसे प्रथम किया जाता है, उसीको प्राधान्य क्यों है? इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिये कि बाकीके समस्त व्रत उसीकी रक्षाकेलिये हैं। जिसप्रकार धान्यके खेतकी रक्षाके लिये खेतकी वाढ (खेतका कुछ ऊंचा परकोट) होती है, उस वाढसे खेतकी रक्षा होती है उसीप्रकार बाकीके सत्य अचौर्य आदि समस्त व्रत अहिंसाकी रक्षाके लिये ही हैं अर्थात् जबतक आत्मा झूठ बोलता है, चोरी आदि करता है तबतक वह विभाव परिणाम एवं कषाय-युक्त रहता है, विभाव एवं कषाय परिणामोंसे वह अपने शुद्ध भावोंकी हिंसा कर डालता है इसलिये झूठ चोरी आदिके विना छोडे अहिंसा व्रतकी पूर्ण रक्षा हो नहीं पाती है, जब झूठ चोरी आदि पापोंको छोड कर वह सत्य अचौर्य आदि व्रतोंको धारण कर लेता है तब अहिंसा व्रतकी रक्षामें वह भले प्रकार समुद्यत हो जाता है, इसलिये सत्यादि व्रतोंको अहिंसा व्रतके साधक होनेसे प्रथम अहिंसा व्रतका उल्लेख किया गया है क्योंकि समस्त व्रतोंमें वही प्रधान सिद्ध है।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" इस सूत्रमें जो विरति शब्द है उसका संबंध

वैरी बन जाते हैं, वे उसको लिंगछेदन, इंद्रियछेदन, मारना, बांधना एवं सब सम्पत्तिका हरण करलेना आदि अपायोंद्वारा तीव्र दुःख पहुंचाते हैं, परलोकमें वह अशुभगति पाता है और निंदित बनता है। इसलिये कुशीलसेवनसे विरक्ति होना ही हितकारी है। जो परिग्रही है वह अन्य चोर आदि दुष्टों द्वारा उसीप्रकार सताया जाता है जैसे मांसके टुकडेको ग्रहण करनेवाला पक्षी दूसरे मांस चाहनेवाले पक्षियों द्वारा सताया जाता है। फिर उस परिग्रहका संचय करना, रक्षण करना, रक्षित किये द्रव्यको अचानक चोरों द्वारा हरण होते हुये देखकर बहुत दुखी होना आदि अनेक दोषोंका वह भाजन बनता है और कितना भी परिग्रह इकट्ठा करनेपर उसे तृप्ति नहीं होती है जैसे कि कितना ही ईंधन क्यों न डाला जाय परंतु अग्नि तृप्त नहीं होती और लोभके वशीभूत होकर लोभी आदमी यह करनेयोग्य कार्य है, यह नहीं है इत्यादि विवेकको भूलकर अकार्यमें भी प्रवृत्त हो जाता है तथा मरकर अशुभगतिका भाजन बन जाता है। यह लोभी है कृपण है ऐसे खोटे खोटे शब्दों द्वारा लोकमें निंदित भी होता है इसलिये परिग्रहसे विरक्ति होना ही कल्याणकारी है। इसप्रकार हिंसादिकोंके विषयमें अपाय और अवद्य दर्शनकी भावना भाना चाहिये। इसके सिवा और भी हिंसादिकोंके विषयमें भावनाएं हैं वे भी भानी चाहिये उन्हींका उल्लेख यहां किया जाता है—

दुखःमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—ये हिंसादिक भाव दुःखस्वरूप ही हैं, दुःखरूप ही इनका फल है, दुःखरूप ही इनका कारण है इसलिये ये सर्वथा छोडने योग्य हैं ऐसी भावना भाना चाहिये। यहां शंका होती है कि दुःख तो असातावेदनीयके उदयसे होनेवाला परितापरूप विकारभाव है और हिंसादिक क्रिया विशेष हैं ऐसी अवस्थामें जो सूत्रद्वारा हिंसादिकोंको दुःखस्वरूप बताया गया है वह कहांतक ठीक है? उत्तर—

दुःखमेवेति कारणे कार्योपचारोऽन्ने प्राणवत् ॥ १ ॥

हिंसादिभ्यो निवृत्तिवचनमनर्थकं संवरेऽतर्भावात् ॥ १० ॥

अर्थ—हिंसादिक पापोंसे निवृत्ति होना व्रत है ऐसा जो व्रतका लक्षण ऊपरके सूत्र द्वारा किया गया है वह यहां नहीं कहना चाहिये क्योंकि आस्रवका प्रकरण है इस प्रकरणविधानमें व्रतका ग्रहण अनर्थक है, कारण व्रतका संवरमें अंतर्भाव है इसलिये उसका आस्रव प्रकरणमें कथन करना अयुक्त है।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेन्न धर्माभ्यंतरत्वात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यदि कोई शंकाकारकी बातका खंडन यह कहकर करै कि व्रतोंका संवरमें अंतर्भाव होता है यह प्रतिज्ञामात्र कथन है अर्थात् व्रतका संवरमें अंतर्भाव बतलाना केवल कथनमात्र है तो उसका उत्तर यह है कि आगे नवमें अध्यायमें दशप्रकार धर्मका निरूपण किया जायगा उन धर्मके दश भेदोंमें एक संयम नामका भेद भी है, उस, संयमके अनेक भेद हैं उन्हींमें—भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयन, आसनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, वाक्यशुद्धि इन आठप्रकार शुद्धियोंका भी विधान है उसी शुद्धिविधानमें अहिंसादिक पांच व्रतोंका अंतर्भाव है, इसलिये व्रतोंका संवरमें ग्रहण प्रतिज्ञामात्र बतलाना ठीक नहीं है किंतु उनका संवरमें अंतर्भाव हो ही जाता है।

तत्प्रपंचार्थ उपन्यास इति चेन्न तत्रैवाकरणात् ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि ये अहिंसादिक व्रत संयमके ही प्रपंच—विस्तारस्वरूप जिसप्रकार सिद्ध हों उसीके लिये उनका यहां उल्लेख किया गया है, अर्थात् संयममें इन व्रतोंको अंतर्भूत मानते हुए भी उनका यहां इसीलिये उल्लेख किया गया है कि यह सब संयमका ही विस्तार है, इस तर्कणाके उत्तर में शंकाकार फिर कहता है कि यह बात ठीक नहीं है. कारण ?—यदि संयमका ही यह प्रपंच है तो फिर संयम प्रकरणमें करना उचित है यहां आस्रव प्रकरणमें उसका उल्लेख करना अयुक्त है। प्रकरणके उल्लंघन करनेसे कुछ लाभ नहीं है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

तत्परत्र भावनामात्मसाक्षिकं ॥ ३ ॥

अर्थ——ये हिंसादिक दुःख स्वरूप ही हैं इस प्रकार की भावना दूसरेके विषयमें अपनी साक्षीसे करना चाहिये। वह इसप्रकार करना चाहिये–जिस प्रकार मारा जाना या पीडा होना मेरेलिये दुःखकारी एवं अप्रिय है उसीप्रकार वह सब जीवोंके लिये दुःखकारी एंव अप्रिय है। जिसप्रकार झूठ कटुक कठोर गर्हित आदि वचन सुनते हुए मुझे अभूत पूर्व अतितीव्र दुःख होता हैं उसी प्रकार वैसे वचन सुननेसे समस्त जीवोंको तीव्र दुःख होता होगा। जिसप्रकार इष्ट वस्तुके वियोगमें मुझे एक न वीन असाधारण पीडा होने लगती है उसीप्रकार अन्य सर्वजीवोंकी इष्ट वस्तुओंके वियोगमें उन्हें भी अपार दुःख होता होगा। जिसप्रकार मेरी स्त्रीका दूसरे पुरुष द्वारा तिरस्कार होनेपर मुझे महान् मानसीक वेदना होती है उसीप्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंका अन्य द्वारा तिरस्कार होनेपर उन्हें भी अति मानसिक दुःख होता होगा। तथा जिसप्रकार वाह्य सामग्री आदि परिग्रहोंके नही प्राप्त होनेपर अथवा प्राप्त हुए धनके विनष्ट होनेपर आकांक्षा रक्षा शोक आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुःख मुझे होता है उसीप्रकार सब जीवोंको होता है इसलिये हिंसादिकोंसे विरक्ति होना ही परम हितकारी है। इसप्रकार अपने दुःखके समान दूसरोंके दुःखकी दृष्टि रखनेसे हिंसादिक पापोंमें प्रवृत्ति करनेकेलिये आत्मा प्रवृत्त नहीं होता है इसी-लिये ऊपर कहे प्रकारके अनुसार भावनाओंका भाना परम लाभकारी है।

स्पर्शकृतं सुखमिति चेन्न वेदनाप्रतीकारत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ——शंकाकार कहता है कि कि हिंसादिक सर्व दुखःस्वरूप ही नहीं है किंतु स्पर्शजनित सुख-स्वरूप भी हैं जैसे वेश्याके कोमल सुंदर शरीरका आलिंगन करनेसे प्रेमजनित (कामसुख) सुख होता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यहशंका ठीक नहीं है कारण ? वह सुख नहीं है किंतु वेदना दुःखका प्रतीकार मात्र है। जिसप्रकार शरीरकी त्वचा मांस और रुधिरमें विकार पैदा हो जानेसे उत्पन्न

भोजनत्याग भी है उसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है कारण ?—भावनाओंमें अंतर्भूत किया गया है आगे चलकर अहिंसा सत्य आदि वृतोंकी भावनाओंका निरूपण ग्रंथकार करेंगे वहीं रात्रिभोजनत्यागका निरूपण किया गया है।

अनिर्देशादिति चेन्न आलोकितपानभोजनवचनात् ॥ १६ ॥

यहां फिर प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि वृतोंकी भावनाओंमें तो रात्रिभोजन त्यागका उल्लेख नहीं किया गया है फिर ऊपर जो यह बताया गया है कि भावनाओंमें उसका कथन किया गया है यह वात अयुक्त है ? आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है कारण ?—आलोकितपानभोजनका वचन अहिंसा वृतकी भावनामें कहा गया है। अहिंसा वृतकी पांच भावनायें अहिंसा वृतके पूर्णरीतिसे पालन करनेके लिये कही गई हैं उनमें आलोकितपानभोजन नामकी भावनाका भी उल्लेख है उसका अर्थ होता है कि देख भाल कर पान भोजन करना, इस कथनसे रात्रिभोजन स्वयं वर्जित होजाता है क्योंकि रात्रिमें भोजनका निरीक्षण ठीक ठीक कभी नहीं वन सकता इसीलिये सूर्योदयसे पीछे और सूर्यास्तके दो घडी पहले ही भोजनका श्रावकोंके लिये विधान है ऐसी अवस्थामें रात्रिभोजनत्याग वृत अहिंसा भावनामें सुतरां गृहीत होजाता है फिर उसके स्वतंत्र ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यहां शंकाकार पुनः कहता है—

प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसंग इति चेन्नानेकारंभदोषात् ॥ १७ ॥

अर्थ—यदि देखभालकर भोजन करनेके लिये ही दिनमें भोजनका विधान किया जाता है तो दीपक, चंद्रमाकी चांदनी आदिके प्रकाशसे प्रकाशित रात्रिभोजन करनेमें क्या दोष है ? जिसप्रकार सूर्यके प्रकाशमें भोजन देखा जाता है उसीप्रकार रात्रिमें भी चांदनी और दीपकके प्रकाशमें देखा जासकता है। उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, कारण—रात्रिमें जो अनेक प्रकारका आरंभ

वातोंका पालन आवश्यक है इसप्रकारकी भावनाओंके चिंतवन करनेसे हिंसादिक पापोंमें कभी प्रवृत्ति नहीं होती है। अब प्रत्येकका जुदा जुदा स्वरूप कहाजाता है —

परेषां दुखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री ॥ १ ॥

अर्थ—अपने शरीर वचन और मनसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे यह अभिलाषा रखना कि दूसरोंको दुखकी उत्पत्ति किसीप्रकार न हो इसीका नाम मित्रका धर्म अथवा मित्रका कर्तव्य मैत्री है अर्थात् समस्त जीवोंको मित्र समझना एवं उन्हें मुझसे किसीप्रकार दुःख न हो ऐसी हार्दिक भावना रखना मैत्री कहलाती है।

वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानांतर्भक्तिरागः प्रमोदः ॥ २ ॥

अर्थ—मुखकी प्रसन्नतासे, नेत्रोंके प्रफुल्लित हो जानेसे रोमाञ्च खडे हो जानेसे गुणानुवाद करनेसे निरंतर नाम आदिका उच्चारण करनेसे जो अंतरंगमें भरे हुये भक्तिजनित रागको प्रगट करना उसे प्रमोद कहते हैं, विशेष रीतिसे जो आनंद होता है उसे प्रमोद कहते हैं अर्थात् गुणी पुरुषका गुणानुवाद करना, मुखसे एवं नेत्रोंसे हर्ष प्रगट करना, अपने हृदयगत भक्तिरागको प्रगट करना, इसीका नाम प्रमोद है।

दीनानुग्रहभावः कारुण्यं ॥ ३ ॥

अर्थ—शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे जो सताये जारहे हैं जो अत्यंत दीन होरहे हैं ऐसे प्राणियोंको देखकर उनके प्रति जो अनुग्रह—उपचार करनेकी वाञ्छारूप परिणाम है वही दयालुका धर्म अथवा कर्तव्य-दयाभाव कहलाता है अर्थात् दीन दुःखी पुरुषोंके प्रति उपकार करनेकी बुद्धि होना ही दयाभाव है।

रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं ॥ ४ ॥

अर्थ—राग द्वेषसे किसी एक पक्षकी ओर झुकजाना वह पक्षपात कहलाता है तथा रागद्वेषके

हिंसा होगी। अर्थात् दिनमें भोजन लाकर भी रात्रिमें खानेसे प्रदीपादि आरंभ करना ही पडेगा। यदि दीपादिक विना रात्रिमें भोजन किया जायगा तो भोजनमें पडनेवाले स्थूल जीव भी नहीं दीख सकेंगे। दूसरे यह संयमका साधन भी नहीं है कि भोजन लाकर किया जाय। यह मुनिमार्गका उल्लंघन होगा कि श्रावकोंके यहांसे भोजन लाकर दूसरे स्थानपर किया जाय क्योंकि ऐसा विधान नहीं है तथा ऐसा करनेसे साक्षात् दोष आनेसे संयमकी विराधना होती है। तीसरे—पाणिपात्रमें आहार करनेवाले परिग्रहरहित मुनियोंकेलिये यह बात संभव भी नहीं है कि वे किसी भाजनमें भोजन ले आवें। जिससमय वे भाजनमें भोजन लावेंगे तभी मुनिधर्मसे वहिर्भूत हो जांयगे। चौथे—भाजनके ग्रहण करनेसे उन्हें अनेक पापजनक दोष लगेंगे। पाचवें —भोजन लानेसे उनकी दीनवृत्ति सिद्ध होगी ऐसी अवस्थामें उनके निर्दोष चारित्र नहीं रहसकता और निवृत्तिरूप जो वीतराग परिणाम हैं उनका भी मुनियोंके अभाव हो जायगा क्योंकि भोजन मांगने एवं आहार मिलनेकी लालसा उनके सदा रहेगी। यदि यहां यह कहा जाय कि भाजनमें लाये हुये भोजनको परीक्षा करके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मुनि जीवोंकी उत्पत्तिभूत योनि शास्त्रोंके भी पूर्णज्ञाता होते हैं साथ ही वे यह भी अच्छीतरह जानते हैं कि किन वस्तुओंके संयोगसे गुण है किनके संयोगसे दोष है अर्थात् संयोग विभागसे होनेवाले गुण दोषोंको वे भलेप्रकार पहचानते हैं, इसलिये जिससमय हालका बनाया हुआ भोजन भक्तिवत्सल दाता द्वारा मुनियोंके पाणिपात्रमें रक्खा जाता है उसीसमय वह उनके ग्रहण करनेयोग्य है अन्य समयमें नहीं। जो भोजन लाकर ग्रहण किया जायगा उसमें भोजनसंबंधी भी अनेक दोष उत्पन्न होजांयगे और उस भोजनके छोडनेमें भी अनेक दोष उत्पन्न हो जांयगे।

स्फुटाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनं युक्तं ॥ २० ॥

जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश समस्त पदार्थोंका स्पष्ट रीतिसे प्रकाश करता है, उससे भूमिप्रदेश मनु-

भाव प्रमोदभाव कारुण्यभाव और माध्यस्थ्यभाव धारण करनेकी भावना सदैव भाना चाहिये वह किसप्रकार भाना चाहिये ? सो कहते हैं—मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूं अर्थात् जिन्होंने मेरा कोई अहित किया हो उन्हें मैं क्षमा करता हूं । मेरा सबोंके लिये क्षमाभाव है. सब जीवोंसे मैं क्षमा चाहता हूं अर्थात् मुझे सब जीव क्षमा करें, समस्त जीवोंके साथ मेरा प्रेमभाव है, मेरा किसीके साथ वैरभाव नहीं है इसप्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मैत्रीभाव भाना चाहिये । सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदिमें जो अधिक हैं उनकी वंदना स्तुति वैयावृत्ति करना आदिसे प्रमोदभावकी भावना करना चाहिये। जो मोह कर्मसे सताये हुये हैं कुमति कुश्रुत और विभंगावधिज्ञानसे विशिष्ट हैं, विषयरूपी अग्निसे जिनका चित्त जल रहा है, हित अहितके विचारसे विपरीत प्रवृत्तिको जो धारण करते हैं, अनेक प्रकारके दुखोंसे जो दुःखी हो रहे हैं ऐसे जो दीन कृपण अनाथ वाल वृद्ध क्लेश सहनेवाले मनुष्य हैं उनमें करुणाभावकी भावना करना चाहिये अर्थात् उनमें सदैव करुणाबुद्धि वनी रहै ऐसी भावना भाना चाहिये। सदुपदेशका ग्रहण करना उसे धारण करना इस प्रकारकी बुद्धि ऊहापोह—तर्कणा विचारसे रहित महान् मोहभावसे मोहित ऐसे दुष्ट हठग्राही उद्दंड पुरुषोंमें माध्यस्थ्यभाव धारण करनेकी भावना भाना चाहिये ऐसे दुष्ट हठाग्रही पुरुषकी आत्मामें वक्ताके हितरूप उपदेशका कोई फल नहीं होता है, इसीलिये उससे उदास हो जाना ठीक है इसप्रकार इन भावनाओंकी भावना करनेसे अहिंसा सत्य आदि व्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। यहांपर प्रश्न होता है कि नवीन पापास्रवके रोकनेमें सावधान महाव्रतीद्वारा क्या इतना ही क्रियाकलाप धारण करना चाहिये ? उत्तर—नहीं, और भी विचार करना चाहिये इसकेलिये सूत्र कहा जाता है—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं ॥ १२ ॥

अर्थ—संसारसे भय होनेके लिये तथा वैराग्य उत्पन्न होनेके लिये जगत्का तथा शरीरका स्वभाव भी चिंतवन करना चाहिये ।

प्रयोग करनेसे देशसर्वाभ्यां पद बनता है, उसीसे तसिल् प्रत्यय करनेसे "देशसर्वतः" पद बनता है। इसका अर्थ होता है देश सर्वसे। सूत्रमें विरतिशब्दका अध्याहार किया जाता है अर्थात् विरतिशब्द "हिंसानृतस्तेयेत्यादि" पहले सूत्रमें आया है उसीका ग्रहण ऊपरसे इस सूत्रमें करलिया जाता है। फिर मिलाकर अर्थ होता है–हिंसादि पापोंका देशरूपसे जो त्याग किया जाता है वह अणुव्रत कहा जाता है और उन्हीं हिंसादिकोंका सर्वरूपसे—सर्वथा जो त्याग किया जाता है वह महाव्रत कहा जाता है। अणु और महा दोनोंको मिलानेसे एवं समास करनेसे अणुमहती पद बनता है। यहांपर व्रतशब्दके साथ विशेषण रूपसे अणु और महा शब्दका प्रयोग किया गया है इसलिये व्रतशब्दको नपुंसकलिंगी होनेसे अणुमहत्का भी नपुंसकलिंगी प्रयोग अणुमहती किया गया है।

शंका—किसी पुरुषने प्रतिज्ञा करली कि–मैं हिंसा न करूंगा, झूठ न बोलूंगा, चोरी न करूंगा, ब्रह्मचर्य रक्खूंगा और परिग्रह ग्रहण न करूंगा परंतु ऐसी भावना स्थिर रखनेमें असमर्थ हुआ तो प्रतिज्ञाको वह कैसे स्थिर रख सकता है? उत्तर–ऐसे पुरुषको परमार्थकी इच्छासे सावधान होकर ये (नीचे लिखी) भावना भानी चाहिये—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ–उन व्रतोंकी स्थिरता एवं दृढताके लिये प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं।

भावना शब्दः कर्मसाधनः ॥ १ ॥

अर्थ–भावना शब्द यहांपर कर्मसाधन है। वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम तथा क्षयोपशम और अंगोपांगनामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा इन भावनाओंको भाता है इसलिये ये भावनायें कही जाती हैं। यहां आत्मा कर्ता है, भावनायें कर्मरूप हैं अर्थात् आत्मा भावनाओंको भाता है। यहांपर शंका होती है–

द्रव्योंका समुदाय ही लोक कहाजाता है। द्रव्यसमूहको छोडकर लोक अन्य कुछ पदार्थ नहीं है वह ताल-वृक्षके आकार वाला है अर्थात् नीचे वेत्रासन-वेत्रके वने हुय वैठनेके मूढेके समान है, मध्यमें झलरी थालीके समान है, ऊपर मृदंगके समान है, अनादि निधन है अर्थान् लोकको कोई रचना नहीं करता है और न उसे कोई नष्ट करता है किंतु वह अनादिसे है और अनंत कालतक सदा ऐसा ही बना रहेगा। इस लोकमें संसारी जीव चारों गतियोंमें नाना प्रकारके दुःखोंको भोग भोग कर परिभ्रमण करते रहते हैं कोई वस्तु इस लोकमें स्थिर नहीं है, जीवन तो जलके बबूलेके समान क्षणभंगुर है, विजली और क्षणमें नष्ट होने वाले बादलोंके समान तत्काल विलाय जानेवाली भोगादिसंपत्ति भी निष्फल है इत्यादि सभी पदार्थोंकी यहांपर ऐसी ही अनित्य दशा है। जब सब जगह जहां देखो तहां अनित्यता ही दीखती है कहीं कोई वस्तु स्थिर नहीं है फिर ऐसे संसारसे किस बुद्धिमान्को भय उत्पन्न नहीं होगा? अर्थात् संसारसे भय उत्पन्न होनेरूप संवेग सबको उत्पन्न होता ही है। कायका स्वभाव भी इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये—यह शरीर अनित्य है, दुःखोंका कारण है, जितने भी दुःख जीवको भोगने पडते हैं वे सब इस शरीरके संबंधसे ही भोगने पडते हैं। यह शरीर निःसार है इसमें कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है। केवल रुधिर मांस हड्डी आदि धातु उपधातु आदि मल भरा हुआ है तथा यह शरीर अपवित्र है, इसके भीतर सभी पदार्थ अपवित्र ही भरे हुये हैं। दूसरे शुद्ध पदार्थ भी इसके संपर्कसे अशुद्ध होजाते हैं। इसप्रकार शरीरका विचार करनेसे उससे भी संवेग होता है। जब ऊपरके लिखे अनुसार भावना करनेसे जगत् तथा कायसे संवेग होजाता है तब इस जीवकी आरंभ परिग्रहमें नाना दोष दीखनेसे उनसे विरति होजाती है धर्ममें उसका अधिक प्रेम होने लगता है, धार्मिक पुरुषोंमें भी प्रेम बढता है तथा धर्मके सुननेमें और धार्मिक पुरुषोंके देखनेमें एवं उनका समागम करनेसे उसके मनमें प्रसन्नता होती है, उत्तरोत्तर गुणोंकी प्रतीतिमें उनके ज्ञानकी वृद्धिमें उसकी श्रद्धा बढती है तथा शरीर भोग उपभोग

व्रतोंकी स्थिरता—दृढताकेलिये प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएं जानना चाहिये। यदि ऐसा है तो पहले अहिंसाव्रतकी पांच भावनाएं कौनसी हैं ? उन्हींके लिये सूत्र कहा जाता है—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४॥

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, आलोकितपानभोजन, ये पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएं हैं। भावार्थ—वचनको वशमें रखनेसे—मौनव्रती रहनेसे न तो दूसरे मनुष्यके प्रति कुछ कटु शब्दोंका प्रयोग ही किया जासकता है और न असत्य एवं अनर्थदंडस्वरूप वचनोंका प्रयोग ही होसकता है और न किसी दुष्ट पुरुषके आक्रोशयुक्त वचनोंका उत्तर देनेकी फिर वाञ्छा ही रहती है ऐसी अवस्थामें मौनव्रत अथवा वचनगुप्तिसे अपने तथा दूसरेके भावोंकी हिंसा नहीं होसकती है, इसीप्रकार मनोगुप्तिसे हृदयमें दुर्भाव नहीं पैदा होते हैं इसलिये हृदयके दुर्भावोंसे होनेवाली भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनोंका प्रतीकार हो जाता है। इसीप्रकार ईर्या आदि समितियोंकी भावनाओंके भानेसे आत्माकी प्रवृत्ति हिंसाकी ओर झुकती ही नहीं है वारवार चिंतवन करनेसे आत्मा गुप्ति एवं समितियोंके पालनमें दृढ हो जाता है। आत्माकी दृढतामें अहिंसाका पालन भलेप्रकार सिद्ध हो जाता है। द्वितीयव्रत सत्यव्रतकी पांच भावनायें कौनसी हैं ? अब उन्हींके लिये सूत्र कहा जाता है—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोध, लोभ, भय, हास्य, इनको छोडना और अनिंद्य वा शास्त्रानुकूल बचन वोलना, ये पांच सत्यव्रतकी भावनायें हैं, अर्थात् क्रोध लोभ आदि छोडनेकी भावना आनेसे क्रोधादि परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होपाती उसके अभावमें असत्य वचन बोलनेका अवसर भी नहीं आता, कारण ?—असत्य वचन बोलनेमें जो कारण पडते हैं उन्हींके त्यागकी यहां भावना वताई गई है। मनुष्य क्रोधके वशमें आकर झूठ बोल बैठता है, लोभसे झूठ बोलता है, किसी भयविशेषके होनेपर झूठ बोलने लगजाता

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रमादके योगसे प्राणोंका घात करना हिंसा है।

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः ॥ १ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके प्रचार विशेषको जो विना विचारे अनियमितरूपसे करता है वही प्रमत्त कहलाता है अर्थात् जो पुरुष इंद्रियोंकी प्रवृत्ति उनके विषयोंमें विचारपूर्वक सावधानीसे नहीं करता है किंतु असावधानीसे विना विचारे अथवा सकषायभावोंसे उनका प्रवर्तन करता है वह प्रमत्त कहलाता है, प्रमाद करनेवालेको प्रमत्त कहते हैं। सकषाय परिणामका नाम ही प्रमाद है। अथवा—

अभ्यंतरीकृतेवार्थो वा ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा इव अर्थको अभ्यंतर करनेसे जो अर्थ होता है वही प्रमत्तशब्दका यहां अर्थ करना चाहिये। प्रमत्त इव इति प्रमत्तः, अर्थात् जो प्रमत्तके समान हो वह प्रमत्त कहलाता है। यहांपर उपमावाचक इव शब्दका लोप होगया है यहांपर कोई पूछे कि उपमावाचक इव शब्दका क्या अर्थ है तो इसका उत्तर यह है कि जिसप्रकार मदिरा पीनेवाला अधिक मदका प्रभाव फैलजानेसे कार्य अकार्यका तथा कहने योग्य वाच्य और न कहनेयोग्य अवाच्यका विचार करनेमें अज्ञानी बन जाता है उसीप्रकार जो जीवस्थान उनकी योनि एवं आश्रयभूत स्थानोंके जाननेमें अज्ञानी है कषायोदयसे विशिष्ट है और हिंसाके कारण और कलापोंमें फंसा हुआ है वह अहिंसाके पालन करनेके लिये सामान्यरूपसे भी प्रयत्न नहीं करता है वही पुरुष प्रमत्त अथवा प्रमादी कहलाता है। अथवा—

पंचदशप्रमादपरिणतो वा ॥ ३ ॥

अथवा जो चार विकथायें, पांच इंद्रियां, चार कषाय, निद्रा और प्रणय इन पंद्रह प्रमादोंसे सहित है वह प्रमत्त कहलाता है।

१—विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य। चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥ १ ॥ (गोम्मटसार)

भावार्थ—जो स्थान दूसरोंके आधीन हैं, जिसमें मनुष्योंका आवागमन रहता है उनमें मुनियोंका रहना सर्वथा निषिद्ध है कारण कि जो दूसरोंका अधिकृत स्थान है उसमें उनका रहना चोरीके अतीचारोंमें परिगणित है इसीलिये मुनिगण खंडहर आदि निर्जन स्थानोंमें निवास करते हैं। यदि वे जिसस्थानमें बैठे हुये हैं उसमें अन्य मुनिको आते हुये रोकदें तो भी दूषण हैं कारण?—वह स्थान उनका नहीं है इसलिये उन्हें रोकनेका कोई अधिकार नहीं है। यदि रोकते हैं तो समझना चाहिये कि वे उस स्थानपर या तो अपनी सत्ता जमाते हैं अथवा उन्हें उससे ममत्व भाव है। इसीप्रकार यदि भिक्षाके ग्रहणमें विधि और शुद्धिपर पूर्ण दृष्टि नहीं रखते हैं तो समझना चाहिये कि वे शास्त्रोक्त विधिको भी छिपाते हैं और मेरा तेरा कहकर विसंवाद करना भी पर वस्तुमें स्वायत्तता सिद्ध करना है। इसलिये ऊपर कहीगई पांच वातोंकी भावना भानेसे अचौर्य व्रतकी दृढता होती है ॥ अब ब्रह्मचर्यकी पांच भावनाएं कही जाती हैं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर-संस्कारत्यागाः पंच ॥ ७॥

अर्थ—स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंको सुननेसे ब्रह्मचर्य व्रतमें दूषण आता है, आत्माकी दृढता शिथिल पड जाती है चित्तमें विकारभाव उत्पन्न हो जाता है अथवा उत्पन्न होनेकी पूरी संभावना रहती है इसलिये स्त्रीरागवर्धक कथाओंका श्रवण नहीं करना, इसीप्रकार ब्रह्मचर्यमें दूषण नहीं आने देनेकेलिये उनके मनोहर शरीरका निरीक्षण नहीं करना, पूर्वमें भोगे हुये भोगोंका स्मरण नहीं करना, पुष्ट और इष्ट रसोंका परित्याग, अपने शरीरका संस्कार नहीं करना, इन पांच वातोंकी भावना भाना ब्रह्मचर्यव्रतकी दृढिमाका कारण है। अब पांचवें—परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाओंको प्रगट करते हैं—

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियोंके पांचों विषयोंमें राग द्वेषका परित्याग करना अर्थात् जो इंद्रियविषय इष्ट हैं

कायवाङ्मनस्कर्म वा ॥ ५ ॥

अर्थ—अथवा काय वचन मन इनके संबंधसे जो आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होता है वह योग कहाजाता है। प्रमाद परिणामके संबंधसे होनेवाला योग प्रमत्तयोग कहा जाता है। उस प्रमत्तयोगसे जो प्राणव्यपरोपण होता है वह हिंसा कहलाती है। यहांपर प्रमत्त योगसे–यह हेतुरूप वाक्य है। अर्थात् प्रमत्तके योगरूप हेतुसे जो प्राणव्यपरोपण होता है वह हिंसा है। प्राणव्यपरोपणमें प्रमत्तयोग कारण है। उसकारणसे जो प्राणघात होगा वही हिंसामें परिगणित किया जायगा अन्यथा नहीं। यहां पर योग शब्दका अर्थ संबंधरूप नहीं है किंतु मन वचन काय त्रियोगरूप है।

व्यपरोपणं वियोगकरणं ॥ ६ ॥

अर्थ—वियोग करनेका नाम व्यपरोपण है। प्राणोंका स्वरूप पहले कहा जा चुका है अर्थात् भाव-प्राण और द्रव्यप्राण तथा मन वचन काय इंद्रिय स्वासोच्छ्वास और आयु ये दश भेद। इनका वियोग करना प्राणव्यपरोपण कहा जाता है।

प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य ॥ ७ ॥

अर्थ—प्राणीका जो घात होता है वह प्राणोंका घात होनेपर ही होता है इसलिये सूत्रमें प्राणका ग्रहण किया गया है अर्थात् प्राणोंका वियोग होनेसे ही प्राणियोंका वियोग हो जाता है, वास्तवमें आत्मा तो अखंड एव अजर अमर है उसका कभी घात नहीं होता, इसलिये व्यवहारनयसे जिसे जीवन मरण कहा जाता है वह प्राणोंके संबंधसे जबतक प्राणोंका घात नहीं होता तबतक जीवन कहा जाता है प्राणोंका घात होनेपर मरण कहाजाता है इसलिये प्राणका पाठ सूत्रमें आवश्यक है। विना प्राण-घातके प्राणिघात कुछ नहीं है।

अन्यत्वादधर्माभावः इति चेन्न दुःखोत्पादकत्वात् ॥ ८ ॥

प्रवृत्तिमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता है। हिंसादिकोंके विषयमें किसप्रकार भावना भाना चाहिये इसका विशेष विवेचन इसप्रकार है—हिंसाके संबंधमें यह विचारना चाहिये कि—हिंसा करनेवाला सदा उद्वेगचित्त रहता है उसे भय एवं आकुलता प्रतिसमय बनी रहती है, निरंतर दूसरे जीवोंसे वैर बांधता रहता है, इसलोकमें ही मारेजाने बांधेजाने आदि अतीव दुखकारी क्लेशोंको प्राप्त होता रहता है तथा मरकर अशुभ नरक आदि दुर्गतियोंको जाता है और निंदित बनता है इसलिये हिंसासे विरक्त होना ही हितकारी है। झूठ बोलेनेवाला विश्वासी नहीं रहता और न प्रतीतिभाजन होता है इसीलोकमें जिह्वाछेद आदि उसकी दुर्दशा की जाती है, उसके मिथ्या झूठे कथनसे दुःखित होनेवाले पुरुष उसके साथ वैर बांधलेते हैं और उसे अनेक कष्ट पहुंचाते हैं। परलोकमें वह अशुभ गतियोंमें जाता है और अनेक निंदाओंका भाजन बनता है इसलिये झूठसे विरक्त होना ही उत्तम है तथा दूसरेके द्रव्यके चुरानेमें दत्तचित्त रहनेवाला चोर सबोंको दुःख देता है। जिस जिसका द्रव्य हरता है उसे ही अपार दुख होता है। वह इसी लोकमें पकडे जानेपर खूब पीटा जाता है, मारा जाता है, बांध दिया जाता है, उसके हाथ, पैर, नाक, कान, तथा ऊपरके ओष्ठ काट दिये जाते हैं। इसके सिवा उसका संचित किया हुआ समस्त द्रव्य हरण कर लिया जाता है। मरकर वह अशुभ गतियोंके दुःखोंको भोगता है, निंदित होता है इसलिये चोरीसे विरक्त होना ही अच्छा है। इसीप्रकार जो कुशीलसेवी होता है उसका चित्त सदैव मद एवं विकारसे उन्मत्त रहता है। जिसप्रकार मदविह्वल हस्ती जंगलमें हथिनीकी चाहनामें गढेमें गिरकर विवश परवश बनकर बंधनवद्ध हो जाता है, उसीप्रकार कामीपुरुष स्त्रीकी वंचना—ठगाईमें आकर मारेजाने पीटेजाने बांधेजाने आदि क्लेशोंको इसीलोकमें पाता है, निर्लज्ज समझा जाता है, सभी पुरुष उसे नीच समझते हैं तथा मोहसे तिरस्कृत वनकर कार्य अकार्य आदिके विचारोंको भूलजाता है फिर अपना अहित करनेमें भी संकोच नहीं करता। जो दुष्ट दूसरेकी स्त्रियोंके आलिंगन सेवनमें रति करता है उसके सभी पर पुरुष

कष्ट होता है। भावार्थ—यद्यपि इंद्रिय आयु आदि प्राण आत्मासे भिन्न हैं क्योंकि वे सब कर्मके आधीन हैं तथा कर्मके ही कार्य हैं और कर्म आत्मासे जुदे हैं। कर्म पौद्गलिक हैं और आत्मा उनसे भिन्न चेतन स्वरूप है इसप्रकार प्राण आत्मासे भिन्न हैं तथापि आत्माके साथ उनका बंध होरहा है। भिन्न भिन्न दो पदार्थोंके मिलकर एकरूप होनेको बंध कहते हैं और ऐसा ही बंध आत्मा और कर्मोंका अथवा उन कर्मोंके कार्यरूप प्राणोंका होरहा है। जब आत्मा और प्राणोंका एकमेक रूप बंध होरहा है तब प्राणोंके वियोग होनेसे आत्माको कष्ट पहुंचना वा आत्माका दुःखी होना अनिवार्य वा अवश्यंभावी है तथा दुःख पहुंचना ही हिंसा वा अधर्म है इसलिये प्राणोंके वियोग होनेपर अवश्य ही हिंसा वा अधर्म होता है। इसप्रकार अधर्मका अभाव जो शंकाकार द्वारा बताया गया था वह नहीं सिद्ध होसका किंतु अधर्म की सिद्धि ही होती है।

एकांतवादिनां तदनुपपत्तिर्बंधाभावात् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो लोग आत्माको सर्वथा निष्क्रिय मानते हैं वा जो सर्वथा नित्य मानते हैं अथवा जो सर्वथा शुद्ध मानते हैं और जो सर्वथा उसे सर्वगत व्यापक मानते हैं उनके ही मतमें आत्माका शरीरक साथ बंध नहीं बन सकता है और बंध न बननेसे आत्माको दुःख आदि भी नहीं हो सकते परंतु अनेकांतवादी जैनियोंके यहां तो कथंचित् अनित्यत्व कथंचित् शुद्धत्व कथंचित् अशुद्धत्व आदि व्यवस्था होनेसे बंध भी सिद्ध होजाता है और उसके सद्भावमें आत्माके दुःख आदि भी सिद्ध हो जाते हैं।

उभयविशेषणोपादानमन्यतराभावेऽहिंसाभावज्ञापनार्थं ॥ १२ ॥

अर्थ—'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रमें प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण, ये दोनों पद हिंसाके विशेषण कहे गये हैं, दोनों यदि नहीं दिये जाते केवल प्राणव्यपरोपण पद ही देदिया जाता तो क्या हानि होती? इसके लिये कहते हैं कि यदि दोनों पद नहीं दिये जाते दोनोंमेंसे किसी पदका

अर्थ—जिसप्रकार लोकमें वोला जाता है कि निश्चयसे अन्न प्राण हैं वास्तवमें तो अन्न जीवका प्राण नहीं हैं फिर जो अन्नमें प्राणोंका व्यवहार होता है उसका कारण यह है कि अन्न प्राण न होने पर भी प्राणरक्षामें कारण अवश्य हैं इसलिये प्राणोंमें कारण होनेसे अन्नको भी कारणमें कार्यका उपचार करके प्राण कहदिया जाता है। अन्न प्राणोंका कारण है प्राण उसका कार्य है उसीप्रकार हिंसादिक यद्यपि दुःखस्वरूप नहीं हैं तो भी दुःखके कारण तो हैं इसलिये कार्यमें कारणका उपचार करके हिंसादिकोंको दुःखरूप कह दिया जाता है। ऐसी अवस्थामें सूत्रकारका कथन सर्वथा ठीक है। अथवा

कार्यकारणे वा धनप्राणवत् ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा जिसप्रकार अन्नपानमें कारण द्रव्य धन होता है। प्राणमें कारण अन्नपानका सेवन होता है इसलिये परंपरा कारणके कारणका लक्षय रखकर लोकमें यह व्यवहार होता है कि धन ही प्राण है। यहांपर प्राण धन नहीं होनेपर भी प्राणका परंपरा कारण अवश्य है इसलिये धनको प्राण लोकमें कहदिया जाता है, शास्त्रकारोंने इसी दृष्टिसे धनको वाह्यप्राण वताया है। जैसा कि श्लोक है—

यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते वहिश्चराः।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनं ॥ १ ॥

अर्थ—यह जो धन है वह मनुष्यका वाह्य प्राण है, इसलिये जो जिस पुरुषका धन हरण करलेता है वह उसके प्राणोंका हरण करलेता है इसलिये जिस प्रकार प्राणका कारण अन्नपान और अन्नपानका कारण धन है इसलिये धनको प्राण कह दिया जाता है उसीप्रकार हिंसादिक असातावेदनीयकर्मके कारण हैं और असातावेदनीय कर्म दुःखका कारण है इसलिये हिंसादिक परंपरा दुःखके कारण हैं। दुःखका कारण असातावेदनीय और उसका कारण हिंसादिक है अतः हिंसादिक दुःखके कारणके कारण पडते हैं यहां पर उसी दृष्टिसे—कारणके कारणमें कार्यका उपचार कर हिंसादिकको दुःख स्वरूप वताया गया है।

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

अर्थ—जीव चाहे मरो चाहे जीवो जो अयत्नाचारी है उसके हिंसा निश्चित है अर्थात् जिसके प्रमाद-योग है उसे हिंसाका दोष अवश्य लगता है चाहे उसके द्वारा किसी जीवका प्राणवियोग हो या मत हो, परंतु जो प्रयत्नशील है ईर्या आदि समितियोंके पालनेमें सावधान है उसे हिंसामात्र होनेसे (प्रमादके विना) बंध नहीं होता है। अर्थात् जहां प्रमाद योग है वहीं हिंसा है जहां प्रमादयोग नहीं है केवल प्राणव्यप-रोपण है वहां जीवहिंसा होनेपर भी तन्निमित्तक बंध नहीं होता है। भावार्थ—शंकाकार कहता है कि यदि प्रमादयोग ही हिंसाका लक्षण है तो फिर हिंसाके लक्षणमें सूत्रमें प्रमत्तयोगके साथ प्राणव्यपरोपण क्यों दिया है ? केवल प्रमत्तयोग ही कहना उचित था इसके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है कारण जहां प्रमादयोग है वहां भी भावलक्षण प्राणव्यपरोपण ही है। भावार्थ—जहां प्रमत्तरूप परिणाम होते हैं वहांपर यदि अन्य किसी जीवके प्राणोंकी हिंसा न भी हो तो भी अपने प्राणों-की हिंसा तो अवश्य होती ही है क्योंकि प्रमत्तरूप परिणामोंसे शुद्ध आत्माके परिणामोंका तो घात होता ही है यही वात ग्रंथातरमें इसप्रकार है—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥

इसका अर्थ इसप्रकार है—प्रमादवाला आत्मा अपने आत्मा द्वारा पहले अपने आत्माकी ही हिंसा करता है, पीछे उसके प्रमाद परिणामोंसे दूसरे जीवके परिणामोंकी हिंसा हो या न हो इसका कुछ निश्चय नहीं है। इस कथनसे प्रमाद परिणाम और प्राणव्यपरोपणमें कार्य कारण सिद्ध होता है यह कार्य कारणभाव दोनों मिलकर ही हिंसाका लक्षण कहलाता है इस कथनसे जो लोग इसप्रकारका उपालंभ देते हैं कि—

हुई खुजलीसे जो पुरुष बाध्य बनजाता है वह नखके अग्रभागसे खप्परके टुकडेसे मिट्टी आदिसे वा अन्य अनेक नोंकीले पदार्थोंसे अपने शरीरको बडे जोरसे खुजा डालता है, खुजाते खुजाते उसका शरीर छिन्न होजाता है उससे रुधिर निकलने लगता है और निरंतर खुजली चलती रहती है इसप्रकार उस दुःखको भी वह खुजानेसे सुखमय समझ लेता है। वास्तवमें खाज स्वयं दुखरूप है एक बडा उपद्रव एवं व्याधि है उसका खुजाना उस उपद्रव एवं व्याधिकी वढवारीका कारण होनेके सिवा शरीरको अधिक खराब एवं फोडामय बनानेवाला है फिर भी खुजानेवाला पुरुष उसे हितकारी समझलेता है, ठीक उसीप्रकार मैथुन सेवनकरनेवाला पुरुष मोहके वशीभूत होकर उस दुःखको भी सुखस्वरूप मान लेता है, कारण—मैथुनोपसेवन स्वयं लज्जा, घृणा अरुचि एवं पापबंध करनेवाली नीच क्रिया है उसे अच्छा वही समझता है जो कुगतिगामी होता है इसलिये ये हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह सभी पाप दुखोंकी उत्पत्तिके स्थान योनियां हैं अतः वे दुःखस्वरूप ही हैं इसप्रकार इनमें भावना भानी चाहिये। विशेष, जिसप्रकार ये क्रियातत्पर होकर अथवा भावपूर्वक भानेसे व्रतकी पूर्णता करते हैं उसीप्रकार ये नीचे लिखे मैत्री आदि कारणकलाप उन व्रतोंकी पूर्णताकेलिये ऐहिक प्रयोजनकी उत्सुकता—चाहनासे रहित एवं सावधानचित्त रखनेवाले पुरुषके द्वारा निरंतर भायेजानेसे व्रत संपत्ति उत्पन्न करादेते हैं, उसीकेलिये सूत्र कहा जाता है—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—समस्त प्राणियोंमें मैत्रीभाव अधिक गुणवालोंमें प्रमोद, हर्षभाव रोग व्याधि आदिसे जो क्लेशयुक्त हैं उनमें करुणाभाव और अविनयी उद्दंड पुरुषोंमें माध्यस्थ्य—उदासीनभाव धारणकरना चाहिये ऐसा करनेसे आत्माका सरल परिणाम होता है, शत्रुता नष्ट होती है, सब जीव मित्र बन जाते हैं, जगतसे सहानुभूति उत्पन्न होती है और दुष्टोंका स्वयमेव दमन होजाता है इसलिये उपर्युक्त चारों

आदि उपकरणोंका सद्भाव मानने पर उन वस्तुओंके बनानेवाले लोहारकी सिद्धि सुतरां हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्राणीकी सत्ता नहीं मानी जायगी तो रूपण, अनुभवन, उपलंभन, निमित्तग्रहण, संस्करण, इन भिन्न भिन्न पांच लक्षणोंके धारक रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार ये पांच संस्कार भिन्न भिन्न सामर्थ्य रखनेसे परस्पर उपकार्य उपकारक भावसे रहित हैं, अर्थात् यदि प्राणीकी असत्ता मानी जायगी तो हिंसा हिंसक हिंसाफल, आदि कुछ भी नहीं सिद्ध होगा, कारण बौद्धोंके यहां रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार ये पांच संस्कार माने हैं, इन पांचोंके ही जुदे जुदे पांच लक्षण स्वीकार किये हैं। रूपका रूपण अवलोकन वेदनाका वेदन अनुभवन, विज्ञानका निमित्तग्रहण अर्थात् ज्ञायकभाव, संज्ञाका उपलंभन प्राप्ति और संस्कारका संस्करण ये लक्षण हैं। इन पांचोंमें परस्पर कोई संबंध नहीं है, सबोंकी भिन्न भिन्न सत्ता एवं शक्तियां हैं, इसलिये वे एक दूसरेके सहायक भी नहीं हैं तथा सभी क्षणिक हैं इसलिये अपने प्रयोजनकी–कार्यकी सिद्धि करनेमें भी असमर्थ हैं। इसलिये हिंसाकी निवृत्तिमें भी वे कारण नहीं हो सकते। तथा जिसप्रकार स्मृति, अभिसंधि अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, चिंता अर्थात् व्याप्तिज्ञान एवं साधन आदिका भिन्न भिन्न स्वरूप होनेसे भिन्न भिन्न अधिकरणपना है, उसीप्रकार इन रूप वेदना आदि पांच संस्कारोमें भी भिन्न भिन्न अधिकरण होनेसे एकअधिकरणपना उनका सिद्ध नहीं होता है। अथवा दूसरा अर्थ ऐसा भी उपयुक्त होता है जिस स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, संज्ञा, चिंता, आदिका एक अधिकरण है, उनमें परस्पर कार्यकारणभाव है, उसप्रकार इन रूप वेदना आदिमें एक अधिकरणपना नहीं है इसलिये इनमें परस्पर कार्यकारणभाव आदि भी नहीं है। दूसरे वे क्षणध्वंसी हैं इसलिये जहां एकका भी अभाव हुआ वहां हिंसाका सद्भाव नहीं हो सकता अर्थात् हिंसा तो तभी सिद्ध हो सकती है जब कि इन रूप आदि पांचोंका ही पहले सद्भाव हो। इनकी उत्पत्तिके क्षणमें ही यदि इनमेंसे एक भी नष्ट हो जाय तो हिंसाका स्वरूप नहीं बन सकता। दूसरी बात यह भी है

विना किसी भी पक्षको छोडकर मध्यमें ठहर जाना वही मध्यस्थका धर्म अथवा कर्तव्य—माध्यस्थ्यभाव कहा जाता है अर्थात् रागद्वेषसे किसीकी भलाई बुराई न करके उदासीनवृत्ति धारण करलेनेको माध्यस्थ्यभाव कहते हैं।

अनादिकर्मबंधवशात् सीदंतीति सत्त्वाः ॥ ५ ॥

अर्थ—अनादिसे बांधे हुए अष्टविधि कर्मसमूहसे तीव्र दुःखदेनेवाली चारों गतियोंमें जो सताये जाते हों वे सत्त्व कहलाते हैं।

सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र आदि गुण जिनके अधिक हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं।

असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः ॥ ७ ॥

अर्थ—असातावेदनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो शारीरिक मानसिक दुःख उसके संतापसे जो खिन्न हैं, दुखी हैं. वे क्लिश्यमान कहे जाते हैं।

तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यासंपादितगुणा अविनेयाः ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्वार्थोंके उपदेशको (सात तत्त्व नौ पदार्थोंके उपदेशको) सुनने तथा ग्रहण करनेसे जो विनयशील एवं सत्पात्र वनजाते हैं वे ही विनेय कहे जाते हैं और जो तत्त्वोंका श्रवण और उनका ग्रहण न करके मोक्षसाधनमूल सम्यग्ज्ञानादि गुणोंको नहीं पासके हैं वे अविनेय कहे जाते हैं। जो विनेय नहीं हैं वे अविनेय कहे जाते हैं। इन सत्त्वोंमें, गुणाधिकोंमें, क्लिश्यमानोंमें और अविनेयोंमें क्रमसे मैत्री-

---

१ गुणाधिकका लक्षण देखनेसे यह विदित होता है कि जिनमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुण है वे ही प्रशंसाके पात्र हैं, उन्हीको देखकर हर्ष होता है और उन्हींके प्रति भक्तिराग भी प्रदर्शित किया जाता है इसके विपरीत जो किन्हीं गुणोंमें अधिक होते हुये भी मिथ्याज्ञानी है उनके गुणकी प्रशंसा भावनाओंमें नहीं ली गई है और न उनके प्रति धर्मबुद्धिसे भक्तिराग ही प्रगट किया जासकता है। जिस गुणसे स्व-पर हित हो वास्तवमें वही गुण कहा जाता है अन्यथा गुण होनेपर भी वह अवगुण ही है।

संबंध लगा लेना आवश्यक है। अर्थात् प्रमादके योगसे जो वचन बोला जाता है वही असत्य कहा जाता है। इससे किसी चोरकी आत्माको पीडा पहुंचानेवाला मुनिमहाराजका चोरीका निषेधक सदुपदेश असत्य कोटिमें नहीं सम्हाला जामकता क्योंकि उनका प्रमत्त परिणाम नहीं है किंतु आत्महितकी भावना है।

असदिति नञासत्प्रतिषेधाच्छून्यार्थसंप्रत्ययप्रसंगः ॥ १ ॥

अर्थ—जो सत् नहीं वह असत् कहा जाता है। यहांपर सत् शब्दका नञके साथ समास किया गया है, उसका अर्थ होता है सत्का अभाव, नञके द्वारा सत्का निषेध किया जाता है। जब सत्का निषेध है तव शून्य रूप अर्थ हुआ अर्थात् जो सत् नहीं है वह असत् है, कुछ नहीं है, सत्का अभाव है, यही अनृत शब्दका अर्थ होता है किंतु जो सत्को असत् बोलना है अथवा असत्को सत् बोलना है वह अनृत है यह अनृत शब्दका अर्थ नहीं सिद्ध होता केवल अभाव रूप ही अर्थ सिद्ध होता है तथा मिथ्यावचन बोलना या कटु आदि वचन बोलना असत्य है, यह वचन बोलनेरूप भावात्मक अनृत भी सिद्ध नहीं होता?

न वा सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ऊपर जो शंका उठाई गई है वह ठीक नहीं है, कारण?—सत् शब्द प्रशंसाका वाचक है। जो प्रशंसासूचक वचन नहीं है वह असत् वचन है अर्थात् जो अप्रशस्त—निंद्य एवं दूषित वचन है वह असत् है इस अभिप्रायसे असत् शब्द अभावका वाचक नहीं सिद्ध होता किंतु अप्रशस्त वचनरूप भावात्मक सिद्ध होता है। नञ्का अभाव और प्रसज्य दोनों ही अर्थ होते हैं, जहां पदार्थका अभाव है वहां भी नञ्का प्रयोग होता है और जहां वह तो नहीं है किंतु उससे भिन्न होकर भी उसके समान है वहां भी नञ्का प्रयोग होता है। जैसे अब्राह्मण शब्दका समास नञ् समास है उसका अर्थ 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' ब्राह्मण नहीं यह भी होता है और ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रिय वैश्य शूद्र भी

जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ ॥ १ ॥

अर्थ—जगत् शब्द और काय शब्द दोनोंहीका अर्थ पहले कहा जा चुका है अर्थात् जगत् शब्द संसारका वाचक है और काय शब्द शरीरका वाचक है।

स्वेनात्मना भवनं स्वभावः ॥ २ ॥

अर्थ—अपने असाधारण धर्मसे सहित होना स्वभाव कहा जाता है अर्थात् जो जिस वस्तुका असाधारण धर्म है वही उसका स्वभाव है। जगत् और काय इन दोनोंका द्वंद्व समास करनेसे जगत्कायौ पद बनता है इस पदका षष्ठी तत्पुष समास करनेसे 'जगत्काययोः स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ' पद बनता है इसका अर्थ होता है कि जगत् तथा कायका स्वभाव चिंतवन करना चाहिये।

संसाराद्भीरुता संवेगः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार दुःखोंके देनेवाले संसारसे भय होना संवेग कहलाता है।

रागकारणभावात् विषयेभ्यो विरंजनं विरागः ॥ ४ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनी कर्मके उदयके अभाव होनेपर अर्थात् उसका उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे अथवा क्षयोपशम होनेसे इंद्रियविषय रूप रस गंध स्पर्श शब्दादिकोंसे विरक्त होना विराग कहलाता है। विरागका भाव अथवा कर्म वैराग्य कहलाता है। संवेग और वैराग्य मिलकर संवेगवैराग्य कहे जाते हैं, संवेग और वैराग्यकेलिये इस अर्थको द्योतित करनेकेलिये 'संवेगवैराग्यार्थं' ऐसा पद बनता है मिलकर पूरे सूत्रका अर्थ होता है कि संवेग और वैराग्यकेलिये जगत और कायके स्वभावका चिंतवन अथवा उसकी भावना भाना चाहिये। जगत्का स्वभाव इसप्रकार भावन करना चाहिये—यह जगत लोक आदि एवं अनादि परिणामवाले द्रव्योंका समुदायरूप है, कुछ द्रव्योंका परिणमन अनादिसे एक समान सदृशरूप होता रहता है। कुछ द्रव्योंका विसदृशरूपसे नवीन नवीन परिणमन होता है इसप्रकार आदि और अनादि परिणमन स्वरूप

हैं उतने मात्र असत्यका नाम ही अनृत ठहरेगा परंतु जो विद्यमान पदार्थ विषयके असत्य वचन हैं अथवा जो दूसरे प्राणियोंको पीडा पहुंचानेवाला वचन है वह असत्यकोटिमें फिर सामिल नहीं हो सकेगा। यदि असत् वचनका कहना अनृत है ऐसा कहा जाता है तो जितना भी अप्रशस्त वचन है वह सभी असत्य ठहरता है। उससे जो विपरीत अर्थको कहनेवाला वचन है, दूसरेको पीडा पहुंचानेवाला वचन है और भी जो भर्त्सन, अवद्य, दूषित, कटु, कठोर आदि प्रमादयुक्त वचन है वह सभी अनृत वचन ठहरता है इसलिये 'मिथ्यानृतं' इस सूत्रसे लाघव अवश्य होता है परंतु अभिप्रायका लोप होजाता है, असत्यका लक्षण पूरा सिद्ध नहीं होता। ऐसा लाघव किस प्रयोजनका जिससे लक्षणमें अव्याप्ति आदि दोष आवे, अतः 'असदभिधानमनृतं' यह सूत्र ही ठीक है॥ इसके अनंतर जो चोरीका निरूपण है उसका क्या लक्षण है? उसीकेलिये सूत्र कहा जाता है—

अदत्तादानं स्तेयं॥ १५॥

अर्थ—विना दियेहुये द्रव्यका ग्रहण करना चोरी है। आदान नाम ग्रहण करनेका है, यहांपर भी प्रमादका संबंध चला आता है अर्थात् प्रमादके योगसे जहां विना दिये हुये द्रव्यका ग्रहण किया जाता है वहां चोरीका दूषण लगता है।

सर्वमदत्तमाददानस्याऽकुशलकल्पनायां कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतुः स्तेयप्रसंगः॥ १॥

अर्थ—यदि सामान्यरीतिसे विना दियेहुये द्रव्यके ग्रहण करनेका नाम ही चोरी है तो विना किसीके दिये हुये आठ प्रकारके कर्मको जो जीव ग्रहण करता है उस कर्म ग्रहणका नाम भी चोरी समझा जायगा। कर्मका उल्लेख करनेसे नोकर्मका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। अर्थात् संसारी आत्मायें प्रतिसमय कर्म ग्रहण करते रहते हैं यहांतक कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंत परमेष्ठी भी योगमात्रके संबंधसे कर्म ग्रहण करते रहते हैं, इसलिये उन्हें भी चोरीका दूषण लगेगा क्योंकि कर्म नोकर्म किसीके द्वारा दिये हुये नहीं होते? समाधान—

संसार इन सबोंसे विराग स्वरूप वैराग्य भी उसे हो जाता है इसप्रकार भावनाओंको मानेवाला पुरुष व्रतोंको भले प्रकार पालता है। ये कहीं गईं व्रत भावनायें स्याद्वादनयवादी जैनसिद्धांतकारोंके यहां ही सिद्ध होती हैं। जो दर्शनकार पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं उनके सिद्धान्तानुसार उनमें किसी प्रकारकी विक्रिया परिणमन नहीं बन सकता है उसके न बननेसे आत्माके परिणमनस्वरूप व्रत भावनायें भी उनके यहां नहीं सिद्ध होसकतीं। यदि पदार्थोंकी नित्यता स्वीकार करनेवाले सांख्य आदि उनमें विक्रियाका होना भी स्वीकार करें तो उनकी यह प्रतिज्ञा कि 'सभी पदार्थ नित्य होते हैं' नष्ट हो जाती है। इसीप्रकार जो पदार्थोंको सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके यहां अनेक क्षणोंमें रहनेवाली एक वस्तु कोई बन नहीं सकती और न अनेक पदार्थोंको विषय करनेवाला एक ज्ञान ही बन सकता है ऐसी अवस्थामें किसी पदार्थका आत्मामें स्मरण ज्ञानका होना भी असंभव है फिर भावनाऐं उनके यहां कैसे सिद्ध हो सकती है? विना वस्तुकी एवं आत्मविचारकी स्थिरता स्वीकार किये भावनाऐं सिद्ध नहीं हो सकतीं।

अनेकांतवादी जैनियोंके यहां तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्यताका अवलंबन कियेहुये है पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वही अनित्यताका अवलंबन किये हुये है, इसप्रकार दोनों नयोंकी अपेक्षासे अंतरंग वहिरंग कारणोंके सद्भाव होनेसे उत्पत्ति विनाश एवं ध्रौव्यरूप परिणमन धारण करता है ऐसी अवस्थामें परिणमनशील होनेसे एवं कथंचित् नित्यस्वरूप रहनेसे आत्मद्रव्यमें स्मरण और विक्रिया दोनों ही बन जाते हैं उनके बननेसे भावनाओंकी सिद्धि सुतरां सिद्ध होजाती है। यहां प्रश्न होता है कि ऊपर यह बताया गया है कि हिंसादिसे निवृत्ति होना ही व्रत है परंतु यह नहीं बताया गया कि हिंसादिक क्रिया विशेष कौन हैं? इसीके उत्तरमें श्री आचार्य कहते हैं—सबका विवेचन एकसाथ नहीं किया जासकता उन क्रमसे ही किया जासकता है और उस क्रम-विवेचनमें पहले हिंसाका पाठ है इसलिये प्रथम उसीका लक्षण कहा जाता है—

रूप कर्मके द्वारा दिया जाता है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि हस्त पाद आदि साधनों द्वारा कर्मोंका गृहण करना और छोडना आदि नहीं सिद्ध होसकता। जिसप्रकार वस्त्र और पात्र आदि वस्तुयें हस्त आदि साधनों द्वारा ग्रहण की जाती हैं तथा औरोंकेलिये दीजाती हैं, उसप्रकार कर्म न तो हस्त आदि द्वारा ग्रहण ही किया जासकता है और न औरकेलिये दिया ही जासकता है क्योंकि वह सूक्ष्म है, सूक्ष्म होनेसे ही वह हस्त आदि द्वारा ग्रहण करने और देनेके योग्य नहीं ठहरता। यहांपर शंका होती है कि यदि कर्म सूक्ष्म होनेसे ग्रहण भी नहीं किया जासकता और दिया भी नहीं जासकता तो फिर जीवों द्वारा उसका ग्रहण किसप्रकार होता है इसका उत्तर इसप्रकार है—

शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बंधः ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने तथा दूसरोंके शरीरोंके विषयमें और नानाप्रकारके भोज्य आहारोंके विषयमें तथा पांच इंद्रियोंके विषयभूत रूप रस गंध स्पर्शादिके विषयमें राग द्वेष रूप तीव्र मध्यम जघन्य परिणामोंसे इस जीवके कर्मबंध होता है अर्थात् यह संसारी जीव नाना पदार्थोंमें—अपने शरीरमें और दूसरे स्त्री आदिके शरीरमें जैसा ज्यादा कमती ममत्व परिणाम करता है, भोजनादिमें जैसी रुचि अथवा अरुचि करता है, इंद्रियोंके विषयोंमें जैसा न्यून अधिक राग द्वेष करता है उसी रागद्वेषरूप परिणामसे उसके अपने आप कर्मबंध होजाता है। कर्मोंको खींचकर जीव नहीं लाता है, कर्म अत्यंत सूक्ष्म है वह इस संसारी जीवके इंद्रियगोचर नहीं है इसलिये वह खींचा नहीं जासकता किंतु लोकमें वह कर्म अपनी पूर्व पर्याय कार्माण नोकार्माण वर्गणारूप अवस्थामें सर्वत्र भरा हुआ है, जो जीव जैसा रागद्वेषरूप परिणाम करता है उसी परिणामके कारण वे वर्गणायें सुतरां (अपनेआप) इस जीवके साथ बंधको प्राप्त होकर कर्म संज्ञारूप अवस्थाको धारण करलेती हैं इसलिये कर्मका बंध होना इस जीवके अपने परिणामोंके ही आधीन है, वह कर्म दूसरेके लिये दिया नहीं जासकता। फिर यहां शंका

योगशब्दः संबंधपर्यायवचनः ॥ ४ ॥

यह जो योग शब्द है वह संबंधका पर्यायवाची शब्द है । योजन योग संबंध ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं इसलिये पर्यायवाचक शब्द कहे जाते हैं अर्थात् प्रमत्तयोगात् इस सूत्रमें जो योग शब्द है उसका अर्थ संबंध है । उसका अर्थ होता है प्रमादके संबंधसे अथवा प्रमत्तके संबंधसे । यहांपर प्रश्न होता है कि यदि योग शब्दका संबंध अर्थ यहांपर किया जाता है तो प्रमत्त शब्दका भाव प्रधान निर्देश करना चाहिये । जैसे—प्रमत्तत्वके योगसे । यदि द्रव्य प्रधान ही प्रमत्त शब्द रक्खा जाता है तो योग शब्द का संबंध अर्थ फिर घटित नहीं होता ? अर्थात् इसप्रश्नका स्पष्टार्थ यह है कि प्रमत्त शब्दका अर्थ होता है कि प्रमादरूप भावोंके संबंधयुक्त । जब प्रमत्त शब्दका ही अर्थ प्रमादभावों सहित व्यक्ति पडता है तब प्रमत्तके साथ फिर योग शब्द जोडनसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? कुछ नहीं होगा, इसलिये यदि योग शब्दका यहां संबंध अर्थ किया जाता है तो प्रमत्त शब्दको द्रव्य प्रधान न रखकर भावप्रधान रखना ठीक है जिससे प्रमत्तत्वका अर्थ प्रमाद परिणाम होगा फिर योगशब्द जोडनेसे प्रमादरूप परिणामके संबंधसे यह अर्थ होगा । विना प्रमत्त शब्दको भावप्रधान किये योग शब्दका संयोग व्यर्थ पडता है ? इसके उत्तरमें ग्रंथकार कहते हैं कि यह दोष यहां लागू नहीं होता, कारण ?—प्रमत्त शब्द ही यहांपर भाव अर्थका द्योतक है । प्रमत्त शब्दका अर्थ प्रमाद परिणाम सहित पुरुषका यहां नहीं है किंतु प्रमाद सहित आत्माका परिणाम ही कर्ता रूपसे कहाजाता है अर्थात् जो आत्माका परिणाम प्रमाद करनेवाला है अथवा प्रमाद सहित है वह प्रमत्त कहलाता है उस प्रमाद सहित परिणामके संबंधसे जो प्राणोंका व्यपरोपण—घात किया जाता है वह हिंसा कहलाती है । यह अर्थ सुघटित होजाता है । इसलिये सूत्रमें जो प्रमत्त पद है और योग शब्दका संबंध अर्थ है वे दोनों ही ठीक हैं ।

अर्थात् स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, राजकथा ये चार कथायें, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषायें स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय ये पंद्रह प्रकारका प्रमाद कहाजाता है।

विना दिये ग्रहण करना अदत्तादान है। कर्म न तो लिया जा सकता है और न दिया जा सकता है। उसका ग्रहण अदत्तादान पदसे नहीं किया जा सकता।

शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्यदत्तादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न अप्रमत्तत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि मुनि महाराजके भी शब्द आदि विषयोंका और गली द्वार आदिका विना दिये ही ग्रहण करनेसे चोरीका दोष आता है? अर्थात् जिस समय मुनिमहाराज वस्तीमें आहारके लिये जाते हैं उस समय मार्गमें गली कूचेमें, मनुष्योंके दरवाजोंमें विना बुलाये या गृहस्वामीकी विना आज्ञा प्राप्त किये ही प्रवेश करते हैं। इसीप्रकार विना दिये ही शब्द वायु आदिको ग्रहण करते हैं ऐसी अवस्थामें उन मुनियोंको भी चोरीका दोष आता है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि वहां प्रमाद नहीं है। जहां प्रमादपूर्वक किसी वस्तुका ग्रहण किया जाता है वहां चोरीका दूषण आता है परंतु जहां ग्रहण करनेवालेके परिणामोंका यत्किंचित् भी प्रमाद राग द्वेष नहीं हैं वहां उस चोरीका दूषण नहीं लगता। मुनि महराजके रागद्वेषरूप प्रमाद नहीं है साथ ही वे यत्नपूर्वक विचारपूर्वक शास्त्रविहित मार्गकी आज्ञाके अनुसार ही शब्दादिका और गली दरवाजे आदिका ग्रहण करते हैं इस लिये उन वीतरागी मुनियोंके चोरीका लेशमात्र भी दूषण नहीं लगता। भावार्थ—शास्त्रमें मुनिकेलिये आज्ञा है कि-वे राजमार्गसे जा सक्ते हैं आहारकेलिये गलियोंमें और मनुष्योंके दरवाजोंमें भी जा सकते हैं जहांतक कि सर्व साधारण मनुष्य प्रवेश कर सकते हैं। परंतु जहांपर सर्वसाधारणका प्रवेश नहीं है उस स्थानमें मुनिमहाराज भी प्रवेश नहीं करते। घरोंमें भी वहींतक प्रवेश करते हैं जहांतक हरकोई विना पूंछे प्रवेश कर सकता है। इसलिये जिन गली दरवाजे आदिमें मुनियोंका प्रवेश होनेसे उन्हें चोरीका दूषण शंकाकारने बताया है वह अयुक्त है क्योंकि वे गली दरवाजे आदि सामान्यरूपसे छोडे हुए हैं अर्थात् वहां हरकोई जा सकता है आज्ञा लेनेकी अवाश्यकता नहीं है इसलिये वे एक प्रकारसे दत्त ही हैं

अर्थ—शंकाकार कहता है कि आत्मा प्राणोंसे भिन्न वस्तु है इसलिये प्राणोंका वियोग होनेपर भी आत्माका कुछ भी विगाड नहीं होता है अतः जीवकी हिंसासे जो अधर्म माना जाता है उसका अभाव सिद्ध होता है अर्थात् जब गुणोंकी आत्मासे भिन्नता है तो गुणोंके नाशमें आत्माका कुछ घात होगा नहीं, वैसी अवस्थामें यह जो लोकमें हिंसासे अधर्म समझा जाता है वह व्यर्थ ठहरता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि—यह शंका ठीक नहीं है कारण ?—प्राण यद्यपि भिन्न हैं फिर भी उनका जीवसे संबंध होनेसे वे जीवके लिये दुःखोत्पत्तिके कारण हैं जब प्राणोंका वियोग होता है तब उनसे संबंध रखनेवाले आत्माको कष्ट होता है इसलिये किसीके प्राणोंको घात करनेवाले पुरुषको अवश्य ही हिंसाका दोष लगता है क्योंकि प्राणोंके घातसे उसके आत्माको दुःख होता है किसीको दुःख पहुंचाना, कष्ट देना ही हिंसा है इसलिये प्रणघातसे अधर्मकी सिद्धि न्याय-सिद्ध है। फिर शंका—

शरीरिणोऽन्यत्वाद्दुःखाभाव इति चेन्न पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह जीवात्मा प्राणोंसे अन्य पदार्थ है, इसलिये प्राणोंके घात होनेसे इसके दुःखका होना अशक्य है। जब प्राण जीवसे भिन्न हैं तो उनके वियोगमें जीव क्यों दुःखी होगा? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि पुत्र कलत्र आदिके वियोग होनेपर इस जीवको संताप होता है यह वात देखी जाती है। जब पुत्र स्त्री आदि जीवसे सर्वथा जुदे हैं फिर भी उनके वियोगमें इसे अपार दुःख होता है, तब जीवसे घनिष्ट संबंध रखनेवाले प्राणोंके वियोगमें इस जीवको कितना दुःख होगा यह वात सहज ही समझमें आजाती है तथा और भी यह बात है—

बंध प्रत्येकत्वाच्च ॥ १० ॥

अर्थ— यद्यपि शरीर और शरीरीमें (प्राण और जीवमें) भिन्न भिन्न लक्षण होनेसे परस्पर भेद है वे दोनों जुदे जुदे हैं तो भी बंध होनेसे दोनोंमें एकपना है इसलिये प्राणोंके वियोग होनेपर आत्माको

अर्थ—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्रसे प्रमत्तयोग इसपदका गृहण आता है। अर्थात् प्रमाद परिणामोंसे जो कार्य किया जाता है उसीमें हिंसा झूठ चोरी आदि दूषण आते हैं। यह प्रमादका गृहण हिंसाके लक्षणमें कहा गया है परंतु प्रकरणवश उसकी अनुवृत्ति झूठ चोरी आदि पापोंके लक्षणोंमें भी आती है इसलिये जहां प्रमादयोगपूर्वक किसी वस्तुका गृहण किया जाता है वहां चोरीका दूषण आता है परंतु जहां कुछ भी प्रमाद नहीं है वहां चोरीका दूषण भी नहीं आसकता। जिस समय यह जीव मन वचन काय, तीनों योगोंसे वंदना स्तवन आदि शुभ क्रियायोंमें लगा हुआ है उससमय उसके प्रमादभाव नहीं है। इसलिये उन क्रियायों द्वारा धर्मका गृहण होने पर भी इस जीवके चोरीका दूषण नहीं आता है। दूसरी रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि जिस जीवके प्रमाद योग है उसके परकीय द्रव्यका गृहण हो अथवा नहीं हो तो भी मन वचन कायसे परद्रव्यके अपहरण करनेके परिणाम होनेसे चोरीका अवश्य दूषण आता है। अर्थात् वाह्यवस्तुका गृहण हो या नहीं हो परंतु परिणामोंमें परद्रव्य लेनेका जो भाव है वही दोषाधायक है क्योंकि दूसरेके द्रव्यके लेनेका जो परिणाम है वह उस प्राणोंको पीडा देनेका कारण है इसलिये वह पापआस्रव है अर्थात् जहां प्राणपीडाका हेतु है वहीं पापास्रव है। अब यहां गृंथकार कहते हैं कि हिंसा झूठ और चोरी इन तीनोंका लक्षण तो कह दिया गया परंतु कुशीलका क्या लक्षण है, यह बात नहीं कही गई है इसलिये उसीका लक्षण नीचे प्रगट किया जाता है—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थात् कामसेवनको मैथुन कहते हैं, मैथुन शब्दका अर्थ क्या है? इसके लिये गृंथकार कहते हैं कि जो मिथुनका भाव है उसे मैथुन कहते हैं, अर्थात् रागपरिणामोंसे स्त्री पुरुष दोनोंके परस्पर स्पर्श करनेकी इच्छाको मिथुन कहते हैं, उस मिथुनका जो भाव है उसे मैथुन कहते हैं अर्थात् रागपूर्वक स्त्री पुरुषका परस्पर जो कामसेवन रूप संबंध है उसे मैथुन अथवा अब्रह्म कहते हैं।

भी अभाव होता तो हिंसाका लक्षण नहीं बनता। जिससमय प्रमादका योग नहीं है केवल प्राणव्यपरोपण ही है उससमय हिंसा नहीं कही जासकती। यही बात दूसरे ग्रंथोंमें इसप्रकार कही गई है कि 'वियोजयति चासुभिर्नच वधेन संयुज्यते' अर्थात् प्राणोंसे जीवको भिन्न तो करता है परंतु मारनेके पापका भागीदार नहीं बनता है, इसी वातको पुष्ट करनेके लिये दूसरे शास्त्रका प्रमाण यह है–

उच्चालदम्मि पादे इरियासमिदस्सणिग्गमट्ठाणे। आयादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥

णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोपि देसिदो समये। मुच्छा परिग्गहो त्ति य अज्झप्प पमाणदो भणिदो ॥

अर्थ–मुनि महाराज ईर्यासमिति पूर्वक–जीवोंका सावधानीसे निरीक्षण करते हुये गमन करते हैं, गमन करते हुये मुनिके ध्यानपूर्वक देखनेपर भी यदि कोई जीव पापकर्मके तीव्रोदयसे उनके चरणोंके नीचे आकर मरजाय तो मुनिमहाराजको उस जीवकी मृत्युके संबंधसे सूक्ष्म भी (थोडा भी) पापबंध शास्त्रोंमें नहीं कहा गया है क्योंकि अध्यात्मशास्त्रोंके प्रमाणसे मूर्छाको ही परिग्रह बताया गया है अर्थात् मुनिके थोडा भी प्रमाद नहीं है इसलिये उनके सावधानीसे जीवोंको देख देखकर चलनेपर भी दैवयोगसे यदि कोई जीव अपने पापोदयसे उनके पादके नीचे आकर मर भी जाय तो उस जीवकी हिंसा होनेपर भी मुनिको पापबंध अथवा हिंसाका दोष किंचित्मात्र भी नहीं लगता यह बात शास्त्रोंमें भलीभांति सिद्ध की गई है कारण कि जैनसिद्धांतकारोंने मूर्छाको ही परिग्रह कहा है अर्थात् जहां ममत्वभाव है वहीं परिग्रह है, जहां प्रमादयोग है वहीं हिंसा है जहां प्रमोद योग नहीं है जीवको कष्ट पहुंचानेका रंचमात्र भी भाव नहीं है किंतु उसकी रक्षाका पूर्ण प्रयत्न है वहां निमित्तवश जीव बध होने पर भी हिंसाका दोष नहीं लगता है इसलिये यदि हिंसाके लक्षणमेंसे प्रमत्तयोगपद निकाल दिया जाय तो केवल प्राणव्यपरोपण हिंसा ठहरेगी, जो अभीष्ट नहीं है। दूसरी शंका–आगममें तो जहां प्राणोंका तो घात नहीं होता केवल प्रमत्तयोग है वहां भी हिंसा बतलाई गई है जैसा कि कहा है—

द्वारा किया गया मिलकर भार ग्रहण आदि ही मैथुन कहेंगे तो अनिष्ट प्रसंग होगा उससे प्रकृत अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिये यहांपर स्त्री पुरुष इन दोके युगलको मिथुन कहना चाहिये और उन दोनोंका जो परिणाम उसे मैथुन कहना चाहिये अर्थात् स्त्री पुरुषके संबंधसे होनेवाली क्रियाका नाम ही मैथुन कहना चाहिये, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर भोजन बनाने आदि क्रियाओंमें भी मैथुन शब्दका व्यवहार होने लगेगा। जहांपर स्त्री पुरुष मिलकर रसोई बनाते हैं वहांपर भी मैथुन कहा जायगा क्योंकि वह स्त्री पुरुष दोनोंकी क्रियाका परिणाम है ऐसी अवस्थामें स्त्री और दीक्षित पुरुष इन दोनोंमें जहां नमस्कार आदि क्रिया की जाती है वहां भी मैथुन कहा जायगा इसलिये मैथुन शब्दका ठीक ठीक क्या अर्थ है यह समझमें नहीं आया ? इन समस्त शंकाओंका समाधान नीचेकी वार्तिकसे करते हैं—

स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे रागपरिणामो मैथुनं ॥ ४ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होनेपर स्त्री पुरुष दोनोंका जो परस्पर शरीरसंबंध होते हुये आनंदविशेषकी इच्छासे जायमान रागरूप परिणाम है वही रागभाव मैथुनशब्दसे व्यवहृत होता है। यदि यहांपर कहा जाय कि यह मैथुन शब्दका व्युत्पत्तिजनित अर्थ तो नहीं है तो इसके समाधानमें ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात ठीक है कि यह मैथुन शब्दका व्युत्पत्तिजनितमात्र अर्थ नहीं है तो भी शब्दोंके वाच्यार्थोंकी लोकमें तथा शास्त्रमें जैसी प्रसिद्धि है उसी प्रसिद्धिके आधारपर शब्दोंके अर्थका निश्चय किया जाता है, इसप्रकार जहां जैसा उपयुक्त अर्थ होता है वहां वैसा इष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है। भावार्थ—शब्दोंके अर्थ तीनप्रकारसे ग्रहण किये जाते हैं कोई शब्द तो व्युत्पत्तिद्वारा ही अपने वाच्यार्थका बोध कराते हैं जैसे—जिन, जो कर्मोंको जीतनेवाला है उसीको जिन कहते हैं यह अर्थ "जयतीति जिनः" जिन शब्दकी व्युत्पत्तिसे ही सिद्ध होजाता है। कोई शब्द अपने वाच्यार्थको संज्ञा द्वारा प्रगट करता है, अर्थात् रूढिवश उस शब्दका वह अर्थ नियत है। जैसे ऐलक। ऐलक शब्दका अर्थ

जले जंतुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥

जलमें भी जीव हैं स्थलमें भी जीव हैं आकाशमें भी जीव हैं यह समस्त लोक जन्तुओंके समूहसे व्याप्त है ऐसी अवस्थामें मुनि अहिंसक कैसे बन सकते हैं ? अर्थात् जब सब जगह जीव भरे हुये हैं तब मुनि जीवरक्षा करनेमें असमर्थ है ? उनका यह उपालंभ मुनियोंके विषयमें नहीं घटित होता। कारण ?—उनके ज्ञान ध्यानमें तत्पर रहनेसे प्रमादयोग ही नहीं है। दूसरी वात यह भी है कि जीवोंके दो भेद माने गये हैं एक स्थूल जीव होते हैं एक सूक्ष्म जीव होते हैं उनमें जो सूक्ष्म जीव होते हैं वे तो दूसरोंके द्वारा पीडे ही नहीं जाते हैं क्योंकि घात स्थूलका ही किया जासकता है, जो जीव अत्यंत सूक्ष्म हैं उनका घात नहीं किया जासकता और जो प्राणी स्थूल हैं जिनका घात किया जासकता है उनकी रक्षाका मुनिगण पूर्णतया सावधानीपूर्वक ध्यान रखते हैं, फिर संयमी मुनियोंके हिंसाका दोष कैसे लग सकता है ? अर्थात् नहीं लगता। यहां कोई शंका करता है यह वात आपने (श्रीआचार्यने) अच्छी कही है कि प्राणव्यपरोपण ही हिंसा है। प्राणोंका परस्पर एकका दूसरे द्वारा घात होना ही जब हिंसा है तब प्राणी तो कोई है नहीं ऐसी अवस्थामें हिंसा कैसे सिद्ध होगी ? उत्तर—

प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात् ॥ १३ ॥

अर्थ—यदि प्राणी न माना जाय तो प्राण भी नहीं माने जा सकते, प्राणीके अभावमें प्राणोंका अभाव सुतरां सिद्ध है। क्यों ? उत्तर—कर्ताका अभाव होनेसे। पुण्य पापरूप कर्मके सद्भावमें ही प्राण सिद्ध होते हैं, वह कर्म विना कर्त्ताके हो नहीं सकता इसलिये जब प्राणीका अभाव स्वीकार किया जाता है तो प्राणोंका अभाव भी स्वीकार करना होगा और प्राणोंके सद्भावमें प्राणीका सद्भाव भी अवश्य नना होगा। प्राणोंके अस्तित्वसे प्राणीका अस्तित्व सुतरां सिद्ध हो जाता है। जैसे संडासी चीमटा

उपचारादिति चेन्न मुख्यफलाभावप्रसंगात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होनेपर वेदनासे पीडित स्त्री पुरुषका कर्म मैथुन कहा जाता है उसीप्रकार चारित्रमोहनीयके उदयसे जिसका रागपरिणाम अति तीव्र है ऐसा एक व्यक्ति भी जो हस्तविक्षेप पादविक्षेप या अन्य पुद्गलसंघट्टन करता है उसका वह कर्म भी उपचारसे मैथुन कहा जाता है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। ऐसा माननेसे मुख्यफलके अभावका प्रसंग आवेगा। मैथुनमें मुख्यफल कर्मका आस्रव है वह कर्मास्रवरूप मुख्यफल यहां एक पुरुष या एक स्त्रीके उपचारसे नहीं प्राप्त होता है। जिसप्रकार मुख्यताकर सिंहमें रहनेवाली जो क्रूरता और शूरता आदि है वह मार्जार-बिल्लीमें नहीं है, केवल उपचारमात्रसे सिंहकी समानता मार्जारको देदी जाती है इसलिये उपचारसे एक व्यक्तिमें मैथुन मानना ठीक नहीं है क्योंकि एक व्यक्तिमें भी मुख्यतासे मैथुन माना जाता है, वहां भी मुख्यतासे ही पापकर्मरूप आस्रव होता है। और भी

नवास्य स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभिधानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार स्त्री पुरुषके रतिसेवनमें संयोग होनेपर परस्पर स्पर्शजनित सुखका अनुभव होता है उसीप्रकार एकके भी हस्त पाद आदिका संघट्टन होनेसे रागादि परिणामकी उत्कटतासे स्पर्शजनित सुखका अनुभव होता है, रागादि परिणामोंकी तीव्रतासे स्पर्शजनित आनंदका अनुभव दोनों जगह समान है इसलिये एक पुरुष अथवा एक स्त्रीके लिये भी मैथुन शब्दका प्रयोग मुख्यतासे ही कहा जाता है क्योंकि राग द्वेष मोहकी तीव्रता वहां भी है ही है और दोनों स्थलोंमें मैथुनक्रियाका अभिमान समान है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि एक पुरुषके रागादिकी तीव्रता होनेसे उपचारसे मैथुनकर्म है। और भी कहते हैं—

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः ॥ ८ ॥

कि रूप वेदना आदि संस्कारोंका विनाश उत्पत्तिके अनंतर क्षणमें ही हो जाता है ऐसा बौद्धोंका मत है ऐसी दशामें जो विनाश होता है वह अहेतुक ठहरता है क्योंकि स्वभावसे ही उत्पत्तिके पश्चात् क्षणमें विनाश हो जाता है उसमें किसी कारणकी आवश्यकता नहीं पडती। जब विनाश अहेतुक है तब प्राणातिपात हिंसारूप जो विनाश है वह भी अहेतुक होगा फिर हिंसा करनेवाला हिंसक हिंसाका हेतु नहीं सिद्ध होगा। हिंसाका हेतु न होनेसे हिंसा करनेवाला हिंसाके फलका भागीदार भी नहीं ठहरता। यदि विना हेतुके भी हिंसाके फलका भोक्ता माना जायगा तो संसारमें कोई अहिंसक नहीं ठहरेगा। क्योंकि जब हिंसामें कारण नहीं पडने पर भी हिंसाके फलका भोक्ता सिद्ध किया जाता है तब सभी पुरुष हिंसक सिद्ध होंगे ऐसी अवस्थामें कोई भी अहिंसक नहीं रहेगा। यदि कहाजाय कि भिन्न संतानकी उत्पत्तिको ही हिंसकमें हेतु मानकर हिंसककी सिद्धि हो जायगी सो कहना भी ठीक नहीं है, असत्को उत्पत्तिका हेतुपना ही नहीं बन सकता। अर्थात् जब बौद्धके यहां सभी पदार्थ क्षणिक हैं तब उनके नाशमें भिन्न संतानकी उत्पत्ति किसप्रकार हो सकती है, फिर उस भिन्न संतानको उत्पत्तिका हेतु मानकर हिंसककी सिद्धि करना अयुक्त है, यदि असत्को ही उत्पत्तिका हेतु माना जायगा तो सत् पदार्थके विनाशमें भी हेतु मानना पडेगा उसमें फिर विरोध खडा करना व्यर्थ है परंतु बौद्ध मतवाले विनाशमें कोई हेतु न मानकर उसे निर्हेतुक मानते हैं। परंतु जब उनके मतसे उत्पत्तिका हेतु है तब विनाशका भी होना ही चाहिये। इसमें विरोध नहीं बताया जासक्ता। प्रश्न—हिंसाका लक्षण कहा गया, इसके अनंतर क्रमसे कहने योग्य झूठ है, उसका क्या लक्षण है? इसीकेलिये आचार्यमहाराज सूत्र कहते हैं—

असदभिधानमनृतं ॥ १४ ॥

अर्थ—असत् वचनका कहना झूठ कहलाता है। जो वचन दूसरेको आघात करनेवाले हों, प्राण पीडनेवाले हों एवं मिथ्या बात कहनेवाले हों वे सब असत्य कहे जाते हैं। यहांपर भी प्रमाद योगका

और कोदड्र चनामें अभ्यंतर यह शक्ति नहीं है कि उनको अग्नि पर पचन करनेसे उनका पाक होसकै अर्थात् कोदड्र मूंग और कोदड्र चना मटरको कितना ही अग्निपर पाक करते रहो परंतु उनमें भीतर पकनेकी—सीजनेकी शक्ति नहीं होनेसे वे कभी भी नहीं सीजते। उनके परमाणुओंकी शक्ति इतनी कठोर है कि वह कभी नरम नहीं होसकती, जब उनकी अभ्यंतरशक्ति इसप्रकार है तो वाह्यसाधन जो जल अग्नि हैं वे भी कुछ नहीं करसकते। कितना ही जल अग्निका संबंध क्यों न किया जाय उनका पाक नहीं होसकता। उसीप्रकार जहां अभ्यंतर परिणाम—चारित्रमोहनीय कर्मके उदयजनित स्त्रीमें पुरुषके साथ भोग करनेकी आकांक्षा और पुरुषमें स्त्रीके साथ भोग करनेकी आकांक्षारूप रति-परिणाम नहीं है वहां दो द्रव्य वाह्यरूपसे मिले भी रहो तो कुछ फलवत्ता नहीं है। जहां इसप्रकार अभ्यं-तर परिणामरहित वाह्यमात्र दो द्रव्योंका संयोग है वहां मैथुनकर्मका व्यवहार नहीं कहाजाता है। तथा दूसरी बात यह भी कही गई थी कि—दोका—युगलका जो कर्म है अर्थात् दोनोंकी जो क्रिया है वही मैथुन है यदि ऐसा अर्थ किया जायगा तो दोपुरुषों द्वारा मिलकर वोझको लेजाना आदिक जो क्रिया की जाती है वहां भी मैथुनशब्दका व्यवहार होगा। आचार्य कहते हैं कि यह भी व्यर्थ है क्योंकि जहां चारित्रमोहनीयका उदयरूप अंतरग परिणाम विशेष है वहींपर मैथुनका प्रयोग होसकता है सर्वत्र नहीं और इसीलिये कभी कभी दोपुरुषोंमें भी मैथुनकर्म पाया जाता है, जिनके चारित्रमोहनीय कर्मोदयज-नित रति परिणाम है उन पुरुषोंके भी मैथुनकर्म देखा जाता है, जैसा कि कहा है—

पुरुषाः पुरुषेष्वेव यदनिष्टप्रयोजनाः। अत्यारूढस्य तत्सर्वं रागस्यैव विचेष्टितं॥

अर्थात्—अनिष्ट खोटे प्रयोजनवाले पुरुष पुरुषोंमें ही मैथुनकर्म करते हैं, ऐसा आचरण वही पुरुष करता है जो रागकी तीव्रतासे विशिष्ट है क्योंकि यह सब रागभावका ही विपरिणाम है वही सब कुछ कुचे-ष्टायें कराता है। तथा तीसरी बात जो यह कही गई है कि—स्त्री पुरुषका जो कर्म वह यदि मैथुन माना

होता है। इसीप्रकार यहां भी जो सत् वचन नहीं है किंतु असत् वचन है ऐसा प्रसज्यरूप नञ् समासका अर्थ घटित होता है।

अभिधानशब्दः करणादिसाधनः ॥ ३ ॥

अर्थ— सूत्रमें जो अभिधान शब्द है वह करण साधन भी है, भाव आदि साधन भी है जिसके द्वारा कहाजाय वह भी अभिधान कहा जाता है और जो कहना है वह भी अभिधान कहाजाता है। असत् बातका जो कहना वह असत्का अभिधान अप्रशस्त वचन कहा जाता है।

ऋतं सत्यार्थं ॥ ४ ॥

अर्थ—अनृतं इसमें जो ऋत शब्द है वह सत्य अर्थमें आता है। समीचीन-श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो साधु वचन बोला जाता है वह सत्य कहाजाता है और जो ऋत वचन नहीं है वह अनृत वचन-असत्य वचन कहाजाता है क्योंकि वैसा वचन प्रतीतिका उत्पादक नहीं होता।

मिथ्यानृतमित्यस्तु लघुत्वात् इति चेन्न विपरीतार्थमात्रसंप्रत्यय प्रसंगात् ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि "असदभिधानमनृतं" इस सूत्रके स्थानमें यदि मिथ्यानृतं इतना ही सूत्र बनाया जाय तो ठीक है कारण?—यही लघु पडता है। क्योंकि सूत्र वही ठीक होता है जो लघु होकर अर्थका जाननेवाला हो। आचार्य कहते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है—कारण? मिथ्याशब्द विपरीत अर्थका जनानेवाला है, उसका अर्थ सत्य बातके छिपानेमें और असत्य बातके प्रगट करनेमें ही घटित होता है इसलिये इतने ही अर्थको कहनेवाला वचन अनृत सिद्ध होगा जैसे—आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है शामाकतंदुल मात्र आत्मा है अर्थात् समाके चावल बराबर आत्मा है, अथवा अंगूठेके पर्व समान आत्मा है, वह सर्वगत है—व्यापक है और निष्क्रिय है इसप्रकार मिथ्यावादी चार्वाक आदि जो विद्यमान पदार्थका लोप करते हैं अथवा जो वैशेषिक आदि अविद्यमान पदार्थका उद्भावन करते

इसलिये शीलव्रत ही ब्रह्म कहलाता है। जो ब्रह्म नहीं है वह अब्रह्म कहाजाता है, वह अब्रह्म क्या है? वह मैथुन है। अर्थात् शीलव्रतसे विरुद्ध जो कुशीलसेवनरूप आत्माका विभाव परिणाम है वह अब्रह्म मैथुन कहलाता है। उस मैथुनमें हिंसा झूठ आदि दोष पुष्ट होते हैं, जो कुशीलसेवनमें—मैथुनकर्ममें निपुण है वह अनेक स्थावर और त्रस जीवोंका घात करता है, झूठ बोलता है, विना दिये हुये द्रव्यका अपहरण करता है, तथा सचित्त और अचित्त परिग्रहका संचय करता है। ये सब दोष एक मैथुनकर्मसे होते हैं। यहांपर कोई शिष्य आचार्य महाराजसे प्रश्न करता है कि महाराज! आपने हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील इन चारोंका विशेष लक्षण तो कह दिया, परंतु परिग्रहका लक्षण नहीं कहा सो अब परिग्रहका लक्षण क्या है यह बताइये? इसका उत्तर देनेकेलिये आचार्य सूत्र कहते हैं—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७॥

अर्थात् ममत्व परिणामका नाम ही मूर्च्छा है वही परिग्रह कहाजाता है। यदि मूर्च्छाका नाम परिग्रह है तो मूर्च्छा क्या है? अर्थात् मूर्च्छाका लक्षण क्या है यह वात नीचेकी वार्तिकसे स्पष्ट करते हैं—

वाह्याभ्यंतरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतर्मूर्च्छा ॥ १ ॥

अर्थ—वाह्य जो गौ भैंस मणि मुक्ता आदि चेतन और अचेतन परिग्रह है, तथा अभ्यंतर जो राग द्वेष मोह काम क्रोध रति अरति आदि परिग्रह हैं, इनका रक्षण करना उपार्जन करना सुधरवाना आदि सम्हाल करना इत्यादि लक्षण जो व्यापार है वही मूर्च्छा है अर्थात वाह्य परिग्रह और अंतरंग परिग्रहमें जो ममत्व परिणाम है वही मूर्च्छा है।

वातापित्तश्लेष्मविकारप्रसंगः इति चेन्न विशेषत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—वात पित्त और कफ इन तीनोंमेंसे किसी एकका प्रकोप होनेसे जो विकार पैदा होता है वह मूर्च्छा कही जाती है अर्थात् शंकाकारका कहना है कि ग्रंथकारने मूर्च्छाका लक्षण ममत्व परिणाम

न दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः ॥ २ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका कीगई है वह ठीक नहीं है, कारण ?—जिन मणि, मोती, सोना, चांदी, रुपया पैसा आदिमें देने लेनेकी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी संभावना है, उन्हींके विषयमें चोरीका दूषण लागू होता है। जो वस्तु किसीके द्वारा न तो दी जासकती और न लीजासकती, किंतु अति सूक्ष्म होनेके कारण विना दिये लिये सुतरां अपने कारणवश ग्रहणरूपमें आजाती है वहां चोरीका दूषण नहीं लगता इसलिये कर्मग्रहणमें चोरीका दूषण नहीं लगता।

इच्छामात्रमिति चेन्न अदत्तादानग्रहणात् ॥ ३ ॥

अर्थ—फिर शंका होती है कि जिसका दिया जाना एवं लिया जाना संभव हो उसीका विना दिये ग्रहण करना चोरीमें शामिल है यह बात इच्छामात्र है, अर्थात् केवल कथनमात्र है। भावार्थ—विना उसप्रकारका सूचक कोई पद प्रयोग किये केवल दानादान संभवरूप अर्थकी कल्पना कर लेना इच्छामात्र है, अपने मनकी कल्पना मात्र है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण ?—सूत्रमें अदत्तादान शब्दका ग्रहण है। जिस वस्तुका देना लेना संभव होता है उसीका ग्रहण चोरी है, यदि कर्मका ग्रहण करना भी चोरी समझाजाय तो फिर 'अदत्तादानं' यह विशेषण व्यर्थ सिद्ध होगा क्योंकि प्रसंगप्राप्त जो कर्म नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण है उसका निषेध तो अदत्तपदसे हो जायगा फिर भी अदत्तादानपद जो दिया गया है उससे सिद्ध होता है कि जो वस्तु दी जासकती है उसीका ग्रहण करना चोरी है, इस अर्थसे कर्म नोकर्म ग्रहण चोरीमें शामिल नहीं हो सकते।

कर्मापि हि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयते इति चेन्न हस्तादिकरणग्रहणाविसर्गासंभवात् सूक्ष्मत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां फिर शंका होती है कि कर्म किसीको नहीं दिया जाता, ऐसा अर्थ क्यों ग्रहण किया जाता है, क्योंकि लोकमें यह वात प्रसिद्ध है कि वागमें उपवनमें विहार आदिमें वृक्षोंका फल दूसरेकेलिये जल सींचने-

होती है कि यदि कर्म अपने परिणामोंसे ही बंध जाता है तो परिणाम तो इस जीवके सदैव रहते हैं इसलिये कर्मबंध भी सदैव ही होना चाहिये। इस दशामें कर्मबंधको नित्यपना आता है? उत्तर—यह दोष नहीं आता क्योंकि—

आस्रवनिरोधे सति संवृतत्वात् बंधाभावः ॥ ६ ॥

अर्थ—आस्रवका निरोध गुप्ति समिति आदि स्वरूप है अर्थात् गुप्ति समिति आदि द्वारा आस्रव रुक जाता है। यह बात आगे नवमें अध्यायमें कही जायगी। उस आस्रवके निरोध होनेपर रुक जानेपर संवर हो जाता है इसलिये फिर कर्मबंध नहीं होता। ऐसी अवस्थामें कर्मको नित्य बंधपना नहीं आता अर्थात् जबतक जिस कर्मका संवर नहीं होता तब तक वह कर्म बराबर बंधता चला जाता है, जिस समय उसका संवर हो जाता है उस समयसे फिर वह कर्म नहीं बंधता। जैसे मिथ्यात्वकर्म पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें बंधता रहता है क्योंकि वहां उसका उदय है। परंतु दूसरे आदि गुणस्थानोंमें उसका उदय नहीं होनेसे संवर होजाता है इसलिये दूसरे आदि गुणस्थानोंमें उस मिथ्यात्वकर्मका पुनः बंध नहीं होता। इसीप्रकार अनंतानुबंधी कषायका पहले और दूसरे गुणस्थानोंमें उदय होनेसे उनमें उसका बंध होता है परंतु तीसरे आदि गुणस्थानोंमें उसका अनुदय होनेसे संवर होजाता है इसलिये तीसरे आदि गुणस्थानोंमें फिर उसका बंध नहीं होता। इसी प्रकार अन्य समस्त कर्मोंकी व्यवस्था समझना चाहिये। इस प्रकार जहां पर जो वस्तु ली जा सके अथवा दी जा सके और जिसका लेना देनारूप व्यवहार लोकमें होता हो, एवं जिसका लेना देना इस लोकमें उपकार विशेषका साधक हो, इस प्रकार जहां लेने देनेकी प्रवृत्ति अथवा व्यवहार हो वहींपर दानका अभिप्राय समझा जाता है अर्थात् दानका व्यवहार वहींपर होता है जहांपर कोई वस्तु लोकमें किसीके द्वारा किसीको ली जा सके या दी जा सके और ऐसे ही स्थानमें अदत्तादान शब्दकी योजना होती है अर्थात् जो वस्तु ली जा सके और दी जासके उस वस्तुका

इसलिये मुनिमहाराज उन दरवाजोंके भीतर प्रवेश नहीं करते जिनके किवाड बंद हैं अथवा और किसी प्रकारका निषेध है।

वंदनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न उक्तत्वात् ॥ ८ ॥

अर्थ — फिर शंकाकार दूसरी शंका करता है कि वंदना क्रिया आदिके संबंधसे ही धर्मका संचय होता है इसलिये वहां प्रशस्त प्रशंसनीय चोरीका दूषण आता है ? अर्थात् यह संसारी जीव पूर्वबद्ध कर्मोंके भारको हलका करनेके लिये अथवा पुण्यबंध करनेकेलिये जिनेन्द्रकी वंदना करता है, उन्हें नमस्कार करता है, उनकी स्तुति भक्ति करता है पूजन आदि क्रिया करता है, उन्हीं समस्त क्रियाओंसे वह धर्मका उपार्जन करता है अर्थात् धर्मका ग्रहण वह वंदनादि क्रियाओंसे करता है। परंतु उस धर्मको उसे कोई दूसरा देता नहीं है। विना दिये ही वह उसे अपनी क्रियाओं द्वारा ग्रहण करलेता है इसलिये उसे चोरीका दूषण तो आता है परंतु इतना विशेष है कि जहां पाप प्रवृत्तिद्वारा वस्तुग्रहण होता है वहां निंद्य चोरीका दूषण आता है। यहांपर धर्मग्रहण है इसलिये प्रशस्त चोरीका दूषण आता है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि इसका समाधान भी पहले किया जाचुका है, यह बात पहले स्पष्ट रूपसे कह दी गई है कि जहां जिस वस्तुका देना और लेना संभव हो वहीं चोरीका दूषण आता है परंतु जहां दानादान की संभावना भी न हो वहां चोरीका दूषण नहीं आसकता। धर्मका ग्रहण भी अपने परिणामोंके अधीन है किसी दूसरे द्वारा वह दिया लिया नहीं जा सकता इसलिये जिसप्रकार कर्मग्रहण परिणामोंके अधीन होनेसे चोरीमें सामिल करनेयोग्य नहीं उसीप्रकार धर्मग्रहण भी परिणामाधीन होनेसे चोरीमें शामिल करनेयोग्य नहीं है ऐसी अवस्थामें उस चोरीके प्रशस्तादि भेदकरना भी निष्फल है। इसके सिवा धर्म ग्रहणमें चोरीका दूषण नहीं आता यह बात नीचेकी वार्तिकसे और भी स्पष्ट की जाती है—

प्रमत्ताधिकाराच्चान्यत्राऽप्रसंगः ॥ ९ ॥

भाव ही हैं। इसप्रकार ऊपर कहेगये "दुःखमेव वा" आदि सूत्रों द्वारा इन भावनाओंकी भावना-विचार करनेसे जिसका चित्त स्थिर होगया है और जो हिंसादिक पापोंको जीवके नाश अथवा अहितका कारण समझता है, अतएव जो हिंसादिपापोंसे सर्वथा विरक्त होचुका है, तथा सर्वसंसारसंबंधी जो क्रियासमूह है अर्थात् सांसारिक जितने भी कार्य हैं उन सवोंको दुःखोत्पादक समझकर इंद्रियसंबधी विषयोंके कुतूहलसे जो निरुत्सुक होचुका है अर्थात् सांसारिक दशाका दुःखमय अनुभवकर समस्त विषयोंके सेवन चाहनाको जो छोड चुका है और समस्त प्राणियोंमें मैत्री प्रमोद कारुण्य तथा माध्यस्थ्य भावोंकी उपयोगिता कर जो सब जीवोंके साथ वात्सल्य भाव धारण कर चुका है तथा जन्म मरण संबंधी दुखोंसे खिन्न है बुद्धि जिसकी और जिसने शरीरके स्वभावको अच्छी तरह पहचान लिया है तथा मोक्षप्राप्तिके लिये प्रयत्नशील है ऐसे जिस पुरुषके व्रत हैं वही शल्योंसे रहित होता हुआ व्रती कहलाता है। इसी वांतको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य कही जाती हैं शरीरमें दर्द करनेवाली चुभनेवाली वस्तुको शल्य कहते हैं, मायादिक भी शल्यके समान होनेसे शल्य कही जाती हैं, जैसे शल्य चुभती रहती है वैसे ये मायादिक भी जीवके परिणामोंमें चुभती रहती हैं, इसलिये इन तीन शल्योंसे जो रहित हो जाता है वही हिंसादिक पापोंका त्यागी व्रती कहलाता है

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यं ॥ १ ॥

अर्थ—अनेकप्रकार बंदनारूपी शलाकाओं (सलाइयों) के द्वारा जो जीवोंको मारै घात करै वह शल्य कहलाती है अर्थात् जिसके द्वारा जीवको नाना प्रकारके दुख हों वह शल्य कही जाती है।

आबाधकत्वादुपचारसिद्धिः ॥ २ ॥

मिथुनस्य भाव इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगात् ॥ १ ॥

अर्थ— यहांपर शंकाकार कहता है कि यदि मिथुनका भाव ही मैथुन कहाजाता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे दो द्रव्योंके संबंधमात्रका नाम भी फिर मैथुन ठहरेगा अर्थात् मिथुन दोका नाम है। दो वस्तुओंके मिलनेको मिथुन कहते हैं, यदि मिथुनका भाव ही मैथुन कहा जायगा तो जहां भी दो वस्तुओंका समागम होगा उसका परिणाम मैथुन कहा जायगा फिर तो जो स्त्री पुरुष विना रागके उदासीनरूपसे एक स्थानमें अथवा मिलकर बैठे हैं उनका कार्य अथवा धर्म भी मैथुन कहा जायगा अर्थात् यदि मैथुन शब्दका उपर्युक्त अर्थ ही किया जायगा तो जहां माता पुत्र मिलकर शयन करते हैं वहां भी मैथुन शब्दका प्रयोग होगा, परंतु प्रकृतमें तो मैथुन शब्दका अर्थ यह नहीं लिया जाता है? अथवा

मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसंगात् ॥ २ ॥

अर्थ—दूसरी शंका यह भी होती है कि यदि मिथुनका जो कर्म उसीका नाम मैथुन माना जायगा तो ऐसा मानना भी प्रकृतका साधक नहीं होगा कारण कि जहां दो पुरुषों द्वारा कोई कार्यविशेष संपादित किया जायगा तो वहां भी मैथुन कहनेका प्रसंग आवेगा अर्थात् यदि यही कहा जाय कि दो जनोंका जो कर्म है वह मैथुन है तो दो जनोंका कर्म तो वह भी कहलाता है जहां कि दो पुरुष मिलकर किसी कार्य-विशेषको कर रहे हैं जैसे—दो पुरुष मिलकर भारको उठारहे हैं या और कोई कार्य मिलकर कर रहे हैं तो वहां भी मैथुन शब्दका व्यवहार होगा परंतु प्रकृतमें वैसा अर्थ घटित नहीं होता। अथवा—

स्त्रीपुंसयोः कर्म इति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसंगात् ॥ ३ ॥

अर्थ—तीसरी शंका यह भी होती है कि यदि यह कहाजाय कि यहांपर सवप्रकारके मिथुनका ग्रहण नहीं करना चाहिये अर्थात् यदि दो वस्तुओंका संबंधजनित परिणाम ही मैथुन कहेंगे अथवा दो पुरुषों

वेगा जिसके पास छत्री होगी! दंडके संबंधसे दंडी कहावेगा परंतु दंडके संबंधसे छत्रीवाला नहीं कहा जासकता इसलिये व्रतोंके संबंधसे ही व्रती कहा जासकता है और शल्योंका अभाव होनेसे निःशल्य कहा जाता है किंतु शल्यरहित होनेसे व्रती नहीं कहा जासकता ? अथवा—

आनर्थक्यं वा (चा) अन्यतरेण गतार्थत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थ—अथवा यह भी आपत्ति है कि यदि व्रती होनेसे ही निःशल्य कहा जाता है तो फिर व्रती ही कहना चाहिये, निःशल्य कहना व्यर्थ है और यदि निःशल्य होनेसे ही व्रती होता है तो निःशल्य ही मात्र कहना चाहिये फिर व्रती कहना व्यर्थ है अर्थात् दोनोंमेंसे एक कहना ही उचित है दोनोंका यहां विशेषणविशेष्यभाव है, ऐसी अवस्थामें एकके ग्रहणसे दूसरेका गृहण सहस्रमें शत न्यायसे सुतरां हो जाता है। जिसप्रकार जिसके पास हजार रुपये हैं उसके पास सौ रुपयोंकी सत्ता सुतरां (अपने आप) सिद्ध है। इसीप्रकार जब व्रती होनेसे ही निःशल्य होजाता है तो जो व्रती है वह निःशल्य तो हो ही चुका इसलिये केवल व्रती कहने मात्रसे निःशल्यत्वका गृहण होजाता है फिर व्रती और निःशल्य इन दोनों पदोंका गृहण व्यर्थ है जैसे कोई हजाररुपये भी बतावै और सौ भी बतावै तो सौका कहना उसका व्यर्थ है क्योंकि कुल उसके पास हजार ही रुपये हैं उनमें सौ तो अपने आप गृहीत होचुके। अथवा जो निःशल्य होजाता है वह व्रती भी होजाता है तो फिर निःशल्य ही कहना पर्याप्त है, व्रती कहना व्यर्थ है क्योंकि निःशल्य होनेसे ही व्रती होचुका, व्रतीका ग्रहण उसीके अंतर्गत आचुका, फिर दोनों पदोंका गृहण व्यर्थ है ? भावार्थ–दोनोंमेंसे एकपदका गृहण व्यर्थ पडता है ?

विकल्पः इति चेन्न फलविशेषाभावात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् ऊपर कही गई शंकाका परिहार करनेके लिये यह कहा जाय कि यहांपर विकल्परूपसे दोनोंका ग्रहण किया जाता है, चाहे निःशल्य कहो चाहे व्रती कहो दोनों ही

जैनसिद्धांतके अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्टश्रावकका है परंतु यह अर्थ रूढिसे सिद्ध है, ऐलक शब्दकी व्युत्पत्तिसे ऐसा अर्थ सिद्ध नहीं होता। कोई शब्द अपने वाच्यार्थको व्युत्पत्ति और रूढि दोनोंसे प्रगट करता है। जैसे—साधु। साधु शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यह अर्थ सिद्ध होता है कि जो अपने आत्माकी सिद्धिमें लगा हुआ हो "आत्मानं साधयतीति साधुः" और रूढिसे भी साधु शब्दकी संज्ञा उसी अर्थमें नियत है कि जो अट्ठाईस मूलगुण और चौरासीलाख उत्तरगुणोंका धारक वीतराग नग्न दिगम्बर हो वह साधु कहलाता है जैनसिद्धांतानुसार साधुशब्दका यही अर्थ है। प्रकृतमें मैथुन शब्दका जो अर्थ किया गया है कि चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होनेपर स्त्री पुरुषकी, परस्पर शरीरसंबंध करते हुए जो स्पर्शनइंद्रियजनित सुख विशेषकी आकांक्षा है वही मैथुन है, यही लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध है इसलिये मैथुन शब्दका यह अर्थ भले ही व्युत्पत्तिमात्रसे सिद्ध नहीं होता हो फिर भी रूढिवश उक्त इष्ट अर्थ लोक तथा शास्त्रकी मर्यादावश ग्रहण किया जाता है।

न वैकस्मिन्नप्रसंगात् ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर यदि यह शंका की जाय कि मैथुन शब्दका अर्थ ऊपर किया गया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वैसा अर्थ लेनेपर एक पुरुषमें अथवा एक स्त्रीमें मैथुनका अर्थ नहीं घटेगा। अभी तक तो एक व्यक्ति भी उस अवस्थामें मैथुनसेवी कहाजाता है जब कि वह हस्त पाद एवं अन्य पुद्गलोंके संघट्टन आदि क्रियाओंसे कुशीलसेवनमें प्रवृत्त होता है अर्थात् आगममें उस एक व्यक्तिको भी मैथुनसेवी कहा है कि जो चारित्रमोहनीयके उदयवश रागोद्रेकसे हस्तविक्षेप पादविक्षेप अथवा अन्य पुद्गलसंघट्टन आदि क्रियायें करता है चाहे वह पुरुष अकेला हो चाहे स्त्री अकेली हो। परंतु ऊपरका अर्थ यदि मैथुन शब्दसे लिया जायगा तो वह अर्थ स्त्री पुरुष दोनों युगलमें ही सिद्ध होगा, प्रत्येक व्यक्तिकी क्रियामें नहीं घटेगा परंतु शास्त्रमें एकके लिये भी मैथुनका प्रयोग किया गया है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

नहीं होसकता किंतु शल्यका नाश होनेपर ही व्रतोंके संवंधसे-व्रती होता है यही यहांपर विवक्षा है। जिसप्रकार जिसके यहां वहुत दूध और वहुत घी होता है वही गौवाला कहलाता है परंतु जिसके यहां दूध घी तो होता नहीं केवल वहुत सी गौयें रहती हैं तो विना दूध देनेवाली कोरी गौओंसे वस्तवमें वह गौओंवाला नहीं कहा जाता। उसीप्रकार जिस पुरुषके शल्यें विद्यमान है वह व्रतोंके होते हुये भी व्रती नहीं कहाजाता। जो निःशल्य है वही वृती है। इस कथनसे ऊपर जो दोष दिया गया था कि दोनोंका ग्रहण क्यों किया गया एकसे ही काम चल जायगा सो दूर हो चुका और दोनोंका विधान सार्थक सिद्ध होचुका। अब यह शंका होती है कि यहांपर एक विशेषण प्रधान है और एक अप्रधान है ऐसी अवस्थामें ऊपर कही हुई वात कैसे घटित होती है? अर्थात् निःशल्य होनेसे वृती कहा जाता है यह वात कैसे सिद्ध होती है? इसका उत्तर इसप्रकार है—

प्रधानानुविधानात् अप्रधानस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई पुरुष तेजधारवाले फरसासे—कुठारसे वृक्षको काटता है, यदि यह वाक्य वोला जाय तो इस वाक्यमें तेजधार गुणसे विशिष्ट फरसा अप्रधानभूत है और वह वृक्षको काटनेवाले प्रधानभूत पुरुषके उपकारमें साधक है अर्थात् वृक्षको काटनेवाला पुरुष ही इस वाक्यमें प्रधान है और तीक्ष्ण गुणसहित जो फरसा है वह अप्रधान है फिर भी वह अप्रधान होनेपर भी प्रधानभूत जो वृक्षको काटनेवाला कर्ता पुरुष है उसका सहायक हो जाता है उसीप्रकार निःशल्यत्वगुणविशिष्ट वृत यहां पर अप्रधान है-गौणरूप है और वे निःशल्यत्वगुणसहित वृत अप्रधान होते हुये भी वृतसहित प्रधान-भूत पुरुषके विशेषण वन जाते हैं अर्थात् शल्यरहित वृतोंको धारण करनेवाला पुरुष ही प्रकृतमें प्रधान है और निःशल्यत्व गुणसहित व्रत अप्रधान हैं, परंतु वे उस प्रधान पुरुषके विशेषण हैं इसलिये विशेषण विशेष्य संवंध होनेसे 'निःशल्यो वृती' यह सूत्र यथार्थ है यह वात सिद्ध होजाती है क्योंकि

अर्थ—जिसप्रकार किसी एक पुरुषको भी पिशाचके वशवर्ती होनेपर दूसरेसे सहित समझा जाता है उसीप्रकार एक पुरुषके भी चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे प्रगट हुआ जो कामरूपी पिशाच है उसके वशवर्ती होनेसे द्वितीयसहितकी सिद्धि हो जाती है अर्थात् जैसे किसी पुरुषको भूत लगजाय तो लोकमें कहाजाता है कि अमुक पुरुषको भूत लगा है उसीप्रकार जिस पुरुषके चारित्रमोहनीय कर्मका तीव्रोदय है उसके कामरूपी पिशाच लगजाता है, जैसे भूतके लगनेसे एक पुरुष भी दूसरेसे सहित समझा जाता है उसीप्रकार कामरूपी पिशाचके लगनेसे एक पुरुष भी दूसरेसे सहित समझा जाता है इसलिये मैथुनशब्दका व्यवहार एक पुरुषमें भी मुख्यतासे सिद्ध हो जाता है।

प्रसिद्धिवशाच्चाऽर्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चानवद्यत्वं ॥ ६ ॥

अर्थ—यह मैथुन शब्द लोकमें और शास्त्रमें स्त्रीपुरुष दोनोंके संयोगसे जो स्पर्शजनित कामसुख होता है वहींपर व्यवहृत होता है यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। लोकमें गोपालक—ग्वाला लोग भी स्त्री पुरुषके संयोगजनित रतिकर्मको मैथुनकर्म कहते हैं और शास्त्रमें भी अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायां (जैनेंद्रव्याकरण) इत्यादि सूत्रों द्वारा रतिकर्मको ही मैथुन कहा गया है इसलिये लोक और शास्त्रमें मैथुन शब्दका व्यवहार प्रसिद्ध है उसी प्रसिद्धिके कारण ऊपर कहे गये अर्थविशेषकी प्रतीति होजाती है। इसीलिये पूर्व जो मैथुन शब्दका लक्षण कियागया है वही निर्दोष है और पूर्वमें जो मैथुन शब्दके विग्रहजनित अर्थ किये गये हैं उन सब पक्षोंकी अपेक्षासे भी अर्थात् उन सब पक्षोंपर विचार करनेसे भी ऊपर कहाहुआ ही मैथुनशब्दका लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है उसी बातको यहां स्पष्ट करते हैं। जेसे—पहले यह कहा गया था कि मिथुनका जो भाव वह मैथुन कहा जाता है यदि ऐसा विग्रहकर मैथुन शब्दका अर्थ किया जायगा तो दो द्रव्योंका संयोगजनित पर्यायमात्रका प्रसंग होगा। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना अयुक्त हैं, क्योंकि जहां अभ्यंतर परिणाम नहीं है वहां वाह्यकारण निष्फल है। जिसप्रकार कोदइ मूंग

अर्थ-प्रतिश्रय नाम आश्रयका है, जो आश्रय चाहनेवाले पुरुषों द्वारा अंगीकार किया जाय उसे अगार कहते हैं अर्थात् अगार नाम घरका है क्योंकि उसमें आश्रय चाहनेवाले अथवा निवास चाहनेवाले पुरुष आकर ठहरते हैं इसलिये अगार घरको कहते हैं, यह अगार शब्दकी व्युत्पत्तिसे अर्थ सिद्ध होता है। जिसके अगार हो घर हो, वह अगारी कहलाता है अर्थात् घरमें निवास करनेवाले गृहस्थको अगारी कहते हैं और जिसके अगार नहीं है वह अनगार कहलाता है अर्थात् घरका परित्याग कर वनमें रहनेवाले वीतराग साधु अनगार कहलाते हैं।

अनियमप्रसंग इति चेन्न भावागारस्य विवक्षितत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—यहां यह प्रश्न होता है कि यदि जिसके घर है उसीको अगारी कहा जायगा तो जो मुनिजनशून्य घरमें खडहर आदिमें ध्यान करते हैं अथवा जो देवमंदिर आदिमें निवास करते हैं उनके भी अगारीपना सिद्ध होगा और जिस पुरुषकी विषयवासना तो शांत नहीं हुई है किंतु किसी कारण विशेषसे—घरवालोंसे रुष्ट होकर आदि किसी भी कारणसे घर छोडकर जिसने वनमें निवासस्थान बना लिया है, उसके अनगारपना भी सिद्ध होगा अर्थात् अगारी और अनगारका जो लक्षण ऊपर किया गया है उस लक्षणके करनेसे जो मुनि हैं वे तो अगारी ठहरते हैं और जो विषयसेवी संसारमोही पुरुष हैं वे अनगार ठहरते हैं इसलिये इस लक्षणसे अनियमप्रसंग होता है अर्थात् यथार्थ अभिप्राय सिद्ध नहीं होता, किंतु विपरीतभावकी सिद्धि हो जाती है। इस शंकाका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहांपर अगार शब्दसे भावागारकी विवक्षा ली जाती है अर्थात् अगारसे प्रयोजन यहां मिट्टीके घरसे नहीं है यदि ईंट चूनेके बनेहुए घर मात्रसे ही प्रयोजन हो तो जब मुनीश्वर आहारको श्रावकके घर जाते हैं उस समय भी वे अगारी कहे जा सकते हैं, किंतु यहां अगारसे प्रयोजन यह है कि जिसका भाव घरमें लगा हुआ है जो चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होनेसे घरके संबंधसे

जायगा तो जहां स्त्री पुरुष दोनों मिलकर रसोई बनाना आदि कार्य करते हैं वहां भी मैथुनशब्दका व्यवहार होगा, आचार्य कहते हैं यह भी अयुक्त है—क्योंकि यहांपर जो स्त्री पुरुषका कर्म मैथुन बताया गया है वह उन्हीं दोनोंका कर्म है अर्थात् जो कर्म उन्हीं स्त्री पुरुष दोनोंसे किया जाय वही कर्म यहां लिया गया है, रसोई आदि कर्म तो अन्य किसीके द्वारा भी किया जासकता है। इसलिये यहांपर स्त्री पुरुषका सामान्यकर्म नहीं लेना चाहिये क्योंकि सामान्य कर्म तो औरोंके द्वारा भी हो सकता है परंतु विशेषकर्म उन्हींके द्वारा होसकता है दूसरी बात यह भी है कि यहां प्रमत्तयोगका ग्रहण है इसलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जो प्रमत्तपरिणामी स्त्री पुरुष हैं उनका जो कर्म है वह मैथुन कहलाता है अर्थात् जब चारित्रमोहोदित रति परिणामी स्त्री पुरुषका संयुक्त कर्म है तब मैथुन कहलाता है, जहां स्त्री पुरुष परस्पर नमस्कारादि क्रिया करते हैं वहां वे प्रमत्तपरिणामी नहीं हैं क्योंकि उनके चारित्र मोहनीयका उदय नहीं है, इसलिये वहां वंदना आदिकर्म दोनोंका स्त्री पुरुषका मिथुनकर्म (मिलकर) होनेपर भी मैथुनशब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। मिथुनशब्दका प्रयोग वहीं होता है जहां चारित्रमोहोदयजनित प्रमत्तपरिणाम हैं। इसप्रकार जो मैथुनशब्दके विग्रहद्वारा शंकाकारने जितने शंकापक्ष उठाये थे वे सब अयुक्त सिद्ध हुये और मैथुन शब्दके विग्रहसे और लक्षणसे जो अर्थ मैथुनका किया गया है वही निर्दोष सिद्ध होचुका अर्थात् बाह्य और अभ्यंतर कारणोंपर लक्ष्य देकर विचार करनेसे मिथुनका जो कर्म वह मैथुन है, मिथुन पुरुषोंका जो कर्म वह मैथुन है, मिथुन स्त्री पुरुषका जो कर्म वह मैथुन है आदि सभी पक्ष निर्दोष सिद्ध होजाते हैं और सबोंका सारांश एक ही सिद्ध होजाता है।

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म ॥ १० ॥

अर्थ—जिसके पूर्ण पालन करनेसे अहिंसा सत्य आदि गुण बढते जांय वृद्धिको प्राप्त होते जांय वह ब्रह्म कहलाता है अर्थात् शीलव्रतके पालनसे ही अहिंसा आदि सद्गुणोंकी आत्मामें वृद्धि होती है

अपने निर्दिष्टकार्यका लक्षण रख कर वह उत्तर देता है अतः नैगमनयकी अपक्षासे उसका उत्तर ठीक है और जल लाना भी रसोई बनानेरूप कार्यकी सिद्धिका सूचक है उसीप्रकार प्रकृतमें जो एकदेश वृती है वह सकल व्रतोंके तत्त्वको समझ चुका है और वही अपना ध्येय—अंतिम ध्येय समझता है परंतु असामर्थ्यसे सकल व्रतको धारण नहीं कर सकता, इसीलिये उसके एकदेश स्वरूप अणुव्रतोंको धारण करता है, परंतु वह अपने व्रतकी पूर्ति सकल व्रतमें पहुंच कर ही समझता है इसलिये उस अंतिम ध्येयरूप संकलपकी अपेक्षा एक देशव्रती भी व्रती है अथवा आगामी वह सकलवृती होगा इसी अभिप्रायसे एकदेश व्रती व्रती कहलाता है। जैसे रसोई बनानेके उद्देश्यसे ही जल लानेवालेका आरंभ है, उसी अभिप्रायसे वह उत्तर देता है उसीप्रकार एकदेश व्रतका धारण भी उसी सकलव्रतकी प्राप्तिकी अपेक्षासे है क्योंकि एकदेश व्रत धारी यह नहीं समझता कि मेरे व्रत अब पूर्ण प्राप्त हो चुके, इसलिये आगामी सकल व्रत प्राप्त करनेका उद्देश है और वर्तमानमें उनका एक देश वृतरूप कार्य प्रारंभ भी होचुका है इस दृष्टिसे एकदेशवृतधारी भी वृती है। संग्रह नयका विषय सामान्य संगूह है अर्थात् सामान्यरूपसे सभी सत् पदार्थोंको विषय करना संगूह नयका लक्षण है। सामान्य गूहणमें एकदेश सर्वदेश सभीका संगूह होजाता है। जैसे संगूहनयकी अपेक्षा मनुष्य कहनेसे वंगाली दक्षिणी पश्चिमी उत्तरी, बुद्धिमान मूर्ख, श्रीमान् दरिद्री, अंध, स्वास्थ्य युक्त, कुरूप सुरूप, भोगभूमिस्थ और कर्मभूमिस्थ आदि सभी प्रकारके मनुष्योंका गूहण होजाता है उसीप्रकार संगहनयकी अपेक्षा व्रतोंका भी सामान्यरूपसे गूहण होता है। सामान्यमें सकलव्रत भी आजाते हैं और एक देशव्रत भी आजाते हैं इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा एकदेशव्रती भी व्रती है। व्यवहार नयका विषय संगृहीत पदार्थोंमें भेद करना है। जिसप्रकारसे लोकमें भिन्न भिन्न व्यवहार हो सकें वैसा भेद करना यही व्यवहार नयका लक्षण है। जैसे मनुष्योंमें संग्रहनयकी अपेक्षा सभी मनुष्योंका संग्रह होजाता परंतु व्यवहार नयसे उनका भेद किया जाता है, जैसे भोगभूमिके मनुष्य जुदे होते हैं

ही जाता है। उसीप्रकार अठारह हजार शीलके भेदोंको परिपूर्ण पालनेवाला और चौरासी लाख उत्तर गुणोंको पालनेवाला अनगार सम्पूर्ण व्रत धारण करनेसे पूर्ण व्रती कहा जाता है, परन्तु उन व्रतोंके एकदेश संयमासंयमव्रतको पालने वाला अणुव्रत धारण करनेसे व्रती नहीं कहलाने योग्य है यह बात नहीं है किंतु है ही है अर्थात् व्रतोंकी पूर्णता सकलव्रती साधुओंके होने पर भी एकदेशरूप अणुव्रत धारी जो श्रावक है वह भी व्रती कहलाता ही है। इस कथनसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका कि अगारी और अनगार ऐसे दो भेदोंसे वृती दो प्रकार होते हैं। अब यहां कोई शंका करता है कि हिंसादिक पांचों पापोंमेंसे जिस गृहस्थने किसी एक पापको छोड दिया हो तो वह गृहस्थ वृती कहा जायगा या नहीं? उत्तर—हिंसादिक पाचों पापोंमेंसे किसी एक पापको छोडनेवाला वृती नहीं कहा जा सकता किंतु पांचों ही पापोंका एकदेशरूपसे जो त्याग करता है वही वृती कहा जाता है। इसी वातको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं।

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थ—जिसके हिंसादिक पांचों पापोंका त्याग एकदेशरूपसे अर्थात् स्थूलरूपसे हो वही अगारी अणुवृती कहा जाता है। इस सूत्रमें अणु शब्द सूक्ष्म अर्थका कहनेवाला है अर्थात् अणु, सूक्ष्म, एक-देश, अल्प ये सब एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं। अणुका अर्थ थोडा है। जिसके अणुरूपसे वृत हो, सूक्ष्म रूपसे वृत हो, एक देश रूपसे वृत हो, अल्परूपसे वृत हो वह अणुवृती कहा जाता है, उसीको एकदेशवृती आदि भी कहते हैं। गृहस्थके वृतोंमें अणुपना किस प्रकार आता है? इसका उत्तर यह है कि उसके समस्त रूपसे पापोंकी निवृत्तिका होना असंभव है अर्थात् गृहस्थाश्रमके आरंभोंको करने-वाला गृहस्थ सकल रूपसे पापोंकी निवृत्ति नहीं कर सकता, अथवा समस्त पापोंकी निवृत्ति उसके होना ही अशक्य है क्योंकि उसके साधन ही ऐसे हैं जिनसे आरंभ आदि होनेसे समस्त पापोंकी मुक्ति

होजाती है, अर्थात् वेहोशी होजाती है, लोकमें वेहोशीका नाम ही मूर्छा कहाजाता है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहां विशेष अर्थका गृहण है। मूर्छि धातुका मोह सामान्य अर्थ होता है फिर भी यहांपर वाह्य अभ्यंतर परिगृहोंका संरक्षण उपार्जन आदि ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा शब्दसे लिया गया है। इसप्रकार विशेष अर्थ लेनेसे इष्ट अर्थका बोध होजाता है। दूसरी बात यह है कि जिस धातुका सामान्य अर्थ होता है वह विशेष अर्थको भी प्रगट करता है, क्योंकि यह नियम है कि सामान्य अर्थकी प्रेरणा विशेष अर्थमें व्याप्त रहती है अर्थात् सामान्य व्यवहारमें विशेष व्यवहार भी गर्भित है विना विशेषके सामान्य नहीं कहा जाता, क्योंकि सामान्य—साधारणका नाम है, उसमें विशेष भी है और सामान्य भी है, दोनों ही दोनों अर्थोंको नहीं छोड सकते। जो विशेषरहित सामान्य है वह खरगोशके सींगके समान अभावात्मक है और विशेष भी विना सामान्यके नहीं ठहर सकता इसलिये जब मूर्छि धातु सामान्य मोह अर्थमें प्रवर्तित है तो प्रकरणवश उसका ममत्वपरिणामरूप अर्थ-विशेष सुतरां गृहीत होजाता है इसलिये वहां मूर्छाका अर्थ वाह्य अभ्यंतर परिग्रहमें ममत्व करनेका ही है।

वाह्यस्याप्रसंग इतिचेन्नाऽऽध्यात्मिकप्रधानत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यदि ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा है और उस मूर्छाको परिग्रह बताया गया है तो इस कथनसे जो अभ्यंतर रागद्वेषादिक परिगृह हैं उन्हींका गृहण होगा किंतु वाह्य जो गो महिष मणि मुक्ता आदि सचेतन अचेतन परिगृह कहे जाते हैं उनका गृहण नहीं होगा ऐसी अवस्थामें वाह्यपरिगृहको परिगृहपना ही नहीं आता है अर्थात् जब मूर्छाको ही परिगृह माना जायगा और मूर्छा अभ्यंतर ममत्वपरिणामका नाम है तो फिर वाह्य परिगृह परिगृह नहीं ठहरता ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर अभ्यंतर परिगृहकी प्रधानता लीगई है, अर्थात्

स्वयं अपने परिणामोंसे ही जो श्रावक कर देता है वह तृतीय अणुव्रत अचौर्याणुव्रतधारी कहलाता है अर्थात् राजा और वस्तुके स्वामीके भयसे दूसरेका द्रव्य सहसा तो लिया ही नहीं जासकता इसलिये उसका ग्रहण भयसे स्वयं नहीं होता, परंतु इसप्रकार भयवश परद्रव्यका नहीं लेना चोरीका परित्याग नहीं कहा जा सकता, किंतु जो अपने परिणामोंसे उस अदत्तग्रहणका परित्याग कर दिया जाता है वही तृतीय अणुव्रत है।

उपात्तानुपात्तान्यांगनासंगाद्विरतरतिः ॥ ४ ॥

अर्थ–जो विवाहिता स्त्री है उसे उपात्त कहते हैं और जो अविवाहित है उसे अनुपात्त कहते हैं। विवाहिता स्त्री परनारी प्रसिद्ध है। अविवाहिता कन्या, दासी, वेश्या आदि कहलाती हैं, ऐसे दोनों-प्रकारकी जो अन्य स्त्रियां है, उनके भोगकी इच्छाका जिसके त्याग होचुका है ऐसा श्रावक विरता-विरत चतुर्थ अणुव्रतधारी कहा जाता है। इस एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रतको विरताविरत क्यों कहा गया? इसका खुलासा यह है कि जहां पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन होता है अर्थात् जहां अपनी स्त्री और उससे भिन्न जितनी भी स्त्रियां हैं उन सबोंका त्याग होजाता है वहां तो विरतभाव है अर्थात् सर्वथा ब्रह्म-चर्यका पालन है परंतु जहां स्वस्त्रीका परित्याग नहीं है किंतु अन्य स्त्रियोंका परित्याग है वहां पूर्ण ब्रह्म-चर्यका पालन नहीं है किंतु एकदेश ब्रह्मचर्यका पालन है इसलिये वे परिणाम विरताविरत कहे जाते हैं।

परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिर्गृही ॥ ५ ॥

अर्थ— धन धान्य क्षेत्र आदिकोंका इच्छापूर्वक जो अवधि करलेता है वह पंचम अणुव्रत–परिगृह-परिमाण अणुव्रतधारी गृही कहलाता है अर्थात्–गौ महिष आदि धन, गेहूं चावल आदि धान्य, ग्राम खेत आदि क्षेत्र इत्यादि समस्त वाह्य परिगृहको अपनी इच्छाके अनुसार रखलेता है जितनी आवश्य-कता समझता है उतना ही परिगृह रखलेता है वाकी समस्त परिगृहका त्याग करदेता है, वही श्रावक

होजाती है, अर्थात् वेहोशी होजाती है, लोकमें वेहोशीका नाम ही मूर्छा कहाजाता है ? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहां विशेष अर्थका गृहण है। मूर्छि धातुका मोह सामान्य अर्थ होता है फिर भी यहांपर वाह्य अभ्यंतर परिगृहोंका संरक्षण उपार्जन आदि ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा शब्दसे लिया गया है। इसप्रकार विशेष अर्थ लेनेसे इष्ट अर्थका बोध होजाता है। दूसरी बात यह है कि जिस धातुका सामान्य अर्थ होता है वह विशेष अर्थको भी प्रगट करता है, क्योंकि यह नियम है कि सामान्य अर्थकी प्रेरणा विशेष अर्थमें व्याप्त रहती है अर्थात् सामान्य व्यवहारमें विशेष व्यवहार भी गर्भित है विना विशेषके सामान्य नहीं कहा जाता, क्योंकि सामान्य—साधारणका नाम है, उसमें विशेष भी है और सामान्य भी है, दोनों ही दोनों अर्थोंको नहीं छोड सकते। जो विशेषरहित सामान्य है वह खरगोशके सींगके समान अभावात्मक है और विशेष भी विना सामान्यके नहीं ठहर सकता इसलिये जब मूर्छि धातु सामान्य मोह अर्थमें प्रवर्तित है तो प्रकरणवश उसका ममत्वपरिणामरूप अर्थ-विशेष सुतरां गृहीत होजाता है इसलिये वहां मूर्छाका अर्थ वाह्य अभ्यंतर परिग्रहमें ममत्व करनेका ही है।

वाह्यस्याप्रसंग इतिचेन्नाऽऽध्यात्मिकप्रधानत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि यदि ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा है और उस मूर्छाको परिग्रह बताया गया है तो इस कथनसे जो अभ्यंतर रागद्वेषादिक परिगृह हैं उन्हींका गृहण होगा किंतु वाह्य जो गो महिष मणि मुक्ता आदि सचेतन अचेतन परिगृह कहे जाते हैं उनका गृहण नहीं होगा ऐसी अवस्थामें वाह्यपरिगृहको परिगृहपना ही नहीं आता है अर्थात् जब मूर्छाको ही परिगृह माना जायगा और मूर्छा अभ्यंतर ममत्वपरिणामका नाम है तो फिर वाह्य परिगृह परिगृह नहीं ठहरता ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर अभ्यंतर परिगृहकी प्रधानता लीगई है, अर्थात्

जैसे सुमेरु पर्वतकी ओर जानेवाले आकाश प्रदेश उत्तर दिशाके नामसे व्यवहृत किये जाते हैं। इसीप्रकार पूर्वदिशा पश्चिम दिशा दक्षिणदिशाकी कल्पना आकाश प्रदेशोंसे ही होती है । जिस ओर श्रणीरूपसे अर्थात् एकलरी शृंखलाके रूपसे आकाश चलागया है उस ओरके आकाशको एक दिशाके नामसे मान लिया गया है इसीप्रकार माना हुआ लोकव्यवहार सदासे होता आया है। इस आकाश श्रेणीको छोडकर कोई दिशा नामका स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। कुछ दर्शनवाले जैसे नैयायिक वैशेषिक आदि दिशा नामक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं वे उसे आकाशसे भिन्न वस्तु सत्ता-स्वरूप स्वीकार करते हैं परंतु यह उनकी भूल है। यदि आकाशके सिवा भिन्न सत्तारूप दिशाका स्वरूप विचार किया जाय तो कुछ भी सिद्ध नहीं होसकता। इसलिये दिशा आकाशसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। ऐसे ही ऐसे पदार्थोंकी कल्पना कर नैयायिक आदि मतवालोंमें किसीने नव पदार्थ मान लिये हैं, किसीने सात मान लिये हैं किसीने सोलह पदार्थ मान लिये हैं परंतु वास्तवमें उनकी मानी हुई पदार्थव्यवस्था सिद्ध नहीं होती प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे बाधित होजाती है। जैसे उन्होंने पृथिवी जल अग्नि और वायु इन चारोंको भिन्न भिन्न द्रव्य माना है परंतु ये चारों भिन्न भिन्न द्रव्य नहीं सिद्ध होते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह वात देखी जाती है कि जो पृथिवी है वह अग्नि होजाती है जैसे कि दियासलाई पृथिवी है परंतु उसे घिसनेसे वही अग्निका रूप धारण करलेती है। जो अग्नि है वह जलकर जब भस्म होजाती है तो वही अग्नि फिर पृथिवीका रूप धारण करलेती है। इसीप्रकार ओला पृथिवी है परंतु गलकर पानी होजाता है, जल धूपसे हवामें मिलजाता है, वायु पानी होजाती है इसरीतिसे चारों ही चारों रूप धारण कर लेते हैं तब भिन्न भिन्न द्रव्यपना उनमें सिद्ध नहीं होपाता किंतु चारों ही एक द्रव्यकी पर्याय ठहरते हैं, जैनसिद्धांतकारोंने पृथिवी जल अग्नि वायु आदि सभी रूप रस गंध वर्ण स्पर्शवाले पदार्थोंको एक पुद्गल द्रव्यकी पर्याय माना है इसीलिये जैनसिद्धांतमें कुल छह द्रव्य माने गये हैं, वे छहों द्रव्य

अर्थ—जिसप्रकार शरीरके भीतर घुसजानेवाला शस्त्र जीवको बहुत कष्ट देता है, इसलिये वह शल्य कहाजाता है अर्थात् शरीरके भीतर घुसकर जो वेदना करता रहे ऐसा शस्त्र शल्यके नामसे कहाजाता है उसीप्रकार कर्मोदयका विकार भी शरीरसंबंधी तथा मनसंबंधी दुःखोंका कारण है इसलिये वह भी शल्य समान होनेसे 'शल्य' इसी नामसे उपचरित किया जाता है अर्थात् कर्मोदय विकारको भी वेदनाकारी होनेसे शल्यके नामसे व्यवहृत करते हैं।

तत्त्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् ॥ ३ ॥

अर्थ-वह शल्य तीनप्रकार जानना चाहिये, किसप्रकार? मायाशल्य निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य ये तीनभेद हैं। माया, निकृति, वंचना ये तीनों ही शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् दूसरेको ठगना, स्वार्थके वशीभूत होकर दूसरोंको धोकादेना, किसीप्रकारका प्रपंच अथवा जाल फैलाना इसीका नाम माया शल्य है। विषयोंके भोगनेकी आकांक्षा करना निदान कहलाता है अर्थात् जिनेन्द्रभक्ति तप आदिसे संचित किये गये पुण्यका फल किसी सांसारिक बासनाकी पूर्तिमें चाहना इसीका नाम निदानशल्य है तत्त्वोंमें ठीक ठीक श्रद्धा नहीं करना अथवा विपरीत तत्त्वोंमें श्रद्धान करना इसीका नाम मिथ्यादर्शन है। इन तीनप्रकारकी शल्योंसे जो रहित होजाता है वही निःशल्य व्रती कहा जाता है। यहांपर कोई शंका करता है—

विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—निःशल्यत्व और व्रतित्व ये दोनों ही विरुद्ध हैं अर्थात् दोनोंका आपसमें कुछ संबंध नहीं है, जो शल्यरहित है वह निःशल्य कहाजाता है और जो व्रतसहित है वह व्रती कहाजाता है। शल्यरहित होनेसे व्रती कहलाता है यह वात कुछ संबंध नहीं रखती इसलिये शल्यरहित होनेसे व्रती नहीं कहा जासकता। कोई पुरुष दंडके संबंधसे छत्रीवाला नहीं कहा जासकता। छत्रीवाला वही कहा-

है, और अनर्थ नाम विना प्रयोजनका है, जो विना प्रयोजनके पापबंध होता है अथवा कर्मोंके परिपाकसे दुःख उठाना पडता है वह अनर्थदंड कहा जाता है। विरमण नाम विरतिका है, उसीको निवृत्ति शब्दसे भी कहते हैं अर्थात् त्याग करनेका नाम विरति है। दिशाओंसे विरति अर्थात् दिशाओंका त्याग, देशोंसे विरति अर्थात् देशोंका त्याग और अनर्थदंडोंसे विरति अर्थात् अनर्थदंडोंका त्याग कहा जाता है यहांपर "साधनं कृता" इस जैनेन्द्रव्याकरणके सूत्रसे समास की गई है। दिग्देशानर्थदंडविरति ऐसा जो सूत्रमें विरति शब्द है उसका ग्रहण अंतमें होनेसे प्रत्यकके साथ संबंध होता है। यथा—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरति अर्थात् दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदंड व्रत, ये तीन गुणव्रत कहेजाते हैं। इन तीनोंका खुलासा भाव यह है कि—दिशाओंका नियम करलेना दिग्व्रत कहा जाता है। जैसे पूर्व दिशामें अमुक क्षेत्र तक अमुक पर्वतक अमुक नदी तक अमुक वनतक अमुक नगर तक हम जांयगे, नियत की गई मर्यादासे वाहर किसी भी सांसारिक प्रयोजनके लिये नहीं जांयगे इस प्रकार जो त्याग किया जाता है वह दिग्वृत कहलाता है। यह दिग्वृत एक बार किया गया आजन्म तक हो जाता है परन्तु देशवृत आजन्मकेलिये नहीं होता है यही दिग्वृत और देश वृतमें भेद है। जो दिग्वृतकी अवधि रक्खी जाती है उसी अवधिके भीतर ऐसा नियम करना कि वर्ष दिन तक अमुक दिशामें अमुक नगर तक ही जांयगे, किसी भी स्वार्थवश उससे आगे नहीं जांयगे अथवा छह महीना तक अमुक हद्द तक जांयगे, दो दिन तक १० मील ही जांयगे, आज गांव या मोहल्लेके बाहर भी नहीं जांयगे इस प्रकार जो विशेष विशेष समयके लिये क्षेत्र विशेषकी मर्यादाएं ली जाती हैं वह देशवृत कहलाता है। यह देश वृत दिग्वृतकी कीगई मर्यादाके भीतरके क्षेत्रमें ही होता है उससे बाहर नहीं होता है। अनर्थदंडका त्याग करना अनर्थदंड वृत कहा जाता है। अनर्थ पांच प्रकार होता है इसलिये उसके त्यागके भी पांच भेद हो जाते हैं उन सबोंका स्वरूप स्वयं ग्रंथकार आगे कहेंगे।

पर्यायवाची शब्द हैं, दोनोंका एक ही अर्थ है, जो व्रती है वह निःशल्य है और जो निःशल्य है वह व्रती है, इसलिये दोनोंमेंसे चाहे जिस शब्दका प्रयोग करो, इसी विकल्पको दिखानेकेलिये यहांपर दोनोंका ग्रहण किया गया है ऐसी अवस्थामें विशेष्य विशेषण संबंधका अभावरूप दोष भी यहां नहीं आता है अर्थात् निःशल्यत्व और व्रतित्व इन दोनोंमें जो विशेषण विशेष्यभाव है वह दोनों पदोंके ग्रहण करनेपर भी बना रहता है क्योंकि दोनों पदोंका ग्रहण यहां विकल्पकेलिये है, दोनोंमेंसे चाहे जिसका नाम लिया जाय एकके ग्रहण करनेसे दूसरेका ग्रहण होजाता है यह बात प्रगट करनेकेलिये ही दोनों पदोंका गृहण है, ऐसी अवस्थामें विशेषणविशेष्यभावका अभाव भी नहीं होता है वह भी बना ही रहता है ? परंतु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि विकल्प दिखानेकेलिये दोनों पदोंका गृहण करनेसे यहां किसी फलविशेषकी सिद्धि नहीं होती, विकल्प करनेसे जहां कोई फलविशेष सिद्ध होता है वहींपर लोकमें विकल्प रूप शब्दोंका उल्लेख किया जाता है, जैसे कोई यह कहै कि देवदत्त नामक पुरुषको घृतसे अथवा दालसे अथवा दहीसे भोजन करा दो तो यहांपर घी दाल और दही इन विकल्परूप शब्दोंका गृहण विशेष प्रयोजनकेलिये किया गया है उसीप्रकार निःशल्यत्व और व्रतित्व इन दोनों पदोंका गृहण करनेसे यहां और कोई फलविशेष नहीं दीखता निःशल्यत्व और व्रतित्व दोनोंमें जब विशेषणविशेष्यभाव है तो उनमेंसे किसी एकका प्रयोग करनेसे ही काम चल जाता है चाहे निःशल्य कहो चाहे व्रती कहो इसप्रकार एकका गृहण करना ही इष्ट है ? इन शंकाओंका उत्तर नीचेकी वार्तिकसे आचार्य देते हैं—

नवांगांगिभावस्य विवक्षितत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ—ऊपर जो दोष दिया गया है वह यहां लागू नहीं होता, क्योंकि यहां अंग अंगी भावकी विवक्षा है, विना शल्यका अभाव हुये केवल हिंसादिक पापोंका त्यागरूप व्रतोंके संबंधसे कोई व्रती

कहा जाता है। गमन शब्दका अर्थ प्राप्ति है, अर्थात् एकरूपसे जो शुद्ध आत्मस्वरूप है उसकी प्राप्ति होनेका नाम समय है। यह संसारी आत्मा भिन्न भिन्न मन वचन कायकी क्रियाओं द्वारा भिन्न भिन्न परिणमनरूप पर्यायोंको प्राप्त करता रहता है वे सब योगजनित परिणमन शुभ अशुभरूप हैं परंतु उन सब विभिन्न योगत्रयजनित परिणमनोंसे निवृत्त होकर आत्माका द्रव्यार्थिक नय स्वरूप जो शुद्ध परिणाम हैं उसे जब यह जीव प्राप्त करता है तभी समय कहा जाता है, समयका नाम ही सामायिक है। यहांपर कर्म और कर्तामें अभेद दिखला दिया गया है। आत्माके विशुद्धस्वरूपको प्राप्त करनेवाला और आत्माका विशुद्धरूप दोनों एक ही पदार्थ हैं अथवा समय कहिये आत्माकी द्रव्यार्थिक शुद्ध पर्यायका ग्रहण ही है प्रयोजन जिसका वह सामायिक कहा जाता है अर्थात् जिससे आत्माका विशुद्धरूप प्राप्त होता हो वही सामायिक है। इसका खुलासा यह है कि मन वचन कायरूप वर्गणाओंके अवलंबनसे होनेवाले भिन्न भिन्न योगोंको वशमें कर तीनों योगोंकी निश्चलतासे जो शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति करना है वही सामायिक कहलाता है।

उपेत्य तस्मिन् वसंतींद्रियाणि इत्युपवासः॥ ७॥

अर्थ—शब्दादि ग्रहणसे निवृत्ति होकर पांचों ही इंद्रियां जिसमें आकर निवास करें वह उपवास कहा जाता है अर्थात् प्रत्येक इंद्रियका जो विषय है वह रागवर्धक है इसलिये उसविषयमें इंद्रियोंकी प्रवृत्तिका होना रागवृद्धिरूप परिणाम है परंतु जिसके द्वारा पांचों ही इंद्रियोंका विषय गमनरूप व्यापार रुक जाय वह आत्मपरिणाम उपवास कहलाता है। उपवासके दिन खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकारके आहारका परित्याग हो जाता है। जब चारों प्रकारका समस्त आहार छूट जाता है तो इंद्रियोंकी प्रवृत्ति सुतरां मंद पडजाती है। विशेष यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि आचार्य महाराजने केवल आहारके छोडनेका नाम ही उपवास नहीं बताया है किंतु इंद्रियोंकी प्रवृत्तिका रुकना उसमें प्रधान बताया है। यह बात उपवास-शब्दकी व्युत्पत्तिसे बतादी है। इससे यह बात स्पष्ट होजाती है कि जो

अप्रधान विशेषण प्रधानका सहायक हो जाता है ऐसी अवस्थामें व्रतोंका विशेषण निःशल्यत्व हुआ और निःशल्यत्व व्रत उस व्रती पुरुषके विशेषण हैं इसलिये वे दोनों ही विशेषण विशेष्य जो व्रती पुरुष है उसके सहायक होनेसे निःशल्यो व्रती यह सूत्र निर्दोष सिद्ध होजाता है। अब यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि तीनों शल्योंसे रहित जो व्रती हैं क्या वे सभी ऐसे हैं कि जो हिंसादि पापोंका अभाव होनेसे आचार-सूत्रानुसार समस्त क्रियाओंके पालनेसे अपने भावोंको विशुद्ध बना चुके हों और परिग्रहसे निरपेक्ष बन चुके हों तथा घरसे संबंध छोड चुके हों अथवा कोई व्रती ऐसे भी बताये जाते हैं कि जिनका घरसे संबंध हो ? अर्थात् सभी व्रती संसारसे उदास एवं घर छोडकर वनमें रहनेवाले मुनिपदधारी ही होते हैं अथवा ऐसे भी व्रती होते हैं जो घरमें रहतेहुये व्रतोंका पालन करते हों ? इस शंकाके समाधानार्थ आचार्य कहते हैं कि इन हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंका त्याग न्यूनाधिक होता है कोई इनका सर्वथा त्यागी होजाता है कोई एकदेश त्यागी होता है जो सर्वथा त्यागी है वह मुनिपदधारी कहा जाता है और जो एकदेश त्यागी है वह गृहस्थ कहा जाता है। इसप्रकार हिंसादिक पापोंके त्यागकी कोटिकी अपेक्षासे-उनका एकदेश और सर्वदेश त्यागकी अपेक्षासे व्रती के दो भेद होजाते हैं अर्थात् दो प्रकारके व्रती कहलाते हैं वे दो प्रकार कौन हैं यह वात नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

अगार्यनगारश्च ॥ १८ ॥

अर्थ—व्रती दो प्रकारके होते हैं—एक अगारी और दूसरे अनगार। अगार नाम घरका है जिनके घर है वे अगारी कहे जाते हैं, उन्हींको गृहस्थ भी कहते हैं। गृह नाम भी घरका है, जो घरमें रहकर व्रतोंका पालन करता है वह गृहस्थ अथवा अगारी व्रती कहलाता है और जिसके अगार कहिये घर नहीं है अर्थात् जो व्रती घरको छोड चुका है वह अनगार व्रती कहलाता है ऐसे अनगार—मुनि होते हैं।

प्रतिश्रयार्थितयांगनादगारं ॥ १ ॥

वार भोगकर फिर भोगनेमें नहीं आवे वह उपभोग कहलाता है। जैसे—भोजन, पानी, दूध, गंध, माला आदिक। ये समस्त पदार्थ एकवार भोगनेपर फिर दुवारा भोगनेमें नहीं आते हैं।

परित्यज्य भुज्यते इति परिभोगः ॥ १० ॥

अर्थ—एक वार भोगकर छोड दिया जाय पश्चात् फिर भी जो भोगाजाय वह परिभोग कहलाता है अर्थात् जिसे वार वार भोगा जाय वह परिभोग है। जैसे शरीरपर पहननेके कपडे ओढने विछानेके कपडे भूषण शय्या-पलंग चारपाई आदि आसन-चौकी कुर्सी आदि घर सवारी—वग्घी मोटर आदि और हाथी घोडा आदि ये सब परिभोग हैं इन सवोंको एकवार भोगकर फिर भी अनेकवार भोगा जाता है। उपभोग और परिभोग इन दोनोंका जो परिमाण करना मर्यादा करना सो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत कहलाता है अर्थात् खानेकी वस्तुओंमें अमुक अमुक वस्तु सेवन करेंगे वाकी सबका त्याग है, सवारी आभूषण मकानों आदिमें इतने मात्र रक्खेंगे वाकी सवोंका परित्याग करदेंगे परित्यागका अर्थ यही नहीं समझना चाहिये कि दश सवारियोंमें अथवा दश आभूषणोंमें दो रखने हों तो वाकीको छोड देना पडेगा, किंतु उसका अर्थ यह है कि उतना आरंभ नहीं करेंगे, या तो वेच देंगे, या किसीको देदेंगे, और दोनो ही न करै तो जितने कालकी अवधि है उतने कालतक उन त्याग की हुई वस्तुओंका उपयोग नहीं करेंगे खाली यों ही रक्खी रहें। ऐसा करनेसे विशेष ममत्वभाव और आरंभजनित हिंसासे विरक्ति होजाती है।

संयमविनाशयन्नततीत्यतिथिः ॥ ११ ॥

अर्थ—सम्यक्चारित्रका लाभ होनेसे जो संयमका विनाश नहीं करता हुआ गमन करता है वह अतिथि कहा जाता है अर्थात् पंच समिति तीन गुप्ति पंच महाव्रतरूप सकलचारित्रकी प्राप्ति होनेसे जिसकी किसी भी क्रियामें जीवोंकी विराधना नहीं हो अथवा संयममें वाधा नहीं आवे, संयमका भंग

अपने परिणामोंको नहीं हटा सका हो अर्थात् घरसे विरक्तभाव जिसका नहीं हुआ हो वही अगारी कहलाता है, चाहे वह नंगा होकर वनमें ही क्यों न रहता हो। भावार्थ—जिसके घरसंबंधी ममत्वभाव है फिर वह वनमें रहता हो उसके घर वार कुछ भी नहीं हो तो भी वह अगारी ही कहा जायगा और जिसके वह घर नहीं है, अर्थात् जिसके घरसे ममत्व परिणाम नहीं है अतएव जो घरका परित्याग कर चुका है ऐसा साधु अनगार कहा जाता है।

व्रतिकारणाऽसाकल्यात् गृहस्थस्याऽव्रतित्वमिति चेन्न नैगमसंग्रहव्यवहारव्यापारात् नगरावासवत् ॥ ३ ॥

अर्थ–यहां प्रश्न होता है कि गृहस्थके समस्त व्रतोंका अभाव है इसलिये उसके व्रतीपना सिद्ध नहीं होता, परंतु ग्रंथकार एकदेशव्रती गृहस्थको भी व्रती बतलाते हैं ? इसका समाधान इसप्रकार है कि जैसे घरमें अथवा कुटी आदिमें जो रहता है वह यद्यपि समस्त नगरमें नहीं रहता तोभी उसे नगर-निवासी कहा जाता है, वास्तवमें तो नगरनिवासी उसे ही कहना चाहिये कि जो समस्त नगरमें रहता हो, परंतु नगरके एक देशमें रहनेवालेको भी नगर-निवासी कहा जाता है उसीप्रकार सम्पूर्ण रीतिसे व्रतोंका पालन नहीं करने पर भी जिसके एकदेश व्रत है वह भी नैगम संग्रह व्यवहार नयोंकी विवक्षाकी अपेक्षासे व्रती कहा जाता है।

यहांपर नैगम संग्रह व्यवहार नयोंकी विवक्षासे एकदेश व्रती भी सकल व्रतोंका नहीं पालन करने पर भी व्रती कस कहा जाता है ? उसीका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—संकल्पमात्रको विषय करना नैगम नयका लक्षण है जैसे कोई पुरुष रसोई बनानेकी इच्छासे जल लेने कूएपर जाता है, मध्यमें यदि कोई उससे पूछता है कि आप क्या करते हो तो वह उत्तर देता है कि मैं रसोई बनाता हूं। यद्यपि रसोई अभी वह बना नही रहा है केवल जल लेने ही जाता है परंतु रसोई बनानेका वह संकल्प कर चुका है और उसी संकल्पके आधार पर उसने रसोई बनानेका साधक पहला कार्य जल लाना प्रारंभ किया है इसीलिये

यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि इसका उत्तर भी पहले दिये गये विरति शब्दके उत्तरसे हो जाता है। पहले कहा जाचुका है जो उपसर्जनीभूत है अर्थात् जो गौणरूप है उसमें मुख्यकी अनुवृत्तिका संबंध नहीं आता। वृत शब्द वहां पंच वृतोंमें मुख्यतासे नियत है वह इन सप्तशीलोंमें संबंधित नहीं हो सकता इसलिये यहांपर व्रतका पुनः विधान करना ठीक ही है।

वृतसंपन्नशब्दः प्रत्येकमभिसंबंध्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो व्रतसंपन्न शब्द है वह प्रत्येकके साथ संबंधित होता है। जैसे–दिग्विरतिव्रतसंपन्न, देशविरतिव्रतसंपन्न, अनर्थदंडविरतिव्रतसंपन्न, सामायिकव्रतसंपन्न आदि। संपन्न शब्दका अर्थ सहित होता है जैसे दिग्विरतिव्रतसहित इत्यादि। यहां प्रश्न होता है कि श्रावकोंसे जो दिशाओंकी निवृत्ति कराई जाती है अर्थात् दिशाओंकी मर्यादा जो कराई जाती है वह किस प्रयोजनसे कराई जाती है? इसका उत्तर इस प्रकार है—

दुष्परिहारक्षुद्रजंतुप्रायत्वाद्दिङ्निवृत्तिः ॥ १४ ॥

अर्थ—समस्त दिशायें छोटे छोटे अतिसूक्ष्म जीवोंसे भरी हुई हैं इतनी भरी हुई हैं कि उन सूक्ष्म जीवोंकी रक्षा किसी प्रकार की नहीं जा सकती अथवा बडी कठिनतासे उनकी रक्षा हो सकती है ऐसी सूक्ष्म त्रस और स्थावर जीवोंसे भरी हुई दिशाओंमें गमनागमन करना उन जीवोंके घातका ही कारण है इसलिये जितना क्षेत्र जीव रक्षाकेलिये गमनागमनसे बचाया जासके वही उत्तम है इसी जीव रक्षाके उत्तम उद्देश्यसे दिग्व्रत धारण किया जाता है। दिशाओंकी मर्यादा होजानेसे मर्यादाके वाहर दिग्व्रतीके महाव्रत सरीखा भाव हो जाता है क्योंकि मर्यादाके वाहर त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंका बध नहीं होता।

तत्परिमाणं च योजनादिभिरभिज्ञानवद्भिः ॥ १५ ॥

वे स्वर्ग ही नियमसे जाते हैं, कर्मभूमिके मनुष्य जुदे होते हैं उनमें कोई नरक जाते हैं कोई तिर्यंच मनुष्य होते हैं, कोई देव होते हैं और कोई मोक्ष जाते हैं आदि नाना भेदोंसे व्यवहार करना यही व्यवहार नयका विषय है। इस नयकी अपेक्षा व्रतसामान्य दो कोटिमें बट जाता है एक सकलव्रत, एक एकदेशव्रत, एकदेशव्रत भी अणुव्रत अनर्थदंडव्रत शिक्षाव्रत आदिके भेदोंसे जुदा जुदा है। फिर कोई प्रतिमारूपसे कोई अनियमित है। प्रतिमारूपसे भी कोई व्रत एक प्रतिमास्वरूप है कोई सप्तम प्रतिमाके रूपसे है कोई क्षुल्लकरूपसे कोई ऐलकरूपसे है। जो जितना व्रत धारण करता है वह उसी व्रतवाला कहलाता है इसलिये अभ्यंतर अपेक्षासे प्रतिमारूप एकदेशव्रतके भी भिन्न भिन्न श्रेणियोंकी अपेक्षा ग्यारह भेद हो जाते हैं इसलिये व्यवहार नयकी अपेक्षा एकदेशव्रती व्रती कहलाता है। इसप्रकार ऊपर जो प्रश्न किया गया था कि जो सकलव्रती नहीं है वह व्रती नहीं कहा जा सकता उस प्रश्नका समाधान हो चुका। लोकमें जो कुछ वचनभंगी है—वचन रचना है वह नयोंके आधीन है। विना नय-विवक्षाके कोई वचनप्रयोग नहीं हो सकता इसलिये भिन्न भिन्न विवेचन भिन्न भिन्न नयोंकी अपेक्षा सिद्ध हो जाता है इसीलिये जैनधर्ममें निरूपण किये गये सभी पदार्थ नयोंकी अपेक्षा पर अवलंबित होनेसे निर्दोष सिद्ध हैं॥

राजवद्वा ॥ ४ ॥

अर्थ—दूसरी बात उसीकी पुष्टिमें और भी यह है कि जिसप्रकार बत्तीस हजार देशोंका स्वामी सार्वभौम राजा कहा जाता है। जहां राजा शब्दकी पूर्णता सार्वभौम राजपदमें है अर्थात् बत्तीस हजार देशोंके स्वामीमें राजपदवीकी पूर्णतया है, फिर भी जो एक देशका अधिपति है अथवा जो आधे देशका स्वामी है वह राजा नहीं कहलाता हो यह बात तो नहीं है अर्थात् जो एक देशका ही स्वामी है अथवा आधे देशका ही स्वामी है वह भी राजा कहलाता है—राजपदवीका व्यवहार उसमें लोक द्वारा किया

चाहिये इसप्रकार वह पुरुष दूसरों द्वारा प्रेरित किया जाता है। पहले तो उसकी स्वयं ही तृष्णा बढी हुई है, दूसरे उसे अन्य लोगोंकी प्रेरणा हुई और अधिक संपत्तिकी प्राप्तिका लोभ दिखाया गया फिर भी वह दिग्व्रती पुरुष की हुई मर्यादाके बाहर मणिरत्नादिकी तृष्णाके आधिक्यका निरोध कर देता है, लोभ कषायको रोक लेता है, तृष्णाके वशीभूत होकर मर्यादाका भंग कभी नहीं करता, ऐसी अवस्थामें मर्यादाके बाहर पूर्णरीतिसे त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा होनेसे दिग्व्रत कितना कल्याणकारी व्रत है यह बात हरकोई सहज समझ सकता है।

ततो बहिर्महाव्रतप्रसिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ—दिग्व्रत धारण करनेवाला यद्यपि अहिंसादि अणुव्रतोंका ही धारी है, उसके महाव्रत नहीं है तो भी नियत की गई दिशाओंकी अवधिके बाहर मन वचन कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे इन नवों ही भंगोंसे हिंसादि समस्त पापोंकी निवृत्ति उसके हो जाती है इसलिये उसके महाव्रतपना समझना चाहिये। महाव्रतपनेका खुलासा यह है कि यद्यपि महाव्रत छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ही हो सकते हैं, जहां प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय है वहां महाव्रत नहीं हो सकता, उस कर्मका उदय महाव्रतका बाधक है इसलिये श्रावकके महाव्रत नहीं कहे जा सकते क्योंकि उसके प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय है पांचवां ही गुणस्थान है। फिर भी उस दिग्व्रत धारणकरनेवाले श्रावकके उपचारसे महाव्रत कहे जाते हैं। उसका कारण यह है कि महाव्रतोंमें त्रस और स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाका सर्वथा त्याग हो जाता है, इसीप्रकार उस श्रावकके भी दिशाओंकी अवधिके बाहर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग हो जाता है, इस दृष्टिसे महाव्रत नहीं होते हुए भी एकदेश कार्यकी अपेक्षा दिग्व्रती महाव्रती उपचारसे कहलाता है, वास्तवमें महाव्रत उसके नहीं है इसीलिये उपचार शब्दका प्रयोग किया गया है।

सर्वथा अशक्य है इसलिये वह अणुरूपसे ही पापोंका त्यागी होता है। फिर यहां प्रश्न होता है कि वह अणुव्रती गृहस्थ किन किन पापोंसे मुक्त होता है? इसका उत्तर नीचेकी वार्तिकसे आचार्य देते हैं—

द्वींद्रियादिव्यपरोपणान्निवृत्तः ॥ १ ॥

अर्थ—द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय जो जंगम अर्थात् त्रस जीव हैं उनकी हिंसाका अगारी गृहस्थ मन वचन कायसे त्यागी है, इसप्रकार पहला अहिंसाणुव्रत सिद्ध हुआ अर्थात् अगारी गृहस्थ स्थावरहिंसाका त्यागी नहीं है किंतु त्रसहिंसाका त्यागी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्थावर जीवोंका वध जानबूझकर करता है किंतु लौकिकप्रयोजनकी सिद्धिमें आरंभ करते हुए स्थावर जीवोंका वध अनिवार्यरूपसे होता ही है ऐसी दशामें प्रयोजनरहित स्थावर जीवोंके बधसे भी वह मुक्त हो जाता है। परंतु गृहस्थारंभमें रहतेहुए स्थावर जीवोंके बधका सर्वथा त्यागी होना असंभव ही है। इसीलिये एकदेशव्रती गृहस्थ त्रस हिंसाका मन वचन कायसे त्यागी है अर्थात् वह संकल्पपूर्वक किसी त्रस जीवका कभी घात नहीं करता है।

स्नेहद्वेषमोहावेशात् असत्याभिधानवर्जनप्रवणः ॥ २ ॥

अर्थ—स्नेहकी अधिकतासे, द्वेषकी अधिकतासे और मोहकी अधिकतासे जो असत्य बोला जाता है, उस असत्यका जो परित्याग कर देता है वह गृहस्थ द्वितीय अणुव्रत सत्याणुव्रतका धारक होता है। अर्थात् स्थूल झूठका त्याग सत्याणुव्रत कहलाता है। जिस झूठसे घरका नाश होता हो अथवा जिससे ग्रामका नाश होता हो इत्यादि प्रकारके झूठका इस द्वितीयाणुव्रतमें परित्याग हो जाता है।

अन्यपीडाकराद् पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यदत्तात् प्रतिनिवृत्तः ॥ ३ ॥

अर्थ—विना दिया हुआ दूसरोंका द्रव्य लेना दूसरोंको पीडा पहुंचानेवाला है और राजा नगर-निवासी पुरुष आदिके भयसे अवश्य छोडने भी योग्य है फिर भी उस अदत्तद्रव्यके ग्रहणका परित्याग

तत्र परेषां जयपराजयबधबंधांगछेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिंतनमपध्यानं ॥ २१ ॥

अर्थ—मनसे खोटा विचार करनेका नाम अपध्यान नामा अनर्थदंड है। मनसे यह विचार करना कि दूसरोंका जय किस प्रकार हो, अमुकका पराजय किस प्रकार हो, दूसरेका मरण कैसे हो, दूसरे पर किसप्रकार मारपीट हो, अमुकके अंगका छेदन किस प्रकार हो, उसके धनका हरण चोरी आदि किसप्रकार हो, ऐसी खोटी भावना दूसरोंके विषयमें सदैव चिंतवन करते रहना। इसीका नाम अपध्यान-नामा अनर्थदंड है। यह सव चिंतवन विना प्रयोजन है। इससे दूसरोंको हार जीतसे और उनकी धना-दिकी हानि आदिसे कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है, इसलिये विना कारण ही ऐसे खोटे विचारसे यह मनुष्य पापवंध किया करता है, ऐसे व्यर्थके पापवंधके कारणभूत खोटे चिंतवनका नाम ही अपध्यान अनर्थदंड कहा गया है।

क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः ॥ २२ ॥

अर्थ—पापकारक वचनका वोलना वही पापोपदेश नामा अनर्थदंड कहलाता है। जैसे—इस देशमें दास और दासियां वहुत हैं और सुलभ हैं अर्थात् सस्ते भावसे मिलजाते हैं उनको यदि दूसरे देशमें लेजाकर वेचाजाय तो वहुत धनकी प्राप्ति होगी इसप्रकार कहना क्लेशवणिज्या नामक पापोपदेश अनर्थ दंड है अर्थात् ऐसे पापमय उपदेशसे दूसरे मनुष्योंको क्लेश पहुंचता है। ऐसे क्लेश पैदा करनेवाले वाणिंज्यको क्लेशवाणिज्य कहा गया है और इसप्रकार खोटा उपदेश देनेवाला पापोपदेश अनर्थदंड करनेवाला है दूसरा तिर्यग्वणिज्या नामक पापोपदेश अनर्थदंड है वह इसप्रकार है जैसे—गौ महिष पशुओंको इस देशसे लेजाकर किसी दूसरे देशमें उनका व्यवहार किया जाय अर्थात् विक्रय कियाजाय तो वहुत धनकी प्राप्ति होगी इसप्रकार तिर्यंचोंके विक्रयका उपदेश दिया जाय तो वैसा उपदेश भी पापो-पदेश है क्योंकि उस उपदेशसे तिर्यंचोंको क्लेश होगा कारण तिर्यंचोंका व्यापार करनेवाले उनकी विक्रीसे

इच्छापरिमाण अथवा परिग्रहपरिमाणव्रतधारी पंचम अणुव्रती कहलाता है। अब यहां प्रश्न होता है कि जो पंच पापोंका स्थूलरूपसे त्याग करनेवाला श्रावक है उसके इतनी ही विशेषता है अथवा और भी कुछ है ? इसका समाधान नीचेके सूत्र द्वारा ग्रंथकार देते हैं—

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणा-तिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ २१ ॥

अर्थ—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग इन व्रतोंसे सहित भी श्रावक होता है। इनमें आदिके तीन व्रत तो गुणव्रत कहलाते हैं, वाकीके चार व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं और ऊपर पांच अणुव्रत कहदिये गये हैं इसप्रकार पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे बारहप्रकार श्रावकोंका व्रत है। इन बारहों व्रतोंमें अणुव्रतोंका स्वरूप ऊपर कहा जाचुका है वाकी गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका स्वरूप इसी सूत्रकी वार्तिकोंद्वारा कहाजाता है।

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक् ॥ १ ॥

अर्थ—परमाणुओंकी मर्यादासे विभाजित किये गये जो आकाशके श्रेणीबद्ध प्रदेश हैं वे ही प्रदेश दिशाके नामसे कहेजाते हैं अर्थात् आकाश अनंतस्वरूप एक अखंड द्रव्य है उसके कुछ भी भेद नहीं हैं परंतु उपचारसे उस आकाशमें भेदकल्पना की जाती है उस कल्पनाका मूल यह है कि जितने आकाशको सबसे छोटा पुद्गल अंश अर्थात् जिसका फिर खंड नहीं होसके ऐसा पुद्गल परमाणु घेरलेवे, अर्थात् एक पुद्गलपरमाणु जितने आकाशमें आजाय उतने आकाशको एक प्रदेश कहते हैं। इसप्रकार पुद्गलपरमाणुके परिमाणसे नाना अनंत आकाशप्रदेशोंकी कल्पना की जाती है। जो आकाशप्रदेश श्रेणीबद्ध हैं अर्थात् श्रेणीरूपसे एकओरको चलेगये जो आकाश प्रदेश हैं वे ही दिशाके नामसे कहे जाते हैं

अर्थ—जो हिंसाके कारणभूत साधन हैं. उनका देना सो हिंसाप्रदान नामा अनर्थदंड है। जैसे विष शस्त्र अग्नि रस्सी कोडा चाबुक डंडा लाठी आदि जो हिंसाके उपकरण हैं उनका प्रदान करना। इन वस्तुओंके देनेका उपयोग जीवके घातमें ही हो सकेगा इसलिये ऐसें हिंसाके साधनोंको देना हिंसादान नामा अनर्थदंड है।

हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन कथाओंसे हिंसाकी वृद्धि होती है जिनसे रागद्वेष वढता हो ऐसी खोटी खोटी कथाओंका सुनना उनकी शिक्षा लेना अथवा उन कथाओंमें प्रवृत्ति करना यह सव अशुभश्रुतिनामा अनर्थदंड है अर्थात् जिनवार्तोंके सुननेसे अपने चित्तमें रागद्वेष वढता हो जो हिंसोत्पादक वात हो जो परनिंदा करनेवाली हो जिससे अधर्मकी वढवारी होती हो अथवा धर्ममें शिथिलता आती हो परिणामोंमें विना कारण क्लेश वढता हो ऐसी मिथ्या एवं अशुभ कथाओंका सुनना आदि अशुभश्रुति-नामा अनर्थदंड है। इन समस्त प्रकारके अनर्थदंडोंसे विरति करना चाहिये अर्थात् इन समस्त अनर्थ-दंडोंका परित्याग करना चाहिये क्योंकि ये सव अनर्थदंड विना कारण पापवंध करानेवाले हैं जो इन अनर्थदंडोंका त्याग है वही अनर्थदंडव्रूत कहलाता है। जितने भेद अनर्थदंड पापके हैं उतने ही भेद अनर्थदंडव्रूतके हैं क्योंकि जिस जिस पापका त्याग यह श्रावक करता जायगा उसके उसी उसी नामका व्रूत होता जायगा इसलिये अनर्थदंडव्रूत भी पांच प्रकार समझना चाहिये।

मध्येऽनर्थदंडग्रहणं पूर्वोत्तरातिरिकानर्थक्यज्ञापनार्थं ॥ २६ ॥

अर्थ—यहांपर यह वतलाते हैं कि दिग्व्रूत देशव्रूतोंका पहले पाठ है और उपभोग परिभोग परिमाणाव्रूतका पीछे पाठ है उनके वीचमें अनर्थदंडव्रूतका मध्यमें पाठ है सो यह मध्य पाठ भी विशेष प्रयोजन दिखानेके लिये किया गया है। वह प्रयोजन यह है कि जो दिग्व्रूत और देशव्रूतकी

अवाधित रीतिसे सिद्ध हैं। न तो पांच ही किसी प्रमाणसे सिद्ध होसकते हैं और न सात ही सिद्ध होते हैं, किंतु छह ही निर्वाधरीतिसे सुसिद्ध हैं।

आदित्यादिगतिविभेदस्तद्भेदः ॥ २ ॥

अर्थ — जिन आकाशकी प्रदेश श्रेणियोंका नाम दिशा बताया गया है वे श्रेणियां ही सूर्य आदिके गमनागमन की अपेक्षा जो उदय और अस्तमय उसकी अवस्थायें हैं, उन अबस्थाओंके द्वारा नियमित मर्यादाओंके भेदसे भिन्न भिन्न कल्पनामें लाई हुई दिशाओंकी पूर्वदिशा, उत्तर दिशा, पश्चिम दिशा दक्षिणदिशा, ऊर्ध्व, अधः, नैऋत्यकोण, वायव्य कोण, आग्नेय कोण, ईशान कोण ऐसी दशो दिशाओंकी संज्ञा कही जाती है। जैसे—जिस ओर सूर्यका उदय होता है उसे पूर्व दिशाके नामसे कहते हैं। यह पूर्व दिशा उस ओरकी आकाश प्रदेशश्रेणीके सिवा और कुछ वस्तु नहीं है उस आकाशश्रेणीकी पूर्व जो संज्ञा हुई है वह सूर्योदय की अपेक्षासे है इसप्रकार सूर्यके गमनागमनकी अपेक्षा आकाशप्रदेश पक्तियोंका नाम ही पूर्व पश्चिम आदि दिशायें हैं।

ग्रामादीनां अवधृतपरिणामः प्रदेशो देशः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिनका परिमाण—मर्यादा नियमित की गई है अर्थात् जिनका क्षेत्र किसी मर्यादा तक नियत करलिया गया है ऐसे ग्राम, नगर, घर, कुटी आदिकोंका जो प्रदेश है—क्षेत्र है वह देश कहा जाता है। आदि शब्दसे पर्वत, नदी, गुफा, वन, स्तूप, आदि सांकेतित प्रदेशोंका ग्रहण करलिया जाता है।

उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदंडः ॥ ४ ॥

अर्थ—किसीप्रकारका उपकार नहीं होते हुए जो पाप संचयका कारण है वह अनर्थ दंडके नामसे व्यवहार किया जाता है अर्थात् जिनकार्योंके करनेसे अपना तथा दूसरेका कुछ भी उपकार नहीं होता हो ऐसी व्यर्थकी जो क्रियाऐं हैं उनका नाम ही अनर्थदंड है क्योंकि उन क्रियाओंसे जो पापबंध होता है वह विना प्रयोजनके होता है। दंडनाम यहांपर पापबंधका है अथवा दुःखका है अर्थ नाम प्रयोजनका

संयमप्रसंग इति चेन्न तद्घातिकर्मोदयात् ॥ २८ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि जो पुरुष सर्व पापोंकी निवृत्तिस्वरूप सामायिकमें स्थिर है, उसके सकल संयम क्यों न कहा जाय ? अर्थात् सामायिक धारण करनेवाला पुरुष जितनी देर तक सामायिक करता है उतनी देर तक समस्त पापोंका परित्याग कर देता है, ऐसी अवस्थामें वह सकल-संयमी कहलानेका क्यों पात्र नहीं है ? अर्थात् उस समय उसके सकलसंयम कहना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि सकल संमयका घात करनेवाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय कषाय है। उस कषायका उदय उस सामायिकधारी श्रावकके भी है, इसलिये सकलसंयमका विरोधी कर्मके उदय होनेसे वह सामायिकधारी श्रावक संयमी नहीं कहा जा सकता अर्थात् उसके सकल संयम चारित्र नहीं है।

महाव्रतत्वाभाव इति चेन्नोपचारात् राजकुले सर्वगतचैत्रवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—फिर यहांपर दूसरी शंका यह होती है कि यदि सामायिकधारी पुरुषकी आत्मामें सकल संयमका घात करनेवाले कर्मका उदय है, तो उसके उदयसे उसके अवश्य ही अनिवृत्त परिणाम होंगे अर्थात् प्रत्याख्यानावरणीय कषाय सकल संयमका घातक है और उस कषायका उस सामायिकधारी पुरुषके यदि उदय है तो उसके उदयमें वह समस्त त्रस स्थावर हिंसाका त्यागी भी नहीं हो सकता किंतु अविरत परिणाम ही उसके रहेगा वैसी अवस्थामें वह महाव्रती भी नहीं कहलाया जा सकता परंतु जैन-सिद्धांतमें उसे उपचारसे महाव्रती कहा गया है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि महाव्रत उसके मुख्य रीतिसे तो कहे ही नहीं गये हैं, किंतु उपचारसे महाव्रत कहा गया है वह उपचार कथन भी इसीप्रकार प्रवृत्त होता है जैसे कि राजकुलमें चैत्र सर्वगत कहलाता है। अर्थात् चैत्र नामक किसी पुरुषको नगर राजकीय क्षेत्र खेत देश तथा भण्डार आदिके कोठे आदि मकानोंमें जानेकी आज्ञा मिली हो और वह सब जगह आता जाता हो तो वह चैत्र नगरनिवासी लोकों द्वारा समस्त राजकुलमें प्रवेश करनेवाला

विरत्यग्रहणमधिकारात् इति चेन्नोपसर्जनानभिसंबंधात् ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं' इस सूत्रसे विरति शब्दकी अनुवृत्ति यहां आजायगी फिर यहां विरति शब्दका ग्रहण 'दिग्देशानर्थदंडविरति' इससूत्रमें क्यों किया गया है ? अर्थात् ऊपरके सूत्रसे विरति शब्दका ग्रहण जब सुतरां हो जायगा फिर विरति शब्दकी योजना इस सूत्रमें करना व्यर्थ है । उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व सूत्रसे कही गई जो विरति शब्दकी अनुवृत्ति है वह दिग्देशानर्थदंड इन उपसर्जनीभूत शब्दोंके साथ संबंधित नहीं हो सकती । यहां पर दिग्देश अनर्थदंड इनका ग्रहण गौणरूप है क्योंकि दिग्व्रतादिक शील कहे जाते हैं व्रत तो पांच ही हैं अतः विरति शब्द मुख्यतासे हिंसादिक पापोंके त्यागके लिये उस सूत्रमें कहा गया है वह गौणरूपसे कहे गये दिशा आदिके साथ प्रयुक्त नहीं हो सकता इसलिये अनुवृत्ति द्वारा विरति शब्दका संबंध गौणभूतपदके साथ नहीं होसकता इसलिये इस सूत्रमें विरति शब्दका ग्रहण आवश्यक है ।

एकत्वेन गमनं समयः ॥ ६ ॥

अर्थ—सामायिक शब्दका क्या अर्थ है ? इस बातको व्युत्पत्ति द्वारा सिद्ध करते हैं । सामायिक शब्दमें सम् उपसर्ग है और अय गमन अर्थमें प्रयुक्त होनेवाली धातु है । सम्का अर्थ एकीभाव होता है, अर्थात् मिले हुए रूपमें सम् अर्थ आता है, जैसे—संगतं घृतं, इसका अर्थ होता है मिलाहुआ घी, किसी वस्तुमें घी विलकुल मिलादिया जाय और मिलकर उन दोनोंका एकरूप होजाय तो वहां कहाजाता है कि घी संगत होगया है अर्थात् विलकुल मिल चुका है, एकरूप धारण कर चुका है उसीप्रकार 'संगतं तैलं' तैल मिला दिया जाय तो वहां भी ऐसा ही व्यवहार होता है कि यह तैल संगत होचुका अर्थात् विलकुल मिलचुका है । इस बातसे सम् शब्दका अर्थ एकीभाव रूप होता है यह जाना जाता है और गति अर्थवाली अय धातुका अर्थ गमन होता है । सम् अयः अर्थात् एकरूपसे जो गमन वह समय

आत्मामें सदा मिथ्याभाव अविरत परिणाम रहता है तो भी महाव्रतका वाह्य रूप पालनेसे वे एकादश अंगके पाठी हो जाते हैं और मरकर उपरिम ग्रैवेयिकमें उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि वहां भी वे मिथ्यादृष्टि देव ही होते हैं फिर भी महाव्रतके वाह्यपालन करनेके प्रभावसे उस सुखको प्राप्त होते हैं। अब यह बतलाते हैं कि प्रोषधोपवास करनेवाले श्रावकको क्या करना चाहिये इसीकेलिये वार्तिक कहते हैं—

स्नानगंधमाल्यादिविरहितोवकाशे शुचावपवसेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवाला श्रावक उस दिन पवित्र एकांत स्थानमें निवास करे। उसदिन अपने शरीरका कुछ भी संस्कार शृंगार आदि क्रिया नहीं करै। स्नान भी नहीं करै, गंधलेपन, भूषण पहनना माला आदि सुगंधित वस्तुओंका लगाना, आदि समस्त विलासिताकी उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंक/ प्रोषधोपवासके दिन त्याग करदे, और पवित्र एकांत स्थान जैसे साधु व्रती आदि त्यागियोंके आश्रममें अथवा चैत्यालयमें अथवा अपने घरमें ही जो प्रोषधोपवास करनेका धर्मसाधनका जो पवित्र एकांतका कोठा है, उसीमें निवास करै। केवल बैठा या लेटा नहीं रहे किंतु प्रमादरहित होकर धर्म कथाके सुननेमें एवं धर्म तत्त्वोंके चिंतवन करने आदिमें उपयोग लगावे। साथ ही उसदिन समस्त आरंभका त्याग करदे, आरंभ त्याग करनेका अर्थ सांसारिक आरंभका त्याग है। जो धर्मसाधनका आरंभ है, जैसे पूजन करना, और पूजन करनेके लिये स्नान करना, द्रव्य धोना, स्वाध्यायके लिये चौकी आदिका लाना, दीपकका लाना इत्यादि धर्मसाधक आरंभोंका त्याग नहीं बताया गया है। प्रत्युत ये समस्त कार्य तो उसदिन कर्तव्य कोटिके हैं। किंतु जो आरंभ व्यापार घर आदि सांसारिक कार्यसंबंधी हो उसीका त्याग प्रोषधोपवासके दिन अवश्य करै।

भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—भोगोंकी संख्या पांच प्रकार है अर्थात् भोक्तव्य वस्तुओंका पांच प्रकारसे परिहार करना

पुरुष केवल आहारको ही छोडदेता है वाकी समस्त इंद्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं रोकता है और न कषाय वासनाओंको कम करता है वह उपवास करनेवाला नहीं समझा जाता किंतु लंघन करनेवाला कहाजाता है क्योंकि उपवासमें परिणामोंको वीतराग बनाया जाता है। कर्मबंधको रोकनेका अथवा अशुभ प्रवृत्तिको हटानेका प्रयत्न किया जाता है परंतु जहां आहारमात्रका त्याग है वहां परिणामोंमें आकुलताके सिवा कुछ भी विशुद्धता नहीं है इसलिये उपवास करनेवालोंको आहार छोडनेके साथ इंद्रियप्रवृत्ति और कषाय वासनाऐं भी मंद करनी चाहिये तभी उस उपवासका महत्त्वशाली फल होता है। इसी वातको ग्रंथांतरमें कहा गया है—

"कषायविषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते। उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥"

अर्थात् जहां कषाय इंद्रियोंके विषय और आहार इन सबोंका त्याग किया जाता है वही तो उपवास कहलाता है, वाकी जहां आहारमात्रका ही छोडना है वह उपवास नहीं किंतु लंघन है उससे विशेषफलकी प्राप्ति नहीं होती है।

प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची ॥ ८॥

अर्थ—प्रोषध शब्द पर्वका पर्यायवाचक शब्द है अर्थात् प्रोषध नाम पर्वका है। पर्वमें जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। साधारण रीतिसे एक महीनेमें चार पर्व आते हैं, अष्टमी चतुर्दशी दो कृष्णपक्षकी और दो शुक्लपक्षकी। वाकी विशेष दशलक्षण, अष्टान्हिकव्रत आदि भी पर्व कहे जाते हैं, इन पर्वोंमें जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं यहांपर "साधनं कृता" इस जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रसे समास कीगई है अथवा 'संज्ञायां' उस सूत्रसे समास कीगई है।

उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः ॥ ९॥

अर्थ—जिसे अपने आधीन बनाकर भोग लिया जाय वह उपभोग कहलाता है अर्थात् जो एक

हानि पहुंचती हो वे भी अनिष्ट हैं उन सबका त्याग करदेना चाहिये। विना बुद्धिपूर्वक अनुष्ठान किये व्रत नहीं कहलाता है अर्थात् जहां बुद्धिपूर्वक प्रतिज्ञा ली जाती है वही व्रत कहलाता है कारण कि अभिप्रायपूर्वक किया गया नियम ही व्रत कहलाता है इसलिये इष्टानिष्ट वस्तुओंका समीचीन विचार कर उनका नियम करना आवश्यक है। तथा जो इष्ट पदार्थ हैं, अर्थात् जितने अपने लिये इष्ट प्रतीत होते हैं उनमें भी जो नानाप्रकारके वस्त्र आर विकारी भेष वनानेवाले भूषण आदि अनुपसेव्य हैं उनका भी परित्याग करना चाहिये। अथवा ऐसा भी अर्थ है कि इष्ट होते हुए भी जो सेवन करनेयोग्य नहीं हैं ऐसे जो नानाप्रकारके वस्त्र, विकार करनेवाल नाना भेष और विकार करनेवाले आभरण आदि भी छोडने चाहिये। इन पदार्थोंको व्रतीकी दृष्टि रखकर अनुपसेव्य कहागया है ऐसा प्रतीत होता है। इनका त्याग यावज्जीव कहिये सदाके लिये करना चाहिये। यदि सदाका त्याग करनेकी सामर्थ्य नहीं हो तो कालका नियम कर कुछ कालकेलिये ही त्याग देना चाहिये अथवा वस्तुओंका परिमाण कर अर्थात् वस्तुओंकी अवधि करके शक्तिके अनुसार उनका अनिष्ट पदार्थ और अनुपसेव्य पदार्थोंका परित्याग करना चाहिये।

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—अतिथिसंविभाग व्रतके (१) भिक्षा (२) उपकरण (३) औषध (४) वसतिका, ऐसे चार भेद हैं। मोक्षमार्गमें लगेहुए, संयम पालनेमें सावधान ऐसे शुद्ध परिणामवाले साधुके लिये गृहस्थको अपने शुद्ध चित्तसे निर्दोष आहार देना चाहिये। जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको वढाने-वाले हों ऐसे धर्मोपकरण भी देना चाहिये, शास्त्र, पिच्छी, कमंडलु आदि धर्मके साधक उपकरण हैं। उपयोगी शुद्ध औषधि भी देना चाहिये तथा धर्मकी परम श्रद्धापूर्वक उन अतिथियोंके निर्विघ्न ध्यान स्वाध्याय करनेकेलिये वसतिकाएं भी बनवा देना चाहिये। इसप्रकार चार प्रकारसे उन मोक्षमार्गमें

नहीं हो वह अतिथि साधु कहलाता है अथवा जिसके तिथिका निश्चय नहीं हो वह अतिथि कहलाता है अर्थात् जिसका आगमन किसी भी नियत कालसे नहीं इसका अर्थ यह नहीं है कि मुनि महाराज आहारकेलिये श्रावकके घर सुवह दो पहर सायंकाल कभी भी आसकते हैं, आहारकेलिये तो वे दिनके १०—११ वजेके समय निकलते हैं, यदि किसीके घर उस समय आहार उनका नहीं हो सके तो वे मध्यान्हके पीछे ३—४ वजेके समय भी निकल सकते हैं, इन दो समयोंके सिवा वे किसी अन्य समयमें आहारके लिये नहीं निकलते हैं परंतु उन्हें अतिथि इसलिये कहते हैं कि वे किस श्रावकके यहां आहारकेलिये कब पहुंच जांय इस वातका कोई निश्चय नहीं किया जासकता। संविभजन नाम संविभागका है अर्थात् अपनेलिये तयार किये गये भोजनमेंसे विभाग कर देना इसीका नाम संविभाग है। अतिथि कहिये मुनिके लिये अथवा ऐलक क्षुल्लककेलिये जो अपने लिये तयार किये गये भोजनमेंसे हिस्सा निकालना इसीका नाम अतिथिसंविभाग व्रत है अर्थात जो भोजन श्रावक अपने लिये तयार करता है उसीमेंसे कुछ भोजनका हिस्सा विना सूचना और तिथिका निश्चयकिये सहसा आहारके लिये निकले हुये पात्रके लिये नवधाभक्तिसे दान देना इसीको अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। यहां अश्वाय घासः अश्वघासः (अश्वकेलिये घास) इस जगह जिसप्रकार समास होता है उसीतरह अतिथये संविभागः अतिथिसंविभागः (अतिथिकेलिये विभाग) यह समास समझना चाहिये।

व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेदुक्तं ॥ १२ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि दिग्देशानर्थदंडविरति, इस सूत्रमें जो व्रत शब्दका ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है क्योंकि व्रत शब्दका ग्रहण पहले हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहभ्यो विरतिर्व्रतं इस सूत्रमें किया ही गया है उसीसे यहां अनुवृत्ति चली आवेगी फिर यहां भी व्रत ग्रहण करना व्यर्थ है? उत्तर—

अंतग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थं ॥ २ ॥

अर्थ—मरण दो प्रकार है, एक नित्यमरण दूसरा तद्भवमरण। जो प्रतिसमय अपनी आयु इंद्रिय शरीर आदिके निषेक खिरते चले जाते हैं वह नित्यमरण कहलाता है अर्थात् जिस जीवने जितने काल की आयुका बंध करलिया है उसके कर्मपरमाणु उतने कालतक ही उदयमें आते रहेंगे और अपना रस देकर खिरते रहेंगे इसीका नाम नित्यमरण है, जैसे किसी मनुष्यने पहले भवमें सौ वर्षकी आयुका बंध किया था वह आयुकर्म मनुष्य पर्यायमें उदयमें आना प्रारंभ हुआ। वे आयुकर्मके परमाणु क्रमक्रमसे सौवर्ष तक उदयमें आते रहेंगे और जो जो उदयमें आते जांयगे वे अपना फल देकर आत्मासे छूटते जांयगे इसप्रकार हरसमयमें आयुकर्मके कर्मपरमाणु अपना रस देकर खिरते जाते हैं यह खिरना ही मरण कहलाता है क्योंकि जितने जितने कर्म परमाणु खिरते जाते हैं उतनी ही इस जीवकी आयु घटती जाती है सौ वर्षमें जाकर सभी आयुकर्म खिरजाता है इसलिये वहां अंतिम मरण हो जाता है। इतना विशेष है कि यह क्रमसे परमाणुओंका खिरना तभी तक होता है जबतक कि किसी कारणवश आयुकर्मकी उदीरणा नहीं होपाती है। यदि किसी कारणसे-अपघातसे परघातसे युद्धसे विष पान आदिसे यदि मध्यमें ही मरण होजाय तो वहां फिर आयुकर्मके परमाणु क्रमसे नहीं खिरते हैं किंतु जो सौ वर्षमें उदय आनेवाले परमाणु हैं वे सब एक ही क्षणमें उसीसमय उदयमें आजाते हैं और उसी समय जीवका अंतिम मरण होजाता है इसप्रकारके असमयमें उदय आनेवाले कर्मको उदीरणाके नामसे कहते हैं। तद्भवमरण उसे कहते हैं कि जो भवांतर प्राप्तिके क्षणमें ही पूर्वपर्यायका अर्थात् वर्तमान पर्यायका विनाश होजाना। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीव जब वर्तमान पर्यायको छोडकर दूसरे भवकी पर्याय धारण करता है उससमय दूसरे पर्यायमें कारणस्वरूप जो अंतररहित उसी क्षणमें समस्त प्राणोंका वियोग होना अर्थात् पूर्वपर्यायको छोडना ही अंतिम मरण है। जब आयुकर्मके समस्त निषेक-उदयमें

अर्थ—उन दिशाओंकी मर्यादा–परिमाण प्रसिद्ध प्रसिद्ध सूचकोंसे करना चाहिये जैसे–योजन मीलोंसे पर्वतोंसे नदियोंसे जंगलोंसे नगरों आदि प्रसिद्ध और स्थाई चिन्होंसे उन दिशाओंका नियम करना चाहिये।

अगमनेपि प्राणिबधाभ्यनुज्ञानमिति चेन्न निवृत्यर्थत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ–यहां कोई शंका करता है कि दिशाओंकी मर्यादा करलेनेसे विना गमन किये भी मर्यादाके भीतर रहनेवाले प्राणियोंके बधकी स्वीकारता मालूम पडती है यदि ऐसा नहीं माना जाय तो फिर दिक्-परिमाण करना ही व्यर्थ है ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि दिशाओंका परिमाण मर्यादाके वाहर त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेकेलिये ही किया जाता है, सम्पूर्णरूपसे तो जीवहिंसाका परित्याग किया नहीं जासकता कारण कि संपूर्णरूपसे जीवहिंसाका त्यागी तो मुनि ही हो सकता है, श्रावकके सर्वथा त्याग अशक्य है इसलिये वह श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार प्राणीबधका वचाव कर-नेका प्रयत्न करता है अर्थात् शक्तिके अनुसार ही जीवबधकी निवृत्ति करता है उसी उद्योगके साथ उसकी प्राणयात्रा अर्थात् जीवनगति हो इसी उद्देश्यसे वह श्रावक शक्तिपूर्वक जीवरक्षा करनेका उद्योग करता है। अथवा दूसरी बात यह भी है कि अधिक प्रयोजन होने पर भी की हुई दिशाओंकी अवधिसे वाहर कभी व्यवहार नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञारूप अहिंसामय परिणामोंके कारण वह श्रावक हिंसाके दोषका भागी नहीं होता है।

तृष्णाप्राकाम्य निरोधतन्त्रत्वाच्च ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी इच्छाएं बहुत बढी हुई हैं, उस पुरुषसे किसीने यह कहा कि देखो भाई ? जिस दिशाके वाहर नहीं जानेकी तुमने प्रतिज्ञा करली है उसी दिशामें तुम्हारी की हुई मर्यादाके वाहर विना किसी प्रयत्नके मणि रत्न आदि संपत्तिका लाभ होता है इसलिये तुम्हें चलकर वह लाभ करना

सेविता शब्दसे नहीं होता है उससे केवल सेवन अर्थ ही होता है और जोषिता कहनेसे प्रीतिपूर्वक सेवन करना अर्थ होता है क्योंकि जुषि धातुका अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन करना है उसीका जोषिता शब्द बना है। यदि सल्लेखना धारण करनेमें प्रीति नहीं हो तो फिर उसका धारण करना बलपूर्वक अर्थात् जबर्दस्तीसे समझा जायगा परंतु बलपूर्वक सल्लेखना कराई नहीं जाती है कारण कि सल्लेखना कषायभावोंको दूर करनेके लिये ही की जाती है। यदि स्वयं सल्लेखना धारण करनेके किसी जीवके भाव नहीं हों तो प्रेरणा-पूर्वक वह उससे नहीं कराइ जाती है. वैसा करानेसे कषाय भावोंकी मंदता नहीं होनेसे उसका कुछ फल नहीं होता। इसलिये जब आत्मा सल्लेखना करनेमें अपना परम हित समझता है तभी स्वयं प्रेमपूर्वक उसे धारण करता है इसी प्रयोजनको दिखानेकेलिये यहांपर जोषिता पाठ दिया गया है।

सल्लेखनाया जोषितेति चेन्न तृनः प्रयोगात ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर दूसरी शंका यह होती है कि सूत्रमें सल्लेखनां जोषिता. ऐसा पाठ है परंतु सल्लेखनायाः जोषिताः ऐसा षष्ठी विभक्ति सहित पाठ होना चाहिये, जिस प्रकार कटस्य कर्ता—कटका (चटाईका कर-नेवाला) यहांपर कटस्य यह षष्ठी विभक्ति होती है उसीप्रकार सल्लेखना शब्दमें द्वितीया विभक्ति नहीं हो कर षष्ठीविभक्ति ही होनी चाहिये ? उत्तर —यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि यहां जोषिता शब्दमें तृन् प्रत्यय हुआ है जहां तृन् प्रत्ययका प्रयोग होता है वहां कर्ममें द्वितीया विभक्ति ही हुआ करती है और जहां तृच् प्रत्ययका प्रयोग होता है वहां कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है। कर्तामें तृच् प्रत्यय है इसलिये कटस्य यह कर्ममें षष्ठी विभक्ति हो गई, परंतु यहां जोषितामें तृन् प्रत्यय है इसलिये सल्लेखनां ऐसी द्वितीया विभक्ति ही ठीक है।

आत्मबधकत्वप्रसंग इति चेन्नाऽप्रमत्तत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यहांपर कोई यह शंका करता है कि सल्लेखना धारण करनेमें आत्म-बधका अर्थात् अपघातका

तथैव देशनिवृत्तिः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दिशाओंकी मर्यादा की जाती है, उसीप्रकार देशोंकी मर्यादा भी करना चाहिये। जैसे मेरे घरसे जो दूसरेका घर है अथवा मेरे घरसे चल कर जहांतक अमुक तालाब है वहांतक ही अमुक समयतक गमन करूंगा, उस क्षेत्रको छोडकर आगे किसी प्रदेश या देशको नहीं जाऊंगा, इसप्रकार देशकी मर्यादा करना चाहिये यह देशव्रतकी मर्यादा भी उसी प्रयोजनसे की जाती है जिस प्रयोजनसे दिग्व्रतकी मर्यादा की जाती है और जिसप्रकार दिग्व्रतकी ली हुई मर्यादासे बाहर उस दिग्वृतीके उपचारसे महाव्रूतपना आता है उसीप्रकार देशवृतीके भी मर्यादाके बाहर उपचारसे महाव्रूतपना आता है। क्योंकि इसके भी मर्यादाके बाहर त्रसहिंसा और स्थावरहिंसाका मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे सर्वथा त्याग हो जाता है। इन दोनोंमें दिग्वृत और देशवृतमें इतना विशेष है अर्थात् इतना भेद है कि दिग्वृत तो सार्वकालिक अर्थात् आजन्मके लिये होता है, इसलिये वह यम कहा जाता है और देशवृत अपनी शक्तिके अनुसार विशेष २ काल और विशेष २ क्षेत्रोंकी अपेक्षासे किया जाता है इसलिये वह नियम कहलाता है। जो सदाके लिये धारण कियाजाय उस वृतका नाम यम है और जो किसी कालविशेषके लिये धारण किया जाय वह वृत नियमके नामसे प्रसिद्ध है। दिग्वृतमें देश काल दोनों सदाके लिये नियत हैं देशव्रतमें दोनों अनियत हैं यही दोनोंमें अंतर है। इतना और भी विशेष समझना चाहिये कि दिग्वृत व्यापक है और देशव्रत व्याप्य है क्योंकि दिग्व्रतकी मर्यादा बडी है देशव्रतकी उससे छोटी है, दिग्व्रतके भीतर ही देशवृतकी अवधि होती है।

अनर्थदंडः पंचधा अपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाऽशुभश्रुतिभेदात् ॥ २० ॥

अर्थ—अनर्थदंडके पांच भेद हैं, वे पांच भेद ये हैं १ अपध्यान अनर्थदंड, २ पापोपदेश अनर्थदंड ३ प्रमादाचरित अनर्थदंड, ४ हिंसाप्रदान अनर्थदंड ५ अशुभश्रुति अनर्थदंड। इन पांचोंका स्वरूप इसप्रकार है—

अर्थ—रागद्वेषादिकी उत्पत्तिका नहीं होना ही अहिंसकता है ऐसा शास्त्रमें कहागया है और उन रागादिकोंकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने बताया है अर्थात् हिंसाका लक्षण यही है कि रागादि विभावभावोंका उदय होना और अहिंसाका लक्षण यही है कि उन रागादि विभावभावोंका उदय नहीं होना। यही हिंसा अहिंसाका लक्षण जिनेन्द्र द्वारा प्रगट किये गये जैनसिद्धांतमें बताया गया है। प्रकृतमें सलेखना धारणकरनेवालेके उन रागादिभावोंका उदय नहीं है जो कुछ है उसे वह दूर कर रहा है इसलिये उसके हिंसाका दोष नहीं आता। और भी कहते हैं—

मरणस्यानिष्टत्वात् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अनेक प्रकारकी वस्तुओंके लेने देने आदि व्यपार और उनके संचय करनेमें तत्पर वणिक्—व्यापारी उन उपयोगी वस्तुओंके आधारभूत घरका विनाश होना नितांत अनिष्ट समझता है इसलिये उस घरकी पूर्ण रक्षा करता है। यदि किसी कारणवश—अग्नि आदिके लगने आदिसे उस घरका विनाश होना वह समझता है तो तत्काल ही अपनी शक्तिके अनुसार वह उस विनाश कारणके दूर करनेका प्रयत्न करता है। यदि इतना प्रबल कारण उपस्थित होजाय कि जिससे उस घरकी रक्षा किसीप्रकार नहीं हो सकती हो तो वह चतुर वणिक् उस घरकी चिंता छोडकर ऐसा प्रयत्न करता है जिससे उस घरके भीतर रक्खी हुई वस्तुऐं नष्ट न होसकें अर्थात् घरका नाश अवश्यंभावी समझकर उस घरकी वस्तुओंको निकाल निकाल कर बाहर रखता है फिर उन्हींकी रक्षामें यत्न करता है। ठीक उसीप्रकार यह गृहस्थ भी व्रत शील आदि आत्मगुणोंके संचयमें पूर्ण प्रयत्न करता है और उन व्रतादिकके ठहरनेका स्थान शरीरको समझता है इसलिये उस शरीरका किसी भी प्रकारसे नाश नहीं हो ऐसा प्रयत्न बराबर करता रहता है। यदि किसी कारणवश उस शरीरका विनाश होता हुआ उसे मालूम हो तो वह तुरंत उसकी रक्षाका उसप्रकार यत्न करता है जिससे उसके भीतर रक्खे हुये आत्म-

धन इकट्ठा करनेवाले उन पशुओंका सुख दुख नहीं देखते वे तो जहां उनका वध भी होता हो वहां भी अपने लोभके वशीभूत होकर उन्हें बेच देते हैं, इसलिये तिर्यंचोंकी विक्रीका उपदेशदेना तिर्यक् वणिज्या नामका पापोपदेश अनर्थदंड है। वागुरिक नाम पारधीका है, सौकरिक नाम वधिकक । है, शाकुनिक नाम पक्षी पकडनेवालेका है, इन पारधी वधिक और पक्षी पकडनेवालोंको यह उपदेश कहना कि मृग शूकर तोते आदि पक्षी इस देशमें बहुत हैं यह उपदेश बधकोपदेश नामा पापोपदेश अनर्थदंड है, क्योंकि ऐसे उपदेशसे पक्षियोंके और हरिण आदि पशुओंके प्राण नष्ट हो जाते हैं। जो आरंभ करनेवाले किसान आदि आरंभी लोग हैं उन्हें पृथिवी जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिका आरंभ बढानेवाला उपदेश देना कि इन पृथिवी आदिका आरंभ अमुक उपायसे करना चाहिये, अमुक उपायसे इनका आरंभ करनेसे अधिक लाभ होगा आदि। इसप्रकार पृथिवी आदिक आरंभका मार्ग बतानेवाला उपदेश देना आरंभकोपदेश नामा पापोपदेश अनर्थदंड है। ऐसा उपदेश देनेसे जितना अधिक आरंभ किया जायगा उतनी ही जीवोंकी हिंसा अधिक होगी। इसप्रकार पापसंयुक्त वचन बोलना अथवा जिनसे पापबंध होता हो ऐसे वचन बोलना पापोपदेश अनर्थ दंड है।

प्रयोजनमंतरेणापि वृक्षादिछेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्मप्रमादाचरितमिति कथ्यते ॥ २३ ॥

अर्थ–प्रयोजनके विना ही वृक्ष वनस्पति आदिका काटना छेदना, पृथिवीका कूटना खोदना जलका सींचना फेंकना आदि पापकार्य करना प्रमादाचरण नामका अनर्थदंड है अर्थात् अनेक पुरुष विना प्रयोजन बैठे बैठे पृथिवी खोदते हैं, कोई पानी उलीचते फिरते हैं, कोई मार्गमें चलते चलते वृक्ष आदि वनस्पतियोंको ही छेदते काटते जाते हैं यह सब क्रिया विना कारण जीववधका हेतु होनेसे पापका कारण है

विषशस्त्राग्निरज्जुकशादंडादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥ २४ ॥

समझकर अपने परिणामोंकी सम्हालका यत्न करता है इसलिये सर्वथा अप्रमत्त होनेसे वह अपघाती नहीं कहा जासकता। और भी स्पष्ट करते हैं—

स्वसमयविरोधात् ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें समस्त पदार्थ क्षणिक माने हैं, यदि वे ही क्षणिकवादी समस्तपदार्थोंको नित्य मानने लगें तो उनका वह मानना उनके ही शास्त्रसे विरुद्ध पडता है अर्थात् उनके सिद्धांतसे ही उनका कहना विरुद्ध पडता है उसीप्रकार बौद्धका यह भी कहना है कि जिससमय जीव होता है, जीवका ज्ञान भी होता है, जीवको मारनेके कषायरूप परिणाम भी होते हैं तथा प्राणव्यपरोपण क्रियात्मक हिंसा भी कीजाती है उसीसमय इन चारप्रकार चेतनामें प्रवृत्तिरूप उपयोग होनेसे हिंसा कहलाती है ऐसा कहनेवाला बौद्ध ही यदि यह भी कहे कि आत्मघात करनेका हिंसात्मक उपयोग नहीं होनेपर भी जो सल्लेखना करता है उसे आत्मघातका दोष लगता है तो उसका ऐसा कहना भी स्वसमय विरोधजनक है क्योंकि जो सल्लेखना करनेवाला है उसके ऊपर कही हुई चारप्रकार चेतनामें उपयोग प्रवृत्ति नहीं होनेसे कर्मबंधका अभाव है अर्थात चारप्रकार हिंसात्मक उपयोग नहीं होनेसे सल्लेखनावालेके यदि हिंसाजनित कर्मबंध ही नहीं होता तो उसके आत्मघात भी सिद्ध नहीं होता इसलिये बौद्धके यहां आत्मघात बतानेसे स्वसमयविरोध आता है यदि स्वसमय विरोध नहीं हो, इसकेलिये वह यह कहै कि जीव जीवका ज्ञान हिंसक और हिंसा इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिरूप उपयोगके द्वारा हिंसात्मक क्रिया भिन्न है अर्थात् जहां हिंस्य हिंसक हिंसा आदि चतुर्विध परिणाम होता है वहीं हिंसात्मक क्रिया समझी जाती है यदि बौद्धको यह बात इष्ट है तो सल्लेखनामें आत्मवध करनेवाले रागादि परिणामोंका अभाव होनेसे आत्माका अहिंसपना ही सिद्ध होजाता है अर्थात् सल्लेखनामें हिंस्य हिंसक आदि चार प्रकार हिंसात्मक परिणाम नहीं होनेसे तथा रागादि परिणतिका अभाव होनेसे आत्म-हिंसा नहीं कही जासकती

मर्यादा की जाती है उस मर्यादाके भीतर भी विना प्रयोजन कोई पापकार्य नहीं किया जाय विना प्रयोजन वहां भी कोई अनर्थदंड नहीं हो तथा उपभोगपरिभोगपरिमाण वृतमें जितनी वस्तुओंके रखनेका नियम करलिया जाता है उसनियमकें भीतर आईहुई जितनी भी उपभोग परिभोगके योग्य वस्तुयें हैं उनका भी विना प्रयोजन उपभोग परिभोग नहीं करना चाहिये अर्थात् जितनी भोगोपभोग सामग्री रखली जाती है उस सवका भी विना प्रयोजन उपयोग नहीं करना चाहिये यदि रक्खी हुई वस्तुओंमेंसे भी कुछ आरंभ कम हो तो वह भी घटाना चाहिये क्योंकि जितना आरंभ घटाया जायगा उतना ही पापबंध कमती होगा। इसीलिये यहां यह कहा गया है कि दिग्वृत और देशवृतके भीतर तथा भोगोपभोगपरिमाणवृतके नियत परिमाणके भीतर विनाकारण गमनागमन नहीं हो और न विषयसेवन ही हो इसी बातको प्रगट करनेकेलिये उनके वीचमें अनर्थदंड शब्दका पाठ दिया गया है। इस कथनसे मर्यादाके भीतर भी गमनागमन और विषयसेवनकी अधिकताका निषेध किया गया है।

सामायिकेनियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ॥ २७ ॥

अर्थ—इतने क्षेत्रमें इतने कालमें मैं समस्त आरंभ परिग्रहका त्यागकर आत्मस्वरूपके चिंतवनमें लीन होता हूं इसप्रकार निश्चय करता हुआ जो सामायिकमें स्थिर होजाता है उसके महाव्रतपना पहले के समान जानना चाहिये। जिसप्रकार दिग्व्रत और देशव्रतोंमें मर्यादाके वाहर त्रस हिंसा और स्थावर हिंसाका सर्वथा त्याग होनेसे उपचारसे महाव्रतपना बताया गया है उसीप्रकार समस्त आरंभ परिग्रहका नियत कालके लिये त्याग कर जो सामायिकमें लीन है उसके भी महाव्रतपना है क्योंकि वह भी निश्चित किये हुये कालतक त्रस और थावरकी सूक्ष्म स्थूल दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे सर्वथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नव भेदोंसे विरक्त हो जाता है इसलिये सामायिकके कालमें वह भी महावृती उपचारसे कहा जाता है।

सकता है अर्थात् नहीं हो सकता इसलिये आत्माको निःक्रिय भी मानना और उसका वध भी बताना दोनों बात परस्पर विरुद्ध हैं। आत्माका वध कहनेसे आत्माकी क्रिया स्वीकार होती है और क्रियाकी स्वीकारतामें निःक्रिय माननेरूप प्रतिज्ञाका भंग हो जाता है यदि प्रतिज्ञाभंग नहीं हो इस अभिप्रायसे वे आत्माको निःक्रिय ही बतावें तो फिर सल्लेखनामें आत्मवधका दोष आता है यह उपालंभ भी नहीं दिया जा सकता। इस उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सल्लेखनामें किसी प्रकार अपघातका दोष नहीं आता। जो दर्शनवाले—बौद्ध सांख्य नैयायिक आदि सल्लेखनामें आत्मवधपनेका दोष बताते हैं तो उनका वह दोष बताना उनके वचनसे और उनके सिद्धांतसे ही बाधित हो जाता है क्योंकि उन्होंने पदार्थव्यवस्था और आत्मस्वरूप ही इस प्रकार मान रक्खा है जिससे उनका दोष देना उलटा उनके मतका ही घातक होजाता है इसलिये सल्लेखना करनेवालेके किसी भी प्रकार और किसी भी युक्तिसे आत्मवधका दोष नहीं आता है। अब यहांपर यह बताते हैं कि सल्लेखनाका विधान जीवके मरण समयमें बताया गया है परंतु इस मरणका ज्ञान निश्चयरूपसे कब हो और सल्लेखना धारण करनेका प्रयत्न यह जीव किस समय करै? इसीका उत्तर नीचेकी वार्तिकसे दियाजाता है—

जरारोगेंद्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षये ॥ २१ ॥

अर्थ—जिससमय शरीरको असमर्थ शक्तिहीन बनानेवाली जरासे अर्थात् बुढापेसे जंघाओंका बल और वीर्य नष्ट होजाय अथवा वात पित्त आदि विकारोंसे उत्पन्न हुये रोगोंकी तीव्रतासे अतिशीघ्र इंद्रियोंकी शक्ति भी क्षीण होजाय उससमय अपने मरणका अवश्य निश्चयकाल समझकर अंतसमयमें सल्लेखना धारण करनेका स्मरण करनेवाला श्रावक प्रासुक आहार करने लगजाय प्रासुक ही जल पीने लगजाय और क्रमसे आहारका परित्यागकर छाछ आदिका पान करने लगजाय उसका भी त्याग कर केवल गरम जलका ग्रहण करने लगजाय क्रमसे उसका भी परित्याग कर उपवास धारण करलेवे,

समझा जाता है और यह प्रसिद्ध किया जाता है कि इस चैत्रका आना जाना सर्वत्र राजघरानेमें है यद्यपि राजकुलके भीतर जो राजा एवं रानियोंके स्नानगृह हैं, उवटन शरीर पर गंध लगाने आदिका स्थान है तथा जो भीतर राणियों आदि राजपरिवारके रहनेका स्थान है उन महलोंमें चैत्रके जानेकी सर्वथा निषेधाज्ञा है वह उन स्थानोंमें कभी नहीं प्रवेश कर सकता फिर भी केवल वाह्यस्थानोंमें जाने मात्रसे वह राजकुलमें सर्वगत कहलाता है उसीप्रकार जिस पुरुषकी बुद्धि वाह्य त्रस स्थावर जीवोंके घातमें नहीं लगी हुई है अर्थात् जो हिंसाका परित्याग करचुका है उसके अभ्यंतर सकलसंयमका घात करनेवाले कर्मका उदय भी है तो वह बहुत मंद है उस मंदोदयसे उसके अविरत रूप परिणाम है तो भी महावृतका उपचार कियाजाता है अर्थात् जो सामायिक धारण करनेवाला श्रावक है उसके प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय अवश्य है परंतु फिर भी वह उदय बहुत मंदरूप है। मंद-रूप होनेसे भी संयमभावका घात तो होता ही है परंतु अविरत भावका भी प्रबल परिणाम नहीं कहा जासकता यदि उसी कषायका उसके तीव्रोदय होता तो वह त्रस हिंसाके सर्वथा त्याग करनेमें कुछ काल-केलिये भी समर्थ नहीं होता इसलिये प्रत्याख्यानावरणी कषायके अतिमंदोदय होनेसे और त्रस स्थावर हिंसाका पूर्ण परित्याग होनेसें सामायिकधारी पुरुष उपचारसे महावृती कहा जाता है। यद्यपि संज्वलन कषायमात्रका उदय नहीं होनेसे सकल संयमके उसके परिणाम नहीं है फिर भी कुछ अंशोंमें विरत परिणाम होनेसे राजकुलमें सर्वगत समझे जानेवाले चैत्रके समान वह उपचारसे महावृती कह-लाता है। यद्यपि यहांपर केवल सामायिक वृत है, सकल संयम वृत नहीं है तथापि एक देशमें सर्वदेशका उपचार करलिया जाता है। इस वाह्य महावृतके धारण करने मात्रसे निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेवाले और एकादश अंगोंके पाठी अभव्य मुनि भी उपरिम ग्रैवेयिकमें इंद्र उत्पन्न होते हैं। यद्यपि उन अभव्य मुनियोंके केवल पहला ही गुणस्थान है क्योंकि उनके सदैव मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है इसलिये उनकी

नेमें समर्थ होता है इसीवातको प्रगट करनेके लिये सल्लेखनामरणका जुदा पाठ किया गया है अर्थात् सप्त शील पालनेवाले किसी किसी गृहस्थके ही किसी कालमें सल्लेखनामरणके प्रति परिणाम होते हैं हर एक गृहस्थके नहीं होते इसी विशेषताको प्रगट करनेकेलिये जुदा सूत्र कियागया है। भावार्थ—सल्लेखनामरणका धारण बहुत ही पुण्योदयसे प्राप्त होता है कोई तो मरण समयमें वेहोश—वेसुध (जिनका ज्ञान मूर्च्छित हो जाता है) हो जाते हैं वैसी दशामें सल्लेखनामरणका धारण करना अशक्य होजाता है इस-प्रकारकी दशा होना भी अशुभ परिणामोंका ही फल है। कोई मरते समय रागद्वेष करने लगते हैं मोह कषायोंके नहीं छूटनेसे भी सल्लेखना नहीं बन सकती। किसीको निमित्त साधन अनुकूल नहीं मिल पाते इसलिये वह सल्लेखना धारण करनेमें सावधानी नहीं रखसकता है इत्यादि अनेक कारण कलाप ऐसे हैं जिनसे अनेक वृती भी सल्लेखनामरण धारण करनेमें असमर्थ होजाते हैं इसलिये सल्लेखनामरण उसी आत्माका होता है जिसका विवेक जागृत है वेसुध अवस्था नहीं हुई है मोह कषायोंको जो छोडनेमें समर्थ है जिसके निमित्त साधन भी अच्छे हैं ये समस्त वात विना पूर्व पुण्योदयके नहीं मिलती है इसलिये सल्लेखना मरण सप्तशील पालनेवालोंमें भी कदाचित् किसीके होता है सभी गृहस्थोंके नहीं होता इसी वातको प्रगट करनेके लिये यहां 'मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता' यह जुदा सूत्र किया गया है और भी इसी वातको स्पष्ट करते हैं—

वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात् ॥ १३ ॥ अविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाद्वा ॥ १४ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ घरको नहीं छोडता है उसकेलिये तो दिग्विरति देशविरति आदि सप्तशीलों-का उपदेश है और जो घरको छोड देता है ऐसा जो श्रावकके व्रतोंको पालनेवाला गृहस्थ है उसके लिये सल्लेखनाका उपदेश है इसलिये दोनोंका भिन्न भिन्न सूत्र है। भावार्थ—सल्लेखनामरणके लिये कोई ऐसा क्षेत्र होना आवश्यक है जिसमें एकांत हो समाधिधारण करनेमें जहां बाधा नहीं आसके। जिस-

चाहिये। वे पांच प्रकार इसप्रकार हैं (१) त्रसघात, (२) प्रमाद, (३) बहुबध (४) अनिष्ट (५) अनुपसेव्य। इन पांच विषयोंके भेदसे भोगोंके त्यागके पांच प्रकार हैं। उनमें मधु-सहत और मांस ये दो तो सदा ही छोडने योग्य हैं क्योंकि इनके सेवनमें नाना त्रस जीवोंका विघात होता है और महा विकृत घृणित हैं। साक्षात् पंचेंद्रिय जीवके मृत शरीरका कलेवर ही मांस है इसलिये त्रस जीवके घातसे जिसकी चित्तवृत्ति निवृत्त है ऐसे जीवको मधु और मांस ये दोनों सदा छोडने ही योग्य हैं। मदिरा भी जीवोंकी खानि है उसका भी सदा त्याग करना चाहिये। मदिरापान कार्य अकार्यके विवेकमें मोहित कर देता है अर्थात् मदिरा पीनेसे बुद्धि मूर्छित हो जाती है, और वैसा होनेसे हिताहितका विवेक भी सर्वथा नष्ट हो जाता है इसलिये प्रमादके दूर करनेकेलिये मदिराका परित्याग करना भी आवश्यक है तथा केतकीके पुष्प, अर्जुन कहिये केवडाके पुष्प, बहुत जीवोंके योनिस्थान हैं। आदि पदसे सेंजना अकथ्या आदिका ग्रहण है अर्थात् इन पुष्पोंमें बहुत जीव रहते हैं। उन पुष्पोंका व्यवहार करनेसे वे सब जीव मर जाते हैं इसीप्रकार श्रृंगवेर कहिये अदरक, कंदमूल, हरित् हरिद्रा अर्थात् सचित्त हलदी, और नीवके पुष्प इत्यादि भी अनंतकाय कहेजानेवाले हैं, अर्थात् इनमें अनंत साधारण निगोदिया जीव रहते हैं, इनके सेवन करनेसे बहुत जीवोंका घात होता है और स्वल्प फल मिलता है। स्वल्प फल भी और कुछ नहीं। केवल जीभका स्वाद होता है परंतु अनंत जीवोंका उस स्वाद मात्रमें प्राणनाश हो जाता है इसलिये इन ऊपर कहे गये सचित्त अदरक सचित्त हरिद्रा कंदमूल आदि पदार्थोंका परित्याग करना ही कल्याणकारी है। यान, रथ गाडी मोटर आदि सवारी-वाहन, हाथी घोडा बैल आदि आभरण-भूषण आदि पदार्थोंमें इतना मात्र ही इष्ट है बाकी सब अनिष्ट है, इसप्रकार विचार कर जो अनिष्ट है उसका परित्याग कर देना चाहिये अर्थात् जिन पदार्थोंका सेवन करना अनुपयोगी हो, वैसे पदार्थोंको अनिष्ट समझ कर उनका त्याग करदेना ही उचित है। जिनके सेवन करनेसे अपनेलिये

तब यह बतादीजिये कि सम्यग्दर्शन क्या निरतिचार ही होता है अथवा वह भी अतीचारोंसे सहित अपवादसहित होता है? इस शंकाके उत्तरमें श्रीआचार्य कहते हैं कि किसी किसीके मोहनीय कर्मकी अवस्था विशेषसे कभी नीचे लिखे अतीचार अथवा अपवाद भी होते हैं, अर्थात् सभी जीवोंका सम्यग्दर्शन निरतिचार नहीं होता है, सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे किसी किसीके सम्यग्दर्शनमें अतीचार भी लगा करते हैं, वे अतीचार सूत्र द्वारा बताये जाते हैं—

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव, ये पांच सम्यग्दृष्टिके अतीचार हैं। जिनेन्द्रके कहे हुए आचार्यप्रतिपादित ग्रंथोंमें अर्थात् जैनसिद्धांतमें शंका करना परिणामोंमें जैन तत्त्वोंकी दृढ प्रतीत होनेके साथ ही किसी किसी बातमें शंकितवृत्ति रखना शंका कहलाती है। सांसारिक भोगोंकी आकांक्षा करना अर्थात् सम्यग्दर्शन व्रत आदिका फल मुझे सांसारिक सुख मिले स्वर्गीय सुख मिले इसप्रकार परिणामोंका रखना कांक्षा कहलाती है। मुनियोंका वाह्यरूप विना स्नानादिके ग्लानिमय देखकर अथवा अन्य ग्लानिमय वस्तुओंको देखकर उनसे घृणाभाव करना विचिकित्सा कहलाती है। किसी मिथ्यात्वपोषक क्रियाको देखकर मिथ्यादृष्टिकी मनसे प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा कहलाती है और उसीप्रकार उस मिथ्यादृष्टिकी वचनसे प्रशंसा करना अन्यदृष्टिसंस्तव कहलाता है ये पांच अतीचार सम्यग्दर्शनके हैं, इनसे सम्यग्दर्शनमें दूषण लगता है। यद्यपि अतीचारोंसे सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता, किंतु उसमें मलिनता कुछ अवश्य आती है।

जब शंका कांक्षा आदि सम्यग्दर्शनके दूषण हैं तो उनके उलटे निःशंकित निःकांक्षित आदि सम्यग्दर्शनके गुणरूप भूषण हैं अर्थात् जिसप्रकार शंकादिक दोषोंसे सम्यग्दर्शनमें मलिनता आती है उसीप्रकार शंकारहित कांक्षारहित विचिकित्सारहित होनेसे सम्यग्दर्शनमें निमलता अथवा विशुद्धि आती

लगे हुए साधुओंके लिये गृहस्थको दान देना चाहिये। दिग्देशानर्थदंडविरति इस सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया गया है वह आगेके गृहस्थधर्मके संग्रह करनेके लिये है। अर्थात् ऊपर कहेगये दिग्व्रतादि सप्तशील तथा उनके पहले कहे गये पांच अणुव्रत इनसे भी अतिरिक्त गृहस्थका और भी धर्म है यह बात प्रगट करनेके लिये सूत्रमें चकारका ग्रहण किया गया है। अब यहां यह बतलाते हैं कि च शब्दसे और कौनसा गृहस्थका धर्म ग्रहण किया जाता है? सोही नीचेके सूत्रसे प्रगट करते हैं-

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—मरणके अंतमें होनेवाली सल्लेखनाको गृहस्थ धारण करै। अर्थात् मरणकालमें प्रेमपूर्वक सल्लेखना धारण कर प्राणोंका उत्सर्ग करै।

स्वायुरिंद्रियबलसंक्षयो मरणं ॥ १ ॥

अर्थ-अपने परिणामोंके निमित्तसे प्राप्तकी गई आयु अथवा जितने कालकेलिये आयुकर्मका बंध हुआ है उसका परिपाककाल प्राप्त करनेवाली आयु और इंद्रियां तथा मन वचन काय इन तीन बलोंका कारणवशसे नाश होजाना मरण कहाजाता है। यही बुद्धिमानोंने मरणका लक्षण माना है। अर्थात् जिस जीवके जितने प्राण होते हैं उन प्राणोंका वियोग होजाना ही मरण है। जैसे-एकेंद्रिय जीवके चार प्राण होते हैं, आयुः प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण, स्पर्शनइंद्रिय प्राण और कायप्राण। द्वींद्रियके चार तो ये हैं और एक रसना इंद्रिय तथा वचनबल ये दो प्राण और बढ जाते हैं। भाषा वर्गणाका उदय द्वींद्रिय जीवसे ही प्रारंभ होता है इसलिये द्वींद्रिय जीवके छह प्राण होते हैं। त्रींद्रिय जीवके एक प्राण इंद्रिय और होती है ऐसे उसके सात प्राण होते हैं। चतुरिंद्रिय जीवके चक्षुरिंद्रिय और होती है इसप्रकार आठ प्राण होते हैं। असंज्ञि पंचेंद्रिय जीवके कर्णइंद्रिय और बढ जाती है ऐसे नव प्राण होते हैं, तथा संज्ञि पंचेंद्रिय जीवके मन भी होता है इस प्रकार उसके दशप्राण होते हैं। इसप्रकार जिस जीवके जितने प्राण हैं उनका नाश होना ही मरण है।

परंतु सूत्रमें उसका स्वतंत्र उल्लेख किया गया है, इसलिये उससे यह वात सिद्ध होती है कि ये अतीचार सामान्यरूपसे सम्यग्दर्शनके हैं वह सम्यग्दर्शन चाहे श्रावकका हो और चाहे मुनियोंका हो दोनोंके लिये ये अतीचार हैं। फिर यहां शंका होती है कि यदि इसीलिये सम्यग्दृष्टि शब्दका ग्रहण है तो इस गृहणसे भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि शब्दके गृहण करने पर भी स्पष्ट रीतिसे शंकाकी निवृत्ति नहीं होती है, इसलिये यह कहना चाहिये कि यहांसे अगारी—गृहस्थका प्रकरण निवृत्त होचुका, ऐसा कहनेसे फिर गृहस्थ और मुनि दोनोंके सम्यग्दर्शनके अतीचार समझनेमें कुछ कठिनता नहीं रहेगी? उत्तर—ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये कारण आगे भी गृहस्थका गृहण इष्ट है, क्योंकि आगे वृतशीलोंके अतीचारोंसे गृहस्थका संबंध है यदि यहां गृहस्थका प्रकरण समाप्त होचुका ऐसा कह दिया जाता तो फिर आगे जो वृतशीलोंके अतीचार हैं वे गृहस्थोंके नहीं ठहरते। आगे अतीचार शब्दका अर्थ करते हैं—

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः ॥ ३ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्मका उदय होनेसे जो तत्वार्थश्रद्धानसे उल्लंघन होना है वही अतीचार कहलाता है। अतीचारका ही दूसरा नाम अतिक्रम है अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे जो तत्त्वश्रद्धानमें कुछ अंशोंमें शिथिलता लाना है अथवा तत्त्वश्रद्धानसे कुछ अंशोंमें विचलित बुद्धि करना है वही सम्यग्दर्शनका अतीचार है। यहांपर इतना विशेष समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शनके अतीचार केवल सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें ही होते हैं। दर्शनमोहनीय प्रकृतिके तीन भेद हैं—

१—"अतीचारोंशभंजनम्" (सागारधर्मामृत) अतीचारका अर्थ यही है कि पालित व्रतोंमें या सम्यग्दर्शनमें एक अंशरूपसे भंग होना अर्थात् व्रतका नाश तो अतीचारसे होता नहीं है किंतु एक अंशमें दूषण आजाता है उसीका नाम अंशभंजन है। इसीप्रकार इन उपर्युक्त अतिचारोंसे सम्यग्दर्शनका तो घात नहीं होता है किंतु उसमें कुछ दूषण या मलिनता आजाती है और वह मलिनता तत्त्वार्थश्रद्धानमें शिथिलता होनेस्वरूप है।

आनेवाले कर्म परमाणु निःशेष होजाते हे वही अंतिम मरण है। उसीका नाम तद्भवमरण कहलाता है। यहां सूत्रमें अंतशब्दका ग्रहण किया गया है उससे तद्भवमरणका ही ग्रहण किया जाता है। मरण नाम तद्भवके अंतका है अर्थात् उस वर्तमान पर्यायका जो अंतसमय है अर्थात् जो उसके नाशका समय है उसे ही मरणांत कहते हैं। वह मरणांत ही जिसका प्रयोजन है वह मारणांतिकी कहलाती है। अर्थात् वर्तमान पर्यायके छोडते समय—मरणसमयमें जो सल्लेखना की जाती है वह मारणांतिकी कहलाती है।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना ॥ ३ ॥

अर्थ—लिख धातुसे "णिं" प्रत्यय करनेसे लेखना शब्द बनता है। लेखना शब्दका अर्थ कृष करना होता है। वाह्य जो शरीर है और अभ्यंतर जो कषाय भाव हैं, उनके कारणोंको घटाते हुये जो क्रम क्रमसे उनका भलेप्रकार कृष करना है वही सलेखना कहलाती है अर्थात् शरीरवृद्धि और कषायवृद्धिके कारणोंको हटा कर शरीर और कषायोंको क्रम क्रमसे अच्छी तरह कम कर करते जाना और कम करते करते अत्यंत सूक्ष्म करदेना इसीका नाम सलेखना है। इसप्रकार जो मरण समयमें होनेवाली सलेखना है उसका यह गृहस्थ प्रेमपूर्वक सेवन करै।

सेवितागृहणं बिस्पष्टार्थमिति चेन्नार्थविशेपोपपत्तेः ॥ ४ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि मारणांतिकीं सलेखनां जोषिता इस सूत्रमें जो जोषिता शब्द दिया है उसके स्थानमें सेविता कहना अधिक उत्तम है क्योंकि उससे स्पष्ट अर्थ हो जाता है अर्थात् जोषिताका भी 'सेवन करै' यह अर्थ है और सेविताका भी वही अर्थ है सेविता पाठ कहनेसे और भी स्पष्ट अर्थ हो जाता है इसलिये सेविता पाठ देना ही ठीक है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहांपर विशेष अर्थ लिया गया है इसलिये सेविता पदसे काम नहीं चलता। यहां पर केवल सेवन करना ही अर्थ अभीष्ट नहीं है किंतु प्रीतिपूर्वक सेवन करना यह अर्थ इष्ट है। यह प्रीतिपूर्वक सेवन करना अर्थ

शीलोंके प्रत्येकके पांच पांच ही अतीचार कहेंगे इसलिये सम्यग्दर्शनके भी पांच ही अतीचार कहे गये हैं बाकीके जो अतीचार हैं वे प्रशंसा और संस्तवमें परस्पर अंतर्भूत होजाते हैं अर्थात् वात्सल्य प्रभावना और स्थितिकरण इन तीन अंगोंके विपरीत जो भाव हैं वे अन्यदृष्टिप्रशंसा और संस्तवमें गर्भित हो जाते हैं और भी जितने अतीचार दोष हैं वे सब इन्हींमें अंतर्भूत होजाते हैं इसलिये उन सबोंका स्वतंत्रनिरूपण नहीं करके पांचोंमें ही गर्भित कर लिया जाता है। अब यहां यह कहते हैं कि व्रत शीलोंसे विशिष्ट सम्यग्दर्शन ऐसा प्रतीत होता है कि जिसप्रकार जिनधर्मरूपी तो कमल हो और उसमें व्रत शील पत्ते हों और मध्यमें शोभायमान सम्यग्दर्शनरूपी कर्णिका–कली हो। ऐसे गृहस्थ और मुनिकी सम्यग्दर्शनरूपी कलिकाके अतीचार शंका कांक्षा आदिक तो कह दिये गये इस समय व्रत और शीलोंके अतीचारोंकी संख्या बतानी चाहिये नीचेके सूत्र द्वारा सो ही कहते हैं–

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं ॥ २४ ॥

अर्थ—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण ये पांच व्रत तथा दिग्विरति, देशविरति अनर्थदंडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इसप्रकार सात शील हैं। इन व्रत और शीलोंका द्वंद्व समास करनेसे व्रतशील यह एक पद बना लिया गया है इन व्रत शीलोंमें क्रमसे पांच पांच अतीचार हैं अर्थात् प्रत्येक व्रत और प्रत्येक शीलके पांच पांच होनेसे दोनोंके साठ अतीचार होते हैं।

व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेन्न शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां शंका होती है कि इस सूत्रमें व्रतशील दोनोंका पाठ दिया गया है वह व्यर्थ है केवल व्रतका ग्रहण करनेसे ही काम चल जाता है क्योंकि दिग्विरति आदि जो सप्त शील हैं वे भी तो वास्तवमें व्रत ही हैं, व्रतोंसे भिन्न तो कोई शील नहीं हैं और शील भी व्रतस्वरूप हैं यह वात स्वयं ग्रंथकार

प्रसंग–दोष आता है क्योंकि सल्लेखना धारण करनेवाला पुरुष अपने अभिप्रायपूर्वक ही आयुका विनाश करनेकेलिये स्वयं उद्यत होता है और जहां स्वयं अपने अभिप्रायसे मृत्युका उद्योग किया जाय उसे ही अपघात मरण कहते हैं इसलिये सल्लेखनाधारी पुरुष भी अपघातका दोषी ठहरता है ? इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि यह शंका भी व्यर्थ है कारण कि सल्लेखना धारण करनेवालेके परिणामोंमें प्रमादका अभाव है जहां प्रमादयोगसे प्राणोंका विनाश किया जाता है वही हिंसा होती है, परंतु सल्लेखना-धारीके प्रमादयोग लेशमात्र भी नहीं है अर्थात् जहां क्रोधादि कषायभावों सहित स्वयं प्राणत्याग किया जाता है वहां अपघात होता है, अपघात करना महान् पाप है परंतु सल्लेखनामें न तो प्राणत्याग करनेका अभिप्राय है और न कषायभाव ही है किंतु जब स्वयं आयुका परिपाक होनेसे मरणकाल प्राप्त होता है और प्राण जानेका निश्चय आत्माको हो जाता है उससमय आत्माको निर्मल बनानेकेलिये वह कषायोंको दूर करने एवं विशुद्धवृत्ति धारणकरनेकेलिये प्रेमपूर्वक सल्लेखनाको धारण करता है अर्थात् प्राण तो जानेवाले ही हैं वैसी अवस्थामें वे निष्कषायभावसे निकलें तो आत्माका कल्याण हो, वस इसी अभिप्रायसे सल्लेखनाका विधान है। इसमें अपघात दोष सर्वथा नहीं आता है। इसीबातको और भी स्पष्ट करते हैं–

रागाद्यभावात् ॥ ७ ॥

अर्थ–जो आत्मा राग द्वेषमोहसे सहित होता हुआ विष शस्त्र अग्नि फांसी आदि वाह्यसाधनोंसे अपनेको नष्ट करता है वही अपघात करनेवाला कहलाता है परंतु सल्लेखना धारण करनेवाले पुरुषके उस प्रकार रागद्वेषादि भाव नहीं होते हैं इसलिये आत्मबधका दोष लेशमात्र भी उसके नहीं आता। इसी वातका उल्लेख ग्रंथांतरमें इसप्रकार किया गया है–

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥ १ ॥

जाती है, आगेके सूत्रोंमें बांधना चावुक आदिसे मारना छेदना आदि अतीचार वताये गये हैं वे अतीचार गृहस्थके व्रतोंके ही हो सक्ते हैं मुनियोंके व्रतोंके नहीं हो सकते। कारण पशु पक्षियोंको वांधना छेदना आदि क्रियाएं गृहस्थोंके ही संभव हैं, मुनियोंके ये क्रियाएं नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे सर्वारंभ परिग्रह और कषायोंके त्यागी होते हैं ॥

पंच पंचेति वीप्सायां द्वित्वं ॥ ३ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो पंच पंच पद है वह वीप्सा अर्थमें द्वित्व किया गया है, एक ही अर्थको द्योतन करनेवाला शब्द जो दो वार कहा जाता है उसे वीप्सा कहते हैं यहां पंच शब्द पांचके अर्थमें दो वार कहा गया है इसलिये वीप्सामें द्वित्व किया गया है। उसका प्रयोजन यह है कि जो भिन्न भिन्न निर्देशसे व्रत शील कहे गये हैं वे प्रत्येक पांच पांच अतीचारोंसे सहित हैं। इस अर्थका समन्वय करनेकेलिये ही भिन्न भिन्न रूपसे पंच पंच इन शब्दोंका निर्देश किया गया है। इसप्रकार भिन्न भिन्नरूपसे व्रत और शील पांच पांचकी संख्यासे व्याप्त किये जाते हैं अर्थात् प्रत्येकके साथ भिन्न भिन्न पांचपांचकी संख्याका समन्वय होता है। यहांपर शंका होती है कि सूत्रमें पंच पंच ऐसा दो वार नहीं कहकर केवल पंचशः ऐसा शस् प्रत्ययका प्रयोग करना ठीक है। इसका भी वही अर्थ होगा और सूत्रमें लाघव भी होगा? उत्तर—यह बात ठीक है कि शस् प्रत्ययांत पंचशः ऐसा कहनेसे दो वार पंच पंच पाठ नहीं कहनेसे लाघव होगा परंतु स्पष्ट अर्थके द्योतन करनेके लिये पंच पंच यही पाठ ठीक है अर्थात् जिस शब्दके प्रयोगमें कोई संदेह नहीं हो और लाघव हो वहां तो लघु पाठ ठीक है परंतु जहां लघु पाठ करनेसे स्पष्ट अर्थ नहीं होकर संदेह उत्पन्न होता हो वहां वह लघुता ग्राह्य नहीं है। यहांपर यदि पंचशः पाठ कहा जाय तो झटपट अर्थ बोध नहीं होगा और यह संदेह भी हो सकेगा कि सवोंके पांच ही अतीचार होते होंगे परंतु पंच पंच कहनेसे झटपट अर्थबोध भी हो जाता है और किसी प्रकारका ठीक अर्थ समझनेमें संदेह भी नहीं होता है इसलिये सूत्रमें पंच पंच पाठ ही ठीक है।

स्थगुणोंमें कोई बाधा नहीं आसके यदि किसी प्रबल कारणसे अर्थात् आयुका परिपाककाल प्राप्त होनेपर अथवा किसी दूसरेके द्वारा शरीरनाशका प्रसंग आनेपर उसकी रक्षा करना अशक्य ही प्रतीत होता हो तो वह फिर उस शरीररक्षाकी चिंता छोडकर उसके भीतर विराजमान आत्मीयगुणोंका जिसप्रकार विनाश नहीं हो उसप्रकार प्रयत्न करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र वृत शील संयम आदि गुणधारी गृहस्थ जब शरीरकी रक्षा अशक्य समझलेता है तब उन गुणोंका कहीं विनाश न होजाय क्रोधादि राग द्वेष मोह विकार भावोंसे आत्मीयगुण कहीं नष्ट होजाय ऐसा विचारकर उनकी रक्षाका पूर्ण उद्योग करता है यही सल्लेखना धारण करनेका वास्तिवक प्रयोजन है। ऐसी अवस्थामें उस सल्लेखनाधारीके आत्मवधका दोष किसीप्रकार नही आता। और भी स्पष्ट करते हैं—

उभयानभिसंधानात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार तप धारण करनेवाला साधु शीत उष्णसे उत्पन्न हुये सुख दुःखोंका अनुभव नहीं करता है और विना अनुभवके अकस्मात् प्राप्त होनेवाले सुख दुःखोंका संवंध होनेपर भी उन सुख दुःखोंसे होनेवाले राग द्वेषका अभाव होनेसे वह उस सुख दुःखजनित कर्मबंधको भी नहीं करता है अथात् साधु तपमें लीन हैं इसलिये शीत उष्ण कारणोंसे जो सुख दुख होता है उसका वह अनुभव नहीं करता है वैसी अवस्थामें उसके शीतउष्णजनित सुख दुखका संबंध भी होता है तो भी विना अनुभवके वह संबंध उस साधुकी आत्मामें राग द्वेषभावको उत्पन्न नहीं करसकता उसीप्रकार जो गृहस्थ अर्हंतभगवानके द्वारा बताई हुई सल्लेखनाको धारण करता है वह जीने मरनेका कुछ भी अनुभव नहीं करता, फिर विना अनुभवके अथवा विना अभिप्रायके अकस्मात् मरणका संबंध होनेपर भी उसके उस संबंधसे तनिक भी रागद्वेष नहीं होता है ऐसी अवस्थामें वह आत्मबध करनेवाला किसीप्रकार सिद्ध नहीं होता अर्थात् सल्लेखनाधारी मरणजनित अवस्थाको सुख दुःख रूप नहीं समझता है केवल मरणकाल

लेजानेकी सामर्थ्य है तो २ मन बोझा उसपर लाद देना यह अतिभारारोपण कहलाता है और पशु पक्षीको पानी अन्न तृण आदि नहीं देना भूख प्याससे ही बंध रहने देना यह अन्नपाननिरोध कहलाता है। ये पांच अतिचार अहिंसाणुव्रतके हैं अर्थात् ये पांचो बातें ऐसी हैं जिनसे पशुओंके परिणामोंमें संक्लेश होता है और संक्लेशका होना ही हिंसा है। इसलिये अहिंसाव्रतके ये पांचो ही अतिचार दूषण-स्वरूप हैं। इन्हीं पांचोंका स्वरूप ग्रंथकार स्वयं स्पष्ट करते हैं—

अभिमतदेशगातिनिरोधहेतुर्बंधः ॥ १ ॥

अर्थ—जो पशु किसी अभीष्ट स्थान पर जाना चाहता है परंतु उसे वहां जानेसे रोकनेमें कारण भूत कील खूंटा आदिमें रस्सी सांकल आदिसे बांध देना, बंध कहलाता है।

प्राणिपीडाहेतुर्वधः ॥ २ ॥

अर्थ—डंडा (लाठी) चाबुक वेंत आदिसे पशुओंको चोट पहुंचाना वध कहलाता है। यहां वध सर्वथा प्राणोंके नाश करनेका नाम नहीं है, उसकी निवृत्ति तो अहिंसाव्रतीके पहले ही होजाती है अर्थात् अहिंसाव्रती प्राणव्यपरोपणरूप हिंसा तो कर ही नहीं सकता उसका तो वह त्याग कर चुका है। वैसी हिंसामें तो उसके व्रतका सर्वथा भंग होजायगा इसलिये यहांपर वधका अर्थ चाबुक डंडा आदिसे चोट पहुंचाना रूप ही लिया गया है।

छेदोंगापनयनं ॥ ३ ॥

कान, नासिका आदि शरीरके अवयवोंका भंग कर देना छेद कहलाता है, जैसे ऊंटकी नाक छेदना घोडेके लगाम लगाना कुत्ते, आदिके कान काटना आदि सब छेद है।

न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणं ॥ ४ ॥

अर्थ—जो न्याय्यप्राप्त भारको लादनेकी मर्यादा है उससे अधिक भार लोभादिवश पशुओंपर लाद देना अतिभारारोपण कहलाता है।

किंतु आत्मरक्षा ही है। अथवा जिसप्रकार सदा मौनव्रती बननेवाला यह कहै कि मैं मौनव्रती हूं तो उस मौनव्रतीका यह बोलना उसीके वचनसे विरुद्ध ठहरता है क्योंकि जो मौनव्रती होगा वह कुछ भी नहीं बोलेगा परंतु जो सदा मौनव्रती बनता है परंतु मुखसे कहता जाता है कि मैं मौनव्रती हूं तो यह बात उसीके वचनसे विरुद्ध पडजाती है उसीप्रकार सभी आत्म-तत्त्वका यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेवाले जो अनात्मवादी हैं उनके यहां आत्माका अभाव है फिर भी वे सल्लेखनामें आत्म-बधका दोष बताते हैं तो उनके यहां भी स्ववचनविरोध आता है क्योंकि आत्मबध कहनेसे समस्त आत्म-निष्ठ क्रियाका सद्भाव उन्होंने स्वीकार कर लिया अर्थात् एक ओर तो वे अनात्मवादी आत्माकी सत्ता ही नहीं बतलाते और दूसरी ओर यह उपालंभ भी देते हैं कि सल्लेखनामें आत्मघातका दोष आता है तो उनका यह दोष देना ही सिद्ध करता है कि आत्मा कोई वस्तु है तभी तो उसका बध वे बताते हैं, ऐसी अवस्थामें उनका यह कथन उनके ही वचनसे विरुद्ध पडता है । यदि स्वसमयविरोध उनके यहां नहीं हो इसकेलिये वे आत्माके हिंस्य हिंसक हिंसा आदि चारों प्रकारके भाव स्वीकार करें तो भी उनके मतमें आत्माका अभाव माननेसे आत्मबध भी सिद्ध नहीं हो पाता अर्थात् जब आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं है तो फिर उसका बध वा उसकी पर्यायका नाश ही कैसा ? बध तो तभी सिद्ध हो सकेगा जब कि आत्माका अस्तित्व माना जायगा परंतु वह आत्माका अस्तित्व मानता नहीं इसलिये उसके मतानुसार आत्मबध भी सिद्ध नहीं होता इसीप्रकार जो (नैयायिक वैशेषिक सांख्य आदि) आत्माको निःक्रिय बताता है और फिर भी वह साधनपूर्वक अर्थात् धर्मस्वरूप क्रियाकलाप द्वारा सल्लेखना सेवन करनेवालको आत्मबध करनेवाला कहता है वह भी अपनी प्रतिज्ञाका भंग करता है अर्थात् जो सांख्य नैयायिक आदि दर्शनवाले सल्लेखना सेवन करनेवालेको आत्मबंधका दोषी बताते हैं वे अपनी प्रतिज्ञाका भंग करते हैं क्योंकि उनके मतसे तो आत्मा निष्क्रिय है क्रियारहित है, फिर क्रियारहित आत्माका बध किसप्रकार हो

परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया ॥ ३ ॥

अर्थ–जो बात दूसरेने नहीं कही है उसके विषयमें किसीकी प्रेरणासे यह कहना कि उसने ऐसा कहा है अथवा उसने ऐसा किया है इसप्रकार दूसरेको ठगनेकेलिये लिखना कूटलेखक्रिया नामका तीसरा अतिचार है।

हिरण्यादिनिक्षेपेऽल्पसंख्यानुज्ञावचन न्यासापहारः ॥ ४ ॥

अर्थ–किसीने किसीके पास सोना चांदी रुपये आदि धरोहर (अमानत) रख दिये हों, कालांतरमें धरोहर रखनेवाला जितनी वस्तु रक्खी है उसकी संख्या भूलजाय और जितनी संख्यामें रक्खी है उससे अल्परूपमें–कमती मांगने लगे तो जिस धनीके यहां वह धरोहर रक्खी गई थी वह धनी उससमय ठीक ठीक संख्याका ज्ञान होनेपर भी कमती मांगनेपर यह कह देवे कि अच्छा इतनी रख गये हो सो लेजावो। तो इसप्रकारका कहना न्यासापहार नामका चौथा अतीचार है जैसे राजेन्द्रकुमारने अभयचंदके पास १००) धरोहर रक्खे हों, पीछे राजेन्द्रकुमार भूलकर अभयचंदसे ८०) मांगने लगा और कहनेलगा कि लाओ हमारे ८०) रुपये। उससमय अभयचंदने यह जानते हुये भी कि इसके १००) रु० हैं फिर भी उसके कहे अनुसार यह कहदिया कि अच्छा अपने ८०) लेजाओ तो ऐसा कहनेसे अर्थात् १००) मेंसे २०) रु०का झूठ बोलनेसे उस अभयचंदके सत्यव्रतमें न्यासापहार नामका अतीचार लगेगा। यदि वह समस्त धरोहरको ही हडप जाय और कहदे कि हमारे पास नहीं रक्खी थी तो अनाचार होगा।

अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमंत्रभेदः ॥ ५ ॥

अर्थ–प्रयोजनसे अथवा प्रकरणसे अथवा अंगके विकारसे अथवा भ्रकुटि नेत्र आदिके संकेतसे दूसरेके अभिप्रायको समझकर ईर्षावश द्वेषवश उसे प्रकाशित करदेना इसका नाम साकारमंत्रभेद नामा पांचवां अतीचार है। ये पांच अतीचार सत्याणुव्रतके हैं। अचौर्यव्रतके अतीचार इसप्रकार हैं–

इसप्रकार समस्त वस्तुओंसे ममत्व छोडकर तथा शरीरका ममत्व छोडकर समस्त आरंभ और परिग्रहोंका त्याग करदेवे और शरीरका बल क्षीण होता हुआ देखकर मरणपर्यंत बारह भावनाओंका चिंतवन करने लगै और विचार करै कि यह शरीर मैंने अनंतवार पाया है, नाना शरीर धारण किये हैं, यह शरीर ही परिभ्रमणका कारण है, अनेक वर्गणाओंका अनेकवार ग्रहण किया है, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो मैंने अपने जन्म मरणसे भोग नहीं लिया हो प्रत्येक कालमें मुझे जन्म मरण ही धारण करने पडे हैं। संसारमें ऐसी कोई भोगोपभोग सामग्री नहीं है जिसे मैंने अनंतवार नहीं भोगा हो इसलिये इन समस्त सांसारिक पदार्थोंमें ममत्व करना मूर्खता है, अज्ञान है। यदि मैं इस शरीरको छोड दूंगा तो मुझे नवीन शरीर मिलेगा इसलिये शरीर छूटनेका दुःख मानना भी अज्ञानता है। यह समाधिमरण धारण करनेका सुअवसर मुझे बहुत पुण्योदयसे मिला है इससमय मैं सबोंसे क्षमा चाहता हूं और अपनी ओरसे सबोंको क्षमाप्रदानकर अपने परिणामोंको निर्मल निःकषाय बनाता हूं। मेरी सब जीवोंमें मैत्री है सबोंमें समताभाव है, किसीके साथ रागद्वेष नहीं है। इसप्रकार विचार करता हुआ वह समाधिमरण करनेवाला श्रावक शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार प्रेमपूर्वक सल्लेखनाका सेवन करै। यही उत्तम अर्थका साधक है अर्थात् आत्माका परम कल्याणकारी मार्ग है।

एकयोगकरणं न्याय्यमिति चेन्न कदाचित्कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् ॥ १२ ॥

अर्थ—यहां शंका होती है कि सल्लेखनामरणके लिये जुदा सूत्र क्यों किया गया है, पूर्वमें जो सात शीलोंको प्रगट करनेवाला दिग्देशानर्थदंडविरतीत्यादि सूत्र है उसीके साथ इसका भी ग्रहण करना चाहिये दोनोंका अर्थात् पूर्वसूत्रका और इस सूत्रका एक ही योग—सूत्र कर देनेसे लाघव होता है जिसप्रकार सत्य शील व्रत हैं उसीप्रकार यह सल्लेखना मरण भी व्रत है इसलिये इसका ग्रहण भी एक ही सूत्रमें करना उचित है। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि कभी कोई पुरुष सल्लेखना धारण कर-

घरमें रहेगी तभीतक यह चिंता लगी रहेगी कि कोई उसे देख न लेवे, पहचानकर राजासे चुगली नहीं कर देवे इसप्रकार सदैव परिणामोंमें आकुलता बनी रहती है और अंतरंगमें लोभ कषाय माया कषाय आदिकी प्रबलता होनेसे पाप कर्मका बंध होता है इसलिये चुराकर लायीहुई परद्रव्यको जो गृहण करता है वह भी दोषी है। जिसप्रकार दूसरेके चुराकर लायेहुये द्रव्यमें परपीडा स्वात्मपीडा राजभय और पापबंध आदि नाना दोष हैं उसीप्रकार विरुद्ध राज्यका अतिक्रम आदि करनेसे भी परपीडन स्वात्मपीडन राजभय और पापबंध आदि नाना दोष हैं कारण राज्यका नियम उल्लंघन करने आदिसे भी राजदंड आदिका पूर्ण भय रहता है। यह बात भी उपर्युक्त कथनसे समझ लेनी चाहिये।

उचितादन्यथादानगृहणमतिक्रमः ॥ ३ ॥

अर्थ—उचित न्यायसे अन्य प्रकार कर देना तथा लेना अतिक्रम कहलाता है अर्थात् योग्य न्यायका उल्लंघन कर लेना देना वह अतिक्रम कहलाता है। विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्ध राज्य कहलाता है। विरुद्ध राज्य होनेपर जो अतिक्रम किया जाता है वह विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है। इसका स्पष्ट अर्थ इसप्रकार है—जिस राज्यमें धान्य घी रुई आदि वस्तुओं पर कर नहीं रक्खा गया है इसलिये वे प्रजा केलिये बहुत ही सस्तेरूपमें मिलती हैं परंतु दूसरे राज्यमें उन्हीं वस्तुओं पर कर रक्खा हुआ है इस लिये वहां वे तेज मंहगी पडती हैं। ऐसी अवस्थामें कोई अचौर्यव्रती पुरुष इस राज्य की सस्ते मूल्य में स्वल्प मूल्यमें मिलनेवाली वस्तुओंको खरीदकर उनकी विक्री विरुद्ध राज्यमें कर आवे अर्थात् उसे राज्यसे विरुद्ध नियम रखनेवाले राज्यमें जहांकि उन वस्तुओंपर कर लगाया जाता है वहां उन वस्तुओंकी विक्री कर आवे तो अधिक लाभ उठालेगा इसप्रकारका क्रय विक्रय विरुद्ध राज्यमें कियागया अतिक्रम कहिये नियमोल्लंघन—विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है। यह विरुद्धराज्यातिक्रम तीसरा अचौर्यव्रतका अतीचार है। दूसरा इसका अभिप्राय यह भी है कि जो राज्य विशेष रीतिसे प्रजाव्यवस्थाकी

प्रकार किसी सांसारिक कार्यकी सिद्धिके लिये कोई उचित स्थान ढूंढा जाता है, बिना उस योग्य क्षेत्रके संसारिक व्यापार खेती आदि कार्य नहीं होते उसीप्रकार इस परमार्थरूप सल्लेखनाकार्यके लिये भी घरको छोडकर कोई शांत अनुकूल स्थान ढूंढना आवश्यक है। विना ऐसा किये सल्लेखनाकी पूर्ण योग्यता नहीं आती, घरमें पुत्र स्त्री भाई आदि ऐसे साधन हैं जो परिणामोंमें मोह उत्पन्न करनेवाले हैं इसीप्रकार अनुकूल समय आदि सामग्री होनी चाहिये, शरीर व्याधियोंसे घिरा हुआ नहीं होना चाहिये अन्यथा सल्लेखनामरण धारण करना अशक्य ही हो जायगा। सबसे बडी बात यह है कि परिणामोंमें निर्ममत्व-बुद्धि होनी चाहिये विना निर्ममत्व परिणामोंके हुए सल्लेखना कभी धारण नहीं की जासकती इसलिये इन सब साधनोंका समुदाय मिलने पर ही सल्लेखना हो सकती है परंतु सप्तशीलोंमें यह विशेषता नहीं है वे घरमें रहकर भी अव्याबाध रीतिसे पाले जा सकते हैं इसी भेदको दिखानेकेलिये यहां सल्लेखनाका जुदा सूत्र किया गया है। इसके सिवा जुदा सूत्र करनेमें एक प्रधान कारण यह भी है कि दिग्व्रत देश-व्रत आदि सप्तशील तो श्रावकके ही वृत हैं, वे मुनियोंके नहीं हैं, परंतु सल्लेखनामरण श्रावक और मुनि दोनोंकेलिये है। उसे मुनिगण भी धारण करते हैं और श्रावक भी धारण करता है यदि सल्लेखनाका पाठ जुदे सूत्र द्वारा नहीं किया जाता और दिग्वृत देशवृत आदि सप्तशीलोंके साथ ही उसका पाठ करदिया जाता तो जिसप्रकार सप्तशील श्रावकके ही वृत हैं मुनियोंके नहीं हैं उसप्रकार समाधिमरण भी श्रावकका ही वृत ठहर जाता मुनियोंका नहीं सिद्ध होता परंतु जुदा पाठ करनेसे वह दोनोंका सिद्ध हो जाता है ॥

कोई शंकाकार कहता है कि आचार्य महाराज ! आपने यह बात पहले ही कह दी है कि 'निःशल्यो वृती' शल्यरहित ही अहिंसादि व्रतोंको धारण करनेवाला, व्रती कहलाता है, उसी प्रकरणमें माया, मिथ्या, और निदान इन तीन शल्योंका भी उल्लेख कर दिया है। इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि व्रती सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है, विना सम्यग्दर्शनके व्रतरूप क्रिया व्रतके नामसे नहीं कही जा सकती।

व्यवहार नामका अतीचार कहलाता है अर्थात् असली सोनेमें पीतल तांवा आदि मिलाकर उसे स्वल्प मूल्यका नकली बनालेना फिर असली सोनेमें वेचकर अधिक मूल्य लेलेना इसीप्रकार चांदीमें कोई सफेद धातु मिलाकर उसका क्रय विक्रय करना। दूधमें पानी मिला देना, फिर उसे विना पानीके दूधके मूल्यमें वेचना, गेहूंके चूर्ण (आटे) में जवारीका चूर्ण मिलादेना फिर उसे केवल गेहूंका कहकर वेचना, असली मोतीको नकली मोतीके दामोंमें खरीद लेना नकली मोतीको असली मोतीके दामोंमें वेचना पुखराजको हीरा बताकर वेचना, हीराको हीरा पहचान कर भी दूसरेसे पुखराज कहकर उसे स्वल्प मूल्यमें खरीद लेना, इसप्रकारका अन्य भी जो ठगनेरूप व्यवहार है वह प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतीचार है। ये पांच अतीचार अचौर्याणुव्रतके हैं। अब ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार नीचेके सूत्र द्वारा बताते हैं—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंग-
क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरेका विवाह कराना, जो व्यभिचारिणी दूसरेकी स्त्री हो और जो व्यभिचारिणी दूसरेकी स्त्री नहीं हो जैसे अविवाहिता स्त्री और वेश्या, इन दोनों प्रकारकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके यहां गमन करना, अनंगक्रीडा करना और मैथुनकी तीव्रताका भाव रखना ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार हैं।

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं—कन्यावरणं विवाहः ॥ १ ॥

अर्थ—सातावेदनीय कर्मके उदय होनेसे और चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होनेसे जो कन्याका वरण करना है वह विवाह कहलाता है अर्थात् कन्याका पाणिग्रहण करना ही विवाह कहलाता है। परके विवाहको परविवाह कहते हैं परविवाह करनेको परविवाहकरण कहते हैं। यह परविवाहकरण ब्रह्मचर्य व्रतका अतीचार है अर्थात् दूसरोंके पुत्र पुत्रियोंके विवाह कराना ब्रह्मचर्यव्रतका अतीचार है।

अयनशीलेत्वरी ॥ २ ॥

है। इन निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन छठे अध्यायके दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नतेत्यादि" सूत्रमें किया जाचुका है। उन्हीं निःशंकित आदि गुणोंके उलटे ये शंकादिक दोष हैं इसलिये इनका विवेचन भी उसी सूत्रसे स्पष्ट होजाता है इसीलिये यहां उन अतीचारोंका लक्षण नहीं किया गया है। अब यहां शंका होती है कि अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन दोनोंमें क्या विशेषता है ? उत्तर—

वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसास्तवभेदः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको उसके चारित्र आदि गुणोंको मनमें अच्छा समझना अर्थात् मन ही मन उसके ज्ञान चारित्र की सराहना करना अनुमोदना करना, यह तो प्रशंसा कहलाती है तथा उसी, मिथ्यादृष्टिके विद्यमान अथवा अविद्यमान अर्थात् सत्य असत्य गुणोंकी वचन द्वारा प्रशंसा करना उसके गुणोंका वचनसे विवेचन या कीर्तन करना संस्तव कहलाता है यही दोनोंमें भेद हैं।

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेन्न सम्यग्दृष्टिग्रहणस्य उभयार्थत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ – यहांपर शंका होती है कि यह प्रकरण गृहस्थके व्रत और शीलोंको निरूपण करनेवाला है इसलिये उसी गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके ये पांच अतीचार समझे जांयगे मुनियोंके नही समझे जांयगे, अर्थात् ये सम्यग्दर्शनके अतिचार गृहस्थसंबंधी हैं मुनिसंबंधी नहीं हैं क्योंकि यहांपर गृहस्थके व्रतशीलादिकका ही प्रकरण है ? उत्तर—यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सूत्रमें सम्यग्दृष्टि, इस शब्दका ग्रहण है उससे दोनों गृहस्थ और मुनिके लिये अतीचारोंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् यदि ये पांच अतीचार गृहस्थसंबंधी सम्यग्दर्शनके ही कहे गये होते और मुनिसंबंधी सम्यग्दर्शनके नहीं कहे गये होते तो यहां सूत्रमें 'सम्यग्दृष्टेरतीचाराः' सम्यग्दृष्टि शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता, क्योंकि जब व्रत और शीलोंका तथा समाधिमरणका प्रकरण ऊपरसे चला आरहा है तो सम्यग्दृष्टिका ग्रहण तो अपने आप हो ही जाता है फिर उसका सूत्रमें स्वतंत्र उल्लेख करने की क्या आवश्यकता रहजाती है,

अनंगेषु क्रीडा अनंगक्रीडा ॥ ३ ॥

अर्थ—अंग नाम प्रजननका है अर्थात् पुरुषका चिन्हविशेष लिंग और स्त्रीकी योनि इन दोनोंको अंग कहते हैं उन दोनोंसे भिन्न स्थानोंमें क्रीडा करना–रति करना सो अनंगक्रीडा नामका अतीचार है। जहां अनेक प्रकार पुरुष चिन्ह या स्त्री चिन्हके विकार होनेसे जघन प्रदेशमें स्थित नियत चिह्नसे भिन्न शरीर प्रदेशमें रति की जाती है वही अनंगक्रीडा नामका अतीचार होता है।

कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः ॥ ४ ॥

अर्थ–कामका वढा हुआ जो परिणाम वह कामतीव्राभिनिवेश नामका अतीचार है। अर्थात् काम सेवनकी परिणामोंमें तीव्रता रहना निरंतर कामसेवनकी भावना रखना, यह काम तीव्राभिनिवेश नामका अतीचार कहलाता है। इसप्रकार ये पांच स्वदारसंतोष व्रतके अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं।

दीक्षितातिबालातैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः ॥ ५ ॥

अर्थ–यहांपर शंका की जाती है कि जैसे ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंमें परिगृहीताइत्वरिकागमन अपरिगृहीताइत्वरिकागमनका ग्रहण किया गया है, उसप्रकार दीक्षिता स्त्री अतिबाला, तिर्यंचिनी इत्यादिका ग्रहण अतीचार रूपसे सूत्रमें क्यों नहीं कियागया है? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण कि कामतीव्राभिनिवेश नामका जो अतीचार बताया गया है उसीमें इन वातोंका भी ग्रहण हो जाता है अर्थात् जो दीक्षिता स्त्री हैं अतिवाला आदि हैं वे सभी सर्वथा त्यागने योग्य हैं, फिर जो उनमें वृत्ति करना है वह कामकी तीव्रताका ही परिणाम है उसी परिणामसे उस प्रकारकी वृत्ति होती है। ऐसी वृत्तिमें राजाका भय, लोकापवाद आदि अनेक दोष आते हैं। अब परिग्रहपरिमाण व्रतके पांच भेद कहे जाते हैं—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व । इन तीनोंमें आदिके दो भेद हैं वे ऐसे हैं जिनके उदयमें सम्यग्दर्शनका सर्वथा घात हो जाता है । मिथ्यात्वकर्मके उदयमें जीवका मिथ्यात्व गुणस्थान–पहला गुणस्थान होजाता है और सम्यङ्मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिश्रगुणस्थान–तीसरा गुणस्थान होजाता है। इन दोनों गुणस्थानोंकी उत्पत्ति तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन गुणका सर्वथा घात हो जाता है। दूसरा गुणस्थान अनंतानुबंधि कषायके उदयसे होता है वह भी सम्यग्दर्शनके सर्वथा घातसे ही होता है। कारण अनंतानुबंधी कषायमें जिसप्रकार स्वरूपाचरण चारित्रके घात करनेकी शक्ति है उसी प्रकार उसमें सम्यग्दर्शनके घातकरनेकी पूर्ण शक्ति है इसलिये पहले दूसरे और तीसरे गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शनका सर्वथा अभाव है। चतुर्थ गुणस्थानसे ही सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव होता है। दर्शनमोहनीय कर्मका तीसरा भेद जो सम्यक्त्व प्रकृति कर्म है उसका उदय चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें तक रहता है, इसलिये उन गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन भी होता है सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है इसलिये उस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय रहनेसे कुछ कुछ मलिनता आती है। चलता मलिनता और अगाढता ये तीन दोष उस प्रकृतिके उदयसे होते हैं इन्हीं दोषोंके कारण शंकादिक पांच अतीचार उत्पन्न होते हैं। वाकीके क्षायिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंमें ये दोष नहीं होते। शंका—

अष्टांगत्वात् सम्यग्दर्शनस्याऽतिक्रमणाच्चावत्तमेवेति चेन्नाऽत्रैवांतर्भावात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां शंका होती है कि सम्यग्दर्शनके निःशंकित निःकांक्षित आदि आठ अंग कहे गये हैं, इसलिये उसके अतीचार भी उतने ही होने चाहिये । क्योंकि गुणोंसे उलटे ही अतीचार हैं परंतु यहां पर सूत्रमें पांच ही अतीचार प्रगट किये गये हैं सो क्यों ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि इन पांचोंमें ही समस्त अतीचारोंका अंतर्भाव होजाता है, आगे आचार्य पंच व्रतोंके और सप्त

शब्दोंका अर्थ किया जाता है–क्षेत्रनाम खेतका है अर्थात् जिसमें चावल गेहूं आदि धान्य उत्पन्न किया जाता है। वस्तु नाम घरका है। हिरण्य नाम चांदी आदिका है जिससे रुपया भूषण आदि व्यवहार होता है उसे हिरण्य कहते हैं। सुवर्ण नाम सोनेका है सोना एक प्रसिद्ध धातु है। धन नाम गौ महिष घोडा हाथी आदिका है। यद्यपि लोकमें धनसे रुपया गिन्नी आदि लक्ष्मी भी समझते हैं परंतु यहांपर धनसे गोधन आदि पशुओंका है। वास्तवमें जिस घरमें दूध दही घी आदि शुद्ध ताजे तयार होते हैं वही घर धनवान समझा जाता है इसलिये धन नाम गौ महिष आदि धनका है। धान्य नाम चावल गेहूं जौ चना आदि धान्योंका है। दासीदास नाम नोकर नोकरानीका है घरोंमें जो नोकरानी टहल चाकरीके लिये रक्खी जाती है उसे दासी कहते हैं तथा जो टहल चाकरीके लिये नौकर रक्खा जाता है उसे दास कहते हैं। कुप्य नाम जूट (सन) कपास रेशम चंदन भांड आदिका है। कहीं कहीं 'कुप्यभांडप्रमाणातिक्रमाः' ऐसा भी पाठ है वहांपर भांडका अर्थ वर्तन आदि वस्तुओंका है परंतु यहां भांडका स्वतंत्र पाठ नहीं दिया गया है इसलिये भांड वर्तन पात्र आदिका ग्रहण इसी कुप्य शब्दसे ग्रहण कर लिया जाता है।

तीव्रलोभाभिनिवेशाद‌तिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः ॥ २ ॥

अर्थ—मेरे इतना मात्र परिग्रह है इस नियत परिग्रहसे अधिक अन्य मेरे कुछ भी नही है इसप्रकार अभिप्रायपूर्वक की हुई क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण आदि परिग्रहकी नियमित रूप जो प्रतिज्ञा उससे अधिक परिग्रह लोभकी तीव्रतासे वढालेना इसीका नाम प्रमाणातिक्रम अतीचार है। अर्थात् जितना क्षेत्र जितना मकान जितना सोना चांदी आदि परिग्रह अपनी आवश्यकताके अनुसार परिमाण करके अपने नियममें रखलिया गया है फिर लोभकी अधिकता होनेपर उस परिमाणसे कुछ अधिक और भी क्षेत्र आदिका बढालेना यह परिग्रहपरिमाणका अतिक्रम कहिये उल्लंघन है। यह प्रमाणातिक्रम नामका अतीचार है। इसप्रकार ये परिग्रहपरिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं–क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम अतीचार,

आचार्यने कही है। यथा—"दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च" यहांपर इन सातो शीलोंको व्रतके नामसे कहा गया है। ऐसी अवस्थामें 'व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं' इस सूत्रमें शील शब्दका पाठ नहीं देकर केवल 'व्रतेषु पंच पंच यथाक्रमं' इतना ही पाठ देना ठीक है ऐसा करनेसे सूत्रमें लाघव भी आता है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण कि शील, व्रतोंकी अपेक्षा दूसरी वस्तु है यह वात प्रगट करनेकेलिये यहां पर व्रतोंसे भिन्न शील शब्द दिया गया है। यद्यपि अभिसंधिपूर्वक नियम ही वृत कहा जाता है अर्थात् अभिप्रायपूर्वक किसी वस्तुके त्यागकी मर्यादा करना ही वृत कहलाता है इस दृष्टिसे तो शील भी वृत ही हैं क्योंकि उनमें भी अभिप्रायपूर्वक दिशादिकोंका नियम किया जाता है और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका मर्यादानुसार परित्याग किया जाता है तथापि वृतोंकी शील रक्षा करते हैं इसीलिये वे कथंचित् वृतोंसे भिन्न कहलाते हैं अर्थात् अहिंसादिक पांच तो वृत कहलाते हैं और सात शील उन वृतोंकी रक्षा करते हैं कारण कि यदि दिग्देश अनर्थदंड आदिका त्याग नहीं किया जाय तो अहिंसादि वृत भलीभांति नहीं पाले जासकते हैं उनमें अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं इसलिये वृतोंकी रक्षा करनेवाले शील हैं इसी वातको सिद्ध करनेकेलिये व्रत और शील दोनोंका पाठ इस सूत्रमें किया गया है। ऐसा कहनेसे अहिंसादिक पांच तो वृतोंमें ग्रहण किये जाते हैं और दिग्विरति आदि सात शीलोंमें ग्रहण किये जाते हैं।

सामर्थ्याद् गृहिव्रतसंप्रत्ययः ॥ २ ॥

अर्थ—यद्यपि 'व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं' यह सूत्र सामान्यरूपसे कहा गया है इसमें यह बात नहीं बताई गई है कि ये अतीचार मुनियोंके लिये हैं या गृहस्थके लिये हैं तो भी सामर्थ्यसे गृहस्थके व्रतोंके ही अतीचार समझना चाहिये। ये मुनियोंके व्रतोंके अतीचार नहीं हैं किंतु गृहस्थके व्रतोंके ही हैं यह सामर्थ्य किस प्रकार जानी जाती है इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह सामर्थ्य आगेके कथनसे जानी

अर्थ—कूप आदिमें नीचें उतरना अर्थात् इस समतल प्रदेशसे नीचे कूप वावडी खानि आदिमें नीचे उतरना। नीचे मर्यादाका उलंघन होता है इसलिये उसे अधोतिक्रम अतीचार कहते हैं।

विलप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारः ॥ ५ ॥

अर्थ—भूमि विल पर्वतकी गुफा आदिमें प्रवेश करना अर्थात् समतल पृथिवीसे तिरछे प्रदेशमें जहांकी मर्यादा नहीं की थी वहां प्रवेश करना तिर्यग् अतिक्रम अतीचार है।

अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसंधिः क्षेत्रवृद्धिः ॥ ६ ॥

अर्थ—पहले दिशाका योजनादिके द्वारा नियम परिमाण करके पीछे लोभके वश उससे अधिक आकांक्षा करलेना क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार है अर्थात् पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंमें जितनी दिशाके भीतर गमन करनेका नियम रखना इष्ट है पहले उतनी दिशाका परिमाण मर्यादा मील योजन कोश आदिसे निश्चित कर लिया पीछे कुछ लोभकी अधिकतासे उस क्षेत्रकी मर्यादा कुछ और भी बढालेना इसीका नाम क्षेत्रवृद्धि अतीचार है।

इच्छापरिमाणेंतर्भावात् पौनरुक्त्यमिति चेन्न तस्यान्याधिकरणत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि ऊपर जो क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार दिशासंबंधी वतायागया है वह इच्छापरिमाण नामक पंचम अणुव्रतमें अंतर्भूत हो जाता है क्योंकि क्षेत्रवृद्धि आदिका उसी पांचवें अणुव्रतमें नियम होजाता है उस इच्छा परिमाण नामक अणुव्रतमें यदि अतीचार होगा तो वह अतीचार उसका समझा जायगा जैसे क्षेत्रवास्तु आदिको नियतपरिमाणसे अधिक बढालेना यह परिग्रह-परिमाण अथवा इच्छापरिमाण अणुव्रतका अतीचार है फिर उस क्षेत्रवृद्धिको दिग्व्रतका अतीचार क्यों बताया गया है इसप्रकार फिर क्षेत्रवृद्धिका ग्रहण करनेसे पुनरुक्तदोष आता है जो बात एक-वार एक स्थानमें कहदीजाय फिर भी उसे दूसरे स्थानमें कहना यह पुनरुक्तदोष कहलाता है ?

यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातिचारक्रमसंबंधनार्थं ॥ ४ ॥

अर्थ—आगे जो अतीचार कहे गये हैं, उनका अहिंसा आदि व्रत और शीलोंके साथ क्रमसे ही संबंध लगाया जाय इसी अर्थको द्योतन करनेकेलिये सूत्रमें यथाक्रम शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस क्रमसे अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंका निरूपण किया गया है ठीक उसी क्रमसे पांच पांच अतीचार कहे गये हैं इसलिये उनका संबंध क्रमसे ही समझा जाय इसीलिये सूत्रमें यथाक्रम वचन है। जो क्रमसे कहा जाय उसे ही यथाक्रम कहते हैं अर्थात् क्रमका उल्लंघन नहीं किया जाय इसीको यथाक्रम कहते हैं। अब यहां प्रश्न होता है कि यदि अतीचार क्रमसे ही कहे गये हैं तो यह बताना चाहिये कि हिंसासे निवृत्त लक्षणवाला जो पहला अहिंसाणुव्रत है उसके पांच अतीचार कौनसे हैं जिनकी निवृत्ति होनेपर वह व्रत निरतिचार हो जाता है? इस प्रश्नका उत्तर नीचेके सूत्र द्वारा कहा जाता है—

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अर्थ—पशुपक्षी आदिको रस्सी आदिसे बांध देना, बंध कहलाता है। जो पशु गृहस्थोंके घरोंमें खूंटेपर गलेमें रस्सीसे बंधेहुये रहते हैं वह बंध अतीचारमें सामिल है, क्योंकि उस क्रियामें पशुकी स्वतंत्र क्रियामें व्याघात आता है। मारनेको बध कहते हैं। यहांपर मारनेका अर्थ समस्त द्रव्यप्राणोंके नाश कर देने अथवा सर्वथा मार डालनेका नहीं है वैसा अर्थ तो अनाचार होगा। यहांपर अतीचारोंका वर्णन है इसलिये मारनेका अर्थ यही लेना चाहिये कि चाबुकसे मारना लकडीसे मारना ईंट पत्थरसे मारना अर्थात् किसी वस्तुके आघातसे उसे चोट पहुंचाना इसीका नाम यहां मारना है। किसी कीलसे पशुके शरीरको छेदना पशुकी नासिका कान आदि छेदना आदि सब छेद कहलाता है। जितना भार घोडा बैल आदि लेजासक्ते हैं उससे अधिक भार उनपर लाददेना जैसे घोडा यदि एक सवारी या दो सवारी की गाडी खींच लेजाता है तो उसपर ५ या ७ सवारीकी गाडी खिंचवाना या बैलपर १ मन बोझा

अननुस्मरणं स्मृत्यंतराधानं ॥ ९ ॥

अर्थ—अनुस्मरण परामर्शन प्रत्यवेक्षण इन तीनों शब्दोंका एक ही स्मरण रखना रूप अर्थ है और स्मरण अथवा धारणा नहीं रखना इसका नाम अननुस्मरण है, उसीको स्मृत्यंतराधान कहते हैं। प्रसिद्ध पर्वत नगर नदी जंगल और योजन आदिके द्वारा जो पूर्वादि दिशाओंके क्षेत्रकी मर्यादा लेरक्खी है उसकी धारणा रखना तो स्मरण कहलाता है और उस प्रतिज्ञाकी धारणा नहीं रखना कीगई मर्यादाको भूलजाना यही स्मृत्यंतराधान नामका अतीचार है। ये पांच अतीचार दिग्व्रतके हैं। यहां पर विशेष यह समझलेना चाहिये कि क्षेत्रको बढालेना, की गई मर्यादाको भूलजाना आदि अतीचार इसलिये हैं कि क्षेत्रकी वृद्धि मर्यादासे कुछ ही अधिक करलेता है जैसे सौ योजनकी मर्यादा होते हुये एक सौ दो योजन चला जाना इसीप्रकार यदि सौ योजनकी मर्यादा की थी तो भूलकर एकसौ पांच योजन चला जाना, इस क्षेत्रवृद्धिमें और स्मृति आदिमें मर्यादाका सर्वथा घात नहीं होता है किंतु मर्यादाकी पूर्णरक्षाका उसे ध्यान रहता है उसके तोडनेकी अभिलाषा भी नहीं है इसलिये केवल अंश भंजन होनेसे अनाचार नहीं किंतु अतीचार ही है।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—मर्यादाके बाहरकी वस्तुको दूसरेसे मगाना, मर्यादाके भीतरकी वस्तुको मर्यादाके बाहर भिजवाना, किसी प्रयोजनकेलिये शब्दप्रयोग करना, अपने शरीरका रूप दिखाना, पुद्गलोंका मर्यादाके बाहर फैंकना ये पांच देशव्रतके अतिचार हैं। प्रत्येकका खुलासा इसप्रकार है—

अन्यमानयेत्याज्ञापनमानयनं ॥ १ ॥

अर्थ— स्वयं तो मर्यादा किये हुये क्षेत्रके भीतर बैठा हो परंतु मर्यादाके बाहर क्षेत्रमें उपस्थित किसी प्रयोजनीभूत वस्तुको मंगानेकेलिये किसी दूसरे पुरुषको वहींसे बैठकर आज्ञा देना और बाहर की वस्तु मंगाना इसीका नाम आनयन नामका अतिचार है।

क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः ॥ ५ ॥

अर्थ–उन गौ महिष अश्व आदि पशुओंको किसी भी कारणसे भूख प्यासकी बाधा उत्पन्न कर देना अर्थात् उन्हें अन्नपानादि समयपर नहीं देना अन्नपाननिरोध कहलाता है। ये पांच अहिंसाणुवृतके अतीचार हैं। अब सत्याणुवृतके अतीचार कहे जाते हैं–

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ–मिथ्या उपदेशदेना, किसीके गुप्त रहस्यको प्रगट करदेना, झूठा लेख लिखना, धरोहरका अपहरण करना, दूसरेके अभिप्राय समझकर उसे प्रगट कर देना ये पांच सत्याणुवृतके अतीचार हैं। इनमें प्रत्येकका स्वरूप ग्रंथकार नीचे स्पष्ट करते हैं–

मिथ्यान्यप्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः ॥ १ ॥

अर्थ–स्वर्ग मोक्षके कारण स्वरूप जो क्रियाविशेष हैं उनमें किसी पुरुषको अन्यथा प्रवर्तन कराना अथवा यथार्थ कियाओंका छिपाना मिथ्योपदेश नामका अतीचार है अर्थात् जिसप्रकार जिनेन्द्रपूजन यदि अष्टद्रव्यसे कियाजाय तो वह स्वर्ग मोक्षफलका देनेवाला है, यह जैनसिद्धांत है परंतु इसक्रियाको पुरुषोंको अन्यथा समझाना और कहना कि अष्ट द्रव्यसे पूजन नहीं लिखा है इसलिये श्रीअर्हंतकी पूजामें अक्षत नैवेद्य फल आदि नहीं चढाना चाहिये किंतु केवल जल चंदन धूप दीपसे ही अष्टप्रकारी पूजन करना चाहिये इसप्रकार सिद्धांतविरुद्ध उपदेश देना अथवा मोक्षदायक क्रियाओंको छिपादेना मिथ्योपदेश नामक अतीचार है।

संवृत्तस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानं ॥ २ ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषोंके द्वारा एकांतमें कियगये संकेत वातचीत आदि क्रियाविशेषका प्रगट करदेना रहोभ्याख्यान नामा दूसरा अतीचार है।

लिये तो व्रतभंगरूप अनाचार नहीं होता है परंतु वहींसे बाहरवाले पुरुषोंद्वारा कार्य कराता है इसलिये थोडासा व्रतमें दूषण आनेसे अतीचार है क्योंकि दूसरों द्वारा अपने वृतका कुछ अंश उलंघन कराता है इसीलिये अतीचार है यदि स्वयं उलंघन करै अर्थात् स्वयं मर्यादाके बाहर चलाजाय और स्वयं कार्य करलावे तो वह देशवृतका अनाचार अर्थात् वृतका लोप कहलावेगा। यहांपर एकबात यह भी समझलेना चाहिये कि जब मर्यादा सैकडों योजन नदी पहाड आदितक की जाती है तो वहांतक अपने शरीरको कैसे दिखाया जासकता है और कैसे शब्द कहा जासकता है कैसे कंकड पत्थर फेंके जासकते हैं ? ऐसी एक तर्कणा पैदा होती है इसका समाधान यह है कि यहां देशवृतका वर्णन है देशवृतमें सैकडों योजनोंका ही नियम लियाजाय ऐसा कोई नियम नहीं है वैसा नियम तो दिग्वृत है वहां हजारों योजनों तकका जहांतक कि जीवनभरमें आवश्यकता समझी जाती है नियम एकबार ही कर लिया जाता है क्योंकि दिग्वृत जीवनभरकेलिये एकवार ही धारण कर लिया जाता है परंतु देशव्रत ऐसा नहीं है वह दिग्वृतके भीतर ही किया जाता है और कभी किसी क्षेत्रतक कभी दूरतक कभी निकट क्षेत्रतक भी कियाजाता है इस वृतमें देश और काल दोनोंका विचार नियत है इसलिये कभी कभी अपने गांवसे बाहर नहीं जानेका अपने मोहलेसे वाहर नहीं जानेका और अपने घरसे भी बाहर नहीं जानेका भी नियम किया जाता है ऐसी अवस्थामें गांवके वाहर नदीके एक किनारेपर खडे होकर और दूसरे किनारे पर और अपने घरसे दूसरे घरपर रूप दिखाना पत्थर फेंकना शब्द करना आदि सभी अतीचार किये जासकते हैं। अब अनर्थदंडवृतके अतीचार कहे जाते हैं—

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—कंदर्प कौत्कुच्य मौखर्य असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडवृतके अतीचार हैं। उनका लक्षणसहित अर्थ ग्रंथकार नीचेके वार्तिकोंसे स्पष्ट करते हैं—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—चोरीका प्रयोग बताना, चोरीका लायाहुआ द्रव्य ग्रहण करना, विरुद्धराज्यका अतिक्रम करना, दूसरेको कमती देना और दूसरोंसे वढती लेना अधिक मूल्यकी वस्तुमें स्वल्प मूल्यकी वस्तु मिला देना ये पांच अचौर्य अणुव्रतके अतीचार हैं। प्रत्येकका लक्षण ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं—

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः ॥ १ ॥

अर्थ--जो चोरी करता है उसे जो स्वयं चोरीका उपाय बताता है अथवा जो दूसरे पुरुषके द्वारा चोरीके लिये प्रेरित करता है अथवा जो चोरीका प्रयोग कर रहा है उसकी अनुमोदना करता है इस-प्रकारका प्रयोग स्तेनप्रयोग नामा अतीचार है।

चोरानीतगृहणं तदाहृतादानं ॥ २ ॥

अर्थ--जिस चोरको चोरीका प्रयोग भी नहीं वताया गया है और जिसकी चोरीकी अनुमोदना भी नहीं की गई है ऐसे चोरके द्वारा लायी हुई द्रव्यका ग्रहण करना तदाहृतादान नामा अतीचार है अर्थात् किसी चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई द्रव्यका लोभवश स्वल्प मूल्यमें या किसी प्रकार भी ग्रहण कर लेना तदाहृतादान नामा अतीचार है। यहांपर यह शंका होती है कि जो द्रव्य चोर स्वयं चुराकर लाया है उसे चुरालानेकी प्रेरणा अनुमोदना आदि कुछ भी नहीं की गई है फिर लाई हुई द्रव्यके ग्रहण करनेमें गृहण करनेवालेको क्या दोष लगेगा ? उत्तर—ऐसा द्रव्य लेनेसे दूसरेको दुःख होता है। जिस पुरुषका द्रव्य है वह दुःखी होगा और द्रव्य लेनेवाला भी दूसरोंके द्वारा दुःखी होता है कारण यदि कोई उस द्रव्यको उसके घरमें देख ले तो तुरंत उसे पकडवा देगा वैसी अवस्थामें बहुत दुःख उठाना पडेगा इसीप्रकार चोरीका द्रव्य लेनेवालेको राजदंड भी मिलनेका पूरा भय रहता है जब तक भी वह वस्तु

रहना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। यहां असमीक्ष्य शब्दका अर्थ विना विचारे विना सोचे है। समीक्ष्य नाम विचार करनेका है असमीक्ष्य नाम नहीं विचार करनेका है। अधिकरण नाम अधिक प्रवृत्ति करनेका है। वह विना विचार किये प्रवृत्ति करना तीनप्रकार है वही प्रगट करते हैं—

तत्त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् ॥ ५॥

अर्थ—वह अधिकरण तीनप्रकार है, किसकारणसे तीनप्रकार है? काय वचन और मन इन तीनोंके विषयभेदसे तीनप्रकार है। अर्थात् मन वचन कायकी प्रवृत्ति तीनप्रकार होती है इसलिये उस अधिकरणके तीनभेद हैं, उनमें मानस—मनसे किया हुआ असमीक्ष्याधिकरण इसप्रकार है कि जो दूसरोंका अनर्थ करनेवाले शृंगार युद्ध कौतूहल आदि विकथाओंका निरूपण करनेवाले काव्य छंद आदिका विचार करना अर्थात् जिन काव्यादिकोंकी रचना दूसरोंको शृंगार युद्ध आदि अहितकर कर्मोंमें लगाने केलिये मिथ्यादृष्टि पुरुषों द्वारा कीगई है ऐसे काव्यसाहित्यका मनन करना वह मानस असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। वाचनिकअसमीक्ष्याधिकरण वह कहलाता है कि विनाप्रयोजन ऐसी कथाएं अथवा बातचीत करना जिनसे दूसरोंको पीडा होती हो दूसरोंका अहित होता हो ऐसा कुछ भी बोलना अथवा विना प्रयोजन कुछ भी बोलना। कायिक असमीक्ष्याधिकरण उसे कहते हैं कि प्रयोजनके बिना मार्गमें जातेहुये अथवा खडे रहतेहुये अथवा बैठेहुये सचित्त और अचित्त पत्ते, पुष्प, फ़ल, आदिका छेदन करना भेदन करना उन्हें कूटना पीसना और फेंकना आदि कार्य करना। इसके सिवा अग्नि विष क्षार आदि वस्तुओंका विना प्रयोजन दूसरोंको देना ये सब वस्तुऐं दूसरोंका घात करनेवाली हैं, इसलिये इसप्रकारका मानसिक वाचनिक और कायिक सभी प्रयोग असमीक्ष्याधिकरण नामका अतीचार है।

यावतार्थेनोपभोगपारभोगौ सोर्थस्ततोन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं ॥ ६॥

अर्थ—जिस व्यक्तिका जितने उपभोग और परिभोगसे प्रयोजन सिद्ध होजाता है वह तो उसका

मर्यादारूप शासन करनेमें लगा हुआ है उस राज्यके नियमोंका उलंघन करदेना जैसे—यदि कोई नगरके भीतर बाहरसे माल लावे तो उसपर राज्यकी चुंगी द्वारा कुछ थोडासा महसूल वसूल किया जाता है परंतु लानेवाला विना महसूल चुकाये यों ही माल घर ले आवे तो यह इसप्रकारका लाना विरुद्धराज्यातिक्रम अतीचार है। इसीप्रकार रेलगाडीमें ११ वर्षके वच्चेका आधा किराया लगनेका राज्यसे नियम है परंतु १३—१४ वर्षके वच्चेको भी आधे किरायेमें लेजाना, इसीप्रकार अन्य जो छोटी छोटी बातोंमें राज्यके नियमका उलंघन करना है वह विरुद्धराज्यातिक्रम अतिचार है। यह अतीचार उसी स्थानमें लगा करता है जहां कि लोभके वशीभूत होकर अधिक मूल्यकी वस्तु स्वल्प मूल्यमें ले ली जाती है, अथवा जहां अधिक पैसे देने पडें वहां थोडे पैसे देकर काम चला दिया जाता है, ऐसा प्रयत्न चोरीका दोष उत्पन्न करता है।

कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिससे माप किया जाय उसे मान कहते हैं जैसे सेर, मन आदि और जिसमें रखकर माप किया जाय उसे उन्मान कहते हैं जैसे—तराजू कांटा आदि। इन मान और उन्मानके द्वारा कमती दूसरोंको वेच देना और इनके द्वारा बढती अपने लिये खरीद लेना। अर्थात् देते समय कमती मानसे और नीची तराजू आदिसे कमती वस्तु देदेना, और लेते समय वढती मानसे और ऊंचे पलेसे लेलेना इसप्रकार छलपूर्वक क्रय विक्रयका प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है। इसका शब्दार्थ यह है कि हीन मान और उन्मान अर्थात् कमती मान उन्मानसे देना तथा अधिक मान और उन्मान अर्थात् बढती मान उन्मानसे वस्तु लेना ऐसा प्रयोग छलपूर्वक होनेसे कूटप्रयोग है। ऐसा जो लोभवश कूटप्रयोग किया जाता है वह हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है।

कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः ॥ ५ ॥

अर्थ—वनावटी नकली सोने चांदी आदिके द्वारा दूसरोंको ठगनेरूप व्यवहार करना, प्रतिरूपक—

संबंध है। असमीक्ष्याधिकरण इस पदमें 'सुप्सुपा' इस व्याकरण सूत्रसे समास होता है अर्थात् सुबंतका सुबंतके साथ समास होता है। अथवा मयूरव्यंसकादिगणमें पाठ होनेसे भी यहां समास होजाता है। इस-प्रकार ये पांच अनर्थदंड व्रतके अतीचार हैं। अव सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतीचार वताते हैं—

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—मनका दुष्प्रणिधान करना, वचनका दुष्प्रणिधान करना, कायका दुष्प्रणिधान करना, यह तीन प्रकारका योग दुःप्रणिधान कहलाता है, सामायिकमें विशेष आदर बुद्धिका नहीं होना तथा सामायिक पाठको भूल जाना ये पांच सामायिकके अतीचार हैं।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ॥ १ ॥

अर्थ—यह योग शब्द पहले विवेचित किया जा चुका है। कहांपर पहले इसका व्याख्यान हो चुका है? उत्तर—"कायवाङ्मनःकर्म योगः" इस सूत्रमें। अर्थात् योग किसे कहते हैं यह वात छठे अध्यायके पहले सूत्रमें अच्छीतरह प्रगट कर दी गई है।

दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानं ॥ २ ॥

अर्थ—प्रणिधान, प्रयोग, परिणाम ये तीनों एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् आत्माके परिणामका नाम प्रणिधान है दुष्ट जो खोटा परिणाम वह दुःप्रणिधान कहलाता है। अथवा आत्माके परिणामको अन्यथा रूप करना वह भी दुःप्रणिधान कहलाता है अर्थात् मन वचन काय इन तीनों योगोंका खोटेरूपसे प्रवर्तन करना योगदुःप्रणिधान कहलाता है जैसे—क्रोधादिकषायविशिष्ट परिणामोंके वशसे शरीरके अंग उपांगरूप अवयवोंका चंचलित करना अर्थात् सामायिक करते हुये शरीरके अंग उपांगोंको क्रोधादि कषायोंके आवेगसे स्थिर नहीं रहसकना किंतु उनमें चंचलता हलन चलनरूप क्रिया करना सो कायदुः-प्रणिधान कहलाता है तथा व्याकरणशास्त्रका ज्ञान नहीं होनेसे अक्षरोंकी शुद्धिका अभाव होना

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जिसके कला चातुर्य आदि गुण प्रगट हो चुके हैं अर्थात् जो स्त्री पुरुषोंसे वातचीत संकेत आदि करनेमें निपुण है उसीप्रकार जिसके चारित्रमोहनीय स्त्री वेद कर्मका तीव्रोदय है अर्थात् परपुरुषोंके साथ रमण करनेके जिसके तीव्रभाव हैं, तथा अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे जिसके अंग उपांग आदि शरीरकी रचना स्त्रियोंके योग्य है, ऐसी जो कोई पर पुरुषोंके साथ गमन करनेका स्वभाव रखनेवाली स्त्री है उसे इत्वरी अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री कहते हैं। भावार्थ—जो स्त्री परपुरुषोंको अपनी चतुराईसे रिझाती है और उनके साथ रमण करती है, इसप्रकारकी भ्रष्टशीला स्त्री व्यभिचारिणी अथवा इत्वरी कहलाती है। इत्वरी शब्दसे निंद्य अर्थमें क प्रत्यय करनेसे इत्वरिका शब्द बनाया गया है अर्थात् खोटे स्वभाववाली शीलरहित स्त्री इत्वरिका कहलाती है। ऐसी इत्वरिका स्त्रियां दो प्रकारकी होती हैं, एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। जो अपनी वृत्तिसे अथवा व्यभिचार वृत्तिसे परपुरुषोंके साथ गमन करनेका स्वभाव रखनेवाली हैं परंतु जिनका पति कोई नियत नहीं हो चुका हो वे अपरिगृहीता इत्वारिका कही जाती हैं और जिनका एक पति नियत हो चुका हो वे परिगृहीता कहलाती हैं अर्थात् जिनका विवाह होकर एक स्वामी नियत हो चुका है ऐसी स्त्रियां परिगृहीता कहलाती हैं वे चाहे सधवा हों। चाहे विधवा हों और जिनका कभी विवाह ही नहीं हुआ हो, अर्थात् पतिरूपसे जिन्होंने एक पुरुषको कभी वरण ही नहीं किया हो वे स्त्रियां अस्वामिका कहलाती हैं, उन्हें ही अपरिगृहीता कहते हैं ऐसी अपरिगृहीता इत्वरिका स्त्रियां या तो कुमारी वेश्याएं होती हैं, या कुमारी दुश्चरित्रा होती हैं और जो सधवा अथवा विधवा दुश्चरित्रा स्त्रियां हैं वे परिगृहीता इत्वरिका कहलाती हैं। इसप्रकार अपरिगृहीता इत्वरिकाके गमन करना इत्वरिका अपरिगृहीता गमन नामका अतीचार है और परिगृहीता इत्वरिकाके गमन करना वह इत्वरिका परिगृहीता गमन नामका अतीचार है।

विषयमें क्रोधादिका आवेश आजाता है अथवा मनकी वृत्ति उदासीन रूप हो जाती है ऐसी अवस्था मनके दुःप्रणिधानमें होती है परंतु स्मृत्युनुपस्थानमें यह वात नहीं हैं; वहां अन्य पदार्थके चिंतवनका अभाव हो, अथवा मनकी उदासीन वृत्ति हो ये दोनों भी नहीं है, किंतु मनकी चंचलता है, उस चंचलतासे विचारमें एकाग्रपना नहीं है अर्थात् स्मृत्यनुपस्थानमें मनके चंचल होनेसे उपस्थित ध्येयके सिवा विचार दूसरे पदार्थमें चला जाता है, तभी सामायिक पाठको भूल जाता है, इसलिये मनोदुःप्रणिधानसे स्मृत्यनुपस्थान जुदा है यह वात स्पष्ट हो जाती है। इसी वातको आचार्य और भी स्पष्ट करते हैं कि जिसके प्रमाद अधिक होता है उसके रातदिन चित्तकी चंचलतासे नाना विकल्पोंका विचार उत्पन्न होता रहता है, इसलिये उससमय सामायिक पाठकी स्मृतिका लक्ष्य छूट जाता है॥ इसप्रकार ये पांच सामायिक शिक्षाव्रत रूप शीलके अतीचार हैं अव प्रोपधोपवास शिक्षाव्रतके अतीचार कहते हैं—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि॥ ३४॥

अर्थ—विना देखे विना झाडे किसी वस्तुको रखदेना, विना देखे विना झाडे किसी वस्तुका ग्रहण करलेना, विना देखे विना झाडे विस्तर विछा लेना, प्रोपधोपवास व्रत करनेमें आदरबुद्धि प्रेमभाव नहीं रखना, और मनकी चंचलतासे उसकी विधि भूलजाना, ये पांच प्रोपधोपवासके अतीचार हैं।

प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः॥ १॥

अर्थ—यहांपर जीव हैं या नहीं हैं इसप्रकार दृष्टिसे देखना चक्षुका कार्य है इसीको प्रत्यवेक्षण कहते हैं।

प्रमार्जनमुपकरणोपकारः॥ २॥

अर्थ—कोमल उपकरणके द्वारा जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है वह प्रमार्जन कहलाता है अर्थात् मयूरपिच्छिका वस्त्र आदि कोमल झाडनेकी वस्तुसे जिससे कि झाडते समय जीव नहीं मरजांय अथवा

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ—खेत, घर, चांदी, सोना, गौ महिषादि धन, चावल गेहूं आदि धान्य, नोकरानी, नौकर और कपडे वर्तन आदि इन समस्त वाह्य वस्तुओंको नियत किये गये प्रमाणसे अधिक रखलेना परिग्रहपरिमाण वृतके अतीचार हैं। इनका स्पष्टीकरण वार्तिकसे ग्रंथकार करते हैं—

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वंद्वः प्राक् कुप्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—क्षेत्रवास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धनधान्य, और दासीदास, इन दो दोका यहां द्वंद्व समास है, यहांपर शंका होती है कि इन क्षेत्रादिकोंका द्वंद्व समास सामान्य रीतिसे सवोंका होता है अथवा कुछ विशेषता है ? उत्तर—सवोंका नहीं होता किंतु कुप्य शब्दसे पहले पहले होता है। वह द्वंद्वसमास इसप्रकार है—क्षेत्र और वस्तु इन दोनोंका मिलकर क्षेत्रवास्तु यह एक पद बन जाता है, हिरण्य और सुवर्ण इन दोनोंका मिलकर हिरण्यसुवर्ण यह एक पद बन जाता है, धन और धान्य इन दोनोंका मिलकर धनधान्य यह एक पद बन जाता है, दासी और दास इन दोनोंका मिलकर दासीदास यह एकपद बनजाता है। इन दो दो शब्दोंका द्वंद्वसमाससे एक एक पद वनाकर फिर इन पदोंका द्वंद्वसमास करके सब पदोंका एक समस्त पद अर्थात् समास किया हुआ मिलाकर एक पद बना लिया जाता है, जैसे क्षेत्रवास्तु और हिरण्यसुवर्ण और धनधान्य और दासीदास और कुप्य इन सवोंको मिलानेसे क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य इतना बडा एक पद बन जाता है। दासीदास इस पदका गवाश्वादिक गणमें निपात है उस गणमें जितने पदोंका निपात है वे सब एकशेष रहजाते हैं। दासीदासका भी उसी गणमें निपात होनेसे वहां भी एकशेष रहगया है इसका स्पष्टार्थ यह है कि 'दास्यश्च दासाश्च इति दासीदासा ऐसा बहुवचन होना चाहिये परंतु गवाश्वादि गणमें पाठ होनेसे जैसे गावश्च अश्वाश्च इति गवाश्वं ऐसा एक वचन शेष रहजाता है उसीप्रकार दासीदास ऐसा एकवचन शेष रहजाता है। अब क्षेत्रवास्तु आदि

विस्तर शीतलपाटी आदिका सांथरा करना अर्थात् अपने बैठनेकेलिये अथवा लेटनेकेलिये जो विस्तर विछाया जाय उसे देखना भी नहीं और झाडना भी नहीं यह अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण नामका तीसरा अतीचार है। संस्तर नाम विस्तरेका है और उपक्रमण नाम आरंभ करनेका है।

आवश्यकेष्वनादरः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेसे क्षुधा लगनेके कारण आवश्यक कार्योंमें पूजन, स्वाध्याय ध्यान आदिमें उत्साह नहीं रखना, विशेष प्रीति नहीं रखना, विना विशेष अनुरागके यों ही दिनभर पूरा करना उसीका नाम अनादर है। यह चौथा अतीचार है। प्रोषधोपवासकी क्रियाओंको भूलजाना, चित्तमें व्याकुलता होनेसे आवश्यक क्रियाओंका विस्मृत होजाना इसीका नाम स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है। यह स्मृत्यनुपस्थान पहले सामायिकमें कहा जा चुका है इसीलिये यहांपर उसका पुनः लक्षण नहीं किया गया है। ये पांच प्रोषधोपवास शीलके अतीचार हैं। अब उपभोगपरिभोगपरिमाण शिक्षाव्रतके अतीचार कहे जाते हैं—

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्काहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—एकेंद्रियजीवसहित पदार्थको सचित्त कहते हैं, उस सचित्तसे संबंधित वस्तुओंको सचित्तसंबंध कहते हैं, उस सचित्तसे मिली हुई वस्तुको सचित्तमिश्र कहते हैं, द्रवीभूत रवडी मलाई आदिको अथवा गरिष्ठ पदार्थको अभिषव कहते हैं तथा कमती पकाये हुये चावल आदिको दुःपक्क कहते हैं इन पांच विशेषणोंसहित आहार करना, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं।

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः ॥ १ ॥

अर्थ – चित्त नाम विज्ञानका है उस विज्ञान करके सहित जो हो वह सचित्त कहलाता है अर्थात् विज्ञान नाम चेतनाका है इसलिये चेतनासहित - एकेंद्रियजीवसहित द्रव्यको सचित्त कहते हैं।

हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम अतीचार, धनधान्यप्रमाणातिक्रम अतीचार, दासीदासप्रमाणातिक्रम अतीचार और कुप्यप्रमाणातिक्रम अतीचार ऐसे पांच अतीचार परिग्रहपरिमाणव्रतके हैं। अब सप्त शीलोंके अतीचार क्रमसे कहे जाते हैं। उनमें पहले दिग्व्रतके अतीचार कहेजाते हैं—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थ–ऊर्ध्वव्यतिक्रम अर्थात् ऊपरको दिशाका उल्लंघन करना, अधोव्यतिक्रम अर्थात् नीचेकी दिशाका उल्लंघन करना, तिर्यग्व्यतिक्रम अर्थात् तिरछी–विदिशाका उल्लंघन करना, क्षेत्रवृद्धि अर्थात् क्षेत्रको बढालेना, और स्मृत्यंतराधान अर्थात् कीगई मर्यादाको भूल जाना ये पांच दिग्व्रत शीलके अतीचार हैं।

परिमितदिगवधिव्यतिलंघनमतिक्रमः ॥ १ ॥

अर्थ–परिमित जो दिशाओंकी मर्यादा है, अर्थात् जितनी मर्यादा जिस दिशाकी नियत करली गई है उसका उल्लंघन करदेना इसीका नाम अतिक्रम है।

स समासतस्त्रिविधः ॥ २ ॥

अर्थ—वह अतिक्रम संक्षेपसे तीनप्रकार है, एक ऊर्ध्वातिक्रम, दूसरा अधोतिक्रम, तीसरा तिर्यग् अतिक्रम।

तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः ॥ ३ ॥

अर्थ—पर्वतभूमि वृक्षभूमि आदि स्थानोंमें आरोहण करनेसे अर्थात् समतल पृथिवीभागसे ऊपर पहाड वृक्ष आदि पर चढनेसे ऊर्ध्व दिशाका उल्लंघन होता है इसलिये यह ऊर्ध्वातिक्रम नामका अतीचार है।

कूपावतरणादेरधोतिवृत्तिः ॥ ४ ॥

विशिष्ट नानाजातीय द्रव्योंका मिलाहुआ आहार सचित्तसंमिश्र कहलाता है। यहांपर यह शंका होती है कि प्रोषधोपवास व्रत करनेवालेकी इन सचित्तादि पदार्थोंमें प्रवृत्ति कैसे होती है? उत्तर—प्रमादसे तथा मोहविशेष होनेसे इन सचित्तादिकोंमें उसकी प्रवृत्ति होती है। जिससमय क्षुधा पिपासासे आतुर हो जाता है उससमय भूखप्यासकी व्याकुलतासे जल्दी सचित्त आदिके विषयमें भोजन करनेकेलिये जलादि पान करनेकेलिये किसी पदार्थका शरीरपर लेप करनेकेलिये और वस्त्रादि धारण करनेकेलिये प्रवृत्ति हो जाती है। यह सब शिथिलता एवं प्रमादका दोष है।

द्रवो वृष्यं वाभिषवः ॥ ५ ॥

अर्थ—द्रवीभूत गीले रस रवडी खीर मलाई आदिक तथा वृष्यरस पुष्टिकारक—कामोद्दीपक रसादिक इनका आहार अभिषव आहार कहलाता है।

असम्यक् पक्को दुःपक्कः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो चावल दाल आदि ऊपरसे पक गये हों परंतु भीतर नहीं पके हों वे दुःपक्क कहलाते हैं अर्थात् आधे पके और आधे कच्चे ऐसे व्यंजनको दुःपक्क कहते हैं अथवा जिस व्यंजनका अधिक पाक हो जाय अर्थात् जो खाद्य पदार्थ जितना उसका पाक होना चाहिये उससे अधिक पका लिया जाय तो वह भी दुःपक्क कहलाता है। दुःपक्क नाम खराब पाकका है खराब पाक दोनों प्रकार होता है, अधिक पकानेसे भी होता है और कम पकानेसे भी होता है। कारण कम पके हुये जले हुये भोजन खानेसे भी शारीरिक आदि हानियां होती हैं। यहांपर यह शंका होती है कि दुःपक्क शब्दका प्रयोग क्यों किया गया है, जो अर्थ दुःपक्क शब्दसे होता है वही अर्थ दुष्पच शब्दसे भी होता है इसलिये दुष्पच शब्द ही कहना ठीक है वैसा कहनेसे और भी स्पष्ट अर्थ होता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि—जिसका शरीरमें परिपाक पाचन अधिक कठिनतासे हो यह दुःपक्क शब्दका यहां अर्थ विवक्षित है, वह कठिनतासे

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण—इच्छा परिमाण जो पांचवां अणुव्रत है उसका दूसरा अधिकरणपना है और इस दिग्व्रतका दूसरा है। इच्छापरिमाणव्रत तो क्षेत्रवास्तु आदिको विषय करता है अर्थात् वहां तो यह बुद्धि रहती है कि ये क्षेत्रवास्तु सोना चांदी आदि मेरे हैं, मैं इनका उपभोग करनेवाला हूं, परंतु यह दिग्व्रत ऐसा नहीं है उसका दूसरा ही प्रयोजन है वह यह है कि इस दिशामें लाभ होनेपर जीवन है, लाभ नहीं होनेपर मरण है इसलिये इस दिशासे बाहर लाभ होनेपर भी नहीं जाता अर्थात् जितनी दिशाकी मर्यादा की जाती है वह उतने प्रयोजनकी दृष्टिसे की जाती है जहांतक दिग्व्रतवाला यह समझता है कि इतनी दिशाका परिमाण रक्खे विना मेरा जीवनकार्य-व्यापारादि चल ही नहीं सकता वहांतक वह दिशाकी मर्यादा रखलेता है उसके अतिरिक्त अर्थात् मर्यादाके बाहरकी दिशाका परित्याग कर देता है। परित्याग करनेपर फिर वह वहां लाभ होनेपर भी गमन नहीं करता है। यही प्रयोजन दिग्व्रत की क्षेत्र मर्यादाका है। इच्छा परिमाणव्रतमें तो क्षेत्रादिकोंमें परिग्रहबुद्धि होनेसे ममत्व बुद्धि है ये मेरे हैं ऐसी अपनेपनकी बुद्धिसे उनका परिमाण करता है परंतु दिग्व्रतमें जो क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है वहां उस क्षेत्रका ग्रहण केवल प्रयोजनसिद्धिकेलिये गमनार्थक है उसमें अपनेपनकी बुद्धि नहीं है अर्थात् मर्यादित क्षेत्र मेरा है ऐसी बुद्धि उसमें नहीं होती। वस! यही अर्थविशेष इस दिग्व्रतमें समझना चाहिये। इसलिये प्रयोजनभेद होनेसे क्षेत्रवृद्धिरूप अतीचारका कथन पुनरुक्त नहीं है।

तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासंगादिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस दिशाओंके परिमाणका अतिक्रम प्रमादसे अथवा मोहसे अथवा किसी काममें अधिक आसक्ति होनेसे होता है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् मर्यादामें कुछ शिथिलता तभी आती है जब कि या तो उस क्षेत्रमें गमन करनेकी अधिक लालसा हो अथवा अधिक परिग्रहसिद्धिकी आकांक्षा हो या किसी वस्तुमें मोहविशेषता हो अथवा कार्यकी अधिक व्यग्रता आकुलता हो इन्हीं सब कारणोंसे दिग्व्रतमें की गई मर्यादाका उलंघन होता है।

सचित्ते निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः ॥ १ ॥

अर्थ—सचित्तका स्वरूप कहा जा चुका है। सचित्त कमलपत्र आदिकमें आहारदेनेयोग्य भोजन सामग्रीको रखना सो सचित्तनिक्षेप नामका अतीचार है। यहांपर 'साधनं कृता' इस सूत्रसे अथवा मयूरव्यंसकादि गणमें पाठ होनेसे समास होजाता है।

प्रकरणात् सचित्तेनाऽपिधानं ॥ २ ॥

अर्थ—अपिधान नाम आवरणका है अर्थात् ढकदेनेको अपिधान कहते हैं। अपिधान और पिधान दोनोंका एक ही अर्थ है। किससे ढकना चाहिये ? तो कहते हैं कि प्रकरण सचित्तका चला आता है इसलिये सचित्तसे ढकना ऐसा विशेष अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यदि विशेष अर्थ प्रकरणवश ग्रहण नहीं किया जाय तो पहिले जो सचित्त शब्द अधिकरण रूपसे कहा गया है जैसे कि सचित्तमें रखना चाहिये यहां सचित्त शब्द अधिकरण अर्थमें आया है परंतु सचित्तसे ढकना चाहिये यहांपर वही सचित्त शब्द करणरूप तृतीया विभक्तिसहित अर्थमें आया है अधिकरण अर्थरूप सचित्त शब्दका यहां संबंध नहीं घटित होता है। इसलिये ढकने अर्थमें सचित्तका संबंध करणरूप अर्थमें ही लेना चाहिये। इस-प्रकार सचित्तसे ढकना यह दूसरा अतीचार है।

अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः ॥ ३ ॥

अर्थ—दान देनेवाले तो दूसरे स्थानमें हैं और दान देने योग्य आहार भी दूसरेका है फिर उसे अपना नाम करनेमात्रके लिये देना वह परव्यपदेश कहलाता है। अर्थात् दूसरे दाताओं द्वारा देनेयोग्य दूसरोंके आहार द्रव्यको स्वयं देदेना परव्यपदेश कहलाता है। यह तीसरा अतीचार है।

प्रयच्छतोप्यादराभावो मात्सर्यं ॥ ४ ॥

एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः ॥ २ ॥

अर्थ—जितना देशव्रतमें मर्यादित क्षेत्र है उससे स्वयं भी बाहर नहीं जाता है और न बाहरसे किसीको बुलाता ही है परंतु वहींसे मर्यादाके बाहर बैठे हुये पुरुषसे–तुम ऐसा करो इस प्रेष्यप्रयोग द्वारा ही अपने अभीष्ट व्यापार की सिद्ध करता है इसप्रकारका प्रेष्यप्रयोग देशव्रतका अतीचार है।

अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः ॥ ३ ॥

अर्थ—स्वयं तो मर्यादाके भीतर बैठा हो और वहींसे व्यापार करनेवाले पुरुषोंको उद्देशकर खांसी खांसना हूं हूं आदि शब्दों द्वारा अपने प्रयोजनका अभिप्राय प्रगट करदेना शब्दानुपात नामा अतिचार है।

स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः ॥ ४ ॥

अर्थ—मेरे रूपको देखकर मेरे अभीष्ट व्यापारको शीघ्र ही वह करने लगेगा इस अभिप्रायसे मर्यादाके बाहिर स्थित पुरुषको मर्यादाके भीतरसे ही अपने शरीरका रूप दिखाना अर्थात् अपने शरीरको दिखाकर अपने इष्ट कार्यका उसे स्मरण दिला देना इसीका नाम रूपानुपातनामा अतीचार है।

लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ॥ ५ ॥

अर्थ—मर्यादाके बाहर कार्य करनेवाले पुरुषोंको लक्ष्य कर मर्यादाके भीतरसे मिट्टीका ढेला कंकण पत्थर फेंकना अर्थात् उन कंकण पत्थरोंको फेंककर अपना अभिप्राय प्रगट करना वह पुद्गलक्षेप नामा अतीचार है। ये पांच देशविरमण–देशव्रत शीलके अतीचार हैं। यहांपर यह शंका होती है कि ये अतीचार क्यों हैं अनाचार क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर—

स्वयमनाक्रमन्नन्येनाक्रामयति इत्यतिक्रमः ॥ ६ ॥

अर्थ—अतीचार होनेका कारण यह है कि जितने क्षेत्रकी मर्यादा की है उससे बाहर देशव्रत-वाला पुरुष स्वयं तो जाता नहीं है वह तो अपने धारण किये गये व्रतकी रक्षाका ध्यान रखता है इस-

अर्थ-यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है जलके वबूलेके समान अनित्य है अर्थात् देखते देखते विनष्ट होजाता है इस शरीरकी किसप्रकार स्थिति रक्खी जाय इसप्रकार उसमें आदर करना जीविताशंसा नामका अतीचार है अर्थात् शरीरको नष्ट होता हुआ देखकर उसमें ममत्वबुद्धिवश यह भावना करना कि अभी कुछ दिन और जीते रहें तो अच्छा है ऐसी बुद्धिका होना समाधिमरणका दोष है।

जीवितसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा ॥ ३ ॥

अर्थ-रोगोंके उपद्रवकी व्याकुलतासे होनेवाला जो जीवनमें संक्लेशयुक्त मन उसके कारण मरनेके लिये आकांक्षा करना सो मरणाशंसा नामका अतीचार है अर्थात् शरीर अतीव वृद्ध होचुका है वात पित्तादिक नाना रोगोंके उपद्रवने चित्तको व्याकुल वना दिया है परिणामोंमें संक्लेश होरहा है ऐसी अवस्थामें यह भावना करना कि जल्दी मरण होजाय तो अच्छा। यह मरणाशंसा नामका अतीचार है।

पूर्वकृतसहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणात् मित्रानुरागः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मित्र सदा व्यसनमें सहाई रहे हैं उत्सवमें जो सदैव साथ रहे हैं जिनके साथ वाल्यकालमें खेलकूद आदि क्रीडा की है, जो लंगोटिया मित्र हैं उनका मरते समय स्मरण करना अर्थात् ये सभी मेरे मित्र आदिक अव छूटे जाते हैं इसप्रकार मित्रानुराग नामका तीसरा अतीचार है।

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबंधः ॥ ५ ॥

अर्थ-मैंने अपने जीवनमें ऐसे ऐसे उत्तम भोजन किये हैं, ऐसी वढिया कोमल शय्या पर शयन किया है, ऐसी अनेक प्रकार क्रीडा की है इत्यादि भोगे हुए भोगोंके प्रति अनुराग विशेष करना एवं उन समस्त वातोंका स्मरण करना यह सुखानुवंधनामा अतीचार है।

भोगोकांक्षया नियतं दयिते चित्तं तस्मिस्तेनेति वा निदानं ॥ ६ ॥

अर्थ-इंद्रियसंवंधी विषयसुखकी अधिकताकी अभिलाषा होना भोगाकांक्षा कहलाती है। उस

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः ॥ १ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाला जो रागरूप परिणाम है उसकी तीव्रतासे हास्य-सहित अशिष्ट शब्दोंका प्रयोग करना कंदर्प कहलाता है अर्थात् विना प्रयोजन बैठे बैठे हास्यसहित बुरे बुरे वचन बोलना ऐसे वचन बोलना जो सभ्यतासे बाहर हों, वह कंदर्प नामा अतीचार है।

तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यं ॥ २ ॥

अर्थ—रागकरिसहित हास्यवचन कहना और नीच पुरुषोंके कहने लायक अशिष्ट गाली आदि वचन भी बोलना तथा दूसरे पुरुषकलिये शरीरसे भी कुचेष्टा करना अर्थात् शरीरसे ऐसी क्रिया करना जो निंदा योग्य हो जो असभ्य नीच आदमियोंके व्यवहारमें आती हो इसप्रकार हास्यमिश्रित वचन और शरीरकी कुचेष्टा कौत्कुच्य नामा अतीचार है।

धाष्टर्यप्रायमबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यं ॥ ३ ॥

अर्थ—मनुष्य जो अर्थसहित एवं उचित वचन बोलता है उस व्यवहारसे अर्थात् मनुष्यपनसे रहित चाहे जैसे अश्लील और निरर्थक वचन बोलना बहुतसा वकवाद करना मौखर्य नामा अतीचार कहलाता है।

असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणं ॥ ४ ॥

अर्थ—अधिकरण शब्दमें 'अधि' यह तो उपसर्ग शब्द है इसका अर्थ अधिकरूप होता है और करण इस शब्दमें करोति यह क्रियापद है उसका अर्थ अपूर्व प्रादुर्भाव है अर्थात् नवीन अर्थके प्रगट करनेमें करण शब्द नियत है इन अधि उपसर्ग और करण क्रियात्मक पद इन दोनोंका मिलकर एक अधिकरण शब्द बनता है उसका अर्थ होता है कि विना विचारे और विना किसी प्रयोजनके अधिक प्रवृत्ति करना अर्थात् विना सोचे विचारे निरर्थक कोई भी काम करते रहना जैसे घूमना फिरना कूदना पत्थर फेंकना पानी उछालना पृथिवी खोदना वनस्पति उपाडना आदि सब विना प्रयोजन क्रिया करते

अर्थ—स्व शब्द आत्मा, आत्मीय जाति और धन इन अर्थोंमें आता है, यहांपर स्व शब्दका अर्थ धनपर्याय वाची है। इसप्रकार अनुग्रहकेलिये अर्थात् बिना किसी आकांक्षाके अपने और परके उपकारके लिये द्रव्य देना वह दान कहलाता है। अतिसर्ग नाम त्याग अथवा दानका है। अब यहांपर यह प्रश्न होता है कि दानका लक्षण तो कहा जा चुका, परंतु यह नहीं विदित हो सका कि वह दान सबोंको समान फल देनेवाला होता है, अथवा भिन्न भिन्न दातारोंको उस दानके फलमें कुछ विशेषता भी होती है? इसी प्रश्नके उत्तरमें सूत्र कहा जाता है—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ—दान देनेकी विधि, दान देने योग्य द्रव्य दान देनेवाला दाता और दान लेनेवाला पात्र इन चारोंकी जैसी जसी विशेषता होती है वैसी वैसी दानके फलमें भी विशेषता आती है।

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रतिग्रह—पडगाहन करना, उच्चदेशस्थापन—उन अतिथियोंको काष्ठके सिंहासन या चौकी पर बिठाना, पादप्रक्षालन—उनके चरणोंका प्रक्षालन करना, अर्चन—उनकी अष्ट द्रव्यसे पूजन करना, प्रणमन—उन्हें नमस्कार करना इत्यादि क्रियाविशेषोंका जो क्रम है उसे विधि कहते हैं अर्थात् अतिथियोंको दान देनेकी विधिमें जो नवधा भक्ति बतायी है वह इसप्रकार है—सबसे प्रथम स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र पहनकर अतिथियोंके आहारके समय अपने दरवाजेपर खडा होकर दातार आनेवाले अतिथियोंका प्रतिग्रह करै, अर्थात् हाथ जोडकर यह प्रार्थना करै कि महाराज! यहां पधारिये अन्न जल शुद्ध है, फिर तीन प्रदिक्षणा देकर नमस्कार कर उनके आगै होकर उन्हें भीतर घरमें लिवा लेजाय, इसीका नाम पडगाहन है। घरमें भीतर उनकेलिये काष्ठसिंहासन या चौकी रखदे इसीको उच्चासन कहते हैं। उनके चरणोंका प्रक्षाल करै अर्थात् शुद्ध गरम जलसे उनके चरणोंको धोवै इसीका

अर्थ कहलाता है और उससे अधिक बाकीका बढाना वह सब आनर्थक्य कहलाता है। अर्थात् प्रयोजनीभूत भोगोपभोग सामग्रीको रखना उसका नाम तो अर्थ है और विना प्रयोजन उसका अधिक रखना वह अनर्थकता है। इसप्रकार उपभोगपरिभोगानर्थक्य नामका अतीचार है।

उपभोगपरिभोगव्रतेतभावात् पौनरुक्यप्रसंग इति चेन्न तदर्थानवधारणात ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि यह जो उपभोगपरिभोगानर्थक्य अनर्थदंडवृतका अतीचार कहा गया है वह उपभोगपरिभोग वृतमें अंतर्भूत होजाता है फिर उसका यहांपर कथन करना, पुनरुक्ति दोष आता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण—उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रतके अर्थको नहीं समझकर ही यह शंका की गई है क्योंकि उस वृतमें इसप्रकार अर्थ नहीं घटित होता है वहांपर इच्छापूर्वक उपभोगपरिभोग पदार्थोंका नियम किया जाता है और विना प्रयोजन होनेवाले पापका परित्याग किया जाता है अर्थात् जितने आवश्यक एवं उपयोगी पदार्थ प्रतीत होते हैं उतने पदार्थोंका ही ग्रहण और बाकी समस्त पदार्थोंका पापारंभ समझकर परित्याग कर दिया जाता है परंतु यहांपर संकलिपत किये गये पदार्थोंसे अधिकता रहती है अर्थात् इस उपभोगपरिभोगा नर्थक्य अतीचारमें यह बात है कि जितनी वस्तुओंका संकल्प कर लिया जाता है उससे अधिक वस्तुओंका संगृह किया जाता है। यहांपर अधिक पापारंभका परित्याग नहीं है इसलिये यह अनर्थदंडव्रतका अतिचार उपभोगपरिभोगपरिमाणवृतमें अंतर्भूत नहीं हो सकता है। फिर यहांपर शंका होती है कि उपभोगपरिभोगानर्थक्य उपभोगपरिभोगपरिमाण वृतमें अंतर्भूत नहीं होता है तो नहीं सही परंतु वह उसके अतीचारमें अंतर्भूत हो जायगा फिर भी यहांपर उसका इस अनर्थदंड वृतके अतीचारमें गृहण करना व्यर्थ है? उत्तर—व्यर्थ नहीं है कारण—वहांपर सचित्तादि अतीचारोंका वचन कहा गया है अर्थात् उपभोगपरिभोगपरिमाण वृतमें सचित्त, सचित्तसंबंध आदि भोज्य पदार्थ संबंधी वातोंका ही अतीचार है परंतु यहांपर सवप्रकारके आनर्थक्यसे

उनका कंठ सूख जायगा और उनके ध्यानसंयममें कुछ वाधा पहुंचेगी इसलिए जिस ऋतुके जो योग्य आहार हो वह देना जिससे शरीरमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं पहुंचे, इसप्रकारका जो द्रव्य है वह द्रव्य-विशेष कहलाता है। जहां भक्तिभावका आधिक्य होता है एवं अतिथियोंके प्रति विशेष धर्मानुराग होता है वहीं द्रव्यविशेषकी योजना की जाती है, जहां भक्तिकी न्यूनता होती है, लोभकी प्रकर्षता होती है वहां द्रव्यविशेष नहीं तैयार किया जाता।

अनुसूयाविषादादिर्दातृविशेषः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो दान ग्रहण करनेवाले पात्र हैं उनमें ईर्षा नहीं करके प्रेमभावसे दान देना अनसूया कहलाती है। असूया नाम ईर्षाका है, और ईर्षा नहीं करनेका नाम अनसूया है। दान देनेमें विषाद नहीं करना अथवा दान देनेके पीछे विषाद नहीं करना अविषाद कहलाता है। दान देगा, दान देता है और दान देचुका इन तीनों अवस्थाओंमें दान ग्रहण करनेवाले पात्रके प्रति प्रेमभाव रखना, अर्थात् दान देगा इस बातका भी प्रेम रखना चाहिये, दान देते समय भी प्रेम रखना चाहिये और दान दे चुकने पर भी प्रेमभाव रखना, कभी भी द्रव्यके व्यय आदिमें दान देनेमें अप्रीति नहीं करना, इसीका नाम प्रीति-योग है। दान देनेसे पुण्यप्राप्तिका लाभ लेना कुशलाभिसंधिता कहलाती है। दान देनेसे इसलोक-संबंधी फलोंकी अर्थात् सांसारिक फलोंकी आकांक्षा नहीं करना दृष्टफलानपेक्षिता कहलाती है। दूसरा जो कोई अतिथियोंको दान देता हो तो उसे नहीं रोकना अर्थात् दूसरा दान नहीं देसके मैं ही दे दूं इस बुद्धिसे दूसरेको दानदेते हुए रोकनेका प्रयत्न नहीं करना इसका नाम निरुपरोधत्व है और दान देनेके बदलेमें निदानबंध नहीं करना वह अनिदानत्व कहलाता है। इसप्रकार अनसूया, अविषाद, प्रीतियोग, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व और अनिदानत्व आदिक दाताके विशेष गुण हैं।

मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ॥ ५ ॥

अज्ञानतावश शब्द अर्थका वाच्य वाचक बोध नहीं होनेसे उन अक्षरोंका अर्थज्ञान नहीं होना और वचनमें चपलता उच्चारणमें स्खलितता आदि दोषोंका होना वचनदुःप्रणिधान कहलाता है अर्थात् सामायिक पाठको शुद्ध नहीं बोलना उस पाठके अर्थको नहीं समझना और उसके उच्चारणमें ह्रस्व दीर्घ प्लुत अनुस्वार विसर्ग आदिका ध्यान नहीं रखना आदि वचनका दुरुपयोग है इसीप्रकार मनकी उपयुक्तता नहीं रखना अर्थात् सामायिकमें मनका उपयोग नहीं लगाना अथवा मनका उदासीन रखना यही मनका अन्यथा प्रवर्तन करना मनका दुःप्रणिधान कहलाता है।

अनादरोनुत्साहः ॥ ३ ॥

अर्थ--जितना सामायिकका काल है उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य, इनमेंसे जितने कालकी मर्यादा लेकर सामायिकमें स्थित होता है उतने कालको ज्यों त्यों कर पूरा करता है, नियत किये हुये कालमें पूर्णरीतिसे उत्साहपूर्वक उपयोग नहीं लगाता है, सामायिकमें प्रीति नहीं करता है, इसीका नाम अनादर है।

अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानं ॥ ४ ॥

अर्थ--मन की एकाग्रताका नहीं रहना मनकी सावधानीका नहीं रखना अर्थात् सामायिक करते हुए अन्यमनस्क होकर उसे भूल जाना इसीका नाम स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है।

मनो दुःप्रणिधानं तदिति चेन्न तत्रान्यार्चिंतनात् ॥ ५ ॥

अर्थ-यहांपर शंका होती है कि जो स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है वही मनदुःप्रणिधान है। मनके दुरुपयोगसे अतिरिक्त स्मृत्युनुपस्थान अतीचार कुछ नहीं है, इसलिये उसका--स्मृत्यनुपस्थानका स्वतंत्र ग्रहण करना व्यर्थ है? उत्तर--यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण मनके दुःप्रणिधानमें तो अन्य पदार्थका चिंतवन नहीं है वहां अन्य किसी पदार्थका चिंतवन नहीं करता हुआ उसी ध्येय पदार्थके चिंतवनमें मनका उपयोग नहीं लगाता है परंतु मन पदार्थांतरमें नहीं जाता है अथवा उसी ध्येयके चिंतवनके

नहीं सिद्ध होंगे वैसी अवस्थामें दानके फलमें भी भेद नहीं होता है अर्थात् सांख्य आदि जो दर्शनवाले आत्माको निःक्रिय मानते हैं उसमें किसीप्रकारका परिणमन नहीं मानते हैं उनके मतमें विधि आदिक दानके भेद नहीं सिद्ध होसक्ते। यदि सांख्य आदि कहें कि उनके यहां भी विधि आदिक आत्मीय परिणाम वन सकते हैं अथवा माने जाते हैं तो फिर उनकी वह प्रतिज्ञा नष्ट होजाती है कि सव भाव आत्माके सिद्ध नहीं होते आत्मा निःक्रिय है अर्थात् परिणाम माना जायगा तव तो निःक्रियता नष्ट होजायगी और निःक्रियता मानी जायगी तो परिणाम सिद्ध नहीं होगा इसलिये विधि द्रव्य दातृ पात्र रूप दानके भेद जैनसिद्धांतवादियोंके यहां ही सिद्ध होते हैं।

क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसंधानाभावः ॥ ८ ॥

अर्थ—क्षणमात्र अवलंबनरूप विज्ञानमें यह वात नहीं सिद्ध होती कि यह पात्रभूत ऋषि तप स्वाध्यायमें तत्पर होता हुआ मेरा अनुग्रह करेगा, और इनके लिए दिया हुआ आहार इनके व्रत शील भावनाकी वृद्धि करेगा, इसप्रकारकी विधि क्षणिक विज्ञानमें नहीं वनेगी अर्थात् वौद्धदर्शनवादी आत्मा आदि सभी पदार्थोंको क्षणिक मानता है, इसलिए उसके मतमें विज्ञानरूप जो आत्मा है वह भी क्षणस्थायी है—एक क्षणमात्र ठहरकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है ऐसी अवस्थामें उस विज्ञानमें यह क्रमभावी वोध नहीं हो सकता कि दान ग्रहण करनेवाले ये पात्र तपस्वाध्यायमें तत्पर हैं, दान लेकर मुझपर अनुग्रह करेंगे और दिया हुआ यह आहार इनके व्रत शील भावनामें वृद्धि करेगा, इसप्रकार अनेक क्षणमें ठहरनेवाला यह विज्ञान एक क्षणवाले विज्ञानमें कभी नहीं हो सकता क्योंकि एक विचारके पीछे दूसरा विचार होनेके पहले ही वह विज्ञान तो नष्ट होजायगा कारण क्षणविनश्वर पदार्थोंको मानना ही वौद्धमत है इसलिए पूर्वकालवर्ती और उत्तरकालवर्ती दोनों ज्ञानोंको संस्कारोंको वह एक क्षणस्थायी विज्ञान नहीं ग्रहण कर सकेगा। इसलिए वौद्धमतमें भी विधि आदि परिणाम नहीं वन सकते। यदि कहा जाय कि विधि आदि

झाडूकी कठोरतासे उन्हें पीडा नहीं हो ऐसी कोमल वस्तुसे जो झाड देना है अर्थात् जीव जंतुके संचारको वहांसे हटादेना है उसीका नाम प्रमार्जन है।

तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबंधः ॥ ३ ॥

अर्थ—उन प्रतिषेधसहित दोनोंका जो उत्सर्ग आदि तीनोंसे संबंध होता है वही तीन अतीचार हो जाते हैं अर्थात् प्रत्यवेक्षित नाम नेत्रसे देखनेका है, उसका प्रतिषेध यह होता है कि नेत्रसे नहीं देखना। नेत्रसे नहीं देखनेका नाम ही अप्रत्यवेक्षित है। प्रमार्जित नाम पीछी आदि कोमल वस्तुसे जीव आदिको हटा देनेका है और अप्रमार्जित नाम उससे उलटेका है अर्थात् जीव जंतुको नहीं हटाना वह अप्रमार्जित कहलाता है। इन दोनोंका संबंध उत्सर्ग आदान और संस्तरोपक्रमण इन तीनोंके साथ लगता है। अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान और अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण इसप्रकार तीन भेद अतीचारके हो जाते हैं। जैसे—विना देखीहुई भूमिमें मल मूत्र करना यह दोष है। जिस जगहमें मूत्र और मल आदिकी बाधा निवृत्त की जाय पहले उस जगहको अच्छी तरह देखलेना आवश्यक है, जहां कीडा मकोडा, चींटी आदि कोई जीव नहीं चलते फिरते हों वहीं मल मूत्र करना चाहिये परंतु जीवोंको विना देखे ही जहां छोटे २ जंतु चल फिर रहे हैं वहीं मलमूत्रकी बाधा निवृत्त करना इसका नाम अप्रत्यवेक्षित उत्सर्ग है। उत्सर्ग नाम किसी वस्तुके छोडनेको कहते हैं यह एक अतीचार है तथा विना देखे और विना कोमल वस्तुसे साफ किये जो अर्हंत आचार्य जिनवाणीकी पूजाके उपकरण हैं, वर्तन चौकी गंधमाला धूप ग्रंथ आदि हैं उन्हें तथा अपने पहननेकेलिये जो धोती दुपट्टा आदि वस्त्रादिक हैं उन्हें उठालेना यह दूषण—अतीचार है अर्थात् प्रोषधोपवासके दिन शिथिलताके कारण पूजा आदिके उपकरणोंके देखने भालनेमें कुछ शिथिलता नहीं लाना चाहिये और न परिणामोंको ही शिथिल बनाना चाहिये अन्यथा अतीचाररूप दोष आता है। इसीप्रकार विना देखे और बिना झाडे

मानी जायगी तवतक विधि आदि परिणाम कभी सिद्ध नहीं होसकते कारण वैसी अवस्थामें नवधाभक्ति आदि कुछ भी कार्य नहीं वन सकते।

क्रियागुणसमवायादुपपत्तिरिति चेन्न तत्परिणामाभावात् ॥ १० ॥

अर्थ—यहांपर नैयायिक आदि जो ज्ञानको आत्मासे भिन्न मानते हैं और आत्मामें क्रिया नहीं मानते हैं वे शंका करते हैं कि यद्यपि ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न है और क्रिया भी आत्मासे जुदी है फिर भी इन दोनोंका संवंध आत्मासे मान लेंगे—भिन्न रहने पर भी 'इहेदं' अर्थात् इस आत्मामें ज्ञानादि रहते हैं इसप्रकारकी वुद्धि प्रगट करनेवाला जो समवायसंवंध उससे दोनोंमें एक सरीखा भाव प्रतीत होने लगेगा वैसी अवस्थामें आत्मा ज्ञानवाला और क्रियावाला कहलाने लगेगा तव उस आत्मामें विधि आदि परिणाम भी वन सकते हैं। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—जो जुदी वस्तु है वह संवंध मानने पर भी उसका परिणाम नहीं कहा जासकता अर्थात् ज्ञान और क्रिया जव आत्माके धर्म अथवा स्वरूप ही नहीं हैं तो कैसा ही संवंध मानाजाय वे आत्माके धर्म सिद्ध नहीं होसकते। जिसप्रकार देवदत्तका दंडका संवंध होनेसे वह दंडी है—दंडवाला है ऐसा व्यवहार भी होने लगता है फिर भी देवदत्त दंड स्वरूपवाला है—देवदत्तका दंड स्वभाव है यह वात किसीप्रकार सिद्ध नहीं होती। संवंध होनेसे वैसा व्यवहारमात्र होगा परंतु उसका स्वभावपना उसमें नहीं आवेगा उसीप्रकार आत्मा ज्ञानवाला है यह व्यवहार तो समवाय संवंध माननेसे किसीप्रकार मान भी लो परंतु वास्तवमें आत्माके ज्ञान और क्रिया स्वभाव है वह ज्ञानस्वरूप और क्रियास्वरूप है यह वात सिद्ध नहीं होती इसलिये अधिकारमें आये हुये जो विधि द्रव्य दातृ पात्र रूप परिणाम हैं—आत्माके धर्म विशेष हैं वे उन नैयायिक आदि दर्शनकारोंके मतमें किसीप्रकार सिद्ध नहीं होसकते।

क्षेत्रस्य वाऽचेतनत्वात् ॥ ११ ॥

तदुपाश्लिष्टः संबंधः ॥ २ ॥

अर्थ—उस जीवसहित सचित्त द्रव्यसे जो संबंधित वस्तु है वह सचित्तसंबंध कहलाता है जो दूसरी वस्तुसे संसर्ग करै संयोग करै उसीका नाम संबंध है। जो सचित्त द्रव्यसे संबंध करै वह सचित्तसंबंध कहलाता है। उसे सचित्तसंबंधित भी कहते हैं।

तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः ॥ ३ ॥

अर्थ—उस सचित्त द्रव्यसे जो मिला हुआ है वह संचित्तसंमिश्र कहलाता है अर्थात् सचित्त और अचित्त दोनों मिलकर एकमएक होजाय परस्पर भेद नहीं रहै वह संचित्तसंमिश्र कहलाता है।

पूर्वेणाविशिष्ट इति चेन्न तत्र संसर्गमात्रत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि जो सचित्तका संबंध है सोही सचित्तका संमिश्रण है। संबंधमें भी दो वस्तुओंका सचित्त और अचित्तका मिलना है और संमिश्रमें भी यही वात है फिर एक सचित्तसंबंध एक सचित्तसंमिश्र ऐसे दो भिन्न भिन्न अतीचार क्यों कहे हैं ? दोनोंमें कुछ भेद नहीं होनेसे एक ही कहना था ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण यहां सचित्तसंबंधमें तो संबंधमात्र—संसर्गमात्र है अर्थात् वहां तो सचित्त वस्तुको अचित्तके साथ संयोगमात्र करना है वहां दोनों परस्पर मिलते नहीं जैसे हरित पत्रसे अचित्त आहारको ढकदेना इस ढकनेसे हरितपत्रका आहारके साथ संसर्गमात्र है किंतु परस्पर अभेद नहीं हो जाता है परंतु सचित्तसंमिश्रमें तो सूक्ष्मजंतुव्याकुल जो सचित्त द्रव्य है उसका अचित्तसे परस्पर एक होनेपर सचित्त अचित्त दोनोंका विभाग नहीं किया जासकता। जैसे सचित्त नमकको किसी वस्तुमें मिला लेना तो फिर वह नमक उस वस्तुसे जुदा नहीं किया जासकता है सक्करमें गुडमें यदि सचित्त नमकके परमाणु मिलजांय तो फिर वे परमाणु उनसे जुदे नहीं किये जासकते हैं इसप्रकारका जो अभेद संबंध हो जाता है वह सचित्तसंमिश्र कहलाता है। सूक्ष्म जंतुओंसे

बात सिद्ध होती है कि सांख्यदर्शनमें भी विधि द्रव्य दातृ पात्ररूप परिणामविशेष नहीं सिद्ध होसकते हैं।

स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकांताश्रयणात ॥ १२ ॥

अर्थ—स्याद्वाद धर्म जो अनेकांत सिद्धांत है उसके माननेवाले जो आर्हत मतवादी जैन हैं उनके यहां विधि आदि परिणाम अच्छी तरह सिद्ध होते हैं क्योंकि उनके यहां पदार्थ एकधर्मात्मक केवल नित्य अथवा केवल अनित्य केवल एक आदिरूप एकांत स्वरूप नहीं है किंतु सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं इसलिये अनेकांतका आश्रय होनेसे स्याद्वादियोंके यहां तो विधि आदि व्यवस्था बन जाती है, अन्यत्र कहीं नहीं बन सकती। स्याद्वादियोंके यहां आत्मा कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। अर्थात् गुणसमुदायरूपसे द्रव्य दृष्टिसे आत्मा नित्य है क्योंकि गुणोंका कभी भी नाश नहीं होता है, और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है क्योंकि ज्ञानादि गुणोंकी पर्यायें सदैव बदलती रहती है, इसीप्रकार सभी गुणोंमें और सभी पदार्थोंमें एकांतपना नहीं है, कथंचित् भेदाभेद कथंचित् एकानेक कथंचित् नित्यानित्य आदि रूपसे अनेकांत भावका आधार है इसलिये एकांत पक्षमें होनेवाला एक भी दोष जैनसिद्धांतमें नहीं आता है।

इसप्रकार श्रीमदाचार्यप्रवर उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्रका भाष्यस्वरूप तत्त्वार्थोंका वडी उत्तमतासे अलंकारस्वरूप व्याख्यान करनेवाले श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवविरचित संस्कृत ग्रन्थ श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थराजकी देशभाषामय चावलीनिवासी न्यायालंकार पंडित मक्खनलालजी शास्त्री विरचित हिन्दी भाषा टीकामें आस्रवका निरूपण करनेवाला सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

पाक होनारूप अर्थ दुष्पच शब्दसे घटित नहीं होता है इसलिये दुःपक्व शब्दका प्रयोग ही विशेष अर्थका द्योतक है। फिर दूसरी शंका यह होती है कि ऐसे कठिनतासे पाचन होनेवाले दुःपक्व आहारके खानेसे क्या दोष आता है ? अर्थात् यह उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत है इस व्रतमें दुःपक्व खानेसे क्या हानि आती है यदि शारीरिक हानि आती भी हो तो उस व्रतमें क्या हानि पहुंचती है ? उत्तर—दुःपक्व आहार करनेसे इंद्रियोंमें मदकी वृद्धि होती है अर्थात् जो अन्न आदि भोजन ठीक ठीक अच्छीतरह पकायाहुआ नहीं है वह गरिष्ठ होता है उसके खानेसे इंद्रियोंमें अधिक प्रबलता आती है इंद्रियोंमें अधिक मदका होना दोषोत्पादक है अर्थात् अविरतरूप परिणामोंका वह कारण है। दूसरे आधा पकाहुआ भोजन सचित्त भी रह जाता है, उसमें सर्वथा अचित्त होनेका निश्चय नहीं हो पाता। तीसरी बात यह है कि वैसा आहार वात श्लेष्मा आदि विकारोंको भी पैदा कर देता है फिर उन वातादि दोषोंके प्रतीकार करनेमें पापारंभ होता है। चौथी बात यह है कि ऐसा दुःपक्व भोजन अतिथिगण मुनिवर्ग नहीं ग्रहण करते हैं उनका वह त्याज्य है, ऐसी अवस्थामें उन्हें आहार भी नहीं दिया जासकता है। इन समस्त दोषोंके कारण दुःपक्व भोजन अतीचार है। इसप्रकार ऊपर कहे गये पांच अतीचार उपभोग परिभोगपरिमाण व्रतके हैं। अब अतिथिसंविभाग शील व्रतके पांच अतिचार कहते हैं—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः॥ ३६ ॥

अर्थ—सचित्त वस्तुमें दान देने योग्य आहारका रखना सचित्तसे उसे ढकना दूसरेसे आहार लेकर स्वयं देदेना अथवा अपना बना हुआ आहारको देकर उससे दिलवाना यह परव्यदेश कहलाता है। आहार देनेमें प्रीति नहीं करना अथवा दूसरे को देते हुय देखकर उससे इर्षाभाव धारण करना मात्सर्य कहलाता है और जो समय भोजन देनेका है उस समयको टाल कर असमयमें अतिथियोंको भोजन देनेके लिये खडे—होना यह कालातिक्रम कहलाता है। ये पांच अतिथिसंविभाग व्रतके अतीचार हैं।

पूर्व कर्म और उत्तर कर्मका परस्पर संबंधरूप चला आता है। इस अपेक्षासे कर्मबंध अनादि सिद्ध होता है और जो कर्मबंध नवीन बंधता है वह पूर्व कर्मके उदयसे ही बंधता है इस अपेक्षासे कर्मबंधको आदिपना भी सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार कर्मबंध अनादि और आदिमान दोनों तरह सिद्ध हो जाता है, जिसप्रकार वीज अंकुरसे उत्पन्न संतानमें आदिपना और अनादिपना दोनों हैं अर्थात् वीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है यहांपर बराबर संततिकी अपेक्षा वीज वृक्षका संबंध अनादि है और जिस वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है और जिस बीजसे बृक्ष उत्पन्न होता है वे वीज और वृक्ष आदिमान हैं इस वीज वृक्षकी संतानके समान कर्मबंध भी आदिमान और अनादिमान है। अव आचार्य कहते हैं कि यह व्याख्यान तो आगे कहेंगे ही, इस समय तो यह वतानेकी आवश्यकता है कि ये जो बंधके कारण हैं जिनसे कि यह बंध होता है वे कौन हैं? यदि यहां बंधके कारण नहीं बताये जावें तो वधरूप पदार्थका निश्चय करनेके लिये उसके फिर हेतु कहने ही पडेंगे, इसलिये पहले ही बंधके कारणों पर विचार करना आवश्यक है। यदि कहाजाय कि कारणका अभाव होनेसे भी बंधकी प्रसिद्धि है, उसी सामर्थ्यसे बंधका निरूपण करना चाहिये, उसके कारणके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है? तो ऐसा कहना भी व्यर्थ है क्योंकि यदि बिना कारणके ही बंधका सद्भाव माना जायगा तो जीवकी कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगी इसलिये बंध सकारणक है, कारणके नष्ट होनेपर बंधरूप कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसलिये सबसे पहले बंधके कारणोंका विचार करना ही आवश्यक है।

अकस्माच्च तदभावात् ॥ १ ॥

अर्थ—यदि फिर शंका की जाय कि बंध अकस्मात् अर्थात् बिना कारण होता है यह मान लेनेमें क्या हानि है? उत्तर—यदि बंध अकस्मात् माना जायगा तो फिर मोक्षको अकस्मात् क्यों नहीं मानलिया जाय, अर्थात् जैसे बिना कारण बंध माना जायगा वैसे बिना कारण मोक्ष भी मान लेनी चाहिए,, परन्तु

अर्थ–दान देते हुये भी विना आदरके दान देना मात्सर्य कहलाता है। यह चौथा अतीचार है। दान देते समय नवधा भक्ति होना आवश्यक है जो दाता दान तो देरहा हो परंतु हृदयमें भक्ति बुद्धि या आदरभाव पात्रके प्रति नहीं हो तो वह मात्सर्यदोषयुक्त समझा जाता है।

अकाले भोजनं कालातिक्रमः ॥ ५ ॥

अर्थ-मुनियोंके आहार ग्रहण करनेका जो काल है दश साढे दश बजेका, उस कालमें आहार देनेकेलिये नहीं खडा होना किंतु कार्यकी अधिकतावश उस समयके अतिरिक्त समयमें दान देनेकेलिये प्रतीक्षा करना वह कालातिक्रम नामका अतीचार है। ये पांच अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतके अतीचार हैं। इसप्रकार सातों ही शीलोंके अतीचार बहुत भेदोंके साथ कह दिये गये अब उस सल्लेखनाके अतीचार बताते हैं, जो मरणविशेष अर्थात् समाधिमरणको देनेवाली है और विना किसीकी प्रेरणाके स्वयं अपने मनसे धारण की जाती है—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ–जीनेकी आकांक्षा करना, मरनेकी आकांक्षा करना, मित्रोंमें अनुराग करना, पहले भोगेहुये भोगोंका स्मरण करना और निदानबंध करना। ये पांच सल्लेखना मरणके अतीचार हैं।

आकांक्षणमाशंसा ॥ १ ॥

अर्थ-अभिलाषा अथवा चाहनाको आशंसा कहते हैं। जीने और मरनेकी अभिलाषा करना जीवितमरणाशंसा कहलाती है।

अवश्यहेयत्वशरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा ॥ २ ॥

१—यदि कोई दूसरा पुरुष नवधाभक्तिसे विधिपूर्वक अतिथिको दान देता हो तो उसे देते हुये देखकर उससे ईर्षा करना, उसके दान देनेकी सराहना नही करना यह भी कहीं कहीं पर मात्सर्य अतीचारमें आता है।

अर्थ–आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकांक्ष क्रिया, ये दोनों क्रियायें भी पहिले कही गई हैं, इन्हीं दोनोंमें प्रमादका अंतर्भाव हो जाता है। वह प्रमाद कुशलकार्योंमें अनादरस्वरूप है अर्थात् जो कार्य सावधानीसे अच्छीतरह करने चाहिये उनमें आदरभाव नहीं होना, आलस्य करना इसीका नाम प्रमाद है अथवा मनका उपयोग नहीं लगना जिस कार्यको उपयोगपूर्वक सचेत होकर करना चाहिये उसमें चित्तको नहीं लगाना, इसीका नाम प्रमाद है।

कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

अर्थ–क्रोध आदि कशाय-अनंतानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके भेदोंसे कह दिये गये हैं, कहांपर ? इंद्रियकषायाव्रतक्रिया इस सूत्रमें अर्थात् इंद्रियकपायव्रतक्रिया इस सूत्रमें क्रोधादि भी कह दिये गये हैं।

योगः कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः ॥ ५ ॥

अर्थ–मन वचन कायके भेदोंसे योग भी निश्चित है। कहांपर ? 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' इस सूत्रमें।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा नैसर्गिकपरोपदेशानिमित्तभेदात् ॥ ६ ॥

अर्थ–मिथ्यादर्शन दोप्रकारका है, एक नैसर्गिक मिथ्यादर्शन दूसरा परोपदेशनिमित्त मिथ्यादर्शन।

तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकं ॥ ७ ॥

अर्थ—उन दोनोंमें जो मिथ्यादर्शन बिना दूसरेके उपदेशके मिथ्यात्त्व कर्मके उदयसे तत्त्वार्थके अश्रद्धान स्वरूप प्रगट होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कहलाता है अर्थात् बिना किसीके उपदेशसे स्वयमेव जो विपरीत श्रद्धारूप बुद्धि मिथ्यात्त्व कर्मके उदयसे होती है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कहलाता है।

आकांक्षासे मनको नियत रूपसे जिसमें लगादिया जाय अथवा जिसके द्वारा चित्त लगाया जाय वह निदान कहलाता है अर्थात् सांसारिक भोगोंकी आकांक्षा करते हुए किसी नियत सुखके स्थानका बंध बांधना निदानबंध कहलाता है। भावार्थ—समाधिमरणसे मरते समय यह विचारना कि मैंने जो व्रत किये हैं अथवा यह जो समाधिमरण धारण कर रहा हूं, इन व्रतोंका फल मुझे स्वर्गीय सुख मिले अथवा मनुष्यपर्यायमें अमुक राजाके यहां मेरा जन्म हो आदि। यह निदानबंध भी समाधिमरणका अतीचार है। इसप्रकार ये पांच अतीचार सल्लेखनाके हैं। अब यहांपर प्रश्न होता है कि तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवके वर्णनमें शक्तिपूर्वक दान देना और शक्तिपूर्वक तप करना, बताया गया है फिर सप्तशीलव्रतोंका निरूपण करते हुए उनमें अतिथिसंविभाग व्रत भी बताया है, वहां भी अतिथियोंके लिये दान देनेका श्रावकोंको विधान किया है परंतु उस दानका क्या लक्षण है यह बात अभीतक नहीं बतायी है, इसलिये दानका लक्षण कहना चाहिये सोही आचार्य कहते हैं—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं॥ ३८॥

अर्थ—अपने और दूसरोंके उपकारकेलिये धनका देना वह दान कहलाता है—

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः ॥ १ ॥

अर्थ—अपना और परका जो उपकार सो अनुग्रह कहलाता है। अपना उपकार तो पुण्यसंचय है और परका उपकार सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि करना है अर्थात् जिस समय दाता उत्तम पात्र आदिको दान देता है उस समय अपना उपकार तो वह यह करता है कि दान देते समय जो शुभ भाव होते हैं उनसे पुण्यबंध करता है और दूसरोंका—मुनि आदिका उपकार यह होता है कि उस आहारादिके ग्रहण करनेसे शरीरकी रक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञान एवं चारित्र आदि उनके आत्मीय गुणोंका विकाश होता है।

स्वशब्दो धनपर्यायवचनः ॥ २ ॥

१८० भेद, अज्ञानवादियोंके ६७ सडसठ भेद और वैनयिकवादियोंके ३२ वत्तीस भेद, ये सव भेद मिलाकर ३६३ तीनसों त्रेसठ भेद होते हैं। यहांपर यह शंका होती है कि वादरायण, वसु, जैमिनि आदि जो श्रुतिके अनुसार क्रियाकांड करनेवाले हैं उन्हें अज्ञानवादी कैसे वताया गया है? उत्तर—प्राणियोंके बधसे धर्म साधनेका उनका अभिप्राय होनेसे वे अज्ञानवादी कहे जाते हैं अर्थात् प्राणियोंका बध करना किसी भी अवस्थामें धर्म नहीं कहा जा सकता, वह सदा पापवंधका ही कारण है, तो भी अपने महान् अज्ञानसे पाराशर जैमिनि वसु आदि हिंसामें धर्म और हिंसाप्रतिपादक वेदको धर्मशास्त्र मानते हैं इसलिए अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं।

आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेन्न तस्यागमत्वासिद्धेः ॥ १३ ॥

अर्थ—यहांपर अज्ञानवादी शंका करते हैं कि—हमारा अपौरुषेय वेद ही आगम है, उस वेदका कोई कर्ता नहीं है इसलिए कर्ताके दोषसे किसी वातका मिथ्या उल्लेख किया गया हो, यह शंका भी नहीं की जासकती है, अतएव वह वेद प्रमाणभूत है, उस प्रमाणभूत वेदमें कहागया प्राणिवध धर्मका कारण है। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण कि—उस वेदको आगमपना ही सिद्ध नहीं होता है, आगम वही कहलाया जा सकता है जो समस्त प्राणियोंके हितके वतानेमें समर्थ हो अर्थात् जिससे समस्त जीवोंका वास्तविक कल्याण होता हो, ऐसा हितकारी उपदेश देनेवाला ही आगम हो सकता है। जो हिंसाका विधान करनेवाला वचन है वह किसीप्रकार आगम नहीं कहा जा सकता। जिसप्रकार चोर मनुष्यके वचन लोकमें कभी सत्य नहीं माने जा सकते उसीप्रकार हिंसाप्रतिपादक वचन भी आगम नहीं माने जा सकते। और भी यह वात है—

अनवस्थानात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई पुरुष एक ही दिन यह कहे कि आज पुष्यनक्षत्रका उदय है, और वही

नाम पादप्रक्षालन है। उनकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करै इसीको पूजन कहते हैं। उन्हें साष्टांग नमस्कार करै इसीका नाम प्रणमन है। फिर यह उच्चारण करै कि मेरा मन शुद्ध है वचन शुद्ध है और काय शुद्ध है। इसी मनवचनकायकी शुद्धिको त्रियोगशुद्धि कहते हैं। पीछे यह कहै कि यह आहार शुद्ध है। इसका नाम एषणाशुद्धि है। ये नव भेद भक्तिके हैं। यह नवधाभक्ति ही अतिथियोंके दान देनेकी विधि है। बिना इस क्रमके अतिथि आहार नहीं ले सकते।

विशेषो गुणकृतस्तस्य प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ २ ॥

अर्थ—परस्परकी विशेषताको विशिष्टि अथवा विशेष कहते हैं। वह विशेषता गुणकृत होती है। अर्थात् यह विशेषता जहां जिसप्रकार गुणोंकी अधिकता है वहां उसीप्रकार अधिक समझना चाहिये। कोई मन वचन कायकी शुद्धिका मुखसे उच्चारण करता हुआ भी तीनोंकी अंतरंग शुद्धता पूर्णरीतिसे नहीं भी रखता है, कोई रखता है इसीप्रकार एक दूसरेकी अपेक्षा जैसी जैसी भक्ति चारित्र आदि गुणोंकी अधिकता है उसीप्रकार दानके फलमें अधिकता होती है। उस विशेषताका प्रत्येकके साथ संबंध करना चाहिये। जैसे—विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष। इनमें जो विधिविशेष है वह यही है कि प्रतिग्रह, पूजन, आदि नवधा भक्तिमें जैसा आदर अनादर भाव होगा उसीप्रकार दानकी विधिमें विशेषता या हीनता समझी जायगी।

तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः ॥ ३ ॥

अर्थ—वही अन्नपानादि भोजनसामग्री अतिथियोंकेलिये दान देने योग्य है जो उन ग्रहण करनेवाले अतिथियोंके तपमें स्वाध्यायमें विशेष उपयोगी पडती हो, ऐसी नहीं हो जिसके ग्रहण करनेसे स्वाध्याय तप आदि संयममें बाधा पहुंचे जैसे ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताकी तो वृद्धि रहती ही है फिर अतिथियोंको कई उपवास हो चुके हैं, उसपर दातार भोजनमें मिरच आदि उष्ण वस्तुओंका आहार देदेवे तो उस भोजनसे

तदसिद्धिरिति चेन्नातिशयज्ञानाकरत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—यहांपर कोई शंका करता है कि अर्हंत भगवानका कहा हुआ जो आगम है उसको परमागमपना सिद्ध नहीं होता, कारण वह पुरुषकृत है इसलिये अप्रमाण है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण श्रीअर्हंत द्वारा प्रतिपादित आगम अतिशय ज्ञानकी खानि है, अर्थात् श्रीअर्हंत भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसलिये उनके वचन किसीप्रकार अन्यथा नहीं होसकते। वचनोंमें अन्यथापना दोप्रकारसे आता है एक तो कहनेवाला यदि रागद्वेषी हो तो यथार्थ वातको जानता हुआ भी रागद्वेष वश झूठ वोल सकता है, दूसरे वह छद्मस्थ हो अल्पज्ञानी हो—तो समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता इसलिये उन परोक्ष पदार्थोंका निरूपण अन्यथा करेगा क्योंकि उन परोक्ष पदार्थोंको वह जान ही नहीं सकता है परंतु श्रीअर्हंतदेव सर्वज्ञ भी हैं और वीतराग भी हैं इसलिये उन्हें भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्याय प्रत्यक्ष हैं और रागद्वेषका उनके सर्वथा नाश होजानेसे लेश भी नहीं है इसलिये उनके वचन युक्ति अनुभव और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे किसीप्रकार भी बाधित नहीं होसकते कारण—उनका जितना भी विवेचन है वह पदार्थका वास्तविक स्वरूप है जो उनके सर्वज्ञज्ञानमें वस्तुस्वरूप झलकता है उसी वस्तुस्वरूपका उन्होंने विवेचन किया है इसलिये वस्तुस्वरूपविवेचन किसीप्रकार जांच कियाजाय वह सदा सत्यरूप ही रहेगा। इसीलिये जैनागम सर्वज्ञका वचन होनेसे सर्वदा सत्यरूप है। इसी बातको और भी स्फुट करते हैं—जो जीवादि छह द्रव्योंके स्वरूपका कथन है वह, नय प्रमाणादिक जो अधिगमके जाननेके उपाय हैं उनसे जाना हुआ है और युक्ति तथा अनुभवसे बंध मोक्षादि व्यवस्थाके प्रतिपादन करनेमें समर्थ है अर्थात् जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जो जैनागममें कहा गया है वह नय प्रमाणोंसें यथार्थ भासता है और जो कुछ उसमें बंध मोक्षादि व्यवस्था कही गई है वह युक्ति और अनुभवसे यथार्थ प्रतीत होती है, कहीं भी जैनागममें पूर्वापर विरोध नहीं है। यदि कहीं विरोध

अर्थ—मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र जो गुण हैं उन करके सहित होना पात्र-विशेष कहलाता है अर्थात् किसी पात्रमें रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और किसीमें ज्ञान चारित्रकी कुछ कमी रहती है परन्तु सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि सभी पात्रोंमें रहती है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी हीनाधिकता रहती है उसकी अपेक्षासे पात्रोंमें तरतम रूपसे विशेषता आती है अर्थात् दान देनेकी विधिमें जिसकी देय वस्तु विशेष है, जो दाता दातारके सप्तगुणोंसे विशिष्ट है, जो दान देनेवाले पात्र रत्नत्रय गुणोंकी अधिकता रखते हैं जहां ये सब बातें अधिक हैं वहां दानका फल भी उत्तम भोगभूमि आदि उत्तम मिलता है और जहां इन चारों बातोंमें जैसी जैसी हीनता है वहां वैसी वैसी दानके फलमें भी मध्यमभोगभूमि जघन्यभोगभूमिमें जन्म होना आदि हीनता होती है।

ततश्च फलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद्बीजफलविशेषवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—इसप्रकार विधि द्रव्य आदिमें विशेषता होनेसे दानके फल भी विशेष होते हैं। जिसप्रकार पृथ्वी जल आदि कारणविशेषोंके रहनेपर नानाप्रकार बीजके फलविशेष होते हैं अर्थात् जिसप्रकार जोती हुई पृथ्वी योग्य होगी, जैसा उत्पन्न होने योग्य वढिया धान्य होगा, जैसा उसके बोनेवाला चतुर किसान होगा और जैसा जल मिट्टीका संबंध मिलेगा उसीप्रकार उस धान्यसे विशेष बडे बडे मीठे सुंदर फल होंगे, यदि धान्य छोटा हो पृथ्वी भी अच्छी तरह जोती हुई नहीं हो, बोनेवाला भी कम चतुर हो और जलादिका संबंधभी पूर्ण रीतिसे नहीं मिलाया जाय तो उस धान्यके छोटे छोटे रसहीन फल होंगे। इसीप्रकार दानके विषयमें चार बातें समझनी चाहिए।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विद्यादिस्वरूपाभावः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस दर्शनमें सभी परिणाम आत्माके नहीं होते हैं यह बात मानी गई है उस दर्शनमें दानके विशेष परिणाम विधिपरिणाम द्रव्यपरिणाम दातृपरिणाम और मोक्षसाधक रत्नत्रयरूप परिणाम

दीखती हैं वह उसी जैनागमरूपी महासमुद्रसे उत्पन्न हुई हैं ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है और वे ही जिनेन्द्रभगवानरूपी समुद्रसे निकाली हुई वचनरूपी जलबिंदु जगतमें प्रमाणभूत समझी जाती हैं अर्थात् जो कुछ थोडीसी सारभूत बातें अन्यमतोंमें प्रतीत होती हैं वे जैनागम द्वारा ही लोकमें प्रसिद्ध हुई हैं, उन्हींका उल्लेख उन्होंने कर दिया है।

श्रद्धामात्रमिति चेन्न भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् ॥ १८ ॥

अर्थ—फिर यहां परवादी शंका करता है कि अर्हंत प्रणीत आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानोंका कारण है अर्थात् उसीसे परमतके व्याकरण ज्योतिष आदिमें कुछ कुछ सारभूत बातें ग्रहण की गई हैं यह बात केवल श्रद्धानमात्र है किंतु इसके माननेमें कोई युक्ति नहीं है? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण समस्त सूक्ष्म पदार्थोंकी उपलब्धि जैनागममें ही है। जिसप्रकार समस्त रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है। ग्राम नगर पत्तन आदिमें जो रत्न मोती आदि दीखते हैं वे सब ग्राम नगर पत्तनोंमें ही पैदा हुये हैं ऐसा नहीं है किंतु सभी समुद्रसे आये हुये हैं उन सब मोतियोंका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है यह बात लोकजन निश्चय करलेते हैं उसीप्रकार धर्म अधर्म आकाश काल जीव पुद्गल इन सब द्रव्योंका सूक्ष्मनिरूपण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, सर्वज्ञप्रणीत जैनागममें ही है। जो कुछ बातें सारभूत अन्यत्र मिलती भी हैं तो उनकी मूल उत्पत्ति जैनागमसे ही हुई है ऐसा निश्चय किया जाता है। इसलिये समस्त अतिशयज्ञानका निधान होनेसे जैनागम ही परमागम है और वही अतिशय ज्ञानका स्थान है। जो अतिशय ज्ञानको अन्यत्र बताकर शंकाकारने अनैकांतिक हेतु बताया था वह सिद्ध नहीं होसका अर्थात् अतिशय ज्ञान हेतु सद्धेतु है।

तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेन्न निःसारत्वात् काचादिवत् ॥ १९ ॥

अर्थ—यहां फिर परवादी शंका करता है कि यदि वेद व्याकरण आदिकी उत्पत्ति अर्हंत भगवानके

परिणाम बन सकते हैं तो क्षणध्वंसीरूप प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है। इसप्रकार बौद्ध आदि दर्शनमें भी विधि द्रव्य दातृ पात्र दानके भेद नहीं बन सकते हैं।

नित्यत्वाज्ञत्वानिष्क्रियत्वाच्च ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसका दर्शन यह है कि आत्मा सत्‌रूप और कारणरहित होनेसे नित्य है अर्थात् जो दर्शन नैयायिक वैशेषिक आदि यह मानते हैं कि सदकारणवन्नित्य आत्मा, सत् स्वरूप है और उसकी उत्पत्तिका कोई कारण भी नहीं है ऐसा आत्मा सदा नित्य स्वरूप रहता है तथा जो दर्शन यह मानता है कि आत्मा ज्ञान गुणसे भिन्न है अर्थात् नैयायिकादिक यह भी मानते हैं कि आत्मा द्रव्य है, ज्ञान गुण है, वह आत्मासे सर्वथा जुदा रहता है और उसका आत्माके साथ समवायसंबंध है। गुण और गुणी जहां एक स्थानमें रहते हैं वहां समवायसंबंध होता है परंतु ज्ञान आत्मासे जुदी वस्तु है जब ज्ञान आत्मासे जुदा है तो आत्मा अज्ञ है अर्थात् ज्ञानरहित होनेसे वह जड है और जो आत्माको सर्वगत मानते हैं उनके मतमें आत्मामें क्रिया नहीं होसकती अर्थात नैयायिकादि यह भी मानते हैं कि "आत्मा सर्वगतः विभुः" आत्मा सर्वत्र व्यापक है। उसके प्रदेश लोकमें सर्वत्र फैले हुये हैं, जिन आत्माओंका जिन जिन मनोंके साथ संबंध होता है उनमें ज्ञान होजाता है इसप्रकार जो आत्माको सर्वव्यापक मानते हैं उनके मतमें आत्मामें कोई क्रिया नहीं होसकती कारण जो सर्वत्र ठसाठस भरीहुई कोई भी वस्तु हो उसमें कोई क्रिया नहीं होगी, क्रिया तभी होसकती है जब कि क्रिया करनेकेलिये—एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानेके-लिये कोई क्षेत्र बाकी हो, जब सभी क्षेत्र घेर लिया जाय तो क्रिया होनेकेलिये जगह नहीं रहती है इस-प्रकार जो आत्माको नित्य अज्ञ और निष्क्रिय मानते हैं उनके यहां भी विधि द्रव्य आदि भेद नहीं बन सकते हैं कारण वे आत्माके परिणाम विशेष हैं जब तक आत्माओंमें कथंचित् अनित्यता नहीं मानी जायगी और जबतक आत्माका ही ज्ञान गुण नहीं माना जायगा और जबतक आत्मामें क्रिया नहीं

जो सूवा आदि पक्षियोंको पकडनेवाले शाकुनिक भील आदि हैं तथा जो शूकर हिरण आदिकी शिकार करनेवाले शिकारी आदि हैं उन सबोंको भी धर्मकी प्राप्ति समान होगी। फिर 'मा हिंस्याः सर्वभूतानि' ऐसा अहिंसालक्षण जो वेदका वचन है, वह अयुक्त और पहले कथनसे विरुद्ध ठहरता है अर्थात् यदि वेदमें कहीगई हिंसाही धर्मका कारण हो तो सभी हिंसा करनेवाले शिकारी कषायी आदि भी धर्मसाधन करनेवाले समझे जांयगे और वेदका अहिंसालक्षण धर्म भी झूठा सिद्ध होगा। दोनों दोष आते हैं। इसलिये वेदादि शास्त्र प्रमाणभूत किसीप्रकार नहीं वन सकते।

यज्ञात्कर्मणोन्यत्र बधः पापायेति चेन्नोभयत्र तुल्यत्वात् ॥ २१ ॥

अर्थ—यहांपर शंकाकार फिर कहता है कि यज्ञमें किया गया पशुवध पापका कारण नहीं होता है और यज्ञसे अतिरिक्त स्थानमें किया गया पशुवध पापका कारण होता है इसलिये अहिंसा लक्षण जो धर्म है उसमें कोई विरोध नहीं आता है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण दोनों स्थानोंमें प्राणीका वध समान होनेसे पापका कारण है ही है अर्थात् जैसा दूसरे स्थानमें पशुवध होता है वैसा ही यज्ञमें पशुवध होता है, इसलिये जैसे अन्यत्र पशुका वध करनेसे उस पशुको महान पीडा होती है और उस हिंसासे पशुवध करनेवालेको पापबंध होता है उसीप्रकार यज्ञमें पशुवध होनेसे उस पशुको महान् पीडा होती है इसलिये यज्ञ करनेवाला भी पापबंध करता है अर्थात् दोनों ही स्थानोंमें क्रिया समान होनेसे समान फल-पापबंध होगा अतः वेदमें यज्ञकेलिये कहागया जो पशुवध है वह भी पापका ही कारण है क्योंकि उसमें प्राण-वियोग किया जाता है। जो जो प्राणवियोगका कारण होता है वह सब पापका कारण होता है जैसे वेद-विहित यज्ञसे वाहर किया गया प्राणवियोग पापका कारण होता है वैसे ही वेदविहित यज्ञका पशुवध भी प्राण वियोगका कारण होनेसे पापका कारण है। अथवा एक बात यह भी है कि यदि विपरीत कहा जाय तो भी कोई साधक—पक्षका समर्थक प्रमाण वेदवादीके यहां नहीं है। जैसे यदि यह कहाजाय कि

अर्थ—जिसका यह मत है कि चौबीसप्रकारका जो क्षेत्र है वह तो अचेतन है और उस क्षेत्रको जाननेवाला पुरुष एक चेतन स्वरूप है उसके यहां भी क्षेत्रके अचेतन होनेसे विधि द्रव्य दातृ पात्र रूप जो परस्पर विशेषता है उसका प्रतिबोध नहीं होसकेगा जिसप्रकार घटादि जल पदार्थोंमें नहीं होता है। इस कथनका खुलासा इसप्रकार है कि सांख्य दर्शनवाला सब पच्चीस तत्त्व मानता है। वे इसप्रकार हैं— १ प्रकृति २ महत् ३ अहंकार ५ कर्मेंद्रिय ५ भावेंद्रिय ५ रूप. रस, गंध, स्पर्श, शब्द, ५ पृथिवी जल तेज वायु आकाश, मन और आत्मा। इनमें आत्मा जो पुरुष तत्त्व है उसे सांख्यवादी सदैव शुद्ध नित्य क्रियारहित मानते हैं पुरुष कुछ करता धरता नहीं है जो कुछ काम करनेवाली है वह प्रकृति है। उसीके विकार जो महदादिक हैं उन्हींसे काम होता है और वे ही प्रकृति आदि करता धरता हैं। जबतक प्रकृतिका संबंध रहता है तबतक पुरुषकी मोक्ष नहीं होती है, पुरुषका प्रकृतिसे संबंध छूट जानेपर पुरुषकी मोक्ष होजाती है इसरीतिसे सांख्यदर्शनमें चौवीसप्रकारका क्षेत्र तो अचेतन जड है और उसे जाननेवाला चेतन पुरुष है इसलिये उसके यहां प्रकृति आदि जड पदार्थोंमें तो विधि आदि परिणाम सिद्ध नहीं होसकते कारण नवधा भक्ति आदि परिणाम आत्माके धर्म हैं इसीलिये उनका फल भी आत्माको मिलता है इसलिये जडमें तो यह परिणाम बन नहीं सकता जैसे घटपट आदि जड हैं उनमें नहीं बन सकता है वैसे प्रकृति आदिमें भी विधि आदि परिणाम नहीं बन सकता है और सांख्य दर्शनके अनुसार विधि आदि परिणाम चेतनके माने नहीं जासकते क्योंकि वह उन्होंने परिणामरहित निष्क्रिय माना है। यदि सांख्यवादी यह कहें कि हम विधि आदि परिणाम प्रकृति आदिके ही मानलेंगे तो फिर उनके यहां जो क्षेत्रको अचेतन माना गया है यह बात खंडित हो जाती है क्योंकि विधि आदि परिणाम चेतनमें ही होसकते हैं और क्षेत्रका जाननेवाला जो चेतन पुरुष है उसे उनके मतमें नित्य शुद्ध और क्रियारहित माना गया है इसलिये उसमें विधि आदि परिणामविशेष हो नहीं सकते हैं। इससे यह

होजाती है—यदि शुभाशुभ परिणामोंसे पुण्यपापबंधका नियमभाव नहीं माना जायगा तो यह कार्य—कारण स्वरूप नियमित प्रक्रिया जो बंध मोक्षकी चली आरही है उसका विरोध हो जायगा इससे यह परिणाम निकला कि पशुको रस्सी आदिसे बांधकर जो बलपूर्वक उस यज्ञ कुंडमें डालते हैं वे पशुओंके प्राणपीडनेवाले अशुभपरिणामी नियमसे पापबंध करते हैं।

कर्तुरसंभवाच्च ॥ २७ ॥

अर्थ—वेदका वाक्य है कि—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्गसुखकी कामना करनेवाला अग्निमें हवन करे यहांपर जो अग्निमें हवनादि क्रिया की जाती है, उसका कर्ता भौतिक पिंड जो शरीर है वह है अथवा पुरुष जो चेतन है वह है? यदि कहा जाय कि भौतिकपिंड ही कर्ता है तो वह तो अचेतन है जड है, इसलिए उसको घटपट आदि जड पदार्थोंके समान पुण्य पाप लक्षणरूप क्रियाका परिज्ञान नहीं होनेसे कर्तापन सिद्ध नहीं होता। अर्थात् कर्ता वही हो सकता है जिसे यह ज्ञान हो कि यज्ञ करनेसे स्वर्गफलकी प्राप्ति होती है परंतु शरीर जडको इस बातका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए कौन पुण्यक्रिया है कौन पापक्रिया है इस बातका भी उसे बोध नहीं हो सकता। अतः शरीर तो कर्ता सिद्ध नहीं होता। यदि यज्ञवादी यह कहैं कि शरीर कर्ता नहीं है किंतु पुरुष ही उस यज्ञका कर्ता है तो फिर वहां भी प्रश्न होता है कि वह कर्ता पुरुष नित्य है अथवा क्षणिक है? यदि कहा जाय कि वह क्षणिक है तो मंत्रोंके और उनके अर्थके स्मरणका उसके अभाव मानना पडेगा और उन मंत्रोंके प्रयोग करनेके विधान और उनके पुनः पुनः चिंतवन करनेका भी उसके अभाव मानना पडेगा। वैसी अवस्थामें उस पुरुषके भी कर्तृपना नहीं सिद्ध होता अर्थात् जो क्षणिक पुरुष है वह तो मंत्रका प्रथमाक्षर उच्चारण करते ही नष्ट हो जायगा और फिर उनका पूर्ण उच्चारण क्रमशः अर्थबोध और उनका प्रयोगविधान चिंतवन आदि तो बहुत पीछेकी बातें हैं, जब आद्यक्षणमें ही पुरुष नष्ट हो गया तो फिर अग्निहोत्रका करनेवाला

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

मिथ्या अविरत भाव हैं, कर्मबंध करतार ।
तिन्हें नष्टकर शुद्ध जो, ते बंदों अघहार ॥

छठे और सातवें अध्यायोंमें आस्रव तत्त्व कहा जा चुका है। अब अवसरप्राप्त बंध तत्त्वका निरूपण है उसीको कहते हैं वह बंध चेतन और अचेतन दोनों द्रव्योंकी पर्यायस्वरूप है तथा नाम स्थापना द्रव्य भाव निक्षेपोंसे बंधके चार भेद होनेपर भी वह द्रव्य और भावका संबंधविशेष होनेसे द्रव्यबंध और भावबंध, इन दो अवस्थाओंको धारण करता है अर्थात् एक द्रव्यबंध दूसरा भावबंध ऐसे बंधके मूल दो भेद हैं। उन दोनोंमें लाख (लाक्षा) काष्ठ, रस्सी, सांकल आदि वस्तुओंके द्वारा होनेवाला जो बहुत प्रकार द्रव्यबंध है उसे छोडकर यहांपर प्रकरण सामर्थ्यसे भावबंधका निरूपण करते हैं अर्थात् यहांका प्रकरण आत्मा तत्त्वकी मुख्यतासे है उसमें भी आत्मामें कर्मबंध किन किन भावोंसे होता है इस बंध कारणकी मुख्यता है इसलिये प्रकरणकी सामर्थ्यसे भावबंध कहना ही आवश्यक है। वह बंध कर्मबंध और नोकर्मबंध इन भेदोंसे दो प्रकार है। माता पिता पुत्र आदिका जो प्रेमसंबंध है वह नोकर्मबंध है अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो पिता पुत्रादिके विषयमें स्नेहरूप पराधीन-संबंधात्मक अवस्था है वह नोकर्मबंध है और उससे भिन्न जो आत्माको परतंत्र बनानेमें समर्थ कर्म-जनित अवस्था है वह कर्मबंध है। वही कर्मबंध वार वार प्रतिक्षण होनेवाली कर्मबंध संततिके सद्भावकी अपेक्षासे कथंचित् आदिमान् भी है और कथंचित् अनादिमान् भी है अर्थात् पहला कर्मबंध आवा-धाकाल पीछे जब उदयमें आता है तब दूसरा नवीन कर्मबंध होता है और जब वह उदयमें आता है तब तीसरा कर्मपिंड बधको प्राप्त होता है इसी पद्धतिसे पहला पहला कर्मबंध उदयमें आता जाता है और नवीन नवीन कर्मपिंड बंधता चला जाता है इसीप्रकार यह क्रम बराबर अनादि कालसे जीवके साथ

प्रमाण तथा प्रमाणाभासका सामान्य रूपसे प्रसंग भी आता है अर्थात् यदि प्रत्यक्षबाधित अप्रमाणभूत चेतना परिणामको भी यदि माना जायगा तो प्रमाण अप्रमाण सब समान हो जांयगे। यदि पुरुषाद्वैतवादी यह कहै कि निर्विकल्पक पुरुष तत्त्वकी कल्पना हम मानते हैं, अर्थात् वह पुरुष निर्विकल्पक है तो ऐसा कहनेमें भी निर्विकल्पकपना आदि भेद माननेमें भाव और अभाव दोनों पदार्थ विषय पडते हैं। वैसी अवस्थामें प्रतिज्ञा भी नष्ट होती है और वचन भी सिद्ध नहीं होता है—उसमें भी विरोध आता है। अर्थात् जिसमें विकल्प नहीं हो उसीको निर्विकल्पक कहते हैं, ऐसी अवस्थामें विना विकल्प और उसके अभावका बोध हुए निर्विकल्पक तत्त्व सिद्ध नहीं होता इसलिए निर्विकल्पकके अंतर्गत विकल्पकी भी सिद्धि हो गई, बिना विकल्प सिद्ध हुए उसका अभावरूप निर्विकल्पकपना भी नहीं सिद्ध होता, अतः निर्विकल्पक कहनेसे भावरूप पदार्थ और अभावरूप पदार्थ दोनोंका सद्भाव सिद्ध हो जाता है और दोनोंका सद्भाव सिद्ध होनेसे पुरुषका नित्य परिणाम नहीं बनता इसलिये पुरुष नित्य है यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है और यदि नित्य परिणामरूपही उसे माना जाता है तो वह पुरुष निर्विकल्पक है इस वचनका विरोध हो जाता है क्योंकि निर्विकल्पक वचन तभी सिद्ध होगा जब कि विकल्पका अभाव- निर्विकल्पक माना जायगा और वैसा माननेमें भाव अभाव दोनोंका सद्भाव मानना पडता है फिर नित्य परिणाम नहीं बनता इसलिये जितना भी वेदका कहा हुआ वचन है वह विषयोंकी तृष्णामें आतुर रहनेवाले पुरुषों द्वारा कहा गया है यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है। यदि विषयतृष्णातुर पुरुषोंका बनाया हुआ वेद नहीं होता तो उसमें हिंसा आदि अनर्थोंका पोषण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि वह प्रमाणभूत नहीं है और प्रमाणभूत नहीं होनेसे वेदका जितना भी विधिविधान है वह सब अहितकारी एवं त्यागनेयोग्य है। इसप्रकार परोपदेश निमित्त जो मिथ्यादर्शन है उसके और भी संख्यात भेद हो जाते हैं वे सब विचार लेने चाहिये। तथा नानाप्रकार मिथ्यारूप परिणाम होते हैं, उन परिणामोंके भेदोंसे उस मिथ्यादर्शनके असंख्यात भेद

बंध और मोक्ष दोनों ही अकस्मात् नहीं होते हैं, कारण कि बंध आर मोक्षकेलिये जो प्रक्रिया बताई गई है अर्थात् बंधमोक्षके लिए जो साधन आदि प्रक्रिया बताई है उसका फिर विरोध होगा और वह प्रक्रिया नहीं बनेगी इसलिये बंधको कहकर फिर पीछेसे बंधके कारण नहीं कहने पडें अतः पहले ही बंधकारणका कथन करना ठीक है। दूसरी बात यह भी है कि कार्य और कारणोंमें पूर्वापर भाव होता है, इस दृष्टिसे भी कारणका पहिले कहना आवश्यक है और कार्यका पीछे कहना ठीक है। यदि यहांपर यह कहाजाय कि इस आठवें अध्यायमें बंधके कारणोंका उल्लेख नहीं करना चाहिए, क्योंकि छठे और सातवें अध्यायोंमें अनेक प्रकारका फल देनेमें समर्थ जो आस्रवतत्त्व है उसके प्रकरणवशसे विस्तारसहित आत्माके कर्म-बंधके कारण कह दिये गए हैं तो फिर यहां यह शंका होती है कि यदि कह दिये गये हैं तो वे बंधकारण कौन हैं इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंधके कारण हैं। अब यहांपर प्रश्न होता है कि ये बंधकारण पहिले कहांपर कहे जा चुके हैं? उत्तर—

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वंतर्भूतं ॥ १ ॥

अर्थ—आस्रवप्रकरणमें मिथ्यादर्शन आदि पच्चीस क्रियायें कहीगई हैं उन्हींमें मिथ्यादर्शन गर्भित है।

विरतिप्रतिपक्षभूताप्यविरतिः ॥ २ ॥

अर्थ—विरति भी पहिले कही जा चुकी है अर्थात् हिंसा आदि पापोंकी निवृत्तिस्वरूप ही विरति है, वह पहले ही कही जा चुकी, और उसी विरतिकी प्रतिपक्षभूत अविरति है, वह भी छठे अध्यायमें कही जा चुकी है। इंद्रियकषायाव्रतक्रिया-इस सूत्रमें अविरतिका उल्लेख किया गया है।

आज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रियंयोरंतर्भावः प्रमादस्य ॥ ३ ॥

तथा असातावेदनीय कर्मका भी उनके अभाव होनेसे क्षुधा तृषा आदि समस्त अठारहो दोषोंसे रहित हैं फिर भी उनके कवलाहार मानना स्त्री पर्यायमें स्वाभाविक लज्जा आदि विशेष कर्मोदयजनित भाव और शरीररचना होनेसे वस्त्रादि परिग्रहका सर्वथा त्याग नहीं होनेसे महाव्रतरूप परिणाम नहीं होते हैं उस पर्यायमें यद्यपि पांचवा गुणस्थान तक ही भाव होते हैं फिर भी स्त्रीको मोक्ष मानना। इत्यादि विपरीत बुद्धिकी धारणा करलेना विपरीत मिथ्यादर्शन है। संशय मिथ्यादर्शन इसप्रकार है। किसी पदार्थका यथार्थ स्वरूप अथवा विपरीत स्वरूप दोनोंमेंसे किसी एकका निश्चय न हो किंतु दोनों कोटियोंमें ज्ञान समानरूपसे बना रहे ऐसे संदिग्ध ज्ञानको संशयमिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये मोक्षमार्ग बताये गये हैं अथवा नहीं हैं, इसप्रकार दोनोंप्रकारकी संदेहरूप बुद्धि रखना इसीका नाम संशयमिथ्यादर्शन है। वैनयिक मिथ्यादर्शन इसप्रकार है–सर्व देवताओंको और सर्व शास्त्रोंको समान भावसे देखना इसीका नाम वैनयिक मिथ्यात्व है। जैसे–श्रीअर्हंतभगवान, और महादेव, ब्रह्मा विष्णु, नगरसेन, देवी, भैरों, यक्ष, यक्षी आदि सब देवोंको समान समझना, और उनकी विनय भक्ति श्रद्धा सब समान ही रखना। दिगम्बर और श्वेताम्बर मतोंमें समानभाव रखना, और भी जितने मत हैं, वेदांत नैयायिक सांख्य बौद्ध आदि सबोंमें समानभाव एवं समानश्रद्धा रखना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। आज्ञानिक मिथ्यादर्शन इसप्रकार है–हित क्या है और अहित क्या है, इनकी परीक्षाका विवेक ही नहीं होना, अर्थात् हितरूप मार्गको अहितरूप समझना और अहितरूप मार्गको हितरूप समझना, अथवा हित क्या और अहित क्या इस भेदभावको पहचानना ही नहीं, इसप्रकार जो विवेकशून्य अज्ञानरूपा बुद्धि है वही आज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। इसप्रकार ये पांच भेद मिथ्यादर्शनके हैं।

अविरातिकषाययोगा द्वादशपंचविंशतित्रयोदशभेदाः ॥ २९ ॥

अर्थ - अविरति, कषाय और योग, ये तीनोंही क्रमसे बारह, पच्चीस और तेरहप्रकार भेदवाले हैं।

परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाक्रियावाद्याज्ञानिकवैनेयिकमतविकल्पात् ॥ ८ ॥ *

अर्थ—परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यादर्शन चार प्रकारका जानना चाहिये। क्रियावादी, अक्रियावादी, आज्ञानिक और वैनेयिक ये परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके चार भेद हैं।

चतुरशीतिक्रियावादाः इति कौक्कलकांडेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् ॥ ९ ॥

अर्थ—क्रियावाद चौरासी प्रकार हैं, और वे कौक्कल, कांडेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिक, रोमश, हारित, अश्वमुंड, शालायन आदि हैं। इन मतोंके माननेवाले क्रियावादी कहलाते हैं।

अशीतिशतमक्रियावादानां ॥ १० ॥

अर्थ—अक्रियावादियोंके एकसौ अस्सी भेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति वाड्वलिक, माठर मौद्गलायन आदि दर्शनोंके भेदसे अक्रियावादी मिथ्यावादियोंके एकसौ अस्सी भेद हैं।

आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः साकल्यवाष्कलप्रभृतिदृष्टिभेदात् ॥ ११ ॥

अर्थ—आज्ञानिकवादियोंके सडसठ भेद हैं और वे साकल्य, वाष्कल, कुंथुवि, सात्यमुग्रि, पारायण, कुट, माध्यंदिनि, मौद, पैप्पल्याद, वादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि इत्यादि हैं।

वैनेयिकानां द्वात्रिंशद्वाशिष्टपाराशरादिमार्गभेदात् ॥ १२ ॥

अर्थ—वशिष्ट, पाराशर, जतु, कर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, ऐलापुत्र, उपमन्यव, इंद्रदत्त, अपस्थूल इत्यादि दर्शनोंके भेदसे वैनेयिक मिथ्यादृष्टियोंके ३२ बत्तीस भेद हैं। इसप्रकार परोपदेश निमित्तसे होनेवाले चारप्रकारके मिथ्यादृष्टियोंमें क्रियावादियोंके ८४ चौरासी भेद, अक्रियावादियोंके

---

* चतुरशीति क्रियावादाः इति कौत्कुल्यकंठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात। श्लोकवार्तिक। कोक्कल कांठेविद्धि ऐसे नाम राजवार्तिक संस्कृत और हिंदी टीकाओंमें मिलते हे परन्तु श्लोकवार्तिकमें कौत्कुल्य और कंठेविद्धि नाम दिये गये ह। गोम्मटसारसे संख्यामें भी भिन्नता है। देखो गोम्मटसार कमकांड गाथा संख्या ८७६ के ८८५ तक।

शुद्धि, वाक्यशुद्धि इसप्रकार इन आठोंकी शुद्धिरूप आठप्रकार संयम, तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये दशप्रकार धर्म आदि विषयोंमें उत्साहरहित परिणामोंका रखना इन आत्मीय धर्मोंके विषयमें अथवा चारित्रपालनके विषयमें उत्साहरहित परिणामोंका होना, प्रमाद कहलाता है। उस प्रमादके अनेक भेद हैं। जितनेप्रकारके धर्मोंमें अथवा चारित्रभेदोंके पालनेमें प्रमाद किया जायगा उतने प्रकारके प्रमादके भेद भी होते जांयगे। विशेष–स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भक्तकथा और राजकथा ये चार विकथाऐं, पांचइंद्रिय, चार कषाय, निद्रा और स्नेह, इन पंद्रह भेदोंसे भी प्रमाद प्रसिद्ध है।

समुदायावयवयोर्बंधहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात ॥ ३१ ॥

अर्थ–उन मिथ्यादर्शन अविरति आदिको बंधका कारणपना समुदायमें भी है और अवयवमें भी है, ऐसा समझना चाहिये अर्थात् मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदि सबोंको मिलाकर भी बंधकारणता है और प्रत्येक मिथ्यादर्शनको जुदी प्रत्येक अविरतिको जुदी बंध कारणता भी है। इस रीतिसे जो पांच भेद मिथ्यात्वके हैं बारह भेद अविरतिके हैं आदि उन सबोंको भी जिनका जहांतक उदय है बंधकारणता है। यहांपर प्रश्न होता है कि मिथ्यादर्शनादि सबोंको और प्रत्येकको भिन्न भिन्न भी बंधकारणता है, यह बात कैसे समझी जाती है? उत्तर–वाक्यकी समाप्तिमें विचित्रता रक्खी गई है उसीसे यह बात जानी जाती है। मिथ्यादर्शनादिकोंमें बहुवचन दिया गया है और मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदिमें क्रम विधान भी है इसलिये जहां सबोंकी संभावना हो वहां सबही बंधकारण पडेंगे और कमतीकी संभावना हो वहां कमती भी पडेंगे उनमें जो मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहनेवाला मिथ्यादृष्टि है उसके पांचों ही मिलेहुए मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग ये सभी बंधके कारण होते हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-

१.—पन्द्रह प्रमादके भेद—विकहा तहा कसाया इन्द्रियणिद्दा तहेव पणयो य। चदु चदु पणमेगेगं होंति पमदा हु पण्णरस ॥ गोम्मटसार

पुरुष उसी दिन यह भी कहे कि आज पुनर्वसु नक्षत्रका उदय है तो उसका यह कहना विसंवाद सहित है कारण इस वचनका कोई स्थिर रूप ठिकाना नहीं है, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्रका उदय एकसाथ नहीं होता है, किन्तु बहुत दिनोंके अंतरसे होता है, इसलिये उन दोनोंका उदय एकदिन ही बतानेवाले पुरुषका वचन अप्रमाण समझा जाता है, उसीप्रकार वेदमें भी पूर्वापरविरुद्ध कथन होनेसे वह भी अप्रमाण है जैसे वेदमें ही कहींपर तो पशुवध धर्मका साधन बताया गया है। यथा—पशुबंधेन सर्वान् कामान् अवाप्नोति—पशुवध करनेसे सब मनोरथोंको प्राप्त हो जाता है। "यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्मात् यज्ञे वधोऽवधः,, अर्थात् यज्ञ सब प्राणियोंकी विभूतिका कारण है, इसलिये यज्ञमें किया गया प्राणियोंका वध वध नहीं कहलाता है। इसप्रकार किसी स्थलमें तो वेदमें हिंसाको धर्म बताया है, और कहींपर उसी वेदमें यह लिखा है—"अजैः त्रिवर्षपरमोषितैर्वीजैरजं पिष्टमयं कृत्वा यष्टव्यमिति"-अर्थात् तीनवर्ष तक रक्खे हुए पुराने जिसमें अंकुर उत्पन्न होनेकी शक्ति नहीं रहे ऐसे धान्यसे (जौ) चूर्ण कर (आटा) उसका पशु बनाकर यज्ञ करे, यहांपर धान्य विशेष जौके चूर्ण—आटेका पशु बनाकर यज्ञ बताया गया है इसलिए इस स्थलमें वेदमें ही हिंसाका निषेध है। इसप्रकार वेदमें एक स्थानमें हिंसाका विधान होनेसे और उसीमें दूसरे स्थानमें हिंसाका निषेध होनेसे वेद पूर्वापरविरुद्ध वचनोंका उपदेश करता है इसलिए वह अप्रमाण है, और अप्रमाण वेद आगम नहीं कहा जा सकता। तथा और भी यह बात है—

परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् ॥ १५ ॥

अर्थ—श्रीअर्हंत भगवानके द्वारा कहे गये परमागममें प्राणिवधका सर्वथा निषेध बताया गया है और सब जगह हिंसाका त्याग ही कल्याणकारी बताया गया है इसलिए परमागममें अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत परमेष्ठीद्वारा कहे गये पूर्वापरविरोधरहित और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे अबाधित परमागम जैनागममें हिंसाका निषेध होनेसे प्राणिवध धर्मका कारण किसीप्रकार नहीं सिद्ध हो सकता है।

यह बताते हैं कि मिथ्यादर्शनके जो पांच भेद किये गये हैं और अविरतिके बारह भेद किये गये हैं उन सबोंमे प्रत्येक भेदको बंधकी कारणता है कारण मिथ्यादर्शनके जो एकांत विपरीत आदि पांच भेद हैं उन सबोंका उदय एक आत्मामें एक साथ नहीं हो सकता है इसलिये प्रत्येक विकल्पको भी बंधकारणता है। इसीप्रकार अविरतिके जो हिंसादिक बारह भेद हैं वे सब परिणाम एक साथ एक आत्मामें नहीं होसकते इसलिये उन भेदोंमें भी प्रत्येकको बंधका कारणपना है। इसीप्रकार प्रमाद कषाय और योगोंके प्रत्येक विकल्पको बंधकारणता है। एक समयमें एक आत्मामें संज्वलनकी चारों कषाय सभी प्रमाद और तीनों योग नहीं हो सकते इसलिये सभी भेदोंको प्रत्येकको बंधकारणपना है।

अविरतेः प्रमादस्य चाविशेष इति चेन्न विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—यहां कोई शंका करता है कि बंधके कारणोंमें प्रमाद जुदा कहा है और अविरति जुदी कही है। परंतु कुशल क्रियामें उत्साहरहित प्रमादरूप परिणामको प्रमाद कहते हैं और कुशल क्रियामें व्रतादि पालनेमें असावधानरूप परिणामका नाम ही अविरति है, इसलिये दोनों एकही बात है उनका भिन्न भिन्न ग्रहण करना व्यर्थ है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण विरतके भी प्रमाद पाये जाते हैं, विरतके भी विकथा कषाय इंद्रिय निद्रा प्रणय इन पंद्रह प्रकारके प्रमादोंकी संभावना रहती है परंतु विरतके अविरत परिणाम नहीं होता है, अविरत भाव चौथे गुणस्थान तक ही होता है इसलिये प्रमाद और अविरत एक बात नहीं है और न दोनोंका एक स्थान ही है प्रमाद और अविरत भावोंके लक्षण भी जुदे हैं। अविरत भावोंसे तो विरत परिणामकाघात हो जाता है परंतु प्रमाद विरत परिणामका सर्वथा घात नहीं करता किंतु अंश रूपसे दोषोत्पादक है। इसलिये बहुत अंतर है।

कषायाऽविरत्योरभेद इति चेन्न कार्यकारणभेदोपपत्तेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—यहांपर फिर कोई शंका करता है कि कषाय और अविरतिमें कुछ भेद नहीं है, दोनों ही

हो और यथार्थता न हो तो जैनागम नयप्रमाण तथा युक्तिअनुभवसे बाधित हो जायगा परंतु वह किसी तरह भी बाधित सिद्ध नहीं होता है इसप्रकार अतिशय ज्ञान–सर्वज्ञज्ञानी श्रीअर्हंत द्वारा प्रतिपादित होनेसे वह अतिशय ज्ञानोंकी खानि है। जिसप्रकार रत्नोंकी खानि समुद्र होता है उसीप्रकार अतिशय ज्ञानोंकी खानि आर्हत आगम है इसीलिये वह जैनागम ही परमागम है।

अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेन्नातएव तेषां संभवात् ॥ १७ ॥

अर्थ–यहांपर कोई शंका करता है कि जैनागमके सिवा और दर्शनोंमें भी अतिशयज्ञान देखेजाते हैं जैसे कल्प व्याकरण छंद ज्योतिष शास्त्र आदि अनेक ऐसे हैं जिनमें अनेक उत्तम छंदरचना शब्द-रचना अर्थ गौरव नक्षत्रगति आदिकी व्यवस्था आदि बातोंका निरूपण उत्तमतासे कियागया है इस-लिये अतिशय ज्ञानोंकी खानि होनेसे जैनागम ही परमागम है यह अतिशयज्ञानरूप हेतु अनैकांतिक है अर्थात् जिसप्रकार अतिशय ज्ञान जैनागममें है उसीप्रकार पाराशर, वसु, जैमिनि, नैयायिक, वेदांत आदिमें भी अतिशय ज्ञान है इसलिये इस अतिशयज्ञान हेतुसे केवल जैनागम ही परमागम सिद्ध नहीं होता किंतु अन्य दर्शन भी परमागम सिद्ध होते हैं इसलिये यह हेतु ठीक नहीं है। उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है अर्थात् हमारा हेतु अनैकांतिक दोषयुक्त नहीं है, कारण अतिशय ज्ञानवान तो केवल जैना-गम ही है इन कल्प व्याकरण ज्योतिष आदिमें जो कुछ चमत्कार प्रतीत होता है उसकी उत्पत्ति इसी जैनागमसे हुई है अर्थात् श्रीअर्हंत भगवानसे कहा हुआ जैनागम ही उनकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसा कि कहा गया है—

सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु स्फुरंति या काश्चन सूक्तिसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

अर्थ–व्याकरण ज्योतिष छंदःशास्त्र आदि अन्य दर्शनोंमें जो कुछ भी युक्तियुक्त उपादेयरूप बातें

कर्मबंध होनेसे कथंचित् मूर्तिक है। वही कथंचित् मूर्तिक आत्मा अनादि कार्माण शरीरका संबंध होनेसे तपे हुये लोहेके पिंडके समान कर्मोंको ग्रहण करता रहता है जिसप्रकार अग्निमें तपाया हुआ लोहेका पिंड विना हाथ पैरोंके पानीमें छोडने पर पानीको अपनेमें खींचकर उसका संबंध करलेता है उसी-प्रकार आत्मा भी अनादि संततिबद्ध कार्माण शरीरसे संतप्त होता हुआ नवीन नवीन कर्मोंको चारों ओरसे खींचकर उनका संबंध करलेता है, वहां भी हाथ पैरोंकी आवश्यकता नहीं है। इसी वातको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थ—कषायसहित होनेसे जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको—कार्माण नोकार्माण बर्गणाओंको ग्रहण करलेता है वही कर्मसंबंध बंध कहलाता है। इस सकषाय विशेषणसे यह बात सिद्ध होती है कि जहां कषायभाव नहीं है केवल योगमात्रसे कर्म ग्रहण है वहां बंध नहीं होता है किंतु कर्म आकर उसीसमय नष्ट होजाते हैं। कर्मयोग्य पुद्गल शब्दसे यह वात सिद्ध होती है कि पुद्गलके तेवीस भेद हैं उन सवोंमें आत्माके साथ बंध होनेकी अथवा कर्मरूप पर्याय होनेकी शक्ति नहीं है किंतु कार्माण और नोकार्माण वर्गणा रूप जो पुद्गल स्कंध हैं उन्हींमें यह शक्ति है जैसे लोहेमें ही चुम्बक पत्थरसे खींचेजानेकी शक्ति है इतर पीतल आदि धातुओंमें नहीं है उसीप्रकार यहां समझना चाहिये।

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेन्न कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत् ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि बंधके कारणोंमें कषायका ग्रहण पहले सूत्रमें किया जाचुका है फिर जो यहांपर कषाय शब्दको हेतु निर्देशकर भावरूप अर्थमें—'सकषायत्वात्' यह जो कषाय शब्दका उल्लेख किया गया है वह केवल पहले सूत्रका अनुमादमात्र है, उत्तर—यहांपर कषाय शब्दका उल्लेख कर्मोंके विशेष रूपसे ग्रहण करनेके आशयसे है। पहले सूत्रमें कषाय भी बंधका कारण है इतना मात्र आशय है। यहांपर

वचनों द्वारा प्रणीत जैनागमसे ही मानी जाती है तो जिसप्रकार जैनागम प्रमाण है उसप्रकार वेद व्याकरण आदि परमत शास्त्र भी प्रमाण ठहरेंगे, उनकी प्रमाणता होनेसे उनमें कहा हुआ हिंसादिकका अनुष्ठान आदि भी दानादिके समान निर्दोष ठहरेगा अर्थात् जिसप्रकार उन वेदादिकोंका दान आदिका कथन दोषरहित समझा जाता है उसीप्रकार हिंसादिका कथन भी दोषरहित समझना चाहिए ? उत्तर— यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण वह हिंसादिका कथन निःसार है जिसप्रकार समुद्रसे मणि मोती भी उत्पन्न होता है और काच क्षार पदार्थ—नमक, सीप, शंख आदि अग्राह्य पदार्थ भी तो उत्पन्न होते हैं, परंतु मणि मोती सारभूत समझे जाते हैं और काच, क्षार, सीप, शंख आदि निःसार अनुपादेय समझे जाते हैं। उसीप्रकार वेद व्याकरण आदि जिन शासनरूपी समुद्रसे निकले हैं फिर भी वे अप्रमाणभूत हैं अर्थात् जिनशासनमें जो नय, प्रमाण, स्याद्वाद, अहिंसा, व्रत, महाव्रत, ध्यान, तप, समाधि, कर्मशक्ति जीवशक्ति, पुद्गलशक्ति आदि बातोंका वस्तुस्वरूप विवेचन है वह तो जैनागममें सारभूत ग्राह्यरूप बताया गया है और हिंसादिक तथा विपरीत वस्तु विवेचनको जैनागममें निःसार और अग्राह्य बताया गया है, परंतु अन्य वेद आदि परमतके ग्रंथोंमें वेही अग्राह्य और निःसार बातें जिनको कि जैनागम त्यागनेयोग्य बताता है, ग्रहण करनेयोग्य बतायी गयी हैं इसलिये वे वेद आदि प्रमाणभूत नहीं हैं। उन वेद आदिमें कुछ कुछ दान आदिकी उत्तम बातें हैं वे जैनागमसे उत्पन्न हुई ऐसी हैं जैसे समुद्रसे लीगई जलबिंदु। परंतु उन वेदादिमें वे अच्छी अच्छी बातें तो स्वल्प हैं, अधूरी हैं और वे विपरीत विवेचनके साथ कही गई हैं तथा निःसार बात हिंसा यज्ञ आदि प्रधानतासे कही गई हैं इसलिये वेदादि परमतके शास्त्र प्रमाणभूत नहीं कहे जा सकते। और भी यह बात है—

सर्वेषामविशेषप्रसंगात् ॥ २० ॥

अर्थ—यदि हिंसा ही धर्मका साधन हो तो जो लोग मछलियां पकडनेवाले धीवर आदि हैं और

जहां आयुका संबंध छूट जाता है वहां शरीर भी छूट जाता है फिर विग्रह गतिमें कर्मबंध किसप्रकार होता है ? इसका उत्तर वह है कि वहां भी आयुका संबंध है ही है। जिससमय जीव पूर्व शरीरको छोडता है उसीसमय दूसरे भवकी आयुका उदय होजाता है इसीलिये इस पर्यायका मरण पूर्वआयुके छूटनेसे कहलाता है औरनूतन आयुका उदय होनेसे नवीन पर्यायका जीवनभी उसी समय कहलाता है। विना आयुसंबंधके कोइ अवस्था संसारी जीवकी नहीं होती है इसलिये हरसमय ही यह जीव कर्मबंध करता है। विग्रह गतिमें भी आयुसहित है और वहां भी तैजस कार्माण ये दो शरीर जीवके साथ रहते हैं।

कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यांतरज्ञापनार्थं ॥ ४ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो कर्मणो योग्यान्. यह पद है, उसके स्थानमें 'कर्मयोग्यान्' ऐसा एक विभक्तिवाला पद नहीं रक्खा गया है किन्तु कर्मणः और योग्यान् ये दोनों पद भिन्न भिन्न विभक्तिवाले रक्खे गये हैं इसका कारण यह है कि यहांपर वाक्यांतर प्रगट करना है अर्थात् कर्मणः इस पदका दो वाक्योंसे संबंध दिखानेके लिये ही विना समासके भिन्न विभक्तिसे जुदा ग्रहण किया गया है। वह वाक्यांतर किसप्रकार है ? उसको स्पष्ट करते हैं—कर्मसे जीव कषायसहित होता है, यह तो एक वाक्य हुआ। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्म यहांपर हेतुरूपसे कहागया है अर्थात् कर्मके कारण ही जीव कषायसहित होता है। जो कर्मरहित जीव है जिस जीवके कर्म नहीं लगा हुआ है उस जीवके कषायका लेश भी नहीं होसक्ता। जैसे कि सिद्ध जीव। सिद्धजीवोंके कर्मोंका संबंध नहीं है इसलिए वहां कषाय भी नहीं है। इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि जीवकर्मका अनादिकालसे संबध है इसलिये वह कर्मको ग्रहण करता है। यह तो 'कर्मणः' इस पदका एक वाक्यके साथ पंचमी अर्थमें संबंध हुआ। दूसरे वाक्यके साथ संबध इसप्रकार है—कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते, कर्म योग्य जो पुद्गल हैं उन्हें यह जीव ग्रहण करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि अर्थके वशसे विभक्तिका परिणमन हो जाता है। 'कर्मणः इस पदका संबंध

यज्ञमें किया गया पशुबध पापका कारण है और वेदविहित यज्ञसे बाहर हिंसक पुरुषों द्वारा किया गया पशुबध पापका कारण नहीं है, तो ऐसा कहने पर भी वेदानुयायियोंके पास कोई ऐसा साधक प्रमाण नहीं है जिससे यह विपर्यय कथन खंडित हो सके। इसलिये जिसप्रकार वेदविहित यज्ञसे बाहर पशुहिंसा पापजनक है उसीप्रकार वेदविहित यज्ञमें की गई पशुहिंसा भी पापजनक है।

विपर्ययो वा तादर्थ्यात् संसर्गस्येति चेन्न साध्यत्वात्॥ २२॥

अर्थ—यहांपर शंकाकार कहता है कि वेदका यह वाक्य है 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।' अर्थात् सृष्टि रचनेवाले ईश्वरने स्वयमेव यज्ञकेलिये पशुओंकी रचना की है. इसलिये—पशुओंकी रचना यज्ञकेलिये होनेसे यज्ञमें पशुओंको होमनेवालेको पाप नहीं लगता है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण ईश्वरने स्वयं यज्ञकेलिये पशु रचे हैं यह वेदवाक्य तो तुम्हारा (वेदके माननेवालोंका) साध्य है अर्थात् तुम जो यह वेदका प्रमाण देते हो सो वह प्रमाण तो अभी साध्यकोटिमें पडा हुआ है, उसे पहले सिद्ध तो करलो कि—कोई ईश्वर सृष्टि रचनेवाला है या नहीं है और उसने यज्ञकेलिये पशु रचे हैं या नहीं रचे हैं पहले यह बात सिद्ध करके बताना होगा केवल वेदवाक्य बोलनेसे तो काम नहीं चलता, तथा वेद भी तो स्वयं प्रमाणभूत नहीं है पहले उसे ही प्रमाणभूत सिद्ध करना होगा फिर दूसरी बात यह भी है—

अन्यथोपयोगे दोषप्रसंगात॥ २३॥

अर्थ—यह लोकमें नियम देखाजाता है कि जो वस्तु जिसकामकेलिये नियत है उसका किसी दूसरे काममें उपयोग करनेपर दोष उत्पन्न होजाता है, जैसे जो औषधि श्लेष्मा (कफ) को शांत करनेवाली है वह यदि दूसरे काममें लीजाय अर्थात् श्लेष्माकी हर्ता औषधि यदि पित्तकी शांतिकेलिये दे दी जाय तो दोष पैदा कर देती है, अर्थात् उससे पित्त तो शांत नहीं होता, उलटा दोष बढ़ जाता है उसीप्र-

स्वर्गादिक सुख पाता है और नरकादिकके दुःख भोगता है इसलिए कर्म अमूर्त नहीं है और न आत्माका गुण ही है, किन्तु वह पुद्गल द्रव्यका पर्याय विशेष है इसी बातको सिद्ध करनेके लिये यहां सूत्रमें पुद्गल शब्दका उल्लेख किया गया है।

आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थं ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर जो यह प्रतिज्ञा की गई थी कि कषायसहित होनेसे जीव बंधका अनुभव करता है, उस प्रतिज्ञाके उपसंहारके लिए यह 'आदत्ते' क्रिया पद है अर्थात् आदत्ते इस क्रियाका अर्थ है—ग्रहण करता है। यह ग्रहण करनेरूप क्रियाका उल्लेख सूत्रमें इसीलिए किया गया है कि जो बंधके कारण मिथ्यादर्शनादिक बताये गये हैं और जो बंध करनारूप कार्य बताया गया है, उन दोनोंका कर्ता जीव है। वही जीव हेतुओंसे कर्मबंध कार्य करता है इसी बातको प्रगट करनेकेलिये कर्ताका उभयसंबंध दिखानेकेलिये 'आदत्ते' इस क्रियाका उल्लेख है।

अतस्तदुपश्लेषो बंधः ॥ ८ ॥

अर्थ—उपर कहे गये समस्त वाक्योंका एक संबधरूप अर्थ इसप्रकार होता है-मिथ्यादर्शनादिकके आवेशसे संतापित जो आत्मा उसके समस्त प्रदेशोंमें कषायविशिष्ट योग विशेषसे उन सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्त प्रदेशवाले कर्मरूप पर्याय धारण करनेमें समर्थ पुद्गलोंका विभागरहित-बिना किसी अन्तरके परस्पर आत्माके साथ एकमएक संबंध विशेषरूप जो अवस्था विशेष है उसीका नाम बंध है। आगे इसी अर्थको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

तद्भावो मादिरापारिणामवत ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी पात्रविशेषमें एक जगह रक्खे हुए अनेकप्रकार रस, बीज, पुष्प फलोंकी मदिरारूप पर्याय होजाती है उसीप्रकार आत्मामें सबंध किये गये पुद्लोंकी भी योग कषायके कारण कर्म-पर्याय हो जाती है।

और स्वर्गकी कामनाका स्मरण रखनेवाला तथा मंत्रोंका प्रयोग करनेवाला कर्ता वह कैसे सिद्ध हो सक्ता है ? नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि वह पुरुष क्षणिक नहीं किंतु नित्य है तो जैसा वह पूर्वकालमें रहेगा वैसाही उत्तरकालमें रहेगा सब कालोंमें समान ही रहेगा। उस नित्य पुरुषमें किसीप्रकारकी क्रिया नहीं होगी, वैसी अवस्थामें उसका कर्तापन दूरसे ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् नित्य पुरुषमें मंत्रप्रयोगका परिणाम भी नहीं हो सकता है और कोई क्रिया भी नहीं हो सकती है इसलिए उसमें कर्तापन भी सिद्ध नहीं हो सकता। जब कर्तापना ही सिद्ध नहीं होता तो क्रियाके फलका संबध भी सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि "पुरुष एव इदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भाव्यमिति" जो कुछ भूत भविष्यत् वर्तमान परिणमन है वह सब पुरुषस्वरूप ही है। ऐसा जो उपनिषद् (वेद) का वाक्य है इस वाक्यकी प्रमाणतासे समस्त जगत् एक पुरुष स्वरूप ही है, पुरुषसे भिन्न कुछ भी नहीं है, इसप्रकारकी एकांतकल्पना माननेमें भी बाध्यघातक आदि विवेक सिद्ध नहीं हो सकेगा अर्थात् जब जगत्को एक पुरुषस्वरूप ही माना जायगा तो कौन बाध्य है व मरनेयोग्य है और कौन मारनेवाला है यह भेदभाव कुछ भी नहीं बनसकेगा यदि कहा जाय कि चेतनाशक्तिका ही सब परिणाम है, चेतनाशक्तिसे भिन्न कुछ भी परिणाम नहीं है तो चेतनामात्र माननेवालेकी यह बात भी दृश्य विकारीभावोंका अभाव होनेसे प्रत्यक्षबाधित हो जाती हैं अर्थात् प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जीवका कर्मोदयवश रागद्वेषरूप परिणाम भी होता है, विषय-कषायरूप परिणाम भी होता है, उपकार्य उपकारक भावरूप भी परिणाम होता है और पुण्य पापरूप भी परिणाम होता है। ये सब परिणाम केवल शुद्ध चेतनाके नहीं हैं किंतु कषायविशिष्ट अशुद्ध आत्माके विकारमय परिणाम हैं, ये परिणाम भिन्न भिन्न रीतिसे नानाजीवोंमें नानाप्रकारके प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं, यदि केवल चेतनाका परिणाममात्र स्वीकार किया जाय तो इन समस्त वैभाविक परिणामोंका प्रत्यक्ष विरोध होगा, इसलिए केवल चेतनारूप परिणाम प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है—सिद्ध नहीं होता और

बंधके कारण हैं तथापि पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयको मिथ्यादर्शनादिमें निमित्त होनेसे मिथ्यादर्शनादिक भी कार्यरूप ठहरते है अर्थात् नवीन कर्मोंमें मिथ्यादर्शनादि भाव निमित्त हैं इसलिये तो वे बंधके हेतु कहे जाते हैं परंतु पूर्वबद्ध कर्मोंका उदय मिथ्यादर्शनादि भावोंमें निमित्त कारण है इसलिये मिथ्यादर्शनादि स्वयं भावबंधरूप हैं अर्थात् कार्यरूप हैं तथा वही भाववंध उन कर्मोंके उदयके अनुसार होता है और आत्माको परतंत्र बनाता है इसलिये वह करण कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा वंध जाय उसे बंध कहते हैं। मिथ्यादर्शन आदि कर्मोंके उदयसे जो भाव होते हैं उन्हींके द्वारा यह आत्मा वंध अवस्थाको प्राप्त होता है इसलिये उन मिथ्यादर्शनादिके उदयसे होनवाले भाव ही बंध कहलाते हैं। यही करण साधनपना है। वह बंध इस आत्माके द्वारा अपने आधीन किया जाता है अर्थात् आत्मा बंधको अपने अधीन करता है इसरीतिसे बंधको कर्म साधनपना भी सिद्ध हो जाता है। तथा ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र, अनंतराय स्वरूप जो पुरुषकी निज सामर्थ्य है उसको रोकनेवाला बंध है। इस रीतिसे बंधको कर्तृसाधनपना भी सिद्ध होजाता है और बंधरूप जो होय सो बंध है, यहां बंध स्वयं भावसाधनरूप होजाता है। स्वतंत्र क्रियामात्र विवक्षामें बंधको भावसाधनपना आता है। यहांपर यह शंका होती है कि भावसाधन अर्थमें सामानाधिकरण कैसे बनेगा, ज्ञानावरणकर्म ही बंधरूप है यह कैसे घटित होगा? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण पदाभावका भाववानके साथ सामानाधिकरण होजाता है। जिसप्रकार ज्ञानको ही आत्मा कह दिया जाता है यहांपर ज्ञान आत्माका भाव है फिर भी अभेद होनेसे ज्ञानको ही आत्मा कह दिया जाता है अथवा आत्माको ही ज्ञान कह दिया जाता है उसीप्रकार मिथ्यादर्शनादिक ही बंध हैं ऐसा सामानाधिकरण हो जाता है उसीप्रकार और भी अपादान आदि कारकरूप योजना घटा लेनी चाहिये।

तस्यापेचयापचयसद्भावः कर्माऽपव्ययदर्शनाद्व्रीहिकोष्ठागारवत् ॥ १२ ॥

हैं और अनुभागके भेदसे उस परोपदेश निमित्त मिथ्यादर्शनके अनन्त भेद हैं। तथा जो स्वभावसे होनेवाला नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है वह भी-एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेद्रिय, संज्ञि पंचेंद्रिय तिर्यंच म्लेच्छ, शवर, पुलिन्द (भील चांडाल आदि) आदिक भेदोंसे अनेक प्रकार है। अर्थात् एकेंद्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेंद्रिय तक तो बिना परोपदेशके स्वाभाविक मिथ्यादर्शन उन पर्यायोंमें नियमसे होता ही है तथा संज्ञि पंचेंद्रिय जो तिर्यंच हैं और म्लेच्छ भील आदि नीच कुलीन मनुष्य हैं उनमें भी स्वभावसे कुलपरंपरासे मिथ्यात्व चला आता है इसलिये स्वभावसिद्ध नैसर्गिक मिथ्यात्वके भी अनेक भेद हैं।

पंचविधं वा ॥ २८ ॥

अर्थ—अथवा मिथ्यादशर्नके पांच भेद हैं-१—एकांत मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और आज्ञानिक मिथ्यादर्शन। उनमें एकांत मिथ्यादर्शनका स्वरूप इसप्रकार है—धर्म और धर्मीमें सर्वथा एकांत बुद्धि रखकर कहना कि वह यही है अथवा इसप्रकार है, अर्थात् धर्म और धर्मी दोनों सर्वथा एक ही हैं, अथवा दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं, अथवा वस्तु केवल धर्मस्वरूप ही है, अथवा वह केवल धर्मीस्वरूप ही है अथवा केवल अस्तित्वस्वरूप ही वस्तु है अथवा वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनित्य ही है अथवा यह जगत् केवल एक पुरुषस्वरूप ही है और जड पदार्थ कुछ नहीं है इत्यादि किसी एक पक्षको ग्रहणकर सर्वथा वस्तुको उसी रूप मानना। नयविभाग और कथंचित् अपेक्षाभेदपर दृष्टि नहीं रखना इसी एकांतबुद्धिका नाम एकांत मिथ्यात्व है। विपरीत मिथ्यादर्शन इसप्रकार है—जो पदार्थ जिस स्वरूप है उससे सर्वथा विपरीतरूप निश्चित बुद्धि रखना वही विपरीत मिथ्यादर्शन कहलाता है। जैसे—मुनिमार्ग निर्ग्रंथ दिगम्बर स्वरूप है उसे सग्रंथ ही मानना केवली भगवान् त्रयोदश गुणस्थानवर्ती समस्त चारित्रमोहनीय कर्मसे रहित होनेसे

भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ ॥ २ ॥

अर्थ—स्थान नाम स्थितिका है, अर्थात् अपने स्वभावसे नहीं हटना इसीको स्थिति कहते हैं, जितने दिन कर्मप्रकृतिकी स्थिति रहेगी उतने दिन अपने स्वभावसे ही रहेगी तथा अनुभवन नाम अनुभवका है अर्थात् प्रकृतिके रसका अनुभोग करना इसीको अनुभव अथवा अनुभाग कहते हैं। इन दोनों शब्दोंको भावसाधनपना है।

कर्मसाधनः प्रदेशशब्दः ॥ ३ ॥

अर्थ—'प्रदिश्यते इति प्रदेशः' जो भिन्न भिन्न प्रदेशरूप किया जाय वह प्रदेश कहलाता है। यह प्रदेश शब्द कर्मसाधनरूप अर्थमें सिद्ध किया गया है, इसलिए कर्म अर्थमें घञ्प्रत्ययसे प्रदेश शब्द बना है। यह चारों बंधोंकी सिद्धिकाप्रकार बताया गया है। अब उनका अर्थ बताते हैं—

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थांतरं ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे—नीमकी क्या प्रकृति है ? कटु स्वभाव। गुडकी क्या प्रकृति है ? मधुर (मीठा) स्वभाव, उसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है ? अर्थका बोध नहीं होना इसरीतिसे प्रकृति स्वभाव इन दोनोंका एक ही अर्थ है। इसीप्रकार दर्शनावरण कर्मकी प्रकृति पदार्थको नहीं देखना है। साता असातारूप वेदनीयकर्मका स्वभाव सुख दुःखका वेदन करना है अर्थात् सांसारिक सुख और दुःखका अनुभव करना वेदनीय कर्मकी प्रकृति है। दर्शनमोहनीय कर्मकी प्रकृति तत्त्वार्थका श्रद्धान नहीं होना है। चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृति असंयम अर्थात् संयमरहितरूप परिणामका होना है। आयुकर्मकी भवधारणरूप प्रकृति है। नामकर्मकी नरकादि नाम पानारूप प्रकृति है। गोत्र कर्मकी उच्च नीच नामसे लोकमें व्यवहृत होनारूप प्रकृति है। अंतराय कर्मकी दान भोग आदिमें विघ्न होना रूप प्रकृति है इन भिन्न भिन्न कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभाव हैं आठ कर्मोंके आठ स्वभाव हैं इसीलिये आठप्रकार कर्मकी प्रकृति

अर्थात् अविरति बारह प्रकार है, कषायें पच्चीस प्रकार हैं और योग तेरहप्रकार हैं। उनमें अविरतिके बारह भेद इसप्रकार हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पांचप्रकारके स्थावर जीवोंका और त्रसकायकी हिंसा करना, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र तथा मन इन छहों इंद्रियोंके विषयोंमें रागरूप असंयम भाव रखना इसप्रकार बारहप्रकार अविरतिके भेद हैं अर्थात् छहप्रकारके जीवोंकी रक्षा करनारूप प्राण संयमका नहीं पालना, और छहप्रकारकी इंद्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिको रोककर इंद्रियसंयमका नहीं पालना, यही बारहप्रकारसे अविरति कहलाती है। पच्चीस कषायके भेद हैं वे इसप्रकार हैं—अनंतानुबंधि क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, ये षोडशप्रकार तो कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये नव नोकषाय इसप्रकार कषायके पच्चीस भेद हैं। यहांपर नोकषायका अर्थ ईषत् कषाय है अर्थात् कषायोंकी अपेक्षा कुछ न्यून जो कषाय उन्हें नोकषाय कहते हैं। कषाय और नोकषायमें यद्यपि थोडा भेद है तो भी अल्प भेद कोई भेद नहीं है इसलिये कषायोंमें ही नोकषायोंको सामिल कर पच्चीस भेद बतलाये हैं। तेरह प्रकार योग इसप्रकार है—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग ये चार प्रकार तो मनोयोग, और सत्य असत्य उभय अनुभय भेदोंसे चारप्रकार हो वचनयोग, तथा औदारिककाययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रेयिककाययोग, वैक्रेयिकमिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग, ये तेरह भेद योगके हैं तथा आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग ये दो योग प्रमत्त संयत गुणस्थानमें हो सकते हैं इसलिए इन दो योगोंको मिलानेसे योगके पंद्रह भेद भी हो जाते हैं।

प्रमादोऽनेकविधः ॥ ३० ॥

अर्थ—भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनआसनशुद्धि, प्रतिष्ठापन-

इयत्तावधारणं प्रदेशः ॥ ७ ॥

अर्थ—कर्मभावरूपसे परिणत जो पुद्गलस्कन्ध उनका परमाणुओंके परिमाण द्वारा जो निश्चय करना वह प्रदेश है अर्थात् जो पुद्गल स्कन्ध कार्माण नोकार्माण वर्गणाओंके रूपमें आस्रवरूपसे आत्मामें आते हैं उनके परमाणुओंकी संख्याका नाम प्रदेश है। आये हुए कर्म कितनी प्रदेशसंख्यामें आये हैं, इसप्रकार प्रदेशोंकी गणना अथवा परिमाणका नाम प्रदेश है।

विधिशब्दः प्रकारवचनः ॥ ८ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो विधि शब्द है वह प्रकारवाची है। 'विधयः' इसका अर्थ होता है प्रकार। उस बंधके जो प्रकार अर्थात् भेद, उसीका नाम विधि है। इसप्रकार बंधके चार प्रकार हैं अर्थात् प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध, अनुभवबंध यह चारप्रकारका बंध है।

तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ ॥ ९ ॥

अर्थ—उन चारप्रकारके बंधोंमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध ये दो बंध योगनिमित्तक हैं अर्थात् योगसे होते हैं।

स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ ॥ १० ॥

अर्थ स्थितिबंध और अनुभवबंध ये दो बंध कषायहेतुक हैं अर्थात् कषायसे होते हैं। उन योग और कषायोंकी हीनाधिकतासे बंधोंमें भी है हीनाधिकतारूप विचित्र परिणाम होता है क्योंकि जैसा कारण होता है उसीप्रकार कार्य होता है। कारणके अनुकूल ही कार्य होता है इसलिये यदि योगोंकी

१—एक समयमें जो कर्मबंध होता है उसमें अनन्तानन्तसे कम कम परमाणु आते ही नहीं है, परन्तु अनन्तानन्तके भी अनन्त भेद है उन्ही भेदोंमें तरतमरूपसे आते हैं।

परमाणूहि अणंताहि वग्गणसण्णा हवन्ति एक्का हु। ताहि अणन्ताहि णियमा समयपबद्धो हवे एक्को। (गोम्मटसार)

दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थानोंमें अविरति प्रमाद कषाय और योग ये चार बंधके कारण हैं, वहां मिथ्यादर्शन नहीं रहा कारण उसका उदय पहले ही गुणस्थानमें रहता है, इसलिये वह उसी पहले गुणस्थानमें बंधका कारण है। संयतासंयत जो पांचवें गुणस्थानवाला है, उसके अविरतका मिश्रभाव है और प्रमाद कषाय योग ये तीनों भी हैं। अविरतका मिश्रभाव इसलिये है कि पांचवें गुणस्थानमें न तो सर्वथा अविरतभाव ही है, और न सर्वथा विरतभाव ही है, क्योंकि अविरतभाव तो चतुर्थ गुणस्थानतक ही रहता है, और विरतभाव छठेसे आरंभ होता है पांचवेंमें एकदेशविरत भाव है, इसलिये वहां अविरतमिश्रभाव कहा है। प्रमत्तसंयमी जो छठे गुणस्थानवर्ती मुनि हैं उनके प्रमाद कषाय और योग ये तीन ही भाव बंधके कारण हैं, वहां मिथ्यादर्शन अविरति और अविरतमिश्र कुछ नहीं हैं। तथा अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय इन सातवें आठवें नवें दशवें चार गुणस्थानोंमें कषाय और योग ये दो ही बंधके कारण हैं कारण कि प्रमाद भी प्रमत्तगुण-स्थान तक ही रहता है वहींतक बुद्धिपूर्वकक्रियारूप परिणाम है, तथा शांतकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवली उन ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें केवल योग मात्र है, कषाय भी दशवें तक ही रहते हैं इसलिये इन तीन गुणस्थानोंमें योगके कारण सातावेदनीय कर्मकी वर्गणाएं आती हैं और आत्माके साथ संबंध करती हुई एक समयमें ही निकल जाती हैं। कारण कि आत्मामें कर्मोंका बंध करानेवाले कषाय है, वह कषाय दशवें तक ही रहते हैं उससे आगे उनका सर्वथा उदय नहीं है इस-लिये बंधका कारण न होनेसे वहां बंध नहीं होता किंतु योगके कारण जो सातावेदनीय कर्म आता है वह उसी समयमें चला जाता है तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती जो अयोग केवली हैं उनके बंधका कारण मिथ्यादर्शनादिक पांचोंमें एक भी नहीं है। वहां योग भी नहीं है। योग भी तेरहवेंमें ही समाप्त हो जाता है। इसलिये चौदहवें गुणस्थानवर्ती श्री अर्हंत देवके किसी कर्मका आस्रव नहीं होता है। अब

उसकी विवक्षासे प्रकृतिबंध एक रूप ही है अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि सभी प्रकृतियोंको एक प्रकृतिपना है, प्रकृतिपनेसे कोई भी प्रकृति बाकी नहीं है इसलिये वह सब प्रकृतिबंध ही कहलाता है। कितनी भी प्रकृतियां हों वे सब एक प्रकृतिबंध रूप ही कहलाती हैं इसलिये इस सामान्यधर्मकी विवक्षासे आद्य शब्दका एक वचनरूप प्रयोग किया गया है। तथा उसी एक प्रकृतिबंधके ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि विशेषधर्म हैं, इसलिये वे धर्म भिन्न रूपसे पर्यायार्थिकनयके विषयभूत प्रधानतासे विवक्षित किये गये हैं, अतः उनसे बहुवचनरूप प्रयोग किया गया है। लोकमें भी यह बात देखी जाती है कि समानाधिकरण—दोनोंका एक अधिकरण होनेपर भी वचनभेद भिन्न भिन्न किये जाते हैं। जैसे 'प्रमाणं श्रोतारः' 'गावो धनमिति' श्रोताजन प्रमाण हैं यहांपर श्रोता अनेक हैं फिर भी उनके साथ समानाधिकरण रखनेवाला प्रमाण शब्द एक वचन है इसका प्रयोजन यही है कि जितने भी बहुतसे श्रोता हैं उन सबोंमें प्रमाणपना समान है। प्रमाणपनेके बहुत भेद नहीं हैं, किन्तु वह सामान्यधर्म है जो सब श्रोताओंमें है इसलिए यह वाक्य बोला जाता है कि सभी श्रोता प्रमाणभूत हैं। यहां श्रोतारः यह बहुवचनका प्रयोग है और प्रमाणं एकवचनका प्रयोग है और दोनोंका समानाधिकरण संबंध है। दूसरा दृष्टांत 'गावो धनं' है। लोकमें बोला जाता है कि हमारे तो गौएं ही धन है अर्थात् सौ दोसो जो गाएं हैं वही हमारा धन है, इस शब्दप्रयोगसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि सब गौओंमें धनपना है इसलिये गो शब्द बहुवचन और धन शब्द एक वचन हैं और दोनोंमें एकाधिकरणवृत्तिरूप संबंध है। इसीप्रकार सूत्रमें भी आद्य शब्द एकवचन और ज्ञानावरणादि बहुवचन समझने चाहिये।

यथासंभवं कर्त्रादिसाधनत्वं ज्ञानावरणादिशब्दानां ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि शब्द कर्ता, करण आदि अर्थोंमें जहां जैसी संभावना हो, सिद्ध करने चाहिये उसीको बताते हैं—'आवृणोतीति आवरणं' जो आवरण करे वह आवरण कहलाता है। यहांपर करने-

हिंसादि परिणामस्वरूप हैं इसलिये दोनों ही एक हैं फिर उनका भिन्न भिन्न उल्लेख सूत्रमें क्यों किया गया है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण दोनोंमें कार्य कारणका भेद है। कषाय तो कारणभूत है और हिंसा झूठ आदि अविरति उसका कार्य स्वरूप है अर्थात् कषाय भावोंके कारण ही अविरतरूप परिणाम होता है इसलिये कारण कार्यका भेद होनेसे दोनोंका भिन्न भिन्न उल्लेख करना उचित ही है। अब यहांपर यह प्रश्न होता है कि विस्तारपूर्वक कहेगये बंधके कारणोंको तो हम जान चुके, परंतु अभी इस बातमें हमारे संदेह ही बनारहा कि आत्मा अमूर्त है उसके हस्तपाद आदि कुछ शरीरावयव भी नहीं है, इसलिये कर्मोंका ग्रहण करनेकी उस अमूर्त आत्मामें कोई शक्ति भी नहीं है फिर बंधके कारणों द्वारा बताया गया कर्मका संबंध उस अमूर्त आत्माके किस प्रकार होता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य नीचेकी वार्तिकसे देते हैं—

आत्मकर्मसंबंधसंततेः पूर्वापरीभावानवधारणात् ॥ ३४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका अनादिकालसे बराबर संबंध चला आया है, ऐसा नहीं है कि पहले शुद्ध आत्मा था पीछेसे उसके साथ कर्मोंका संबंध हुआ हो यदि ऐसा माना जाय तो यह प्रश्न ठीक होसकता है कि अमूर्त आत्माका बंध कैसे हुआ परंतु यहां तो ऐसा नहीं है आत्मा पहले हो कर्म पीछेसे उसके साथ लगे हों जैसे यह बात नहीं है तैसे यह भी नहीं है कि कर्म पहलेसे हों और आत्माने पीछेसे आकर उनके साथ संबंध करलिया हो दोनों ही प्रकार आगे पीछे नहीं है किंतु दोनोंका संबंध अनादिकालसे—सदासे ही साथ साथ है। ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होसकता कि अमूर्त आत्माके कर्मग्रहण करनेकी शक्ति नहीं होनेसे कर्मोंका संबंध कैसे होता है क्योंकि जब अनादिकालसे आत्मा और कर्मोंका बराबर संबंध चला आया है तो आत्माको सर्वथा एकांतरूपसे अमूर्त भी नहीं कहा जासकता। अमूर्त तो तब कहा जाता जब कि पहले सर्वथा शुद्ध होता पीछे कर्मबंध होता सो तो नहीं है इसलिये अनादि

इस आयुः शब्दमें "एतेर्णिच्च" इस सूत्रसे उस् प्रत्यय होता है और वह णित् होता है, यहांपर "जनेरुस्" इस सूत्रसे उस की अनुवृत्ति चली आती है। खुलासा यह है कि गत्यर्थक इण् धातुसे 'जनेरुस्' इस सूत्रके प्रकरणमें 'एतेर्णिच्च' इस सूत्र द्वारा उस् प्रत्यय हो जाता है और उसे णित् माननेसे 'इ' धातुका 'ऐ' रूप हो जाता है फिर ऐ को आय् होकर उस् प्रत्ययके मिलजानेसे आयुः शब्द सिद्ध हो जाता है। तथा जो आत्माको नारक देव आदि भवोंके नामसे प्रगट करावे वह नाम कर्म कहलाता है। यहां नाम शब्द कर्ता अर्थमें है और जिसके द्वारा आत्मा नारकादि नामोंसे प्रसिद्ध किया जाय वह नाम कर्म है, यहां नाम शब्द करण अर्थमें व्युत्पादित है। यह नाम शब्द उणादिगणमें निपात किया गया है। तथा जिसके द्वारा उच्च और नीच रूपसे आत्मा घोषित किया जाय वह गोत्र कहलाता है। यहां गोत्र शब्द करण अर्थमें सिद्ध है अथवा जो आत्माको उच्च नीच शब्दोंसे कहलावे वह गोत्र है। यहां गोत्र शब्द कर्तृ अर्थमें नियत है। अब अंतराय शब्दकी व्युत्पत्ति बताते हैं–'अंतरं–मध्यं, दातृदेयादीनां अंतरं मध्यं एति ईयते वा अनेन इति अंतरायः' जो दाता तथा देय वस्तुके मध्यमें अंतर डाले वह अंतराय कहलाता है। यहांपर अंतराय शब्द कर्तृसाधन है और दाता तथा देय अथवा दाता तथा पात्र इन दोनोंके मध्यमें जिसके द्वारा अंतर डाला जाय वह अंतराय कहलाता है अर्थात् दाता भी है और देय वस्तु भी है फिर भी देनेके परिणाम दाताके नहीं होते तो यहांपर अंतराय कर्म दाता और देयवस्तुके मध्यमें अंतररूपसे पडा हुआ है उसीप्रकार दाता भी है और पात्र भी है तथापि देनेके परिणाम नहीं होते यहां भी अंतराय मध्यमें पडाहुआ है अर्थात् अंतराय कर्मका उदय होनेसे देय वस्तुको देखते हुये भी देनेके परिणाम दाताके नहीं होते हैं, इसीप्रकार लाभान्तराय आदिके विषयमें समझना चाहिये। अंतराय शब्दमें मध्यवाची अंतर शब्दसे गत्यर्थक अय् धातुका संबंध होनेसे अंतराय शब्द सिद्ध होता है।

वहियोंगे वा ॥ ३ ॥

क्या विशेष आशय है उसीका दृष्टांत द्वारा खुलासा करते हैं। उत्तर—जिसप्रकार जैसी मंद तीव्र मध्यम रूप जठराग्नि होती है उसीके अनुसार आहारका ग्रहण होता है। तीव्र जठराग्नि अधिक आहारको ग्रहण कर उसे पचादेगी मंदजठराग्नि स्वल्पआहारको ही ग्रहण करेगी फिर अरुचि करदेगी और उतनेमात्र आहारको पचासकेगी उसीप्रकार जैसा तीव्र मंद मध्यमरूप कषाय परिणाम होगा उसीके अनुसार कर्मोंमें स्थितिबंध और अनुभाग बंध होंगे और जैसा जैसा कषायभाव होगा वैसे वैसे ही योगोंमें तीव्रता मंदता भी आवेगी कषायोंकी तीव्रतासे स्थिति और अनुभाग भी कर्मोंका तीव्र होगा और कषायोंकी मंदता होगी वे भी मंद रूप स्वल्प ही होंगे इसी विशेष अभिप्रायको प्रगट करनेके लिये जो बंधहेतुविधानमें पहले कषायका ग्रहण किया गया था उसीका फिर यहां अनुवाद करना अथवा उल्लेख करना आवश्यक है।

जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—पहले जो यह शंका की गई थी कि विना हाथ पैरोंके अमूर्त जीव किसप्रकार कर्मोंका संबंध करता है उसीवातका उत्तर देनेकेलिये इससूत्रमें जीवशब्दका उल्लेख कियागया है, अर्थात् कर्मोंका संबंध करनेवाला जीव है न कि हाथपैरवाला शरीर। अनादिकर्म विशिष्टजीव ही कर्मोंका बंध करता है।

जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— अथवा दूसरी वात यह भी है कि जीवन नाम लोकमें आयुका है अर्थात् जबतक आयु रहती है तभीतक लोकमें जीता हुआ व्यवहार होता है इसलिये आयुसहित जीवका नाम ही जीव पडा है इसी उद्देश्यसे भी जीव शब्दका उल्लेख है। जबतक जीवन है अर्थात् जबतक जीवके साथ आयुका संबंध है तभीतक कर्मको यह जीव ग्रहण करता है आयुके संबंधके विना कर्मको ग्रहण नहीं करता है विशेष—यहांपर यह शंका हो सकती है कि आयुका संबंध तो पूर्व शरीर और उत्तर शरीरके साथ ही है

है इसीका नाम मोह है अर्थात् मोहनीयकर्मके उदयमें विपरीत श्रद्धान होता है। ज्ञानविशेष भी होता है तो भी उलटा ही प्रतीत होता है, परंतु ज्ञानावरण कर्मके उदयमें ज्ञानका विकाश ही कम होता है। यह वस्तु किस स्वरूपवाली है ऐसा बोध ही ज्ञानावरणकर्मके उदयमें नहीं होता है। सारांश यह है कि ज्ञानावरण कर्मके उदयमें तो ज्ञानका प्राकट्य कमती होता है और मोहनीयकर्मके अभावमें वह समीचीन भी होता है परंतु मोहनीयके उदयमें विशेष बोध होनेपर भी विपरीत बोध होता है। यही दोनोंमें भेद है।

कार्यभेदे च कारणान्यत्वात्॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार भिन्न स्वरूपवाला अंकुर देखनेसे उसका वीजरूप जो कारण है उसका भेद जाना जाता है अर्थात् जैसा अंकुर होता है उससे उसके वीजका परिज्ञान किया जाता है उसीप्रकार अज्ञान और चारित्रमोह इस भिन्न भिन्न कार्यको देखनेसे उनका कारण भी ज्ञानावरण और मोहनीय भिन्न भिन्न जाना जाता है अर्थात् अज्ञान नाम ज्ञानकी कमीका है और मोहनीय मूर्छित बुद्धिका नाम है, दोनों कार्य जुदे जुदे हैं, इसलिये उनके कारण भी ज्ञानावरण और मोहनीय जुदे जुदे सिद्ध होते हैं।

ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रयुक्तं ॥ ७ ॥

अर्थ–ज्ञान और दर्शनमें भिन्नपना है यह बात पहले कही जाचुकी है सो क्या वह भिन्न भिन्न कार्योंकी अपेक्षा भेद है अथवा और कुछ प्रयोजन है, सो कहते हैं कि प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर ज्ञान दर्शन होते हैं इसलिये उन ज्ञान दर्शनोंके आवरक कर्म भी ज्ञानावरण और दर्शनावरण भिन्न भिन्न हैं यह बात सिद्ध होजाती है।

ज्ञानावरणस्याविशेषेपि प्रत्यास्रवं मत्यादीनामविशेषो जलवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मेघसे गिरता हुआ जल एक रस अथवा एक स्वभावको लेकर ही गिरता है परंतु भिन्न भिन्न आधारके निमित्तसे नाना रसरूप परिणित होजाता है उसीप्रकार ज्ञानशक्तिको

जब पहले वाक्यसे था तब तो हेतुनिर्देश होनेसे वहां पंचमी विभक्तिरूप परिणाम था और जब उसी पदका 'योग्यान् पुद्गलान्' इस वाक्यके साथ संबंध हुआ तो उसी 'कर्मणः' पदका संबंधरूप षष्ठीविभक्तिरूप परिणाम हो गया है। इसका अर्थ होता है कि कषायसहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण करता है। इसप्रकार 'कर्मणः' इस पदका दोनों ओरके वाक्योंसे संबंध होनेसे भिन्न भिन्न विभक्ति निर्देश किया गया है।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थं ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्म पुद्गल स्वरूप ही है वे पुद्गलकी ही पर्याय विशेष हैं इस विशेष बातके प्रगट करनेकेलिये पुद्गल शब्दका सूत्रमें ग्रहण किया है अर्थात् यदि पुद्गल शब्दका उल्लेख सूत्रमें नहीं करते तो कर्म शब्दमें भ्रम होनेकी संभावना थी, कारण कोई कोई दर्शनवाले कर्म नाम क्रियाका ही बताते हैं, कोई कर्मका दूसरा ही अर्थ करते हैं इसलिये स्पष्टताके लिये पुद्गल शब्दका उल्लेख करना आवश्यक था।

तदसिद्धमिति चेन्नाऽमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् ॥ ६ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि कर्म पुद्गलकी पर्याय है यह बात असिद्ध है, क्योंकि कर्म आत्मा का गुण है। उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—जो पदार्थ अमूर्त होता है, वह अनुग्रह भी नहीं कर सकता और उपघात भी नहीं कर सकता है। जिसप्रकार आकाश अमूर्तिक पदार्थ है वह दिशादिक अमूर्त पदार्थोंका न तो कुछ उपकार ही करसकता है और न कुछ अपकार ही करता है उसी प्रकार यदि कर्म भी अमूर्तिक एवं आत्माका गुण माना जायगा तो वह भी अमूर्त आत्माके उपकार अथवा अपकार करनेमें कारण नहीं बन सकेगा परंतु देखनेमें आता है कि कर्मके निमित्तसे आत्मा

१—नैयायिक मतवाले दिशाको भी एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, इसलिये उनकेलिये उन्हींका दृष्टांत देकर आचार्यने खंडन किया है। नैयायिक मतवाले कर्मको अदृष्ट रूप आत्माका धर्म मानते हैं। उसीका यह खंडन है।

अर्थ—द्रव्यका एक लक्षण भी है और उसके अनेक लक्षण भी हैं इसलिये वह कथंचित् एक है और कथंचित् अनेक है। द्रव्यार्थिकनयसे कथंचित् पुद्गल द्रव्य एक है और अनेक परमाणुओंकी स्निग्ध रूक्ष गुणोंके कारण बंधरूप प्राप्त अनेकात्मक जो स्कंधरूप पर्याय उस पर्यायार्थिक दृष्टिसे वही पुद्गल द्रव्य कथंचित् अनेक रूप है। इसलिये एक अनेककी विवक्षासे कुछ भी विरोध नहीं है। इसका खुलासा अर्थ यह है कि जितने भी कर्म हैं वे सब एक पुद्गलकी ही पर्यायरूप हैं, इसलिये वह सब एकरूप हैं और भिन्न भिन्न कर्म एक ही पुद्गलकी भिन्न भिन्न पर्यायें हैं इसलिये उनमें कथंचित् भेदपना भी है। अनेकांत विवक्षामें कोई विरोध नहीं आता है।

परामिप्रायेणेंद्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपभोगे वृद्धिवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो बात ऊपर कही है उसीको नैयायिकादि अन्यमतोंके आधारसे ही दृष्टांत देकर स्पष्ट करते हैं, जिसप्रकार वायुसे स्पर्शन इंद्रिय रची गई है, जलसे रसना इंद्रिय रची गई है, पृथ्वीसे घ्राणेंद्रिय रची गई है। तेजसे नेत्रेंद्रिय रची गयी है। इसप्रकार पृथ्वी आदि भिन्न भिन्न द्रव्योंसे रचीगई इंद्रियां भी भिन्न भिन्न जातीय हैं तो भी क्षीर अथवा घृत आदिका उपयोग किसी एक इंद्रिय द्वारा किया गया सभी इंद्रियोंकेलिये उपकारक होता है, यह बात देखी जाती है उसीप्रकार एकही आत्माके परिणाम-विशेषसे ग्रहण किया पुद्गलस्कंध भिन्न भिन्न कर्मरूप परिणत होजाता है।

वृद्धिरेकैवेति चेन्न प्रतींद्रियवृद्धिभेदात् ॥ १४ ॥

अर्थ—यहांपर वादी पुनः शंका करता है कि किसी भी इंद्रियसे क्षीर घृतादिका ग्रहण होनेपर जो सब इंद्रियोंका उपकार होना बताया गया है उस संबंधमें हमारा (वादीका) कहना यही है कि किसी

१—ऐसी रचना नैयायिकादि मतवाले मानते हैं, जैनसिद्धांतानुसार तो पृथ्वी आदि चारोंही पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं परन्तु यहां उन्हीं के मतका उल्लेख कर दृष्टांत दिया गया है।

स्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थं ॥ १० ॥

अर्थ—वह बंध यही है, दूसरा कोई नहीं है, इसप्रकार अन्यकी निवृत्ति दिखानेकेलिये सूत्रमें 'सः' इस पदका उल्लेख किया गया है। इसके कहनेसे उन दर्शनोंका खंडन होजाता है जो गुण गुणीका भी बंध बताते हैं। यदि गुण गुणीका भी बंध माना जाय तो मुक्तिका भी अभाव होजायगा, क्योंकि गुणरूप स्वभावके छूट जाने पर गुणीके स्वभावका भी परित्याग होजायगा, ऐसी अवस्थामें गुणोंका भी नाश होजायगा फिर मुक्तिका नाश स्वयं सिद्ध है। इसलिये गुण गुणीका बंध नहीं है किंतु गुण समूह ही गुणी है। गुणसमूहसे भिन्न गुणी कोई वस्तु नहीं है जब दो वस्तु ही नहीं हैं तब बंध एक वस्तुका कभी हो नहीं सकता। अतः गुण गुणी बंधरूप नहीं है। बंध शब्दसे जो उल्लेख किया जाता है वह बंध, प्रकृतमें जीव और पुद्गलके संबंध विशेषका नाम ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'सः' पद दिया गया है।

करणादिसाधनेष्वयं बंधशब्दो द्रष्टव्यः ॥ ११ ॥

अर्थ—यह बंध शब्द करण कर्म कर्ता आदि साधन रूप अर्थोंमें प्रसिद्ध है। उनमें करण साधन तो इस प्रकार है बध्यते अनेन आत्माऽसौ बंधः, जिसके द्वारा आत्मा बंधै वह बंध कहलाता है। यहांपर 'हलः' इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय करण अर्थमें होकर बंध शब्दकी सिद्धि हुई है। ऐसा करण अर्थवाला बंध कौन है? सो कहते हैं—वह मिथ्यादर्शन अविरत आदि स्वरूप है क्योंकि उसीके द्वारा आत्मा कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होता है। अब यहां यह शंका होती है कि मिथ्यादर्शनादिक जो बंधका हेतु बताया गया है वह बंध कैसे होजायगा अर्थात् मिथ्यादर्शनादिक बंधके कारणरूप कहे गये हैं परंतु यहांपर वे ही बंधरूप बताये जाते हैं। जो कारणरूप है वह कार्यरूप कैसे होगा? उत्तर—शंकाकारका कहना ठीक है परंतु बात यह है कि नवीन द्रव्य कर्मके ग्रहण करनेमें निमित्त होनेसे मिथ्यादर्शनादिक यद्यपि

सेनावनवत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सैनिक लोगोंकी (पदातियोंकी) और घोडोंकी हाथियों रथों आदिकी भिन्न भिन्न विवक्षा नहीं करनेपर समुदायकी दृष्टिसे वे सब एक सेनाके नामसे कहे जाते हैं अथवा जिसप्रकार अशोक वृक्ष, तिलकवृक्ष, वकुलवृक्ष, आदि भेदोंकी विवक्षा नहीं रखकर सामान्यरूपसे एक वन कहलाता है। उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप अनेकप्रकार कर्मबंधकी भिन्न भिन्न विवक्षा नहीं करनेपर सामान्य कर्मबंधकी अपेक्षा एक कर्मबंध कहलाता है। वही कर्म पुण्यकर्म और पापकर्मके भेदसे दोप्रकार है। जिसप्रकार स्वामी और नौकरोंके भेदसे सेना भी दो प्रकार कहलाती है उसीप्रकार कर्मके भी दो भेद समझने चाहिए। फिर तीनप्रकार भी बंध है—अनादिसांत, अनादि अनंत और सादिसांत। जो कर्मबंध अनादिसे चला आया हो परन्तु अब आकर उसका अंत हो जाय उसे अनादिसांत कर्मबंध कहते हैं। जैसे चतुर्दशगुणस्थानवर्ती अर्हंत। अर्हंत भगवानके कर्मबंध अनादिसे चला आया था परंतु अर्हंत अवस्थामें आकर उसका अंत हो चुका, यह अनादि सांत कर्मबंध है। जो कर्मबंध अनादिसे चला आया हो और अनादितक ही जानेवाला हो कभी भी जिसका अंत नहीं होनेवाला हो वह अनादिअनंत कर्मबंध कहलाता है जैसे—अभव्य जीव। अभव्य जीवका कर्मबंध अनादिकालसे आया हुआ है और अनंतकालतक वैसा ही रहेगा, उस जीवकी कभी भी मोक्ष नहीं होगी इसलिए उसका कर्मबंध अनादि-अनंत है। तीसरा कर्मबंध सादिसांत है। जैसे आहारक शरीर। छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके आहारक शरीर नाम कर्मका जो बंध होता है वह सादि है और कार्य करके नष्ट हो जाता है इसलिये सांत भी है। इसीप्रकार ग्यारहवें गुणस्थानके पहले दशवें गुण स्थानमें जो सूक्ष्म लोभका बंध होता है वह ग्यारहवेंमें उपशमित रहकर फिर दशवेंमें आकर नष्ट होजाता है। इसप्रकार यह सादिसांतका दृष्टांत है। ऐसे कर्मबंधके तीन भेद हैं।

अर्थ—जिसप्रकार कोठारमें धान्य भरा हो, और उसमेंसे प्रतिदिन धान्य निकलते भी रहें तथा नये डाले जाते भी रहें तो उस कोठारके धान्योंमें सदा कमती बढतीपना बना ही रहेगा उसीप्रकार इस आत्मामें अनादिकालसे चला आया कार्माण शरीररूपी कोठार है, उसमेंसे पुराने बंधे हुये कर्म तो भोगकर छोड दिये जाते हैं और नवीन कर्म बांध लिये जाते हैं, इसरीतिसे उस कोठारमें सदा कर्मोंकी हानि वृद्धि होती रहती है। अब यहां प्रश्न होता है कि यह बंध एक प्रकारका ही है अथवा उसके कुछ भेद भी हैं? उत्तर—उसके चार भेद हैं। वे नीचेके सूत्रद्वारा कहेजाते हैं—

प्रकृतिस्थित्यनुभव(भाग)प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रकृतिबंध स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध इसप्रकार बंधके चार भेद हैं।

अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रकृति शब्दकी सिद्धि वताते हैं, प्रकृति इस शब्दमें 'प्र' उपसर्ग है, 'कृ' धातु है और क्ति प्रत्यय है। यह क्ति प्रत्यय 'स्त्रियां क्तिः' इस सूत्रसे हुआ है इस (स्त्रियां क्तिः) सूत्रमें पूर्व सूत्रसे अकर्तरि ऐसा पद अनुवृत्ति द्वारा लाया जाता है इसलिये अपादान अर्थमें प्रकृति शब्द व्युत्पन्न किया जाता है अर्थात् सिद्ध किया जाता है। ज्ञानावरणादि स्वरूप यह जो प्रकृति है, इससे अर्थका बोध नहीं होता है इसीप्रकार दर्शनावरण कर्मरूप प्रकृतिसे दर्शन नहीं होता है, इत्यादि सभी प्रकृतियोंसे गुणोंका घात होता है अर्थात् पदार्थोंको नहीं जाननेरूप जो ज्ञानावरण कर्म है, दर्शनको नहीं जाननेरूप जो दर्शनावरण कर्म है इत्यादि जो कर्म प्रकृतियां हैं उनसे जो उत्पन्न हो अथवा बनै उसे प्रकृति कहते हैं इसका खुलासा यह है कि ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जो परिणाम होते हैं वे ज्ञानके घात करनेवाले होते हैं और उनसे ज्ञानावरणप्रकृतिका ही विशेषरूपसे ग्रहण होता है। इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके उदयमें आत्मीय गुणोंका घात और उस उस प्रकृतिका विशेषरूपसे ग्रहण समझना चाहिये।

ग्रहण और उनमें स्थिति आदि पडते हैं। तथा अनंतानंत कर्मपरमाणुओंके स्कंधरूप पर्यायोंकी अपेक्षा कर्मबंधके भी अनंत भेद हैं। अथवा ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अनुभागाविभाग शक्तिकी अपेक्षा अर्थात् अनुभाग बंधके अविभाग प्रतिच्छदोंकी अपेक्षासे भी कर्मबंधके अनंत भेद हैं।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् ॥ १८ ॥

अर्थ—अब ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्रम जो कहा गया है उसीका प्रयोजन कहा जाता है,—ज्ञानावरणकर्म सब कर्मोंकी आदिमें कहागया है, इसका कारण यह है कि ज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप जाना जाता है। ज्ञान गुण आत्माका स्वरूप बोध करानेमें प्रधान कारण है इसलिये पहले ज्ञानावरण कर्मका उलेख किया गया है अर्थात् सब गुण निर्विकल्पक हैं सबोंका बोध ज्ञान गुणसे ही होता है अतः सबोंमें प्रधान होनेसे पहले ज्ञान गुणकी मुख्यता है, इसलिये उसका आवरण करनेवाला कर्म भी पहले कहा गया है।

ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धेः ॥ १९ ॥

अर्थ — उस ज्ञानावरण कर्मके पीछे दर्शनावरण कर्मका उलेख है इसका कारण यह है कि दर्शनसे अनाकारका ग्रहण होता है। 'साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शनं' अर्थात् ज्ञान पदार्थको साकाररूप ग्रहण करता है परंतु दशन निराकार सत्तारूप ही सामान्यात्मक ग्रहण करता है इसलिये साकार ग्रहण करनेवाले ज्ञान गुणकी अपेक्षा निराकार सत्तारूप ग्रहण करनेवाला दर्शन निकृष्ट है क्योंकि यह पदार्थको प्रगटरूपसे विशेषरूपसे ग्रहण नहीं करता है किंतु अभेदरूपसे अव्यक्त ग्रहण करता है पदार्थके केवल सामान्यधर्मको ग्रहण करता है विशेषधर्मको विषय नहीं करता है इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा स्वल्पविषयी है इसीलिये ज्ञानावरणके पीछे दशनावरणकर्मका उलेख है इसमें वेदनीय आदि कर्मोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता है क्योंकि अर्थके सत्तारूप बोध करानेमें यह समर्थ है।

तदनंतरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात् ॥ २० ॥

कहलाती है। उस उस लक्षणवाला कार्य जिसके द्वारा किया जाता है, अर्थात् भिन्न भिन्न स्वभाववाला कार्य जिससे संपादित होता है उसीको प्रकृति कहते हैं।

तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस स्वभावका नाश नहीं होना अर्थात् उसी स्वभावमें रहना इसीका नाम स्थिति है। जिसप्रकार बकरी, गौ, भैंस आदि पशुओंके दूधका अपने मीठे स्वभावसे नहीं हटना इसीका नाम स्थिति है उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंका अर्थ बोध नहीं होना आदि स्वभावसे नहीं हटना यही उन कर्मोंकी स्थिति कहलाती है। ज्ञानावरण कर्मोंका स्वभाव ज्ञानको रोकना है उस ज्ञानको रोकनेरूप स्वभावमें ही जितने कालकी स्थिति है उतने काल ठहरना। दर्शनावरणकर्मका स्वभाव दर्शन नहीं होने देना है उसी दर्शनको नहीं होने देने रूप स्वभावमें जितने काल रहना है वही उसकी स्थिति है। उतने काल रखना उस स्वभावसे नहीं च्युत होने देना इसीकानाम स्थिति है।

तद्रसविशेषोऽनुभवः ॥ ६ ॥

अर्थ—रस विशेषका नाम अनुभव है। जिसप्रकार बकरी, गौ भैंस आदिके दूधोंमें तीव्र मंद आदि रूपसे रसविशेष है उसीप्रकार कर्मपुद्गलोंकी अपनी सामर्थ्य विशेषका नाम ही अनुभव है अर्थात् जिसप्रकार बकरीके दूधमें स्वल्परस है गौके दूधमें उससे अधिक सामर्थ्य है अर्थात् उससे अधिक रस है। भैंसके दूधमें गौ के दूधसे भी अधिक सामर्थ्य है इसप्रकार जो सामर्थ्यविशेष है अथवा रस विशेष है उसीको अनुभव कहते हैं। उसीप्रकार ज्ञानावरणादिकर्मोंकी जो विशेष विशेष हीनाधिक रूप फल देनेकी सामर्थ्य है उसीका नाम अनुभव अथवा अनुभाग है जैसे किसीके ज्ञानावरण कर्ममें तीव्ररूपसे ज्ञानको रोकनेकी सामर्थ्य है, किसीके ज्ञानावरण कर्ममें मंदरूपसे ज्ञानको रोकनेकी सामर्थ्य है इसप्रकार तीव्र मंद आदि रूपसे जो कर्मोंमें रसदान अथवा फलदान शक्ति है उसीका नाम अनुभाग है।

हैं वे भवके आश्रयसे ही होते हैं और भवका आश्रय आयुकर्मके अधीन है इसलिये सुख दुःखादिके अनुभवमें आयु निमित्तकारण है इसलिये मोहके पीछे आयुका ग्रहण है।

तदनंतरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायोनामोदयस्य ॥ २३ ॥

अर्थ—उस आयुकर्मके पीछे नामकर्मका उल्लेख है। इसका कारण यह है कि—नामकर्मके उदयको आयुकर्मके उदयकी अपेक्षा है। आयुकर्मका उदय होनेपर ही प्रायःगतिनामकर्म आनुपूर्व्य नामकर्म जातिनामकर्म शरीर नामकर्म आदि नामकर्मोंका उदय होता है इसलिये आयुकर्मके पीछे नामकर्मका विधान है अर्थात् जन्मसे ही नामकर्मका उदय प्रारंभ होता है और जन्म आयुकर्मके उदयसे समझा जाता है इसलिये आयुकर्मका उदय नामकर्मके उदयमें प्रायः निमित्तकारण है। यहां प्रायः पदका यह प्रयोजन समझना चाहिये कि कोई कोई नामकर्म आयुकर्मके उदयके साथ ही उदयमें आते हैं।

ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस पुरुषने शरीर आदि सामग्री प्राप्त करली है उसीके गोत्रकर्मके उदयसे शुभ अथवा अशुभ अर्थात् ऊंच या नीच शब्दका व्यवहार होता है इसलिये नामकर्मके पीछे गोत्र शब्दका पाठ है अर्थात् ऊंच-गोत्र और नीचगोत्र शब्दका व्यवहार शरीरमें ही होता है इसलिये नामकर्मके उदयमें पहले शरीरादि सामग्रीका होना आवश्यक है पीछे गोत्रकर्मका कार्य होता है इसीलिये नामके पीछे गोत्रका पाठ है।

परिशेषादंतेऽतरायवचनं ॥ २५ ॥

अर्थ—और कर्मोंके अविशिष्ट नहीं रहनेसे. एकमात्र यही बाकी रहनेसे अंतमें अंतराय कर्मका वचन है। दूसरी बात यह भी है कि अंतराय कर्म वीर्य शक्तिका घात करता है। वीर्य हरएक पदार्थमें रहता है पदार्थकी निजशक्तिका नामही वीर्य है इसलिये सामान्य शक्तिका घात करनेसे अंतराय कर्मका सबसे अंतमें ग्रहण है और सब कर्मोंके क्रमविधानका प्रयोजन कहनेपर अंतमें यही कर्म बाकी रहा इसलिये

तीव्रता अथवा मंदता होगी तो प्रकृतियोंके प्रदेश भी क्रमसे अधिक अथवा हीनरूपमें गृहीत होंगे अर्थात् योगोंकी तीव्रतामें तीव्र प्रकृति प्रदेश बंधेंगे और योगोंकी मंदतामें प्रकृति प्रदेश थोडे बंधेंगे। इसीप्रकार कषायोंकी तीव्रता होगी तो कर्मोंमें स्थिति और फल देनेकी सामर्थ्य अथवा रस विशेषरूपसे पडेंगे और कषायोंकी मंदता होगी तो कर्मोंमें स्थिति भी थोडी पडेगी और फलदान शक्ति भी कमती पडेगी।

आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ॥ ११ ॥

अर्थ—पहला जो प्रकृतिबंध है वह दो प्रकार हैं—एक मूलप्रकृति और दूसरा उत्तरप्रकृतिरूप। यदि ऐसा है तो वे मूलप्रकृतियां कौनसी हैं? इसीको नीचेके सूत्र द्वारा कहते हैं—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयाऽऽयुर्नामगोत्रांतरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—पहला जो प्रकृतिबंध है वह आठप्रकार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय। ये आठ मूलप्रकृतियां हैं। इन्हीं प्रकृतियोंके उत्तर भेद अनेक हो जाते हैं।

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेन्नोभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि ज्ञानावरण प्रकृतिसे लेकर अंतराय प्रकृति पर्यंत ही प्रकृतिबंध है और नहीं है इसप्रकार ज्ञानावरण आदिके साथ सामानाधिकरण होनेसे आद्य शब्दको बहुवचन होना चाहिये अर्थात् सूत्रमें जो आद्य शब्द है उसका संबंध ज्ञानावरणसे लेकर अंतराय प्रकृतिपर्यंत है। उसका अर्थ यह होता है कि पहला प्रकृतिबंध इन आठ भेदोंमें बँटा हुआ है अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ प्रकृतिरूप पहला बंधभेद है। यहांपर ज्ञानावरणादिका संबंध आद्य शब्दसे है इसलिये जैसे 'अंतरायाः' यह बहुवचन शब्दका प्रयोग है वैसे आद्य शब्द भी बहुवचन रूप होना चाहिये, परंतु सूत्रमें आद्य शब्द एक वचन ही दिया हुआ है सो क्यों? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण दोनों नयोंके विषयभूत धर्मोंकी विवक्षासे एक वचन प्रयोग ही ठीक है अर्थात् द्रव्यार्थिक नयका विषयभूत जो सामान्य धर्म है

द्वितीयग्रहणमिति चेन्न परिशेषात्सिद्धेः ॥ २ ॥

अर्थ—शंका—यहां सूत्रमें द्वितीय शब्दका ग्रहण करना चाहिये, तभी यह अर्थ होगा कि द्वितीय जो उत्तर प्रकृतिबंध है उसके ये भेद हैं, यदि द्वितीय पद नहीं दिया जाय तो ये भेद किसके हैं यह बात कैसे जानी जाय ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—यह बात कि ये उत्तर प्रकृतिके भेद हैं परिशेष अनुमानसे सिद्ध हो जाती है, पहला मूल प्रकृतिबंध कहा जा चुका है, इससे यह बात अपने आप विना कहे ही सिद्ध हो जाती है कि ये भेद उत्तर प्रकृतिबंधके हैं। जो बात फलबलात् अपने आप जानी जा सकती है उसकेलिये किसी पदका सूत्रमें ग्रहण करना व्यर्थ है।

भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो भेद शब्द है वह प्रत्येक संख्याके साथ लगाया जाता है जैसे पंचभेद नवभेद आदि।

यथाक्रमं यथानुपूर्व्यं ॥ ४ ॥

अर्थ—जो यह क्रम है वही यथाक्रम कहलाता है, अर्थात् क्रम जैसा कर्मोंका है वैसा ही पांच आदि संख्यावाची शब्दोंका है, उसी क्रमसे उन्हें ग्रहण करना चाहिये जैसे ज्ञानाबरण कर्म पांच प्रकारका है, दर्शनावरण कर्म नव प्रकारका है आदि। अब यहां प्रश्न होता है कि आद्य जो ज्ञानावरण कर्म है उसके पांच भेद कौनसे हैं ? उसीको नीचेके सूत्रसे कहते हैं—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां ॥ ६ ॥

अर्थ-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इन पांचोंका आवरण होता है इसलिये उसके पांच भेद हो जाते हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

मत्यादीन्युक्तलक्षणानि ॥ १ ॥

अर्थ—मतिज्ञानादिकोंका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है।

वाला स्वयं कर्म ही विवक्षित किया जाता है इसलिये कर्ता साधनरूप अर्थमें यह विवक्षा है दूसरी करण-साधन अर्थकी विवक्षा इसप्रकार है–आव्रियते अनेन इति आवरणं, जिसके द्वारा आवरण किया जाय वह आवरण कहलाता है। यहांपर आवरण शब्दमें करणसाधनरूप अर्थकी विवक्षा है। सूत्रमें जो ज्ञान-दर्शनावरणपदमें आवरण शब्द है वह प्रत्येकके साथ संबंधित किया जाता है जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण। इसप्रकार ज्ञान दर्शन दोनोंके साथ आवरण शब्द लगाया जाता है इसीलिये आवरण कर्म दो हैं। यहां यह शंका होती है कि आवरण शब्दमें 'करणाधिकरणयोरनट्' इस सूत्रसे अनट् प्रत्यय होता है। आङ् उपसर्गपूर्वक वृ धातुसे अनट् प्रत्यय करनेपर आवरण शब्द बनता है। वह अनट् प्रत्यय करण और अधिकरण अर्थमें ही होता है परन्तु यहां कर्ता अर्थमें वह कैसे होगा? उत्तर–बहुलताकी अपेक्षासे कर्तृ अर्थमें भी अनट् प्रत्यय हो जाता है। इसलिये ऊपरकी शंका भी निर्मूल होचुकी। अब वेदनीय आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति बताते हैं–'वेद्यते इति वेदनीयं' जो वेदन किया जाय अर्थात् अनुभव किया जाय वह वेदनीय है, यहां कर्म अर्थमें अनीय प्रत्यय करके वेदनीय शब्द बना है। इसीप्रकार जो वेदन करै वह वेदनीय, यहां कर्ता अर्थमें अनीय् प्रत्यय होता है तथा 'मोहयति मुह्यते अनेन वा मोहनीयं' जो मोहित करे वह मोहनीय यहांपर कर्ता अर्थमें अनीय् प्रत्यय है और जिसके द्वारा मोहित किया जाय वह मोह-नीय है यहां करण अर्थमें अनीय् प्रत्यय है। यहां भी वही शंका होती है कि ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय ये शब्द ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहसे कैसे बन गये? उत्तर–बहुलताकी अपेक्षा कर्ता अर्थमें भी अनीय प्रत्यय हो जानेसे ज्ञानावरणीय आदि शब्द सिद्ध हो जाते हैं। अब आयु नाम आदिकी व्युत्पत्ति और शब्दसिद्धि बताते हैं–इण् धातु गति अर्थमें नियत है। उससे उस् प्रत्यय होनेसे आयुः शब्दकी सिद्धि होती है, जो नरकादि गतियोंमें ले जाय वह आयुः कहलाता है। यहां कर्तृसाधन अर्थ है और नरकादि भवोंमें जिसके द्वारा जाता है यहांपर करण साधन अर्थमें आयुः शब्द सिद्ध हुआ है।

अर्थ—अथवा अंतराय कर्मका स्पष्ट अर्थ करते हैं—जिसके मध्यमें आजानेसे दाता आदिके दान आदि क्रियाओंका अभाव होजाय अथवा दानादि देने आदिकी इच्छा ही उत्पन्न न हो वह अंतराय कहलाता है। आदि शब्दसे भोगनेवाला जिसके मध्यमें रहतेहुये पदार्थोंका भोग उपभोग कर ही न सके अथवा भोगने आदिकी इच्छा ही उत्पन्न न हो वह भोगान्तराय लाभान्तराय आदि लिये जाते हैं।

प्रयोगपरिणामादागच्छदेवाऽविशिष्टं कर्माऽऽवरणादि विशेषैर्विभज्यते अन्नादेर्वातादिविकारवत् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार एकवार भोजनमें खाया हुआ अन्न पानादि भोज्य वस्तु अनेक विकार करनेमें समर्थ वात, पित्त, कफ, तथा खल रस भावरूपसे नाना परिणामोंको प्राप्त होजाता है उसीप्रकार एक ही आत्माके परिणाम द्वारा आये हुये कर्म (कार्माण वर्गणायें) आवरणरूप, अनुभवरूप, मोहापादन-रूप, भवधारणरूप, नानाप्रकार नामकरणरूप, गोत्ररूप और व्यवच्छेदकरण (अंतरकरण) रूप सामर्थ्यको धारण करते हुये अनेकरूपसे आत्मामें सान्निध्य करते हैं अर्थात् जैसे खाये हुये भोजनका खल रस रुधिर वात पित्त कफ आदि विकाररूप नाना परिणाम होजाते हैं उसीप्रकार एक वार आये हुये कार्माण पुद्गल स्कंध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंरूप फल देनेकी सामर्थ्यवाले बनजाते हैं।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेन्नार्थांतरभावात् ॥ ५ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि मोह होने पर हिताहितकी परीक्षाका अभाव होजाता है इसलिये मोहको ज्ञानावरणसे कुछ विशेषता नहीं है अर्थात् हित अहितकी परीक्षाका नहीं होना ही मोह है, और अज्ञान भी यही है, जहां ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है वहां भी हिताहितकी परीक्षाका अभाव होजाता है इसलिये मोह अथवा ज्ञानावरण इन दोनोंमेंसे एक ही कहना उचित है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—दोनोंमें भिन्नता है। वह इसप्रकार है—पदार्थके यथार्थ स्वरूपको जानकर भी मोहकर्मके उदयवश यह ऐसा ही है ऐसी मोहित बुद्धि कर सद्रूप यथार्थपर्यायविशिष्ट पदार्थका श्रद्धान नहीं होता

कहा जाता है अथवा वे असत्स्वरूप हैं तब भी आवरण उनका कहा जाता है ? यदि उन्हें सत्स्वरूप अर्थात् विद्यमान मान करके ही उनका आवरण माना जायगा तो जब उनका स्वरूप विद्यमान ही हो चुका, वे मति आदिक अपना स्वरूप प्राप्त ही करचुके तब फिर उनकी प्रगटता या विद्यमानता होनेसे उनका आवरण किसप्रकार कहा जासकता है ? अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप लाभ करचुका है तो फिर उसका आवरण नहीं कहा जासकता। जो प्रगट है उसका आवरण कहना विरुद्ध है। यदि यह माना जायगा कि वे मतिज्ञानादिक असतरूप हैं—विद्यमान नहीं हैं वैसी दशामें उनका आवरण होता है तो फिर आवरण ही सिद्ध नहीं होता जैसे गधेके सींग नहीं होते वैसे जो मति आदि हैं ही नहीं, उनकी कोई सत्ताही नहीं तो फिर आवरण किसका होगा। इसलिये दोनों रूपमें मति आदिके आवरण सिद्ध नहीं होता है। इस शंकाका उत्तर इसप्रकार है—

न वादेशवचनात ॥ ५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका कीगई है वह ठीक नहीं है कारण—सत् असत् पक्षका दोष एकांत मतोंमें आता है इस अनेकांतस्वरूप जैनधर्ममें वह दोष नहीं आसकता। आगमका ऐसा वचन है कि कथंचित् सत् स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है और कथंचित् असत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है। द्रव्यार्थिक नयसे सत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है, और पर्यायार्थिक नयसे असत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है। यदि एकांतरूपसे सत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका ही आवरण माना जाय तो इन ज्ञानोंको क्षायोपशमिकपना ही नहीं सिद्ध होगा। कारण सत्स्वरूप पर्यायको ही क्षायोपशमिक कहते हैं और सत्रूप पर्याय जब होगी तभी उसका एकांतरूपसे आवरण मान लिया ऐसी अवस्थामें कभी क्षायोपशमिक भाव ज्ञानोंमें नहीं आसकेगा। यदि एकांतरूपसे यही माना जाय कि असत्स्वरूप ज्ञानोंका ही आवरण होता है तो भी उनका क्षायोपशमिक नहीं बनेगा। क्योंकि

रोकनेरूप स्वभाव सामान्य एक होनेपर भी योग विशेषसे आया हुआ कर्मसामर्थ्य भेदसे मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि रूपसे विपरिणाम धारण करता है अर्थात् सामान्यरीतिसे एक ज्ञानावरण प्रकृतिका आस्रव होता है परंतु वही प्रकृति योगविशेषकी सामर्थ्यसे भिन्न भिन्न विभाव परिणामोंसे मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानादिरूप परिणमन करती है।

एतेनेतराणि व्याख्यातानि ॥ ९ ॥

अर्थ–इस कथनसे बाकीके जो मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिरूप भेदवाले दर्शनावरण आदिकर्म हैं वे भी कहे गये समझने चाहिये अर्थात जो बात ज्ञानावरण कर्मके भेदोंकेलिये कहीगई है कि आस्रव सामान्यरूपसे एक प्रकृतिरूप होता है परंतु योग·विशेषकी सामर्थ्यसे उससे प्रकृतिके अनेक भेद होजाते हैं। इसप्रकारका उपक्रम अन्यान्य सभी कार्योंमें समझ लेना चाहिये।

पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् ॥ १० ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि एक ही पुद्गलद्रव्यको आवरण, सुख दुःख आदि विपरिणामों का निमित्तपना नहीं बन सकता, कारण ये सभी धर्म परस्पर विरोधी हैं, इसलिए विरोधी धर्म एकद्रव्यके काय नहीं हो सकते ?

न वा तत्स्वाभाव्यादग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत् ॥ ११ ॥

अर्थ–ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है। कारण वे सब एक पुद्गलके ही स्वभाव हैं इसलिये कुछ विरोध नहीं है जिसप्रकार एकही अग्निमें दाह पैदा करना, पाककरना, प्रताप आताप करना और प्रकाश करना आदि सामर्थ्य देखी जाती है, उसमें कोई विरोध नहीं है उसीप्रकार एक ही पुद्गलको आवरण दुःख सुखादि निमित्तपना भी विरुद्ध नहीं है। उसकी ये सब सामर्थ्य हैं और भी यह बात है–

अनैकांतिकत्वात् ॥ १२ ॥

कहा जाता है अथवा वे असतस्वरूप हैं तब भी आवरण उनका कहा जाता है ? यदि उन्हें सत्स्वरूप अर्थात् विद्यमान मान करके ही उनका आवरण माना जायगा तो जब उनका स्वरूप विद्यमान ही हो चुका, वे मति आदिक अपना स्वरूप प्राप्त ही करचुके तब फिर उनकी प्रगटता या विद्यमानता होनेसे उनका आवरण किसप्रकार कहा जासकता है ? अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप लाभ करचुका है तो फिर उसका आवरण नहीं कहा जासकता। जो प्रगट है उसका आवरण कहना विरुद्ध है। यदि यह माना जायगा कि वे मतिज्ञानादिक असत्रूप हैं–विद्यमान नहीं हैं वैसी दशामें उनका आवरण होता है तो फिर आवरण ही सिद्ध नहीं होता जैसे गधेके सींग नहीं होते वैसे जो मति आदि हैं ही नहीं, उनकी कोई सत्ताही नहीं तो फिर आवरण किसका होगा। इसलिये दोनों रूपमें मति आदिके आवरण सिद्ध नहीं होता है। इस शंकाका उत्तर इसप्रकार है—

न वादेशवचनात ॥ ५ ॥

अर्थ–ऊपर जो शंका कीगई है वह ठीक नहीं है कारण–सत् असत् पक्षका दोष एकांत मतोंमें आता है इस अनेकांतस्वरूप जैनधर्ममें वह दोष नहीं आसकता। आगमका ऐसा वचन है कि कथंचित् सत् स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है और कथंचित् असत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है। द्रव्यार्थिक नयसे सत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है, और पर्यायार्थिक नयसे असत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका आवरण होता है। यदि एकांतरूपसे सत्स्वरूप मतिज्ञानादिकोंका ही आवरण माना जाय तो इन ज्ञानोंको क्षायोपशमिकपना ही नहीं सिद्ध होगा। कारण सत्स्वरूप पर्यायको ही क्षायोपशमिक कहते हैं और सत्रूप पर्याय जब होगी तभी उसका एकांतरूपसे आवरण मान लिया ऐसी अवस्थामें कभी क्षायोपशमिक भाव ज्ञानोंमें नहीं आसकेगा। यदि एकांतरूपसे यही माना जाय कि असत्स्वरूप ज्ञानोंका ही आवरण होता है तो भी उनका क्षायोपशमिक नहीं बनेगा। क्योंकि

इन्द्रियसे भी क्षीर घृतादिका ग्रहण होनेपर उपकार जो होता है वह एक वृद्धिरूप ही होता है इसलिये एक एक इंद्रियसे क्षीरादिका उपयोग होनेपर एक ही वृद्धिरूप उपकार होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं रहा। उत्तर–यहां शंका भी ठीक नहीं है, कारण,–क्षीरादिके उपयोगसे भिन्न भिन्न इन्द्रियोंमें भिन्न भिन्न वृद्धि होती है। हरएक इन्द्रियकी वृद्धि होती है। जिसप्रकार इन्द्रियां भिन्न भिन्न हैं उसप्रकार इन्द्रियोंकी वृद्धियां भी भिन्न भिन्न हैं।

तथैवातुल्यजातीये नाऽनुग्रहसिद्धिः ॥ १५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार भिन्न जातीय (पृथ्वीजातीय) क्षीरसे तेजोजातिवाला जो चक्षुरिन्द्रिय है उसका उपकार होता है, क्षीर पीनेसे चक्षुरिंद्रियमें तेज बढता है उसीप्रकार आत्मा और कर्मको चेतनात्मक और अचेतनात्मक होनेपर भी भिन्न जातीय जो कर्म है वह भिन्न जातीय आत्माका अनुग्रह करता है अर्थात् कर्म जड होनेपर भी चेतन आत्माको फल देता है यह बात नैयायिकोंके इंद्रिय दृष्टांतसे सिद्ध हो जाती है। अब यहां प्रश्न होता है कि कर्मोंकी मूलसंख्या इतने ही भेदरूप है क्या ? उत्तर–नहीं, अर्थात् इतनेही भेदरूप नहीं किंतु और भी है।

एकादिसंख्येयविकल्पश्च शब्दतः ॥ १६ ॥

अर्थ–शब्दसे एकको आदि लेकर संख्यात भेद हैं अर्थात् कर्म एक भी है, दो भी हैं, तीन भी हैं इसीप्रकार बढते बढते संख्यात भी हैं। इतने भेद तो शब्दकी अपेक्षासे हैं अर्थात् उच्चारण करनेकी अपेक्षासे संख्यात भेद हैं तथा अनुच्चारणरूप शब्दशक्तिकी अपेक्षा असंख्यात हैं और अणुस्कंधोंकी अपेक्षा अनंत भेद हैं। उन भेदोंमें एकरूप कर्मबंध सामान्य कर्मबंध है अर्थात् जितनेप्रकार भी कर्मबंध होता है उसप्रकारकी या विशेषकी अपेक्षा नहीं रखकर वह सब कर्मबंध सामान्य रूपसे एक कर्मबंध ही कहलाता है इसलिये सामान्यरूपसे एकही कर्मबंध है। इसमें विशेष कर्मबंधोंकी विवक्षा नहीं कीजाती है।

सान्निध्य (समीपता) से आत्मा प्रत्याख्यानरूप पर्यायसे प्रगट नहीं होता है इसीलिये प्रत्याख्यानावरणको आवरणपना है। इसीप्रकार स्वतंत्र कुटी (कोठरी) के समान आत्मामें स्वतंत्र कोई मति श्रुत आदि भी नहीं है जिनके आवरणसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि आवरण होते हों किंतु मत्यावरण आदि कर्मोंके समीप रहनेसे आत्मा मतिज्ञानादि रूप पर्यायसे प्रगट नहीं होता है इसीलिये मत्यावरण आदिको आवरणपना है अर्थात् आत्माके संयम और मतिज्ञानादि पर्याय कोई आत्मासे भिन्न स्वतंत्र वस्तु नहीं है किंतु आत्माकी ही पर्यायविशेष हैं। जब कर्मावरण रहता है तबतक वे पर्याय आत्माकी प्रगट नहीं होती हैं, कर्मावरण हट जानेपर वे पर्याय प्रगट होजाती हैं। यहां कोई दूसरा शंका करता है—

अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात् ॥ ७ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका है कि मनःपर्ययज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति और केवलज्ञान प्राप्तिकी सामर्थ्य अभव्य आत्माके है या नहीं ? यदि वे दोनों शक्तियां उसके हैं तब तो उसको अभव्यपना नहीं आता है यदि वे दोनों शक्तियां उसके नहीं हैं तो जब मनःपर्यय और केवलज्ञान शक्तिरूप सामर्थ्य ही उसके नहीं है तो फिर उसके मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोंकी कल्पना मानना व्यर्थ है। इसप्रकार पांच ज्ञानावरणोंमें अंतके दो आवरण उसके नहीं सिद्ध होते हैं।

न वोक्तत्वात ॥ ८ ॥

अर्थ—ऊपर जो दोष दिया गया है अथवा जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है, कारण—उसका उत्तर पहिले दिया जा चुका है। पहले यह बात कह दी गई है कि आगमके वचनानुसार अनेकांतदृष्टि रखनेसे सब बातें सिद्ध हो जाती हैं, कोई विरोध नहीं रहता। द्रव्यार्थिकनयसे सत्रूप मनःपर्यय और केवलज्ञानोंमें आवरण हो जाता है और पर्यायार्थिकनयसे असत्स्वरूप भी मनःपर्यय और केवलज्ञानोंमें आवरण होता है। यह बात पहले कह दी गई है। जिसप्रकार प्रत्याख्यानावरण कर्मके संबंधमें कहा

अथवा भुजाकार अल्पतर और अवस्थित इन भेदोंसे भी कर्मबंध तीनप्रकार है। जहां थोडी प्रकृतियोंको बांधकर बहुत प्रकृतियोंको बांधा जाता है वहां तो भुजाकारबंध कहलाता है, और जहां बहुत प्रकृतियोंको बांधकर थोडी प्रकृतियोंको बांधा जाता है वहां अल्पतर बंध कहलाता है, और जहां पहिले जितनी प्रकृतियोंका बंध किया था पीछे भी उतनी ही (समान ही) प्रकृतियोंका बंध किया जाता है वहां अवस्थित बंध कहलाता है। ये भुजाकारादि बंधभेद मोहनीय नाम कर्म आदिकी भंगकूट रचनामें गोम्मटसार कर्मकांडमें विस्तार रीतिसे कहे गये हैं तथा प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभव इन भेदोंसे कर्मबंध चारप्रकार है, इन चारोंका स्वरूप इसी अध्यायके 'प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः' इस सूत्रमें कहा जा चुका है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन निमित्तोंके भेदोंसे वही कर्मबंध पांचप्रकार है। इनका स्वरूप पांच परावर्तनोंमें कहा गया है। जीवोंके निकाय अर्थात् संसारी जीवोंके भेद छहप्रकार हैं इसलिये उन भदोंकी अपेक्षा कर्मबंध भी छहप्रकार कहलाता है। पांच स्थावर और एक त्रस ऐसे जीवोंके छह भेद समझना चाहिए। राग, द्वेष. मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ इन हेतुओंके सात भेदोंसे कर्मबंधके भी सात भेद होजाते हैं तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि प्रकृतियोंके आठ भेदोंकी अपेक्षा कर्मबंधके आठ भेद हैं। इसीप्रकार शब्दोंकी योजनासे कर्मबंधके संख्यातविकल्प हो जाते हैं। तथा 'एकादिसंख्येयविकल्पश्च शब्दतः' इस वार्तिकमें 'च' शब्द है उस च शब्दसे असंख्यातविकल्प और अनंत विकल्प भी कर्मबंधके समझना चाहिये। असंख्यात भेद तो अध्यवसायस्थानोंके भेदसे होजाते हैं अर्थात् कषायाध्यवसायस्थान और योगाध्यवसायस्थान, इन अध्यवसाय स्थानोंके असंख्यात भेद होनेसे उनसे होनेवाले कर्मबंधके भी असंख्यात भेद हो जाते हैं। इन अध्यवसायस्थानोंका विस्तारसे निरूपण गोम्मटसारकी योगमार्गणामें किया गया है वहांसे समझलेना चाहिए। ये अध्यवसाय स्थान आत्माके परिणामविशेष हैं जो योग और कषायोंके भेद स्वरूप हैं। उन्हींसे भिन्न भिन्न प्रकारसे कर्म

ज्ञानावरणादज्ञातिदुःखितः ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानकी सामर्थ्य छिप जाती है, उससमय इस जीवकी स्मरणशक्ति भी जाती रहती है वैसी दशामें धर्मके सुननेमें वह उत्साहरहित हो जाता है क्योंकि उसे अज्ञानतावश कोई बात स्मृत तो रहती नहीं है फिर वह ज्ञानकी मंदता होनेसे अपमान आदि कृत अनेक दुःखोंको भोगता है। ज्ञानावरणकर्मकी उत्तर प्रकृतिके भेद तो कह दिये गये अब दर्शनावरण प्रकृतिके उत्तर भेद कहना चाहिये, सोही नीचेके सूत्र द्वारा बतलाए जाते हैं—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके हैं।

चक्षुरादीनां दर्शनावरणसंबंधात् भेदनिर्देशः ॥ १ ॥

१—निद्रा आदिका स्वरूप गोम्मटसारमें स्पष्ट किया गया है वह इसप्रकार है—

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करोदि जप्पदि य। णिद्दाणिद्दुदयेणय णदिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को ॥ २३ ॥

पयलापयलुदयेणय वहेदि लाला चलंति अंगाहिं। णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेइ ॥ २४ ॥

पयलुदयेणहि जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्ते वि। ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं ॥ २५ ॥

अर्थात् स्त्यानगृद्धिके उदयमें जीव सोता हुआ उठ बैठता है, क्रिया भी कर डालता है बोलता भी है।

निद्रानिद्राकर्मके उदयमें इतना अगाढ़ रीतिसे सोता है कि दृष्टिको उघाड़नेके लिए भी समर्थ नहीं होता है। प्रचलाप्रचला दर्शनावरणकर्मके उदयमें यह जीव इसरीतिसे सोता है कि उसके मुंहसे लार टपकती है और शरीरके अंग-हाथ पैर आदि चलते रहते हैं अर्थात् वह हाथ पैरोंको इधरसे उधर पटकता फिरता है।

निद्राके उदयमें यह जीव जाता जाता अथवा कर्म करता करता जब थक जाता है तब बैठ जाता है फिर लेटकर सो रहता है अर्थात् थकावटको दूर करनेकेलिए साधारण निद्रा लेनेको निद्रा कहते हैं। प्रचलाके उदयमें यह जीव नेत्रोंको कुछ २ खोल रखता है, और ऐसा सोता है कि आसपास कुछ बाते होती हों तो उन्हें कुछ २ सुनता भी जाता है, परंतु निद्राकी झपकीसे मंदरूपसे समझता है।

अर्थ—उन ज्ञान दर्शनके पीछे वेदनाका वचन है। कारण उन दोनोंसे यह वेदना अव्यभिचारिणी है ज्ञान दर्शनसे अव्यभिचारिणी वेदना है इसका प्रयोजन यह है कि सुख दुखकी जो वेदना होती है अनुभवन होता है वह ज्ञान दर्शनरूप चेतनाके अनुकूल परिणामसे ही होता है अर्थात् सुख दुखरूप वेदना ज्ञानसे ही जानी जाती है। घटादि जड पदार्थोंमें इस सुख दुःख वेदनाकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये वेदना भी ज्ञानानुकूल परिणाम है इसलिये उन दोनोंके पीछे वेदनीयकर्मका ग्रहण है।

ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात् ॥ २१ ॥

अर्थ—उनके पीछे मोहका उल्लेख है इसका कारण यह है कि मोह उन तीनोंका विरोधी है। ज्ञान दर्शन सुखदुःखानुभव इन तीनोंसे मोहपरिणाम विरुद्ध है। जो मोहसे आछन्न मूढ होता है वह न तो जानता है न देखता है और न सुख दुःखका ही अनुभव करता है। यहां शंका होती है कि जो मोही—मूढ जीव हैं उनके भी ज्ञान दर्शन सुख दुःखका अनुभव पाया जाता है, यदि मोहका ज्ञानादिकसे विरोध ही हो तो ज्ञान दर्शन सुख दुःखानुभव मिथ्यादृष्टी असंयमी जीवोंके नहीं होना चाहिये परंतु उनके भी देखनेमें आता है इसलिये ज्ञानादिका मोह विरोधी परिणाम कैसे है? उत्तर-यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—कहींपर विरोध है कहीं नहीं भी है, ऐसा एकांत नहीं है कि सर्वत्र ही मोही जीवके हिताहितका ज्ञान नहीं है किंतु मोही जीवके साधारण रीतिसे हिताहितका विवेक आदि नहीं होते हैं उसकी बुद्धि मूर्छित रहती है इसलिये साधारण रीतिसे मोह ज्ञानादिकका विरोधी है इसीलिये उसका वेदनीयके बाद उल्लेख है।

आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबंधनत्वात् ॥ २२ ॥

अर्थ-उस वेदनीय और मोहनीयके पीछे समीपमें ही आयुकर्मका कथन है। इसका कारण यह है कि उनके होनेमें आयु निमित्तकारण है। प्राणियोंके जो सुख दुःख और मोहित परिणाम आदि होते

होती है। इसमें इंद्रियोंका व्यापार तो वंद हो जाता है, किंतु अंतरंगमें कुछ प्रीतिका लेशमात्र इससे उत्पन्न होता है तथा जो पुरुष बैठा हो उसके भी नेत्र तथा शरीरमें क्रिया होती है उसीसे प्रचलाका अनुमान होता है।

पौनःपुन्येन सैवाहिता वृत्तिः प्रचलाप्रचला ॥ ५ ॥

अर्थ-वही प्रचला यदि बार बार आवै जिसमें शरीर चलायमान होता हो, लाला, (लार) वह निकले उसप्रकारकी जो निद्राविशेषरूप क्रिया है उसीको प्रचलाप्रचला कहते हैं।

स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसके सामीप्यमें आत्मामें सामर्थ्यविशेष प्रगट हो जाय तथा सोते सोते रौद्र कार्य करने लगे अथवा बहुत कार्य करने लगे वह स्त्यानगृद्धि कहलाती है अर्थात् जिस पुरुषके स्त्यानगृद्धि कर्मका उदय होता है वह सोता हुआ ही उठकर दौडने लग जाता है, सोते सोते वेहोसीमें कुछ काम भी कर डालता है परंतु जगाकर पूछनेपर कहता है कि मुझे कुछ खवर नहीं, मैंने क्या किया था। जहां इसप्रकारकी वेहोशीपूर्वक निद्रा आती है, जिसमें क्रिया भी होती है वह स्त्यानगृद्धि कहलाती है। स्त्यानगृद्धि शब्दकी सिद्धि किसप्रकार है ? यही बताते हैं—स्त्यान धातुके अनेक अर्थ होनेपर भी यहांपर शयन अर्थ लिया जाता है। गृद्धि धातुका दीप्ति अर्थ है जिस कर्मके उदयमें आत्मा शयन करते हुये सोते हुये भी दीप्तिशाली दीखे अर्थात् सोते सोते अनेक कार्य पराक्रमपूर्वक कर डाले वह स्त्यानगृद्धि कर्म कहलाता है। जिसकर्मके उदयमें आत्मा अनेक रौद्र कार्य कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि कर्म कहलाता है।

नानाधिकरणाभावात् वीप्सानुपपत्तिरिति चेन्न कालादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ॥ ७ ॥

अर्थ-शंका-वीप्सा उसे कहते हैं जहां कि एक ही पदार्थ अनेक वार कहाजाय ऐसा वीप्साप्रयोग उसी स्थानमें होता है जहां अधिकरण भेद होता है अर्थात् वीप्सा नाना अधिकरणको विषय करती है

भी इस अंतराय कर्मका अंतमें पाठ है। अब यह कहते हैं कि मूलप्रकृतिबंधके आठ भेद हैं वे तो कह दिये गये, दूसरा जो उत्तर प्रकृतिबंध है वह कितनेप्रकार है? इसीको बतानेकेलिये नीचेका सूत्र कहते हैं—

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदो यथाक्रमं ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच, ये उन मूल प्रकृतियोंके क्रमसे उत्तर भेद हैं अर्थात् ज्ञानावरण कर्मके पांच भेद, दर्शनावरण कर्मके नव भेद, वेदनीय कर्मके दो भेद, मोहनीय कर्मके अट्ठावीस भेद, आयु कर्मके चार भेद, नाम कर्मके ब्यालीस भेद, गोत्र कर्मके दो भेद और अंतराय कर्मके पांच भेद, इसप्रकार क्रमसे आठों कर्मोंके ये भेद हैं।

पंचादीनां पंचांतानां द्वंद्वपूर्वोन्यपदार्थनिर्देशः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—सूत्रमें पांच संख्यावाचक पद आदिमें है और पांच संख्यावाचक पद ही अंतमें है और मध्यके जो संख्यावाचक पद हैं उन सबोंका द्वंद्व समास किया गया है और पीछे बहुब्रीहि समास अन्य पदार्थ जो ज्ञानावरणादि कर्म उनकी प्रधानतासे किया गया है। उसीको बताते हैं—पांच और नव और दो और अट्ठावीस और चार और ब्यालीस और दो और पांच, ये सब मिलकर पांच नव दो अट्ठावीस चार ब्यालीस दो पांच ऐसे द्वंद्व समास द्वारा संग्रहीत होगये। वे पांच आदि भेद हैं जिसके वह प्रकृतिबंध पांच नव दो अट्ठावीस चार ब्यालीस दो भेदवाला कहलाता है इसप्रकार पहले द्वंद्व समास पीछे अन्यपदार्थबहुब्रीहि समास यहां जानना चाहिये। उसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानावरणके पांच भेद हैं, दर्शनावरणके नौ भेद हैं, वेदनीयके दो भेद हैं, मोहनीयके अट्ठाईस भेद हैं, आयुके चार भेद हैं, नामके वियालीस भेद हैं (इसके उत्तर भेद तिरानवे हैं) गोत्रके दो भेद हैं और अंतरायके पांच भेद हैं।

१—श्लोकवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धिमें 'भेदाः' ऐसा बहुबचन पाठ है। उसका अर्थ है कि ये ज्ञानावरणादि कर्मोंके भेद हैं यहां एकवचन पाठ होनेसे यह अर्थ होगा कि ये उत्तरप्रकृतिबंधके भेद हैं

हैं अर्थात् निद्रादिके निमित्तसे थकावट आदि असुखरूप अवस्था दूर हो जाती है इसलिये निद्रामें साता-वेदनीय कर्मका उदय भी कारण है यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है। सातावेदनीयके उदयसे ही निद्रादिकमें जीवको सुखसा प्रतीत होता है और वहां असाता वेदनीय कर्मका मंदोदय जानना चाहिये।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबंधः ॥ १० ॥

अर्थ—निद्रा और निद्रानिद्रा, और प्रचला और प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन सबोंका द्वन्द समास होकर निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धि ऐसा बहुवचनरूप एक पद बन जाता है। इनका प्रकरणमें आया हुआ जो दर्शनावरण, उसके साथ अभेद संबंध हो जाता है इसलिए निद्रादर्शना-वरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण, आदि रूपसे पांचभेद हो जाते हैं, और चार भेद चक्षुर्दर्शनावरण आदि पहले कहदिये गये हैं ऐसे कुल नव भेद दर्शनावरणके हैं।

निद्रादीनामभेदनाभिसंबंधो विरोध इति चेन्न विवक्षातः संबंधात् ॥ ११ ॥

अर्थ—शंका—दर्शनावरणके साथ चक्षु आदिकोंका तो भेदनिर्देश बताया गया है और उसी दर्शनावरणका निद्रादिकोंके साथ अभेदनिर्देश बताया गया है एकही दर्शनावरणको अपेक्षित कर कहीं भेदनिर्देश मानना और कहीं अभेदनिर्देश मानना विरुद्ध है क्योंकि एक की ही विवक्षामें भेदाभेद दोनों धर्म नहीं घटते ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण विवक्षासे भेदाभेदका संबंध है। भेदविवक्षासे किया हुआ संबंध भेदसंबंध कहलाता है और अभेदविवक्षासे किया हुआ संबंध अभेदसंबंध कहलाता है यह भेदाभेद कल्पना विवक्षाधीन है। एक ही दर्शनावरण कर्म भेदाभेद विवक्षासे भिन्न भिन्न विवक्षित होता है इसलिये कोई विरोध नहीं आता। विरोध तब आ सकता है कि जहां भेदविवक्षा है वहां अभेद मान लिया जाय और अभेदविवक्षा है वहां भेद मानलिया, परन्तु वैसा यहां माना नहीं गया है। चक्षु आदिके साथ भेदविवक्षा ही मानी गई है और निद्रादिकके साथ अभेदविवक्षा ही मानी गई है इस-

जोरसे सोने लगता है। दाण सलाई आदिसे शरीर चुभोनेपर भी अंग प्रत्यंग हिलानेपर भी नहीं देखता है और न सचेत ही होता है। स्त्यानगृद्धिका स्वरूप पहिले ही कहा जा चुका है। अब यहां कोई प्रश्न करता है कि जो तीसरा कर्म है उसकी उत्तरप्रकृतिके कितने भेद हैं इस बातका निर्णय हम नहीं कर सके हैं ? सो उसके भेद बताना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्यमहाराज नीचे सूत्र द्वारा देते हैं—

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ——वेदनीयकर्मके साता और असाता ऐसे दो भेद हैं।

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं ॥ १ ॥

अर्थ——अनेक प्रकारकी जातियोंसे सहित जो देवादि गतियां हैं, उनमें जिस कर्मके उदयसे प्राणियोंकी ग्रहण की गई सामग्रीके संबंधसे शरीरसंबंधी और मनसंबंधी अनेक प्रकारकी सुखरूप अवस्था होती है उसीको सातावेदनीय कर्म कहते हैं अर्थात् सातावेदनीयकर्मके उदयसे जीव उत्तम उत्तम गतियोंमें सांसारिक सुख पाता है। प्रशस्त जो वेदनीय वह सद्वेदनीय कहलाता है अर्थात् प्रशंसनीय भोगोपभोग सामग्रीद्वारा सुख पहुंचानेवाला सातावेदनीय कर्म है।

यत्फलं दुखमनेकविधं तदसद्वेद्यं ॥ २ ॥

अर्थ——नाना प्रकारकी जातियोंसे भरीहुई जो नरकादि गतियां हैं, उनमें शारीरिक दुख अनेक प्रकारका मानसिक दुख और जो नहीं सहा जाय ऐसा जन्मसंबंधी दुख मरणसंबंधी दुख बुढापासंबंधी दुःख इष्टवियोगसंबंधी दुःख अनिष्टसंयोगसंबंधी दुःख व्याधिसंबंधी दुःख वधबंधनादिसंबंधी दुःख आदि नानाप्रकारका दुख प्राणियोंको जिसकर्मका फल है अथवा जिस कर्मके उदयसे मिलता है वह असातावेदनीय कर्म है। जो अप्रशस्तवेदनीय है वह असातावेदनीय है अर्थात् जिसके उदयसे सब दुःखदायक सामग्री मिले अथवा किसीप्रकारकी भी सामग्रीसे दुःख ही मिले वह असातावेदनीय कर्म है। यहां प्रश्न

मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेन्न प्रत्येकमभिसंबंधार्थत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ–शंका–मति आदि ज्ञान पहले कहे जा चुके हैं, उनका यहां आदि शब्द कहनेसे ही ग्रहण हो सकता है इसलिये 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां' इतना बडा सूत्र नहीं कहकर केवल 'मत्यादीनां' इतना पाठ लघुरूपसे कहना चाहिये, वैसा कहनेसे सूत्रका लाघव रहता है। उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है, कारण–प्रत्येकके साथ आवरणका संबंध है इसी बातका बोध करानेकेलिये प्रत्येक पदका पाठ करना आवश्यक समझा गया। जैसे–मतिका आवरण श्रुतका आवरण आदि। यदि यहां भिन्न भिन्न पद नहीं दिया जाता तो समुदायरूपसे यही अर्थ होता कि मति श्रुति आदिका एक आवरण होता है तो पांच आवरणोंका भेदविज्ञान नहीं होता इसलिये पांचों ज्ञानोंका उल्लेख ठीक ही है।

वचनात् पंचसंख्याप्रतीतिरिति चेन्न प्रत्येकं पंचत्वप्रसंगात् ॥ ३ ॥

अर्थ–फिर शंका–ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियां पांच बताई गई हैं, और मति आदि ज्ञान भी पांच पहले अध्यायमें कहे जाचुके हैं इस कथनसे यहां मत्यादीनां, इतना मात्र पाठ रखनेसे दोनोंका संबंध हो जाता और पांच भेद समझे जा सकते थे परंतु यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण–यदि इसीप्रकार पांच ज्ञानोंका और पंच संख्याका संबंध करते तो पंच संख्याका संबंध प्रत्येक ज्ञानके साथ हो जाता। 'मत्यादीनां' इतना मात्र कहनेसे यह अर्थ होता कि मतिज्ञानावरण पांचप्रकार है, श्रुतज्ञानावरण भी पांच प्रकार है, ऐसा अनिष्ट अर्थ हो जाता और जब प्रत्येक पदका ग्रहण किया गया है तो उसका अभीष्ट अर्थ सामर्थ्यसे हो जाता है, अर्थात् मति श्रुत आदिके पांच आवरण हैं ऐसा समीचीन अर्थ घटित हो जाता है। यहांपर कोई दूसरी शंका करता है—

मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभावः ॥ ४ ॥

अर्थ—यहांपर यह विचार करना चाहिये कि मतिज्ञानादिक सत् स्वरूप हैं तब उनका आवरण

उनका यथाक्रम संबंध होता है। यथा—दर्शनमोहनीय तीन प्रकार है, चारित्रमोहनीय दो प्रकार है, अकषायवेदनीय दोप्रकार है और कषायवेदनीय सोलह प्रकार है।

तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानीति ॥ २ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय तीन प्रकार जानना चाहिये। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये उसके तीन भेद हैं, वह दर्शनमोहनीय बंधके प्रति एक प्रकार होनेपर भी सत्कर्मकी अपेक्षासे कर्मकी सत्ता विद्यमान रहनेसे तीन प्रकार हो जाती है अर्थात् दर्शनमोहनीय प्रकृति मूलमें एक ही प्रकार है केवल मिथ्यात्वरूप है। बंध एक मिथ्यात्वका ही होता है। सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां बंधप्रकृतियां नहीं हैं इनका बंध नहीं होता है किंतु जिससमय अनादिमिथ्यादृष्टि आत्मामें प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रगट होता है उससमय उन विशुद्ध भावोंसे उपशम-रूपसे आत्मामें बैठे हुये मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकडे होजाते हैं, एक मिथ्यात्वरूप टुकडा दूसरा सम्यङ्मिथ्यात्वरूप टुकडा तीसरा सम्यक्त्वरूप टुकडा; इन तीनों टुकडोंमें मिथ्यात्व टुकडा ऐसा है जिसप्रकार चंकी आदि यंत्रसे धान्यको दलनेपर भूसी छोटी छोटी कणी और बीचकी मिगी इन तीन हिस्सोंमें प्रधान हिस्सा मिगी रूप होता है और जिस प्रकार उससे हीन परंतु भूसीसे उत्तम हिस्सा छोटी छोटी कणीका होता है उसीप्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति समझनी चाहिये और जिसप्रकार भूसी निःसार होती है वैसा ही हिस्सा सम्यक्त्वप्रकृतिरूप होता है। इसप्रकार ये तीन हिस्से एक मिथ्यात्वप्रकृतिके होजाते हैं। फिर ये तीनों प्रकृतियां समयानुसार उदयमें आकर

१—जंत्ते ण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण। मिच्छत्तं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड

अर्थात् जिसप्रकार यंत्रमें कोदा धान्यके पीसनेपर छिलका, चूर्ण और बीचकी गिरी ऐसे तीनभाग उसके हो जाते हैं, उसीप्रकार प्रथमोपशमसम्यक्त्व-रूपी यंत्रके द्वारा सत्तामें बैठा हुआ मिथ्यात्व द्रव्य भी असंख्यात गुणहीन द्रव्यक्रमसे तीन प्रकार होजाता है। वे तीन भेद सम्यक्त्वप्रकृति सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति रूप असंख्यात गुण हीन रसभाग शक्तिको लिए हुये हो जाते हैं। मिथ्यात्व गिरीके स्थानापन्न भेद है उसमें सबसे अधिक रसभाग है।

जो ज्ञान सत्स्वरूप ही नहीं है अर्थात् जो अपनी सत्ता ही नहीं रखते हैं उनका क्षायोपशमिक कैसा ? क्षयोपशम तो उसीका होता है जो कोई भावरूप गुण हो तथा आवरणका एकदेश अभाव ही क्षयोपशम कहलाता है और आवरण सत्पदार्थके ही होता है, जैसे आकाश सत्स्वरूप वस्तु है तभी उसके मेघपटलादिक आवरण देखा जाता है उसीप्रकार सत्स्वरूप जो मत्यादिक हैं उन्हींके आवरण होता है । इस अवस्थामें कोई विशेष नहीं रहा । दोनों विवक्षाओंका खुलासा इसप्रकार है—मति श्रुत आदि पांचो ही ज्ञान एक चेतना गुणकी पर्याय विशेष हैं इसलिये जब जो पर्याय उत्पन्न होती है उसके साथ ज्ञेयको विषय करनेकी शक्ति रखनेवाला ज्ञायकस्वरूप चेतना गुण सदैव रहता है अर्थात् जितनी भी पर्याय ज्ञानकी होंगी चेतना गुण उन सबोंका सहवर्ती रहेगा इसलिये किसी भी ज्ञान पर्यायका नाश होजाय और किसी भी ज्ञान पर्यायका उत्पाद होजाय परंतु चेतना गुण उन सबोंमें सदैव रहता है क्योंकि आश्रयीगुणको छोडकर कोई पर्याय स्वतंत्र नहीं होसकती इसलिये द्रव्यार्थिक नयसे मति आदि सभी सत् रूप हैं क्योंकि चेतनाकी सत्ताका आत्मासे कभी नाश नहीं होता है और एक चेतना गुणके सर्वत्र रहते हुये भी जो भिन्न भिन्न पर्याय होती हैं वे सभी जुदी ज्ञानपर्याय हैं इसलिये द्रव्यदृष्टिको गौण कर और पर्यायदृष्टिको मुख्य रखकर विचार करनेसे जिस पर्यायपर कर्मोंका आवरण आगया है उसकी अविद्यमानता रहेगी इसलिये पर्यायदृष्टिसे मति आदि असत्स्वरूप भी हैं परंतु एकांतरूपसे न तो सतोंका आवरण कहा जासकता है और न असतोंका आवरण सिद्ध ही होता है इसलिये ऊपर जो दोष दिया गया था वह वादीके मतमें ही आसकता है, अनेकांतात्मक जैनधर्ममें नहीं आसकता ।

अर्थांतरभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत् ॥ ६ ॥

अर्थ--जिसप्रकार कुटीरूप बनाया हुआ स्वतंत्र घर होता है, उसप्रकार आत्मामें कोई प्रत्याख्यान नामकी स्वतंत्र पर्याय नहीं है जिसके आवरणसे प्रत्याख्यानावरणपना आता हो किंतु प्रत्याख्यानावरणकर्मके

उसकी आधी मदशक्ति नष्ट हो जाय, तो वह कोदों धान्य आधा मदशक्तिवाला और आधा मदशक्तिसे रहित ऐसा क्षीणाक्षीणवृत्तिवाला हो जाता है, उसीप्रकार आधा मिथ्यात्वभाव निकल चुका हो और आधा मिथ्यात्वरूप परिणाम उपस्थित हो, इसप्रकार मिश्रभाव सम्यगमिथ्यात्व प्रकृति कहलाती है। इसी सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें जीवके परिणाम वैसेही मिश्रपरिणाम हो जाते हैं जैसे कि अर्धशुद्ध कोदोंका भात खानेवालेके परिणाम अर्धमदशक्तियुक्त हो जाते हैं।

चारित्रमोहनीयं द्वेधाऽकषायकषायभेदात् ॥ ३ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय प्रकृति दोप्रकार है—एक अकषायरूप दूसरी कषायरूप। यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि अकषाय कहनेसे कषायपनेका अभाव आवेगा तो उसका उत्तर यह है कि यहां अकषायमें जो नञ् समास है वह ईषत् अर्थमें है अर्थात् कषायका सर्वथा निषेधरूप अर्थ यहां नहीं है किंतु किंचित् (कमती) कषायको अकषाय कहा गया है। जैसे—कोई कहै कि यह भेड अलोमिका कहिये बाल-रहित है। तो यहां उसके सर्वथा वाल नहीं है ऐसा अर्थ नहीं है अर्थात् कछवाके समान उसके वालोंका सर्वथा अभाव नहीं है किन्तु अभी कतरने लायक वाल नहीं है इसीलिये अलोमिका कहागया है उसी-प्रकार यहांपर भी कषायका सर्वथा अभाव नहीं लेना चाहिये। हास्यादिक अकषाय हैं, इसका अर्थ यही है कि वे कुछ न्यून कषायरूप हैं। इन हास्यादिकोंके सर्वथा कषायरहितपना नहीं है किन्तु दूसरेकी प्रेरणासे कुत्ताके समान प्रवृत्ति होनेसे ईषत् कषायका निषेध है। जैसे कुत्ता स्वामीके वलको पाकर दूसरे

१—दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं, एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वा।
सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण, णय सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो।

अर्थात् जिसप्रकार मिले हुए दही गुड अलग नहीं किये जा सकते उसीप्रकार सम्यङ्मिथ्यात्वका मिला हुआ परिणाम सम्यङ्मिथ्यात्व भाव कहलाता है यह सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति भी जात्यंतर सर्वघाति है अर्थात् उससे सम्यग्दर्शनका सर्वथा घात हो जाता है और आत्माके मिथ्यात्वसे भिन्न वैभाविक अवस्था हो जाती है।

जो ज्ञान सत्स्वरूप ही नहीं है अर्थात् जो अपनी सत्ता ही नहीं रखते हैं उनका क्षायोपशमिक कैसा ? क्षयोपशम तो उसीका होता है जो कोई भावरूप गुण हो तथा आवरणका एकदेश अभाव ही क्षयोपशम कहलाता है और आवरण सत्पदार्थके ही होता है, जैसे आकाश सत्स्वरूप वस्तु है तभी उसके मेघपटलादिक आवरण देखा जाता है उसीप्रकार सत्स्वरूप जो मत्यादिक हैं उन्हींके आवरण होता है। इस अवस्थामें कोई विशेष नहीं रहा। दोनों विवक्षाओंका खुलासा इसप्रकार है—मति श्रुत आदि पांचो ही ज्ञान एक चेतना गुणकी पर्याय विशेष हैं इसलिये जब जो पर्याय उत्पन्न होती है उसके साथ ज्ञेयको विषय करनेकी शक्ति रखनेवाला ज्ञायकस्वरूप चेतना गुण सदैव रहता है अर्थात् जितनी भी पर्याय ज्ञानकी होंगी चेतना गुण उन सबोंका सहवर्ती रहेगा इसलिये किसी भी ज्ञान पर्यायका नाश होजाय और किसी भी ज्ञान पर्यायका उत्पाद होजाय परंतु चेतना गुण उन सबोंमें सदैव रहता है क्योंकि आश्रयीगुणको छोडकर कोई पर्याय स्वतंत्र नहीं होसकती इसलिये द्रव्यार्थिक नयसे मति आदि सभी सत् रूप हैं क्योंकि चेतनाकी सत्ताका आत्मासे कभी नाश नहीं होता है और एक चेतना गुणके सर्वत्र रहते हुये भी जो भिन्न भिन्न पर्याय होती हैं वे सभी जुदी ज्ञानपर्याय हैं इसलिये द्रव्यदृष्टिको गौण कर और पर्यायदृष्टिको मुख्य रखकर विचार करनेसे जिस पर्यायपर कर्मोंका आवरण आगया है उसकी अविद्यमानता रहेगी इसलिये पर्यायदृष्टिसे मति आदि असत्स्वरूप भी हैं परंतु एकांतरूपसे न तो सतोंका आवरण कहा जासकता है और न असतोंका आवरण सिद्ध ही होता है इसलिये ऊपर जो दोष दिया गया था वह वादीके मतमें ही आसकता है, अनेकांतात्मक जैनधर्ममें नहीं आसकता।

अर्थांतरभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कुटीरूप बनाया हुआ स्वतंत्र घर होता है, उसप्रकार आत्मामें कोई प्रत्याख्यान नामकी स्वतंत्र पर्याय नहीं है जिसके आवरणसे प्रत्याख्यानावरणपना आता हो किंतु प्रत्याख्यानावरणकर्मके

स्त्रीसंबंधी भावोंको यह जीव प्राप्त होता है वह स्त्री वेदभाव है। जैसे—कोमलता दिखाना, बातको छिपा-जाना अर्थात् मायाचारीवृत्ति रखना, बलहीनताका रहना, कामसेवनकी तीव्रता रहना, नेत्रोंको चलाना उन्हें संकोचना संकेत करना, पुरुषके साथ रति करनेमें सुख मानना, इसप्रकारके भावोंका होना स्त्रीवेद-नोकषाय है। इस स्त्रीवेदभावका परिणाम द्रव्य स्त्रीमें तो होता ही है परन्तु उस द्रव्य स्त्रीपर्यायसे भिन्न जो द्रव्य पुरुषवेद और द्रव्य नपुंसकवेदवाले जीव हैं उनके भी संभव है अर्थात् द्रव्यस्त्रीके भावस्त्रीवेद रूप परिणाम जैसे होता है वैसे वह भावस्त्रीवेदरूप परिणाम किसी किसी द्रव्य पुंवेदी मनुष्य तिर्यंच और द्रव्यनपुंसकवेदी मनुष्य तिर्यंचके भी हो सकता है। इसीप्रकार भावपुंवेद और भावनपुंसकवेद भी जैसे द्रव्यपुंवेदी और द्रव्यनपुंसकवेदी मनुष्य तिर्यंचोंके होते हैं वैसे वे द्रव्य स्त्रीवेदीके भी हो सकते हैं, इसी-प्रकार भावपुंवेद द्रव्यनपुंसकवेदी और द्रव्यस्त्रीवेदीके भी हो सकता है और भावनपुंसकवेद द्रव्यपुंवेदी अथवा द्रव्यस्त्रीवेदीके भी हो सकता है। इसप्रकार समता और विषमता दोनोंही पाई जातीं हैं, परन्तु इतना विशेष है कि देवोंमें और भोगभूमियोंमें जैसा द्रव्यवेद होता है उसीप्रकार भाववेद होता है। वहां विषमता नहीं है। नारकियोंके तो केवल नपुंसकवेद ही होता है। यहां शंका होती है कि लोकमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि स्त्रीवेदका चिन्ह योनि है, कोमल स्तन आदि हैं फिर पुंवेदका और नपुंसकवेदवालोंके स्त्रीवेद किसप्रकार हो सकता है? उत्तर—यह बात नहीं है, जो योनि कोमलस्तन आदि चिन्ह हैं वे नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले शरीर चिन्ह हैं, परंतु यहांपर कषायोदयजनित भावोंका विवेचन है, स्त्रीके जो जो रागरूप परिणाम होते हैं वे स्त्रीसंबंधी रागादिभाव द्रव्य पुरुषोंके और द्रव्य नपुंसकोंके भी हो सकते हैं, कारण कि वे कषायजनित भाव स्त्री पुरुषोंके समान भी हो सकते हैं और नामकर्मके उदयसे जो शरीर रचना होती है, वह द्रव्यस्त्री द्रव्यपुरुष आदिकी भिन्न भिन्न शरीरचिन्ह-वाली होती है परंतु कषायभाव भिन्न भी होते हैं और एक सरीखे भी हो सकते हैं इसलिये स्त्रीवेदरूप

गया है कि आत्मासे भिन्न प्रत्याख्यान नामकी शक्ति कोई जुदी वस्तु नहीं है किन्तु प्रत्याख्यानावरण कर्मके हटनेसे आत्मा स्वयं प्रत्याख्यान पर्यायरूप अवस्था धारण करता है उसीप्रकार यहां भी समझना चाहिये अर्थात् मनःपर्यय और केवलज्ञान आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है, किंतु मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोंके हटनेपर आत्मा स्वयं मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप पर्यायोंसे संपन्न हो जाता है इसलिये मनःपर्यय और केवल आत्मासे जुदे गुण नहीं हैं। इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे अभव्य आत्मामें भी मनःपर्यय और केवलज्ञान शक्ति माननेमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि चेतना गुणका परिणमन उसके भी सदैव रहता ही है। परंतु मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्म उसके कभी नहीं हटते हैं। इसलिये अभव्यके वे पर्यायें प्रगट नहीं हो पातीं। फिर यहां शंका होती है कि यदि द्रव्यार्थिक नयसे अभव्यके भी अंतके दोनों ज्ञानोंका सद्भाव है तो अभव्यको भी भव्यपना आगया फिर भव्य और अभव्यमें भेद ही क्या रहेगा? उत्तर—यह बात नहीं है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी शक्तियोंके सद्भाव और असद्भावसे भव्यपना और अभव्यपना नहीं माना जाता है किन्तु—

सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जिस पाषाणमेंसे सोना अलग निकल सकता है उसी पाषाणको स्वर्णपाषाण कहते हैं और जिस पाषाणमें सोना मिला हुआ भी है परंतु उससे वह कभी भी अलग नहीं निकाला जासकता उस पाषाणको अंधपाषाण कहते हैं उसीप्रकार जिस आत्मामें सम्यग्दर्शनादिपर्याय प्रगट हो सकेगी वही आत्मा भव्य कहलाता है और जिसमें वे सम्यग्दर्शनादिभाव शक्तिरूपसे होनेपर भी कभी प्रगट नहीं हो सकेंगे वह आत्मा अभव्य कहलाता है। दूसरी बात यह है कि अभव्य आत्मामें अभव्यत्वनामा गुण है और भव्य आत्मामें भव्यत्व नामा गुण है, इसलिये उन गुणोंके कारण अभव्य कभी भव्य नहीं होसकता और भव्य कभी अभव्य नहीं हो सकता है कारण गुणोंका जैसे कभी नाश नहीं होसकता है वैसे उनका फेरफार भी कभी नहीं हो सकता है।

ठहरे वह पृथिवीकी रेखा समान है। तीसरा क्रोध परिणाम बालुकारेखाके समान है जैसे बालूमें कीगई रेखा कुछ ही कालमें तुरंत ही मिटजाती है, और चौथा क्रोध परिणाम जलरेखाके समान है जैसे जलमें कीगई रेखा मालूम भी नहीं पडती, उसीप्रकार कोई क्रोध परिणाम इतना मंद होता है कि क्रोध हुआ या नहीं सो कुछ मालूम भी नहीं होता और उसी क्षणमें नष्ट होजाता है। इसप्रकार एक ही क्रोधपरिणाम तीव्र तीव्रतर मंद मंदतर भेदोंसे चार प्रकारका है। अब मान कषायके भेद कहते हैं-जाति कुल विद्यावल आदिकी उत्तमता होनेसे दूसरेके प्रति विनयभावका नहीं होना मान कहलाता है। वह मान शैलस्तंभ अस्थि दारु और लता इन भेदोंके समान चार प्रकार है। जिसप्रकार पत्थरका खंभा सीधा रहता है, कभी नवता नहीं है उसीप्रकार जो मानकषाय परिणाम सदा उद्धतरूप ही बना रहै कभी भी नहीं नमै वह तीव्रतर मान कषाय है। दूसरा भेद हड्डीके समान समझना चाहिये, हड्डी भी बहुत कडी रहती है। तीसरा भेद काष्ठके समान है, काष्ठ नवानेसे नव भी जाता है और चौथा भेद लताके समान होता है जैसे लता वल्ली बहुत नम्र रहती है वह कभी उद्धत नहीं होती, उसीप्रकार जो मान परिणाम अति मंद होता है वह लताके समान है। माया कषायके भेद इसप्रकार हैं–दूसरोंको ठगनेरूप जो कुटिलताकी बहुलता लिये हुये मायाचार परिणाम है वही माया कषाय कहलाती है। उसके भी प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचित–मूल, मषशृग, गोमूत्रिकाके समान तथा खुरपीके समान चारभेद हैं। जिसमें पास ही पास वांसका पर्व (गांठ) हो उस पास पास गांठसहित वेणुके समान जो माया होती है वह अतीव तीव्रतर होती है। वेणुमें गांठें मुडाव, कई रहते हैं उसीप्रकार जिस मायाचारमें बहुत गांठ हो अत्यंत गहरापन चकरदार हो अपने भावोंका कभी पता ही न लगने देवे वह सबसे प्रवल मायाचार है। दूसरा उसका भेद मेढाके सींगके समान है, मेढाके सींगमें कई मोडे रहते हैं, परंतु वेणुके समान चकरदार गहरापन नहीं होता। तीसरा भेद गोमूत्रके समान है, जैसे चलते चलते गौका मूत्र टेढा वक्र गिरता है परंतु थोडा वक्र रहता है।

अर्थ—चक्षु और अचक्षु और अवधि और केवल इसप्रकार इन चारोंका द्वन्द्वसमास करनेसे चक्षुरचक्षुरवधिकेवल यह समस्त पद बना लिया जाता है, उन चक्षु अचक्षु अवधि और केवलके जो दर्शनावरण वे चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, और केवलदर्शनावरण, इसप्रकार दर्शनावरणका चक्षु आदि चारोंके साथ संबंध होनेसे चार भेद समझना चाहिये।

मदखेदक्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा ॥ २ ॥

अर्थ—मद खेद और परिश्रमके दूर करनेके लिए जो शयन करना है वही निद्रा कहलाती है अर्थात् सामान्य रीतिसे दिनभर परिश्रम करके जो थकावटको दूर करनेकेलिये सोते हैं वही सोना (शयन करना) निद्रा कहलाती है। यह निद्रा शब्द किसप्रकार बनता है उसीको बतलाते हैं—'द्रा' धातु कुत्सित क्रिया अर्थमें नियत है उससे 'नि' उपसर्गपूर्वक 'आङ्' प्रत्यय करनेपर निद्रा शब्द सिद्ध होता है। जिसके समीपमें रहनेसे आत्मा निद्रित हो जाता है—ज्ञानादि परिणामोंसे उपयोगरहित हीन अवस्थारूप परिणाम धारण करता है इसलिए उसे निद्रा कहते हैं अथवा शयन क्रियारूप अर्थमें वर्तमान 'द्रा' धातुसे निद्रा शब्द बनता है।

उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा ॥ ३ ॥

अर्थ—उस निद्राकी ऊपर ऊपर अर्थात् फिर फिर जो वृत्ति है वह निद्रानिद्रा कहलाती है अर्थात् निद्रा सामान्य शयनको कहते हैं और जो प्रगाढ रूपसे आती है आंख खुलजानेपर फिर मिच जाती है उसे निद्रानिद्रा कहते हैं। बारबार जिसमें नींद आती है उसे निद्रानिद्रा कहते हैं।

प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला ॥ ४ ॥

अर्थ—जो क्रिया आत्माको प्रचलित करै उसे प्रचला कहते हैं, पचादिलक्षणमें अच् प्रत्यय होनेसे चल धातुसे प्र उपसर्गपूर्वक प्रचला शब्द बनता है। वह प्रचला शोक मद और विशेष परिश्रमसे उत्पन्न

ढकनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ कहलाते हैं। संज्वलनमें जो 'सम' शब्द है वह एकीभाव अर्थमें नियत है। जो संयमके साथ इकट्ठे होकर जलने लगें अथवा जिनका उदय रहने पर संयम जलता रहे वे संज्वलन क्रोध मान माया लोभ कहलाते हैं अर्थात् संयमसे यहां यथाख्यात चारित्रसे प्रयोजन है, संज्वलन कषायके उदयमें यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। जो यथाख्यात चारित्रको जला देता है वह संज्वलन कषाय कहलाता है। केवल संज्वलन कषायका उदय छठे गुणस्थानसे लेकर दशवें गुणस्थानतक रहता है, इसलिये वहांतक यथाख्यात चारित्र भी नहीं हो पाता, वह ग्यारहवेंसे प्रारंभ होता है। इसप्रकार ये सब मिलकर सोलह कषाय होते हैं। अब कहते हैं कि अट्ठाईस उत्तरप्रकृतिरूप भेदवाले मोहनीय कर्मका तो वर्णन हो चुका, इसके पीछे चार प्रकार जो आयुकर्म है उसके कोनसे नामवाले भेद हैं वे ही नीचेके सूत्रद्वारा वताये जाते हैं—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ऐसे आयुकर्मके चार भेद हैं।

नारकादिषु भवसंबंधेनायुर्व्यपदेशः ॥ १ ॥

अर्थ—नरकादिकोंमें भवोंके संवंधसे आयुका कथन है अर्थात् नरकादि गतियोंमें पर्याय धारण करनेके संवंधसे आयु नाम चरितार्थ होता है। नरकोंमें होनेवाला जो आयु वह नारक आयु कहलाता है, तिर्यंच योनिमें होनेवाला आयु तैर्यग्योन कहलाता है। मनुष्योंमें होनेवाला आयु मानुष कहलाता है और देवोंमें होनेवाला आयु दैव कहलाता है।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः ॥ २ ॥

अर्थ—जिसके सद्भावसे जीवन वना रहै और जिसके नहीं रहनेसे जीवका मरण कहलावे वह पर्याय धारण करनेवाला आयुःकर्म कहलाता है।

परंतु यहांपर तो नाना अधिकरणपना नहीं है। निद्रानिद्रा आदि सभी भेदोंका एक आत्मा ही अधिकरण है इसलिये वीप्साका अभाव होनेसे द्वित्व नहीं होगा और दोबार प्रयोग नहीं होनेसे निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला ऐसा कथन नहीं सिद्ध होगा? उत्तर - यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—कालादिकी अपेक्षा भेद होनेसे उस एक अधिकरणमें भी भेद सिद्ध होजाता है एक ही वस्तुका कालकृत गुणभेदसे भेद दीखता है, जैसे—किसी समझदार पुरुषसे कहा जाता है कि आप चतुर हैं, यह वर्तमान प्रयोग है फिर कहा जाता है कि वह चतुर था यह भूतकाल प्रयोग है फिर कहा जाता है वह विशेष चतुर बनेगा यह भविष्य त् प्रयोग है। यहांपर एक ही पुरुषमें कालके भेदसे ज्ञान गुणकृत भेद होगया। इसी प्रकार देशकृत भेद भी देखा जाता है जैसे—एक ही पुरुष मथुरामें देखा गया फिर वही पटनामें देखनेमें आया जो पहले दूसरे क्षेत्रमें देखा था वही यदि दूसरे क्षेत्रमें देखा जाय तो यह कहा जाता है कि तू तो दूसरा ही बनगया अर्थात् तू औरसे और बन गया। तो देशभेदसे एक ही पुरुषमें भेद देखा जाता है। उसीप्रकार यहां भी कालादिके भेदसे एक अधिकरणमें भी नानापना होनेसे वीप्साका प्रयोग होजाता है।

आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा आभीक्ष्ण्यकी विवक्षामें यहां निद्रानिद्रा आदिमें दोबार प्रयोग किया गया है। बार बार वृत्ति करनेको आभीक्ष्ण्य कहते हैं उसीकी विवक्षामें दोबार प्रयोग हो जाता है। जैसे घर घर प्रवेश करता रहता है। यहां प्रवेश कर्मके आभीक्ष्ण्य अर्थमें दोबार प्रयोग है। उसीप्रकार यहां भी निद्राके आभीक्ष्ण्य अर्थमें निद्रानिद्रा आदिमें दोबार प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः ॥ ९ ॥

अर्थ—निद्रा तथा निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका उदय होनेसे और सातावेदनीय कर्मका उदय होनेसे निद्रा तथा निद्रानिद्रा रूप अवस्था होती है। निद्रादिकके आनेसे शोक खेद परिश्रम आदि दूर होतेहुए दीखते

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः ॥ ७ ॥

अर्थ—शरीरसंबंधी और मनसंबंधी सुख दुःखोंसे विशिष्ट मनुष्योंमें जिस कर्मके उदयसे जन्म होता है वह मनुष्यायु कर्म कहलाता है।

शरीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः ॥ ८ ॥

अर्थ—शारीरिक और मानसिक सुखोंसे प्रायः आनंदयुक्त रहनेवाले देवोंमें जिस कर्मके उदयसे जन्म होता है वह देवायु कर्म जानना चाहिये। यहांपर देवोंको प्रायः सुखसे सहित बतलाया है, प्रायःका अर्थ होता है कि बहुभाग सुखी हैं कुछ अंशोंमें कभी दुःखी भी हो जाते हैं इसी बातको दिखलाते हैं—कदाचित् अपनी प्रियाके वियोगसे, कभी बडी ऋद्धिवाले देवोंकी संपत्तिके देखनेसे और मरणकाल निकट आनेसे (छह महीने जीवनमें अवशिष्ट रहनेसे) उसके सूचक चिह्न—आज्ञाकी हानि होना, माला और भूषणोंका म्लान होना—उनका मुरझा जाना आदि देखनेसे देवोंको भी[1] मानसिक दुःख होता है इसी बातके दिखानेके लिये यहां प्रायः पद दिया गया है। अब कहते हैं कि चार प्रकार आयुका कथन तो हो चुका उसके पीछे जो नामकर्मका उल्लेख किया गया है उसकी उत्तर प्रकृतियोंके कौनसे नाम हैं? इसीको नीचेके सूत्र द्वारा प्रगट करते हैं—

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्या-
गुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसु-
स्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ—गति, जाति, शरीर, आंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरु लघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर,

१—इसप्रकारका दुःख सम्यग्दृष्टि देवोंको नहीं होता है किंतु मिथ्यादृष्टियोंको ही होता है।

लिए विवक्षित संबंधियोंके भेदसे एक ही दर्शनावरण कर्मकी अपेक्षासे किया गया भेदाभेदसंबंध विरुद्ध नहीं है। अब यह बताते हैं कि चक्षुर्दर्शनावरण आदिके उदयसे आत्मा किस अवस्थावाला बन जाता है ?

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादींद्रियालोचनविकलः ॥ १२ ॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शनावरण और अचक्षुर्दर्शनावरण कर्मके उदयसे आत्मा चक्षु आदि इंद्रियों द्वारा देखनेमें असमर्थ हो जाता है अर्थात् दर्शनशक्तिसे रहित हो जाता है। यह दर्शनशक्तिकी विकलता एकेंद्रिय और विकलत्रय जीवोंके तो स्वभावसिद्ध है क्योंकि उन जीवोंके इंद्रियां ही कमती हैं परंतु पंचेंद्रियपना मिलनेपर भी इंद्रियोंसे देखनेकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है इसलिए चक्षुरादिदर्शनावरण कर्मके उदयसे दर्शन शक्तिकी विकलता हो जाती है यह बात सिद्ध हो चुकी।

अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्तः ॥ १३ ॥

अर्थ-अवधिदर्शनावरणके उदयसे आत्मा अवधिदर्शनसे रहित हो जाता है।

केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शनः ॥ १४ ॥

अर्थ—केवलदर्शनावरण कर्मके उदयसे केवलदर्शन प्रगट नहीं होता है, जिस जीवके इस कर्मका उदय रहता है वह संसारमें ही रहता है अर्थात् विना केवलदर्शन प्राप्त किये जीव मुक्त नहीं होता।

निद्रानिद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था ॥ १५ ॥

अर्थ—निद्रा कर्मके उदयसे अंधकाररूप अवस्था हो जाती है, और निद्रानिद्रा कर्मके उदयसे महातमरूप अवस्था हो जाती है।

प्रचलाप्रचलाप्रचलोदयात् चलनातिचलनभावः ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रचला कर्मके उदयसे बैठा हुआ ही घूमने लगता है, नेत्र और शरीर चलायमान होने लगते हैं और देखता हुआ भी नहीं देखता है। तथा प्रचलाप्रचला कर्मके उदयसे बैठा बैठा ही बहुत

देवगति। जिस कर्मके निमित्तसे अथवा उदयसे आत्माका नारकभाव हो, नरक पर्याय हो वह नरक गति नामकर्म है। इसीप्रकार वाकी तीन गतियोंमें अपनी अपनी गतिके अनुकूल अर्थ घटित कर लेना चाहिये।

तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः ॥ २ ॥

अर्थ—उन नरकादि गतियोंमें अव्यभिचारी सादृश्यसे जो समान अर्थ स्वरूप है वही जाति कहलाती है, अर्थात् सदृशरूपसे एकत्व प्रतीत करानेवाली जाति कहलाती है। वह सदृशता एक दूसरेसे विरुद्ध नहीं होती, किंतु बिना किसी व्यभिचारके (बिना अनैकांतिक दोषके) एक जातिगत सदृशता बिल्कुल समान अर्थकी द्योतक होती है। उस जातिका निमित्तभूत जो कर्म है वह जातिनामकर्म है उसके पांच भेद हैं—एकेंद्रियजाति नामकर्म, द्वींद्रियजाति नामकर्म, त्रींद्रियजातिनामकर्म, चतुरिंद्रिय जातिनामकर्म, पंचेंद्रियजाति नामकर्म। जिस कर्मके उदयसे आत्मा एकेंद्रिय जातिवाला कहलाता है वह एकेंद्रियजाति नामकर्म है इसीप्रकार द्वींद्रिय त्रींद्रिय आदिकी व्यवस्था है।

यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिः तच्छरीरनाम ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे आत्माके साथ संबंध रखनेवाले शरीरकी रचना हो वह शरीर नामकर्म कहलाता है। वह पांचप्रकारका है—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियिकशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कार्मणशरीरनाम। इन पांचो शरीरोंका विशेष लक्षण द्वितीय अध्यायमें कहा जाचुका है।

यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगनाम ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे शिर, पीठ, जंघा, भुजा, उदर, नलक, (शरीरकी लम्बी हड्डीकी बली) हाथ पैर, इन आठ अंगोंकी तथा उन अंगोंके भेद स्वरूप जो मस्तक नासिका उंगली आदि उपांगोंकी रचना होती है वह अंगोपांग नामकर्म है। वह तीन प्रकार है—औदारिकशरीर अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर अंगोपांग, आहारकशरीर अंगोपांग नामकर्म।

होता है कि वेदनीय कर्मका प्रकृतिबंध तो कहा जाचुका। अब अट्ठावीस प्रकारका जो मोहनीय कर्म है उसके उत्तर भेद कौन से हैं? इसी प्रश्नका उत्तर नीचेके सूत्रद्वारा कहा जाता है—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाःअनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं, चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं, एक अकषायवेदनीय, दूसरा कषायवेदनीय। अकषायवेदनीयके नवभेद हैं और कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं। दर्शनमोहनीयके तीन भेद इसप्रकार हैं—(१) सम्यक्त्व (२) मिथ्यात्व (३) तदुभय कहिये सम्यङ्मिथ्यात्व। अकषायके नव भेद इसप्रकार हैं-(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुंवेद (९) नपुंसकवेद। कषायके सोलह भेद इसप्रकार हैं-(१) अनंतानुबंधी क्रोध (२) अनंतानुबंधी मान (३) अनंतानुबंधी माया (४) अनंतानुबंधी लोभ (५) अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध (६) अप्रत्याख्यानावरणी मान (७) अप्रत्याख्यानावरणी माया (८) अप्रत्याख्यानावरणी लोभ (९) प्रत्याख्यानावरणी क्रोध (१०) प्रत्याख्यानावरणी मान (११) प्रत्याख्यानावरणी माया (१२) प्रत्याख्यानावरणी लोभ (१३) संज्वलन क्रोध (१४) संज्वलन मान (१५) संज्वलन माया (१६) संज्वलन लोभ। इसप्रकार ये सोलह कषायके भेद, नव नोकषाय (अकषाय) के भेद, और तीन दर्शनमोहनीयके भेद कुल मिलकर मोहनीयके अट्ठावीस भेद होते हैं।

दर्शनादिभिः त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबंधः ॥ १ ॥

अर्थ—सूत्रमें दर्शनमोहनीय आदि भी चार हैं, और तीन आदि संख्याभेद भी चार हैं, इसलिये

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसकर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी आकृतिकी रचना हो वह संस्थान नामकर्म है। वह संस्थान छहप्रकारका है—समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान । जिस प्रकार चतुर कारीगरके द्वारा बनाया हुआ सुंदर गोल योग्य समान आरोंवाला चक्र (पहिया) होता है उसीप्रकार जिस कर्मके द्वारा शरीरकी आकृति ऊपर नीचे वीचमें योग्य विभागको लिये हुये सब ओरसे सुंदर हो, सब अंग उपांग यथास्थान एवं यथा-प्रमाण सुघटित हों, कोई अंग छोटा बडा नहीं हो किंतु यथायोग्य हो वह समचतुरस्र संस्थान कर्म कहलाता है।

जिस शरीरका आकार नाभिसे ऊपर तो बडा हो और नाभिसे नीचे छोटा हो वह न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान कहलाता है। न्यग्रोध नाम वटवृक्षका है, जिसप्रकार वटवृक्षका ऊपरका भाग बडा और नीचेका भाग छोटा होता है उसीप्रकार इस न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थानवाले शरीरका आकार समझना चाहिये। ऐसा शरीर न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्मके उदयसे होता है। उससे विपरीत जो शरीरका आकार है वह स्वातिसंस्थान कहलाता है अर्थात् स्वाति नाम वामीका है, जिसप्रकार सर्पकी वामी ऊपरसे तो छोटे मुंहवाली होती है और नीचे (भीतर) बडी होती है उसीप्रकार जो शरीरका आकार नाभिसे ऊपर तो छोटा हो और नीचे बडा हो वह स्वातिसंस्थान कहलाता है तथा जिस शरीरका आकार कूबडा हो अर्थात् पीठभागमें बहुतसे पुद्गलस्कंधोंकी पिंडरूप रचना हो वह शरीराकार कुब्जकसंस्थान नाम है अर्थात् जिस शरीरके पृष्ठभागमें ऊंचासा कुव्ब (गांठ सदृश) हो वह कुब्जक संस्थान है । समस्त अंग और उपांग जिस शरीरके छोटे हों वह वामन संस्थान है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे समस्त शरीर छोटा हो वह वामन सस्थान नामकर्म है। समस्त अंगोपांगोंकी रचना जिस शरीरकी हुंडक हो अर्थात् विकृत हो

अपना फल देती हैं परंतु बंध केवल मिथ्यात्वका ही होता है, इन पीछेकी दोनों प्रकृतियोंका सत्त्व और उदय रहता है इसीलिये अनादि मिथ्यादृष्टिके जो सम्यग्दर्शन होता है वह पांच प्रकृतियोंके ही उपशमसे होता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और एक मिथ्यात्व इन्हीं पांचोंका उपशम अनादि मिथ्यादृष्टिके होता है। परंतु जब प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर मिथ्यात्वके तीन टुकडे हो जाते हैं तब फिर मिथ्यादृष्टि हो जानेपर उस सादि मिथ्यादृष्टिके पांच ऊपरकी और सम्यक्त्वप्रकृति, तथा सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति इन दो प्रकृतियोंको मिलाकर सातप्रकृतियोंके उपशमसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इसीलिये यहां बताया गया है कि बंध तो एक मिथ्यात्वका ही होता है परंतु सत्कर्मकी अपेक्षा अर्थात् सत्ता रूप कर्मकी अपेक्षा वह तीनप्रकार हो जाता है। उन तीनोंमें जिस कर्मके उदयसे यह जीव सर्वज्ञदेव द्वारा कथित मार्गसे पराङ्मुख अर्थात् विपरीत मार्गपर चलने लगता है, तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित होजाता है अर्थात् मिथ्याश्रद्धानी बनजाता है और हित अहितका विभाग करनेमें असमर्थ अर्थात् हिताहितमार्गके समझनेमें असमर्थ मिथ्यादृष्टि बन जाता है वह मिथ्यात्व कर्म कहलाता है अर्थात् सन्मार्गसे विपरीतबुद्धि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होती है। सम्यक्त्वप्रकृति वह कहलाती है कि जिसके उदयमें शुभपरिणामों द्वारा मिथ्यात्वके विपाकका रस रुक गया हो जो उदासीनसे स्थित हो, आत्माके तत्त्वार्थ श्रद्धानको नहीं रोक सकै, उसी सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभव करता हुआ पुरुष सम्यग्दृष्टि होता है अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय चौथे गुणस्थानमें होता है, उसके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शनका घात नहीं करती है किन्तु उसमें चलता मलिनता और अगाढता ये दोष पैदा करती है। तत्त्वार्थश्रद्धानमें दृढता परिपूर्ण रहती है। तथा सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति वह कहलाती है जिसके उदयमें आत्माके परिणाम कुछ सम्यक्त्वरूप और कुछ मिथ्यात्वरूप ऐसे मिश्ररूप रहते हैं, जिसप्रकार मद शक्ति पैदा करनेवाला कोद्रव (कोदों) नामका धान्य यदि जलसे खूब धोया जाय, और धोते धोते

यदुदयात् स्पर्शरसगंधवर्णविकल्पा अष्टपंचद्विपंचसंख्यास्तानि स्पर्शनामादीनि ॥ १० ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें भिन्न भिन्न स्पर्श पैदा हो वह स्पर्श नामकर्म कहलाता है। वह स्पर्श आठ प्रकार है-कठोर स्पर्श, कोमल स्पर्श, भारी स्पर्श, हलका स्पर्श, चिक्कण स्पर्श, रूक्ष स्पर्श, शीत स्पर्श, उष्ण स्पर्श। इसप्रकार यह आठ प्रकारका स्पश भिन्न भिन्न रूपसे शरीरोंमें होता है, किसीका शरीर कोमल होता है किसीका कठोर और ठंडा होता है किसीका गरम और भारी आदि होता है ऐसा स्पर्शभेद कठोर स्पर्श आदि नामकर्मके उदयसे होता है। जिस कर्मके उदयसे रसोंका शरीरमें भेद पाया जाता है वह रस नामकर्म है। वह पांच प्रकार है-तिक्त अर्थात् चरपरा रस, कडुआ रस, कषायला रस, खट्टा रस, मधुर रस ये पांच प्रकारके रस शरीरोंमें तिक्त रस आदि नामकर्मके उदयसे होते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें गंध हो वह गंध नामकर्म है। वह दो प्रकारका है-सुरभिगंध नाम और असुरभिगंध नाम। जिस कर्मके उदयसे शरीरोंमें भिन्न भिन्न प्रकारका रंग हो वह वर्ण नामकर्म है। वर्ण पांच प्रकार है-काला, नीला, लाल, पीला, सफेद इसलिये कृष्णवर्ण नाम आदि वर्णनाम भी पांच प्रकारका है। शंका-ये जो स्पर्शादिक भेद कहे गये हैं वे नामकर्मके उदयसे होते हैं तो कर्मोदय तो जीवमें ही हो सकता है परंतु अचेतन पुद्गलमें तो कर्मोदय नहीं है वहां किस प्रकार होंगे? उत्तर-अचेतन पुद्गलमें स्पर्श आदि कर्मोदयकृत नहीं होते किंतु पुद्गलद्रव्यका स्वभाव ही स्पर्श रस गंध वर्णरूप है इसलिये उसमें स्वभावसे होते हैं, केवल जीवविशिष्ट शरीरमें कर्मोदयकृत होते हैं।

यदुदयात्पूर्वशरीराकारविनाशस्तदानुपूर्व्यनाम ॥ ११ ॥

अर्थ-जिस कर्मके उदयसे पूर्व शरीरके आकारका विनाश नहीं हो, वह आनुपूर्व्य कर्म कहलाता है। वह चार प्रकार है-नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य। जिससमय मनुष्यपर्याय अथवा तिर्यचपर्यायका नाश होता है उससमय उस

जीवोंको काटने दौडता है, स्वामीके निषेध करनेपर रुक जाता है उसीप्रकार क्रोधादि कषायोंके बलको पाकर कुछ कमती रूपमें हास्यादि प्रवर्तित होते हैं, और क्रोधादिके अभावमें इनकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये इन्हें अकषाय कहते हैं। यहांपर कोई यह प्रश्न करै कि अकषायमें ईषत् प्रतिषेधरूप अर्थ ही क्यों ग्रहण किया जाता है सर्वथा अभावरूप अर्थ क्यों नहीं लिया जाता? तो इसका उत्तर यही है कि ऐसा अर्थ प्रकरणगत विशेष विवेचनसे जाना जाता है।

अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात् ॥ ४ ॥

अर्थ—अकषायवेदनीय नवप्रकार है, उसके हास्यादिक नव भेद हैं। जिस कर्मके उदयसे हास्यरूप परिणाम हो वह हास्यनोकषाय कहलाता है। जिसके उदयसे देश नगर कुटुम्ब आदि वस्तुओंमें प्रेम हो वह रति है। जिस कर्मके उदयसे रतिसे विपरीत परिणाम हो अर्थात् देशादि वस्तुओंसे अप्रीतिरूप परिणाम हो वह अरति है। जिसके उदयसे सोच पैदा हो जाय चिन्ता विशेष हो जाय वह शोक है। जिस कर्मके उदयसे उद्वेग हो, आत्मामें भय हो, वह भय है। भय सातप्रकार होता है। जिसके उदयसे पदार्थोंमें ग्लानि हो वह जुगुप्सा है। कुत्साका प्रकार ही जुगुप्सा है अर्थात् अपने दोषोंका संवरण करना और दूसरेके दोषोंको प्रगट करना इसीका नाम जुगुप्सा है। यहांपर शंका होती है कि यदि कुत्सा अर्थमें ही जुगुप्साका ग्रहण है तो फिर कुत्साका ग्रहण ही क्यों नहीं कर लिया जाता है वैसा करनेसे लाघव भी होगा। उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं है, यहांपर अर्थविशेषके ग्रहणकी अपेक्षासे जुगुप्साका ग्रहण किया गया है। अपने दोषोंको छिपाना जुगुप्सा कहलाती है परंतु कुत्सामें परदोषोंका प्रकाश ही आता है, दूसरेके कुल शील संबंधी दोषोंको प्रगट करना, नाना दोषोंका दूसरेपर आक्षेप करना, दूसरेका हरप्रकारसे तिरस्कार अपमान करना आदि बातें कुत्सामें आती हैं और जुगुप्सामें अपने दोषोंका ढकना और परदोषप्रकाश करना दोनोंका ही ग्रहण है इसलिये यहां जुगुप्सा शब्दका ग्रहण ही ठीक है। जिस कर्मके उदयसे

रीतिसे तीन समय है परंतु ऋजुगतिमें तो पूर्व शरीरके आकारका विनाश होनेपर उत्तर (नवीन) शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण होनेसे निर्माण नामकर्मके उदयका कार्य है ही है अर्थात् ऋजुगतिमें समय-भेद नहीं है।

यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवशरीर लोहेके पिंडके समान भारी होनेसे नीचे भी नहीं गिरता है और न आककी रुईके समान हलका होनेसे ऊपर उड ही जाता है, वह अगुरुलघु कर्म कहलाता है अर्थात् आत्मशरीर न तो बहुत भारी होता है और न बहुत हलका ही होता है, यह कार्य अगुरुलघु नामकर्मका है। शंका—धर्मादिक तो अजीव पदार्थ हैं उनके अगुरुलघुपना कैसे घटित होगा क्योंकि उनके कर्मोदय तो है ही नहीं ? उत्तर—अनादिकालसे परिणमन करनेवाला अगुरुलघु नामका गुण उनमें स्वभावसिद्ध है अर्थात् धर्मादि द्रव्योंके जो अगुरुलघु है वह उन द्रव्योंका निजी गुण है परंतु यहांपर जिसका वर्णन चल रहा है वह अगुरुलघु नामकर्म है उसका कार्य संसारी जीवोंके शरीरके साथ है। फिर यहां शंका होती है कि मुक्त जीवोंके अगुरुलघुपना कैसे घटित होगा ? उत्तर—जबतक जीव संसार अवस्थामें रहता है तबतक शरीर आदि कर्म नोकर्मका संबंध होनेसे कर्मोदयकृत अगुरुलघुपना उसमें घटित होता है परंतु जीवका संबंध जब उन शरीर नोकर्म आदिसे सर्वथा छूट जाता है तब उसके स्वभावसिद्ध आत्मीयगुण अगुरुलघुगुण प्रगट हो जाता है अर्थात् मुक्तोंके जो अगुरुलघु है वह उनका स्वभावरूप गुण है।

यदुदयात्स्वयंकृतोद्बंधनाद्युपघातस्तदुपघातनाम ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे अपने आप किये गये बंधनसे श्वास रुक जाने आदिसे जो घात होजाना वह उपघात नामकर्म है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे अपने द्वारा ही अपना घात हो जाय, चाहे अपने

कषायपरिणाम है वह पुरुषोंके भी कभी कभी किसी किसीके हो सकता है। कभी कभी पुरुषवेदरूप जो कषायपरिणाम है जिसमें कि स्त्रीके साथ रमण करनेकी वांछा होती है वह द्रव्यस्त्रीपर्यायमें भी हो सक्ता है। ऐसा होनेमें अभ्यंतरका कषाय परिणामविशेष ही कारण है और शरीरकी भिन्न भिन्न रचना होना नामकर्मके उदयका कार्य है। इस कथनसे पुंवेद और नपुंसकवेद इन दोनोंका कथन भी कहा जाचुका अथवा द्रव्यवेद और भाववेद इन दोनोंका कथन भी कहाहुआ ही समझना चाहिये। जिसकर्मके उदयसे पुरुषसंबंधी भावोंको प्राप्त होता है अर्थात् स्त्रीके साथ रमण करनेकी अभिलाषा जिसकर्मके उदयसे होती है वह पुरुषवेद कहलाता है और जिसकर्मके उदयसे नपुंसकसंबंधी भावोंको प्राप्त होता है वह नपुंसकवेद कहलाता है। नपुंसकवेदरूप कषाय परिणाममें स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रमण करनेके भाव होते हैं। इसप्रकार नव भेद नोकषायके हैं। अब कषायके सोलह भेद बताते हैं—

कषायवेदनीयं षोडशविधं अनंतानुबंध्यादिविकल्पात ॥ ५ ॥

अर्थ—कषायवेदनीय सोलह प्रकार जानना चाहिये उसके अनंतानुबंधी आदि भेद हैं। उन्हीं भेदोंको यहां दृष्टांतपूर्वक स्फुट करते हैं—क्रोध मान माया लोभरूप कषाय चार प्रकार है, उनमें जो अपना तथा दूसरेका घात करनेवाला हो, जिससे किसीका उपकार नहीं होसके, स्व पर दोनोंका अहित करनेवाला हो जिसमें क्रूरता भरी हो ऐसा जो कषाय परिणाम है वह क्रोध कहलाता है। वह क्रोध चार प्रकारका है—पर्वतरेखा, पृथिवीरेखा, वालुकारेखा और जलरेखाके समान। जिसप्रकार पर्वतमें कीगई रेखा सहस्रों वर्ष बनी रहती है जल्दी नष्ट नहीं होती उसीप्रकार एक क्रोध परिणाम इतना तीव्र होता है जो अनेक भवोंमें जीवके साथ जाता है, वह जल्दी मिटता ही नहीं, वह क्रोध पर्वतरेखाके समान महातीव्र कहलाता है। दूसरा क्रोधपरिणाम उससे कुछ मंद होता है जैसे पृथ्वीमें कीगई रेखा बहुत जल्द नहीं मिटती परंतु कुछ कालमें मिटजाती है उसीप्रकार जो क्रोध जल्दी नहीं मिटै परंतु बहुत काल भी नहीं

विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम ॥ १८ ॥

अर्थ—विहायस् नाम आकाशका है, उस आकाशमें गमन करनेकी शक्ति उत्पन्न होना जिस कर्मका कार्य है वह विहायोगति नाम कर्म है। वह विहायोगतिकर्म दो प्रकारका है—प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति। उनमें बैल हस्ती आदिकी प्रशस्त गतिका कारण जो कर्म है वह प्रशस्त विहायोगति कर्म है तथा ऊंट गधा आदि जीवोंकी अशोभन गतिका कारण जो कर्म है वह अप्रशस्त विहायोगति कर्म है अर्थात् सुंदर गतिको प्रशस्त और असुहावनी—बुरी गतिको अप्रशस्त कहते हैं। इस प्रकार संसारी जीवोंकी गतियोंमें (गमनेंमें) भेद होना शुभाशुभ विहायोगतियोंके निमित्तसे है। शंका—जब कर्मोंदयसे ही विहायोगति होती है तब सिद्धजीव और पुद्गलोंके तो कोई कर्म नहीं है उनके जो गति होती है वह किस प्रकार होती है? उत्तर—उनके स्वाभाविकी गति है। ऊर्ध्वगति जीवका स्वभाव है उसी स्वभावसे सिद्ध जीवोंका ऊर्ध्वगमन होता है और पुद्गलोंका भी गमन करना स्वभाव है। फिर शंका—विहायोगति नामकर्मका उदय आकाशमें उडनेवाले पक्षियों आदिमें ही होना चाहिये उसका उदय मनुष्यादिकोंमें नहीं होना चाहिये क्योंकि मनुष्यादिक आकाशमें तो कुछ उडते ही नहीं हैं वे तो पृथ्वी पर ही चलते हैं? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—समस्त संसारी जीवोंको आकाशमें गमन करने रूप अवगाहनाकी शक्तिका योग है अर्थात् विना अवगाहना मिले गमनका होना ही अशक्य है और अवगाहना आकाशमें ही हो सकती है इसलिये समस्त संसारी जीवोंके विहायोगति नाम कर्मका उदय रहता है।

एकात्मोपभोगशरीरकारणता यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम ॥ १९ ॥

अर्थ—शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो शरीर, वह एकही आत्माका स्वामीपनेसे उपभोगका कारण जिस कर्मके उदयसे हो वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। एक एक आत्माका एक एक शरीर मुख्यतासे

चौथा भेद खुरपीके समान है जैसे खुरपीमें केवल एक मोड़ा रहता है उसीप्रकार जो हीन मायाचार हो वह चतुर्थभेदमें आता है । लोभके भेद इसप्रकार हैं–उपकार करनेमें समर्थ जो वस्तु आदिक उसकी विशेष चाहना होना उसीका नाम लोभ है । कृमिराग, कज्जल, कर्दम और हरिद्राराग इनके समान वह लोभ भी चार प्रकार है । कृमिराग नाम गाडीके पहियेके भीतर रहनेवाले मलका है । गाडीके चक्रमें तैल देनेसे जो मैल होजाता है वह अत्यन्त चिक्कण होता है, एक वार लगनेपर फिर छूटता नहीं है उसीप्रकार जो लोभ इतना तीव्र लालसाको लियेहुये हो वह कृमिरागके समान है । दूसरा लोभका भेद काजलके समान है । तीसरा भेद कीचके समान है और चौथा लोभका भेद हल्दीके रंगके समान है । हल्दीका रंग बहुत जल्दी छूट जाता है उसीप्रकार जो लोभ बहुत हल्का हो वह हरिद्राके समान है । इन ऊपरके कहे हुये दृष्टान्तोंके समान ही क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारोंकी चार चार अवस्थायें हैं । वे अवस्थायें दृष्टान्तोंके क्रमके अनुसार अनंतानुबंधी अत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलनरूप हैं । अब उन चारों भेदोंका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं–अनंत संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शनका नाम अनंत है । उस मिथ्यादर्शन रूप अनंतको जो बंध करें वे अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ कहलाते हैं अर्थात् अनंतानुबंधी कपायके उदयमें अनंत संसारवर्धक मिथ्यात्वकर्मका बंध होता रहता है ।

जिसके उदयसे देशविरतिरूप संयमासंयमरूप चारित्रको किंचिन्मात्र भी धारण करनेमें असमर्थ हो जाय, वे देशचारित्र अर्थात् देशप्रत्याख्यानको ढकनेवाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ कहलाते हैं अर्थात् प्रत्याख्यान नाम चारित्रका है और अप्रत्याख्यान नाम ईषत् (थोडे–एकदेश) चारित्रका है, उस ईषत् एकदेशचारित्रको रोकनेवाले क्रोध मान माया लोभ अप्रत्याख्यानावरण कहलाते हैं । जिसके उदयसे विरतिरूप सम्पूर्ण चारित्र–सकल चारित्रको धारण नहीं कर सकै वे सकल चारित्रको

अवस्था साधारण नामकर्मके उदयसे होती है । ऐसा उदय एकेंद्रिय जातिवाली साधारण वनस्पतिवाले जीवोंके ही होता है। जैसें कंदमूल अतिकोमल पत्ते आदिमें रहनेवाले जीव साधारण हैं।

यदुदयाद् द्वींद्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे द्वींद्रियादिक जंगम—चलने फिरनेवाले प्राणियोंमें जन्म धारण करता है वह त्रस नामकर्म है अर्थात् द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय त्रसपर्याय त्रस नामकर्मके उदयसे जीव पाता है।

यन्निमित्त एकेंद्रियेषु प्रादुर्भावः तत्स्थावरनाम ॥ २२ ॥

अर्थ· जिस कर्मके उदयसे एकेंद्रिय पृथ्वी. जल, तेज, वायु, वनस्पति कायोंमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है।

यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम ॥ २३ ॥

अर्थ-विरूपाकृति अर्थात् शरीरका रूप सुंदर नहीं होनेपर भी जिस कर्मके उदयसे दूसरोंकी प्रीतिका कारण हो वह सुभग नामकर्म है अर्थात् जिस जीवके इस सुभग नामकर्मका उदय होता है वह जीव सुंदराकृति नहीं होनेपर भी दूसरोंको प्रिय मालूम पडता है, सभी उसे देखकर प्रसन्न होते हैं।

यदुदयात रूपादिगुणोपेतोपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम ॥ २४ ॥

अर्थ—रूपादि गुणोंसे युक्त होता हुआ भी जिस कर्मके उदयसे दूसरोंको प्रिय मालूम नहीं हो, दूसरे देखकर प्रेम नहीं करते हों वह दुर्भग नामकर्म है।

पहलीके गाथाका अर्थ तो ऊपर कहा जा चुका है दूसरीका अर्थ यह है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें अनंतानंत जीव रहते हैं वे जितने सिद्ध जीव हैं उनसे तथा जितना काल व्यतीत हो चुका है, उसके समयोंसे अनंतगुणे हैं। इतने जीव एक निगोदशरीरमें रहते हैं। ये सब निगोद जीव साधारण जीव हैं।

अन्नादि तन्निमित्तं इति चेन्न तस्योपग्राहकत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ–शंका–जीवन और मरणमें अन्नादि निमित्त हैं, भोजनके निमित्तसे ही शरीर टिका रहता है भोजन नहीं मिले तो कुछ दिनोंमें शरीर छूट जाता है इसलिये भवधारणमें कारण आयु क्यों है अन्नादिकसे काम चल जाता है? उत्तर–यह बात नहीं है, कारण अन्नादिक उस आयुका ही उपकार करते हैं। जिसप्रकार घटके बननेमें मिट्टीका पिंड मूल कारण है और उसके उपकार करनेवाले दंड चाक डोरा आदि हो जाते हैं परंतु मूलकारण मिट्टी है उसीप्रकार अभ्यंतर पर्याय धारण करनेमें आयु ही कारण है और अन्नादि ऊपरसे उपकार करनेवाले हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत यह है कि जिस समय आयु क्षीण होने लगती है उस समय उस जीवको भोजनादिका कितना ही उपचार किया जाय तो भी मरण हो जाता है इसलिये जीवनमें प्रधान कारण आयुकर्म ही है।

देवनारकेषु चान्नाद्यभावात् ॥ ४ ॥

अर्थ–दूसरी बात यह भी है कि देव और नारकियोंमें अन्नादिकका ग्रहण नहीं भी है इसलिये भवधारण आयुके अधीन ही है यह बात निश्चितरूपसे सिद्ध हो जाती है। उनके कभी कभी बहुत वर्षों पीछे आहार होता है, सो भी कंठसे अमृतझरणमात्र होता है। कवलाहार तो कभी होता ही नहीं है इसलिये भवधारणका प्रधान कारण आयु ही है यह बात निश्चित सिद्ध है।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः ॥ ५ ॥

अर्थ–तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदना देनेवाले नरकोंमें जिस कर्मके उदयसे दीर्घ काल पर्यंत जीवन रहता है, भव धारणरूप नारक पर्याय रहती है, वह नारक आयुकर्म कहलाता है।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनं ॥ ६ ॥

अर्थ–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, वध, बंधन आदि अनेक प्रकार दुःखोंको भोगनेवाले तिर्यंचोंमें जिस कर्मके उदयसे वसना पडै अर्थात् रहना पडे वह तिर्यंच आयुकर्म कहलाता है।

अर्थ—जिस शरीरसे दूसरोंको बाधा हो सकै अर्थात् जो शरीर दूसरोंका घात या उपकार कर सकै अथवा दूसरों द्वारा उपगृहीत या घाता जा सकै ऐसा स्थूल शरीर पाना वादर नामकर्मके उदयका फल है।

यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे आत्मा आहारादि पर्याप्तियोंको अंतर्मुहूर्तमें प्राप्त कर लेता है वह पर्याप्ति नामकर्म है। वे पर्याप्तियां छह प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इंद्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, मनःपर्याप्ति। विशेष—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंके योग्य पुद्गल स्कंधोंके ग्रहण करनेकी और उन्हें खलरस भागरूप परिणमावनेकी शक्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं तथा जैसे तिलोंके पेरनेसे एक हिस्सा तैलभाग और दूसरा हिस्सा खलभाग हो जाता है उसीप्रकार शरीरनामा नामकर्मके उदयके साथ साथ पर्याप्तिनामा नामकर्मके उदयसे ग्रहण की गई जो आहारवर्गणा उसके भी दो हिस्से हो जाते हैं एक खलभाग दूसरा रसभाग, जो रुधिर वीर्य हैं वह रसभाग है और जो परमाणु कठिन हो कर हड्डी आदि स्वरूप परिणम जाते हैं वे खलभागरूप हैं। इसप्रकार खलरसभागरूपसे उन परमाणुओंका शरीररूप परिणमन होना शरीरपर्याप्तिका कार्य है तथा मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण, वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोपशमसे जाति नामकर्मके उदयके साथ साथ जो स्पर्श रसादिकके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाली द्रव्येंद्रियोंकी रचना होना वह इंद्रियपर्याप्तिका काय है तथा आहारवगणारूप गृहीत पुद्गल स्कंधोंमें श्वासोच्छ्वासरूप परिणमन होना वह श्वासोच्छ्वासपर्याप्तिका कार्य है तथा भाषावर्गणारूप गृहीत पुद्गलस्कंधोंको स्वरनामा नामकर्मके उदयके निमित्तसे भाषावचनरूप परिणमन होना भाषापर्याप्तिका कार्य है तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयके निमित्तसे मनोवगणारूप गृहीत पुद्गलस्कंधोंका द्रव्य मनरूप परिणमन होना और उसमें विचार होनेकी शक्ति होना वह मनःपर्याप्तिका कार्य है। इन छहों पर्याप्तियोंमें एकेंद्रिय जीवके चार पर्याप्तियां होती हैं—भाषा और मन ये दो पर्याप्तियोंको छोडकर

त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति, तथा प्रत्येकशरीर आदि दश प्रकृतियोंके प्रतिपक्षी कर्म भी इतर पदसे लेनेसे—साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये इकतालीस भेद और तीर्थंकर प्रकृति मिलाकर कुल नामकर्मके ब्यालीस भेद होते हैं।

यदुदयादात्मा भवांतरं गच्छति सा गतिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसकर्मके उदयसे आत्मा भवांतर--दूसरे भवके ग्रहण करनेकेलिये सन्मुख होताहुआ गमन करता है वह गति कर्म है। "गम्यते इति गतिः" गमन करनेवाला कर्म गतिकर्म है ऐसा व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ होनेपर भी रूढिके वशसे गतिविशेषमें 'गति' शब्द नियत है। जैसे गौ शब्दकी प्रवृत्ति व्युत्पत्तिके अनुसार तो केवल चलती हुई गौ में ही घटना चाहिये अथवा जो कोई भी वस्तु गमन करती हो वह सब 'गौ' नामसे प्रसिद्ध होनी चाहिये क्योंकि गौ शब्दकी व्युत्पत्ति यही है कि 'गच्छति इति गौः' जो गमन करै सो गौ, परंतु व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ वैसा होनेपर भी रूढिके वशसे गौ पशुको ही गौ कहते हैं, चाहे वह चलती हो चाहे वैठी या सोती हो, परंतु और गमन करनेवाली वस्तुको गौ नहीं कहते हैं, इसीप्रकार यहां भी गति मामान्य अर्थमें गति शब्दकी व्युत्पत्ति होनेपर भी रूढिवश किसी पर्याय विशेष की ओर ले जानेवाले और उस पर्यायमें उसी नामसे कहे जानेवाले कर्मको ही गति कहते हैं। यदि गमन करते समय ही गति व्यवहार हो और जिससमय आत्मा गमन नहीं करता है उससमय गति नहीं कहलाती हो तो जिससमय नामकर्म किसी भी गतिमें सत्तारूपसे बैठा हुआ है उससमय वह गतिकर्म नहीं कहलावेगा। दूसरी बात यह भी है कि जिससमय देवगति या इतरगतियोंमें जीव चला जाता है उससमय वह उस पर्यायभरमें उसी गतिवाला कहलाता है इसलिये जो गमन करै वही गति शब्दका अर्थ यहां लेना ठीक नहीं है किंतु रूढिसिद्ध है। वह गति चार प्रकार है—नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति और

लेकर उत्तरोत्तर हीनसंख्या है । इतना विशेष समझना चाहिये कि पर्याप्ति और प्राणोंमें परस्पर कार्य-कारणभाव है। पर्याप्तियां कारणस्वरूप हैं और प्राण कार्यस्वरूप हैं । शंका—प्राणापान कर्मके उदयमें भी वायुका निकलना और प्रवेश होनारूप श्वासोच्छ्वासात्मक कार्य होता है और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति नामकर्मके उदयमें भी यही बात है अर्थात् श्वास उच्छ्वासरूप वायुका निकलना और प्रवेश होना है फिर इन कर्मोंमें कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता है ? उत्तर-

ऐंद्रियकानिंद्रियभेदात्तद्विशेषः ॥ ३२ ॥

अर्थ-शीत और उष्ण संबंधसे उत्पन्न है दुःख जिसको ऐसे पंचेंद्रिय जीवके जो दीर्घ शब्दायमान स्वरूप बडे बडे श्वास उच्छ्वास निकलते हैं जोकि श्रोत्र और स्पर्शन इंद्रियके प्रत्यक्ष होते हैं, ऐसे जो दुःखसे उत्पन्न बडे बडे श्वासोच्छ्वास निकलते हैं वे तो श्वासोच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होते हैं तथा जो समस्त संसारी जीवोंके भीतर ही भीतर श्वासोच्छ्वास चलता रहता है जो कि श्रोत्र और स्पर्शनेंद्रियके प्रत्यक्ष नहीं होता वह श्वासोच्छ्वास प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वासपर्याप्तिके उदयसे होता है ।

षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम ॥ ३३ ॥

अर्थ-जिस कर्मके उदयसे आत्मा छहों पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेमें असमर्थ हो जाता है वह अपर्याप्ति नामकर्म है ।

स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम ॥ ३४ ॥

अर्थ-जिस कर्मके उदयसे कठिन कठिन उपवास ध्यान आदि तपोंके करनेपर भी अंग उपांगोंकी स्थिरता बनी रहती है वह स्थिर नामकर्म है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे शरीरके अंगोपांग दृढ बने रहें वह स्थिर नामकर्म है ।

तद्विपरीतमस्थिरनाम ॥ ३५ ॥

यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणं ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस कर्मके निमित्तसे अंगोपांगोंकी रचना यथास्थान और यथाप्रमाण हो वह निर्माण कर्म है अर्थात् जहां जो अंग उपांग जितने प्रमाणवाला आवश्यक हो वहां उसीप्रकारके अंग उपांगकी रचनाका होना निर्माण नामकर्मके उदयका कार्य है। वह निर्माणकर्म दो प्रकार है—स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। वह निर्माणकर्म, जाति नामकर्मके उदयकी अपेक्षासे चक्षुरादिकोंका योग्य स्थान और उनकी लम्बाई चौडाई आदि प्रमाण रचता है अर्थात् जिस जातिवाले जीवके जितने अंग उपांग होते हैं उस जातिवाले जीवके आंख नाक कान आदि उपांग और शरीरादि अंगोंकी रचना ठीक स्थान पर और ठीक आकारवाली होती है यही कार्य निर्माण कर्मका है। जिसके द्वारा रचना की जाय वह निर्माण कर्म कहलाता है।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोन्योन्यसंश्लेषणं तद्बंधनं ॥ ६ ॥

अर्थ—शरीरनाम कर्मोदयके वशसे प्राप्तहुये पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका परस्पर बंध विशेष जिसकर्मके निमित्तसे होता है वह बंधन कर्म है अर्थात् शरीरके प्रदेशोंका परस्पर एक दूसरेसे बंध जाना एकक्षेत्रावगाहिता जिस कर्मके उदयसे होती है वह बंधन कर्म है। यदि यह कर्म नहीं होता तो जैसे काष्ठके परमाणु दूर दूर रहते हैं वैसे शरीरप्रदेश भी दूर दूर रहते।

अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनामकर्म ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसकर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंका छिद्ररहित परस्पर प्रदेशोंके मिलनेसे एक पिंडरूप अवस्था होती है वह संघातनामकर्म है। यह संघातनामकर्म और पहले कहा हुआ बंधन नामकर्म दोनों ही पांच पांच प्रकार हैं और जो पांच औदारिक आदि शरीरोंके नाम हैं वे ही इन बंधन और संघातके नाम हैं।

तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम ॥ ३९ ॥

अर्थ-पाप गुणोंकी अर्थात् दुर्गुणोंकी प्रसिद्धि जिस कर्मके उदयसे हो वह अयशःकीर्ति नामकर्म है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे अच्छे गुण भी प्रगट न हो सकें और अवगुण ही अवगुण केवल प्रगट हों, वह अयशःकीर्ति कर्म है।

आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वं नाम ॥ ४० ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे अचिंत्य विभूतिविशेष सहित आर्हन्त्यपद मिले वह तीर्थंकर नामकर्म है अर्थात् जिसके साथमें बंध होनेवाले अविनाभावी कर्मोंके उदयसे पंचकल्याणकादि विभूतियां प्राप्त हों और जिसके उदयमें समवशरणरूप वाह्यलक्ष्मी प्राप्त हो, जिसके उदयमें दिव्यध्वनिरूप जगत्के जीवोंका महान् सर्वोपरि सिद्धिदायक उपकार करनेवाला धर्मोपदेश होता हो, जिस कर्मके साथ जन्म लेनेसे संसारके समस्त जीवोंको यहांतक कि नारकियोंको भी क्षणमात्र सुख हो जाय और बहुत कालसे रुका हुआ भी मोक्षमार्ग जिस कर्मके उदयविशिष्ट जीवके द्वारा फिर प्रगट हो जाय ऐसा अचिंत्य विभूतियुक्त अर्हंतपदका देनेवाला जो कर्म है वह तीर्थंकर नामकर्म है।

गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेन्नान्यनिमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—शंका-जिसप्रकार तीर्थंकरपदका कारण तीर्थंकरप्रकृति है, उसीप्रकार गणधरत्वादिकोंका भी इन प्रकृतियोंमें उल्लेख करना चाहिये क्योंकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव, बलदेव आदिक भी विशेष ऋद्धियुक्त हैं इसलिये जिसप्रकार तीर्थंकरपद विशेष महत्त्वका है उसीप्रकार गणधरप्रकृति, चक्रधरप्रकृति आदि प्रकृतियां भी माननी चाहिये ? उत्तर-यह शंका भी ठीक नहीं है कारण-उन चक्रवर्ती गणधर आदि अवस्थाओंकेलिये दूसरे दूसरे निमित्तकारण हैं जैसे-गणधरपना श्रुतज्ञानावरण कर्मके विशेष क्षयोपशमसे होता है अर्थात् विशेषज्ञानके धारक द्वादशांगके पारगामी गणधर होते हैं इसलिये गणधर-

वह हुंडक संस्थान है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे शरीरका आकार विकारयुक्त हो, यथास्थान ठीक ठीक जिसकी रचना नहीं हो वह हुंडक संस्थान है। इसप्रकार ये छह संस्थान नामकर्म हैं।

यदुदयादास्थिबंधनविशेषस्तत्संहननं ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे शरीरकी हड्डियोंका बंधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। वह छह प्रकार है - वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलिका-संहनन, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन। उनमें जिस शरीरकी हड्डियोंके दोनों जोड—संधिस्थान वज्रके समान हों, प्रत्येक जोडके बीचमें वलय बंधन नाराचसहित भले प्रकार मिला हुआ हो अर्थात् जिस शरीरमें हड्डी और संधि—जोडस्थानके कीला वज्रमयी हों और वज्रमयी नशोंके वलय बंधनबद्ध हों ऐसा शरीर वज्रवृषभनाराचसंहनन कहलाता है तथा जो शरीर वलय बंधनोंसे रहित हो वह वज्रनाराचसंहनन कहलाता है अर्थात् वज्रतुल्य हड्डी और संधियोंके कीले तो हों परंतु वे वज्रमयी वलयबंधनसे रहित हों ऐसा शरीर वज्रनाराच संहननवाला कहलाता है। जिस शरीरमें दोनों हड्डियोंकी संधियां वज्रमयी बंधनसे रहित हों तथा वलयबंधन जो नशोंके बंधन हैं उनसे भी रहित हों परंतु नाराचसे सहित हों अर्थात् कीलें तो हों परंतु वे वज्रमयी नहीं हों और वलयबंधन भी वज्रमयी न हों वह नाराच संहनन कहलाता है। जिस शरीरमें एक हिस्सेमें तो कीलोंका बंधन हो परंतु दूसरे भागोंमें कीलोंके बंधन नहीं हों वह अर्धनाराच संहननवाला शरीर कहलाता है। जिस शरीरमें दोनों संधियां अंतमें कीलसहित हों अर्थात् जिसमें दोनों अस्थियोंमें छोटी २ कीलें हों वह कीलिका संहनन है। जिसमें भीतर तो परस्पर हड्डियोंकी संधि नहीं हो परंतु बाहरमें सिरा स्नायु मांस आदिका लपेट हो वह असंप्राप्तसृपाटिका संहनन है अर्थात् जिस शरीरम हड्डियोंकी संधियां जुडी तो नहीं होंय परंतु नशाजाल चारों ओर लिपट रहा हो, मांससे भरा हुआ हो, ऐसा शरीर असंप्राप्तसृपाटिका संहननवाला है। इसप्रकारके संहनन, संहनन नामकर्मोंके उदयसे होते हैं।

यहांतक इकवीस प्रकृतियोंका जुदा वाक्य है और प्रत्येक शरीर त्रस आदिका जुदा वाक्य है इन दोनोंका एक वाक्य क्यों नहीं किया गया अर्थात् विहायोगतयः ऐसी भिन्न विभक्ति नहीं रखकर सेतराणि तक समस्त सूत्रका एक वाक्य ही होना चाहिये ? उत्तर—

पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहात् एकवाक्यत्वाभावः ॥ ४३ ॥

अर्थ—पहले जो गति शरीर आदि विहायोगति पर्यंत भिन्न वाक्यता है उसका कारण यह है कि वे सब प्रतिपक्षरहित हैं. परंतु प्रत्येक शरीरसे लेकर 'सेतराणि' इस भिन्न वाक्यमें जितने भी दश पद हैं वे सब प्रतिपक्षसहित हैं, वे सेतर ग्रहणसे पहले वाक्यगत पदोंकी अपेक्षा विशेषता रखते हैं, अर्थात् जिसप्रकार प्रत्येक शरीरसे लेकर यशःकीर्ति पर्यंत दश पद अपने अपने प्रतिपक्षी सहित ग्रहण किये जाते हैं उस प्रकार गति जाति आदि इकईस पद प्रतिपक्षीसहित नहीं हैं इसी बातको प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें विहायोगति पर्यंत एक वाक्य रक्खा गया है और प्रत्येक शरीरसे लेकर सेतराणि तक एक वाक्य रक्खा गया है और इसीलिये 'तीर्थकरत्वं च' यह एक पद भी प्रतिपक्ष नहीं होनेसे दूसरे वाक्यसे भी भिन्न स्वतंत्र रक्खा गया है। यहांपर यह शंका हो सकती है कि यदि प्रतिपक्ष नहीं होनेसे तीर्थंकर पद भिन्न रक्खा गया है तो जिसमें गति जाति आदि इकईस पद विना प्रतिपक्षके हैं उस पहले वाक्यमें ही इस तीर्थंकर पदको भी रखदेते उसकेलिये एक स्वतंत्रपद क्यों रक्खा गया? इस शंकाका उत्तर यह है कि जिसप्रकार गति आदि सभी नामकर्म शरीर रचना आदि सांसारिक कार्यके साधक हैं वैसे यह तीर्थंकर प्रकृति सांसारिक कार्यकी साधिका नहीं है किंतु इसका उदय केवल धर्मप्रवृत्तिमें सहायक होता है। तीर्थप्रवर्तन करनेमें सहायता देना ही इस प्रकृतिका कार्य है, इसलिये सब नामकर्मके भेदोंसे इस प्रकृतिका उलेख स्वतंत्र किया गया है इसी बातका और भी खुलासा अर्थ नीचेकी वार्तिकसे करते हैं—

प्रधानत्वात्तीर्थकरत्वस्य ॥ ४४ ॥

मनुष्यशरीर अथवा तिर्यंचशरीरसे जीव विमुक्त हो जाता है अर्थात् उसका वह शरीर छूट जाता है, उसीसमय वह जीव पूर्वबद्ध यदि नरकायु हो तो उस आयुके उदयके अनुसार नरकगतिके सन्मुख होता है तभी उसके पूर्व शरीरके आकारका नाश नहीं होने देनेमें कारणभूत जो कर्म विग्रह गतिमें उदय होता है वह नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म है अर्थात् जिस गतिको जीव जाता है उसी नामवाली आनुपूर्वीका उदय उसके होता है और उसका कार्य यह होता है कि वह जीवको विग्रहगतिमें छोडेहुये शरीरके आकारमें रखती है, यदि मनुष्यपर्यायको छोडकर जीव नरकगतिको जाता है तो विग्रहगतिमें नरकगत्यानुपूर्वीका उदय उसके होता है और वह जीवको मनुष्यशरीरके आकार वहां रखती है। इसीप्रकार व्यवस्था बाकीकी तीन आनुपूर्वियोंमें घटित कर लेनी चाहिये। गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीनोंका एक साथ उदय होता है*। शंका—शरीराकार रखनारूप कार्य तो निर्माणकर्म द्वारा होनेवाला कार्य है, यह कार्य उसीसे साध्य है, वह आनुपूर्व्य नामकर्मके उदयका कार्य नहीं है ? उत्तर—यह दोष नहीं है क्योंकि जो पूर्व शरीरसंबंधी आयुका नाशकाल होता है, वही निर्माणकर्मोदयके नाशका भी काल होता है, आयुनाश और निर्माणकर्मोदयनाश दोनोंका समान काल है इसलिये जिससमय पूर्व शरीरकी निवृत्ति हो जाती है उसीसमय निर्माण नामकर्मका उदय भी नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट होनेपर आठप्रकारके कर्म और तैजसकार्माण शरीरोंसे संबंध रखनेवाले आत्माके पूर्वशरीरके आकारका नाश नहीं होनेमें कारण ऐसा आनुपूर्व्य कर्म उदयको प्राप्त होता है अर्थात् निर्माण नामकर्म तो औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीरोंकी यथास्थान रचनामें कारण है और आनुपूर्व्य कर्म विग्रहगतिमें जीवको पूर्व शरीराकार रखनेमें कारण है। उस आनुपूर्व्य कर्मोदयका काल विग्रहगतिमें जघन्यरीतिसे एक समय है। उत्कृष्ट

* "गदि आणु आउ उदओ सपदे" गोम्मटसार कर्मकाण्ड।—अर्थात् गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीनोंका उदय मरणके उत्तरक्षणमें एक साथ शुरू हो जाता है।

प्रतिपक्ष प्रकृतियां दोनों मिलकर वीस प्रकृतियां, और अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थंकर ये आठ प्रकृतियां मिलकर कुल अट्ठावीस प्रकृतियां अपिंडरूप हैं। ये पिंड प्रकृतियां और अपिंड प्रकृतियां दोनों मिलाकर कुल मिलाकर नामकर्मकी तिरानवे प्रकृतियां होती हैं। अब कहते हैं कि विचित्र विचित्र नाना आत्माकी शरीरादि अवस्थाओंका विधाता (रचनेवाला) यथार्थ नामका धारी छठाकर्म नामकर्म तो उत्तर प्रकृति बंधके भेदों सहित कहा जाचुका, अब सातवां कर्म गोत्रकर्म कितने प्रकार है उसीको नीचेके सूत्रसे बतलाते हैं—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—गोत्रकर्मके दो भेद हैं एक उच्चगोत्र दूसरा नीचगोत्र।

१—गोत्रका लक्षण श्रीगोम्मटसारमें इसप्रकार कहा गया है—

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥ १३ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड ॥

अर्थात् संतानपरंपरासे चले आये हुए जो जीवके आचरण उन्हींकी गोत्रसंज्ञा है, संतान परंपरासे जो उच्चाचरण है वह उच्चगोत्रका कार्य है और संतानपरंपरासे जो नीच आचरण है वह नीच गोत्रका कार्य है। इस लक्षणसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि गोत्रकी व्यवस्था वर्तमान पर्यायकी क्रियामात्रसे नहीं होती है किन्तु कुलपरम्पराके आचरणोंके आधार पर है। इससे इस बातका निर्णय भी हो जाता है कि एक पर्यायमें कोई व्यक्ति अपने वर्णसे प्रतिकूल भी आचरण व्यवहार करे तो भी उसका गोत्र उस पर्यायमें नहीं बदल सकता है यदि वर्तमान व्यापारादिवृत्ति करने मात्रसे गोत्र बदलता हो तो वर्णानुकूल आचरण और व्यवहारादि वृत्ति नहीं करनेवाले ब्राह्मण और शूद्रके बालकों पर जो संस्कार विशुद्धि एवं बुद्धिनैर्मल्य अथवा संस्कारहीनता एवं बुद्धिमांद्य आदि बातोंका प्रभाव प्रारंभसे ही देखनेमें आता है वह किस प्रकार आ सकता है? इससे यह बात सुनिश्चित है कि कुलपरम्पराके आचरणोंका प्रभाव संतानके परिणामों पर नियमसे पड़ता है और उसीके बल पर जीवोंका उद्धार अथवा पुनः संसारपतन है। उच्च और नीच कुलोंमें जन्म लेनेका ही यह परिणाम होता है कि उच्च कुलोत्पन्न पुरुष उसी भवसे मुनिलिङ्ग धारण कर मोक्ष जा सकता है परन्तु नीच कुलोत्पन्न पुरुष मुनिलिङ्ग धारण भी नहीं कर सकता यह नियम है। इसका हेतु यही है कि उसके परिणामोंमें उस प्रकारकी मुनिलिङ्ग धारण करनेके योग्य विशुद्धि अथवा वीतरागता जाग्रत ही नहीं हो सकती है परन्तु उच्च कुलोत्पन्न पुरुष थोडासा निमित्त पाकर अपने परिणामोंको समुज्ज्वल कर लेता है इसलिये गोत्रव्यवस्था संसारी जीवोंके बाह्यसाधनोंमें शुद्धाशुद्धिका मूल कारण है और उसकी प्राप्ति अपने शुभाशुभ कर्मके उदयसे उच्च नीचरूपमें क्रमसे होती है।

शरीरके ही अंगोपांगों द्वारा हो जैसे हिरणके सींगों द्वारा कभी कभी उसका उलझकर मरण हो जाता है परंतु अपने द्वारा ही अपना घात होना वह उपघात कर्म कहा जाता है । लम्बे सींग होना, लम्बे स्तन होना, लम्बा पेट होना ये सब अवयव आत्मघातके कारण होनेसे उपघात नामकर्मके साधक हैं ।

यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम ॥ १४ ॥

अर्थ–परघात शब्दमें जो पर उपसर्ग है वह अन्य अर्थको प्रगट करता है अर्थात् परका अर्थ दूसरा है । ढाल आदि रक्षा करनेवाली वस्तुओंके पासमें रहनेपर भी जिस कर्मके उदयसे पर प्रयुक्त शस्त्रादिकोंके द्वारा आघात हो जाय अर्थात् दूसरेके द्वारा अपना घात हो जाय वह परघात नामकर्म है ।

यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपननाम ॥ १५ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा तपे अथवा जो तपावे वह आतप कहलाता है, उस आतपका उत्पन्न करनेवाला जो कर्म है वह आतप कर्म है । वह आतप नामकर्म सूर्यविंबमें रहनेवाले पृथ्वीकायके जीवोंके रहता है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे आतपवाला शरीर हो वह आतप कर्म सूर्यके बिंबमें रहनेवाले पृथ्वीकायके जीवोंके हैं ।

यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम ॥ १६ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा उद्योत किया जाय अथवा जो उद्योतका होना वह उद्योत है । वह उद्योत जिस कर्मके निमित्तसे होता है वह उद्योत नामकर्म है. वह उद्योत चंद्रमाके विमानोंमें रहनेवाले पृथ्वीकायके जीवोंमें रहता है तथा खद्योत (पटवीजना–जुगुनू) आदि जीवोंके भी उद्योत नामकर्मका उदय रहता है इसीलिये उन जीवोंके शरीरमें प्रकाशरूप पर्याय रहती है ।

यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम ॥ १७ ॥

अर्थ–उच्छ्वास नाम श्वास लेनेका है । प्राणापानरूप–श्वासोच्छ्वासरूप क्रियाका नाम ही उच्छ्वास है, उस उच्छ्वासका कारण जो कर्म है वह उच्छ्वास नामकर्म है ।

इसीप्रकारसे बाकीके भेद भी जानना चाहिये अर्थात् दानादिकोंमें अंतरायकर्म बाधा डालता है उसीकी अपेक्षा उसके पांच भेद हैं।

दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यपदेशः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे दान देनेकी इच्छा रखनेवाला भी दान नहीं कर सकै वह दानांतराय कर्म है अर्थात् दान देना चाहता है परंतु कोई कारण ऐसे बाधक मिलजाते हैं जिनके निमित्तसे दान देनेमें असमर्थ बनजाता है इसप्रकारकी बाधकता दानांतरायकर्मके उदयसे आती है। इसीप्रकार किसी वस्तुके लेनेकी चाहना रखता है फिर भी वह वस्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं प्राप्त होती है यह लाभांतराय कर्मके उदयका फल है। जैसे व्यापारमें खूब प्रयत्न भी करता है परंतु लाभ नहीं होपाता इससे जाना जाता है कि उसका लाभांतरायकर्मका प्रबल उदय है तथा भोगनेकी इच्छा भी रखता है फिर भी भोग नहीं पाता यह भोगांतरायकर्मके उदयका परिणाम है। इसीप्रकार उपभोग करनेकी इच्छा रखता हुआ भी उपभोग करनेमें असमर्थ होजाता है यह उपभोगांतरायकर्मका उदयजनित परिणाम है। जैसे एक सेठको लाभांतरायकर्मके क्षयोपशमसे समस्त भोग और उपभोग सामग्री मिली है परंतु किसी बीमारीके कारण अथवा किसीप्रकारकी परतंत्रता आदिके कारण वह उसका भोग उपभोग नहीं कर सकता है इससे समझा जाता है उसके भोगांतराय उपभोगांतराय कर्मोंका उदय है। इसीप्रकार किसी कार्यके करनेकेलिये भावना करता है उत्साह भी करता है परंतु सामर्थ्यविहीन होनेसे उस कार्यके करनेमें असमर्थ होजाता है यह वीर्यांतरायकर्मके उदयका कार्य हैं। ये पांच अंतराय कर्मके भेद हैं।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेन्न गंधादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ॥ ३ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि—भोगांतराय और उपभोगांतराय ऐसे दो कर्म भिन्न कहे गये हैं परंतु भोग उपभोग दोनोंमें कुछ भेद नहीं है कारण भोग उपभोग दोनोंके भोगनेमें सुख समान है

प्रत्येक शरीर नामकर्मके उदयसे होता है अर्थात् एक शरीरका एक ही जीव स्वामी हो, बाकीके अनेक जीव भी उस शरीरमें भले ही रहते हों परंतु उस शरीरका मूल स्वामी एक ही हो, ऐसा शरीर प्रत्येक शरीर कहलाता है ।

यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरं तत्साधारणशरीरनाम ॥ २० ॥

अर्थ—बहुत आत्माओंके उपभोग करनेका कारणभूत साधारण शरीर जिस कर्मके उदयसे मिलता है वह साधारण शरीर नामकर्म है अर्थात् जहां एक शरीरके समानरूपसे अनेक जीव स्वामी हों वह साधारण शरीर कहलाता है ऐसा शरीर साधारण नामकर्मके उदयसे मिलता है उस कर्मके उदयवाले जीव किस प्रकार होते हैं ? यही बात बताते हैं—आहारादि चारों पर्याप्तियां, जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह, उपघात आदि सब जिन जीवोंके समान हों साधारण हों वे साधारण शरीरवाले जीव कहलाते हैं। जिससमय एक जीवकी आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास इन पर्याप्तियोंकी रचना होती है उसीसमय अनंतानंत जीवोंकी आहारादि चारों पर्याप्तियां होती हैं। जिससमय एक जीव उस शरीरमें जन्म लेता है उसीसमय उसमें अनंतानंत जीव जन्म धारण करते हैं । जिससमय एक जीव मरता है उसीसमय अनंतानंत जीवोंका मरण होता है । जिससमय एक जीव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता और छोडता है, उसीसमय अनंतानंत जीव भी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते और छोडते हैं, जिससमय एक जीवका आहारादि ग्रहण होनेसे उपकार होता है उसीसमय अनंतानंत जीवोंका भी उसी आहारादिसे उपकार होता है, जिससमय एक जीव अग्नि विषादिकसे नष्ट होता है उसीसमय अनंत जीवोंका भी नाश हो जाता है इसप्रकार एकही शरीरके समानरूपसे अनंतानंत जीव स्वामी हों वे सब जीव साधारण कहलाते हैं, यह

१—साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥
एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥

वरण आदिक प्रकृतियां हैं वे जबतक अपना रस देकर खिर नहीं जातीं तबतक आश्रयके विनाशके अभावसे जितने कालतक उनका ठहरना होता है उतने कालमें स्थितिबंधकी विवक्षा है अर्थात् आत्मामें कर्म प्रकृतियां कितने काल तक ठहर सकती हैं और कितने काल पीछे वे अपना रस देकर खिर जाती हैं इसप्रकार उन प्रकृतियोंकी आत्मामें ठहरनेकी मर्यादाका जो काल है उसीकी अपेक्षा यह स्थितिबंध है। यह स्थिति दोप्रकार है—एक उत्कृष्ट स्थिति, दूसरी जघन्य स्थिति। उनमें जो उत्कृष्ट कषायाध्यवसायस्थानके योगसे हो वह उत्कृष्ट स्थितिबंध है और जो जघन्यकषायाध्यवसायस्थानसे हो वह जघन्यस्थितिबंध है अर्थात् कषायके उत्कृष्ट परिणाम विकल्पोंसे उत्कृष्ट स्थिति कर्मोंमें पडती है, मध्यस्थिति मध्यम विकल्पोंसे पडती है। यदि इसप्रकारकी कर्मस्थितिकी व्यवस्था है तो यह कर्म प्रकृति कितने कालतक ठहरती है यह बात बताना चाहिये? ऐसा प्रश्न होनेपर जिन प्रकृतियोंकी समान स्थिति है पहले उन्हींका नियम निरूपण करनेवाला सूत्र कहा जाता है—

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—आदिके तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है।

आदित इति वचनं मध्यांतनिवृत्यर्थं ॥ १ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंके मध्यकी या उनके अंतकी तीन प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो इसके लिये 'आदितः' इस पदका सूत्रमें उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ होता है कि आठ कर्मोंमें आदिमें होनेवाली जो तीन प्रकृतियां हैं उन्हींका यहां ग्रहण है। आदितः इस पदमें तस् प्रत्ययके प्रकरणमें आये हुये "आद्यादिभ्यः उपसंख्यानं" इस सूत्रसे तस् प्रत्यय हो जाता है।

तिसृणामिति वचनं अवधारणार्थं ॥ २ ॥

यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम ॥ २५ ॥

अर्थ–जिस कर्मके उदयसे जीवोंके अच्छा स्वर उत्पन्न हो वह सुस्वर नामकर्म है। जो कोकिल आदि पक्षी और अच्छे अच्छे मधुर गानेवाले गवैया प्रिय स्वरसे गाते हैं उन सबोंके सुस्वर नामकर्मका उदय है।

तद्विपरीतं दुःस्वरनाम ॥ २६ ॥

अर्थ–अच्छे स्वरमे विपरीत फल होनेसे वह दुःस्वर अच्छे स्वरसे विपरीत कहलाता है। जिस कर्मके उदयसे कर्कश-कठोर असुहावना, रूखा स्वर उत्पन्न हो वह दुःस्वर नामकर्म कहलाता है। गधा, काकपक्षी, कठोर भद्दा बोलनेवाले पुरुष आदिके दुःस्वर नामकर्मका उदय होनेसे भद्दा स्वर होता है।

यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम ॥ २७ ॥

अर्थ–जिस कर्मके उदयसे देखा हुआ अथवा सुननेमें आया हुआ जीव सुंदर शुभ मालूम होता है वह शुभ नामकर्म है अर्थात् जिसका शरीर शुभ प्रतीत होता है अथवा जिसका नाम सुननेसे ही शुभ प्रतीत होता है ऐसा शरीर शुभ नामकर्मके उदयसे होता है।

तद्विपरीतं अशुभनाम ॥ २८ ॥

अर्थ–उस शुभसे जो विपरीत फलवाला है वह अशुभ है अर्थात् जिस कर्मके उदयसे देखनेवाले और सुननेवालेको असुंदर अशोभन विदित होता हो वह अशुभ नामकर्म है।

सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम ॥ २९ ॥

अर्थ–जिस कर्मके उदयसे दूसरे जीवोंद्वारा अनुग्रह और घात न हो सकै ऐसा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म नामकर्म है अर्थात् जिस शरीरका न तो दूसरोंद्वारा उपकार या उपघात हो सकै और न दूसरोंका जिसके द्वारा अनुग्रह या उपघात हो सकै ऐसा सूक्ष्म शरीर पाना सूक्ष्म नामकर्मका कार्य है।

अन्यबाधाकरशरीरकारणं वादरनाम ॥ ३० ॥

वरण आदिक प्रकृतियां हैं वे जबतक अपना रस देकर खिर नहीं जातीं तवतक आश्रयके विनाशके अभावसे जितने कालतक उनका ठहरना होता है उतने कालमें स्थितिबंधकी विवक्षा है अर्थात् आत्मामें कर्म प्रकृतियां कितने काल तक ठहर सकती हैं और कितने काल पीछे वे अपना रस देकर खिर जाती हैं इसप्रकार उन प्रकृतियोंकी आत्मामें ठहरनेकी मर्यादाका जो काल है उसीकी अपेक्षा यह स्थितिबंध है। यह स्थिति दोप्रकार है—एक उत्कृष्ट स्थिति, दूसरी जघन्य स्थिति। उनमें जो उत्कृष्ट कषायाध्यवसायस्थानके योगसे हो वह उत्कृष्ट स्थितिबंध है और जो जघन्यकषायाध्यवसायस्थानसे हो वह जघन्यस्थितिबंध हैं अर्थात् कषायके उत्कृष्ट परिणाम विकल्पोंसे उत्कृष्ट स्थिति कर्मोंमें पडती है, मध्यस्थिति मध्यम विकल्पोंसे पडती है। यदि इसप्रकारकी कर्मस्थितिकी व्यवस्था है तो यह कर्म प्रकृति कितने कालतक ठहरती है यह वात वताना चाहिये? ऐसा प्रश्न होनेपर जिन प्रकृतियोंकी समान स्थिति है पहले उन्हींका नियम निरूपण करनेवाला सूत्र कहा जाता है—

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—आदिके तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है।

आदित इति वचनं मध्यांतनिवृत्यर्थं ॥ १ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंके मध्यकी या उनके अंतकी तीन प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो इसके लिये 'आदितः' इस पदका सूत्रमें उलेख किया गया है। इसका अर्थ होता है कि आठ कर्मोंमें आदिमें होनेवाली जो तीन प्रकृतियां हैं उन्हींका यहां ग्रहण है। आदितः इस पदमें तस् प्रत्ययके प्रकरणमें आये हुये "आद्यादिभ्यः उपसंख्यानं" इस सूत्रसे तस् प्रत्यय हो जाता है।

तिसृणामिति वचनं अवधारणार्थं ॥ २ ॥

बाकी चार होती हैं क्योंकि एकेंद्रिय जीवके भाषापर्याप्ति नहीं होती है तथा द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय इन विकलत्रय जीवोंके तथा असंज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंके मनःपर्याप्तिको छोडकर बाकी पांच होती हैं तथा संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंके छहों पर्याप्तियां होती हैं। इन पर्याप्तियोंका होना पर्याप्तिनामा नामकर्मके उदयसे होता है। जब जीव जन्म धारण करते समय इन पर्याप्तियोंको ग्रहण करना प्रारंभ कर देता है उस समय उसके सभी पर्याप्तियोंका प्रारंभ हो जाता है परंतु समाप्ति क्रमसे होती है अर्थात् पर्याप्तियोंका प्रतिष्ठापन तो एक साथ होता है और निष्ठापन क्रमसे ही होता है और पर्याप्तियोंकी क्रमसे पूर्णता करते हुये जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हो पाती है तबतक उस जीवको निर्वृत्यपर्याप्तक[1] कहते हैं परंतु इस निर्वृत्यपर्याप्तक जीवके भी पर्याप्ति नामकर्मका ही उदय होता है। इन पर्याप्तियोंका क्रमसे एक एकका प्राप्त करना भी अंतर्मुहूर्तमें होता है और समस्त पर्याप्तियोंकी पूर्णता भी अंतर्मुहूर्तमें होती है। जिस जीवके अपर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय होता है वह लब्ध्यपर्याप्तक जीव कहलाता है। वह जन्म धारण करते समय जैसे ही पर्याप्तियोंका ग्रहण करना प्रारंभ करता है वैसे ही एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाता है कि इसी बीचमें मर जाता है। इसप्रकार लब्ध्यपर्याप्तक एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय असंज्ञी पंचेंद्रिय और संज्ञी पंचेंद्रिय जीव एक अंतर्मुहूर्तमें[2] छैयासठिहजार तीनसौ छत्तीस जन्म और उतने ही मरण धारण करते हैं। उनमें एकेंद्रियके जन्म मरणोंकी संख्या सबोंसे[3] अधिक है बाकीके जीवोंमें द्वींद्रियसे

१—पज्जत्तयस्स उदये णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदी होदि। जाव शरीरमपुरणं णिवत्ति अपुरणगो ताव ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड ॥

२—तिणिणसया छत्तोसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणानि। अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड ॥

३—सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पचक्खे। छावट्ठिं च सहस्सा सयं च वत्तीस मेयक्खे ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड ॥

अर्थ—द्वींद्रियजीवके अस्सी भव त्रींद्रियजीवके साठ भव चतुरिन्द्रियके चालीस भव और पंचेन्द्रियके चौवीस भव (असंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंचके आठ, संज्ञी तिर्यंचके आठ भव और मनुष्यके आठ भव) तथा छयासठ हजार एक सौ वत्तीस भव एकेंद्रिय जीवके होते हैं। ये भव लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके एक अन्तमुहूर्तमें होते है। कुल ६६३३६ जन्म मरण होते है।

कोटिसे गुणा करनेपर जो लब्ध आता है वह कोटीकोटि संख्या कहलाती है। तीस सागरोंकी जो कोटी-कोटि वह तीस कोटाकोटि संख्या है।

परामिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थं ॥ ५ ॥

अर्थ—सूत्रमें जो परा शब्द कहा गया है वह जघन्य स्थितिके निवृत्तिके लिये कहा गया है, परा नाम उत्कृष्टका है अर्थात् चार कर्मोंकी तीस कोटीकोटि सागरोपम स्थिति उत्कृष्ट है। वह किस जीवके होती है इस प्रश्नके उत्तरमें वार्तिक कहते हैं—

संज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकस्य परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवके ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अंतराय इन चारों कर्मोंकी तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। इतना विशेष है यह उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि ही संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तकके होती है, सम्यग्दृष्टि संज्ञीपर्याप्तकके नहीं होती। श्रीसर्वार्थसिद्धिमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि "मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पर्याप्तकस्य" इसका भी अभिप्राय यही है कि अशुभ कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बंध मिथ्यादृष्टिके ही होता है। ज्ञानावरणादिक घातिया सभी अशुभ कर्म हैं। वेदनीयका भी

१—घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी। संठाणसहदीणं चदुपणपणगं च वण्णचओ ॥ ४३ ॥
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु। बंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सयं दुचदुरसीदिदरे ॥ ४४ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड ॥

अर्थात् समस्त घातिया कर्म (ज्ञानावरण दर्शनावण मोहनीय अंतराय) नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति ये चार जातियां, पहलेको छोडकर पांच संस्थान, पहिलेको छोड़कर पांच संहनन, अप्रशस्त वर्ण रस रूप गंध ये वर्ण चतुष्क, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति और स्थावर दशक अर्थात्—स्थावर, साधारण शरीर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय अयशःकीर्ति ये स्थावरदशक कहलाता है। इसप्रकार ये प्रकृतियां अप्रशस्त कहलाती है ये सब मिलकर बंधकी अपेक्षा अभेददृष्टिसे ८२ होती है और भेददृष्टिसे ९८ होजाती है उनमें चार वर्णोंके २० भेद हो जाते है इसलिये चार मूल और १६ उत्तर भेद और मिलानेसे ९८ भेद हो जाते है। उदयकी अपेक्षा इन्हीं अप्रशस्त प्रकृतियोंके अभेद

अर्थ—उससे जो विपरीत है वह अस्थिर नामकर्म है जिस कमके उदयसे थोडा भी उपवासादि करनेसे अथवा थोडासा शीत उष्णका संबंध होनेसे भी अंग उपांग कृश—क्षीण हो जांय, चलायमान होने लगें वह अस्थिर नामकर्म है।

प्रभोपेतशरीरताकारणं आदेयनाम ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें प्रभा उत्पन्न हो, देखनेयोग्य इष्ट शरीर हो वह आदेयकर्म है अर्थात् दैदीप्यमान कांतिशाली शरीर जिस कर्मके उदयसे होता है वह आदेय नामकर्म है।

निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे निष्प्रभ—कांतिरहित शरीर हो वह अनादेय कर्म है। शंका—तैजसनामा सूक्ष्म शरीर है, उसीके निमित्तसे शरीरमें प्रभा होती है, आदेय कर्मके निमित्तसे नहीं होती है फिर आदेय कर्म क्यों माना गया है? उत्तर—यदि तैजसशरीरका ही प्रभा कार्य माना जायगा तो तैजसशरीर तो सर्व संसारी जीवोंके है इसलिये सबोंके शरीरोंमें समान प्रभा दीखनी चाहिये परंतु सबोंमें समान प्रभा दीखती नहीं है इसलिये विशेष विशेष प्रभा आदेय नामकर्मके उदयसे होती है यह बात स्फुट होजाती है।

पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम ॥ ३८ ॥

अर्थ— पवित्र गुणोंकी प्रसिद्धि लोकमें जिस कर्मके उदयसे हो वह यशस्कीर्ति नामकर्म है अर्थात् लोकमें यशका फैलना यशःकीर्ति कर्मके उदयका फल है। शंका—यशःकीर्तिनामा एक कर्म माना गया है परंतु जो अर्थ यश शब्दका है वही अर्थ कीर्ति शब्दका है इसलिये दोनोंमें एक शब्द कहना ही ठीक है दोनोंके कहनेसे पुनरुक्तपनेका दोष आता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण—दोनोंका—यशका और कीर्तिका एक ही अर्थ नहीं है किंतु यशका अर्थ गुण है और कीर्तिका अर्थ प्रसिद्धि है, गुणोंकी प्रसिद्धिको यशःकीर्ति कहते हैं इसप्रकार अर्थभेद होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं है।

उत्कृष्टस्थिति निकाली गई है। जैसे—यदि मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति संज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तक जीवके सत्तर-कोटाकोटि सागरकी पडती है वही उत्कृष्टस्थिति उसी मिथ्यात्वकर्मकी एकेंद्रियपर्याप्तक जीवके एकसागर प्रमाण पडती है, द्वींद्रियके पचीस सागरप्रमाण पडती है, त्रींद्रियपर्याप्तकके पचास सागरप्रमाण पडती है, चतुरिंद्रियपर्याप्तकके सौ सागरप्रमाण पडती है, असंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकके उसी मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एकहजार सागरप्रमाण पडती है, इसी त्रैराशिकसे अन्य कर्मोंकी उत्कृष्टस्थितियां समझ लेना चाहिये। जैसे—मिथ्यात्वकर्मकी सत्तर कोटाकोटि सागरके स्थानमें तो एकेंद्रियपर्याप्तकके एकसागरकी पडती है तो जिस कर्मकी संज्ञीपंचेंद्रियपर्याप्तकके उत्कृष्टस्थिति तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण पडती है उस कर्मकी एकेंद्रियादिकके कितनी पडेगी? उसीको कहते हैं कि वह एकेंद्रियके तो एकसागरके सात भागोंमेंसे तीनभागप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पडेगी और द्वींद्रियकी पच्चीस सागरमेंसे सात भाग करनेपर उनमेंसे तीन भागप्रमाण पडेगी। इसी क्रमसे सब कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति लगा लेना चाहिये। यह तो ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति बताई गई है। आगे नाम गोत्रादिकी

१—एयं पणकदि पएणं सयं सहस्सं च मिच्छवरबंधो। इगि विगिलाणं अवरं पल्लासंखूण संखूणं ॥ १४४ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड ॥

अर्थ—एक सागर पचीस सागर पचास सागर सौ सागर हजार सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवोंके मिथ्यात्वकर्मका उत्कृष्ट बन्ध होता है और उन्हींके जघन्य बन्ध पल्यके असंख्यातवें भाग और पल्यके संख्यातवें भाग कमती होता है अर्थात् जितनी इनकी उत्कृष्ट स्थिति है उसमेंसे एकेंद्रिय जीवोंके तो पल्यके असंख्यातवें भाग कमती स्थिति जघन्य पड़ती है और विकलेंद्रिय तथा असंज्ञि पंचेंद्रियके पल्यके संख्यातभाग कमती पड़ती है।

२—जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं। इदि संपाते सेसाणं इगिविगिलेसु उभयठिदी ॥ १४५ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड

अर्थ—यदि एकेंद्रियादिक पर्याप्तक जीव सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तो एक सागर पचीस सागर आदि प्रमाण रूपसे बांधते हैं तो जिन कर्मोंकी स्थिति तीस सागर और बीस आदि सागर प्रमाण है उनकी एकेंद्रियादि पर्याप्त जीव कितनी उत्कृष्ट स्थिति बांधेंगे ऐसा त्रैराशिक करने पर उन एकेंद्रिय और विकलेंद्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिका प्रमाण निकल जाता है।

पना कोई कर्मकृत कार्य नहीं है किंतु विशेषज्ञान और चारित्रके विकाशसे होनेवाली आत्माकी शुद्धि विशेष है तथा चक्रधरपना आदि विशेष उच्चगोत्र आदि पुण्यकर्मोंके उदयके फलरूप हैं इसलिये उनके लिये भिन्न कर्म मानना व्यर्थ है। फिर शंका—

तदेव तीर्थंकरत्वस्यापीति चेन्न तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका फिर होती है कि जिसप्रकार चक्रधरादिके लिये उच्चैर्गोत्र कारण हैं उसी प्रकार उच्चैर्गोत्र उस तीर्थंकरपदके लिये भी कारण मान लेना चाहिये, उसके लिये तीर्थंकरप्रकृति जुदी माननेकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है. कारण—तीर्थप्रवर्तन होना तीर्थंकर प्रकृतिका फल है। तीर्थंकरप्रकृतिका फल यही है कि जिसके उदयमें वह जीव लोकमें धर्मका प्रवर्तन कर दे, जिससमय लोक धर्मसे शून्य अथवा शिथिल हो जाता है उससमय तीर्थंकर जन्म लेते हैं और वे मोक्ष मार्गमें स्वयं लगकर सबसे प्रथम केवलज्ञान प्राप्त कर सर्वोपरि आदर्श बना लेते हैं। फिर वे ही उस तीर्थंकरप्रकृतिके उदयसे जगत्को मोक्षमार्गपर लगानेवाला सद्धर्मका उपदेश देते हैं जिसके निमित्तसे अनेक जीव सम्यग्दृष्टि और मुनिलिंग धारण कर मोक्षसाधन करते हैं, इसप्रकारका धर्मप्रवर्तन कार्य उस तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे होता है वह धर्मप्रवर्तन कार्य उच्चगोत्रके उदयसे नहीं हो सकता, उच्चगोत्रसे तो उच्चकुल और उसके निमित्तसे विभूति आदि सांसारिक सामग्री प्राप्त होती है। चक्रवर्ती आदिके भी सांसारिक विभूतिका ही महत्त्व है, सांसारिक विभूति पाना विशेष पुण्यकर्मका कार्य है परंतु चक्रवर्तीपदका कार्य धर्मप्रवर्तन नहीं है इसीलिये चक्रवर्ती आदिके धर्मप्रवर्तन कार्य नहीं देखा जाता है । इस कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो चुकी कि तीर्थंकरपद एक धर्मसाधक विशेष कार्य है इसलिये उसके लिये विशेष तीर्थंकर नाम प्रकृति नियत है परंतु चक्रधरादि पद विशेष पुण्यकार्य हैं उनके लिये उसी नामवाले पृथक् कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं है। शंका —'गतिजातिशरीरांगोपांग' इस सूत्रमें विहायोगतयः

तीव्रपरिणामी होना चाहिये। उसीके इतनी सबसे बडी स्थिति पडती है। वाकीके एकेंद्रियादिकोंके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आगमके अनुसार जानना चाहिये। वह इसप्रकार है–पर्याप्तक एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रियोंके क्रमसे एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर और सौ सागरप्रमाण उत्कृष्टस्थिति मोहनीयकर्मकी है अर्थात् एकेंद्रियपर्याप्तकके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एकसागरप्रमाण है द्वींद्रिय पर्याप्तकके मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागरप्रमाण है और त्रींद्रियपर्याप्तकके पचास सागर तथा चतुरिंद्रियपर्याप्तकके सौ सागरप्रमाण उत्कृष्टस्थिति मोहनीयकर्मकी है तथा एकेंद्रियअपर्याप्तक जीवके उसी मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असंख्यात भाग कर हीन एकसागरप्रमाण है अर्थात् पल्यमें असंख्यातका भाग देनेपर जो लब्ध आवै उस संख्याको एक सागरमेंसे घटा देना चाहिये उतनी स्थिति पल्योपमासंख्येयभागहीन एक सागरोपम कहलाती है वह एकेंद्रियअपर्याप्तक जीवके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति है और द्वींद्रियअपर्याप्तके भी मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असंख्यातवें भागहीन पच्चीस सागरप्रमाण है। इसीप्रकार त्रींद्रियअपर्याप्तक और चतुरिंद्रियअपर्याप्तक जीवोंके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति भी उनकी पर्याप्तक उत्कृष्टस्थितिमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग कमती कर देनेपर उतनेही सागरप्रमाण है तथा पर्याप्तक असंज्ञी पंचेंद्रियके मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति हजार सागरप्रमाण है और उसी असंज्ञी पंचेंद्रियकी अपर्याप्तक अवस्थामें मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति हजार सागरमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग कमती कर देने पर हजार सागरप्रमाण है तथा संज्ञीपंचेंद्रियकी अपर्याप्त अवस्थामें मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति अंतः कोटाकोटि सागरप्रमाण है। एक कोटिसे ऊपर और एक कोटाकोटिके भीतर जो प्रमाण है वह अंतःकोटाकोटि सागरप्रमाण है। पांच कर्मोंकी तो उत्कृष्टस्थिति कही जा चुकी अब नामकर्म और गोत्रकर्म इन दोनोंकी उत्कृष्टस्थिति कितनी है? यही नीचेके सूत्रसे बताते हैं––

अर्थ—जितने भी शुभफल देनेवाले शुभकर्म हैं उन सबोंमें प्रधानभूत शुभकर्म तीर्थंकर कर्म है अर्थात् और सब शुभ कर्मोंका फल उतना महान् शुभरूप नहीं है जितना कि महान् शुभ आत्मकल्याणकारी फल इस तीर्थंकर प्रकृतिका है इसलिये सब कर्मोंसे महत्वास्पद होनेके कारण इस तीर्थंकर प्रकृतिका भिन्न वाक्यनिर्देश किया गया है। और भी यह बात है—

अंत्यत्वाच्च ॥ ४५ ॥

अर्थ—तथा जिस भव्य जीवकी संसार पर्यायोंका अंत होचुकता है और मोक्ष पर्याय अति निकट रह जाती है उसी परम पूज्य आत्माके इस तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होता है अर्थात् तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती श्रीअर्हंतदेवके ही इस तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होता है। श्रीअर्हंत भगवान संसारका सर्वथा नाश कर चुके हैं और आयु नाम गोत्र वेदनीय इन चार कर्मोंकी समाप्ति होते ही थोडे ही दिनोंसे उसी पर्यायसे सब कर्मोंसे मुक्त होकर सिद्धालयमें विराजमान होनेवाले हैं इसलिये तीर्थंकर प्रकृतिके उदयमें एक असाधारण विशेषता होनेसे उसका भिन्न वाक्य द्वारा प्रथकरण किया गया है। इसप्रकार इस नामकर्मकी प्रकृतियोंमें चार गतियां, पांच जातियां, पांच शरीर, तीन अंगोपांग, पांच बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांच वर्ण, चार आनुपूर्व्य, दो विहायोगति, ये चौदह मूल प्रकृतियोंकी उत्तर ६५ पैंसठ प्रकृतियां तो पिंड प्रकृतियां हैं अर्थात् मूलमें चौदह पिंड प्रकृतियां हैं उनके ६५ भेद होजाते हैं और प्रत्येक शरीरसे लेकर यशःकीर्ति पर्यंत दश प्रकृतियां तथा उनकी दश

१—तीर्थंकर प्रकृतिका उदय सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानमें ही होता है और विना प्रश्नके अनायास चारकाल भगवानकी दिव्यध्वनि खिरना यह उसका कार्य है। दूसरे केवलियोंकी दिव्यध्वनि विना प्रश्नके नियमित रूपसे नहीं खिरती है। तीर्थंकर प्रकृतिके उदयके पहिले जो पंचकल्याणादिक असाधारण कार्य होते हैं वे तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे नहीं होते किन्तु उस तीर्थंकर प्रकृतिके साथ ही अविनाभावरूपसे बंध होनेवाले अन्य अनेक पुण्यकर्मोंके उदयसे वे कार्य होते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमें [समीपमें] ही पुरुषके ही होता है।

इसीप्रकार त्रींद्रिय आदिकमें समझना चाहिये। अब आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति कितनी है, उसीको नीचेके सूत्रद्वारा कहते हैं—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीससागर प्रमाण है। यहां सूत्रमें सागरोपम पद दिया गया है इससे सिद्ध होता है कि कोटाकोटिकी निवृत्ति यहां होचुकी। यदि कोटाकोटिका भी ग्रहण होता तो सागरोपम पद देनेकी आवश्यकता नहीं थी परंतु उसके देनेसे कोटाकोटिका संबंध आयुकर्मके साथ नहीं है यह बात सिद्ध होजाती है। परा स्थिति ऐसी अनुवृत्ति चली आती है। इस आयुकर्मकी भी उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके होती है, वाकी एकेन्द्रियादिकोंके आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति आगमानुसार जानना चाहिये। असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त जीवकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। वाकीके जीवोंकी आयुका प्रमाण कोटिपूर्व प्रमाण है। अब कहते हैं कि आठों कर्म प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तो कह दीगई उन्हीं सब कर्मोंकी जघन्यस्थिति कितनी है? इसीको बताते हैं। उनमें सबसे पहले क्रमपद्धतिको छोडकर अपना फल वेदन करानेवाली वेदनीय प्रकृतिकी जघन्य स्थिति कहते हैं, इसका कारण यह है कि पांच कर्मोंकी समान स्थिति है उसे एक साथ कहेंगे, दोकी समान होनेसे उन्हें भी एक साथ कहेंगे जिसका सुख दुःख स्वयं अनुभवमें आता है ऐसी जो वेदनीय प्रकृति है वही एक ऐसी प्रकृति है जिसकी जघन्य स्थिति अन्य सब कर्मोंसे अधिक है और किसी कर्मके समान भी नहीं है इसलिये सबके पहिले उसीकी स्थिति नीचेके सूत्र द्वारा बताई जाती है—

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है यहांपर अपरा शब्दसे जघन्य स्थितिका विधान है और आगे भी इस अपरा शब्दकी अनुवृत्ति जायगी। इस सूत्रका अर्थ करते समय—सूक्ष्म-

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् ॥ १ ॥

अर्थ—गोत्रकर्म दो प्रकार है, एक उच्च विशेषण होनेसे उच्चगोत्र और दूसरा नीच विशेषण होनेसे नीचगोत्र है। उनमें उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र किसे कहते हैं इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं ॥ २ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति रखनेसे अथवा संतानपरंपरासे उत्तम प्रकृत्ति और सदाचार रखनेसे विख्यात माहात्म्यवाले इक्ष्वाकु, यदु कुरु हरि आदि लोकपूजित अथवा लोकमान्य कुलोंमें जिस कर्मके उदयसे यह जीव जन्म धारण करता है वह उच्चगोत्र कर्म है।

गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रं ॥ ३ ॥

अर्थ—निंद्य अर्थात् जिन कुलोंमें हिंसादिक पापप्रवृत्ति असदाचार आदि निंद्य प्रवृत्ति संतान-परंपरासे चली आई हो ऐसे निंद्य और दरिद्रतापूर्ण तथा दुखोंसे व्याकुल लोकनिंद्य हीन कुलोंमें जिस कर्मके उदयसे जन्म हो वह नीचगोत्र कहलाता है। अब कहते हैं कि गोत्रके भेद कहे जाचुके, उनके पीछे कहे जानेवाले अंतरायकर्मके भेद कौन कौन हैं? उसी बातको नीचेके सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां ॥ १३ ॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग उपभोग, वीर्य, इन पांचोंके अंतरायोंके भेदसे अंतरायकर्मके दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय वीर्यांतराय ये पांच नाम हैं।

दानादीनामंतरायापेक्षयाऽर्थव्यतिरेकानिर्देशः ॥ १ ॥

अर्थ—अंतराय शब्दकी पहलेसे अनुवृत्ति यहां आती है उसी अंतरायकी अपेक्षासे दान लाभ आदिका अर्थ भेद किया जाता है। यथा—दानका अंतराय दानांतराय, लाभका अंतराय लाभांतराय

पाक होना ही अनुभव है अर्थात् जिस कर्ममें जैसे परिणामोंसे जितनी फल देनेकी योग्यता पडी है उसका उस फलरूप रस देनेका विपाक होना उसीको अनुभव कहते हैं, जिसप्रकार चावलोंको अग्निपर रखनेसे उनका पाक होता है और जैसा अग्निका संयोग उन चावलोंको मिलता है तीव्र या मंद मध्यमरूपसे, उसीप्रकार जल्दी या देरीसे और स्वाद विशेषवाला पाक उनमें होता है उसीप्रकार जिन कर्मोंको जैसे कषायाध्यवसाय स्थान अनुभागबंधके कारण मिलते हैं उसीप्रकारसे आबाधाकालके साथ साथ विशेष रसोदयरूप उन कर्मोंकी फलदानशक्तिका पाक होता है। इसीका नाम विपाक अथवा अनुभव है।

विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः ॥ १ ॥

अर्थ—उपकार अथवा अनुपकार रूप फल देनेवाली जो ज्ञानावरणादिक प्रकृतियां हैं उनका भावास्रवकी तीव्रता अथवा मंदतारूप परिणामोंकी कोटिके निमित्तसे होनेवाला जो विशेषरूप पचन—पाक है वही विपाक कहलाता है अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव स्वरूप जो निमित्तभेद, उन निमित्त भेदोंसे उत्पन्न होनेवाला जो समस्त संसारी जीवोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला नानाप्रकारका पाक वह भी विपाक कहलाता है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रादिक निमित्तोंसे जो कर्मोंके रसोदयमें नानाप्रकारसे पचन होता है उसीको विपाक कहते हैं इस विपाकका नाम ही अनुभव बंध है। जिस[1] समय शुभ परिणामोंकी प्रकर्षता—वृद्धि

१—सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण। विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ १६३ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड।

अर्थात्—विशुद्धिके द्वारा शुभप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध पडता है और सक्लेशके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध पडता है। इससे विपरीत अवस्थामें समस्त प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभागबन्ध है अर्थात् शुभ प्रकृतियोंमें संक्लेश परिणामोंसे जघन्य अनुभागबन्ध पडता है और अशुभ प्रकृतियोंमे विशुद्ध परिणामोंसे जघन्य अनुभागबन्ध पड़ता है। यहां पर इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि घातिया कर्मोंका तो अनुभागबन्ध समस्त ही अप्रशस्त रूप है। उनमें जो अनुभागशक्ति है वह लताभाग, दारु(काष्ठ)भाग, हड्डी भाग और शैल भागके समान उत्तरोत्तर कठिन दुःखप्रद है परन्तु अघातिया कर्मोंमें दो भेद हो जाते है उनमें कुछ प्रशस्त प्रकृतियां है और कुछ अप्रशस्त प्रकृतियां हैं। प्रशस्त प्रकृतियोंमें जो अनुभागबंध पडता है वह उत्तरोत्तर गुड़ खांड शक्कर और अमृतके समान सुखकर होता है तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंमें जो अनुभाग शक्ति है वह नीव (वृक्ष) कांजीर, विष और हलाहल (जहर) के समान उत्तरोत्तर दुःखकारी होती है।

दोनों ही सांसारिक सुखकी समान सामग्री हैं इसलिये जब भोगोपभोगमें भेद नहीं है तो उनके बाधक कर्मोंमें क्यों भेद होना चाहिये ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण—गंधादिक और शयनादिक सामग्रीके भेदसे उन दोनोंमें भेद सिद्ध है। गंध, पुष्प, माला, स्नानकी सामग्री अन्नपान आदि सामग्री है इनमें भोग व्यवहार होता है। तथा शयन आसन स्त्री हस्ती घोडा रथ आदि सामग्रीमें उपभोग व्यवहार होता है। अर्थात् जो पदार्थ एकवार भोगनेमें आकर फिर भोगनेमें नहीं आसकें वे भोग कहलाते हैं और जो एकवार भोगकर फिर भी भोगनेमें आवें वे उपभोग कहलाते हैं। चंदनादि लेप, पुष्पमाला अन्नादिक एकवार भोगने पर फिर नहीं भोगनेमें आते परंतु शयन आसन स्त्री घोडे वर्तन आदि एकवार भोगकर फिर भोगनेमें आते हैं इसलिये वे उपभोग हैं इसलिये भोग उपभोग दोनोंमें भेद होनेसे अंतरायोंमें भेद होना न्यायसंगत है। सुख साधन तो सभी पदार्थ हैं परंतु सुख प्रकारोंमें तो भेद है इसीलिये उनके बाधक कर्मोंमें भेद है। इसप्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी प्रकृतियां संख्यात तो कही गईं, ज्ञानावरण और नामकर्मकी असंख्यात प्रकृतियां भी होती हैं और 'च' शब्दसे अनंत भी होती हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवका उपदेश है। इसप्रकार प्रकृतिबंधके भेद कह दिये गये, इसके पीछे स्थितिबंधके भेदोंको कहेंगे। यहां कोई शंकाकार कहता है कि श्री आचार्यमहाराज ! आप स्थितिबंधको कहेंगे यह बात तो ठीक है, परंतु पहले हम तो इसी संदेहमें पडेहुये हैं कि यह स्थितिबंध किसी दूसरे कर्मका विषय है अथवा जिसका लक्षण कहा जाचुका है ऐसा जो पूर्वमें विशेषरूपसे कहा गया एवं सबसे पहिले कल्पनामें लाया गया जो प्रकृतिबंध है, वह प्रकृतिबंध जिस कर्मका विषय है उसी कर्मका यह स्थितिबंध भी पर्यायांतररूपसे विषय है अर्थात् प्रकृतिबंध किसी दूसरे कर्मका होता है और स्थितिबंध किसी दूसरे कर्मका होता है यह बात है अथवा जिसकर्मका प्रकृतिबंध है उसीका यह स्थितिबंध भी है ? उत्तर—शंकाकारका यह संशय करना उचितस्थानमें नहीं है अर्थात अयोग्य है, कारण—अनेक भेदवालीं ये जो ज्ञाना-

यहांपर प्रश्न होता है कि यह बात हम स्वीकार करते हैं कि पहिले संचित किये गये कर्मोंका नानाप्रकार जो विपाक है वह अनुभव है। परंतु यह बात हमारी समझमें नहीं आई कि यह अनुभवबंध प्रसंख्यात रूप है अथवा अप्रसंख्यात रूप है अर्थात् जितने कर्मोंकी गणना बताई गई है उन्हींरूप अनुभव अथवा अनुभागबंध होता है अथवा अन्यरूपसे भी होता है? इसप्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं कि जो प्रकृतियां नियत रूप हैं उन्हीं रूप अनुभाग होता है ऐसा ही अनुभाग क्यों होता है? इसका उत्तर नीचेके सूत्र द्वारा प्रगट करते हैं—

स यथानाम ॥ २२॥

अर्थ—जिस प्रकृतिका जो नाम है उसीके अनुभाग होता है इसीलिये वह अनुभाग यथानाम है अर्थात् ज्ञानावरणका अनुभाग ज्ञानको घात करने रूप है, दर्शनावरणका अनुभाग दर्शनको घात करने रूप है इसप्रकार वह यथार्थनामा है—कर्म प्रकृतिके नामके अनुसार ही फल देता है।

ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसंज्ञानिर्देशात् अनुभवसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव होना है अर्थात् ज्ञान गुणपर आवरण पडना यही ज्ञानावरणका फल है। दर्शनावरणका फल देखने रूप शक्तिका रुक जाना है। इसीप्रकार जितने भी कर्म हैं और उनके जितने भी भेद प्रभेद हैं उन सबोंके जैसे जैसे नाम हैं उन्हींके अर्थके अनुसार अनुभागकी

सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदि। सासणमिस्से णियमा दंसणतियसंकमो णत्थि ॥ ४११ ॥ गोम्मटसार कर्मकांड ॥

अर्थात्—जिस प्रकृतिका बंध हो जाता है उसी प्रकृतिरूप संक्रमण होता है जिसका बंध नहीं हुआ है उस रूप संक्रमण नहीं होता है तथा दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय और आयुचतुष्क इनका परस्पर संक्रमण नही होता है। तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, मिश्र इन प्रकृतियोंका अपने अपने गुणस्थानमें संक्रमण नही होता है और सासादन गुणस्थानमें और मिश्रगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयत्रिकका संक्रमण नियमसे नहीं होता है।

अर्थ—यदि 'आदितः' इतना मात्र ही कह दिया जाता तो आदिकी कितनी प्रकृतियोंका ग्रहण करना चाहिये इस बातका कोई निर्णय नहीं होता इसलिये संख्याका निर्धारण (निश्चय) करनेके लिये 'तिसृणां' यह पद सूत्रमें दिया गया है । इससे यह अर्थ होता है आदिकी तीन प्रकृतियोंका ही ग्रहण करना चाहिये ।

अंतरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ३ ॥

अर्थ—मूलप्रकृतियोंका जो क्रमविधान है उसे उलंघ कर 'अंतरायस्य च' यह पद समानस्थितिका बोध करानेके लिये दिया गया है अर्थात् यहां सूत्रमें जिनकी समानस्थिति है उन्हीं प्रकृतियोंका ग्रहण है इसलिये आदिकी तीन प्रकृतियोंके साथ अंतरायका भी ग्रहण किया गया है। वह समानस्थिति कौन है ? तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अंतराय इन चारों कर्मोंकी स्थिति समानरूपसे तीस कोटाकोटि सागरोपम है। सागरोपमका परिमाण पहले कहा जा चुका है।

कोटीकोट्य इति द्वित्वे बहुत्वानुपपत्ति इति चेन्न राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां शंका होती है कि जिसप्रकार गांव गांव रमणीय है ऐसा दो बार उच्चारण करनेसे यह अर्थ हो जाता है कि समस्त ग्राम रमणीय है, इसप्रकार दो बार गांव शब्दका उच्चारण करनेसे बहुवचन रूप अर्थकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार यहांपर भी कोटीकोट्यः ऐसा बहुवचनका प्रयोग नहीं करके वीप्सामें दो बार प्रयोग करनेमात्रसे बहुतरूप अर्थ प्रगट हो जायगा फिर बहुवचन प्रयोग नहीं करना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—राजपुरुषके समान उसकी सिद्धि है। जिसप्रकार राजाका पुरुष राजपुरुष यह षष्ठीतत्पुरुष समास की जाती है उसीप्रकार यहांपर भी कोटियोंकी कोटि यह षष्ठी तत्पुरुष समास है अर्थात् यदि वीप्सा अर्थमें ही दो बार प्रयोग किया जाता तो कोटिकोटि सागर—करोडों सागर इतनामात्र अर्थ होता परंतु षष्ठी तत्पुरुष समास करनेसे यह अर्थ होता है कि कोटिको

औदयिकभावोंके निमित्तसे उदय उदीरणामें आया हुआ है, क्रम क्रमसे स्वरसोदय देनेके कारण जो समयानुसार विपाककालमें आया हुआ है तथा साता अथवा असाता इन दोनों प्रकारकी वेदनीयप्रकृतिमेंसे किसी एक विकल्पके साथ बंधा हुआ है और इसीलिये जो साता अथवा असातारूपसे सुख दुःखरूप फलका अनुभव कराता है, विपाककाल प्राप्त हो जानेसे जो फल देनेरूप उदयावलीके प्रवाहमें आ चुका है तथा उदयमें आनेसे जो भोगा भी जा चुका है अर्थात् जिसका फल लिया जा चुका है ऐसा जो उस संसारी जीवका शुभाशुभ कर्म है उसकी स्थिति पूरी हो जानेसे जो निवृत्ति हो जाना है अर्थात् आत्मासे दूर हो जाना है वह विपाकजा निर्जरा अथवा सविपाकनिर्जरा कहलाती है तथा जो कर्म विपाककालको प्राप्त नहीं हो सका है, क्रम क्रमसे होनेवाली क्रियाकी सामर्थ्यसे जो अभीतक उदयमें नहीं आ सका है ऐसा जो अविपाकी कर्म है उसे प्रेरणापूर्वक असमयमें ही उदयावलीमें लाकर अर्थात् प्रयोगवलसे उदीरणामें लाकर भोग लिया जाता है जिसप्रकार कि समयके पहले ही कच्चे आम्र अथवा पनस आदि फलोंको भूसा आदि पालमें रखकर प्रयोगपूर्वक जल्दी पका लिया जाता है उसीप्रकार जिस कर्मका उदयमें आनेका समय अभी नहीं भी आया है उसे भी प्रयोगपूर्वक उदीरणाद्वारा क्रमप्राप्त समयके पहले ही भोगकर आत्मासे झडा दिया जाता है वह अविपाकजा निर्जरा अथवा अविपाकनिर्जरा कहलाती है। इन दोनों प्रकारकी निर्जराओंका संक्षेपमें यही अभिप्राय है कि जो कर्म वांधी हुई स्थितितक आवाधाकालके पीछे क्रम क्रमसे उदयमें आते जाते हैं और क्रम क्रमसे फल देकर खिरते चले जाते हैं इसप्रकार फल देकर समयानुसार जो कर्मोंका खिरना है वह सविपाकनिर्जरा है अर्थात् विपाकसहित निर्जरा है अथवा विपाकसे

१—अरणरथठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थित्तं। सत्तं सकालपत्तं उदओ होदित्ति णिद्दिट्ठो ॥ ४३९ ॥ गोम्मटसार कमकांड ॥

अर्थात्—जिसके उदयका अभी समय नहीं आया है, वैसे कर्मद्रव्यको समयके पहले ही उदयमें ले आना वह उदीरणा कहलाती है। जो कर्म सत्तामें बैठा हुआ है वह सत्त्व कहलाता है और अपने विपाककालमें उदय आता है वह उदय कहलाता है।

अर्थ—यदि 'आदितः' इतना मात्र ही कह दिया जाता तो आदिकी कितनी प्रकृतियोंका ग्रहण करना चाहिये इस बातका कोई निर्णय नहीं होता इसलिये संख्याका निर्धारण (निश्चय) करनेके लिये 'तिसृणां' यह पद सूत्रमें दिया गया है । इससे यह अर्थ होता है आदिकी तीन प्रकृतियोंका ही ग्रहण करना चाहिये ।

अंतरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ३ ॥

अर्थ—मूलप्रकृतियोंका जो क्रमविधान है उसे उलंघ कर 'अंतरायस्य च' यह पद समानस्थितिका बोध करानेके लिये दिया गया है अर्थात् यहां सूत्रमें जिनकी समानस्थिति है उन्हीं प्रकृतियोंका ग्रहण है इसलिये आदिकी तीन प्रकृतियोंके साथ अंतरायका भी ग्रहण किया गया है । वह समानस्थिति कौन है ? तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अंतराय इन चारों कर्मोंकी स्थिति समानरूपसे तीस कोटाकोटि सागरोपम है । सागरोपमका परिमाण पहले कहा जा चुका है ।

कोटीकोट्य इति द्वित्वे बहुत्वानुपपत्ति इति चेन्न राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः ॥ ४ ॥

अर्थ—यहां शंका होती है कि जिसप्रकार गांव गांव रमणीय है ऐसा दो बार उच्चारण करनेसे यह अर्थ हो जाता है कि समस्त ग्राम रमणीय है, इसप्रकार दो बार गांव शब्दका उच्चारण करनेसे बहुवचन रूप अर्थकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार यहांपर भी कोटीकोट्यः ऐसा बहुवचनका प्रयोग नहीं करके वीप्सामें दो बार प्रयोग करनेमात्रसे बहुतरूप अर्थ प्रगट हो जायगा फिर बहुवचन प्रयोग नहीं करना चाहिये ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—राजपुरुषके समान उसकी सिद्धि है । जिसप्रकार राजाका पुरुष राजपुरुष यह षष्ठीतत्पुरुष समास की जाती है उसीप्रकार यहांपर भी कोटियोंकी कोटि यह षष्ठी तत्पुरुष समास है अर्थात् यदि वीप्सा अर्थमें ही दो बार प्रयोग किया जाता तो कोटिकोटि सागर—करोडों सागर इतनामात्र अर्थ होता परंतु षष्ठी तत्पुरुष समास करनेसे यह अर्थ होता है कि कोटिको

देनेके पीछे उन कर्मोंकी निर्जरा होती है इस बातके प्रगट करनेके लिये "विपाकोनुभवः" इस सूत्रका फिर भी नवमें अध्यायमें उल्लेख करना पडता, यदि वहां उल्लेख नहीं किया जाता तो रसोदय देनेपर कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है यह अर्थ सिद्ध नहीं होता और यदि 'विपाकोनुभवः' इस सूत्रका नवमें अध्यायमें संवरके पीछे उल्लेख किया जाता तो भी अप्रासंगिक होता, इसलिये अनुभागबंधके साथ ही उसके पीछेके कार्यका उल्लेख भी संक्षेपमें करना आवश्यक समझकर यहांपर "ततश्च निर्जरा" इस सूत्रका कथन किया गया है।

पृथङ्निर्जरावचनमनर्थकं बंधेऽतर्भावादिति चेन्नार्थापरिज्ञानात् ॥ ५ ॥

अर्थ-फिर शंका-जिसप्रकार पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नहीं किया गया है किंतु सात तत्त्वोंमें उन दोनोंका बंध तत्त्वम अंतर्भाव कर लिया जाता है उसीप्रकार निर्जरा भी कहे हुये क्रमके अनुसार अनुभागबंधमें गर्भित हो जाती है अर्थात् कर्मोंका फल देना विपाकरूप अनुभव है उसके पीछे उनकी निर्जरा ही होती है इसलिये अनुभागबंधका अंतिम परिणाम होनेसे निर्जराका भी अंतर्भाव उसी अनुभागबंधमें होना चाहिये उसका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है ? उत्तर-यह शंका भी ठीक नहीं है. कारण-अनुभागबंध और निर्जराका स्वरूप नहीं समझकर ही यह शंका की गई है क्योंकि कर्मोंकी फलदेनेकी सामर्थ्यको तो अनुभव कहते हैं और उसके पीछे भोगे हुये जो पुद्गलकर्म हैं जिनकी कि रसशक्ति भोगी जा चुकी है उन कर्मोंकी आत्मासे निवृत्ति हो जाना अर्थात् आत्मासे संबंध छूट जानेपर उन कर्मोंकी कर्मरूप पर्यायका नष्ट हो जाना यही निर्जरा है इसलिये अनुभागबंध निर्जरासे पहलेका कार्य है और निर्जरा उससे सर्वथा भिन्न है यही दोनोंमें अर्थभेद है। इस अर्थभेदसे ही यहांपर अनुभवबंधके कथनके पीछे 'ततश्च' यह अपादानरूप निर्देश प्राप्त होता है अर्थात् अनुभाग होनेसे फिर उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। यदि अनुभव और निर्जरामें भेद नहीं होता तो अनुभागके पीछे उन कर्मोंकी निर्जरा होती है ऐसा अपादान

यहां अशुभ कर्मोंमें पाठ होनेसे असातावेदनीयका ग्रहण है यह बात सिद्ध हो जाती है। समस्त प्रकृतियोंमें केवल तीन आयुओंको छोडकर उत्कृष्ट स्थितिबंध तीव्र संक्लेश भावोंसे होता है।*

अन्येषामागमात्संप्रत्ययः ॥ ७ ॥

अर्थ—अन्य जो एकेंद्रियादिक जीव हैं उनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी होती है इस बातका परिज्ञान आगमसे होता है। उसीका कुछ खुलासा यहां भी किया जाता है—एकेंद्रिय पर्याप्तक जीवकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके सात भागोंमेंसे तीन भाग प्रमाण है। उन्हीं कर्मोंकी द्वींद्रिय पर्याप्तक जीवके उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागरके सात भागोंमेंसे तीन भागप्रमाण है। त्रींद्रियपर्याप्तक जीवकी उत्कृष्टस्थिति पचास सागरके सात भागोंमेंसे तीन भागप्रमाण है। चतुरिंद्रियपर्याप्तक जीवकी उत्कृष्टस्थिति सौ सागरके सात भागोंमेंसे तीन भाग है। असंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तक जीवकी उत्कृष्टस्थिति एकहजार सागरके सात भागोंमेंसे तीन भागप्रमाण है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मोहनीय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तरि कोटाकोटि सागर प्रमाण बताई गई है। यह स्थिति मिथ्यादर्शनकर्मकी है, चारित्रमोहनीयकर्मकी तो उत्कृष्टस्थिति चालीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। इस दर्शनमोहनीयकी सत्तर कोटाकोटि सागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिका स्वामी संज्ञीपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव होता है। इसी स्थितिके अनुसार त्रैराशिकद्वारा अन्य एकेंद्रियादि जीवोंकी

दृष्टिसे ८४ भेद हो जाते है और भेद दृष्टिसे १०० भेद हो जाते है। इनमें सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां और मिल जाती है क्योंकि ये दोनों बंधप्रकृतियां नहीं है किंतु उदय प्रकृतियां है।

* सव्वाओ दु ठिदीओ सुहा सुहाणंपि होंदि असुहाओ। माणुसतिरिक्खदेवाउगं च मोत्तूण सेसाणं॥ १५५॥ गोम्मटसार कर्मकांड॥

अर्थात् शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका स्थितिबन्ध अशुभ ही होता है केवल मनुष्यायु तिर्यंचायु और देवायुका इनसे विपरीत है।

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण। विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु॥ १३४॥ गोम्मटसार कर्मकांड॥

अर्थात् सब कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है और उत्कृष्ट शुभ परिणामोंसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है केवल तीन आयुओंमें यह क्रम नहीं है। देवायु, मनुष्यायु और तिर्यग्गायुमें यह क्रम नही है।

और निर्जराके कारण हैं उन सबोंमें तप ही प्रधान कारण है इस वातको प्रगट करनेकेलिये ही 'तपसा निर्जरा च' यह जुदा सूत्र रक्खा गया है। यही वात दूसरे आचार्योंने भी कही है जेसे—

कायमणोवचिगुत्तो वोंतवसा चेदुदे अणेयविहं।
सो कम्मणिज्जराये विपुलाए वहुदि मणसोत्ति ॥

अर्थ—कायगुप्ति मनोगुप्ति और वचनगुप्ति तथा अनेक प्रकारका तप ये विपुल निर्जराके कारण हैं इसलिये संवर निर्जराके लिये तप प्रधान कारण है इस वातके दिखानेके लिये तपका ग्रहण धर्मोंसे अतिरिक्त करना तो आवश्यक है परंतु यहांपर तपका ग्रहण करना केवल गौरवाधायक है, अर्थात् उससे सिद्धि कुछ भी नहीं है इसलिये यहां तपका ग्रहण नहीं कियागया है। वे कर्मप्रकृतियां दोप्रकार हैं, घातिया और अघातिया। उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय ये चार प्रकृतियां घातिया कहलाती हैं, वाकी वदनीय आयु नाम गोत्र ये अघातिया कहलाती हैं, घातिया प्रकृतियोंमें भी दो भेद हैं—एक सर्वघातिया दूसरी देशघातिया अर्थात् जो कर्म प्रकृतियां आत्माके ज्ञानादि गुणोंको सम्पूर्ण रीतिसे घात करैं वे सर्वघातिया प्रकृतियां हैं और जो उन गुणोंको एक देशरूपसे घात करैं वे देशघातिया प्रकृतियां हैं। उनमें केवलज्ञानावरण. निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण, अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, ये वारह कपायभेद और दर्शनमोहनीय ये वीस प्रकृतियां वंधकी अपेक्षा सर्वघातिया हैं तथा मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, ये चार ज्ञानावरणकर्म, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण अवधिदर्शनावरण ये तीन दर्शनावरणकर्म, दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यातराय ये पांच अंतरायकर्म, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये चार संज्वलन कपायकर्म, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद. नपुंसकवेद ये नव नोक-

भी इसी त्रैराशिकके अनुसार लगा लेना चाहिये और जघन्यके लिये यही कहा गया है कि जो उत्कृष्ट है उसमेंसे पल्यके असंख्यातवें भाग कमती एकेंद्रियके और पल्यके संख्यातवें भाग कमती विकलेंद्रिय तथा असंज्ञी जीवोंके समझनी चाहिये। इसके आगे अब पर्याप्तक जीवोंकी स्थितिका निरूपण करते हैं वह इसप्रकार है—संज्ञिपंचेंद्रिय अपर्याप्तक जीवके उन्हीं ज्ञानावरणादि तीस कोटाकोटि सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मोंकी स्थिति अंतःकोटाकोटि सागरप्रमाण पडती है। एकेंद्रिय अपर्याप्तकके पल्यके असंख्यातवें भाग कमती उतने ही भागप्रमाण है अर्थात् एक सागरके सात भागोंमेंसे तीन भागप्रमाण जो एकेंद्रियपर्याप्तककी उत्कृष्टस्थिति है उसीमेंसे पल्यके असंख्यातवें भाग घटानेसे एकेंद्रियअपर्याप्तककी उत्कृष्टस्थिति हो जाती है। इसीप्रकार द्वींद्रियअपर्याप्तक त्रींद्रियअपर्याप्तक चतुरिंद्रियअपर्याप्तक और पंचेंद्रियअपर्याप्तक असंज्ञी जीवोंकी उन्हीं ज्ञानावरणादि तीस कोटाकोटी सागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिवाले कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति उतने ही भागप्रमाण है जितनी कि पर्याप्तोंकी कही गई है परंतु उसमेंसे पल्यके असंख्यातवें भाग कमती है अर्थात् जितने भाग द्वींद्रियादि पर्याप्त जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति है उसमेंसे पल्यके असंख्यातवें भाग घटानेसे उन्हीं अपर्याप्त जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति निकलती है। आगे अब यह कहते हैं कि—जिस कर्मकी स्थिति क्रमसे कहने योग्य थी उसका उलंघन करके दूसरे कर्मकी स्थिति कह दी गई, अब वेदनीयकर्मके पीछे क्रमप्राप्त जो मोहनीयकर्म है उसकी उत्कृष्टस्थिति बताते हैं—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरप्रमाण है। यहांपर 'सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः' इस वाक्यकी अनुवृत्ति ऊपरके "आदितस्तिसृणामादि" सूत्रसे चली आती है, इसलिये यह भी सत्तर कोटाकोटि सागरकी मोहनीयकर्मकी स्थिति उत्कृष्ट ही है। यह मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति भी संज्ञीपंचेंद्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि आत्मामें ही पडती है। उसमें भी इतना विशेष है कि मिथ्यादृष्टि भी

तथा गतियां चार, जातियां पांच, विहायोगति दो, त्रसस्थावर दो, सूक्ष्म वादर दो, पर्याप्त अपर्याप्त दो, सुस्वर दुस्वर दो, सुभग दुर्भग दो, आदेय अनादेय दो, यशःकीर्ति अयशःकीर्ति दो, श्वासोछ्वास एक, तीर्थंकर एक ये नामकर्मकी सत्तावीस प्रकृतियां जीवविपाकी हैं। सैंतालीस घातिया कर्म और इकतीस अघातिया कर्मोंमेंसे कुल मिलकर अठत्तर प्रकृतियां जीवविपाकी हैं, इन अठत्तर प्रकृतियोंका जीवमें ही विपाक होता है अर्थात् साक्षात् जीवको ही ये फल देती हैं। इसप्रकार यह अनुभागबंधका कथन किया जाचुका। अब प्रदेशबंध कहना चाहिये उसके कहनेमें सबसे पहिले यह बताना चाहिये कि वे कर्मप्रदेश किसके हेतु हैं, अर्थात् किसके लिये वे कारण पडते हैं किससमय उनका बंध होता है और किस कारणसे वह होता है, उन प्रदेशोंका क्या स्वरूप है, आत्माके किस स्थानमें उसका बंध होता है और कितने परिमाण अर्थात् कितनी संख्यामें वे बंधको प्राप्त होते हैं इन छह प्रश्नोंका उत्तर देना भी आवश्यक है उसीके लिये इन प्रश्नोंके क्रमानुसार उत्तरके भेदकी अपेक्षा रखनेवाला सूत्र कहा जाता है—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहास्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—वह प्रदेशबंध अर्थात् कार्माण पर्याय रूप और नोकार्माणरूप पुद्गलके प्रदेश अथवा परमाणु जो आत्माके साथ बंधको प्राप्त होते हैं वे ज्ञानावरणादि जो कर्मोंके नाम हैं उन्हींके कारण हैं, अर्थात् वे आये हुए प्रदेश ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंरूप और नोकर्म जो शरीर भाषा मन है उन स्वरूप परिणमन धारण करते हैं इसलिए वे प्रदेश ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण हैं तथा वे प्रदेश सभी समयमें आते हैं कोई ऐसा समय नहीं है जिससमय कर्म प्रदेश नहीं बंधते हों तथा वे कर्म प्रदेश कषायविशिष्ट योगोंसे

१—देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं। पडि समयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं ॥ ३ ॥
सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव। समयपबद्धं बंधादि जोगवसादो दु विसरित्थ ॥ ४ ॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—नामकर्म और गोत्रकर्म इन दोनोंकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरप्रमाण है। बीस कोटाकोटि सागरप्रमाण नामकी है उतनी ही गोत्रकर्मकी है। यहांपर 'सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः' इस वाक्यकी अनुवृत्ति चली आती है, यह उत्कृष्टस्थिति भी संज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तक जीवके कर्मोंकी समझना चाहिये। एकेंद्रियादिक जीवोंके नामगोत्रकी उत्कृष्टस्थिति आगमके अनुसार जानना चाहिये। उसीको यहां बताते हैं—एकेंद्रियपर्याप्त जीवके नाम और गोत्रकर्मकी समानरूपसे एक सागरके सात भाग करनेपर दो भागप्रमाण है। द्वींद्रियपर्याप्तके इन दोनों कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागरके सात भाग करनेपर उनमेंसे दो भागप्रमाण है। त्रींद्रियपर्याप्तकके नामगोत्रकी उत्कृष्टस्थिति पचास सागरके सात भाग करनेपर उन भागोंमेंसे दो भागप्रमाण है। चतुरिंद्रियपर्याप्तकके इन्हीं दो कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति सौ सागरके सात भाग करनेपर दो भागप्रमाण है। असंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकके नामगोत्रकर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति हजार सागरके सात भाग करनेपर उनमेंसे दो भागप्रमाण है तथा संज्ञीपंचेंद्रियअपर्याप्तक जीवके इन्हीं कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति अंतःकोटाकोटि सागरप्रमाण है। एकेंद्रियअपर्याप्तक जीवके इन्हीं नामगोत्रकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरके सात भागोंमें दो भागप्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग कमती है अर्थात् एक सागरके सात भागोंमेंसे जो दो भाग है उनमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग घटानेपर जो प्रमाण रहे उतने ही प्रमाण है। इसीप्रकार द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञीपंचेंद्रिय इन सबोंकी जो पर्याप्त अवस्थामें नामगोत्रकी स्थिति है उसमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग घटा देनेसे वही उन सबोंकी अपर्याप्त अवस्थाके कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है अर्थात् द्वींद्रियपर्याप्तके कर्मोंकी उत्कृष्टस्थितिबंध जो पचीस सागरके सात भागोंमेंसे दो भागप्रमाण है उसमेंसे फिर पल्यका असंख्यातवां भाग घटाकर दो भागोंमेंसे जो अवशिष्ट प्रमाण है वही द्वींद्रियअपर्याप्तके कर्मोंकी उत्कृष्टस्थितिबंधका प्रमाण है

और वैसा मानना आगमसे विरुद्ध है। इसलिये वे प्रदेश ज्ञानावरणादि नामवाले सभी कर्मोंके कारण हैं यह अर्थ षष्ठी तत्पुरुषसमासरूप विग्रहसे जो होता है वही ठीक है। इस पदसे वे प्रदेश किसके हेतु हैं इस बातका उत्तर होचुका।

सर्वेषु भवेषु सर्वतः ॥ २ ॥

अर्थ-'सर्वतः' इस पदमें "दृश्यतेऽन्यतोपि" इस सूत्रसे तस् प्रत्यय हो जाता है यह तस् प्रत्यय सप्तमी विभक्तिके अर्थमें होता है इसलिये सर्वतः पदका यह अर्थ होता है कि वह प्रदेशबंध समस्त भवोंमें होता है। भूतकालके जितने अनंतानंत भव बीतचुके हैं और जितने संख्यात वा असंख्यात अथवा अनंत-भव होगये और जो वर्तमान भव हैं सभी भवोंमें और उन सभी भवोंके समस्त समयोंमें वह प्रदेशबंध होता है। इस कथनसे कालका ग्रहण बताया गया है अर्थात् किस कालमें यह प्रदेशबंध होता है इसीका उत्तर इस वार्तिक द्वारा दिया गया है।

योगविशेषात् इति वचनं निमित्तनिर्देशार्थं ॥ ३ ॥

अर्थ—योगका लक्षण "कायवाङ्मनःकर्म योगः" सूत्र द्वारा मन वचन कायका क्रियात्मक स्वरूप पहले कहा जाचुका है। परस्परमें जो भेद किया जाय वह विशेष कहलाता है अर्थात् कषायोंके निमित्तसे जिसमें विशेषता लाई जाय वह योगविशेष कहलाता है। उसे योगविशेषके द्वारा कर्मपर्यायरूपसे पुद्गल आत्मामें धारण किये जाते हैं अर्थात् कषायविशिष्ट मन वचन काय रूप योगोंसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आत्मामें बंध होता है। इस योग विशेषसे निमित्त निर्देशका सूचन किया गया है अर्थात् किस कारणसे कर्म प्रदेश आते हैं इसका उत्तर इस वार्तिक द्वारा दिया गया है।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थं ॥ ४ ॥

अर्थ—ग्रहण करनेयोग्य जो पुद्गल प्रदेश हैं वे सूक्ष्म हैं स्थूल नहीं हैं इसी बातको निरूपण करनेके लिये सूक्ष्म शब्दका ग्रहण किया गया है।

सांपराय गुणस्थानमें ऐसा वाक्य और जोड लेना चाहिये अर्थात् वेदनीय कर्मकी वारह मुहूर्त जघन्य स्थिति सूक्ष्मसांपराय दशवें गुणस्थानमें होती है । अब आनुपूर्वी क्रमको छोड देनेपर वेदनीयकर्मके पीछे मोहनीय और आयु इन दोनों कर्म प्रकृतियोंके अंतमें कहे जानेवाली नाम गोत्र प्रकृतियोंकी कितनी जघन्य स्थिति है, उसीको नीचेके सूत्रद्वारा कहते हैं—

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—नामकर्म और गोत्रकर्म इन दो कर्मोंकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। यहांपर भी सूक्ष्म सांपरायमें ऐसा वाक्य जोड लेना चाहिये अर्थात् नाम और गोत्रकी यह जघन्य स्थिति भी सूक्ष्म सांपराय नामक दशवें गुणस्थानमें होती है। इस सूत्रमें मुहूर्ता और अपरा स्थिति इन पदोंका पहले सूत्रसे ग्रहण होजाता है अब वाकी अन्य प्रकृतियोंकी कितनी जघन्य स्थिति है, उसीको नीचेके सूत्र द्वारा बताते हैं—

शेषाणामंतर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥

अर्थ—वाकीके जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आयु और अंतराय ये पांच कर्म हैं उनकी जघन्यस्थिति केवल अंतर्मुहूर्त मात्र है। अपरास्थिति ऐसी अनुवृत्ति यहां भी आती है. इनपांच कर्मोंमें ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनकर्मोंकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें बंधती है तथा मोहनीयकर्मकी जघन्य स्थिति अनिवृत्तवादरसांपराय नामक नवमा गुणस्थान है उसमें बंधती है तथा आयुकर्मकी जघन्यस्थिति संख्यातवर्षकी आयुधारणवाले जो कर्मभूमिके मनुष्य तिर्यञ्च हैं उन्हींमें बंधती है। अब कहते हैं कि ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनोंप्रकारकी स्थिति कही जाचुकी इसके पीछे अनुभव बंधका क्या स्वरूप है? उसीको नीचेके सूत्रसे स्पष्ट करते हैं—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—अपने तीव्र मंदादि परिणामोंके अनुसार बांधे हुये कर्मोंकी तरतमरूप फलदान शक्तिका

इस प्रकारके पुद्गल परमाणुओंको योगके द्वारा आत्मा ग्रहण कर अपनेमें बंध करता है। इस रीतिसे संक्षेपसे प्रदेशबंधकी व्याख्याकी जाचुकी। अब यहां कहते हैं कि बंध पदार्थके पीछे पुण्यपापका भी कथन करना चाहिये, ऐसा प्रश्न पहिले किया जाचुका है उसके उत्तरमें यह कहा गया है कि पुण्य पाप स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं किंतु बंध तत्त्वमें ही इनका अंतर्भाव हो जाता है. अस्तु। अब यह बताना चाहिये कि पुण्य बंध तो क्या है और पापबंध क्या है? सबसे पहिले पुण्य प्रकृतियोंकी गणना बतानेकेलिये सूत्र कहा जाता है—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं ॥ २५ ॥

अर्थ—सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनामकर्म और शुभगोत्रकर्म ये सब पुण्य प्रकृतियां हैं।

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणं ॥ १ ॥

अर्थ—शुभ प्रशस्तको कहते हैं अर्थात् जो प्रशंसनीय हो, जिससे सुख मिलै वह शुभ कहलाता है यहांपर शुभ शब्द आयु नाम गोत्र इनका विशेषण है जैसे—शुभायु शुभनाम शुभगोत्र इसप्रकार इन कर्मोंका शुभ विशेषण है और वेदनीयकर्मका विशेषण सत् है अर्थात् सातावेदनीय।

शुभायुस्त्रिविधं ॥ २ ॥

अर्थ—तिर्यंचआयु मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु शुभ कहलाती हैं। *

शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पं ॥ ३ ॥

अर्थ—शुभनामकर्म सैंतीस प्रकार जानना चाहिये उन्हीं भेदोंको यहां प्रकट करते हैं—मनुष्यगति,

* शुभमायुस्त्रिधा यस्य फलं शुभत्रयं। श्लोकवार्तिक॥ अर्थात् तिर्यंच मनुष्य और देव ये तीन भव शुभ माने गये हैं कारण इनमें पहुंचकर जीव कष्ट होनेपर भी उस पर्यायको वह छोड़ना नहीं चाहता है परन्तु नरकमें पहुंचकर उसे छोड़नेकेलिये पूर्ण लालायित रहता है इसलिये तीन आयु शुभ है। नरकायु अशुभ है।

होती है उससमय शुभ प्रकृतियोंमें अधिक अनुभाग पडता है और अशुभ प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभाग पडता है तथा जिससमय अशुभ परिणामोंकी प्रकर्षता—अधिकता होती है उससमय अशुभ प्रकृतियोंमें अधिक अनुभव पडता है और शुभ प्रकृतियोंमें हीन पडता है अर्थात् जीवके जैसे जैसे शुभाशुभ परिणामोंकी हीनाधिकता होती है उसीके अनुसार कर्मोंकी फलदान शक्तिमें हीनता अधिकता आती है परंतु शुभ परिणामोंसे शुभप्रकृतियोंमें अधिक रस पडता है और अशुभ परिणामोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें अधिक फल देनेका रस पडता है। इसप्रकार वह अनुभवबंध निमित्तोंके भेदसे दोप्रकार है--स्वमुखफलोदय और परमुखफलोदय अर्थात् जिसकर्मका जो नाम है वह कर्म उसी नामके अनुसार फल देता है वह स्वमुखफलोदय कहलाता है और जो कर्म दूसरे सजातीय कर्मके फलरूप अपना फल देता है वह परमुखोदय अनुभव कहलाता है। उनमें जो मूल प्रकृतियां हैं उन सबका स्वमुखरूपसे फलोदय होता है अर्थात् आठो प्रकृतियोंमें कोई भी प्रकृति अपना फल दूसरे कर्मके रस रूप नहीं देसकती। जैसे ज्ञानावरण कर्म अपना रस सदा ज्ञानका आवरण करना रूप ही देगा वह दर्शनका आवरण करना आदि कुछ भी फल नहीं देसकता इसीप्रकार सभी मूलकर्म सदा अपने रसोदयरूप ही फल देते हैं कोई मूलकर्म परप्रकृतिरूप फल नहीं देसकता। परंतु उत्तरप्रकृतियां जो समान जातिवाली हैं उनका परमुखसे भी रसोदय होता है परंतु आयुकर्म, चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय इन तीन कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंका परमुखसे रसोदय नहीं होता है ऐसा कभी नहीं होता कि तिर्यञ्च आयु अथवा मनुष्यायु नरकायुरूपसे फल देवे किंतु तिर्यञ्च आयु तिर्यञ्च आयुके रूपमें ही फल देगी मनुष्यायु मनुष्यायुरूपमें ही फल देगी। इसीप्रकार सभी आयुकर्म अपने अपने रूपमें ही फल देता है। ऐसा भी नहीं है-दर्शनमोहनीयकर्म चारित्रमोहनीय रूपसे फल देने लगे अथवा चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय रूपसे फल देने लगे, किंतु चारित्र मोहनीय सदा अपने रूपसे ही फल देगा और दर्शन मोहनीय सदा दर्शनमोहरूपसे ही फल देगा*

* वंधे संकामिज्जदि णोवंधे णत्थि मूलपयडीणं। दंसणचरित्तमोहे आउचउक्के ण संकमणं॥ ४१० ॥ गोम्मटसार कर्मकांड ॥

चौंतीस प्रकृतियां नामकर्मकी तथा असातावेदनीय नरकायु नीचगोत्र ये सब मिलकर व्यासी प्रकृतियां पाप प्रकृतियां हैं अर्थात् जितने भी घातिया कर्म हैं वे सब अशुभ ही हैं इसलिये घातिया कर्मोंकी सब पैंतालीस प्रकृतियां, नामकर्मकी चौंतीस प्रकृतियां एक वेदनीय एक आयु एक गोत्र ये व्यासी प्रकृतियां अशुभ प्रकृतियां हैं। इसप्रकार विस्तार सहित बंध पदार्थ कहागया है। यह बंध पदार्थ अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानियोंके तो प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और छद्मस्थ जीवोंको उन केवलज्ञानियोंके द्वारा कहे गये आगमप्रमाण द्वारा जाननेयोग्य है।

इसप्रकार तत्त्वार्थोंका बड़ी उत्तमतासे अलंकारस्वरूप व्याख्यान करनेवाले इस श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथराजकी चावली (आगरा) निवासी न्यायालंकार पंडित मक्खनलाल शास्त्रीविरचित हिंदीभाषा टीकामें बंधका निरूपण करनेवाला आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अथ नवम अध्याय प्रारंभ।

कर्म बंधका संवरण और निर्जरा भाव ।
धरि शिवपुरको जो गये, उन्हें नमूं शिर नाय ॥

यहांपर यह प्रश्न होता है कि जो कर्मबंध अनादि संतान परंपरासे बराबर चला आया है, जीवोंको सदैव सुख दुःख देनेमें प्रधान कारण है, आठ प्रकारके विशेष पुद्गल परमाणुओंसे रचा हुआ है, अनेक प्रकारके शरीरोंके बनानेमें समर्थ है तथा जो प्रयत्नविशेषसे - योग कषायोंके निमित्तसे आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला है, ऐसा जो यह कर्मबंध है वह किसी जीवके किसी भी उपायसे रुक सकता भी है क्या? अथवा उस अनादिसे चले आते हुये कर्मबंधका किसी जीवके किसी उपायसे सर्वथा अभाव भी होसकता है क्या? श्री आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं भव्य जीवोंके उस कर्मबंधका सर्वथा अभाव भी होजाता है, उसी बातकी सिद्धिकेलिये भगवान सर्वज्ञदेवने संवरका उपदेश किया है—

प्रतीति होती है। अब यहां प्रश्न होता है कि यदि कर्मोंके विपाकका नाम अनुभव कहा जाता है तो वह कर्म जिससमय विपाककालमें अपना रसोदय फल देचुकता है उससमय वह क्या आत्मामें भूषणोंके समान ठहरा रहता है अथवा सार निकलनेके पीछे आत्मासे अलग हो जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर नीचेके सूत्र द्वारा दिया जाता है—

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ–विपाक होनेपर कर्म अपना फल देता है और फल देनेके पीछे उसकी निर्जरा होजाती है अर्थात् फलदान पीछे कर्म आत्मासे झड जाता है–अलग हो जाता है।

पूर्वोर्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा ॥ १ ॥

अर्थ–पीडा अथवा उपकार आत्माको पहुंचाकर जो कर्म स्थितिक्षय होनेसे नहीं ठहर सकनेके कारण खाये हुये भात आदिके विकारके समान आत्मासे अलग होजाता है उसीका नाम निर्जरा है जिसप्रकार खाया हुआ भात आदि भोजन पच जानेपर खलभाग रूप अंश शरीरसे झड जाता है उसी-प्रकार जो कर्म पचने पर अपना फल देकर आत्मासे खिर जाता है—जुदा हो जाता है, उसीको निर्जरा कहते हैं। इसप्रकार कर्मका खिरना तभी होता है जब कि उसकी स्थिति पूरी होजाती है स्थिति पूरी होनेपर फिर वह आत्मासे भिन्न पौद्गलिक कर्म आत्मामें किसीप्रकार नहीं ठहर सकता है।

सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च ॥ २ ॥

अर्थ—वह निर्जरा दोप्रकार है एक विपाकजा दूसरी इतरा अर्थात् अविपाकजा। उन्हीं दोनोंके पर्यायवाची नाम ये हैं, एक सविपाकनिर्जरा दूसरी अविपाकनिर्जरा। उनमें विपाकनिर्जराका स्वरूप इस प्रकार है—चतुर्गतिमें नाना योनियोंमें जन्म मरण धारण करनेरूप चक्र (भंवर) से व्याप्त इस संसार-रूपी महासमुद्रमें अनादिकालसे घूमनेवाले इस संसारी जीवका जो शुभ तथा अशुभ कर्म है जो कि

निरोध है। यह शंका होती है कि यदि आस्रव निरोध है तो उसीका कथन करना चाहिये परंतु यहां पर संवरका जो कथन किया गया है वह नहीं करना चाहिये, कारण आस्रवका निरोध होनेपर संवर सुतरां होजाता है—उसीको वताते हैं—

तत्पूर्वककर्मादानाभावः संवरः कारणाभावात् कार्याभावः ॥ २ ॥

अर्थ—आस्रवका निरोध होनेपर उस आस्रवपूर्वक जो अनेक दुःखोंके वीजका पैदा करनेवाला कर्म है उसका भी आगमन रुक जाता है। कर्मका रुक जाना ही संवर है। ऐसा वाक्यशेष जोडनेसे उसका अर्थ यही होता है कि आस्रवका निरोध होनेसे संवर होता है इसी वातको और भी स्पष्ट करते हैं।

तथा निर्देशः कर्तव्य इति चेन्न कार्ये कारणोपचारात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यदि यहांपर यही अर्थ इष्ट है तो उसीका कथन करना चाहिये जैसा कथन होता है वह उसीप्रकारके अर्थका बोधक होता है। यहांपर यही अर्थ इष्ट है कि—आस्रवका निरोध होनेपर अथवा आस्रवका निरोध होनेसे संवर होता है ऐसा कथन करना चाहिये परंतु वैसा कथन नहीं करके आस्रव निरोधको ही संवर कहा गया है सो अयुक्त है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण—यहांपर कार्यमें कारणका उपचार किया गया है। जिसप्रकार लोकमें कहा जाता है कि अन्न ही प्राण है। यद्यपि अन्न प्राण नहीं है किंतु प्राणोंका कारण है इसलिये अन्नका कार्य जो प्राण उसमें अन्नका उपचार कर लिया जाता है। यही कार्यमें कारणका उपचार कहलाता है। उसीप्रकार आस्रवनिरोधका कार्य जो संवर है उसमें आस्रवनिरोधका उपचार कर लिया जाता है इसलिये संवरको ही आस्रवनिरोध कह दिया जाता है। इसप्रकारका विवेचन विवक्षावश कार्य कारणकी भेद विवेचना न करके उपचाररूपसे किसी प्रकार भी कह दिया जाता है वह दोषाधायक नहीं होता है अथवा दूसरा उत्तर इसप्रकार भी है—

निरुध्यतेऽनेन निरोध इति वा ॥ ४ ॥

उत्पन्न निर्जरा है और जिन कर्मोंकी स्थितिका समय बहुत लम्बा है, आबाधाकालके पीछे जो उदयमें आने भी नहीं लगे हैं, ऐसे कर्मोंको उनके क्रमप्राप्त उदय समयके पहले ही तप ध्यान आदिके द्वारा बलपूर्वक उदीरणामें लाकर फल भोगकर जो खिरा दिया जाता है वह अविपाकजा अथवा अविपाकनिर्जरा कहलाती है अर्थात् विना विपाककालके आये हुये जो असमयमें निर्जरा होती है वह अविपाकजन्य निर्जरा कहलाती है।

।निमित्तांतरसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ २ ॥

अर्थ–'तपसा निर्जरा च' यह सूत्र आगे कहा जायगा उसके समुच्चय करनेके लिये 'ततश्च निर्जरा' इस सूत्रमें 'च' शब्द दिया गया है इसका अर्थ यह होता है कि कर्म जब अपना फल दे चुकते हैं उसके पीछे उनकी निर्जरा हो जाती है तथा सूत्रमें दिये हुये 'च' शब्दसे यह अर्थ होता है कि और प्रकारसे भी कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात् फल देनेपर भी कर्मकी निर्जरा होती है और तपसे भी होती है। दोनों बातोंको दिखानेके लिये ही सूत्रमें 'च' शब्द दिया गया है।

संवरात् परत्र पाठ इति चेन्नानुभवानुवादपरिहारार्थत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—शंका–संवरसे पीछे निर्जराका कथन करना चाहिये, जिसप्रकार उद्देश्य होता है उसीप्रकार कथन किया जाता है अर्थात् संवर तत्त्वके पीछे ही निर्जरा तत्त्वका सप्त तत्त्वोंमें निरूपण है और सिद्धि भी उसी क्रमसे होती है इसलिये उद्देश्यके अनुसार निर्जराका निरूपण संवरके पीछे करना ठीक है। संवरका निरूपण नवमें अध्यायमें किया गया है इसलिये वहीं उसके पीछे निर्जराका उल्लेख होना चाहिये यहां आठवें अध्यायमें बंध तत्त्वका कथन है इसमें निर्जराका उल्लेख नहीं करना था ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण अनुभवबंधके अनुवादका परिहार करनेके लिये ही निर्जराका यहां पाठ रक्खा गया है अर्थात् यदि संवरके पीछे ही निर्जराका निरूपण किया जाता तो विपाक होनेपर अपना फल

और संवर दोनोंका एक ही अर्थ होता है ऐसा कहा गया है यहांपर योगविभाग करनेसे आस्रवनिरोध और संवरमें कार्य कारणका भेद सिद्ध होता है। आस्रवनिरोध कारण द्वारा संवर कार्य सिद्ध होता है यही आस्रव निरोधका फल ही संवर है यह फलितार्थ है। वह संवर क्या पदार्थ है? उसीको बताते हैं—

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः ॥ ६ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन अविरति आदि बंधके कारण हैं यह बात आठवें अध्यायमें कही जा चुकी है। उन मिथ्यादर्शनादिका उपादानकारण जो कर्म उसका रुक जाना संवर कहलाता है।

स द्वेधा द्रव्यभावभेदात ॥ ७ ॥

अर्थ—वह संवर दो प्रकार है, एक द्रव्यसंवर, दूसरा भावसंवर।

संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः ॥ ८ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पांच कारणोंसे आत्माकी भवांतरप्राप्ति अर्थात् एक भवको छोडकर दूसरे भवकी प्राप्तिको संसार कहते हैं, उस संसारका निमित्तभूत जो क्रियारूप परिणाम उसकी निवृत्तिको भावसंवर कहते हैं अर्थात् जीवके जिन क्रियात्मक भावोंसे उसका परिभ्रमणरूप संसार होता रहता है, उन क्रियात्मक भावोंकी निवृत्तिको ही भावसंवर कहते हैं।

तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ॥ ९ ॥

अर्थ–उस संसारकारणके निरोध होनेपर उस कारणसे जो कर्मग्रहण होता था उस कर्म पुद्गलका भी निरोध हो जाना वह द्रव्यसंवर कहलाता है अर्थात् जब संसारकारणोंका अभाव हो गया तो उस संसार कारणसे आनेवाले कर्म पुद्गलका भी अभाव हो गया इसलिये भावसंवर होनेसे द्रव्यसंवर भी होजाता है।

तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं ॥ १० ॥

अर्थ–उस संवरतत्त्वका विचार करनेके लिये गुणस्थानोंका विभाग वचन किया जाता है अर्थात्

रूप 'ततश्च' पद सूत्रमें नहीं दिया जाता इसलिये अनुभव और निर्जरामें बहुत भेद है, अनुभव कारणात्मक है निर्जरा कार्यात्मक है। अनुभव भावरूप है और निर्जरा अभावात्मक है।

लघ्वर्थमिहैव तपसेति वक्तव्यमिति चेन्न संवरानुग्रहतंत्रत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर भी शंका—'ततश्च निर्जरा' और "तपसा निर्जरा च" इन दो सूत्रोंका भिन्न भिन्न निरूपण नहीं करके लघुताके लिये यहींपर "ततो निर्जरा तपसा च" ऐसा एक सूत्र कहना ठीक होता, उसका यह अर्थ होता कि फल देनेके पीछे कर्मोंकी निर्जरा होती है और तपसे भी होती है। यही अर्थ दो सूत्र जुदे जुदे करनेसे होता है इसलिये लघुताके लिये एक सूत्र करना ही ठीक है फिर निर्जराका ग्रहण नवमें अध्यायमें नहीं करना पडता ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—संवर रूप कार्य दिखानेकेलिये पृथक् सूत्रका कथन ही ठीक है। 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्रका यह अर्थ होता है कि तपसे निर्जरा होती है और तपसे संवर भी होता है। एक तपके द्वारा दो कार्य सिद्ध होते हैं इस बातको दिखानेके लिये संवरके कारणोंमें तपका उल्लेख फिर भी करना पडता इसलिये जुदे जुदे दो सूत्रोंका विधान ही ठीक है।

धर्मेंतर्भावात् संवरहेतुत्वमिति चेन्न पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ—फिर भी शंका—उत्तमक्षमामार्दवार्जवादि सूत्रमें उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव आदि धर्मोंका निरूपण किया जायगा वहां उत्तम तपको संवरका हेतु बताया गया है इसलिये संवर तपका कार्य है अथवा तपमें संवरकी हेतुता है यह बात उसीके अंतर्गत होनेसे सिद्ध हो जायगी और यहां "ततो निर्जरा तपसा च" इस सूत्रसे तप द्वारा भी निर्जरा होती है इसलिये तप निर्जराका कारण है यह बात सिद्ध होजाती, फिर जो "तपसा निर्जरा च" यह भिन्न सूत्र कहा गया सो निरर्थक है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, कारण—प्रधानता दिखानेके लिये पृथक् सूत्र रखना आवश्यक है। जितने भी संवर

अहितरूप है, इसप्रकारकी परीक्षा करनेमें वे सर्वथा असमर्थ हैं तथा जो संज्ञी पंचेंद्रियपर्याप्तक जीव हैं वे दोनों प्रकार होते हैं कोई हिताहित परीक्षा करनेमें समर्थ होते हैं कोई नहीं होते हैं।

तदुदयाभावेऽनंतानुबंधिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः ॥ १३ ॥

अर्थ—उस मिथ्यादर्शनकर्मके उदयके निवृत्त होनेपर अर्थात् उसका उपशम होनेपर अनंतानुबंधी कषायके उदयसे कलुषित है अंतरात्मा जिसकी ऐसा जो जीव वह सासादनसम्यग्दृष्टि कहलाता है अर्थात् मिथ्यात्वके अभावमें और अनंतानुबंधीकषायके उदयमें सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है। यहां प्रश्न होता है कि मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव उस द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीवके किसप्रकार होता है ? उत्तर—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीवके छव्वीस मोहनीय प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है अथवा जो सादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव है उसके भी छव्वीस मोहप्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, किसी सादिमिथ्यादृष्टिभव्यके सत्तावीस मोहप्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और किसी सादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीवके अट्ठावीस मोहप्रकृतियोंकी सत्ता रहती है। इसप्रकार मोहप्रकृतियोंकी सत्तावाला अनादि अथवा सादि भव्यजीव जिस समय प्रथमोपशम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके लिये उद्यत होता है उससमय शुभपरिणामोंके उन्मुख हो जाता है, अंतर्मुहूर्त होनेवाली अनंत गुणवृद्धिसे उसकी विशुद्धि भी बढ जाती है, चारों मनोयोगोंमेंसे किसी एक मनोयोगको धारण कर लेता है, इसीप्रकार चारों वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोगसे युक्त हो जाता है, औदारिक वैक्रियिक इन दोनों काययोगोंमें किसी एक काययोगका अवलंबन कर लेता है, उसकी नवीन बंध होनेवाली कषाय घटती जाती है अर्थात् उनकी स्थिति अनुभाग कम हो जाते हैं तथा साकार उपयोगसहित हो जाता है, तीनों वेदोंमें किसी एक वेदरूप भावसहित हो जाता है, संक्लेश परिणामोंसे रहित हो जाता है और बढते हुये शुभ परिणामोंके प्रतापसे समस्त कर्मप्रकृतियोंकी स्थितिको घटाता जाता है, अशुभ कर्मप्रकृतियोंके अनुभागबंधको क्षीण करने लगता है तथा शुभ कर्मप्रकृतियोंके

षायकर्म ये पच्चीसकर्म बंधकी अपेक्षा देशघातिया हैं। बाकी बची हुई समस्त प्रकृतियां अघातिया हैं। इसके सिवा इतनी विशेषता और समझनी चाहिये कि इन कर्मोंमें कुछ कर्म तो पुद्गलविपाकी हैं और कुछ जीवविपाकी हैं, कुछ क्षेत्रविपाकी हैं, कुछ भवविपाकी हैं। जिन कर्मोंका शरीर पर ही विपाक कार्य हो जीव पर नहीं हो अर्थात् शरीरकी रचना इंद्रियोंकी रचना, संहननादि रचना आदि शरीरादि पुद्गल पर ही जिन कर्मोंका फल होता हो वे तो पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते हैं तथा जिन कर्मोंका फल जीव पर हो जो जीवके ज्ञानादिगुणोंका घात करनेवालेकर्म हों वे जीवविपाकीकर्म कहलाते हैं और जिन कर्मोंका क्षेत्रमें ही विपाक हो अर्थात् जीवके परपर्यायमें जाते हुये गमनक्षेत्रमें ही जो अपना फल देकर खिरजाय वह क्षेत्रविपाकी प्रकृति है और जिसका विपाक भवमें अर्थात् जीवकी पर्यायमें हो वह भवविपाकी प्रकृति कहलाती है। अब यह बतलाते हैं कि कौन कौन प्रकृतियां पुद्गलविपाकी जीव-विपाकी आदि हैं—पांच शरीर पांच बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह संहनन, आठ स्पर्श, पांच रस, दोगंध, पांचवर्ण, प्रत्येक शरीर साधारण शरीर दोका युग्म, स्थिर अस्थिरका युग्म, शुभ अशुभका युग्म (ये छह) एक अगुरुलघु, एक उपघात, एक परघात, एक आतप, एक उद्योत, एक निर्माण ये बासठप्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं। ये पुद्गलमें ही अपना रस देती हैं अर्थात् ये शरीर संबंधी प्रकृतियां हैं तथा नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये चार आनुपूर्व्य प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी हैं अर्थात् विग्रहगतिमें जीवके प्रदेशोंका आकार रखनेरूप विपाक इस प्रकृतिका होता है। तथा नरकायु तिर्यंचआयु मनुष्यायु और देवायु ये चार आयुकर्म भवविपाकी हैं इनका फल भव अर्थात् पर्याय धारण करना मात्र है। उनके सिवा बाकीकी प्रकृतियां जीव विपाककी कारणभूत हैं वे इसप्रकार हैं—पांच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, पांच अंतराय, अट्ठावीस मोहनीय ये सैंतालीस प्रकृतियां तो घातिया कर्मोंकी समस्त प्रकृतियां और अघातिया कर्मोंमें—दो वेदनीय, दो गोत्र,

मको धारण करता है, ऐसा परिणाम पहले कभी भी इस जीवके नहीं हुआ था इसीलिये उसे अथाप्रवृत्त अर्थात् नवीनप्रवृत्त अथवा पहले कभी नहीं प्रवृत्त परिणाम ऐसा यथार्थ नाम कहते हैं अथवा यह करण परिणाम जैसा अब हुआ है वैसा पहिले कभी नहीं हुआ था इसीलिये उसे अथाप्रवृत्त कहते हैं। दूसरा नाम इसका अधःकरण भी है। इस करणमें पहले समयमें जघन्य विशुद्धि अल्प है, दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है, तीसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनंतानंत गुणी है, इसीप्रकार समय समयकी विशुद्धि बढते बढते अंतर्मुहूर्त समय समाप्त होनेपर उसके पीछे प्रथम समयम उत्कृष्ट विशुद्धि अनंत गुणी है दूसरे समयमें उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है, इसीप्रकार आगे भी जानना चाहिये। इसीप्रकार अथाप्रवृत्तकरणके चरम समयके अंतमें होनेवाले नाना जीवोंकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण परिणामोंके भेद समान और विषम होते हैं। इसप्रकार इन असंख्यात लोकप्रमाण समविषम परिणामोंका समुदाय स्वरूप अथाप्रवृत्तकरण होता है। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें जघन्य विशुद्धि थोडी है, उसीकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है दूसरे समयमें जघन्य अनंतगुणी है इसीप्रकार आगे आगे अनंतगुणी वृद्धिरूप है। इसप्रकार अंतर्मुहूर्तकी समाप्ति पर्यंत उत्तरोत्तर विषमता है ऐसे ही प्रथम समयमें उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है दूसरे समयमें उससे अनंतगुणी है, उसके आगे भी प्रतिसमयमें अनंतगुणी विशुद्धि अंतर्मुहूर्तकी समाप्ति पर्यंत है ये सब अपूर्वकरणके परिणाम नाना जीवोंकी अपेक्षा असंख्येय लोकप्रमाण हैं वे सब भिन्न समयवर्ती जीवोंके नियमसे विषम ही होते हैं किसी भी जीवके भिन्न समयवर्ती किसी जीवके परिणाम मिलते नहीं हैं। उनका समुदायरूप अपूर्वकरणरूप है अर्थात् भिन्नभिन्न समयमें परिणामोंमें अपूर्वता है, जो परिणाम पहिले समयमें कभी नहीं हुये वे दूसरे समयमें होते हैं, इसलिये नवीन नवीन परिणाम होनेसे इस करणका नाम अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है। अब तीसरा परिणाम जो अनिवृत्तिकरण है उसका कथन किया जाता है—अनिवृत्तिकरण कालमें नाना जीवोंके भी

बंधते हैं अर्थात् कषायसहित योग ही उन प्रदेशोंके बंधनेमें कारण हैं। तथा वे आये हुये अत्यंत सूक्ष्म होते हैं जो कि किसीसे रोके नहीं जासकते और आत्माके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्ररूपसे अवगाहन करते हैं अर्थात् उन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंका और आत्माके प्रदेशोंका नीर क्षीरके समान एकक्षेत्राव-गाहीपना होजाता है। यही उनका स्वभाव है और वे प्रदेश आत्माके सभी प्रदेशोंमें बंधते हैं आत्माके किसी प्रदेश विशेषमें उनका बंध नहीं होता है किंतु समस्त प्रदेशोंमें होता है और एक समयमें आनेवाले प्रदेश अनंतानंत आते हैं अर्थात् किसी समय भी संख्यात असंख्यात कर्मोंका बंध कभी नहीं होता किंतु सदैव अनंतानंत ही बंधते हैं। इसप्रकार ऊपरके छह प्रश्नोंका यह उत्तर इस सूत्र द्वारा कहा गया है। ये प्रदेश नामके कारण हैं यहांपर नाम शब्दसे सर्व कर्मप्रकृतियां लीजाती हैं क्योंकि 'स यथानाम' इस सूत्रमें यह बतला दिया है कि कर्मोंमें जो विपाक होता है वह यथा नाम होता है कर्मोंके जो नाम है जो जो उनकी संज्ञा है उसीके अनुसार होता है ऐसा कहनेसे नामका अर्थ कर्मोंकी संज्ञाका है।

नामासां प्रत्यय इति चेन्न समयविरोधात् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि "नामप्रत्ययाः" यह जो सूत्र पद है उसका "नाम्नः प्रत्ययाः" नामके कारण ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समासरूप अर्थ किया जाता है वह नहीं करके "नाम प्रत्ययो यासां" नाम ही है कारण जिन प्रकृतियोंका ऐसा बहुव्रीहि समास रूप अर्थ करना चाहिये? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—ऐसा अर्थ करनेसे आगममें विरोध आता है अर्थात् यदि बहुव्रीहिसमास रूप विग्रह 'नामप्रत्ययाः' इसपदका किया जायगा तो नामकर्म ही सब प्रकृतियोंका कारण है यह अर्थ सिद्ध होगा

अर्थात् जिसप्रकार तपाहुआ लोहेका गोला जलको खींचता है उसीप्रकार देहोदयसे सहित जीव प्रतिसमय कर्म नोकर्म सर्व शरीर द्वारा ग्रहण करता है। वह एक समयका गृहीतद्रव्य सिद्धोंके अनंतवेंभाग और अभव्यराशिके अनंतगुणा है उस समयप्रबद्ध द्रव्यको जीव योगोंके द्वारा हीनाधिक बांधता है।

तियां इन पांच प्रकृतियोंका उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रगट होता है और सत्तामें बैठा हुआ जो मिथ्यात्वकर्म उसके अनुभागको घटाकर वह प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि तीन खंड कर देता है अर्थात् मिथ्यात्वकर्मके तीन टुकडे होजात हैं १–मिथ्यात्व २–सम्यङ्मिथ्यात्व ३–सम्यक्त्व प्रकृति। जिसप्रकार यंत्रसे पीसनेपर धान्यके तीन हिस्से होजाते हैं एक हिस्सा सारभागरूप मिगीरूप होजाता है दूसरा हिस्सा छोटे छोटे कणरूप होजाता है तीसरा हिस्सा छोकला रूप होजाता है। उसीप्रकार मुख्य हिस्सा मिथ्यात्वरूप रहता है कुछ भाग हल्का होकर सम्यङ्मिथ्यात्वरूप हो जाता है और कुछ भाग और भी हल्का होकर निःसार सम्यक्त्व प्रकृति रूप होजाता है, इसप्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वको अंतर्मुहूर्त पर्यंत धारण कर पीछे यदि सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होजाय तब तो क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है, यदि मिथ्यात्वका उदय होजाय तो मिथ्यादृष्टि होजाता है यदि सम्यङ्मिथ्यात्वका उदय हो तो सम्यङ् मिथ्यादृष्टी होजाता है और यदि अनंतानुबंधी चौकडीका उदय होजाय तो द्वितीय गुणस्थान सासादनवर्ती होजाता है। सादि मिथ्यादृष्टिमें इतनी विशेषता है कि उसके सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति ये दो प्रकृतियां और भी सत्तामें रहती हैं, कारण अनादि मिथ्यादृष्टिने प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करते समय जो मिथ्यात्वकर्मके तीन टुकडे किये हैं वे फिर इसजीवके सत्तामें रहते हैं उदयमें भी आते हैं इसलिये सादि मिथ्यादृष्टि अनंतानुबंधी चार और मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सातप्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करता है प्रथम सम्यक्त्वका काल जघन्य और उत्कृष्ट दोनोंका अंतर्मुहूर्त मात्र है। उस अंतर्मुहूर्त कालके अंतसमयम जघन्यरीतिसे एक समय सम्यग्दर्शनका समय वाकी रहने पर और उत्कृष्ट रीतिसे एकसमयसे लेकर छह आवलि पर्यंत समय अवशिष्ट रहनेपर जिससमय अनंतानुबंधि क्रोध मान माया लोभ इन चारोंमेंसे किसी एक कषायका उदय होता है उस समय वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादनसम्यग्दृष्टि हो

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रांतरनिवृत्त्यर्थं ॥ ५ ॥

अर्थ—आत्माके प्रदेश और पुद्गलकर्म प्रदेश दोनोंका एक ही क्षेत्र है। एक क्षेत्रसे भिन्न उनका क्षेत्र नहीं है, इस बातको प्रगट करनेकेलिये एक क्षेत्रावगाह ऐसा वचन सूत्रमें कहा गया है।

स्थिता इति वचनं क्रियांतरनिवृत्त्यर्थं॥ ६ ॥

अर्थ—कर्म भावको प्राप्त होनेवाले पुद्गल स्कंध एक स्थानमें ठहरे हुये हैं, वे चलते फिरते नहीं हैं, इसप्रकार उनमें दूसरी क्रिया नहीं होती इसी बातके प्रगट करनेके लिये स्थिता ऐसा पद दिया गया है। इसप्रकार सूक्ष्मएकक्षेत्रावगाहस्थित इन पदोंसे पुद्गलके कर्मयोग्य स्वभावका वर्णन किया गया है।

सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थं ॥ ७ ॥

अर्थ—आत्माके एक दो तीन चार आदि प्रदेशोंमें ही कर्मोंके प्रदेश नहीं ठहरे हुये हैं किंतु ऊपर नीचे तिरछे (मध्यमें) समस्त आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्म प्रदेश स्थित हैं इसबातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें 'सर्वात्मप्रदेशेषु' ऐसा वचन कहा गया है।

अनंतानंतप्रदेश वचनं प्रमाणांतरव्यपोहार्थं॥ ८ ॥

अर्थ—जो कर्म परमाणु एक समयमें आत्माके साथ बंधको प्राप्त होते हैं वे संख्यात नहीं हैं असंख्यात भी नहीं है अनंत भी नहीं है, किंतु अनंतानंत हैं। इसी बातको दिखानेके लिये सूत्रमें अनंतानंत, यह पद दिया गया है अर्थात् वे पुद्गलस्कंध अभव्यराशिसे अनंतगुणे हैं सिद्धराशिके अनंतवें भाग प्रमाण हैं। घनांगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें अवगाहन करनेवाले हैं अर्थात् सबसे छोटा शरीर भी घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश प्रदेशोंको घेरता ही है। इसलिये वे प्रदेश घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमित क्षेत्रमें ठहरते हैं तथा एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंत समयकी स्थिति लिये हुये हैं। पांच वर्ण पांच रस दोगंध चार स्पर्श स्वभाववाले हैं और आठ कर्मोंके योग्य हैं

सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयापादिताऽविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः ॥ १५ ॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्वसे सहित होता हुआ चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे अत्यंत अविरत परिणामोंकी प्रवलताको जो धारण करता है वह असंयतसम्यग्दृष्टि कहलाता है । उस सम्यग्दृष्टिके मति श्रुत अवधि ये तीनों ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगते हैं, इस चौथे गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थान सम्यग्दर्शन सहित होते हैं अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, तीनों सम्यक्त्वोंमेंसे कोई एक सम्यक्त्व नियमसे प्रगट हो जाता है फिर आगेके गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शनका कहीं भी अभाव नहीं होता है वरावर वना रहता है। उसका तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप लक्षण समस्त गुणोंमें चौथेसे लेकर पाया जाता है। इस चौथे गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है इसलिये एकदेश चारित्र धारण करनेमें भी जीव समर्थ नहीं होता है।

द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस पांचवें गुणस्थानको आदि लेकर आगेके सब गुणस्थान चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे अथवा उपशमसे अथवा क्षयसे होते हैं। वहां इस पांचवेंगुणस्थानमें अनंतानुवंधीकषाय क्षीण भी होचुके हों अथवा नहीं भी क्षीण हुये हों किंतु उपशमित होगये हों तथा अप्रत्याख्यानावरणकषाय और प्रत्याख्यानावरणकषाय ये दोनों सर्वघातिप्रकृतियां हैं इनका तो उदय हो तथा संज्वलनकषाय और नवनोकषाय ये देशघातीप्रकृतियां हैं, उनका उदय होनेपर संयमासंयमलब्धि होती है अर्थात् जो सर्वघातिप्रकृतियां हैं उनका उदयाभावी क्षय रहना चाहिये। यहांपर अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदयाभावी क्षय है इसका अभिप्राय यह है कि विना फल दिये कर्मपरमाणु खिरजाते हैं इस अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयाभावी क्षय होनेसे एकदेश विरतिरूपपरिणाम प्रगट हो जाता है और प्रत्याख्यानावरणकषायका

देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पांचशरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्तवर्ण, प्रशस्तरस, प्रशस्तगंध, प्रशस्तस्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, ये सैंतीस प्रकृतियां नामकर्मकी शुभ हैं।

शुभमेकमुच्चैर्गोत्रं ॥ ४ ॥ सद्वेद्यमिति ॥ ५ ॥

अर्थ—एक उच्चगोत्र शुभकर्म है और सातावेदनीय शुभ है। इसप्रकार दो ये, तीन आयु और सैंतीस नामकर्मकी कुल ब्यालीस प्रकृतियां पुण्य प्रकृतियां हैं। पुण्यकर्मसे भिन्न जितनी प्रकृतियां हैं वे सब पाप प्रकृतियां हैं, वे कौनसी हैं उन्हींको बतानेवाला सूत्र कहते हैं—

अतोऽन्यत् पापं ॥ २६ ॥

अर्थ—पुण्य प्रकृतियोंसे भिन्न सब प्रकृतियां पापप्रकृतियां हैं अर्थात् असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पापप्रकृतियां हैं। ये पाप प्रकृतियां उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे ब्यासी हैं, कौन कौन हैं उन्हें गिनाते हैं—पांच ज्ञानावरण प्रकृतियां, नव दर्शनावरण प्रकृतियां, छब्बीस मोहनीय प्रकृतियां, पांच अंतराय प्रकृतियां, नरकगति, तिर्यंचगति, चार जातियां, पांच संस्थान, पांच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अशुभ, दुर्भग, अस्थिर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये

१—आयुकर्ममें तो तिर्यंच आयुको भी शुभ कहा गया है परन्तु गतियोंमे तिर्यञ्चगति और नरकगति दोनोंको अशुभ कहा गया है। इसका कारण यह है कि जो जीव तिर्यञ्च भवमें पहुंच जाता है फिर वह उसे छोड़ना नही चाहता है इसलिये भवधारण कारण आयुकर्म तो शुभ है परन्तु तिर्यंचगतिको कोई जीव जाना नहीं चाहता मनुष्यगति और देवगतिको जानेकी इच्छा रहती है इसलिए तिर्यञ्चगति अशुभ कर्म है।

२—इन ब्यालीस प्रकृतियोंमें कोई प्रकृति ऐसी नही है जो दुःखोत्पादक हो इसलिए ये शुभ कहलाती हैं।

दोंके कारण कुछ कुछ चारित्र परिणाममें स्खलन होनेसे अथवा प्रमाद आनेसे वह प्रमत्तसंयमी कहलाता है अर्थात् छठे गुणस्थानतक प्रमाद रहता है कारण वहां तक इच्छापूर्वक क्रिया होती है इसलिये उन क्रियाओंके कारण पंद्रह प्रमादोंमेंसे जो जो प्रमाद वहां संभवित होते हैं उनके निमित्तसे कुछ कुछ चारित्रमें शैथिल्य आता है। परंतु ऐसा प्रमादोदय उन छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके नहीं होता है जो कि सकल संयमरूप परिणामोंका घात करदे, कारण यहां केवल कषाय संज्वलनकषाय और नोकषायोंका उदय मात्र है अन्य कषायोंका उदय नहीं है इसलिये ऐसा तीव्र प्रमाद उन मुनियोंके नहीं होता जो सकलचारित्ररूप परिणाम ही नहीं रहने दे, वैसी अवस्थामें तो छठा गुणस्थान ही नहीं कहा जासकेगा इसलिये देशघाती कषायोदयजनित राग परिणाम रहनेसे सकलसंयमी मुनि प्रमत्तसंयमी कहेजाते हैं यह प्रमाद परिणाम ही मुनियोंके महाव्रतमें चित्रलाचरण पैदा करता है।

प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार छठे गुणस्थानमें संयमको धारण करते हैं उसीप्रकार इस सातवें गुणस्थानमें भी

१—संजलणणोकसायाणुयादो संजमो हवे जह्मा। मलजणणपमादोविय तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि। सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ३३ ॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥

अर्थ—संज्वलन और नोकषायके उदयसे संयम होता है परन्तु साथमें कुछ मलोत्पन्न करनेवाला अर्थात् सकलचारित्रमें थोड़ीसी मलिनता पैदा करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिये वह संयम प्रमत्तविरत कहलाता है, जो मुनि अपने जानने योग्य अथवा प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा जानने योग्य ऐसे प्रगट और अप्रगट प्रमादोंसे सहित सकलचारित्रको धारण करते है वे चित्रलाचरण कहलाते हैं अर्थात् उनका संयम सातवें आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा अभी अपूर्ण है परन्तु देशव्रतकी अपेक्षा पूर्ण है इसलिये चित्र नाम प्रमादका है उससे सहित होनेसे अथवा चित्रल नाम चीताका है जिसप्रकार चितकबरा मिश्र रंगवाला रहता है उसीप्रकार छठे गुणस्थानवर्ती मुनि भी कुछ प्रमादयुक्त सकलसंयमको धारण करते हैं इसलिये मिश्रपरिणामवाले कहे जाते है परन्तु अट्ठावीस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुणोंको और अठारह हजार शीलके भेदोंको पालनेसे सकल गुण शीलसे विशिष्ट महाव्रती होते हैं। इस छठे गुणस्थानसे ऊपर सातवें आदिमें जो महाव्रत होता है वह प्रमादरहित होना है।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—आस्रवका रुकजाना अर्थात् आतेहुये कर्मोंका रुकजाना संवर कहलाता है अथवा जिसके द्वारा कर्म रुक जांय उसका नाम संवर है। इस सूत्रकी उत्पत्तिका प्रयोजन यह है कि अनेक प्रकार विचित्रता पैदा करनेवाला निरंतर आस्रव द्वारा इकट्ठा होनेवाला जो ज्ञानावरणादि कर्म है वह किसप्रकार बंधको प्राप्त नहीं होसकता है ? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि संवर होनेसे फिर नूतनकर्म नहीं होता है। संवर क्या पदार्थ है ? इसके उत्तरमें यही सूत्र है कि "आस्रवविरोधः संवरः" अर्थात् आस्रवका रुक जाना ही संवर है अर्थात् जिन जिन मिथ्यादर्शन. अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, कारणोंसे कर्मबंध होता है उन उन कारणोंका अभाव होजाना ही संवर है। कारणोंका अभाव होजानेसे कार्योंका अभाव स्वयं सिद्ध है इसलिये जिन जिन गुणस्थानोंमें जिन जिन कारणोंका अभाव होजाता है उन्हीं उन्हीं गुणस्थानोंमें फिर उन कारणोंसे होनेवाला कर्मबंध नहीं होता है इसलिये वह उनकर्मोंका संवर कहलाता है अथवा बंध पदार्थ कहा जाचुका, उसके पीछे अब संवर तत्त्वके कहनेका समय है इसीलिये यह सूत्र कहा गया है—"आस्रवनिरोधः संवरः" आस्रव निरोध क्या है ? उसीको बतलाते हैं—

कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रव निरोधः ॥ १ ॥

अर्थ—कर्मागमका निमित्त बहुत प्रकारका कहा जाचुका है, उस काय वचन मनके अवलम्बनसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके हलन चलनात्मक प्रयोगरूप निमित्तका उसकी उत्पत्तिके कारणका अभाव होनेसे प्रगट नहीं होना ही आस्रवनिरोध कहलाता है अर्थात् मन वचन काय वर्गणाओंके अवलंबनसे आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद होता है उसी निमित्तसे कार्माण वर्गणाओंका ग्रहण होता है, वे गृहीत वर्गणायें ही मिथ्यादर्शन अविरति आदि कारणोंके निमित्तसे कर्मरूप परिणत होजाती हैं इसलिये उन सब निमित्तोंका उनके साधक हेतुओंकी निकटता अथवा उदय नहीं होनेसे प्रगट नहीं होना इसीका नाम आस्रव

करनेवालेके दशवेंके अंतमें समस्त कषायोंका सर्वथा नाश होनेसे वारहवां ही गुणस्थान प्रगट होता है।

अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् ॥ १९ ॥

अर्थ—अपूर्वकरण परिणामोंको धारण करता हुआ उन परिणामोंकी विशुद्धिसे श्रेणीका आरोहण करता हुआ आत्मा अपूर्वकरण इस नामको धारण करता है अर्थात् आठवां गुणस्थानवाला कहलाता है। इस अपूर्वकरणमें कर्मप्रकृतियोंका न तो उपशम होता है और न क्षय ही होता है, किंतु पूर्वमें और उत्तरमें उपशम अथवा क्षयकी अपेक्षा रखकर ही उसे उपशमक अथवा क्षपक कहते हैं जिसप्रकार घीसे भरे हुये घडेको घीका घडा कह देते हैं वास्तवमें घीका घडा नहीं है किंतु वह मिट्टीका है किंतु उपचारसे घीके निमित्तसे उसे घीका घडा कह देते हैं उसीप्रकार इस आठवें गुणस्थानमें कुछ कर्मोंका उपशम अथवा क्षय भी होता है परंतु कुछ कर्मोंका उदय भी रहता है इसलिये उसे क्षायोपशमिक कहना चाहिये परंतु पूर्वोत्तर कार्यकी विवक्षासे उसे उपशमक अथवा क्षपक कहते हैं। उसमें श्रेणीके आरोहणकी ही मुख्यता है।

अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिवादरसांपरायौ ॥ २० ॥

अर्थ—अनिवृत्तपरिणामका स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उस अनिवृत्तिपरिणामकी शुद्धिके द्वारा कर्मप्रकृतियोंका स्थूलरूपसे उपशम करनेवाला उपशमक वादरसांपराय और क्षय करनेवाला क्षपकवादरसांपराय कहलाता है। उस नवमें गुणस्थानमें कितनी कौन कौन प्रकृतियां उपशमक प्राप्त हो जाती हैं और कितनी कौन कौन प्रकृतियां क्षयको प्राप्त होती हैं, वह सब वर्णन आगे किया जायगा।

सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसांपरायौ ॥ २१ ॥

अर्थ—सांपराय नाम कषायका है, वह कषाय जिस गुणस्थानमें सूक्ष्मरूपसे उपशमित किया जाय अथवा क्षयको प्राप्त किया जाय वह सूक्ष्मसांपराय नामका गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानके भी उपशम और क्षयकी अपेक्षासे दो भेद हो जाते हैं।

अर्थ—अथवा निरोध शब्द भावसाधन मात्र नहीं है जिससे कि उसका अर्थ–होना मात्र हो। किंतु निरोध शब्दका करणसाधन अर्थ करनेसे संवरके साथ आस्रव निरोधका समानाधिकरणरूप अर्थ घटित होजाता है। करणसाधनरूप अर्थ निरोध शब्दका इसप्रकार है—निरुध्यतेऽनेन स निरोधः कर्मोंका आना जिसके द्वारा रोका जाय वह निरोध कहलाता है, संवर शब्दका भी करणसाधन अर्थ इसप्रकार करना चाहिये–संव्रियते अनेन असौ संवरः–जिसके द्वारा कर्मोंका आना रोका जाय वह संवर है, इसप्रकार करणसाधन रूप अर्थ करनेसे संवर और आस्रवनिरोध दोनोंका एक ही अर्थ होता है वह संवर अथवा आस्रवनिरोध क्या वस्तु है? वह है गुप्ति, समिति, धर्म आदि स्वरूप। इन गुप्ति आदिका स्वरूप आगे कहा जायगा इस रीतिसे भावसाधन और करणसाधन व्युत्पत्ति करनेसे द्रव्यसंवर और भावसंवर दोनोंकी सिद्धि होजाती है। 'संवरणं संवरः' इस भाव साधनसे कर्मोंका रुकनारूप द्रव्यसंवर सिद्ध होता है और जिससे कर्म रोके जांय ऐसी करणसाधन व्युत्पत्तिसे समिति गुप्ति रूप भावसंवरकी सिद्धि होजाती है। इन दोनों व्युत्पत्तियोंसे आस्रवनिरोधके साथ समानाधिकरण हो जाता है।

योगविभागो वा ॥ ५ ॥

अर्थ–अथवा यहांपर योग–सूत्र विभाग कर देना चाहिये वह इसप्रकार करना चाहिये कि आस्रवका निरोध हितार्थी पुरुषके द्वारा करना चाहिये अर्थात् "आस्रवनिरोधः' यह पद तो सूत्रमें ही है उसके आगे 'हितार्थिना कर्तव्यः' इतना वाक्य और जोड देना चाहिये। दोनोंको मिलाकर अर्थ होता है कि हितार्थी पुरुष आस्रवका निरोध करै, उसका प्रयोजन क्या है? तो उसका प्रयोजन संवर है। आस्रव निरोधका प्रयोजन संवर है। यह दूसरा अर्थ योगविभाग करनेसे अर्थात् "आस्रवनिरोधः संवरः इस सूत्रके दो पदोंका समानाधिकरण नहीं करके भिन्न भिन्न संबंध जोडकर अर्थ करनेसे सिद्ध होता है इस योगविभाग करनेका खुलासा यह अभिप्राय है कि पहिले करणसाधन करनेसे आस्रवनिरोध

नके अंतमें ही दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण, इन चार समुद्घातोंको आठ समयमें पूराकर तीनों कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके वरावर कर समस्त कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर आत्मा अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावसे सिद्धलोकमें जाविराजता है। वहांपर अपने अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य आदि अनंतस्वाभाविक गुणोंसे विभूषित होता हुआ सदाके लिये अविनश्वर होजाता है।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरः शेषे ॥ २५ ॥

अर्थ—उनमें जो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें मिथ्यात्वकी प्रधानतासे कर्म आता है उसका निरोध होनेसे शेषके वाकी सासादन मिश्र अविरत सम्यग्दृष्टिआदि गुणस्थानोंमें उस मिथ्यात्व आदि कर्मका संवर होजाता है अर्थात् पहिले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यात्व आदि सहवंधभावी जिन प्रकृतियोंका वंध होता है, उस मिथ्यात्व भावका निरोध होनेपर अर्थात् मिथ्यात्वकर्मके उदयका अभाव होजानेसे फिर दूसरे तीसरे आदि आगेके गुणस्थानोंमें उन मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंका वंध नहीं होता है। यही उन प्रकृतियोंका संवर कहलाता है। जिन प्रकृतियोंका मिथ्यात्वके साथ साथ पहले गुणस्थानमें ही वंध होता है फिर आगे नहीं होता है वे प्रकृतियां इसप्रकार हैं—मिथ्यादर्शन, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, द्वींद्रियजाति, त्रींद्रियजाति, चतुरिंद्रियजाति, हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारणशरीर, ये सोलह प्रकृतियां पहले गुणस्थानमें ही वंधती हैं, आगे इनका वंध नहीं होता। जहां मिथ्यात्व गुणस्थानरूप परिणामका अभाव होजाता है वहां इन सोलह प्रकृतियोंका संवर होजाता है।

असंयमस्त्रिविधोऽनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयाविकल्पात् ॥ २६ ॥

अर्थ—असंयमके तीनभेद हैं एक अनंतानुवंधीकषायसे होनेवाला दूसरा अप्रत्याख्यानावरणकषायसे होनेवाला और तीसरा प्रत्याख्यानावरणकषायसे होनेवाला असंयम होता है।

किस गुणस्थानमें किन किन प्रकृतियोंके आस्रवका संवर होता है इसीको नीचे स्पष्ट करते हैं—

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिवादरसांपरायसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतक्षीणकषायवीतरागछद्मस्थसयोग्ययोगिकेवलिभेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पः ॥ ११ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादरसांपराय, सूक्ष्मसांपराय इन दश गुणस्थानोंमें पीछेके जो तीन गुणस्थान हैं अर्थात् आठवां नवां और दशवां ये तीनों गुणस्थान उपशमक भी हैं और क्षपक भी हैं अर्थात् आठवें गुणस्थानसे श्रेणीका आरोहण होता है वह दो प्रकार है—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। दोनों ही श्रेणियां इन तीनों गुणस्थानोंमें होती हैं इसलिये तीनों ही उपशमक और क्षपक कहलाते हैं। इनके आगे चार गुणस्थान और हैं वे इसप्रकार हैं—उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगकेवली, अयोगकेवली इसप्रकार ये चतुर्दश गुणस्थान हैं।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः ॥ १२ ॥

अर्थ—उन गुणस्थानोंमें जो जीव मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके वशंगत है वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवाला कहलाता है अर्थात् जिस जीवके मिथ्यादर्शन कर्मका उदय है वही मिथ्यादृष्टिगुणस्थान है। उसी औदयिकपरिणामसे मिथ्यात्वकर्मका बंध होता है उस मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवाले जीव जीवादिक तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं करते हैं, तत्त्वार्थोंके कथनको विपरीतरूपसे धारण करते हैं उन मिथ्यात्वियोंके भेद पहले कहे जा चुके हैं, वे सब संक्षेपसे दोप्रकार हैं—एक हित अहितकी परीक्षासे रहित और दूसरे हित अहितकी परीक्षासे सहित। उनमें संज्ञी पर्याप्तक पंचेंद्रिय जीवोंको छोडकर बाकीके सभी—एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय जीव हिताहितकी परीक्षासे रहित हैं। क्या हितरूप है क्या

अप्रत्याख्यानावरण कषायोदयजनित असंयमभावका अभाव होनेसे ऊपर पांचवें आदि गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका संवर होजाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थानमें आयुका बंध ही नहीं होता है। प्रत्याख्यानावरणक्रोध, प्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरणमाया, प्रत्याख्यानावरणलोभ, इन चार प्रकृतियोंका प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे होनेवाले असंयमभावसे एकेंद्रियादिक जीव पहले गुणस्थानसे लेकर पांचवें संयतासंयत गुणस्थान पर्यंत बंध करते हैं, इसलिये प्रत्याख्यानावरण कषायोदयजनित असंयमभावका अभाव होनेसे आगेके छठे आदि गुणस्थानोंमें इन चारों प्रकृतियोंका संवर होजाता है।

प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः ॥ २८ ॥

अर्थ— जिन प्रकृतियोंका बंध संज्वलनकषायके उदयजनित प्रमादसे होता है उनका प्रमत्तसंयतसे आगे अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें प्रमादजनितभाव नहीं रहनेसे संवर होजाता है। प्रमादपरिणामसे जिन प्रकृतियोंका बंध होता है वे प्रकृतियां इसप्रकार हैं—असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति, इन छह प्रकृतियोंका बंध छठे गुणस्थान तक ही होता है उससे आगे उनका संवर होजाता है तथा देवायुके बंधका कारण भी प्रमाद परिणाम है और उसके समीप रहनेवाला अप्रमत्त गुणस्थान भी देवायुका बंधक है इसलिये उनसे आगे आठवें आदि गुणस्थानोंमें उस देवायुका संवर होजाता है।

कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसकर्मके आस्रवका कारण केवल कषाय ही है, प्रमाद आदि अन्य कारण नहीं है, उस कर्मका आस्रव भी उस कषायका निरोध होजाने पर नहीं होता है। प्रमादादिभावरहित केवल वह कषायभाव तीव्र मध्य और जघन्यभावसे तीनगुणस्थानोंमें रहता है उस कषायभावसे कहां कौन प्रकृति-

अनुभागबंधको बढाता है, ऐसी अवस्थाको धारण करता हुआ वह भव्यजीव उसी समय तीनें करण करनेके लिये प्रवृत्त होता है अर्थात् जिससमय अनादि अथवा सादि भव्यजीव प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके लिये समुद्यत होता है उससमय उसके ऊपर कहे अनुसार शुभ परिणाम होते हैं और कर्मोंकी स्थितिका ह्रास आदि अवस्थायें होती हैं उसीसमय वह करणत्रयरूप परिणाम धारण करता है, विना तीन करण धारण किये कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है सम्यक्त्वप्राप्तिमें करणत्रय आवश्यक परिणाम है। करणत्रय प्राप्त होनेपर ही अंतर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव हो जाता है। करण तीन होते हैं—१–अथाप्रवृत्तकरण (अथवा अधःप्रवृत्तकरण) २–अपूर्वकरण ३–अनिवृत्तकरण। इन तीनों ही करणोंका प्रत्येकका अंतर्मुहूर्तकाल है अर्थात् तीनों करणोंका मिलाकर भी अंतर्मुहूर्तकाल है और प्रत्येकका भी अंतर्मुहूर्तकाल है। अंतर्मुहूर्तके भी बहुत भेद हैं। अथाप्रवृत्तकरणका अन्वर्थ नाम अर्थात् शब्दके अनुसार नाम है वह इसप्रकार है कि सर्व कर्मोंकी स्थिति अंतः[3]कोटाकोटि सागरप्रमाण करके काल आदि लब्धियोंको प्राप्त हुआ जीव अथाप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें होनेवाले करणपरिणा-

---

१—खयुवसमइविसोही देसण पाउग्ग करणलद्धीए। चत्तारिवि सामण्णा करणं पुण होदि समत्ते ॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥

अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये पांच लब्धियां कारण हैं वे पांच लब्धियां इसप्रकार हैं—क्षायोपशमिकलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोगिकीलब्धि, करणलब्धि। इनमें चार तो सामान्य हैं अर्थात् वे भव्य अभव्य दोनोंके हो सकती हैं, उनके होनेपर सम्यग्दर्शन होनेका कुछ नियम नहीं है परन्तु करणलब्धिके होनेपर नियमसे अंतर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शन हो ही जाता है इसलिये करणलब्धि सम्यक्त्वप्राप्तिमें प्रधान आवश्यक कारण है।

२—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंका विशेष विवरण गोम्मटसार जीवकाण्डसे ज्ञात करें।

३—जब कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति होती है उस समय भी सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता जीवमें नहीं आती है और जब जघन्य कर्मकी स्थिति होती है तब भी सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता नहीं आती है किन्तु विशुद्ध परिणामोंके द्वारा नवीन बंधनेवाले कर्म भी अन्तःकोटाकोटि सागरोपम स्थितिको लेकर ही बंधे और जो कर्म सत्तामें बैठे हैं वे संख्यात हजार सागर घाटि अन्तःकोटाकोटिसागर प्रमाण स्थितिवाले रह गये हों, उस समय इस जीवमें प्रथम सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता आती है।

केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावात्तस्य निरोधः ॥ ३० ॥

अर्थ–केवल योगके द्वारा सातावेदनीयकर्मका उपशांतकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली, इन तीनगुणस्थानोंमें बंध होता है, उस योगका अभाव होनेसे अयोगकेवली–चतुर्दशगुणस्थानवर्ती आत्माके उस सातावेदनीयकर्मका भी संवर होजाता है। इसप्रकार जहां जिन जिन कारणोंसे कर्म प्रकृतियोंका बंध होता है वहां वहां उन कारणोंका अभाव होनेसे उन प्रकृतियोंका संवर होजाता है अर्थात् निर्दिष्ट स्थानसे आगे फिर उनका बंध नहीं होता है। अब यहांपर यह प्रश्न होता है कि आस्रवका निरोध संवर है यह बात तो कह दीगई परंतु यह अभीतक मालूम नहीं हुआ कि कर्मोंके आनेमें जो योगादिक कारण हैं उनके मिलनेपर जो कर्म आते हैं वे किस कारणसे रोके जाते हैं अर्थात् उन कर्मोंका संवर किस कारणसे होता है इसलिये उस आस्रवके रोकनेवाले कारणोंका कथन करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्यमहाराज नीचेके सूत्रद्वारा प्रगट करते है–

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थ—वह संवर अर्थात् कर्मोंका निरोध तीनप्रकारकी गुप्तियोंसे, पांच प्रकारकी समितियोंसे, दश प्रकारके धर्मोंसे, बारह प्रकारकी अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) से, बावीसप्रकारकी परिषहोंके जीतनेसे और पांचप्रकारके चारित्रसे होता है।

संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः ॥ १ ॥

अर्थ–संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन होता है अर्थात् संसारके कारण मन वचन काय योग हैं उनसे आत्माकी रक्षा होती है इसलिये जिससे आत्माकी रक्षा होती है वही गुप्ति कहलाती है। यहां गुप्ति शब्दमें भावअर्थमें 'क्ति' प्रत्यय है अथवा अपादान अर्थ करनेसे भी गुप्ति अर्थकी निष्पत्ति होती है जिससे आत्माका गोपन हो वह गुप्ति कहलाती है अथवा कर्तासाधन अर्थमें 'क्तिच्' प्रत्यय करनेसे जो

एक समयमें अर्थात् पहले समयमें एक रूपमें ही परिणाम होते हैं दूसरे समयमें उनसे अनंतगुणे होते हैं परंतु वे भी दूसरे समयवर्ती जीवोंके एकरूप ही—समान होते हैं, इसीप्रकार प्रतिसमयमें नानाजीवोंके समान परिणाम होते हैं अंतर्मुहूर्त पर्यंत उन परिणामोंका समुदायरूप अनिवृत्तिकरणरूप ही रहता है इसीलिये इस करणका नाम अनिवृत्तिकरण है कारण परस्पर एक जीवके परिणामोंकी दूसरे जीवसे निवृत्ति नहीं है जो एक जीवका परिणाम है वही परिणाम दूसरे जीवका भी है अर्थात् एक समयवर्ती सभी जीवोंका एक ही परिणाम समान होता है और भिन्न समयवर्ती जीवोंका परिणाम भिन्न ही समान रहता है। न तो भिन्न समयकी पहले समयसे सदृशता है और न एकसमयके नानाजीवोंके परिणामोंमें विसदृशता है। एकसमयमें परिणामोंकी समान ही विशुद्धि है और भिन्न समयमें भिन्न रूपसे समान विशुद्धि है इसलिये यह करण अनिवृत्तिकरण है यहांपर अथाप्रवृत्त अथवा अधःप्रवृत्तकरणमें भी स्थितिखंडन अनुभागखंडन गुणश्रेणी गुणसंक्रमण ये चार बातें नहीं होती हैं, केवल अनंतगुणीवृद्धि-पूर्वक विशुद्धि धारण करता हुआ अप्रशस्त—अशुभप्रकृतियोंका अनंतगुणाहीन अनुभाग बंध करता है और शुभ प्रकृतियोंका अनंतगुणा रसकी वृद्धिसहित अनुभाग बंध करता है और स्थितिबंध भी पल्यो-पमके असंख्यात भाग हीन बांधता है परंतु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनोंमें स्थितिखंडन और अनुभागखंडन आदि चारों बात होती हैं, स्थितिबंध भी क्रमसे हीन हीन होता है। अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग बंध भी अनंतगुणी हानिको लिये हुये और शुभप्रकृतियोंका अनंतगुणी वृद्धिको लिये हुये होता है। इसप्रकार वह प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके उन्मुख हुआ अनादि वा सादि भव्य मिथ्यादृष्टि जिससमय करणत्रयको माढता हुआ तीसरे अनिवृत्तिकरण परिणामके संख्यात भाग बिताता है उस-समय अंतरकरणका प्रारंभ करता है उससे मिथ्यात्वकर्मके उदयका घात होजाता है उसीके अर्थात् अनिवृत्तकरणके चरम समयमें अनादि मिथ्यादृष्टिके तो मिथ्यात्व प्रकृति और चार अनंतानुबंधी प्रकृ-

'अच्' प्रत्यय होजाता है। फिर प्रश्न होता है कि पचादिगणसे जो अच् प्रत्यय होता है वह तो कर्ता अर्थमें होता है? उत्तर—तो करण अधिकरण अर्थमें होनेवाला घञ् प्रत्यय करलेना चाहिये। फिर प्रश्न होता है कि यहां तो करण अधिकरण रूप अर्थ नहीं है किंतु 'परिषह्यते इति परीषहः' ऐसा कर्म अर्थ है। उत्तर—तो कर्म अर्थमें भी घञ् प्रत्यय हो जाता है इसलिये कर्म अर्थमें घञ् प्रत्यय कर लेना चाहिये। फिर प्रश्न होता है—यदि घञ् प्रत्यय किया जायगा तो पूर्वको दीर्घ होनेसे परीषाह ऐसा शब्द सिद्ध होगा। उत्तर—व्याकरणकी एक परिभाषा है कि 'अनुवंधकृतमनित्यं' अनुवंधसे किया हुआ कार्य अनित्य होता है अर्थात् घञ्में 'ञ' आदि इत् संज्ञक अनुवंधोंके कारण जो वृद्धि होती है वह अनित्य रूपसे होती है इसलिये यहां नहीं हुआ है जिसप्रकार 'ज्योतिषं' यहांपर घञ् प्रत्यय होनेपर भी वृद्धि नहीं हुई है यदि वृद्धि होजाती तो ज्यौतिषं होजाता परंतु वह नहीं हुआ इसलिये वह ज्योतिषं रह गया है। उसीप्रकार प्रकृतमें परीषह यहांपर भी वृद्धि नहीं हुई है अथवा बहुल वचनसे कर्म अर्थमें भी अकार प्रत्यय होजाता है। "अन्यस्यापि" इस सूत्रसे परीषह शब्दमें परि उपसर्गकी 'रि' को 'री' ऐसा दीर्घ होजाता है। परीषहका जीतना परीषहजय कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि क्षुधा तृषा शीत उष्ण आदि वाधाओंको कर्मनिर्जराके लिये सहन करना उन कष्टोंपर विजय पाना थोडा भी परिणामोंमें खेद नहीं लाना परीषहजय कहलाता है।

चारित्र शब्दो व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अर्थ—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रमें चारित्र शब्दकी व्याख्या की जाचुकी है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र कहलाता है अर्थात् संसार कारणोंको दूर करनेकी इच्छा रखनेवाला जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष संसार क्रियाओंसे विरक्त होता है उसी विरक्तिका नाम सम्यक्चारित्र है। अर्थात् निवृत्ति परिणामोंका नाम चारित्र है अथवा वाह्य अभ्यतर समस्त क्रियाओंका परित्याग करदेना ही चारित्र है। यह निश्चय चारित्रका स्वरूप है। व्यवहार चारित्र शुभ प्रवृत्ति एवं अशुभ निवृत्तिरूप होता है।

जाता है अर्थात् चतुर्थगुणस्थानसे गिरकर दूसरे गुणस्थानमें पहुंच जाता है इसीलिये इस गुणस्थानकी अन्वर्थ संज्ञा है अर्थात् यथार्थ नाम है । आसादना नाम विराधनाका है, जो विराधना सहित हो वह सासादना कहलाती है सासादना जिसकी सम्यग्दृष्टि हो अर्थात् जिसका भाव विराधनासहित हो वह सासादनसम्यग्दृष्टि कहलाता है, उस सासादनसम्यग्दृष्टिके यद्यपि मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव है फिर भी उसके अनंतानुबंधी कषायका उदय होनेसे उसका सम्यग्दर्शन सर्वथा घाता जाता है इसलिये उसके तीन ज्ञान–मति श्रुत अवधि अज्ञानरूप हो जाते हैं अर्थात् सासादनसम्यग्दृष्टिके तीनों ही ज्ञान कुमति कुश्रुति और कुअवधि कहलाते हैं इसीलिये सासादनकी विराधनासहित होनेसे यथार्थ संज्ञा है और अनंतानुबंधीकी भी यथार्थ संज्ञा है जैसे–अनंतं मिथ्यादर्शनं तदनुबंधनात् अनंतानुबंधी । अनंत जो मिथ्या-दर्शन उसे जो बांधे वह अनंतानुबंधी कहलाता है अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्वका घात कर देती है फिर जीवके अनंत संसारका बंध होने लगता है इसलिये इसका नाम अनंतानुबंधी यह अन्वर्थ नाम है। मिथ्यादर्शनका जो फल है अर्थात् अनंतसंसारकी वृद्धि करना वही फल इस कषायका है इसलिये मिथ्या-दर्शनके पैदा करनेवाली ही यह कषाय समझी जाती है अथवा सासादनके पीछे मिथ्यात्वगुणस्थान हो जानेसे मिथ्यात्वका भी बंध होने लगता है।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः ॥ १४ ॥

अर्थ—सम्यङ्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिका उदय होनेसे धोये हुये कोद्रव धान्यकी कुछ क्षीण कुछ अक्षीण मद शक्तिके रहनेसे उसका सेवन करनेवाला पुरुष जिसप्रकार ईषत् कलुषित परिणाम धारण करता है उसीप्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे आत्मा तत्त्वार्थश्रद्धान और तत्त्वार्थअश्रद्धान मिश्रितरूप परिणामोंको धारण करता हुआ सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहलाता है । यह परिणाम मिश्र रहता है इसीलिये इस सम्यङ्मिथ्यादृष्टि जीवके मति श्रुत अवधि ये तीन ज्ञान भी अज्ञान मिश्र कहलाते हैं।

अर्थ—संवर शब्द यद्यपि अधिकार प्राप्त है फिर भी स इस शब्दसे ग्रहण किया जाता है। यदि वह अधिकृत है तो फिर सः शब्दसे उसका ग्रहण क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि गुप्ति आदिका उससे साक्षात् संबंध करनेकेलिये सः शब्दका ग्रहण किया गया है। इस सः पदसे साक्षात् ग्रहण करनेसे क्या प्रयोजन ? इस बातका उत्तर यह है कि उससे यह नियम बन जाता है कि वह संवर गुप्ति समिति आदि कारणोंसे ही होता है और किसी उपायसे नहीं होता है अर्थात् गुप्ति समिति आदि बातें ही ऐसी हैं जो कर्मोंके रोकनेमें समर्थ हैं और जो कुछ उपाय अन्यमतियों द्वारा बताये जाते हैं जैसे—तीर्थस्नान करना गंगा जमुना आदि नदियोंमें स्नान कर लेना पाखंडी दीक्षा लेना, अपना या दूसरे बकरे आदिका मस्तक काटकर चढाना उससे देवताकी पूजा करना इत्यादि जो पाप क्रियायें हैं उन सबोंका निषेध होजाता है। कारण रागद्वेषमोहजनित क्रियाओंसे बांधे हुये कर्मोंकी और किसीप्रकार निवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिये गुप्ति आदि जो आत्माके वीतराग परिणाम हैं उन्हींसे संवर होता है। यदि तीर्थस्थान आदि पापकार्योंसे ही संवर होजाय तो फिर मछली कसाई आदि पापी जीवोंकी भी मोक्षप्राप्ति अतिसुलभ होजाय तथा रागी द्वेषी और मूढ अज्ञानी पुरुषोंकी भी मोक्ष होने लगजाय इसलिये ये गंगास्नान आदि पुण्यकार्य नहीं हैं किंतु पापकार्य हैं, इन सबोंका तत्त्वभेद क्या है, सो सब आगे कहा जायगा। अब कहते हैं कि क्या इन गुप्ति आदिकोंके द्वारा ही संवर होता है ? यदि नहीं तो फिर और किससे होता है ? उसीका विवेचन करना चाहिये—

तपसा निर्जरा च॥ ३ ॥

अर्थ—तपसे निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है।

धर्मांतर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेन्न निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमा आदि जो धर्मोंके भेद कहे जानेवाले हैं उनमें तप भी कहा जायगा, उसीसे

उदय रहता है। उसके उदय रहनेसे सकलसंयम नहीं होता, इसलिये पांचवें गुणस्थानमें संयमासंयमरूप एकदेशविरतिरूप चारित्र प्रगट होजाता है। वहां देशघातीप्रकृतियां जो संज्वलनकषाय और नव नोकषाय है इनका तो उदय रहता ही है। पांचवें गुणस्थानमें एकदेश चारित्र होनेसे ही उसीके योग्य प्राणसंबंधी तथा इंद्रियसंबंधी विषयोंकी विरति तथा अविरतिरूप परिणति रहनेसे विरताविरत परिणामवाला संयतासंयत कहलाता है अर्थात् न तो पूर्णरीतिसे वहां प्राणसंयम ही पाला जाता है और न पूर्णरीतिसे इंद्रियसंयम ही पाला जाता है किंतु कुछ विरतभाव है कुछ अविरतभाव है इसीलिये संयमासंयम कहते हैं।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः ॥ १७ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी चारों कषायोंका क्षय होनेपर अथवा उपशम होनेपर अथवा उदयाभावी क्षय होनेपर तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और जो सर्वघाति स्पर्धक सत्तामें बैठे हुये हैं उनका उपशम होनेसे, तथा देशघाती जो संज्वलनकषाय और नव नोकषाय इनका उदय होनेपर संयमभावकी प्राप्ति होती है अर्थात् जो सर्वघाती कर्मस्पर्धक संयमभावके बाधक हैं उनका तो क्षय अथवा उपशम रहना चाहिये अथवा जो सर्वघाती स्पर्धक उदयमें आते हों तो उनका उदयाभावी क्षय होना चाहिये अर्थात् वे विना फल दिये खिर जाने चाहिये और उन्हींका सत्तामें उपशम रहना चाहिये केवल देशघातियोंका उदय रहना चाहिये वैसी अवस्थामें आत्मामें संयमभाव प्रगट होता है। मूलसाधन जो अभ्यंतरकारण उसकी सहायतासे जिसने जन्म पाया है और वाह्यसाधनोंकी समीपता रहनेसे जिसने पूर्ण प्रकटता पाई है और जो प्राणविषय तथा इंद्रियविषयके भेदसे दोनोंप्रकारकी मर्यादाको अर्थात् प्राणसंयम और इंद्रियसंयमको जो धारण करता है ऐसा जो सकलसंयम भाव है उसे पालता हुआ आत्मा सकलसंयमी कहलाता है परंतु पंद्रह प्रकारके प्रमा-

वस्तुओंको भी जला डालती है, प्रकाश भी करती है आदि नाना कार्य एक ही अग्निके देखे जाते हैं। उसीप्रकार तप स्वर्गादि अभ्युदयका भी कारण है, संवरका भी कारण है और कर्मोंकी निर्जराका भी कारण है इसमें किसीप्रकारका विरोध नहीं आता है।

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् ॥ ५ ॥

अर्थ–अथवा जिसप्रकार किसानकी खेती करनेरूप क्रियामें धान्यकी उत्पत्ति करना मुख्य फल है और भूसा आदि तृणोत्पत्ति होना गौणफल है उसीप्रकार मुनियोंकी तपरूप क्रियामें भी कर्मोंका नाश होना रूप मुक्तिप्राप्ति मुख्यफल है और स्वर्गादिकी प्राप्ति होना गौण फल है। इसप्रकार मुख्य और गौण विवक्षासे तपका फल अभ्युदय और कर्मनिर्जरा दोनों ही सिद्ध होजाते हैं। अब कहते हैं कि जो गुप्ति आदि संवरके कारण कहे गये हैं वे क्या विषय करते हैं, कितने प्रकार हैं, प्रत्येक किस सामर्थ्य-वाले हैं इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर नीचेके सूत्रद्वारा दिया जाता है। इन गुप्ति आदिकोंका स्वरूप बहुत है और वह विस्तारसे कहा जायगा सबसे पहिले आदिमें आई हुई गुप्तिका क्या स्वरूप है उसीका निश्चय करनेकेलिये सूत्र कहते हैं–

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—भले प्रकार योगोंका निरोध करना गुप्ति कहलाती है अर्थात् मनोवर्गणा वचनवर्गणा और कायवर्गणाके अवलंबनसे जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद होता है उसीसे कर्मोंका आस्रव होता है। उसी परिस्पंदका नाम योग है मन वचन कायके तीन भेद हैं, उन तीनों ही योगोंको वशमें करना इसीका नाम गुप्ति है। योगके तीन भेद हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ॥ १ ॥

अर्थ–इस योग शब्दका व्याख्यान छठे अध्यायमें "कायवाङ्मनःकर्मयोगः" इस सूत्र द्वारा किया जाचुका है।

संयमको धारण करते हुये मुनि पूर्वकथित प्रमादसे रहित होजाते हैं इसलिये उनका संयम किसीप्रकार विचलित—चलायमान नहीं होसकता है अतएव वे अप्रमत्तसंयमी कहे जाते हैं। इस सातवें गुणस्थानमें भी यद्यपि संज्वलन कषाय और नोकषायका उदय है परंतु जैसा तीव्रोदय छठे गुणस्थानमें होता है वैसा नहीं है किंतु मंदोदय है इसलिये वहां मुनियोंके प्रमादरूप परिणाम नहीं होसकते। इस सातवें गुणस्थानके दो भेद हैं एक स्वस्थानअप्रमत्त दूसरा सातिशयअप्रमत्त। सातिशय अप्रमत्त उसका अंतिमभाग है वह विशेष शुद्ध है उसीसे ऊपर उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी माढनेका आरंभ होता है परंतु वे दोनों श्रेणियां आठवेंसे माढी जाती हैं इसलिये इस सातवेंसे आगे चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियां होजाती हैं एक उपशमश्रेणी दूसरी क्षपकश्रेणी। जहांपर मोहनीयकर्मका उपशम करता हुआ आत्मा ऊपर श्रेणीका आरोहण करता है वह उपशम श्रेणी कहलाती है और जहां मोहनीयकर्मका क्षय करता हुआ आत्मा ऊपर श्रेणीका आरोहण करता है वह क्षपकश्रेणी है अर्थात् उपशम श्रेणीमें चारित्र मोहनीय कर्मोंका आत्मा उपशम करता जाता है और क्षपकश्रेणीमें उनका क्षय करता जाता है। आठवें नवमें और दशवें इन तीन गुणस्थानोंमें जो उन कर्मोंका उपशम करता जाता है वह आत्मा ग्यारहवें उपशांत कषायगुणस्थानमें समस्त मोहनीयका उपशम होनेसे पूर्ण उपशांत कहलाता है और जो आठवें नवमें और और दशवें गुणस्थानोंमें मोहनीयका क्षय करता जाता है वह परम विशुद्ध आत्मा बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानमें समस्त मोहनीयका पूर्ण रीतिसे क्षय होजानेसे पूर्णक्षीणकषाय कहलाता है। अर्थात् जो कर्मोंका उपशम करता वह दशवेंके अंतमें ही उपशम कर डालता है, पूर्ण उपशम होनेसे ही उसके उपशांत कषाय नामक ग्यारहवांगुणस्थान प्रगट होता है और जो उन कर्मोंका क्षय करता है वह भी दशवेंके अंतमें ही पूर्ण क्षयकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें पहुंचता है। कषायोंका क्षय करनेवालेके दशवेंके पीछे ग्यारहवां गुणस्थान नहीं होता है, ग्यारहवां केवल उपशम करनेवालेके ही होता है। क्षय

नहीं होता है वही संवरभाव है। उसी वातको और भी स्पष्ट करते हैं—गुप्तियां तीन हैं—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति। उनमें शरीरकी सावधानी नहीं रखनेवाले पुरुषके विना देखे और विना साफ किये पृथ्वीके भागोंमें इधर उधर घूमना, अनेक द्रव्योंका विना देखे विना शुद्ध किये उठाना धरना, विना देखे विना शुद्ध किये गये स्थानमें अथवा विस्तर आदिमें शयन करना. आसन विछा देना आदि प्रमाद पूर्वक क्रियाओंसे जो कर्मास्रव होता है वह आस्रव उस प्रमाद रहित कायगुप्ति करनेवाले पुरुषके नहीं होता है। इसीप्रकार वचनकी सावधानी नहीं रखनेवाले और मिथ्या तथा अपरिमित वोलनेवाले पुरुषके अप्रिय कठोर आदि वचनोंके वोलनेसे जो कर्मास्रव होता है वह कर्मास्रव उस वचन प्रयोगको रोकनेवाले वचनगुप्ति पालनेवाले पुरुषके नहीं होता है तथा भूत भविष्यत् विषयोंकी चाहना रखनेवाले रागद्वेषसहित पुरुषके मनमें उत्पन्न हुए अनेक दोषोंसे जो कुछ कर्मास्रव होता है वह कर्मास्रव उस मनको वशमें रखनेवाले पुरुषके कभी नहीं होता है, इस रीतिसे मन वचन और काय योगोंको वशमें रखनेसे उनसे होनेवाला कर्मास्रव सर्वथा रुक जाता है इसीका नाम गुप्ति-कृत संवर है। प्रश्न—यदि मुनिवर शरीरके छोडनेमें संपूर्ण रीतिसे असमर्थ हैं एवं गुप्तियोंके पालनेमें वे पूर्णरीतिसे असमर्थ हैं अर्थात् संक्लेशपरिणामोंकी निवृत्तिके लिये वे जो योगनिरोध करते हैं, योगोंको वशमें करते हैं वह योगनिरोध जव तक पूर्णरूपसे नहीं पाला जाता है तव तक उन मुनियोंको जीव-नकी स्थितिके लिये अवश्य मन वचन काय क्रियाओंका अवलम्वन लेना पडेगा, परंतु वह मन वचन कायकी प्रवृत्ति ऐसी अवश्य रखनी होगी जिसमें परिणामोंमें किसीप्रकार संक्लेश नहीं हो अथवा जीवोंके घातसे संयममें वाधा नहीं पहुंचे, किसीके प्रश्न होनेपर अथवा तत्त्व-विचार करते समय वचन-प्रयोग भी करना पडे तथा शरीर मलकी वाधाको दूर करनेके लिये गमनादि प्रवृत्ति भी करना पडे वह सव प्रवृत्ति हो परंतु फिर भी कर्मोंका आस्रव नहीं हो अथवा संवरभाव उन मुनियोंके वना रहे उसकेलिये किन किन वातोंका प्रयत्न करना चाहिये इसीकेलिये यह नीचेका सूत्र कहा जाता है—

सर्वस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशांतकषायः क्षीणकषायश्च ॥ २२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण चारित्रमोहनीयका उपशम होनेसे और क्षय होनेसे उपशांत कषाय और क्षीणकषाय इसप्रकार ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंके नाम पडते हैं अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका सर्वथा उपशम रहता है और बारहवेंमें उसका सर्वथा क्षय रहता है।

घातिकर्मक्षयादाविर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चारो घातिया कर्मोंका अत्यंत क्षय होनेसे प्रगट हुआ है स्वाभाविक अचिंत्य केवलज्ञानादि विभूति रूप अतिशय जिनके ऐसे अर्हंतभगवान् केवली कहे जाते हैं।

स द्विविधो योगभावाभावभेदात् ॥ २४ ॥

अर्थ—वे केवली दोप्रकार भेदवाले हैं, योगका सद्भाव और असद्भाव होनेसे केवली भगवान दो प्रकारके होते हैं, जो योगसहित हैं वे सयोगकेवली कहे जाते हैं और जो योगरहित हैं वे अयोगकेवली कहे जाते हैं अर्थात् तेरहवें गुणस्थानमें केवलीभगवानके वचनयोग और काययोग है जबतक दिव्यध्वनि खिरती है तबतक तो उनके वचनयोग भी है और जब योगनिरोध करते हैं तब केवल एक काययोग रह जाता है। परंतु अयोगकेवलीके अर्थात् चौदहवें गुणस्थानमें एक भी योग नहीं रहता है इसीलिये चौदहवें गुणस्थानमें किसी भी कर्मका आस्रव नहीं होता है उस चौदहवें गुणस्थानका समय अंतर्मुहूर्त मात्र है उसका स्थूलरूप परिमाण "अ इ उ ऋ ऌ" इन पांच अक्षरोंके उच्चारणमात्र काल है। इसी कालमें अंतिम शुक्लध्यान—व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान द्वारा आत्मा समस्त अघातिया कर्मोंका सर्वथा नाशकर अथवा यदि नाम गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मोंकी स्थिति अधिक रहगई हो और आयुकर्मकी स्थिति थोडी रही हो तो उन तीनो कर्मोंकी स्थिति आयुके समान करनेके लिये तेरहवें गुणस्था-

गमन करते हैं और चक्षुसे सूर्यप्रकाशमें अच्छीतरह सूक्ष्म जीवादि संचारको देखकर ही गमन करते हैं जिस मार्गसे अनेक मनुष्य निकल चुके हैं, जो मार्ग मनुष्योंके पैरोंके पडनेसे खूब खूंदा जाचुका है उसी जल एवं हरित दूर्वा आदिसे रहित मार्गसे ही गमन करते हैं, जो गमन करते समय चित्तका उपयोग मार्गके देखनेमें ही लगाते हैं, चरणोंके नीचेके मार्गको देखनेके सिवा इधर उधर कहीं भी दृष्टिका उपयोग नहीं लेजाते हैं, जो धीरे धीरे पाद रखते हैं वाकी सब शरीरके अवयवोंको संकोचते हुये विना किसी जीवको बाधा पहुंचाये गमन करते हैं, गमन करते समय जो चरण रखनेके स्थानसे आगे केवल युगमात्र मार्गका अच्छी तरह निरीक्षण करके ही आगे चरण रखतें हैं अर्थात् चार हाथ आगेकी पृथ्वीको अच्छी तरह देखकर ही गमन करते हैं। इसप्रकार पृथिवीमें विना किसी आरंभके किये जो उपर्युक्त रीतिसे मुनिराज गमन करते हैं वह ईर्यासमितिगमन है। इस ईर्यासमितिके पालनेसे मुनियों द्वारा गमन करते हुए भी किसी जीवको बाधा नहीं पहुंचती है। यहांपर प्रश्न होता है कि मुनियोंको जीवस्थानोंको जाननेवाले बताया गया है परंतु जीवस्थान कितने होते हैं यह बात तो कहीं बताई नहीं गई है इसलिये यहां जीवस्थान आदि बता देना आवश्यक है ? उत्तर—

सूक्ष्मवादरैकद्वित्रिचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ ५ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय आदि जीवोंका वर्णन पहले किया जाचुका है। उनमें एकेन्द्रिय जीव दोप्रकार हैं १–सूक्ष्म २–वादर। उनमें भी सूक्ष्म दोप्रकार हैं—१–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। वादरोंके भी दो भेद हैं १–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। द्वींद्रियजीव भी दोप्रकार हैं १–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। त्रींद्रियजीव भी दोप्रकार हैं–१–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। चतुरिंद्रिय जीव भी दोप्रकार हैं–१–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। पंचेन्द्रियजीवके दो भेद इसप्रकार हैं–एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी, उनमें संज्ञी जीवोंके दो भेद हैं–१–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। असंज्ञी जीव भी दोप्रकार हैं–१–पर्याप्तक २–अपर्याप्तक। इस प्रकार ये चौदह जीव-

अर्थ—उन अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण प्रकृतियोंके निमित्तसे होनेवाला जो कर्मबंध है उन प्रकृतियोंका उदय नहीं रहनेसे उनसे होनेवाला कर्मबंध भी रुक जाता है इसलिये वह उन प्रकृतियोंका संवर कहलाता है अर्थात् जिस असंयम भावके निमित्तसे जिनकर्मोंका बंध होता है उस असंयमभावका अभाव होनेसे उन कर्मोंका संवर होजाता है। उन्हीं असंयमभावजनित बंध होनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या यहां बताते हैं—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधी क्रोध अनंतानुबंधी मान अनंतानुबंधी माया अनंतानुबंधी लोभ, स्त्रीवेद तिर्यगायु, तिर्यग्गति, वामनसंस्थान, कुब्जक संस्थान, स्वातिसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, कीलकसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, बज्रनाराचसंहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, नीचगोत्र इन पचीस प्रकृतियोंका आस्रव अनंतानुबंधीकषायके उदयसे होनेवाले असंयमभावोंसे मिथ्यादृष्टि और सासादन इन दो गुणस्थानोंमें होता है। एकेन्द्रियादिक सासादन गुणस्थान तकके जीव ही इन पचीस प्रकृतियोंका बंध करते हैं, उस असंयमभावका अभाव होनेसे आगे तीसरें आदि गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका संवर होजाता है कारण अनंतानुबंधी कषायका दूसरे गुणस्थान तक ही उदय रहता है उससे आगे नहीं रहता इसलिये वहीं तक उस अनंतानुबंधी कषायजनित असंयमभावसे इन ऊपर कहीहुई पचीस प्रकृतियोंका बंध होता है आगे उनका संवर होजाता है। इसीप्रकार अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति औदारिकशरीर, औदारिकआंगोपांग, बज्रवृषभनाराचसंहनन, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, इन दश प्रकृतियोंका अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे होनेवाले असंयमभाव हेतुसे बंध होता है, इनका बंध एकेंद्रियादिकजीव पहले गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान—असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यंत करते हैं, उस

चाते नहीं हों, जिनमें थोडा सार हो ऐसे नहीं हों, जिनमें शंकितवृत्ति हो ऐसे नहीं हों जिनमें भ्रम पैदा हो ऐसे नहीं हों, जिनसे कषाय पैदा हो ऐसे वचन नहीं हों, जिनसे दूसरोंका हास्य होता हो ऐसे नहीं हों जो अयोग्य हों ऐसे नहीं हों असभ्य भी नहीं हों, गाली आदियुक्त निष्ठुर भी नहीं हों, अधर्मके पोषक भी नहीं हों जो देशकालके योग्य नहीं हों ऐसे भी नहीं हों जिनसे अधिक स्तुति होती हो ऐसे भी नहीं हों, जिनसे दूसरोंकी निंदा होती हो ऐसे भी नहीं हों इत्यादिक वचनोंके दोषोंसे रहित जो शुद्ध वचन हैं उन्हींको भाषासमितिमें मुनिवर प्रयोग करते हैं।

अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि अनन्त गुणरूप रत्नोंके समूहको अच्छी तरह लेजानेवाली शरीररूपी गाडीको समाधिरूप नगरको लेजानेवाले मुनि महाराज तपसाधनके लिये शरीर बना रहे इसी मात्र धर्मसाधनको रखकर वे आहार ग्रहण करते हैं, जिसप्रकार विना पहियोंमें चिकनाई दिये गाडी नहीं चलती है उसीप्रकार विना शरीरको आहार पहुंचाये यह शरीर भी नहीं ठहर सकता है और मोक्षसिद्धिके लिये उसका ठहरना आवश्यक है इसलिये इस शरीररूपी गाडीको बनाये रखनेके लिये आहार ग्रहण करते हैं परंतु जिसप्रकार जठराग्नि दाहके शमन करनेकेलिये औषधि लेली जाती है औषधि लेते समय उसके स्वाद पर लक्ष्य नहीं दिया जाता है किंतु रोग दूर करना मात्र लक्ष्य रखकर कटु औषधि भी लेली जाती है उसीप्रकार मुनिराज जो आहार ग्रहण करते हैं उसे वे विना स्वाद लिये ही जैसा मिला वैसा शुद्धरूपमें ग्रहण करलेते हैं अर्थात् केवल आहारकी शुद्धता तो देखते हैं परंतु उसका स्वाद नहीं देखते हैं। साथ ही देशकालसंबंधी प्रक्रियाओंपर लक्ष्य देकर शुद्ध एवं समस्त दोषोंसे रहित पदार्थका ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् देशकालके कारण जहां आहार विधि परम शुद्ध नहीं मिलती है वहां वे उसे ग्रहण नहीं करते हैं किंतु जहां परम शुद्ध एवं मुनिराजके ग्रहण करने योग्य सामग्री मिल-

योंका बंध होता है उसीको बताते हैं—वहां अपूर्वकरण जो आठवां गुणस्थान है उसके आदिके संख्यातवें भागमें दो कर्मप्रकृतियां निद्रा और प्रचला बंधको प्राप्त होती हैं उससे ऊपर उसी आठवें गुणस्थानके आगेके संख्यातवें भागमें तीस प्रकृतियां बंधको प्राप्त होती हैं। वे इसप्रकार हैं—देवगति, पंचेंद्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीरआंगोपांग आहारकशरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उछ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण तीर्थंकर ये तीस प्रकृतियां आठवें गुणस्थानके द्वितीय संख्यात भागमें बंधती हैं। उसी आठवें गुणस्थान—अपूर्वकरणके चरमसमयमें चार प्रकृतियोंका बंध होता है, वे चार प्रकृतियां यह हैं—हास्य, रति भय जुगुप्सा। ये छत्तीस प्रकृतियां तीव्र कषायके उदयजनित भावोंसे बंधती हैं इसलिये जहां जहां इनका बंधस्थान कहा गया है उस निर्दिष्ट स्थानसे ऊपर उस कषायका अभाव होनेसे उन प्रकृतियोंका संवर होजाता है अर्थात् निद्रा प्रचला ये दो प्रकृतियां आठवें गुणस्थानके आदिके संख्यातवें भागतक ही बंधती हैं उससे आगे उनका संवर है इसीप्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। अनिवृत्तिवादरसांपराय गुणस्थानके आदि समयसे लेकर संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलन कषाय ये दो प्रकृतियां बंधती हैं उसीके मध्यभागमें संज्वलन मान माया बंधती है तथा उसीके अंतसमयमें लोभ संज्वलन कषाय बंधको प्राप्त होती हैं, ये प्रकृतियां मध्यमकषायजनित भावोंसे बंधती हैं इस निर्दिष्ट स्थानसे ऊपर उस कषायभावका अभाव होजानेसे उस जनित प्रकृतियोंका बंध भी नहीं होता इसलिये नवमे गुणस्थानसे ऊपर इन पुंवेद और वादर क्रोधादि प्रकृतियोंका संवर होजाता है। पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र और पांच अंतराय इन सोलह प्रकृतियोंका मंदकषायभावोंसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती आत्मा बंध करता है। आगे उस मंदकषायजनित परिणामका अभाव होनेसे ग्यारहवें गुणस्थानादिमें उनका संवर होजाता है।

दाल बनाये जारहे हैं उन्हींमें और भी चावल दाल उन साधुओंके लिये छोड देना और जबतक वह भोजन तैयार हो तबतक उन्हें धर्मप्रश्नोत्तरों द्वारा बातचीतमें लगा लेवे यह अध्यधिदोष है। जो प्रासुक आहार आदि वस्तु है उसे सचित्तादि वस्तुसे मिश्रित करदेना, वह पूतिदोष कहलाता है। प्रासुकभोजनको अन्य भेषधारियोंके साथ तथा गृहस्थोंके साथ संयमी साधुओंके देनेका उद्देश्य करे तो मिश्रदोष जानना। जिस वर्तनमें भोजन बनाया है उससे दूसरे वर्तनमें उस बने हुये भोजनको रखकर अपने घरमें या दूसरेके घरमें उसे रखदेना स्थापित दोष है। यक्ष नागादिकके लिये जो आहार किया हो उससे शेष रहा भोजन बलिदोष सहित है, अथवा संयमियोंके आगमनके लिये जो वलिकर्म (सावद्यपूजन) करै वहां भी वलिदोष होता है। प्राभृत दोषके दो भेद हैं—१ वादर २ सूक्ष्म, इन दोनोंके भी दो भेद हैं—१ अपकर्षण २ उत्कर्षण। कालकी हानिका नाम अपकर्षण है और कालकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं। दिन पक्ष महीना वर्ष इनको बदलकर जो आहारदान देना वह वादर प्राभृत दोष है। वह बढाने घटानेसे दोप्रकार है। सूक्ष्मप्राभृतदोष भी दोप्रकार है पूर्वान्हसमय मध्यान्हसमय अपराण्हसमय इनके पलटनेसे कालका बढाना घटाना रूप है। प्रादुष्कार दोषके दो भेद हैं—१ संक्रमण २ प्रकाशन। साधुके घर आने पर भोजन भाजन आदिको दूसरे स्थानपर लेजाना वह संक्रमणदोष है तथा भाजनको मांजना दीपकका प्रकाश करना अथवा मंडपका उद्योत करना आदि प्रकाशनदोष है। संयमीकी आहारचर्याकेलिये किसी वस्तुको बदलेमें देकर और बद्लेमें भोजन लेकर साधुको देना वह द्रव्यक्रीतदोष है अथवा प्रज्ञप्ति आदि विद्या चेटकादि मंत्रोंके बदलेमें आहार लेकर साधुको देना वह भावक्रीत दोष है ऐसे क्रीतदोषके दो भेद हैं। दूसरोंसे उधार लेकर साधुको आहार करादेना वह प्रामृष्य दोष है। अपने घटिया साठी चावलोंको दूसरेसे बदलकर बढिया चावल लाकर फिर साधुको आहार कराना वह परिवर्त दोष है। अभिघटदोषके दोभेद हैं—एक देश, सर्वदेश। पंक्तिबद्ध सीधे तीन अथवा सात घरोंसे आया हुआ भात आदि अन्न

गोपन करनेवाली है वही गुप्ति है अर्थात् मन वचन काय योग ही संसारकारण कर्मास्रवजनक हैं। मन वचन कायको वशमें रखनेसे योग नहीं होते हैं उसीका नाम–योगोंको वशमें करनेका नाम गुप्ति है इसलिये गुप्ति संसारकारणसे आत्माकी रक्षा करती है यह बात सिद्ध होचुकी।

सम्यगयनं समितिः ॥ २ ॥

अर्थ–दूसरे प्राणियोंकी पीडाको दूर करनेकी इच्छासे भले प्रकार गमन करना अथवा देखभालकर प्रवृत्ति करना समिति कहलाती है अर्थात् किसी प्राणीको अपनी गमनक्रिया भोजनादि क्रियासे पीडा नहीं पहुंचे इसीलिये समितिका पालन किया जाता है। सम् उपसर्गपूर्वक इण् गत्यर्थक धातुसे भाव अर्थमें 'क्ति' प्रत्यय करनेसे समिति शब्दकी सिद्ध होती है। अथवा कर्ता अर्थमें क्तिच् प्रत्यय करनेसे भी समिति शब्द सिद्ध होता है।

इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः ॥ ३ ॥

अर्थ – आत्माको जो नरेंद्र देवेंद्र मुनींद्र आदि इष्ट पदस्थ–स्थानोंमें जो धारण करे वह धर्म कहलाता है। इस धर्म शब्दकी सिद्धि उणादि गणसे होजाती है, धारण अर्थवाली 'धृ' धातुसे मन् प्रत्यय होनेसे धर्म बनता है।

स्वभावानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ४ ॥

अर्थ–शरीर संसार आदिके स्वभावोंका चिंतवन करना उनके स्वरूपका विचार करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। अनु और प्र उपसर्ग पूर्वक इक्ष धातुसे भाव आदि साधन अर्थोंमें 'अकार' होजाता है।

परिषह्यत इति परीषहः ॥ ५ ॥

अर्थ–परि उपसर्ग पूर्वक सह धातुसे कर्म अर्थमें 'अकार' प्रत्यय होकर परीषह शब्दकी सिद्धि होती है। यहां प्रश्न होता है कि यहां अकार प्रत्यय किसप्रकार होजाता है? उत्तर–पचादिगणमें पाठ होनेसे

भिक्षालेना, मायाचारपूर्वक भिक्षा लेना, लोभपूर्ण भावोंसे भिक्षा लेना सो क्रोध मान माया लोभ रूप उत्पादन दोष कहलाता है। किसी दाताकी प्रशंसा करके उसका गुणगान करके भोजन करना सो पूर्व-स्तुतिदोष है। आहार लेकर पीछे दाताकी प्रशंसा करना वह पश्चात्संस्तुति दोष है। अपनी विद्याका महत्त्व बताकर भोजन लेना वह विद्यादोष है। मंत्रकी आशा बताकर भोजन लेना वह मंत्र दोष है। नेत्रांजन आदि चूर्णोंकी महत्ता या विधि बताकर आहार लेना वह चूर्ण दोष है, वशीकरण आदिके मंत्र तंत्रादि उपाय बताकर गृहस्थोंसे आहार लेना वह मूलकर्म दोष है। ये सोलह उत्पादन दोष हैं। अशन दोष दश प्रकार हैं—शंकित, मृक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त ये दश अशन दोष हैं। भात दूध लाड्डू इलायची आदि भोजन जो उपस्थित है वह आगमके अनुसार मेरे ग्रहण करने योग्य है या नहीं ऐसी शंकासहित आहारको लेना वह शंकित दोष कहलाता है। चिकने हाथ व पात्र तथा कडछीसे भात आदि भोजन देना मृक्षित दोष है। उसे सदाके लिये छोडना चाहिये। अप्रासुक सचित्त पदार्थोंपर रक्खा हुआ आहार लेना निक्षिप्त दोष कहलाता है। जो अप्रासुक वस्तुसे ढका हुआ हो अथवा प्रासुक भारी वस्तुसे ढका हुआ आहार हो उसको उघाड़कर जो दिया जाय उस आहारको लेनेसे पिहित दोष आता है। भाजन आदिका देन लेन शीघ्रतासे कर विना देखे भोजन पान दे उसे जो साधु लेवै तो उनके संव्यवहरण दोष आता है। जो स्त्री बालकको सजाती हो, मदिरा पीनेमें जो लंपटी हो, जो मुरदेको जलाकर आया हो, नपुंसक हो, वायु आदिसे पीडित हो, वस्त्रादि ओढे हुये नहीं हो, मूत्रवाधा दूर करके आया हो, लोहूसहित हो, मूर्च्छासे गिर पडा हो, वमन कर आया हो, दासी हो, अर्जिका रक्तपाटिका आदि हो, अंगको मर्दन करनेवाली हो, इन सबोंके हाथसे मुनिजन आहार नहीं लेवें। तथा जो अति बालक हो, अधिक बुड्ढी हो, भोजन करती जूंठे मुंह हो, पांच महीना आदि गर्भसे युक्त हो, अंधी हो, भीत आदिके आंतरेसे बैठी हो, बैठी हुई हो, ऊंची जगहपर बैठी हो,

संवृण्वतो गुप्त्यादयः करणं ॥ ७ ॥

अर्थ—संवरणरूप क्रियाके अत्यंत साधकपनेकी विवक्षामें गुप्ति समिति आदि शब्दोंको करण साधनपना प्राप्त होता है अर्थात् कर्मोंका संवरण होनेमें—कर्मोंका आस्रव नहीं होनेमें ये गुप्ति समिति आदि अत्यंत साधक कारण हैं। यहां गुप्ति समिति आदि शब्दोंका पहले द्वंद्वसमास करलेना चाहिये फिर समुदायमें तृतीया विभक्ति कर करण अर्थकी सिद्धि करना चाहिये। द्वंद्वसमास इसप्रकार है—गुप्ति और समिति और धर्म और अनुप्रेक्षा और परीपहजय और चारित्र इन सबोंको मिलाकर एक पद—गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि बना लिया जाता है। फिर तृतीया विभक्ति करके 'गुप्ति समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः' यह तृतीयांत पद बना लिया जाता है। उसका मिला हुआ अर्थ होता है—सः अर्थात् वह—संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र इन कारणोंसे होता है।

संवर एव गुप्त्यादय इति चेन्नाऽऽस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् ॥ ८ ॥

अर्थ—यहांपर शंका होती है कि जिसके द्वारा कर्म संवरण किये जांय अथवा रोके जांय वह संवर कहलाता है और गुप्ति समिति आदिके द्वारा भी कर्म रोके जाते हैं, इसलिये गुप्ति आदि ही संवर ठहरते हैं, गुप्ति आदिसे भिन्न संवर कोई वस्तु नहीं है, परंतु यहांपर गुप्त्यादिकोंको संवरका कारण बताया गया है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण—आस्रवके निमित्तभूत कर्मोंका संवरण होनेसे 'संवरणं संवरः' कर्मोंका निरोध होनेका नाम संवर है। यह संवर शब्द भावसाधन अर्थमें विवक्षित है। उसके गुप्ति आदिक करणरूपसे कहे जाते हैं अर्थात् गुप्ति आदिकोंसे कर्मोंका संवरण होता है अथवा संवर शब्द कर्मसाधन अर्थमें भी विवक्षित है "संव्रियते इति संवरः" अर्थात् गुप्ति आदिके द्वारा कर्म संवृत किये जाते हैं। यहांपर कर्मोंके रुकनेका नाम संवर है और गुप्ति आदि उसके साधन हैं।

स इति वचनं गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबंधनार्थं ॥ ९ ॥

तपके लिये, शरीरसे ममत्व छोडनेके लिये भोजन नहीं करना चाहिये। साधु संयमी बलके लिये आयु बढानेके लिये स्वादके लिये शरीरको पुष्ट रखनेके लिये शरीरमें तेज बढानेके लिये भोजन नहीं करते हैं किंतु ज्ञानाभ्यासके लिये संयम पालनेके लिये ध्यानकेलिये वे आहार करते हैं, जो आहार नवकोटिसे शुद्ध हो छियालीस दोषोंसे रहित हो संयोजना दोषसे रहित हो मात्रा प्रमाण हो विधिपूर्वक अर्थात् नवधाभक्ति पूर्वक दाताके सात गुणों सहित दिया गया हो, अंगार दोष धूम दोषोंसे रहित हो, छह कारणोंसे सहित हो क्रम विशुद्ध हो, प्राणोंके धारणके लिये हो अथवा मोक्ष यात्राके साधनके लिये हो और चौदह मलोंसे रहित हो ऐसा भोजन साधुगण लेते हैं। चौदह मल इसप्रकार हैं—नख रोम प्राणरहित शरीर हाड गेहूं आदिका कण चावलका कण राधि चाम लोहू मांस अंकुर होनेयोग्य गेहूं आदि आम्रआदि फल कंदमूल ये चौदहमल हैं इन्हें देखनेसे आहार छोडदेना चाहिये। भोजन ग्रहण करनेका विभाग बताते हैं—साधुजन उदरके दो भाग तो भोजनसे भरलेवे, तीसरा भाग जलसे पूर्ण करे, और चौथा भाग पवनके संचारके लिये खाली छोड देवे। भोजनका समय इसप्रकार है—सूर्यके उदयसे तीन घडी बादसे लेकर सूर्यके अस्त होनेके तीन घडी पहले तक बीचका समय भोजन करनेका समय है, इस कालमें भोजन करनेमें तीन मुहूर्तकाल लगना वह जघन्य आचरण है, दो मुहूर्तकाल लगना वह मध्यम आचरण है, एक मुहूर्तकाल लगना वह उत्तम आचरण है। भोजनके अंतराय इसप्रकार हैं—साधुके चलते समय वा खडे होतेसमय उनके ऊपर यदि काक आदि वीट करदें तो वह काकनामक भोजनका अंतराय है। अशुचि वस्तुसे चरण छूजाय तो अमेध्य अंतराय है। वमन होजाय तो छर्दिअंतराय है। भोजनका कोई निषेध करदे तो रोध अंतराय है। अपने या दूसरेके लोहू निकलता दीखे तो रुधिर अंतराय है। किसीके दुःखसे अश्रुपात देखना वह अश्रुपात अंतराय है। गोडके नीचे भागको हाथसे स्पर्श करना जान्वधः परामर्श अंतराय है तथा गोडके प्रमाण काठको उलंघ जाना वह जानूपरि व्यतिक्रम अंतराय

तपको संवरका हेतुपना सिद्ध होजायगा फिर इस तपका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है, कारण–निर्जराका भी वह कारण है इस बातके प्रगट करनेकेलिये तपका यहां पृथक् ग्रहण किया गया है। तप संवरका भी कारण है और वह निर्जराका भी कारण है इसी बातके बतानेकेलिये तपका स्वतंत्र ग्रहण किया गया है।

प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं च ॥ २ ॥

अर्थ—समस्त संवरके कारणोंमें तप प्रधान है इस बातकी प्रतिपत्ति करानेकेलिये तपका पृथक् ग्रहण किया गया है।

संवरनिमित्तासमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ ३ ॥

अर्थ–तप संवरका भी कारण है इस बातका समुच्चय करनेकेलिये 'च' शब्दका ग्रहण है। उस चकारके निमित्तसे सूत्रका अर्थ इस प्रकार होता है–तपके द्वारा नवीन कर्मोंके संबंधका अभाव होता है अर्थात् नवीन कर्म नहीं आते उनका संवर होता है और पूर्व संचित किये गये कर्मोंका क्षय भी होता है। संवर और निर्जरा दोनों ही कार्य तपसे होते हैं। तपसे अविपाक निर्जरा होती है ऐसी प्रतिज्ञा है इसलिये तपकी ही सजातीयता होनेसे ध्यानोंको भी निर्जराका कारणपना है अर्थात् ध्यान भी तपके समान है इसलिये उनसे भी कर्मोंकी निर्जरा होती है।

तपसोभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराभाव इति चेन्नैकस्यानेककार्यारंभदर्शनात् ॥ ४ ॥

अर्थ—शंका–तपको स्वर्गादि इष्ट स्थानोंकी प्राप्तिका कारण माना गया है, देवेंन्द्र आदि स्थानोंकी प्राप्तिका कारण तप है यह बात मानी हुई है ऐसी अवस्थामें वह तप निर्जराका हेतु है यह बात नहीं सिद्ध होती है ? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है। कारण–एक कारण अनेक कार्योंको उत्पन्न करता है यह बात देखी जाती है। जिस प्रकार एक अग्नि अन्नका पचन कार्य भी करती है, वही अग्नि

अर्थ—जो धर्मके अविरोधी दूसरोंको बाधा नहीं पहुंचानेवाले ज्ञान चारित्रके साधनीभूत द्रव्य हैं उनके ग्रहण करनेमें अथवा उनके रखनेमें अच्छी तरह देखकर और पिच्छिकासे भले प्रकार संशोधन करके प्रवृत्ति करना वह आदाननिक्षेपणा समिति कहलाती है। ज्ञान साधन—शास्त्र चौकी आदि होते हैं और चारित्र साधन पिच्छिका कमंडलु आदि होते हैं, इनको देखकर और झाडकर उठाना और उसी प्रकार धरना जिससे किसी जीवको किसीप्रकार बाधा नहीं पहुंचे वह आदाननिक्षेपणा समिति कहलाती है। अब उत्सर्ग समितिका स्वरूप कहते हैं-

जीवाविरोधेनांगमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्थावर और जंगम (त्रस) जीवोंको किसीप्रकार बाधा नहीं पहुंचे इसप्रकार देखभालकर शरीरमल (मल मूत्र कफ आदि) डालना और शरीरको देखभालकर ही किसी क्षेत्रमें रखना अर्थात् उठना बैठना आदि भी जीवोंका संचार देखकर ही करना चाहिये ऐसी कोई क्रिया नहीं होनी चाहिये जिससे जीवोंको बाधा पहुंचे। इसीका नाम उत्सर्ग समिति है। शंका—

वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेन्न तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः ॥ ९ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि ईर्यासमिति भाषासमिति आदि समितिरूप जो प्रवृत्ति है वही वचन काय गुप्ति है, वही जीवरक्षण है और उसीका नाम प्राणियोंकी पीडाका परिहार है अर्थात् समिति गुप्ति रक्षण प्राणिपीडापरिहार ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इनमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है कारण कि गुप्तिमें काल विशेषकी मर्यादा रखकर सर्वप्रकारकी मन वचन और काय की प्रवृत्तिका निरोध कर दिया जाता है उसका लक्षण भी इसीप्रकार है कि परिमितकालकी मर्यादा रखकर सर्वप्रकारसे योगोंका निग्रह कर देना अर्थात् सर्वथा योगोंको वशमें रखकर उनकी प्रवृत्ति रोक लेना गुप्ति कहलाती है। उस गुप्तिके पालन करनेमें जो असमर्थ हैं और व्रतोंमें सावधान होकर प्रवृत्ति करते

प्राकाम्याभावो निग्रहः ॥ २ ॥

अर्थ—प्राकाम्य नाम इच्छानुसार आचरण करनेका है उस यथेच्छ आचरणका अभाव होजाना निग्रह कहलाता है। योगका निग्रह योगनिग्रह कहलाता है अर्थात् मन वचन कायकी इच्छानुसार प्रवृत्तिको रोकना ही योगनिग्रह है।

सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपंक्त्याद्याकांक्षानिवृत्त्यर्थं ॥ २ ॥

अर्थ—पूजा प्रतिष्ठापूर्वक जो क्रिया कीजाती है वह सत्कार कहलाता है ये संयमी बहुत बडे हैं, ये मुनि बडे ध्यानी हैं आदि रूपसे लोकमें प्रसिद्धि करना लोकपंक्ति कहलाती है, इत्यादि इस लोकसंबंधी प्रयोजनको छोडकर और परलोकसंबंधी विषयसुखकी चाहना नहीं करके किया गया जो निग्रह है वह गुप्ति यहां ग्रहण कीगई है इसी बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें गुप्तिका विशेषण सम्यक् पद दिया गया है अर्थात् कोई मनुष्य मन वचन कायको इसीलिये वशमें कर डाले कि वैसा करनेसे लोकमें उसकी प्रतिष्ठा बढजावे अथवा वह ऐसी इच्छा रक्खे कि योगोंको वशमें रखनेसे परलोकसंबंधी सांसारिक सुख मिले, तो आचार्य कहते हैं कि इसप्रकारकी वाञ्छासे किया गया योगनिग्रह प्रशंसनीय नहीं है और वह गुप्ति संवरका कारण भी नहीं है किंतु विना किसीप्रकारकी वाञ्छाके केवल कर्मके रोकनेके उद्देश्यसे अथवा आत्म-शुद्धिके महान उद्देश्यसे जो योगोंका निग्रह किया जाता है वही गुप्ति है इसी बातको दिखानेके लिये गुप्तिका 'सम्यक्' ऐसा विशेषण दिया गया है।

तस्मात् कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मानास्रवणे संवरप्रसिद्धिः ॥ ४ ॥

अर्थ—उस सम्यक् विशेषण विशिष्ट तथा परिणामोंमें लेशमात्र भी संक्लेशभाव नहीं पैदा करनेवाले कायादि योगनिरोधसे योगोंके निमित्तसे होनेवाला कर्म नहीं आता है इसलिये संवर होजाता है यह बात समझ लेनी चाहिये अर्थात् कायादियोगनिरोधरूप गुप्ति,भावोंसे योगजनित कर्मोंका आस्रव

प्रदेशमें आहार लेते हैं और प्रमादरहित सावधानीसे आहारका ग्रहण करते हैं इसलिये उनके हाथसे भोजन गिरता नहीं है और भोजनका गिरना तो मुनियोंके अंतरायोंमें कहा गया है। पाणितः पिंड-पतन नामका जो अंतराय कहा गया है उसका यही अर्थ है कि यदि मुनियोंके हाथसे आहार गिरजाय तो फिर वे अंतराय समझकर आहार ग्रहण नहीं करते हैं। और भी उसीका उत्तर देते है—

दैन्यप्रसंगात् ॥ ११ ॥

अर्थ—कपाल नाम घडेके आधे भागका है जिसे खप्पर कहते हैं उसीका नाम कपाल है, मिट्टीका कपाल तो चट टूट जाता है और एक वार उसमें आहार करने पर फिर वह काममें नहीं आसकता इस-लिये यहांपर कपालसे पीतल या अन्य धातुके वर्तन जैसे—तसला थाली वडा कटोरा आदिका ग्रहण है कपाल या और किसी पात्र (वर्तन) को साथ लेकर जो साधु भिक्षाकेलिये भ्रमण करेंगे उनके दीन-ताका प्रसंग भी आता है कारण गृहस्थियोंसे मागना पडेगा मिलै या न मिले इसमें संदेह रहता है फिर मिलनेपर भी चोर चुरा लेजाय तो दूसरा मिलना और भी कठिन है इसके सिवा यदि गृहस्थियोंसे सुल-भतापूर्वक मिल भी जाय तो उसके प्रक्षालन करनेमें अर्थात् पानीसे स्वयं धोनेमें, सम्हालकर रखनेमें, उसकी रक्षाकी चिंता रखने आदिमें जो पापकर्मका वंध होगा उसका दूर करना कठिन होगा यदि अपने पात्रमें आहार लेकर साधु देशांतरमें जाकर उसका ग्रहण करें तो उस आहारमें साधुके आशा अथवा गृद्धता लालसा लगी रहेगी यह भी एक वडा दोष है। इसके सिवा यदि साधु पासमें भाजन रखकर ही भोजन करे तो पहिले उन्होंने अपने घरमें रहकर वढिया वढिया पात्रोंमें भोजन किये थे अब वैसे गुणों-वाला पात्र नहीं मिलनेसे और जैसा गृहस्थने दिया वैसे पात्रमें आहार गृहण करनेसे साधुके परिणामोंमें दीनता प्रतीत होगी। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यह वात ही सर्वोत्तम सिद्ध होती है कि अपने हाथरूपी भाजनमें ही मुनियोंको आहार ग्रहण करना चाहिये करपात्रमें आहार करनेसे उपर्युक्त कोई दोष नहीं आता है करपात्रके सिवा उनके और कोई विशेष पात्र नहीं होता है। शंका—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ-ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग, ये पांच समितियां हैं अर्थात् जो मुनि गुप्तियोंको पूर्णरूपसे नहीं पाल सकते अथवा उन्हें शरीर रक्षाकेलिये आहार विहारादि आवश्यक क्रियायें भी करनी पडती हैं ऐसी अवस्थामें वे इन समितियोंको पालन कर सदोष प्रवृत्तिसे बच जाते हैं अर्थात् इन समितियोंका पालन करनेसे वे जीववधादिरूप प्रमादाचरणसे दूर रहकर कर्मास्रवको रोकनेमें समर्थ रहते हैं।

सम्यग्ग्रहणेनाधिकृतेन प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ १ ॥

अर्थ-सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति यहांपर पहले सूत्रसे चली आती है, उस सम्यक् शब्दका संबंध प्रत्येकके साथ लगाया जाता है, जैसे-सम्यक् ईर्या सम्यक्भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक्आदाननिक्षेप, सम्यक्उत्सर्ग अर्थात् भले प्रकार ईर्या पालना भले प्रकार भाषासमिति पालना आदि। यहांपर सम्यक् शब्दका यह अर्थ है कि सांसारिक किसी फलकी आकांक्षा नहीं करके समितियोंका केवल कर्मास्रव रोकनेकेलिये वहुत सावधानीसे प्रमादरहित पालन करना चाहिये।

समितिरित्यन्वर्थसंज्ञा वा तांत्रिकी पंचानां ॥ २ ॥

अर्थ—समिति यह शब्द अन्वर्थ संज्ञाका धारक है अर्थात् समितिका जैसा नाम है वैसा ही उसका अर्थ है। वह इसप्रकार है—सम्यक्—भलेप्रकार अयनं इतिः—गमन करना अर्थात् देख भाल कर सावधानीसे गमन करना समिति शब्दका अर्थ है। गमन करनेका अर्थ सभी प्रकारकी क्रियारूप प्रवृत्तिका है, यह समिति शब्द शास्त्रोंमें इसीप्रकार प्रसिद्ध है और ईर्या आदि पांचोंका नाम है।

तत्र व्रज्यायां जीववधपरिहार ईर्यासमितिः ॥ ३ ॥

अर्थ-ईर्यासमितिका अर्थ इसप्रकार है-समस्त जीवोंके स्थान आदिका परिज्ञान रखनेवाले और केवल धर्मरक्षाका प्रयत्न रखनेवाले मुनिवर जिस समय सूर्यका उदय होनेपर प्रकाश फैल जाता है तभी

और सम्यग्चारित्र इन तीनोंको धर्मके नामसे कहा है और यहांपर जो धर्मके दश भेद कहे गये हैं वे सम्यक्चारित्रके अंतर्भूत होजाते हैं, क्षमा आदिके पहिले जो उत्तम विशेषण लगाया गया है उसका प्रयोजन यह है कि जहां किसी लौकिक कार्यसिद्धिकेलिये क्षमादि भाव धारण किये जाते हैं वहां वे कर्म निर्जरा करने अथवा मोक्षसुख प्राप्त करानेमें समर्थ नहीं होते हैं किंतु केवल परमार्थसिद्धिके लिये जहां क्षमादिक धारण किये जाते हैं वहीं मोक्षसिद्धि बताई गई है और लौकिक प्रयोजनरहित जो क्षमादिक भाव हैं वे ही उत्तम कहे जाते हैं इसी अभिप्रायकेलिये उत्तम विशेषण दिया गया है। दश धर्मोंका अर्थ वार्तिकों द्वारा श्रीआचार्य स्वयं कहते हैं। पहले यहांपर शंका होती है कि यह सूत्र क्यों कहा गया ? उत्तर—

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनं ॥ १ ॥

अर्थ—पहले जो गुप्तियोंका वर्णन किया गया है वह प्रवृत्ति रोकनेकेलिये किया गया है उन गुप्तियोंके पालन करनेमें जो असमर्थ हैं उनके लिये प्रवृत्तिका उपाय बतानेके लिये दूसरा कथन समितियोंका किया गया है फिर यह तीसरा कथन दश प्रकार धर्मका व्याख्यानस्वरूप इसलिये किया गया है कि समितियोंके पालनमें जो प्रवर्तमान है उसे कदाचित् प्रमाद न लगे, प्रमादके दूर करनेकेलिये यह दश प्रकार धर्मका निरूपण किया गया है। अब क्षमादि भावोंका स्वरूप निरूपण करते हैं—

क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा ॥ २ ॥

अर्थ-शरीरकी स्थितिका कारण जो एषणासमितिपूर्वक शुद्ध आहार उसकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध पर कुलोंमें जाते हुये मुनिराजोंको देखकर यदि उन्हें कोई दुष्ट पुरुष खोटे वचन कहे अथवा उनका उपहास कर तिरस्कार करै, उन मुनिराजोंको मार उनके शरीरका भी घात कर डाले ऐसे ऐसे भयंकर और प्राणों तकको नष्ट कर देनेवाले भी क्रोध उत्पन्न करनेवाले निमित्तोंका यदि उन्हें अवसर मिलजाय तो भी

स्थान हैं। उनमें भिन्न भिन्न नाम कर्मके उदयसे भिन्न भिन्न विशेष विशेष अवस्थाओंको धारण करनेवाले जीवोंमें एकेन्द्रियजाति सूक्ष्म और वादर तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक इन नामकर्मोंके उदयसे होनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंमें चार जीवस्थान हैं अर्थात् वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे चार भेद एकेन्द्रिय जीवोंके हैं। इसके आगे द्वींद्रियादिक जीवोंमें सूक्ष्म नामकर्मका उदय नहीं है केवल वादर नामकर्मका ही उदय है इसलिये द्वींद्रिय त्रींद्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन विकलत्रयोंमें द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय जाति नामकर्म तथा पर्याप्तक अपर्याप्तक नाम कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले छह जीवस्थान हैं। पंचेन्द्रियजीवोंमें पंचेन्द्रियजाति पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्मोंके उदयसे तथा संज्ञी असंज्ञीके भेदसे चार जीवस्थान हैं। इस प्रकार ये चौदह जीवस्थान हैं, इन चौदहोंमें संसारी सभी जीव आजाते हैं, इन जीवस्थानोंको जाननेवाले मुनिराज सब जीवोंकी रक्षा सावधानीसे करते हैं।

हिताऽमिताऽसंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्षपद प्राप्त कराना ही जिस वचनका मुख्य प्रयोजन हो वह हितवचन कहलाता है। वह हितवचन दोप्रकार है—अपना हितरूप और परका हितरूप। जो वचन अपने शुद्धोपयोगमें सहकारी भावप्राणका पोषक मोक्षमार्गका अविरोधी है वह स्वहितरूप है तथा द्रव्यप्राण और भावप्राणका रक्षक जो मोक्षमार्गका अविरोधी वचन हो वह परहितवचन है, जिसमें बहुतसा व्यर्थका प्रलाप नहीं हो और जो परिमितरूप हो वह वचन मितवचन कहलाता है तथा जो वचन प्रगट अर्थको लिये हुये हो जिसमें अक्षरोंकी भी प्रगटता हो ऐसा वचन असंदिग्ध कहलाता है इस प्रकार हित मित और असंदिग्ध वचनोंका कहना भाषासमिति है। इस भाषासमितिका उपयोग वचनोंकी शुद्धि रखनेसे ही होता है जैसे—वचनोंमें असत्यता नहीं हो, ईर्षा कलह नहीं हो, कठोरता नहीं हो, जो दूसरेको मर्म पहुं-

करना चाहिये ? उत्तर–यह शंका ठीक नहीं है कारण मनोगुप्तिमें मानस हलन चलनका निषेध किया गया है अर्थात् मनोगुप्तिमें समस्त मनःसंबंधी क्रियाका निषेध किया जाता है, परंतु उस मनोगुप्तिके पालन करनेमें जो असमर्थ हैं उनका चित्त परपदार्थोंके ग्रहण करनेकी ओर चला भी जाता है उस अनिष्ट उपयोगकी निवृत्तिके लिये यह शौचधर्मका निरूपण है अर्थात् मनोगुप्तिमें शौचधर्मका ग्रहण होसकता है यह बात ठीक है परंतु जो मुनिराज गुप्तियोंके पालनमें असमर्थ हैं उन्हींकेलिये तो समिति और धर्मोंका निरूपण है। यह बात संभव है कि मनोगुप्तिके नहीं पलने पर उनका मन किसी पदार्थमें लालसा करने लगे तो उसीको दूर करनेकेलिये यह शौचधर्म स्वतंत्र रूपसे कहा गया है। पुनः शंका–

आकिंचन्येऽवरोधः इति चेन्न तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ–पुनः शंका यह होती है कि आगे आकिंचन्य धर्मका निरूपण किया ही जायगा उसी धर्ममें इस शौचधर्मका ग्रहण हो जायगा फिर जो यहांपर शौचधर्मका कथन किया गया है वह पुनरुक्त है अर्थात् पिष्टपेषण होनेसे व्यर्थ है ? उत्तर–यह शंका भी ठीक नहीं है कारण–आकिंचन्य धर्ममें तो निर्ममत्व भावकी प्रधानता है अपने शरीर आदिमें संस्कारादिको दूर करनेकेलिये आकिंचन्य कहा जाता है अर्थात् शरीरादिकमें जो ममत्व भाव होते हैं उन्हें दूर करनेकेलिये आकिंचन्यधर्मका व्याख्यान है और शौचधर्म चार प्रकारके लोभ भावको दूर कराता है, इस भेदसे आकिंचन्यसे भिन्न शौचका निरूपण किया गया है।

तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येंद्रियोपभोगभेदात् ॥ ८ ॥

अर्थ—वह लोभ चार प्रकार है—१–जीवनका लोभ, २–आरोग्यका लोभ, ३–इंद्रियोंका लोभ, ४–उपभोगोंका लोभ, इन चारोंप्रकारके प्रत्येकके दो दो भेद हैं, एक स्वविषयक, दूसरा परविषयक। अपने जीवन आरोग्य इंद्रिय और उपभोगोंकी आकांक्षा रखना और दूसरोंके जीवन इंद्रिय आरोग्य उपभोगोंकी

जाती है वहीं लेते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि जहां जैसा देशकालका वर्ताव देखते हैं वहां उसीप्रकारसे आहार ग्रहण करलेते हैं किंतु जहां देशकालकी मर्यादामें शिथिलता पाते हैं वहां वे आहार नहीं ग्रहण करते हैं। एक अर्थ यह भी है कि देशकालकी परिस्थितिको देखकर ही वे आहार करते हैं किस देशमें किसकालमें कौनसा आहार शरीरको हानिकर होगा, कौनसा आहार गरिष्ठ अथवा अनिष्ट होकर धर्ममें बाधक होगा, ऐसा विचार कर उपयोगी आहार करते हैं इसके सिवा मुनियोंके आहार लेते-समय जो उद्गमादि दोष बताये गये हैं उन्हें वे नवकोटियोंसे दूर करके ही आहार ग्रहण करते हैं। वे दोष इसप्रकार हैं—उद्गम उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, कारण, अंगार, धूम, प्रत्यय, ये आठ प्रकार हैं। इन समस्त दोषोंको नव कोटियोंसे हटाते हैं, मनसे वचनसे कायसे कृत कारित अनुमोदनासे इनको परस्पर गुणा करनेसे नौ विकल्प होते हैं, इन नवो विकल्पोंसे दोषोंको हटाकर ही आहार लेते हैं। जहां रंच मात्र भी दोषकी संभावना होती है वहां वे आहार नहीं ग्रहण करते हैं। इसीका नाम एषणासमिति है। उद्गमादि दोषोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—ऊपर जो उद्गम आदि आठ भेद कहे गये हैं उनमें जो पहला उद्गम भेद है उसके सोलह भेद हैं, १ औद्देशिकदोष, २—अध्यधिदोष, ३—पूतिदोष, ४—मिश्रदोष, ५—स्थापितदोष, ६—बलिदोष, ७—पावर्तितदोष, ८—प्राविष्करणदोष, ९—क्रीतिदोष, १०—प्रामृष्यदोष ११—प्ररिवर्त्तकदोष, १२—अभिघटदोष, १३—उद्भिन्नदोष, १४—मालारोहणदोष, १५—अच्छेद्यदोष, १६—अनिसृष्टदोष। इनके सिवा एक अधःकर्मदोष होता है वह पृथ्वीकायादि जीवोंके दुःख पहुंचने अथवा उनके मरजानेसे जो आहारादि वस्तु तैयार होती है उससे उत्पन्न होता है, यह दोष गृहस्थ संबंधी होता है। उन उद्गमके सोलह भेदोंका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है—जो भोजन किसी देवताके लिये अथवा अन्यमती पाखंडियोंके लिये अथवा दीनकृपण जनोंके लिये अथवा निर्ग्रंथ साधुओंके लिये बनाया जाय वह भोजन औद्देशिक दोषविशिष्ट कहलाता है। संयमी साधुको आता देखकर अपने निमित्त जो भात

वह यह है कि वे असंयमी—असाधु पुरुषोंसे भाषण नहीं करते हैं किंतु नवीन दीक्षित मुनि आदि और उनके भक्त एकदेश संयमी श्रावक आदिकोंके साथ ही भाषण करते हैं सो भी धर्मवृद्धिके वचन ही बोलते हैं, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदिकी शिक्षा पठन पाठन तत्त्वचर्चा आदि विषयकी अनेक वातचीत करते हैं इसके सिवा और कुछ नहीं बोलते और न असाधु पुरुषोंसे ही बोलते हैं यही भाषासमिति और सत्यधर्ममें बहुत बडा भेद है। प्रश्न—अब प्रश्न होता है कि दश धर्मोंमें संयम धर्म भी आया है वह संयम क्या पदार्थ है? इस प्रश्नके उत्तरमें कोई कहता है कि भाषादिकी निवृत्ति होजाना ही संयम है, आचार्य कहते हैं कि—

न भाषादिनिवृत्तिः संयमो गुप्त्यंतर्भावात् ॥ ११ ॥

अर्थ—ऊपर जो किसीने भाषादिकी निवृत्तिको संयम बताया था उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि भाषादिकी निवृत्ति तो गुप्तिस्वरूप ठहरेगी क्योंकि गुप्ति निवृत्तिमें प्रवीण है अर्थात् भाषादिकी निवृत्ति गुप्तिस्वरूप है इसलिये यदि संयमको भाषादिकी निवृत्तिस्वरूप कहा जायगा तो गुप्तिमें उसका अंतर्भाव होनेसे संयमका अभाव होजायगा। यहांपर कोई दूसरा फिर कहता है कि कायादिकी विशेष प्रवृत्तिका नाम ही संयम है? उत्तर—

नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा समितिप्रसंगात् ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि कायादिकी विशेष प्रवृत्तिका नाम ही संयम कहा जायगा तो समितिमें उसका अंतर्भाव हो जायगा क्योंकि कायादिकी प्रवृत्तिमें जो दोषोंकी निवृत्ति होजाती है उसीको समिति कहते हैं और शंकाकार भी कायादिकी विशेष प्रवृत्तिको अर्थात् दोषरहित प्रवृत्तिको संयम कहता है तो संयमका ग्रहण समितिमें होजायगा परंतु संयमका ग्रहण समितिसे भिन्न स्वतंत्र है।

त्रसस्थावरबधप्रतिषेध आत्यंतिकः संयम इति चेन्न परिहारविशुद्धिचारित्रांतर्भावात् ॥ १३ ॥

तो ग्रहण करने योग्य है और इसमें उलटे सीधे घर न हों ऐसे सात घरोंसे भी लाया हुआ अन्न अथवा आठवां आदि घरोंसे आया हुआ ओदनादि भोजन ग्रहण करने योग्य नहीं है। सर्वाभिघटदोषके चार भेद हैं—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश, परदेश। पूर्वदिशाके मोहलेसे पश्चिमदिशाके मोहलेमें भोजन लेजाना वह स्वग्रामाभिघट दोष है, इसीप्रकार शेष तीन भेद भी समझ लेना चाहिये इनसे ईर्यापथमें दोष आता है यही लाख आदिसे ढकाहुआ अथवा किसीके नामकी मौहरकर चिन्हित जो औषधि घी शक्कर आदि द्रव्य है उसे उघाड कर देना वह उद्भिन्न दोष है। काष्ठकी सीढी अथवा जीनासे ऊपर चढकर वहांसे भोजन लाकर साधुओंको देना वह मालारोहणदोष है। गृहस्थियोंको यह भय दिखाकर कि यदि तुम साधुओंको आहार नहीं दोगे तो तुम्हारा सब द्रव्य हम छीन लेंगे, गांवसे निकाल देंगे इसप्रकारके भयसे दिया गया जो दान है वह अछेद्यदोषसंयुक्त कहलाता है। अनीशार्थदोषके दो भेद हैं—१ ईश्वर २ अनीश्वर। दानका स्वामी तो दान देना चाहे परंतु मंत्री आदि मनाई करें तो दिया हुआ भोजन ईश्वर अनीशार्थ है। स्वामीसे अन्यजनोंकर निषेध किया हुआ अनीश्वर कहलाता है। उत्पादन दोषके भी सोलह भेद हैं—वे इस प्रकार हैं-धात्रीदोष, दूत, निमित्त, आजीव, वनीयक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, ये दश दोष तथा पूर्वसंस्तुति पश्चात्संस्तुति विद्या मंत्र चूर्णयोग, मूलकर्मदोष ये सब सोलह उत्पादन दोष कहलाते हैं। धायोंके उपदेशसे जो साधु भोजन ले वह धात्रीदोष है, किसीके संदेशको उसके संबंधीसे कह कर जो साधु भोजन ले वह दूत दोष कहलाता है, मसा तिलरेखा मस्तक गृहादिक निमित्तोंको बताकर जो साधु भोजन ले वह निमित्तदोष है। आहार लेना जातिकुल तपश्चरण आदिकी क्रिया आदि द्वारा महत्त्व प्रगट करने आदि आजीविकाके वचन कहकर आहार लेना सो आजीवदोष है। दाताके प्रश्न करने पर उसके अभिप्रायानुकूल उत्तर देकर भोजन लेना वनीपक दोष कहलाता है, चिकित्साका उपदेश देकर अथवा कोई औषधि आदि बताकर भोजन लेना चिकित्सा दोष कहलाता है। क्रोधयुक्त भावोंसे आहार लेना, मानपूर्वक

है अर्थात् कैसा भी कष्टप्रद समय–प्राणोंके हरण करने वाला भी क्यों न हो तो भी उस कष्ट देनेवालेके प्रति रंच मात्र भी राग द्वेष नहीं होना केवल उपेक्षा बुद्धि रखना यही उपेक्षा संयम है अपहृत संयमके तीन भेद हैं १–उत्कृष्ट २–मध्यम ३–जघन्य। उनमें पहला भेद इसप्रकार है मुनिराजोंकेलिये प्रासुक वसतिका और प्रासुक आहार मात्र वाह्य साधन है, इसलिये ज्ञान चारित्र तो उनके स्वाधीन है और वाह्य कारण-कलाप उनका पराधीन है ऐसी अवस्थामें जहां उनकी गमन आसन शयन आदि वाह्य प्रवृत्तिमें कोई जीव आजाय तो वे परम दयालु मुनिराज उस क्षेत्रसे स्वयं दूसरे किसी प्रासुक स्थानमें चले जाते हैं और उन प्राप्त हुये जीवोंकी रक्षा करते हैं अर्थात् स्वयं तो बाधा सहन करते हैं परंतु उपस्थित हुये अन्य जीवोंको बाधा नहीं पहुंचाते हैं इसीलिये उन जीवोंकी रक्षाकेलिये उस गृहीत स्थानको छोडकर स्थानांतर चले जाते हैं यही अपहृत संयमका उत्कृष्ट भेद है। दूसरा भेद इसप्रकार है–जहां मुनिराज बैठे हैं वहां यदि जीवोंका आवागमन होता है तो उन जीवोंको कोमल पिच्छिकासे वे अपनेसे दूर करदेते हैं, अर्थात् जीवोंकी रक्षा भी करते हैं परंतु स्थानत्याग नहीं करते हैं यही अपहृत संयमका मध्यम भेद है। तीसरा भेद इसप्रकार है उन आये हुये जीवोंको वे किसी अन्य उपकरणसे दूर करनेकी इच्छा रखते हों अर्थात् अन्य किसी साधनसे इन जीवोंका आवागमन दूसरी ओर करते हों तो वह अपहृतसंयमका तीसरा जघन्य भेद है। अब उस अपहृत संयमके पालनेकेलिये आठ शुद्धियोंका निरूपण किया जाता है—

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः ॥ १६ ॥

अर्थ—उस अपहृत संयमका विशेष निरूपण करनेकेलिये अथवा उसका भलेप्रकार पालनेके लिये आठ प्रकारकी शुद्धियोंका उपदेश किया गया है वह इसप्रकार है–शुद्धियां आठ प्रकार हैं उनके नाम इसप्रकार हैं, १–भावशुद्धि, २–कायशुद्धि, ३–विनयशुद्धि. ४–ईर्यापथशुद्धि, ५–भिक्षाशुद्धि, ६–प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७–शयनासनशुद्धि, ८–वाक्यशुद्धि। इनमें प्रत्येक शुद्धिका स्वरूप इसप्रकार है–पहली

नीची जगहपर बैठी हो, मुंहसे फूंककर अग्नि जलाना, काठ आदि डालकर अग्नि जलाना, राखसे अग्निको ढकना, जलादिसे अग्निको बुझाना, अन्य भी अग्निके कार्य कर भोजन देना, गोबर आदिसे भीतको लीपना, स्नानादि क्रिया करना, दूध पीते बालकको छोडकर आहार देना इत्यादि क्रियाओंसे जो आहार दे तो दायक दोष है। मट्टी, अप्रासुक जल, पान फूल फल आदि हरी जौ गेहूं तथा द्वींद्रियादिक त्रस जीव, इन पांचोंसे मिला हुआ आहार हो जाय तो उन्मिश्र दोष है। तिलके धोनेका जल, चावलका जल, गरमसे ठंडा हुआ जल, चनेका जल, तुषका जल, हरडका चूर्ण आदि जो अपरिणत हो उसे ग्रहण करनेसे अपरिणत दोष लगता है। गेरु, खडिया, हरताल, मैनशिल, चावल आदिका चूर्ण, कच्चा साक इनसे लिप्त हुआ हाथ तथा पात्र अथवा अप्रासुक जलसे भीगा हाथ तथा पात्र इन दोनोंसे भोजन दे तो लिप्त दोष आता है। अधिक भोजनमें थोडा भोजन करै छाछ आदिसे झरते हुऐ हाथसे भोजन करै अथवा किसी आहारको छोडकर किसी एकको ग्रहण करै तो उनके त्यक्तदोष आता है। ठंडे भोजनको गरम जलसे मिलाना अथवा ठंढाजल गरम भोजनसे मिलावे उनके संयोजनादोष होता है और जो मात्राको उलंघन कर भोजन करै तो उनके प्रमाण दोष आता है। जो मूर्च्छित होकर अति तृष्णासे भोजन किया जाय तो अंगार दोष आता है तथा जो निंदा करते हुये भोजन करते हैं उनके धूम दोष आता है। ये भोजन करनेके साधुओंके छयालीस दोष हैं। आगे यह बताते हैं कि छह कारणोंके उपस्थित होनेपर आहार साधुओंको करना चाहिये, क्षुधाकी वेदनाकी शांतिके लिये–वैयावृत्य करनेके लिये, छह आवश्यक क्रियाओंके लिये, तेरह प्रकारके चारित्रके लिये, प्राणरक्षाके लिये उत्तम क्षमादि धर्मके पालनके लिये भोजन करना चाहिये परन्तु नीचे लिखी छह बातोंके होनेपर भोजन नहीं करना चाहिये—व्याधिके अकस्मात् आजानेपर, देव मनुष्यादिकृत उपसर्ग होनेपर उत्तमक्षमा धारण करनेके समय, ब्रह्मचर्य रक्षण करनेके लिये, प्राणियोंकी दया पालनकेलिये अनशन

णता होती है, और जहां श्रीआचार्य मतका अनुसरण किया जाता है वहींपर विनयशुद्धि होती है। भावार्थ अर्हंतादिकोंकी पूजा करनेसे, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानियोंकी शास्त्रानुसार भक्ति करनेसे, गुरु निर्ग्रंथ दिगम्बर वीतराग यतिकी आज्ञा स्वीकार करनेसे, प्रश्न करना, स्वाध्याय करना शुद्ध पठन पाठन करना पुरातन पुरुषोंके जीवनचरित (मोक्षगामी पुरुषोंके चरित) पढना, द्रव्यानुयोग आदि शास्त्रोंका बोध करना आदि वातोंमें चातुर्य रखनेसे तथा देश काल भावका बोध प्राप्त करनेसे और आचार्यनिर्दिष्ट शास्त्रानुसार गमन करनेसे विनयशुद्धि पाली जाती है इसी विनयशुद्धिके होनेसे ही समस्तप्रकारकी ज्ञानादिक सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं यही विनयशुद्धि पुरुषका भूषण है यही विनयशुद्धि संसार समुद्र तरनेकेलिये पुरुषकेलिये एक नौका है। अब ईर्यापथशुद्धिका निरूपण करते हैं–नाना प्रकार जीवोंकी उत्पत्ति होनेके स्थान तथा योनिरूप आश्रयोंका बोध होनेसे ऐसा प्रयत्न करना जिससे किसी भी जीवको अपने द्वारा पीडा नहीं पहुंचे और अभ्यंतरमें ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे तथा बाहरसे अपनी इंद्रियों और प्रकाशसे भलेप्रकार देखेहुये प्रदेशमें गमन करना, तथा जल्दी चलना, देरीसे चलना अन्यमनस्क होकर चलना, हास्य और आश्चर्यसहित चलना, क्रीडा करते हुये चलना, विकारयुक्त चलना, इधर उधर दिशाओंको देखते हुये चलना आदि जो चलनसंबंधी दोष आते हैं इन दोषोंसे रहित गमन करना यही ईर्यापथशुद्धिका स्वरूप है अर्थात् जीवोंकी उत्पत्तिस्थानोंका बोध करके सावधानी पूर्वक ऐसा गमन करना जिससे कोई भी जीव अपने द्वारा दब न जाय अथवा मर न जाय, और विवेक पूर्वक मार्गको इंद्रियों और प्रकाशसे भलेप्रकार देखकर ही चलना जिससे किसी मार्गमें चलते हुये जीवको बाधा नहीं पहुंचे, तथा न तो जल्दी ही बहुत चलना और न बहुत देरीसे ही चलना, और न शरीरको हिलातेहुये चलना अथवा अन्यत्र उपयोग रखकर भी नहीं चलना साश्चर्य होकर अथवा हास्य विनोदयुक्त होकर भी नहीं चलना, इधर उधर तिरछे देखते हुये भी नहीं चलना यही ईर्यापथ शुद्धिका

है, नाभिसे नीचा मस्तक कर निकलना वह नाभ्यधोनिर्गमन अंतराय है। त्याग की हुई वस्तुका ग्रहण करना प्रत्याख्यान सेवना अंतराय है। जीव बध होना जंतु बध अंतराय है। कौआ आदि ग्रास लेजाय वह काकादि पिंड हरण अंतराय है। पाणिपात्रसे पिंडका गिर जाना पाणितः पिंडपतन नामका अंतराय है। पाणिपात्रमें किसी जीवका मर जाना पाणिजंतुबध अंतराय है, मांसका दीखना मांसादि दर्शन अंतराय है, देवादिकृत उपद्रव होना उपसर्ग अंतराय है, दोनों पैरोंके बीचमें कोई जीव गिर जाय वह जीव संपात अंतराय है, भोजन देनेवालेके हाथसे भोजन गिर जाय वह भोजन संपात अंतराय हैं, अपने उदरसे मल निकल जाय वह उच्चार अंतराय है, मूत्रादि निकल जाय वह प्रस्रवण अंतराय है, चांडालादि अभोज्यके घरमें प्रवेश होजाय वह अभोज्य गृहप्रवेश अंतराय है, मूर्च्छादिसे गिर जाना पतन अंतराय है, बैठ जाना उपवेशन अंतराय है, कुत्ता आदि काट खाय वह सदंश अंतराय है, हाथसे भूमिको छू लेना भूमि संस्पर्श अंतराय है, कफ आदि मलका फेंकना निष्ठीवन अंतराय है, पेटसे कृमि (कीडोंका) निकलना उदरकृमि निर्गमन अंतराय है, विना दिया हुआ किंचित् ग्रहण करना अदत्तग्रहण अंतराय है, अपने व दूसरेको तलवारसे प्रहार हो तो वह प्रहार अंतराय है। ग्राम जलता हो तो ग्रामदाह अंतराय है। पांवसे भूमिसे उठाकर कुछ लेना पादसे किंचित ग्रहण अंतराय है, हाथसे भूमिसे कुछ उठाना करसे किंचित गृहण अंतराय है, ये तो वत्तीस अंतराय हैं। इनके सिवा चांडालादि स्पर्श कलह, इष्ट मरण आदि अनेक भोजनके त्यागके कारण हैं तथा राजादिका भय होनेसे, लोक निंदा होनेसे, संयमकेलिये वैराग्यके लिये आहारका त्याग करना चाहिये। इसप्रकार छयालीस दोष वत्तीस अंतराय टालकर अधःकर्म आदि और चौदह मलोंको दूर कर शुद्ध आहार निरीच्छवृत्तिसे करना वह एषणा समिति कहलाती है। अब आदान निक्षेपण समितिका स्वरूप कहते हैं—

धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति यतनं आदाननिक्षेपणा समितिः ॥ ७ ॥

भी आहार ग्रहण करनेकेलिये दीनवृत्तिका सर्वथा त्याग कर दिया जाता है अर्थात् जहां निर्यात्रक सिंह-वृत्तिसे आहारार्थ गमन किया जाता है, और प्रासुक आहारके खोजने और इसीप्रकारका आहार ग्रहण करनेकी पूर्ण सावधानी जहां रक्खी जाती है तथा जो आगममें निर्दोष आहारकी विधि कही गई है उसीके अनुसार आहार ग्रहण कर जहां प्राणोंकी यात्रा मात्रका फल प्राप्त किया जाता है वहीं पर यह भिक्षाशुद्धि कही जाती है अर्थात् मुनिराज जहां ऊपर कही गई आगमविधिके अनुसार आहारकेलिये गमन करते हैं और केवल धर्मसाधनार्थ शरीरकी स्थिति बनाये रखनेकेलिये ही आहार ग्रहण करनेकी वाञ्छा करते हैं उसी अवस्थामें उनके भिक्षाशुद्धि कही जाती है। उसी भिक्षाशुद्धिसे सम्यक्चारित्ररूपी संपत्ति प्राप्त होती है, जिसप्रकार साधु पुरुषोंकी सेवासे गुणरूपी संपत्तिकी प्राप्ति होती है। वह मुनि-राजकी आहारचर्या आहारका लाभ होनेपर भी अथवा लाभ नहीं होनेपर तथा सरस भोजन मिलनेपर अथवा नीरस मिलनेपर समान संतोषभाव धारण करनेसे ही भिक्षावृत्ति कही जाती है। उस भिक्षावृत्तिके पांच भेद हैं अर्थात् वह पांच नामोंसे कही जाती है और नाम भेदके अनुसार पांचो ही वृत्तियोंमें भेद है। वे पांच नाम इसप्रकार हैं—१—गोचरीवृत्ति, २-अक्षम्रक्षणवृत्ति ३—उदराग्नि प्रशमनवृत्ति ४-भ्रमरा-हार अथवा भ्रामरीवृत्ति, ५—गर्तपूरणवृत्ति। अब इन पांचोंका स्वरूप दिखाते हैं-उनमें पहली गोचरी वृत्तिका स्वरूप कहते हैं-जिसप्रकार गौको हास्य विलास विनोदवाली और नाना भूषणालंकारोंको धारण करनेवाली सुंदर युवतियां घास खिलाने लगें तो वह गौ उन सुंदर युवतियोंके सुंदर शरीरादिको नहीं देखती है किंतु केवल घास खानेमें ही लगजाती है अथवा जिसप्रकार गौ नाना देशोंमें फैलेहुये घासके अंकूरोंको जैसे जैसे वे मिलते जाते है वैसे वैसे उन्हींके खानेमें दृष्टि रखती है वह उस घासकी योजना करनेवालेकी संपत्तिको नहीं देखती है, उसीप्रकार भिक्षाकेलिये निकलनेवाले मुनिराज भी भिक्षा देनेवाले मनुष्यके कोमल सुंदर रूप भेष विलास आदिके देखनेमें सर्वथा उपयोग नहीं लगाते हैं, उन आहार देनेवाले

हैं उनक समिति होती है अर्थात् गुप्तिमें शारीरिक वाचनिक क्रियाका सर्वथा त्याग होजाता है परंतु समितिमें सर्वथा त्याग नहीं होता किंतु जो साधु गुप्ति पालनेमें असमर्थ होते हैं वे जो व्रतोंमें सावधानीके साथ प्रवृत्ति करते हैं वही उनकी प्रवृत्ति समिति कहलाती है इसप्रकार गमन करना, भाषण करना, शुद्ध आहार ग्रहण करना, धरना उठाना, मल मूत्रादिका क्षेपण करना इन बातोंकी जीवोंकी रक्षाका पूर्ण लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति करना यही समिति कही जाती है, इस समितिके पालनेमें जो अप्रमत्त हैं सावधान हैं उनके योगोंकी नालीसे आनेवाला कर्म रुक जाता है इसलिये उनके संवर भाव होजाता है। पुनः शंका—

पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेन्न परिग्रहदोषात् ॥ १० ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि मुनिराजोंके पास पात्र तो होता नहीं है वे पाणिपुटमें (अपने हाथोंमें भोजन लेकर) आहार ग्रहण करते हैं ऐसी अवस्थामें जो आहार हाथोंसे गिर जाता है और उस गिरे हुये आहारके निमित्तसे जीवोंका बध भी हो जाता है इसलिये वहां एषणासमिति नहीं पाली जासकती और विना एषणा समितिके पालन किये संवर भी नहीं होसकता अर्थात् हाथसे जो भोजन गिरता है उसमें जीवोंका संचार होने लगता है पीछे मनुष्यादिके आवागमनसे उनका बध भी होजाता है इसलिये मुनिराजोंको हाथसे आहार करनेके कारण एषणा समिति नहीं होती उसके विना संवर भी उनके नहीं होता है ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है कारण कि पात्र रखनेसे मुनिराजोंको परिग्रहका दोष लगेगा, साधु महाराज सर्वथा निष्परिग्रहवृत्ति धारण करते हैं यदि वे पात्र अपने पास रखने लगें तो उसकी रक्षा करना, कोई लेजाय तो दूसरे पात्रकी चिंता करना पात्रका ममत्व रखना आदि अनेक दोष उनमें उपस्थित होजायंगे इसलिये विना किसीप्रकारकी परतंत्रताके स्वतंत्रतापूर्वक अपने करपात्रसे निराबाध प्रदेशमें खडे होकर परीक्षापूर्वक भोजन करनेवाले साधुओंके जीव बाधाका दोष नहीं आता है अर्थात् जिस प्रदेशमें खडे होते हैं उसे देखकर ही वे निर्जंतु

आहारसे उस उदराग्निको शांत कर देते हैं इसीका नाम उदराग्निप्रशमनवृत्ति है। अब भ्रामरी वृत्तिका स्वरूप कहते हैं–जिसप्रकार भ्रमर पुष्पोंको बाधा नहीं पहुंचाकर अनेक पुष्पोंपर जाकर रसास्वाद करलेता है, उसीप्रकार विवेकी मुनीश्वर आहार दान देनेवाले मनुष्योंको विना किसी बाधाके पहुंचाये उनके यहां आहार ग्रहण करते हैं इसीका नाम भ्रमराहारवृत्ति अथवा भ्रामरीवृत्ति कहा जाता है। अब स्वभ्रपूरण वृत्तिका स्वरूप कहते हैं–जिसप्रकार गड्ढे अथवा खाईको लोग अच्छा बुरा कूडा कचरा आदि डालकर जिस तिसप्रकार भर कर पूरा कर देते हैं, उसीप्रकार मुनिराज भी अपने उदररूपी गड्ढेको स्वाद वाले अथवा विनास्वादवाले रूखे सूखे जैसे मिले वैसे आहारसे भर लेते हैं अर्थात् वे आहारकी शुद्धता मात्र तो अवश्य देखते हैं परंतु उसके स्वाद या गैरस्वादको सर्वथा नहीं देखते, केवल शरीररक्षणार्थ पेट भरनेका उद्देश्य रखते हैं इसीका नाम स्वभ्रपूरणवृत्ति कहा जाता है। इसप्रकार पांच भेदों द्वारा भिक्षाशुद्धि और भिक्षावृत्तिका निरूपण किया जाचुका। अब प्रतिष्ठापनशुद्धिका स्वरूप कहते हैं—जो मुनिराज प्रतिष्ठापन शुद्धिके पालनेमें तत्पर रहते हैं वे नख रोम थूक कफ वीर्य मल मूत्रका क्षेपण और शरीरपरित्याग देशकालको देखकर ही प्रयत्नके साथ करते हैं जिससे किसी जीवको बाधा नहीं पहुंचे यही प्रतिष्ठापनशुद्धिका स्वरूप है। प्रतिष्ठापन नाम क्षेपण अथवा रखनेका है उस क्षेपणक्रियामें वे इसबातका पूरा ध्यान रखते हैं कि किसी जीवको कष्ट न पहुंचे यही उस प्रतिष्ठापनकी शुद्धिका स्वरूप है। अब शयनासन शुद्धिका स्वरूप कहते हैं–जो मुनिराज शयनासनकी शुद्धिका पालन करते हैं वे ऐसे स्थानोंमें नहीं ठहरते जहां स्त्री, क्षुद्रजीव, चोर, वधिक, शिकारी, पक्षी मारनेवाला व्याधा, मदिरा पीनेवाला शराबी आदि पापीजन बसते हों और वे ऐसे स्थानोंमें भी नहीं ठहरते हैं जहां शृंगारवाली, विकार पैदा करनेवाली, भूषण और सुंदर भेष धारण करनेवाली वेश्याओंके क्रीडा करनेके स्थान हैं जहां उनके सुंदर गीत नृत्य बाजे आदि होरहे हैं ऐसे स्थानोंमें मुनिराज शयन भी नहीं करते और बैठते भी नहीं हैं ऐसे स्थानोंको

अन्नवत्तत्प्रसंग इति चेन्न तेन विनाऽभावात् ॥ १२ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि जिसप्रकार घरमें उत्तम पाचन हुआ संस्कार किया हुआ प्राप्त होनेवाला बढिया भोजन छोडकर साधुगण दूसरोंके यहां जैसा तैसा असंस्कारित (दाल सागमें बढिया छोंक जिसमें नहीं है) और नीरस (लूखा) अन्न ग्रहण करलेते हैं उसीप्रकार अपने घरके बढिया वर्तनोंको छोडकर वे दूसरोंके यहांका कपाल आदि पात्र भी जैसा मिलै वैसा ग्रहण कर सकते हैं फिर क्या बाधा है ? अर्थात् जिसप्रकार मिला वैसा परघरका वे अन्न गृहण कर लेते हैं उसीप्रकार मिलै वैसा पात्र भी क्यों नहीं ग्रहण कर लें इसमें क्या बाधा है ? उत्तर—इस शंकाका समाधान यह है कि अन्नके विना तो शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती है जो मुनिराज बहुत कालसे तप कर रहे हैं उन संयमी साधुकी शरीरयात्रा विना आहारके नहीं होसकती इसलिये जहां कहीं और जब कभी उन्हें जो कुछ शुद्ध प्रासुक आहार मिलजाता है तो शरीररक्षा धर्मसाधनमें कारण समझकर उस आहारको वे उसी निरंतराय निरीह वृत्तिसे ग्रहण करलेते हैं परंतु उसप्रकार भाजनकी आवश्यकता नहीं है भाजनके विना केवल करपात्रसे भी कार्य चलता है इसलिये आहारके साथ भाजनका दृष्टांत विषम है—दोनोंकी समानता नहीं घटती है । अब कहते हैं कि गुप्ति और समितियोंको संवरहेतुता है यह बात पहले कही जाचुकी है इससमय उनके पीछे कहे जानेवाले धर्मको भी संवरका कारणपना है इसीका वर्णन करते हैं—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मके भेद हैं। श्री समंतभद्राचार्यने धर्मका लक्षण यही कहा है कि जो जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें (मोक्षमें) धारण करै वह धर्म कहलाता है "संसारदुःखतः सत्वान् धरत्युत्तमे सुखे" श्री रत्नकरंडश्रावकाचार । उन्हींने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

अचेतनात्मक परिग्रह जिसे स्थावर संपत्तिके नामसे पुकारते हैं, उन दोनों प्रकारके समस्त परिग्रहका त्याग कर देना इसीका नाम त्याग है। यहांपर यह शंका होती है—

अभ्यंतरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात्सिद्धिरिति चेन्न तस्यान्वर्थत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि आगे अभ्यंतर तपके छह भेद कहनेवाले हैं उन अभ्यंतर तपोंके छह भेदोंमें एक उत्सर्ग लक्षणवाला भी अर्थात् उत्सर्ग नामका भी तप है, उसीमें इस त्यागधर्मका भी ग्रहण हो जायगा फिर यहां त्यागधर्मका स्वतंत्र ग्रहण किया गया है सो व्यर्थ है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण उत्सर्गरूप तपका दूसरा प्रयोजन है, उत्सर्ग तप तो नियत कालकेलिये सर्वतोभावेन किया जाता है और यह त्याग शक्तिके अनुसार अनियत काल तक किया जाता है यही दोनोंमें भेद है। फिर भी शंका होती है—

शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः ॥ २० ॥

अर्थ—दूसरी शंका यह है कि शौच धर्मका व्याख्यान किया जा चुका है उसीमें इस त्यागका अंतर्भाव (ग्रहण) हो जायगा फिर इसका जुदा ग्रहण व्यर्थ है ? समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है कारण शौच धर्ममें तो यह बात है कि वहां परिग्रह नहीं भी पास होनेपर तृष्णा अथवा गृद्धताकी उत्पत्ति होनेसे उसका त्याग किया जाता है अर्थात् जहां परिग्रह पासमें नहीं है तो भी लोभकर्मके उदयवश गृद्धता अथवा तृष्णा पैदा हो जाती है, उस तृष्णाको दूर करनेकेलिये शौचधर्मका निरूपण किया गया है और त्यागधर्ममें यह बात है कि जो परिग्रह पासमें उपस्थित है उसका त्याग किया जाता है, अथवा अपनी योग्यताके अनुसार उसका दान कर दिया जाता है अथवा संयमी पुरुषके योग्य ज्ञानादि साधनभूत सामग्रीका दान किया जाता है इसीका नाम त्याग है। यही दोनोंमें भेद है।

ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं ॥ २१ ॥

उन मुनिराजोंके हृदयमें उन निमित्तोंसे क्रोधभाव नहीं उत्पन्न होना अर्थात् किंचिन्मात्र भी कलुषता-मलिनता उनके परिणामोंमें नहीं आना इसीका नाम क्षमा है।

जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं ॥ ३ ॥

अर्थ—उत्तम जाति उत्तमकुल उत्तम रूप उत्तम विज्ञान उत्तम ऐश्वर्य उत्तम शास्त्ररहस्यलाभ उत्तम वीर्य (पराक्रम) इन समस्त उत्तम बातोंके होनेपर भी उनका अभिमान नहीं करना तथा यदि कोई दूसरा तिरस्कार भी करै तो भी उसके निमित्तसे किसीप्रकार अभिमान नहीं करना, इसीका नाम मार्दव धर्म है अर्थात् मान कषायका दूर कर देना इसीको मार्दव धर्म कहते हैं।

योगस्यावक्रतार्जवं ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वचन काय रूप जो योग है उसकी वक्रता नहीं होना, सो आर्जव कहलाता है अर्थात् मन वचन कायकी प्रवृत्तिमें कुटिलता अथवा मायाचारीका नहीं होना वह आर्जव कहलाता है।

प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचं ॥ ५ ॥

अर्थ—अत्यंत लोभकी निवृत्ति होना सो शौच कहलाता है। शुचि नाम पवित्रताका है, शुचिके भाव और कर्मको शौच कहते हैं, जब आत्मासे लोभ कषायका सर्वथा त्याग होता है तभी उसमें पवित्रता आती है, विना लोभकषायके सर्वथा छोडे आत्मा पवित्र अथवा शुद्ध नहीं होता है। शंका—

गुप्तावंतर्भाव इति चेन्न तत्र मानसपरिस्पंदप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि शौच धर्मका स्वतंत्र निरूपण नहीं करना चाहिये क्योंकि वह मनोगुप्तिमें अंतर्भूत होजाता है अर्थात् मनोगुप्तिमें मानसिक प्रवृत्तिका निरोध हो जाता है और मानसिक प्रवृत्तिका निरोध होजाने पर लोभरूप भावकी गृद्धता भी नहीं रह सकती है इसलिये मनोगुप्तिमें ही शौचका समावेश (ग्रहण) होसकता है फिर जो शौच धर्मका जुदा निरूपण किया गया है सो नहीं

पुनरुक्त नहीं है, कारण वे सभी धर्म संवरभाव धारण करनेकी सामर्थ्य रखते हैं इसलिये धर्म यह उनकी नामके अनुसार ठीक संज्ञा है। इसी बातके दिखानेकेलिये उनका फिरसे निरूपण किया गया है अतएव पुनरुक्तका दोष यहां नहीं आता है।

तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकारप्रतिक्रमणवत् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तम स्थानिक, यह सात प्रकारका प्रतिक्रमण गुप्ति आदिकी रक्षाकेलिये कहा गया है, उसीप्रकार उत्तम क्षमा आदिक दश प्रकार धर्मोंकी भावना भी गुप्ति आदिके परिपालन करनेकेलिये ही कही गई है इसलिये उन दश धर्मोंमें से कतिपय धर्मोंका गुप्ति आदिमें अंतर्भाव होनेपर भी उनका पृथक् स्वतंत्र रूपसे कथन किया गया है।

उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थं ॥ २६ ॥

अर्थ—जो कोई दृष्ट प्रयोजन हो उसको लक्ष्य नहीं रख कर ही धारण किये गये क्षमादिक संवरके कारण होते हैं इस विशेष बातके प्रगट करनेकेलिये उत्तम विशेषण उन धर्मोंका दिया गया है अर्थात् यदि कोई अपने सांसारिक प्रयोजनकी सिद्धिकेलिये कुछ कालविशेषमें क्षमादिभाव धारण भी करले तो उनसे संवरभाव सिद्ध नहीं होता है। किंतु केवल आत्मविशुद्धिके लिये जहां क्षमादि भाव धारण किये जाते हैं वहींपर संवरकी सिद्धि होती है इसीलिये उत्तम विशेषण उनका दिया गया है, जैसे—उत्तमक्षमा उत्तम मार्दव इत्यादि। इन धर्मोंको संवरका कारणपना किस प्रकार है इसी बातको प्रगट करते हैं—

सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात् संवरहेतुत्वं ॥ २७ ॥

अर्थ—समस्त इन उत्तम क्षमादिकोंकी भावना करनेसे तथा इनके प्रतिपक्षी दोषोंकी भी आलोचना करनेसे इन उत्तम क्षमादिक धर्मोंको संवरकी कारणता सिद्ध होती है। उत्तम क्षमाकी भावना इसप्रकार करनी चाहिये—इस क्षमाधर्मसे व्रत शीलकी भलेप्रकार रक्षा होती है इसलोक और परलोकमें

आकांक्षा रखना उस सबप्रकारके लोभका त्याग करनेरूप शौचधर्म भी चार प्रकार समझना चाहिये।

सत्सु साधुवचनं सत्यं ॥ ९ ॥

अर्थ—विशेष श्रेष्ठ सज्जन पुरुषोंमें जो समीचीन वचन बोलना सो सत्य कहलाता है अर्थात् मोक्ष मार्गमें चलनेवाले दिगम्बर गुरुओंकी आज्ञानुसार कार्य करनेवाले जो विशेष धार्मिक पुरुष हैं उनमें जो मोक्षमार्गोपयोगी श्रेष्ठ वचन बोलना वही सत्य कहलाता है। वह सत्य दशप्रकार है। शंका—

भाषासमितावंतर्भाव इति चेन्न तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् ॥ १० ॥

अर्थ—यहां यह शंका होती है कि सत्यधर्मका जो स्वतंत्र ग्रहण किया है वह व्यर्थ है क्योंकि उसका भाषा समितिमें अंतर्भाव होसकता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, कारण भाषा समितिमें तो साधु और असाधु पुरुषोंमें व्यवहार होनेवाले हित मित रूप वचनसे प्रयोजन है, संयमी पुरुष साधु पुरुषोंमें अथवा असाधु पुरुषोंमें भाषा व्यवहार करते हुये हित मित वचन बोलते हैं, अन्यथा रागरूप वचन होनेसे उनके अनर्थदंडादि दोषोंका प्रसंग आवेगा। यह बात तो भाषासमितिकी है और सत्यधर्ममें तो जो नवीन दीक्षित साधु हैं, अथवा उनके भक्त श्रद्धाशील श्रावक हैं उन्हींसे समीचीन सत्य बोलना अर्थात् ज्ञान चारित्र शिक्षण आदि संबंधी वात चीतमें धर्मकी वृद्धिके लिये अधिक भी बोलना होता है इसका खुलासा इसप्रकार है—कि भाषासमिति पालनेवाले मुनिराज तो संयमी और असंयमी दोनोंप्रकारके पुरुषोंसे बोल सकते हैं परंतु उसमें भी इतना विशेष है कि जो कुछ बोलेंगे वह हित रूप और परिमित वचन ही बोलेंगे और सत्यधर्म पालनेवाले मुनियोंकेलिये भाषासमितिवालोंसे कुछ विशेषता है

जणपदसम्मदिठवणा णामे रूवे पडुच्च ववहारे। सम्भावणे य भावे उपमा ये दशविहं सच्चं ॥ गोम्मटसार जीवकांड ॥

१ जनपद सत्य, २ सम्मति सत्य, ३ स्थापना सत्य, ४ नाम सत्य ५ रूप सत्य, ६ प्रतीत्य सत्य, ७ व्यवहार सत्य, ८ संभावना सत्य, ९ भाव सत्य १० उपमा सत्य इसप्रकार सत्यके १० भेद है।

प्रकार मूर्खोंका स्वभाव होता है इसलिये बालकोंके समान बाल भी क्षमापात्र हैं। यह समझ लेना चाहिये कि यह कुतूहलवश मुझे परोक्षरूपमें ही तो दुर्वचन कह रहा है, प्रत्यक्ष तो नहीं कहता है, प्रत्यक्षमें भी किसीको कुछ भी कह देना यह भी बालपुरुषोंका स्वभाव रहता ही है इसलिये परोक्षमें ही उसने कहा है, प्रत्यक्ष कुछ नहीं कहा है यह लाभ ही मानना चाहिये। यदि प्रत्यक्षमें ही दुर्वचन कहता है तो भी सहन करना चाहिये और यह विचार लेना चाहिये कि मूर्ख लोगोंका यह स्वभाव है कि किसीको कुछ भी कह डाले इसलिये कुतूहलवश मुझे क्रोधपूर्वक कुछ भी कहता है तो कहने दो, बिचारा मुझे मारता तो नहीं है अपने आप ही क्रोधावेशमें कुछ भी कह रहा है मेरी इसमें कुछ हानि नहीं होती, मारने तकका भी बालोंमें स्वभाव रहता है इसलिये यहां तक तो लाभ ही समझना चाहिये कि वह मुझे मारता नहीं है। यदि मारता भी है तो भी उसे क्षमा कर देना चाहिये, दुर्भाग्यवश मुझे मारता ही है प्राणोंसे रहित तो नहीं करता है, जानसे मार देनेका स्वभाव भी तो मूर्खोंमें रहता है इसलिये वह इस पर्यायका अंत तो नहीं कर रहा है यह लाभ ही समझना चाहिये। यदि प्राणोंसे भी मारडाले तो भी क्षमापात्र है उससमय यह विचारना चाहिये कि केवल इस पर्यायसे ही मुझे छुडा रहा है, धर्मसे तो मुझे भ्रष्ट नहीं कर रहा है। इसके साथ यह भी विचारना चाहिये कि जो कुछ मैंने पहले खोटे कर्म किये हैं उन्हींका फल यह है कि मुझे आक्रोशयुक्त दुर्वचन आदि सुनने पडते हैं, इनमें दूसरा जो कह रहा है वह तो निमित्तमात्र है वास्तवमें तो यह मेरे ही अशुभ कर्मका ही फल है। ऐसा विचार कर शांतिपूर्वक सब सहन करना चाहिये जो पुरुष मार्दव धर्मसहित होता है उस पर गुरु अनुग्रह करते हैं, साधु पुरुष मार्दवयुक्त पुरुषको साधु मानते हैं और उस मार्दव गुणसे वह सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र हो जाता है तथा उस सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्तिसे वह स्वर्ग और मोक्ष फलको प्राप्त कर लेता है। ऐसा मार्दव गुणके विषयमें विचार करना चाहिये और उसके प्रतिपक्ष मान कषायके विषयमें ऐसा विचारना चाहिये कि जिस मनमें बुद्धि मलिन हो जाती

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि द्वींद्रियादिक त्रस जीव और पृथिवी कायादिक स्थावर जीवोंके बंधका सर्वथा निषेध होना ही संयम है तो ऐसा कहना भी नहीं बनता है क्योंकि ऐसा संयमका अर्थ करनेसे वह परिहारविशुद्धि चारित्रमें अंतर्भूत हो जायगा आगे चारित्रके भेदोंमें परिहारविशुद्धि लक्षण चारित्र भी कहा जायगा उसीमें त्रसस्थावरबधनिषेध लक्षण संयमका अंतर्भाव हो जायगा, फिर भिन्न जो संयमका ग्रहण किया गया है सो व्यर्थ ठहरेगा इसप्रकार संयमका लक्षण ठीक न होनेसे शंकाकार पुनः कहता है कि तो फिर संयमका ठीक लक्षण क्या है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणींद्रियपरिहारः संयमः ॥ १४ ॥

अर्थ—ईर्यासमिति आदिके पालनेमें तत्पर जो मुनिराज हैं उनके उन ईर्यासमिति आदिके पालनेके लिये जो प्राणियोंकी रक्षा करना और इंद्रियोंके विषयोंका निषेध है वही संयम कहलाता है अर्थात् ईर्या-समिति आदि समितियोंका ठीक ठीक पालन हो उसके पालनमें किसीप्रकारकी शिथिलता नहीं आवे इसके लिये जो प्राणियोंकी रक्षा करना और इंद्रिय प्रवृत्तिका त्याग करना है वही संयम है इस संयमके दो भेद हैं १—प्राणि संयम २ इंद्रिय संयम । एकेन्द्रियादि प्राणियोंकी पीडाका दूर करना वह प्राणिसंयम कहलाता है और शब्द रूप रसादि इंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभावका नहीं होना सो इंद्रियसंयम कह-लाता है ।

अतोपहृतसंयमभेदसिद्धिः ॥ १५ ॥

अर्थ—प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम संयमके इन दो भेदोंसे अपहृत संयमके भेदोंकी सिद्धि होजाती है । संयमके दो भेद कहे गये हैं एक उपेक्षा संयम दूसरा अपहृत संयम । जो मुनिराज देशकालके विधान (परिस्थिति) को जानते हैं जो दूसरोंके अनुरोधसे अर्थात् परवश होकर अपना शरीर छोड रहे हैं तीनों गुप्तियोंका पालन कर रहे हैं उनके जो राग द्वेषका उत्पन्न नहीं होना वही संयम कहलाता

करना पुरुषकेलिये परम हितकारी है। जितना जितना परिग्रहसे यह पुरुष रहित होता है उतना उतना ही उसका खेद दूर होजाता है। परिग्रहरहित निर्दोष पुरुषके मनका उपयोग पुण्यबंध करनेवाला होता है। परंतु परिग्रहकी बलवती आशा समस्त दोषोंकी उत्पत्तिकी योनि है। जिसके परिग्रहकी तृष्णा लगी हुई है उसके परिग्रहकी कभी तृप्ति नहीं होपाती है जिसप्रकार समुद्रकी वडवाग्निकी तृप्ति अनेक नदियोंके जलसे भी कभी नहीं होती है उस आशारूपी गड्ढेको जिसका भरना अत्यंत कठिन है कौन पूरा कर सकता है? अर्थात् आशारूपी गड्ढा कभी नहीं भर पाता चाहे जितना परिग्रह क्यों नहीं इकट्ठा कर लिया जाय, जहां प्रतिदिन अस्त होनेवाले शरीर धन घर आदि आधेय पदार्थोंको आत्माकेलिये स्थिर मान बैठता है वहां फिर इसके तृष्णाकी निवृत्तिका होना बहुत कठिन है। परंतु जो पुरुष शरीर धन घर आदिमें ममत्वभाव नहीं रखता है वह उत्कृष्ट निवृत्तिको अर्थात् मोक्षको पालेता है। जो पुरुष शरीरादिकोंमें ममत्व करता है उसके सदा संसारमें ही ममत्वभाव रहता है। इसप्रकार आकिंचन्यधर्मकी महिमा और उससे प्रतिपक्ष ममत्व भावके दोषोंका विचार करना चाहिये। जो पुरुष ब्रह्मचर्य धर्मका पालन करता है उसे हिंसादिक दोष स्पर्श भी नहीं करते हैं, जो पुरुष सदैव ब्रह्मचर्यके पूर्णसाधक गुरुकुल वासोंमें निवास करते हैं उन्हींसे जो अभिरुचि रखते हैं ऐसे पुरुषोंको गुण संपत्तियां स्वयं वर लेती हैं। इसके विपरीत जो पुरुष उत्तम स्त्रियोंके हाव भाव कटाक्षोंसे वशीभूत होजाते हैं, वे पापोंके भी वशीभूत हो जाते हैं अर्थात् पाप उन्हें नहीं छोडते जो लोग जितेन्द्रिय नहीं हैं अर्थात् काम वासनाके सताये हुये हैं वे लोकमें प्राणों तकका नाश कर डालते हैं। वास्तवमें अजितेन्द्रियता अर्थात् इंद्रियोंकी परवशता प्राणियोंके नाश करनेके लिये धायकके समान है। इसप्रकार उत्तम क्षमादिकोंके विषयमें और उनके प्रतिपक्षीभूत क्रोधादिकोंके विषयमें गुणदोषोंका विचार करना चाहिये। ऐसा विचार करनेसे क्रोधादि विकारोंकी निवृत्ति होजाती है फिर उस क्रोधादिके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता था उसका अभाव होजाता

भावशुद्धि है उसका स्वरूप यह है कि वह कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है, मोक्षमार्गकी रुचि पैदा हो जानेसे परिणामोंमें निर्मलता आजाती है, परिणामोंमें रागादि विकार नहीं उत्पन्न होते हैं यही भावोंकी शुद्धि है। इस भावशुद्धिके होनेसे आचार विशेष रूपसे प्रकाशित होता है जिसप्रकार चिकनी सफेद स्वच्छ भित्ति पर चित्र अच्छी तरह खींचा जाता है और विशेष शोभा धारण करता है उसीप्रकार भावशुद्धि होनेपर आचार विशेष पाया जाता है और पात्रमें उत्तमता बढ जाती है। कायशुद्धिका स्वरूप इस प्रकार है—आवरण और आभरणोंसे रहित अर्थात् वस्त्र और भूषणोंसे रहित समस्त संस्कारोंसे रहित बालकके समान धूलधूसरित शरीरको धारण करनेवाली शरीरविकारोंसे रहित समस्त क्रियाओंमें प्रयत्नशील शान्तिमय सुखको दिखानेवाली मूर्तिके समान कायशुद्धि होती है अर्थात् कायशुद्धि वहीं पर होती है जहां शरीरपर कोई वस्त्र और भूषण नहीं होते हैं अर्थात् नग्न दिगम्बर जहां होता है, जहां मंजन मज्जन प्रक्षालन आदि शारीरिक संस्कार नहीं किये जाते हैं किंतु जिस प्रकार नग्न बालक विना स्नानादि संस्कारके धूलधूसरित शरीरको धारण कर रहता है उसीप्रकार जहां शरीर पर वाह्य धूलि लगी रहती है किंतु परम शुद्ध है, जहांपर शारीरिक कोई भी विकार नहीं होपाता है और जहां हर एक क्रियामें शरीरकी सावधानी रक्खी जाती है उसी अवस्थामें वह कायशुद्धि होती है उसीमें शांतिमयसुख अर्थात् निराकुलतारूप सुखका मूर्तिमान रूप प्रतीत होता है। इस कायशुद्धिके होनेपर मुनिराजको न तो स्वयं कभी भय पैदा होता है और न दूसरेके द्वारा ही भय होनेकी संभावना रहती है और न दूसरोंको ही इनकी निर्विकार स्वाभाविकी मुद्रासे भय होता है। विनयशुद्धिका स्वरूप इसप्रकार है—परमगुरु अरहंतादिकोंमें यथायोग्य पूजामें तत्परता जहां रहती है ज्ञानादिकोंमें यथाविधि भक्ति जहां कीजाती है गुरुकी जहां सर्वत्र अनुकूल वृत्ति धारणकी जाती है प्रश्न स्वाध्याय वाचना कथा विज्ञान आदिकी प्राप्ति करानेमें कुशलता जहां होती है, देश काल भावका बोध करानेमें जहां निपु-

धर्म शब्द विशेष्य पद है और उत्तम क्षमासे लेकर ब्रह्मचर्य पर्यंत विशेषण पद है, परंतु धर्मका और उत्तम क्षमादिका विशेषण विशेष्य भाव होनेपर भी समान लिंग समान संख्या नहीं है, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः" यहां इस सूत्रमें धर्म शब्द तो पुलिंग एकवचन है परंतु "ब्रह्मचर्याणि" यह शब्द नपुंसकलिंगी है और बहुवचन है। यह विशेषण विशेष्य भावमें निर्देश कैसा ? समाधान—यह शंका ठीक नहीं है कारण—सबोंके धर्मभावकी अव्यतिरेकता एक ही है अर्थात् उत्तम क्षमादि सभीमें धर्मभाव अभिन्नरूपसे एक ही है समस्त उत्तम क्षमादि भेदोंसे संवर लक्षण जो धर्मभाव है वह एक है, क्योंकि सभी भेदोंसे एक संवररूप ही धर्म सिद्ध होता है इसलिये उसीकी विवक्षा होनेसे सूत्रमें धर्म शब्दमें एकबचनका निर्देश किया गया है। दूसरी वात यह है कि धर्मशब्दका लिंग एक ही नियत है अर्थात् धर्म शब्द नित्य पुलिंग ही होता है इसलिये वह धर्मशब्द अन्य शब्दोंसे संबंध करने पर भी अपने लिंगको नहीं छोड सकता है। प्रश्न—क्रोधादिकषायोंके प्रतिपक्षी जो क्षमादि धर्म, हैं, उनका अवलंबन करनेसे क्रोधादि भावोंकी उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा कहा गया है अब यहांपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस कारणसे यह पुरुष क्षमादि भावोंको धारण किये रहता है अन्यथा रूप क्यों नहीं प्रवर्तित होता है ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि जिसप्रकार लोहेका गोला अग्निमें खूब तपाकर अग्निमें तन्मय होजाता है अथवा अग्नि स्वरूप ही भासमान होता है उसीप्रकार यह आत्मा भी क्षमादि भावोंसे परिणत जब होजाता है तब क्षमादि भावमय होजाता है फिर वह स्वात्म-हित चाहनेवाला क्षमाशील पुरुष बारह भावनाओंको भाता रहता है जिस कारणसे वह उन भावोंसे कभी विचलित नहीं होता है। वे भावनायें इसप्रकार हैं—

स्वरूप है। उस ईर्यापथशुद्धिके होनेपर संयमकी प्रतिष्ठा बढ जाती है जिसप्रकार सुनीतिपूर्वक चलनेसे ऐश्वर्यका महत्त्व बढ जाता है अर्थात् सुनीति पूर्वक चलनेसे ही विभव संपत्तिकी प्रशंसा होती है उसीप्रकार ईर्यापथ शुद्धिके धारण करनेसे ही संयम गौरवशाली होता है संयममें विशेषता उसीसे आती है। अब भिक्षाशुद्धिका स्वरूप कहते हैं—पहले तो मल मूत्र दोनोंकी बाधाकी निवृत्ति करली जाती है अर्थात् यदि मल मूत्र बाधाकी परीक्षा नहीं करली जाय और बाधा बनी रहे तो शुद्धिमें अंतर आता है इसलिए दोनों बाधाओंकी भलेप्रकार निवृत्ति कर ली जाती है पीछे आगे और पीछेका अपना अंगप्रदेश धो लिया जाता है फिर आचार सूत्रमें जो देशकालकी प्रवृत्तिका निरूपण किया गया है उसके अनुसार समस्त रूपसे बोध कर लिया जाता है, आहारके लिये निकलनेपर यदि आहारका लाभ होजाय तो भी हर्ष नहीं होता है और यदि अनेक उपवासोंके करनेके पीछे भी आहारकी प्राप्ति नहीं हो तो विषाद भी नहीं होता दोनोंमें समान-वृत्ति रहती है। इसीप्रकार कहींपर भी उच्चासन मिलजाय या कहींपर अपमान भर्त्सना आदि होजाय तो भी हर्ष विषाद नहीं किंतु समान वृत्ति रहती है, जो लोकनिंद्य कुल समझे जाते हैं जिनके कुलपरंपरासे संस्कार—आचार विचार हीन होते हैं, विधवा आदिकी संतान होनेसे जिनके शरीर पिंड ही अशुद्ध रजोवीर्यसे बनते हैं उन लोकनिंद्य कुलोंमें आहार नहीं लेनेकी पूर्ण सावधानी रक्खी जाती है, उन निंद्य कुलोंके छोडनेमें सदैव तत्परता रहती है तथा जिसप्रकार चंद्रमाका प्रकाश छोटे बडे सभी घरोंमें समान रूपसे पडता है उसीप्रकार राजा और रंक सबोंके यहां अविशेष रूपसे समानरूपसे शुद्धिमात्रका लक्ष्य रखकर जहां आहारके लिये गमन किया जाता है, जहां दीन और अनाथ पुरुषोंके लिये दानशालायें खुली हैं उनमें तथा जहां विवाह होरहा है जहां यजन होरहा है ऐसे घरोंमें आहारके लिये नहीं जानेकी पूर्ण सावधानी रक्खी जाती है अर्थात उन स्थानोंको छोडकर ही जहां आहारके लिये गमन किया जाता है और कितने ही अंतराय क्यों न होगये हों फिर

पुरुषोंके रूपादि देखनेमें उनका विलकुल ध्यान नहीं जाता और न वे यही बात देखते हैं कि जो आहार उन्हें दिया जानेवाला है वह सूखा है अर्थात् रूखा है या गीला है चिकना है इत्यादि आहारकी योजनाको भी वे नहीं देखते हैं किंतु जैसा रूखा सूखा उन्हें देदिया जाता है उसे ही वे ग्रहण करलेते हैं इसलिये उनका भिक्षाकेलिये गौके समान संचार होता है अतएव उसे गोचार अथवा गोचरीवृत्तिके नामसे कहते हैं उसीका दूसरा नाम गवेषणा भी है। अब दूसरा भेद अक्षम्रक्षणका स्वरूप कहते हैं—जिसप्रकार रत्नोंके भारसे पूर्णरूपसे भरी हुई गाडीको जिस तिस प्रकार तैल या घीसे गाडीके धुरेको चुपडकर व्यापारी वणियां जहां पहुंचना चाहता है उस अभीष्ट स्थानको गाडी लेजाता है उसीप्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि गुणरूपी रत्नोंसे भीतर भरी हुई इस शरीररूपी गाडीको निर्दोष भिक्षारूपी तैल या घीसे आयुरूपी धुरेको लेप करि अभीष्ट स्थान जो समाधिरूपी नगर है उसे प्राप्त करलेता है, इसीको अक्षम्रक्षण इस नामसे कहते हैं। अक्ष नाम धुराका है और म्रक्षणनाम लेपका है, जिसप्रकार गाडी विना धुरामें चिकनाई दिये चल नहीं सकती उसीप्रकार यह शरीररूपी गाडी भी विना आहाररूपी चिकनाईका लेप किये चल नहीं सकती है। गाडीमें बहुतसे रत्नोंका बोझा रहता है मुनियोंकी इस शरीररूपी गाडीके भीतर भी गुणरूपी रत्न भरे हुये हैं, गाडीको जैसे व्यापारी अपने अभीष्ट स्थानको लेजाता है उसीप्रकार मुनिराज इस शरीररूपी गाडीको समाधिस्थान तक लेजाना चाहते हैं इस शरीरमें आयु रूपी धुरा है इसलिये धुरा और चिकनाईकी ठीक उपमा घटनेसे अक्षम्रक्षण नाम मुनियोंकी भिक्षावृत्तिका ठीक है। अब उदराग्निप्रशमन वृत्तिका स्वरूप कहते हैं—जिसप्रकार भंडारमें अग्नि लग जाय तो घरका स्वामी अपवित्र अथवा पवित्र अर्थात् स्वच्छ अथवा अस्वच्छ जैसे मिले तैसे जलसे उसे बुझाकर अपने धनकी रक्षा करता है उसीप्रकार मुनिराज भी गुणरूपी रत्नोंसे भरे हुए शरीररूपी भंडारमें लगी हुई उदराग्निको उन गुणोंकी रक्षाकेलिये आगमानुसार विधिसे परमशुद्ध प्राप्त हुए रूखे सूखे जैसे मिले तैसे

वे सर्वथा छोड देते हैं फिर वे किन स्थानोंमें रहते हैं इसकेलिये कहते हैं कि वे मुनिराज विना किसी की बनाई हुई पर्वतोंकी गुफाओंमें, वृक्षोंके खोखलोंमें तथा बनाये हुये भी सूने घरोंमें जिन घरोंको छोड-कर मनुष्य चले जाते हैं ऐसे जनशून्य घरोंमें निवास करते हैं, वे ऐसे ही एकांत घरोंमें ठहरते हैं जो कि उन मुनियोंके निमित्त नहीं बनाये गये हैं जिनमें किसीप्रकारका आरंभ नहीं होरहा है ऐसे आरंभ-शून्य जनशून्य एकांतघरोंमें अथवा गुफादिकोंमें वे मुनिराज सोते और बैठते हैं यही शयनासनशुद्धिका स्वरूप है। अब वाक्यशुद्धिका स्वरूप कहते हैं—वाक्यशुद्धिको पालन करनेवाले मुनिराज ऐसे वचन बोलते हैं जिनसे पृथिवीकायिक आदिके आरंभ करनेकी प्रेरणा नहीं हो अर्थात् उनके वचनोंसे कोई सांसारिक आरंभमें लग बैठे ऐसे वचन वे नहीं बोलते हैं और ऐसे वचन भी वे नहीं बोलते हैं जो कठोर हों धृष्टताको लिये हुये हों जो दूसरे जीवोंको पीडा पहुंचानेवाले हों ऐसे वचनोंका प्रयोग वे कभी नहीं करते हैं, किंतु ऐसे वचनोंका प्रयोग करते हैं जिनसे व्रत और शील पालनेका ही मुख्यतासे उपदेश मिलता हो, वे सदैव हितकारी वचन बोलते हैं, बहुत थोडे वचन कहते हैं, कोमल मधुर वचन बोलते हैं ऐसें वचनोंसे ही सब प्रकारकी चारित्रादि संपत्तियां प्राप्त होती हैं, यही वाक्यशुद्धिका स्वरूप है। इसप्रकार अपहृत संयमके भेदोंमें जो आठ प्रकारकी शुद्धियोंका विधान कहा गया था उनका स्वरूप कहा जाचुका।

तपो वक्ष्यमाणभेदं ॥ १७ ॥

अर्थ—जो कर्मोंका क्षय करनेके लिये तपा जाय उसे तप कहते हैं। उसके बारह भेद हैं जिनका स्वरूप आगे कहा जायगा।

परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः ॥ १८ ॥

अर्थ—परिग्रहके दो भेद हैं—एक चेतनात्मक परिग्रह जिसे जंगमसंपत्तिके नामसे लोग कहते हैं, दूसरा—

अर्थ—जो शरीर आदि प्राप्त परिग्रह हैं उनमें संस्कार नहीं रहै इसकेलिये "यह मेरा है" इस अभिप्रायकी निवृत्ति होजाना इसीका नाम आकिंचन्य है अर्थात् शरीरादि परिग्रहमें भी ममत्वभाव न होजाय इस बुद्धिसे उससे ममत्त्वभाव हटा देना इसीका नाम आकिंचन्य धर्म है, इस जीवके कुछ भी नहीं है अर्थात् कोई भी परिग्रह इसके नहीं है इसीका नाम अकिंचन है। उसीका जो भाव है अथवा कर्म है उसे आकिंचन्य कहते हैं। अब ब्रह्मचर्य धर्मका स्वरूप कहते हैं—

अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंशक्तशयनासनादिवर्जनाद्ब्रह्मचर्यं ॥ २२ ॥

अर्थ—मैंने नाना कलाओं और गुणोंमें सुचतुर स्त्रियोंके साथ भोग भोगे हैं ऐसा पूर्व भोगे हुये भोगोंका स्मरण करना, उनकी कथाओंको सुनना, रतिको पैदा करनेवाली, सुवासित द्रव्योंसे सुगंधियुक्त स्त्रियोंका संसर्ग करना, उन्हींके संसर्गमें शयन करना, उन्हींके यहां उठना बैठना इत्यादि समस्त बातोंको छोड देनेसे ही परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा—

स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा ॥ २३ ॥

अर्थ—अथवा ब्रह्मके अनुसार चलनेको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं, ब्रह्म नाम गुरुका है उसमें चरण करना अर्थात् उसके निकट रहकर उसके अनुसार धर्ममें स्वतंत्रता प्राप्त करना इसका नाम भी ब्रह्मचर्य है अथवा अपनी स्वतंत्र स्वच्छंद प्रवृत्ति रोकनेकेलिये गुरुओंके निकटमें रहकर उनके बताये हुए मार्गके अनुसार गमन करना इसका नाम भी ब्रह्मचर्य है अथवा अपने स्वभाव शुद्ध आत्मामें लीन होनेका नाम भी ब्रह्मचर्य है। अथवा—

अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वा पौनरुक्त्यं ॥ २४ ॥

अर्थ—अथवा समस्त प्रश्नोंका परिहार इसप्रकार होता है कि यद्यपि दश धर्मोंमें कोई कोई धर्म गुप्ति समिति आदिकोंमें अंतर्भूत हो जाते हैं तो भी उनका स्वतंत्र निरूपण जो यहां किया गया है वह भी

आत्माको दुःख नहीं होता है वह उत्तम क्षमाशील पुरुष समस्त जगत्का सम्मान सत्कारभावका पात्र बन जाता है वह परिशिष्ट (विशेषादरणीय) पुरुषोंकी पंक्तिमें स्थान पाता है इत्यादि सभी गुण उस उत्तम क्षमाशील पुरुषको प्राप्त होजाते हैं तथा क्षमाका प्रतिपक्षीभूत जो क्रोधभाव है उसकी आलोचना इसप्रकार करनी चाहिये कि—क्रोध करनेसे धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका नाश होजाता है, यहांतक कि प्राणोंका भी नाश होजाता है इत्यादि समस्त दोष क्रोधसे होते हैं ऐसा विचार कर क्रोधका त्यागकर क्षमाभाव धारण करना चाहिये और भी क्रोधके विषयमें यह विचार करना चाहिये

क्रोधनिमित्तस्य स्वात्मनि भावाभावानुचिंतनात् ॥ २८ ॥

अर्थ—यदि दूसरोंने क्रोधके निमित्तका प्रयोग किया हो तो उससमय आत्मामें उस क्रोधके सद्भावका चिंतवन करना चाहिये कि जो दोष दूसरा बता रहा है वे दोष मुझमें विद्यमान हैं यह विचारा इसमें क्या मिथ्या कहता है ? अर्थात् मुझमें दोष हैं तभी तो कहता है इसलिये इसका कुछ अपराध नहीं है ऐसा विचार कर उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा उस क्रोधके अभावका भी चिंतवन इसप्रकार करना चाहिये कि—जो दोष यह बतारहा है वे दोष मुझमें विद्यमान ही नहीं हैं यह विचारा केवल अज्ञानभावसे अर्थात् विना समझे कह रहा है इसलिये क्षमा करने योग्य है । इसके सिवाय बालस्वभाव अर्थात् मूर्ख मनुष्यके स्वभावका भी चिंतवन करके उनपर क्षमा ही करना चाहिये इस बालस्वभावके चिंतवनका यह फल है कि जो बाल—अज्ञानी मनुष्य परोक्षरूपमें अथवा प्रत्यक्ष रूपमें क्रोधयुक्त वचन कहते हैं, ताडना करते हैं, मार भी बैठते हैं, धर्मका भी घात करते हैं ऐसे अज्ञानियोंकी भी बराबर रक्षा होती रहे, वे भी नहीं सताये जांय इसकेलिये बालस्वभावका चिंतवन करना आवश्यक है । बालस्वभावका चिंतवन इसप्रकार करना चाहिये कि—जो मूर्ख परोक्षमें क्रोधयुक्त दुर्वचन कह रहा है वह क्षमा ही करने योग्य है क्योंकि मूर्खोंका यही स्वभाव होता है, जिसप्रकार बालकोंका (छोटे छोटे बच्चोंका) स्वभाव होता है उसी

है अर्थात् मानकषायविशिष्ट चित्त हो जाता है उसमें व्रत शील नहीं ठहरते हैं, साधु पुरुष भी ऐसे मति-मलिन-मानी पुरुषको छोड देते हैं उसी मानके कारण समस्त विपत्तियां आती हैं। जिनका सरल हृदय होता है उन पुरुषोंमें अनेक गुण स्थान पाते हैं परंतु मायाचारसहित पुरुषमें अच्छे गुण आश्रय नहीं करते हैं तथा मायाचारीकी निंद्यगति होती है इसप्रकार आर्जव धर्मकी महिमा तथा मायाचारके दोषोंका विचार करना चाहिये। शौचाचारी पुरुषको सभी पुरुष सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं, विश्वास आदि अच्छे अच्छे गुण भी उसी पुरुषमें स्थान पाते हैं, परंतु लोभकी भावनासे विशिष्ट हृदयमें कोई भी अच्छे गुण नहीं ठहरते हैं, और लोभी पुरुष इस लोकमें तथा परलोकमें वहुत भारी अचिंत्यनीय दुःखको पाता है इसप्रकारका चिंतवन शौचधर्म और उससे विपरीत लोभके विषयमें करना चाहिये। समस्त गुण संपत्तियां सत्यवचनमें ही रहती हैं। जो झूठ बोलता है उसे उसके बंधु लोग भी तिरस्कार करते हैं मित्रगण भी उसे छोड देते हैं। झूठा आदमी इस लोकमें जिह्वाछेदन, धन संपत्तिका अपहरण आदि दुःखोंको पाता है। इसप्रकार सत्यधर्म और उसके प्रतिपक्षभूत झूठके विषयमें विचार करना चाहिये। संयमधर्म आत्माका परम हितकारी है उस संयमको धारण करनेवाला पुरुष इस लोकमें ही पूजा जाता है। परलोक की तो बात अलग है अर्थात् परलोकमें स्वर्ग आदि उत्तम गतियोंको पाता है और मोक्षका स्वामी बन जाता है परंतु असंयमी पुरुष प्राणवध तथा इंद्रिय विषय रागमें नित्य प्रवृत्ति करता हुवा अशुभ कर्मका संचय करता है। इसप्रकार संयमके गुण और असंयमके दोषोंके विषयमें विचार करना चाहिये। तप सम्पूर्ण पदार्थोंका अथवा समस्त प्रयोजनोंका सिद्ध करनेवाला है, उसीसे ऋद्धियां प्राप्त होती हैं तपस्वियोंके द्वारा ग्रहण किये गये क्षेत्र लोकमें तीर्थ कहलाये हैं, वह तप जिसके नहीं है वह तृणसे भी हलका मालूम होता है, उसे समस्त गुण छोड देते हैं और वह संसारको नहीं छोडता है, इसप्रकार तपकी महिमा और तपरहितपनेके दूषणोंका विचार करना चाहिये। उपाधिका त्याग करना अर्थात् परिग्रहका त्याग

है उस अवस्थामें आत्मामें महान् संवर होता है। जो कर्म क्रोधादि निमित्तोंसे आत्मामें बंधते थे वे फिर उन उत्तम क्षमादि भावोंसे सर्वथा रुक जाते हैं। शंका—

व्यक्तिवचनभेदात् निर्देशवैलक्षण्यमिति चेन्न सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वादाविष्टलिंगत्वाच्च ॥ २९ ॥

अर्थ—यहांपर यह शंका होती है कि जिसप्रकार "शुक्लः पटः" सफेद वस्त्र यहांपर पटका विशेषण शुक्ल शब्द है जो पटका लिंग वचन और विभक्ति है वही लिंग वचन विभक्ति शुक्लकी है इसीलिये पटके साथ शुक्ल शब्द समानाधिकरण है अर्थात् विशेषण विशेष्य दोनोंका एक समान लिंग एकसमान वचन और एक-समान विभक्ति है। समान लिंग वचन विभक्ति होनेसे ही उन दोनोंमें विशेषण विशेष्य भाव है। दूसरा दृष्टांत स्त्रीलिंगका इसप्रकार है 'शुक्ला शाटी' अर्थात् साडी सफेद है। यहांपर शाटी शब्द स्त्रीलिंग है और प्रथमा-विभक्तिका एक वचन है, उसीप्रकार उसका विशेषण शुक्ला शब्द भी स्त्रीलिंग और प्रथमा विभक्तिका एक वचन है इसीलिये इन दोनोंका भी विशेष्य विशेषण भाव है। तीसरा दृष्टांत नपुंसक लिंगका इसप्रकार है जैसे 'शुक्लं वस्त्रं' वस्त्र शुक्ल है। यहांपर वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग, प्रथमा विभक्तिका एकवचन है, शुक्ल शब्द भी नपुंसकलिंग प्रथमाविभक्तिका एकवचन है। अब चौथा द्विवचनका दृष्टांत इसप्रकार है 'यथा शुक्लौ कंवलौ' दो शुक्ल कंवल हैं। यहांपर कंवल शब्द पुलिंग और प्रथमाविभक्तिका द्विवचन है उसी प्रकार शुक्ल शब्द भी प्रथमा विभक्तिका द्विवचन और पुंलिंग है। वहुवचनमें यथा—"शुक्लाः कंवलाः' ये कंवल सभी शुक्ल हैं। यहांपर कंवल शब्द जैसे बहुवचन है उसीप्रकार शुक्ल शब्द भी बहुवचन है इसलिये जहां समानाधिकरणभाव अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव होता है वहां व्याकरणके नियमानुसार व्यक्ति और वचनमें अभेद होता है। जो लिंग और वचन विशेष्यका होता है वही लिंग और वचन विशेषणका होता है परंतु यहांपर उत्तम क्षमादि और धर्म शब्दमें उसप्रकार अभेद भाव नहीं है इसलिये दोनोंकी विभक्ति वचन लिंग सभी भिन्न रूप विलक्षण ही प्रतीत होते हैं अर्थात् उत्तमक्षमामार्दवार्जवेत्यादि सूत्रमें